

पं. देवकीनंदनजीकृत सरलार्थ–प्रबोधिनी हिंदी टीकासहित

पंचाध्यायी

जिसको

कारंजा निवासी श्रीमान् सेठ प्रभुदास देवीदास चवरेने निर्मित कराके श्री महावीर–ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजाको, जैनसिद्धांतसम्बन्धी साहित्यके प्रचारार्थ अर्पण किया और स्वत: उक्त आश्रमके श्री. महावीर आश्रम प्रेससे प्रकाशित किया.

वीर नि. २४५८ सन १९३२

प्रथम संस्करण

न्यो. ६ रु.



भूमिका.

पहिले यह ग्रंथ प्रचारमें नहीं था। स्वर्गीय पं. पूज्यवर गुरु गोपालदासजी बरैय्या जब सोलापूरमें रहते थे उस समय उनके देखनेमें आया। जैसे किसी जोहरीके हाथमें रत्न आनेसे उसकी यथार्थताके प्रगट होनेमें देर नहीं लगती ठीक वैसेही गुरुजीको ग्रंथराजका दर्शन होनेसे उन्होंकी प्रेरणासे श्रीमान् नाथारंगजी सोलापूर वालोंने ग्रंथराजको कोल्हापूरसे प्रकाशित किया। और गुरुजीनें इसको पठन-क्रममें रखवाकर इसका अच्छा प्रचार किया।

तदनंतर सन १९१८ में हमारे योग्य सहपाठी श्रीमान् प. मक्खनलालजीने इसके विशेष प्रचारके लिए सुबोधिनी नामकी टीका लिखकर प्रकाशित की और उस टीकाका स्वाध्यायप्रेमी सज्जनोंमेंभी अच्छा प्रचार हुआ।

ग्रंथकारकी विषय प्रतिपादन शैली अत्यंत सरल, विशद और संदर्भयुक्त है तथा तुलनात्मक पद्धतीसे शास्त्रांतरोंमें आये हुये लक्षणादिकके रहस्यको खोलनेवाली है। अतएव अध्यात्मशास्त्रके अथवा जैनदर्शनके मर्मके समझनेमें ग्रंथराज अत्यंत उपयोगी है। द्रव्य, गुण, पर्याय, प्रमाण, नय, निक्षेप, अनेकांतवाद, सामान्यरूपसे सम्यग्दर्शनका लक्षण विशेषरूपसे सम्यग्दर्शनका लक्षण और औदयिकादि भावोंका तथा आनुषङ्गिकरूपसे देव, शास्त्र, गुरु आदिका हृदयग्राही वर्णन ग्रंथराजके स्वाध्यायसे सहजमें उपलब्ध होता है। अत ग्रंथकारके कवित्वके रसास्वादके लिये अन्वयार्थ पूर्वक एक अनुवादकी बडी जरूरत समय २ पर मालूम पडती थी। उसकी पूर्तिके लिए यह प्रयास किया है।

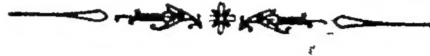
विद्यार्थीयोंके लाभके लिए जगह जगह संदर्भ मिलाते हुये अन्वयार्थ लिखा है। तथा जिज्ञासु स्वाध्यायप्रेमीओंके लिए विशद भावार्थभी लिखा है। जहांपर समझमें नहीं आया अथवा विशेष लिखनेकी इच्छा थी वहांपर (?) ऐसा चिन्ह लगा दिया है। और उसका प्रतिपादन परिशिष्टमें किया है।

ग्रंथ अत्यन्त उच्चकोटीका है। अत मंदज्ञानके कारण जहां कहीं गलतिया रहीगई हो ज्ञानी पाठक सुधार लेवे।

ज्ञानीजनोंका दास

पं. देवकीनंदन

हमारा नम्र निवेदन.



१ श्रीमान् सेठ **प्रभुदास देवीदासजी चवरे** कारंजाने इस टीकाके लिखनेकी प्रेरणा की और स्वत प्रकाशित करनेकी कृपा की है और इसके प्रकाशनार्थ श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रमको करीब ४००० रु. मे प्रेस आदि लेकर अर्पण किया. एक हजार रुपयेके करीब खर्च करके अनुवादकी रफ व प्रेसकापी, संपादन वगैरेहके लिए एक लेखक देनेकी कृपा की है. एतदर्थ हम श्रीमानके अत्यन्त आभारी है आपकी यह आर्थिक सहायता तथा उत्साहसे ही यह टीका निर्मित हुई है. आपने इसके अतिरिक्त आश्रममें श्री महावीर चैत्यालय भी सस्थापित किया है।

२ श्रीमान प. **हजारीलालजी न्यायतीर्थ** परसोन निवासीने प्रेसकापी वगैरेह संपादन कार्यमें पूरी सहायता पहुचाई है अत. श्रीमानके भी आभारी है।

३ **श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रमके कार्यकर्ताओंके** भी हम अत्यन्त आभारी है कि जिन्होंने हमारा उत्साह वढाया और प्रकाशनमें अत्यन्त सहायता पहुचाई है।

४ ग्रंथ शास्त्राकार इसलिए छपाया है कि यदि कदाचित कहीं कोई पद्य अशुद्ध हो गया हो और इसके विषयमें किसी विद्वानकी सूचना प्राप्त होतो वह उनके नामसे पीछेसे जोडदी जा सकेगी तथा स्वाध्याय आदिमें ग्रथकी अविनय नहीं होवेगी

५ पाठकोंसे निवेदन है कि शुद्धीपत्रके अनुसार ग्रंथ शुद्ध करके स्वाध्यायकी कृपा करें.

६ यदि मन्द ज्ञानके कारण कहीं अशुद्धियां हुई हो तो विद्वान पाठक सूचना देनेकी कृपा करें ताकि आगेके सस्करणमें सुधार हो जावे.

७ प्रकाशक और लेखकने यह ग्रथ आश्रमको अर्पित कर दिया है अतः इसकी आय आश्रमके लिए अर्पित है।

विदुषाम् अनुचरः
बरुवासागर निवासी देवकीनंदन

जेष्ठ शुद्ध ५ सं१९८९
महावीर ब्र. आश्रम कारंजा. [बरार]



श्री पंचाध्यायी—सरलार्थ प्रबोधिनी टीका.

[विषयानुक्रमणिका.]

पूर्वार्ध



—॥ॐ॥—

शुद्धीपत्रक पूर्वार्ध [पंचाध्यायी]

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पक्ति	पान संख्या
गुणाको	गुणोंको	२३	९
कुद्दष्टि	कुदृष्टि	१२	१३
एकस्यातु	एकस्यास्तु	१८	१५
र्कि	किं	१६	१६
यावन्त	यावन्त	१७	१७
तावत:	तावन्त:	१८	१७
प्रामाणत:	प्रमाणत·	८	१८
प्रवश्यत:	प्रपश्यत.	३	१९
अवणुत्	अणुवत्	१४	२१
प्रेदशवदपि	प्रदेशवदपि	१६	२४
सदृष्टी	सदृष्टि:	७	२७
गुणोमें-	गुणीमें	१९	२९
अनरुद्ध	आनिरूद्ध	१४	३६
एसलिए	इसलिए	११	३९
पासनेके	पीसनेके	१६	४०
सद्गुण:	सद्गुणा:	१४	४६
सयवाय	सममाय	१३	४७
तस्या	तस्याम्	६	५८
गुणपर्ययवद्रव्यम्	गुणपर्ययवद्द्रव्य	९	५९
सलक्ष्या	सलक्ष्या	५	६१
लक्ष्यस्थानिया	लक्ष्यस्थानीया:	९	६२
स्वभावान्	स्वभाववान्	१४	६२
स्यानित्य	स्यान्नित्य	१४	६८
दोपमयात्	दोपभयात्	१०	७७
परिणागि	परिणामी	११	७७
समुदायात्मक	समुदायात्मक	४	७९
चेत्सव	चेत्सर्वं	१६	८४
अतिव्यासि	अतिव्यासि:	१	८५
अयगत्यर्याधातो	अयगत्यर्थाद्धातो:	१८	८५
उस	उसे	४	८६
दर्शानके	दर्शनिके	१६	८८
२ बहुप्रदेशी	दूसरे बहुप्रदेशी	१	९०
पस्स्पर	परस्पर	४	९०
एकस्मिनसमये	एकस्मिन्समये	११	९०

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान सख्या
पुनः पूनः	पुन पुनः	१५	९१
मक्रपूर्वक	क्रमपूर्वक	१३	१०३
पृयकू	पृयक्	३	१०४
पर्याय	पर्याय	१३	१०४
,,	,,	१४	,,
स्वकल्पस्वरूप	स्वकालरूप	५	१०५
पर्यायाकी	पर्यायकी	११	१०५
तत्व	तत्र	१६	१०६
अन्यथापनेका	अन्ययापनेको	११	१०८
मावका	भावको	५	१११
पूर्वास्मिन्	पूर्वस्मिन्	८	१११
गृहमाजन	गृहभाजन	३	११३
अपन	अपने	५	११३
तदवत्थ	तदवस्थ	११	११३
अतिरक्त	अतिरिक्त	१६	११३
अशार्ना	अशाना	१७	११३
ज्ञेयाकृतिक	ज्ञेयाकृतिको	५	११४
जाननेने	जाननेसे	६	११४
इसका	इसके	१९	११८
किल सतः	किल न सतः	७	१२०

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या
गुणोका	गुणोको	४	१२५
यनित्य	यन्नित्य	९	१२५
अनिय	अनित्य	१६	१२५
निच्या नित्यात्मक	नित्यानित्यात्मक	१६	१२५
किन्नु	किन्तु	४	१२८
समद्र	समुद्रः	६	१२८
मात्राओंके	मालाओंके	९	१२८
युत्पाद.	उत्पादः	१८	१२८
समयके वल	समय केवल	३	१३२
सद्यपि	सद्यादि	१५	१३२
द्रव्य-रूपादि	द्रव्यरूपादि	१०	१३३
तत्त्वस्य	सत्त्वस्य	७	१४२
तत्त्वस्य	सत्त्वस्य	१२	१४२
व्ययके	व्ययकी	६	१५०
ध्रौव्यकी	ध्रोव्यके	६	१५०
मन्यातम	मन्यतम	३	१५८
भयही	मयही	११	१६८
व्यतिरेकस्या	व्यतिरेकस्य	६	१७२
मर्गः	सर्ग	१४	१७२
नाति	नास्ति	१७	१७२

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या
जानेवाला	जाननेवाला	६	१७८
द्रव्य	ध्रौव्य	१५	१७८
किल	केवल	१९	१७८
अवस्यासे	अवस्थाऐं	७	१७९
पारणाम	परिणाम	४	१८०
परिणमके	परिणमनके	२१	१८५
पक्षात्मो	पक्षात्मा	१	१८६
तत् अतत् केवल और	तदभाव और अतद् भावके	१५	१८६
जिसममय	जिससमय	९	१९०
पंदाकित	पदाकितं	१	१९२
तदन्यात	तदन्ययात	१	१९३
अपच	अपिच	८	१९३
मिन्नः	मियः	१८	१९६
विवक्षपनेसे	विवक्षितपनेसे	२	१९७
समक्षभावसे	सपक्षभावसे	१२	१९७
तौर्द्व	द्वैत	१५	१९७
पानके	पानक	२०	१९९
यदपूर्ण	पदपूर्ण	१५	२००
ससिद्धः	संसिद्धिः	१९	२००

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या
सृजितित	सृजतींत	६	२०१
विनस्य	विनाश्य	१६	२०१
किसीचिजके और	और किसी चीजके	१३	२०२
ठाकि	ठीक	२०	२०२
अन्द	मन्द	२	२०३
परिणामे	परिणाम	१०	२०३
वाक्यों	वाक्य	१९	२०३
काही	ग्राही	८	२०४
चैनै	चैद्वै	१५	२०४
जसे वाक	जैसे वाक्य	१	२०५
अप	अपि	१	२१६
दृष्टांतकी	दृष्टातभी	१२	२१८
आवशेषताक	विशेषताके	१	२२१
तानियम	तन्नियम	१६	२२१
मित्रके यदि	यदि मित्रके	२०	२२१
घुभाई	घुमाई	१०	२२४
जगः	जगह	१३	२२४
सुन्दा	सुन्दो	१७	२२४
आस्तिरूप सत्	सत् आस्तिरूप	१८	२२९

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या
जानके	जानेके	६	२३२
निदेशात्	निर्देशात्	११	२४२
हागे	होगा	१५	,,
तत्रतथा	तत्रयथा	१२	२४६
दोषत्वात	दोषत्वात्	५	२५२
पुग्दलमया	पुग्दलमयो	१८	२५८
यत्पातत्व	यत्पीतत्व	७	२६१
पातत्व	पीतत्व	१०	२६१
भेदाद्गणभेदो	भेदाद्गुणभेदो	१६	२६२
द्रव्यदिकके	द्रव्यादिकके	९	२६४
पयय.	पर्ययः	१६	२६४
पयायोमें	पर्यायोमें	१७	२६४
जायगा	जायगी	११	२६६
ममावनासे	संभावनसे	२०	२६६
मवथा	सर्वथा	१०	२६७
सदित्	स दिति	११	२६८
तया	यथा	१५	२७१
तथा:	तथा	१	२७२
मवति	भवति	१७	२७३
विकल्पाविशेषतो	विकल्पाविशेषतो	२१	२७३

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या
विकपात्मक	विकल्पात्मक	१	२७४
स्ववात्वर्थ	स्वधात्वर्थ	१३	२७४
घात्वर्थके	धात्वर्थके	,,	,,
द्रव्यार्थिक	द्रव्यार्थिक	१५	,,
यह शब्दका	यह व्यवहार शब्दका	९	२७६
वास्तवकि	वास्तविक	८	२७७
सद्भुत	सद्‌भूत	७	२७८
,,	,,	८	,,
संकरदोप	संकरदोप	१	२७९
द्रव्यको	द्रव्यकी	१३	२८०
(सहजसिद्ध)	(सहजसिद्धा)	१४	,,
अन्यद्रव्यमें	अन्यके आश्रयसे	७	२८५
हेतुस्वरूप	हेतु स्वरूप	१७	२८६
प्रवृत्त होता है।	'इति' (हेतुः) यह इस नयकी प्रवृत्तिमें हेतु है	१	२८७
रत्तागत	सत्तागत	२१	,,
ठकि	ठीक	४	२९२
मिथ्यावादत्वाद्	मिथ्यावादत्वाद्	१३	,,
कह कने हे	कह सकते हैं	२१	,,
अब मिथ्यावाद	अब यह मिथ्यावाद	३	२९३

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या
दुर्वार	दुर्वार.	१२	२९३
निकारात्मक	निकल्पा मक	१५	२९४
य यावस्तुज्ञान	यथावस्तुज्ञान	२१	२९४
स्यद्विपरीतो	स्याद्विपरीतो	१८	२९५
नयाभासः	नयाभासा·	११	२०८
(असिद्द-)	(असिद्ध)	८	२९९
क्रम	भ्रम	८	३०३
(घटाकारः)	(घटकार)	१८	३०४
घटाका	घटकार	,,	,,
कता	कर्ता	२	३०५
परेपि	परोपि	८	,,
जानश्च	जीवश्च	१०	,,
बहिरात्मनः	बहिरात्मानः	११	,,
(सद्वेवोदयाभावान्)	(सद्वेयो-दयभावान्)	१४	,,
कहा	कही	१८	३०६
थायकारी	अविकारी	८	३०७
चक्ष	चक्षू	१९	,,
(चक्षु"पं)	(चक्षु रूप)	२१	,,
(किनामान)	(किंनामानः)	१९	३०८

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या
(विशेपाख्याः)	(विशेपाख्याः)	९	३०९
गुणास्त्वथ	गुणोस्त्वथ	८	३११
कर्तृत्वनया	कर्तृत्वनयो	९	३११
एकैक	एकैक	१८	३११
(एककैं)	(एकैक)	२०	३११
करने वानेको	करने वालेको	१०	३१३
(सर्वोऽनय)	(सर्वोऽपिनयः)	१०	३१४
निश्चयनयमें भा	निश्चयनयमेंभी	२	३१५
(स्वयानिपेधात्मा)	स्वयानिषेधात्मा	८	३१५
नैत्यतावन्मात्राः	नैत्यताव मात्र	६	३१७
उदाहरण	अनुदाहरण	२	३१९
नयोंका	नयोंको	९	३१९
एव	एक	७	३२१
सदुहारणे	सदुदाहरणे	७	३२१
यदुदाहयत	यदुदाह्रियते	९	३२१
जीनस्त्र	जीवत्व	५	३२४
(वदिवा)	(यदिवा)	८	३२४
पूर्वय	पर्यय	२०	३२४
यदि उदाहरण विशेपण शून्य	यदि विशेपण शून्य	४	३२५

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या
(अविकल्पत्वात्)	(अविकल्पपत्	९	३२७
वचनगोचरकी	वचनागोचरकी	९	३२७
प्यमवसादिति	प्यभावसादिति	२	३२८
(अमवसात्)	(अभावसात्	८	३२८
सुत्रे	सूत्रे	१	३२९
तयागोत्तदिह	तयोगात्तदिह	२	३२९
समद्रव्यम्	सद्द्रव्यम्	४	३२९
प्रमगत्वात	प्रसंगत्वात्	१७	३३०
परमार्थभूतहै	अपरमार्थभूत है	५	३३१
तीर्थस्यतये	तीर्थस्थितये	३	३३२
(श्रेयः)	(श्रेयान्)	७	,,
पर समय	स्व समय	१८	३३४
इसलिए	परन्तु	१९	,,
रूपस	रूपसे	५	३३५
निमाणिमं	निमाणीय	११	,,
नयक्षको	नय पक्षको	१५	,,
विकल्पो	विकल्पो	१४	३३६
॥ ३४८ ॥	॥ ६४८ ॥	,,	,,
निवृत्तिन	निवृत्तिः	८	३४१
स्यात्म	स्वाम	१७	,,

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या
उल्लंघन न करने-वाला है।	उल्लंघन करनेवाला है।	११	३४२
स्यात	स्यात्	४	३४३
चान्येकल्पो	चान्ये विकल्पो	६	३४५
दो विकल्पभी	दोय विकल्पभी	१३	,,
भावाभावानुगानुगाणां	भावाभावनुगानुगाणां	,,	३४६
(परामर्शपूर्वक)	(परामर्शपूर्वकं)	२०	,,
भयेत्	भवेत्	१०	३४७
सम्यक	सम्यक्	१४	,,
शुभेः	शुभा	६	३४९
भंग	भंग	२०	३५१
प्रमाने	प्रमाणे	१८	३५२
करनेसे	करनेसे	७	३५३
इम	इन	८	,,
नैग	नैगं	१९	,,
नयं इति	नय इति	२०	,,
निरुद्धधर्मेद	विरुद्धधर्मैद	१७	,,
परस्परकी	सत्ता ही	१	३५६
आपि	अपि	१०	३५८
अभिभर	अभिभार	१७	३५८
(पर्ययः)	(पर्याय)	४	३५९

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान सख्या
अनन्तर	अनंतर	१८	३५९
त्रिषय	विषयी	,,	,,
जपने	अपने	१९	३६०
सत्पूर्वक	तत्पूर्वक	१९	३६१
लीलामात्रेंमे	लीलामात्रसे	१	३६२
स्वार्थाह	स्वार्थात्	२०	३६४
द्रव्यमनको	द्रव्यमनकी	१७	३६५
समर्थ होता है।	समर्थ नहीं होता है।	१८	,,
क्षयक्रमाच्च	क्षयात्क्रमाच्च	२०	,,
परिणाम है।	(तत्भावमनःभवति) वह भावमन है।	२	३६६
ज्ञात	ज्ञाता	२२	,,
मतिश्रुत	मतिश्रुती अथवा मतिश्रुते	६	३६८
प्रान्तद्वयं	प्रान्त्यद्वय	९	,,
तथा अनुभवके	तथा कोई लोग अनुभवके	१६	३६९
उसका कारण	उसका करण	२०	३७०
तस्य करणं	तस्य तु करण	११	३७१
फसत्त्व	फलवत्त्व	१२	,,
पकाश माना जाता है	प्रकाशक माना जाता है	९	३७२
चित्फल	चित्फलं	१९	,,
स्वगाद्युपादान	स्रगाद्युपादान	२०	३७३
ईश्वररूप	ईश्वररूप	६	३७५
यावत्	समयात्	१४	३७६
लक्ष्यत	लक्ष्यते	३	३७७
निरपेक्ष	निक्षेप	१६	३७७
स्थपना	स्थापना	१४	३७८
चर प्रकरका	चार प्रकारका	१५	३७८
(तत्पयार्यतः)	(तत्पर्यायो)	१	३८०
दधाम्युधुना	दधाम्यधुना	७	३८१
पक्षोऽयस्	पक्षोऽयम्	१५	३८१
(यत् इद द्रव्यं)	(यत् इद द्रव्य)	२०	३८२
सस्यादनन्यथावृत्तेः	सत्स्यादनन्यथावृत्तेः	१५	३८७
अन्यथावृत्तेः	अनन्यथावृत्तेः	१७	,,
शरणही रखनेवला	शरण नहीं रखनेवाला	२	३८८
भूर्त	भूत	१९	३८९
पूर्व (नस्यात्) (वा भूतपूर्वः)	पूर्व अथवा भूतपूर्व यह (न स्यात्) कुछ नहीं है।	२०	३८९
अपेक्षासे नवीन	अपेक्षासे न तो नवीन	२१	,,
यह प्रमाणपक्ष	यह प्रमाणपक्ष है	६	३९०

शुद्धीपत्रक उत्तरार्ध [पंचाध्यायी]

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पांक्ति	पान सख्या
व्यापक्त्व	व्याप्यत्वं	१०	२
संवेदनसमक्षत:	स्वसंवेदनसमक्षत	१७	३
आत्मासिद्धिके	आत्मसिद्धिके	[illegible]	४
स्वानुभप्रत्यक्षसे	स्वानुभवप्रत्यक्षसे	१२	४
प्रत्यक्षानुभावयथा	प्रत्यक्षानुभवाद्यथा	७	६
याथाणा	यार्थाणा	१८	६
स्वीकर्तव्य:	स्वीकर्तव्य:	११	११
भावरू	भावरूप	१	१३
, घारावाही)	(धारावाही)	२१	१३
अनदकालसे	अनादिकालसे	४	१८
परस्पग	परपर	१६	२२
भावद्रव्योमयात्मक.	भावद्रव्योभयात्मक:	७	२४
जासवती है	जासकर्ता है	७	२८
अग्रेगौण्यं	अग्रेगौण्यं	९	२८
कुत्र	कुत्र	११	२८
क्रमत्	क्रमात	१२	३६
वेभाविकी	वैभाविकी	७	३७
वहवधका	वह वधका हेतु	२१	३८
(सामग्रीसन्निध्ये)	(सामग्रीसान्निध्ये	४	३९
सद्धिमें	सिद्धिमें	१२	३९
समय अमुनेको।	समय	२०	३९
मुक्त	मुक्त	१०	४१
(तान्निमित्तात)	(तान्निमित्तात्)	१४	४१
यसद्भवे	व्यसद्भवे	१९	४२
व्यवार्तिष्टते	व्यवतिष्टते	५	४३
(शात्तिजातं)	(शक्तिजात)	१२	४४
तद्ग्राहक	तद्ग्राहक	१९	४४
शक्तिकी	शक्तिभी	११	४५
युगपत्तयो:	युगपत्तयो.	१४	४५
(योगपद्ये)	(यौगपद्ये)	६	४६
येगपद्या	यौगपद्या	१३	,,
सात	सति	१४	,,
नाधितम्	बाधितम्	,,	,,
(अवाधित)	अवाधित	१८	४६
परिणमनको	परिणमनके	२०	,,
स्वस्वरूपाये	स्वस्वरूपाये:	५	४७

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान सख्या	अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या
सींम्रो	सीम्नो	७	४७	सत्वेस्याः	सत्वेस्या	१०	७०
तत्रापि	तत्रापि	९	,,	सर्वत्र	सर्वत्र	२	७१
वतेति	वर्तति	११	,,	चेक्रमणेहे	चेत्क्रमणेह	१७	७१
उस्पन्न	उत्पन्न	१५	,,	योगपथे	यौगपथे	६	७२
सर्वशून्यदिदोप·	सर्वशून्यादिदोपः	१८	४७	त्वमन्य	त्वनन्य	१४	७३
मिमित्त	निमित्त	७	५२	अपेक्षाभे	अपेक्षाके	१९	७३
हेतु	हेतुः	९	५३	द्वार	द्वारा	१९	७४
उपलब्द	उपलब्ध	२२	,,	जीवश्रेको	जीवश्रैको	२	७६
तद्वि	तध्दि	१	५५	तदात्वेपि	तदात्वेपि	३	,,
शुत्व	शुध्दत्व	१८	,,	अवस्थाओं	अवस्थाओंमे	१०	,,
यदद्वैत	यत्द्वैत	८	५६	स्वरू	स्वरूप	१९	,,
दोपकारक	दोप्रकारका	१०	,,	सन्तीमवो	सन्तमिवो	११	७७
प्रमात्त्वत	पमात्वत	२१	५८	क्यों जानी है	क्यों कीजाताहै	९	७८
मात्रत्वात्	मात्रत्वात्	१९	५९	सम	समय	११	७९
(अक्रमात्)	(अक्रमात्)	८	६०	शद्धजीवद्रव्य	शुद्धजीवद्रव्य	१०	८२
मामूद्रा	माभूद्वा	१३	६१	करना	कहना	५	८५
मात्रता	मात्रता	२०	६७	जगव्या	जगद्या	८	८७
सोपारक्तः	सोपरक्तं·	१५	६८	वन्धाभवो	वन्धाभावो	१७	८८
घूमवत्व	धूमवत्व	१९	,,	(शुद्धः)	(शुभ)	१४	८९
वूंआ	धूआ	२०	,,	किचिच्	किंचिच्	१९	८९
(अमूनि एव)	अमृनि नव	९	६९	(शुद्ध)	(शुद्धं)	१	९०

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या
स्त्रव:	स्त्रव	१४	९०
तदुद्देश्यो	तदुद्देशो	१६	,,
एतसेत	एतेसत	३	९१
पद्य नंबर १९२ का अन्वयार्थ पद्य नंबर १९३ में और १९३ का अन्वयार्थ १९२ में गलतीसे छप गया है।			९२
(मिथ्यादृग्गा:)	(मिथ्यादृश:)	७	९५
संवेदत	सवेदन	१६	१००
स्वस्त	स्वत	१९	१००
शुद्ध	शुद्ध	१६	१०५
तद्विशपत:	तद्विशेषत:	१६	१०५
ज्ञानचतना	ज्ञानचेतना	५	१०८
(पुर्वबद्धानां)	पूर्वबद्धाना	११	१०९
सम्यग्दृष्टियें की	सम्यग्दृष्टियोंके	२	११०
परमार्थमें	परमार्थसे	२	११०
वैच्छे	चेच्छे	८	१११
वैपरीत्यात्	वैपरीत्यात्	१८	११२
वैपरीत्यात	वैपरीत्यात्	२०	११२
शंछा	शंका	१८	११३
नाऽशुभ	नाऽशुभम्	९	११४
(अध्यक्ष)	(अध्यक्ष)	१९	११६
जैस	जैसे	१२	११९

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या
तो खराव	खराव	१२	११९
दीना	दीना	१९	११९
चरित्रा	चारित्रा	१६	१२४
होता है	नहीं होती है	२	१२५
भोगीनीनीच्छत:	भोगानानेच्छित	१३	१२५
हाता है	होना	१८	१२५
अ	अच्छी	२१	१२९
कवेल	केवल	१३	१३०
इंद्रीयज्ञान	इंद्रीयज्ञानभी	१५	१३०
(बंधकार्यात)	(बंधकार्यात् कर्मजं)	१७	१३१
रखकरहा	रखकरही	२१	१३१
(स्वरसास्थिति)	(स्वरसस्थितिं)	१२	१३२
विद्यमानपु	विद्यमानेषु	१	१३३
ज्ञाकित	अशक्तित:	६	१३५
(तदेव)	(तदैवच)	८	१३५
२९६	२९३	१६	१३५
अति	अस्ति	६	१३६
परंपरावलोनभी	परंपरावलोकनभी	५	१३८
प्रकृत	प्रकृता	९	१३९
नामात्रके	नाममात्रके	१२	१३९
खड्शते	खंडशस्ते	१६	१३९

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पक्ति	पान संख्या
(विना)	(विना न)	१३	१४०
कदाचद्व	कदाचिद्वै	१३	१४१
सर्वप्रदजं	सर्वप्रदेशजं	१८	१४१
मितिः	मिति. सतः	१२	१४३
(लिंग)	लिंगं	१३	१४३
उसन्न	उत्पन्न	११	१४७
यथाक्रम	यथागम॰	२१	१५२
प्रमुक्त	प्रमुक्तौ	१६	१५६
सचा	सचा पूर्णसुख	८	१५७
(अस्मददीना)	(अस्मदादीना)	५	१५८
नित्यो	नित्यौ	१२	१५८
द्रव्यौ	द्रव्यो	१२	१५८
ज्ञानादेक	ज्ञानादिक	३	१६०
जीवभी	जीवही	३	१६०
याथषु	यार्थेषु	१३	१६१
०	३६०	१४	१६२
(निवारणं)	(निरावरण)	१	१६४
(ज्ञाण)	(ज्ञान)	१	१६४
ज्ञानरूपस्य (पुन.)	ज्ञानरूप (पुन.)	१८	१६६
द्वयो	द्वयोः	१४	१६८

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पक्ति	पान संख्या
(बाह्यलक्षणं)	(बाह्यलक्षण)	१८	१७३
संबन्धी	सम्बन्धि	१३	१७८
साधक	ज्ञायक	७	१७९
स्तवस्था	स्त्यवस्था	१७	१८२
विषमप्याप्तिः	विषमव्याप्ति	१५	१८३
तत्स्माच्छद्वादयः	तस्माच्छूद्वादयः	६	१८६
सतूदृष्टेः	सद्दृष्टेः	२	१९०
तत्रि	तीव्र	१	१९१
शुद्ध	वही शुद्ध	५	१९१
(वन्ध)	(वन्धः)	७	२०१
(जविमज्ञः)	(जीयसंज्ञः)	२	२०२
आस्त्रव	आस्त्रव	१५	२०२
च्छुद्द	च्छुद्दः	४	२०३
(आखिलं)	(अखिलं)	२	२०४
(अध्यक्ष्यं)	(अध्यक्षं)	५	२०५
नात्ति	नास्ति	१०	२०६
लक्षस्य	लक्ष्यस्य	२	२०८
,,	,,	४	,,
देशाते	देशातो	८	२२१
संचतनं	संचेतनं	१७	,,
कर्मोंकि	कर्मोंको	२	२२२

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या
दग्धु	दग्धु	१९	२२२
(सम्यग्दष्टि)	(सम्यग्दष्टिः)	१९	२२४
सर्पाघ्यासाद्वत्यधीः	सर्पाघ्यासाद्द्रवत्यधी	१०	२२८
विभोति	विभेति	१८	,,
(वेदाना)	वेदना	१६	२२९
कुदष्टे	कुदष्टेः	२१	,,
मूर्तस्योति	मूर्तस्येति	८	२३०
मामस्या	मामस्या	९	२३१
(बाधाहेतो अमअवि-शेपयस्यतः)	(बाधाहेतो.आमयस्या-विशेषतः)	१२	२३१
रागरूप	रोगरूप	१२	२३१
नाशंको भय	नाशका भय	४	२३२
भ्रमताके	ममताके	१२	,,
पश्यनष्ट	पश्यन्न नष्ट	४	२३३
मोक्षऽस्य	मोक्षोऽस्य	१२	२३७
स्यादन्तो	स्यादनन्तो	१८	,,
(अशुभायः)	(अशुभाया.)	१०	२४३
होकसता	होसकती	१४	,,
ऽमा	सा	१९	,,
त्वाऽस्याद	त्स्याद	९	२४६
क्रियामात्र	शुभाक्रियाभी	५	२४७
क्रियायः	क्रियायाः	७	२४७
कृते	ऋते	८	,,
कमादया	कर्मोदया	,,	,,
कारण कि रागके विना	०	,,	२४८
नाशंक्य	नाशंक्यं	१	२४९
निष्काक्ष	निष्कांक्षः	,,	,,
पाकःशक्तेः	पाकशक्तेः	२१	,,
अद्दर्शन	सद्दर्शन	१९	२५०
स्वात्म	स्वात्म	४	२५१
निर्विकित्सा	निर्विचिकित्सा	८	२५१
निर्मि	निर्वि	१६	,,
दुदवादुःखिते	दुर्दैवाद्दुःखिते	१८	,,
कौश्चि .	कौश्चिद्	१३	२५७
(पातकः)	(पाकतः)	१९	,,
(चेष्टा)	(चेष्टा)	२	२६०
देवोंको	देवोंका	१५	२६४
भविनै	भाविनै	६	२७०
तदृष्टे.	सदृष्टे.	१४	२७५
अदङ्मोहोदयात्	आदङ्मोहोदयात्	१७	,,
सयमा	सयमो	१६	२७७
तेषाम	तेषामे	९	२८५

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या	अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या
भवेद्धवम्	भवेद्ध्रुव	१२	२८५	जातुाचत	जातुचित्	७	३२७
संयत	सयम	११	२९४	आत्मशक्ति	आत्मशक्ती	१०	३२९
वरणोदय	वरणोदय.	१०	२९५	सक्रिया	सत्क्रिया	१४	३३०
नित्यता	नित्यता	७	३०३	उपादेय	उपादेयन	२	३३१
,,	,,	१२	,,	बाधक	साधक	,,	,,
उस भी	उसेभी	१५	३०३	प्रकृतिका	प्रकृत	,,	,,
समस्वेष·	समस्त्वेषः	२१	,,	पुनर्दैवात	पुनर्दैवात्	४	३३६
य दोनोंही	ये दोनोंही	४	३०५	नात्रचस्या	नात्रचस्य	१९	३४२
छे दोष	छेदोप	१५	,,	स्वान्यात्मेदत.	स्वान्यात्मभेदत	५	३४३
धर्म	धर्मः	१०	३०७	प्रभावना	प्रभावना	१९	३४४
लिङ्गमहतां	लिङ्गमर्हतां	१२	३०८	दोपाध्यापक	दोपाधायक	३	३५७
३१२ पान यह उलटा छप गया है ।				दोपाध्यायक	दोपाधायक	१४	३६८
सम्मानदाना	सम्मानदानादि	१७.	३१३	दर्शनमोहनीयके सम्यत्वकी व्याति	सम्यक्त्व और निर्जरादिककी व्याति	३	३७१
यागस्य	योगस्य	१९	३१८	एकात्मामें	एकात्मामें एक विवक्षासे	१५	३७५
मंगारक्षणं	मगरक्षणं	८	३२१	अत	अत.	५	३८४
(करित्वं)	(कारित्व)	१७	३२३	स्वायत्तश्चेच्च	स्वायत्तश्चेच्	१३	३९४
निर्जरा	निर्जरा	२०	३२३	स्वाधीन नही	स्वाधीन है	४	३९५
(अशुभावहा)	(अशुभावहात्)	३	३२४	प्यस्यास्य	प्यास्यस्य	६	४०३
(शुभा)	(शुभ·)	४	,,	ससृति	ससृति	११	४०६
समेत्ति	समोत्ति	१६	,,				

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पंक्ति	पान संख्या
परन्तु	०	८	४१२
जो मति	जितना मति	१३	४२३
क्रमसे	क्रमसे	१८	४२९
चैत्येषु	चैतेषु	६	४३२
अभाव ह	अभाव है	२२	४३२
घातिया मात्र	घातिया अघातिया मात्र	१५	४३३
भवागमै	भवागमै.	१५	४३५
भावसमाव्हय	भावसमाव्हयम्	१९	४४८
ह किन्तु	है किन्तु	१२	४५०
त्रिलिलिंगकम्	त्रिलिंगकम्	६	४५२
शरीर और	और शरीर	२२	४५३
(अकारणत)	(अकारणात)	८	४५९
आशिक	आशिक	७	४७०
वगणाः	वर्गणा	१४	४७१



॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

पंचाध्यायी.

सरलार्थ–प्रबोधिनी

सान्वयार्थ हिंदीभाषा टीका।

महावीर स्तुति।

जिसके पांचसर्ग अवयव हैं ग्रंथराज जो कहलाता।
द्रव्य, विशेष, प्रमाण और नयके स्वरूपको दिखलाता॥
ऐसे ग्रन्थराजमें जिनके वचन सहायक होते हैं।
उन्हीं वीर प्रभु के चरणों में नमस्कार हम करते हैं॥ १॥

पंचपरमेष्ठीकी स्तुति।

इंद्रनरेन्द्र आदि, जिनके चरणों में शीश झुकाते हैं।
भव्यजनोंको जो अविनश्वर-मोक्षमार्ग बतलाते हैं॥
उनवृषभादि और सिद्धोंको नमस्कार मैं करता हूं।
उपाध्याय, आचार्य तथा मुनियोंको शीश नवाताहूं॥ २॥

जिनशासनकी स्तुति।

रहे सदा जयवन्त जिनेश्वरका–शासन जगहितकारी ।
जो निर्दोष तथा मुनिगणसे वंदित है जगमें भारी ॥
आदि अन्तसे रहित सदा ही त्रिभुवन जनको सुखकारी ।
और महामिथ्यात्व संतमस[1] का है जो विनाशकारी ॥३॥

ग्रन्थकारका मङ्गलाचरण।

पंचाध्यायावयवं ममकर्तुं ग्रन्थराजमात्मवशात् ।
अर्थालोकनिदानं यस्यवचस्तं स्तुवे महावीरम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(आत्मवशात्) अपनी शक्त्यनुसार (पंचाध्यायावयवं) पांच अध्याय जिसके अवयव हैं ऐसे (ग्रंथराजम्) ग्रंथराजके (कर्तुः मम) करनेवाले मुझे (यस्य वचः) जिसकेवचन (अर्थालोकनिदानं) पदार्थोंके प्रतिभास होनेमें मूलकारण हुए (तं) उस (महावीरं) महावीर स्वामीकी मै–ग्रंथकार (स्तुवे) स्तुति करता हूं।

भावार्थः— ग्रंथकार, इस महानकार्यमें कोई भी विघ्न न आजाय, इस हेतुसे ग्रन्थके प्रारंभमें मंगलाचरण करते समय, प्रथमही श्री महावीर स्वामीका स्तवन करते हैं। क्योंकि वे ही अंतिमतीर्थंकर तथा साक्षात् हितका उपदेश देनेवाले होनेसे, प्रथम वन्दनीय हैं।

जिसप्रकार चक्षुष्मान भी व्यक्ति, प्रकाशके विना पदार्थोंको नही देखसकता है। उसी प्रकार यद्यपि सब जीवादिक पदार्थ अनादि निधन स्वतः सिद्ध है तथापि उनका यथार्थ स्वरूप, मोहान्धकारसे अन्धे हुए, अज्ञ पुरुषोंको जिनोपदेशके बिना समझमें नही आसकता है। इसलिए ग्रन्थकारका कहनाहै कि मुझे

१ मिथ्यात्वरूपी अन्धकार।

वस्तुस्वरूपके परिज्ञान होनेमे भगवान श्रीमहावीर स्वामीके दिव्यवचनही साक्षात् कारण हुए है । इसलिए मैं उन्हें नमस्कार करता हूं । यहग्रन्थ सामान्यग्रन्थ नही है किन्तु सब जैन सिद्धान्त शास्त्रोका एकप्रकारसे राजाहै यह ग्रन्थकारने ' ग्रन्थराज ' इसपदसे सूचित किया है ।

ग्रन्थप्रारंभ करते समय ग्रन्थकार का मुख्य उद्देश, इस महान ग्रन्थके पांच अध्याय करनेका था अर्थात् पांच अध्यायोंमें अत्यन्तविस्तारसे जैनसिद्धांतको प्रगट करनेका था यह ' पन्चाध्यायावयवं ' इसपदसे मालूम पडता है । अतः खुद आगे मंगलाचरण करनेके बाद उन्होंने इस ग्रन्थको ' पंचाध्यायी ' इसनामसे कहनेकी प्रतिज्ञा की है । लेकिन खेदहै कि ग्रन्थकारका यह मनोरथ पूर्ण न हो सका । *

पंच परमेष्ठी की स्तुति ।

शेषानपि तीर्थंकराननन्तासिद्धानहं नमामि समम् ॥
धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान्मुनीश्वरान् वन्दे ॥ २ ॥

अन्वयार्थः— (**अहं**) मैं ग्रन्थकार (**शेषान् तीर्थंकरान्**) शेष तीर्थंकरोंको (**अपि**) और (**अनन्तसिद्धान्**) अनन्तासिद्धोंको (**समं**) युगपत—एकसाथ (**नमामि**) नमस्कार करताहू तथा (**धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान्मुनीश्वरान्**) धर्माचार्य, धर्माध्यापक, और धर्मसाधु इन विशेषणोसे विभूषित मुनिवरोंको भी (**वन्दे**) नमस्कार करता हूं ।

भावार्थः— वस्तु स्वरूपके प्रकाशमें, निमित्त कारण होनेसे, शेष तेईस तीर्थंकरोंको, अनन्तसिद्धोंको और आचार्य उपाध्याय तथा सर्व साधुओंको भी नमस्कार करता हूं ।

---

* यह ग्रंथ पूरा अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है । केवल १॥ अध्यायही उपलब्ध है ।

का

जिनशासनकी स्तुति।

जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनं सुवन्द्यमनवद्यम् ।
यदपि च कुमताराातीनदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः— (**अनादिनिधनं**) परम्पराहष्टिसे जिसका आदि और अन्त नहीं है (**अनवद्यं**) सर्वज्ञ, वीतराग देवद्वारा प्रतिपादित होनेसे, तथा पूर्वापर विरोध न होनेके कारण, जो सर्वथा निर्दोष है और (**सुवन्द्यं**) वस्तुके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादक होनेसे, जो ज्ञानी जनोंके द्वारा वन्दनीय है ऐसा (**जैनं शासनं**) जिनेंद्र भगवानके द्वारा उपदेशित, आगम (**जीयात्**) जयवन्त रहे (**अपि च यत्**) जो कि (**कुमतारातीन्**) पदार्थ के विपरीत स्वरूपके प्रतिपादक, कुमतरूपी प्रतिपक्षियोंको (**धूमध्वजोपमं**) धूमध्वज—अग्नि की तरह (**अदयं**) निर्दय होकर (**दहति**) भस्म करता है।

भावार्थः—जो जैनसिद्धान्त, वस्तुस्वरूपका प्रकाशक होनेसे, अनादि निधन, निर्दोष, और तत्व ज्ञानियोंके द्वारा सदैव आदरणीय है तथा प्राकृतिक नियमानुसार निर्दयतापूर्वक अस्वाभाविक और सदोष इतर सिद्धान्तोंका खंडित करनेवाला है वह जिनेन्द्रभगवान का शासन जयवन्त रहे।

ग्रन्थनाम—निर्देश।

इति वन्दितपंचगुरुः कृतमङ्गलसत्क्रियः सएष पुनः ।
नाम्ना पंचाध्यायीं प्रतिजानीते चिकीर्षितं शास्त्रम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः— (**इति**) इसप्रकार (**वन्दितपन्चगुरुः**) जिसने पंच परमेष्ठीकी वन्दना की है और जिसने (**कृतमंगलसत्क्रियः**) मंगलाचरणरूप, सत्कर्म किया है (**सःएषः**) वह मैं (**पुनः**) अब (**चिकीर्षितंशास्त्रं**) जिस शास्त्रके बनानेकी मेरी इच्छा है उसको (**नाम्ना**) नामसे (**पंचाध्यायीं**) पंचाध्यायी, (**प्रतिजानीते**) कहनेकी प्रतिज्ञा करता हूं।

भावार्थः— इसप्रकार पंचपरमेष्ठीको नमस्कार, और कायिक मानसिक तथा वाचनिक मंगलाचरण करके, अव मैं (ग्रन्थकार) पंचाध्यायी ग्रन्थके निर्माण करनेकी, प्रतिज्ञा करता हूं।

ग्रन्थ बनानेमें हेतु।

अत्रान्तरंगहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥ ५॥

अन्वयार्थः—(**यद्यपि**) यद्यपि (**अत्र**) इस ग्रन्थके बनानेमें (**अन्तरंगहेतुः**) अन्तरग कारण (**कवेः**) कविका (**विशुद्धतरः भावः**) विशुद्धतर परिणाम है (**तथापि**) तो भी (**हेतोः हेतुः**) उस अन्तरग कारणका कारण (**सर्वोपकारिणी**) सब जीवोंका उपकार करनेवाली (**साध्वी बुद्धिः**) उत्तमबुद्धि है।

भावार्थ—लोकोपकारकी तरफ झुकनेवाली बुद्धिसे, परिणामोंमें उत्तम विशुद्धि उत्पन्न होती है। और उस विशुद्धितासंपन्न प्रतिभासे ही, ग्रन्थबनानेकी शक्ति प्रगट होती है। इसलिए इस ग्रन्थके बनानेमें साक्षात् कारण, कविवरकी विशुद्धिता सम्पन्न, प्रतिभा है तथा परम्पराकारण सर्वोपकारिणी सुबुद्धि है, ऐसा समझना चाहिये।

कथनक्रम।

सर्वोऽपिजीवलोकः श्रोतुंकामो वृषं हि सुगमोक्त्या।
विज्ञप्तौ तस्य कृते तत्रायमुपक्रमः श्रेयान् ॥ ६॥

अन्वयार्थः— (**सर्वः अपि जीवलोकः**) सबही जीव (**हि**) निश्चयसे (**वृषं**) धर्मको (**सुगमोक्त्या**) सरल प्रतिपादनशैलीसे (**श्रोतुंकामः**) सुनना चाहते हैं (इति, **विज्ञप्तौ** 'सत्यां) ऐसी

सर्व साधारणकी सूचना होनेपर (**तस्य कृते**) उनके लिये (**तत्र**) धर्म श्रवण करानेमें (**अयं उपक्रमः**) यह सरल रचनाशैली (**श्रेयान्**) श्रेयस्कर–लाभदायक होगी।

भावार्थः— सर्व साधारण, सरल उपायोंद्वाराही, धर्मश्रवण करनेको पसन्द करते हैं, इस प्रकार, सर्वसाधारणकी सूचना होनेपर, सर्व साधारणके उपकारके लिए, निम्न लिखित रीतिसे तत्वज्ञानका निरूपण करना, श्रेयस्कर होगा।

सति धर्मिणि धर्माणां मीमांसा स्यादनन्यथा न्याय्यात्।
साध्यं वस्त्वविशिष्टं धर्म विशिष्टं ततः परं चापि ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः— (**अनन्यथान्याय्यात्**) धर्मीसे अन्यथा–धर्मीके विना, धर्म ठहर नही सकता है, इस न्यायानुसार (**धर्मिणि सति**) धर्मी–द्रव्यके होनेपर ही (**धर्माणां**) उसके धर्मोंकी–गुणधर्म या पर्यायधर्मोंकी (**मीमांसा स्यात्**) मीमासा कीजासकती है। इसलिए पहले (**अवशिष्टं वस्तु**) विशेषराहित वस्तु–सामान्य वस्तु (**साध्यं**) सिद्धकरना चाहिये (**च**) और (**ततःपरं**) तदनंतर (**धर्म विशिष्टं अपि 'साध्यं,**) धर्म विशेषण विशिष्ट वस्तुभी (विशेष वस्तुभी) सिद्धकरना चाहिये।

भावार्थः—धर्म धर्मीका अविनाभाव सम्बन्ध है। प्रथम धर्मीके निरूपण करनेपर, तद्गत धर्मोंका निरूपण करना, युक्तियुक्त ठरहताहै। इसालिए पहले वस्तु सामान्यका निरूपण करके, अनन्तर विशेष २ धर्मयुक्त विशेष वस्तुका, निरूपण करना चाहिये। अतः, ग्रन्थकारने उपर्युक्त प्रतिज्ञानुसार, प्रथम अध्यायमें द्रव्यसामान्य और दूसरे अध्यायमें वस्तु विशेषका कथन किया है।

वस्तु सामान्यका लक्षण।

तत्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः— (**लाक्षणिकं तत्वं सत्**) लक्षणसे निष्पन्न तत्व, सत है, अर्थात लक्षणदृष्टिसे तत्व, सत् रूपहै—तत्वका लक्षण सत् है (**वा**) अथवा (**सत् मात्रं**) सतही तत्व है (**यतः**) जिसकारणसे कि वह (**स्वतः सिद्धं**) स्वभावसेही सिद्ध है (**तस्मात्**) इसलिए वह (**अनादि निधनं**) अनादि अनन्त है, अर्थात न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट होगा, तथा (**स्वसहायं**) किसीकी सहायता की अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिए वह स्वसहाय—स्वतन्त्र है (**च**) और (**निर्विकल्पं**) निर्विकल्पक है, अर्थात् वस्तु कबसे है? क्यों है? कबतक रहेगी? इत्यादि विकल्पोंसे रहित है । तथा सामान्य दृष्टिसे, गुणगुणी आदिके भेदसेभी, रहित है ।

भावार्थः—वस्तु सत् स्वरूप तथा स्वतःसिद्ध होनेसे अनादिनिधन, स्वसहाय और निर्विकल्पक है ।

ऐसा न माननेमें दोष।

इत्थं नो चेदसतः प्रादुर्भूति निरंकुशा भवति ।
परतः प्रादुर्भावो युतसिद्धत्वं सतो विनाशो वा ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः— [**इत्थंनो चेत्**] यदि ऐसा नहीं मानाजाय अर्थात् वस्तु स्वत सिद्ध नहीं मानीजायगी, तो (**असतः निरंकुशा प्रादुर्भूतिः भवति**) असत् पदार्थकी विना किसी बाधाके उत्पत्ति होने लगेगी, (**परत प्रादुर्भावः**) एक पदार्थ की उत्पति दूसरे पदार्थ से होनेलगेगी, (**युतसिद्धत्वं**) पदार्थ, पदार्थ विशेषके सयोगसे, पदार्थ कहलावेगा (**वा**) अथवा (**सतः विनाशः**) सबके विनाशका प्रसंग आवेगा ।

भावार्थः— यदि, वस्तु स्वतःसिद्ध नहीं मानी जायगी, तो १ असत्की उत्पत्ति, २ सत्की परसे उत्पति, ३ युतसिद्धत्व और ४ सत्का विनाश, इसप्रकार ये चार दोष उपस्थित होंगे ।

आगे, इन चारोंही प्रकारके दोषोंका क्रमसे खुलासा करते हैं।

असत्की उत्पत्ति माननेसे हानि।

असतः प्रादुर्भावे द्रव्याणामिह भवेदनन्तत्वम्।
को वारयितुं शक्तः कुम्भोत्पत्तिं मृदाद्यभावेऽपि ॥ १० ॥

अन्वयार्थः—(**असतः प्रादुर्भावे**) असत्की उत्पत्ति होनेपर (**इह**) इसलोकमें (**द्रव्याणां अनन्तत्वं भवेत्**) कोई मर्यादा न रहनेके कारण, द्रव्योंकी जाति अनन्त होजायेगी—मानना पडेगी, और ऐसी अवस्थामें (**मृदाद्यभावे अपि**) मिट्टी आदि उपादान कारणोंके नहीं होनेपरभी (**कुम्भोत्पत्तिं**) होनेवाले घटकी उत्पत्तिको (**वारयितुं**) निवारण करनेकेलिऐ (**कः शक्तः**) कौन समर्थ होगा?

भावार्थः— जो पहले किसीभी रूपसे आस्तित्वमें नहीं था, ऐसे असत् पदार्थकी नवीन उत्पत्ति मानने-पर, वस्तुओंमें कार्यकारणभाव न रहनेके कारण, विना नियमके, चाहे जिस पदार्थकी उत्पत्ति होने लगेगी। और फिर ऐसा होनेपर, द्रव्यकी मर्यादाका नियम न रहेगा, संसारमें यथेच्छ अनतोंही द्रव्य होते चले जावेंगे। इसप्रकार आनिष्ट प्रसंग आवेगा, इसलिये असत्की उत्पत्ति न मानकर, वस्तुको सत्रूपही मानना ठीक है।

परसे सिद्ध माननेमें दोष।

परतः सिद्धत्वे स्यादनवस्थालक्षणो महान् दोषः
सोऽपि परः परतः स्यादन्यस्मादिति यतश्च सोऽपि परः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—(**परतः सिद्धत्वे**) किसी एक पदार्थकी उत्पत्ति, किसी दूसरे पदार्थसे मानने पर (**अनवस्थालक्षणः**) अनवस्था नामका (**महान् दोषः स्यात्**) वडाभारी दोष उपस्थित होगा (**यतः**) क्योंकि (**सः परः अपि**) जिस परपदार्थसे वस्तुकी सिद्धि मानी जायगी वह परपदार्थभी (**परतः स्यात्**) किसी दूसरे पदार्थमे

उत्पन्न होगा (**च**) और (**सः परः अपि**) वह पदार्थ भी (**अन्यस्मात्**) किसी दूसरे पदार्थसे उत्पन्न होगा (**इति**) इसप्रकार परपदार्थकी अपेक्षा करते २ कभी भी उसकी अवस्थाका—मर्यादाका अन्त न होसकनेके कारण, वस्तुकी परपदार्थसे उत्पत्ति माननेमें अनवस्था दोष आता है ।

भावार्थः—यदि वस्तुकी उत्पत्ति किसी दूसरेसे मानीजायेगी तो अप्रमाणिक अनन्तपदार्थोंकी कल्पनारूप अनवस्था नामके दोषका प्रसग आवेगा । क्यों कि उस दूसरे की उत्पत्ति भी किसी तीसरेसे और उस तीसरेकी उत्पत्ति भी किसी चोथेसे होगी। इसप्रकार पूर्व २ की उत्पत्तिके लिये उत्तरोत्तरकी कल्पना करनेपर कहींपर भी विश्रान्ति नहीं मिलेगी । अतएव सत्को स्वतःसिद्ध न मान करके परतःसिद्ध माननेमें अनवस्था दोष आता है ।

युतासिद्धत्वके माननेमें दोष ।

युतसिद्धत्वेप्येवं गुणगुणिनोः स्यात्पृथक् प्रदेशत्वम् ।
उभयोरात्मसमत्वाल्लक्षणभेदःकथं तयो र्भवति ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—(**एवं**) इसीप्रकार (**युतसिद्धत्वे अपि**) वस्तुमे युतसिद्धता माननेपर भी (**गुणगुणिनोः**) गुण और गुणी, इन दोनोंके (**पृथक्प्रदेशत्वं स्यात्**) पृथक २ प्रदेश मानने पडेंगे, तथा ऐसा माननेपर (**उभयोः आत्मसमत्वात्**) गुण और गुणी, इन दोनोंका आत्मा—स्वरूप, पृथक २ सम-एकसा होनेसे (**तयोः**) उन दोनोंमें (**लक्षणभेदः**) लक्षणभेद अर्थात असुक गुण है तथा अमुक गुणी है, ऐसा भिन्न भिन्न लक्षण (**कथं भवति**) किस तरहसे हो सकेगा? अर्थात् उनमे किसी भी प्रकारसे, लक्ष्यलक्षणभाव, नहीं बन सकेगा ।

भावार्थः—सत्को स्वतःसिद्ध न मानकर, युतसिद्ध, अर्थात् द्रव्यत्वके योगसे द्रव्य, द्रव्य और गुणके योगसे गुणी कहलाता है ऐसा माननेमें, गुण और गुणीके पृथक २ प्रदेश माननेका प्रसग आवेगा, तथा उनके प्रदेशोंको पृथक २ माननेसे, यह गुण अमुक द्रव्यका है अथवा इस गुणका सम्बन्ध, अमुक द्रव्यसे है, इसप्रकार गुण और गुणीमें, लक्ष्यलक्षणभाव भी नहीं बनेगा । कारण आगममें द्रव्यको लक्ष्य, और गुणाको लक्षण माना है ।

नैयायिक, गुण तथा द्रव्यको पृथक् २ मानते हैं, और समवाय नामक पृथक् पदार्थके द्वारा, विवक्षित-गुणोंका विवक्षित द्रव्योंके साथ, सम्बन्ध मानते हैं। परन्तु उनके द्वारा बुद्धि आदिक गुणोंके, पृथक् २ प्रदेश माने-जानेपर, इसका कोई नियामक कारण प्रतीत नहीं होता है, कि बुद्धि आदिका समवाय, आत्मामेंही होता है, अन्यमें क्यों नहीं होता है। अतएव अखंड गुणसमुदायात्मक, सत् ही, स्वतःसिद्ध, तत्त्व है।

सत्का नाश माननेमें दोष।

अथवा सतो विनाशः स्यादिति पक्षोऽपि बाधितो भवति।
नित्यं यतः कथञ्चिदद्रव्यं सुज्ञैः प्रतीयतेऽध्यक्षात्॥ १३॥

अन्वयार्थः—(अथवा) अथवा (सतः विनाशः स्यात्) सतका नाश होता है (इति पक्षः अपि) यह पक्ष भी (बाधितः भवति) बाधित है (यतः) क्योंकि (सुज्ञैः) ज्ञानी जनोंके द्वारा (अध्यक्षात्) प्रत्यक्षसे (द्रव्यं कथञ्चित् नित्यं प्रतीयते) द्रव्य कथंचित नित्य प्रतीत होता है।

भावार्थः— सत्को स्वतःसिद्ध न माननेमें, चौथा दोष, सतके विनाशके प्रसंगका आता है। परंतु सत्का विनाश मानना ठीक नहीं है, क्योंकि स्वानुभव प्रत्यक्षके द्वारा, वस्तु (द्रव्य) कथंचित नित्यात्मक प्रतीत होती है। इसलिये, सत्का नाश मानना प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है।

सारांश।

तस्मादनेकदूषणदूषितपक्षाननिच्छता पुंसा।
अनवद्यमुक्तलक्षणमिह तत्वं चानुमन्तव्यम्॥ १४॥

अन्वयार्थः— (तस्मात्) इसलिए (अनेकदूषणदूषितपक्षान्) उक्त चारों दोषोंसे दूषित पक्षोंको

(**अनिच्छता पुंसा**) नहीं चाहनेवाले पुरुषको (**इह**) यहांपर (**उक्तलक्षणं तत्वं च**) पूर्वोक्त लक्षणवाला तत्व, अर्थात तत्वका पहले कहा हुवा लक्षण ही (**अनवद्यं**) निर्दोष (**अनुमन्तव्यं**) मानना चाहिये।

भावार्थः— सत्को स्वतःसिद्ध न माननेपर, पूर्वोक्त चार दोष आते है। इसलिये, निर्दोष, समीचीन तत्व स्वरूपकी जिज्ञासा रखनेवाले सुज्ञजनोंने, हमारे पूर्वोक्त निर्दोष लक्षणसे ही, सहमत होना चाहिये।

इसप्रकार वस्तुसामान्यका लक्षण कहकर, ग्रन्थकार, अब आगे सत्ताका विचार करते है।

सत्ताके सप्रतिपक्षत्वकी सिद्धि

किंचैवंभूतापि च सत्ता न स्यान्निरंकुशा किन्तु।
सप्रतिपक्षा भवति हि स्वप्रतिपक्षेण नेतरेणेह ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—(**किंच**) तथा (**इह**) इस लोकमें (**एवंभूता सत्ता अपि च**) वस्तुके लक्षणभूत इसप्रकारकी सत्ताभी (**निरंकुशा न स्यात्**) निरपेक्ष नहीं हैं (**किन्तु**) किन्तु (**हि**) निश्चयसे (**स्वप्रतिपक्षेण**) अपने प्रतिपक्षीसे (**सप्रतिपक्षा भवति**) सप्रतिपक्ष—सापेक्ष है (**इतरेण न**) इतरसे अर्थात् आकाशकुसुम आदिरूप तुच्छाभावसे सप्रतिपक्ष नहीं है।

भावार्थः— जिससत्ताको वस्तुका लक्षण बताया है वह सत्ताभी सर्वथा निरपेक्ष नहीं है। किन्तु अपने प्रतिपक्ष—असत्ताकी अपेक्षा रखनेवाली है। प्रत्येक वस्तु सदात्मक है अर्थात् स्वस्वरूपसे है, और परस्वरूपसे नहीं है। इसलिए इस अपेक्षासे सत्ताका प्रतिपक्षी असत्ता है। यह असत्ता 'आकाशपुष्पकी' तरह तुच्छाभावरूप नहीं है। जैसेकि घटरूपसे घटकी सत्ता है तथा पटरूपसे घटकी सत्ता नहीं है अर्थात् असत्ता है। यह घटकी सत्ताका प्रतिपक्ष, घटकी असत्ता, तुच्छाभावरूप असत् पदार्थ नहीं है किन्तु पटकी सत्तारूप है।

सारांश यह है कि अपना अपनेमें सद्भाव और दूसरोंमें अभाव ये दोनो सद्भाव असद्भावात्मक या, सत्ता

का

असत्तात्मक परस्पर सापेक्ष धर्म प्रत्येक द्रव्यमें भली भांति सिद्ध होते है। इसलिये सत्ता सप्रतिपक्ष है।

सत्ताके सप्रतिपक्षत्वमें शंका।

अत्राहैवं काश्चित् सत्ता या सा निरंकुशा भवतु।
परपक्षे निरपेक्षा स्वात्मनि पक्षेऽवलम्बिनी यस्मात् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः— (**अत्र**) इस विषयमें (**कश्चित्**) कोई शंकाकार (**एवं आह**) इसप्रकार कहता है कि (**या सत्ता**) जो सत्ता महासत्ता–सामान्य सत्ता है (**सा**) वह (**निरंकुशा भवतु**) निरपेक्ष होना चाहिये अर्थात् अवान्तर सत्तारूप प्रतिपक्ष निरपेक्ष होना चाहिये (**यतः**) क्यो कि वह (**परपक्षे**) परपक्षमें (**निरपेक्षा 'सती'**) निरपेक्ष होती हुई (**स्वात्मनि पक्षे**) स्वपक्षमें ही (**अवलम्बिनी**) रहनेवाली होती है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि, सत्ताका कोई प्रतिपक्ष नही मानना चाहिये। क्योंकि महासत्ता स्वपक्षमेंही रहनेवाली होती है। इसलिए वह अवान्तर सत्ता की अपेक्षा नहीं रखती है किन्तु निरपेक्षही होती है।

॥ उत्तर ॥

तन्न यतो हि विपक्षः कश्चित्सत्त्वस्य वा सपक्षोऽपि।
द्वावपि नयपक्षौ तौ मिथो विपक्षौ विवक्षितापेक्षात् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः— (**तन्न**) वह कथन ठीक नहीं है (**यतः**) क्यों कि (**हि**) निश्चयसे (**सत्त्वस्य**) सत्ताका (**कश्चिन्**) कोई (**सपक्षः**) सपक्ष (**वा**) और कोई (**विपक्षः अपि**) विपक्ष भी अवश्य है तथा (**द्वौ अपि**) ये दोनों भी (**नयपक्षौ**) नयपक्ष हैं और (**तौ**) वे दोनो (**विवक्षितापेक्षात्**) विवक्षित अपेक्षासे (**मिथः**) परस्परमें (**विपक्षौ**) विपक्ष–प्रतिपक्ष पडते हैं।

अब शंकाकारकी शंका यह है कि वस्तु, एक, अनादि निधन और निर्विकल्प मानते हुएभी उसमें महासत्ता तथा अवान्तरसत्ता और इनके भेद–विशेष माननेमें क्या हेतु है जिससे कि इनमें परस्पर सापेक्षता बतलाई जाती है।

उत्तर।

अंशविभागः स्यादित्यखण्डदेशे महत्यपि द्रव्ये।
विष्कम्भस्य क्रमतो व्योम्नीवांगुलिवितस्तिहस्तादिः ॥ २४ ॥

अन्वयार्थः—(**अखण्डदेशे**) अखण्डप्रदेशी (**अपि**) और (**महति**) बहुप्रदेशी (**द्रव्ये**) द्रव्यमें (**विष्कम्भस्य क्रमतः**) विष्कम्भके क्रममे (**व्योम्नि**) अखण्डप्रदेशी तथा बहुप्रदेशी आकाशमें (**अंगुलिवितस्ति-हस्तादिः इव**) अंगुल, विलस्त, हाथ इत्यादि–की तरह (**इति**) आगे-वक्ष्यमाणप्रकारसे (**अंशविभागः स्यात्**) अंशकल्पना की जाती है।

भावार्थः— जिसप्रकार अखण्ड बहुप्रदेशमय आकाशमें चौडाईके हिसाबमे यह एक अंगुलका आकाश है, यह एक विलस्त प्रमाण है, इस तरह अंश–खण्डकल्पनाकी जाती है। उसी प्रकार बहुप्रदेशी पञ्चास्तिकाय द्रव्योंमेंभी विष्कम्भक्रमसे देशका खण्ड न होते हुए भी खण्ड कल्पना होती है। जैसे–

प्रथमो द्वितीय इत्याद्यसंख्यदेशास्ततोप्यनन्ताश्च।
अंशा निरंशरूपास्तावन्तो द्रव्यपर्ययाख्यास्ते ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः—(**प्रथमः**) पहला (**द्वितीयः**) दूसरा (**इत्याद्यसख्यदेशाः**) इत्यादि असंख्यातप्रदेश (**ततः अपि**) उससे भी आगे (**अनन्ताः**) अनन्त (**च**) और अनन्तानन्त ('**यावन्त**, जितने भी (**निरंशरूपाः अंशाः**) एकद्रव्यमें निरंश-जिसका फिर दुबारा अंश नहीं होसकता ऐसे अविभागी अंश होते हैं (**तावत**) उतने वे सब (**द्रव्यपर्ययाख्याः**) द्रव्यपर्याय कहे जाते है।

भावार्थः— एक पुद्गलपरमाणु जितने आकाशको रोकता है उसे प्रदेश कहते है। इसीको निरंश-देशांश अथवा द्रव्यपर्यायभी कहतें है। इस प्रदेशकी अपेक्षासे जो द्रव्यमें खण्ड कल्पना करना, इसीको तिर्यगंश कल्पना या स्वक्षेत्र कहते है अर्थात् जितने एक द्रव्यमें अंश होते है उतनीही उस द्रव्यकी द्रव्यपर्यायें समझना चाहिए। क्योंकि—

पर्यायाणामेतद्धर्मं यत्त्वंशकल्पनं द्रव्ये।
तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सुस्थं प्रमाणतश्चापि ॥ २९ ॥

अन्वयार्थः— (**द्रव्ये**) द्रव्यमें (**यत् अंशकल्पनं**) जो अंशकल्पनाकी जाती है (**पर्यायाणां धर्मं**) पर्यायोंका स्वरूप है (**एतत् तु**) यही तो निर्दोष है (**तस्मात्**) इसालिये (**इदं सर्वं अनवद्य**) यहसब-उपर्युक्त वस्तुका स्वरूप निर्दोष है (**च**) और (**प्रामाणत अपि**) प्रमाणसेभी (**सुस्थं**) सब सुव्यवस्थित है।

भावार्थः— एक-जीवद्रव्य, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यके लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेश है। पुद्गल द्रव्यके एक, संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश है। और कालद्रव्यका एक प्रदेश है। इस रूपसे अखण्ड प्रदेशी द्रव्योंमें खण्ड प्रदेशकी कल्पना करना, पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे है। क्योंकि अंशकल्पना पर्यायोंका स्वरूप माना-गया है। नं. २३ वें पद्यकी शंकाका उत्तर ग्रन्थकारने इन तीन पद्यों द्वारा इस प्रकार दिया है कि, पदार्थ द्रव्यगुण पर्यायात्मक है। अंशकल्पना पर्यायोंका स्वभाव है। वह अंशकल्पना दो प्रकारसे होती है। एक विष्कम्भक्रम और दूसरी ऊर्ध्वक्रम, इनमेंसे ऊर्ध्व क्रमका वर्णन आगे करेंगे। विष्कम्भक्रमसे जिसप्रकार व्यापक अखंड एक आकाशद्र-व्यमें अंगुल, विलस्त, हाथ, धनुष, कोश तथा योजनादिकसे खण्डोंकी कल्पना कीजाती है उसी प्रकारसे पञ्चास्ति-काय द्रव्योंमें जितने जिस द्रव्यके प्रदेश है, उतने प्रदेशोंकी अधिकसे अधिक खण्डकल्पना कीजाती है। इस लिए अखण्डद्रव्यमें भेदका मूल कारण खण्डकल्पना है। इस प्रकारकी भेदकल्पनाको द्रव्यपर्याय किंवा स्वक्षेत्र कल्पना कहते है। और द्रव्यको देश कहते है।

प्रश्न।

एतेन विना चैकं द्रव्यं सम्यक् प्रपश्यतश्चापि।

को दोषो यद्भीतेरिय व्यवस्थैव साधुरस्त्विति चेत् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ(**एतेन विना**) इस प्रदेशरूप अंशकल्पनाके विना (**एकं च द्रव्य**) केवल एक–अखण्ड निर्विकल्पक द्रव्यको ही (**सम्यक्**) भली भांति (**प्रपश्यतः अपि च**) सम्यक्श्रद्धान करने वालेको अर्थात् अंशकल्पना को न मानकर द्रव्य अखण्ड है ऐसे सिद्धांन्तको समीचीन मानने वालेको भी (**कःदोषः**) क्यादोष आताहै (**यद्भीतेः**) जिसके कि भयसे (**इयं व्यवस्था एव**) यह देशांशकी व्यवस्थाही (**साधु अस्तु**) ठीक है ऐसा आप कहते हैं (**इतिचेत्**) यदि ऐसा कहो तो-

भावार्थ — शंकाकारका प्रश्न है कि निर्विकल्प अखण्ड द्रव्यमें प्रदेशरूप केवल कपोल कल्पित अंशविभागको न मानकर केवल एक अखण्डद्रव्यको माननेमे क्या दोष है जिसके की डरसे द्रव्यस्वरूप समझनेके लिये आप देशांशरूप अंशकल्पनाकी व्यवस्था ही ठीक मानते हो ।

उत्तर ।

देशाभावे नियमात्सत्त्वं द्रव्यस्य न प्रतीयेत ।
देशांशाभावेपिऽच सर्वं स्यादेकदेशमात्रं वा ॥ २८ ॥

अन्वयार्थः— (**देशाभावे**) देशको न माननेपर (**नियमात्**) नियमसे (**द्रव्यस्य सत्वं**) द्रव्याका अस्तित्वही (**न प्रतीयेत**) प्रतीत न हो सकेगा (**च**) और (**देशांशाभावे अपि**) देशांश–स्वक्षेत्र कल्पनाको न माननेपर भी (**सर्वं एकदेशमात्रं वा स्यात्**) सम्पूर्ण द्रव्य केवल एकप्रदेशरूप ही हो जायगा ।

भावार्थः—यदि स्वद्रव्य कल्पना न की जाय, तो उसके विना यह द्रव्य है ऐसी द्रव्यकी सत्ता कैसे प्रतीत हो सकेगी ? और यदि स्वक्षेत्र कल्पना नही मानी जायगी तो सबही द्रव्योंको एकप्रदेशमय ही मानना पडेगा । अतः देशांश कल्पनाके माननेसेही देशकी कल्पना कीजाती है । तथा देश देशांशकी कल्पना न माननेसे उक्तदोष आते है । इसलिए भेदका कारण कथञ्चित देश, देशांश कल्पना कही गई है । कारण—

का

वस्तुकी असत्ता और एकांशतामें दोष।

तत्रासत्वे वस्तुनि न श्रेयस्तस्य साधकाभावात्।
एवं चैकांशत्वे महतो व्योम्नोऽप्रतीयमानत्वात् ॥ २९ ॥

अन्वयार्थः—(**तत्र**) उनमेंसे (**वस्तुनि असत्वे**) वस्तुके न रहनेपर (**श्रेयः न**) श्रेयकी सिद्धि नहीं होगी क्योंकि (**तस्य साधकाभावात्**) वस्तु माननेके अभावमें उस श्रेयके साधकका भी अभाव होगा (**एवं च**) इसीप्रकार (**एकांशत्वे**) द्रव्यको एकांशमाननेमें (**महतःव्योम्नः अप्रतीयमानत्वात्**) महान आकाशकी प्रतीतिके अभावका प्रसंग आवेगा।

भावार्थः—कदाचित् शंकाकार कहे कि हम द्रव्यको असत्रूप ही मानलेंगे तो वह भी कथन युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि वस्तुकी सत्ता न रहनेपर श्रेयोमार्गकी उपयोगिता और अश्रेयोमार्गकी अनुपयोगिताका कथनक्रम ही निष्फल होजायगा। तथा वस्तुकी प्रदेशकल्पनाके अभावमें केवल एकांशमात्र वस्तु सिद्ध होगी। और ऐसा माननेपर जो आकाशमें बहुप्रदेशीपनेकी प्रतीति होती है उसमें बाधा आवेगी।

किंचैतदंशकल्पनमपि फलवत्स्याद्यतोऽनुमीयेत।
कायत्वमकायत्वं द्रव्याणामिह महत्वममहत्त्वम् ॥ ३० ॥

अन्वयार्थः—(**किंच**) तथा (**इह**) इसलोकमें (**यतः**) जिसकारणसे (**द्रव्याणां**) द्रव्योंका (**कायत्वं**) सकायपना–बहुप्रदेशत्व (**अकायत्वं**) अकायपना–एकप्रदेशत्व (**महत्वं**) बडापन और (**अमहत्वं**) छोटापन (**अनुमीयेत**) अनुमित करते हैं (**ततः,अपि**) उसलियेभी (**एतत् अंशकल्पनं**) यह अंशोंकी कल्पना (**फलवत् स्यात्**) सफल–सप्रयोजन सिद्ध होती है।

भावार्थः—बहुप्रदेशी द्रव्यको अस्तिकाय कहते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये बहुप्रदेशी होनेसे पंच अस्तिकाय द्रव्य हैं। तथा काल द्रव्य एकप्रदेशी होनेसे कायवान नहीं है।

जीव, धर्म और अधर्म ये तीनों तुल्य-असंख्यातप्रदेशी हैं। पुद्गलद्रव्य, परमाणु अवस्थामें एकप्रदेशीही है लेकिन उसमें स्कन्धरूप होकर बहुप्रदेशी होनेकी शक्ति होनेसे, उपचारसे उसेभी कायवान कहा है। स्कन्धरूप अवस्थामें वह संख्यात असंख्यात तथा अनन्तप्रदेशी है। और आकाशद्रव्य सबसे बडा अनन्तानन्त प्रदेशी है।

यदि देशांश-स्वक्षेत्र की कल्पना न मानी जाय तो द्रव्यके, आगम प्रसिद्ध सकायत्व और अकायत्वका अनुमान कैसे किया जासकता? तथा प्रदेशोंकी न्यूनाधिकता का भी बोध न होनेसे कौन द्रव्यबडा है तथा कौन छोटा है इसका ज्ञान कैसे हो सकता? किन्तु—

प्रदेश-स्वक्षेत्र कल्पना करनेसे ही इन सबका अनुमान हो सकता है। इसलिये भी द्रव्योंमें प्रदेशकल्पना सप्रयोजन-सकारण सिद्ध होती है।

शंका।

भवतु विवक्षितमेतन्ननु यावन्तो निरंशदेशांशाः
तल्लक्षणयोगादप्यणुवद्द्रव्याणि सन्तु तावन्ति ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थः—(**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**एतत्**) यह तुम्हारी देशांशकल्पना (**विवक्षितं भवतु**) विवक्षित रहो किन्तु (**यावन्तः निरंशदेशांशाः**) जितने भी निरंश-अविभागी देशांश हैं (**तल्लक्षणयोगात्**) उनमें द्रव्यका लक्षण घटता है इसलिए (**अणुवत्**) अविभागी एकप्रदेशी पुद्गलाणुकी तरह (**द्रव्याणि अपि**) द्रव्य भी (**तावन्ति सन्तु**) उतने ही होना चाहिये?

भावार्थः— द्रव्यके जितने भी गुण है वे सब सम्पूर्ण द्रव्यको व्यापकर रहते है अर्थात् शरीरके अवयव की तरह अलग २ भागमें न रहकर अनन्तों ही गुण, उस द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशमें व्यापकर रहते हैं, भेदकल्पनाके द्वारा केवल उपचारसे उनके भेद कल्पित किया जाता है। इसपर, शंकाकारका कहना है, कि देशांश की कल्पना आप करते

हो, सो ठीक है लेकिन एकद्रव्यके इतने प्रदेशमाननेकी वजह उन एक २ देशांशको ही पृथक २ द्रव्य क्यों न मानलो? क्योंकि उनमे भी द्रव्यका लक्षण पूर्णतासे घटता है। जिसप्रकार पुद्गल द्रव्यमे परमाणु एक द्रव्य है उसी प्रकार एक द्रव्यमे जितने निरंश देशांशकी कल्पना की जाती है उनको उतने ही द्रव्य क्यो न मान लेना चाहिये।

उत्तर।

नैवं यतो विशेषः परमः स्यात्पारिणामिकोऽध्यक्षः।
खण्डैकदेशवस्तुन्यखण्डितानेकदेशे च ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थः— (**एवं न**) इस प्रकारका कहना ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**खण्डैकदेशवस्तुनि**) खण्डरूप एक २ प्रदेश बराबर कल्पित वस्तुमे (**च**) और (**अखण्डितानेकदेशे**) अखण्ड बहु प्रदेशी वस्तुमें (**अध्यक्षः**) प्रत्यक्ष (**पारिणामिकः**) परिणमन सम्बन्धी (**परमः**) बडा (**विशेषः स्यात्**) अन्तर पडता है।

भावार्थः— यहां बहु प्रदेशी द्रव्यके जितने प्रदेश है उतने एक २ प्रदेशी खण्डरूप द्रव्यांशोको 'खण्डैकदेशवस्तु' इसपदसे संबोधित किया है। और यद्यपि द्रव्योंमें कायत्व, अकायत्व महत्व तथा अमहत्व समझनेके लिये स्वक्षेत्रकी अपेक्षासे नानाप्रदेशोंकी देशांश कल्पना की जाती है। तथापि वास्तवमे वस्तु खण्डित नहीं होती है। इसीको अखण्डितानेकदेश वस्तु कहते है।

इनदोनोंमें प्रत्यक्षगोचर पारिणामिक बडा अन्तर होनेसे शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है।

आगे इसीका खुलासा पाच श्लोकोंमे करते है।

खण्डैकदेश वस्तु माननेमें हानि।

प्रथमोद्देशितपक्षे यः परिणामो गुणात्मकस्तस्य।

एकत्र तत्र देशे भवितुशीलो न सर्वदेशेषु ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थः— (**प्रथमोद्देशितपक्षे**) प्रथम निर्दिष्ट पक्षमे—खण्डैकदेश वस्तु माननेमे (**तस्य**) उसका (**यः**) जो (**गुणात्मकःपरिणामः**) गुणात्मक परिणमन अर्थात गुणोंका जो परिणमन होगा ('**सः**,) वह (**तत्र-एकत्रदेशे**) उसी एक देशमे ही (**भवितुंशीलः**) होने योग्य होगा (**सर्वदेशेषु न**) द्रव्यके सर्व प्रदेशोंमे नही होगा।

भावार्थः— शंकाकारके कथनानुसार एकद्रव्यके स्थानमें उस द्रव्यके जितने प्रदेश है उतने ही द्रव्य यदि स्वीकार किये जावे तो एक प्रदेशमे होनेवाला गुणोंका परिणमन, द्रव्यके एकदेशांशमें ही होना चाहिये, बाकीके अंशोंमें नही होना चाहिये।

खण्डैकदेशपक्षका दृष्टान्तद्वारा खण्डण।

तदसत्प्रमाणबाधितपक्षत्वादक्षसंविदुपलब्धेः।
देहैकदेशविषयस्पर्शादिह सर्वदेशेषु ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थः— (**इह**) इस लोकमे (**देहैकदेशविषयस्पर्शात्**) देहके एक देश—भागमें किसी विषयका स्पर्श होनेसे (**सर्वदेशेषु**) सब देशोंमे—सम्पूर्ण शरीरमे (**अक्षसंविदुपलब्धेः**) इन्द्रियजन्य ज्ञान पाया जाता है (**तत्**) इस लिए (**प्रमाणबाधितपक्षत्वात्**) गुणोंके परिणमनको खण्डैकदेश वस्तुगत मानना, प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित होनेके कारण (**असत्**) ठीक नहीं है।

भावार्थः—प्रदेश २ के बराबर खण्डैकदेशरूप वस्तु माननेसे गुणोंका परिणमन भी प्रदेशमात्रमें मानना पडेगा। और गुणोका परिणमन एकप्रदेशमें होता है। यहपक्ष, प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है। क्योंकि शरीरके एकभागमें

किसी पदार्थका स्पर्श होनेसे सम्पूर्ण शरीरमें स्पर्शनेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष पाया जाता है। इसलिए गुणोंके परिणमनको खण्डैकदेशवस्तु मानना ठीक नहीं है।

दृष्टान्तपूर्वक अखण्डितानेक देश वस्तुका समर्थन।

प्रथमेतर पक्षे खलु यः परिणामः स सर्वदेशेषु।
एको हि सर्वपर्वसु प्रकम्पते ताडितो वेणुः ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थः— (**प्रथमेतरपक्षे**) द्वितीयपक्षमें-अखण्ड अनेक प्रदेशीवस्तु माननेमें (**खलु**) निश्चयसे (**यः परिणामः**) जो गुणोंका परिणमन होता है (**सः**) वह (**सर्व देशेषु**) द्रव्यके सब प्रदेशोंमें समान, होता है और वह ठीक है (**हि**) क्योंकि (**ताडितःएकःवेणु**) हिलाया गया एक बांस (**सर्वपर्वसु**) अपनी सर्व पर्वोंमें-गाठ-गाठमें (**प्रकम्पते**) हिलजाता है।

भावार्थ—अपनी सर्व पर्वोंके समुदायकानाम बांस है। और वह किसी भी जगह ताडित होनेपर जिस-तरह यावत् पर्वोंमें हिलजाता है। उसीतरह अखण्ड अनेकप्रदेशी द्रव्योंके एकप्रदेशमें भी जो गुणोंका परिणमन होता है वह उसके यावत् प्रदेशोंमें ही होता है यह प्रत्यक्ष अनुभवसे सिद्ध है।

इसप्रकार खण्डैकदेश वस्तु और अखण्ड बहुप्रदेशी वस्तु, इनदोनोंमें बडी विशेषता पाई जाती है। खण्डैक-देश वस्तु माननेमें प्रत्यक्ष बाधा आती है। इसलिए 'अणुवद्द्रव्याणि सन्तु तावन्ति' यहपक्ष ठीक नहीं है।

दृष्टान्तपूर्वक अखण्डितैकदेश वस्तुका समर्थन।

एक प्रदेशवदपि द्रव्यं स्यात्खण्डवर्जितः स यथा।
परमाणुरेव शुद्धः कालाणुर्वा यथा स्वतःसिद्धः ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थः—(**एकप्रदेशवत् अपि**) एकप्रदेशवाला भी (**द्रव्यं स्यात्**) द्रव्य है किन्तु (**सःखण्डवर्जित**) वह खण्डसहित नहीं है (**यथा**) जैसे कि (**शुद्धःपरमाणु एव**) पुद्गल द्रव्यमेंसे शुद्ध परमाणुही (**वा**) अथवा (**यथा**) जैसे (**स्वतःसिद्धःकालाणुः**) स्वतःसिद्ध कालाणु।

भावार्थः— शुद्ध पुद्गलपरमाणु और कालाणु, ये दोनों अखण्ड एक प्रदेशी द्रव्य है। पुद्गल द्रव्य स्कन्धसे भेद अवस्थाको प्राप्त होकर अविभागी परमाणु हो जाता है और पुनः कालान्तरमें स्कन्धरूपभी होसकता है। किन्तु कालाणु स्वतःसिद्ध अविभागी—एकप्रदेशी अखण्ड एक द्रव्य है। सारांश यह है कि अखण्ड एकप्रदेशी द्रव्यभी होसकता है। किन्तु खण्ड २ रूप एकप्रदेशी द्रव्य कदापि नहीं होसकता है।

क्योंकि।

न स्याद् द्रव्यं क्वचिदपि बहुप्रदेशेषु खण्डितो देशः।
तदपि द्रव्यमिति स्यादखण्डितानेकदेशमदः॥ ३७॥

अन्वयार्थ—(**क्वचित् अपि**) कहीं भी (**बहुप्रदेशेषु खण्डितःदेशः**) बहुप्रदेशोंमेंसे खण्डित एकदेश-अंश (**द्रव्यं न स्यात्**) द्रव्य नहीं होसकता है क्योंकि बहुप्रदेशी द्रव्यके उन प्रत्येक प्रदेशोंमें (**अदःअपि तत्**) यहभी वही द्रव्य है (**इति**) ऐसा प्रत्यय होनेसे (**द्रव्यं**) द्रव्य (**अखण्डितानेकदेशं स्यात्**) अखण्डबहुप्रदेशीही सिद्ध होता है।

भावार्थः—द्रव्य बहुप्रदेशोंमें खण्डित होकर नाना द्रव्य नहीं होसकता है। कारण उसके प्रत्येक प्रदेशमें 'एकप्रदेशमें जो द्रव्य है' दूसरे आदि प्रदेशोंमेंभी यह वही है, ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान घट जानेसे बहुप्रदेशी द्रव्य अखण्डितानेक देशही सिद्ध होते है।

इसप्रकार नं० ३१ वें पद्यकी शंकाका विस्तारपूर्वक खंडन करके अब सामान्यरूपसे द्रव्य और गुणका स्वरूप वस्तुके स्वरूपकी दृढताके लिए प्रतिपादन करते हैं।

द्रव्य और गुणका स्वरूप।

अथ चैव ते प्रदेशाः सविशेषा द्रव्यसंज्ञया भणिताः।
अपि च विशेषाः सर्वे गुणसंज्ञास्ते भवन्ति यावन्तः॥ ३८॥

अन्वयार्थः— (अथच) तथा (सविशेषाः ते प्रदेशाः एव) विषेश-गुणसहित वे प्रदेशही (द्रव्य-संज्ञया भणिताः) द्रव्य नामसे कहे गये है अर्थात सविषेश प्रदेश समुदायको ही द्रव्य कहते हैं (च) और (यावन्तः अपि विशेषाः) जितने भी विशेष हैं (ते सर्वे) वे सब (गुणसंज्ञाः भवन्ति) गुण कहे जाते है।

भावार्थः—एक द्रव्यके जितने प्रदेश मानेगये हैं उन सबमें उस द्रव्यके अनन्तों ही गुण व्याप्त होकर रहते है। इसलिये अनन्त गुणरूप, विशेषो सहित प्रदेशसमुदायको द्रव्य, और उन विशेषोको गुण कहते हैं।

द्रव्य तथा गुणमें अभिन्नता।

तेषामात्मा देशो नहि ते देशात्पृथक्त्वसत्ताकाः।
नहि देशे हि विशेषाः किन्तु विशेषैश्च तादृशो देशः॥ ३९॥

अन्वयार्थः—(तेषां) उन गुणोका (आत्मा) आत्माही (देशः) द्रव्य है (हि) क्योंकि (ते) वे गुण (देशात्) देशसे (पृथक्त्वसत्ताकाः न) पृथक सत्तावाले नहीं है (हि) निश्चयसे (देशे) देशमें (विशेषाः नहि) विशेष नहीं रहते है (किन्तु) किन्तु (विशेषैश्च) उन विशेषोंके द्वारा ही (देशः) देश (तादृशः) वैसा-गुणमय पायाजाता है।

भावार्थः—जिसप्रकार 'घडेमें पानी' यहांपर घडा आधार और पानी आधेय होनेसे, आधार आधेय सम्बन्ध पायाजाता है। उसीप्रकार 'द्रव्यमे गुण' यहांपर द्रव्य-गुणी तथा गुणोंका, आधार आधेयभाव-सम्बन्ध

नहीं है । क्योंकि घडा और पानी ये दोनों स्वतंत्र पदार्थ हैं। इसलिए इनमें आधार आधेयभाव घट सकता है। परन्तु गुणोंके समुदायका ही नाम द्रव्य होनेसे वे दोनों भिन्न सत्तावाले दो स्वतंत्र पदार्थ नहीं है किन्तु एकही है। इसलिये 'देशे विशेषाः' द्रव्यमें गुण रहते है इसप्रकारका सम्बन्ध इनमें नहीं घट सकता है किन्तु गुणोंका आत्माही देश है। अतः वह द्रव्य तादृश-गुणमय है। यह कथंचित् तादात्म्य सम्बन्धही घटता है। आगे इसीको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं।

दृष्टांत।

अत्रापि च संदृष्टीः शुक्लादीनामियं तनुस्तन्तुः।
नहि तन्तौ शुक्लाद्याः किन्तु सिताद्यैश्च तादृशस्तन्तुः॥ ४० ॥

अन्वयार्थः—(**अत्रच**) इस विषयमें (**सन्दृष्टिः अपि**) दृष्टान्त भी यह है कि (**तन्तुः**) तन्तु-डोरा (**शुक्लादीनां इयं तनुः**) यह, शुक्लादिक गुणोंका ही शरीर है (**हि**) क्योंकि (**तन्तौ शुक्लाद्याः न**) तन्तुमें कुछ शुक्लादिक गुण नहीं रहते हैं (**किन्तु**) किन्तु (**सिताद्यैश्च**) उन शुक्लादिक गुणोंके द्वारा ही (**तन्तुः तादृश**) वह तन्तु वैसा है।

भावार्थ—जिसप्रकार तन्तुसे, उसके शुक्लादिक गुण भिन्न नहीं है। किन्तु शुक्लादिक गुणोंके शरीर-समुदायको ही तन्तु कहते है। क्योंकि तन्तुमें शुक्लादिक रहते है ऐसा नहीं हैं किन्तु तन्तु स्वयं शुक्लादिमय है। उसी प्रकार द्रव्यसे गुण भिन्न नहीं है किन्तु द्रव्य स्वयं गुणमय है। इसप्रकार कथंचित् तादात्म्य द्योतक व्यवहार होता है। आगे गुण और गुणीको भिन्न २ पदार्थ मानकर, सम्बन्ध विशेषपूर्वक गुणगुणीव्यवहारके विषयमें शंका समाधान रूप वर्णन करते हैं।

शंका।

अथ चेद्भिन्नो देशो भिन्ना देशाश्रिता विशेषाश्च।
तेषामिह संयोगाद्द्रव्यं दण्डीव दण्डयोगाद्वा॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(**अथ चेत्**) यदि (**इह**) यहापर (**देश**) देश (**भिन्नः**) पृथक है (**च**) और (**देशाश्रिताः विशेषाः**) देशमें रहनेवाले गुण (**भिन्नाः**) पृथक् हैं तथा (**दण्डयोगात् वा**) दण्डके संयोगकी तरह (**तेषां संयोगात्**) उन गुणोंके संयोगसे (**दण्डी इव**) दण्डी व्यपदेशकी तरह (**द्रव्यं**) द्रव्य सज्ञा होजाती है ऐसा माना जाय तो—

भावार्थः—शंकाका रूप इसप्रकार है कि जिसतरह दण्ड और पुरुष पृथक २ सिद्ध है तथा दण्डके संयोगसे पुरुष दण्डी कहलाता हैं। ठीक उसी तरह देश और देशाश्रित गुण पृथक २ है। तथा उन देशाश्रित गुणोंके संयोगसे, वह द्रव्य गुणी—कहलाता है। यदि ऐसा माना जाय तो—

उत्तर।

नैवं हि सर्वसंकरदोषत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ।
तत्किं चेतनयोगादचेतनं चेतनं न स्यात् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ — (**एवं न**) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (**हि**) क्योंकि ऐसा माननेमे (**सुसिद्धदृष्टान्तात्**) इस प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा (**सर्वसंकरदोषत्वात्**) सर्वसकर दोप आवेगा (**वा**) यदि हठसे फिरभी वैसाही मानोगे (**तत् किं**) तो फिर क्यों (**चेतनयोगात्**) चेतन पदार्थके सयोगसे (**अचेतनं**) अचेतन पदार्थ (**चेतनं न स्यात्**) सचेतन नहीं कहलाएगा?

भावार्थः— यदि गुण और द्रव्य भिन्न है तथा गुणोंके संयोगसे द्रव्य, द्रव्य-गुणी कहलाता है तो अमुक द्रव्यका अमुक गुण हे इसका कोईभी नियामक न रहनेके कारण, चाहे जिस गुणका चाहे जिस द्रव्यके साथ संयोग सम्भव होनेसे सर्वसंकर दोप उपस्थित होगा। और कदाचित् हठाग्रहवश और सर्वशंकर दोषकी परवाह न कीजायगी तो पूर्वोक्त ' दण्डयोगात्दण्डी ' इस प्रसिद्ध दृष्टान्तसे चेतना नामक स्वतंत्र गुणके संयोगसे, अचेतन पुद्गलादि द्रव्यभी क्यों सचेतन नहीं हो जावेंगे ? अर्थात जरूर होने चाहिये। अतः व्यतिकर नामका दोप आवेगा ' सर्वेषां

युगपत्प्राप्तिःसंकरः परस्परविषयगमनं व्यतिकरः, अर्थात् कोई नियामक न रहनेके कारण किसीभी गुणका किसीभी द्रव्यमें संयोग हो जानेसे सर्वसंकर दोष और इसका उसमें, उसका इसमें ऐसा परस्पर संयोग होजानेसे व्यतिकर दोष कहलाता है। इसतरह गुण गुणीका संयोग मानना उक्त दोषोंसे दूषित होनेके कारण ठीक नहीं है।

अथवा विना विशेषैः प्रदेशसत्त्वं कथं प्रमीयेत ।
अपि चान्तेरण देशैर्विशेषलक्ष्मावलक्ष्यते च कथम् ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ —(**अथवा**) अथवा (**विशेषै विना**) द्रव्यमें गुण संयोग होनेके पहले गुणोंके विना (**प्रदेशसत्त्वं कथं प्रमीयेत**) उस द्रव्यके प्रदेशोंकी सत्ता कैसे जानी जायगी (**अपिच**) तथा (**देशैःअन्तरेण**) प्रदेशोंके विना (**विशेषलक्ष्म च**) गुणोंका लक्षणही (**कथं अवलक्ष्यते**) कैसे लक्षित किया जासकेगा ?

भावार्थः—गुणोंके योगसे गुणीको, गुणी–द्रव्य माननेवालेके यहा उपर्युक्त दोषके सिवाय एक यहभी दोष सभव है कि यदि गुण संयोगके प्रथम द्रव्यमें कोई गुण नहीं था तो द्रव्यमें प्रदेशत्व गुणके निमित्तसे होनेवाली प्रदेश-कल्पना भी सभव नहीं होगी। और उसके न होनेपर प्रदेशोंकी सत्ताके अभावका प्रसग आवेगा। तथा द्रव्यके विना गुणका लक्षणभी लक्षित नहीं किया जा सकेगा।

अथ चैतयोः पृथक्त्वे हठादहेतोश्च मन्यमानेऽपि ।
कथमिवगुणगुणिभावः प्रमीयते सत्समानत्वात् ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ — (**अथ च**) यदि कदाचित् (**हठात्**) हठसे (**च**) तथा (**अहेतोः**) विना किसी युक्तिसे (**एतयोः**) द्रव्य और गुण, इन दोनोंमें (**पृथक्त्वे मन्यमाने अपि**) पृथकता मानीजाय तो भी (**सत्समानत्वात्**) उन दोनोंकी पृथक् २ सत्ता एकसी होनेके कारण (**गुणगुणिभावः**) उनमें गुणगुणीपना (**कथं इव प्रमीयते**) भला किसी तरह प्रमाणीक रूपसे सिद्ध होसकता है ?

भावार्थः— फिरभी यदि हठसे तथा विना किसी हेतुसे गुण और द्रव्य-गुणोंमें भिन्नताही मानोगे तो जब

वे दोनों पृथक् सत्तावाले हैं तब उनमें 'यह गुणी है और यह उसका गुण है' ऐसा गुणगुणिभाव, विना नियामक_ के कैसे वनसकेगा ? अर्थात् सर्वथाभिन्न गुण तथा द्रव्य दोनोंको समानरूपसे सत् होनेसे यह गुणी है और यह उसका गुण है ऐसा ज्ञान कैसे किया जासकेगा ?

सारांश ।

तस्मादिदमनवद्यं देशविशेषास्तु निर्विशेषास्ते ।
गुणसंज्ञकाः कथंचित्परिणतिरूपाः पुनः क्षणं यावत् ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थः— (तस्मात्) इसलिये (इदं अनवद्यं) यही निर्दोष है कि (**ते निर्विशेषाः देशविशेषा तु**) वे **निर्विशेष–निर्गुण द्रव्यके विशेषही** (गुणसंज्ञका.) **गुण कहलाते हैं** (पुनः) **और वे** (यावत् क्षणम्) **प्रतिक्षण** (कथंचित्परिणतिरूपाः) **कथंचित् परिणमनशील हैं ।**

भावार्थः— इसलिए जिनमे दूसरे विशेप (गुण) नहीं हों, ऐसे द्रव्यके प्रतिसमय कथचित् परिणमन शील, विशेषोको ही गुण कहते है। कारण यदि गुणमे दूसरे गुण रहते तो गुणकोभी गुणीपनाका प्रसंग आता । इसलिए निर्विशेष, यह विशेषण दिया गया है । गुणोको परिणमनशील न कहते, तो उनमें नित्यत्वका प्रसग आता । और कथंचित, यह पद न देते तो वे सर्वथा परिणमनशील होनेसे अनित्य-क्षणभगुर कहलाते। इसलिए कथंचित् परिणमनशील निर्गुण, देशके विशेषोको ही गुण कहलानेसे पूर्वोक्त [३८ श्लोकमेका] कथन निर्दोष है ।

शंका ।

एकत्वं गुणगुणिनोः साध्यं हेतोस्तयोरनन्यत्वात् ।
तदपि द्वैतमिव स्यात् किं तत्र निवन्धनं त्विातिचेत् ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थः— (तयोः) गुण और गुणीमें (अनन्यत्वात् हेतोः) अभिन्नताके कारण (गुणगु-

गिनोः एकत्व साध्यं] गुण तथा गुणीकी एकता आप साधना चाहते हैं [तु] किन्तु [तत् अपि] वह एकत्व भी तो [द्वैतं इव स्यात्] द्वैतकी तरह है [तत्र] इसमे (कि निबन्धनं] क्या कारण है [इति-चेत्] यदि ऐसा कहो तो—

भावार्थः— शकाकारका प्रश्न है कि गुणगुणीमें अभिन्नता होनेके कारण आप अद्वैतपना (एकत्व) भी सिद्ध करना चाहते हो ओर उसको कथचित् विशेषण लगाकर द्वैतकी तरह भी सिद्ध करना चाहते हो यह कैसे युक्तियुक्त हो सकता है ? यदि युक्तियुक्त है तो उसमें कारण क्या है ?

उत्तर।

यत्किंचिदस्ति वस्तु स्वतःस्वभावे स्थितं स्वभावश्च ।
अविनाभावी नियमाद्विवक्षितो भेदकर्ता स्यात् ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थः—(यत् किञ्चित् वस्तु अस्ति) जो भी कोई वस्तु है वह सब (स्वतः) स्वयं स्वभा-वे स्थितं) अपने २ स्वभावमें अवस्थित रहती है (च) किन्तु (नियमात् अविनाभावी स्वभावः) नियमसे अविनाभावसम्बन्धसे रहनेवाला उस वस्तुका वह स्वभावही (विवक्षितः ' सन् ') विवक्षित होकर (भेदकर्ता स्यात्) गुण–गुणीमे द्वैत–भेद कारक होता है ।

भावार्थः— प्रत्येक वस्तु अनन्त स्वभाव–गुणमय है । प्रत्येक स्वभाव अविनाभावी (वस्तुकेविना नही–रहनेवाला) है । शब्दोंके द्वारा अनन्तगुणोंका प्रतिपादन युगपत् नहीं होसकता है । इसलिए जिस धर्मकी मुख्यतासे उस वस्तुका निरूपण किया जाता है वह धर्म विवक्षित होनेपर शेष अविवक्षित धर्ममय वस्तुसे, भिन्न प्रतीत होता है । इसप्रकार केवल विवक्षासेही वह गुण, गुणीसे भिन्न कहाजाता है । अर्थात् विवक्षावशही गुण और गुणीमें भेद पाया-जाता है । विवक्षित स्वभाव ही भेदका कारण है । विवक्षाके अभावमें वस्तु वास्तवमें अपने स्वभावोंसे (गुणोंसे) अभिन्नही प्रतीत होती है । अब स्वभावके स्वरूपको उसके पर्याय वाचक शब्दों द्वारा बतलाते हैं ।

शक्तिर्लक्ष्मविशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च ।
प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थः—(**शक्तिः**) शक्ति (**लक्ष्म**) लक्ष्म–लक्षण (**विशेषः**) विशेष (**धर्मः**) धर्म (**रूपं**) रूप (**गुणः**) गुण (**च**) तथा (**स्वभावः**) स्वभाव (**प्रकृतिः**) प्रकृति (**शीलं**) शील (**च**) और (**आकृतिः**) आकृति (**अमी शब्दाः**) ये सब शब्द (**एकार्थवाचकाः**) एकही अर्थ के वाचक है ।

भावार्थः—शक्ति आदि सबही शब्द स्वभावके पर्याय वाचक है । इसप्रकार गुण गुणीमें विवक्षित स्वभावको भेदका कर्त्ता बताकर प्रत्येक द्रव्यके अनन्त गुणोंकी सिद्धि करते हैं ।

द्रव्यमें अनन्त गुणोंकी सिद्धि ।

देशस्यैका शक्तिर्या काचित् सा न शक्तिरन्या स्यात् ।
क्रमतो वितर्क्यमाणा भवन्त्यनन्ताश्च शक्तयो व्यक्ताः ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थः—(**देशस्य**) देशकी–द्रव्यकी (**या काचित् एका शक्तिः**) जो कोई विवक्षित एक शक्ति है (**सा**) वह (**अन्या शक्तिः**) दूसरी शक्ति (**न स्यात्**) नहीं हो सकती है अर्थात् प्रत्येक शक्ति स्वरूप दृष्टिसे भिन्न २ है इसप्रकार (**क्रमतः वितर्क्यमाणाः**) क्रमसे सब शक्तियोंका विचार किया जाय तो (**अनन्ताः च शक्तयः**) प्रत्येक वस्तुमें अनन्ता ही शक्तियां (**व्यक्ताः भवन्ति**) स्पष्टरूपसे प्रतीत होने लगतीं हैं ।

भावार्थः—वस्तुकी प्रत्येक शक्ति अपने २ स्वरूपकी अपेक्षासे पृथक २ है। जो द्रव्यकी किसी एक शक्तिका स्वरूप है वही स्वरूप, दूसरी शक्तिका नहीं होसकता । किन्तु वह उसी शक्तिका कहाजाता है । इसप्रकार सम्पूर्ण शक्तियां एक दूसरी शक्तिसे परस्परमें भिन्न भिन्न हैं । प्रत्येक शक्ति ' यह वह नहीं है दूसरीही है, इसप्रकार क्रमसे

तर्कगम्य की जायं तो अनेकत्व प्रत्यभिज्ञानात्मक युक्तिसे प्रत्येक वस्तुमें अनन्त शक्तियां सिद्ध हो जातीं हैं। अतएवद्रव्यमें अनन्त शक्तियां केवल आगमगम्य ही नहीं हैं किन्तु युक्तिगम्यभी हैं।

दृष्टान्त।

स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्णो युगपद्यथा रसालफले।
प्रतिनियतेन्द्रियगोचरचारित्वात्ते भवन्त्यनेकेऽपि ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे कि (रसालफले) आम्रफलमें (स्पर्शः रसः गन्धः च वर्णः) स्पर्श रस गन्ध और वर्ण ये चारों गुण (युगपत् 'भवन्ति') युगपत् पाये जाते हैं इसलिए (ते) वे सब [प्रतिनियतेन्द्रियगोचरचारित्वात्] अपनी २ इन्द्रियों के गोचर-विषय होनेके कारण [अनेके अपि भवन्ति] अनेक भी कहे जा सकते है।

भावार्थः—' युगपत, इसपदसे यह ध्वनित होता है कि द्रव्यमें नानागुण हैं इसका यह अर्थ नहीं है कि एकही गुण अनेक कालकी पर्यायोंकी अपेक्षासे नानापनेको धारण करता है। जैसे कि–एकही जीव विभिन्नकालमें देवादिपर्यायोंद्वारा नानापनेको प्राप्त हो सकता है। किन्तु द्रव्यके युगपत् रहनेवाले अनन्त गुणोंमें अपने २ स्वरूपकृत नानात्व है। इसीको आम्रफलके दृष्टान्तसे समझाया है कि जैसे एकही आममें स्पर्श रस गन्ध और वर्ण ये चारों गुण युगपत् पाये जाते हैं। इसलिए वे अपनी २ स्पर्शनेन्द्रियादि भिन्न २ इन्द्रियोंके विषय होनेसे, अनेक भी हैं वैसेही एकही द्रव्यमें युगपत् उत्पन्न होनेवाले अनन्त गुण भी भिन्न २ हैं।

इसीको जीवके दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं।

तदुदाहरणं चैतज्जीवे यद्दर्शनं गुणश्चैकः।
तन्न ज्ञानं न सुखं चारित्रं वा न कश्चिदितरश्च ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थः — (**एतत् च तदुदाहरणं**) और यह भी उसका उदाहरण हो सकता है कि (**जीवे**) जीवमें (**यत् च दर्शनं एकःगुणः**) जो कि दर्शन नामका एक गुण है (**तत्**) वह (**न ज्ञानं**) न ज्ञानगुण है (**न सुखं**) न सुख है (**न चारित्रं वा कश्चित् इतरः च**) न चारित्र अथवा कोई अन्य गुणही हो सकता है किन्तु वह दर्शन, दर्शनही है ।

भावार्थ — यद्यपि दर्शन ज्ञान सुखादि अनत गुण एक जीवमें एकही कालमें रहते है तोभी जो दर्शनका स्वरूप हैं वह ज्ञानका या चारित्रका या सुखका अथवा अन्य दूसरे गुणोका नही हो सकता हैं । क्योकि प्रत्येक गुणका अपना २ स्वरूप भिन्न २ हैं । इसलिये वे अनेकभी हैं ।

एवं यः कोपि गुणः सोपि च न स्यात्तदन्यरूपो वा ।
स्वयमुच्छलन्ति तादिमा मिथो विभिन्नाश्च शक्तयोऽनन्ताः ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ —(**एवं**) इसीतरह (**यः कः अपि गुणः**) द्रव्यका जो कोई भी गुण है (**सः अपि च**) वहभी (**तदन्यरूपः**) उससे भिन्नरूपवाला (**न वा स्यात्**) नही होसकता है अर्थात् सब गुण अपने २ स्वरूपमें ही रहते हैं (**तत्**) इसलिए (**इमाः**) ये (**मिथः विभिन्नाः**) परस्पर भिन्न (**अनन्ताः च शक्तयः**) अनन्तोंही शक्तिया (**स्वयं उच्छलन्ति**) द्रव्यमे स्वयं उछलती हैं-प्रतिभासित होती हैं ।

भावार्थ — जिसप्रकार आम्रफलमे स्पर्शादि, या जीवमें ज्ञान दर्शनादि गुण अपने २ भिन्न २ स्वरूपवाले स्थित है । उसीप्रकार किसी भी द्रव्यका कोई भी गुण दूसरे गुण स्वरूप नहीं है । स्वरूप दृष्ट्या सब गुण अपने २ स्वरूपको लिए हुए परस्पर भिन्नता को धारण करते हैं । इसप्रकार प्रत्येक गुणके स्वरूपपर दृष्टि डालनेसे भिन्न २ स्वरूप वाले प्रत्येक द्रव्यके अनन्तो ही गुण स्वय प्रकाशित होते है ।

इसप्रकार ४९ वे पद्यसे ५२ वें पद्यतक ४ पद्यो द्वारा शक्तियोकी भिन्नताको युक्तिपूर्वक सिद्ध करके गुणोके अविभाग प्रतिच्छेदोंको बताते है ।

गुणोंमें अंश विभाग

तासामन्यतरस्या भवन्त्यनन्ता निरंशका अंशाः ।
तरतमभागविशेषैरंशच्छेदैः प्रतीयमानत्वात् ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थ.— (**तासां अन्यतरस्या**) उन अनन्त शक्तियोंमेंसे किसी भी शक्तिके अर्थात् प्रत्येक शक्तिके (**अनन्ताः निरशंकाः अंशा भवन्ति**) अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद होते है क्योंकि (**तरतमभागविशेषैः**) परस्पर हीनाधिकतारूप विशेषताको धारण करनेवाले (**अंशच्छेदैः**) उन अविभागी प्रतिच्छेदोंद्वारा (**प्रतीयमानत्वात्**) प्रत्येक शक्ति प्रतीत होती है ।

भावार्थ —प्रत्येक गुणमें उसके अशच्छेदोद्वाराही हीनाधिकतारूप विशेषता पाई जाती है। इसलिये द्रव्यके अनन्त गुणोंमेंसे प्रत्येक गुणके तरतमरूपसे अनंत निरश अविभागी अश होते है ।

दृष्टान्त

दृष्टान्तः सुगमोऽयं शुक्लं वासस्ततोपि शुक्लतरम् ।
शुक्लतमं च ततः स्यादंशाश्चैते गुणस्य शुक्लस्य ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थः— (**अयं दृष्टान्तः सुगमः**) उसके लिये यह दृष्टान्त सुगम हैं कि (**वासः**) कोई वस्त्र (**शुक्लं**) शुक्ल, कोई (**ततः अपि शुक्लतरं**) उससे भी अधिक शुक्ल तथा कोई (**ततः च शुक्लतमं**) उससे भी अधिक शुक्ल (**स्यात्**) प्रतीत होता है (**एते च**) और ये सब (**शुक्लस्य गुणस्य अंशाः**) शुक्ल गुणके अंश है

भावार्थः— दृष्टान्तमें शुक्ल वस्त्रके, शुक्ल गुणको ही लीजिये कि शुक्ल जातिकी अपेक्षासे शुक्ल गुणके अश शुक्ल, शुक्लतर तथा शुक्लतमरूप कहे जासकते है। क्योंकि शुक्लताकी जाति स्थूलपनेसे इन तीनही प्रकारकी कही जासकती

है। किन्तु जितने भी शुक्ल वस्त्र हैं उन सबकी शुक्लतामें कुछ ना कुछ अन्तर अवश्य पाया जाता है। इसलिए जितने शुक्ल वस्त्र हैं उतने प्रकारके शुक्ल गुणकी तरतमतासे शुक्ल गुणके भी अंश हो सकते हैं।

दूसरा दृष्टान्त।

अथवा ज्ञानं यावज्जीवस्यैको गुणोऽप्यखण्डोऽपि।
सर्वजघन्यनिरंशच्छेदैरिव खण्डितोऽप्यनेकः स्यात्॥ ५५॥

अन्वयार्थ — (**अथवा**) अथवा (**जीवस्य**) जीवका (**यावत् ज्ञानं**) सम्पूर्ण ज्ञान (**एकः अपि, अखण्डः गुण अपि**) एक तथा अखण्ड गुण है तोभी वह (**सर्वजघन्यनिरंशच्छेदैः**) सर्वजघन्य अविभाग प्रतिच्छेदो द्वारा (**खण्डित इव**) खण्डितसा होकर (**अनेकः अपि स्यात्**) कथंचित् अनेक भी है—कहा जाता है।

भावार्थः— यद्यपि अभेद दृष्टिसे जीवका ज्ञानगुण एक अखण्ड गुण है तोभी वह अविभागी प्रतिच्छेदोकी दृष्टिसे खण्डित होकर अनेक भी कहा जाता है। अर्थात् सर्वजघन्य ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदो द्वारा ज्ञानके अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद माने गये है। केवल ज्ञानको आधा करते २ जब वह आधा न होसके तब उसको एक अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। इसी तरहके ज्ञानमें अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं।

जिसप्रकार समयके द्वारा कालकी, प्रदेशके द्वारा क्षेत्रकी गणना की जाती है। उसी प्रकारसे अविभाग प्रतिच्छेदोंसे गुणांशोकी गणना की जाती है। जिसप्रकार अनरुद्ध कालांशको समय और एक परमाणु गत आकाशको प्रदेश कहते है। उसीप्रकार गुणके सम्पूर्ण अविभाग प्रतिच्छेदोके अर्द्धच्छेद करते २ जहां फिर अर्द्धच्छेद न हो सके वहां उस अंशको एक अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं। और इन अविभाग प्रतिच्छेदोंमे गुणोंके अंशोकी गणना की जाती है।

देशांशकी तरह गुणांश नहीं है।

देशच्छेदो हि यथा न तथा छेदो भवेद्गुणांशस्य।
विष्कंभस्य विभागात्स्थूलो देशस्तथा न गुणभागः॥ ५६॥

अन्वयार्थः— (हि) निश्चयसें (यथा) जैसे (**विष्कम्भस्यविभागात्**) विष्कम्भके विभागसे–चौडाईके प्रमाणसे (देशच्छेदः) देशका छेद होता है (**तथा**) वैसे (**गुणांशस्य**) गुणांशका (**छेदोन भवेत्**) छेद नहीं होता है क्योंकि (' **यथा** ') जैसे (देशः) वह देश–देशांश (स्थूलः) स्थूल होता है (**तथा**) वैसे (गुणभाग न) गुणाश स्थूल नहीं होता है ।

भावार्थः— जिसप्रकार नं० २४ वे पद्यमें विष्कम्भके क्रमसे–तिर्यगशकल्पनासे आकाशके अगुल, विलस्त, हाथ, धनुप वगैरह अश विभाग वताए गये हैं । उसप्रकार अर्थात् तिर्यगशकल्पनासे गुणोकी अशकल्पना नहीं होती है। क्योंकि जिसप्रकारसे देश व देशांश स्थूल है उसप्रकारसे गुण तथा गुणाश स्थूल नहीं हैं । किंतु गुणोंकी अंशकल्पना गुणोंके अविभागप्रतिच्छेदोंके तरतमभावसे वताई जाती हैं । कारण कि गुणस्वभावसे प्रवाहरूप हैं । इसलिये गुणाशकल्पना को विष्कभक्रम न कहकर प्रवाह क्रम कहते हैं ।

साराश यह है कि विष्कभ क्रम , स्वक्षेत्र , देशाश और तिर्यगश कल्पना ये सव विष्कभ क्रमके पर्यायवाची शद्व हैं । तथा प्रवाहक्रम , स्वकाल , गुणाश और ऊर्ध्वांशकल्पना ये सव प्रवाहक्रमके पर्यायवाची शद्व हैं। गुणोंमे स्थूलता न होनेके कारण विष्कम्भ क्रममे तरतमभाव नहीं निकाला जाता हैं। इसी भावको ग्रथकार आगे स्पष्ट करते हैं।

गुणभागका क्रम

क्रमोपदेशश्चायं प्रवाहरूपो गुणः स्वभावेन ।
अर्धच्छेदेन पुनश्छेत्तव्योपि च तदर्धछेदेन ॥ ५७ ॥

एवं भूयो भूयस्तदर्धछेदैस्तदर्धछेदैश्च ।
यावच्छेत्तुमशक्यो यः कोऽपि निरंशको गुणांशः स्यात् ॥५८ ॥

तेन गुणांशेन पुनर्गणिताः सर्वे भवन्त्यनन्तास्ते ।
तेषामात्मा गुण इति नहि ते गुणतः पृथक्त्वसत्ताकाः ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थः— (**क्रमोपदेशः च अयं**) उस तरतमभावरूप गुण–भागके क्रमका उपदेश इसप्रकार है कि (**गुण स्वभावेन प्रवाहरूपः**) गुण स्वभावसेही प्रवाहरूप है इस लिये (**अर्द्धच्छेदेन छेत्तव्यः**) अर्द्धच्छेद रूपसे छेदना चाहिये (च) और उस अर्धभागको (**तदर्द्धच्छेदेन**) उस अर्द्धच्छेदके अर्द्धच्छेद रूपसे (**पुन च छेत्तव्यः**) फिरभी छेदना चाहिये (**एवं**) इसी तरह (**भूयो भूय**) वार वार (**तदर्द्धच्छेदै.**) विभाजितांशका, उसके अर्ध-च्छेद रूपसे (च) तथा जो विभाजितांश आवेगा उसे भी पुनः (**तदर्द्धछेदैः**) उसके अर्द्धच्छेदो द्वारा तबतक विभा-जित करते जाना (**यावत्**) जबतककि वह गुणांश (**छेत्तु अशक्य**) फिर छेदा न जा सके ऐसा फिर (**य कः अपि**) जो कोई भी (**निरंशक. गुणांशः स्यात्**) निरंश–अविभाग गुणांश आवेगा (**तेन गुणांशेन**) उस सर्वजघन्य अविभाग प्रतिच्छेदसे (**पुनः**) यदि (**सर्वे गणिता.**) सब गुणांश गिने जावे तो (**ते अनन्ता भवति**) वे अनन्त होते हैं और (**तेषांआत्मा गुण इति**) उन सब गुणांशोका आत्मा ही गुण कहलाता है तथा (**ते**) वे सब गुणांश (**हि**) निश्चयसे (**गुणत**) गुणसे (**पृथक्त्व सत्ताकाः न**) पृथक् सत्तावाले नहीं है ।

भावार्थ.—एक गुणमें जितने अविभाग प्रतिच्छेद हैं उनमें दोका भाग तबतक देना चाहिये जबतक कि अविभागी प्रतिच्छेद अर्थात छेद करते २ पुनः छेद न हो सके ऐसा जब अंश निकलआवे तब उसे एक अविभाग प्रति-च्छेद कहते हैं । ऐसे अविभागी प्रतिच्छेद प्रत्येक गुणमें अनन्त होते हैं । जिसप्रकार गुणमय द्रव्य है और वे गुण अनन्त होते हुए भी द्रव्यसे पृथक नहीं कहे जाते है । उसीप्रकार प्रत्येक गुणके गुणाश भी अनन्त हैं तथा वे गुणसे भिन्न नही हैं । गुणाशोंके समुदायको गुण समझना चाहिये । इन्हीं गुणाशोंके द्वारा गुणोंका तरतमभाव जाना जाता है ।

अंशके पर्यायवाचक शब्द ।

अपि चांशः पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च ।
भेदश्छेदो भंगः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते ॥ ६० ॥

अन्वयार्थः— (**अपि च**) और (**अंश**) अंश (**पर्याय**) पर्याय (**भाग**) भाग (**हार**) हार (**विधा**) विधा (**प्रकारः**) प्रकार (**च**) तथा (**भेद**) भेद (**छेदः**) छेद [**च**] और [**भंगः**] भंग

[एते शद्धा] ये सब शद्ध [एकार्थ वाचका] एकही अर्थके वाचक है अर्थात् इनका दूसरा अर्थ नहीं है।

भावार्थः— पर्याय आदिक सब शद्ध एक अंशके ही पर्याय वाचक है। इसलिये—

गुणांशही गुणपर्याय है।

सन्ति गुणांशा इति ये गुणपर्यायास्त एव नाम्नाऽपि।
अविरुद्धमेतदेव हि पर्यायाणामिहांशधर्मत्वात् ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थः— (ये गुणांशाः इति सन्ति] जो कोई गुणांश कहलाते है [ते एव] वेही [नाम्ना] नामसे [गुणपर्याया अपि] गुणपर्याय कहे जाते है। [एतत् अविरुद्धं एव] गुणांशोंकों ही गुणपर्याय कहना अविरुद्ध है [हि] क्योंकि [इह] यहांपर [पर्यायाणां] पर्यायोंका [अंशधर्मत्वात्] अंशही धर्म-स्वरूप माना गया है।

भावार्थः— गुणोमें अंशकल्पना करना यही उनकी पर्यायोंका स्वरूप है ऐसा पर्यायाणामेतद्धर्म यत्त्वंश-कल्पन द्रव्ये, इस श्लोकार्द्धसे ग्रन्थकारने पहले भी सूचित कियाथा। एसलिए अंश और पर्याय ये एकही अर्थ के वाचक होनेसे गुणांशोंको गुणपर्याय कहनेमें कोई विरोध नहीं है।

गुणपर्यायका नामान्तर।

गुणपर्यायाणामिह केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः।
अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थादर्थपर्यया इति च ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थ :— [इह] यहांपर (केचित् बुधाः) कोई २ विद्वान् [अर्थ गुणः इति वा स्यात्] अर्थ कहो या गुण कहो इन दोनोंका [एकार्थात्] एकही अर्थ होनेसे [अर्थपर्ययाः इति च]अर्थ पर्यायकोही [गुणपर्यायाणां नामान्तरं वदन्ति] गुणपर्यायोंका ही दूसरा नाम कहते है।

भावार्थः—अर्थ और गुण, ये दोनों शब्द, तथा अंश और पर्याय, ये दोनों शब्द, एकार्थ वाचक हैं। इसलियें कोई २ आचार्य गुणपर्यायको अर्थपर्यायभी कहते हैं। सारांश यह है कि स्वकाल, ऊर्ध्वांशकल्पना, गुणांश, गुणपर्याय और अर्थपर्याय इनमें केवल शब्द भेद है। अर्थभेद कुछ नहीं है।

द्रव्यपर्यायका नामांतर।

अपि चोद्दिष्टानामिह देशांशैर्द्रव्यपर्ययाणां हि।
व्यंजनपर्याया इति केचिन्नामान्तरं वदान्ति बुधाः ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थ— [अपि च] तथा [केचित् बुधाः] कोइ २ विद्वान् [इह] यहांपर [**देशांशै उद्दिष्टानां**] देशांशोंद्वारा निर्दिष्ट [**द्रव्यपर्ययाणां हि**] द्रव्यपर्यायोंकाही [**व्यंजनपर्यायाः इति नामान्तरं वदंति**] व्यंजनपर्याय यह दूसरा नाम कहते हैं।

भावार्थः— देश और देशांशका निरूपण करते समय, ग्रंथकारने जिन देशांशोंका नाम द्रव्यपर्याय कहा हैं उसेही कोई २ आचार्य व्यंजनपर्याय भी कहते हैं। अर्थात् देशांश, द्रव्यपर्याय और व्यंजनपर्याय इन सबका एकही अर्थ हैं

शंका।

ननु मोघमेतदुक्तं सर्वं पिष्टस्य पेषणन्यायात्।
एकेनैव कृतं यत् स इति यथा वा तदंश इति वा चेत् ॥ ६४ ॥

अन्वायार्थः— (ननु) शंकाकार का कहना है कि (पिष्टस्यपेषणन्यायात्) पिष्टपेषण-पीसे हुएको पीसनेके न्यायसे (उक्तं एतत् सर्वं) ऊपर कहा गया यह सब (मोघं) व्यर्थ है (यत्) क्योंकि (एकेन एव कृतं) कोई एक सेही काम चलता है (यथा) जैसे कि (सः इति वा तदंश इति वा) चाहे तो गुण मानलो अथवा गुणांश मानलो (चेत्) यदि ऐसा कह जाय तो—

भावार्थ — केवल, गुण अथवा गुणांशके कथनसे बोध सभव होते हुए भी गुण और गुणाश, दोनोकी पृथक कल्पना करना पिष्टपेषणके न्यायसे निरर्थक है ।

उत्तर ।

तन्नैवं फलवत्वाद् द्रव्यादेशादवस्थितं वस्तु ।
पर्यायादेशादिदमनवस्थितमिति प्रतीतत्वात् ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थ — (**तन्न**) इसप्रकारका कहना ठीक नही है क्योंकि (**एवं**) इसप्रकारसे वह कथन [**फलवत्वात्**] सार्थक है कि [**इदं वस्तु**] यह वस्तु [**द्रव्यादेशात्**] द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे [**अवस्थितं**] अवस्थित है और [**पर्यायादेशात्**] पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे [**अनवस्थितं**] अनवस्थित है [**इति**] इसप्रकारकी [**प्रतीतत्वात्**] प्रतीति होती है ।

भावार्थः— गुण और गुणांशोंका मानना इसलिये सार्थक हैं कि सामान्यपनेसे–द्रव्यार्थिक नयसे किसी भी द्रव्यका अवस्थित सामान्यअंश, सदैव एकसा प्रतीत होता है । यदि गुणाश न मानकर केवल गुणही माने जाते तो प्रत्येक द्रव्यके गुणोंमें विशेषताकी प्रतीति नहीं होती । पर्यायार्थिक नयसे प्रत्येक वस्तुके प्रत्येक गुणमें तरतम रूपसे विशेषता प्रतीत होती है । और वह विशेषता कभी भी अपने सामान्यका उलघन नहीं करती है जैसे कि लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीवके जघन्य ज्ञानसे लेकर केवलीके पूर्ण ज्ञानतक तरतमता होते हुए भी ज्ञानत्वका उलंघन नही होता है । अर्थात ज्ञान चाहे कमसे कम हो अथवा पूर्णसे पूर्ण हो परन्तु वह ज्ञानत्वका उलघन नहीं कर सकता है । यदि गुणाश ही गुणांश मानेजाते तो सामान्यपनेका अभाव होनेसे विशेपकी भी सिद्धि नही हो सकती । तथा विशेष निरपेक्ष केवल गुण–सामान्यकोही हठपूर्वक माननेसे कीलकवत् निरंश द्रव्य माननेका प्रसग आवेगा । और गुण-सामान्य निरपेक्ष केवल विशेष–गुणाशको माननेसे वस्तुको क्षणिकता का प्रसग आवेगा । परन्तु ये दोनो ही निरपेक्ष सिद्ध नहीं हो सकते हैं । इसलिए परस्परकी सापेक्षतासे दिग्दर्शनपूर्वक वस्तुका स्वरूप बतानेके लिये गुण और गुणांश दोनोका मानना उपयोगी है । इसीको पट तथा ज्ञानके दृष्टान्त द्वारा समझाते है ।

पटका दृष्टान्त ।

स यथा परिणामात्मा शुक्लादित्वादवस्थितश्च पटः ।
अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य शुक्लस्य ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थः— [**स यथा**] वह इसप्रकार है जैसे कि [**परिणामात्मापट**] परिणमनशीलपट (**शुक्लादित्वात् अवस्थितः**) शुक्लादिपनेसे अवस्थित है (**च**) और (**शुक्लस्य गुणस्य**) शुक्ल गुणके (**तरतमरूपै तदंशैः**) प्रतिसमय तरतमताको धारण करनेवाले अपने अंशोंकी अपेक्षासे (**अनवस्थितः**) अनवस्थित है ।

भावार्थः— जैसे पटकी शुक्लतामें अन्तर पडनेपरभी वह सामान्यपनेसे शुक्लही कहलाता है । इसलिए सामान्य पनेसे पट अवस्थित हैं । और शुक्ल गुणके अशोंकी तरतमतासे प्रतिसमय शुक्लतामें भी हीनाधिकताकी प्रतीति होती है । इसलिए वह पट अनवस्थित है ।

ज्ञान का दृष्टान्त ।

अपि चात्मा परिणामी ज्ञानगुणत्वादवस्थितोऽपि यथा ।
अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य बोधस्य ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थः— (**अपि च**) तथा दूसरा दृष्टान्त यह हैं (**यथा**) जैसे कि (**परिणामी आत्मा**) परिणमनशील आत्मा (**ज्ञानगुणत्वान् अवस्थिनः अपि**) यद्यपि ज्ञानगुणपनेसे अवस्थित है तो भी (**बोधस्य गुणस्य**) ज्ञान गुणके (**तरतमरूपैः तदंशैः**) तरतमरूप अपने अंशोंकी अपेक्षासे (**अनवस्थित**) अनवस्थित है ।

भावार्थः— आत्मामें ज्ञानकी तरतमता होते हुए भी सामान्यज्ञानरूपसे वह अवस्थित है अर्थात् द्रव्यार्थिक-

नयसे आत्मा सदैव सदृश ज्ञानवान है। किन्तु ज्ञानगुणकी हीनाधिकतासे आत्मद्रव्य सदृश स्थितिमें नही रहता हैं। इसलिये वह अनवस्थित है।

गुणांश कल्पनाके अभावमें।

यदि पुनरेवं न भवति भवति निरंशं गुणांशवद्द्रव्यं।
यदि वा कीलकवदिदं भवति न परिणामि वा भवेत्क्षणिकम् ॥६८

अन्वयार्थ — (**यदि पुन एवं न भवति**) यदि उक्त कथनानुसार गुण गुणांश की कल्पना नहीं मानी जाती तो (**द्रव्यं गुणांशवत् निरंशं भवति**) द्रव्य गुणांशकी तरह निरंश होजाता (**यदि वा**) अथवा (**इदं कीलकवत् भवति**) यह द्रव्य कीलकको तरह नित्य होजाता (**परिणामि न**) परिणमनशील बिलकुल नहीं होता (**वा**) अथवा (**क्षणिकं भवेत**) क्षणिक होजाता।

अथचेदिदमाकूतं भवन्त्वनन्ता निरंशका अंशाः।
तेषामपि परिणामो भवतु समांशो न तरतमांशः स्यात् ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ — (**अथ इदं आकूतं चेत्**) अथवा यदि तुह्मारा यह अभिप्राय हो कि (**अनन्ता निरंशका अंशा भवन्तु**) अनन्त अविभागी गुणांशोंका मानना तो ठीक है (**अपि**) किन्तु (**तेषां परिणाम**) उन सब निरंश अंशोंका परिणमन (**समांशः भवतु**) समांश—एकसा होना चाहिये (**तरतमांशः न स्यात्**) तरतमरूप नही होता चाहिये।

भावार्थ — द्रव्यार्थिक नयसे वस्तु अवस्थित और पर्यायार्थिकनयसे अनवस्थित है इसतरहकी प्रतीति होनेके कारण गुणगुणांश कल्पना सार्थक है ऐसा पहले सिद्ध किया गया है अब उसीको दृढ करनेके लिए व्यतिरेकरूपसे उहापोह करते है कि यदि गुण गुणाश कल्पना नहीं मानी जाती तो द्रव्यके स्वरूपमें चार अनिष्ट पक्षोंके उत्पन्न होनेका प्रसग आवेगा।

१—एक, गुणांशकी तरह द्रव्यको निरंश मानना ।

२— दूसरा, द्रव्यमें केवल गुणोंका ही सद्भाव माननेसे कीलककी तरह उसको कूटस्थ अपरिणामी मानना ।

३— तीसरा, गुणोंके विना केवल गुणांश कल्पना ही मानकर उसको क्षणिक मानना ।

४— चौथा, गुणोंके अनन्त अंशोंको मानकरके भी उनका समान परिणमन मानना । तरतमांशरूप नहीं मानना ।

एतत्पक्षचतुष्टयमपि दुष्टं दृष्टबाधितत्वाच्च ।
तत्साधकप्रमाणाभावादिह सोप्यदृष्टान्तात् ॥ ७० ॥

अन्वयार्थः— (एतत् पक्षचतुष्टयं अपि दुष्टं) उक्त ये चारोंही पक्ष दूषित है क्योंकि (दृष्टबाधितत्वात्) वे प्रत्यक्षसे बाधित हैं (च) और वे प्रत्यक्षबाधित इसलिए है कि (तत्साधकप्रमाणाभावात्) उनपक्षोंको सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है (सः अपि) तथा साधक प्रमाणका अभाव इसलिये है कि (इह अदृष्टान्तात्) उन पक्षोंकी सिद्धि के लिये इसलोकमें कोई दृष्टान्त ही नहीं मिल सकता है।

भावार्थ— दृष्टान्तद्वारा साधनव्याप्त साध्यरूप धर्मके मिलजानेसे पक्षकी सिद्धि हुआ करती है, इस न्यायसे उक्त चारों पक्षोंके लिये किसी दृष्टान्तका मिलना ही असभव है। इसलिये साधक प्रमाणके न मिलनेसे उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि केवल प्रतिज्ञा मात्रसे साध्यकी सिद्धि नहीं होती है। इसप्रकार नं० ३५ से लेकर ७० तक द्रव्य सामान्यका निरूपण करते हुए 'गुण समुदायो द्रव्यं' यह लक्षण कैसे युक्तियुक्त होता हैं इसका निरूपण करके किसी जिज्ञासुके द्वारा पूछे जानेपर ग्रंथकार लक्षण पूर्वक द्रव्य विशेषका निरूपण करते हैं।

द्रव्य-कथन ।

द्रव्यत्वं किन्नाम पृष्टश्चेतीह केनचित् सूरिः ।
प्राह प्रमाणसुनयैरधिगतमिव लक्षणं तस्य ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थः— (**इह च**) यहांपर (**किंनाम द्रव्यं**) द्रव्यत्व क्या है ? (**इति**) इस प्रकार (**केनचित् पृष्टः सूरिः**) किसी जिज्ञासुके द्वारा पूंछेगये आचार्य (**प्रमाण सुनयै**) प्रमाण और नयोंके द्वारा (**अधिगतं इव**) ज्ञात किये गएके समान (**तस्य लक्षणं प्राह**) उस द्रव्यके लक्षणको कहते है।

भावार्थः— अब 'द्रव्यत्व' किसे कहते है, इस प्रकारके प्रश्नके पूछे जानेपर, आचार्य स्वय ऐसी सरल रीतिसे द्रव्यके स्वरूपका निरूपण करते है कि जो लक्षण प्रमाण और नयोंके द्वारा अच्छी तरहसे अनुभव किया हुवा होकर दूसरोंके भी अनुभवमें आसकता है।

द्रव्यका लक्षण।

गुणपर्ययवद्द्रव्यं लक्षणमेतत्सुसिद्धमविरुद्धम्।
गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यं पुनरस्य भवति वाक्यार्थः ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थ— (**गुणपर्ययवत् द्रव्यं**) जो गुण और पर्यायवाला है, वह द्रव्य है (**एतत् लक्षणं**) यह द्रव्यका लक्षण (**सुसिद्धं**) प्रसिद्ध तथा (**अविरुद्धं**) अविरुद्ध है (**पुन**) और (**गुणपर्ययसमुदाय द्रव्यं**) गुण तथा पर्यायोंका समूहही द्रव्य है और यही (**अस्य वाक्यार्थः भवति**) इस द्रव्यके लक्षणका वाक्यार्थ है।

भावार्थः— गुणपर्यायवानको द्रव्य कहते हैं। इसमें द्रव्य, लक्ष्य और गुण तथा पर्याय उसका लक्षण है। द्रव्यके इस प्रसिद्ध लक्षणमें किसी प्रकारका दोप नहीं आता है इसलिए यह द्रव्यका आविरुद्ध लक्षण है। 'गुणपर्ययवत् द्रव्यं, इसका अर्थही 'गुणसमुदायो द्रव्यं,, है। क्योकि 'गुणपर्ययवत, यहापर जो 'वत, प्रत्यय है वह अभेद पक्षमें है। इसलिए 'गुणोंके समुदाय, और 'गुण तथा उनकी पर्यायवालेको, द्रव्य कहनेमें कोई अन्तर नहीं पडता हैं।

प्रकारान्तरसे द्रव्यका लक्षण।

गुणसमुदायो द्रव्यं लक्षणमेतावताऽप्युशन्ति बुधाः।
समगुणपर्यायो वा द्रव्यं कैश्चिन्निरूप्यते वृद्धैः ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थः— (**गुणसमुदायः द्रव्यं**) गुणोंके समुदायको, द्रव्य कहते है (**एतावता अपि**) केवल इतनेसेभी (**बुधा**) कोई आचार्य (**लक्षणं उशन्ति**) द्रव्यका लक्षण कहते है (**वा**) अथवा (**कैश्चित् वृद्धैः**) कोई २ वृद्ध आचार्यों द्वारा (**समगुणपर्याय.**) युगपत् सम्पूर्ण गुण ओर पर्यायही (**द्रव्यं निरुप्यते**) द्रव्य कहा जाता है।

भावार्थः— किन्हीं आचार्योंनें केवल गुणसमुदायको, द्रव्य माना हैं। तथा किन्ही आचार्योंने युगपत यावत, गुण और पर्यायोंको, (समगुणपर्यायोंको) द्रव्यका लक्षण माना है। अर्थात् द्रव्यका स्वरूप, आचार्योंने १ 'गुण पर्ययवतद्रव्यं, २ 'गुणपर्ययससुदायो द्रव्यं' ३ 'गुणसमुदायो द्रव्य' ४ 'समगुणपर्यायो द्रव्य, इसप्रकार चार रूपसे प्रतिपादित किया है। किन्तु अर्थ चारोकाही एक हैं। अब आगें ग्रन्थकार 'समगुणपर्यायो द्रव्य, इस द्रव्यके लक्षण– का खुलासा करते है।

समगुणपर्यायका स्पष्टार्थ।

अयमत्राभिप्रायो ये देशाः सद्गुणास्तदंशाश्च।
एकालापेन समं द्रव्यं नाम्ना तएव निःशेषम्॥ ७४॥

अन्वयार्थः— (**अत्र**) इसमें (**अयं अभिप्रायः**) यह अभिप्राय है कि (**ये**) जो (**देशा.**) देश (**सद्गुणाः**) सत्‌रूप अनुजीवीगुण (**च**) और (**तदंशाः**) उसके अंश–देशांश तथा गुणांश है (**ते एव**) वे ही (**निःशेषं**) सब (**समं**) युगपत् (**एकालापेन**) एकालापके द्वारा (**नाम्ना**) नामसे (**द्रव्यं**) द्रव्य कहे जाते है।

भावार्थ— देश, देशांश, गुण और गुणांशरूप स्वचतुष्टयकोही, युगपत एक वाक्यसे द्रव्य कहते हैं। भेद विवक्षासे द्रव्यका स्वरूप समझानेकेलिये स्वचतुष्टयका निरूपण किया है। और उसीको अमेद दृष्टिसे एक शद्बमें द्रव्य कहते हैं। यही समगुणपर्याय शद्बका खुलासा है।

गुणादिकके सन्निपातको द्रव्य नहीं कहते हैं।

नहि किंचित्सद्द्रव्यं केचित्सन्तो गुणाः प्रदेशाश्च।
केचित्सन्ति तदंशाः द्रव्यं तत्सन्निपाताद्वा ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थः— (**किंचित् सत् द्रव्यं**) कुछ सत् रूप द्रव्य (**केचित् सन्तः गुणाः**) कोई सत् रूप गुण (**च**) और (**प्रदेशाः**) कुछ सत् रूप प्रदेश तथा (**केचित् तदंशा सन्ति**) कोई उन गुणोंके अंश हैं (**वा**) और (**तत्सन्निपातात्**) उन सबके सन्निपात–मिलनेसेही (**द्रव्यं**) द्रव्य होता हैं ऐसा (**नहि**) नहीं है।

भावार्थः— ऐसा नहीं है कि द्रव्य प्रदेश गुण और गुणांश ये चारों पृथक हैं। और इन सबके मिलनसे ही द्रव्य, द्रव्य कहलाता है।

आश्रयाश्रयीभाव भी नहीं है।

अथवाऽपि यथाभित्तौ चित्रं द्रव्यं तथा प्रदेशाश्च।
सन्ति गुणाश्च तदंशाः समवायित्वात्तदाश्रयाद्द्रव्यम् ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ[१]— (**अथवा 'एवं, अपि 'न,**) अथवा ऐसा भी नहीं हैं कि (**यथा**) जैसे (**भित्तौ**) दीवालमे (**चित्रं**) चित्र है (**तथा**) वैसे ही (**द्रव्ये**) द्रव्यमें (**समवायित्वात्**) समवाय सम्बन्धसे (**प्रदेशाः**) प्रदेश (**गुणा**) गुण (**च**) तथा (**तदंशा**) उनके अंश है (**च**) और (**तदाश्रयात्**) उन सबके आश्रयसे (**द्रव्यं**] द्रव्य, द्रव्य कहलाता है।

भावार्थ — जैसे चित्र और दीवालमें आश्रयआश्रयभाव सम्बन्ध है वैसे ही प्रदेश गुण और गुणांशोंका

१ 'अथवा अपि, शब्दके साथ, ऊपरसे 'न, की अनुवृत्ति लेनेसे, यह अर्थ हो जाता हैं।

द्रव्यके साथ आश्रयआश्रयीभाव सम्बन्ध है इसलिए प्रदेशादिकोंके आश्रयका नाम द्रव्य है ? इस प्रकार भी द्रव्यका स्वरूप नहीं है।

किन्तु।

इदमस्ति यथा मूलं स्कंधः शाखा दलानि पुष्पाणि।
गुच्छाः फलानि सर्वाण्येकालापात्तदात्मको वृक्षः ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थः— [इदं अस्ति] किन्तु यह है कि [यथा] जैसे [मूलं] मूल—जड [स्कन्ध.] स्कन्ध-पीड [शाखा] शाखाएँ [दलानि] पत्ते [पुष्पाणि] फूल [गुच्छाः] गुच्छ और [फलानि] फल [स-र्वाणि] ये सब [एकालापात्] एक आलापसे [वृक्षः] वृक्ष कहे जाते है क्योंकि वह वृक्ष [तदात्म-कः] उन मूलादिमय ही है।

भावार्थ — जिस प्रकार मूल स्कन्ध शाखा पत्ते और फलफूल इन सबके समुदायको वृक्ष कहते है। वृक्ष कुछ इनसे भिन्न नहीं है। उसी प्रकार देश देशांश गुण तथा गुणाश इन सबके समुदायको ही द्रव्य कहते हैं। द्रव्य कुछ इनसे भिन्न नहीं है।

भिन्नाभिन्न दृष्टान्त और कारकमें, अभिन्न, दृष्टान्त तथा कारकही ग्राह्य है।

यद्यपि भिन्नोऽभिन्नो दृष्टान्तः कारकश्च भवतीह।
ग्राह्यस्तथाप्यभिन्नो साध्ये चास्मिन् गुणात्मके द्रव्ये ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थः— [यद्यपि] यद्यपि [इह] इस विषयमें [भिन्न च अभिन्नः दृष्टान्तः] भिन्न और अभिन्न दृष्टान्त [च] तथा [कारकः] कारक [भवति] विद्यमान है [तथापि] तो भी [अस्मिन् गुणा-त्मके द्रव्ये साध्ये] इस गुणात्मक द्रव्यरूप साध्यमें [अभिन्न ग्राह्य] अभिन्न दृष्टान्त और कारकही ग्रहण करना चाहिए।

भावार्थः— यद्यपि इस गुणसमुदायरूप द्रव्यकी सिद्धिमें भेद तथा अभेद साधक दोनोंही प्रकारके दृष्टान्त और कारक पाये जाते है। तो भी यहांपर केवल अभेद साधक दृष्टान्त तथा कारकही ग्रहण करना चाहिये। भेदसाधक नही ग्रहण करना चाहिये।

भिन्न दृष्टान्त और कारक।

भिन्नोऽप्यथ दृष्टान्तो भित्तौ चित्रं यथा दधीह घटे।
भिन्नः कारक इति वा कश्चिद्धनवान्धनस्ययोगेन ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थ — [अथ] अब (इह) यहांपर [**भिन्नः दृष्टांतः**] भिन्न दृष्टात यह है कि [**यथा**] जैसे (**भित्तौ चित्रं**) दीवालमें चित्र है। (**अपि**) तथा (**घटे दधि**) घटमें दही है (**वा**) तथा (**भिन्नः कारकः इति**) भिन्न कारक यह है कि जैसे (**कश्चित**) कोई (**धनस्य योगेन**) धनके संबंधसे (**धनवान्**) धनवान कहलाता है।

भावार्थः—जैसे दीवालमें चित्र अथवा घडेमें दही रहता है यह भिन्न दृष्टांतका उदाहरण है तथा वैसेही कोई धनके कारण धनी कहलाता है यह भिन्न कारकका उदाहरण हैं।

अभिन्न दृष्टान्त और कारक।

दृष्टान्तश्चाभिन्नो वृक्षे शाखा यथा गृहे स्तम्भः।
अपि चाभिन्नः कारक इति वृक्षोऽयं यथा हि शाखावान् ॥ ८० ॥

अन्वयार्थ— [**च**] तथा [**अभिन्न दृष्टान्त**] अभिन्न दृष्टान्त यह है कि [**यथा**] जैसे [**वृक्षे**] वृक्षमें [**शाखा**] शाखाएं [**च**] और [**गृहे**] घरमें [**स्तम्भः**] खम्भा [**अपि**] तथा [**अभिन्नः कारक इति**] अभिन्नकारक यह है कि [**यथा हि**] जैसे [**अयं वृक्षः शाखावान**] यह वृक्ष शाखावाला है।

भावार्थः— अब अभिन्न दृष्टान्त तथा कारकका उदाहरण बताते है कि जैसे वृक्षमें शाखाऐं और घरमें खम्मे रहते है वैसे ही द्रव्यमें गुण रहते है। वृक्षसे सम्पूर्ण शाखाओंको सर्वथा भिन्न माननेपर, वृक्षमें वृक्ष व्यवहारही नहीं हो सकता है। क्योंकि शाखादिमयही वृक्ष है। यद्यपि शाखादिक वृक्षसे अभिन्न है तथापि जिसप्रकार 'वृक्षमे शाखा, ऐसा भेद साधक व्यवहार होता है उसी प्रकार गुणोंको छोडकर, यद्यपि द्रव्य, कोई पृथक पदार्थ नहीं है किन्तु गुणमयही द्रव्य है। तथापि द्रव्यमे गुण है। ऐसा भेद साधक व्यवहार होता है। यही दृष्टान्त यहापर इस विषयमें अभिमत है। किन्तु भीतमे चित्र, तथा घटमे दहीका दृष्टान्त अभिमत नहीं है। इसीतरह अभेद साधक कारकपक्षमें शाखावान् वृक्ष, यह दृष्टान्त अभिमत है। यद्यपि शाखादिमय ही वृक्ष है तथापि जिसप्रकार शाखाओंके योगसे वृक्ष शाखावान् कहलाता है ऐसा व्यवहार होता है उसीप्रकार 'गुणपयर्यवतद्रव्य' इस पक्षमें भी यद्यपि गुण और पर्याय द्रव्यसे अभिन्न है तथापि गुणतथा पर्यायोंके योगसे द्रव्य गुणपर्यायवाला कहलाता है ऐसा व्यवहार होता है। अतएव 'गुणपर्ययवत्-द्रव्य' का अर्थ गुणसमुदाय अथवा समगुणपर्याय विरुद्ध नहीं पडता है।

शंका।

समवायः समवायी यदि वा स्यात्सर्वथा तदेकार्थः।
समुदायो वक्तव्यो न चापि समवायिवागिति चेत् ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थः— (**यदि**) यदि (**समवायः वा समवायी**) समवाय अर्थात् समुदाय अथवा समवायी-समुदायी (**सर्वथा एकार्थः स्यात्**) सबतरहसे एकही अर्थवाले है (**तत्**) तो (**समुदायः वक्तव्य**) समुदायकोही कहना चाहिए (**अपिच**) किन्तु (**समवायिवाक् न**) समुदायीका उल्लेख नहीं करना चाहिए (**इति-चेत्**) यदि ऐसा कहो तो ?

भावार्थः—यहा समुदाय या समवाय शब्द द्रव्य वाचक है। तथा समुदायी या समवायी ये गुण व पर्याय वाचक शब्द है। शंकाकारका कहना है कि अभेद साधक दृष्टान्त या कारकके द्वारा यदि समुदाय व समुदायी एकही अर्थवाले हैं भिन्न नहीं है तो केवल समुदायको ही कहना चाहिए समुदायी का उल्लेख नहीं करना चाहिए यदि ऐसा कहाजाय तो ?

समाधान ।

तन्न यतः समुदायो नियतं समुदायिनः प्रतीतत्वात् ।
व्यक्तप्रमाणसाधितसिद्धत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थः— (**तन्न**) इस प्रकारका कहना ठीक नहीं हैं (**यतः**) क्योंकि (**व्यक्तप्रमाणसाधित-सिद्धत्वात्**) स्पष्ट रीतिसे प्रमाणों द्वारा, साधित सिद्ध होनेसे (**वा**) तथा (**सुसिद्धदृष्टान्तात्**) उसके पोषक प्रसिद्ध दृष्टान्तके पाये जानेसे (**नियतं**) निश्चय करके (**समुदायिन· प्रतीतत्वात् समुदायः**) समुदायियोंकी प्रतीतिसे ही समुदायमें, समुदायव्यवहार होसकता है ।

भावार्थ — समुदाय समुदायियोंके विना नहीं बन सकता हैं । क्योंकि व्यक्ति व्यक्तिकी प्रतीतिसे ही समुदायकी प्रतीति हो सकती है । विना व्यक्तियोंके, समुदाय किसी भी तरह नहीं कहा जासकता है । इसलिए समुदायियोंकी प्रतीतिसे समुदायकी प्रतीतिका कथन व्यक्तप्रमाणोंमे सिद्ध है । तथा इसप्रकारके कथनको सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त दृष्टान्त भी पाये जाते है । साराश यह है कि गुण और पर्यायोंकी प्रतीतिके विना द्रव्यकी प्रतीति नहीं हो सकती है इसलिये गुणपर्याय पूर्वक द्रव्यका उलेख करना ही सार्थक है । अब आगे इसी अर्थका दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते है ।

दृष्टान्त ।

स्पर्शरसगंधवर्णा लक्षणभिन्ना यथा रसालफले ।
कथमपि हि पृथक्कर्तु न तथा शक्यास्त्वखण्डदेशत्वात् ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थः— (**यथा**) जैसे कि (**रसालफले**) आम्रफलमें (**स्पर्शरसगन्धवर्णाः**) स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारोंही पुद्गलद्रव्यसम्बन्धी गुण (**लक्षणभिन्नाः**) अपने २ लक्षणसे भिन्न है (**तथा**) तथा (**हि**) निश्चयसे वे सब (**अखण्डदेशत्वात्**) अखण्डदेशी होनेके कारण (**कथं अपि**) किसी भी तरह (**पृथक्कर्तु तु शक्याः न**) पृथक् भी तो नहीं किये जासकते है ।

भावार्थ — जैसेकि भिन्न २ लक्षणकी अपेक्षासे आम्रफल सम्बन्धी स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण भिन्न २ कहे जाते है। परन्तु उनसबका देश भिन्न २ नहीं है। जहा स्पर्श है वहाही रसादिक गुण है। इसलिए लक्षण भिन्न होनेपर भी वे पृथक् नहीं किये जासकते है।

अत एव यथा वाच्या देशगुणांशा विशेषरूपत्वात् ।
वक्तव्यं च तथा स्यादेकं द्रव्यं त एव सामान्यात् ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थ — (**अतएव**) इसलिए (**यथा**) जैसे (**विशेषरूपत्वात्**) विशेपरूप होनेके कारण पर्यायार्थिक दृष्टिसे (**देशगुणांशाः**) देश, देशांश, गुण और गुणांशरूप स्वचतुष्टय (**वाच्या**) कहा जासकता है (**तथाच**) वैसेही (**सामान्यात्**) सामान्यरूपकी अपेक्षा द्रव्यार्थिक दृष्टिसे (**ते एव**) वेही सब एक आलापसे (**एकं द्रव्यं**) एक अखण्ड द्रव्य (**वक्तव्यं स्यात्**) कहा जासकता है।

भावार्थः— उक्त आम्रफलके दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि जिसप्रकार विशेष अपेक्षासे, स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण, तथा सामान्य अपेक्षासे एक आम्रफल कहाजाता है उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्यमें भी विशेष अपेक्षासे, देश, देशांश, गुण, गुणांशकी कल्पना की जासकती है। और सामान्य अपेक्षासे यावत् विशेषोंका नाम ही एक द्रव्य कहाजाता है। परस्पर सापेक्ष होनेसे यह सब कथन सम्यक् है तथा निरपेक्ष होनेसे मिथ्या है इसलिए समुदायकी प्रतीति, नियमसे समुदायियोंकी प्रतीतिकी अपेक्षा रखती है। इसप्रकार समुदाय और समुदायीका खुलासा करके अब आगे निर्विघ्न रीतिसे समझमें आजानेके लिऐ जो कितने ही आचार्योंने उक्त द्रव्यके लक्षणको, वाक्यान्तर द्वारा प्रतिपादित किया है वही दिखाते है। (समवाय शब्दका अर्थ द्रव्य, और समवायी शब्दका अर्थ गुण वा पर्याय हैं।)

वाक्यान्तरसे द्रव्यके लक्षणकी प्रतिज्ञा।

अथ चैतदेव लक्षणमेकं वाक्यान्तरप्रवेशेन ।
निष्प्रतिघप्रतिपत्त्यै विशेषतो लक्षयन्ति बुधाः ॥ ८५ ॥

अन्वयार्थः— (अथ च) अब (एतत् एकं लक्षणं एव) इस 'गुणपर्ययवत्द्रव्यं' पहले लक्षणकोही (निष्प्रतिघप्रतिपत्त्यै) निर्बाधरीतिसे समझानेके लिए (बुधा) कोई आचार्य (वाक्यान्तर प्रवेशेन) दूसरे शब्दोंके द्वारा (विशेषतः लक्षयन्ति) विशेषरूपसे लक्षित करते हैं।

भावार्थ — 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' इस द्रव्यके पूर्वोक्त लक्षणकोही अच्छी तरहसे समझमें आजानेके लिये अन्य आचार्य दूसरे शब्दो द्वारा प्रतिपादन करते है।

द्रव्यकालक्षण।

उत्पादस्थितिभंगैर्युक्तं सद्द्रव्यलक्षणं हि यथा।
एतैरेव समस्तैः पृक्तं सिद्धेत्समं न तु व्यस्तै ॥ ८६ ॥

अन्वयार्थ — (यथाहि) जेसे कि (उत्पादस्थितिभंगैःयुक्तंसत्) उत्पाद ध्रौव्य ओर व्यय इन तीनोंसे युक्तसत् ही (द्रव्यलक्षणं) द्रव्यका लक्षण है। तथा वह सत् (एतैः समस्तैः एव समं पृक्तं सिद्धेत्) इन तीनोंसे युगपत् युक्त माननेपर ही सिद्ध होता है (नतु व्यस्तै) किन्तु पृथक २ उत्पाद व्यय व ध्रौव्यसे युक्त होनेपर सिद्ध नहीं होसकता है।

भावार्थ — द्रव्यका लक्षण सत है। और उस सतमें उत्पादादिक तीनोंही युगपत रहते हैं पृथक २ नहीं इसलिए उत्पादादिक तीनोंसे युक्त सतकोहि द्रव्य कहते है किसी एकसे युक्त सतको नहीं।

खुलासा।

अयमर्थः प्रकृतार्थो ध्रौव्योत्पादव्ययास्त्रयश्चांशाः।
नाम्ना सदिति गुणः स्यादेकोऽनेके त एकशः प्रोक्ताः ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थः— (प्रकृतार्थः अयं अर्थः) प्रकरणानुसार सारांश यह है कि (ध्रौव्योत्पादव्ययाः त्रयः अंशाः) ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय ये तीनोंही अंश युगपत् कहे जावें तो (नाम्ना) नामसे (सत् इति एकः

गुण स्यात्) सत् यह द्रव्यका एक गुण है (च) और (एकशः प्रोक्ता) क्रम २ से कहे जानेपर (ते अनेके) वे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य, अनेक कहेजाते है।

भावार्थः— प्रकृत कथनका खुलासा यह है कि ' अंशकल्पनं पर्यायः, अंशकल्पनाका नाम पर्याय है। इसलिए उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीनोंही सतके अंश है और सत अंशी है। अर्थात् सत् गुणके उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीन प्रकारके परिणमन है। सामान्यालापमें अर्थात् युगपत प्रतिपादनकी अपेक्षामे, इन सबका नाम सत है अत ये सब एक है–अभिन्न है। और विशेषालापसे-क्रमक्रमसे कहे जानेपर ये तीनोंही परस्परमें अनेक तथा भिन्न है।

क्योंकि।

लक्ष्यस्य लक्षणस्य च भेदविवक्षाश्रयात्सदेव गुणः।
द्रव्यार्थादेशादिह तदेव सदिति स्वयं द्रव्यम् ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थः— (इह) यहापर (लक्ष्यस्य च लक्षणस्य) लक्ष्य और लक्षणमे (भेदविवक्षाश्रयात्) भेदविवक्षाकी दृष्टिसे (सत् गुण एव) सत् यह एक गुणही है किन्तु (द्रव्यार्थादेशात्) द्रव्यार्थिकनय–अभेद विवक्षामे (तत् सत् एव) वह सत् ही (स्वयं द्रव्यं इति) स्वतः द्रव्य कहलाता है।

भावार्थ — सत कथञ्चित् गुण और कथञ्चित द्रव्य भी कहलाता है। ' सतद्रव्यलक्षणं , यहांपर द्रव्य लक्ष्य और सत् उसका लक्षण है। इसलिये लक्ष्यलक्षणभावरूप भेदविवक्षाकी अपेक्षासे सत द्रव्यका केवल एक गुण है। तथा लक्ष्यलक्षणभावरूप भेद विवक्षाकी अपेक्षाके न रहनेमे वह सत ही स्वयं द्रव्य है।

सारांश।

वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।
तस्मादुत्पादस्थितिभंगमयं तत् सदेतदिह नियमात् ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थ — (**यथा**) जैसे (**वस्तु स्वतः सिद्ध अस्ति**) वस्तु स्वत सिद्ध है (**तथा**) वैसेही (**तत् स्वत परिणामि च**) वह स्वतः परिणमन शील भी है (**तस्मात्**) इसलिए (**इह**) यहांपर (**एतत् सत्**) यह सत् (**नियमात्**) नियमसे (**उत्पादस्थितिभंगमयं**) उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है ।

भावार्थ — जैनदर्शनमें जैसे वस्तुका सद्भाव स्वतः सिद्ध माना है वैसेही उसको परिणमन शील भी माना है । इसलिए सत नियमसे उत्पादस्थितिभगमय है । अर्थात सत स्वत सिद्ध होनेसे ध्रौव्यमय, और परिणमन शील होनेसे उत्पाद व्ययमय है । इसप्रकार प्रत्येक वस्तु त्रितयात्मक है ।

किन्तु परिणाम विना त्रितयात्मक नहीं हो सकता हैं ।

नहि पुनरुत्पादस्थितिभंगमयं तद्विनापि परिणामात् ।
असतो जन्मत्वादिह सतो विनाशस्य दुर्निवारत्वात् ॥ १०॥

अन्वयार्थ — (**पुनः**) किन्तु (**तत् अपि**) वह सत् भी (**परिणामात् विना**) परिणामके विना (**उत्पादस्थितिभंगमयं न**) उत्पादस्थितीभंगरूप नहीं होसकता है (**हि**) क्योंकि ऐसा माननेपर (**इह**) जगतमें (**असतः जन्मत्वात्**) असत्का जन्म और (**सतः विनाशस्य**) सत्का नाश (**दुर्निवारत्वात्**) दुर्निवार हो जायगा ।

भावार्थः— सत् केवल स्वतः सिद्ध ओर परिणमनशील होनेके कारण ही उत्पादस्थिति तथा भगमय मानागया है अर्थात् सत्की ये तीनों अवस्थाये है क्योंकि प्रतिसमय सतकी अवस्थाओंमे उत्पादव्यय ध्रौव्य होते रहते है केवल सतमें नही । इसलिए उत्पादव्ययध्रौव्य सतके परिणाम कहेजाते है । यदि ऐसा न मानकर सतमे ही उत्पादव्यय और ध्रौव्य माने जावेंगे तो असत की उत्पत्ति तथा सतके विनाशका दुर्निवार प्रसग आवेगा ।

द्रव्यं ततः कथञ्चित्केनचिदुत्पद्यते हि भावेन ।
व्येति तदन्येन पुनर्नैतद्‌द्वितयं हि वस्तुतया ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः— (**ततः**) इसलिए (**हि**) निश्चयसे (**द्रव्यं कथंचित्**) द्रव्य कथंचित् (**केनचित् भावेन**) किसी अवस्थारूपसे (**उत्पद्यते**) उत्पन्न होता है (**तदन्येन व्येति**) और किसी अन्य अवस्थासे नष्ट होता है (**पुनः**) किन्तु (**वस्तुतया**) परमार्थ रीतिसे (**हि**) निश्चयकरके (**एतत् द्वितयं न**) ये दोनों ही नहीं हैं अर्थात् न द्रव्य उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है।

भावार्थ —इसलिए द्रव्य पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे नवीन २ अवस्थारूपसे उत्पन्न और पूर्व अवस्थाओंसे नष्ट कहाजाता है। परन्तु द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्य न नष्ट होता है तथा न उत्पन्न होता है।

दृष्टान्त

इह घटरूपेण यथा प्रादुर्भवतीति पिण्डरूपेण।
व्येति तथा युगपत्स्यादेतद्द्वितयं न मृत्तिकात्वेन॥ ९२॥

अन्वयार्थः— (**यथा**) जैसे (**इह**) इस लोकमें मृत्तिका (**युगपत्**) एकही समयमें (**घटरूपेण प्रादुर्भवति**) घटरूपसे उत्पन्न होती है (**पिण्डरूपेण व्येति**) पिण्डरूपसे नष्ट होती है (**तथा**) तथा (**मृत्तिकात्वेन**) मृत्तिकापनेसे (**एतत् द्वितयं न**) ये दोनोंही नहीं हैं अर्थात् न घटकी उत्पत्ति ही है और न घटका नाश ही है किन्तु केवल मृतिका मृत्तिका ही है [**इति**] ऐसी वस्तुस्थिती है।

भावार्थ — उदाहरणके लिए मिट्टी को लीजिये कि उसमें घटोत्पत्तिके समय पिण्डरूप अवस्थाका व्यय और घटरूप अवस्थाका उत्पाद पर्यायार्थिक नयसे युगपत होता है। किन्तु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे पिण्ड व घट दोनोंही अवस्थाओंमें मृतिकात्व सदृश रहता है। इसप्रकार अन्वयव्यतिरेकपूर्वक वस्तुको उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक सिद्ध करके दृढताके लिए अब उक्त उन तीनोंके विषयमें ऊहापोह करते हैं।

त्रयात्मक माननेमें हानि व लाभके विषयमें शंका।

ननु ते विकल्पमात्रमिह यदाकिंचित्करं तदेवेति।
एतावतापि न गुणो हानिर्वा तद्विना यतास्त्विति चेत्॥ ९३॥

अन्वयार्थ — (**तत् न**) यह कथन–शंका ठीक नहीं है। (**यत**) क्योंकि (**सुविचारात्**) भले प्रकारसे विचार करनेसे (**द्वयो वाक्ययो**) दोनों वाक्योंका (**एकार्थः एव**) एकही अर्थ है। यदि ऐसा है तो फिर (**अन्यतरं वा स्यात्**) दोनों लक्षणोंमेंसे किसी एक लक्षणकोही कहना चाहिये (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहो तो (**न**) यह कहना भी ठीक नहीं है कारणकी (**मिथः अभिव्यंजकत्वात्**) वे दोनोंही लक्षण परस्परमें एक दूसरेके अभिव्यंजक द्योतक है।

भावार्थ — विचार करनेसे दूसरा लक्षण वाक्य, पहले लक्षण वाक्यका वाधक नहीं है। क्योंकि दोनों लक्षण वाक्योंका अर्थ एकही है, भिन्न नहीं हैं। यदि कदाचित् कहाजाय कि दोनों लक्षण वाक्योंका जब एक ही अर्थ है तब फिर दो लक्षण न कहकर कोई एक लक्षण ही कहना चाहिये, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि पहले लक्षणका दूसरा लक्षण अभिव्यंजक है–स्पष्ट अर्थ का प्रकाशक है। इसलिए दूसरे लक्षण वाक्यका प्रतिपादन करना युक्तियुक्त है। अब आगे ग्रन्थकार इसी अर्थका खुलासा करते हैं।

स्पष्टीकरण।

तद्दर्शनं यथा किल नित्यत्त्वस्य च गुणस्य व्याप्तिः स्यात्।
गुणवद्द्रव्यं च स्यादित्युक्ते ध्रौव्यवत्पुनः सिद्धम् ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थः— (**तद्दर्शनं**) उसका खुलासा इसप्रकार है (**यथा**) जैसे कि (**किल**) निश्चयसे (**नित्यत्त्वस्य च गुणस्य व्याप्तिः स्यात्**) नित्यत्व और गुणमें परस्परमें अविनाभावसम्बन्ध है इसलिए (**गुणवद्द्रव्यं च स्यात्**) गुणवत् द्रव्य है (**इत्युक्ते पुनः**) ऐसा कहते ही तो (**ध्रौव्यवत् सिद्धं**) वह द्रव्य ध्रौव्यवान् है ऐसा सिद्ध हो जाता है।

अन्वयार्थः— ' अन्वयिना गुणाः, ' व्यतिरेकिणश्चपर्याया ' जिनमें अन्वय पाया जावे उन्हें गुण कहते है और जिनमे व्यतिरेक पाया जावे उन्हें पर्याय कहते है। इस नियमके अनुसार गुणके साथही नित्यताका अविनाभाव

अन्वयार्थः— (**ततः**) इसलिए (**हि**) निश्चयसे (**द्रव्यं कथंचित्**) द्रव्य कथंचित् (**केनचित् भावेन**) किसी अवस्थारूपसे (**उत्पद्यते**) उत्पन्न होता है (**तदन्येन व्येति**) और किसी अन्य अवस्थासे नष्ट होता है (**पुनः**) किन्तु (**वस्तुतया**) परमार्थ रीतिसे (**हि**) निश्चयकरके (**एतत् द्वितयं न**) ये दोनों ही नहीं हैं अर्थात् न द्रव्य उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है।

भावार्थ—इसलिए द्रव्य पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे नवीन २ अवस्थारूपसे उत्पन्न और पूर्व अवस्थाओंसे नष्ट कहाजाता है। परन्तु द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्य न नष्ट होता है तथा न उत्पन्न होता है।

दृष्टान्त

इह घटरूपेण यथा प्रादुर्भवतीति पिण्डरूपेण।
व्येति तथा युगपत्स्यादेतद्द्वितयं न मृत्तिकात्वेन॥ ९२॥

अन्वयार्थः— (**यथा**) जैसे (**इह**) इस लोकमें मृत्तिका (**युगपत्**) एकही समयमें (**घटरूपेण प्रादुर्भवति**) घटरूपसे उत्पन्न होती है (**पिण्डरूपेण व्येति**) पिण्डरूपसे नष्ट होती है (**तथा**) तथा (**मृत्तिकात्वेन**) मृत्तिकापनेसे (**एतत् द्वितयं न**) ये दोनोंही नहीं हैं अर्थात् न घटकी उत्पत्ति ही है और न घटका नाश ही है किन्तु केवल मृतिका मृत्तिका ही है [**इति**] ऐसी वस्तुस्थिती है।

भावार्थ — उदाहरणके लिए मिट्टी को लीजिये कि उसमें घटोत्पत्तिके समय पिण्डरूप अवस्थाका व्यय और घटरूप अवस्थाका उत्पाद पर्यायार्थिक नयसे युगपत होता है। किन्तु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे पिण्ड व घट दोनोंही अवस्थाओंमें मृतिकात्व सदृश रहता है। इसप्रकार अन्वयव्यतिरेकपूर्वक वस्तुको उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक सिद्ध करके दृढताके लिए अब उक्त उन तीनोंके विषयमें ऊहापोह करते हैं।

त्रयात्मक माननेमें हानि व लाभके विषयमें शंका।

ननु ते विकल्पमात्रमिह यदाकिंचित्करं तदेवेति।
एतावतापि न गुणो हानिर्वा तद्विना यतास्त्विति चेत्॥ ९३॥

अन्वयार्थः— [**ननु इह ते विकल्पमात्रं**] शंकाकारका कहना है कि इसविषयमें उत्पादादिकका मानना तुह्मारी केवल कल्पना मात्र है। [**यत्**] क्योंकि [**तदेव इति अकिंचित्करं**] वह उत्पाद स्थितिभंगमय ही सत् द्रव्य है यह कथन अकिंचित्कर है [**यतः**] कारणकी सत्को [**एतावता न गुणः अपि**] ऐसा माननेसे कुछ लाभ भी नहीं है [**तु**] अथवा [**तद्विना**] उसके न माननेसे [**हानिः वा न**] हानि भी नहीं है [**इति-चेत्**] यदि ऐसा कहा जायतो—

भावार्थः— शकाकारका कहना है कि सतको उत्पादादिक त्रयरुप माननेमें लाभ और उसके न माननेमें कुछ हानिकी प्रतीति नहीं होती है। इसलिए सतको उत्पादादिक त्रयात्मक मानना अकिंचित्कर है। कार्यकारी नहीं है। अत उत्पादादित्रयका मानना तुह्मारी केवल कल्पना है वास्तविक नहीं यदि ऐसा कहो तो-

समाधान।

तन्न यतो हि गुणः स्यादुत्पादादित्रयात्मके द्रव्ये।
तन्निन्हवे च न गुणः सर्वद्रव्यादिशून्यदोषत्वात् ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थ — [**तन्न**] यह कथन ठीक नहीं है [**यतः**] क्योंकि [**उत्पादादित्रयात्मके द्रव्ये**] उत्पादादित्रयात्मक द्रव्यके माननेमें [**गुण स्यात्**] श्रेय है [**च**] और [**तन्निन्हवे**] उत्पादादिकत्रयात्मक द्रव्यके न माननेमें [**सर्वद्रव्यादिशून्यदोषत्वात्**] सर्व द्रव्योंकी शून्यताका प्रसंगरूपी दोप आनेसे [**न हि गुण**] कुछ लाभ नहीं है।

भावार्थ — उपर्युक्त शकाका समाधान यह है कि द्रव्यको उत्पादादिकत्रयात्मक माननेमें ही लाभ हैं। तथा उसको त्रयात्मक न माननेमें सर्व शून्यादिक दोप आते है। जैसेकि-परिणाम के न माननेसे कार्य कारण भावकी व परलोकादिककी सिद्धि नहीं होगी। दूसरे द्रव्यके परिणामोंके अवलोकनसेही परिणामी रूप द्रव्यकी प्रतीति होती है। यदि परिणामही नहीं माने जावे तो परिणामीकी प्रतीति नहीं होसकेगी। किन्तु परिणामके अभावमें परिणामीके भी अभावका प्रसंग आवेगा। इसप्रकार सर्वशून्यता दोप आता है। अब आगे ग्रन्थकार इसी कथनको विशद रीतिसे वर्णन करते है।

परिणामके न माननेमें दोष ।

परिणामाभावादपि द्रव्यस्य स्यादनन्यथावृत्तिः ।
तस्यामिह परलोको न स्यात्कारणमथापि कार्यं वा ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ — [परिणामाभावात्] परिणामके नहीं माननेसे [द्रव्यस्य] द्रव्यकी [अनन्यथा-वृत्तिः स्यात्] अनन्यथावृत्ति होजायगी अर्थात द्रव्योंमे किसी तरहका परिवर्तन नहीं होगा [अपि] और [तस्या] उस अनन्यथावृत्तिके होनेपर [इह] यहांपर [परलोकः] परलोक [अथ] तथा कोई [कारणं] कारण [वा] अथवा [कार्यं अपि] कार्य भी [न स्यात्] नहीं हो सकेगा ।

और परिणामिके नहीं माननेमें दोष ।

परिणामिनोप्यभावात् क्षणिकं परिणाममात्रमिति वस्तु ।
तन्न यतोऽभिज्ञानान्नित्यस्याप्यात्मनः प्रतीतत्वात् ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थः— तथा परिणामके न माननेमे [परिणामिन अपि अभावात्] परिणामीके भी अभाव का प्रसंग आवेगा । यदि कदाचित ऐसा कहाजाय कि [वस्तु] वस्तु [परिणाममात्रं] परिणाममात्र केवल [क्षणिकं इति] क्षणिक है तो (तन्न) यह कहना भी ठीक नहीं है [यतः] क्योंकि [अभिज्ञानात्] प्रत्यभिज्ञानप्रमाणसे [नित्यस्य आत्मनः अपि] वस्तु कथंचित नित्यात्मक भी [प्रतीतत्वात्] प्रतीत होती है ।

भावार्थ — परिणामके कारण ही द्रव्यमें प्रतिसमय कुछ न कुछ तरतमरूप परिणमन होता रहता है । और इसीलिए आत्माके परलोकादिक सिद्ध होते है । अशुभ परिणाम अशुभ गतिके कारण शुभपरिणाम शुभ गतिके कारण तथा विशुद्ध परिणाम मुक्तिके कारण माने गए है । शुभाशुभपरिणति कारण, और शुभाशुभगति कार्य मानी जाती है । परन्तु यदि द्रव्यमे परिणाम नहीं माना जायगा तो उक्त प्रकारका कार्य कारणभाव नहीं बनेगा । और न परलोकादिककी

सिद्धि होगी। तथा परिणामोपरमेही परिणामींकी प्रतीति होती है इसलिए परिणामके अभावमें परिणामीका भी सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकेगा।

यदि कदाचित् कहाजायकि परिणामीही नही है किन्तु बौद्धोंकी तरह परिणाममात्र केवल क्षणिक वस्तु है तो 'यह वही है, इसप्रकार कथंचित् नित्यताका साधक प्रत्यभिज्ञान प्रमाण पायाजानेसे वस्तुको परिणाममात्र-क्षणिक मानना बाधित ही जाता है।

पर परमें लक्षणके बाधित होनेके विषयमें आशंका।

गुणपर्ययवद्द्रव्यं लक्षणमेकं यदुक्तमिह पूर्वम्।
वाक्यान्तरोपदेशादधुना तद्बाध्यते त्विति चेत् ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थः— शंकाकारका कहना है कि (यत्) जो (इह) इस प्रकरणमें (गुणपर्ययवद्द्रव्यं) 'गुणपर्ययवत् द्रव्यं' ऐसा (एकं लक्षणं) द्रव्यका एक लक्षण (पूर्वं उक्तं) पहले कहागया है (तत्) वह लक्षण (अधुना) इस समय (वाक्यान्तरोपदेशात्) 'सत् द्रव्यलक्षणं' इस द्रव्यके दूसरे लक्षणके कथनसे (बाध्यते) बाधित होता है (इतिचेत्) यदि ऐसाकहो तो

भावार्थ — शंकाकारका कहना है कि पहले द्रव्यका लक्षण 'गुणपर्ययवत्, कहा था। और नं० ८६ के पद्यमे उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त जो सत् है वह सत, द्रव्यका लक्षण है ऐसा कहा है। परन्तु दूसरे लक्षण वाक्यसे पहला लक्षण वाक्य बाधित हो जाता है। इसलिए दोनों लक्षणोंमेंसे किसी एक लक्षणका माननाही ठीक है।

समाधान।

तन्न यतः सुविचारादेकोर्थो वाक्ययोर्द्वयोरेव।
अन्यतरं स्यादितिचेन्न मिथोभिव्यंजकत्वाद्वा ॥ ९८ ॥

अन्वयार्थ — (तत् न) यह कथन–शंका ठीक नहीं है। (यत.) क्योंकि (सुविचारात्) भले प्रकारसे विचार करनेसे (द्वयो वाक्ययो) दोनों वाक्योंका (एकार्थः एव) एकही अर्थ है। यदि ऐसा है तो फिर (अन्यतरं वा स्यात्) दोनों लक्षणोंमेंसे किसी एक लक्षणकोही कहना चाहिये (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो (न) यह कहना भी ठीक नहीं है कारणकी (मिथः अभिव्यंजकत्वात्) वे दोनोंही लक्षण परस्परमें एक दूसरेके अभिव्यंजक द्योतक है।

भावार्थ — विचार करनेसे दूसरा लक्षण वाक्य, पहले लक्षण वाक्यका बाधक नहीं है। क्योंकि दोनो लक्षण वाक्योंका अर्थ एकही है, भिन्न नहीं हैं। यदि कदाचित् कहाजाय कि दोनो लक्षण वाक्योका जब एक ही अर्थ है तब फिर दो लक्षण न कहकर कोई एक लक्षण ही कहना चाहिये, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि पहले लक्षणका दूसरा लक्षण अभिव्यंजक है–स्पष्ट अर्थ का प्रकाशक है। इसलिए दूसरे लक्षण वाक्यका प्रतिपादन करना युक्तियुक्त है। अब आगे ग्रन्थकार इसी अर्थका खुलासा करते हैं।

स्पष्टीकरण।

तद्दर्शनं यथा किल नित्यत्वस्य च गुणस्य व्याप्तिः स्यात्।
गुणवद्द्रव्यं च स्यादित्युक्ते ध्रौव्यवत्पुनः सिद्धम् ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थः— (तद्दर्शनं) उसका खुलासा इसप्रकार है (यथा) जैसे कि (किल) निश्चयसे (नित्यत्वस्य च गुणस्य व्याप्तिः स्यात्) नित्यत्व और गुणमें परस्परमें अविनाभावसम्बन्ध है इसलिए (गुणवद्द्रव्यं च स्यात्) गुणवत् द्रव्य है (इत्युक्ते पुनः) ऐसा कहते ही तो (ध्रौव्यवत् सिद्धं) वह द्रव्य ध्रौव्यवान् है ऐसा सिद्ध हो जाता है।

अन्वयार्थः— 'अन्वयिना गुणाः, 'व्यतिरेकिणश्चपर्यायाः' जिनमें अन्वय पाया जावे उन्हें गुण कहते है और जिनमें व्यतिरेक पाया जावें उन्हें पर्याय कहते है। इस नियमके अनुसार गुणके साथही नित्यताका अविनाभाव

सम्बन्ध पाया जासकता है क्षणवर्ती पर्यायके साथ नहीं इसलिए 'गुणवत् द्रव्यं, ऐसा कहते ही द्रव्य 'ध्रौव्यवान्, है यह सिद्ध होजाता है अर्थात् उत्पादादिक त्रयमेंसे ध्रौव्य गुणका व्यंजक है किंवा गुण ध्रौव्यका व्यजक है।

गुण और ध्रौव्यमें लक्ष्यलक्षणभाव तथा साध्यसाधनभाव ही है।

अपि च गुणाः सलक्ष्यास्तेषामिह लक्षण भवेत् ध्रौव्यम्।
तस्माल्लक्ष्यं साध्यं लक्षणमिह साधनं प्रसिद्धत्वात् ॥ १०० ॥

अन्वयार्थः— (अपि च) तथा (इह) यहापर (गुणा संलक्ष्याः) गुण लक्ष्य है और (ध्रौव्यं तेषां लक्षणं भवेत्) ध्रौव्य उनका लक्षण है (तस्मात्) इसलिए (इह) यहांपर ('इति, प्रसिद्धत्वात्) इस प्रसिद्धपनेसे (लक्ष्यं साध्यं) लक्ष्य, साध्य तथा (लक्षणं साधनं) लक्षण उसका साधन है।

भावार्थः— तथा गुण और ध्रौव्यमें, लक्ष्यलक्षण तथा साध्यसाधनभाव भी पायाजाता है। गुण, लक्ष्य और ध्रौव्य, उसका लक्षण है। तथा लक्ष्य, साध्य और लक्षण, साधन होता है इस न्यायसे गुण साध्य तथा ध्रौव्य उसका साधन है। क्योंकि ध्रौव्यपनेसेही गुणके अन्वयीपनेकी सिद्धि होती है।

तथा पर्याय और उत्पादव्ययमें व्यंज्य व्यंजक भाव है।

पर्यायाणामिह किल भंगोत्पादद्वयस्य वा व्याप्तिः।
इत्युक्ते पर्ययवद्द्रव्यं सृष्टिव्ययात्मकं वा स्यात् ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थः— उसीतरह (इह) यहांपर (किल) निश्चयसे (पर्यायाणां भंगोत्पादद्वयस्य वा व्याप्ति) पर्यायोंके साथ भी भंग और उत्पादका अविनाभाव सम्बन्ध है इसलिए (पर्ययवत् द्रव्यं) द्रव्य, 'पर्यायवान, है (इत्युक्ते) ऐसा कहतेही वह (सृष्टिव्ययात्मकं वा स्यात्) उत्पादव्ययात्मक भी सिद्ध होता है।

भावार्थः— जिस प्रकार 'गुणवत द्रव्य, ऐसा कहते ही द्रव्य ध्रौव्यवत् सिद्ध होजाता है उसीप्रकार द्रव्यको 'पर्यायवत्' कहनेसे वह उत्पादव्ययात्मक सिद्ध होजाता है। कारण गुण और ध्रौव्यकी तरह, पर्यायोंका भी उत्पाद व्ययके साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। अत 'गुणपर्ययवत' इसवाक्यके द्वारा जो अर्थ अभीष्ट है उसकोही 'उत्पाद–व्यय और ध्रौव्ययुक्त सत, इसवाक्यने स्पष्ट रीतिसे व्यक्त किया हैं। कुछ अर्थ भेद नहीं किया है। केवल व्यञ्ज्य व्यंजक भाव दिखानेके कारण दो लक्षण किए हैं।

पर्याय और उत्पादव्ययमें स्वभाव स्वभाववान तथा लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध भी है।

लक्ष्यस्थानीया इति पर्यायाः स्युः स्वभाववन्तश्च ।
तेषां लक्षणमिव वा स्वभाव इव वा पुनर्व्ययोत्पादम् ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थ — (**पर्याया लक्ष्यस्थानियाः**) पर्यायें लक्ष्यके स्थानापन्न हे। (**इति स्वभाववन्तः च स्युः**) इसलिए वे एक प्रकारसे स्वभाववान् भी हे (**पुनः** (और (**तेषां लक्षणं इव वा स्वभाव इव वा**) उन पर्यायोंके लक्षणकी तरह अथवा स्वभावकी तरह (**व्ययोत्पादं**) व्यय तथा उत्पाद हैं।

भावार्थः— जैसे गुण और ध्रौव्यमे लक्ष्यलक्षणभाव आदिकहे हैं वैसे ही पर्याय तथा उत्पादव्ययमे भी जानना चाहिये। अर्थात् पर्याय लक्ष्य है और उत्पादव्यय उनका लक्षण है तथा पर्यायि स्वभावान् हे ओर व्ययोत्पाद उनका स्वभाव है। इसलिए 'पर्यवतद्रव्यं, ऐसा कहनेसे वह उत्पादव्ययमय सिद्ध होजाता है। इसप्रकार द्रव्यके दोनों लक्षणोंमें परस्पर अभिव्यंज अभिव्यंजक भाव, लक्ष्यलक्षण, भाव और साध्यसाधन भाव सिद्ध करके अब गुणके विषयमे प्रश्नोत्तर रूपसे विशेष कथन करते हैं।

गुणत्व किसे कहते हैं ?

अथ च गुणत्वं किमहो सूक्तः केनापि जन्मिना सूरिः ।
प्रोचे सोदाहरणं लक्षितामिव लक्षणं गुणानां हि ॥ १०३ ॥

अन्वयार्थ — (अथ च) अथानन्तर (केनापि जन्मिना) किसी भव्यने (अहो गुणत्वं किं) भो स्वामिन् ! गुणका गुणत्व क्या है ? इसप्रकार (सूरिः सूक्तः) आचार्यसे प्रश्न किया तब उन्होंने (गुणानां सोदा- हरणं लक्षणं) गुणोंका उदाहरण सहित लक्षण (लक्षितं इव प्रोचे) मानों लक्षितही है क्या ऐसी सरल रीतिसे कहा।

भावार्थः— किसीने आचार्यसे यह प्रश्न किया कि गुणत्व क्या है ? इसलिए ग्रन्थकार उदाहरणसहित गुणका लक्षण कहते है। ' लक्षितामिव, इस शद्बसे यह ध्वनित होता है कि ग्रन्थकार गुणका लक्षण इस खूबीसे प्रतिपादन करेंगे कि जो शिष्योंको अनुभवगम्य विषयसा मालूम पडे ।

गुणका लक्षण ।

द्रव्याश्रया गुणाःस्युर्विशेषमात्रास्तु निर्विशेषाश्च ।
करतलगतं यदेतैर्व्यक्तमिवालक्ष्यते वस्तु ॥ १०४ ॥

अन्वयार्थः— (द्रव्याश्रया) जो द्रव्यके आश्रय रहते हों (च) और (निर्विशेषाः) जिनमें दूसरा गुण न पायाजाता हो ऐसे द्रव्यके (विशेषमात्राः) सम्पूर्ण विशेषोंको (गुणाः स्युः) गुण कहते हैं (यत) क्योंकि (एतैः) इन गुणोंके द्वारा (वस्तु) वस्तु (करतलगतं इव) हथेलीपर रक्खी हुई वस्तुकी तरह (व्यक्तं आलक्ष्यते) स्पष्टरूपसे प्रतीत होने लगती है ।

भावार्थ — नित्यरूपसे द्रव्यके आश्रय रहकर जिनमें दूसरें विशेष न पाये जावे ऐसे द्रव्यके सम्पूर्ण विशेषोंको गुण कहते हैं। विशेष शब्द गुण तथा पर्याय दोनोंका ही वाचक है और वे दोनोंही द्रव्यके आश्रित रहते है। परन्तु द्रव्यकी घटादिक अवस्थाओं (पर्यायों) मे जिसप्रकार आकारादिककी विशेषता रहती है। उसप्रकार गुणोंमें गुण नहीं रहते है। इसलिए निर्विशेष इस पदसे पर्यायोंकी निर्वृति होजाती है। विशेषमात्र शब्दका यह अर्थ हैं कि द्रव्यके सम्पूर्ण विशेषोंका नामही गुण है। गुण कोई जुदा पदार्थ नहीं। ' द्रव्याश्रया ' इसविशेषणका यह साराश है कि गुण नित्य, द्रव्योंके आश्रित है। द्रव्यकी अवस्थाओंके आश्रित नहीं हैं।

खुलासा।

अयमर्थो विदितार्थः समप्रदेशाः समं विशेषा ये।
ते ज्ञानेन विभक्ताः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥१०५॥

अन्वयार्थ — (**विदितार्थः अयं अर्थः**) विदित है अर्थ जिन्होंका ऐसे गुणोंके लक्षण सम्बन्धी पदोंका यह सारांश है कि (**समप्रदेशाः**) समान है प्रदेश जिनके ऐसे (**समं**) एकसाथ रहनेवाले (**ये**) जो (**विशेषाः**) विशेष है (**ते**) वेही (**ज्ञानेनविभक्ताः**) ज्ञानके द्वारा विभक्त किये जानेपर (**क्रमतः**) क्रमसे (**श्रेणीकृताः**) श्रेणीकृत (**गुणाः ज्ञेयाः**) गुण जानना चाहिये।

भावार्थ — अनन्त गुणोंके समुदायका नाम द्रव्य है। द्रव्यके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें जैसे एक विवक्षित गुण रहता है वैसेही—युगपतही और सब गुणभी उसद्रव्यके उन्हीं सब प्रदेशोंमें रहते हैं। इसलिए द्रव्यके सबही गुण समान प्रदेशवाले हैं अर्थात् अभिन्न हैं। वस्तुदृष्टिसे उनमें कोई भेद नहीं है तथापि श्रुतज्ञानान्तर्गत नयज्ञानके द्वारा विभक्त किये जानेपर उनकी भिन्न २ श्रेणियां हो जातीं हैं। क्योंकि वस्तुमें खण्डकल्पना नयज्ञानके कारणही होती है।

इस पद्यके भावार्थको आगेके पद्यसे दृष्टान्त द्वारा समझाते समय ग्रन्थकारने ' बुद्ध्या विभज्यमानाः ' ऐसा पद दिया है। अतएव यहां ज्ञानपदसे श्रुतज्ञानसे प्रयोजन है ऐसा समझना चाहिये।

दृष्टान्त।

दृष्टान्तः शुक्लाद्या यथा हि समतन्तवः समं सन्ति।
बुद्ध्या विभज्यमानाः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥ १०६॥

अन्वयार्थः— (**दृष्टान्तः**) उदाहरण यह है कि (**यथा हि**) जैसे (**समतन्तवः**) समान है तन्तु जिनके ऐसे (**समं**) एकसाथ रहनेवाले जो (**शुक्लाद्याः सन्ति**) शुक्लादिक हैं वेही शुक्लादिक (**बुद्ध्या विभज्य-**

मानाः) बुद्धिके द्वारा विभज्यमान किये जानेपर (क्रमतः) क्रमसे (श्रेणीकृताः गुणाः ज्ञेया) श्रेणीकृत गुण जानना चाहिये ।

भावार्थ — वस्त्रमें जो शुक्लरूप नामका एक गुण है वह जैसे वस्त्रके सम्पूर्ण तन्तुओंमें सब गुणोंके साथ तन्तुके, उनही प्रदेशोंमें व्याप्त होकर रहता है जिनमें कि तन्तु सम्बन्धी अन्य संपूर्ण गुण रहते हैं अर्थात् जिनही तन्तुओंमें रूप रहता है उनही में रसादिक रहते हैं । तन्तुओंके प्रदेशोंसे गुणोंके कुछ पृथक प्रदेश नहीं हैं । केवल नयके द्वाराही उसमें गुणभेद ज्ञात होता है । वैसेही प्रकृत गुणोंमें भी जानना चाहिये ।

गुणोंके नित्यत्व तथा अनित्यत्वपर विचार

नित्यानित्यविचारस्तेषामिह विद्यते ततःप्रायः ।
विप्रतिपत्तौ सत्यां विवदन्ते वादिनो यतो बहवः ॥ १०७ ॥

अन्वयार्थः— (यतः) जिसकारणसे नित्यानित्यके विषयमें (विप्रतिपत्तौ सत्यां) आपसमें सहमत न होनेपर (बहवः वादिनः विवदन्ते) बहुतसे वादी विवाद करते हैं (ततः प्रायः) इसही कारणसे प्राय (इह) यहांपर (तेषां नित्यानित्यविचारः विद्यते) उन गुणोंके नित्यानित्यत्वके विषयमें विचार किया जाता है।

भावार्थः— गुण नित्य हैं अथवा अनित्य है इस विषयमें अन्यमतवादियोंका मतभेद है । किन्तु एकान्त दृष्टिसे यह सवही कथन मिथ्या है । क्योंकि अनेकान्त दृष्टिसे गुण द्रव्यकी तरह कथंचित नित्यानित्यात्मक प्रतीत होते हैं । इसलिए अब ग्रन्थकार स्वयं यहांपर गुणोंके नित्यानित्यत्वके विषयमें विचार करते हैं ।

गुणोंके विषयमें जैन मत ।

जैनानामतमेतन्नित्यानित्यात्मकं यथा द्रव्यं ।
ज्ञेयास्तथा गुणा अपि नित्यानित्यात्मकास्तदेकत्वात् ॥ १०८ ॥

अन्वयार्थः— (**जैनानां एतत् मतं**) जैनसिद्धान्त यह है कि (**यथा**) जैसे (**द्रव्यं नित्यानित्यात्मकं**) द्रव्य नित्यानित्यात्मक है (**तथा**) वैसेही (**गुणा अपि**) गुण भी (**तदेकत्वात्**) अपने द्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण (**नित्यानित्यात्मका ज्ञेयाः**) नित्यानित्यात्मक जानना चाहिये।

भावार्थ — गुणसमुदायका नाम द्रव्य है। गुण द्रव्यसे पृथक सत्ता नहीं रखते हैं। केवल संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन भेदसेही द्रव्य और गुणमें भिन्न व्यवहार होता है। क्योंकि द्रव्य दृष्टिसे वे गुण परस्परमें तथा द्रव्यसे अभिन्न ही है। इसलिए जैसे द्रव्य नित्यानित्यात्मक है वैसेही उसके गुण भी नित्यानित्यात्मक है। यह स्याद्वादरूप जैन सिद्धान्त है।

उदाहरण।

तत्रोदाहरणमिदं किल तद्भावाऽव्ययाद्गुणा नित्याः।
तदभिज्ञानात्सिद्धं तल्लक्षणमिह यथा तदेवेदम् ॥ १०९ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र**) उसविषयमें (**इदं उदाहरणं**) यह उदाहरण है कि (**किल**) निश्चयसे (**गुणाः**) गुण (**तद्भावाव्ययात्**) अपने गुणत्वसे कभी च्युत नहीं होनेके कारण (**नित्याः**) नित्य हैं और (**तत्**) वह नित्यत्व (**अभिज्ञानात् इह सिद्धं**) प्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे इस लोकमें सिद्ध है तथा (**तल्लक्षणं**) उस प्रत्यभिज्ञानका लक्षण यह है कि (**यथा**) जैसे (**तदेवइदं**) वही यह है।

भावार्थ — गुणोंको नित्यानित्यात्मक सिद्ध करनेमें यह उदाहरण है कि प्रत्येक गुण प्रतिसमय परिणमनशील होनेपर भी वह अपने तद्भाव–गुणत्वसे कदापि च्युत नहीं होता है। इस अपेक्षासे गुण नित्य कहे जाते हैं। और उस नित्यत्वका साधक प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है। "स्मृतिप्रत्यक्षपूर्वकं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं" अर्थात् स्मृति तथा प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाले जोडरूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उसके एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान आदि अनेक भेद है। उनमेसे 'तदेवेदं' यह वही है इत्याकारक एकत्वप्रत्यभिज्ञानके द्वारा जिसप्रकार कालान्तरमे एकताकी सिद्धि होती है। उसीप्रकार प्रत्येक गुणमें भी 'तदेवेदं' यह नित्यत्व साधक

प्रत्यभिज्ञान प्रमाण पाया जाता है। कभी भी 'सैषःन, यह प्रत्यय नहीं पाया जाता है। इसप्रकार प्रत्यभिज्ञान प्रमाणके द्वारा गुणोंमें कथचित् नित्यता सिद्ध होती है।

अतएव।

ज्ञानं परिणामि यथा घटस्य चाकारतः पटाकृत्या।
किं ज्ञानत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्कथं न नित्यं स्यात् ॥ ११० ॥

अन्वयार्थ — (यथा) जैसे कि (ज्ञानं) ज्ञान (घटस्यआकारतः) घटके आकारसे (पटाकृत्या) पटके आकाररूप होनेके कारण (परिणामि च) परिणमन शील है तो (किं ज्ञानत्वं नष्टं) क्या उसका ज्ञानत्व नष्ट हो जाता है (अथ न नष्टं चेत्) यदि वह ज्ञानत्व नष्ट नहीं होता है तो वह इस अपेक्षासे (नित्यं कथं न स्यात्) नित्य कैसे सिद्ध नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य ही होगा।

भावार्थः— ज्ञान घटको छोडकर पटको और पटको छोडकर अन्यपदार्थको जानते समय पर्यायार्थिक नयसे अन्य कहलाता हुवा भी ज्ञानत्वका उलघन नहीं करता है। किन्तु सामान्यपनेसे सदैव 'तदेवेद यह वही ज्ञान है जिसकी पहले वह पर्यायथी और अब यह है ऐसी प्रतीति होती है। इसलिये ज्ञानत्व सामान्यकी अपेक्षासे ज्ञान नित्य है।

जैसेकि।

दृष्टान्तः किल वर्णो गुणो यथा परिणमन् रसालफले।
हरितात्पीतस्तत्किं वर्णत्वं न नष्टमिति नित्यम् ॥ १११ ॥

अन्वयार्थः— (दृष्टान्तः) उसका उदाहरण यह है कि (यथा) जैसे (किल) निश्चयकरके (रसालफले) आम्रफलमें (वर्णः गुणः) रूपनामका गुण (परिणमन् हरितात् पीतः) परिणमन करता हुवा हरेसे पीला हो जाता है (तत्किंवर्णत्वं नष्टं) तो क्या इतनेमें वर्णत्वका नाश हो जाता है ? अर्थात् नहीं होता है (इति नित्यं) इसलिये वह वर्णत्व नित्य है।

भावार्थः— उदाहरणके लिये आमका फल लीजिये की जैसे वह कच्ची अवस्थामें हरा था और पकजानेपर पीला होगया परन्तु फिर भी सामान्यपनेसे वर्णत्व वहका वही है वह कुछ नष्ट नहीं होगया है। इसलिए वर्णत्व सामान्यकी अपेक्षासे वह वर्ण नित्यही है।

तथा।

वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि।
तस्मादुत्पादव्ययद्वयमपि भवति हि गुणानां तु ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थ— (**यथा**) जैसे (**वस्तु परिणामि**) वस्तु परिणमनशील है (**तथैव**) वैसेही (**गुणाः च अपि परिणामिनः**) गुणभी परिणमनशील हैं (**तस्मात्**) इसलिये (**हि**) निश्चयकरके (**गुणानां तु**) गुणके भी (**उत्पादव्ययद्वयं अपि**) उत्पाद और व्यय दोनों भी (**भवति**) होते हैं।

भावार्थः— तथा जैसे द्रव्य परिणामी है वैसे द्रव्यसे अभिन्न रहनेवाले गुण भी परिणामी हैं। परिणामी होनेसे उनमें प्रतिसमय उत्पाद व्यय भी होते रहते हैं। और इस युक्तिसे गुणोंमें उत्पादव्ययके होनेसे उन्हें अनित्य भी कहते हैं।

सारांश।

ज्ञानं गुणो यथा स्यान्नित्यं सामान्यवत्तयाऽपि यतः।
नष्टोत्पन्नं च तथा घटं विहायाथ पटं परिच्छिन्दत् ॥ ११३ ॥

अन्वयार्थः— (**यतः**) कारण (**यथा**) जैसे (**ज्ञानं गुण**) ज्ञान नामका गुण (**सामान्यवत्तया**) सामान्यरूपसे (**नित्यं स्यात्**) नित्य है (**अपि**) तथा (**तथा**) वैसे ही (**घटं विहाय अथ पटं परिच्छिन्दत्**) घटको छोडकरके पटको जानता हुआ वह ज्ञान (**नष्टोत्पन्नं च**) नष्ट और उत्पन्न भी है अर्थात् अनित्य भी है।

भावार्थः— जिस समय ज्ञान घटको छोडकर पटको विषय करने लगता है तब पर्यायार्थिक दृष्टीसे घटज्ञानका व्यय तथा पटज्ञानका उत्पाद होनेसे ज्ञानको अनित्य कहते है। और उसी समय पर्यायार्थिक नयकी गौणता तथा द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यतामे घटज्ञान और पटज्ञानरूप उभय अवस्थाओं भी ज्ञानत्व सामान्य पायाजानेसे ज्ञानको ध्रौव्य (नित्य) भी कहते है । इसलिए अपेक्षावादसे ज्ञानगुण कथंचित नित्यानित्यात्मक सिद्ध होता है। एकान्त वादसे नहीं।

नित्यानित्यत्वका पोषक दृष्टान्त ।

सन्दृष्टी रूपगुणो नित्यश्चाम्रेऽपि वर्णमात्रतया ।
नष्टोत्पन्नो हरितात्परिणममानश्च पीतवत्वेन ॥ ११४ ॥

अन्वयार्थः— (**सन्दृष्टि**) उसका उदाहरण यह है कि (**आम्रे**) आम्रफलमें (**रूपगुणः**) रूपनामका गुण (**वर्णमात्रतया**) वर्णमात्रपनसे (**नित्यः अपि**) नित्य भी है (**च**) और (**हरितात्**) हरेसे (**पीतत्वेन परिणममानः**) पीतवर्ण रूपसे परिणमन करता हुआ (**नष्टोत्पन्न च**) नष्ट और उत्पन्न भी है ।

भावार्थ— जैसे कि आममें रूपगुण वर्णत्व सामान्यकी अपेक्षासे नित्य है। और जब आम कच्चेसे पक्का होता है तब उसका हरितवर्ण नष्ट होकर उसमें पीतवर्ण उत्पन्न होता हे । इसलिये वह रूप गुण नष्टोत्पन्न भी है अर्थात् वर्णत्वकी अपेक्षासे नित्य तथा हरितवर्णसे पीतवर्ण धारण करनेकी अपेक्षासे अनित्य भी हे ।

इस प्रकार गुणकी कथचित नित्यानित्यताका विचारकरके अब ' गुण नित्य और पर्यायें अनित्य है तो गुणोंको नित्यानित्यात्मक क्यों कहा, इस विषयमें ऊहापोह करते हैं ।

शंका ।

ननु नित्या हि गुणा अपि भवन्त्यनित्यास्तु पर्ययाः सर्वे ।
तत्किं द्रव्यवदिह किल नित्यानित्यात्मकाः गुणा प्रोक्ताः ॥ ११५ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (हि) निश्चयसे (गुणाः नित्या) गुण नित्य होते हैं (अपि तु) और (सर्वे पर्याया अनित्याः भवन्ति) सम्पूर्ण पर्यायें अनित्य होतीं हैं (तत् किं) तो फिर क्यों (इह) इस प्रकरणमें (द्रव्यवत्) द्रव्यकी तरह (गुणाः नित्यानित्यात्मकाः प्रोक्ता) गुणोंको नित्यानित्यात्मक कहा है ?

भावार्थ.— शकाकारका कहना है कि जब गुण सदैव रहते हैं इसलिये वे नित्य हैं। और पर्यायें प्रतिसमय बदलती रहतीं हैं। इसलिये वे सब अनित्य हैं तो फिर गुण भी द्रव्यकी तरह कथंचित् नित्यानित्यात्मक हैं ऐसा आपने यहा क्यों कहा ?

समाधान।

सत्यं तत्र यत. स्यादिदमेव विवक्षितं यथा द्रव्ये।
न गुणेभ्य· पृथगिह तत्सदिति द्रव्यं च पर्ययाश्चेति ॥ ११६ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है (यत) क्योंकि (तत्र इदमेव विवक्षितं स्यात्) उसमें यही विवक्षित है कि (यथा) जैसे (इह) यहांपर (द्रव्ये) द्रव्यमें (' यत् ,) जो (सत्) सत् है (तत्) यह सत् (गुणेभ्य पृथक् न) गुणोंसे पृथक नहीं है (तथा) वैसेही (द्रव्यं) द्रव्य (च) और (पर्यायाः) पर्यायें भी (' पृथक् न , इति) गुणोंसे पृथक नहीं है।

भावार्थ — द्रव्य जैसे गुणोंसे अभिन्न है वैसेही पर्यायोंसे भी अभिन्न है। इसलिए जैसे द्रव्य नित्यानित्यात्मक है। वैसे गुण भी गुणपर्यायमय द्रव्यसे अभिन्न है इसलिए वे भी नित्यानित्यात्मक कहे जाते है। इसप्रकार गुणोंको नित्यानित्यात्मक होनेसे उक्त आशंका ठीक नहीं है।

तथा।

अपि नित्याः प्रतिसमयं विनाऽपि यत्नं हि परिणमन्ति गुणाः।
स च परिणामोऽवस्था तेषामेव न पृथक्त्वसत्ताकः ॥ ११७ ॥

अन्वयार्थः— (**गुणाः**) गुण (**नित्याः अपि**) नित्य हैं तो भी वे (**हि**) निश्चयकरके (**विना अपि यत्नं**) स्वभावसेही (**प्रतिसमयं परिणमन्ति**) प्रतिसमय परिणमन करते रहते हैं (**स च परिणामः**) और वह परिणमन (**तेषां एव अवस्था**) उन गुणोंकी ही अवस्था है (**पृथक्त्वसत्ताकः न**) गुणोंकी सत्तासे उसकी सत्ता कुछ भिन्न नहीं है।

भावार्थ — गुणोंकी प्रतिसमय होनेवाली अवस्थाका नाम पर्याय है। पर्यायोंकी सत्ता कुछ गुणोंसे भिन्न नहीं है इसलिए द्रव्यकी तरह वे गुण भी, गुणकी दृष्टिसे नित्य और अपनी पर्यायरूप अवस्थाओंके उत्पन्न तथा नष्ट होनेकी बजहसे अनित्य कहे जाते हैं।

शंका।

ननु तदवस्थो हि गुणः किल तदवस्थान्तरं हि परिणामः।
उभयोरन्तर्वर्तित्वादिह पृथगेतदेवमिदामिति चेत् ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**हि**) निश्चयसे (**गुणः तदवस्थ**) गुण तदवस्थ रहता है तथा (**तदवस्थान्तरं हि परिणामः**) उस सत्की अन्य अवस्थाओंको परिणाम कहते हैं और (**इह**) यहां (**उभयो अन्तर्वर्तित्वात्**) गुण तथा परिणामके मध्यवर्ती होनेके कारण (**एतत् पृथक्**) यह सत् पृथक है (**इति**) इसलिए (**इदं एवं चेत्**) यह सत्–द्रव्य यदि ऐसा माना जाय तो

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि गुणोंको तदवस्थ, सत्की अवस्थाओंको पर्याय तथा इन दोनोंके बीचमें जो कुछ भी रहता उसको सत् अर्थात् द्रव्य कहते हैं इसप्रकार सतका स्वरूप क्यों न माना जाय ?

समाधान।

तन्न यतः सदवस्था सर्वा आम्रेडितं यथावस्तु।
न तथा ताभ्यः पृथगिति किमपि हि सत्ताकमन्तरं वस्तु ॥ ११९ ॥

अन्वयार्थः— (**तन्न**) शंकाकारका गुणोंको तदवस्थ, उनकी अवस्थान्तरको पर्याय और दोनोंके मध्यवर्तीको द्रव्य कहना ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**यथा**) जैसे (**सर्वा सदवस्थाः**) सम्पूर्ण गुणकी अवस्थाएं (**आम्रेडितं**) आम्रेडित होकर अर्थात् एकालापसे पुनः २ प्रतिपादित होकर (**वस्तु**) वस्तु-द्रव्य कहलाता हैं (**तथा हि**) वैसेहि (**ताभ्यः**) उसकी उन अवस्थाओंसे (**पृथक्**) भिन्न (**किमपि**) कुछ भी (**सत्ताकमन्तरं ?**) भिन्न सत्तावाली (**वस्तु**) वस्तु-द्रव्य (**न इति**) नही कही जाती है।

भावार्थः— सत् की संपूर्ण अवस्थाऐंही पुनः पुन प्रतिपादित होकर वस्तु हैं। किंतु वस्तु अपनी अवस्थाओंसे कुछ भिन्न नही है। इसालिए जैसे गुणमय द्रव्य होनेसे द्रव्य और गुणोका स्वरूपभेद नहीं होता है वैसेही द्रव्यकी अवस्थाऐंही गुणकी अवस्थाऐं कही जासकती हैं। इसलिये द्रव्य भी पर्यायोंसे भिन्न नही हैं। अतः गुणको तदवस्थ और अवस्थान्तरको पर्याय मानना तथा इन दोनोंके मध्यवर्तीको पृथक द्रव्य मानना ठीक नहीं हैं।

अतएव।

नियतं परिणामित्वादुत्पादव्ययमया य एव गुणाः।
टंकोत्कीर्णन्यायात्त एव नित्या यथा स्वरूपत्वात्॥ १२०॥

अन्वयार्थः— (**नियतं**) नियमसे (**ये एव गुणाः**) जो ही गुण (**परिणामित्वात् उत्पादव्ययमयाः**) परिणमनशील होनेके कारण उत्पादव्ययमय कहे जाते है (**ते एव**) वे ही गुण (**टंकोत्कीर्णन्यायात्**) टंकोत्कीर्ण न्यायसे (**यथास्वरूपत्वात्**) अपने स्वरूपको कभी उल्लंघन नहीं करते हैं इसलिये (**नित्याः**) नित्य कहे जाते हैं।

भावार्थ — अतएव परिणमनकी अपेक्षासे जो गुण उत्पादव्यय युक्त कहे जाते है वे ही गुण, गुणत्वसामान्यकी अपेक्षासे नित्य कहे जाते हैं। इन दोनोहीं अपेक्षाओंसे द्रव्यसे अभिन्न गुण भी उत्पादव्यय और ध्रौव्ययुक्त कहे गये हैं।

---

१ पत्थरमें टाकीसे उकेरे हुएके न्यायसे।

किन्तु ऐसा नहीं है कि ।

न हि पुनरेकेषामिह भवति गुणानां निरन्वयो नाशः ।
अपरेषामुत्पादो द्रव्यं यत्तद्द्वयाधारम् ॥ १२१ ॥

अन्वयार्थ— (न हि पुनः) किन्तु ऐसा नहीं है कि (इह) यहांपर (एकेषां गुणानां) किन्ही गुणोका (निरन्वयः नाशः भवति) निरन्वय नाश होता है और (अपरेषां) दूसरे गुणोंका (उत्पाद) उत्पाद होता है तथा (यत् द्वयाधारं) जो ऐसे नवीन गुणोंके उत्पाद और व्ययका आधार पडता है (तत् द्रव्यं) वह द्रव्य हो ।

भावार्थः— किंतु, द्रव्यसे अभिन्नगुणोंमे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य होते हैं । इसका यह अर्थ नहीं हैं कि कोई गुण विलकुल नष्ट हो जाते हैं । तथा कोई गुण नवीनही उत्पन्न हो जाते हैं । और इन नष्टोत्पन्न गुणोंके आधारको द्रव्य कहते है ।

तथा विपक्षियोंका यह दृष्टान्ताभास है कि ।

दृष्टांताऽऽभासोऽयं स्याद्धि विपक्षस्य मृत्तिकायां हि ।
एके नश्यन्ति गुणा जायन्ते पाकजा गुणास्त्वन्ये ॥ १२२ ॥

अन्वयार्थ — (विपक्षस्य) गुणोंको नष्टोत्पन्न माननेवालोंका (अयं दृष्टान्ताभासः स्यात्) यह दृष्टान्ताभास है कि (हि) निश्चयसे (मृत्तिकायां) मट्टीरूप द्रव्यमें (एके गुणा नश्यन्ति) कोई गुण तो नष्ट होते है । (तु) और (अन्ये पाकजा गुणाः जायन्ते) दूसरे पाकजगुण उत्पन्न होते है ।

भावार्थ— विपक्षियोंका गुणोंके नष्टोत्पन्न होनेमे जो यह दृष्टांत है कि कच्चे घडेको पकानेसे उसमें उसकी कच्ची अवस्थाजन्य गुणोंका नाश होकर पाकजन्य अन्य गुण पैदा होते है वह, सच्चा दृष्टान्त नहीं है किन्तु दृष्टान्ताभास है ।

कारण ।

तत्रोत्तरमिति सम्यक् सत्यां तत्र च तथाविधायां हि ।
किं पृथिवीत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्तथा कथं न स्यात् ॥ १२३ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र इति सम्यक् उत्तरं) कारण इस विषयमें यह ठीक उत्तर है कि (तत्र च तथा विधायां सत्यां) उस मृत्तिकाके वैसे होनेपर (किं पृथिवीत्वं नष्टं) क्या उसका मृत्तिकापना नष्ट होजाता है ? (अथ न नष्टं चेत्) यदि नष्ट नहीं होता है तो (तथा कथं न स्यात्) वह नित्य क्यों नहीं होगा ?

भावार्थः— कच्ची मट्टीके पकानेपर पहले मट्टी संबंधी गुण नष्ट होकर नवीन पाकज गुण पैदा होते हैं । इस प्रकार माननेवालोंके लिए यह ठीक उत्तर है कि मृत्तिकाकी घटादि अवस्था होनेपर क्या उसका पृथिवीपनाभी-मृत्तिकात्वभी नष्ट होजाता है! यदि वह नष्ट नहीं होता है तो वह पृथिवीत्व नित्य क्यों नहीं होगा ?

इसप्रकार नं. १०७ से १२३ तक उहापोह पूर्वक गुणोंको नित्यानित्यात्मक सिद्ध करके आगे द्रव्य और गुणोंमे आश्रय आश्रयी भाव है इसलिए द्रव्य तथा गुणोंमें भेद होना संभव है इस विषयमें उहापोह करके गुणसमुदायही द्रव्य है ऐसा सिद्ध करते हैं ।

द्रव्यको गुणोंसे भिन्न माननेके विषयमें शंका ।

ननु केवलं प्रदेशा द्रव्यं देशाश्रया विशेषास्तु ।
गुणसंज्ञका हि तस्मात्भवति गुणेभ्यश्च द्रव्यमन्यत्र ॥ १२४ ॥

अन्वयार्थ.— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (केवलं प्रदेशाः द्रव्यं) केवलप्रदेशही द्रव्य कहलाता है (तु) और (हि) निश्चयकरके (देशाश्रयाः विशेषा गुणसंज्ञकाः)देशके आश्रयसे रहनेवाले विशेष

गुण नामसे कहे जाते हैं (**तस्मात्**) इसलिए (**द्रव्यं गुणेभ्य अन्यत्र**) द्रव्य गुणोंसे अतिरिक्त-भिन्न है यही (**भवति**) सिद्ध होता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि प्रत्येक द्रव्यके जितने प्रदेश हैं उतने प्रदेशोंका नाम द्रव्य है। और तदाश्रित सम्पूर्ण विशेषोंका नाम गुण है। इसप्रकार गुण तथा द्रव्यमें आश्रय आश्रयी भाव होनेसे गुण पृथक और द्रव्य पृथक सिद्ध होता है। इसलिए पृथिवीत्वके नित्य होनेपर भी तदाश्रित गुण, द्रव्यसे पृथक होनेके कारण नित्य नहीं हो सकते हैं।

अतः गुणोंमें उत्पादिक नहीं मानना चाहिये।

तत एव यथा सुघटं भंगोत्पादध्रुवत्रयं द्रव्ये।
न तथा गुणेषु तत्स्यादपि च व्यस्तेषु वा समस्तेषु ॥ १२५ ॥

अन्वयार्थः— (**ततएव**) इसलिये ही (**यथा**) जैसे द्रव्यमें (**भंगोत्पादध्रुवत्रयं सुघटं**) व्यय उत्पाद और ध्रौव्य ये तीनोंही अच्छी तरहसे घट सकते हैं (**तथा**) वैसे (**व्यस्तेषु वा समस्तेषु अपि गुणेषु**) किसी एक अथवा सम्पूर्ण गुणोंमें भी (**तत् न स्यात्**) वे उत्पादिक त्रय नहीं घट सकते हैं।

भावार्थ— शंकाकारने उपर्युक्त कथनसे यह सिद्ध किया है कि प्रदेशोंको ही द्रव्य और तदाश्रितोंको गुण माननेसे जैसे द्रव्यमें उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य घट सकते हैं वैसे प्रत्येक गुण या सम्पूर्ण गुणोंमें भी वे नहीं घट सकते हैं।

समाधान।

तन्न यतः क्षणिकत्वापत्तेरिह लक्षणाद्गुणानां हि।
तदाभिज्ञानाविरोधात्क्षणिकत्वं बाध्यतेऽध्यक्षात् ॥ १२६ ॥

अन्वयार्थः— (**तन्न**) वह ठीक नहीं है (**यत**) क्योंकि (**इह**) इसप्रकार (**गुणानां लक्षणात्**) गुणोंके लक्षणसे (**क्षणिकत्वापत्ते.**) गुणोंमें क्षणिकपनेका प्रसंग आवेगा और (**तत्**) वह (**क्षणिकत्वं**) क्षणिक पना (**हि**) निश्चयसे (**अभिज्ञानविरोधात्**) प्रत्यभिज्ञानका विरोधी होनेसे (**अध्यक्षात् बाध्यते**) प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित हो जाता है।

भावार्थः— वैशेषिक मतानुसार गुणोंको नष्टोत्पन्न माननेसे अर्थात् पूर्व गुणका नाश और नवीन गुणका उत्पाद माननसे उन्हे क्षणिकही मानना पडेगा। किन्तु गुण अन्वयी होते हैं इसलिए उनमें ' यह वही है ऐसा प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है। अत गुणोको क्षणिक मानना प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञानसे बाधित है।

तथा गुण नाना सिद्ध न होसकेंगे।

अपि चैवमेकसमये स्यादेकः कश्चिदेव तत्र गुणः।
तन्नाशादन्यतरः स्यादिति युगपन्न सन्त्यनेकगुणाः ॥ १२७ ॥

अन्वयार्थः— (**अपि च**) तथा दूसरा दोप-यह आवेगा कि (**एवं**) इसप्रकारसे (**तत्र**) द्रव्यमें (**एक समये**) एक समयमें (**कश्चित् एकःएव गुणः स्यात्**) कोई एक गुणही होगा और (**तन्नाशात्**) उसके नाश होनके बाद (**अन्यतरः स्यात्**) कोई दूसरा गुण उत्पन्न होगा (**इति**) इसप्रकार (**युगपत्**) द्रव्यमें एकसाथ (**अनेके गुणाः न सन्ति**) अनेके गुण नही पाये जावें गे।

भावार्थः— तथा गुणोंको नष्टोत्पन्न माननेसे द्रव्यमे युगपत सब गुण नही पाये जासकेंगे। जिससमय जिस-गुणका उत्पाद होगा उससमय केवल वही एक गुण द्रव्यमें पाया जासकेगा। उसके नाश होनेके बाद दूसरा। इसलिए द्रव्यमे युगपत् अनेक गुण नही पाये जासकेंगे।इसीको ग्रन्थकार आगे खुलासा करते हैं

और एक समयमें एक गुणकी सत्ताका मानना ठीक नहीं है।

तदसत्यतः प्रमाणात्दृष्टान्तादपि च बाधित पक्ष ।
स यथा सहकारफले युगपद्वर्णादिविद्यमानत्वात् ॥ १२८ ॥

भावार्थः— यद्यपि सब गुणोंमें गुणत्वपना सदृश हैं तथापि सामान्यपनेसे जैसे गुणोंके चिदात्मक और अचिदात्मक भेद होते हैं वैसे ही क्रियावती शक्तिरूप तथा भाववती शक्तिरूप भी गुणोंके भेद माने गये हैं।

आगे-ग्रन्थकार स्वय क्रियावती शक्ति तथा भाववती शक्तिका निरुक्त्यर्थ बताते हैं।

क्रियावती और भाववती शक्तिका निरुक्त्यर्थ।

तत्र क्रिया प्रदेशो देशपरिस्पंदलक्षणो वा स्यात्।
भावः शक्तिविशेषस्तत्परिणामोथ वा निरंशांशैः ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र**) उनमें क्रियावती शक्तिका निरुक्त्यर्थ यह है कि (**प्रदेशः**) प्रदेश (**वा**) अथवा (**देशपरिस्पन्दलक्षण**) प्रदेशपरिस्पन्द है लक्षण जिसका ऐसे परिणमन-विशेषको (**क्रिया स्यात्**) क्रिया कहते हैं (**अथ**) और (**शक्तिविशेषः**) शक्तिविशेष अर्थात् प्रदेशवत्व शक्ति-गुणके सिवाय जितने गुण हैं उन सबको (**वा**) अथवा (**निरंशाशै**) तरतमअंशरूपसे होनेवाले (**तत्परिणाम**) उन गुणोंके परिणामको (**भाव**) भाव कहते हैं।

भावार्थः— पर्यायें दो प्रकारकी होती हैं १ व्यंजन पर्याय २ अर्थ पर्याय। उनमेंसे क्रियावती शक्तिके निमित्तसे होनेवाली पर्यायको व्यन्जन पर्याय तथा भाववती शक्तिके निमित्तसे होनेवाली पर्यायको अर्थपर्याय कहते है। जैसा कि आगेके पद्यसे खुलासा किया गया है कि जितने प्रदेश हैं वे द्रव्य पर्याय हैं और प्रदेशवत्वके बिना शेष गुणोंके तरतम रूपसे अंश कल्पनाका नाम अर्थपर्याय है।

ग्रन्थकारने क्रियावती शक्तिका अर्थ समझानेके लिए क्रिया शब्दके दो अर्थ माने हैं एक प्रदेश, दूसरा प्रदेश परिस्पन्द। इससे प्रतीत होता है कि क्रियावान द्रव्य जीव तथा पुद्गलमें प्रदेश और प्रदेश परिस्पन्द रूप क्रियाके दोनों ही अर्थ घटते हैं अर्थात जीव तथा पुद्गलोंमें जो हलनचलन पाया जाता है वह और जीवके असंख्यात प्रदेश रूप जो कल्पना है तथा पुद्गलके संख्यात, असख्यात अनन्त प्रदेश रूप जो कल्पना है वे दोनोंही कल्पनाएें क्रियावती शक्तिके

शंका।

ननु चैवं सति नियमादिह पर्याया: भवन्ति यावन्त ।
सर्वे गुणपर्याया वाच्या न द्रव्यपयर्याः केचित् ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**एवं च सति**) गुणोंके समुदायात्मक द्रव्यके मान-नेपर (**इह**) यहांपर (**नियमात्**) नियमसे (**यावन्तः पर्याया भवन्ति**) जितनी भी पर्याये होतीं हैं (**सर्वे गुणपर्यायाः वाच्याः**) वे सब गुण पर्यायें कही जाना चाहिये (**केचित् द्रव्य पर्ययाः न**) किसीको भी द्रव्य पर्याय नही कहना चाहिये।

भावार्थः— शंकाकारका कथन है कि यदि गुण समुदायको द्रव्य कहते हो और सब गुणोमें उत्पादादिक पाये जाते हैं तो सब पर्यायोंको गुणपर्यायही कहना चाहिये। द्रव्यपर्याय किसी भी पर्यायको नहीं कहना चाहिए।

समाधान।

तन्न यतोऽस्ति विशेषः सति च गुणानां गुणत्ववत्वेपि ।
चिदचिद्यथा तथा स्यात् क्रियावती शक्तिरथ च भाववती ॥ १३३ ॥

अन्वयार्थ — (**तन्न**) उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है (**यत.**) क्योकि (**गुणानां गुणत्ववत्वे सत्यपि**) सामान्यपनेसे गुणत्ववत्वके सदृश रहते हुए भी गुणोंमें (**विशेष अस्ति**) विशेप–भेद है (**यथा**) जैसे आत्माके (**चित्**) चिदात्मक शक्ति रूपगुण (**च**) और अजीव द्रव्योंके (**अचित्**) अचिदात्मक शक्ति रूप गुण ऐसे सामान्यपनसे दो भेद होते हैं (**तथा**) वैसेही द्रव्यके (**क्रियावती शक्ति**) क्रियावती शक्ति रूप गुण (**अथच**) और (**भाववती शक्तिः**) भाववती शक्ति रूप गुण ऐसे गुणोंके दो भेद होते हैं।

अन्वयार्थ — (**अपि च**) और भी (**पूर्वं यत् उक्तं**) पहले जो कहा गया है कि (**किल**) निश्चयसे (**केवलं प्रदेशाः द्रव्यं स्युः**] केवल सम्पूर्ण प्रदेशही द्रव्य हैं [**तत्र**] सो वहांपर [**प्रदेशवत्वं शक्तिविशेषः**] प्रदेशवत्व नामकी विशेष शक्ति है [**च**] और [**सः अपि क अपि गुण**] वह भी अनन्त गुणोंमेंसे कोई एक गुण है।

भावार्थः— १२४ वे पद्यमें जो यह कहा गया था कि ' केवल प्रदेशोंका नामही द्रव्य है' वहापर भी उन सब प्रदेशोंमें प्रदेशवत्व नामकी शक्ति विशेष है। द्रव्यमें प्रदेशवत्व गुणके निमित्तसेही प्रदेशकल्पना होती है। और वह प्रदेशवत्व गुण भी अनन्त गुणोंमेंसे एक गुण है। इस तरह ' गुण समुदायो द्रव्य , इस लक्षणमें कोई भी बाधा नहीं आती है।

तस्माद्गुणसमुदायो द्रव्यं स्यात्पूर्वसूरिभि प्रोक्तम् ।
अयमर्थ खलु देशो विभज्यमाना गुणा एव ॥ १३१ ॥

अन्वयार्थः— (**तस्मात्**) इसलिये (**पूर्वसूरिभिः प्रोक्तं**) पूर्वाचार्योंके द्वारा कहा गया (**गुण समुदाय द्रव्यं स्यात्**) गुण समुदायरूपही द्रव्य, द्रव्य कहलाता है किंतु प्रदेशरूप द्रव्य, द्रव्य नहीं कहलाता है (**अयं अर्थः**) साराश यह है कि (**खलु**) निश्चयसे गुणोंके रूपमे (**विभज्यमानाः गुणाः एव देशः**) विभज्यमान अर्थात् एक २ करके विभाजित किये गये सम्पूर्ण गुणही द्रव्य है।

भावार्थः— किसी भी द्रव्यके सम्पूर्ण गुणोंको बुद्धिसे यदि उस द्रव्यसे पृथक कल्पित किया जाय तो उन गुणोंके सिवाय द्रव्य कोई पृथक वस्तु प्रतीत नहीं होती है। इसलिए पूर्व आचार्योंने गुण समुदायकोही द्रव्य कहा है। इसप्रकार द्रव्यसे कथंचित् अभिन्न गुणोंमे उत्पादादिक सिद्ध करके सम्पूर्ण गुणही द्रव्यहै। और वह द्रव्यही केवल बुद्धिसे विभक्त किया जाकर गुण कहलाता है। गुण द्रव्यसे कुछ भिन्न नही है। अत गुण समुदायही द्रव्य है ऐसा सिद्ध होता है। अब आगे—यदि गुण समुदाय ही द्रव्य है तो सब पर्यायें गुणपर्याय कहलाना चाहिए। द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय ऐसे पर्यायोंके भेद नहीं करना चाहिये इसविषयमें शका समाधानपूर्वक विचार करते हैं।

अन्वयार्थः—(तत् असत्) वह कथन ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (सः पक्षः) वह पक्ष (प्रमाणदृष्टान्तात् अपि बाधितः) प्रमाणयुक्तदृष्टान्तसे भी बाधित है (यथा) जैसे कि (सहकारफले) आममें (युगपत्) एकही साथ (वर्णादि विद्यमानत्वात्) वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों गुण पाये जाते है।

भावार्थ — गुणोको नष्टोत्पन्न माननेमे एक समयमे एकही गुण होसकेगा। युगपत् अनेक गुण द्रव्यमें नहीं होसकेगे। परन्तु आममे भिन्न २ व्यक्तियोंके द्वारा एकही समयमे भिन्न २ इन्द्रियोंसे स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्णकी प्रामाणिक प्रतीति होनेसे एक समयमें केवल एक गुणका मानना बाधित होजाता है। इसलिए भी गुणोका नाश तथा उत्पाद मानना युक्तियुक्त नहीं है—प्रतीति बाधित है।

अथ चेदिति दोषभयान्नित्याः परिणामिनस्त इति पक्षः।
तत्किं स्यान्न गुणानामुत्पादादित्रयं-समं न्यायात् ॥ १२९ ॥

अन्वयार्थ — (अथ) अब कदाचित (इति दोषभयात) इस दोषके भयसे (ते नित्याः परिणामिनः) वे गुण नित्य और परिणामि हैं (इति पक्षः चेत्) यदि यह पक्ष मानतेहो (तत्) तो फिर (न्यायात्) न्यायसे (गुणानां) गुणोंमें (समं उत्पादादित्रय किं न स्यात) युगपत् उत्पादादित्रय होते है यहां क्यों नहीं मानलेते ?

भावार्थ — ग्रन्थकार कहते हैं कि उक्त कथनानुसार नवीन गुणोंकी उत्पत्ति, पूर्व गुणोंका नाश सिद्ध नहीं होसकनेके कारण यदि आप गुणोंको नित्य और परिणामी स्वीकार करते हो तो फिर गुणोका नित्य होनेसे ध्रौव्यात्मक तथा परिणामी होनेसे उत्पादव्ययात्मक होनेके कारण प्रत्येक गुणमे भी युगपत उत्पादादित्रय क्यों नहीं मानलेते ?

अपि पूर्व च यदुक्तं द्रव्यं किल केवलं प्रदेशाः स्यु।
तत्र प्रदेशवत्त्वं शक्तिविशेषश्च कोऽपि सोऽपि गुणः ॥ १३० ॥

कार्य है। किन्तु शेष निष्क्रिय चार द्रव्यमे केवल प्रदेशकल्पनाही क्रियावती शक्तिका कार्य है। इसलिये क्रियावती शक्तिमें क्रिया शद्बका अर्थ प्रदेश अथवा प्रदेश परिस्पन्दात्मक क्रिया लिया है।

जिसप्रकार क्रियावती शक्तिमें क्रियाशद्बके दो अर्थ ग्रहण किये हैं उसीप्रकार भाववती शक्तिमे भी भाव शद्बके दो अर्थ ग्रहण किये हैं। गुणोका नाम भाव है। तथा पट्गुणी हानिवृद्धिरूपसे गुणोंमें प्रतिसमय होनेवाले तारतम्यको भी भाव कहते हैं। अर्थात् गुण कल्पना और गुणोंके तारतम्यसे होनेवाली गुणांश कल्पनाको भाव कहते हैं।

द्रव्य पर्याय और गुण पर्यायका स्वरूप।

यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्यया नाम्ना।
यतरे च विशेषांस्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव ॥ १३५ ॥

अन्वयार्थः— (**यतरे प्रदेशभागाः**) द्रव्यके जितने प्रदेशरूप अश है। (**तनरे**) उतने वे सब (**नाम्ना**) नामसे (**द्रव्यस्य पर्ययाः**) द्रव्यपर्याय है (**च**) और (**यतरे**) जितने (**विशेषांशा**) गुणके अंश हैं (**ततरे**) उतने वे सब (**गुणपर्यया एव भवन्ति**) गुणपर्याय ही कहे जाते हैं।

भावार्थः— प्रदेशवत्व गुणके निमित्तसे जो अंशकल्पना कीजाती है अर्थात् " अमुक द्रव्यके इतने प्रदेश है " इस कल्पनाको द्रव्यपर्याय कहते हैं और गुणोंकी तरतमरूप अशकल्पनाको अर्थात प्रत्येक द्रव्य सम्बन्धी जो अनन्तानन्त गुण हैं उनकी प्रतिसमय होनेवाली पट्गुणी हानि वृद्धिसे तरतमरूप अवस्थाको गुणपर्याय कहते हैं।

पूर्वोक्त कथनका उपसंहार।

तत एव यदुक्तचरं व्युच्छेदादित्रयं गुणानां हि।
अनवद्यामिदं सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् ॥ १३६ ॥

अन्वयार्थः—(**तत् असत्**) वह कथन ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**सः पक्षः**) वह पक्ष (**प्रमाणदृष्टान्तात् अपि बाधितः**) प्रमाणयुक्तदृष्टान्तसे भी बाधित है (**यथा**) जैसे कि (**सहकारफले**) आममें (**युगपत्**) एकही साथ (**वर्णादि विद्यमानत्वात्**) वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों गुण पाये जाते है।

भावार्थ — गुणोको नष्टोत्पन्न माननेसे एक समयमें एकही गुण होसकेगा। युगपत् अनेक गुण द्रव्यमें नहीं होसकेगे। परन्तु आममे भिन्न २ व्यक्तियोके द्वारा एकही समयमे भिन्न २ इन्द्रियोंसे स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्णकी प्रामाणिक प्रतीति होनेसे एक समयमे केवल एक गुणका मानना बाधित होजाता है। इसलिए भी गुणोका नाश तथा उत्पाद मानना युक्तियुक्त नहीं है–प्रतीति बाधित है।

अथ चेदिति दोपभयान्नित्याः परिणामिनस्त इति पक्षः।
तत्किं स्यान्न गुणानामुत्पादादित्रयं-समं न्यायात् ॥ १२९ ॥

अन्वयार्थ — (**अथ**) अब कदाचित् (**इति दोपभयात्**) इस दोपके भयसे (**ते नित्या परिणामिनः**) वे गुण नित्य और परिणामि हैं (**इति पक्षः चेत्**) यदि यह पक्ष मानतेहो (**तत्**) तो फिर (**न्यायात्**) न्यायसे (**गुणाना**) गुणोंमे (**समं उत्पादादित्रयं कि न स्यात्**) युगपत उत्पादादित्रय होते है यहीं क्यों नहीं मानलेते ?

भावार्थ — ग्रन्थकार कहते हैं कि उक्त कथनानुसार नवीन गुणोकी उत्पत्ति, पूर्व गुणोंका नाश सिद्ध नहीं होसकनेके कारण यदि आप गुणोंको नित्य और परिणामी स्वीकार करते हो तो फिर गुणोका नित्य होनेसे ध्रौव्यात्मक तथा परिणामी होनेसे उत्पादव्ययात्मक होनेके कारण प्रत्येक गुणमे भी युगपत उत्पादादित्रय क्यों नहीं मानलेते ?

अपि पूर्वं च यदुक्तं द्रव्यं किल केवलं प्रदेशाः स्यु ।
तत्र प्रदेशवत्त्वं शक्तिविशेषश्च कोऽपि सोऽपि गुणः ॥ १३० ॥

रहते हैं। अर्थात् ऐसा कभी समयही नहीं आता है जब कि द्रव्यमें सब गुण युगपत् न रहते हो। इसलिए उन्हे युगपतवर्ती होनेसे सहभू कहते हैं।

शंका समाधान।

ननु सह समं मिलित्वा द्रव्येण च सहभुवो भवन्त्विति चेत्।
तन्न यतो हि गुणेभ्यो द्रव्यं पृथगिति यथा निषिद्धत्वात् ॥ १४० ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**द्रव्येण सह**) द्रव्यके साथ अर्थात् (**समं**) युगपत् (**मिलित्वा**) मिलकर होनेवाले गुणोंको (**सहभुवः भवन्तु**) सहभू कहना चाहिए (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहो तो (**तन्न**) वह ठीक नहीं है (**यत**) क्योंकि (**हि**) निश्चयसे (**गुणेभ्य**) गुणोंसे (**द्रव्यं**) द्रव्य (**पृथक्**) पृथक हैं (**इति**) यह बात (**यथा निषिद्धत्वात्**) यथा समय पहले ही निषिद्ध की गई है।

भावार्थः— सहश शद्वका युगपत् अर्थ न मानकर "साथ,. अर्थ मानकर " द्रव्यके साथ युगपत् मिलकर जो होवेसो सहभू अर्थात् गुण द्रव्यके साथ युगपत् मिलकर होते है इसलिये उन्हे सहभावी कहते ,, यह जो शंकाकारने सहभू शद्वकी व्युत्पत्ति बताई है वह ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेमें गुणोंसें द्रव्य पृथक है, गुण समुदायात्मक नहीं है ऐसा अनिष्ट प्रसग आता है जिसका कि निषेध पहले ही किया जाचुका है।

सहभू शद्वका साथ अर्थ माननेमें दोष।

ननुचैवमतिव्याप्तिः पर्यायेष्वपि गुणानुषंगत्वात्।
पर्यायः पृथगिति चेत्सव सर्वस्य दुर्निवारत्वात् ॥ १४१ ॥

अन्वयार्थ — (**ननु च**) और (**एव**) जो द्रव्यके साथ मिलकर होवे वह गुण है ऐसा गुणका लक्षण माननेपर (**पर्यायेषु अपि**) पर्यायोंमें भी (**गुणानुषङ्गत्वात्**) गुणके लक्षणका अनुषङ्ग होनेसे अर्थात् गुणका

अर्थश्चैकार्थत्वादर्थादेकार्थवाचकाः सर्वे ॥ १३८ ॥

अन्वयार्थः— (**तद्वाक्यान्तर एतत्**) वही दूसरे वाक्योंमें गुणोंका लक्षण ऐसा कहा जासकता है (**यथा**) जैसे कि (**गुणाः**) गुण (**सहभुवः**) सहभू-युगपत् होनेवाले (**अपि च**) और (**अन्वयिनः**) अन्वयी-द्रव्यके साथ अन्वय रखनेवाले (**च**) तथा (**अर्थाः**) अर्थरूप है अतः (**सर्वे**) ये सब (**अर्थात् एकार्थत्वात्**) अर्थकी दृष्टिसे एकार्थक होनेके कारण (**एकार्थवाचकाः**) एकार्थ वाचक है।

भावार्थः— गुण, सहभू, अन्वयी और अर्थ ये चारोंही शब्द गुणके वाचक हैं। गुणका विस्तृत रूपसे प्रकरण लानेके लिए वाक्यान्तरसे, सहभू, अन्वयी तथा अर्थको गुणके पर्यायवाचक दिखाकर प्रत्येककी निरुक्तिद्वारा पूर्वोक्त अर्थको स्पष्ट करते हैं।

सहभू शब्दका निरूक्त्यर्थ।

सह सार्धं च समं वा तत्र भवन्तीति सहभुवः प्रोक्ताः।
अयमर्थो युगपत्ते सन्ति न पर्यायवत्क्रमात्मान ॥ १३९ ॥

अन्वयार्थ — (**तत्र**) गुण वाचक सहभू आदि शब्दोंमेंसे सहभू शब्दकी व्युत्पत्ति यह है कि गुण, द्रव्यके (**सह**) सह अर्थात् (**सार्धं**) साथ (**च**) अथवा (**समं वा**) युगपत् (**भवन्ति**) होते हैं (**इति**) इसलिए वे (**सहभुवः**) सहभू (**प्रोक्ताः**) कहे गये हैं (**अयं अर्थ**) सारांश यह है कि सह शब्द युगपत्का वाचक है अतः (**ते**) वे गुण द्रव्यमें (**युगपत् सन्ति**) युगपत् होते हैं किन्तु (**पर्यायवत्**) पर्यायोंकी तरह (**क्रमात्मानः न**) क्रम क्रमसे अर्थात् एकके बाद दूसरा इत्यादि रूपसे नहीं होते हैं।

भावार्थ — सह शब्द, साथ तथा युगपत इन दोनोंका वाचक हैं। इन दोनों अर्थोंमेंसे सह शब्दका युगपत् अर्थ यहां इष्ट है साथ नहीं अत जिसप्रकार पर्याये भिन्न समयवर्ती होनेसे क्रमवर्ती कहीं गई हैं उसप्रकारसे गुण नही कहे जाते हैं। क्योंकि जब जब द्रव्यमें कोई एक गुण रहता है तब तब उस द्रव्य सम्बन्धी सम्पूर्ण गुण भी उसमें मौजूद

अन्वयार्थः— (**ततएव**) इसीलिये ही (**यत् उक्तचरं**) जो पहले कहा गया है कि (**व्युच्छेदादित्रयं**) व्यय उत्पाद और ध्रौव्य ये तीनो (**हि**) निश्चयसे (**गुणानां भवति**) गुणोंके होते हैं (**इदं सर्वं**) यह सब कथन (**प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात्**) प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा भलेप्रकार सिद्ध होनेसे (**अनवद्यं**) निर्दोष है।

भावार्थः— द्रव्यकी तरह गुणोके भी उत्पादादिक त्रय, जों कुछ पहले कहे हैं वे सब प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध होते हैं। इसलिये द्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण द्रव्यकी तरह गुणोमें भी उत्पादादिकत्रय मानना युक्तियुक्त ओर निर्दोष है। अब आगे–ग्रन्थकार वाक्यान्तरके द्वारा गुणोंके स्वरूपको प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं।

वाक्यान्तरसे गुणके लक्षण कहनेकी प्रतिज्ञा।

अथ चैतल्लक्षणमिह वाच्यं वाक्यान्तरप्रवेशेन।
आत्मा यथा चिदात्मा ज्ञानात्मा वा स एव चैकार्थः॥ १३७॥

अन्वयार्थ — (**अथ च**) अब (**इह**) यहांपर (**वाक्यान्तरप्रवेशेन**) दूसरे वाक्योंमें (**एतत् लक्षणं वाच्यं**) गुणोंका यह लक्षण कहनेके योग्य है (**यथा**) जैसे कि (**आत्मा**) आत्मा (**चिदात्मा**) चिदात्मा (**वा**) और (**ज्ञानात्मा**) ज्ञानात्मा ये तीनों पर्याय वाचक शब्द है (' **तथा** ,) वैसेही (**स च**) दूसरे वाक्योंमें कह जानेवाला गुणका अर्थ भी (**एकार्थ एव**) एकार्थक ही है।

भावार्थः— जैसे आत्मा, चिदात्मा तथा ज्ञानात्मा कहनेसे एकही अर्थका बोध होता है। वैसेही अब आगे स्पष्टार्थ वाक्यान्तरद्वारा गुणका लक्षण उस रीतिसे प्रतिपादन किया जायगा कि जिससे अर्थभेद न होकर केवल वाक्यान्तरकृत ही भेद पाया जायगा।

वाक्यान्तरसे गुणके लक्षणका कथन।

तद्वाक्यान्तरमेतद्यथा गुणाः सहभुवोपि चान्वयिनः।

कार्य है। किन्तु शेष निष्क्रिय चार द्रव्यमें केवल प्रदेशकल्पनाही क्रियावती शक्तिका कार्य है। इसलिये क्रियावती शक्तिमें क्रिया शद्धका अर्थ प्रदेश अथवा प्रदेश परिस्पन्दात्मक क्रिया लिया है।

जिसप्रकार क्रियावती शक्तिमें क्रियाशद्धके दो अर्थ ग्रहण किये हैं उसीप्रकार भाववती शक्तिमें भी भाव शद्धके दो अर्थ ग्रहण किये हैं। गुणोंका नाम भाव है। तथा षट्गुणी हानिवृद्धिरूपसे गुणोंमें प्रतिसमय होनेवाले तारतम्यको भी भाव कहते हैं। अर्थात गुण कल्पना और गुणोंके तारतम्यसे होनेवाली गुणांश कल्पनाको भाव कहते हैं।

द्रव्य पर्याय और गुण पर्यायका स्वरूप।

यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्यया नाम्ना।
यतरे च विशेषांस्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव ॥ १३५ ॥

अन्वयार्थः—(**यतरे प्रदेशभागाः**) द्रव्यके जितने प्रदेशरूप अंश है। (**ततरे**) उतने वे सब (**नाम्ना**) नामसे (**द्रव्यस्य पर्ययाः**) द्रव्यपर्याय है (**च**) और (**यतरे**) जितने (**विशेषांशा**) गुणके अंश हैं (**ततरे**) उतने वे सब (**गुणपर्यया एव भवन्ति**) गुणपर्याय ही कहे जाते हैं।

भावार्थः— प्रदेशवत्व गुणके निमित्तसे जो अंशकल्पना कीजाती है अर्थात् "अमुक द्रव्यके इतने प्रदेश है" इस कल्पनाको द्रव्यपर्याय कहते हैं और गुणोंकी तरतमरूप अंशकल्पनाको अर्थात प्रत्येक द्रव्य सम्बन्धी जो अनन्तानन्त गुण हैं उनकी प्रतिसमय होनेवाली षट्गुणी हानि वृद्धिसे तरतमरूप अवस्थाको गुणपर्याय कहते हैं।

पूर्वोक्त कथनका उपसंहार।

तत एव यदुक्तचरं व्युच्छेदादित्रयं गुणानां हि।
अनवद्यमिदं सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् ॥ १३६ ॥

लक्षण चले जानेसे (**अतिव्याप्ति**) अतिव्याप्ति हो जायगी अगर इस दोषको दूर करनेके लिए (**पर्याय· पृथक् इति**) पर्यायें द्रव्यसे पृथक् हैं यदि कदाचित् ऐसा कहो तो (**सर्वं सर्वस्य**) सबही पर्यायें सब द्रव्योंकी हो जायगी यह (**दुर्निवारत्वात्**) दुर्निवार अनिष्ट प्रसंग आवेगा ।

भावार्थः— तथा शंकाकारके उपर्युक्त कथनानुसार यदि सहशब्दका 'युगपत, अर्थ न मानकर किन्तु 'साथ, अर्थ मानकर गुणकी यह परिभाषा बना दीजाय कि जो द्रव्यके साथ २ पाया जाय वह गुण है तो यह लक्षण पर्यायोंमे भी चलाजाता है क्योंकि वे भी तो द्रव्यके साथ रहा करती है । अतः यह लक्षण, अलक्ष्यमें भी जानेसे अतिव्याप्त हो गया, तथा यदि यह कहा जाय कि द्रव्यसे पर्यायें सर्वथा भिन्न हैं तो नियामकके अभावमे एक द्रव्यकी पर्याय दूसरे द्रव्यकी भी हो सकेगी । अर्थात् हरकोई पर्याय चाहे जिस द्रव्यकी हो जायगी । अथवा अमुकपर्याय अमुकद्रव्यकी है । इसप्रकारके व्यवहारके लिए नियामक न रहनेसे किस द्रव्यकी कौन पर्याय है यह नियम नहीं बनसकेगा । इसलिए द्रव्यके साथ होनेवालेको गुण न कहकर सहशब्दका अर्थ युगपत मानकर जो युगपत् रहते हैं वे गुण हैं यही लक्षण युक्तियुक्त है । तथा पर्यायें क्रमवर्ती होती है । इसलिए उनमे भी लक्षणके जानेकी समवना नहीं होनेसे अतिव्याप्ति दोष भी संभव नहीं हो सकता है । इसप्रकार सहभूशब्दके द्वारा गुणका निरुपण करके आगे—अन्वयी शब्दद्वारा गुणके स्वरूपका निरुपण करते हैं ।

अन्वय शब्दका निरुक्त्यर्थ ।

अनुरित्यव्युच्छिन्नप्रवाहरूपेण वर्तते यद्वा ।
अयतीत्ययगत्यर्थाद्धातोरन्वर्थतोन्वयं द्रव्यम् ॥ १४२ ॥

अन्वयार्थ — (**वा**) अथवा (**अनु इति**) अनु इस शब्दका यह अर्थ है कि (**यत**) जो (**अव्युच्छिन्नप्रवाहरूपेण**) बीचमें कभी भी स्खलित नहीं होनेवाले प्रवाहसे (**वर्तते**) वर्तरहो हो और (**अयति इति**) अयति यह क्रियापद (**अयगत्यर्थाद्धातोः**) गति अर्थवाली अय धातुका रूप है इसलिए (" **अनु अयति इति अन्वयं** ,,) अव्युच्छिन्न प्रवाह रूपसे जो गमन कर रहा हो वह (**अन्वर्थत**) अन्वर्थकी अपेक्षासे (**अन्वयं द्रव्यं**) अन्वय शब्दका अर्थ द्रव्य है ।

कार्य है। किन्तु शेष निष्क्रिय चार द्रव्यमे केवल प्रदेशकल्पनाही क्रियावती शक्तिका कार्य है। इसलिये क्रियावती शक्तिमें क्रिया शद्बका अर्थ प्रदेश अथवा प्रदेश परिस्पन्दात्मक क्रिया लिया है।

जिसप्रकार क्रियावती शक्तिमें क्रियाशद्बके दो अर्थ ग्रहण किये है उसीप्रकार भाववती शक्तिमे भी भाव शद्बके दो अर्थ ग्रहण किये हैं। गुणोका नाम भाव है। तथा षट्गुणी हानिवृद्धिरूपसे गुणोंमे प्रतिसमय होनेवाले तारतम्यको भी भाव कहते हैं। अर्थात् गुण कल्पना और गुणांके तारतम्यसे होनेवाली गुणांश कल्पनाको भाव कहते हैं।

द्रव्य पर्याय और गुण पर्यायका स्वरूप।

यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्यया नाम्ना।
यतरे च विशेषांस्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव ॥ १३५ ॥

अन्वयार्थः— (**यतरे प्रदेशभागाः**) द्रव्यके जितने प्रदेशरूप अश है। (**ततरे**) उतने वे सब (**नाम्ना**) नामसे (**द्रव्यस्य पर्ययाः**) द्रव्यपर्याय है (**च**) ओर (**यतरे**) जितने (**विशेषांशा**) गुणके अंश हैं (**ततरे**) उतने वे सब (**गुणपर्यया एव भवन्ति**) गुणपर्याय ही कहे जाते हैं।

भावार्थः— प्रदेशवत्व गुणके निमित्तसे जो अंशकल्पना कीजाती है अर्थात् " अमुक द्रव्यके इतने प्रदेश है " इस कल्पनाको द्रव्यपर्याय कहते हैं और गुणोंकी तरतमरूप अशकल्पनाको अर्थात प्रत्येक द्रव्य सम्बन्धी जो अनन्तानन्त गुण हैं उनकी प्रतिसमय होनेवाली षट्गुणी हानि वृद्धिसे तरतमरूप अवस्थाको गुणपर्याय कहते हैं।

पूर्वोक्त कथनका उपसंहार।

तत एव यदुक्तचरं व्युच्छेदादित्रयं गुणानां हि।
अनवद्यमिदं सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् ॥ १३६ ॥

लक्षण चले जानेसे (**अतिव्याप्ति**) अतिव्याप्ति हो जायगी अगर इस दोषको दूर करनेके लिए (**पर्याय पृथक् इति**) पर्यायें द्रव्यसे पृथक् हैं यदि कदाचित् ऐसा कहो तो (**सर्व सर्वस्य**) सबही पर्यायें सब द्रव्योंकी हो जायगी यह (**दुर्निवारत्वात्**) दुर्निवार अनिष्ट प्रसंग आवेगा ।

भावार्थः— तथा शंकाकारके उपर्युक्त कथनानुसार यदि सहशद्बका 'युगपत, अर्थ न मानकर किन्तु 'साथ, अर्थ मानकर गुणकी यह परिभाषा बना दीजाय कि जो द्रव्यके साथ २ पाया जाय वह गुण है तो यह लक्षण पर्यायोंमे भी चलाजाता है क्योंकि वे भी तो द्रव्यके साथ रहा करती है । अतः यह लक्षण, अलक्ष्यमें भी जानेसे अतिव्याप्त हो गया, तथा यदि यह कहा जाय कि द्रव्यसे पर्यायें सर्वथा भिन्न हैं तो नियामकके अभावमें एक द्रव्यकी पर्याय दूसरे द्रव्यकी भी हो सकेगी । अर्थात् हरकोई पर्याय चाहे जिस द्रव्यकी हो जायगी । अथवा असुकपर्याय असुकद्रव्यकी है । इसप्रकारके व्यवहारके लिए नियामक न रहनेसे किस द्रव्यकी कौन पर्याय है यह नियम नहीं बनसकेगा । इसलिए द्रव्यके साथ होनेवालेको गुण न कहकर सहशद्बका अर्थ युगपत् मानकर जो युगपत रहते हैं वे गुण हैं यही लक्षण युक्तियुक्त है । तथा पर्यायें क्रमवर्ती होतीं है । इसलिए उनमें भी लक्षणके जानेकी संभवना नहीं होनेसे अतिव्याप्ति दोष भी संभव नहीं हो सकता है । इसप्रकार सहभूशद्बके द्वारा गुणका निरुपण करके आगे—अन्वयी शद्बद्वारा गुणके स्वरूपका निरुपण करते हैं ।

अन्वय शद्बका निरुक्त्यर्थ ।

अनुरित्यव्युच्छिन्नप्रवाहरूपेण वर्तते यद्वा ।
अयतीत्ययगत्यर्थाद्धातोरन्वर्थतोन्वयं द्रव्यम् ॥ १४२ ॥

अन्वयार्थ — (**वा**) अथवा (**अनु इति**) अनु इस शद्बका यह अर्थ है कि (**यत**) जो (**अव्युच्छिन्नप्रवाहरूपेण**) बीचमें कभी भी स्खलित नहीं होनेवाले प्रवाहसे (**वर्तते**) वर्तरहो हो और (**अयति इति**) अयति यह क्रियापद (**अयगत्यर्थाद्धातोः**) गति अर्थवाली अय धातुका रूप है इसलिए (" **अनु अयति इति अन्वयं** ,,) अव्युच्छिन्न प्रवाह रूपसे जो गमन कर रहा हो वह (**अन्वर्थत**) अन्वर्थकी अपेक्षासे (**अन्वयं द्रव्यं**) अन्वय शद्बका अर्थ द्रव्य है ।

भावार्थ — द्रवति गच्छति तान् तान् पर्यायान इति द्रव्यं अर्थात जो सदैव अपनी उत्तरोत्तर होनेवाली पर्यायोमे गमन करे वह द्रव्य है। अन्वय शद्ब अनु उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक अय धातुसे बना है। द्रव्यकी उक्त व्युत्पत्ति, अन्वय शद्बमें अच्छीतरहसे घट जाता है। जैसे अनु-अव्युच्छिन्न प्रवाहरूपसे जो अपनी प्रतिसमय होनेवाली पर्यायोमे बराबर अयति–गमन करता हो उसे अन्वय कहते हैं। इसलिए अन्वय और द्रव्य ये दोनों पर्याय वाचक शद्ब है।

अन्वय शद्बके समानार्थक शद्ब।

सत्ता सत्त्वं सद्वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु।
अर्थो विधिरविशेषादेकार्थवाचका अमी शद्बाः ॥ १४३ ॥

अन्वयार्थ — (**सत्ता**) सत्ता (**सत्त्वं**) सत्व (**वा**) अथवा (**सत्**) सत् (**सामान्यं**) सामान्य (**द्रव्यं**) द्रव्य (**अन्वयः**) अन्वय (**वस्तु**) वस्तु (**अर्थः**) अर्थ और (**विधिः**) विधि (**अमी शद्बा**) ये नौ शद्बा (**अविशेषात्**) सामान्य रूपसे (**एकार्थवाचकाः**) एक द्रव्यरूप अर्थके ही वाचक हैं।

भावार्थ — वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। और एकशद्बसे एक धर्मकाही कथन किया जाता है। इसलिए भिन्न २ धर्मोंके कथनकी अपेक्षासे एकही अर्थके नानापर्यायवाचक शद्ब कहे जाते है। द्रव्यको, सत् गुणकी मुख्यतासे सत् सत्ता तथा सत्व इन शद्बोसे कहते हैं। द्रव्य स्वभावसे परिणमनशील है। प्रतिसमय उसमें कुछ न कुछ परिणमन होताही रहता हैं। किन्तु द्रव्य अपने द्रव्यत्वको कभी नहीं छोडता हैं। वह सदैव उन सब परिणमनोंमे अव्युच्छिन्न प्रवाह रूपसे प्रवाहितही रहता हैं। अत इस धर्मकी अपेक्षासे गति अर्थवाली द्रुधातुसे द्रव्य, अनु उपसर्ग पूर्वक 'अय, धातुसे और अन्वय ऋ धातुसे-अर्थशद्ब बना है। तथा इन तीनोंही शद्बोंके द्वारा द्रव्यका कथन किया जाता हैं।

व्याप्य धर्मको विशेष और व्यापकधर्मको सामान्य कहते है। उक्त द्रव्यके वाचक द्रव्यत्व किंवा सत्ता व सत्व आदि सबही धर्म, द्रव्यकी उत्तरोत्तर होनेवाली सर्व पर्यायोंमें व्यापक रूपसे पाये जाते है। इसलिए द्रव्यको सामान्य कहते है। सामान्य विधिरूप होता है। और वह सामान्य भी द्रव्यका वाचक है। अतएव द्रव्यको विधि भी कहते हैं।

प्रत्येक द्रव्यमें एक वस्तुत्व गुण हैं जिसके कि निमित्तसे द्रव्योंमें कुछ न कुछ अर्थक्रियाकारित्व होताही रहता है। इसलिए इस गुणकी अपेक्षासे द्रव्यको वस्तु कहते हैं।

अन्वयी शब्दका विग्रह तथा वाच्यार्थ।

अयमन्वयोस्ति येषामन्वयिनस्ते भवंति गुणवाच्याः।
अयमर्थो वस्तुत्वात् स्वतः सपक्षा न पर्ययापेक्षाः॥ १४४॥

अन्वयार्थः— (**अयं अन्वयः**) यह अन्वय (**येषां अस्ति**) जिनका है। (**वे**) वे (**गुणवाच्या**) गुण शब्दसे कहे-जानेवाले (**अन्वयिनः**) अन्वयी कहलाते हैं (**अयं अर्थ**) सारांश यह है कि वे गुण (**वस्तुत्वात्**) वस्तुत्वरूपसे (**स्वतः सपक्षाः**) स्वयं एक दूसरेके सपक्ष है (**पर्यायापेक्षाः न**) पर्यायोंकी अपेक्षा रखनवाले नहीं है।

भावार्थ — प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त गुण हैं। उनके समुदायका नामही द्रव्य है। उन सब गुणोंका परस्परमें सपक्षभाव है। विपक्षभाव नहीं है। इसलिए वे सब सहभावी है। भेद दृष्टिसे नाना और अभेद दृष्टिसे एक है। किसी गुणकी मुख्यतासे कथन करते समय शेष गुणोंका भी गौण रूपसे कथन हो जाता है। जैसे द्रव्यकी सत् कहनेसे सतके द्वारा ही उसके सपक्षभूत द्रव्यके अनन्त गुणोंका कथन होजाता है पर्यायोंके साथ गुणोकी यह अपेक्षा नहीं रहती है। क्योंकि गुण युगपत्वर्ती होते है तथा पर्यायें क्रमवर्ती होती है। इसलिए गुणोंमें परस्पर सपक्षपना हैं और पर्यायोंमें विपक्षपना है। अत एव अन्वय जिनमें हो उनको गुण कहते है। यह कहा है।

शंका।

ननु च व्यतिरेकित्वं भवतु गुणानां सदन्वयत्वेपि।
तदनेकत्वप्रसिद्धौ भावव्यतिरेकतः सतामिति चेत्॥ १४५॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (सतां गुणानां सदन्वयत्वे अपि) स्वतः सत् रूप गुणोंमें सत् सत् यह अन्वय बराबर रहते हुए भी अर्थात् गुणोंमें अन्वयित्व घटते हुए भी (तदनेकत्व प्रसिद्धौ) उनमें अनेकताकी प्रसिद्धि होनेपर (भावव्यतिरेकतः) भावव्यतिरेक हेतुक (व्यतिरेकित्वं) व्यतिरेकत्व होना चाहिए (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो।

भावार्थ— जब गुण अनन्त हैं तो उनमें परस्पर भावव्यतिरेक घट जानेसे व्यतिरेकीपना भी क्यों न माना जाय ?

समाधान।

तन्न यतोस्ति विशेषो व्यतिरेकस्यान्वयस्य चापि यथा।
व्यतिरेकिणो ह्यनेकेप्येकः स्यादन्वयी गुणो नियमात् ॥ १४६ ॥

अन्वयार्थः— (तन्न) यह कथन ठीक नहीं है (यत) क्योंकि (अन्वयस्य) अन्वयका (अपि च) और (व्यतिरेकस्य) व्यतिरेकका (विशेषः अस्ति) परस्परमें भेद है (यथा) जैसे (नियमात्) नियमसे (व्यतिरेकिणः) व्यतिरेकी (अनेके) अनेक होते है (अपि) और (हि) निश्चयसे (अन्वयी) अन्वयी (गुणः) गुण (एकः स्यात्) एक होता है।

भावार्थः— द्रव्य क्षेत्र काल और भावके भेदसे व्यतिरेक चार प्रकारका होता है। व्यतिरेकी नियमसे अनेक तथा अन्वयी एक होता है अर्थात् पर्यायोंमें जिसप्रकार नानात्व-व्यतिरेकित्व है उसप्रकार गुणोंमें नानात्व नहीं है। इसलिए गुणोंमें भाव व्यतिरेक नहीं घटता है। इसीको दर्शानके लिए चारों व्यतिरेकोंका स्वरूप बताते है।

देश व्यतिरेकका स्वरूप।

स यथा चैको देशः स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः।
सोऽपि न भवति स देशो भवति स देशश्च देशव्यतिरेकः ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थ.— (**यथा**) जैसे (**स च एकोदेशः**) विवक्षित वह एक देश (**सभवति**) वह ही होता है (**अन्य न भवति**) उससे भिन्न दूसरा नहीं होसकता है (**च**) और (**सःअन्य अपि**) वह दूसरा भी (**सोऽपिन भवति**) पहला नहीं होसकता है किन्तु (**सःदेश**) वह देश (**स देशश्चभवति**) वह देश, ही होता है (**इति**) इसे (**देशव्यतिरेकः**) देशव्यतिरेक कहते है।

भावार्थ — " अशकल्पन पर्याय. " अश की कल्पनाको पर्याय कहते हैं। वह अंश कल्पना द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षासे की जाती है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल तथा स्वभाव इनसबके समुदायका नाम देश है। देशकी अपेक्षासे जो व्यतिरेक होता है वह एक द्रव्यसे दूसरे द्रव्यके साथ होता है। जैसे जीवद्रव्य, पुद्गल द्रव्य नहीं हो सकता है। पुद्गल द्रव्य, जीवद्रव्य नहीं हो सकता है। किन्तु जीव, जीवही होता है। और पुद्गल, पुद्गलही होता है इस प्रकार एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ जो अत्यन्ताभाव है उसे देशव्यतिरेक कहते है।

क्षेत्र व्यतिरेकका स्वरूप।

अपि यश्चैको देशो यावदभिव्याप्य वर्तते क्षेत्रम्।
तत्तत्क्षेत्रं नान्यद्भवाति तदन्यश्च क्षेत्रव्यतिरेकः ॥ १४८ ॥

अन्वयार्थ.— (**अपि च**) अथवा (**य**) जो (**एको देशः**) एक देश (**यावत् क्षेत्रं**) जितने-क्षेत्रको (**अभिव्याप्य**) रोक करके (**वर्तते**) रहता है (**तत्**) वह (**तत्क्षेत्रं**) उस देशका-द्रव्यका क्षेत्र है (**अन्यत् न भवति**) और अन्यक्षेत्र उसका क्षेत्र नहीं होसकता है किन्तु (**तदन्यश्च** ' **तदन्य.** ') दुसरा, दूसराही रहता है। पहला नहीं (' **इति** ' **क्षेत्र व्यतिरेकः**) यह क्षेत्र व्यतिरेक है।

भावार्थः— यह क्षेत्र व्यतिरेक दो प्रकारसे घटता है। १–जितने आकाशके प्रदेशोंमें द्रव्य रहता है उतने प्रदेशोंके आकार द्रव्यकी कल्पनाको क्षेत्र कहते हैं। आकाशको नहीं अतः प्रत्येक द्रव्यका क्षेत्र पृथक २ है। जो जिस द्रव्यका क्षेत्र हैं वह उसीका है। दूसरेका नहीं। जो दूसरेका है वह उसीका है अन्यका नहीं। इस तरह परस्पर क्षेत्रके

व्यतिरेकको क्षेत्रव्यतिरेक कहते हैं। २-बहुप्रदेशी द्रव्योंमें प्रत्येक द्रव्यके प्रदेशोंमें भी परस्परमें क्षेत्र व्यतिरेक घटाया जाता है।

जैसे जीव द्रव्यका विवक्षित प्रदेश, विवक्षित प्रदेशही होगा अन्य नहीं होसकता है। और जो अन्य प्रदेश है वह वहीं होगा अन्य नहीं होसकता है। इसप्रकार जीवके लोक बराबर प्रदेशोंमें परस्पर एक प्रदेशका दूसरे, और दूसरेका तीसरे, आदिमें जो व्यतिरेक है उसे क्षेत्रव्यतिरेक कहते हैं। जीव द्रव्यकी तरह अन्य अस्तिकाय द्रव्योंमें भी ऐसेही घटाना चाहिये। केवल कालद्रव्य एकप्रदेशी है। इसलिए उसमें यह व्यतिरेक इस अपेक्षासे नहीं घटता है। किन्तु पहली शैलीसे घटता है।

कालव्यतिरेकका स्वरूप।

अपि चैकस्मिन् समये यकाप्यवस्था भवेन्न साप्यन्या।
भवति च सापि तदन्या द्वितीयसमयेपि कालव्यतिरेकः॥ १४९॥

अन्वयार्थः— (अपिच) तथा (एकस्मिनसमये) एक समयमें (यकाऽपि) जो भी (अवस्था-भवेत) अवस्था होती है (सापि) वहभी (अन्या न) अन्य नहीं हो सकती है किन्तु वह वही रहती है (च) और (द्वितीयसमयेऽपि) दूसरे समयमें भी ('या') जो अवस्था होती है (साऽपि) वहभी (तदन्या भवति) उससे अन्य ही होती है पहली नहीं ('इति') इसे (कालव्यतिरेकः) कालव्यतिरेक कहते हैं।

भावार्थ — प्रतिसमयमें होनेवाली द्रव्यकी अवस्थाके व्यतिरेकको कालव्यतिरेक कहते हैं। जैसे विवक्षित समयमें जो द्रव्यकी अवस्था है वह उसीही समयमें रहती है। दूसरे समयमें नहीं। और दूसरे समयमें होनेवाली जो अवस्था है वह भी उसीही समयमें होती है। उससे भिन्न समयमें नहीं। इसीको कालव्यतिरेक कहते हैं।

भावव्यतिरेकका स्वरूप।

भवति गुणांशः कश्चित् स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः।

सोऽपि न भवति तदन्यो भवति तदन्योपि भावव्यतिरेकः ॥ १५० ॥

अन्वयार्थ — ('य') जो (**कश्चित्**) कोई एक (**गुणांशः**) गुणका अविभागी प्रतिच्छेद है ('**सः**') वह (**स भवति**) वहही होता है (**अन्यः नभवति**) अन्य नहीं हो सकता है (**च**) और (**स अन्यः अपि**) वह दूसराभी (**सोऽपिनभवति**) वह पहलाभी नहीं हो सकता है (**अपि**) किन्तु (**तदन्यः**) जो उससे भिन्न है वह (**तदन्यः भवति**) उससे भिन्नही रहता है।

भावार्थ — प्रत्येक गुणमें अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं। उन अविभागी प्रतिच्छेदोंमे परस्पर होनेवाले व्यतिरेकको भावव्यतिरेक कहते हैं। जैसे–किसी गुणका जो विवक्षित अविभागी प्रतिच्छेद है वह वहही रहता है अन्य नहीं। और जो दूसरा है वह दुसराही रहता है। वह पहला नहीं हो सकता है। ऐसे अविभागी प्रतिच्छेदोंके व्यतिरेकको भाव-व्यतिरेक कहते हैं।

पूर्वोक्त व्यतिरेकके न माननेमें दोष।

यदि पुनरेवं न स्यात्स्यादपि चैवं पुनः पुनः सैष ।
एकांशदेशमात्रं सर्वं स्यात्तन्न वाधितत्वात्प्राक् ॥ १५१ ॥

अन्वयार्थः— (**यदिपुनः एवं न स्यात्**) यदि उनमे इस प्रकारका व्यतिरेक नहीं माना जायगा तो (**पुनः पुनः अपि**) वारवारभी (**सैषः**) वह यही है वह यही है (**एवंच**) इस प्रकारका (**'प्रत्ययः' स्यात्**) प्रत्यय होने लगेगा इसलिए (**सर्वं**) सम्पूर्णवस्तु (**एकांशदेशमात्रं स्यात्**) एक अंशवाली सिद्ध हो जायगी परन्तु (**प्राक्वाधितत्वात्**) पहले एकांश वस्तुका मानना वाधित सिद्ध होनेसे (**तत् न**) वह ठीक नहीं है।

भावार्थः— गुणोंके समुदायको वस्तु कहते है। यदि गुणोंके अविभागी प्रतिच्छदोंमें व्यतिरेक नहीं माना जायगा तो गुणोंमें नाना अंश सिद्ध नहीं होंगे। और नाना अंश सिद्ध न होनेसे, गुण समुदायात्मक वस्तु भी एकांशमात्रही सिद्ध होगी तथा वस्तुके एकांश मात्र सिद्ध होनेसे, पंचास्तिकायोंमें कायत्व सिद्ध नहीं होगा और कायत्व

सिद्ध नहीं होनसे द्रव्योंमें महत्त्व अमहत्व भी नहीं घन सकेगा । इसलिए इस अनिष्ट प्रसंगके निवारण करनेके लिए भावव्यतिरेकका मानना युक्तियुक्त है । इसीप्रकार शेष तीन व्यतिरेक भी न माननेसे सब द्रव्य एक द्रव्यरूप, एक प्रदेशी, और एक समयवर्ती, सिद्ध होंगे । जो कि वाधित है ।

अत व्यतिरेकित्वकी अपेक्षासे अनेकत्वकी सिद्धि होती है और इसही अपेक्षाके कारण वस्तु कथञ्चित अनेक रूप मानी है । इसप्रकारसे व्यतिरेकी अनेक होते हैं। किन्तु अन्वयके निरूपण करते समय यह विवक्षा नहीं होती है । इसलिए पर्यायोंकी तरह गुणोंमें व्यतिरेकित्व नहीं है । इसी अभिप्रायको आगेके पद्योंसे प्रगट करने हैं ।

सारांश ।

अयमर्थः पर्यायाः प्रत्येकं किल यथैकश प्रोक्ताः ।
व्यतिरेकिणो ह्यनेके न तथाऽनेकत्वतोऽपि सन्ति गुणाः ॥ १५२ ॥

अन्वयार्थ — [अयं अर्थः] सारांश यह है कि [यथा] जैसे [एकशःप्रोक्ताः] क्रमपूर्वक कहीं जानेवालीं [किल] निश्चयसे [प्रत्येकं पर्याया] प्रत्येक पर्यायें [हि] जिस कारणसे [अनेके] अनेक है इसी लिए वे [व्यतिरेकिणः] व्यतिरेकी हैं किन्तु [गुणाः] गुण [अनेकत्वतोऽपि] अनेक हैं तोभी [तथा न सन्ति] व्यतिरेकी नहीं है ।

भावार्थः— जिसप्रकारसे भिन्न समयवर्ती पर्यायें एक २ हो करके अनेक हैं । और यह अमुक है, अमुक नहीं है इस प्रकारका उनमे व्यतिरेक घटता है । इसलिए वे व्यतिरेकी हैं । उसप्रकार गुणोंमें क्रम पूर्वक अनेकता नहीं है । जिससमय जीव द्रव्यको ज्ञानमुखसे कहते हैं उससमय शेषगुण, ज्ञानगुणके कथनमेंही गर्भित होजाते हैं । वह सम्पूर्ण जीव ज्ञानमयही प्रतीत होता है । उससमय उसमें ज्ञान भिन्न, शेष गुणोंकी भिन्न प्रतीतिका अभाव होजाता है । तथा जिस समय अन्यव्यक्ति द्वारा, व उसी व्यक्ति द्वारा, भिन्नसमयमें सुखगुणकी मुख्यतासे, जीवका स्वरूप निरुपण किया जाता है। उस समय ज्ञानादिक गुण, सुखरूपसे प्रतिभासित होतें है। अत ज्ञानका और सुखादिकका अभेद होनेसे उनमें

परस्पर भावव्यतिरेक नहीं हैं। किन्तु उनके अविभाग प्रतिच्छेदोंमे जो परस्पर व्यतिरेक है उसे भाव व्यतिरेक कहते हैं। इसलिए विवक्षावश गुणोंमें, अनेकताके रहते हुएभी, वह अनेकता पर्यायों कैसी नहीं होनेके कारण, व्यतिरेकित्व नहीं है। अब आगे – गुणोंमें अन्वयीपना दृष्टान्तद्वारा सिद्ध करते है।

किन्त्वेकश स्वबुद्धौ ज्ञानं जीवः स्वसर्वसारेण।
अथ चैकश स्वबुद्धौ दृग्वा जीवः स्वसर्वसारेण ॥ १५३ ॥

अन्वयार्थः— (**किन्तु**) किन्तु (**एकशः**) एकबार (**स्वबुद्धौ**) अपनी बुद्धीमें (**ज्ञानं**) यदि ज्ञानगुण आया तो वह ज्ञानगुण ही (**स्वसर्वसारेण**) अपने सम्पूर्ण साररूपसे (**जीवः**) जीव है (**अथ च**) अथवा (**एकशः**) किसी एकबार (**स्वबुद्धौ**) अपनी बुद्धिमें (**दृग्वा**) यदि दर्शन गुण ही विवाक्षित हुवा तो वह दर्शन गुण ही (**स्वसर्वसारेण**) अपने सम्पूर्ण साररूपसे (**जीव**) जीव है।

भावार्थः—किन्तु जिससमय बुद्धिमें ज्ञानस्वरूपसे जीवका प्रतिभास होता है उससमय वह जीव सब स्वरूपसे ज्ञानमयही प्रतिभासित होता है। तथा दर्शनरूप प्रतिभासके समय केवल दर्शनमयही प्रतिभासित होता है।

तत एव यथाऽनेके पर्याया सैष नेति लक्षणतः।
व्यतिरेकिणश्च न गुणास्तथेति सोऽयं न लक्षणाभावात् ॥ १५४ ॥

अन्वयार्थः— (**तत एव**) इस कारणसे ही (**यथा**) जैसे (**सैष न**) वह यह नहीं है। (**इति लक्षणतः**) इस प्रकारके लक्षणसे (**पर्यायाः**) पर्यायें (**अनेके**) अनेके (**च**) और (**व्यतिरेकिणः**) व्यतिरेकी है। वैसे (**सः अयं न**) वह यह नहीं है (**इति**) इस प्रकार (**लक्षणाभावात**) व्यतिरेकके लक्षणके अभावसे (**गुणाः**) गुण (**तथा न**) व्यतिरेकी नहीं है।

भावार्थः— ज्ञानरूप जीवके प्रतिभासके समय, दर्शनादिक अन्य गुणोंका भिन्न प्रतिभास न होनेके कारण 'सैषः न', यह व्यतिरेकका लक्षण गुणोंमें नहीं जाता है इसलिए वे गुण, पर्यायोंके समान व्यतिरेकी नहीं है।

गुणोंमें व्यतिरेका भावका स्वरूप।

तल्लक्षणं यथा स्याज्ज्ञानं जीवो य एव तावांश्च ।
जीवो दर्शनमिति वा तदभिज्ञानात् स एव तावांश्च ॥ १५५ ॥

अन्वयार्थ— (**तल्लक्षणं यथा**) उसका लक्षण अर्थात् गुणोंमें भावव्यतिरेकका अभाव इस प्रकार है जैसे कि (**य एव च यावान् जीवः ज्ञानं**) जो ही और जितनाही जीव ज्ञान है (**स एव च तावान् जीव**) वही तथा उतनाही जीव (**तदभिज्ञानात्**) एकत्व प्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे (**दर्शनं इति वा**) दर्शन यह भी है।

भावार्थः— केवल विवक्षावश ज्ञानमें अनेकत्व है। जिससमय बुद्धिसे जीवमें ज्ञानका प्रतिभास होता है उससमय शेष गुण भी गौण रूपसे, ज्ञान गुण द्वारा निरूपित होते हैं मुख्यतासे नहीं। इसलिए सम्पूर्ण जीव, केवल, ज्ञानरूप वाच्य पडता है। और जिस समय दर्शन गुण विवक्षित होता है उस समय वही जीव दर्शन रूपसे विवक्षित होनेके कारण दर्शन गुण मुख्य तथा ज्ञानादि गुण गौण पडते हैं। अर्थात् दर्शन मुखेन प्रतिमासित होते हैं। इसलिए जो ही तथा जितना भी जीव ज्ञान कहा गया था वही और उतनाही दर्शन रूपसे विवक्षित होनेके कारण दर्शन है। अतः उनमें एकत्व प्रत्यभिज्ञान घट जानेसे शंकाकारके उक्त कथन कि जब ज्ञान दर्शनादिक गुणोंमें भाव व्यतिरेकके घटनेकी संभावना है तब उनमें व्यतिरेकित्व होना चाहिये-का निराकरण होजाता है।

यही क्रम शेष गुणोंमें भी लगाना चाहिये।

एष क्रमः सुखादिषु गुणेषु वाच्यो गुरुपदेशाद्वा ।
यो जानाति स पश्यति सुखमनुभवतीति स एव हेतोश्च ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थः— (**गुरूपदेशात्**) गुरूके उपदेशसे (**एष क्रमः**) यह क्रम (**सुखादिषु गुणेषुवा**) सुखादिक गुणोंमें भी (**वाच्यः**) वक्तव्य है क्योंकि (**यः जानाति**) जो जानता है (**सः पश्यति**) वही देखता है और (**स एव**) वह ही (**सुखं अनुभवति**) सुखका अनुभव करता है (**इति हेतोश्च**) इस हेतुसे भी सुखा-

दिक गुणों में अभेद सिद्ध होता है।

भावार्थ — पर्यायें क्रमवर्ती हैं। भिन्न २ समयमें उनकी भिन्न २ अवस्थाऐं होती हैं इसलिए उनमें 'सैषः न, यह व्यतिरेकका लक्षण घट जाता है जिस प्रकारसे भिन्न समयवर्ती होनेसे पर्यायें नाना हैं। उस प्रकारसे गुण नाना नहीं हैं केवल द्रव्यमें अनेक कार्य देखेजानेसे अनेक गुण माने जाते है। जैसे आत्मा जानता है इसलिए ज्ञान गुणवाला, देखता है इसलिए दर्शन गुणवाला और सुखादिकका अनुभवन करता है इसलिए सुखादिक गुणवाला कहा जाता है। किन्तु गुणोंमें परस्पर व द्रव्यके माथ भिन्न सत्तावर्तित्व तथा भिन्न समय वर्तित्व नहीं है। जीव जितनाही ज्ञान है उतनाही दर्शन तथा सुख है। जैसे ज्ञानका जीवके साथ अभेद है। वैसेही दर्शनादिकके साथ भी अभेद है। इस कथनसे ज्ञान व दर्शन भिन्न भिन्न सिद्ध नहीं हो सकते है। तथा जो जानता है वही देखता है और वही सुखादिकका अनुभवन करता है इस युक्तिसे भी ज्ञानादिक गुणोका परस्परमें अभेद सिद्ध होता है। इस लिए शंकाकारका जो यह आभिप्राय था कि ज्ञान और दर्शनादिकमें "सैष न" यह व्यतिरेकका लक्षण घट जानेसे उन्हें व्यतिरेकी मानना चाहिये सो उसके समाधानमें ग्रन्थकारने उक्त भाव व्यतिरेकका लक्षण बताया है कि गुणों के अविभागी प्रतिच्छेदोंमें रहनेवाले व्यतिरेकको भाव व्यतिरेक कहते हैं। किन्तु ज्ञान और दर्शनादिकमें 'सैषः न' यह व्यतिरेकका लक्षण न घट सकनेके कारण, व्यतिरेकित्व आही नहीं सकता है। क्योकि जब जीवकी ज्ञानमुखेन विवक्षा करते हैं तब वह सर्वस्व सारसे ज्ञानमयही प्रतित होता है। उस समय उसके दर्शनादिक गुणोंकी गौणता रहती है। और द्रव्यके साथ जैसे गुण अभिन्न है वैसेही आपसमे भी वे गुण आभिन्न है इसलिए उनमे व्यतिरेकीपना नही है। दूसरे व्यतिरेकित्व, मुख्य मुख्य दो विवक्षाओंमेंही हुआ करता है। गुण व मुख्यमें नहीं होता है। अतः जिसप्रकार भिन्न द्रव्य, भिन्नक्षेत्र, भिन्नकाल, और भिन्न अविभागी प्रतिच्छेदोंमें व्यतिरेकित्व घटता है। उस प्रकारकी भिन्नता ज्ञानादि गुणोंमें नहीं होनेसे, गुणोंमें व्यतिरेकित्व नहीं है। अतः गुरुपदेशसे तथा युक्तिसे गुणोंमें अभेदकी सिद्धि होनेसे व्यतिरेकित्व नहीं मानना चाहिए।

अर्थ शद्ब यौगिक रीतिसेही गुणका वाचक है।

अथ चोद्दिष्टं प्रागप्यर्था इति संज्ञया गुणा वाच्याः।
तदपि न रूढिवशादिह किन्त्वर्थाद्यौगिकं तदेवेति ॥ १५७ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ च प्राक् उद्दिष्टं**) तथा पहले जो यह कहा गया था कि (**गुणाः अर्थाः इति संज्ञया वाच्या**) गुण अर्थ इस नामसे कहनेके योग्य हैं अर्थात् अर्थ गुणका नाम है (**तदपि**) सो वह कथन भी (**इह**) यहांपर (**रूढिवशात् न**) रूढि वशसे नहीं है (**किन्तु**) किन्तु (**अर्थात्**) परमार्थसे – वास्तवमें (**तत् यौगिकं एव इति**) वह वक्ष्यमाण प्रकारसे यौगिक ही है।

भावार्थः—गुणके पर्यायवाचक शद्बोंमें अर्थ शद्बका भी पाठ है। और अर्थ शद्बका गुण यह अर्थ रूढीसे नहीं है किन्तु यौगिक ही है। जैसे कि।

अर्थ शद्बकी निरुक्ति।

स्यादृगताविति धातुस्तद्रूपोऽयं निरुच्यते तज्ज्ञैः।
अस्त्यर्थोनुगतार्थादनादिसन्तानरूपतोऽपि गुणः ॥ १५८ ॥

अन्वयार्थः— (**गतौ ऋ इति धातुः स्यात्**) गति अर्थमें ऋ यह एक धातु है और (**अयं**) अर्थ यह शद्ब (**तद्रूपः**) उस धातुका रूप है ऐसा (**तज्ज्ञैः**) वैयाकरणोंके द्वारा (**निरुच्यते**) कहा जाता है तथा (**अनादिसन्तानरूपतः**) अनादिसन्तानरूप (**अनुगतार्थात् अपि**) अनुगत अर्थसे भी (**अर्थः**) अर्थ शद्बका अर्थ (**गुण**) गुण (**अस्ति**) होता है।

भावार्थः— अर्थ शद्बकी यह व्युत्पत्ति है कि 'ताँस्तान् पर्यायान् इयर्तीति अर्थः' अर्थात् अपनी उन २ पर्यायोंको जो प्राप्त हो वह अर्थ है। गत्यर्थक ऋ धातुके इस निरुक्त्यर्थसे, तथा अनादिसन्तानरूपसे जो द्रव्य के साथ चला आ रहा हो वह अर्थ है, इस पारिभाषिक अर्थसे भी, अर्थ शद्ब, गुणका वाचक है।

सारांश।

अयमर्थः सन्ति गुणा अपि किल परिणामिनः स्वतः सिद्धाः।
नित्यानित्यत्वादप्युत्पादादित्रयात्मकाः सम्यक् ॥ १५९ ॥

अन्वयार्थ — (**अयं अर्थः**) सारांश यह है कि (**किल**) निश्चयसे (**गुणाः**) गुण (**स्वतः सिद्धा**) स्वयंसिद्ध है (**अपि**) और (**परिणामिनः**) परिणामी भी (**सन्ति**) हैं इसलिये वे (**नित्यानित्यत्वात्**) नित्य और अनित्यरूप होनेसे (**सम्यक्**) भले प्रकार (**उत्पादादित्रयात्मका अपि**) उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यात्मक भी हैं।

भावार्थः— अनादि सन्तान रूपसे जो द्रव्यके साथ अनुगमन करें वह गुण हैं। यहांपर अनादि, विशेषणसे स्वयंसिद्ध, सन्तानरूप, विशेषणसे परिणमनशील, और अनुगतार्थ, विशेषणसे सदैव द्रव्यके साथ रहनेवाला, ऐसा अर्थ सिद्ध होता है।

सारांश यह है कि प्रत्येक द्रव्यके गुण स्वयंसिद्ध और सदैव द्रव्यके साथ रहनेवाले हैं इसलिए तो वे नित्य—ध्रौव्यात्मक कहे जाते है। और प्रतिसमय परिणमनशील है इसलिए वे अनित्य व उत्पादव्ययात्मक भी कहे जाते हैं। इस प्रकारसे संपूर्ण गुण, उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यात्मक है।

गुणोंकी विशेषता।

अस्ति विशेषस्तेषां सति च समाने यथा गुणत्वेपि।
साधारणास्त एके केचिदसाधारणा गुणाः सन्ति॥ १६०॥

अन्वयार्थः— (**तेषां**) उन गुणोंमें (**च**) फिर भी (**विशेषः अस्ति**) यह अन्तर है कि (**यथा**) जैसे (**गुणत्वे समाने सति अपि**) गुणत्व सामान्य रहनेपर भी (**ते**) वे (**एके साधारणाः**) कोई तो साधारण गुण और (**केचिदसाधारणाः**) कोई असाधारण (**गुणाः सन्ति**) गुण होते हैं।

भावार्थः— यद्यपि गुणत्व सामान्यकी अपेक्षासे सब गुण एक हैं अर्थात् किसी भी गुणमें अन्तर नहीं है तो भी जो गुण विशेष २ द्रव्य सम्बन्धी हैं वे असाधारण गुण कहलाते हैं। और जो गुण, सब द्रव्योंमें सामान्य रूप से पाये जाते हैं वे साधारण गुण कहलाते हैं।

सामान्य और विशेष गुण ।

साधारणास्तु यतरे ततरे नाम्ना गुणा हि सामान्याः ।
ते चाऽसाधारणका यतरे ततरे गुणा विशेषाख्याः ॥ १६१ ॥

अन्वयार्थः— (**तु**) किन्तु उनमें (**यतरे**) जितने (**साधारणाः**) साधारण गुण हैं । (**ततरे**) उतने–वे सब (**हि**) निश्चय करके (**नाम्ना**) नामसे (**सामान्याः गुणा**) सामान्य गुण हैं (**च**) और (**यतरे**) जितने (**ते**) वे (**असाधारणकाः**) असाधारण हैं (**ततरे**) उतने–वे सब (**विशेषाख्याः गुणा**) विशेष गुण हैं ।

भावार्थ — जो साधारण गुण है उन्हें सामान्य गुण कहतें हैं और जो असाधारण गुण हैं उन्हें विशेष गुण कहते हैं ।

सामान्य तथा विशेष गुणोंका प्रयोजन ।

तेषामिह वक्तव्ये हेतुः साधारणैर्गुणैर्यस्मात् ।
द्रव्यत्वमस्ति साध्यं द्रव्यविशेषस्तु साध्यते त्वितरैः ॥ १६२ ॥

अन्वयार्थ — (**इह**) यहांपर (**तेषां वक्तव्ये**) उन गुणोंकी विशेषताके कहनेमें (**हेतुः**) प्रयोजन यह है कि (**यस्मात्**) जिसकारणसे (**साधारणै गुणैः तु**) साधारण गुणोंके द्वारा तो (**द्रव्यत्वं साध्यं अस्ति**) केवल द्रव्यत्व सिद्ध किया जाता है (**तु**) और (**इतरैः**) विशेष गुणोंके द्वारा (**द्रव्यविशेष**) द्रव्यविशेष (**साध्यते**) सिद्ध किया जाता है ।

भावार्थ — गुण समुदायरूप पदार्थ, सामान्य विशेषात्मक है । जो गुण सब द्रव्योंमें पाये जातें है । उन्हें साधारण गुण कहते हैं । जैसे आस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्वादि । इन साधारण गुणोंके द्वारा द्रव्यमें केवल द्रव्यपना सिद्ध होता हैं ।

उदाहरण ।

संदृष्टिः सदिति गुणः स यथा द्रव्यत्वसाधको भवति ।
अथ च ज्ञानं गुण इति द्रव्यविशेषस्य साधको भवति ॥ १६३ ॥

अन्वयार्थः— (**सन्दृष्टि**) उदाहरण यह है कि (**यथा**) जैसे (**सत् इति गुण.**) सत् यह जो सामान्य गुण है (**स**) वह (**द्रव्यत्वसाधको भवति**) केवल द्रव्यपनेका साधक है [**अथ च**] और [**ज्ञानं इति गुणः**] ज्ञान जो यह विशेष गुण [**द्रव्यविशेषस्य साधको भवति**] सो द्रव्य विशेष-आत्मद्रव्य का साधक है।

भावार्थः— जैसे प्रत्येक द्रव्यमें सामान्यरूपसे सत पाया जाता है इसलिए सत् गुणके द्वारा यदि द्रव्य लक्ष्य बनाया जावे, और सत् उसका लक्षण किया जावे तो द्रव्य सामान्य, सिद्ध होता है। उससे जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य आदि विशेष द्रव्य सिद्ध नहीं होते है। वैसेही यदि जीव, लक्ष्य बनाया जाय, तथा ज्ञान उसका लक्षण, किया जावे, तो ज्ञान यह असाधारण गुण है। इसलिए उसके द्वारा विशेष द्रव्य अर्थात् जीवादिक द्रव्य सिद्ध होते है। सामान्य द्रव्य नहीं।

उपसंहार ।

उक्तं हि गुणानामिह लक्ष्यं तल्लक्षणं यथाऽगमतः ॥ १६४ ॥
सम्प्रति पर्यायाणां लक्ष्यं तल्लक्षणं च वक्ष्यामः ॥ १६४ ॥

अन्वयार्थ— (**इह**) यहांपर [**हि**] निश्चयसे [**यथाऽगमतः**] आगमके अनुसार (**गुणानां**) गुणोंका (**लक्ष्यं**) लक्ष्य और (**तल्लक्षणम्**) उनका लक्षण [**उक्तं**] कहा [**सम्प्रति**] अब [**पर्यायाणां**] पर्यायोंका [**लक्ष्यं**] लक्ष्य [**च**] तथा [**तल्लक्षणं**] उनका लक्षण [**वक्ष्यामः**] कहेंगे।

भावार्थः— इसप्रकार ग्रन्थकार गुणोंके लक्ष्य लक्षणभावका कथन करके आगे अब पर्यायोंके लक्ष्य-लक्षणभावको प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं।

पर्यायोंका स्वरूप।

क्रमवर्तिनो ह्यनित्या अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्यायाः।
उत्पादव्ययरूपा अपि च ध्रौव्यात्मकाः कथञ्चिच्च ॥ १६५ ॥

अन्वयार्थः— [**पर्यायाः**] पर्यायें [**हि**] निश्चयसे [**क्रमवर्तिनः**] क्रमवर्ती [**अथ च**] तथा [**अनित्याः**] अनित्य [**च**] और [**व्यतिरेकिणः**] व्यतिरेकी [**अपि च**] तथा (**उत्पादव्ययरूपाः**) उत्पाद व्ययरूप [**च**] और [**कथञ्चित्**] कथञ्चित् [**ध्रौव्यात्मकाः**] ध्रौव्यात्मक होती हैं।

भावार्थः— जो क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, और कथंचित् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक होतीं हैं उन्हें पर्याय कहते हैं।

तत्र व्यतिरेकित्वं प्रायः प्रागेव लक्षितं सम्यक्।
अवशिष्टविशेषमितः क्रमतः सँलक्षते यथाशक्ति ॥ १६६ ॥

अन्वयार्थ— [**तत्र**] उनमेंसे [**व्यतिरेकित्व**] पर्यायोका व्यतिरेकीपना [**प्राय**] प्राय करके [**प्रागेव**] पहले ही [**सम्यक्**] अच्छी तरहसे [**लक्षितं**] दिखाया गया है इसलिए [**इत**] अब यहांसे आगे [**अवशिष्टविशेषं**] पर्यायोंकी शेष विशेषताओंको [**यथाशक्ति**] अपनी शक्तिके अनुसार [**क्रमत**] क्रमसे [**संलक्ष्यते**] दिखाते हैं।

भावार्थ— पर्यायके स्वरूपको कहने वाले क्रमवर्ती अनित्य, व्यतिरेकी, और कथंचित् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इतने विशेषण है। उनमेंसे व्यतिरेकीपनेका वर्णन पहलेही हो चुका है। अब पर्यायोंके शेष विशेषणोंका ग्रन्थकार यथाक्रमसे वर्णन करते हैं।

क्रमवर्ती शब्दका निरुक्त्यर्थ ।

अस्त्यत्र यः प्रसिद्धः क्रम इति धातुश्च पादविक्षेपे ।
क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेषः ॥ १६७ ॥

अन्वयार्थ — [अत्र] यहांपर [पादविक्षेपे] पैरोंसे गमन करनेरूप अर्थमे [प्रसिद्ध] प्रसिद्ध [य] जो [क्रम इति] क्रम यह [धातु] एक धातु [अस्ति] है [तस्य च] उस धातुका ही [स्वार्थानतिक्रमात्) पादाविक्षेपरूप अपने अर्थको उल्लंघन न करनेमे (क्रमति इति क्रमः) जो क्रमण करे सो क्रम (एषः) यह (रूपः) रूप सिद्ध होता है ।

भावार्थः— पादविक्षेपार्थक क्रमधातुका ' क्रमतीतिक्रमः , क्रमपूर्वक गमन करने अर्थमें क्रम यह शब्द बनता है ।

वर्तन्ते तेन यतो भवितुंशीलास्तथास्वरूपेण ।
यदि वा स एव वर्ती येषां क्रमवर्तिनस्त एवार्थात् ॥ १६८ ॥

अन्वयार्थः— (यतः) जिस कारणसे कि पर्यायें (तेन वर्तन्ते) उस क्रमके साथ रहती है अथवा (तथा स्वरूपेण) उस क्रमरूपसे (भवितुंशीला) भवनशील हैं (यदि वा) अथवा (स एव) वह क्रमही है (वर्ती) वरतानेवाला (येषां) जिनका (त एव) वेही (अर्थात्) अर्थसे (क्रमवर्तिनः) क्रमवर्ती हैं ।

भावार्थः— और जो क्रमके साथ वरतें, क्रमके साथ वरतनरूप स्वभावको धारण करें अथवा क्रमही जिनको उत्पाद व्यय तथा कथंचित् ध्रौव्य रूपसे परिणमाता है इसलिए उन्हें क्रमवर्ती-पर्याय कहते हैं ।

सारांश ।

अयमर्थः प्रागेकं जातं उच्छिद्य जायते चैकः ।

अथ नष्टे सति तस्मिन्नन्योप्युत्पद्यते यथादेशं ॥ १६९ ॥

अन्वयार्थः— (अयं अर्थः) सारांश यह है कि (यथादेशं) द्रव्यत्वको नहीं छोड करके (प्राक्) पहले होनेवाली (एकं जातं) एक पर्यायको (उच्छिद्य) नाश करके (च एकः) और एक अर्थात् दूसरी पर्याय (जायते) उत्पन्न होती है (अथ तस्मिन् नष्टे सति) तथा उसके नाश होनेपर (अपि अन्यः) और अन्य पर्याय उत्पन्न होती है

भावार्थः— क्रमवर्ती शब्दके उक्त निरूक्त्यर्थका सारांश यह है कि प्रत्येक द्रव्यमें द्रव्यत्वको न छोड करके प्रतिसमय पूर्व २ पर्यायके नाश पूर्वक उत्तर २ पर्याय उत्पन्न होतीं रहती है । इस क्रममें कभी भी अन्तर नहीं पडता है । सवही पर्यायें उक्तरूपसे परिणमन करती रहतीं हैं इसलिए इस अपेक्षासे पर्यायोंको क्रमवर्ती कहते हैं ।

व्यतिरेक और क्रमके विषयमें शंका ।

ननु यद्यस्ति स भेदः शब्दकृतोःभवतु वा तदेकार्थात् ।
व्यतिरेकक्रमयोरिह को भेदः पारमार्थिकास्त्वति चेत् ॥ १७० ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (यदि भेदः अस्ति) यदि व्यतिरेक और क्रममें भेद है तो (सः) वह भेद (शब्दकृतो वा) केवल शब्दकृतही (भवतु) होगा, पारमार्थिक नहीं । क्योंकि (तदेकार्थात्) उन दोनोंका एकही अर्थ है इसलिए (इह) यहांपर (व्यतिरेकक्रमयोः तु) व्यतिरेक तथा क्रममें भला (कः) वह कौनसा (पारमार्थिकः) वास्तविक (भेदः) भेद है (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि क्रमवर्ती शब्दका उपर्युक्त निरूक्त्यर्थ है तो व्यतिरेकी और क्रमवर्ती इन दोनों शब्दोका एकही अर्थ होनेसे, इन दोनों शब्दोंके अर्थमें कुछ भी भेद नहीं होना चाहिए और यदि होगा भी, तो वह केवल शब्दकृतही होना चाहिए, अर्थकृत नही है । यदि ऐसा कहो तो ।

समाधान।

तत्र यतोस्ति विशेष सदंशधर्मे द्वयोः समानेपि।
स्थूलेष्विव पर्यायेष्वन्तर्लीनाश्च पर्ययाः सूक्ष्मा ॥ १७१ ॥

अन्वयार्थ — (**तत्र**) वह ठीक नहीं है (**यत**) क्योंकि (**द्वयोः**) व्यतिरेक और क्रम इन दोनोंमे (**सदशधर्मे समाने अपि**) सत्‌का जो अंशरूप धर्म है उसके समान होनेपर भी (**स्थूलेषु सूक्ष्माः इव**) स्थूलोंमे सूक्ष्मकी तरह [**पर्यायेषु च**] स्थूल पर्यायोंमें भी (**पर्यायः**) सूक्ष्म पर्यायें [**अन्तर्लीनाः**] अन्तर्लीन होतीं हैं यह (**विशेष अस्ति**) भेद है।

भावार्थ — शंकाकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि यद्यपि अंशधर्म पर्यायोका लक्षण है। और वह लक्षण व्यतिरेक तथा क्रम दोनोंमेंही घटता है तथापि जिस प्रकार इन्द्रियगोचर नरनारकादिरूप स्थूल पर्यायोमें, प्रति समयगत–इन्द्रियगोचर नहीं होनेवालीं, सूक्ष्मपर्यायें गार्भित रहती हैं। उसी प्रकार परस्पराभावरुप, व्यतिरेक लक्षणवालीं स्थूल पर्यायोंमें भी, प्रतिसमय क्रमपूर्वक होनेवाली, सूक्ष्मपर्यायें गर्भित रहतीं हैं। अर्थात् स्थूल पर्यायोंमे यह देव है मनुष्य नहीं है, इत्याकारक, परस्पराभाव–व्यतिरेकसम्बन्धी अंशधर्मकी अपेक्षाके पाये जानेसे, पर्यायोंको व्यतिरेकी कहते है। और देव व मनुष्य पर्यायमें प्रति समय मक्रपूर्वक होनेवाले, उस सूक्ष्म परिणमन, जिसमें कि परस्पराभाव व्यतिरेक, घटाया नहीं जाता है। किन्तु केवल अंशधर्मत्व रहता है–को क्रमवर्ती कहते हैं। इसी अभिप्रायका ग्रन्थकार आगे खुलासा करते है।

व्यतिरेकका स्पष्टिकरण।

तत्र व्यतिरेक स्यात् परस्पराभावलक्षणेन यथा।
अंशविभाग पृथगिति सदृशांशानां सतामेव ॥ १७२ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र**) उन नरनारकादि रूप स्थूल पर्यायोंमें [**परस्पराभावलक्षणेन**] परस्परके अभावरूप लक्षणके द्वारा (**व्यतिरेक स्यात्**) व्यतिरेक होता है (**यतः**) क्योंकि (**सदृशांशानांएव**) सदृश-अंशवाले ही (**सतां**) सतका (**इति**) इस प्रकारसे (**पृथक्**) भिन्न २ अंश (**विभाग**) अंश विभाग पर्याय कहलाता है।

भावार्थ — जीव द्रव्यकी, देवसे मनुष्य रूप होनेवाली पर्यायमें परस्परभावलक्षणवाला, व्यतिरेक पाया जाता है। इसलिए मनुष्य पर्याय व्यतिरेकी पर्याय है। अर्थात व्यतिरेक पाया जाता है इसलिए व्यतिरेकी, और अंश धर्मत्व पाया जाता है इसलिए पर्याय कहते है। पर्यायोंमें सकोचविस्तरात्मक आकारसे आकारान्तर होता है। किन्तु प्रदशोंमें हीनाधिकता नहीं होती है। कीडेसे हाथी रूप पर्यायको प्राप्त करनेवाले जीवके केवल सकोचविस्तारात्मक आकारसे आकारान्तर होता है। प्रदेशोंकी न्यूनाधिकता नहीं होती है क्योंकि द्रव्यके अशोंके सदृश रहते हुए भी भिन्न २ जातिके आकारसे आकारान्तररूप होनेवाले अशविभागको पर्याय कहते हैं।

तस्मात्व्यतिरेकित्वं तस्य स्यात् स्थूलपर्ययः स्थूलः।
सोऽयं भवति न सोऽयं यस्मादेतावतैव संसिद्धिः॥ १७३॥

अन्वयार्थ — (**तस्मात्**) उसकारणसे (**तस्य व्यतिरेकित्वं**) वह पर्याय व्यतिरेकी कहलाती है (**यस्मात्**) जिस कारणसे कि (**स्थूलपर्ययः**) वह स्थूल पर्याय (**स्थूलःस्यात्**) स्थूल होती है।('**यस्मात्**') क्योंकि (**सः अयं भवति**) वह यह है (**अयं सः न भवति**) यह वह नहीं है (**एतावतैव**) इत्याकारक व्यतिरेक घट जानेसेही (**संसिद्धिः**) स्थूल पर्यायोंमे व्यतिरेकीपनेकी सिद्धि हो जाती है।

भावार्थः— इसलिए परस्पराभाव लक्षण व्यतिरेकके घट जानेसे, देवसे मनुष्य रूप होनेवालीं पर्यायको व्यतिरेकी कहते है। क्योंकि स्थूलपर्यायोमें स्थूलताके कारण "वह यह है यह वह नहीं है" इसप्रकारका व्यतिरेक घट जाता है।

विष्कंभःक्रम इति वा क्रम· प्रवाहस्य कारणं तस्य ।
न विवक्षितामिह किंचित्तत्र तथात्वं किमन्यथात्वं वा ॥ १७४ ॥

अन्वयार्थ —(**तस्य प्रवाहस्य कारणं**) प्रतिसमय होनेवाले द्रव्यके उस उत्पाद व्ययरूप प्रवाहमें जो कारण 'स्वकल्परूप अंशकल्पना है' (**वा**) अथवा जो (**विष्कम्भक्रम**) विष्कम्भरूपक्रम है, (स्वक्षेत्ररूप कल्पना है) (**इति**) इन दोनोंको (**क्रमः**) क्रम, कहते है (**तत्र इह**) तथा इन दोनों प्रकारके क्रममें (**किंचित् तथात्व**) कुछ भी तथापना (**किंवा अन्यथात्वं**) अथवा अन्यथापना (**विवक्षितं न**) विवक्षित नहीं होता है।

भावार्थ— यद्यपि क्रम शब्दका निरुक्त्यर्थ पहले कह चुके हैं तथापि खुलासा करनेके लिए फिरसे उसका पारिभाषिक अर्थ वताते हैं कि प्रतिसमय परिणमनशील द्रव्यमें, जो परिणमनका प्रवाह वह रहा है। उसे अर्थात् काल क्रमसे प्रतिसमय होनेवाले स्वकालको—ऊर्ध्वांश कल्पना रूप—क्रमको, क्रम कहते हैं। तथा इस क्रममें क्षणिक वृत्ति होनेके कारण, स्थूल पर्यायाकी तरह तथात्व और अन्यथात्व विवक्षित नहीं होता है। अथवा विष्कम्भ क्रमको अर्थात विष्कम्भ क्रमसे जो द्रव्यकी स्वक्षेत्रकल्पना की जाती है उनको क्रम कहते हैं। इसमें भी, तथापना व अन्यथापनेकी विवक्षा नहीं होती है।

क्रमवर्तित्वं नाम व्यतिरेकपुरस्सरं विशिष्टं च ।
स भवति भवति न सोऽयं भवति तथाथ च तथा न भवतीति ॥ १७५ ॥

अन्वयार्थ— (**अयं स भवति**) यह वह है किन्तु (**स न भवति**) वह नहीं है (**अथच**) अथवा (**तथाभवति**) यह वैसा है किन्तु (**तथा न भवति**) वैसा नहीं है (**इति**) इस प्रकारके क्रममें (**व्यतिरेकपुरस्सरं**) व्यतिरेक पुरस्सर (**विशिष्टं च**) विशिष्टही (**क्रमवर्तित्वं**) क्रमवर्तित्व है।

भावार्थः—अनादि कालसे प्रत्येक द्रव्य, प्रतिसमय प्रवर्तमान हो रहा है। उसका जो कारण है उसको अर्थात् स्वकालरूप अंशकल्पनाको—उर्ध्वांश कल्पनाको क्रम कहते है। अथवा 'नामैक देशेन नाम ग्रहण' अर्थात् नामके

एक देशके कहनेसे पूरे नामका ग्रहण हो जाता है। जैसे 'जीवन्धर कुमार' इस नाममें कुमार शद्बसे जीवन्धर कुमारका ग्रहण हो जाता है। वैसेही क्रम शब्दसे विष्कम्भक्रम—स्वक्षेत्र कल्पनाका ग्रहण समझना चाहिये। और ऐसे क्रमपूर्वक जो वर्ते सो क्रमवर्ती—पर्याय कहलाता है। तथा इस क्रमवर्ती शब्दके द्वारा कहे जानेवाली स्वक्षेत्र रूप कल्पना और स्वकाल रूप कल्पनावाली पर्यायोंमें 'यह वह नहीं है' इस प्रकारका व्यतिरेक सूचक व्यवहार नहीं होता है। कारण वे अत्यंत सूक्ष्म होती है। और जो स्थूल क्षेत्र व स्थूल कालमें भी, 'यह वह नहीं हैं' "यह तथा नहीं है" ऐसा व्यतिरेक साधक व्यवहार होता है वह व्यतिरेक पुरस्सर क्रमवर्तीपनेसे होता है, अर्थात् क्रम गर्भित व्यतिरेक है, केवल क्रमकृत व्यवहार नहीं है, कारण प्रदेश कल्पना (स्वक्षेत्र कल्पना) और समय गत परिवर्तन (स्वकाल कृत कल्पना) इन्द्रिय गोचर न होनेसे, उनमें व्यतिरेक साधक व्यवहार नहीं हो सकता है। हा यह बात अवश्य है कि जो स्थूल पर्यायें इन्द्रिय गोचर हैं तथा जिनमें 'यह वह नहीं है' 'यह तथा नहीं है' ऐसा व्यतिरेक पाया जाता है, वे स्थूल पर्यायें उन सूक्ष्म पर्यायोंके विना नही हो सकती है अर्थात् उन स्थूल पर्यायोंमें सूक्ष्म पर्यायें गर्भित रहती है, इसलिए उन्हें क्रम गर्भित व्यतिरेकी कहते है। पुरस्सर शद्बका अर्थ 'आगे' होता है अतः व्यतिरेक है आगे जिसके ऐसा, क्रमवर्तित्व, अर्थात् 'क्रमगर्भित—व्यतिरेक, यह अर्थ व्यतिरेक पुरस्सरं क्रमवर्तित्वका किया है।

इस प्रकार १६६ से १७५ तक व्यतिरेक और क्रमका भेद समझाकर आगे—क्रममें व्यतिरेक द्योतक व्यवहार के न रहते हुए भी कथञ्चित् तथामात्र व अन्यथापना कैसे होता है इस विषयमें उहापोह पूर्वक विचार करते हैं।

शंका।

ननु तत्र किं प्रमाणं क्रमस्य साध्ये तदन्यथात्वे हि।
सोऽयं यः प्राक् स तथा यथेति यः प्राक्तु निश्चयादिति चेत् ॥ १७६ ॥

अन्वयार्थ—(ननु) शङ्काकारका कहना है कि (यः प्राक् सः अयं) जो पहले था वह यह है (तु) और (यथा यः प्राक्) जैसे जो पहले था (सः तथा) वह अब भी वैसा है (इति निश्चयात्) इस-प्रकारका निश्चय होनेसे (तत्र क्रमस्य तदन्यथात्वे साध्ये) उस क्रमके पूर्वसमयसे उत्तर समयमें होनेवाले अन्यथा परिणमन रूप साध्यमें (किं प्रमाणं) क्या प्रमाण है (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो।

भावार्थ — शंकाकारका कहना है कि यदि क्रममें व्यतिरेककी कुछभी विवक्षा नहीं है तो फिर जो पहले समयमे था वही उत्तर समयमें रहेगा। और जैसा पूर्व समयमें था वैसाही उत्तर समयमें रहेगा। इस प्रकार पूर्वोत्तर समयमें कुछभी अन्तर नहीं होनेसे, क्रमके अन्यथा रूप परिणमनमें क्या प्रमाण है?

समाधान।

तन्न यतः प्रत्यक्षादनुभवविषयात्तथानुमानाद्वा ।
स तथेति च नित्यस्य न तथेत्यनित्यस्य प्रतीतत्वात् ॥ १७७ ॥

अयमर्थः परिणामि द्रव्यं नियमाद्यथा स्वतः सिद्धम् ।
प्रतिसमयं परिणमते पुनः पुनर्वा यथा प्रदीपशिखा ॥ १७८ ॥

इदं भवति पूर्वपूर्वभावविनाशेन नश्यतोंशस्य ।
यदि वा तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन जायमानस्य ॥ १७९ ॥

तदिदं यथा स जीवो देवो मनुजाद्भवन्नथाप्यन्य ।
कथमन्यथात्वभावं न लभेत स गोरसोऽपि नयात् ॥ १८० ॥

अन्वयार्थः— (**तन्न**) वह ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**अनुभवविषयात् प्रत्यक्षात्**) अनुभव विषयक-प्रत्यक्षसे अर्थात् स्वानुभवसे (**तथा**) और (**अनुमानाद्वा**) अनुमानसे भी (**स तथा इति नित्यस्य**) वह वैसा ही है इस प्रकारके नित्यकी (**च**) तथा (**न तथा इति अनित्यस्य**) वह वैसा नहीं है इस प्रकारके अनित्यकी (**प्रतीतत्वात्**) कथञ्चित् प्रतीति होती है।

(**अयं अर्थः**) सारांश यह है कि (**यथा**) जैसे (**द्रव्यं**) द्रव्य (**नियमात्**) नियमसे (**स्वत सिद्धं**) स्वत सिद्ध है (' **तथा** ') वैसेही वह (**परिणामि**) परिणमनशील भी है इसलिए (**तत्**) वह द्रव्य (**प्रतिसमयं**) प्रतिसमय (**पुनः पुनः वा**) बार बारही (**यथा प्रदीपशिखा**) प्रदीप शिखाकी तरह (**परिणमते**) परिणमन करता रहता है ।

(**इदं**) और यह परिणमन (**पूर्वपूर्वभावविनाशेन नश्यतः अंशस्य**) पूर्व पूर्व भावके विनाशरूपसे नष्ट होनेवाले अंशका (**यदि वा**) अथवा (**तत्**) वह परिणमन (**उत्तरोत्तरभावोत्पादेन जायमानस्य अंशस्य ,**) केवल उत्तरोत्तरभावके उत्पादरूपसे उत्पन्न होनेवाले अंशका (**अस्ति**) है, द्रव्यका नहीं ।

(**तत्**) इसलिए (**इदं**) द्रव्य (**यथा**) जैसे (**अथ मनुजात्**) यद्यपि मनुष्यसे कथन्चित (**अन्य देवः अपि भवन**) अन्य देव पर्यायको भी प्राप्त करता है तथापि (**नयात् सः गोरस अपि**) अपेक्षा वश वह दूधसे दही होकरके भी गोरसकी भांति है अर्थात् द्रव्यत्वको उल्लंघन नहीं करता है इस कारण वह (**अन्यथात्वभावं कथं न लभेत**) अन्यथापनेका क्यों नहीं प्राप्त होगा अर्थात् अवश्यही वह द्रव्य कथन्चित् भिन्नताको प्राप्त होगा ।

भावार्थ — शकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि स्वानुभवगोचर प्रत्यक्षसे और अनुमान प्रमाणसे 'यह वैसाही है' इस प्रकारकी पदार्थमें द्रव्यार्थिक नयसे कथंचित् नित्यताकी, तथा पर्यायार्थिक नयसे 'यह वैसा नहीं है' इस प्रकारकी पदार्थमें कथचित् अनित्यताकी भी प्रतीति होती है । अर्थात् द्रव्य जैसे स्वतः सिद्ध होनेसे नित्य—अनाद्यनन्त है वैसेही परिणमनशील होनेके कारण वह प्रदीपशिखाके समान प्रतिसमय सदृश परिणमन करता रहता है इसलिए अनित्य भी है। और उसका यह परिणमन, पूर्व पूर्व भावके विनाशपूर्वक, उत्तरोत्तर भावके उत्पादसे होता रहता है । इसलिए द्रव्य, कथचित नित्यानित्यात्मक, कहा जाता है जैसे कि जीव, मनुष्यसे देव पर्यायको प्राप्त करके द्रव्यार्थिक दृष्टिसे, प्रति पर्यायोमें जीवत्वके, सदृश रहनेपर भी, पर्यायार्थिकनयसे, प्रति पर्यायोंमें वह कथचित भिन्नताको धारण करता है वैसेही प्रतिसमय होनेवाले क्रममें भी द्रव्यार्थिक नयसे सदृशताके रहते हुए भी, पर्यायार्थिक नयसे कथचित् विसदृशपना—अन्यथापना भी पाया जाता है ।

इस विषयमें दूसरा दृष्टान्त गोरसका भी दिया जाता है कि जैसे दूध, दही, मठा, आदि दूधकी अवस्थाओमें द्रव्यार्थिक नयसे, गोरसपनेकी सदृशताके रहते हुये भी, दूधसे दही आदिक अवस्थाओमें, पर्यायार्थिक नयसे कथंचित् अन्यथापना भी पाया जाता है। इसतरह अनुमानसे अथवा स्वानुभव प्रत्यक्षसे नित्यानित्यकी प्रतीति होनेसे, यद्यपि क्रममें भी कथंचित् सदृश तथा विसदृशपना पाया जाता है। परन्तु फिर भी केवल क्षणोंको सूक्ष्मसमयवर्ती होनेके कारण, वह क्रम प्रतिसमय लक्ष्यमें नहीं आता है। एतावता उसमें अन्यथात्व और तथात्वकी विवक्षाही नहीं की जाती है। ऐसा नहीं है इस प्रकार १७६ ते १८० तक क्रममें भी तथाभाव तथा अन्यथाभावकी सिद्धि करके आगे–उत्पादादित्रयके विषयमें शंकासमाधान पूर्वक विचार करते है।

शंका।

ननु चैवं सत्यसदपि किञ्चिद्वा जायते सदिव यथा।
सदपि विनश्यत्यसदिव सदृशासदृशत्वदर्शनादितिचेत् ॥ १८१ ॥
सदृशोत्पादो हि यथा स्यादुष्णः परिणमन् यथा वन्हिः।
स्यादित्यसदृशजन्मा हरितात्पीतं यथा रसालफलम् ॥ १८२ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (एवं सति) ऐसा माननेपर (यथा) जैसे (सदिव) सत्की तरह (किंचित्) कुछ (असदपि) असत् भी (जायते) उत्पन्न होता है (' तथा ,) वैसे [असदिव] असत्की तरह [सदपि] सत् भी [विनश्यति] विनष्ट होता है ऐसा सिद्ध होगा कारण की (सदृशासदृशत्वदर्शनात्) अवस्थाओमे सदृश और विसदृशपना देखा जाता है (यथा हि) जैसे कि (सदृशोत्पादः) सदृश उत्पाद यह है कि (यथा) जैसे (परिणमन्) परिणमन करती हुई (वन्हिः) अग्नि (उष्णः स्यात्) उष्णकी उष्णही रहती और (यथा) जैसे (रसालफलं) आमका फल (हरितात्) हरितवर्णसे (पीतं स्यात्) पीतवर्णरूप हो जाता है (इति) यह (असदृशजन्मा) असदृश उत्पाद है (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो।

भावार्थ — शंकाकारकी शंका है कि यदि द्रव्यमें कथंचित तथाभाव व अन्यथाभाव प्रतीत होता है, तो द्रव्यमें परिणमन करतीहुई अग्निकी उष्णताकी तरह, सदृशता, और कच्ची अवस्थासे पक्की अवस्थामें परिणमन करने वाले भी आमके रूपगुणकी तरह विसदृशताके पाये जानेसे, कहीं कहींपर सतके समान असतका उत्पाद तथा असतके समान सतके विनाशका प्रसंग आवेगा।

समाधान।

नैवं यतः स्वभावादसतो जन्म न सतो विनाशो वा।
उत्पादादित्रयमपि भवति च भावेन भावतया ॥ २८३ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) इसप्रकारकी शंका करना ठीक नहीं है (यत) क्योंकि (स्वभावात्) स्वभावसे (असत जन्म) असत्‌की उत्पत्ति (वा) और (सतः विनाशः न) सत्‌का विनाश नहीं होता है (च) किन्तु (उत्पादादित्रयमपि) उत्पादव्यय तथा ध्रौव्य ये तीनोंही (भावतया भावेन) भवनशीलता-रूप भावसे (भवति) होते हैं।

भावार्थः— शंकाकारकी उक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि न तो असतकी उत्पत्तिही होती है और न सतका विनाशही होता है केवल भवनशीलतारूप भावसे द्रव्योंका नवीन २ अवस्थाओंसे परिणमन होता रहता है। जैन सिद्धांतामें पूर्व पर्यायके निरन्वय अभावका नाम उत्पाद नहीं माना गया है। किन्तु हो करके होनेका नाम उत्पाद माना गया है। इसलिए द्रव्यमें जो आकारसे आकारान्तर होता है उसमें न तो वास्तवमें असत रूप अंशोंका उत्पादही होता है और न सतरूप अंशोंका विनाशही होता है। इसीको आगेके पद्योंसे खुलासा करते है।

स्पष्टीकरण।

अयमर्थः पूर्वं यो भाव सोप्युत्तरत्र भावश्च।
भूत्वा भवनं भावो नष्टोत्पन्न न भाव इह कश्चित् ॥ १८४ ॥

अन्वयार्थः—(अयं अर्थः) सारांश यह है कि (पूर्वं यः भाव) पहले जो भाव था (उत्तरत्र च) उत्तरकालमें भी (सः अपि भाव) वहही भाव है कारण कि (इह भूत्वा भवनं भाव) यहांपर हो करके होना ही भाव है (नष्टोत्पन्न) नष्टोत्पन्न (कश्चित् भाव न) कोई भाव नही माना गया है।

भावार्थः— साराश यह है कि पूर्व पर्यायमें जो भाव था वही उत्तर पर्यायमें भाव है। क्योंकि जैन दर्शनमें प्रत्येक भावका भूत्वाभवनरूप माना गया है अर्थात् पर्यायें भावरूप हो करके दूसरे भावरूप होतीं रहतीं है। किन्तु नष्टोत्पन्नरूप कोई भाव नहीं माना गया है।

दृष्टांत।

दृष्टान्तः परिणामी जलप्रवाहो य एव पूर्वस्मिन्।
उत्तरकालेऽपि तथा जलप्रवाहः स एव परिणामी ॥ १८५

अन्वयार्थः— (दृष्टान्त) इस विषयमें दृष्टान्त यह है कि ('यथा',) जिसप्रकार (यः एव) जो ही (परिणामी) परिणमनशील (जल प्रवाह) जलका प्रवाह (पूर्वस्मिन्) पूर्व समयमें था (तथा) उसीप्रकार (सः एव) वही (परिणामी) परिणमनशील (जलप्रवाहः) जलकाप्रवाह (उत्तरकालेऽपि) उत्तरकालमें भी रहता है।

भावार्थ — पूर्वोक्त कथनका साधक उदाहरण यह है कि जैसे जो परिणमनशील जलकाप्रवाह पूर्व समयमे था वही पारिणमनशलि जलकाप्रवाह उत्तर समयमें भी रहता है। पूर्व समयमें निरन्वय नाश होकर उत्तर समयमे कुछ नवीन जलप्रवाह उत्पन्न नहीं होता है किन्तु जैसे जलप्रवाहमें केवल भूत्वाभवनरूप भावही होता रहता है। नष्टोत्पन्न रूप भाव नहीं होता है। वैसेही द्रव्यमें उत्पादादिक भून्वाभवन रूपसे होते रहते है। नष्टोत्पन्न रूपसे नहीं।

विसदृशतामें कारण।

यत्तत्र विसदृशत्वं जातेरनतिक्रमात् क्रमादेव।
अवगाहनगुणयोगाद्देशांशानां सतामेव ॥ १८६ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र**) और वहांपर (**यत्**) जो (**विसदृशत्वं**) विसदृशपना है (**तत्**,) वह (**सतां देशांशानां एव**) सदात्मक देशके अंशोंके ही (**अवगाहनगुणयोगात्**) आकारसे आकारान्तर होने रूप अवगाहन गुणके निमित्तसे (**जातेः अनतिक्रमात्**) अपनी जातिसे उल्लंघन नहीं करनेवाले (**क्रमात् एव**) क्रमसेही होता है ।

भावार्थः— और जो उन परिणामोंमें विसदृशता होती रहती है वह केवल सत्के अंशोंको तदवस्थ रहते हुए भी, अपनी अपनी जातिको उलंघन नहीं करके, क्रमपूर्वक आकारसे आकारान्तर होनेरुप, अवगाहन गुणके निमित्तसे होती है अर्थात् जिस द्रव्यके जितने प्रदेश हैं वे सब प्रदेश अपने २ द्रव्यत्वको नहीं छोड करके केवल क्रमपूर्वक आकारसे आकारान्तर धारण करते हैं। अर्थात् छोटे आकारसे बडे आकार होते समय कुछ प्रदेश आ नहीं जाते है और बडे आकारसे छोटे आकार होते समय कुछ प्रदेश घट नही जाते है। किन्तु सतरूप देशांशोंके तदवस्थ रहते हुए भी अगुरू लघु गुण निमित्तक, द्रव्य क्षेत्र तथा कालानुसार होनेवाले अवगाहनकी जो विचित्रता है उसीको विसदृशता कहते है।

दृष्टान्त ।

दृष्टान्तो जीवस्य लोकासंख्यातमात्रदेशाः स्युः ।
हानिर्वृद्धिस्तेषामवगाहनविशेषतो न तु द्रव्यात् ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थः— [**दृष्टान्त**] इस विषयमें उदाहरण यह है कि [**जीवस्य**] एक जीवके [**लोकासंख्यातमात्रदेशाः**] केवल लोकके बराबर असंख्यात प्रदेश [**स्यु**] होते है तथा [**तेषां**] उनकी [**हानिः वृद्धिः**] हानि और वृद्धि [**अवगाहनविशेषत**] अवगाहनकी विशेषतासे होती है [**तु**] किन्तु [**द्रव्यात् न**] द्रव्यसे नहीं ।

भावार्थः— उक्त कथनका साधक दृष्टान्त यह है कि जैसे यद्यपि एक जीवके प्रदेश लोकाकाशके बराबर होते हैं। परतु चींटी व हाथीकी देहमें जानेपर उन प्रदेशोंकी जो न्यूनाधिकता प्रतीत होती है वह अवगाहनकी विशेषतामें प्रतीत होती है। द्रव्य दृष्टिसे नहीं। क्योंकि द्रव्य दृष्टिसे तो दोनोंही अवस्थाओंमें प्रदेश बराबर हैं।

दूसरा दृष्टान्त।

यदि वा प्रदीपरोचिर्यथा प्रमाणादवस्थितं चापि।
अतिरिक्तं न्यूनं वा गृहभाजनविशेषतोवगाहाच्च ॥ १८८ ॥

अन्वयार्थ — (यदि वा) अथवा (यथा) जैसे (प्रदीपरोचिः) प्रदीपकी शिखा (प्रमाणात्) यद्यपि अपने प्रमाणसे (अवस्थितं च अपि) अवस्थित है तोभी (गृहभाजनविशेषतः अवगाहाच्च) घर, भाजन आदि विशेषोंमें अवगाहसेंही वह (अतिरिक्तं) अतिरिक्त–अधिक (वा) अथवा (न्यूनं) कम (भवति) होती है–कही जाती है।

भावार्थ — जैसे प्रदीपकी शिखा, शिखारूपसे ज्योंकी त्यों है। परंतु यदि वह घडेके भीतर रख दी जावे तो उसका प्रकाश घडेके बराबर हो जाता है। और यदि घटसे बाहर निकालकर किसी कोठेमें रख दी जावे तो उसका प्रकाश कोठेके बराबर हो जाता है।

सारांश यह है कि जैसे प्रदीप शिखा शिखारूपसे तदवस्थ होनेपर भी आधारानुसार अवगाहनविशेषसे अधिक वा कम कही जाती है। वैसेही जीव व पुद्गलमे जो आकारसे आकारान्तर रूप छोटी बडी पर्याय होती है वह अवगाहन विशेषतासे होती है द्रव्यकी अपेक्षासे नहीं।

अंशोंके अवगाहमें ज्ञानका दृष्टांत।

अंशानामवगाहे दृष्टान्तः स्वांशसंस्थितं ज्ञानम्।
अतिरिक्तं न्यूनं वा ज्ञेयाकृति तन्मयान्न तु स्वांशैः ॥ १८९ ॥

अन्वयार्थः— (अंशानां) अंशोंके (अवगाहे) अवगाहमें (दृष्टान्त) दृष्टान्त यह है कि (स्वांशसंस्थितं) अपने अंशोंमें स्थित (ज्ञेयाकृति) ज्ञेयाकाररूप (ज्ञानं) ज्ञान (तन्मयात्) ज्ञेयाकार होनेके

कारण (अतिरिक्तं) अधिक (वा) अथवा (न्यूनं) न्यून कम होता है। (तु) किन्तु (स्वांशै न) अपने अंशोंसे नहीं।

भावार्थः— पहले जिस प्रकार आकारसे आकारान्तर होते हुए भी द्रव्यदृष्टीसे द्रव्यके प्रदेशोंमें अन्तर नहीं पडना है यह सिद्ध किया है। उसी प्रकार गुणके अविभाग प्रतिच्छेदरूप अशोंके अवगाहके विषयमें ज्ञानके दृष्टान्तद्वारा खुलासा करते हैं कि ज्ञान, ज्ञेयाकार होनेसे ज्ञेयके अनुसार न्यून तथा आधिक ज्ञेयाकृतिक धारण करता हुआ, तरतम भावसे न्यूनाधिक कहलाता है। वास्तवमे कम व अधिक ज्ञेयको जाननेने, उसके मूलभूत अविभागप्रतिच्छेद कुछ नष्ट और उत्पन्न नहीं होतें है। क्योकि अपने अंशोंसे तो वह ज्ञान द्रव्यदृष्टीसे तदवस्थ ही है। किन्तु उसके प्रतिपक्षी ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमके तारतम्यसे होनेवाले, ज्ञेयके जाननेरूप तारतम्यसे, वह ज्ञान अध, अन्धतर तथा अन्ध तम रुप होकर न्यूनाधिक प्रकाश करता है।

दृष्टान्तपूर्वक उपसंहार।

तदिदं यथा हि संविद्घटं परिच्छिन्ददिहैव घटमात्रम्।
यदि वा सर्वं लोकं स्वयमवगच्छन्न लोकमात्रं स्यात् ॥ १९० ॥

न घटाकारेऽपि चितः शेषांशानां निरन्वयो नाशः।
लोकाकारेऽपि चितो नियतांशानां न चाऽसदुत्पत्तिः ॥ १९१ ॥

किन्त्वास्ति च कोऽपि गुणोऽनिर्वचनीयः स्वतः सिद्ध।
नाम्ना चाऽगुरुलघुरिति गुरुलक्ष्य स्वानुभूतिलक्ष्यो वा ॥ १९२ ॥

अन्वयार्थः— (तदिदं) वह इस प्रकार है कि (यथा) जैसें (इहैव) इस लोकमें (हि) निश्चयसे (घटंपरिच्छिन्दत्) घटको विषय करनेवाला, (संवित्) ज्ञान (घटमात्रं) केवल घटाकार मात्र कहा जाता

है (यदि वा) तथा (सर्व लोकं स्वयं अवगच्छत्) सम्पूर्ण लोकको स्वयं जाननेवाला, वही ज्ञान (लोकमात्र स्यात्) लोकाकाशके बराबर भी कहा जाता है।

(चितः) ज्ञानको (घटाकारेऽपि) घटके आकारके बराबर होनेपर भी उसके (शेषांशानां) घटाकारसे अतिरिक्त शेष अंशोंका (निरन्वयः) निरपेक्ष (नाशः न) नाश नहीं होता है (च) और (चितः) ज्ञानके (नियतांशानां) नियत अंशोंको (लोकाकारे अपि) लोकके आकारके बराबर होनेपर भी (असत्-उत्पत्तिः न) असतकी उत्पत्ति नहीं होती है।

(किन्तु) किन्तु (स्वतः सिद्धः) स्वत सिद्ध (च) और (गुरुलक्ष्यः) प्रत्यक्षदर्शियोंके लक्ष्यमें आने योग्य अर्थात् केवल ज्ञानगम्य (वा) अथवा (स्वानुभूतिलक्ष्यः) स्वानुभूतिके द्वारा जाननेके योग्य, (च) तथा (नाम्ना अगुरुलघु इति) नामसे अगुरुलघु ऐसा (कोऽपि) कोई (अनिर्वचनीयः) वचनोंके अगोचर (गुणः अस्ति) गुण है।

भावार्थः— उपर्युक्त कथनका साधक दृष्टान्त यह है कि जैसे घटको विषय करनेवाला घटज्ञान, घटाकार मात्र कहलाता है। वैसेही सम्पूर्ण लोकको विषय करनेवाला ज्ञान सर्व लोकज्ञान, कहलाता है। अर्थात् यद्यपि ज्ञानावरणके क्षयोपशम व क्षयरूप योग्यताके अनुसार, ज्ञान अपने २ योग्य विषयोंको विषय करनेके कारण, न्यूनाधिक कहलाता है तथापि जिससमय ज्ञान, घटाकार मात्र है उस समय घटके जाननेकी योग्यतासे, अतिरिक्त योग्यतावाले ज्ञानांशोंका, कुछ नाश नहीं होजाता है। और लोकाकार मात्र ज्ञानकी अवस्थामें, कुछ नवीन अंशोंकी उत्पत्ति नहीं हो जाती है। किन्तु द्रव्यमें गुरुज्ञानगम्य अथवा स्वानुभूतिगम्य, अगुरुलघु नामका एक गुण है जिसकेकि निमित्तसे द्रव्योंके गुणोंमें तरतम भावरूपसे द्रव्य क्षेत्र तथा कालानुसार, गुणांशोंके तदवस्थ रहते हुए भी, भूत्वाभवनरूप परिणमन होता रहता है।

इसप्रकार १८१ से १९२ तक द्रव्य और गुणोंके उत्पादादित्रयके विषयमें ऊहापोहपूर्वक विचार करके अब आगे— यदि भूत्वाभवनही भाव है। अर्थात् केवल आकारसे आकारान्तर ही होता है और कुछ नहीं होता है तो उत्पादादित्रय कैसे बनेंगे इसे शंका समाधानपूर्वक समझाते हैं।

शंका ।

ननु चैवं सत्यर्थादुत्पादादित्रयं न संभवति ।
अपि नोपादानं किल कारणं न फलं तदनन्यात् ॥ १९३ ॥

अपिच गुणः स्वांशानामपकर्षे दुर्बलः कथं न स्यात् ।
उत्कर्षे बलवानिति दोषोऽयं दुर्जयो महानिति चेत् ॥ १९४ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (एवं सति) इस प्रकारके माननेपर (अर्थात्) परमार्थ दृष्टिसे (तदनन्यात्) घटाकार व लोकाकाररूप ज्ञानके एक होनेसे (उत्पादादित्रयं न सम्भवति) उत्पादादित्रय नहीं बन सकेंगे (अपि) और (न उपादानं कारणं) न कोई किसीका उपादान कारण (न फलं किल) तथा न कोई किसीका कार्यही बन सकेगा ।

(अपि च) तथा (गुणः) गुण (स्वांशानां अपकर्षे) अपने अंशोंके कम होनेपर (दुर्बल.) दुर्बल और (उत्कर्षे) उत्कर्ष होनेपर (बलवान्) बलवान् (कथं न स्यात्) क्यों नहीं होगा ? (इति) इस प्रकारसे (अयं) यह भी (महान्) बडाभारी (दुर्जयः) दुर्जय (दोषः स्यात्) दोष होगा-आवेगा (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि अवगाहन गुणकी विचित्रतासे, द्रव्यमें केवल आकारसे, आकारान्तर होना रहता है तो द्रव्यकी पूर्वापर अवस्थाओंमें अभेद होनेके कारण, उत्पादादिक त्रय नहीं बन सकेंगे और न किसी भी प्रकारका कार्य कारण भावही सिद्ध हो सकेगा । तथा यदि गुणांशोंके तदवस्थ रहते हुए भी, अगुरुलघु गुणके निमित्तसे, उनमें भूत्वाभवनरूप परिणमन होता रहता है तो यह आपत्ति आयेगी, कि गुण, अपने अंशोंके कम होनेपर दुर्बल और अपने अशोंके बढनेपर बलवान क्यों नहीं होगा ?

समाधान ।

तन्न यतः परिणामि द्रव्यं पूर्वं निरूपितं सम्यक् ।
उत्पादादित्रयमपि सुघटं नित्येऽथ नाप्यनित्येर्थे ॥ १९५ ॥

अन्वयार्थः—(तन्न) वह ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (द्रव्यं) द्रव्य (पूर्वं) पहले (सम्यक्) अच्छी तरहसे (परिणामि) परिणमनशील (निरूपितं) निरूपित करदिया गया है इसलिए उसमें (उत्पादादित्रयं अपि) उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनोंही (सुघटं) अच्छी तरहसे घट जाते है (अपि) किन्तु—प्रत्युत (नित्ये अथ अनित्ये अर्थे न) सर्वथा नित्य व अनित्य अर्थके माननेमें नहीं घटते हैं ।

भावार्थ — शंकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि पहलेही हम स्वत. सिद्ध द्रव्यको अच्छी तरहसे परिणामि सिद्ध करचुके हैं । अर्थात् द्रव्य स्वतः सिद्ध होनेसे कथंचित् नित्यात्मक तथा परिणमनशील होनेसे, कथंचित् अनित्यात्मक है । इसलिए कथंचित् नित्यानित्यात्मक द्रव्यमेंही उत्पादादित्रय घट सकते हैं । सर्वथा नित्य व अनित्य पदार्थमें नहीं ।

सारांश यह है कि आकारसे आकारान्तर रूप होनेसे, उत्पाद व्ययकी और वस्तुतः तदवस्थ होनेसे, ध्रौव्यांशकी सिद्धि होती है । इसलिए उक्त प्रकारसे पदार्थको कथंचित् नित्यानित्यात्मक माननेसे, उत्पादादिकत्रयकी तथा कार्यकारणभावकी सिद्धि नहीं होगी, यह शंकाकारका कहना निरर्थक है ।

दृष्टान्त ।

जाम्बूनदे यथा सति जायन्ते कुण्डलादयो भावाः ।
अथ सत्सु तेषु नियमादुत्पादादित्रयं भवत्येव ॥ १९६ ॥

अन्वयार्थः—(यथा) जैसे (जाम्बूनदे सति) सुवर्णके होनेपर (कुण्डलादयः भावाः) उसकी कुण्डलादिक अवस्थाएँ (जायन्ते) उत्पन्न होती है (अथ) और (तेषु सत्सु एव) उन कुण्डलादिक

अवस्थाओंके होनेपरही (नियमात्) नियमसे (उत्पादादि त्रयं) उत्पादादिक तीनों (भवति) सिद्ध होते हैं।

भावार्थ — जैसे सोनेके रहते हुएही उसकी कुण्डल कङ्कणआदि अवस्थाएं सिद्ध होती हैं। क्योंकि उन अवस्थाओंके होनेपर सुवर्णमें उत्पादादिक होते हैं अर्थात् सुवर्णके सुवर्णत्वको द्रव्यदृष्टिसे, तदवस्थ रहते हुएभी पर्यायार्थिक दृष्टिसे, कुण्डल कङ्कणादिककेही उत्पाददिक होते हैं। किन्तु यदि वास्तवमें विचार किया जावे तो कुण्डलादिक अवस्थाओंमें भी केवल आकारसे आकारान्तर है। असतकी उत्पत्ति तथा सतका विनाश नहीं है। अत शंकाकारका " कथंचित् नित्यानित्यात्मक पदार्थमें उत्पादादिक नहीं वनेंगे " यह कहना युक्ति युक्त नहीं है।

इस प्रकार कार्य कारण भाव भी सिद्ध होता है —

अनया प्रक्रियया किल बोद्धव्यं कारणं फलं चैव।
यस्मादेवास्य सतस्तद्द्वयमापि भवत्येतत् ॥ १९७ ॥

अन्वयार्थ — (अनया प्रक्रियया एव) इस प्रक्रिया–शैलीसेही (किल) निश्चयसे (कारणं) कारण (च) और (फलं) कार्यकी सिद्धि भी (बोद्धव्यं) जान लेना चाहिये (यस्मात्) क्योंकि (अस्य सतः एव) इस सतकेही (एतत्) सत अर्थात् ध्रौव्य (अपि) तथा (तद्द्वयं) उत्पाद और व्यय ये दोनों (भवति) होते हैं।

भावार्थः— जिस प्रकार कथंचित् नित्यानित्यात्मक पदार्थमेंही उत्पादादिकत्रय होते हैं। सर्वथा नित्य व अनित्य पदार्थमें नहीं हो सकते हैं यह सिद्ध किया है। उसी प्रकार नित्यानित्यात्मक पदार्थके मानने परही कार्यकारण भाव सिद्ध हो सकता है। सर्वथा नित्य तथा अनित्य पदार्थमें नहीं। क्योंकि सर्वथा नित्य पक्षमें, परिणामके विना कार्यकारणभाव नहीं वन सकता है। और सर्वथा अनित्य पक्षमे, पदार्थको क्षणवर्ती होनेसे तथा प्रतिसमय उसका

१ 'एतत् तद्द्वय, इसका कार्यकारणभाव होते हैं ऐसा भी अर्थ हो सकता है।

निरन्वय नाश माननेसे, उत्तरोत्तर उत्पादके साथ, उसका कार्यकारण भावही नहीं बन सकता है। किन्तु पदार्थको नित्यानित्यात्मक माननेसें, पूर्व २ पर्याय, उत्तरोत्तर पर्यायका उपादानकारण, और उत्तरोत्तर पर्याय, पूर्व २ पर्यायका कार्य पडता है। इसलिए कथचित् नित्यानित्यात्मक पदार्थमेंही उत्पादादिकत्रय तथा कार्य कारण भाव सिद्ध होता है। क्योंकि नित्यानित्यात्मक पदार्थमेंही सत्के उत्पादादिक माने गये हैं। निरन्वय नष्ट अथवा कूटस्थ नित्यमें नहीं।

क्योंकि।

आस्तामसदुत्पादः सतो विनाशस्तदन्वयादेशात्।
स्थूलत्वं च कृशत्वं न गुणस्य च निजप्रमाणत्वात् ॥ १९८ ॥

अन्वयार्थः— (असदुत्पादः) असत्का उत्पाद (च) और (सतः विनाशः) सत्का विनाश तो (आस्तां) दूर रहो (तदन्वयादेशात्) द्रव्यार्थिकदृष्टिसे (गुणस्य) गुणके (निजप्रमाणत्वात्) निज प्रमाणमात्र होनेसे उसमें (स्थूलत्वं) स्थूलपना (च) तथा (कृशत्वं) कृशपना भी (न) नहीं पाया जाता है।

भावार्थ — असत्के उत्पाद और सत्के विनाशकी तो कथाही क्या, जैन सिद्धान्तमें द्रव्यार्थिकदृष्टिसे गुण, तदवस्थ रहते हैं इसलिए उनमें किसी भी प्रकारकी न्यूनाधिकताकी प्रतीति नहीं होती है। क्योंकि केवल पर्यार्थिकनयकी विवक्षावश ही गुणोंमें तरतम भाव माना गया है। अतएव शंकाकारकी १८१ वें पद्यानुसार सत्की तरह असत्के उत्पाद व असत्की तरह सत्के विनाशकी संभावना ठीक नहीं है।

उपसंहार।

इति पर्यायाणामिह लक्षणमुक्तं यथास्थितं चाथ।
उत्पादादित्रयमपि प्रत्येकं लक्ष्यते यथाशक्ति ॥ १९९ ॥

अन्वयार्थ— (**इति**) इस प्रकारसे (**इह**) यहांपर (**पर्यायाणां**) पर्यायोंका (**यथास्थितं**) यथा-योग्य (**लक्षणं**) लक्षण (**उक्तं**) कहा (**अथ च**) अब (**उत्पादादित्रयं अपि**) उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनोंही (**प्रत्येकं**) भिन्न २ करके (**यथाशक्ति**) अपनी शक्तिके अनुसार (**लक्ष्यते**) लक्षित किये जाते है।

भावार्थः— पूर्वोक्त प्रकारसे यथायोग्य पर्यायोंका लक्षण कह कर ग्रन्थकार अब उत्पादादि तीनोंमेंसे प्रत्येकके लक्षणके निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं।

उत्पादादिक किसमें होते हैं इसका कथन।

उत्पादस्थितिभंगाः पर्यायाणां भवन्ति किल न सतः।
ते पर्याया द्रव्यं तस्माद्द्रव्यं हि तत्त्रितयम् ॥ २०० ॥

अन्वयार्थः— (**किल**) निश्चयसे (**उत्पादस्थितिभंगा**) उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य ये तीनों (**पर्यायाणां**) पर्यायोंके (**भवन्ति**) होते हैं (**सत न**) सत्‌के नहीं और (**हि**) जिसकारणसे कि (**ते**)वे(**पर्यायाः द्रव्यं**) उत्पादादि रूप पर्यायेंही, द्रव्य हैं (**तस्मात्**) इसलिए (**द्रव्यं**) द्रव्य (**तत्त्रितयं** उन उत्पादादि त्रयवाला कहा जाता है।

भावार्थः— उत्पादव्यय और ध्रौव्य ये तीनों पर्यायोंमें होते है। द्रव्यमें नहीं। किन्तु पर्यायें द्रव्यसे कथंचित् अभिन्न है। इसलिए इस अपेक्षासे द्रव्यके भी उत्पादादिक कहे जाते हैं।

उत्पादका स्वरूप तथा वह किसका होता है।

तत्रोत्पादोऽवस्था प्रत्यग्रं परिणतस्य तस्य सत।
सदसद्भावनिबद्धं तदतद्भावत्वन्नयादेशात् ॥ २०१ ॥

अन्वयार्थ — (**तदतद्भावत्ववक्षयादेशात्**) सत्, तद्भाव और अतद्भावको विषय करनेवाले नयकी अपेक्षामे [**सदसद्भावनिबद्धं**] सद्भाव तथा असद्भावसे युक्त है इसलिए [**तत्र प्रत्यग्र परिणतस्य**] उन उत्पादादिकमें नवीन रूपसे परिणत [**तस्य सतः**] उस सत्की [**अवस्था**] अवस्थाका नाम [**उत्पादः**] उत्पाद है।

भावार्थः— जिसप्रकार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे द्रव्य, तद्भावयुक्त और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे कथंचित् भिन्न होकर, अतद्भावयुक्त कहा जाता है। उसी प्रकार वह द्रव्य, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे सद्भावयुक्त और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे असद्भावयुक्त कहा जाता है अर्थात् द्रव्य कथंचित तद्रूप तथा अतद्रूपकी तरह, सद्रूप और असद्रूप है। इसलिए उसकी प्रतिसमय उत्तरोत्तर होनेवाली नवीन २ अवस्थाको उत्पाद कहते है।

व्ययका स्वरूप तथा वह किसका होता है।

अपि च व्ययोपि न सतो व्ययोप्यवस्थाव्ययः सतस्तस्य।
प्रध्वंसाभावः सच परिणामित्वात्सतोप्यवश्यं स्यात् ॥ २०२ ॥

अन्वयार्थः— [**अपि च**] तथा [**व्यय अपि**] व्यय भी [**सतः न**] सत्का नहीं होता है [**अपि**] किन्तु [**तस्य सतः**] उस सत्की [**अवस्थाव्ययः**] अवस्थाका नाश [**व्ययः**] व्यय कहलाता है [**च**] और [**प्रध्वंसाभावः**] प्रध्वंसाभावरूप [**सः**] वह व्यय [**परिणामित्वात्**] सत्को परिणामि होनेसे [**सतः अपि**] सतका भी [**अवश्य स्यात्**] अवश्य कहा जाता है।

भावार्थ — उत्पादकी तरह व्यय भी पर्यायका होता है सत्का नहीं। क्योंकि व्यय, निरन्वय नाशको नहीं कहते हैं। किन्तु पदार्थकी प्रध्वंसाभावरूप अवस्थाका नाम व्यय है जो कि उत्तर कालवर्ती नवीन अवस्थाके उत्पादरूप पडती है। सत्को परिणामि माना है और वह सत् उत्पादादिकरूप परिणामसे भिन्न नहीं है। केवल इसी अपेक्षासेही व्यय-सतका कहा जाता है। वास्तवमें व्यय पर्यायकाही होता है सत्का नहीं।

ध्रौव्यका स्वरूप तथा वह किसका होता है।

ध्रौव्यं सतः कथंचित् पर्यायार्थाच्च केवलं न सतः।
उत्पादव्ययवदिदं तच्चैकांशं न सर्वदेशं स्यात् ॥ २०३ ॥

अन्वयार्थ— (पर्यायार्थात्) पर्यायार्थिक नयसे (ध्रौव्यंच) ध्रौव्य भी (कथंचित्) कथंचित् (सतः) सत्का होता है (केवलं) केवल (सतः न) सत्का नहीं (तत्) इसलिए (उत्पादव्ययवत्) उत्पादव्ययकी तरह (इदं च) यह ध्रौव्य भी (एकांशं) सत्का एक अंश (स्यात्) है (सर्वदेशं न) सर्व देश नहीं है।

भावार्थ— उत्पादव्ययकी तरह ध्रौव्य भी पर्यायार्थिक नयसे पर्यायका होता है। और पर्याय तथा सत्में कथंचित् अभेद है इसलिए वह ध्रौव्य कथंचित् सत्का माना है। केवल सत्का नहीं। क्योंकि उत्पादव्ययकी तरह ध्रौव्य भी एक अंश है। अत. वह भी उत्पादव्ययकी तरह द्रव्यका एक देशही है। सर्व देश नहीं है।

स्पष्टीकरण।

तद्भावाव्ययमिति वा ध्रौव्यं तत्रापि सम्यगयंमर्थः।
यः पूर्वं परिणामो भवति स पश्चात् स एव परिणामः ॥ २०४ ॥

अन्वयार्थः— (वा) अथवा (तद्भावाव्ययं) तद्भावसे नाश नहीं होना (इति) यह जो (ध्रौव्यं) ध्रौव्यका लक्षण बताया गया है (तत्रापि) वहांपर भी—उसका भी (अयं) यह (सम्यक्) ठीक (अर्थ) अर्थ है कि (यः) जो (परिणाम.) परिणाम (पूर्वं) पहले था (स. सः) वह २ (परिणामः एव) पारिणामही (पश्चात् भवति) पीछे होता रहता है।

भावार्थ— सूत्रकारने जो ध्रौव्यका अर्थ तद्भावाव्यय अर्थात् तद्भावसे नाश नहीं होना माना है। उसका

मी वाच्यार्थ यही है कि जैसा परिणाम पहले था वैसेही जो सदृशपरिणाम उत्तरोत्तर समयमें हुआ करता है । उसे ध्रौव्य कहते है । इसलिए वह ध्रौव्य भी उत्पादकी तरह एक अंशही है ।

दृष्टांत ।

पुष्पस्य यथा गन्धः परिणामः परिणमँश्च गन्धगुणः ।
नापरिणामी गन्धो न च निर्गन्धाद्धि गन्धवत्पुष्पम् ॥ २०५ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (पुष्पस्य) पुष्पका (गन्धः परिणामः) गन्ध परिणाम है (च) और (गन्धगुणः) गन्धगुण (परिणमन्) परिणमन कर रहा है इसलिए (गन्धः) गन्ध (अपरिणामि न) अपरिणामी नहीं है (च) तथा (हि) निश्चयसे (निर्गन्धात्) निर्गन्ध अवस्थासे (पुष्पं गन्धवत् न) पुष्प गन्धवान् हुवा हो ऐसा भी नहीं है ।

भावार्थ — उक्त कथनका साधक दृष्टान्त यह है कि जैसे गन्ध, पुष्पका एक परिणाम है। और वह पुष्पके गन्धनामा गुणका परिणमनरूप पडता है । यद्यपि वह गुण प्रतिसमय परिणमन करता रहता है । तथापि गन्धपनेकी अपेक्षा सादृश्य प्रत्यभिज्ञानसे वह नित्य है । अर्थात् गन्धरूप भावसे उनका नाश नहीं होता है । इसलिए सदृश परिणमनको ध्रौव्यपदसे विवक्षित करते है । और न ऐसाही कह सकते है, कि पुष्प पहले गन्धरहित था पीछे गन्धसहित हुआ-हो । अत. प्रतिसमय परिणमनशील सदृश परिणमनका नामही ध्रौव्य है ।

नित्यानित्य व्यवहारका निदान ।

तत्रानित्यनिदानं ध्वंसोत्पादद्वयं सतस्तस्य ।
नित्यनिदानं ध्रुवमिति तत्त्रयमप्यंशभेदः स्यात् ॥ २०६ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) वहांपर (तस्य सतः अनित्यनिदानं) उस सत्की अनित्यताके मूल कारण

ध्रौव्यका स्वरूप तथा वह किसका होता है।

ध्रौव्यं सतः कथंचित् पर्यायार्थाच्च केवलं न सतः।
उत्पादव्ययवदिदं तच्चैकांशं न सर्वदेशं स्यात् ॥ २०३ ॥

अन्वयार्थ— (पर्यायार्थात्) पर्यायार्थिक नयसे (ध्रौव्यंच) ध्रौव्य भी (कथंचित्) कथंचित् (सतः) सत्का होता है (केवलं) केवल (सतः न) सत्का नहीं (तत्) इसलिए (उत्पादव्ययवत्) उत्पादव्ययकी तरह (इदं च) यह ध्रौव्य भी (एकांशं) सत्का एक अंश (स्यात्) है (सर्वदेशं न) सर्व देश नहीं है।

भावार्थ— उत्पादव्ययकी तरह ध्रौव्य भी पर्यायार्थिक नयसे पर्यायका होता है। और पर्याय तथा सत्में कथंचित् अभेद है इसलिए वह ध्रौव्य कथंचित् सत्का माना है। केवल सत्का नहीं। क्योंकि उत्पादव्ययकी तरह ध्रौव्य भी एक अंश है। अत. वह भी उत्पादव्ययकी तरह द्रव्यका एक देशही है। सर्व देश नहीं है।

स्पष्टीकरण।

तद्भावाव्ययमिति वा ध्रौव्यं तत्रापि सम्यगयमर्थः।
यः पूर्वं परिणामो भवति स पश्चात् स एव परिणामः ॥ २०४ ॥

अन्वयार्थः— (वा) अथवा (तद्भावाव्ययं) तद्भावसे नाश नहीं होना (इति) यह जो (ध्रौव्यं) ध्रौव्यका लक्षण बताया गया है (तत्रापि) वहांपर भी—उसका भी (अयं) यह (सम्यक्) ठीक (अर्थ) अर्थ है कि (यः) जो (परिणाम) परिणाम (पूर्वं) पहले था (स सः) वह २ (परिणामः एव) परिणामही (पश्चात् भवति) पीछे होता रहता है।

भावार्थ— सूत्रकारने जो ध्रौव्यका अर्थ तद्भावाव्यय अर्थात् तद्भावसे नाश नहीं होना माना है। उसका

भी वाच्यार्थ यही है कि जैसा परिणाम पहले था वैसेही जो सदृशपरिणाम उत्तरोत्तर समयमें हुआ करता है। उसे ध्रौव्य कहते है। इसलिए वह ध्रौव्य भी उत्पादकी तरह एक अंशही है।

दृष्टांत।

पुष्पस्य यथा गन्धः परिणामः परिणमँश्च गन्धगुणः।
नापरिणामी गन्धो न च निर्गन्धाद्धि गन्धवत्पुष्पम् ॥ २०५ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (पुष्पस्य) पुष्पका (गन्धः परिणामः) गन्ध परिणाम है (च) और (गन्धगुणः) गन्धगुण (परिणमन्) परिणमन कर रहा है इसलिए (गन्धः) गन्ध (अपरिणामि न) अपरिणामी नहीं है (च) तथा (हि) निश्चयसे (निर्गन्धात्) निर्गन्ध अवस्थासे (पुष्पं गन्धवत् न) पुष्प गन्धवान् हुवा हो ऐसा भी नहीं है।

भावार्थ — उक्त कथनका साधक दृष्टान्त यह है कि जैसे गन्ध, पुष्पका एक परिणाम है। और वह पुष्पके गन्धनामा गुणका परिणमनरूप पडता है। यद्यपि वह गुण प्रतिसमय परिणमन करता रहता है। तथापि गन्धपनेकी अपेक्षा सादृश्य प्रत्यभिज्ञानसे वह नित्य है। अर्थात् गन्धरूप भावसे उनका नाश नहीं होता है। इसलिए सदृश परिणमनको ध्रौव्यपदसे विवक्षित करते है। और न ऐसाही कह सकते है, कि पुष्प पहले गन्धरहित था पीछे गन्धसहित हुआ-हो। अत प्रतिसमय परिणमनशील सदृश परिणमनका नामही ध्रौव्य है।

नित्यानित्य व्यवहारका निदान।

तत्रानित्यनिदानं ध्वंसोत्पादद्वयं सतस्तस्य।
नित्यनिदानं ध्रुवमिति तत्त्रयमप्यंशभेदः स्यात् ॥ २०६ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) वहांपर (तस्य सतः अनित्यनिदानं) उस सत्की अनित्यताके मूल कारण

(ध्वंसोत्पादद्वयं) व्यय और उत्पाद है तथा (नित्यनिदानं) नित्यताका मूलकारण (ध्रुवं) ध्रौव्य है (इति) इस प्रकार (तत्त्रयं अपि) वे तीनोंही (अंशभेदः स्यात्) सत्के अंशात्मक भेद है।

भावार्थः— इसप्रकार उत्पादव्यय और ध्रौव्य ये तीनों अंश है। तथा इन तीनों अंशोंमेंसे व्यय व उत्पाद ये दोनों अंश द्रव्यको कथंचित् अनित्य कहलानेमें कारण है। और ध्रौव्य यह अंश द्रव्यको नित्य कहलानेमें कारण हैं। इस तरह उत्पादादिक तीनोंही द्रव्यके अंशात्मक भेद हैं।

किन्तु यह आशंका नहीं करना चाहिए।

न च सर्वथा हि नित्यं किंचित्सत्त्वं गुणो न कश्चिदिति।
तस्मादतिरिक्तौ द्वौ परिणतिमात्रौ व्ययोत्पादौ ॥ २०७ ॥

अन्वयार्थ.— (हि) निश्चयसे (सर्वथा नित्यं) सर्वथा नित्य (किंचित्सत्त्वं) कोई सत्व है (कश्चित् गुण न) गुण कोई नहीं है और (परिणति मात्रौ) केवल परिणतिरूप (व्ययोत्पादौ) व्यय तथा उत्पाद ये दोनों (तस्मात् अतिरिक्तौ) उस सत्वसे अतिरिक्त है-भिन्न हैं (इति न च) ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि —

भावार्थः—यहांपर कोई ऐसी आशंका न करे कि द्रव्य, गुण, और पर्यायोंमेंसे गुण तो कोई चीजही नही है। तथा द्रव्य सर्वथा नित्य हैं। और पर्यायात्मक व्यय व उत्पाद केवल परिणतिरूप हैं। तथा वे द्रव्यसे सर्वथा भिन्न हैं। क्योंकि ऐसी आशंका करनेसे वक्ष्यमाण तीन दोष आते हैं।

पहला दोष।

सर्वं विप्रतिपन्नं भवति तथा सति गुणो न परिणामः।
नापि द्रव्यं न सदिति पृथक्त्वदेशानुषंगत्वात् ॥ २०८ ॥

अन्वयार्थ — (**तथा सति**) वैसा होनेपर (**पृथक्त्व देशानुषंगात्**) सत्को पृथक्त्व युक्त देशका प्रसंग आनेसे (**सदिति**) सत यह (**न गुण**) न गुण (**न परिणामः**) न परिणाम-पर्याय (**अपि**) और (**न द्रव्यं**) न द्रव्यही सिद्ध हो सकेगा किन्तु (**सर्वं विप्रतिपन्नं भवति**) सबही विप्रतिपन्न हो जावेंगे।

भावार्थः— गुणोंका न मान करके द्रव्यको सर्वथा नित्य और उत्पादव्ययको द्रव्यसे भिन्न केवल परिणाति रूप माननेसे द्रव्य तथा पर्यायोंको पृथक २ प्रदेशी पनेका प्रसंग आवेगा। तथा सत् यह द्रव्यगुण व पर्यायोंमेसे, किसी भी रूप सिद्ध नहीं हो सकेगा। अत सत्को द्रव्य गुण और पर्यायात्मक न होनेसे, सत्का भी क्या स्वरूप है यह भी निश्चित नहीं हो सकेगा। इसलिए द्रव्य गुण, पर्याय व स्वयंसत ये सबही विवाद ग्रस्त हो जावें गे।

दूसरा दोष।

अपि चैतद्दूषणमिह यन्नित्यं ताद्धि नित्यमेव तथा।
यदनित्यं तदनित्यं नैकस्यानेकधर्मत्वम् ॥ २०९ ॥

अन्वयार्थ.— (**च**) और (**इह**) यहांपर [**एतत् अपि दूषणं**] यह भी दूषण आवेगा कि [**यत् नित्यं**] जो नित्य है (**तत्**) वह [**हि**] निश्चयसे [**नित्यं एव**] नित्यही रहेगा [**तथा**] तथा [**यत् अनित्यं**] जो अनित्य है [**तत् अनित्यं**] वह अनित्यही रहेगा इसप्रकार [**एकस्य अनेकधर्मत्वं न**] किसी भी वस्तुमें अनेक धर्मत्व सिद्ध नहीं होगा अर्थात् वस्तु अनेक धर्मात्मक सिद्ध नहीं हो सकेगी।

भावर्थः— तथा दूसरा दोष यह आवेगा कि, जो नित्य है वह नित्यहीं रहेगा आर जो अनित्यहै, वह अनिय ही रहेगा। इसलिए निच्यानित्यात्मक पदार्थको नही माननेसे, कोई भी वस्तु अनेक धर्मात्मक सिध्द नहीं होगी।

तीसरा दोष।

अपि चैवमिदं द्रव्यं गुणोऽयमेवेति पर्ययोऽयं स्यात्।
इति काल्पनिको भेदो न स्याद्द्रव्यान्तरत्ववन्नियमात् ॥ २१० ॥

भावार्थ — क्योंकि जिस प्रकारसे तरंगोंके समूहोंको छोडकरके समुद्र कोई भिन्न वस्तु सिद्ध नहीं हो सकता है उसी प्रकारसे अपने त्रिकालवर्ती परिणामोंको छोडकरके गुण तथा द्रव्य भी कोई भिन्न वस्तु सिद्ध नहीं हो सकता है।

किन्तु य एव समुद्रस्तरंगमाला भवन्ति ता एव।
यस्मात्स्वयं स जलधिस्तरंगरूपेण परिणमति ॥ २१४ ॥

अन्वयार्थः— [किन्तु] किन्तु [य एव] जो ही (समुद्र) समुद्र है [ता एव] वेही [तरंग-मालाः] तरंगमालाए [भवति] है [यस्मात्] क्योंकि [सः जलधिः] वह समुद्र [स्वयं] स्वयं [तरंग-रूपेण परिणमति] तरंगरूपसे परिणमन करता है।

भावार्थ — किन्तु जैसे तरग मालाओंके साथ समुद्रका अभेद है। समुद्रको छोड करके उससे तरगे सर्वथा भिन्न सिद्ध नहीं हो सकती है। क्योंकि समुद्र स्वय तरगरूपसे परिणमन करता रहता है। वैसेही उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यादिकका द्रव्य व गुणके साथ अभेद है। द्रव्य और गुणको छोड करके उससे सर्वथा भिन्न उत्पादव्यय तथा ध्रौव्य सिद्ध नहीं हो सकते है। क्योंकि द्रव्य व गुण स्वय उत्पादादिरूपसे परिणमन कर रहे हैं। इसलिए शंकाकारके द्वारा दिया हुवा समुद्र और कल्लोलोंका दृष्टान्त भेदका साधक न होकर कथंचित् अभेदका साधक है।

तस्मात्स्वयमुत्पादः सदिति ध्रौव्यं व्ययोपि वा सदिति।
न सतोऽतिरिक्त एव हि व्युत्पादो वा व्ययोपि वा ध्रौव्यम् ॥ २१५ ॥

अन्वयार्थः— [तस्मात्] इसलिए [सत् इति] सत् यह (स्वयं) स्वयं [उत्पादः] उत्पाद है और [सत् इति] यह सत् [ध्रौव्यं] ध्रौव्य है (वा) तथा [व्ययः अपि] व्यय भी है [हि] क्योंकि [सतः अति रिक्त] सत्से भिन्न कोई (युत्पादः एव) उत्पादही (वा) अथवा (व्ययः) व्यय (वा) अथवा (ध्रौव्यं अपि) ध्रौव्य (न) कुछ नहीं है।

भावार्थः— इसलिए कथंचित स्वयं सत, ही उत्पादव्यय और ध्रौव्यरूप पडता है। सत्से सर्वथा भिन्न उत्पादव्यय तथा ध्रौव्य कोई चीज नहीं पडते हैं।

अथवा।

यदि वा शुद्धत्वनयान्नाप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम्।
गुणश्च पर्यय इति वा न स्याच्च केवलं सदिति ॥ २१६ ॥

अन्वयार्थ — (यदि वा) अथवा (शुद्धत्वनयात्) शुद्धताको विषय करनेवाले नयकी अपेक्षासे (उत्पादः अपि न) उत्पाद भी नहीं है (व्यय. अपि न) व्यय भी नहीं है तथा (ध्रौव्यं) ध्रौव्य (गुणः) गुण (च) और (पर्यय.) पर्याय (इति वा न) यह भी नहीं है (च) किन्तु (केवलं) केवल एक (सत् इति) सत् यहही है।

भावार्थः— अथवा शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण और पर्याय वगैरेह कुछ नहीं है। केवल सबका समुदाय रूप एक सत्‌ही पदार्थ है। क्योंकि जितनी भी भेद विवक्षा है वह सब पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासेही कल्पित की जाती है। शुद्धद्रव्यार्थिकनय किसी भी प्रकारके भेदको विषय नहीं करता है। इसलिए शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे सर्वदा सर्व अवस्थाओंमें सत्‌ही प्रतीयमान होता है। उत्पाद व्ययादिक नहीं।

स्पष्टीकरण।

अयमर्थो यदि भेदः स्यादुन्मज्जति तदा हि तत्त्रितयम्।
अपि तत्त्रितयं निमज्जति यदा निमज्जति स मूलतो भेदः ॥ २१७ ॥

अन्वयार्थ — (अयं अर्थः) सारांश यह है कि (यदि भेद स्यात्) यदि भेद होता है अर्थात् जिससमय भेद विवक्षित होता है (तदा) उससमय (हि) निश्चयसे (तत् त्रितयं) वे उत्पादिक तीनों (उन्म

ज्जति) प्रतीत होने लगते है और (**यदा**) जिससमय (**स भेदः**) वह भेद (**मूलतः**) मूलसेही (**निमज्जति**) विवक्षित नहा किया जाता है उससमय (**तत् त्रितयं अपि**) वे तीनों भी (**निमज्जति**) प्रतीत नहीं होते हैं।

भावार्थः— उक्त कथनका सारांश यह है कि पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। और दोनोंही नय, पदार्थके सामान्य विशेष धर्मोंमेंसे परस्पर सापेक्ष किसी एक धर्मको मुख्यतासे तथा दूसरे धर्मोंको गौणतासे विषय करते हैं। इस-लिए जिस समय भेद विवक्षित होता है उससमय अभेदको गौण हो जानेसे, उत्पादादिक तीनोंही प्रतीत होने लगते हैं। तथा जिससमय द्रव्यार्थिक नयके द्वारा अभेद विवक्षित होता है। उससमय भेदको गौण हो जानेसे उत्पादादिक तीनोंमेंसे किसीकी भी प्रतीति नहीं होती है। केवल एक सत्‌ही सत प्रतीयमान होता है।

इस प्रकार २११ वें पद्यकी शकाका समाधान करके आगे—उत्पादव्ययको अशात्मक कहना तो युक्तियुक्त है। परन्तु जब त्रिकाल विपयक होनेसे, ध्रौव्य किसी भी तरह अंशात्मक सिद्ध हो ही नही सकता है तो फिर उसको अशात्मक मानकर पर्याय क्यों माना है। इस विषयमें शंका समाधान पूर्वक विचार करते हैं।

शंका।

ननु चोत्पादध्वंसौ द्वावप्यंशात्मकौ भवेतां हि।
ध्रौव्यं त्रिकालविषयं तत्कथमंशात्मकं भवेदिति चेत् ॥ २१८ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु च**) शंकाकारका कहना है कि (**हि**) निश्चयसे (**उत्पादध्वंसौ द्वौ अपि**) उत्पाद और व्यय ये दोनोंही (**अंशात्मकौ**) अंश स्वरूप (**भवेतां**) होवें किन्तु (**त्रिकालविषयं , यत्** ' **ध्रौव्य**) त्रिकाल गोचर जो ध्रौव्य हैं (**तत् कथं**) वह कैसे (**अंशात्मकं-भवेत्**) अंशात्मक होगा (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहो तो।

भावार्थ — शंकाकारका कहना है कि आपने जो उत्पादव्यय और ध्रौव्यको अंशात्मक सिद्ध किया है।

उनमेंसे उत्पादव्ययको तो क्षणवर्ती होनेसे अंशात्मक मानना ठीक है। परन्तु ध्रौव्य त्रिकालवर्ती है। अतः वह अंशात्मक कैसे माना जासकेगा।

समाधान।

नैवं यतस्त्रयोंशाः स्वयं सदेवेति वस्तुतो न सतः।
नैवार्थान्तरवादिदं प्रत्येकमनेकमिह सदिति ॥ २१९ ॥

अन्वयार्थ — (एवं न) इस प्रकारका कहना ठीक नहीं है (यत) क्योंकि (वस्तुत) परमार्थसे (त्रयः अंशा) तीनों अंश (स्वयं सत् एव इति) स्वयं सतही हैं किन्तु (सतः न) सत्के नहीं है कारण कि (इह) यहांपर (सत् इदं) सत् यह (अर्थान्तरवत्) अर्थान्तरोंकी तरह (प्रत्येकं ' सत् ' एक २ हो करके (अनेकं) अनेक है (इति नैव) ऐसा नहीं है।

भावार्थः— उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि जैनसिद्धान्तमें सतके उत्पादव्यय और ध्रौव्यरूप अंश नहीं माने है। किन्तु सत उत्पादव्यय तथा ध्रौव्यात्मक माना हैं। उत्पादव्यय व ध्रौव्य ये तीनों प्रत्येक भिन्न २ पदार्थकी तरह मिलकर अनेक नहीं है किन्तु विवक्षावशही तीनो भिन्न २ रूपसे प्रतीत होतें हैं।

स्पष्टीकरण।

तत्रैतदुदाहरणं यदुत्पादेन लक्ष्यमाणं सत्।
उत्पादेन परिणतं केवलमुत्पादमात्रमिह वस्तु ॥ २२० ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उस विषयमें (एतद् उदाहरणं) यह उदाहरण है कि (इह) यहांपर (यदि) यदि (उत्पादेन परिणतं सत) उत्पाद रूपसे परिणत सत् जिससमय (उत्पादेन लक्ष्य माणं) उत्पादकेद्वारा लक्ष्यमाण होता है उससमय (वस्तु) वस्तु (केवलं उत्पादमात्रं) केवल उत्पाद मात्र कही जाती है।

भावार्थ— पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है। शद्ब व नयात्मक ज्ञानांशके द्वारा उसके सब धर्म विषयभूत हो नहीं सकते हैं। इसलिए उन अनन्त धर्मोंसें जिस ज्ञानांश व शद्बके द्वारा जो कोई भी एक धर्म विषयभूत होता है। उस ज्ञानांश व शद्बके द्वारा वस्तु उस समयके वल, उसी धर्ममयजानी जाती है व कही जाती है इस न्यायानुसार जिससमय नवीन २ रूपसे परिणत सत् उत्पादरूपज्ञान तथा शद्बके द्वारा विवक्षित होता है उस समय वह सत् केवल उत्पादमात्र कहा जाता है।

यदि वा व्ययेन नियतं केवलमिह सादिति लक्ष्यमाणं स्यात्।
व्ययपरिणतं च सादिति व्ययमात्रं किल कथं हि तन्न स्यात् ॥ २२१ ॥

अन्वयार्थः— (**यदि वा**) अथवा जिससमय (**इह**) यहांपर (**व्ययपरिगतं च**) व्यय रूपसे परिणतही (**इति सत्**) यह सत् (**केवलं व्ययेन नियतं लक्ष्यमाणं स्यात्**) केवल व्ययके द्वारा निश्चत रूपसे लक्ष्यमाण होता है उससमय (**तत् इति सत्**) वही यह सत् (**हि**) निश्चयसे [**व्ययमात्रं किल**] केवल व्यय मात्र (**कथं न स्यात्**) क्यों नहीं होगा किन्तु अवश्य होगा।

भावार्थ— अथवा जिससमय पूर्व पर्यायके अभावात्मक व्ययधर्मसेही युक्त वह सत् व्यय शद्बका लक्ष्य बनाया जाता है उससमय उत्पादात्मक व ध्रौव्यात्मक धर्मके प्रतिपादनका लक्ष्य नहीं होनेसे वह सत् केवल व्ययमात्र प्रतिपादित तथा प्रतीयमान क्यों नहीं होगा?

ध्रौव्येण परिणतं सद्यपि वा ध्रौव्येण लक्ष्यमाणं स्यात्।
उत्पादव्ययवदिदं स्यादिति तद्ध्रौव्यमात्रं सत् ॥ २२२ ॥

अन्वयार्थ— (**यदिवा**) अथवा जिससमय (**ध्रौव्येण परिणतं सत्**) ध्रौव्यरूपसे परिणत सत् (**ध्रौव्येण लक्ष्यमाणं स्यात्**) ध्रौव्यके द्वारा लक्ष्यमाण होता है उससमय (**उत्पादव्ययवत्**) उत्पाद व्ययकी तरह **तत् इदं सत्**] वही यह सत् (**ध्रौव्यमात्रं इति**) ध्रौव्य मात्र ऐसा ही (**स्यात्**) प्रतीत होता है।

भावार्थः— अथवा जिससमय ध्रौव्यरूप धर्मसे युक्त वह सत ध्रौव्य शब्दके द्वारा कहा जाता है उससमय वह सत् उत्पादव्ययकी तरह केवल ध्रौव्यमात्र है

दृष्टांत ।

संदृष्टिर्मृदद्रव्यं सता घटेनेह लक्ष्यमाणं सत् ।
केवलमिह घटमात्रमसता पिण्डेन पिण्डमात्रं स्यात ॥ २२३ ॥

अन्वयार्थ.— (**सन्दृष्टिः**) इस विषयमें उदाहरण यह है कि (**इह**) यहांपर (**मृत् द्रव्यं**) मट्टीरूप द्रव्य (**सता घटेन**) सदात्मक घटके द्वारा (**लक्ष्यमाणं सत्**) लक्ष्यमाण होती हुई (**केवलं घटमात्रं**) केवल घटरूपही कही जाती है और (**इह**) यहांपरही (**असतापिण्डेन**) असदात्मक पिण्डके द्वारा लक्ष्यमाण होती हुई (**पिण्डमात्रं स्यात**) केवल पिण्डरूपही कही जाती हैं ।

भावार्थः— उक्त कथनका साधक दृष्टान्त यह है कि जैसे सत्के स्थानापन्न मृत्तिकारूप घटद्रव्य, रूपादि होने योग्य अनेक धर्मोंको धारण करनेवाली हो करके भी जिससमय केवल घटरूप धर्मसेही प्रतिपादित व प्रतीयमान होती है उस समय उस विवक्षासे वह केवल घटमात्र कही जाती है। और जिससमय घट पर्यायमें नहीं रहनेवाले पिण्डरूप धर्मसे विवक्षित होती है उस समय वह केवल पिण्डमात्र कही जाती है ।

यदि वा तु लक्ष्यमाणं केवलमिह मृच्च मृत्तिकात्वेन ।
एवं चैकस्य सतो व्युत्पादादित्रयश्च तत्रांशाः ॥ २२४ ॥

अन्वयार्थ.— (**यदि वा**) अथवा वह मट्टीरूप द्रव्य यदि (**इह**) यहांपर (**केवलं मृत्तिकात्वेन लक्ष्यमाणं तु**) केवल मृत्तिकापनेसे लक्ष्यमाण होती है तो वह (**मृच्च**) मट्टीही कही जाती हे (**एवं च**) इस प्रकारसे (**एकस्य सतः**) एक सत्के (**उत्पादादित्रयश्च**) उत्पादादिक तीनोंही (**तत्रांशाः**) उस सत्में अंश हैं ।

भावार्थ — अथवा जिससमय वही मृत्तिका पिण्ड व घटकी विवक्षा न करके केवल मृत्तिकापनेसे विनाशित होती है। उससमय वह केवल मृत्तिका रूप कही जाती है। इसप्रकार सिद्ध होता है कि सतके उत्पादादिक तीनोंही सत्मे अंश हैं। कुछ सत्से भिन्न अंश नहीं।

किन्तु ऐसा नहीं है कि।

न पुनः सतो हि सर्गः केनचिदंशैकभागमात्रेण।
संहारो वा ध्रौव्यं वृक्षे फलपुष्पपत्रवन्न स्यात् ॥ २२५ ॥

अन्वयार्थः— (**पुनः**) किन्तु (**वृक्षे फलपुष्पपत्रवत्**) वृक्षमें फल, फूल तथा पत्तेकी तरह (**केनचित्**) किसी (**अंशैकभागमात्रेण**) अंशरूप एक भागसे (**सतः सर्गः**) सत्का उत्पाद (**वा**) अथवा (**संहार**) संहार-व्यय (**च**) और (**ध्रौव्यं**) ध्रौव्य (**न स्यात्**) नहीं है

भावार्थः— किन्तु जिस प्रकारसे वृक्षमें फल, फूल तथा पत्ते वगैरह भिन्न २ अंशोसे रहते है और वह वृक्ष भी उनके संयोगसे फल, फूल तथा पत्रादिकवाला कहा जाता है। उस प्रकारसे सतके किसी एक अंशमे पृथक् उत्पाद-व्यय व ध्रौव्य नहीं है। और न पृथक २ अंशात्मक उत्पादव्यय तथा ध्रौव्यसे द्रव्य, उत्पादव्यय व ध्रौव्यवालाही कह-लाता है। इसलिए शंकाकारका उत्पादव्ययको अंशात्मक मानना और ध्रौव्यको अंशात्मक नहीं मानना यह कथन (शंका) ठीक नहीं है।

इसप्रकार २२८ वे पद्यकी शंकाका समाधान करके आगे-उत्पादादि अंशीके है अथवा अंशके हैं। इत्यादि विषयका उहापोह पूर्वक विशदरीतिसे विचार करते है।

शंका

ननु चोत्पादादित्रयमंशानामथ किमंशिनो वा स्यात्।

अपि किं सदंशमात्रं किमथांशमसदस्ति पृथगिति चेत् ॥ २२६ ॥

अन्वयार्थ— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (उत्पादादित्रयं) उत्पादादिक तीनों (किं क्या (अंशानां) अंशोंके (अथवा) अथवा (अंशिनः) अंशीके (स्यात्) होते है (अपि) तथा (किं क्या वे (सदंशमात्रं) संतरूप अंशही है (अथ) अथवा (किं) क्या वे (पृथक्) भिन्न (असत् अंश अस्ति) असत् रूप अंश है (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो।

भावार्थ — शंकाकारकी शंका है कि उत्पादादिक तीनोंही अंशोंके होते हैं या अशीके और वे तीनों सदात्मक अश है अथवा पृथक् असदात्मक अंश हैं।

समाधान।-

तन्न यतोऽनेकान्तो बलवानिह खलु न सर्वथैकान्तः।
सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात् ॥ २२७ ॥

अन्वयार्थ — (तन्न) वह ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (इह) जैन सिद्धान्तमं (खलु) निश्चयसे (अनेकान्त) अनेकान्त (बलवान) बलवान है (सर्वथा एकान्तः न) सर्वथा एकान्त बलवान नहीं हैं इसलिए (तत्पूर्वं) अनेकान्त पूर्वक (सर्वं) सबही कथन (अविरुद्धं स्यात) अविरुद्ध पडता है और (तद्विना) अनेकान्तके विना सबही कथन (विरुद्धं) विरुद्ध (स्यात्) हो जाता है।

भावार्थः— शंकाकारकी उपर्युक्त शंकाका उत्तर यह है कि वस्तुके स्वरुपको यथार्थ रीतिसे जाननेके लिये अनेकान्तवाद ही समर्थवाद है। एकान्तवाद नहीं। इसलिये अनेकान्त पूर्वक प्रतिपादित सबही कथन अविरुद्ध कहा जाता है। और एकान्त पूर्वक प्रतिपादित सबही कथन विरुद्ध कहा जाता है।

स्पष्टीकरण ।

केवलमंशानामिह नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न ध्रौव्यम् ।
नाप्यंशिनस्त्रयं स्यात् किमुतांशेनांऽशिनो हि तत्त्रितयम् ॥ २२८ ॥

अन्वयार्थः— (इह) यहांपर (केवल अंशानां) केवल अंशोंके (न उत्पाद.) न उत्पाद (अपि) तथा (' न ' व्ययः) न व्यय (अपि) और (ध्रौव्यं न) न ध्रौव्य होता है तथा (अंशिनः अपि) अंशीके भी (त्रयं न) वे उत्पादादिक तीनों नहीं होते हैं (किमुत) किन्तु (हि) निश्चयसे (अंशेन) अंशसे युक्त (अंशिनः) अंशीके (तत्त्रितयं स्यात) वे उत्पादादिक तीनों होते हैं ।

भावार्थः— इसलिए उत्पादादिक तीनोंही केवल अंश तथा अंशीके नहीं होते है किन्तु कथंचित् अंश सहित अंशीके होते है । इस प्रकार अनेकान्तवादपूर्वक अंशों सहित अंशीके उत्पादादि त्रय सिद्ध करके आगे–उत्पाद व्यय और ध्रौव्यके अविरोधको सिद्ध करनेके लिए शका समाधान पूर्वक विचार करते हैं ।

शंका ।

ननु चोत्पादध्वंसौ स्यातामन्वर्थतोऽथ वाग्मात्रात् ।
दृष्टविरुद्धत्वादिह ध्रुवत्वमपि चैकस्य कथमिति चेत् ॥ २२९ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (अन्वर्थत.) अन्वर्थसे (अथ) अथवा (वाग्-मात्रात्) वचनमात्रसे (उत्पादध्वंसौ) उत्पादव्यय होवें तो (स्यातां) होवें (अपि) किन्तु (इह) यहांपर (एकस्य च) एकही पदार्थके (दृष्टविरुद्धत्वात) प्रत्यक्ष विरुद्ध होनेसे उत्पाद व्यय और (ध्रुवत्वं च) ध्रौव्यपना भी (कथं) किसतरहसे होगा (इति चेत) यदि ऐसा कहो तो-

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जैसे शब्द व अर्थ दृष्टिसे उत्पादादि एक पदार्थके बन सकते हैं

वैसे ध्रौव्य और उत्पाद व्यय किसी एक पदार्थके सिद्ध नहीं हो सकते हैं। क्योंकि उत्पाद व्यय अनित्यत्वके साधक हैं। तथा ध्रौव्य नित्यताका साधक है। इसलिए ध्रौव्य और उत्पादव्यय ये दोनो परस्पर विरोधि होनेसे एक पदार्थके मानना प्रत्यक्ष बाधित है।

समाधान।

सत्यं भवति विरुद्धं क्षणभेदो यदि भवेत्त्रयाणां हि।
अथवा स्वयं सदेव हि नश्यत्युत्पद्यते स्वयं सदिति ॥ २३० ॥

क्वापि कुताश्चित् किंचित् कस्यापि कथंचनापि तन्न स्यात्।
तत्साधकप्रमाणाभावादिह सोप्यदृष्टान्तात् ॥ २३१ ॥

अन्वयार्थ — (सत्यं) ठीक है किन्तु (हि) निश्चयसे (त्रयाणां) तीनोंका (क्षणभेदः) क्षणभेद अर्थात् भिन्न २ समय होता तो (अथवा) अथवा (हि) निश्चयसे (स्वयं सदेव) स्वयं सतही (नश्यति) नष्ट होता और (सत् उत्पद्यते) सतही उत्पन्न होता तो (विरुद्धं भवति) परस्परमें विरुद्ध कथन होता, परन्तु (तत्) उत्पादादिक तीनोंका क्षणभेद अथवा स्वयं सत्का विनष्ट होना या उत्पन्न होना (क्वापि) कहींपर भी (कुतश्चित्) किसी हेतुसे (किन्चित्) कुछ (कस्यापि) किसीका भी (कथंचित् अपि) किसी भी प्रकारसे (न स्यात्) नहीं होता है क्योंकि (इह) यहांपर (तत्साधकप्रमाणाभावात्) उनके साधक प्रमाणोंका अभाव (अदृष्टान्तात्) दृष्टान्तके नहीं मिलनेसे है।

भावार्थ — शकाकारने जो उत्पादव्यय और ध्रौव्यके एक साथ रहनेमें प्रत्यक्ष विरोध बताया है वह ठीक नहीं है। क्योंकि विरोध उसी समय आसकता है जब कि उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यमें समय भेद माना जाता अर्थात् तीनोंको एक समयवर्ती न मानकर भिन्न २ समयवर्ती माना जाता। अथवा सतकोही स्वयं नष्टोत्पन्न व नित्य माना जाता। किन्तु उत्पादादिक तीनोंमेंही समय भेद अथवा सतको स्वयं नष्टोत्पन्न तथा नित्य किसी भी अवस्थामें, किसी

भी हेतुसे किसी भी प्रकारसे नहीं माना है। क्योंकि उत्पादादिकको भिन्न २ समयवर्ती, और सत्‌कोही स्वयं, युगपत् नष्टोत्पन्न व नित्य, सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है तथा न उसका कोई दृष्टान्तही है। अब आगे–उत्पाद व्यय और ध्रौव्यमें, समय भेदकी शका उठा करके समय भेदका निराकरण करते हैं।

शंका।

नतु च स्वावसरे किल सर्गः सर्गैकलक्षणत्वात् स्यात् ।
संहारः स्वावसरे स्यादिति संहारलक्षणत्वाद्वा ॥ २३२ ॥

ध्रौव्यं चात्मावसरे भवति ध्रौव्यैकलक्षणात्तस्य ।
एवं च क्षणभेदः स्याद्बीजांकुरपादपत्ववत्त्वितिचेत् ॥ २३३ ॥

अन्वयार्थ — (ननु च) शकाकारका कहना है कि (किल) निश्चयसे (सर्गैकलक्षणत्वात्) उत्पाद रूप एकलक्षणपनेसे (सर्गः) उत्पाद (स्वावसरे स्यात्) अपने समयमें होता है (वा) तथा (संहारलक्षणत्वात्) संहार रूप लक्षणपनेसे (संहारः इति) संहार यह भी (स्वावसरे स्यात्) अपने समयमें होते हैं।

(च) और (ध्रौव्यैकलक्षणात्) ध्रौव्य रूप लक्षणसे (ध्रौव्यं) ध्रौव्य (आत्मावसरे) अपने समयमें (भवति) होता है (इति च) इस प्रकारसे (बीजांकुरपादपत्ववत्) बीज अकुंर और वृक्षत्वकी तरह (तस्य) उस सत्‌की उन उत्पादादिक तीनों अवस्थाओंमें (क्षणभेदः स्यात्) क्षणभेद होता है (इति चेत् तु) यदि ऐसा कहो तो-

भावार्थ — पूर्वोक्त कथनपर शंकाकारका कहना है कि जैसे, बीज अकुंर और वृक्षत्वमेंसे अपने २ समयपर बीज, अकुंर तथा वृक्षपना ज्ञात होता है। वैसेही जिस समय, वस्तुमें किसी पर्यायका उत्पाद कहा जाता है उस समय उस वस्तुमें व्यय व ध्रौव्यसे भिन्न केवल उत्पादही प्रतीत होता है। और जिससमय किसी अवस्थाके व्ययका

लक्षण कहा जाता है उस समय वस्तु केवल व्यय लक्षणात्मकही प्रतीत होती है । तथा ध्रौव्यके प्रतिपादन करनेके समय एक ध्रौव्यकाही लक्षण घट जानेसे, वस्तु, केवल ध्रौव्यमयही प्रतीत होती है । इस प्रकार तीनोंमें क्षणभेद संभव होनेसे ध्रौव्य और उत्पाद व्ययके युगपत् रहनेके विषयमें दी हुई परस्परकी प्रत्यक्ष बाधा तदवस्थही रहती है ।

समाधान ।

तन्न यतः क्षणभेदो न स्यादेकसमयमात्रं तत्
उत्पादादित्रयमपि हेतोः संदृष्टितोपि सिद्धत्वात् ॥ २३४ ॥

अन्वयार्थः— (तन्न) वह ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि उन तीनोंमें (क्षणभेद न स्यात्) क्षणभेद नहीं है किन्तु (हेतो) हेतुसे तथा (सन्दृष्टित अपि) हेतु साधक दृष्टान्तसे भी (सिद्धत्वात्) सिद्ध होनेसे (तत् उत्पादादित्रय अपि) वे उत्पादादिक तीनोंही (एक समय मात्रं) केवल एक समयवर्ती हैं ।

भावार्थः— शंकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है । क्योंकि बीज, अंकुर और पादत्वके दृष्टान्तसे उत्पादादिकत्रयमें तीनोंका भिन्न समय सिद्ध नहीं होता है । किन्तु युक्ति तथा उदाहरण पूर्वक तीनोंका एक समयवर्तीपना सिद्ध होता है ।

स्पष्टीकरण ।

अथ तद्यथा हि बीजं बीजावसरे सदेव नासदिति ।
तत्र व्ययो न सत्वाद्व्ययश्च तस्मात्सदंकुरावसरे ॥ २३५ ॥

अन्वयार्थः— [अथ] अब (तथापि) उसका खुलासा यह है कि जैसे (हि) निश्चयसे (बीजं) बीज (बीजावसरे) बीजके समयमें (सत् एव) सतही है (असत् न) असत् नहीं है (इति) इसलिए

(**तत्र**) उस (**सदकुंरावसरे**) बिजसे सत् रूप अकुंरके समयमें [**सत्वात्**] सत्वकी अपेक्षासे (**व्यय: न**) व्यय नहीं है [**च**] किन्तु [**तस्मात्**] बीजकी अपेक्षासे [**व्ययः**] व्यय है ।

भावार्थः— पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है जैसे कि बीज, बीजके समयमें भी सदात्मकही था, असदात्मक नहीं, इसलिए बीजसे बीजाभावरूप जो अंकुर अवस्था उत्पन्न हुई है उसमे सतकी बीज अवस्थाका व्यय है । सतका नहीं ।

बीजावस्थायामपि न स्यादकुंरभवोस्ति वाऽसदिति ।
तस्मादुत्पादः स्यात्स्वावसरे चांकुरस्य नान्यत्र ॥ २३६ ॥

अन्वयार्थः— [**बीजावस्थायां अपि**] बीजरूप अवस्थामें भी [**अकुंरभव**] अकुंररूप पर्याय [**न स्यात्**] नहीं है किन्तु वह [**असत् वा अस्ति**] असत्की तरह है [**इति**] इसलिए [**तस्मात्**] बीज रूप अवस्थासे [**अकुंरस्य च उत्पादः**] अकुरका भी उत्पाद [**स्वावसरे स्यात्**] अपने समयमें—उसी समयमें होता है [**अन्यत्र न**] बीजके समयमें नहीं ।

भावार्थः— बीजावस्थामें भी उत्तरकालमें होनेवाले अकुरका जन्म असतकी तरह था । इसलिए बीजकी अवस्थामें बीज तथा अकुंरकी अवस्थामें अकुंर होता है। किन्तु बीजकी अवस्थामे अकुंर और अकुरकी अवस्थामें बीज सिद्ध नहीं होता है ।

यदि वाबीजांकुरयोरविशेषात् पादपत्वमिति वाच्यम् ।
नष्टोत्पन्नं न तदिति नष्टोत्पन्नं च पर्ययाभ्यां हि ॥ २३७ ॥

अन्वयार्थ — [**यदि वा**] अथवा [**अविशेषात्**] सामान्य रूपसे [**बीजांकुरयोः**] बीज और अकुंरमें [**पादपत्व**] वृक्षत्व है [**इति**] यदि ऐसा कहो तो [**हि**] निश्चयसे [**पर्ययाभ्यां नष्टोत्पन्नं च**]

पर्यायोंसे नष्टोत्पन्न भी [तत्] वह वृक्षत्व [नष्टोत्पन्नं न] वास्तवमें नष्ट और उत्पन्न नहीं है [इति वाच्यं] ऐसा कहना चाहिये।

भावार्थः— यदि कदाचित यह कहा जाय कि भिन्न समयवर्ती बीज और अंकुरकी अवस्थामें पादपत्व समानपनेसे रहता है तो सहजमें यह सिद्ध होता है कि पर्यायरूपसे वह सव नष्टोत्पन्न होता है किन्तु वास्तवमें नष्टोत्पन्न नहीं होता है।

आयातं न्यायबलादेतत्त्रितयमेककालं स्यात् ।
उत्पन्नमंकुरेण च नष्टं बीजेन पादपत्वं तत् ॥ २३८ ॥

अन्वयार्थ — (न्यायवलात् आयातं) न्यायवलसे यह सिद्ध हुवा कि (एतत् त्रितयं) ये तीनों (एककालं स्यात्) एक कालवर्ती हैं क्योंकि (यत्) जो (पादपत्वं) वृक्षत्व है (तत्) वही (अंकुरेण उत्पन्न) अंकुर रूपसे उत्पन्न (च) और (बीजेन नष्टं) वीज रूपसे नष्ट होनें वाला है।

भावार्थः— इसलिए न्याय वलसे यह सिद्ध होता है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों एक कालमें होते हैं। क्योंकि जैसे पादपत्व एक कालमें अंकुर पर्यायसे उत्पन्न तथा बीज पर्यायसे नष्ट होता हैं वैसेही सत् भी एककालमें पूर्व पर्यायसे नष्ट तथा उत्तर पर्यायसे उत्पन्न सिद्ध होता है।

पूर्वोक्त कथनका स्पष्टीकरण।

अपि चांकुरसृष्टेरिह य एव समयः स बीजनाशस्य ।
उभयोरप्यात्मत्वात् स एव कालश्च पादपत्त्वस्य ॥ २३९ ॥

अन्वयार्थः— (अपि च) पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (य एव समय) जो ही समय (अंकुरसृष्टेः) अंकुरके उत्पन्न होनेका है (सः) वही समय (बीजनाशस्य) बीजके नाश होनेका है (च)

और (उभयोः अपि आत्मत्वात्) दोनोंकोही वृक्षत्व रूप होनेसे (स एव कालः) वही काल (पादपत्वस्य) वृक्षत्वका है।

भावार्थः— पूर्वोक्त कथनका सारांश यह है कि अंकुरकी उत्पत्तिका जो समय है वही समय बीज अवस्थाके व्ययका भी है। और सामान्यपनेसे बीजाभाव व अंकुरोत्पादरूप दोनोंही अवस्थाओंकी विवक्षामें पादपत्व पाया जाता है। इसलिए पादपत्वका भी वही समय है। इसप्रकार उत्पादादिक तीनोंही, युक्ति तथा उदाहरणसे एकही समयमें सिद्ध होते हैं।

तस्मादनवद्यमिदं प्रकृतं तत्त्वस्य चैकसमये स्यात् ।
उत्पादादित्रयमपि पर्यायार्थान्न सर्वथापि सतः ॥ २४० ॥

भवति विरुद्धं हि तदा यदा सतः केवलस्य तत्त्रितयम् ।
पर्ययनिरपेक्षत्वात् क्षणभेदोपि च तदैव सम्भवति ॥ २४१ ॥

अन्वयार्थ — (**तस्मात्**) इसलिए (**इदं प्रकृतं**) यह प्रकृत कथन (**अनवद्यः**) निर्दोष है कि (**तत्वस्य च**) कथंचित् सत् रूप पदार्थकेही (**एकसमये**) एक समयमें (**पर्यायार्थात्**) पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे (**उत्पादादित्रयं अपि**) उत्पादादिक तीनोंही (**स्यात्**) होते हैं (**अपि**) किन्तु (**सर्वथा सतः न**) सर्वथा सतके नहीं होते है क्योंकि (**यदा**) यदि (**पर्ययनिरपेक्षत्वात**) पर्यायोंकी निरपेक्षतासे (**केवलस्य सतः**) केवल सतके (**तत्त्रितय**) वे उत्पादादिक तीनों होते (**तदा**) तो उस समय (**हि**) निश्चयसे प्रकृत कथन (**विरुद्धं भवति**) विरुद्ध होता (**च**) और (**तदैव**) उसी समय (**क्षणभेदः अपि**) उनका भिन्न काल भी (**संभवति**) सम्भव होता अर्थात् कहा जा सकता।

भावार्थ — इसलिए जो हमारा यह प्रकृत कथन था कि पर्यायार्थिकनयसे कथंचित् सतकेही उत्पादादिक तीनों एक समयमें होते है किन्तु सर्वथा सतके नहीं, वह कथन निर्दोष सिद्ध होता है। क्योंकि तीनोंका एक समयमें

विरुद्ध होना उस समय हो सकता है जबकि केवल पर्याय निरपेक्ष सतकेही उत्पादव्यय तथा ध्रौव्य ये तीनोंही मानें जाते और तबही क्षण भेदकी भी संभावना हो सकती थी। किन्तु ऐसा माना नहीं है। इसलिए तीनोंका एक समयमें होना विरुद्ध नहीं पडता है।

यदि वा भवति विरुद्धं तदा यदाप्येकपर्ययस्य पुन ।
अस्त्युत्पादो यस्य व्ययोपि तस्यैव तस्य वै ध्रौव्यम् ॥ २४२ ॥

अन्वयार्थः— (यदि वा) अथवा (यदा अपि) जिस समयही (यस्य एकपर्ययस्य) जिस किसी एक पर्यायका (उत्पादः अस्ति) उत्पाद होता है (तस्य एव पुनः) उसकाही फिर (व्ययः) व्यय (अपि) और (तस्य वै) उसकाही (ध्रौव्यं) ध्रौव्य माना होता तो (तदा) उस समय (विरुद्धं भवति) उत्पादादिक तीनोंका एक समयमें होना विरुद्ध होता।

भावार्थः— अथवा उन तीनोंका एक समयमें मानना उस समय विरुद्ध हो सकता था जिस समयकि वे तीनों किसी एकही पर्यायके माने जाते अर्थात् जिसका उत्पाद हुवा है उसीका व्यय तथा उसीका ध्रौव्य भी माना जाता तो एक समयमें तीनोंका मानना विरुद्ध हो सकता था।

परन्तु।

प्रकृतं सतो विनाशः केनचिदन्येन पर्ययेण पुनः ।
केनाचिदन्येन पुनः स्यादुत्पादो ध्रुवं तदन्येन ॥ २४३ ॥

अन्वयार्थ— (प्रकृतं) प्रकृत कथन ऐसा माना है कि (सतः) सत्का (केनचित् अन्येन पर्ययेण) किसी अन्य पर्यायसे (विनाशः) विनाश (पुनः) और (केनचित् अन्येन) किसी अन्य पर्यायसे (उत्पाद) उत्पाद (पुनः) तथा (तदन्येन) उन दोनोंसे भिन्न किसी सदृश पर्यायसे (ध्रुवं स्यात्) ध्रौव्य होता है।

भावार्थ— पूर्व पर्यायके नाशसे व्यय और उत्तर-नवीन पर्यायके उत्पादसे उत्पाद तथा इन दोनो पर्यायोंसे विलक्षणता रखनेवाली सदृशतासे ध्रौव्य होता है। इसलिए तीनोंका, एकसमयमें होनेरूप हमारा प्रकृत कथन अविरूद्धही सिद्ध होता है।

दृष्टान्त।

संदृष्टिः पादपवत् स्वयमुत्पन्नः सदंकुरेण यथा।
नष्टो बीजेन पुनर्ध्रुवमित्युभयत्र पादपत्वेन ॥ २४४ ॥

अन्वयार्थः— (**सन्दृष्टिः पादपवत्**) उदाहरण वृक्षकी तरह है कि (**यथा**) जैसे वह वृक्ष (**सदंकुरेण**) सदात्मक अंकुर रूपसे (**स्वयं**) स्वत (**उत्पन्न**) उत्पन्न है (**बीजेन नष्ट**) बीज रूपसे नष्ट है (**पुनः**) और (**उभयत्र**) दोनों अवस्थाओंमें (**पादपत्वेन**) वृक्षपनेसे (**ध्रुवं इति**) ध्रौव्य ऐसा भी है अर्थात् वृक्षमें भिन्न २ अपेक्षासे तीनोंही एक समयमें होते हैं।

भावार्थः— पूर्वोक्त कथनका साधक दृष्टात यह है कि जैसे वृक्षमें स्वयंसत्रूप अंकुर अवस्थासे उत्पाद और बीजरूप अवस्थाके अभावसे उसी समयमें व्यय तथा बीजके अभाव व अंकुरके उत्पादरूप दोनोंही अवस्थाओंमें सामान्य पनेसे पादपत्व पाया जाता है। इसलिए भिन्न २ अपेक्षासे बीजाभाव, अंकुरोत्पाद, और पादपत्व एकसमयमें सिद्ध होते हैं। वैसेंही सत्‌मेंभी एकसमयमें उत्पादव्यय तथा ध्रौव्य ये तीनों सिद्ध होते हैं।

ऐसा नहीं है कि।

न हि बीजेन विनष्ट स्यादुत्पन्नश्च तेन बीजेन।
ध्रौव्यं बीजेन पुन स्यादित्यध्यक्षपक्षबाध्यत्वात् ॥ २४५ ॥

अन्वयार्थ— (**च**) किन्तु ('**येन**' **बीजेन विनष्टः**) जिस बीज रूपसे विनष्ट हुआ है (**तेन बीजेन**) उसी बीजसे उत्पन्न (**पुनः**) और (**बीजेन**) उसी बीजसे (**ध्रौव्यं**) ध्रौव्य (**न हि स्यात्**) नहीं

होता है क्योंकि (इति) इस प्रकारके माननेसे (अध्यक्षपक्षवाध्यत्वात्) यह पक्ष प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित हो सकता है अर्थात् उसमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधा आती है ।

भावार्थ—उपर्युक्त दृष्टान्तको पुष्ट करनेके लिए व्यतिरेकपूर्वक कथन करते हैं कि जिस बीजरूपसे वह वृक्ष नष्ट है उसी बीजरूपसे वह उत्पन्न तथा ध्रौव्यात्मक नहीं माना गया है । क्योंकि ऐसा माननेपर प्रत्यक्षसे बाधा आ सकती है ।

किन्तु ऐसा है ।

उत्पादव्ययोरपि भवति यदात्मा स्वयं सदेवेति ।
तस्मादेतद्द्वयमपि वस्तु सदेवेति नान्यदस्ति सतः ॥ २४६ ॥

अन्वयार्थः— (यत्) जिस कारणसे (उत्पादव्ययोः अपि) उत्पाद और व्यय दोनोंकाही (आत्मा) आत्मा (स्वयं) स्वयं (सदेव इति भवति) सत् यहही है (तस्मात्) इसलिए (एतत् द्वयं अपि वस्तु) ये दोनों और वस्तु अर्थात् ध्रौव्य इस प्रकार ये तीनों (सदेव इति) सत्ही हैं (सत) सत्से (अन्यत् न अस्ति) अन्य नहीं हैं-भिन्न नहीं है ।

भावार्थः— उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनोंही स्वयं सत् रूपही पडते हैं । सत्से भिन्न सिद्ध नहीं होते हैं । इसलिए तीनोंको भी वास्तविक मानना ठीक है । किन्तु नं. २०७ वे पद्यकी शकानुसार उत्पाद, व्ययको केवल परिणतिरूप मानकर द्रव्यसे सर्वथा अतिरिक्त-भिन्न नहीं मानना चाहिये ।

सारांश ।

पर्यायादेशत्वादस्त्युत्पादो व्ययोऽस्ति च ध्रौव्यम् ।
द्रव्यार्थादेशत्वान्नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न ध्रौव्यम् ॥ २४७ ॥

अन्वयार्थ — (पर्यायादेशत्वात्) पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे (उत्पादः अस्ति) उत्पाद है

(व्ययः अस्ति) व्यय है (च) और (ध्रौव्यं) ध्रौव्य है तथा (द्रव्यार्थादेशत्वात्) द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे (न उत्पाद अपि) न उत्पादही है ('न' व्ययः अपि) न व्ययही है और (न ध्रौव्यं) न ध्रौव्यही है।

भावार्थः— उत्पाद व्यय और ध्रौव्यके कथनका सब मथितार्थ यह है कि उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य ये तीनों पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे कहे जाते हैं। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे नहीं। क्योंकि अगुरुलघु गुणके निमित्तसे प्रतिसमय परिणमनशील जीव व पुद्गल द्रव्यमें, सदृश और विसदृश दोनोंही प्रकारके परिणमन पाये जाते है। तथा धर्म, अधर्म, आकाश व काल इन द्रव्योंमें प्रतिसमय सदृशही परिणमन पाया जाता है। प्रदेशवत्व गुणमुखसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावानुसार होनेवाले परिणमनको उत्पाद, व्यय कहते हैं। तथा अस्तित्व गुणमुखसे सर्व गुणोंका जो सदृश परिणमन होता रहता है वह ध्रौव्य शब्दसे कहा जाता है।

सदृश और विसदृश दोनोंहीं अवस्थाओंमें अंशकल्पना होती है। तथा अंशकल्पनाकोही पर्याय कहते हैं। इसलिए पर्यायको विषय करनेवाले पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासेही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों कहे गये हैं। द्रव्यार्थिक नयका विषय अभेद है। अंश कल्पना नहीं है। इसलिए द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे उत्पादादिक तीनोंही नहीं है ऐसा कहा जाता है।

जीव और पुद्गलोंमें वैभाविक नामका एक गुण है। जिसके कि निमित्तसे पुद्गलोंमें सजातीय तथा विजातीय दोनों प्रकारके बन्ध हो सकते हैं। और जीव द्रव्यमें सजातीय बन्ध न- होकर केवल विजातीय बन्धही होता है। क्योंकि पुद्गलमें सजातीय व विजातीय, दोनों प्रकारके बन्ध, जिसके निमित्तसे हो सकते हैं। ऐसी दो प्रकारकी वैभाविक शक्ति मानी हैं। तथा जीवमें जिसके निमित्तसे विजातीय बन्ध हो रहा है ऐसी एक प्रकारकीही वैभाविक— शक्ति मानी हैं।

इसलिए पुद्गलके साथ, जीवका सम्बन्ध होनेसे, स्थूल व्यन्जन पर्यायें होतीं हैं। घडे और मिट्टीके दृष्टान्त पूर्वक जीवकी, देव मनुष्यादि पर्यायोंमें जो उत्पाद व्यय घटाए हैं वे स्थूल व्यन्जन पर्यायकी अपेक्षासे घटाए हैं। तथा इन्हीं स्थूल व्यजन पर्यायोंमें व्यतिरेकका लक्षण घटता है इसलिए इन्हें व्यतिरेकी भी कह सकते हैं। किन्तु प्रति—

समय जो उसी प्रदेशवत्व गुणमुखसे उत्पाद व्ययका क्रम जारी रहता है उसे सूक्ष्म व्यंजन पर्याय कहते है। इसी सूक्ष्म व्यंजन पर्यायकी अपेक्षासे पर्यायोंको क्रमवर्ती कहते है।

और धर्मादिक शेष चार द्रव्योंमें स्वाभाविकरीतिसे अगुरुलघु गुणनिमित्तक जो तरतमभाव होता रहता है उसीकी अपेक्षासे गुणोंमें उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य होते रहते हैं अर्थात इन द्रव्योंमें अगुरुलघु गुणके कारण, प्रदेशवत्व गुणमुखसे होनेवाले परिणमनको उत्पाद, व्यय और शेष गुणोंके निमित्तसे होनेवाले परिणमनको ध्रौव्य कहते हैं। इस प्रकार पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सब द्रव्योंमें उत्पाद, व्यय तथा धौव्य ये तीनों घट जाते हैं। अब आगे–उत्पादादिक तीनोंकीही व्यवस्था युक्तियुक्त कैसी है इसका ऊहापोहपूर्वक विचार करते हैं।

शंका।

ननु चोत्पादेन सता कृतमसतैकेन वा व्ययेनाऽथ।
यादि वा ध्रौव्येण पुनर्यदवश्यं तत्त्रयेण कथमिति चेत् ॥ २४८ ॥

अन्वयार्थ — [ननु च] शंकाकारका कहना है कि [उत्पादेन एकेन सता कृतं] केवल एक सत्रूप उत्पादसेही काम चल जायगा [अथवा एकेन असता व्ययेन कृतं] अथवा असत्रूप एक व्ययके द्वाराही कार्य सिद्ध हो जायगा [यदि वा] अथवा [ध्रौव्येण कृतं] निरपेक्ष ध्रौव्यसेही काम चल जायगा [पुनः अवश्यं तत्-त्रयेण यत् 'कृतं भवति' तत् कथं] फिर तीनोंको अवश्य पाया जाना चाहिये तबही वस्तु स्वरूप कहा जा सकता है इसका क्या कारण है [इति चेत्] यदि ऐसी आशंका की जाय तो —

भावार्थ — शंकाकारका कहना है कि जो उत्पादादिक तीनोंही भिन्न २ अपेक्षाओंसे एककालवर्ती बताए हैं उन तीनोंकोही कार्यकारी न मान करके केवल इतर द्वय निरपेक्ष किसी एकको ही कार्यकारी क्यों नहीं माना जाय ?

समाधान ।

तन्न यदविनाभावः प्रादुर्भावध्रुवव्ययानां हि ।
यस्मादेकेन विना न स्यादितरद्द्वयं तु तन्नियमात् ॥ २४९ ॥

अन्वयार्थः— [तन्न] वह ठीक नहीं है [यत्] क्योंकि [हि] निश्चयसे [प्रादुर्भावध्रुवव्ययानां] उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य इन तीनोंका परस्परमें [अविनाभावः] अविनाभाव सम्बन्ध है और अविनाभाव सम्बन्ध इस कारणसे है कि [यस्मात्] जिस कारणसे [एकेन विना] एकके विना [तत् इतरत् द्वयं] वे शेष दोनों भी [नियमात्] नियमसे [न स्यात्] नहीं होते हैं ।

भावार्थ— शंकाकारका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होनेसे वे तीनों युगपत् पाये जाते हैं । इसलिए उन तीनोंमेंसे किसी एकके भी नहीं माननेसे शेष दो भी किसी तरह सिद्ध नहीं हो सकते हैं ।

अपि च द्वाभ्यां ताभ्यामन्यतमाभ्यां विना न चान्यतरत् ।
एकं वा तदवश्यं तत्त्रयमिह वस्तु संसिध्यै ॥ २५० ॥

अन्वयार्थ—(अपिच) तथा (अन्यतमाभ्यां ताभ्यां द्वाभ्यां विना) किन्हीं अन्यतम उन दोनों के विना (अन्यतरत्,एक वा नच) वह अन्यतर एक भी नहीं हो सकता है (तत्) इसलिए (अवश्यं) अवश्यही (इह) यहांपर (वस्तुसंसिध्यै) वस्तुकी संसिद्धिके लिए (तत्त्रयं) वे उत्पादादिक तीनों मानना चाहिये ।

भावार्थः— उत्पादादिक तीनोंमेंसे किन्हीं दो के विना एककी भी सिद्धि नहीं हो सकती है । इसलिए वस्तुकी संसिद्धिके लिए तीनोंकोही आवश्यक माना है । आगे–इसी अर्थका स्पष्टीकरण करते है ।

उत्पादके विना व्यय सिद्ध नही हो सकता है ।

अथ तद्यथा विनाशः प्रादुर्भावं विना न भावीति ।
नियतमभावस्य पुनर्भावेन पुरस्सरत्वाच्च ॥ २५१ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ**) अब (**तद्यथा**) उसका खुलासा इसप्रकारसे है कि (**अभावस्य च पुनः**) अभावको (**भावेन**) भावके द्वारा (**पुरस्सरत्वात्**) पुरस्सर होनेसे अर्थात् अभावको भाव पूर्वक होनेसे (**नियतं**) नियमसे (**प्रादुर्भाव विना**) उत्पादके विना (**विनशः इति न भावी**) विनाश यह नहीं हो सकता है।

भावार्थः—अब, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंके अविनाभाव सम्बन्धका खुलासा करते हैं कि किसीके भी अभावका कथन, उसके सद्भावकी अपेक्षा रखता है अर्थात् सद्भावपूर्वक अभावका कथन किया जाता है। इसलिए इस प्रतीतिके अनुसार उत्पादके नहीं माननेपर व्यय सिद्ध नहीं हो सकता है।

व्ययके विना उत्पाद सिद्ध नहीं हो सकता है।

उत्पादोऽपि न भावी व्ययं विना वा तथा प्रतीतत्वात्।
प्रत्यग्रजन्मनः किल भावस्याभावतः कृतार्थत्वात् ॥ २५२ ॥

अन्वयार्थः— (**किल**) निश्चयसे (**प्रत्यग्रजन्मन**) नवीन रूपसे उत्पन्न होनेवाले भावको (**अभावतः**) अभावसे (**कृतार्थत्वात्**) कृतार्थ होनेसे अर्थात् भावको अभावपूर्वक होनेसे (**वा**) अथवा (**तथाप्रतीतत्वात्**) तथारूपसे प्रतीति होनेसे (**उत्पादोऽपि**) उत्पाद भी (**व्ययं विना न भावी**) व्ययके विना नहीं हो सकता है।

भावार्थः— जिसप्रकार अभावकी प्रतीति भावपूर्वक होती है उसीप्रकार किसीका प्रादुर्भाव भी किसीके अभावपूर्वक ही प्रतीत होता है अर्थात् अभावके विना किसीका सद्भाव नहीं कहा जासकता है। क्योंकि प्रागभावके अभावही नवीन उत्पाद रूप पडता है। इसलिए व्ययके विना उत्पाद भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

ध्रौव्यके विना उत्पाद और व्यय सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

उत्पादध्वंसौ वा द्वावपि न स्तो विनापि तद्ध्रौव्यम्।
भावस्याऽभावस्य च वस्तुत्वे सति तदाश्रयत्वाद्वा ॥ २५३ ॥

अन्वयार्थः— (**वा**) अथवा (**भावस्य च अभावस्य वस्तुत्वे सति वा**) भाव और अभावके

वस्तुत्व होते हुए भी (तदाश्रयात्) ध्रौव्यके अश्रित होनेसे (उत्पादध्वंसौ द्वौ अपि) उत्पाद और व्यय ये दोनों भी (तद् ध्रौव्यं विनापि न स्तः) उस ध्रौव्यके विना भी नहीं हो सकते हैं।

भावार्थः— भाव तथा अभावको वस्तुपना है अर्थात वस्तु भावाभावात्मक होती है। और वस्तुको भावाभावात्मक माननेपरही उत्पादव्यय सिद्ध हो सकते हैं। क्योंकि वस्तुत्व निरपेक्ष उत्पादव्यय अवस्तु ठहरते हैं। अतः वे कार्यकारी नहीं कहे जा सकते हैं। इसलिए वस्तुके वस्तुत्वरूप ध्रौव्यके नहीं माननेपर उत्पादव्यय ये दोनो भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं। अर्थात् उत्पाद व्ययके विना ध्रौव्यकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है।

उत्पाद व्ययके विना ध्रौव्यकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है।

अपि च ध्रौव्यं न स्यादुत्पादव्ययद्वयं विना नियमात्।
यदिह विशेषाभावे सामान्यस्य च सतोप्यभावत्वात् ॥ २५४ ॥

अन्वयार्थः— (**अपि**) और (**ध्रौव्यं च**) ध्रौव्य भी (**नियमात्**) नियमसे (**उत्पादव्ययद्वयं विना**) उत्पाद व्यय इन दोनोंके विना (**न स्यात्**) नहीं होता है (**यत्**) क्योंकि (**इह**) यहांपर (**विशेषाभावे**) विशेषके अभावमें (**सतः अपि सामान्यस्य**) सदात्मक भी सामान्यका (**अभावत्वात्**) अभाव हो जाता है।

भावार्थः— वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। विशेष निरपेक्ष सामान्य, और सामान्य निरपेक्ष, विशेष वस्तु नहीं ठहरती हैं। ध्रौव्य सामान्यरूप होता है। तथा उत्पादव्यय विशेषरूप होते हैं। इसलिए उत्पादव्ययके विना ध्रौव्य भी नहीं बन सकता है। क्योंकि उत्पादव्ययात्मक विशेषके विना ध्रौव्यात्मक सामान्यकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है

अतः तीनोंकोही व्यवस्था युक्तियुक्त है।

एवं चोत्पादादित्रयस्य साधियसी व्यवस्थेह।
नैवान्यथाऽन्यनिन्हववदतः स्वस्यापि घातकत्वाच्च ॥ २५५ ॥

अन्वयार्थः— (**एवं च**) इस प्रकारसेही (**इह**) यहापर (**उत्पादादित्रयस्य**) उत्पादादिक तीनोंकी

(व्यवस्था साधीयसी) व्यवस्था बहुत ठीक है (च) किन्तु (अन्यनिन्हववदतः) उन उत्पादादिक तीनोंमेंसे किसी एकके निन्हवको कहनेवाला (स्वस्यापि) अपने पक्षका भी (घातकत्वात्) घातक होता है इसलिए (अन्यथा नैव) केवल उत्पादादिरूप किसी एककी व्यवस्था ठीक नहीं है ।

भावार्थः— इसप्रकार उत्पादव्यय और ध्रौव्य इन तीनोंमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध सिद्ध होनेसे तीनों ही का मानना कार्यकारी है । अन्यथा मानना कार्यकारी नहीं है । क्योंकि तीनोंमेंसे किसी एकके भी अभावको कहने वालेके यहां, इतर दो की सिद्धि भी न हो सकनेसे, उसके पक्षका भी घात हो जाता है । आगे-इसी अर्थका स्पष्टीकरण करते है ।

केवल उत्पादके माननेमें दोष ।

अथ तद्यथा हि सर्गं केवलमेकं हि मृगयमाणस्य ।
असदुत्पादो वा स्यादुत्पादो वा न कारणाभावात् ॥ २५६ ॥

अन्वयार्थ — (अथ तद्यथा) अब उसका खुलासा इसप्रकार है कि (हि) निश्चयसे (केवलं) केवल (एकं सर्गं हि मृगयमाणस्य) एक उत्पादकोही खोजनेवाले—माननेवालेके (असदुत्पादः स्यात्) या तो असतका उत्पाद होगा (वा) अथवा (कारणाभावात्) कारणोंके अभावसे) उत्पादो वा न स्यात्) उत्पाद ही नहीं होगा ।

भावार्थ — पूर्वोक्त कथनका स्पष्टीकरण यह है कि यदि कोई इतर निरपेक्ष, केवल उत्पादकोही माने तो उसे कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति माननेके कारण; असतका उत्पाद मानना पडेगा । अथवा कारणके विना कार्य की उत्पत्ति होती नहीं है, इस न्यायसे वह उत्पाद, उत्पादही नहीं कहला सकेगा ।

केवल व्ययके माननेमें दोष ।

अप्यथ लोकयतः किल संहारं सर्गपक्षनिरपेक्षम् ।
भवति निरन्वयनाशः सतो न नाशोऽथवाप्यहेतुत्वात् ॥ २५७ ॥

अन्वयार्थः— (अथ) तथा (किल) निश्चयसे (सर्गपक्षनिरपेक्षं) उत्पादरूप पक्षकी अपेक्षा न रखकरके (संहारं अपि) केवल व्ययको भी (लोकयतः) देखनेवालेके—माननेवालेके (सतः) सत्का (निरन्वयनाशः) निरन्वय नाश (अथवा) अथवा (अहेतुत्वात्) व्ययके कारणोंके अभावसे (नाशः अपि न भवति) नाश भी नहीं होगा।

भावार्थः— इतर निरपेक्ष उत्पादकी तरह केवल व्ययको मानने वालेके भी यहां, व्यय निर्हेतुक होनेसे या तो सत्का निरन्वय नाश मानने पडेगा। अथवा निर्हेतुक नाश होता नही है। अर्थात् अभाव भी भावसापेक्ष होता है इसलिए वह इतर निरपेक्ष व्यय, व्ययपदके कहलानेके योग्यही नहीं रहेगा।

केवल ध्रौव्यके माननेमें दोष।

अथ च ध्रौव्यं केवलमेकं किल पक्षमध्यवसतश्च ।
द्रव्यमपरिणामि स्यात्तदपरिणामाच्च नापि तद्ध्रौव्यम् ॥ २५८ ॥

अन्वयार्थः— (अथ च) तथा (किल) निश्चयसे (केवलं एकं ध्रौव्यं पक्षं च अध्यवसतः) केवल एक ध्रौव्य है इस पक्षको विश्वास करने-माननेवालेके भी (द्रव्यं अपरिणामि स्यात्) द्रव्य परिणामी नहीं होगा (च) और (तदपरिणामात्) उसके परिणामी न होनेसे (तत् ध्रौव्यं अपि न) वह ध्रौव्य, ध्रौव्य भी नहीं कहला सकेगा।

भावार्थः— इतर निरपेक्ष केवल ध्रौव्यको माननेवालेके भी यहां, दो दोष आते हैं। एक तो उत्पाद व्ययके विना परिणाम न हो सकनेसे या तो द्रव्य अपरिणामी ठहरेगा। और दूसरा दोष यह आवेगा कि परिणामके विना द्रव्यका अस्तित्वभी सिद्ध नहीं होता है इसलिए निरपेक्ष ध्रौव्य, ध्रौव्यही नहीं कहा जा सकेगा।

केवल उत्पादव्ययके माननेमें दोष।

अथ च ध्रौव्योपेक्षितमुत्पादादिद्वयं प्रमाणयतः ।
सर्वं क्षणिकमिवैतत् सदभावे वा व्ययो न सर्गश्च ॥ २५९ ॥

अन्वयार्थः— (अथ च) तथा (ध्रौव्योपेक्षितं) ध्रौव्यको छोड करके केवल (उत्पादादिद्वयं प्रमाणयत) उत्पादादिक दोनोंको प्रमाण माननेवालेके यहां (एतत् सर्वं क्षणिक इव स्यात्) यह सब कथन क्षणिककी तरह हो जायगा (वा) अथवा (सद्भावे) सदात्मक ध्रौव्यके अभावमें (व्ययः) व्यय (च) और (सर्गः न) उत्पाद भी नहीं होगा ।

भावार्थ — ध्रौव्यको छोडकर केवल उत्पाद और व्ययको माननेवालेके यहां दो दोष आवेंगे । एक तो नित्यताका सर्वथा अभाव माननेसे, सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिकके समान हो जावेंगे । दूसरे-तीनोंका परस्परमें अविनाभाव सम्बन्ध सिद्ध होनेसे, ध्रौव्यके विना एक प्रकारसे सत्का भी अभाव हो जायगा । इसलिए उत्पाद व्यय भी नहीं बन सकते हैं ।

उपसंहार ।

एतद्दोषभयादिह प्रकृतं चास्तिक्यमिच्छता पुंसा ।
उत्पादादीनामयमविनाभावोऽवगन्तव्यः ॥ २६० ॥

अन्वयार्थः— अतः (एतद् दोषभयात्) इन दोषोंके भयसे (च) और (प्रकृतं आस्तिक्यं) प्रकृत आस्तिक्यको (इच्छता पुंसा) चाहनेवाले पुरुषको (इह) यहांपर (उत्पादादीनां) उत्पादादिक तीनोंका (अय अविनाभाव) यह उक्त अविनाभावही (अवगन्तव्यः) मानना चाहिए ।

भावार्थः— इसलिए उपर्युक्त दोषोंको दूर करनेके लिये प्रकृत आस्तिक्यका विश्वास करनेवाले तत्वज्ञानियोंको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका पूर्वोक्त अविनाभावही मानना चाहिए । इसप्रकार २४८ वें पद्यसे लेकर २६० वें पद्यतक उत्पादादिकत्रयका परस्परमें अविनाभाव बताकर तीनोंका एक कालमेंही सद्भाव युक्तियुक्त है यह सिद्ध किया ।

इस तरह ७१ वें पद्यसे लेकर २६० पद्यतक शंका समाधानपूर्वक जो गुणपर्याययुक्त द्रव्य हैं वही सब उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त सत् है यह विशद रीतिसे सिद्ध करके आगे–अनेकान्तात्मक ज्ञानकी शुद्धिके लिए ग्रन्थकार वस्तु स्थितिके निरूपणका प्रारम्भ करते हैं ।

अनेकान्तात्मकवस्तुस्थितिके निरूपणकी प्रतिज्ञा।

उक्तं गुणपर्ययवद्द्रव्यं यत्तद्व्ययादियुक्तं सत्।
अथ वस्तुस्थितिरिह किल वाच्याऽनेकान्तबोधशुद्ध्यर्थम् ॥ २६१ ॥

अन्वयार्थ.—(यत्) जो (गुणपर्ययवद्द्रव्यं) गुण पर्यायवान् द्रव्य है (तत्) वही (व्ययादियुक्तं सत्) व्ययादिकसे युक्त सत् है यह (उक्तं) कहा (अथ) अब (इह) यहांपर (किल) निश्चयसे (अनेकान्तबोधशुद्ध्यर्थं) अनेकान्तात्मक ज्ञानकी शुद्धिके लिये (वस्तुस्थितिः वाच्या) वस्तुकी स्थिति कहनेके योग्य है।

भावार्थः— इसप्रकार जो यह गुणपर्यायवान् द्रव्य है वही उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त सत् है अर्थात् 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्, और' सद्द्रव्य लक्षणं' इन दोनों द्रव्यके लक्षणोंमें परस्पर व्यंज्य व्यंजक भाव बताकर एक वाक्यताका निरूपण किया। अब आगे अनेकान्तात्मक ज्ञानकी शुद्धिके लिए वस्तुकीस्थिति प्रतिपादित की जाती है। अर्थात् वस्तु सामान्य रूपसे किन २ परस्पर विरोधी धर्मोंसे युक्त है इसका निरूपण करते हैं। क्योंकि इन्हीं परस्पर विरोधी धर्मोंके निमित्तसे वस्तु अनेक धर्मात्मक कहलाती है और इन्हींके समझनेसेही अनेकान्तात्मक ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

वस्तु युग्मचतुष्टयसे गुथी है।

स्यादस्ति च नास्तीति च नित्यमनित्यं त्वनेकमेकं च।
तदतच्चेति चतुष्टययुग्मैरिव गुम्फितं वस्तु ॥ २६२ ॥

अन्वयार्थः—(स्यात्) कथंचित् (अस्ति) है (च) और (नास्ति) नहीं है (इति) यह (च) तथा (नित्यं) नित्य (अनित्यं) अनित्य (तु) और (एकं) एक (च) तथा (अनेकं) अनेक (च) और (तदतत्) तत् वा अतत् (इति) इसप्रकार (चतुष्टययुग्मैः) इन चार युगलोंके द्वारा (वस्तु) वस्तु (गुम्फित इव) गुथी हुई की तरह है।

भावार्थः— प्रत्येक वस्तु १ अस्ति नास्ति २ नित्य अनित्य ३ एक अनेक और ४ तत् अतत् इन चार परस्पर विरोधी धर्मोंके युगलोंसे गुथी हुई है-युक्त है ।

स्पष्टीकरण ।

अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्कं च ।
द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथाथवाऽपि भावेन ॥ २६३ ॥

अन्वयार्थः— (अथ) अब (तद्यथा) उसका खुलासा इसप्रकार है कि (हि) निश्चयसे (द्रव्येण) द्रव्यके द्वारा (च) और (क्षेत्रेण) क्षेत्रके द्वारा (तथा) तथा (कालेन) कालके द्वारा (अथवा) अथवा (भावेन अपि) भावके द्वारा भी (यत् अस्ति) जो है (तदेव नास्ति) वही परद्रव्य क्षेत्रादिसे नहीं है (इति) इस प्रकारसे द्रव्यादि रूपसे (तच्चतुष्कच) अस्ति नास्ति आदिका चतुष्टय हो जाता है ।

भावार्थः— जैसे जो वस्तु सामान्यरूपसे है वही वस्तु विशेपरूपसे नहीं है । इसप्रकार सामान्य विशेप रूपसे अस्तिनास्तिका युगल सिद्ध होता है । वैसेही सामान्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, तथा भावकी अपेक्षासे वस्तु है और विशेष द्रव्य, क्षेत्र, काल, तथा भावकी अपेक्षासे नहीं है । इसलिए सामान्य विशेष द्रव्य, क्षेत्र काल, और भावकी अपेक्षासे अस्ति नास्तिके चार युगल हो जाते हैं । अब आगे इन्ही द्रव्यादिक चारोंकी अपेक्षासे अस्ति नास्तिका कथन करते हैं ।

द्रव्यकी अपेक्षा अस्ति नास्ति ।

एका हि महासत्ता सत्ता वा स्यादवान्तराख्या च ।
पृथक्प्रदेशवत्वं स्वरूपभेदोपि नानयोरेव ॥ २६४ ॥

अन्वयार्थ— (हि) निश्चयसे (एका महासत्ता) एक महासत्ता (वा) तथा दूसरी (अवान्तराख्या सत्ता स्यात्) अवान्तर नामकी सत्ता है, (अनयोःएव) इन दोनोंहीमें (पृथक्प्रदेशवत्वं न) पृथक प्रदेशपना नहीं है अर्थात् इनके भिन्न २ प्रदेश नहीं है (अपि) तथा (स्वरूपभेदःएव न) स्वरूप भेद भी नहीं हैं ।

भावार्थः— एक महासत्ता और दूसरी अवान्तर सत्ता इसप्रकार विवक्षावश सत्ताके दो भेद हैं। वास्तवमें दोनोंही सत्ताओंके न तो प्रदेशही भिन्न हैं तथा न स्वरूपही भिन्न है।

महासत्ताका अर्थ।

किन्तु सदित्यभिधानं यत्स्यात्सर्वार्थसार्थसंस्पर्शि।
सामान्यग्राहकत्वात् प्रोक्ता सन्मात्रतो महासत्ता॥ २६५॥

अन्वयार्थः— (**किन्तु**) किन्तु (**सर्वार्थसार्थसंस्पर्शि**) सम्पूर्ण अर्थोंको युगपत् विषय करनेवाला (**यत्**) जो (**सत् इति अभिधानं**) सत् यह कथन (**स्यात्**) है वही (**सन्मात्रतः**) केवल सत् रूपसे (**सामान्यग्राहकत्वात्**) सामान्यका ग्राहक होनेसे (**महासत्ता प्रोक्ता**) महासत्ता कहा जाता है।

भावार्थ—किन्तु सर्व पदार्थ सत्रूप है। सतपनेका उलघन नहीं करते हैं। इसलिए सामान्यपनेसे युगपत संपूर्ण अर्थोंका वाचक जो सत् है उसेही महासत्ता कहते हैं। अर्थात् महासत्तामें महाशब्द व्यापकका वाचक है। इसलिए संपूर्ण पदार्थोंमें व्यापक रूपसे रहनेवाली सत्ताको महासत्ता कहते हैं।

अवान्तर सत्ताका अर्थ।

अपिचावान्तरसत्ता सद्द्रव्यं सन्गुणश्च पर्यायः।
सच्चोत्पादध्वंसौ सदिति ध्रौव्यं किलेति विस्तारः॥ २६६॥

अन्वयार्थः— (**अपि च**) तथा (**सत् द्रव्यं**) सत द्रव्य है (**सन् गुणः**) सत्गुण है (**च**) और (**पर्यायः**) सत् पर्याय है (**च**) तथा (**उत्पादध्वंसौ सत्**) सतही उत्पाद व्यय है (**सत् इति ध्रौव्यं**) सत्ही ध्रौव्य है (**इति विस्तारः किल अवान्तरसत्ता**) इस प्रकारके विस्तारका नाम ही निश्चयसे अवान्तर सत्ता है।

भावार्थः— सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् पर्याय, सत् उत्पाद, सत् व्यय और सत् ध्रौव्य इस प्रकार विशेषण विशिष्ट सत्ताके विशेष विस्तारको अवान्तर सत्ता कहते है अर्थात् अवान्तर सत्तामें अवान्तर शब्द व्याप्यका वाचक है, इस लिए प्रत्येक पदार्थ व उनके गुण तथा पर्यायवर्ती व्याप्यसत्ताको अवान्तर सत्ता कहते हैं।

सारांश।

अयमर्थो वस्तु यदा सदिति महासत्तयावधार्येत।
स्यात्तदवान्तरसत्तारूपेणाभाव एव नतु मूलात् ॥ २६७ ॥

अन्वयार्थः— (अयं अर्थः) सारांश यह है कि (यदा) जिससमय (वस्तु) वस्तु (सत् इति) विना किसी विशेषणके सत् इत्याकारक (महासत्तया) महासत्ताके द्वारा (अवधार्येत) अवधारित की जाती है ('तदा') उस समय (तदवान्तरसत्तारूपेण) उस उसकी अवान्तरसत्तारूपसे (अभावः एव स्यात्) अभावही है (तु) किन्तु (मूलात् न) मूलसे नहीं है।

भावार्थः— अस्ति नास्तिरूप पदार्थके कहनेका प्रयोजन यह है कि यद्यपि वस्तु मूलरूपसे सदात्मकही है। तथापि विवक्षावश जिस समय वह वस्तु महासत्ताके द्वारा सतरूपसे प्रतिपादित की जाती हैं उससमय वह वस्तु अवान्तर सत्ताके द्वारा अभावरूपसे विवक्षित होती है। इसलिए प्रत्येक वस्तु अस्ति नास्तिरूप कही जाती है।

अपिचाऽवान्तरसत्तारूपेण यदावधार्यते वस्तु।
अपरेण महासत्तारूपेणाभाव एव भवति तदा ॥ २६८ ॥

अन्वयार्थः— (अपि च) अथवा (यदा) जिस समय (वस्तु) वस्तु (अवान्तरसत्तारूपेण) अवान्तरसत्तारूपसे-विशेषसत्तारूपसे (अवधार्यते) अवधारित की जाती है (तदा) उस समय (अपरेण महासत्तारूपेण) दूसरी महासत्तारूपसे—सामान्यात्मक सत् रूपसे (अभावः एव भवति) उस वस्तुका अभावही विवक्षित होता है।

भावार्थः— जिससमय अवान्तर सत्ताके द्वारा द्रव्य सत्, गुण सत्, इत्यादिरूपसे वस्तु, विशेष सत्वयुक्त विवक्षित होती है। उससमय महासत्ताके द्वारा वह वस्तु, सामान्य सत् रूपसे विवक्षित नहीं होती है। इसलिए महासत्तारूपसे असत् है। इसप्रकारसे भी वस्तु अस्ति नास्तिरूप है।

दृष्टान्त ।

दृष्टान्तः स्पष्टोऽयं यथा पटो द्रव्यमस्ति नास्तीति ।
पटशुक्लत्वादीनामन्यतमस्याविवक्षितत्वाच्च ॥ २६९ ॥

अन्वयार्थः— (अयं दृष्टान्तः स्पष्टः) उक्त कथनकी सिद्धिके लिए यह उदाहरण ठीक है कि (यथा) जैसे (पटः द्रव्यं अस्ति) पट रूप द्रव्य पटत्व सामान्यकी अपेक्षासे है (च) और (पटशुक्लत्वादीनामन्यतमस्याविवक्षितत्वात्) पटके विशेष शुक्लत्वादिक गुणोंमेंसे किसी भी एक गुणकी विवक्षा न होनेसे (नास्ति) नहीं है (इति) इसप्रकार पट कथंचित् अस्ति नास्ति स्वरूप है।

भावार्थ— पूर्वोक्त कथनका साधक दृष्टांत यह है कि जैसे जिससमय पटद्रव्य, पटत्व सामान्यसे विवक्षित होता है उससमय वह व्यापक पटत्व सामान्यसे तो है। किन्तु पटसम्बन्धी शुक्लादिक गुणोंमेंसे व्याप्य किसी एक गुणकी विवक्षा न होनेसे नहीं भी है। वैसेही द्रव्यकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तु अस्ति रूप और गुणादिककी अपेक्षासे नास्ति रूप प्रतिपादित होनेके कारण प्रमाण दृष्टिसे अस्ति नास्ति रूप है।

इसप्रकार द्रव्य दृष्टिसे अस्ति नास्ति रूप वस्तुको प्रतिपादन करके—आगे क्षेत्र दृष्टिसे अस्ति नास्ति रूप वस्तुको प्रतिपादित करते हैं।

क्षेत्रके भेद और उसका स्वरूप।

क्षेत्रं द्विधावधानात् सामान्यमथ च विशेषमात्रं स्यात् ।
तत्र प्रदेशमात्रं प्रथमं प्रथमेतरं तदंशमयम् ॥ २७० ॥

अन्वयार्थः— (अवधानात्) विवक्षावशसे (क्षेत्रं) क्षेत्र (सामान्यं) सामान्य (अथच) और (विशेषमात्रं) विशेषरूप इस प्रकार (द्विधा) दो प्रकारका (स्यात्) है (तत्र) उनमेंसे (प्रदेशमात्रं) केवल प्रदेश (प्रथमं) सामान्य क्षेत्र कहलाता है तथा (तदंशमयं) उस वस्तुके प्रदेशरूप अंशमय अर्थात् अमुक द्रव्य इतने प्रदेशवाला है इत्यादि (प्रथमेतरं) विशेष क्षेत्र कहलाता है।

होता है। उससमय उस अपेक्षासे तो वह आस्तिरूप है। और व्यापकरूप प्रदेश मात्रकी अपेक्षासे नास्तिरूप है।

दृष्टांत।

संदृष्टिः पटदेशः क्षेत्रस्थानीय एव नास्त्यस्ति।
शुक्लादितंतुमात्रादन्यतरस्याविवक्षितत्वाद्वा॥ २७३ ॥

अन्वयार्थः— (**सन्दृष्टिः**) इस विषयमें उदाहरण यह है कि (क्षेत्रस्थानीयः) क्षेत्र स्थानापन्न (पट-देश एव) पटरूप देशही (**शुक्लादितन्तुमात्रात्**) केवल शुक्लादि तन्तु सामान्यकी अपेक्षासे (**अस्ति**) आस्ति रूप है (**वा**) और (**अन्यतरस्य अविवक्षित्वात्**) किसी एक विशेषरूप तन्तु व गुणकी विवक्षा न होनेसे (**नास्ति**) नास्ति रूप है।

भावार्थः— उक्त कथनका साधक उदाहरण यह है कि यदि पटमें जितने प्रदेश हैं उन्हें पटका स्वक्षेत्र काल्पित किया जाय जो कि सम्पूर्ण तन्तु व शुक्लादिरूप पडता है तो वह पटका क्षेत्र सम्पूर्ण तन्तु और शुक्लादिरूप सामान्यपनेसे आस्तिरूप है। तथा तन्तुओं व शुक्लादि गुणोंमेसे किसीएक विशेषकी विवक्षासे नास्तिरूप है। इसप्रकार जैसे पट, सामान्य और विशेष क्षेत्रकी अपेक्षासे आस्तिनास्ति रुप पडता है। वैसेही द्रव्य भी सामान्य व विशेष क्षेत्रकी अपेक्षासे आस्तिनास्तिरूप पडता है।

कालका स्वरूप और उसके भेद।

कालो वर्तनमिति वा परिणमनं वस्तुनः स्वभावेन।
सोऽपि पूर्ववदद्वयमिह सामान्यविशेषरूपत्वात्॥ २७४ ॥

अन्वयार्थः— (**वर्तन इति**) वर्तना यह (**वा**) अथवा (**वस्तुनः स्वभावेन परिणमनं**) वस्तुका स्वभावसे प्रतिसमय होनेवाला परिणमन (**कालः**) काल कहलाता है और (**इह**) यहांपर (**सः अपि**) वह काल भी (**सामान्यविशेषरूपत्वात्**) सामान्य विशेषरूपसे (**पूर्ववत द्वय**) द्रव्य व क्षेत्रकी तरह दो प्रकार है।

भावार्थः— वर्तनाको अथवा वस्तुके प्रतिसमय होनेवाले स्वाभाविक परिणमनको काल कहते हैं। और वह कालभी द्रव्य और क्षेत्रकी तरह सामान्य विशेषरुपसे दो प्रकार है।

सामान्य तथा विशेषके लक्षणपूर्वक कालकृत अस्ति नास्ति।

सामान्यं विधिरूपं प्रतिषेधात्मा भवति विशेषश्च।
उभयोरन्यतरस्योन्मग्नत्वादस्ति नास्तीति ॥ २७५ ॥

अन्वयार्थः— (विधिरूपं) विधिरूप वर्तना व परिणमन (सामान्यं) सामान्य काल कहलाता है (च) और (प्रतिषेधात्मा) निषेधस्वरूप (विशेषः भवति) विशेषकाल कहलाता है तथा (उभयो.) इन दोनोंमेंसे (अन्यतरस्य उन्मग्नत्वात्) किसी एककी मुख्य विवक्षा होनेसे (अस्ति नास्ति इति) है और नहीं होता है ऐसे अर्थात् कालकृत अस्ति नास्ति रूप विकल्प होते है।

भावार्थ— विधिरूप वर्तना व परिणमन सामान्यकाल कहलाता है। और निषेधरूप परिणमन अर्थात् विशेषवर्तना विशेष काल कहलाता है। इसलिए इन दोनोंमेंसे किसी एकको मुख्य तथा दूसरेको गौण होनेके कारण कालकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति रूप भंग हो जाते हैं।

स्पष्टीकरण

तत्र निरंशो विधिरिति स यथा स्वयं सदेवेति।
तदिह विभज्य विभागैः प्रतिषेधश्चांशकल्पनं तस्य ॥ २७६ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन विधि और प्रतिषेधमें (निरंशः) अंश कल्पनाका न होना (विधिः इति) विधि यह है तथा (सः) वह विधि इसप्रकार है कि (यथा) जैसे (स्वयं सदेव इति) स्वय सत् ही है (च) और (इह) यहांपर (विभागैः) विभागोंके द्वारा (तत् विभज्य) उस सत्का विभाग करके (तस्य अंशकल्पनं प्रतिषेध) उसके अंशोंकी कल्पना प्रतिषेध कहलाता है।

भावार्थः— सामान्य और विशेषका खुलासा यह है कि किसी प्रकारकी अंशकल्पना न करनेको सामान्य अथवा विधि कहते हैं। जैसे द्रव्य, गुण, पर्याय आदिकी कल्पनासे रहित सत्के निरूपणको विधि कहते हैं। और द्रव्य, गुण, व पर्याय आदिका विभाग करके द्रव्य सत, गुणसत्, पर्यायसत् इस प्रकारकी अंश कल्पनाको विशेष किंवा प्रतिषेध कहते है।

तदुदाहरणं सम्प्रति परिणमनं सत्तयावधार्येत ।
अस्ति विवक्षितत्वादिह नास्त्यंशस्याऽविवक्षया तदिह ॥ २७७ ॥

अन्वयार्थः— (**सम्प्रति**) अब (**तदुदाहरणं**) उसका उदाहरण यह है कि जिससमय (**परिणमनं**) केवल परिणमन (**सत्तया**) सत्ताके द्वारा (**अवधार्येत**) निश्चित किया जाय उससमय वह (**इह**) यहांपर (**विवक्षितत्वात्**) विवक्षित होनेके कारण (**अस्ति**) अस्ति रूप काल है और (**अंशस्य अविवक्षया**) गुणादि विशेष अंशोंकी विवक्षा न होनेसे (**तत्**) वह गुणादि रूप काल (**इह**) यहांपर (**नास्ति**) नास्ति रूप काल है ।

भावार्थ— सामान्य और विशेषकी व्याख्या करके अब सामान्य तथा विशेषकालका खुलासा करते है कि सत् सामान्यरूप परिणमनकी विवक्षासे काल, सामान्यकाल कहलाता है। और सतके विवक्षित द्रव्य, गुण, व पर्यायरूप विशेष अंशोंके परिणमनकी अपेक्षासे काल विशेषकाल कहलाता है। इसप्रकार जिससमय सामान्यकालकी विवक्षा होती है उससमय सामान्यकी अपेक्षासे अस्तिरूप तथा विशेषकालकी विवक्षा न होनेसे नास्तिरूप कालकृत भंग हो जाते हैं।

दृष्टान्त ।

संदृष्टिः पटपरिणतिमात्रं कालायतस्वकालतया ।
अस्ति च तावन्मात्रान्नास्ति पटस्तन्तुशुक्लरूपतया ॥ २७८ ॥

अन्वयार्थः— (**सन्दृष्टि**) उदाहरण यह है कि (**कालायतस्वकालतया**) त्रिकाल सम्बन्धी अपने कालपनेसे अर्थात् प्रतिसमय परिणत रहने २ रूप पट द्रव्य सम्बन्धी स्वकालसे (**तावन्मात्रात्**) सामान्य कालकी विवक्षासे (**पटः**) पट (**पटपरिणतिमात्रं**) केवल पटके परिणमनरूप (**अस्ति**) है (**च**) और (**तन्तु शुक्लरूपतया**) पट सम्बन्धी तन्तु तथा शुक्लादिकरूप विशेष परिणमनकी विवक्षाकी अपेक्षासे (**नास्ति**) नहीं है ।

भावार्थः— जैसे जिससमय पट सदैव सामान्यरूपमे अपनी परिणतिरूप स्वकालकी विवक्षासे है उसीसमय वह पट, अपने तन्तु व शुक्लादिक रूप गुणोंमेंसे विशेषरूप किसी गुणकी विवक्षा न होनेसे नहीं भी है। वैसेही सत् जिस समय अपनी अभिन्न परिणतिसे विवक्षित होनेके कारण अस्तिरूप है । उसीसमय वहसत्, अपने द्रव्य, गुण, व पर्यायरूप

अंशोंकी विशेष परिणातिकी विवक्षा न होनेसे नास्तिरुप भी है। आगे–भावकी अपेक्षासे अस्ति नास्तिका विचार करते हैं।

भावका स्वरूप।

भावः परिणामः किल स चैव तत्त्वस्वरूपनिष्पत्तिः।
अथवा शक्तिसमूहो यदि वा सर्वस्वसारः स्यात ॥ २७९ ॥

अन्वयार्थः— (किल) निश्चयसे (परिणामः भावः) परिणाम भाव है (च) और (सः) वह (तत्त्वस्वरूपनिष्पत्तिः एव) तत्वके स्वरूपकी प्रातिरूपही पडता है (अथवा) अथवा (शक्तिसमूहः) गुणसमुदायका नाम भाव है (यदिवा) अथवा (सर्वस्वसारः) सम्पूर्ण द्रव्यके निजसारका नाम भाव (स्यात्) है।

भावार्थः— वस्तुके वस्तुत्वको प्राप्त करनेवाले परिणामको अथवा गुणसमुहको अथवा सारभुत वस्तुके सर्वस्व को भाव कहते हैं।

भावके भेद।

स विभक्तो द्विविधः स्यात्सामान्यात्मा विशेषरूपश्च।
तत्र विवक्ष्यो मुख्यः स्यात्स्वभावोऽथ गुणोहि परभावः ॥ २८० ॥

अन्वयार्थ— (विभक्तः सः) विभाग किये जानेपर वह (सामान्यात्मा) सामान्य रूप भाव (च) और (विशेषरूपः) विशेषरूप भाव इसप्रकारसे (द्विविधः स्यात्) दो प्रकारका है (तत्र) उन दोनों-मेंसे (हि) निश्चयकरके (विवक्ष्यः स्वभावः मुख्यः स्यात्) विवक्षा करनेके योग्य स्वभाव अर्थात् विवक्षित स्वभाव मुख्य कहलाता है (अथ) और (परभावः) अविवक्षित परभाव–अन्यभाव (गुणः) गौण भाव कहलाता है।

भावार्थ— वह भाव सामान्य और विशेष रुपसे दो प्रकारका है। उनमेंसे विवक्षित भाव मुख्य तथा अ-विवक्षित भाव गौण कहलाता है।

सामान्य और विशेष भावका स्वरूप।

सामान्यं विधिरेव हि शुद्धः प्रतिषेधकश्च निरपेक्षः।
प्रतिषेधो हि विशेषः प्रतिषेध्यः सांशकश्च सापेक्षः ॥ २८१ ॥

अन्वयार्थः— (**सामान्य**) सामान्य भाव (**विधिः**) विधिरूप (**शुद्धः**) शुद्ध (**प्रतिषेधकः**) विकल्प मात्रका प्रतिषेधक (**च**) तथा (**निरपेक्षः एव**) निरपेक्षही होता है अर्थात् सापेक्ष कथन रूप नहीं होता है तथा (**हि**) निश्चयसे (**विशेषः**) विशेषरूप भाव (**प्रतिषेधः**) निषेधरूप (**प्रतिषेध्यः**) निषेधकरनेके योग्य (**सांशकः**) अंशकल्पना सहित (**च**) और (**सापेक्षः**) सापेक्ष होता है।

भावार्थः— सामान्यभाव विधिरूप, शुद्ध, व्यवहारका प्रतिषेधक तथा निरपेक्ष रूप, पडता है। और विशेष भाव प्रतिषेधरूप, निश्चयनयके द्वारा प्रतिषेध करनेके योग्य, अंशसहित, विकल्पात्मक तथा अपेक्षा सहित होता है।

इसका विशेष खुलासा आगे नयके निरूपण करते समय ग्रंथकारने स्वयं विशदरीतिसे लिखा है। अतः वहां-पर देखना चाहिये।

पूर्वोक्त कथनका खुलासा।

अयमर्थो वस्तुतया सत्सामान्यं निरंशकं यावत्।
भक्तं तादिह विकल्पैर्द्रव्याद्यैरुच्यते विशेषश्च ॥ २८२ ॥

अन्वयार्थः— (**अयं अर्थः**) सारांश यह है कि (**इह**) यहांपर (**वस्तुतया**) वस्तुत्व रूपसे (**निरंशकं यावत्**) जबतक किसी प्रकारकी अंशकल्पना नहीं होती है (**तावत्**) तबतक (**सत्सामान्यं**) सतसामान्य कहा जाता है (**च**) और जब (**द्रव्याद्यैः विकल्पैः**) द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव रूप विकल्पोंके द्वारा (**भक्तं-तत्**) उस सत् सामान्यका विभाग कर देते हैं तबही (**विशेषः उच्यते**) विशेष कहा जाता है।

भावार्थ — सारांश यह है कि वास्तवमें जबतक सतमें किसी भी अंशकी कल्पना नहीं की जाती है तब तक वह सामान्य कहलाता है। और जब वही सत् द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव रूप विकल्पोंके द्वारा विभक्त होता है तब वही विशेष कहलाता है।

सारांश।

तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सामान्यतो यदाप्यस्ति।
शेषविशेषविवक्षाभावादिह तदैव तन्नास्ति ॥ २८३ ॥

अन्वयार्थ— (**तस्मात्**) इसलिए (**इदं सर्वं**) यह सब कथन (**अनवद्यं**) निर्दोष है कि (**यदाऽपि**) जिससमय भी (**सामान्यतः अस्ति**) सामान्यरूपसे है अर्थात् सत् अस्तिरूप होता है (**तदाएव**) उसी समय (**इह**) यहांपर (**शेषविशेषविवक्षाभावात्**) शेष विशेषोंकी विवक्षाके अभावसे (**तत्**) वह सत् (**नास्ति**) नहीं भी है अर्थात् नास्ति रूप भी रहता है।

भावार्थ — इसलिए हमारा उपर्युक्त यह सब ही कथन निर्दोष है कि जिससमय वस्तु सामान्यपनेसे है उसी समय उसमें शेष विशेषोंकी अपेक्षासे नहीं भी है।

यदि वा सर्वमिदं यद्विवक्षितत्वाविशेषतोऽस्तियदा।
अविवाक्षितसामान्यात्तदैव तन्नास्ति नययोगात् ॥ २८४ ॥

अन्वयार्थः— (**यदि वा**) अथवा (**यदा**) जिससमय (**यत् इदं सर्वं**) जो यह सब है-वह (**विशेषत विवक्षित्वात्**) विशेष रूपसे विवक्षित होनेसे (**अस्ति**) अस्तिरूप होता है (**तदैव**) उसीसमय (**नययोगात्**) नयके योगसे (**अविवक्षितसामान्यात्**) सामान्यकी विवक्षा न होनेसे (**तत् नास्ति**) वह सब नास्तिरूप भी होता है।

भावार्थः— अथवा यह सब, जब विशेष रूपसे विवक्षित किया जाता है तब सामान्यरूपकी विवक्षा न होनेसे सामान्यधर्म अविवक्षित और विशेषधर्म विवक्षित होता है। इसलिए इस सामान्य विशेषकी अपेक्षासे भी अस्ति नास्ति घट जाते हैं।

कारण।

तत्र विवक्ष्यो भावः केवलमस्ति स्वभावमात्रतया।
अविवक्षितपरभावाभावतया नास्ति सममेव ॥ २८५ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र**) उन दोनों भावोंमेंसे जिससमय (**केवलं**) केवल (**स्वभावमात्रतया**) स्वभावमात्रपनेसे (**विवक्ष्यः**) विवक्षाकरनेके योग्य (**भावः**) भाव (**अस्ति**) है (**सम एव**) उसीही समय उसमें (**अविवक्षित परभावाभावतया**) अविवक्षित परभावके अभावसे (**नास्ति**) वह नहीं रूप भी होता है।

भावार्थः— अस्ति नास्ति रूप भावोंमेंसे जिससमय केवल स्वभावमात्रपनेसे भाव विवक्षित होता है उसी समय अविवक्षित परभावके अभावकी अपेक्षासे वह भाव नहीं भी होता है अर्थात नास्तिरूप पडता है।

उपसंहार।

सर्वत्र क्रम एष द्रव्ये क्षेत्रे तथाऽथ काले च।
अनुलोमप्रतिलोमैरस्तीति विवक्षितो मुख्यः॥ २८६ ॥

अन्वयार्थः— (**अनुलोमप्रतिलोमैः**) अनुकूल और प्रतिकूल पद्धतिके द्वारा (**विवक्षितः**) विवक्षित भाव (**मुख्यः अस्ति**) मुख्य होता है (**इति एष क्रमः**) इसप्रकारका यह क्रम (**द्रव्ये**) द्रव्यमें (**तथा**) और (**क्षेत्रे**) क्षेत्रमें (**अथ च**) अथवा (**काले**) कालमें (**सर्वत्र**) सब जगह जानना चाहिए।

भावार्थः— जिसप्रकारका क्रम भावके कथनमें कहा है उसी प्रकारका क्रम सम्पूर्ण द्रव्य, क्षेत्र, तथा कालमें भी लगाना चाहिए। क्योंकि अनुलोम और प्रतिलोम दोनोही प्रकारसे विवक्षितभाव मुख्य तथा अविवक्षितभाव गौण कहलाता है। अर्थात जिसप्रकार सामान्यभावके मुख्य रूपसे विवक्षित होते समय, विशेषभाव अविवक्षित और गौण हो जाता है। तथा विशेषभावकी मुख्यतासे विवक्षा होनेपर, सामान्यभाव गौण--अविवक्षित हो जाता है। अतः अस्ति नास्ति सिद्ध होते है। उसी प्रकारसे द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावकी अपेक्षासे अनुलोम व प्रतिलोम रीतिके द्वारा अस्ति नास्ति सिद्ध होते है।

इसी प्रक्रियासे शेषभंग भी लगाना चाहिए।

अपि चैवं प्रक्रियया नेतव्याः पंचशेषभंगाश्च।
वर्णवदुक्तद्वयमिह पटवच्छेषास्तु तद्योगात॥ २८७॥

अन्वयार्थः— (अपि च) तथा विशेष कथन यह है कि (इह) यहांपर (एवं प्रक्रियया) इसी प्रकियासे-शैलीसे (पटवत्) पटकी तरह अनुलोमक्रमसे तथा (वर्णवत्) पट गत वर्णादिककी तरह प्रतिलोम-क्रमसे (उक्तद्वयं) अस्ति नास्ति रूप दोनों भंग कहे (च) और (पंचशेषभगास्तु) शेप पाच भंग तो (तद्यो-गात्) स्वय उन दोनों भगोंके यथायोग्य रीतिके द्वारा मिलानेसे (नेतव्याः) लगा लेना चाहिए।

भावार्थः— उक्तद्वय शब्दसे यह ज्ञात होता है कि पटवत और वर्णवत् ये दृष्टान्त अनुलोम प्रतिलोम क्रमके द्योतक है। कारण कि सामान्यकी मुख्यता तथा विशेषकी गौणता करनेसे जो अस्तिनास्तिरूप वस्तु प्रतिपादित होती है उसे अनुलोमक्रम कहते है। तथा विशेषकी मुख्यता और सामान्यकी गौणता करनेसे जो अस्ति नास्तिरूप वस्तु प्रति-पादित होती है उसे प्रतिलोमक्रम कहते हैं। अनुलोम व प्रतिलोम दोनोंही प्रकारके क्रमसे वस्तु अस्तिनास्तिरूप प्रति-पादित होती है। अतः पटवत और वर्णवत् इन दोनोंही दृष्टान्तोका सम्बन्ध उक्तद्वयसे जुडता है। तथा शेष पाच भंगोका निरूपण ग्रन्थकारने इस अध्यायमें वस्तु सामान्यका निरूपण होनेसे अथवा अन्य किसी कारणसे यहां नहीं लिखा हैं। केवल इतनाही इशारा कर दिया है कि "अनया प्रक्रियया एव पञ्चशेषभगाश्च नेतव्याः" अर्थात इसी प्रक्रियासेही शेष पाच भंगोको भी लगा लेना चाहिए। पूर्वापर प्रकरणका ख्याल करनेसे यही अर्थ इस पद्यका ठीक जचता है किन्तु "पटवत् उक्तद्वय, शेषाः तु वर्णवत , ऐसा अन्वय युक्तियुक्त नहीं जचता है। शेष पाच भंगोकी योजना इसप्रकार करना चाहिए १ अस्ति २ नास्ति ३ क्रमार्पित अस्ति नास्ति ४ अस्ति नास्तिकी युगपत विवक्षा उपस्थित होनेसे दोनोंमेंसे किसीको भी नहीं कह सकते है इसलिए अवक्तव्य ५ क्रमार्पित अस्ति अवक्तव्य ६ क्रमार्पित नास्ति अवक्तव्य और ७ सातवा क्रमार्पित त्रिसंयोगी आस्ति नास्ति अवक्तव्य। इसप्रकार भिन्न २ तीन, द्विसयोगी तीन तथा त्रिसंयोगी एक इसतरह ७ सात भग हो जाते है। आगे-उदाहरण द्वारा इसी अर्थका खुलासा करते है।

उदाहरण।

संदृष्टिः पटभावः पटसारो वा पटस्य निष्पत्तिः।
अस्त्यात्मना च तदितरघटादिभावाऽविवक्षया नास्ति ॥ २८८ ॥

अन्वयार्थ:— (सन्दृष्टिः) उदाहरण यह है कि (पटभावः) पटका भाव (वा) अथवा (पटसारः)

पटका सार तथा (पटस्य निष्पत्तिः) पटकी उत्पत्ति (आत्मना) स्वस्वरूपसे (अस्ति) है और (तदितर-पटादिभावाविवक्षया) उस पटसे भिन्न इतर पटादि भावोंकी अविवक्षासे (नास्ति) नहीं है ।

भावार्थः— पूर्वोक्त कथनका साधक दृष्टान्त यह है कि जैसे जिससमय पटकाभाव पटका सार तथा पटकी उत्पत्ति, स्वस्वरूपसे है वैसेही उसीसमय वह पट, पट सामान्यसे है और इतर लाल पटादिकरूप विशेषकी विवक्षा न होनेसे नहीं भी है ।

इसप्रकार २६१ वें पद्यसे लेकर यहातक द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावकी अपेक्षा अनुलोम और प्रतिलोम क्रमसे विवक्षा वश होनेवाले अस्ति नास्तिके स्वरूपको कहा ।

और अनेकान्तात्मक बोधकी शुद्धिके लिए अनेकान्तात्मक वस्तुकी स्थिति प्रतिपादित की । अब आगे--वस्तुको अस्ति नास्तिरूप ही क्यों कहा ? कारण कि दोनोंमेंसे किसी एकके द्वारा वस्तुके योग्य स्वरूपका कथन किया जासकता है । अतः उभयात्मक कहना निरर्थक प्रयास है । तथा कथनमें गौरव लानेवाला है इत्यादि रूपसे शंका उठाकर वस्तु अस्ति नास्ति मयही है इसका समर्थन करते है ।

शंका ।

ननु चान्यतरेण कृतं किमथ प्रायः प्रयासभारेण ।
अपि गौरवप्रसंगादनुपादेयाच्च वाग्विलासतत्वात् ॥ २८९ ॥

अन्वयार्थ — (**ननुच**) शंकाकारका कहना है कि जब (**अन्यतरेण कृतं**) अस्ति नास्ति दोनोंमेंसे किसी एकसही काम-चल जायगा (**अथ**) तो फिर (**प्रायः प्रयासभारेण**) दोनोंको मानकर होनेवाले प्रायःप्रयास भारसे (**किं**) क्या प्रयोजन है (**अपि**) तथा दोनोंको माननेसे (**गौरवप्रसंगात्**) गौरवका प्रसंग आता है अर्थात एक प्रकारका अतिप्रसंग दोष आता है (**च**) और (**वाग्विलासत्वात्**) वचनका विलास मात्र होनेसे (**अनुपादेयात्**) दोनोंका मानना उपादेय नहीं है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि वस्तु स्वरूपसे है और परस्वरूपसे नहीं है इसप्रकार जो कथन

किया गया है उसमेंसे या तो वस्तु स्वरूपसे है ऐसा मानना चाहिये। अथवा पररूपसे नहीं है ऐसाही मानना चाहिये। क्योंकि वस्तुको दोनो रूप माननेसे प्रयासके शिवाय कुछभी प्रयोजन सिद्ध नही होता है। और केवल वचनविलास होनेसे प्रकरणमें गौरवका प्रसग आता है। जो कि किसी भी प्रकारसे उपादेय नहीं माना जासकता है।

अब आगे—इसी अर्थका खुलासा करते है।

शंकाका खुलासा।

अस्तीति च वक्तव्यं यदि वा नास्तीति तत्त्वसंसिध्यै।
नोपादानं पृथगिह युक्तं तदनर्थकादिति चेत ॥ २९० ॥

अन्वयार्थः— (तत्वसंसिध्यै) तत्वकी सांसिद्धिके लिए (अस्तिइति) केवल अस्ति यह (यदिवा) अथवा (नास्ति इति) केवल नास्ति यह ही (वक्तव्यं) कहना चाहिये क्योंकि (तदनर्थकात्) दोनोंके माननेसे कोई प्रयोजन नही निकलता है अत (इह) यहांपर (पृथक् उपादानं) दोनोंका पृथक ग्रहण करना (युक्त न) युक्त नहीं है (इतिचेत्) यदि ऐसा कहोतो।

भावार्थः— वस्तुके वस्तुत्वकी सिद्धिके लिए या तो वस्तुस्वरूपसे है ऐसा मानना चाहिये। अथवा वस्तु पररूपसे नहीं ही है ऐसाही मानना चाहिए। क्योंकि अनर्थक होनेसे दोनोंका मानना युक्ति युक्त नहीं है।

समाधान।

तन्न यतः सर्वस्वं तदुभयभावाध्यवसितमेवेति।
अन्यतरस्य विलोपे तदितरभावस्य निन्हवापत्तेः ॥ २९१ ॥

अन्वयार्थः— (तन्न) वह ठीक नहीं है (यत) क्योंकि (सर्वं स्व) द्रव्यका सब निजस्वरूप (तदुभयभावाध्यवसितंएव) अस्तिनास्तिरूप भावसे युक्तही है (इति) इसलिए (अन्यतरस्य विलोपे) दोनोंमेंसे किसी एकके नही माननेपर (तदितरभावस्य) उस भिन्न भावके भी (निन्हवापत्तेः) लोपका प्रसंग आवेगा।

भावार्थः— शंकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि सबही पदार्थ अस्तिनास्तिरूप दोनोंही

भावमय है। इसलिए किसी एकके नहीं माननेपर शेष दूसरेकी भी सिद्धि नहीं हो सकती। अतएव दोनोंमेसे किसी एकका मानना ठीक नहीं है। किन्तु परस्पर सापेक्ष दोनोंहीका मानना युक्ति युक्त है।

स्पष्टीकरण।

स यथा केवलमन्वयमात्रं वस्तु प्रतीयमानोपि।
व्यतिरेकाभावे किल कथमन्वयसाधकश्च स्यात् ॥ २९२ ॥

अन्वयार्थ— (स यथा) अस्ति नास्तिमेंसे किसी एकके नहीं माननेपर शेष दूसरेके अभावका प्रसग इसप्रकार आता है कि यदि (केवलं) केवल (अन्वयमात्रं) अन्वयरूपही (वस्तु) वस्तु मानी जाय तो (किल) निश्चयसे (प्रतीयमानः) प्रतीयमान (अपि च) और (अन्वयसाधक) अन्वयका साधक (व्यतिरेकाभावः) व्यतिरेकके अभाव (कथं स्यात्) कैसे कहा जा सकता है अर्थात् किसी तरह नहीं।

भावार्थः— द्रव्यमें सत् २ इत्याकारक जो सदैव प्रत्यय होता रहता है उसे अन्वय कहते हैं और उसकी प्रत्येक पर्यायोंमे 'यह' यह है वह नहीं है इत्याकारक जो प्रतीति होती है उसे व्यतिरेक कहते हैं। अन्वय व व्यतिरेक दोनोंही द्रव्यमे पाये जाते हैं। इसलिए वस्तुको केवल अस्तिरूप माननेसे, वस्तुमें पर्यायके निमित्तसे जो व्यतिरेक प्रतीत होता है उसका अभाव कैसे कहा जासकता है? क्योंकि व्यतिरेक–विशेष और अन्वय–सामान्य ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। व्यतिरेकके विना अन्वय तथा अन्वयकेविना व्यतिरेक सिद्ध हो नहीं सकता है इसलिए प्रतीयमान अन्वयके साधक व्यतिरेकके विना अन्वय भी कैसे सिद्ध किया जासकता है। कहा भी है 'निर्विशेष हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्' अर्थात् विशेषकी अपेक्षा विना सामान्यका निरूपण शशविषाणकी तरह अलीक ठहरता है अब आगे शंका समाधानपूर्वक अन्वय तथा व्यतिरेककी परस्पर सापेक्षताको सिद्ध करते हैं।

शंका।

ननु का नो हानिः स्यादस्तु व्यतिरेक एव तद्वदपि।
किन्त्वन्वयो यथाऽस्ति व्यतिरेकोप्यस्ति चिदचिदिव ॥ २९३ ॥

यदि वा स्यान्मतं ते व्यतिरेके नान्वयः कदाप्यस्ति।
न तथा पक्षच्युतिरिह व्यतिरेकोप्यन्वये यतो न स्यात् ॥ २९४ ॥

तस्मादिदमनवद्यं केवलमयमन्वयो यथास्ति तथा।
व्यतिरेकोस्त्यविशेषादेकोक्त्या चैकशः समानतया ॥ २९५ ॥

अन्वयार्थः—(ननु) शंकाकारका कहना है कि इसमें (नः का हानि स्यात्) हमारी क्या हानि है क्योंकि (व्यतिरेकः अपि) व्यतिरेक भी (तद्वत् एव अस्तु) अन्वयकी तरहही होने (किन्तु) किन्तु (चिदचित् इव) चेतन अचेतनकी तरह (यथा) जैसे (अन्वयः अस्ति) अन्वय है (' तथा ') वैसेही (व्यतिरेकः अपि अस्ति) व्यतिरेक भी है अर्थात् चेतन अचेतनकी तरह ये दोनों भिन्न हैं परस्पर सापेक्ष नहीं हैं।

(यदि वा) अथवा कदाचित (ते मतं स्यात्) तुम्हारा यह मत हो कि (व्यतिरेके) व्यतिरेकमें (कदा अपि) कभी भी (अन्वयः न अस्ति) अन्वय नहीं होता है तो भी (तथा पक्षच्युतिः न) वैसा माननेसे हमारे पक्षका घात नहीं होता है (यतः) क्योंकि (इह) यहापर (अन्वये अपि) अन्वयमें भी (व्यतिरेकः न स्यात्) व्यतिरेक नहीं रहता है।

(तस्मात) इसलिए (इदं अनवद्यं) यह निर्दोष है कि (एकशः) एक एक वारसे (अविशेषात्) विना किसी विशेषताके (समानतया) सामान्यरूपसे (एकोक्त्या) एक एक उक्तिके द्वारा अर्थात् पृथक् २ उक्तिसे (केवल) केवल (यथा) जैसे (अयं अन्वयः अस्ति) यह अन्वय है (तथा च) वैसेही (व्यतिरेकः अस्ति) व्यतिरेक है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि व्यतिरेकके विना अन्वय सिद्ध नहीं हो सकता है तो अन्वयकी तरह व्यतिरेकको भी हम मान लेते हैं। परंतु उसे हम चेतन अचेतनकी तरह परस्पर भिन्न मानेंगे। जैन सिद्धान्तानुसार परस्पर सापेक्ष नहीं मानेंगे। यदि कदाचित कहा जाय कि दोनोंको स्वतंत्र माननेसे व्यतिरेकमें अन्वय नहीं रहेगा तो भी हमारे पक्षको धक्का नहीं पहुचता है। क्योंकि हम अन्वयमें भी व्यतिरेक नहीं मानते हैं। इसलिए हमारा यह कथन निर्दोष है कि विना किसी विशेषके अन्वय व्यतिरेक दोनोंही समानरूपसे अर्थात स्वतंत्रतासे रहते हैं।

दृष्टांतपूर्वक शंकाका स्पष्टीकरण।

दृष्टान्तोप्यस्ति घटो यथा तथा स्वस्वरूपतोस्ति पटः।
न घटः पटेऽथ न पटो घटेपि भवतोऽथ घटपटाविह हि ॥ २९६ ॥
न पटाभावो हि घटो न पटाभावे घटस्य निष्पत्तिः।
न घटाभावो हि पटः पटसर्गो वा घटव्ययादिति च ॥ २९७ ॥
तत्किं व्यतिरेकस्या भावेन विनाऽन्वयोपि नास्तीति।
अस्त्यन्वयः स्वरुपादिति वक्तुं शक्यते यतास्त्विति चेत् ॥ २९८ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ दृष्टान्तः अपि अस्ति**) उक्त कथनका साधक दृष्टान्त भी यह है कि (**यथा**) जैसें[1] (**स्वस्वरूपतः**) अपने स्वरूपसे (**घटः अस्ति**) घट है (**तथा**) वैसेही अपने स्वरूपसे (**पटः अस्ति**) पट भी है क्योंकि (**पटे घटः न**) पटमें घट नहीं रहता है (**अथ**) और (**घटेऽपि पटः न**) घटमें भी पट नहीं रहता है किन्तु (**हि**) निश्चयसे (**इह**) यहांपर (**घटपटो भवत**) घट और पट दोनोंही स्वतंत्र पदार्थ हैं

तथा (**हि**) निश्चयसे (**न पटाभावः**) न पटका अभाव (**घटः**) घट है और (**न पटाभावे**) न पटके अभावमें (**घटस्य निष्पत्तिः**) घटकी उत्पत्ति होती है (**च**) तथा (**हि**) निश्चयसे (**न घटाभावः**) न घटका अभाव (**पट**) पट है और न (**घटव्ययात्**) घटके नाशमे (**पटस्य सर्गः वा**) पटकी उत्पत्तिही होती है।

(**इति**) इसलिए जब ऐसी परिस्थिति है (**तत्कि**) तो फिर यह क्यों कहा जाता है कि (**व्यतिरेकस्य भावेन विना**) व्यतिरेकके सद्भावके विना (**अन्वयोऽपि**) अन्वय भी (**नास्ति इति**) नहीं हो सकता है (**यतः**) क्योंकि (**अन्वयः**) अन्वय (**स्वरूपात्**) अपने स्वरूपसे (**अस्ति**) है अर्थात् अन्वयका स्वरूप व्यतिरेकसे भिन्न है (**इति तु**) ऐसा तो (**वक्तुं शक्यते**) कहा जासकता है (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहो तो।

---

१ 'इतिचित' यह पाठ आगेके श्लोकमें फिरसे 'इतिचेत्' पाठ होनेसे अशुद्ध प्रतीत होता है। अत. अन्वयमें नहीं लिया है।

भावार्थः— पूर्वोक्त कथनका साधक उदाहरण यह है कि जैसे अपने स्वरूपकी अपेक्षासे घट विद्यमान है वैसेही अपने स्वरूपकी अपेक्षासे पट भी विद्यमान है। पटमें न तो घटही रहता है और न घटमें पटही रहता है किन्तु लोकमें घट तथा पट दोनोंही पृथक सिद्ध स्वतंत्र पदार्थ है। और जिसतरह पटका अभाव कुछ घटरूप नहीं है। अथवा पटके अभाव होनेपर घटका उत्पाद हो, ऐसा भी कोई नियम नहीं हैं। उसी तरह घटका अभाव पटरूप नहीं हैं तथा घट के नाशसे पटका उत्पाद हुआ हो, ऐसा भी नहीं हैं। इसलिए तो फिर यह क्यो कहा जाता हैं कि व्यतिरेकके विना अन्वय नहीं हो सकता है। कारणकी अन्वय स्वस्वरूपसे भिन्नही प्रतिपादित किया जा सकता है। अर्थात् व्यतिरेक निरपेक्ष भी कहा जा सकता है। यदि ऐसा कहो तो ?

समाधान।

तन्न यतः सदिति स्यादद्वैतं द्वैतभावभागपि च।
तत्र विधौ विधिमात्रं तदिह निषेधे निषेधमात्रं स्यात् ॥ २९९ ॥

अन्वयार्थ— (**तन्न**) वह ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**इह**) यहापर (**सदिति**) सत् यह (**द्वैतभावभागपि**) द्वैत भावका धारण करनेवाला है तो भी (**अद्वैतं च स्यात्**) अद्वैतही है क्योंकि (**तत्र विधौ**) उस सत्में विधि विवक्षित होनेपर (**तत्**) वहसत् (**विधिमात्रं**) केवल विधिरूप और (**निषेधे**) निषेधमें (**निषेधमात्रं स्यात्**) केवल निषेधरूप प्रतीत होता है।

भावार्थः— उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि जैन दर्शनमें सत्र विवक्षावश द्वैतभावको रखता हुआ भी अद्वैतरूप है। इसलिए उसमें जिससमय अन्वय विवक्षित होता है उससमय वह सत् केवल अन्वय रूपही प्रतीत होता है। तथा जिससमय उसमे अन्वयको गौण करके व्यतिरेक विवक्षित किया जाता है उस समय वह सत् केवल निषेधरूपही प्रतीत होता है अर्थात् मुख्यगौण व्यवस्थासे विधि व निषेधके—अन्वय व व्यतिरेकके विवक्षित होनेपर विवक्षित मुख्य तथा अविवक्षित गौण हो जाता है। नयज्ञानसे तो एकको मुख्य और दूसरेको गौण होनेसे वस्तु सदात्मक व असदात्मक कही जाती है। किन्तु प्रमाण ज्ञानसे जो सत् है वही द्रव्य, गुण, तथा पर्याय है और जो द्रव्य, गुण, पर्याय है वही सत् है ऐसा कहा जाता है। क्योंकि प्रमाण सामान्य विशेषात्मक वस्तुको युगपत विषय करता है।

किन्तु ऐसा नहीं है कि।

नहि किंचिद्विधिरूपं किंचित्तच्छेषतो निषेधांशम् ।
आस्तां साधनमस्मिन्नाम द्वैतं न निर्विशेषत्वात् ॥ ३०० ॥

अन्वयार्थः— किन्तु (**किंचिद्विधिरूपं**) कुछ विधिरूप और (**तत्शेषतः किंचित् निषेधांशं**) उस विधिसे शेष रहा कुछ निषेधरूप (**नहि**) नहीं है तथा (**अस्मिन्**) ऐसे निरपेक्ष विधि निषेधरूप सत्के साध्य करनेमें (**साधनं नाम आस्तां**) हेतुका मिलना तो दूर रहो (**निर्विशेषत्वात्**) विशेषता न रहनेसे वास्तवमें (**द्वैतं न**) द्वैत भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

भावार्थः— किन्तु एकही सत्में कुछ अंश विधिरूप हों और उससे अवशिष्ट कुछ अंश निषेधरूप हों ऐसा नहीं है। क्योंकि निरपेक्ष विधिरूप तथा निषेधरूप सत्के सिद्ध करनेको हेतुके मिलनेकी तो बातही क्या है, वास्तवमें सामान्य विशेषमें द्वैतभाव भी नहीं है। केवल विवक्षावश द्वैत प्रतीत होता है।

संज्ञा भेदसे भी अद्वैतमें बाधा नहीं आती हैं।

न पुनर्द्रव्यान्तरवत्संज्ञा भेदोप्यबाधितो भवति ।
तत्र विधौ विधिमात्राच्छेषविशेषादिलक्षणाभावात् ॥ ३०१ ॥

अन्वयार्थः— (**पुनः**) और (**शेषविशेषादिलक्षणाभावात्**) शेष विशेषादिकोंके लक्षणाभावसे अर्थात् किसी भी प्रकारकी विशेषता न पाये जानेसे (**तत्रविधौ विधिमात्रात्**) उस विवक्षित विधिरूप अंशमें केवल विधिके उपलब्ध होनेसे (**द्रव्यान्तरवत्**) भिन्न द्रव्यकी तरह इन दोनोंमें अर्थात् विधि निषेधमें (**संज्ञाभेदः अपि**) संज्ञा भेद भी (**अबाधित न भवति**) अबाधित नहीं है

भावार्थः— यदि कदाचित् कहो कि द्वैतका साधक संज्ञाभेद है अर्थात् अन्वय व्यतिरेकको भिन्न २ संज्ञावाले होनेसे द्वैतसिद्ध किया जा सकता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि सामान्य और विशेष केवल भिन्न २ विवक्षावश भिन्न २ हैं। वस्तुतः उनमें कोई भेद नहीं हैं। केवल जिससमय विधि विवक्षित होती है उससमय व्यतिरेकके गौण हो जानेसे केवल विधिमात्र तत्व प्रतीत होता है। अतः संज्ञाभेदके द्वारा द्वैतसिद्ध करना भी बाधित हो जाता है।

अपि च निषिद्धत्वे सति नहि वस्तुत्वं विधेरभावत्वात ।
उभयात्मकं यदि खलु प्रकृतं न कथं प्रतीयेत ॥ ३०२ ॥

अन्वयार्थः— (**अपि च**) तथा (**निषिद्धत्वे सति**) निषिद्धत्वके विवक्षित होनेपर (**अभावत्वात्**) अविवक्षित होनेके कारण (**विधेः**) विधिको (**वस्तुत्वं**) वस्तुपना (**नहि**) नहीं है (**यदि**) यदि कहो कि (**उभयात्मकं**) वस्तु उभयात्मक है तो (**खलु**) निश्चयसे (**प्रकृत कथं न प्रमीयेत**) हमारा प्रकृत कथन अर्थात् द्रव्य, अन्वय व्यतिरेकात्मक है यह कथन क्यों प्रमाणीक नहीं माना जायगा ।

भावार्थ— निषेधनाम विशेषका है । इसलिए जिससमय निषेध विवक्षित होता है उससमय निषेधको मुख्य और विधिको गौण हो जानेके कारण वस्तु निषेधात्मक कही जाती है । विधि रूप नहीं । इसके उपर यदि शंकाकार कहे कि वस्तुको उभयात्मक होनेसे वह केवल विधि व निषेधरूप कैसे कही जा सकती है तो इसका उत्तर यह है कि यदि वस्तुको उभयात्मक मानते हो तो फिर उसको अन्वय व्यतिरेकात्मकही क्यों नहीं मानलेते है ।

खुलासा ।

तस्माद्विधिरूपं वा निर्दिष्टं सन्निषेधरूपं वा ।
संहत्यान्यतरत्वादन्यतरे संनिरूप्यते तादिह ॥ ३०३ ॥

अन्वयार्थ— (**तस्मात्**) इसलिए (**यत् सत्**) जो सत् (**विधिरूपं**) विधिरूप (**वा**) अथवा (**निषेधरूपं वा**) निषेधरूप भी (**निर्दिष्टं**) कहा गया है (**तत् सत्**) वही सत (**इह**) यहांपर (**संहत्या**) परस्परकी अपेक्षासे (**अन्यतरे**) किसी एकमें (**अन्यतरत्वात्**) किसी दूसरेके गर्भित हो जानेसे (**निरूप्यते**) कहा जाता है अर्थात् परस्पर सापेक्ष होनेसे एक दूसरेमें गर्भित हो जाते है ।

भावार्थ — इसप्रकार वस्तुको अन्वय व्यतिरेकात्मक सिद्ध हो जानेसे जिससमय वह वस्तु विधिरूप कही जाती है उससमय निषेधरूप विशेष धर्म गौण रूपसे उसी विधिमें गर्भित हो जाते हैं ऐसा समझना चाहिए । तथा जिस समय वही वस्तु निषेधरूपसे विवक्षित होती है उससमय विधिरूप सामान्य भी उसी निषेधमें गौण रूपसे गर्भित हो जाते हैं ऐसा समझना चाहिए । क्योंकि अस्तिनास्ति सर्वथा पृथक् नहीं है । किन्तु परस्पर सापेक्ष हैं । इसलिए विवक्षितकी मुख्यतामें अविवाक्षित गौण रूपसे गर्भित रहता है ।

दृष्टान्त।

दृष्टान्तोऽत्र पटत्वं यावन्निर्दिष्टमेव तन्तुतया।
तावन्न पटो नियमाद् दृश्यन्ते तन्तवस्तथाऽध्यक्षात्॥ ३०४॥

यदि पुनरेव पटत्वं तादिह तथा दृश्यते न तन्तुतया।
अपि संगृह्य समन्तात् पटोयमिति दृश्यते सद्भिः॥ ३०५॥

अन्वयार्थः— (**अत्र दृष्टान्तः**) यहांपर उक्त विषयका साधक दृष्टान्त यह है कि (**यावत्**) जबतक (**पटत्वं**) पटत्व (**तन्तुतया एव**) केवल तन्तुरूपसेही (**निर्दिष्टं**) कहा जाता है–विवक्षित होता है (**तावत्**) तबतक (**नियमात्**) नियमसे (**पट न**) वह पट नहीं है अर्थात् वह पट रूपसे दृष्टिगत नही होता है किन्तु (**अध्यक्षात्**) प्रत्यक्ष प्रमाणसे (**तथा**) तन्तुरूपसे (**तन्तवः दृश्यन्ते**) तन्तुही देखे जाते हैं।

(**यदि पुनः**) और यदि जब (**इह**) यहांपर (**पटत्वं एव**) पटत्वही विवक्षित होता है (**तत् तथा दृश्यते**) तब वह पटत्वही केवल पटत्व रूपसे देखा जाता है (**तन्तुतया न**) तन्तुरूपसे नहीं (**अपि**) किन्तु प्रमाणसे (**समन्तात् संगृह्य**) दोनोंही विवक्षाओंका संग्रह करके (**अयं पटः**) पटत्व और तन्तुओंसे युक्त सकलनात्मक यह पट है (**इति**) ऐसा (**सद्भिः**) विद्वानोंके द्वारा (**दृश्यते**) देखा जाता है।

भावार्थः— पूर्वोक्त कथनका साधक उदाहरण यह है कि जैसे तन्तुओंके समुह रूप जो पट है वह जिससमय केवल तन्तु बुद्धिसे देखा जाता है उससमय, उसमें पटत्वके रहते हुएभी वह विद्वानोंके द्वारा केवल तन्तु रूपसेही प्रतीत होता है। पटरूपसे नहीं। तथा जिससमय वही पट केवल पटत्वकी बुद्धिसे देखा जाता है उससमय उसमें तन्तुओंके रहते हुएभी वह केवल पटरूपसेही प्रतीत होता है। तन्तुरूपसे नहीं। वैसेही सामान्य विशेषात्मक वस्तु, नयसे जिससमय सामान्य धर्मसे विवक्षित की जाती है उससमय, उसमें विशेष धर्मोंके रहते हुएभी वह केवल सामान्यरूपसे सामान्य धर्ममयही प्रतीत होती है। और जिससमय वही वस्तु, विशेष धर्मोंसे विवक्षित की जाती है उससमय उसमें सामान्य धर्मके रहते हुएभी वह केवल विशेष रूपसे विशेष धर्ममयही प्रतीत होती है। किन्तु प्रमाण विवक्षासे मुख्यरूपसे उभयरूप दिखती है।

इत्यादिकाश्च बहवो विद्यन्ते पाक्षिका हि दृष्टान्ताः ।
तेषामुभयांगत्वान्नहि कोपि कदा विपक्षः स्यात् ॥ ३०६ ॥

अन्वयार्थः— (हि) निश्चयसे (इत्यादिकाः बहवः च) इत्यादि बहुतसी (पाक्षिका) अनेकान्त पक्षके साधक (दृष्टान्ताः विद्यन्ते) दृष्टान्त विद्यमान है और (तेषां उभयांगत्वात्) वे सर्व दृष्टान्त उभय अंगवाले है इसलिए (कोऽपि कदा विपक्षः नहि स्यात्) परस्परमें कोई भी किसीका कभी भी सर्वथा विपक्षी नहीं है अर्थात् अस्तिनास्ति ये दोनों परस्परमें सापेक्ष है विपक्षी नहीं हैं ।

भावार्थः— इसप्रकारके पक्षसाधक अर्थात् सामान्यविशेषात्मक वस्तुको, विवक्षावश विधि तथा निषेधरूप सिद्ध करनेवाले जो बहुतसे दृष्टान्त हैं वे सब उपयोगी होनेसे किसी धर्मको किसी धर्मका सर्वथा विपक्षी सिद्ध नहीं करते हैं ।

सारांश ।

अयमर्थो विधिरेव हि युक्तिवशात्स्यात्स्वयं निषेधात्मा ।
अपि च निषेधस्तद्वद्विधिरूपः स्यात्स्वयं हि युक्तिवशात् ॥ ३०७ ॥

अन्वयार्थ— (अयं अर्थः) सारांश यह है कि (विधिःएव) विधिही (स्वयं) स्वयं (युक्तिवशात्) युक्तिके वशसे (हि) निश्चयकरके (निषेधात्मा स्यात्) निषेधरूप हो जाता है (च) और (तद्वत्) उसीतरह (निषेधःअपि) निषेधभी (स्वयं हि) स्वयं (युक्तिवशात्) युक्तिके वशसे (विधिरूप स्यात्) विधिरूप हो जाता है ।

भावार्थः— सारांश यह है कि जिसप्रकार युक्तिपूर्वक विधिही स्वयं निषेध रूप हो जाता है । उसीप्रकार युक्तिपूर्वक निषेधभी स्वयं विधिरूप हो जाता है ।

उपसंहार ।

इति विन्दन्निह तत्त्वं जैनः स्यात्कोऽपि तत्त्ववेदीति
अर्थात्स्यात्स्याद्वादी तदपरथा नाम सिंहमाणवकः ॥ ३०८ ॥

अन्वयार्थ — (**इति**) इसप्रकार (**इह**) यहांपर (**तत्वं विन्दन्**) तत्वको जाननेवाला (**कोऽपि**
जैन) कोई भी जैन (**तत्ववेदीति स्यात्**) तत्ववेदी ऐसा होता है (**अर्थात् स्याद्वादी स्यात्**) अर्थात्
स्याद्वादी कहलाता है और (**तदपरथा**) उससे अन्यथा जाननेवाला (**सिंहमाणवकः नाम**) सिंहमाणवक
कहलाता है।

भावार्थः— इसप्रकारसे अनेकान्तात्मक तत्वको विवक्षावश विधि व निषेधरूप जानेवाला कोई जैनही
सच्चा तत्वज्ञानी और स्याद्वादी कहलाता है। अन्यप्रकारसे वस्तुके स्वरूपको जानेवाला पुरुष सच्चा तत्वज्ञानी व
स्याद्वादी नहीं कहलाता है। किन्तु वह सिंहमाणवक कहलाता है अर्थात् जैसे किसी बालककी शूरवीरताको देखकर
उसे सिंह कह देते है। परन्तु वह वास्तवमें सिंह नहीं है, बालकही है। वैसेही उपर्युक्त रूपसे तत्वको न जानकर
अन्य प्रकारसे तत्वके जाननेवाले पुरुषोंको भी उपचारसे तत्वज्ञानी कह सकते है वास्तवमें नहीं।

आगे सत्के सदैव रहते हुए भी अन्वय व व्यतिरेक कैसे घट सकता है इसको शंका समाधान पूर्वक
प्रतिपादन करते हैं।

ननु सादिति स्थायि यथा सदिति तथा सर्वकालसमयेषु ।
तत्र विवक्षितसमये तत्स्यादथवा न तादिदाभिति चेत् ॥ ३०९ ॥

अन्वयार्थ — (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**यथा**) जैसे (**सदिति**) सत् यह (**स्थायि**) स्थायि
है-द्रव्य है (**तथा**) वैसेही (**सदिति**) सत् यह (**सर्वकालसमयेषु**) सर्वकाल सम्बन्धी समयोंमें भी रहता है इसलिए
(**तत्**) वह सत् (**तत्र विवक्षितसमये**) उस विवक्षित समयमें (**स्यात्**) होता है (**अथवा**) अथवा (**तत्**)
वह (**इदं न**) यह नहीं है ऐसा क्यों कहते हो (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहो तो।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जब पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक है। इसलिए जैसे सत्
यह ध्रौव्य अवस्थामें रहता है। वैसेही सदैव होनेवाले उत्पाद व्ययोंके अवसरोंमें भी रहेगा तो फिर किल विवक्षित
समयमें ' तदेव इद ' वही यह है इसप्रकारका केवल अन्वयनियामक व्यवहार और इदं तन्न, यह वह नही है इत्याका-
रक व्यतिरेकनियामक व्यवहार नहीं हो सकता है।

समाधान।

सत्यं तत्रोत्तरामीति सन्मात्रापेक्षया तदेवेदम्।
न तदेवेदं नियमात् सदवस्थापेक्षया पुनः सादिति॥ ३१०॥

अन्वयार्थः— (**सत्यं**) ठीक है किन्तु (**तत्र**) उस विषयमें (**इति उत्तरं**) यह उत्तर है कि (**नियमात्**) नियमसे (**सन्मात्रापेक्षया**) सत् सामान्यकी अपेक्षासे (**सदिति**) सत इसमें (**तदेवेदं**) यह वही है अर्थात सत्स्थायी तथा सर्वकाल वृत्ति है ऐसा व्यवहार होता है (**पुनः**) और (**सदवस्थापेक्षया**) सत्की पर्यायोंकी अपेक्षासे (**तदेवेद न**) यह वह नहीं है अर्थात सतकी अवस्थासें अस्थायी तथा भिन्नसमयवर्ती होती है इसलिए उनमें व्यतिरेकका द्योतक व्यवहार होता है।

भावार्थ — ठीक है, परन्तु उक्तकथनका अभिप्राय तुम ठीक नही समझे हो। क्योकि ध्रौव्यकी अपेक्षा ' तदेवेद ' और उत्पाद व्ययकी अपेक्षा ' तदिद न ' इसका अर्थ जैसा तुम निकालते हो वैसा नहीं है। किन्तु सन्मात्रकी अपेक्षासे ' तदेवेदं , यह व्यवहार होता है। कारण कि सन्मात्र सत सदैव सत् रूप प्रतीत होता है। और सत्की विशेष २ अवस्थाओंकी अपेक्षासे ' तदिद न, ऐसा प्रत्यय होता है कारण कि अवस्थाएँ परिणमन शीलतासे सदैव कथंचित् भिन्नता रखती है।

शंका

ननु तदतदोर्द्वयोरिह नित्यानित्यत्वयोर्द्वयोरेव।
को भेदो भवति मिथो लक्षणलक्ष्यैकभेदाभिन्नत्वात्॥ ३११॥

अन्वयार्थ— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**इह**) यहांपर (**तदतदोः**) तत् और अतत् तथा (**नित्यानित्यत्वयोः**) नित्यत्व एवं अनित्यत्व (**द्वयोः एव**) इन दोनोंमेही (**मिथः**) परस्परमें (**लक्षणलक्ष्यैकभेदभिन्नत्वात्**) लक्ष्य और लक्षणरूप एक भेदके भिन्नतासे (**को भेदो भवति**) कौनसा भेद है।

भावार्थः— तत् लक्ष्य है नित्यत्व उसका लक्षण है। और अतत लक्ष्य है तथा अनित्यत्व उसका लक्षण है। इसप्रकार तत् अतत और नित्यानित्यत्वमें केवल लक्ष्य लक्षण रूप भेदको छोडकर और कौनसा दूसरा भेद है अर्थात्

शंकाकारका कहना है कि इन दोनोंमें केवल लक्ष्य लक्षण रूप भेद है और दूसराकोईभेद प्रतीत नहीं होता है।

समाधान।

नैवं यतो विशेषः समयात्परिणमति वा न नित्यादौ।
तदतद्भावविचारे परिणामो विसदृशोऽथ सदृशो वा ॥ ३१२ ॥

अन्वयार्थः— (**नैवं**) इस प्रकारका कहना ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**नित्यादौ**) नित्यानित्यके विचारमे (**समयात् परिणमति**) प्रतिसमय परिणमन होता है (**वा**) अथवा (**न**) नहिं होता है इस प्रकारका और (**तदतद्भावविचारे**) तत अतत भावके विचारमें (**परिणाम**) परिणाम (**सदृशः**) सदृश (**अथवा**) अथवा (**विसदृशः**) विसदृश होता है इसप्रकारका (**विशेषः**) विशेष होता है– भेद पाया जाता है।

भावार्थः— शकाकारका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि तत अतत व नित्य अनित्यमें भेद यह है कि नित्य कहते समय केवल अपरिणमन और अनित्य कहते समय केवल परिणमन विवक्षित होता है। तथा ततके कथनमें सदृश परिणमन और अततके कथनमें विसदृश परिणमन विवक्षित होता है अर्थात् नित्यानित्यके निरूपणमें परिणमन व अपरिणमनकी विवक्षा रहती है। और तत अततके निरूपणमें सदृशता तथा विसदृशताकी विवक्षा रहती है।

तद्भाव अतद्भावके प्रयोजनके विषयमें शका —

ननु सन्नित्यमनित्यं कथंचिदेतावतैव तत्सिद्धिः।
तत्किं तदतद्भावाभावविचारेण गौरवादिति चेत् ॥ ३१३ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि जब (**कथंचित् सत् नित्य**) कथंचित्सत् नित्य है और कथंचित् (**अनित्यं**) अनित्य है (**एतावता एव**) केवल इतनेसेही (**तत्सिद्धिः**) इष्टकी सिद्धि होसकती है (**तत्**) तो फिर (**गौरवात्**) गौरव होनेसे (**तदतद्भावविचारेण**) तत अततके भाव और अभावके विचारसे (**किं**) क्या प्रयोजन है (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहोतो–

भावार्थः— पूर्वोक्त कथनपर शंकाकारका कहना है कि जब सत् कथंचित् नित्य और कथंचित अनित्य है केवल इतने माननेसेही उक्त प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है तो फिर तद्भाव तथा अतद्भावका विचार करनाही निरर्थक

ठहरता है। क्योंकि गौरव–पिष्टपेशन के शिवाय और कुछभी प्रयोजन, तद्भाव व अतद्भावके विचारसे नहीं निकाला जा सकता है।

समाधान।

नैवं तदतद्भावाभावविचारस्य निन्हवे दोषात्।
नित्यानित्यात्मनि सति सत्यपि न स्यात् क्रियाफलं तत्वम् ॥ ३१४ ॥

अन्वयार्थः— (**एवं न**) इस प्रकारका कहना ठीक नहीं है क्योंकि (**तदतद्भावाभावविचारस्य-निन्हवे**) तत् अतत्के भावाभाव विचारके निन्हव होनेपर–न माननेपर (**दोषात्**) यह दोप आवेगा कि (**सति-नित्यानित्यात्मनि सत्यपि**) सतके नित्यानित्यात्मक होनेपरभी (**क्रिया फल**) क्रियाफल और (**तत्वं**) तत्व (**न स्यात्**) कुछ भी सिद्ध नहीं होंगे।

भावार्थः— उक्त शकाका समाधान यह है कि वस्तुमे तत् अतत् भावके नहीं माननेपर सदृश व विसदृश परिणमन नहीं होगा। केवल नित्यता तथा अनित्यताकीही प्रतीति होगी। और केवल नित्यताके माननेसे कूटस्थ नित्यकी तरह, तथा केवल अनित्यताके माननेसे सर्वथा क्षणिककी तरह, सतमें क्रिया, फल और सत्पना कुछभी सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

तद्भावके विना सर्वथा नित्यपक्षमें दोष–

अयमर्थो यदि नित्यं सर्वं सत् सर्वथेति किल पक्षः।
न तथा कारणकार्ये, कारकासिद्धिस्तु विक्रियाभावात् ॥ ३१५ ॥

अन्वयार्थः— (**अयं अर्थः**) उक्त कथनका सारांश यह है कि (**यदि**) यदि (**किल**) निश्चयसे (**सर्वं सत्**) सम्पूर्ण सत (**सर्वथा**) सर्व प्रकारसे (**नित्यं**) नित्य है (**इति पक्षः**) यह पक्ष मानते हो (**तथा**) तो (**विक्रियाभावात्**) क्रियाके अभावसे (**कारणकार्ये**) कारण कार्य (**तु**) और (**कारकसिद्धिः**) कारककी सिद्धि (**न**) नहीं होगी।

भावार्थः— पूर्वोक्त कथनका साराश यह है कि सत् यदि सर्वथा नित्य है तो नित्यमें क्रियाही नहीं बनती है। इसलिए कार्यकारणभाव व कारककी सिद्धि भी नहीं हो सकेगी।

अतद्भावके विना सर्वथा अनित्य पक्षमें दोष ।

यदि वा सदानित्यं स्यातसर्वस्वं सर्वथेति किल पक्षः ।
न तथा क्षणिकत्वादिह क्रियाफलं कारकाणि तत्त्वं च ॥ ३१६ ॥

अन्वयार्थ— (**यदिवा**) अथवा यदि (**किल**) निश्चयसे (**सर्वस्वसत्**) सर्वस्व भूतसत् (**सर्वथा**) सर्व प्रकारसे (**अनित्यं स्यात्**) आनित्य है (**इति पक्ष**) यह पक्ष मानते हो (**तथा**) तो (**क्षणिकत्वात्**) क्षणिकत्वका प्रसंग आनेसे (**इह**) यहांपर (**क्रियाफलं**) क्रियाफल (**कारकाणि**) कारक (**च**) और (**तत्वं**) तत्व (**न**) नहीं होगा ।

भावार्थः— यदि सत्को सर्वथा अनित्य माना जायगा तो उसको क्षणिक मानने पडेगा । और क्षणिक सवमें सर्वथा नित्यकी तरह कार्य कारण भाव, कारक तथा सत्पनेकी सिद्धि नहीं होगी ।

तद्भावातद्भावके विना नित्यानित्यात्मक पक्षमें दोष ।

अपि नित्यानित्यात्मनि सत्यापि सति वा न साध्यसंसिद्धिः ।
तदतद्भावाभावैर्विना न यस्माद्विशेषनिष्पत्तिः ॥ ३१७ ॥

अन्वयार्थः— (**अपिवा**) अथवा (**नित्यानित्यात्मनि सति सत्यपि**) नित्यानित्यात्मक सतके होनेपरभी (**साध्यसंसिद्धिः न**) साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है(**यस्मात्**) क्योंकि(**तदतद्भावाभावै विना**) तत अततके भाव और अभावके मानेविना (**विशेषनिष्पत्तिः न**) विशेषकी सिद्धि नहीं हो सकती है ।

भावार्थः— यदि कदाचित् शकाकार कहेकी हम सतको केवल नित्य व अनित्य नहीं मान करके उभयात्मक मानेंगे तो भी, तत् अतत् भावके विना, केवल नित्यानित्यात्मक धर्म, विशेषताको सिद्ध नहीं कर सकते है । अब आगे–इसी अर्थका खुलासा करते है ।

अथ तद्यथा यथा सत्परिणममानं यदुक्तमस्तु तथा ।
भवति समीहितसिद्धिर्विना न तदतद्विवक्षयाहि यथा ॥ ३१८ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ**) यदि (**यत्**) जो (**सत्**) सत् (**यथा परिणममानं**) जैसा जैसा परिणमन कर रहा है। (**तथा तदुक्तं अस्तु**) वैसा वह कहलावे ऐसा चाहते हो तो (**हि**) निश्चयसें (**तदतद्विवक्षया विना**) परस्पर सापेक्ष तत् अतत् भावकी विवक्षाके विना (**समीहितसिद्धिः**) उक्त इष्टकी सिद्धि (**न भवति**) नहीं हो सकती है (**यथा**) जैसे कि आगे कहते हैं कि।

भावार्थः— नित्यके कहनेसे अपरिणमन और अनित्यके कहनेसे केवल परिणमनका बोध होता है। इसलिए सदृश तथा विसदृश परिणमन जैसेभी कुछ, द्रव्योंमें हो रहे है उनके अनुसार द्रव्यका स्वरूप समझनेके लिए, केवल नित्यानित्यके कहनेसे काम नहीं चल सकता है। किन्तु परिणमन सम्बन्धी सदृशताके बोधके लिए तद्भाव, और विसदृशताके बोधके लिए अतद्भावही, अपेक्षणीय होते है। इसलिए कथचित नित्यानित्यात्मक वस्तुको मानकर भी तत् अतत् भावके विना वस्तुका विशेष स्वरूप नहीं जाना जा सकता है।

अतद्भाव, तद्भाव सापेक्ष है और तद्भाव, अतद्भाव सापेक्ष है।

अपि परिणममानं सन्नतदेतत्सर्वथाऽन्यदेवेति।
इति पूर्वपक्षः किल विना तदेवेति दुर्निवारः स्यात् ॥ ३१९ ॥

अपि परिणतं यथा सद्दीपाशिखा सर्वथा तदेव यथा।
इति पूर्वपक्षः किल दुर्वारः स्याद्विना न तादिति नयात् ॥ ३२० ॥

अन्वयार्थः— (**अपि**) तथा (**परिणममानं सत् इति**) परिणमन करता हुआ सत् यह (**तदे तत् न**) यह वह नहीं है किन्तु (**सर्वथा अन्यदेव**) सर्वथा अन्यही है (**इति पूर्वपक्ष**) इसप्रकारका पूर्वपक्ष (**किल**) निश्चयसे (**तदेव इति विना**) यह वही है इसके विना (**दुर्निवारः स्यात**) दुर्निवार है अर्थात् ' तदेव इदं ' सापेक्षही ' तदेतत् न ' यह व्यवहार है।

(**अपि तथा**) और उसी तरह (**परिणतं सत्**) परिणत सत् (**यथा प्रदीपशिखा**) प्रदीप शिखाकी तरह (**सर्वथा तदेव**) सर्वथा वहही है (**इति पूर्वपक्षः**) इसप्रकारका पूर्वपक्ष (**किल**) निश्चयसे

(नयात्) नययोगमे (तन्‌ न) यह वह नहीं है (इति विना) इसके विना (दुर्वार स्यात्) दुर्वार है अर्थात् नियमसे अपेक्षाको रखता है ।

भावार्थः— सदृश परिणमनकी विवक्षामें प्रत्येक समय परिणमनके होते हुएभी 'तदेवेदं' वही यह है ऐसी जो प्रतीति हुवा करती है उसे तद्भाव कहते है। तथा विसदृश परिणमनमें भिन्न २ समयमें विसदृशताके होनेके कारण 'तादिदं न, वह यह नहीं है ऐसी जो प्रतीति हुवा करती है उसे अतद्भाव कहते है। ये दोनोंही प्रतीतिया परस्पर सापेक्ष है। इसलिए अतद्भावके विना तद्भावका और तद्भावके विना अतद्भावका कथन नहीं किया जा सकता है।

उपसंहार।

तस्मादवसेयं सन्नित्यानित्यत्ववत्तदतद्वत् ।
यस्मादेकेन विना न समीहितासिद्धिरध्यक्षात् ॥ ३२१ ॥

अन्वयार्थः— (**यस्मात्**) जिस कारणसे कि (**अध्यक्षात्**) प्रत्यक्ष प्रमाणसे (**एकेन विना**) दोनोंमेंसे किसी एकके नहीं माननेंसे (**समीहितसिद्धि न**) इष्ट सिद्धि नहीं होती है (**तस्मात्**) इसलिए (**सत्**) सत् जिसप्रकार (**नित्यानित्यत्ववत्**) नित्यानित्यत्वसे युक्त है उसी प्रकार (**तदतद्वत अपि**) तत् और अतत् भावसे भी युक्त है।

भावार्थः— इसलिए द्रव्य, जैसे नित्यानित्यत्व धर्मसे युक्त है वैसेही तद्भाव व अतद्भाव धर्मसे भी युक्त है। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणसे नित्यानित्यत्व तथा तत् अतत् भावमेंसे किसी एकके नहीं माननेपर इष्टसिद्धि नहीं हो सकती।

इसप्रकार नित्यानित्य व तत अततका प्रयोजन बताकर परिणामको केवल सदृश व विसदृश माननेके दोषोंको शका समाधानपुर्वक बताते है। परिणमनको केवल सदृश विसदृश माननेके विषयमे—

शंका।

ननु भवतु सर्वथैव हि परिणामो विसदृशोऽथ सदृशो वा ।
ईहितासिद्धिस्तु सतः परिणामित्वाद्यथाकथंचिद्वै ॥ ३२२ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**हि**) निश्चयसे (**परिणामः**) परिणाम (**सर्वथैव**) सर्वथाही (**विसदृशः**) विसदृश (**अथवा**) अथवा (**सदृशः**) सदृश (**भवतु**) होवे अर्थात् मानो कारणकि (**इहितसिद्धिःतु**) इष्टकी सिद्धि तो (वै) निश्चयसे (**सत**) सत्‌को (**यथा कथंचित्**) यथा कथंचित्-जिस किसी प्रकार (**परिणामित्वात्**) परिणामी माननेसे होती है । ('इति चेत्') यदि ऐसा कहो तो ।

भावार्थ— सत्‌को केवल कथचित परिणामी माननेमे इष्टकी सिद्धि हो जाती है । इसलिए परिणामको सर्वथा सदृश किंवा विसदृश मानना चाहिए ।

समाधान ।

तन्न यतः परिणामः सन्नपि सदृशैकपक्षतो न तथा ।
न समर्थश्चार्थकृते नित्यैकान्तादिपक्षवत् सदृशात् ॥ ३२३ ॥

अन्वयार्थः— (**तन्न**) वह ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**परिणामः सन्नपि**) परिणाम हो करके भी (**सदृशैकपक्षात्**) वह सदृशात्मक होता है ऐसा एक पक्ष माननेसे (**तथा न च**) सत् कथंचित्परिणामी नहीं हो सकता है । क्योंकि केवल (**सदृशात्**) परिणाम सदृश होनेसे वह (**नित्यैकान्तादिपक्षवत्**) नित्यैकान्तादिक पक्षकी तरह (**अर्थकृते**) इष्टसिद्धिके लिये भी (**समर्थः न**) समर्थ नहीं होगा ।

भावार्थः— शकाकारका कथन ठीक नहीं है । क्योंकि परिणमन मानकरके भी केवल सदृश परिणमनका पक्ष माननेसे नित्यैकान्तादिकी तरह इष्ट सिद्धि नहीं हो सकती है । जिसप्रकार केवल वस्तुको नित्य वा अनित्यात्मक माननेसे क्रिया कारक आदिकी सिद्धि नहीं होती है । उसीप्रकार केवल द्रव्यका सदृश परिणमन माननेसे भी दृष्टगोचर विसदृश परिणामका अभाव मानने पडेगा । कारण सदृश परिणमनमें जैसा पहले रुप था वैसाही उत्तरोत्तर क्षणोंमें भी होता रहता है । परिणमनमें किसी प्रकारकी विसदृशता नहीं हो सकती है अत सदृशपक्ष भी कूटस्थ नित्यकी तरह कार्यकारी नहीं है अर्थात् केवल सदृश पक्षमें भी किसी प्रकारका कार्य कारण भाव नहीं बन सकता है । और न कर्ता, कर्म भाव रूप कारककी सिद्धि हो सकती है ।

इसप्रकार केवल सदृश परिणमके माननेमें दोषोंको बताकर अब आगे-केवल विसदृश परिणमनके माननेमें दोषोंको बताते हैं ।

नापीष्टः संसिध्यै परिणामो विसदृशैकपक्षात्मो ।
क्षणिकैकान्तवदसतः प्रादुर्भावात् सतो विनाशाद्वा ॥ ३२४ ॥

अन्वयार्थः— तथा (विसदृशैकपक्षात्मा परिणाम अपि) विसदृश एक पक्षरूप परिणामभी (क्षणिकैकान्तवत्) क्षणिकैकान्तपक्षकी तरह (असतः प्रादुर्भावात्) असत्के प्रादुर्भाव (वा) अथवा (सतः विनाशात्) सत्के विनाशका प्रसंग आनेसे (संसिध्यै) ससिद्धिके लिए (इष्टःन) इष्ट नहीं है ।

भावार्थः— केवल सदृश परिणमन माननेकी तरह पदार्थमें केवल विसदृश परिणमनही होता रहता है ऐसा माननेसे भी इष्टकी सिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि केवल विसदृश परिणमन माननेसे पदार्थकी स्थिति प्रत्येक क्षणमें क्षणिकैकान्तवादियोंकी तरह मानने पडेगी । इसलिए जैसे क्षणिकैकान्तपक्ष माननेमें असत्की उत्पत्ति तथा सत्के विनाशका प्रसंग आता है वैसा सदृश निरपेक्ष केवल विसदृश पक्षके माननेमें भी असतकी उत्पत्ति और सतके विनाशका अनिष्ट प्रसंग आवेगा ।

सारांश ।

एतेन निरस्तोऽभूत् क्लीवत्वादात्मनोऽपराद्धतया ।
तदतद्भावाभावापन्हववादी विबोध्यते त्वधुना ॥ ३२५ ॥

अन्वयार्थः— (एतेन) इस पूर्वोक्त कथनके द्वारा यद्यपि (आत्मनः अपराद्धतया) स्वयं अपराधी होनेके कारण (क्लीवत्वात्) स्वपक्ष स्थापनमें असमर्थ होनेसे (तदतद्भावाभावापन्हववादी) तत् अतत् केवल और अभावके अपन्हवकी इच्छा करनेवाला वादी (निरस्तः अभूत्) पराजित होगया (तु) किन्तु फिरभी वह (अधुना) इससमय (विबोध्यते) समझाया जाता है अर्थात उसे समझाते हैं ।

भावार्थः— इसप्रकार तदतद्भावके अभावका खंडनकरके अब आगे—तदतद्भावकी सार्थकताके प्रदर्शनकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

स्वाभाविक रीतिसे परिणाम, तद्भाव व अतद्भावसे कैसे युक्त है इसे उदाहरण पूर्वक बतानेकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

तदतद्भावानिबद्धो यः परिणामः सतः स्वभावतया ।
तद्दर्शनमधुना किल दृष्टान्तपुरस्सरं वक्ष्ये ॥ ३२६ ॥

अन्वयार्थः— (यः) जो (सतः) सत्‌का (स्वभावतया) स्वभावपनेसे (तदतद्भावनिबद्ध) तत् और अतत् भावसे युक्त (परिणामः) परिणाम है (तद्दर्शनं) उसका उदाहरण (किल) निश्चयसे (अधुना) इससमय (दृष्टान्तपुरस्सर) दृष्टान्तपूर्वक (वक्ष्ये) कहता हूं ।

भावार्थः— जो सत्‌का परिणमन स्वभावसे तद्भाव और अतद्भावसे युक्त है उसीका आगे दृष्टान्त पूर्वक खुलासा करते हैं । यहापर सदृश परिणामसे तद्भावको और विसदृश परिणामसे अतद्भावको समझाताहूं ।

सदृश परिणमनका उदाहरण ।

जीवस्य यथा ज्ञानं परिणामः परिणमँस्तदेवेति ।
सदृशस्योदाहृतिरिति जातेरनतिक्रमत्वतो वाच्या ॥ ३२७ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (जीवस्य) जीवका (ज्ञानं परिणामः) ज्ञानरूप परिणाम (परिणमन्) परिणमन करता हुआ (तदेव इति) प्रतिसमय ज्ञानरूपही रहता है (इति) यही (जातेरनतिक्रमत्वत) ज्ञानत्व रूपजातिका उल्लंघन नहीं करनेसे (सदृशस्य उदाहृति) सदृशका उदाहरण (वाच्या) कहना चाहिए अर्थात् सदृशका उदाहरण है ।

भावार्थः— परिणमनशील जीवके ज्ञान गुणमें जितने परिणमन होते हैं उन सबमें ज्ञानपनेको न छोडकर 'तदेवइदं', अर्थात् जो ज्ञान पहलेथा वही यह है इस प्रकारका अन्वय द्योतक व्यवहार, सदृश परिणामका उदाहरण है।

विसदृश परिणमनका उदाहरणपूर्वक स्वरूप ।

यदि वा तादिह ज्ञानं परिणामः परिणमन्न तदिति यतः ।
स्वावसरे यत्सत्त्वं तदसत्त्वं परत्र नययोगात् ॥ ३२८ ॥

अन्वयार्थः— (यदिवा) तथा (इह) यहांपर (तत्ज्ञानं परिणामः) वही ज्ञानरूप परिणाम (परिणमन्) परिणमन करता हुआ (न तत्) यह वह नहीं है अर्थात् पूर्वज्ञानरूप नहीं है (इति) यह विसदृशका

उदाहरण है (यतः) क्योंकि (स्वावसरे) विवक्षित परिणामका अपने समयमें (यत् सत्वं) जो सत्व है (परत्र) दूसरे समयमें (नययोगात्) पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे (तदसत्वं) वह उसका सत्व नहीं माना जाता है।

भावार्थः— तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे भिन्न २ समयवर्ती परिणमनकी सत्ता, भिन्न कही जाती है। इसलिए परिणमनशील ज्ञानके प्रतिसमय होनेवाले परिणमनोंमें ' तदिद न ', अर्थात् जो पहले समयमें था वह अब नहीं हैं इसप्रकार व्यतिरेक नियामक व्यवहार, विसदृश परिणमन कहलाता है।

सदृश तथा विसदृश परिणामका युक्तिपूर्वक उदाहरण।

अत्रापि च संदृष्टिः सन्ति च परिणामतोपि कालांशाः।
जातेरनतिक्रमतः सदृशत्वनिबन्धना एव ॥ ३२९ ॥

अपि नययोगाद्विसदृशसाधनासिध्द्यै त एव कालांशाः।
समयः समयः समयः सोपीति बहुप्रतीतित्वात् ॥ ३३० ॥

अन्वयार्थ — (अपि च) और (अत्रापि च संदृष्टिः) इस विषयमें भी खुलासा यह है कि (परिणामतः) परिणामसे ('ये' कालांशाः एव सन्ति) जितने भी उर्ध्वांश कल्पनारूप स्वकालके अंश हैं वे सब (जातेरनतिक्रमतः) अपनी २ द्रव्यत्व जातिको उल्लंघन नहीं करनेके कारणसे (सदृशत्वनिबन्धनाः) सदृशपनेके द्योतक है।

(ते एव कालांशाः) तथा वेही कालके अंश (सोऽपिसमयः) वह भी समय है (सोऽपिसमयः) वह भी समय हैं ('सोऽपिसमयः') वहभी समय है (इति) इसप्रकार समयोंमे (बहुप्रतीतित्वात्) बहुतकी प्रतीति होनेसे (नययोगात्) पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे (विसदृशसाधनासिद्ध्यै अपि) विसदृशताकी सिद्धिके- लिए भी समर्थ है

भावार्थः— द्रव्यके प्रतिसमयवर्ती परिणमनको ऊर्ध्वांश कल्पना और स्वकाल कहते हैं। अपनी २ जातिको उल्लघन नहीं करके अपने २ स्वकालरूप जो अंश सामान्यपनेसे सदृशताके द्योतक हैं वही अंश पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे प्रतिसमयमें भिन्न प्रतीतिसे विसदृशताके द्योतक कहे जाते हैं। अर्थात् सामान्य रूपसे जो स्वकालकी अपेक्षा होती है

उसके द्वारा द्रव्यमें तद्भाव कहा जाता है। तथा पर्यायार्थिक नयसे भिन्न २ समयमें जो स्वकालकृत विशेपता हुआ करती है उसकी अपेक्षासे द्रव्यमें अतद्भाव कहा जाता है।

परस्पर सापेक्ष अन्वय व व्यतिरेक कार्यकारी है।

अतादिदमिहप्रतीतौ क्रियाफलं कारकाणि हेतुरिति।
तादिदं स्यादिह संविदि हि हेतुस्तत्त्वं हि चेन्मिथः प्रेम ॥ ३३१ ॥

अन्वयार्थ — (**मिथः प्रेम चेत्**) यदि परस्पर दोनोंमें अपेक्षा रहे तो (**अतत् इदं**) यह वह नहीं है (**इह प्रतीतौ**) इस प्रतीतिमें (**क्रिया फलं**) क्रिया फल (**कारकाणि**) कारक (**हेतुः**) हेतु (**इति**) ये सब बन जाते है और (**तदिदं**) यह वही है (**इह संविदि**) इस प्रतीतिमें भी (**हि**) निश्चयसे (**हेतुः**) हेतु (**तत्वं-स्यात्**) तत्व ये सब बन जाते हैं।

भावार्थः— यद्यपि तद्भाव और अतद्भावको परस्पर निरपेक्ष माननेसे पूर्वोक्त प्रकारसे कार्यकारण भावके अभावका प्रसग आता है। परतु यदि दोनों सापेक्ष माने जावें तो 'तदिदं' तथा 'तादिद न' इत्याकारक तद्भाव और अतद्भावकी प्रतीतिमें कार्य कारण तथा क्रिया व कारक ये सबही सिद्ध हो जाते हैं।

सारांश।

अयमर्थः सदसद्वत्तदतदपि च विधिनिषेधरूपं स्यात्।
न पुनर्निरपेक्षतया तद्द्वयमपि तत्वमुभयतया ॥३३२॥

अन्वयार्थः— (**अयं अर्थः**) सारांश यह है कि (**सदसद्वत्**) सत असत्की तरह (**तत्**) तव (**च**) और (**अतत् अपि**) अतत् भी (**विधिनिषेधरूप स्यात्**) विधि निपेधरूप होते हैं (**पुनः**) किन्तु (**निरपेक्षतया न**) निरपेक्षपनेसे नहीं क्योंकि (**उभयतया**) परस्पर सापेक्षपनेसे (**तद्द्वयं अपि तत्वं**) तत् असत् ये दोनों भी तत्व हैं।

भावर्थः— साराश यह है कि वस्तु कथंचित सत और असतसे युक्त होकर, जिसप्रकार अस्ति नास्तिरूप कही जाती है। उसीप्रकार वह कथचित् तद्भाव व अतद्भावसे युक्त होकर भी, विधि निपेधरूप कही जाती है। क्योंकि

परस्पर सापेक्ष होनेसे वस्तु सत्असत्भावमयकी तरह, तत्अतत्भाव मय है। किन्तु निरपेक्ष रीतिसे नहीं।

उक्त सारांशका स्पष्टीकरण।

रूपनिदर्शनमेतत्तदिति यदा केवलं विधिः मुख्यः।
अतदिति गुणोऽपृथक्त्वात्तन्मात्रं निरवशेषतया ॥ ३३३ ॥

अन्वयार्थः— (एतत् रूपनिदर्शनं) पूर्वोक्त कथनका खुलासा यह है कि (यदा) जिससमय (केवलं) केवल (तत् इति) तत् इसकी (विधिः मुख्यः) विधि मुख्य होती है ('तदा') उससमय (अपृथक्त्वात्) कथंचित् अपृथक् होनेके कारण (अतत् इति गुण) असत् यह गौण हो जाता है इसलिए वस्तु (निरवशेषतया) सामान्यरूपसे (तन्मात्रं) तन्मात्र कही जाती है।

भावार्थ पूर्वोक्त कथनका खुलासा यह है कि जिसप्रकार जिससमय वस्तुमें द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे तद्भावकी मुख्यताके कारण विधीकी विवक्षा की जाती है उससमय विधीका अविनाभावी अतद्भाव केवल विवक्षित न होनेके कारण गौण हो जाता है। इसलिए वस्तु तद्भाव मात्र किंवा तन्मात्र कहलाती है।

अतदिति विधिर्विवक्ष्यो मुख्यः स्यात् केवलं यदादेशात्।
तदिति स्वतो गुणत्वादविवक्षितमित्यतन्मात्रम् ॥ ३३४ ॥

अन्वयार्थः— (यदा) और जिससमय (आदेशात्) पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे (केवलं) केवल (अतत् इति) अतत् यह (विवक्ष्यः विधिः) विवक्षा करनेके योग्य विधि (मुख्यः स्यात्) मुख्य होती है। ('तदा,') उससमय (तत् इति) तत् यह (स्वयं) स्वयं (गुणत्वात्) गौण होनेसे (अविवक्षितं) अविवक्षित रहता है (इति) इसलिए वस्तु (अतन्मात्रं) अतन्मात्र कही जाती है।

भावार्थः— उसीप्रकार जिससमय वस्तुमें पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे, अतद्भावकी मुख्यताके कारण, निषेधकी विवक्षा की जाती है उससमय निषेधका अविनाभावी तद्भाव, केवल अविवक्षित होनेके कारण, गौण हो जाता है। इसलिए वस्तु अतद्भावमात्र किंवा अतन्मात्र कहलाती है।

उपसंहार।

शेषविशेषाख्यानं ज्ञातव्यं चोक्तवक्ष्यमाणतया।

सूत्रे पदानुवृत्तिर्ग्राह्या सूत्रान्तरादिति न्यायात् ॥ ३३५ ॥

अन्वयार्थः— (**सूत्रे पदानुवृत्ति**) सूत्रमें पदोंकी अनुवृत्ति (**सूत्रान्तरात् ग्राह्या**) दूसरे सूत्रोंसे ग्रहण करना चाहिये (**इति न्यायात्**) इस न्यायसे (**शेषविशेषाख्यानं च**) यहांपर भी शेषविशेष कथन (**उक्त-वक्ष्यमाणतया**) उक्त और वक्षमाण पूर्वापर सम्बन्धसे (**ज्ञातव्यं**) जानना चाहिये।

भावार्थः— इसप्रकार यहापर सामान्यरूपसे परस्पर सापेक्ष तद्भाव और अतद्भावसे युक्त, वस्तुके स्वरूपका निरूपण किया। तथा जिसप्रकार सूत्रोंमें दूसरे सूत्रोंसे पदोंकी अनुवृत्ति आती है अर्थात् पूर्वापर सम्बन्धसे विशेष अर्थ निकाला जाता है। उसीप्रकार यहापर भी विशेष व्याख्यान, पूर्वापर सम्बन्धसे समझ लेना चाहिए।

प्रश्न।

ननु किं नित्यमानित्यं किमथोभयमनुभयं च तत्वं स्यात्।
व्यस्तं किमथ समस्तं क्रमतः किमथाक्रमादेतत् ॥ ३३६ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शकाकारका कहना है कि (**एतत् तत्वं**) यह तत्व (**किं नित्य, अनित्यं**) क्या नित्य है अथवा आनित्य है (**अथ**) और (**किं उभयं च अनुभयं**) क्या उभय रूप है अथवा अनुभयरूप है (**अथ**) तथा (**किं व्यस्तं, समस्तं**) क्या व्यस्त रूप है अथवा समस्त रूप है (**अथ**) और (**किं क्रमतः अक्रमात् स्यात्**) क्या क्रमसे है अथवा अक्रमसे है।

भावार्थः— पदार्थमें सदसद्भाव और तदतद्भावका निरूपण करके अब उसको नित्यानित्यात्मक तथा एकानेकात्मक सिद्धि करनेके लिये चार प्रश्नपूर्वक ऊहापोह करते है कि तत्व क्या नित्य है या अनित्य है ? क्या उभय रूप है या अनुभय रूप है ? क्या व्यस्त—अनेक है या समस्त एक ? क्या सक्रम है या अक्रम है ?

उत्तर।

सत्यं स्वपरनिहत्यै सर्वं किल सर्वथेपि पदपूर्वं।
स्वपरोपकृतिनिमित्तं सर्वं स्यात्स्यात्पदांकितं तु पदम् ॥ ३३७ ॥

अन्वयार्थः— (**सत्यं**) ठीक है, किन्तु (**किल**) निश्चयसे (**सर्वथा इति पदपूर्वं**) सर्वथा इस पद-

पूर्वक (सर्वं) सबही कथन (स्वपरनिहत्यै) स्वपर घातके लिए है (तु) किन्तु (स्यातपदांकित) स्यात् पदके द्वारायुक्त (सर्वं पदं) सबही पद (स्वपरोकृतिनिमित्तं स्यात्) स्वपर उपकारके लिए है

भावार्थः— ठीक है परन्तु सर्वथा पदपूर्वक सबही कथन स्व व परका घातक होता है। और कथचित स्यातपदपूर्वक सबही कथन युक्तियुक्त ठहरता है। इसलिए तत्व सर्वथा न नित्य है। न अनित्य है न उभय रूप है न अनुभय रूप है न व्यस्त है न समस्त है और न सक्रम है न अक्रम है। किन्तु कथंचित् नित्य, अनित्य, उभय, अनुभय, व्यस्त, समस्त, तथा सक्रम और अक्रम है।

खुलासा।

अथ तद्यथा यथा सत्स्वतोस्ति सिद्धं तथा च परिणामी।
इति नित्यमथानित्यं सच्चैकं द्विस्स्वभावतया ॥ ३३८ ॥

अन्वयार्थः—(अथ) अब (तद्यथा) उसका खुलासा यह है कि (यथा) जैसे (सत्) सत् (स्वतः सिद्धं अस्ति) स्वतः सिद्ध है (तथा च) वैसेही [परिणामि] परिणभनशील भी है [इति] इसलिए [एकं च सत्] एकही सत् [द्विस्स्वभावतया] दो स्वभाववाला होंनेसे [नित्यं] नित्य [अथ] और [अनित्यं] अनित्य है।

भावार्थ — पूर्वोक्त कथनका खुलासा यह है कि जैसे तत्व स्वतः सिद्ध है वैसेही वह परिणनमनशील भी है। इसलिए एकही सत, स्वतः सिद्ध होनेसे नित्य, और परिणमनशील होनेसे अनित्य, इसप्रकार परस्पर सापेक्ष उभय स्वभाववाला माना गया है।

नित्य विवक्षामें युक्ति।

अयमर्थो वस्तु यदा केवलमिह दृश्यते न परिणामः।
नित्यं तदव्ययादिह सर्वं स्यादन्वयार्थनययोगात ॥ ३३९ ॥

अन्वयार्थः— (अयं अर्थः) साराश यह है कि (यदा) जिससमय (इह) यहांपर (केवलं) केवल (वस्तु) वस्तु (दृश्यते) दृष्टिगत होती है (परिणामः न) परिणाम दृष्टिगत नहीं होता है (तदा) उससमय

(इह) यहांपर (अन्वयार्थ नययोगात) द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे (तदन्वयात्) वस्तुत्वका नाश नहीं होनेके कारण (सर्वं नित्यं स्यात्) सबही वस्तु नित्य है।

भावार्थ — साराश यह है कि जिससमय केवल वस्तुके वस्तुत्वकी विवक्षा होती है परिणामकी नहीं। उससमय कभी भी वस्तुको वस्तुत्वसे च्युत नहीं होनेके कारण द्रव्यार्थिक नयसे वह सब वस्तु नित्य कहलाती है।

अनित्य विवक्षामें युक्ति।

अपि च यदा परिणामः केवलमिह दृश्यते न किल वस्तु।
अभिनवभावानभिनवभावाभावादनित्यमंशनयात् ॥ ३४० ॥

अन्वयार्थः— (अ पच) अथवा (यदा) जिससमय (इह) यहांपर (किल) निश्चयसे (केवलं) केवल (परिणामः) परिणाम (दृश्यते) दृष्टिगत होता है (वस्तु न) वस्तु दृष्टिगत नहीं होती है ('तदा') उससमय (अंशनयात्) पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे (अभिनवभावानभिनवभावाभावात्) नवीन पर्यायकी उत्पत्ति और पूर्व पर्यायके अभाव होनेसे (अनित्यं) सबही वस्तु अनित्य है।

भावार्थः— और जिससमय केवल वस्तुका परिणाम विवक्षित होता है उससमय उस वस्तुमें पर्यायार्थिक नयसे केवल पूर्व २ भावोंका अभाव तथा नवीन २ भावोंका उत्पादही दृष्ट होता है अतः वह वस्तु अनित्य कहलाती है।

इसप्रकार वस्तुके नित्यानित्यात्मकपनेमें युक्ति बताकर आगे–क्रमपूर्वक कहे जानेवाले सत और परिणामके विषयमें ऊहापोह करनेके लिए दृष्टान्तों द्वारा पूर्वपक्षके स्थापनपूर्वक उनका खडनकरके समीचीन दृष्टान्तो द्वारा सत् तथा परिणामके द्वैतको सिद्ध करते है।

प्रश्न।

ननु चैकं सदिति यथा तथा च परिणाम एव तद्द्वैतम्
वक्तुं क्षममन्यतरं क्रमतो हि समं न तदिति कुतः ॥ ३४१ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (यथा) जैसे (सत्) सत् यह (एक) एक है (तथा) वैसे (परिणामः च) परिणाम भी एक है (इति) इसप्रकारसे (तद्वैतं एव) उन दोनोंका द्वैतही

है अर्थात् वे स्वतंत्र रीतिसे दो हैं परन्तु (क्रमत) क्रमसे (अन्यतरं) उन दोनोंमेंसे कोई एक (वक्तुं क्षमं) कहा जासकता हैं (इति कुतः) यह कैसे ?

भावार्थः— जैसे सत् अपनी दृष्टिसे सत है वैसेही परिणामभी अपनी दृष्टिसे परिणाम है। सत् और परिणामोंमेंसे जिससमय सत् कहा जाता है उससमय परिणाम नहीं कहा जा सकता है। तथा जिससमय परिणाम कहा जाता है उससमय सत नहीं कहा जा सकता है अर्थात एक कालमें दोनोंका निरूपण न होकर क्रमशः भिन्न २ कालमें निरूपण होता है इसका क्या कारण है ?

अथ किं कखादिवर्णाः सन्ति यथा युगपदेव तुल्यतया।
वक्ष्यन्ते क्रमतस्ते क्रमवर्तित्वाद्ध्वनेरिति न्यायात् ॥ ३४२ ॥

अन्वयार्थ — (अथ किं) अब शंकाकार स्वयंही स्वकल्पित दृष्टान्तोंके आश्रयसे सत् परिणामके विषयमें पूर्वपक्षद्वारा ऊहापोह करता है कि क्या (यथा) जैसे (कखादिवर्णाः) क ख आदि वर्ण (तुल्य- तया) समानतासे (युगपदेव सन्ति) एक कालमेंही होते हैं परन्तु (ध्वने क्रमवर्तित्वात् इति न्यायात्) ध्वनि क्रमवर्ती होती है इस न्यायसे (ते) वे क ख आदि वर्ण (क्रमतः वक्ष्यन्ते) क्रमसे कहे जाते है युगपत नहीं, वैसेही क्या सत् और परिणाम युगपत् रहते हुए भी क्रमसे कहे जाते है ?

भावार्थः—क्या जिसप्रकार क ख आदिवर्ण युगपत रहते है। परतु उन सबकी ध्वनि, एक व्यक्ति द्वारा एक साथ नहीं निकाली जा सकती है। इसलिए वे क्रमपूर्वक कहे जाते हैं। उसी प्रकार क्या युगपतवर्ती सत और परिणाम क्रमपूर्वक कहे जाते हैं।

दूसरा दृष्टान्त।

अथ किं खरतरदृष्ट्या विन्ध्यहिमाचलयुगं यथास्ति तथा।
भवतु विवक्ष्यो मुख्यो विवक्तुरिच्छावशाद्गुणोऽन्यतरः ॥ ३४३ ॥

अन्वयार्थः— (अथ कि) अथवा क्या (यथा) जैसे (खरतरदृष्ट्या) खरतर दृष्टिसे (विन्ध्य हिमाचलयुगं) विन्ध्याचल और हिमालय ये दो पर्वत (अस्ति) है परन्तु उन दोनोंमेंसे (विवक्तुः इच्छाव-

शात्) कहनेवालेकी इच्छानुसार (विवक्ष्य:) विवक्षित कोई (मुख्य: भवतु) मुख्य हो जाता है तथा (अन्यतर: गुण:) अविवक्षित दूसरा गौण हो जाता है (तथा) वैसेही क्या सत् और परिणाम विवक्षावश दो कहे जाते हैं ?

भावार्थ:— अथवा क्या जैसे विन्ध्याचल और हिमालय परस्परमें अत्यंत भिन्न है। परतु खरतर दृष्टिसे विवक्षितको मुख्य तथा अविवक्षितको गौण मानकर उनमें क्रम रहता है। वैसेही क्या सत् और परिणाम दो कहे जाते हैं?

तीसरा दृष्टान्त ।

अथ चैक: कोऽपि यथा सिंह: साधुर्विवक्षितो द्वेधा ।
सत्परिणामोऽपि तथा भवति विशेषणविशेष्यवत् किमिति ॥ ३४४ ॥

अन्वयार्थ:— (**अथ च**) अथवा (**यथा**) जैसे (**कोऽपि एक:**) कोई एक व्यक्ति (**सिंह: साधु: द्वेधा विवक्षित:**) शूरत्वादि गुणोंकी अपेक्षासे सिंह और परोपकारत्वादि गुणोंकी अपेक्षासे साधु इसप्रकार विशेषण विशेष्य भावके कारण दो रूपसे विवक्षित हो जाता है (**तथा**) वैसेही (**सत्परिणामोऽपि**) सत् और परिणाम भी एक होकर (**किमिति**) क्या (**विशेषणविशेष्यवत्**) विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्धकी तरह दो प्रकारसे विवक्षित (**भवति**) होते हैं ?

भावार्थ:— अथवा जैसे एकही व्यक्ति क्रमशः विवक्षावश विशेषणविशेष्यसम्बधसे सिंह और साधु कहा जाता है। वैसेही क्या सत् और परिणाम क्रमश विवक्षावश विशेषण विशेष्य सम्बन्धसे दो कहे जाते हैं ?

चौथा और पाचवां दृष्टान्त।

अथ किमनेकार्थत्वादेकं नामद्वयांकितं किंचित् ।
अग्निर्वैश्वानर इव सव्येतरगोविषाणवत् किमथ ॥ ३४५ ॥

अन्वयार्थ:— (**अथ किं**) अथवा क्या जैसे (**अनेकार्थत्वात्**) एक शब्दके नाना अर्थ होनेसे (**किंचित् एकं**) कोई एक वस्तु (**अग्नि: वैश्वानर इव**) अग्नि और वैश्वानरकी तरह (**नामद्वयांकितं**) दो नामोंसे युक्त हो जाती है वैसेही क्या सत् और परिणाम है अर्थात् किसी एक पदार्थके दो नाम हैं (**अथ किं**)

अथवा क्या (**सव्येतरगो विषाणवत**) दाहिने तथा बाए गौके सींगकी तरह सत् और परिणाम परस्परमें सहचर है ?

भावार्थः— अथवा क्या जैसे अनेकार्थ वाचकपनेसे एकही अर्थके अग्नि और वैश्वानर ये दो वाचकनाम होते हैं वैसेही क्या सत और परिणाम भी किसी एक अर्थके दो वाचकनाम हैं ?

अथवा क्या जैसे गायके डेरे और दाहिने सींग भिन्न २ होकर भी परस्परमें सहचर है वैसेही क्या सत तथा परिणाम भी भिन्न २ हो करके परस्परमें सहचर हैं !

छटवां दृष्टान्त।

अथ किं कालविशेषादेकः पूर्वं ततोऽपरः पश्चात् ।
आमानाम विशिष्टं पृथिवीत्वं तद्यथा तथा किमिति ॥ ३४६ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ कि**) अथवा क्या (**कालविशेषात्**) कालकृत भेदसे (**एक पूर्वं**) एक पहले और (**अपरः**) दूसरा (**ततः पश्चात्**, उससे पिछे होता है इसालिए (**यथा**) जैसे (**आमानाम विशिष्ट पृथिवीत्वं**) अपक तथा पक विशेषण विशिष्ट पृथिवीत्व होता है (**तथा**) वैसेही (**किमिति**) क्या (**तत्**) सत् और परिणामका द्वैत है ?

भावार्थः— अथवा क्या जैसे कचीसे पक्की होनेवाली मट्टीमें कालकृत अन्तर रहता है । तथा वह क्रमसे कची व पक्की कहलाती है। वैसेही क्या सत और परिणाममें कालकृत भेद है ।

सातवां दृष्टान्त।

अथ किं कालक्रमतोप्युत्पन्नं वर्त्तमानमिव चास्ति ।
भवति सपत्नीद्वियमिह यथा भिन्नः प्रत्यनीकतया ॥ ३४७ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ किं**) अथवा क्या वे दोनों सत् और परिणाम (**कालक्रमतः उत्पन्नं अपि**) कालके क्रमसे उत्पन्न हो करके भी (**वर्तमान च इव अस्ति**) वर्तमानकी ही तरह है (**यथा**) जैसेकि (**इह**) इस लोकमें (**मिथ**)) परस्पर (**प्रत्यनीकातया**) विरूद्धपनेसे (**सपत्नीद्वय भवति**) एक पुरूपकी दो स्त्रिया भिन्न २ कालमें उत्पन्न होकरके भी एक कालमें सोतें सपत्नी कहलाती है ।

भावार्थः— अथवा क्या जैसे किसी पुरुषकी भिन्न २ कालमें होनेवाली दो स्त्रिया एक कालमेंही परस्परमें विवक्षापनेसे सपत्नी कहलाती है । वैसेही क्या परस्पर विरोध रूपसे भिन्नकालवर्ती हो करके भी सत् और परिणाम एक कालमें परस्पर विवक्षासे दो कहे जाते हैं ?

आठवां और नौवा दृष्टांत ।

अथ किं ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृद्वयमिव मिथः सपक्षतया ।
किमथोपसुन्दसुन्दमल्लन्यायात्किलेतरेतरस्मात् ॥ ३४८ ॥

अन्वयार्थः— (अथ किं) अथवा क्या वे दोनों सत् और परिणाम (मिथः सपक्षतया) परस्परमें अविरोधपनेसे (ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृद्वयं इव) बडे और छोटे भाईकी तरह भिन्न कालमें होकरके भी एक कालमें रहते है (अथ कि) अथवा क्या (किल) निश्चयसे (इतरेतरस्मात्) पारस्परिक (उपसुन्दसुन्दमल्लन्यायात्) उपसुद और सुद मल्ल न्यायसे वे दोनों सत् तथा परिणाम एक कालमें रहते हैं ।

भावार्थ.— अथवा क्या जैसे परस्पर सपक्षभावसे छोटे तथा बडे भाईमें द्वैत रहता है । वैसेही क्या परस्परमें सपक्षभावसे सत् और परिणाममें द्वैत रहता है ? अथवा क्या जैसे सुद तथा उपसुंद मल्लोंमे द्वैत है । वैसेही क्या सत् और परिणाममें द्वैत है ।

दशवां और ग्यारहवां दृष्टांत ।

केवलमुपचारादिह भवति परत्वापरत्ववत्किमथ ।
पूर्वापरदिग्द्वैतं यथा तथा द्वैतमिदमपेक्षतया ॥ ३४९ ॥

---

१ समान शक्तीवाले सुन्द और उपसुन्द नामके दो राक्षस थे । उन्होंने अपनी तपश्चर्यासे शकरको प्रसन्न कर लिया था । और शकरनें प्रसन्न होकर उनको इष्ट वर मागनेके लिए कहा परतु दैवयोगसे उनकी बुद्धि उलट गई और उन्होंने शकरसे उत्तम वर न मागकर पार्वतीकी याचना की । अपने वचनानुसार शकरने उनको पार्वती दे दी । अनतर पार्वतीके लिए दोनोंमें विवाद उत्पन्न हुवा और उनका विवाद निपटानेके लिए एक मध्यस्थकी अवश्यकता हुई ।

शकरने ब्राह्मणका रूप रखकर उनदोनोंका मध्यस्थ होना स्वीकार किया और उनको यह न्याय दिया कि, तुम दोनों क्षत्रिय हो अत तुमको युद्धके द्वाराही यह विवाद मिटाना चाहिये अत एव उन दोनोंने युद्ध करनेका निश्चय किया परंतु य दोनों समान शक्तिवाले थे । इसलिये दोनोंकोही एक समयमें वार करनेसे, दोनोंका एकही समयमें वध होगया । (हितोपदेश)

अन्वयार्थः—(किं) अथवा क्या (केवलं उपचारात्) केवल उपचारमात्रसे (परत्वापरत्ववत् भवति) परत्व अपरत्वकी तरह है (अथ) अथवा क्या (इह) यहांपर (यथा) जैसे कि) पूर्वापरदिग्द्वैतं) आकाशके अखण्डित होते हुए भी यह पूर्व दिशा है, यह पश्चिम दिशा है, इत्यादि क्षेत्रकृत परत्वापरत्व होता है (तथा) वैसेही क्या (इदं द्वैतं) यह सत् और परिणामका द्वैत (अपेक्षतया) अपेक्षापनेसे है ?

भावार्थः— अथवा क्या आयुकी अपेक्षा छोटे तथा बडोमें जैसे केवल उपचारसे परत्व व अपरत्व समझा जाता है। वैसेही क्या सत् और परिणाम उपचारसे भिन्न है ?

अथवा क्या जैसे सूर्यके उदयादिककी अपेक्षासे दिशाओंके पूर्व पश्चिमादि भेद हो जाते हैं वैसेही क्या सत् और परिणाम आपेक्षिक मात्र हैं ?

बारहवां दृष्टांत।

किमथाधाराधेयन्यायादिह कारकादि द्वैतमिव।
स यथा घटे जलं स्यान्न स्यादिह जले घटः कश्चित्॥ ३५०॥

अन्वयार्थः—(अथ किं) अथवा क्या वे दोनों सत और परिणाम (इह) यहांपर (आधाराधेय-न्यायात्) आधारआधेय न्यायसे (कारकादिद्वैतं इवं) कारकादि द्वैतकी तरह है (स यथा) और वह आधार आधेयन्याय इस प्रकारसे है जैसे कि (इह) यहांपर (घटे जलं स्यात्) घटमें जल रहता है किन्तु (जले कश्चित्-घटः न स्यात्) जलमें कोई घट नहीं रहता है।

भावार्थः— अथवा क्या जैसे घटमें जल रहता है इस वाक्यमें घट आधार, और जल आधेय है, ऐसा व्यवहार होता है। किन्तु जलमें घट रहता है ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता है। इसलिये ' घटमें, अधिकरण कारक तथा ' तथा जल रहता है, यह कर्ता कारक है। वैसेही क्या सतमें परिणाम होते हैं अर्थात् क्या इस प्रकारसे सत् और परि-णाममें आधार आधेय मात्रसे द्वैत है।

तेरहवां दृष्टान्त।

अथ किं बीजांकुरवत्कारणकार्यद्वयं यथास्ति तथा।
स यथा योनीभूतं तत्रैकं योनिजं तदन्यतरम्॥ ३५१॥

अन्वयार्थः—(अथ किं) अथवा क्या (यथा) जैसे (बीजांकुरवत्) बीजांकुरमें (कारणकार्य-

द्वयं अस्ति) कारण और कार्य दोनों रहते हैं (तथा) वैसेही क्या सत् तथा परिणाममें कारण कार्य भाव है (सर्वथा) और वह कारण कार्य भाव इस प्रकार है जैसेकि (तत्र) उन बीजांकुरमें (एकं योनीभूत) एक कारण है तथा (तदन्यतरं) उससे भिन्न दूसरा (योनिजं) कार्य है।

भावार्थः— अथवा क्या जैसे बीज तथा अंकुरमें कार्यकारण भाव होता है अर्थात् बीज कारण व अंकुर कार्य है। वैसेही क्या सत्को कारण और परिणामको कार्य मानकर उनमें कार्यकारण भाव है।

चौदहवां दृष्टान्त।

अथ किं कनकोपलवत् किंचित्स्वं किंचिदस्वमेव यतः।
ग्राह्यं स्वं सारतया तदितरमस्वं तु हेयमसारतया ॥ ३५२ ॥

अन्वयार्थः— (अथ किं) अथवा क्या (कनकोपलवत्) कनकोपलकी तरह उन दोनोंमें (यतः) जिसकारणसे (किंचित् स्वं) कुछ निज अंश है और (किंचित् अस्वं एव) कुछ अंश अपना न होकर दूसरेकाही है (ततः) तिस कारणसे (सारतया स्वं ग्राह्यं) सारभूत होनेसे निज अंश ग्रहण करनेके योग्य है (तु) तथा (तदितरं अस्वं) अपने निज अंशसे भिन्न परअंश (असारतया) असारपनेसे (हेयं) छोडनेके योग्य हैं।

भावार्थः— अथवा क्या जैसे सुवर्ण पाषाणमें जितना सारभूत सुवर्णांश है उतना वह ग्राह्य है। इतर अंश नहीं। वैसेही क्या सत् और परिणाममेंसे सारभूत सतरूप अंश ग्राह्य तथा असारभूत अंश परिणाम रूप त्याज्य होनेसे अग्राह्य है अर्थात सत् और परिणाममें जो द्वैत है वह क्या ग्राह्य तथा अग्राह्य रूपसे है।

पन्द्रहवां दृष्टान्त।

अथ किं वागर्थद्वयमिव सम्पृक्तं सदर्थसंसिद्धये।
पानकवत्तन्नियमादर्थाभिव्यंजकं द्वैतात ॥ ३५३ ॥

अन्वयार्थः— (अथ किं) अथवा क्या (सदर्थ संसिद्ध्यै) सतरूप अर्थका संसिद्धिके लिये (वागर्थ द्वयं इव) वाचक वाच्यकी युगलकी तरह (संपृक्त) मिला हुवा (तत्) वह सत् और परिणामका युगल (पानकवत्) पानकेपदार्थकी तरह (नियमात्) नियमसे (द्वैतात) द्वैतके कारण (अर्थाभिव्यंजकं) अर्थका प्रगट करनेवाला हैं।

भावार्थ — अथवा क्या जैसे योग्य अर्थकी सिद्धिके लिए, शद्ध और अर्थमें पानक पदार्थकी तरह वाच्य वाचक सम्बन्ध है, अतः योग्य अर्थके स्पष्टीकरणके लिए, जब उपयुक्त योग्य शद्ध बोला जाता है तबही योग्य अर्थका बोध हो सकता है। वैसेही क्या सत और परिणाममें वाच्यवाचक सम्बन्ध होनेसे, परिणामके कहनेपर सतका बोध होता है।

सोलहवां दृष्टान्त।

अथ किमवश्यतया तद्वक्तव्यं स्यादनन्यथासिद्धत्वै।
भेरीदण्डवदुभयोः संयोगादिव विवाक्षितः सिद्धयेत ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ किं**) अथवा क्या [**अनन्यथासिद्धत्वै**] अविनाभावी होनेसे (**तत्**) वह सत् और परिणामका द्वैत (**अवश्यतया**) अवश्यपनेसे (**वक्तव्यं**) कहना चाहिये क्योंकि (**भेरीदंडवत्**] भेरी दंडकी तरह (**उभयोः संयोगात् इव**) दोनोंके संयोगसेही (**विवक्षित सिद्धयेत्**) विवाक्षित सिद्धि होती है अर्थात् विवाक्षित पदार्थकी सिद्धि होती है।

भावार्थः— अथवा क्या जैसे अविनाभाव सम्बन्धसे दण्डके सयोगपूर्वकही नगाडेमें शद्ध उत्पन्न होता है वैसेही क्या सत और परिणामके सम्बन्धसेही वस्तुकी सिद्धि होती है इसलिए वे दोनोंही अवश्य कहे जाने योग्य है।

सत्रहवां दृष्टान्त।

अथ किमुदासीनतया वक्तव्यं वा यथारुचित्वान्न।
यदपूर्णन्यायादप्यन्यतरेणेह साध्यसंसिद्धेः ॥ ३५५ ॥

अन्वयार्थः— [**अथ किं**] अथवा क्या सत् और परिणामको (**उदासीनतया**) उदासीनपनेसे (**यथा रुचित्वात्**) अपने रुचिके अनुसार (**वक्तव्यं**) कहना चाहिये (**वा**) अथवा (**न**) न कहना चाहिये क्योंकि (**इह**) यहांपर (**पदपूर्णन्यायादपि**) पदपूर्ण न्यायसेभी (**अन्यतरेण**) सत् तथा परिणाममेंसे किसी एकके कथनसे (**साध्य संसिद्धेः**) साध्यकी संसिद्धि हो सकती हैं।

---

१ पानकके (शराबकी) उपमाका यहापर यह प्रयोजन दीखता है कि जैसे शराब योग्य परिमाणमें, शराबके बनानेवाली वस्तुओंके मिलावटसे होती है यदि योग्य परिमाणका अभाव हो तो जैसी चाहिए वैसी शराब तयार नहीं होती है।

भावार्थः— अथवा क्या जैसे पदके एक अशके समझनेसे सपूर्ण पदका ज्ञान हो सकता है। अतः ऐसी स्थितिमें पदके संपूर्ण अंशोंका प्रतिपादन प्रतीपादककी अपनी रूचिपर निर्भय है। क्योंकि पदके संपूर्ण अशोंके कहनेपर भी उतनाही बोध होगा जितना कि पदके एक देशके कहनेपर हो सकता है। वैसेही क्या सत् और परिणाममेंसे किसी एकके कहनेपर इतर की सिद्धि हो सकती है अर्थात दोनोंका कहना आवश्यक न होकर, क्या केवल उदासीनतासे है ?

अठारहवां दृष्टान्त।

अथ किमुपादानतया स्वार्थं सृजितित कश्चिदन्यतमः।
अपरः सहकारितया प्रकृतं पुष्णाति मित्रवत्तदिति ॥ ३५६ ॥

अन्वयार्थः— (अथ किं) अथवा क्या जैसे (कश्चित् अन्यतमः) कोई एक (उपादानतया) उपादानपनेसे (स्वार्थं सृजति) अपने अर्थको उत्पन्न करता है और (अपरः) दूसरा (सहकारितया) सहकारीपनेसे (प्रकृतं तत्) प्रकृत उसी अर्थको (मित्रवत्) मित्रकी तरह (पुष्णाति) पोषण करता हैं—पुष्ट करता है वैसेही क्या सत् और परिणाम परस्परमें उपादान तथा सहकारी कारणके समान कार्यकारी हैं ?

भावार्थः— अथवा क्या जैसे एक मित्र सहकारी होकर उपादान रूपसे कार्य करनेवाले मित्रका सहायक होता है। वैसेही क्या सत् और परिणाममेंसे अर्थ सिद्धिके लिए कोई एक उपादान कारण तथा दूसरा सहकारी कारणरूप पडता है ?

उन्नीसवां दृष्टान्त।

शत्रुवदादेशः स्यात्तद्वत्तद्द्वैतमेव किमिति यथा।
एकं विनश्य मूलादन्यतमः स्वयमुदेति निरपेक्षः ॥ ३५७ ॥

अन्वयार्थ— (किमिति) अथवा क्या (यथा) जैसे (आदेशः) आदेश (शत्रुवत् स्यात्) शत्रुकी तरह होता है (तद्वत् एव) वैसेही क्या (तद्द्वैतं) सत और परिणामका द्वैत है जिससेकि वह (मूलात्) मूलसे (एकं विनाश्य) एकको नाश करके (निरपेक्षः अन्यतमः) निरपेक्ष कोई दूसरा (स्वयं उदेति) स्वयं उदयको प्राप्त होता है अर्थात् दूसरा कोई उसके स्थानापन्न हो जाता है ?

भावार्थः— व्याकरणमें शब्द सिद्धि करते समय कुछ प्रत्यय आगमरूप तथा कुछ प्रत्यय आदेश रूप माने है।

उनमेंसे आगम प्रत्यय मित्रवत् मानें गये है। और आदेशरूप प्रत्यय शत्रुवत् माने गये हैं। आगम जिस शद्बके स्थानमें किया जाता हैं उस शद्बके पासमें रहता हैं। तथा आदेश जिस शद्बके स्थानमें किया जाता हैं उस शब्दको मिलाकर उसके स्थानापन्न होता है। इसलिए जैसे शत्रुके समान आदेश, पहलेको मूलसे नाश करके उसकी बिलकूल अपेक्षा न करके उसके स्थानमें होता है। वैसेही क्या सतके स्थानापन्न पारिणामका आदेश होकर अथवा पारिणामके स्थानापन्न सत् का आदेश होकर, सत और परिणांम का द्वैत है। **वीसवां दृष्टान्त।**

अथ किं वे मुख्यतया विसंधिरूपं द्वयं तदर्थकृते।
वामेतरकरवर्तितरज्जूयुग्मं यथास्वमिदमिति चेत् ॥ ३५८ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ कि**) अथवा क्या (**वैमुख्यतया**) परस्परमें विमुखतासे (**विसंधि रूपं**) अनमिल होकर (**तत् द्वयं**) वे दोनों सत् आर पारिणाम (**अर्थकृते**) प्रयोजनकी सिद्धिके लिये समर्थ हैं जैसे कि (**यथास्वं**) यथा योग्य (**इद**) यह (**वामेतरकरवर्तितरज्जूयुग्मं**) वाम तथा दाक्षिण हाथके द्वारा भांजी गई रस्सियोंका युग्म है (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहोतो—

भावार्थः— अथवा क्या जैसे, रस्सी भाजनेवालेके दोनों हार्थोंमे परस्पर विमुखतासे रहनेवालीं रास्सियोंके अश भांजे जाकर अच्छी रस्सीका रूप धारण करलेते हैं। किसी चिजके और बांधनेमें काम आते हैं। वैसेही क्या सत और परिणाम परस्परमें विमुखतासे अनमिल होते हुएभी मिलनेपर कार्यकारी है। यदि ऐसा कहो तो।

उत्तरपक्ष।

नैवमदृष्टान्तत्वात् स्वेतरपक्षोभयस्य घातित्वात्।
नाचरते मन्दोपि च स्वस्य विनाशाय कश्चिदेव यतः ॥ ३५९ ॥

अन्वयार्थः— (**एवं**) इस प्रकारका कहना (**स्वेतरपक्षोभयस्य घातित्वात्**) स्व और पररूप दोनों पक्षोंके घातक होनेसे (**अदृष्टांतत्वात्**) ऊपर कहे हुये दृष्टांत वास्तविक दृष्टांत नहीं है अतः (**न**) उक्त कथन ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**स्वस्य विनाशाय**) अपने विनाशके लिये (**कश्चित्मंदोऽपि च**) कोई मंद बुद्धि वाला पुरुषभी (**नैवाचरते**) आचरण नहीं करता है।

भावार्थ.— सत और परिणामके विषयमें दिये हुए वीसोंही दृष्टान्त स्वपक्ष और परपक्षके घातक होनेसे दृष्टान्त नहीं है किंतु दृष्टान्ताभास हैं। इसलिए ठीक नहीं हैं। क्योंकि अपने घातके लिए अन्द पुरुषभी प्रवृत्ति नहीं करता है। साराश यह है कि स्वपक्ष और परपक्षके घातक होनेसे शकाकारके द्वारा दिये हुए उक्त दृष्टान्त ठीक नहीं है।

प्रथम दृष्टान्तके पूर्व पक्षमें दोष।

तत्र मिथस्सापेक्षधर्मद्वयदेशितप्रमाणस्य।
माभूदभाव इति नहि दृष्टान्तो वर्णपंक्तिरित्यत्र[1] ॥ ३६० ॥

अन्वयार्थः— (यत्र) उन सब दृष्टांतोंमेंसे (मिथस्सापेक्षधर्मद्वयदेशित) (प्रमाणस्य) परस्पर सापेक्ष धर्मद्वय देशित— धर्मद्वयको विषय करनेवाले प्रमाणका (अभावः) अभाव (मा भूत्) नहीं होवे (इति) इसलिये (वर्णपंक्तिः इति) वर्णपंक्ति यह (अत्र) सत् और परिणामके द्वैतरूप विषयमें (दृष्टांतः न हि) दृष्टांत नहीं हो सकता है अर्थात् क, ख, आदि वर्णोंकी तरह यदि सत् तथा परिणामें स्वंतत्र माने जावेंगे तो युगपत् परस्पर सापेक्ष दोनों धर्मोंको विषय करनेवाले प्रमाणका अभाव हो जायगा।

भावार्थः— द्रव्यार्थिकनय मुख्यतासे परिणाम सापेक्ष सतको विषय करता है। और पर्यायार्थिकनय मुख्यतासे सतसापेक्ष परिणामको विषय करता है। किन्तु प्रमाण मुख्यतासे युगपत परस्पर सापेक्ष दोनोंको विषय करता है। इस-लिए यदि सत और परिणाम ध्वनिके न्यायसे क्रमवर्ती माने जावेंगे तो युगपत विषय करनेवाले प्रमाणके अभावका प्रसग आवेगा अर्थात प्रमाणपक्ष नहीं वन सकेगा।

अपि च प्रमाणाभावे नहि नयपक्षः क्षमः स्वरक्षायै।
वाक्याविवक्षाभावे पदपक्षः कारकोपि नार्थकृते ॥ ३६१ ॥

अन्वयार्थः— (च) तथा (प्रमाणाभावे) प्रमाणके अभावमें (नयपक्षः अपि) केवल नय पक्ष भी (स्वरक्षायै) अपनी रक्षाके लिये (क्षमः न हि) समर्थ नहीं है क्योंकि (वाक्योंविवक्षाभावे) वाक्यकी विव-

[1] मूल पुस्तकमें 'वर्णयते किलेत्यत्र' ऐसा पाठ है।

क्षाके अभावमें (पदपक्षः) पदपक्ष (अपि) और (कारकः) कारक (अर्थकृते न) किसी अर्थके लिए नहीं हैं अर्थात् निरर्थक हैं।

भावार्थः— और जैसे नानापदोंके मिलनेसें एक वाक्य बनता है। तथा वाक्यसे अर्थ बोध होता है। इसलिए वाक्यकी अपेक्षा रखकरही प्रत्येक पद कुछ न कुछ अर्थ रखनेवाले कहे जाते हैं। यदि कोई 'नमः श्रीवर्धमानाय, इत्यादि वाक्यको न मानकर नमः और श्रीवर्धमानाय इन पदोंको भिन्न २ ही माने तो श्रीवर्धमान स्वामीको नमस्कार हो इस अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती है। तथा वाक्य पक्षके नहीं माननेपर कारक अर्थात विभक्तीका अर्थभी नहीं बन सकता है। वैसेही प्रमाण पक्षके विना नयपक्षभी कार्यकारी सिद्ध नहीं हो सकता है। वस्तु, सामान्य विशेपात्मक है। नय अश काही है। इसलिए भिन्न २ नय भिन्न २ विषयोंको अपनी २ मुख्यतासे विपय करते हैं। जैसे द्रव्यार्थिक नय सतकों तथा पर्यायार्थिकनय सतकी किसी विशेप पर्याय, गुण व द्रव्यको विपय करता है। और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा जो सत है वही द्रव्य, गुण व पर्याय है। अथवा पर्यायार्थिकनयकीअपेक्षा जो द्रव्य, गुण व पर्याय है वही सत है।

इसप्रकार प्रमाणका विपय है और प्रमाणके विपयको प्रमाणभुत मानने वालेकेही प्रमाणके एक देशरूप नय प्रामाणिक माने जा सकते हैं। यदि प्रमाणपक्ष नहीं माना जायगा तो प्रमाणके एक देशभुत नयभी प्रामाणिक नहीं माने जा सकते हैं।

आशंका।

संस्कारस्य वशादिह पदेपु वाक्यप्रतीतिरिति चेन्न।
वाच्यं प्रमाणमात्रं न नया ह्युक्तस्य दुर्निवारत्वात्॥ ३६२॥

अन्वयार्थ — (इह) यहांपर (संस्कारस्य वशात्) संस्कारके वशसे (पदेपु) पदोंमें (वाक्य प्रतीतिः) वाक्यकी प्रतीति हो ही जायगी (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो (वै) निश्चयसे (प्रमाणमात्रं) केवल प्रमाणही है (वाच्य) कहना चाहिये (न नयाः) नय नहीं (हि) क्योंकि (उक्तस्य दुर्निवारत्वात्) उक्त प्रमाण वाक्यका संस्कारवश ग्रहण होता ही जायगा।

---

१ सुबन्त व तिगन्तको पद कहते है सुबन्त जैसे घट वटौ इत्यादि तिगन्त जैसे भवति भवत इत्यादि क्रियाके रूप।
२ जिसमें एक क्रिया हो उसें वाक्य कहते है जैसे नमोस्तु श्रीवर्धमानाय।

भावार्थः— यदि कदाचित् कहा जाय कि जैसे वाक्य नहीं मान करके भी केवल संस्कारवश पदोंमे वाक्य की प्रतीति हो जाती है। वैसेही प्रमाण नहीं मान करके भी संस्कारवश नये वाक्योंमे प्रमाणकी प्रतीति हो जायगा तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेपर नयपक्ष बिलकूल निरर्थक ठहरेगा। केवल प्रमाण वाक्यकेही मानने का प्रसंग आवेगा। कारण कि प्रत्येक नयपक्षमें संस्कारवश प्रमाण वाक्यकी प्रतीति रोकी नहीं जा सकेगी।

अथ चैवं सति नियमाद् दुर्वारं दूषणद्वयं भवति।
नयपक्षच्युतिरिति वा क्रमवर्तित्वाद्ध्वनेरहेतुत्वम् ॥ ३६३ ॥

अन्वयार्थः— (अथ च) और फिर (एव सति) ऐसा माननेपर (नियमात्) नियमसे (नयपक्षच्युतिः) नयपक्षकी च्युति और (क्रमवर्तित्वात्) क्रमवर्ति होनेसे (ध्वनेरहेतुत्वं) ध्वनिका हेतुपना नहीं होना (इति) इसप्रकार (दुर्वारं) दुर्निवार (दूषणद्वयं भवति) दो दूषण होंगे।

भावार्थः— और ऐसा होनेसे नयपक्षका खंडन, तथा क्रमवर्ती होनेसे ध्वनिको हेतुपनेका अभाव, इसप्रकार अनिवार्य दो दोष आवेंगे। क्योंकि प्रत्येक पदकी ध्वनिको भिन्न २ माननेसे वह दूसरेके लिए हेतु नहीं हो सकेगी। तथा पदोंमे वाक्यकी प्रतीति होनेसें नयपक्ष मानना निरर्थक ठहरेगा। इसलिए परस्पर निरपेक्ष, क्रमपूर्वक होनेवाली वर्ण पंक्तिका दृष्टान्त सत् और परिणामके द्वैतको सिद्ध करनेमें उपयोगी नहीं है।

दूसरे दृष्टान्तके पूर्वपक्षमें दोष।

विंध्यहिमाचलयुग्मं दृष्टान्तो नेष्टसाधनायालम्।
तदनेकत्वे नियमादिच्छानर्थक्यतोऽविवक्षश्च (!) ॥ ३६४ ॥

अन्वयार्थः— (विंध्यहिमाचलं) विंध्याचल और हिमाचलके युग्मका (दृष्टांतः) दृष्टांत (नियमात्) नियमसे (तदनेकत्वे) उन दोनोंके अनेक होनेपर (इच्छानर्थक्यतः) इच्छाकी अनर्थकतासे (च) और (अविवक्ष (!)) एकरूपसे कहनेकी विवक्षा न होनेसे (इष्टसाधनाय) इष्ट सिद्धिके लिये (अलं न) समर्थ नहीं है।

भावार्थ— विन्ध्याचल और हिमाचलको परस्परमें सर्वथा भिन्न होनेसे उनमें मुख्य तथा गौणकी विवक्षा

नहीं हो सकती है। इसलिए मुख्य व गौण विवक्षासे कथंचित भिन्न भिन्न कहे जानेवाले सत और परिणामके विषयमें विन्ध्याचल तथा हिमाचलका दृष्टान्त ठीक नहीं है।

तीसरे दृष्टान्तके पूर्वपक्षमें दोष।

नालमसौ दृष्टान्तः सिंहः साधुर्यथेह कोपि नरः।
दोषादपि स्वरूपासिद्धत्वात् किल यथाजलं सुरभिः ॥ ३६५ ॥
नासिद्धं हि स्वरूपासिद्धत्वं तस्य साध्यशून्यत्वात्।
केवलमिहरूढिवशादुपेक्ष्य धर्मद्वयं यथेच्छत्वात् ॥ ३६६ ॥

अन्वयार्थ — (इह) यहापर (यथा कोऽपि नरः सिंहः साधुः) जैसे कोई मनुष्य सिंह और साधु कहा जाता है (असौ दृष्टांतः) यह दृष्टांत (किल) निश्चयसे (यथा जलं सुरभिः) जलको सुगंधित माननेकी तरह (स्वरूपासिद्धत्वात् दोषात् अपि) स्वरूपासिद्ध दोषसे युक्त होनेके कारण (अलं न) इष्ट सिद्धिकेलिये समर्थ नहीं है (अपि) तथा (हि) निश्चयसे (साध्यशून्यत्वात्) साध्यशून्यहोनेसे (तस्य) उक्त दृष्टांतको (स्वरूपासिद्धत्व) स्वरूपासिद्धपना (असिद्ध न) असिद्ध नहीं है क्योंकि (इह) यहांपर (केवलं) केवल (रूढिवशात्) रुढीके वशसे (धर्मद्वयं उपेक्ष्य) सिंहत्व और साधुत्वरूप दोनों धर्मोंकी अपेक्षा न करकेही (यथेच्छत्वात्) यथेच्छरूपसे उनको सिंह साधु कह देते है।

भावार्थः— यद्यपि लोकमें रुढिवश जलको सुगन्धित कह देते हैं तथापि वह जलका स्वरूप व साध्य नहीं हो सकता है। इसलिए जैसे नैयायिक मतानुसार जलको सुगन्धित कहना साध्यशून्य होनेसे स्वरूपासिद्ध दोषसे युक्त है। वैसेही यद्यपि रुढिवश यथेच्छरूपसे पुरुषको सिंह व साधु कह देते हैं। तथापि वह सिंहपना तथा साधुपना पुरुषका स्वरूप व साध्य नहीं हो सकता है। इसलिए सत और परिणामके विषयमें दिया हुआ सिंह तथा साधुका दृष्टान्त साध्य शून्य होनेसे स्वरूपासिद्ध दोषसे युक्त है। इसकारण वह ठीक नहीं कहा जा सकता है।

चौथे दृष्टान्तके पूर्वपक्षमें दोष।

अग्निर्वैश्वानर इव नामद्वैतं च नेष्टसिद्ध्यर्थम्।

साध्यविरुद्धत्वादिह संदृष्टेरथ च साध्यशून्यत्वात् ॥ ३६७ ॥

अन्वयार्थः— (इह) यहांपर (साध्यविरुद्धत्वात्) साध्यविरुद्ध होनेसे (अथ च) और (संदृष्टेः) दृष्टांतको (साध्यशून्यत्वात्) साध्यशून्य होनेसे (अग्निर्वैश्वानर इव) अग्निवैश्वानरकी तरह (नामद्वैतं च) नामद्वैतभी (इष्टसिद्ध्यर्थं न) इष्ट सिद्धिके लिये समर्थ नहीं है ।

भावार्थः— सत और परिणामके विषयमे अग्नि तथा वैश्वानरवाला नामद्वैतका दृष्टान्त साध्यविरुद्ध और साध्यशून्य होनेसे इष्ट अर्थका साधक नहीं हो सकता है ।

आगे इसी अर्थका ६ पद्यों द्वारा खुलासा करते हैं ।

नामद्वयं किमर्थादुपेक्ष्य धर्मद्वयं च किमपेक्ष्य ।
प्रथमे धर्माभावेप्यलं विचारेण धर्मिणोऽभावात् ॥ ३६८ ॥

प्रथमेतरपक्षेऽपि च भिन्नमभिन्नं किमन्वयात्तदिति ।
भिन्नं चेदविशेषादुक्तवदसतो हि किं विचारतया ॥ ३६९ ॥

अथचेद्युतासिद्धत्वात्तन्निष्पत्तिर्द्वयोः पृथक्त्वेपि ।
सर्वस्य सर्वयोगात् सर्वःसर्वोऽपि दुर्निवारःस्यात् ॥ ३७० ॥

चेदन्वयादभिन्नं धर्मद्वैतं किलाति नयपक्षः ।
रूपपटादिवादिति किं किमथ क्षारद्रव्यवच्चेति ॥ ३७१ ॥

क्षारद्रव्यवदिदं चेदनुपादेयं मिथोनपेक्षत्वात् ।
वर्णततेरविशेषन्यायाच्च नयाः प्रमाणं वा ॥ ३७२ ॥

रूपपटादिवदिति चेत्सत्यं प्रकृतस्य सानुकूलत्वात् ।
एकं नामद्वयांकामिति पक्षस्य स्वयं विपक्षत्वात् ॥ ३७३ ॥

अन्वयार्थः— (**अर्थात्**) अर्थात् (**नामद्वयं**) नामद्वैत (**किं**) क्या (**धर्मद्वयं**) दोनों धर्मोको (**उपेक्ष्य**) उपेक्षा करके (**च**) अथवा (**किं**) क्या (**अपेक्ष्य**) अपेक्षा करके होता है (**प्रथमे**) यदि दोनों धर्मोको उपेक्षा करके नामद्वैत होता है तो (**धर्माभावे**) धर्मके अभावमें (**धर्मिणः अपि अभावात्**) धर्मीका भी अभाव होनेसे (**विचारेण अलं**) विचार करनेसे क्या फायदा है अर्थात् कुछ नहीं ।

(**च**) और यदि (**प्रथमेतर पक्षेऽपि**) दोनों धर्मोकी अपेक्षा करके नामद्वैत है तो भी (**तत्**) वह धर्म द्वैत (**अन्वयात्**) द्रव्यसे (**भिन्नं**)भिन्न है (**किं**) क्या (**अभिन्नं इति**) अभिन्न है (**भिन्नं चेत्**) यदि भिन्न है तो (**हि**) निश्चयसे (**उक्तवत् अविशेषात्**) पूर्वोक्तकी तरह होनेसे अर्थात् धर्मके अभावमें धर्मीके अभावकी तरह होनेसे (**असतः**) असत्रूप उस द्रव्यके (**विचारतया**) विचारपनेसे (**किं**) क्या प्रयोजन है ?

(**अथ चेत्**) यदि कदाचित् यह कहा जाय कि (**द्वयोः पृथक्त्वेऽपि**) धर्म और धर्मी दोनोंके भिन्न रहनेपर भी (**युतसिद्धत्वात्**) युतसिद्ध होनेसे (**तन्निष्पत्तिः**) धर्म धर्मीभावकी निष्पत्ति हो जायगी तो फिर युतसिद्धताके कारण (**सर्वस्य सर्व योगात्**) सबको सबके योगका प्रसंग आनेसे (**सर्वः अपि**) सबही पदार्थोंके सर्वः) सर्वरूप होना (**दुर्निवार स्यात्**) दुर्निवार हो जायगा अर्थात् चेतनके योगसे अचेतनका भी चेतनरूप नेका अनिष्ट प्रसंग रोका नहीं जासकेगा ।

(**चेत्**) यदि (**किल**) निश्चयसे (**धर्मद्वैतं**) धर्मद्वैत (**अन्वयात्**) द्रव्यसे (**अभिन्नं**) अभिन्न है (**इति नय पक्ष**) यह नय पक्ष है तो वह धर्म द्वैत (**किं**) क्या (**रूपपटादिवत् इति**) रूपपटादिकी तरह धर्मीसे अभिन्न है (**अथ च किं**) अथवा क्या (**क्षारद्रव्यवत् इति**) क्षार द्रव्यकी तरह धर्मीसे अभिन्न है ?

(**चेत्**) यदि (**इदं**) यह धर्म द्वैत (**क्षारद्रव्यवत्**)क्षारद्रव्यकी तरह धर्मीसे अभिन्न है तो (**अनुपादेयं**) उपादेय नहीं हो सकता है क्योंकि यदि (**मिथोऽनपेक्षत्वात्**) परस्परमें निरपेक्षतासे (**वर्णततेरविशेषन्यायात्**) वर्ण पंक्तिके सामान्य न्यायसे अभिन्नता मानी जायगी तो पूर्ववत् (**नयः**) नय (**चा**) और (**प्रमाणं**) प्रमाण (**न**) नहीं बन सकेंगे ।

और (**रूपपटादिवत्**) रूप पटादि की तरह धर्मद्वैत धर्मीसे अभिन्न है (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहो तो (**सत्यं**) ठीक है क्योंकि (**प्रकृतस्य सानुकूलत्वात्**) इस तरहका मानना प्रकृत हमारे कथनके लिए तो अनुकूल है

परंतु (एकं) एक पदार्थ (नामद्वयांकं) दो नामोंसे युक्त है (इति पक्षस्य) इस पक्षके (स्वयं) स्वयं (विपक्षत्वात्) प्रतिकूल हैं।

भावार्थः— किसी एक अर्थके दो नाम, दो धर्मोंकी अपेक्षा करके मानते हो या विना अपेक्षाके मानते हो ? यदि विना अपेक्षाके मानते हो, तो धर्मके अभावमें धर्मीका भी अभाव हो जायगा। इसलिए फिर विचारही किसका किया जावेगा। यदि धर्मोंकी अपेक्षा करके दो नाम मानते हो तो वे धर्म उस धर्मीसे भिन्न है या अभिन्न है ? यदि भिन्न हैं तो सतसे भिन्न होनेके कारण वे धर्म असत् रूप हो जावेंगे। इसलिए फिर असत्‌रूप उन धर्मोंका विचार करनाही निरर्थक है।

यदि कदाचित् कहो कि धर्मीसे धर्मोंके भिन्न रहनेपर भी समवाय सम्बन्धसे धर्मीकेही वे धर्म कहे जावेंगे तो किसी विशेष नियामकके विना अमुक धर्म अमुक धर्मीकाही है इस प्रकारका व्यवहार न होकर चाहे जो धर्म चाहे जिस धर्मीके हो जावेंगे। इसलिए इन दोषोंको दूर करनेके लिए वे धर्म धर्मीसे अभिन्न है ऐसा पक्ष मानोंगे तो हम पूछते है कि वे धर्म रूपपटकी तरह अभिन्न है या क्षारद्रव्यकी तरह अभिन्न है अर्थात् जैसे भोजनमें नमक मिला देनेसे भोजन खारा कहलाता है इसलिए उन दोनोंमे अभेद प्रतीति होने लगती है वैसेही वे धर्म, धर्मीसे अभिन्न हैं ऐसा मानते हो तो जैसे क्षार द्रव्यका सम्बन्ध परस्परमे निरपेक्ष होता है अर्थात अमुकके साथही क्षार मिलाया जावे, अमुकके साथ नहीं मिलाया जावे, ऐसी अपेक्षा नहीं रखता है। वैसेही धर्म और धर्मीको परस्पर निरपेक्ष अभिन्न सिद्ध होनेसे, वर्ग पक्तिके दृष्टान्तके समान, * युगपत् परस्पर सापेक्ष प्रमाण पक्षके अभावका प्रसंग आवेगा। और प्रमाण पक्षके अभावमें नयपक्षके भी अभावका प्रसग आवेगा। इसलिए यदि रूपपटकी तरह धर्म तथा धर्मी परस्परमें अभिन्न है ऐसा मानकर दो नाम रखतेहो तो यह मानना हमारे पक्षके अनुकूल है। परंतु एकही पदार्थके दो नाम है इस पक्षके प्रतिकूल है अर्थात् रूप और पटके दृष्टान्तसें सत् व परिणाम सर्वथा भिन्न सिद्ध होकर एक पदार्थके दो नाम सिद्ध नहीं हो सकते है।

पांचवे दृष्टान्तके पूर्वपक्षमें दोष।

अपि चार्किंचित्कर इव सव्येतरगोविषाणदृष्टांतः।
सुरभिगगनारविन्दमिवाश्रयासिद्धदृष्टान्तात् ॥ ३७४ ॥

* ३६० और ३६१ का पद्य देखो।

न यतः पृथगिति किंचित् सत्परिणामातिरिक्तमिह वस्तु ।
दीपप्रकाशयोरिह गुम्फितमिव तद्द्वयोरैक्यात् ॥ ३७५ ॥

अन्वयार्थ.— (च) तथा (गगनारविंदं सुरभिः इव) आकाशके कमलकी सुगधकीतरह (आश्रयासिद्धदृष्टांतात्) आश्रयासिद्ध दृष्टांत होनेसे (सव्येतरगोविषाणदृष्टांतः अपि) एक साथ उत्पन्न होनेवाले वाम और दाक्षिण गौके सींगोंका दृष्टांतभी (अकिंचित्कर इव) आकिंचित्करके समान हैं ।

(यतः) क्योंकि (इह) यहांपर (सत्परिणामातिरिक्तं) सत् तथा परिणामसे भिन्न आश्रयभूत (किंचित् वस्तु) कोई वस्तु (पृथक् इति न) पृथक नहीं है किंतु (तद्द्वयोरैक्यात्) सत् परिणामका एक होनेसे (इह) यहांपर (दीप प्रकाशयोः इव) दीप और प्रकाशकी तरह वस्तु परस्परमें (गुम्फितं) गुथीहुई हैं ।

भावार्थः— जैसे आकाशके कमलको सुगन्धित कहना,आश्रयासिद्ध दोपसे युक्त होनेसे, आकिंचित्कर है । वैसेही सत् और परिणामके विषयमें गौके दाहिने व डेरे सींगका दृष्टान्त देनाभी आश्रयासिद्ध दोपसे युक्त होनेसे आकिं-चित्कर है । क्योंकि जैसे गौ अपने दाहिने व डेरे सींगोसे भिन्न होकरभी,उन दोनोंका आश्रय हो सकती है वैसे सत और परिणामका आश्रयभूत कोई भिन्न वस्तु नहीं है । किन्तु दीपप्रकाशके समान वस्तु सत व परिणाममय ही है । सत परि-परिणामसें भिन्न नहीं है । इसलिए सत् परिणामको गौके दाहिने तथा डेरे सींगोंके समान, सहचर मानना, आश्रयासिद्ध दोषसे युक्त होनेके कारण आकिंचित्कर है ।

छठवें दृष्टांतके पूर्वपक्षमें दोप ।

आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं नेह भवति दृष्टान्तः।
क्रमवर्तित्वादुभयोः स्वेतरपक्षद्वयस्य घातित्वात् ॥ ३७६ ॥

अन्वयार्थः—(आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं) कच्ची और पक्की अवस्थासे विशिष्ट पृथिवीत्व (इह) यहांपर (दृष्टांतः न भवति) दृष्टात नहीं हो सकता है क्योंकि (उभयो) पृथिवीकी दोनों अवस्थाएं (क्रमवर्तित्वात्) क्रमवर्ती होती है इसलिये (स्वेतरपक्षद्वयस्य घातित्वात्) आमानाम विशिष्ट पृथिवीत्वका दृष्टांत स्व और पर दोनों पक्षोंका घातक हैं ।

भावार्थः— आमानाम विशिष्ट पृथिवीत्वका दृष्टान्त स्वपरपक्षका घातक होनेसे अनुपयोगी है। क्योंकि मट्टीकी कच्ची और पक्की ये दोनों अवस्थाएँ क्रमसे होती हैं। किन्तु सत्परिणाम प्रमाण दृष्टिसे युगपत् ज्ञात होनेके कारण क्रमवर्ती नहीं हैं।

स्वपरपक्षके घातकपनेका खुलासा।

परपक्षवधस्तावत् क्रमवर्तित्वाच्च स्वतः प्रतिज्ञायाः।
असमर्थसाधनत्वात् स्वयमपि वा बाधकः स्वपक्षस्य ॥ ३७७ ॥

तत्साध्यमनित्यं वा यदि वा नित्यं निसर्गतो वस्तु।
स्यादिह पृथिवीत्वतया नित्यमनित्यं ह्यपक्वपक्वतया ॥ ३७८ ॥

अन्वयार्थः— (**परपक्षवधः तावत्**) परपक्षका वध—जैनसिद्धांतका वध तो इसप्रकार है कि शंकाकारने (**प्रतिज्ञायाः**) प्रतिज्ञाको (**स्वतः**) स्वय (**क्रमवर्तित्वात्**) क्रमवर्ती माना हैं अर्थात् पृथिवीकी कच्ची और पक्की अवस्थाओंको शंकाकारने स्वय क्रमवर्ती माना है (**वा**) तथा (**असमर्थसाधनत्वात्**) इष्ट साध्यकी सिद्धिके लिये हेतुको समर्थ न होनेसे (**स्वपक्षस्य अपि**) स्व पक्षकाभी, उक्त दृष्टांत (**स्वय बाधकः**) स्वयं बाधक है क्योंकि (**तत्साध्यं**) एकांती होनेके कारण शंकाकारका इष्ट (**वस्तु**) मट्टीरूपवस्तु (**निसर्गत**) स्वभावसे (**नित्य वा**) नित्यही (**यदि**) अथवा (**अनित्यं**) अनित्यही होसकती है किंतु (**इह**)जैन सिद्धांतमें (**हि**) निश्चयसे वह (**पृथिवीत्वतया**) पृथिवीत्वपनेके द्वारा (**नित्यं**) नित्य है और (**अपक्वपक्वतया**) क्रमपूर्वक होनेवाले अपक्व तथा पक्वपनेके द्वारा (**अनित्यं स्यात्**) अनित्य हैं।

भावार्थः— स्व और परपक्षके वधका प्रसग इसप्रकार आता है कि शंकाकार स्वयं, वस्तुको क्रमवर्ती मानता है। इसलिए पदार्थका क्रमवर्तीपना स्वपक्ष है। तथा प्रमाण दृष्टिसे सत्परिणामकी जो युगपत वृत्ति, जैन सिद्धातमें स्वीकृत की गई है वह उसके लिए परपक्ष है। किन्तु सत्परिणामको क्रमवर्ती माननेसे वह परपक्ष सिद्ध नहीं हो सकता है। अतएव यह दृष्टान्त परपक्षका बाधक है अर्थात इस दृष्टान्तसे परपक्षमें बाधा आती है। तथा पदार्थको सर्वथा क्रमवर्ती सिद्ध करनेके लिए साधनभी चाहिए। परंतु वे मिल नहीं सकते। इसलिए स्वपक्षकी भी सिद्धि न हो सकनेसे, यह दृष्टान्त स्वपक्षका भी बाधक है। क्योंकि शंकाकारके द्वारा वस्तु एकान्तसे नित्य व अ नित्यही स्वीकृतकी जायगी। किन्तु उसकेही इस पृथिवीत्वके

दृष्टान्तसे कथंचित् पक्वता और अपक्वताके कारण नित्यानित्यपना सिद्ध हो जाता है। इसलिए इस दृष्टान्तके द्वारा स्व–पक्षके भी वधका प्रसंग आता है।

इसप्रकार स्व व परपक्षका घातक होनेसे आमानाम विशिष्ट पृथिवीत्वका दृष्टान्त सत और परिणामके विषयमें ठीक नहीं है।

सातवें दृष्टान्तके पूर्वपक्षमें दोष।

अपि च सपत्नीयुग्मं स्यादिति हास्यास्पदोपमा दृष्टिः।
इह यदसिद्धविरुद्धानैकान्तिकदोषदुष्टत्वात् ॥ ३७९ ॥

अन्वयार्थः— (अपि च) तथा (सपत्नीयुग्मं इति दृष्टिः) सपत्नीयुग्म, यह दृष्टांत (हास्यास्पदोपमा स्यात्) हास्यास्पदकी तरह है अर्थात् सत और पारिणाम दो सौतोंकी तरह है यह दृष्टात भी हंसीके योग्य है (यत्) क्योंकि (इह) यहांपर यह दृष्टांत (असिद्धविरुद्धानैकांतिकदोषदुष्टत्वात्) असिद्ध, विरुद्ध और अनैकांतिक दोषोंसे दूषित हैं।

भावार्थः— सत् और पारिणामके विषयमें सपत्नीयुग्मका दृष्टान्त हास्यास्पद है। क्योंकि सत्पारिणामको सपत्नीयुग्मके समान माननेसें असिद्ध, विरूद्ध तथा अनैकान्तिक ये तीन दोष आते हैं।

माता मे वन्ध्या स्यादित्यादिवदपि विरुद्धवाक्यत्वात्।
कृतकत्वादिति हेतोः क्षणिकैकान्तात्कृतं कृतं विचारतया ॥ ३८० ॥

अन्वयार्थ — * (माता मे वंध्या इत्यादिवत् विरुद्धवाक्यत्वात्) "माता मेरी बांझ है" कहनेके समान सत् और परिणामके विषयमें सपत्नीयुग्मका दृष्टांत, स्ववचन बाधित है (अपि कृतकत्वात् इति हेतोः क्षणिकैकांतात् कृतम्) और कृतकपनेरूप हेतु तथा क्षणिक एकातवश, सब पदार्थोंको क्षणिक माननेसे कुछ सिद्ध नहीं हो सकता, अतः (विचारतया कृतम्) उसके विषयमें विचारपनेसेभी भला क्या होनेका है।

* इस पद्यका केवल शब्दार्थ लिख दिया है परंतु ग्रंथकारका क्या अभिप्राय है यह पूरा समझमें नहीं आया है। जितने पद्य संदिग्ध हैं उनके विषयमें विद्वानोंसे विचार करके और उन सबके विचारों सहित परिशिष्टमें लिखनेका विचार है।

आठवें दृष्टान्तके पूर्वपक्षमें दोष ।

तद्वज्ज्येष्ठकानिष्ठभ्रातृद्वैतं विरुद्धदृष्टान्तः ।
धर्मिणि चासति तत्वे तथाऽऽश्रयासिद्धदोषत्वात् ॥ ३८१ ॥

अन्वयार्थः— (तद्वत्) पूर्वोक्त दृष्टांतकी तरह (ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृद्वैतं) बडे और छोटे भाईका द्वैत रूप दृष्टातभी (विरुद्धदृष्टांतः) विरुद्ध दृष्टांत हैं (तथा च) तथा (तत्वे) परमार्थभूत (धर्मिणि असति) धर्मीके नहीं होनेपर (आश्रयासिद्धदोषत्वात्) आश्रयासिद्ध दोषोंसे भी दूषित हैं ।

भावार्थः— परस्पर सापेक्ष रीतिसे बडे और छोटे भाईका दृष्टान्त भी विरुद्ध दृष्टान्त है । क्योंकि सत् व परिणाममे बडे तथा छोटे भाईके समान, परस्पर सपक्षता नहीं है। तथा सत् और परिणामका भिन्न आश्रय नहीं हो सकता है । और धर्मीके प्रसिद्ध होनेपरही धर्मोके विषयमें विचार किया जाता है । अतः आश्रयके न होनेसे यह दृष्टान्त आश्रयासिद्ध दोषसे भी युक्त है ।

अपि कोपि परायत्तः सोपि परः सर्वथा परायत्तात् ।
सोपि परायत्तः स्यादित्यनवस्थाप्रसंगदोषश्च ॥ ३८२॥

अन्वयार्थ — (अपि) तथा यदि कदाचित् कहो कि उनमेंसे (कोऽपि) कोई एक (परायत्तः) परके आश्रय है तो जिस परके आश्रय वह है (सोपि परः) वह परभी (सर्वथा) सब तरहसे (परायत्तात्) अपनेसे परके आश्रित होनेसे, अन्य परके आश्रयकीअपेक्षा करेगा और (सोऽपि परायत्तः) वह भी पर अन्यके आश्रयकी अपेक्षा रखता है (इति) इसप्रकार उत्तरोत्तर अन्य २ आश्रयोंकी कल्पनाकी सभावनासे (अनवस्थाप्रसंगदोषश्च स्यात्) अनवस्थाके प्रसगरूप दोष भी आवेगा ।

भावार्थः— यदि कदाचित् कहो कि आश्रयके विना भी परस्परके आश्रयके कारणकार्य सिद्ध हो जानेसे, ऊपर दिया हुआ आश्रयासिद्ध दोषका निराकारण हो जायगा तो इसका उत्तर यह है कि एक दूसरेके आश्रित माननेसे, उत्तरोत्तर आश्रयोंकी कल्पनाकी लडी न टूटनेके कारण, अनवस्था नामके दोषका प्रसग हटाया नहीं जा सकता, अत छोटे बडेभाईका दृष्टान्त भी साधक दृष्टान्त नहीं है

कारकके दृष्टान्तके पूर्वपक्षमें दोष।

नार्थक्रियासमर्थो दृष्टांतः कारकादिवाद्धि यतः।
सव्यभिचारित्वादिह सपक्षवृत्तिर्विपक्षवृत्तिश्च ॥ ३८३ ॥

अन्वयार्थः— (कारकादिवत् दृष्टांतः)कारकादिकी तरहका दृष्टांत (हि) निश्चयसे (अर्थक्रिया समर्थः न) अर्थक्रियामें समर्थ नहीं है (यतः) क्योंकि (इह) यहांपर (सः) वह कारकादिकका दृष्टांत (व्यभिचारित्वात) व्यभिचारी होनेसे (सपक्षवृत्तिः) सपक्षमें रहता है। (च) और (विपक्षवृत्तिः) विपक्षमें रहता है।

भावार्थः— कारकादिकका दृष्टान्त भी कार्यकारी नहीं है। क्योंकि कारकका दृष्टान्त अभेद और भेद दोनोंका साधक होनेसे व्यभिचारी है जैसा कि आगे स्वय ग्रंथकार बताते है।

वृक्षे शाखा हि यथा स्यादेकात्मनि तथैव नानात्वे।
स्थाल्यां दधीतिहेतोर्व्यभिचारी कारकः कथं न स्यात् ॥ ३८४ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (हि) निश्चयसे (एकात्मनि) एकात्मक अर्थात अभेदमें जैसे (वृक्षे) वृक्षमें (शाखा स्यात्) शाखा (तथैव) वैसेही (नानात्वे) नानात्मक अर्थात भेदमें (स्थाल्यां) बटलोईमें (दधिः) दही ऐसा व्यवहार होता है (इति हेतोः) इस प्रकार एकात्मक और अनेकात्मक दोनोंही पदार्थमें आधाराधेय भाव पाये जानेरूप कारणसे (कारकः) कारकका दृष्टांत (व्यभिचारी कथं न स्यात) व्यभिचारी क्यों नहीं होगा ?

भावार्थः— घटमें जलके आधार आधेय भावके समान कारकका दृष्टान्त भी सत और परिणामके विषयमें उपयोगी नहीं है। क्योंकि कारक, वृक्षमें शाखा इत्यादि अभिन्न पक्षके समान, वर्तनमें दही इत्यादि भेद पक्षमें भी लागू पडते है। इसलिए कारकके दृष्टान्तसे सतमें परिणाम होते हैं ऐसा माननेसे सतके साथ परिणामका भेद व अभेद सर्वथा रूपसे सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अतएव उक्त दृष्टान्त शकाकारके लिए पक्षकी तरह विपक्षमें भी रहनेसे अनैकान्तिक है। आगे इसी अर्थका २ पद्योंसे खुलासा करते है।

अपि सव्यभिचारित्वे यथाकथंचित्सपक्षदक्षश्चेत्।

न यतः परपक्षरिपुर्यथा तथारिः स्वयं स्वपक्षस्य ॥ ३८५ ॥

अन्वयार्थ — (चेत्) यदि कदाचित कहो कि (सः) वह कारक (व्यभिचारित्वे अपि) व्यभिचरित होकरकेभी (यथाकथंचित्) जिसकिसी प्रकार (सपक्षदक्षः) सपक्षमें दक्ष हो जायगा अर्थात् दृष्टांत बन जायगा तो (न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (यथा) जैसे वह व्यभिचरित होनेके कारण (परपक्षरिपुः) परपक्षका शत्रु है (तथा) वैसेही (स्वपक्षस्य) स्वपक्षका भी (स्वयं अरि)स्वयं शत्रु है।

भावार्थः— यदि कदाचित कहो कि व्यभिचारी हेतु तथा दृष्टान्तसे भी किसी न किसी अशमें स्वपक्षकी सिद्धि हो जाती है तो यह कहना ही ठीक नहीं है। क्योंकि व्यभिचारी हेतु व दृष्टान्त यथार्थ नियामक न होनेसे जैसे परपक्षका घातक होता है वैसेही अपने पक्षका भी घातक होता है।

साध्यं देशांशाद्वा सत्परिणामद्वयस्य सांशत्वम्
तत्स्वाम्येकविलोपे कस्यांशा अंशमात्रएवांशः ॥ ३८६ ॥

अन्वयार्थः— (वा) अथवा (सत्परिणामद्वयस्य देशांशात्)सत और परिणाम दोनोंकोही द्रव्यके अंश होनेसे यदि (सांशत्वं) अंशपना (साध्यं) साध्य किया जावे तो (तत्स्वाम्येक विलोपे)सत् तथा परिणाम दोनोंका तृतीय किसी एक स्वामीके अभावमें (कस्यांशा) वे किसीके अश कहे जावेंगे ? अर्थात् किसके भी नहीं किंतु (अंशमात्र एव अंशः) अशमात्रही अंश कहलावेंगे।

भावार्थः— तथा शकाकारको सत और परिणाममें अशत्व साध्य-इष्ट है अर्थात् सत् परिणाम दोनोंही अश है। किन्तु अंशीके मानेविना सत् और परिणाम किसके अंश कहे जा सकेंगे ? क्योंकि सत परिणामको छोडकर शंकाकार अंशी मानता नहीं है। अतः सत् व परिणाम केवल अंशही अश कहे जावेंगे। किसी अंशीके अंश नहीं कहे जा सकते हैं। इसलिए जब भेद साधक व अभेद साधक दोनोंही प्रकारके कारकके प्रयोग पाए जाते है। तथा सत और परिणाम दोनोंको केवल अशरूप माननेसे अंश अंशी भाव सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं हो सकता है तब कारकका दृष्टान्त योग्य कैसे कहा जा सकता है।

नाप्युपयोगी क्वचिदपि बीजांकुरवदिहेति दृष्टान्तः।
स्वावसरे स्वावसरे पूर्वापरभावभावित्वात् ॥ ३८७ ॥

अन्वयार्थः— (**अपि**) और (**इह**) यहांपर (**बीजांकुरवत् इति दृष्टांतः अ प**) बीजांकुरकी तरह सत् तथा परिणाम है यह दृष्टांतभी (**क्वचित्**) कहींपर (**उपयोगी न**) उपयोगी नहीं है क्योंकि (**स्वावसरे-स्वावसरे**) अपने अपने अवसरमें वह बीज और अंकुर (**पूर्वापरभावित्वात्**) पूर्वापर भावसे रहते हैं ।

बीजावसरे नांकुर इव बीजं नांकुरक्षणे हि यथा ।
न तथा सत्परिणामद्वैतस्य तदेककालत्वात् ॥ ३८८ ॥

अन्वयार्थः— (**हि**) निश्चयसे (**यथा**) जैसे (**बीजावसरे**) बीजके अवसरमें (**नांकुर इव**) अंकुरका अभाव और (**अंकुरक्षणे**) अंकुरके अवसरमें (**बीज न**) बीजका अभाव होता है (**तथा**) वैसे (**तदेककालत्वात्**) सत् तथा परिणामको एक कालमें होनेसे (**सत्परिणामद्वैतस्य**) सत परिणामके द्वैतका (**न**) पूर्वापरभावभावित्व नहीं है अर्थात् वे दोनों बीजांकुरकी तरह पूर्वापरभावी नहीं हैं ।

भावार्थः— सत और परिणामके विषयमें बीजांकुरका दृष्टान्त भी उपयोगी नहीं है । क्योंकि जैसे बीजके समयमें अंकुर नहीं रहता है । वैसेही अंकुरके समयमें बीजभी नहीं रहता है । बीज तथा अंकुरमें पूर्वापर भाव होनेसे काल भेद है । किन्तु सत व परिणाम भिन्न २ विवक्षावश दो हैं । काल उनका एकही है । उनमें किसी प्रकारका पूर्वापरभाव नहीं है । आगे इसी अर्थका ३ पद्यों द्वारा खुलासा करते है ।

सदभावे परिणामो भवति नसत्ताक आश्रयाभावात्
दीपाभावे हि यथा तत्क्षणमिव दृश्यते प्रकाशो न ॥ ३८९ ॥
परिणामाभावेपि च सदिति च नालम्बते हि सत्तान्ताम् ।
स यथा प्रकाशनाशे प्रदीपनाशोप्यवश्यमध्यक्षात् ॥ ३९० ॥
अपि च क्षणभेदः किल भवतु यदीहेष्टसिद्धिरनायासात् ।
सापि न यतस्तथा सति सतो विनाशोऽसतश्च सर्गःस्यात् ॥ ३९१ ॥

अन्वयार्थः— (**सदभावे**) सत्के अभावमें (**आश्रयाभावात्**) आश्रयका अभाव होनेसे (**परि**

गामः) परिणाम (नसत्ताकः भवति) नहीं हैं सत्ता जिसकी ऐसा हो जाता हैं अर्थात् नहीं रह सकता है (यथा जैसे कि (हि) निश्चयसे (दीपाभावे) दीपकके अभावमें (तत्क्षणमिव) उसीसमयमेंही (प्रकाशः) प्रकाश (न दृश्यते) नहीं देखा जाता है ।

(अपि च) और (परिणामाभावे) परिणामके अभावमें (सदिति च) सत्‌भी (हि) निश्चयसे (तां सत्तां) उस प्रसिद्ध अपनी सत्ताको (नालम्बते) अवलंबन नहीं कर सकता है (स यथा) वह इस प्रकारका है कि जैसे (प्रकाशनाशे) प्रकाशके नाश होनेपर (प्रदीपनाशः अपि) दीपकका नाशभी (अध्यक्षात् अवश्यं भवति) प्रत्यक्ष प्रमाणसे अवश्य हो जाता हैं ।

(यदि इह क्षणभेदः अपि भवतु) यदि इनमें क्षण भेद माना जाता तो (अनायासात्) विना किसी प्रयत्नकेही (इष्टसिद्धि) इष्टकी सिद्धि हो जाती है (अपि च) किंतु (सा न) वह इष्टकी सिद्धि हो नहीं सकती हैं (यतः) क्योंकि (तथा सति) वैसा माननेपर–सत् और परिणाममें क्षणभेद माननेपर (सतः विनाशः) सत्‌का विनाश (च) तथा (असतः सर्गः स्यात्) असत्‌की उत्पत्ती मानने पडती है ।

भावार्थः— जैसे बीजका अभाव अंकुरके सद्भावरूप पडता है । वैसे सतका अभाव परिणामरूप नहीं पडेगी किन्तु दीपके अभावमें प्रकाशके अभावकी तरह सतके अभावमें परिणामका आश्रय न रहनेसे परिणामकाभी अभाव हो जावेगा और प्रकाशके अभावमें दीपकके अभावकी तरह परिणामके अभावमें सतकाभी अभाव हो जावेगा इसलिए सिद्ध होता है कि उनमें क्षणभेद नहीं है ।

यदि कदाचित सत और परिणाममें क्षणभेद मान लिया गया होता तो विना किसी प्रयत्नके आपकी इष्ट सिद्धि हो जाती । किन्तु वह क्षणभेद माना नहीं गया है । क्योंकि उसके माननेपर सतके विनाश और असतके उत्पा– दका प्रसंग आता है । इसलिए सत और परिणामके बीजांकुरका दृष्टान्त युक्तियुक्त नहीं है ।

चौदहवे दृष्टांतके पूर्वपक्षमें दोष ।

कनकोपलवदिहैषः क्षमते न परीक्षितः क्षणं स्थातुम् ।
गुणगुणिभावाभावाद्यतः स्वयमसिद्धदोषात्मा ॥ ३९२ ॥

हेयादेयविचारो भवति हि कनकोपलद्वयोरेव ।
तदनेकद्रव्यत्वान्न स्यात्साध्ये तदेकद्रव्यत्वात् ॥ ३९३ ॥

अन्वयार्थ — (इह) यहांपर (कनकोपलवत्) सत् और परिणाम कनकोपलकी तरह है (एषः
यह दृष्टांतभी (परीक्षितः) परीक्षित होता हुआ अर्थात् उसकी परीक्षा करनेपर वह (क्षणं) एक क्षणभी (स्थातुं
न क्षमते) ठहरनेके लिये समर्थ नहीं है (यतः) क्योंकि (गुणगुणिभावाभावात्) सत् परिणामकी तरह कनको-
पलमें गुणगुणि भावके अभाव होनेसे वह कनकोपलका दृष्टांत (स्वयं) स्वयं (असिद्धदोषात्मा) आसिद्ध दोप
स्वरूप है ।

वह असिद्ध दोप इस प्रकार है कि (हि) निश्चयसे (तदनेकद्रव्यत्वात्) कनकोपलको अनेक द्रव्यरूप
होनेसे (कनकोपलद्वयोरेव) कनक और उपल दोनोंमेंही (हेयादेयविचारः भवति) त्याग तथा ग्रहण करने
योग्यका विचार होता है किंतु (साध्ये) सत्परिणामके द्वैतरूप साध्यमें (तदेकद्रव्यत्वात्) उन दोनोंको एक द्रव्या
त्मक होनेसे (न स्यात्) हेयोपादेयका विचार नहीं होता है ।

भावार्थः— सत और परिणामके विपयमें कनकोपलका दृष्टान्तकी ठीक नहीं है । कारणकि सत व परि-
णाममे जैसा कथंचित गुणगुणी भाव है । वैसा सुवर्ण और पापाणमें गुणगुणी भाव नहीं है । किन्तु दो द्रव्योंका संयोग है ।
तथा जैसे अनेक द्रव्य होनेसे कनकोपलमें हेयोपादेयका विचार होता है अर्थात उसमें सुवर्णांश ग्राह्य तथा पापाणांश
अग्राह्य समझा जाता है । वैसे सत व परिणामको एक द्रव्य होनेसे उनमें हेयोपादेयका विचार नहीं होता है । इसलिए
कनकोपलका दृष्टान्तभी इष्ट सिद्धिका साधक न होनेसे आसिद्ध है ।

पन्द्रहवें दृष्टान्तके पूर्वपक्षमें दोप ।

वागर्थद्वयमिति वा दृष्टान्तो न स्वसाधनायालम् ।
घट इति वर्णद्वैतात् कम्बुग्रीवादिमानिहास्त्यपरः ॥ ३९४ ॥
यदि वा निस्सारतया वागेवार्थः समस्यते सिद्धये ।
न तथापीष्टसिद्धिः शब्दवदर्थस्याप्यानित्यत्वात् ॥ ३९५ ॥

अन्वयार्थः— (**वागर्थद्वयं**) वाचक वाच्यके द्वैतकी तरह सत् परिणामका द्वैत है (**इति**) यह (**दृष्टांतो वा**) दृष्टांतभी (**स्वसाधनाय अलं न**) अपने साध्यकी सिद्धिके लिये समर्थ नही है क्योंकि (**इह**) यहांपर (**घट इति वर्णद्वैतात्**) घट इस वर्ण द्वैतसे (**कंबुग्रीवादिमान्**) वाच्यरूप कंबुग्रीवादिवाला पदार्थ (**अपरः अस्ति**) दूसराही है।

(**यदि वा**) अथवा यदि (**निस्सारतया**) निस्सार पनेसे (**सिद्ध्यै**) अपने पक्षकी सिद्धिके लिये (**वागेवार्थः समस्यते**) वचनरूपही अर्थ ऐसा कर्मधारय समास किया जाय (**तथापि**) तोभी (**शब्दवत्**) शब्दके तरह (**अर्थस्यापि**) अर्थका भी अनित्य होनेसे (**इष्टसिद्धिः न**) इष्टकीसिद्धि नहीं हो सकती हैं।

भावार्थः— वागर्थ द्वयका दृष्टान्तभी सत् और परिणामके विषयमें योग्य दृष्टान्त नहीं है। क्योंकि जैसे घटवाचकसे वाच्यरूप घट भिन्न है। वैसे सत्से परिणाम व परिणामसे सत् भिन्न नहीं है।

यदि कदाचित कहा जाय कि वागर्थ शब्दमें द्वन्द समास न करके 'वागेवार्थः' इस प्रकारका कर्मधारय समास करके वचनरूपी अर्थही वागर्थ शब्दका अर्थ करेंगे तो शब्द जैसे अनित्य है वैसेही शब्दरूपी अर्थकोभी अनित्य मानने पडेगा। इसलिए दोनोंको अनित्यपनेके प्रसंगके आनेसे सत और परिणामके विषयमें वागर्थ द्वयका दृष्टान्तभी अनुपयुक्त है।

सोलहवें दृष्टान्तके पूर्वपक्षमें दोष।

स्यादविचारितरम्या भेरीदण्डवदिदिहेति संदृष्टिः।
पक्षाधर्मत्वेपि च व्याप्यासिद्धत्वदोषदुष्टत्वात् ॥ ३९६ ॥
युतसिद्धत्वं स्यादिति सत्परिणामद्वयस्य यदि पक्षः।
एकस्यापि न सिद्धिर्यदि वा सर्वोपि सर्वधर्मः स्यात् ॥ ३९७ ॥

अन्वयार्थ— (**अपि च**) और (**इह**) यहांपर (**भेरीदण्डवत्**) सत् परिणाम, भेरी दण्डकी तरह है (**इति**) यह (**सन्दृष्टिः**) दृष्टान्त भी (**अविचारितरम्या स्यात्**) अविचारितरम्य है क्योंकि (**पक्षाधर्मत्वे**) हेतुमें पक्षधर्मता न रहनेपर वह (**व्याप्यासिद्धत्वदोषदुष्टत्वात्**) व्याप्यासिद्ध दोषसे दूषित है।

(**यदि**) यदि उक्त दोषको दूर करनेके लिए (**सत्परिणामद्वयस्य**) सत्परिणाम दोनोंमे (**युतसिद्धत्वं स्यात्**) युतसिद्धपना है (**इति पक्षः**) यह पक्ष माना जायगा तो दोनोंमेसे (**एकस्यापि सिद्धिः न**) एककी भी

सिद्धि नहीं होगी। (यद्वा) अथवा (सर्वोऽपि) सबही पदार्थ (सर्व धर्मःस्यात्) सब धर्मोंसे युक्त हो जावेंगे अर्थात् जीवादिक पदार्थोंमें अजीवादिकके और अजीवादिकमें, जीवादिकके गुण भी आसकेंगे।

भावार्थः— जैसे पृथक् सिद्ध होनेसे युतसिद्धिके कारण, दंड संयोगपूर्वक भेरीमें शब्दकी सिद्धि घट सकती है वैसे सत्परिणाममें नहीं घट सकती है। क्योंकि सत व परिणाम पृथक् सिद्ध नहीं है किन्तु अभिन्न है। केवल विवक्षावश दो कहे जाते है। इसलिए युतसिद्धिमे संयोगपूर्वक कार्यकारित्व सत्रूप पक्षमें लागू नहीं पडता है। अतएव सत् परिणाममें भेरी दण्डके दृष्टान्तसे कार्यकारित्व सिद्ध करतेसमय व्याप्यासिद्ध * नामका दोष आता है।

यदि कदाचित कहो कि सत् और परिणाममें समवाय सम्बन्धसे युतसिद्धत्व मानलेंगे तो यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि सत्के विना परिणामकी, और परिणामके विना सत्की, सिद्धि नहीं की जासकती है। इसलिए दोनोंका अभाव हो जायगा। तथा सत्के विषयमें नियामक न रहनेसे चाहे जिसके साथ, चाहे जिसके सम्बन्धका प्रसंग आनेसे फिर अचेतन भी चेतनके सम्बन्धसे चेतन कहलाने लगेगा। इसलिए किसी समवाय पदार्थके संयोगसे सत् और परिणामको युतसिद्ध मानना ठीक नहीं है। इसतरह भेरी दण्डका दृष्टान्त व्याप्यासिद्ध दोषसे दूषित होनेके कारण सत्परिणामके विषयमें अनुपयोगी हैं।

सत्रहवें दृष्टान्तके पूर्वपक्षमें दोष।

> इह पदपूर्णन्यायादस्ति परीक्षाक्षमो न दृष्टान्तः।
> अविशेषत्वापत्तौ द्वैताभावस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ३९८ ॥
> अपि चान्यतरेण विना यथेष्टसिद्धिस्तथा तदितरेण।
> भवतु विनापि च सिद्धिः स्यादेवं कारणाद्यभावश्च ॥ ३९९ ॥

अन्वयार्थः— (इह) सत् और परिणामके विषयमें (पदपूर्णन्यायात्) पदपूर्ण न्यायसे दियाहुआ (दृष्टान्तः) दृष्टान्त (परीक्षाक्षमः अस्ति) परीक्षा करनेपर ठीक नहीं ठहरता है क्योंकि (अविशेषत्वापत्तौ) सत् तथा परिणाममें किसीप्रकार की विशेषता न रहनेपर (द्वैताभावस्य) सर्वथाही द्वैतके अभावकाप्रसंग (दुर्निवारत्वात्) दुर्निवार हो जायगा अर्थात् सत्परिणाममें सर्वथा अभेदपक्षका प्रसंग दुर्निवार हो जायगा।

* पक्षमें हेतुकी असिद्धताको व्याप्यासिद्ध दोष कहते हे।

(अपि च) तथा उन दोनोंमें आवश्यकता सिद्ध होनेपर (यथा) जैसे (अन्यतरेण विना) किसी एकके विना (इष्ट सिद्धिः भवतु) इष्ट सिद्धि मानोगे (तथा च) वैसेही (तदितरेणाऽपि विना) उससे भिन्न दूसरेके विना भी (सिद्धिः) इष्ट सिद्धि मानना चाहिये (च) और (एव) इसप्रकार माननेसे (कारणाद्य भावः स्यात्) कार्य कारणभावादिकका अभाव होजायगा अर्थात् यदि सत्के विना परिणामसे तथा परिणामके विना सत्से इष्टकी सिद्धि मानोगे तो केवल सत और परिणामके माननेसे कार्यकारणभाव नहीं बनेगा ।

भावार्थः— पदपूर्णन्यायमें सत और परिणामको माननेसे अद्वैत भाव तथा कार्यकारण भावके अभावका प्रसग आवेगा । कारण शंकाकार, पूरेपदको बोलना न बोलना वक्ताकी इच्छापर निर्भर है, यह मानता है, अर्थात् पूरे पदके बोलने से विशेषता आती है व न बोलनेसे विशेषता नहीं आती है जब इस बातको शंकाकार अंगीकार नहीं करता तो पद और वाक्यमें द्वैत (अन्तर) सिद्ध नहीं होता है और द्वैतभावके सिद्ध न होनेसे पद और वाक्यमें जो कार्यकारण भाव दृष्टीगोचर होता है । उसका अभाव मानने पडेगा जोकि भाषा शैलीसे विरूद्ध पडता है अतः पदपूर्णन्यायसे सत और परिणामका द्वैत मानना ठीक नहीं है (?) ।

अठारहवें दृष्टान्तके पूर्वपक्षमें दोष ।

मित्रद्वैतवदित्यपि दृष्टान्तस्वप्नसन्निभो हि यतः ।
स्याद्गौरवप्रसंगाद्धेतोरपि हेतु हेतुरनवस्था ॥ ४०० ॥
तदुदाहणं कश्चित्स्वार्थं सृजतीति मूलहेतुतया ।
अपरः सहकारितया तमनु तदन्योपि दुर्निवारः स्यात् ॥ ४०१ ॥
कार्यप्रति नियतत्वाद्धे तुर्द्वैतं न ततोऽतिरिक्तंचेत् ।
तन्न यतस्तानियमयाहकमिव न प्रमाणमिह ॥ ४०२ ॥

अन्वयार्थ— (हि) निश्चयसे (मित्रद्वैतवत्) मित्र द्वैतकी तरह सत् परिणामका द्वैत है (इति दृष्टान्तः अपि) यह दृष्टांतभी (स्वप्नसन्निभः) स्वप्नके समान है (यतः) क्योंकि (गौरवप्रसंगात्) गौरवका प्रसंग आनेसे (हेतोरपि हेतुहेतुः) हेतुका भी हेतु और उस हेतुके भी हेतुको माननेरूप (अनवस्था स्यात्) अनवस्था नामके दोषका प्रसग आता है अर्थात् मित्रके यदि समान सहकारी कारण अवश्य अपेक्षणीय है तो उत्तरोत्तर सहकारी मित्रकी अपेक्षा करते जानेमे अनवस्था नहीं रोकी जा सकती है ।

(तदुदाहरणं) उस अनवस्थाका प्रसंग कैसे आयेगा इसका उदाहरण यह है कि (कश्चित्) कोई (मूल
हेतुतया) मूल हेतुपनेसे (स्वार्थं) अपने अर्थको (सृजति) उत्पन्न करता है और (अपरः) दूसरा कोई (त-
त्सहकारितया) उसी प्रकृत अर्थको सहकारीपनेसे उत्पन्न करता है (इति) इसप्रकार (अनु) दूसरेके पश्चात
(तदन्योऽपि) तीसरा और तीसरेके पश्चात् चौथा इत्यादि अप्रामाणिक अनंत हेतुमालाका **प्रसंग (दुर्निवारः
स्यात्)** दुर्निवार हो जायगा ।

(**कार्यं प्रति**) कार्यके प्रति (**नियतत्वात्**) नियत होनेसे (हेतुद्वैत) उपादान और निमित्तरूप दो हेतु
ही है (**ततः अतिरिक्त न**) उससे अधिक नहीं है (**चेत्**) यदि ऐसा कहोतो (**तन्न**) यह कहना भी ठीक नहीं
है (**यतः**) क्योंकि (**इह**) यहांपर (**तन्नियमग्राहकं**) उन दो हेतुओंकेही माननेरूप नियमका ग्राहक (**प्रमाणं
इव न**) कोई प्रमाण नहीं है ।

भावार्थ.— सत् और परिणामके विषयमें मित्र द्वैतका दृष्टान्त भी अनवस्था दोषके कारण स्वप्नके समान निरु
पयोगी है । क्योंकि यदि अपने कार्यके लिए एकको मूलकारण और दूसरेको सहकारी कारण माना जायगा तो उस सह-
कारी कारणके लिए भी किसी दूसरे सहकारी कारणकी तथा उसके लिए भी किसी तीसरे कारणकी इसप्रकार उत्तरोत्तर
हेतुओंके लिए हेतुओंकी कल्पना करते २ अनवस्था दोष आयगा ।

इसपर यदि कदाचित् कहा जाय कि कार्यकेप्रति मूल व सहकारी कारण रूप दोही कारण होते है तो यह
कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि किसी कार्यके लिए दोही कारण होते है अतिरिक्त नही—ज्यादह नहीं इस बातका ग्रहण
करनेवाला कोई प्रमाणही नहीं है । अतएव मित्र द्वैतके दृष्टान्तमें दिया हुआ अनवस्था नामका दोष तदवस्थ रहता है।

उन्नीसवें दृष्टान्तके पूर्वपक्षमें दोष ।

एवं मिथो विपक्षद्वैतवादित्यापि न साधुदृष्टांतः ।
अनवस्थादोषत्वाद्यथाऽरिरस्यापरारिरपि यस्मात् ॥ ४०३ ॥
कार्यम्प्रति नियतत्वाच्छत्रुद्वैतं न ततोऽतिरिक्तं चेत् ।
तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह ॥ ४०४ ॥

अन्वयार्थः— (एवं) इसप्रकार सत् और परिणाम (मिथः) परस्परमें (विपक्षद्वैतवत्) दो शत्रुओंके तरह हैं (इति दृष्टांतः अपि) यह दृष्टांतभी (साधु न) ठीक नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (यथा) जैसे (अस्य अरिः) विवक्षित कोई एक किसी दूसरेका शत्रु है वैसेही वह (अपरारिरपि) दूसरा शत्रु भी किसी तीसरा और चौथेका आदिका है इसप्रकारसे यहां (अनवस्थादोषत्वात्) अनवस्था दोषका प्रसंग आता है अर्थात् किसी एकके लिये दूसरा शत्रु अवश्य अपेक्षणीय है तो दूसरे आदिके लिए तीसरा आदि शत्रु अपेक्षणीय क्यों नहीं होगा अर्थात् अवश्यही होगा इसप्रकार मित्रद्वैतके दृष्टांतमें मित्रोंकी कल्पनाके समान यहांपरभी उत्तरोत्तर शत्रुओंकी कल्पना करनेके कारण अनवस्था नामके दोषका प्रसंग रोका नहीं जा सकेगा।

(कार्यं प्रति) कार्यके प्रति (नियतत्वात्) नियत होनेसे (शत्रुद्वैतं) मुख्य और सहकारी रूप दोही शत्रु हैं। (ततः) उससे (अतिरिक्तं न) अधिक नहीं हैं (चेत्) यदि ऐसा कहोतो (तन्न) वह ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (इह) यहांपर (तन्नियमग्राहकं) उस नियमका ग्रहण करनेवाला (प्रमाणं इव न) कोई प्रमाणही नहीं है।

भावार्थः— मित्र द्वैतकी तरह आदेशके समान होनेवाला शत्रु द्वैतका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहांपर भी उत्तरोत्तर सहकारी कारणोंकी तरह उत्तरोत्तर शत्रुओंकी कल्पना करनेसे अनवस्था दोप आता है।

यदि अनवस्था दोपको दूर करनेके लिए कहो कि एक कार्यके लिए दोही शत्रु मानेंगे अधिक नहीं तो यह कहनाभी ठीक नहीं है। क्योंकि एक कार्यके प्रति दोही शत्रु होते हैं अधिक नहीं, इस नियमका ग्रहण करनेवाला कोई प्रमाणही नहीं है।

बीसवें दृष्टान्तके पूर्वपक्षमें दोष।

वामेतरकरवर्त्तितरज्जूयुग्मं न चेह दृष्टान्तः।
बाधितविषयत्वाद्वा दोषात्कालात्ययापदिष्टत्वात् ॥ ४०५ ॥

तद्वाक्यमुपादानंकारणसदृशं हि कार्यमेकत्वात्।
अस्त्यनातिगोरसत्वं दधिदुग्धावस्थयोर्यथाध्यक्षात् ॥ ४०६ ॥

अन्वयार्थः— (च) और (इह) यहांपर (बाधितविषयत्वात्) बाधित विषय होनेके कारण (कालात्ययापदिष्टत्वात्) कालात्ययापदिष्ट दोपके आनेसे (वामेतरकरवर्तितरज्जूयुग्म) वाम और दाक्षिण

हातके द्वारा वर्तित-भांजी गई दो रस्सियोंका दृष्टान्त भी (नवा) ठीक नहीं है।

(तद्वाद्ध्यं) रज्जुयुग्मका दृष्टान्त इसप्रकार बाधित है कि (हि) निश्चयसे (एकत्वात्) कथंचित् एकता होनेसे (कार्यं) कार्य (उपादानकारणसदृशं) उपादान कारणके सदृश होता है (यथा) जैसे (अध्यक्षात्) प्रत्यक्ष प्रमाणसे (दधिदुग्धावस्थयो) पूर्वोत्तर भावी दूध व दहीकी पर्यायमें (अनतिगोरसत्वं अस्ति) गोरसत्वका उल्लंघन नहीं पाया जाता है अर्थात् सबही अवस्थाओंमें व्यापकरूपसे गोरसत्व पाया जाता है।

भावार्थः— कार्य, उपादान कारणके सदृश होता है। जैसा कि दुधरूप कारणसे दहीरूप जो कार्य होता है उसमें गोरसपनेसे सदृशता होती है अर्थात् जैसे दधिरूपकार्य दुधरूप कारणसे, कथंचित् एकताके कारण गोरसपनेकी अपेक्षासे सदृशता रखता है वैसे सत और परिणामके विषयमें दाहिने और बाएँ हातके द्वारा भाजी हुई रस्सीका दृष्टात समानता नहीं रखता है। अतः बाधित विषय होनेसे यह दृष्टान्त कालात्ययापदिष्ट दोपसे युक्त है (?)।

नंबर ३७८ 'वामेतर क्रमवर्तित' शब्दमें वर्तित शब्दका अर्थ 'भाजी हुई' (बटीगई) तथा 'घुमाइ हुई' येदोनोही हो सकते है। उनमेसे हमनें वर्तित शब्दका पहला अर्थ ध्यानमें रखकर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षका अर्थ लिखा है। यदि वर्तित शब्दका अर्थ 'घुसाइ गई' किया जाने तो ३५८ पद्यका यह अर्थ होगा की दोनों हातोकी रस्सीओंसे जैसे छाछ भाड़ जाती है वैसेही क्या सत और परिणामकार्यकारी है। ऐसा समझना चाहिए और उत्तर पक्षमें 'भाजी हुई' की जगः 'घुसाई हुई' ऐसा समझना चाहिए।

सुंदोपसुन्दमल्लद्वैतं दृष्टान्ततः प्रतिज्ञातम्।
तदसदसत्वापत्तेरितरेतरनियतदोषत्वात् ॥ ४०७ ॥

सत्युपसुन्दे सुन्दा भवति च सुन्दे किलोपसुन्दोपि।
एकस्यापि न सिद्धिः क्रियाफलं वा तदात्ममुखदोषात् ॥ ४०८ ॥

अथ चेदनादिसिद्धं कृतकत्वापन्हनात्तदेवेह।
तदपि न तद्द्वैतं किल त्यक्तं दोषास्पदं यदत्रैतत् ॥ ४०९ ॥

अन्वयार्थ.— ('यत्,) जो (सुन्दोपसुन्दमल्लद्वयं) सुंद और उपसुंद मल्लद्वैतको (दृष्टांततः)

सत्परिणामके विषयमें दृष्टांतरूपसे (इतरेतरनियतदोषत्वात्) परस्पराश्रय अन्योन्याश्रय दोषसे युक्त है इसलिए (असत्वापत्तेः) किसीकी भी सत्ता सिद्ध न हो सकनेसे वह (असत्) ठीक नहीं हैं।

(किल) निश्चयसे (उपसुन्दे सति) उपसुंदके होनेपर (सुंदः) सुद (अपि च) तथा (सुन्दे सति) सुंदके होनेपर (उपसुन्दः भवति) उपसुंद होता है अतएव (तदाऽऽत्ममुखदोषात्) सुंदोपसुंद न्यायमें अन्योन्याश्रय दोषके आनेसे (एकस्यापि सिद्धिः) किसी एककी भी सिद्धि (वा) और (क्रियाफलं) क्रिया व फल (न) नहीं बनेंगे।

(अथ चेत्) यदि उक्त अन्योन्याश्रय दोषको हटानेके लिए (इह) यहांपर (कृतकत्वापन्हवात्) सत् और परिणाम किसीके द्वारा किये गए हैं ऐसी प्रतीति न होनेके कारण (तत्) वह सत्परिणामका द्वैत (अनादि सिद्ध एव) अनादि सिद्धही है ऐसा मानोगे (तदपि) तोभी (किल) निश्चयसे (यत्) जो (अत्र) यहांप- (एतत्) यह (तद्वैतं) सत्परिणामका द्वैत प्रतीत हो रहा है वह (त्यक्तदोषास्पदं न) निर्दोप नहीं कहा जा सकता हैं।

भावार्थः—सत् और परिणामके विषयमें सुदोपसुंद मल्लद्वैतका दृष्टात भी अनुपयोगी है क्योंकि अन्योन्याश्रय दोषके कारण जैसे सुन्दोपसुन्दमेंसे किसी एकको भी सिद्धि न होकर स्वयं दोनोंका नाश हुआ था। वैसेही सत् और परिणामको परस्परमें एक दूसरेके आश्रित माननेसे किसी एककी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। यदि कदाचित उक्त अन्योन्याश्रय दोषको हटानेके लिए कृतक न होनेसे, सत् परिणामके द्वैतको अनादि सिद्ध मानोगे तो भी वह अन्योन्याश्रय तदवस्थ रहनेसे निर्दोप सिद्ध नहीं हो सकता है कारण दोनोंको अनादि सिद्ध माननेसे भी, अनेकान्तवादके माने विना, वह सत् परिणामद्वैत कार्यकारी नहीं कहा जासकता है। इसलिए सुन्दोपसुन्दके न्यायसेभी सत् और परिणामके द्वैतको मानना ठीक नहीं है।

उपसंहार।

दृष्टान्ताभासा इति निक्षिप्ताःस्वेष्टसाध्यशून्यत्वात्।
लक्ष्योन्मुखेषव इव दृष्टान्तास्त्वथ यथा प्रशस्यन्ते ॥ ४१० ॥

अन्वयार्थः—(इति) इसप्रकार (निक्षिप्ताः) दियेहुये दृष्टांत (स्वेष्टसाध्यशून्यत्वात्) अपने इष्ट

साध्यके द्वारा शून्य होनेसे अर्थात् अपने इष्ट साध्यके साधक न होनेसे (दृष्टांताभासाः) दृष्टांताभास हैं (अथ तु) किंतु (लक्ष्योन्मुखेष इव) लक्ष्यका भेद करनेवाले बाणोंकी तरह अपने इष्ट साध्यको सिद्ध करनेवाले (दृष्टांताः दृष्टांत (प्रशस्यन्ते) प्रशंसित किये जाते हैं अर्थात् सच्चे दृष्टात हैं (यथा) जैसे कि—

भावार्थ — इसप्रकार अपने इष्ट साध्यको सिद्ध नहीं कर सकनेके कारण, शंकाकारके द्वारा दिये हुए उपर्युक्त दृष्टान्तोंका खंडन करके अब आगे ग्रन्थकार बाणकी तरह लक्ष्योन्मुख अर्थात् स्वेष्ट साधक दृष्टान्तोंका निरूपण करते हैं। *

१ दीपक और प्रकाशका दृष्टान्त।

सत्परिणामाद्वैतं स्यादविभिन्नप्रदेशवत्वाद्वै ।
सत्परिणामद्वैतं स्यादपि दीपप्रकाशयोरेव ॥ ४११ ॥

अन्वयार्थः— (वै) निश्चयकरके (अविभिन्नप्रदेशत्वात्) अभिन्न प्रदेश होनेसे (कथंचित् (सत्परिणामाद्वैतं स्यात्) सत् और परिणाममें अद्वैत है (अपि) तथा (दीपप्रकाशयोरिव) दीपक व प्रकाश की तरह सज्ञा लक्षणादिकके द्वारा भेद होनेसे (सत्परिणामद्वैत स्यात्) सत् और परिणाममें द्वैत भी है।

भावार्थः— भिन्न २ प्रदेश नहीं होनेसे सत् और परिणाममें अद्वैत है। तथा संज्ञा लक्षणादिकके द्वारा दीप

---

* दृष्टान्तोंके उत्तर पक्षमें ग्रन्थकारनें ८ वें दृष्टान्तके पूर्वपक्षमें दोष बताकरके ९–१०–११ वें दृष्टान्तोंके पूर्वपक्षोंके उत्तर पक्षोंको छोडकर शेष दृष्टान्तोंके पूर्वपक्षोंका उत्तर लिखा है। तथा अन्तमें ९ वें दृष्टान्तके पूर्वपक्षमें दोष बताया किन्तु फिर भी १०–११ वें दृष्टान्तके पूर्वपक्षके विषयमें कुछ नहीं लिखा है। ऐसा क्यों हुआ इसके समझनेका साधन नहीं है।

नंबर ३४१ से प्रारम्भ करके ४१० तक ग्रंथकारने सत और परिणामके विषयमें जो २० दृष्टाताभास बताकर, वर्णन किया है यह वर्णन अन्य किसी ग्रंथमें देखनेको नहीं आया है तथा स्वय ग्रंथकारने विस्तारसे नहीं लिखा है किंतु पहले सब पूर्वपक्ष कहकर अनंतर सब उत्तर पक्षोंका सक्षेपमें वर्णन कर दिया है इन दोनों कारणसे यह विषय गहन होगया है। इस विषय पर यद्यपि अपनी समझके अनुसार हमने अर्थ लिखा है परतु मनको पूरा सतोष नहीं होता है विशेष पछावित करनेका भी विचार आया था। परतु यद्वातद्वा होनेके डरसे उसे छोडदिया है इसके लिये पाठक क्षमा करे। तथा जिन दृष्टाताभासोंके उत्तरपक्षमें सदेह मालुम हुवा वहा २ उसके लिए (?) सदेह चिन्ह लगा दिया है और उनके विषयमें परिशिष्टमें लिखनेका विचार है।

प्रकाशके समान सत् और परिणाममें द्वैत भी है। इसप्रकार दीप प्रकाशके समान सत और परिणाममें कथंचित् द्वैता-द्वैत है।

२ जल कल्लोलका दृष्टान्त।

अथवा जलकल्लोलवदद्वैतं द्वैतमपि च तद्द्वैतम्।
उन्मज्जच्च निमज्जच्चाप्युन्मज्जन्निमज्जदेवाति ॥ ४१२ ॥

अन्वयार्थ— (**अथवा**) अथवा (**तद्वैतं**) सत् और परिणामका द्वैत (**जलकल्लोलवत्**) जल तथा उसकी तरंगोकी तरह (**अद्वैतं**) अभिन्न (**च**) और (**द्वैत अपि**) भिन्न भी है क्योंकि जल तथा कल्लोलोंमेसे जिस समय कल्लोलोंकी अपेक्षा विचार करते है उससमय वे कल्लोले (**उन्मज्जत्**) उदित होती हैं (**च**) और (**निमज्जत्**) विलीन होती है इसलिए वे जलसे कथंचित् भिन्न हैं (**अपि**) तथा जिससमय जलकी अपेक्षा करते है उससमय वे कल्लोले (**उन्मज्जत् निमज्जत् एव न**) उदीयमान व विलीयमानही नहीं होती है केवल जलही जल प्रतीयमान होता है (**इति**) इसलिये वे जलसे कथंचित् अभिन्न भी है उसीप्रकार सत् और परिणामभी कथंचित् भिन्न तथा अभिन्न हैं।

भावार्थः— जल और कल्लोलोंके दृष्टान्तसे भी सत् और परिणाममें कथंचित् अद्वैत तथा द्वैत सिद्ध होता है जैसे कल्लोलोंमे यद्यपि वायुके निमित्तसे प्रतिसमय परिणमन होता रहता है तो भी जलमात्रकी दृष्टिसे वे कल्लोलें जलसे भिन्न नहीं है। जलरूपही हैं। इसलिए उनकी विवक्षा न होनेके कारण उनका उत्पन्न होना और नहीं होना दृष्टिगोचर नहीं किया जाता है अर्थात् जल, सामान्य दृष्टिसे जलमात्रही प्रतीत होता है कल्लोलरूप नहीं। इसलिए जिसप्रकार जल और कल्लोलोंमे कथंचित् अभेद है उसी प्रकार सत् और परिणाममें भी सत्की विवक्षा करते समय, परिणामके गौण हो जानेके कारण तथा सत्से भिन्न उपलब्ध न होनेके कारण अभेद है। और सत् व परिणाममें, जलकल्लोलकी तरह दोनोंकी सञ्ज्ञा तथा लक्षण भिन्न होनेसे कथंचित् भेद भी है।

शंकाकारने सत् और परिणामका द्वैत दृष्टिगत रखकरके बहुतसे दृष्टान्तपूर्वक शंकाऐं उठाई थी। इसलिए ग्रन्थकारने उन दृष्टान्तोंको युक्तिपूर्वक सदोष सिद्ध करके सत् व परिणाममें कथंचित् द्वैत तथा अद्वैतभाव बताया है। किन्तु दीप प्रकाश, जलकल्लोल तथा घट मृत्तिकाके दृष्टान्तों द्वारा कथंचित् द्वैत सिद्ध कैसे होता है यह नहीं लिखा है। अतः

द्वैत साधक युक्तिको अर्थात् ग्रन्थान्तरोंमें जो संज्ञा लक्षणादिकोंके द्वारा भेद माना है उसे, हमने इन तीन दृष्टांतोंके साथ जोड दिया है।

३ घट मृत्तिकाका दृष्टान्त।

घटमृत्तिकयोरिव वा द्वैतं तदद्वैतवदद्वैतम्।
नित्यं मृण्मात्रतया यदनित्यं घटत्वमात्रतया ॥ ४१३ ॥

अन्वयार्थ — (वा) अथवा (घटमृत्तिकयोः द्वैतं इव) घट और मृत्तिकाके द्वैतकी तरह (तत् द्वैतवत् अद्वैतं) वह सत् परिणामका द्वैत, द्वैतहोकरके अद्वैत हैं (यत्) क्योंकि घट (मृण्मात्रतया) केवल मट्टीपनेकेरूपसे (नित्यं) नित्य है और (घटत्वमात्रतया) केवल घटत्वरूपसे (अनित्य) अनित्य हैं।

भावार्थ.— जैसे घट और मट्टीमें कथंचित् अद्वैत व द्वैत है वैसेही सत् तथा परिणाममें भी कथंचित् अद्वैत व वे द्वैत हे घटादि पर्यायें मृत्तिकाके विना उपलब्ध नहीं हो सकती है इसलिये वे मृत्तिकापनेसे अभिन्न है। तथा घट व मृत्तिकाका लक्षण और उनकी संज्ञा भिन्न २ है इसलिये कथंचित् भिन्न हैं।

न. ३३६ वे पद्यमे चार प्रश्न उपस्थित किये गये थे कि १ तत्व क्या नित्य या अनित्य है २ क्या उभयरूप है या अनुभयरूप है ३ क्या व्यस्त हे या समस्त है तथा ४ क्या सक्रम है या अक्रम है ? । वहांपर कथंचित् विशेषणपूर्वक तत्व सबहीरूप पडता है ऐसा सामान्य उत्तर देकर वस्तुके नित्यानित्यत्वधर्मके ऊपर विवेचन पूर्वक प्रकरणवश आगत दृष्टाताभासोंका निराकरण करते हुए दीपप्रकाशादिक तीन सच्चे दृष्टांतोंके द्वारा तत्वको कथंचित् अद्वैत व द्वैत सिद्ध करके अब ग्रंथकार प्रकृत विषयपर आते है कि जैसे घटमृत्तिकाके दृष्टातमें, मृत्तिका, मृत्तिकापनेसे नित्य है और घटादिकपर्यायकी अपेक्षासे अनित्य है। वैसेही सत् सामान्यकी अपेक्षासे वस्तु नित्य है। तथा उत्पन्न व नष्ट होनेवाले अपने प्रत्येक परिणामकी अपेक्षासे अनित्य भी हैं।

सत्के नित्यानित्यपनेमें युक्ति।

अयमर्थः सन्नित्यं तदभिज्ञसेर्यथा तदेवेदम्।
न तदेवेदं नियमादिति प्रतीतेश्च सन्न नित्यं स्यात् ॥ ४१४ ॥

अन्वयार्थः— (अयं अर्थः) सारांश यह है कि (तत् अभिज्ञप्तेः) सत्के विषयमें प्रत्यभिज्ञान प्रमाण पाये जानेसे (सन्नित्यं) सत् नित्य है (यथा) जैसे कि (तदेवेदं) यह वही है (च) और (निय

मात्) नियमसे (इदं तदेव न) यह वही नहीं है (इति प्रतीतेः) इस प्रतीतिसे (सन्नित्यं न स्यात्) सत् नित्य नहीं है अर्थात् अनित्य हैं।

भावार्थ — उक्तकथनका खुलासा यह है कि स्मृति व प्रत्यक्षके जोडरूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। न्यायशास्त्रमें प्रत्यभिज्ञानके द्वारा एकत्व, नित्यत्व व सादृश तथा अनेकत्व, अनित्यत्व और वैसादृश्यकी सिद्धि की जाती है। सतमें 'तदेवेदं' यह वही है इस प्रकारकी प्रतीति पाई जाती है। इसलिए द्रव्यदृष्टिसे सत् नित्य है। तथा सत्के परिणाममें भी 'तदेवेद न, यह वह नहीं है इसप्रकारकी भी प्रतीति पाई जाती है। इसलिए पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे, सत अनित्य भी है।

साराश यह है कि द्रव्यार्थिकनयसे सत् नित्य है। और पर्यायार्थिकनयमे सत अनित्य है। किन्तु प्रमाण दृष्टिसे सत नित्यानित्यात्मक है। अब आगे–उभय अनुभय, व्यस्त समस्त और सक्रम तथा अक्रमके ऊपर विचार करते हैं।

सत्के उभय अनुभयपनेमें युक्ति।

अप्युभयं युक्तिवशादेकं सच्चैककालमेकोक्तेः।
अप्यनुभयं सदेतन्नयप्रमाणादिवादशून्यत्वात् ॥ ४१५ ॥

अन्वयार्थ — (युक्तिवशात्) युक्तिके वशसे (एकं च सत्) एकही सत् (एककाल) एककालमें (उभयं अपि) उभय रूप भी है तथा (एकोक्तेः) दोनो धर्मोको एककालमे एक शब्दके द्वारा कहनेकी अपेक्षासे (एतत् सत्) यह सत (नयप्रमाणादिवादशून्यत्वात्) नयप्रमाणादि वादके द्वारा शून्य होनेके कारण अर्थात् अवक्तव्यपनेसे (अनुभयं अपि) अनुभय रूपभी है।

भावार्थः पहले वस्तुको अस्ति व नास्ति रूप सिद्ध कर आये हैं। उनमेंसे अस्ति, विधिरूप पडता है और नास्ति, निषेध किंवा विशेष रूप पडता है। जैसे द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे अस्तिरूप सत् तथा पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे [illegible] कोई अवान्तर भेद गृहीत होता है। जैसे पर्यायार्थिक नयके द्वारा विवक्षित विशेषको विषय करते समय, शेष विशेष धर्मोंका [illegible] अभाव गृहीत होता है। इसलिए, शेषधर्मोको नास्तिरूप कहते है। तथा एकही कालमें किसी अपेक्षासे [illegible] व किसी अपेक्षासे नास्तिका सद्भाव दिखानेकी दृष्टिसे तत्व, अस्तिनास्तिरूप, नित्यानित्यरूप तथा

एकानेकरूप भी है और वचनागोचर होनेसे, अथवा एक शब्दके द्वारा एक कालमें परस्पर विरोधी धर्मोंको प्रतिपादन नहीं हो सकनेसे, तत्व अनुभयरूप भी हैं।

सत्के व्यस्त समस्तपनेमें युक्ति।

व्यस्तं सन्नययोगात्तन्नित्यं नित्यत्वमात्रतस्तस्य ।
अपि च समस्तं सदिति प्रमाणसापेक्षतो विवक्षायाः ॥ ४१६ ॥

अन्वयार्थः— (नययोगात्) नयके योगसे (सत् व्यस्तं) सत व्यस्त रूप है क्योंकि (तस्यनित्यत्वमात्रतः) वह नित्य मात्र होनेसे (नित्य) नित्य कहलाता है (अपि) तथा (विवक्षायाः) विवक्षाको (प्रमाणसापेक्षतः) प्रमाण सापेक्ष होनेसे अर्थात् प्रमाणकी विवक्षासे (सत् इति समस्तं च) सत् यह समस्त भी है।

भावार्थः— सत् द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षासे नित्यमात्र विवक्षित होता है। और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे अनित्यमात्र विवक्षित होता है इसलिए सत् व्यस्तरूप है किंतु प्रमाण दृष्टिसे केवल नित्य न अनित्य विषय न होकर नित्यानित्यात्मक प्रतीत होता है। इसलिए सत् समस्तरूप भी है अर्थात् सत्, नयदृष्टिसे व्यस्त तथा प्रमाण दृष्टिसे समस्त है।

सत्के क्रमवर्ती तथा अक्रमवर्तीपनेमें युक्ति।

न विरुद्धं क्रमवर्ति च सदिति तथाऽनादितोपि परिणामि ।
अक्रमवर्ति सदित्यपि न विरुद्धं सदेकरूपत्वात् ॥ ४१७ ॥

अन्वयार्थः— (सत् क्रमवर्ति) सत क्रमवर्ती है (इति च न विरुद्धं) यहभी विरुद्ध नहीं है क्योंकि वह (अनादितोऽपि) अनादिकालसे (तथा) क्रमरूपसे (परिणामि) परिणमन शील है और (सत् अक्रमवर्ति इत्यपि विरुद्धं न) सत् अक्रमवर्ती है यहभी विरुद्ध नहीं है क्योंकि (सदेकरूपत्वात्) परिणमन करता हुआ भी सत् एकरूप है–सदृश है।

भावार्थः— सत् अनादि कालसे प्रतिसमय परिणमनशील है। इसलिए क्रमवर्ती–सक्रम है। और सत्, सत् इस अन्वयको कभी छोडता नहीं है अर्थात् सामान्यपनेसे सत् एकहीरूप रहता है इसलिए सत् अक्रमवर्ती भी है। इसप्रकार वस्तुके नित्य, अनित्य, उभय, अनुभय, व्यस्त, समस्त और सक्रम, अक्रमपनेको युक्तिपूर्वक बताकरके अब आगे अनेकांतके विषयमें शंकासमाधानपूर्वक विचार करते है।

शंका।

ननु किमिह जगदशरणं विरुद्धधर्मद्वयाधिरोपत्वात्।
स्वयमपि संशयदोलान्दोलित इव चलितप्रतीतिः स्यात् ॥ ४१८ ॥

इह कश्चिज्जिज्ञासुर्नित्यं सदिति प्रतीयमानोऽपि।
सदनित्यमिति विपक्षे सति शल्ये स्यात्कथं हि निःशल्यः ॥ ४१९ ॥

इच्छन्नपि सदनित्यं भवति न निश्चितमना जनः कश्चित्।
जीवदवस्थत्वादिह सन्नित्यं तद्विरोधिनोऽध्यक्षात् ॥ ४२० ॥

तत एव दुरधिगम्यो न श्रेयान् श्रेयसे ह्यनेकान्तः।
अप्यात्मखदोषात् सव्यभिचारो यतोऽचिरादिति चेत् ॥ ४२१ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (इह) यहांपर एकही पदार्थमें (विरुद्धधर्मद्वयाधिरोपत्वात्) विरोधी दो धर्मोंके आरोप करनेसे (जगत्) जगत (किं) क्या (अशरणं) अशरण है अर्थात् जगतको क्या कोई शरण नहीं मिलेगा (अपि) तथा (स्वयं) स्वयं स्याद्वादी भी (संशयदोलान्दोलित इव) संशयरूपी झूलेमें झूलनेवालेकी तरह (चलितप्रतीतिः स्यात्) चलित है प्रतीति जिसकी ऐसा हो जायगा अर्थात् निःसंशय नहीं हो सकता है। क्योंकि (इह) यहांपर (कश्चित्) कोई (जिज्ञासुः) जाननेकी इच्छा रखनेवाला पुरुष (सत् नित्य इति प्रतीयमानः अपि) सत् नित्य है ऐसी प्रतीति करता हुआ भी (हि) निश्चयसे (सत्-अनित्यं इति विपक्षे) सत् अनित्य है इसप्रकारके विपक्षके मिलते हुए (शल्ये सति) शल्यके होनेपर (कथं) किसतरह (निःशल्यःस्यात्) शल्य रहित होगा ?

और (कश्चित् जनः) कोई मनुष्य (सत् अनित्यं इच्छन्नपि) सतको अनित्य मानता हुआ भी (निश्चितमनाः) निश्चित मनवाला (न भवति) नहीं हो सकता है कारण कि (इह) यहांपर (अनित्यं) सत् नित्य है इसप्रकार (जीवदवस्थत्वात्) नित्यपनेकी जीवित अवस्था रहनेसे (तद्विरोधिनः) सत् अनित्य है उसके विरोधीका (अध्यक्षात्) प्रत्यक्ष होता है।

(तत एव) इसलिए ही (हि) निश्चयसे (दुरधिगम्यः) दुरधिगम्य (अनेकान्तः) अनेकान्त (श्रेयसे) कल्याणके लिए (श्रेयान) अच्छा नहीं है (यतः) क्योंकि (आत्ममुखदोपात् अपि) आत्ममुखदोषसेही अर्थात वदतोव्याघातसेही वह (अचिरात्) शीघ्र (सव्यभिचारः) व्यभिचार सहित सिद्ध होता है (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो ।

भावार्थः —शंकाकारकी शंका है कि इसप्रकार वस्तुको विरुद्ध धर्ममय माननेसे, झूलेमें झूलनेकी स्थितिकेसमान संशयवृत्ति हो जानेके कारण, वस्तुके किसी भी धर्मको निश्चयात्मक प्रतीतिके लिये सहारा नहीं रहेगा। क्योंकि जैसे अनित्य विपक्षके रहते हुए वस्तुको अनित्यात्मक माननेवाला जिज्ञासु निस्संशय नहीं हो सकता है। वैसेही नित्यके विपक्षके रहते हुए वस्तुको अनित्यात्मक माननेवाला जिज्ञासु भी निस्संशय नहीं हो सकता है। इसलिए अनेकांत, वदतो-व्याघात नामके दोषसे युक्त तथा दुर्बोध होनेके कारण कल्याणकारी प्रतीत नहीं होता है।

समाधान।

तन्न यतस्तदभावे बलवानस्तीह सर्वथैकान्तः ।
सोपि च सदनित्यं वा सन्नित्यं वा न साधनायालम् ॥ ४२२ ॥

अन्वयार्थः— (तन्न) इस प्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (तदभावे) अनेकान्तके अभावमें (इह) यहांपर (बलवान) बलवान (सर्वथैकान्तः) सर्वथा एकान्त (अस्ति) उपस्थित होता है (च) और (सत् अनित्यं) सत् अनित्य है (वा) अथवा (सन्नित्यंवा) सत् नित्यही है इस प्रकारका (सोऽपि) वह सर्वथैकान्तभी (साधनाय अलं न) अपने इष्ट साध्यकी सिद्धि करनेके लिए समर्थ नहीं है।

भावार्थ — उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। क्योंकि अनेकान्त नहीं माननेसे सर्वथा एकान्त पक्षके माननेका प्रसंग आता है। तथा वह एकान्त पक्षभी सत्को केवल नित्य अथवा अनित्य सिद्ध नहीं कर सकता है। आगे-इसी अर्थका खुलासा करते है।

सर्वथा नित्य पक्षमें विक्रियाके न बननेसे हानि।

सन्नित्यं सर्वस्मादिति पक्षे विक्रिया कुतो न्यायात् ।
तदभावेपि न तत्त्वं क्रियाफलं कारकाणि यावदिति ॥ ४२३ ॥

परिणामः सदवस्थाकर्मत्वाद्विक्रियेति निर्देशः ।
तदभावे सदभावो नासिद्धः सुप्रसिद्धदृष्टान्तात् ॥ ४२४ ॥

अन्वयार्थः— (**सर्वस्मात्**) सर्वथा (**सन्नित्यं**) सत् नित्य हैं (**इति पक्षे**) इस पक्षमें (**विक्रिया-कुतः न्यायात्**) विकार कौनसे न्यायसे होगा अर्थात् सर्वथा नित्यपक्षमें किसी भी तरह विकार नहीं होसकता हैं (**अपि**) और (**तद्भावे**) विक्रियाके अभावमें–विकारके अभावमें (**तत्वं**) तत्व (**क्रियाफलं**) क्रिया फल तथा (**कारकाणि यावत्**) कारक इत्यादि कुछ भी (**न इति**) नहीं बन सकते हैं ।

(**परिणामः**) परिणामही (**सदवस्थाकर्मत्वात्**) सतकी अवस्थाओंका कर्म–परिणतिरूप क्रिया होनेसे (**विक्रिया इति निर्देशः**) विक्रिया इस शब्दसे कहा जाता है तथा (**सुप्रसिद्धदृष्टांतात्**) सुप्रसिद्ध दृष्टांतसे (**तद्भावे**) विक्रियाके अभावमें (**सद्भावः**) सत्का अभाव (**असिद्धः न**) असिद्ध नहीं हैं।

भावार्थः— यदि पदार्थ सर्वथा नित्यही माना जायगा तो उसमें विक्रिया नहीं बनेगी । और विक्रियाके न होनेसे, तत्व, क्रिया, फल व कारक आदि कुछ भी नहीं बनेंगे। क्योंकि सतकी अवस्थाओंमें क्रियापूर्वक होनेवाले परिणामको विक्रिया कहते है। तथा सर्वथा नित्यमें परिणाम संभव नहीं है । इसलिए सतका भी अभाव मानने पडेगा जैसा-कि ग्रन्थकारनें स्वयं पट व तन्तुके दृष्टांतसे सिद्ध किया है।

अथ तद्यथा पटस्य क्रिया प्रसिद्धेति तन्तुसंयोगः ।
भवति पटाभावः किल तदभावे यथा तदनन्यात् ॥ ४२५ ॥

अन्वयार्थः—(**अथ तद्यथा**) अब उसका खुलासा इसप्रकारका है कि (**यथा**) जैसे (**पटस्य क्रिया**) पटकी क्रिया (**तन्तुसंयोगः**) तंतुसंयोग (**इति प्रसिद्धा**) यह प्रसिद्ध है और (**तदनन्यात्**) क्रिया व पटमें भेद न होनेसे (**तद्भावे**) क्रियाके अभावमें (**किल**) निश्चय करके (**पटाभावः**) पटका अभाव (**भवति**) होता हैं ।

भावार्थः— तन्तु संयोग पूर्वक पटकी उत्पत्ति होती है। इसलिए तन्तु संयोग पटकी क्रिया कहलाती है। अतः जैसे पटसे अभिन्न तन्तु संयोगरूप क्रियाके अभावसे पटका अभाव हो जाता है। वैसेही सतकी अवस्थाओंके विना

सतका भी अभाव हो जायगा। क्योंकि सतकी जो उत्पादादिक रूप अवस्थाएँ हैं उन्हें परिणाम किंवा क्रिया कहते हैं। और उन्हींमेंही सतका सद्भाव सिद्ध होता है। यदि पदार्थको सर्वथा नित्य मानकर उसमें किसी प्रकारकी क्रिया नहीं मानी जावेगी तो सत्के साधकके अभावमे सत्का भी अभाव हो जायगा।

विक्रियाके अभावमे दूसरा दोष।

अपि साधनं क्रिया स्यादपवर्गस्तत्फलं प्रमाणत्वात्।
तत्कर्ता ना कारकमेतत् सर्वं न विक्रियाभावात् ॥४२६॥

अन्वयार्थः— (अपि) तथा (प्रमाणत्वात्) प्रमाणपनेसे (क्रिया साधनं) क्रिया कारण है और (अपवर्ग. तत्फलं स्यात्) मोक्ष उसका कार्य है इसलिए (विक्रियाभावात्) सत्में विक्रियोंके न माननेसे (तत्कर्ता ना) क्रियाका कर्ता आत्मा तथा (कारकं) आत्मा सम्यग्दर्शनादिक साधनोंके द्वारा मोक्षको प्राप्त करता है इत्यादि कारक (एतत् सर्वं न) ये सब कुछ नहीं बनेंगे।

भावार्थः— यदि सतमें किसी तरहकी परिणमन रूप क्रिया नहीं मानी जावेगी तो व्रतादि क्रियापूर्वक मोक्षकी प्रति तथा क्रियाके विना क्रियावान आत्माकी सिद्धि भी नहीं हो सकेगी। और आत्मारूप कर्ता, सम्यग्दर्शनादि रूप कारणोंके द्वारा मोक्षरूप कर्मको सिद्ध न कर सकनेके कारण सब प्रकारके कारकोंका अभाव भी हो जायगा।

शंका।

ननु का नो हानिः स्याद्भवतु तथा कारकाद्यभावश्च।
अर्थात् सन्नित्यं किल नह्यौषधमातुरे तमनुवर्ति ॥ ४२७ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (तथा) विक्रियाके नहीं माननेपर (कारकाद्यभावश्च) कारकादिकका अभाव भी (भवतु) होवे (नः का हानिःस्यात्) इसमें हमारी कौनसी हानि है (अर्थात्) अर्थात् (किल) निश्चयसे (सन्नित्यं) सत् नित्य है क्योंकि (आतुरे) रोगी पुरुष विषयमें (औषधं) औषधि (त अनुवर्ति न हि) रोगीके अनुकूल नहीं होती है।

भावार्थ— शंकाकारका कहना है कि सत् नित्यही है। और उसको नित्य माननेपर यदि कारकादिक

सिद्ध नहीं हो सकते है। तो न होने दो। हमारी क्या हानि है? क्योंकि औषधि रोगीकी इच्छाके अनुसार नहीं होती है।

समाधान।

सत्यं सर्वमनीषितमेतत्तदभाववादिना तावत्।
यत्सत्तत्क्षणिकादिति यावन्नोदेति जलदद्दष्टांतः॥ ४२८ ॥

अन्वयार्थ.— (**सत्यं**) ठीक है किंतु (**तदभाववादिना**) कारकादिके अभावको कहनेवाले वादीके द्वारा (**एतत् सर्वं मनीषितं**) ये सब मनोरथ (**तावत्**) तबतक उदयको प्राप्त होता है (**यावत्**) जबतक (**यत् सत् तत्क्षणिकात् इति**) जो सत् है वह क्षणिक है इस सिद्धांतका पोषक (**जलदद्दष्टांत**) मेघका दृष्टांत (**नोदेति**) उदयको प्राप्त नहीं होता हैं।

भावार्थः— ठीक है, किन्तु नित्यैकान्तवादियोका यह कहना तभी तक टिक सकता है। जबतक कि प्रति समय विनश्वर मेघका दृष्टान्त क्षणिक वादियोंके द्वारा, जो जो सत् है वह वह सब क्षणिकपनेसेही सिद्ध हो सकता है इस युक्ति पूर्वक सामने नहीं आता है। **सर्वथा अनित्यपक्षमें दोष।**

अयमप्यात्मरिपुः स्यात्सन्नित्यं सर्वथेति किल पक्षः।
प्रागेव सतो नाशादपि प्रमाणं क्व तत्फलं यस्मात्॥ ४२९ ॥

अन्वयार्थः— (**सत् सर्वथा अनित्यं**) सत् सर्वथा अनित्य है (**इति अयं अपि पक्ष किल**) यह पक्ष भी निश्चयकरके (**आत्मरिपुः स्यात**) आत्मशत्रु है (**यस्मात्**) क्योंकि (**प्रागेव सतः नाशात्**) पहलेही सतका नाश माननेसे (**प्रमाणं**) प्रमाण (**अपि**) और (**तत्फलं**) उसका फल (**क्व**) कहांपर होगा अर्थात् कहीं नहीं।

भावार्थः— तथा सत्को सर्वथा अनित्य मानना भी क्षणिक वादियोंके लिए आत्मघातक है। क्योंकि सत्का निरन्वय नाश माननेसे उनके मतके अनुसारसेही प्रमाण, और हेयके त्याग, उपादेयके ग्रहण तथा उपेक्षारूप प्रमाणका फल कैसे सिद्ध हो सकेगा अर्थात् पदार्थका निरन्वय नाश माननेसे क्षणिक वादियोंके यहां प्रमाण तथा प्रमाणके फलके अभावका प्रसंग आता है।

सर्वथा अनित्य पक्षमें—क्षणिक माननेमें दूसरा दोष।

अपि यत्सत्तदिति वचो भवति च निग्रहकृते स्वतस्तस्य।
यस्मात्सदिति कुतः स्यात्सिद्धं तच्छून्यवादिनामिह हि ॥ ४३०॥

अन्वयार्थ — (अपि) और (यत् सत् तत् वच च) जो सत् है वह क्षणिक है यह वचन भी (स्वतः) स्वयं (तस्य) उसके (निग्रहकृते भवति) निग्रहके लिए होता है (यस्मात्) क्योंकि (इह) यहांपर (हि) निश्चयसे (तच्छून्यवादिनां) सत्के अभावको कहनेवालोंके यहां (सदिति) सत् यह (कुतः सिद्धं स्यात्) किस प्रमाणसे सिद्ध होगा?

भावार्थ — जो सर्वथा क्षणिक होनेसे सत्का निरन्वय नाश मानते हे वे 'यत् सत् तत् क्षणिकात्' इस अपने प्रतिज्ञा वाक्यमें 'जो सत् है, यह वाक्य भी नहीं बोल सकते ह। क्योंकि क्षणिक वादियोंके यहा सतकी सिद्धि, सत्का क्षणवर्ती होनेसे सिद्ध नहीं हो सकती है। कारण—जो जिसका जन्मक्षण होगा वह केवल अपने आत्मलाभके लियेही होगा। तदनन्तर पदार्थ, यदि कुछ कालतक रहे तो वह कार्यकारी कहा जा सकता है। किन्तु ऐसा उनके यहा माना नहीं है। इसलिए सत्की सिद्धि न हो सकनेसे जो सत् है वह सब क्षणिक है यह उनकी प्रतिज्ञाही उनके सिद्धान्तकी घातक सिद्ध होती है।

सर्वथा क्षणिकवादी सत्का अभाव कैसे सिद्ध करेंगे।

अपि च सदमन्यमानः कथमिव तदभावसाधनायालम्।
वन्ध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायादिवद्व्यलीकत्वात् ॥ ४३१ ॥

अन्वयार्थः— (अपि च) और (सदमन्यमान) सत्को नहीं माननेवाला पुरुष (वन्ध्यासुतं हिनस्मि इति अध्यवसायादिवत् व्यलीकत्वात्) मैं वंध्याके पुत्रको मारता हूं इसप्रकारके अध्यवसायादिकी तरह झूटा होनेसे (तदभावसाधनाय कथ इव अलं) सत्के अभावकी सिद्ध करनेकेलिए किसतरहसे भला समर्थ होगा अर्थात् किसी भी तरहसे समर्थ नहीं हो सकता है।

भावार्थः— जैसे तुच्छाभाव रूप पडनेवाले वन्ध्यासुतादिकको अलीक पदार्थ होनेसे उनका अभाव भी

अलीक पडता है। वैसेही सतको नहीं माननेवाले अर्थात् सत्को छोडकर केवल परिणाम माननेवाले क्षणिक वादियोंके यहा सत्का अभाव मानना भी अलीक पडता है।

क्षणिकैकान्त पक्षका बाधक युक्ति।

अपि यत्सत्तन्नित्यं तत्साधनमिह यथा तदेवेदम् ।
तदभिज्ञानसमक्षात् क्षणिकैकान्तस्य बाधकं च स्यात् ॥ ४३२ ॥

अन्वयार्थः— (अपि) और (इह) यहापर (यत् सत् तत् नित्य) जो सत् है वह नित्य है तथा (तत्साधनं) उसका साधन यह है कि (यथा) जैसे (तदेवेद) यह वही है (च) और (तत्) जो सत है वह नित्य है यह सिद्धांत (अभिज्ञानसमक्षात्) प्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे (क्षणिकैकांतस्य बाधकं स्यात्) क्षणिकैकांतका बाधक है।

भावार्थः-- तथा सतमें सदा 'तदेवेद' यह वही है इत्याकारक प्रत्यभिज्ञान होता है। इसलिए जो २ सत् है वह वह नित्य है यह प्रत्यभिज्ञान सिद्ध सिद्धान्त भी क्षणिकैकान्तका पूर्ण बाधक है।

क्षणिकैकान्तवदित्यपि नित्यैकान्ते न तत्वसिद्धिःस्यात् ।
तस्मान्न्यायादागतमिति नित्यानित्यात्मकं स्वतस्तत्वम् ॥ ४३३ ॥

अन्वयार्थः— (क्षणिकैकांतवत्) क्षणिकैकांतकी तरह (नित्यैकांते इत्यपि) नित्यैकांतमें भी (तत्वसिद्धिः न स्यात्) तत्वकी सिद्धि नहीं होती है (तस्मात्) इसलिए (न्यायात् इति आगतं) न्यायसे यह आगया कि (तत्वं) तत्व (स्वतः) स्वत ही (नित्यानित्यात्मकं) नित्यानित्यात्मक है।

भावार्थ -- इसलिए जिसकारणसे क्षणिकैकांतकी तरह नित्यैकान्तमें भी तत्वकी सिद्धि नहीं होती है तिस-कारणसे यह सिद्ध होता है कि तत्व स्वतः सिद्ध, नित्यानित्यात्मक है।

शंका।

ननु चैकं सदिति स्यात्किमनेकं स्यादथोभयं चैतत् ।
अनुभयमिति किं तत्व शेषं पूर्ववदथान्यथा किमिति ॥ ४३४ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (सदिति) सत् यह (किं एकं अनेकं स्यात्) क्या एक अथवा अनेक है (अथ च) अथवा (एतत् उभयं अनुभयं स्यात् इति) क्या यह उभयरूप है अथवा अनुभयरूप है अथवा (शेषं) शेषभंगरूप है अथवा (किं) क्या (पूर्ववत्) पूर्वकी तरह है (अथ) अथवा क्या (अन्यथा) अन्यप्रकार है (इति किं तत्वं) इसप्रकार यहांपर वास्तविक तत्व क्या है ?

भावार्थः— शंकाकारका प्रश्न है कि सत् एक है या अनेक है ? उभय रूप है या अनुभय रूप है ? पूर्ववत् है या अपूर्व है ? अर्थात् वास्तवमें तत्वका क्या स्वरूप है ?

समाधान ।

सत्यं सदेकमिति वा सदनेकं चोभयं च नययोगात् ।
न च सर्वथा सदेकं सदनेकं वा सदप्रमाणत्वात् ॥ ४३५ ॥

अन्वयार्थः— (सत्य) ठीक है क्योंकि (नययोगात्) नयके योगसे (सत् इति एकं) सत् यह एक है (वा) तथा (सदनेकं) सत् अनेक है (च) और (उभयं च) उभयरूपभी है परंतु (सर्वथा) सर्वथा (सदेकं) सत् एक (वा) अथवा (सदनेकं) सत् अनेक (न च) नहीं है कारणकि (तदप्रमाणत्वात्) सर्वथा एकांतको सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाणही नहीं है ।

भावार्थ — ठीक है, नय विवक्षावश सत् एक अनेक उभय आदि सबहीरूप है। किन्तु सर्वथा विशेषण पूर्वक कथन अप्रमाणिक होनेसे सत् सर्वथा एक अनेक उभय आदि किसी भी रूप नहीं है।

सत्के एकत्वमें युक्ति ।

अथ तद्यथा सदेकं स्यादविभिन्नप्रदेशवत्वाद्वा ।
गुणपर्यायांशैरपि निरंशदेशादखण्डसामान्यात् ॥ ४३६ ॥

अन्वयार्थः— (अथ तद्यथा) अब उसका खुलासा इसप्रकारका है कि (अविभिन्नप्रदेशत्वात्) प्रदेशोंके भिन्न न होनेसे तथा (गुणपर्यायांशैरपि) गुण और पर्यायरूप अंशोंके द्वारा (निरंशदेशात्) देशको

अंश रहित होनेके कारण (अखण्डसामान्यात् वा) और सामान्यदृष्टिसे खंड कल्पनाके न होनेसे (सत् एकं स्यात्) सत् एक हैं।

भावार्थः—सत् अभिन्न प्रदेशी है तथा गुणपर्यायोंके द्वारा भिन्न कल्पनाके किये जानेपर भी, सामान्य रूपसे सत अखण्डही रहता है। इसलिए वह (सत्) एक है।

द्रव्यक्षेत्रादिककी अपेक्षासे एकत्व किस प्रकार है, बताते हैं।

द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेनापिह चाथ भावेन।
सदखण्डं नियमादिति यथाधुना वक्ष्यते हि तल्लक्ष्म ॥ ४३७ ॥

अन्वयार्थः—(हि) निश्चयसे (द्रव्येण) द्रव्यके द्वारा (च) और (क्षेत्रेण) क्षेत्रके द्वारा (अपि) तथा (कालेन) कालके द्वारा (अथ च) और (भावेन) भावके द्वारा (इह) यहांपर (नियमात्) नियमसे (यथा) जैसे (सत् इति अखण्ड) सत यह अखड है—एक है (तथा) वैसेही (अधुना) इससमय (तल्लक्षणं) उसका लक्षण (वक्ष्यते) कहा जाता हैं।

भावार्थः—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके द्वारा वह सत अखण्ड कैसे सिद्ध होता है इसका ग्रन्थकार लक्षण पूर्वक आगे निरूपण करते हैं।

गुणपर्ययवत्में भी एकत्वकी युक्ति।

गुणपर्ययवद्द्रव्यं तद्गुणपर्ययवपुः सदेकं स्यात्।
नहि किंचिद्गुणरूपं पर्ययरूपं च किंचिदंशांशैः ॥ ४३८ ॥

अन्वयार्थः—('यत्, गुणपर्ययवतद्द्रव्यं) जो गुण पर्यायवाला द्रव्य है (तत्) वही (गुणपर्ययवपु) गुणपर्यायका शरीर (एकं सत् स्यात्) एक सत है किंतु (किंचिद् गुणरूपं) कुछ गुणरूप (च) और (किंचित्) कुछ (अंशांशैः) अविभागी अंशोंके द्वारा (पर्ययरूपं) पर्यायरूप (न हि) नहीं है।

भावार्थ —द्रव्यकालक्षण जो गुणपर्यायवान किया गया है उसका अर्थ, कुछ अंशोंसे गुणरूप और कुछ अविभाग प्रतिच्छेदों द्वारा सत, गुण व पर्याय रूप होकर गुणपर्यायवाला है ऐसा नहीं समझना चाहिए। किन्तु सत, एक होकरके गुणपर्यायमयही है यही अर्थ 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' का मानना चाहिए।

दृष्टान्त ।

रूपादितन्तुमानिह यथा पटः स्यात्स्वयं ही तद्द्वैतम् ।
नहि किंचिद्रूपमयं तन्तुमयं स्यात्तदंशगर्भांशैः ॥ ४३९ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसेकि (इह) यहांपर (रूपादितन्तुमान्) रूपादितंतुयुक्त (पटः) पट (हि) निश्चयकरके (स्वयं) स्वय (तद्द्वैतं स्यात्) रूपादि और तंतुसे युक्त द्वैतरूप कहा जाता है परंतु (तदांशगर्भांशैः) उसके अशोंमें गर्भित दूसरे अंशोंके द्वारा वह पट (किंचित्) कुछ (रूपमयं) रूपमय तथा कुछ (तन्तुमयं) तंतुमय (न हि स्यात्) नहीं हैं ।

भावार्थः— जैसे पट जो रूपादि तन्तुमान है अर्थात् रूपादि गुणों और तन्तुओंसे युक्त कहा जाता है उसका यह अर्थ नहीं होता है कि पट कुछ अंशोंसे रूपादिरूप तथा कुछ अंशोंमे तन्तुरूप होता हुआ मिलकर रूपादि तन्तु युक्त है। किन्तु पट स्वयही रूपादिगुणमय व तन्तुमयही है ऐसा अर्थ होता है अर्थात जैसे 'रूपादितन्तुमान् पटः, इस शब्दमें अभेद साधक मतुप् प्रत्यय है । वैसेही 'गुणपर्ययवद्द्रव्य, इस द्रव्यके लक्षणमें भी अभेद साधक मतुप् प्रत्यय है। अतएव अभिन्न प्रदेशी होनेसे द्रव्य एक है ।

किन्तु ऐसी आशका नही करना चाहिये ।

न पुनर्गोरसवदिदं नानासत्त्वैकसत्त्वसामान्यम् ।
साम्मिलितावस्थायामपि घृतरूपं च जलमयं किंचित् ॥ ४४० ॥

अन्वयार्थः— (पुनः) और (इदं) यह सत (सम्मिलितावस्थायामपि) सम्मिलित अवस्थामे भी (किंचित) कुछ (घृतरूपं) घृतरूप (च) और कुछ (जलमयं) जलरूप (नानासत्वैकसत्वसामान्यं) नानासत्ताओंमें एकसत्वरूप सामान्यसत्ताको धारण करनेवाले (गोरसवत् न) नैयायिकोंके गोरसके दृष्टांतकी तरह नहीं हैं ।

भावार्थ — यहांपर ऐसी आशका नहीं करना चाहिये कि जैसे नैयायिकोंके यहा गोरसमें जलांश व घृतांश की व्याप्यसत्ता भिन्न २ होकरके भी गोरसत्वकी व्यापकसत्ता सब साम्मिलित अवस्थाओंमें समानरूपसे रहती है। वैसेही

गुण तथा पर्यायकी व्याप्यसत्ता भिन्न २ होकर भी सम्मिलित अवस्थाओंमे अर्थात् द्रव्यको गुणपर्यायवान् कहते समय सामान्य रूपसे व्यापक द्रव्यत्व रहता है।

गुणपर्याय व द्रव्यमें कनकोपलके समान अशक्य विवेचनत्व एकत्वका नियामक नहीं हैं।

आपि यदशक्यविवेचनमिह न स्याद्वा प्रयोजकं यस्मात् ।
क्वचिदश्मनि तद्भावान्माभूत्कनकोपलद्वयाद्वैतम् ॥ ४४१ ॥

अन्वयार्थः— (**अपि**) तथा (**इह**) यहांपर (**यत् अशक्यविवेचनं**) जो अशक्य विवेचन है वह भी (**प्रयोजकं वा नस्यात्**) प्रयोजक नहीं हैं (**यस्मात्**) जिससे कि (**क्वचित् अश्मनि**) किसी सुवर्ण पत्थरमें (**तद्भावात्**) अशक्य विवेचनके सद्भावसे (**कनकोपलद्वयाद्वैत**) कनक और उपल इन दोनोंका अद्वैत (**माभूत्**) नहीं माना जावे।

भावार्थः— तथा यह भी आशंका नही करना चाहिये कि जैसे कनकोपलमें पृथक्करण अशक्य होनेसे एकत्व रहता है वैसेही द्रव्यमे, गुण व पर्यायोंका पृथक्करण अशक्य होनेसे एकत्व है। क्योंकि वह कनकोपल कभी न कभी पृथक् किया जा सकता है। किन्तु द्रव्य, गुणादिकसे कभी पृथक् नहीं किया जा सकता है। इसलिए कनकोपलके अशक्य विवेचनका दृष्टांत गुण पर्यायके विषयमें उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है।

किन्तु अखण्ड वस्तुत्व एकत्वका नियामक है।

तस्मादेकत्वम्प्रति प्रयोजकं स्यादखण्डवस्तुत्वं ।
प्रकृतं यथा सदेकं द्रव्येणाखण्डितं मतं तावत् ॥ ४४२ ॥

अन्वयार्थः— (**तस्मात्**) इसलिए (**एकत्वं प्रति प्रयोजकं**) एकत्वके प्रति प्रयोजक अर्थात् एकत्वका साधक (**अखण्ड वस्तुत्वं स्यात्**) अखंड वस्तुता है (**यथा**) जैसे (**यावत्**) जितना (**प्रकृतं एकं सत्**) प्रकृत एक सत् है (**तावत्**) उतनाही वह सत् (**द्रव्येण अखण्डितं मतं**) द्रव्यसे अखंडित माना गया हैं।

भावार्थ— इसलिए यह सिद्ध होता हैं कि एकत्वपनेका साधक केवल अखण्ड वस्तुपना है। और सत् द्रव्यपनेसे अखण्डित होनेके कारण एक माना गया है। अतः जितना भी सत् है वह सब द्रव्यपनेसे अखण्डित है।

[illegible]

[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]

[illegible]

इस (असिद्ध दृष्टांतात्) असिद्ध दृष्टांतसे (तत्) वह सत् (यथेच्छं) यथेच्छरूपसे (न च भवति) अनेक हेतुक नहीं होता हैं ।

भावार्थः— ठीक है, सत् अनेक तथा अनेकहेतुक है किन्तु सत्में अनेकता सिद्ध करनेके लिये छायादर्शका दृष्टान्त वक्ष्यमाण प्रकारसे असिद्ध है । इसलिये छायादर्शकी तरह अनेक हेतुक नहीं है। किन्तु सत्में अनेकताकी प्रतीति होती है इसलिए वह अनेक है ।

छायादर्श दृष्टान्तके विषयमें विचार ।

प्रतिबिम्बः किल छाया वदनादर्शादिसन्निकर्षाद्वै ।
आदर्शस्य सा स्यादिति पक्षे सदसादिव वाऽन्वयाभवः ॥ ४४६ ॥

यदि वा सा वदनस्य स्यादिति पक्षोऽसमीक्ष्यकारित्वात् ।
व्यातिरेकाभावः किल भवाति तदास्यस्य सतोप्यछायत्वात् ॥ ४४७ ॥

अन्वयार्थः— (वै) निश्चय करके (वदनादर्शादिसन्निकर्षात्) मुख और दर्पणके सन्निकर्षसे होनेवाले (प्रतिबिंबः किल) प्रतिबिंबका नाम (छाया) छाया है तथा (सा) वह छाया (आदर्शस्य) दर्पणकी (स्यात्) होता है (इति पक्षे) इस प्रकारके पक्षमें (सदसदिव) सत् असत्की तरह हो जायगा (वा) अथवा (अन्वयाभावः) अन्वयका अभाव हो जायगा ।

(यदि वा) अथवा यदि (असमीक्ष्यकारित्वात्) असमीक्ष्यकारीपनेसे अर्थात् विनाविचारे (सा) वह छाया (वदनस्य स्यात्) मुखकी होती है (इति पक्षः) यह पक्ष माना जायगा तो (तदा) उस समय (किल) निश्चयसे (व्यतिरेकाभाव) व्यतिरेकका अभाव (१) (भवति) होजायगा क्योंकि (आस्यस्य सतोऽपि) मुखके रहते हुए भी (अच्छायत्वात्) छाया नहीं होती हैं—रहती हैं ।

[भावार्थ परिशिष्टमें देखीए ।] (१)

उपसंहार ।

एतेन निरस्तोभून्नानासत्वैकसत्ववादीति ।
प्रत्येकमनेकम्प्रति सद्द्रव्यं सन्गुणो यथेत्यादि ॥ ४४८ ॥

अन्वयार्थ — (**एतेन**) इस उपर्युक्त कथनसे (**यथा**) जैसेकि (**सत् द्रव्यं**) सत् द्रव्य है (**सन्गुणः**) सत् गुण है (**इत्यादि**) इत्यादिक (**प्रत्येकं अनेकं प्रति**) एक २ करके (**नानासत्वैकसत्व वादी इति**) नाना सत्वोंमें व्यापक रूपसे एक सत्वको कहनेवाला वादी (**निरस्तः अभूत्**) खंडित होगया अर्थात् द्रव्यसे गुणादिककी भिन्न सत्ता माननेवालेका खंडन किया।

भावार्थः— इसप्रकार गुणपर्यायकी भिन्न २ व्याप्यसता मानकरके, व्यापक रूपसे द्रव्यकी सत्ताको कहने-वालोंका खण्डन करते हुए, द्रव्यकी अपेक्षा एकत्वको युक्तिपूर्वक सिद्ध करके अब आगे क्षेत्रकी अपेक्षा एकत्वका विचार करते है।

क्षेत्रकी व्याख्या।

क्षेत्रं प्रदेश इति वा सदधिष्ठानं च भूर्निवासश्च ।
तदपि स्वयं सदेव स्यादपि यावन्न सत्प्रदेशस्थम् ॥ ४४९ ॥

अन्वयार्थ — (**प्रदेश इति**) प्रदेश यह [**वा**] अथवा [**सदधिष्ठानं**] सत्का आधार [**च**] और (**भूः**) सत्की भूमि [**च**] तथा [**निवासः**] सत्का निवास [**क्षेत्रं**] क्षेत्र हैं और (**तदपि**) वह क्षेत्र भी [**स्वय**] स्वयं [**सदेव स्यात्**] सत् रूपही है [**अपि**] किंतु [**प्रदेशस्थं यावत् सत् ' तावत् न ,**] प्रदेशोंमें रहनेवाला जितना सत् है उतना वह क्षेत्र नहीं हैं।

भावार्थः— सत्के अधिष्ठान, सतकी भूमि, और सत्के निवासको क्षेत्र कहते है। अर्थात् जिस द्रव्यके जितने प्रदेश है उस द्रव्यकी उतनी खण्डकल्पनाको उसका क्षेत्र कहते हैं। इसलिए प्रत्येक द्रव्यका क्षेत्र भी स्वयंसत् रूप पडता है। जितने आकाशमें जो द्रव्य रहता है उतना आकाश, उस द्रव्यका क्षेत्र है ऐसा नहीं माना गया है। किन्तु उतने आकाशके बराबर द्रव्यकी प्रदेश कल्पनाको स्वक्षेत्र माना है।

द्रव्यके प्रदेश तीन प्रकारके हैं।

अथ ते त्रिधा प्रदेशाः कचिन्निरंशैकदेशमात्रं सत् ।
कचिदपि च पुनरसंख्यदेशमयं पुनरनन्तदेशवपुः ॥ ४५० ॥

अन्वयार्थ— [**अथ**] अब (**ते प्रदेशा**) वे प्रदेश [**त्रिधा**] तीन प्रकारके है उनमेंसे [**कचित्**]

किसी द्रव्यमें [सत्] सत् (निरंशैकदेशमात्रं) निरंश एक प्रदेशवाला है (अपि च) और (क्वचित्पुनः) किसी द्रव्यमें (असख्यदेशमयं) असंख्यात प्रदेशवाला है [पुनः] तथा किसी द्रव्यमें [अनन्तदेशवपुः] अनंत प्रदेशवाला हैं।

भावार्थ — द्रव्योंके प्रदेश तीन प्रकारके है। एक, असख्यात और अनन्त। उनमेंसे शुद्ध परमाणु तथा कालाणु एक प्रदेशी है। धर्म अधर्म तथा जीव, ये लोकके बराबर असंख्यात प्रदेशी है। और आकाश अनन्त प्रदेशी है। तथा पुद्गल, उपचारसे संख्यात असख्यात और अनन्त प्रदेशी भी है। शंका समाधान।

ननु च द्व्यणुकादि यथा स्यादपि संख्यातदेशि सत्विति चेत्।
न यतः शुद्धादेशैरुपचारस्याविवक्षितत्वाद्वा ॥ ४५१ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (यथा) जैसे (द्व्यणुकादि) द्व्यणुकादिक (संख्यातदेशि स्यात्) संख्यात प्रदेशवाले है ('तथा,) वैसे (सत् अपि तु) सत् भी संख्यात प्रदेशवाला होना चाहिए (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो (न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (शुद्धादेशै) शुद्ध नयकी अपेक्षाओं द्वारा (उपचारस्य अविवक्षितत्वाद्वा) उपचारकी विवक्षाही नहीं होती है।

भावार्थः— यदि कदाचित कहो कि जिस प्रकार पुद्गलस्कन्ध संख्यात प्रदेशी है उसी प्रकार सतको भी सख्यात प्रदेशी कहना चाहिए तो यह कहनाभी ठीक नहीं है। क्यों कि यहापर शुद्ध द्रव्यके प्रदेशोंकी अपेक्षासे कथन है। और द्व्यणुकादिक स्कन्ध पुद्गलकी पर्यायें हैं। इसलिए उनकी विवक्षा नहीं की गई है। अतएव सख्यात प्रदेशी कोई द्रव्य नहीं कहा गया है। क्षेत्रमें एकत्व तथा अनेकत्वकी कल्पनाकी उपपत्ति।

अयमर्थः सद्द्वेधा यथैकदेशीत्यनेकदेशीति।
एकमनेकं च स्यात्प्रत्येकं तन्नयद्वयान्न्यायात् ॥ ४५२ ॥

अन्वयार्थः— (अयं अर्थः) सारांश यह है कि (यथा) जैसे (एकदेशी इति) एकदेशी और (अनेकदेशी इति) अनेक देशी इस प्रकारसे (सद्द्वेधा) सत् दो प्रकारका है वैसेही (तत् प्रत्येकं) वह प्रत्येक (नयद्वयात् न्यायात्) दोनों नयोंके न्यायसे (एकं) एक (च) और (अनेक स्यात्) अनेक भी है।

भावार्थः— सारांश यह है कि सत् दो प्रकारका है। १ एक प्रदेशी और दूसरा अनेक प्रदेशी। और वह सत् द्रव्यार्थिक नयसे एक, तथा पर्यायार्थिक नयसे अनेक भी है। अर्थात् एक प्रदेशी तथा अनेक प्रदेशी द्रव्योंमें, व्यवहार नयकी अपेक्षासे अनेकत्वकी विवक्षा की जा सकती है। तथा द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे उन सव प्रदेशोंमें एकत्व रहता है इसलिए एकत्वकी भी विवक्षा की जा सकती है। यहां प्रकरण एकत्वका है। अत. आगेके पद्यसे एकत्वकी विवक्षाका निरूपण करते हैं।

क्षेत्रकी अपेक्षा एकत्वमें युक्ति।

अथ यस्य यदा यावद्यदेकदेशे यथा स्थितं सदिति।
तत्तावत्तस्य तदा तथा समुदितं च सर्वदेशेषु ॥ ४५३ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ**) अब सत् एक किस प्रकारसे है इसे बताते है कि (**यदा**) जिस समय (**यस्य**) जिसके (**एकदेशे**) एकदेशमें (**यावत्**) जितना (**यत्**) जो (**यथा**) जैसे (**सदिति स्थितं**) सत् यह स्थित है (**तदा**) उसी समय (**तस्य**) उसके (**सर्वदेशेषु च**) सर्व देशोंमें भी (**तावत्**) उतना (**तत्**) वही सत् (**तथा**) वैसेही (**समुदितं**) समुदित है—एकत्रित है।

इत्यनवद्यमिदं स्याल्लक्षणमुद्देशि तस्य तत्र तथा।
क्षेत्रेणाखण्डितत्वात् सदेकमित्यत्र नयविभागोऽयम् ॥ ४५४ ॥

अन्वयार्थः— (**इति**) इसप्रकारसे (**तस्य**) उस सत्का (**तत्र**) क्षेत्रके विषयमें (**यथा**) जैसे (**लक्षणं उद्देशि**) लक्षण कहा था वैसे (**इदं अनवद्यं स्यात्**) यह लक्षण निर्दोष है क्योंकि (**क्षेत्रेणाखण्डितत्वात्**) क्षेत्रके द्वारा अखंडित होनेके कारण (**सदेकं**) सत् एक है (**इति**) इसलिए (**अत्र**) क्षेत्रकी अपेक्षासे सत्को एक कहनेमें (**अयं नयविभागः**) यही नय विभाग है।

भावार्थ — अनेक प्रदेशी द्रव्योंमें जिससमय उनके किसी एक प्रदेशमें जितना और जैसा जो सत् है उस-समय उनके संपूर्ण प्रदेशोंमें भी उतना तथा वैसा वह सत् है। इसलिए जो हमनें क्षेत्रके विषयमें लक्षण निर्देश किया था कि क्षेत्रकी अपेक्षा अखाण्डित होनेसे सत् एक है वह हमारा कथन उपर्युक्त युक्तिपूर्वक प्रतिपादित होनेसे निर्दोष है अर्थात् क्षेत्रकी अपेक्षा होते हुए भी, द्रव्यपनेसे द्रव्यके वे प्रदेश खाण्डित नहीं किये जा सकते हैं। इसलिए क्षेत्रकी अपेक्षा

अखंडित होनेसे भी द्रव्य एक है। किन्तु ऐसा नहीं है।

न पुनश्चैकापवरकसंचरितानेकदीपवत्सादिति ।
हि यथा दीपसमृद्धौ प्रकाशवृद्धिस्तथा न सद्वृद्धिः ॥ ४५५ ॥

अपि तत्र दीपशमने कस्मिंश्चित्तत्प्रकाशहानिः स्यात् ।
न तथा स्यादविवक्षितदेशे तद्धानिरेकरूपत्वात् ॥ ४५६ ॥

अन्वयार्थः— (पुनः) और (सदिति) सत् यह (एकापवरकसंचरितानेकदीपवत् न च) एक कोठेमें रक्खे हुए अनेक दीपोंकी तरह भी नहीं है (हि) क्योंकि (यथा) जैसे (दीपसमृद्धौ) दीपकोंकी समृद्धि– वृद्धि होनेपर (प्रकाशवृद्धि) प्रकाशकी वृद्धि होती है (तथा) वैसे (सद्वृद्धिः) सत्की वृद्धि (न) नहीं होती है ।

(अपि) तथा (तत्र) उन दीपकोंमेंसे (कस्मिंश्चित्) किसी एक (दीपशमने) दीपकके बुझ जानेपर जैसे (तत् प्रकाशहानि स्यात्) उसके प्रकाशकी हानी होती है (तथा) वैसे (अविवक्षितदेशे) सतके किसी एक देशकी विवक्षा न करनेपर (एकरूपत्वात्) सतको एकरूप होनेसे (तद्धानिः) उसकी हानी (न स्यात्) नहीं हो सकती है ।

भावार्थ — तथा सत्को, एक कोठेमें रक्खे हुए अनेक दीपोंके समान मानना भी ठीक नहीं है । क्योंकि दीपोंकी संख्याकी न्यूनाधिकतासे जैसे प्रकाशमें न्यूनाधिकता मानी जाती है वैसे सतकी क्षेत्रकृत मुख्य और गौणरूपसे विवक्षा तथा अविवक्षा होनेपर उसमें वृद्धि व हानि नहीं मानी जाती है।

नियतनिजाभोगदेशमात्रत्व, एकत्वका नियामक नहीं है।

नात्र प्रयोजकं स्यान्नियतनिजाभोगदेशमात्रत्वम् ।
तदनन्यथात्वासिद्धौ सदनेकं क्षेत्रतः कथं स्याद्वा ॥ ४५७ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) यहांपर क्षेत्रकी अपेक्षासे सतको एक सिद्ध करनेमें (नियतनिजाभोग देशमात्रत्व) केवल अपना २ विस्ताररूप देशपना (प्रयोजकं न स्यात्) प्रयोजक नहीं है अर्थात् जिस द्रव्यका

जितना आभोग विस्तार है उतनाही रहता है यह, क्षेत्रकी अपेक्षासे एक कहनेका प्रयोजन नहीं है किंतु पूर्वोक्त कथनसे अखंडित होनेके कारण ही सत एक है यह प्रयोजन है क्योंकि (तदनन्यथात्वसिद्धौ) उसके अनन्यथापनेकी सिद्धि होनेपर अर्थात क्षेत्रकी अपेक्षासे यदि द्रव्य सदैव आभोगमात्रही रहता है ऐसा माननेपर (क्षेत्रतः) क्षेत्रकी अपेक्षासे (सत्) सत (अनेकं) अनेक (कथं वा स्यात्) किस तरहसे होगा ?

भावार्थः— प्रत्येक द्रव्य अपने नियत आभोगदेशमात्र है अर्थात जिस द्रव्यके जितने प्रदेश हैं उतने प्रदेशोंमेंही वह द्रव्य रहता है यहभी क्षेत्रकी अपेक्षा एकत्वका प्रयोजक नहीं है। कारणकि वैसा माननेसे किसी प्रकार अन्यथापनेकी संभावनाही नहीं होती है तो फिर क्षेत्रकी अपेक्षासे सत अनेक कैसे कहा जा सकेगा।

प्रदेशोंके संहार तथा विसर्पसे अनेकता नहीं मानी जा सकती।

> सदनेकं देशानामुपसंहारात्प्रसर्पणादिति चेत् ।
> न यतो नित्यविभूनां व्योमादीनां ताद्धि तदयोगात् ॥ ४५८ ॥
>
> अपि परमाणोरिह वा कालाणोरेकदेशमात्रत्वात् ।
> कथमिव सदनेकं स्यादुपसंहारप्रसर्पणाभावात ॥ ४५९ ॥

अन्वयार्थ — (**देशानां उपसंहारात्प्रसर्पणात्**) प्रदेशोंके संहार और प्रसर्पण–संकोच और विस्तारसे (**सत् अनेक**) सत् अनेक है (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहोतो यह कहना (**न**) ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**हि**) निश्चयसे (**नित्यविभूनां**) नित्य तथा व्यापक (**व्योमादीनां**) आकाशादिकके (**तदयोगात्**) संकोच और विस्तारका अभाव होनेसे (**तत न**) अनेकत्व नहीं हो सकता है

(**अपि**) तथा (**इह**) यहापर (**परमाणोः**) परमाणुको (**वा**) अथवा (**कालाणोः**) कालाणुको (**एकदेशमात्रत्वात्**) केवल एक प्रदेशवाला होनेसे (**उपसंहारप्रसर्पणाभावात्**) संकोच तथा विस्तारके अभाव होनेके कारण (**सत्**) सत (**कथमिव**) किस तरह (**अनेकं स्यात्**) अनेक होगा ?

भावार्थः— यदि कदाचित यह कहा जाय कि प्रदेशोंके संकोच तथा विस्तारसे क्षेत्रकी अपेक्षा अनेकत्व मानलिया जायगा तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि नित्य और व्यापक माने हुए धर्म अधर्म तथा आकाश द्रव्य

में कभी भी संकोच विस्तार होनेकी सभावना न होनेसे, क्षेत्रकी अपेक्षा अनेकत्व सिद्र नहीं हो सकेगा। तथा शुद्ध परमाणु और कालाणुको एक प्रदेशी होनेसे, उनमें भी संकोच व विस्तारका होना सभव नहीं होगा। इसलिए धर्म, अधर्म, आकाश, शुद्ध परमाणु तथा कालाणुमें संकोच व विस्तारका अभाव होनेसे, क्षेत्रकी अपेक्षा अनेकत्व किसी तरह, सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतएव नियत निजाभोगमात्रत्व, क्षेत्रकी अपेक्षासे एकत्वमें प्रयोजक नहीं है।

अशक्य विवेचनपनेसे एकत्व, और संख्याकी अनेकतासे अनेकत्वके विषयमें शंका।

ननु च सदेकं देशैरिव संख्यां खण्डयितुमशक्यत्वात् ।
अपि सदनेकं देशैरिव संख्यानेकतो नयादिति चेत् ॥ ४६० ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शकाकारका कहना है कि (देशैरिव) देशोंकी तरह (संख्यां खडयितुं) संख्याको खंडित करनेके लिए (अशक्यत्वात्) असमर्थ होनेसे (सदेकं) सत एक है (अपि) और (देशैरिव) देशोंकी तरह (संख्यानेकत नयात्) संख्या अनेक हैं इसनयसे (सदनेकं) क्षेत्रकी अपेक्षा सत् अनेक है (इति चेत) यदि ऐसा कहो तो–

भावार्थ — द्रव्यदृष्टिसे देशोंकी तरह प्रदेश संख्याको खडित नहीं हो सकनेसे, सत्को एक, और पर्यायदृष्टीसे द्रव्योंके संख्याकी तरह प्रदेशोंकी संख्याकों भी भिन्न हो सकनेके कारण, सतको अनेक मानना चाहिए ? अर्थात् अशक्य विवेचनपना एकत्वका, तथा प्रदेशोंकी सख्याकी अनेकता अनेकत्वका कारण मानना चाहिये।

उत्तर।

न यतोऽशक्यविवेचनमेकक्षेत्रावगाहिनां चास्ति ।
एकत्वमनेकत्वं नहि तेषां तथापि तदयोगात् ॥ ४६१ ॥

अन्वयार्थः— (न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (अशक्यविवेचन) अशक्यविवेचन (एकक्षेत्रावगाहिनां च) एकक्षेत्रावगाहि द्रव्योंके भी (अस्ति) है (तथापि) तो भी (तेषां) उन एक क्षेत्रावगाही द्रव्योंमें (तदयोगात) एकत्व नहीं है इसलिए (एकत्वं अनेकत्वं न हि) शंकाकारके उक्त कथनानुसार क्षेत्रकृत एकत्व तथा अनेकत्व नहीं है।

भावार्थः— अशक्याविवेचन अर्थात् पृथकरण न कर सकना तो एक क्षेत्रावगाही धर्माधर्मादिक द्रव्योंमे भी संभव है। यदि केवल अशक्याविवेचनही एकत्वका कारण समझा जायगा तो एक क्षेत्रावगाही नाना द्रव्योंको भी एक-मानने पडेगा। इसलिए केवल अशक्यविवेचनपनेसे एकत्व सिद्ध नहीं हो सकता है।

शंका।

ननु ते यथा प्रदेशाः सन्ति मिथो गुम्फितैकसूत्रत्वात् ।
न तथा सदनेकत्वादेकक्षेत्रावगाहिनः सन्ति ॥ ४६२ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**यथा**) जैसे (**मिथः**) परस्परमें (**गुम्फितैकसूत्रत्वात्**) एक सूत्रमें गुथे हुएके कारण (**ते प्रदेशाः**) एक द्रव्यके स्वक्षेत्ररूप वे प्रदेश (**संति**) होते हैं (**तथा**) वैसे (**सदनेकत्वात्**) सत्को अनेक होनेसे (**एकक्षेत्रावगाहिनः**) एक क्षेत्रावगाही उन आकाशादिक भिन्न द्रव्योंके प्रदेश (**न सन्ति**) नहीं होते हे।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि एक द्रव्यके प्रदेश जिसप्रकार परस्पर एक द्रव्यत्वके सूत्रमें गुथे हुये रहते है। उस प्रकार एक क्षेत्रावगाही नाना द्रव्योंके प्रदेश परस्परमें एक द्रव्यत्वके सूत्रमे गुथे हुये नहीं रहते है। इसलिए एक क्षेत्रावगाही नाना द्रव्योमें एकत्व कैसे आ सकेगा।

उत्तर।

सत्यं तत्र निदानं किमिति तदन्वेषणीयमेव स्यात् ।
येनाखंडितमिव सत् स्यादेकमनेकदेशवत्त्वेपि ॥ ४६३ ॥

अन्वयार्थः— (**सत्यं**) ठीक है किंतु (**तत्र निदानं कि इति**) उसमें निदान क्या है (**तद् एव अन्वेषणीयं स्यात्**) वहही पहले ढूंढना चाहिए–खोजना चाहिए कि (**येन**) जिसके द्वारा (**अनेकदेशवत्त्वेऽपि**) अनेक प्रदेशी होनेपर भी (**सत्**) सत् (**एक**) एक और (**अखण्डित इव**) अखंडितसा प्रतीत (**स्यात्**) होता है।

भावार्थः— ठीक है, परतु उस[1] एकत्वमें मूलकारण क्या है। वही खोजना चाहिये कि जिसके द्वारा द्रव्य

---

1 मूल पुस्तकमें ' सदेकत्वात् , पाठ है।

में अनेक प्रदेशीपनेके रहते हुए भी सत अखण्डितकी तरह एक प्रतीत होता है।

शंका।

ननु तत्र निदानमिदं परिणममाने यदेकदेशेऽस्य।
वेणोरिव पर्वसु किल परिणमनं सर्वदेशेषु ॥ ४६४ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**तत्र**) उस विषयमें (**इद निदान**) यह निदान है कि (**यत्**) जो (**अस्य**) इस सतका (**एकदेशे परिणममाने**) एक देशमें परिणमन होनेपर (**वेणोः पर्वसु इव**) जैसे वेणु–बांसके एक देशमें परिणमन होनेपर संपूर्ण पर्वोमें परिणमन हो जाता है वैसेही (**किल**) निश्चयसे (**सर्वदेशेषु**) सत्‌के सब देशमें परिणमन हो जाता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जिस प्रकार बासकी एक पोर–गाठके हिलनेसे बासकी सभी गाठें हिल जाती हैं। इसलिए बांसकी सब गाठोमें एकबासपना है। उसी प्रकार द्रव्यके किसी एक देशमें परिणमन होनेपर द्रव्यके सब प्रदेशोमें परिणमन हो जाता है। यही द्रव्यके एकत्वका मूलकारण है।

उत्तर।

तन्न यतस्तद्ग्राहकमिव प्रमाणं च नास्त्यदृष्टांतात्।
केवलमन्वयमात्रादपि वा व्यतिरेकिणश्च तदसिद्धेः ॥ ४६५ ॥

अन्वयार्थः— (**तन्न**) वह ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**अदृष्टांतात्**) दृष्टांतके नहीं मिलनेसे (**तद्ग्राहकं**) उस एकत्वको ग्राहक (**प्रमाणं च इव**) प्रमाण ही (**नास्ति**) नहीं मिल सकता है और वह दृष्टांताभाव इस लिए है कि (**केवलं**) केवल (**अन्वयमात्रात्**) केवलान्वयी दृष्टांतसे (**अपि वा**) अथवा (**व्यतिरेकिण**) केवल व्यतिरेकी दृष्टांतसे भी (**तदसिद्धेः**) उसकी सिद्धि हो नहीं सकती है।

भावार्थ — बांसकी पर्वका दृष्टांत, एक प्रदेशके परिणमनसे सब प्रदेशोंके परिणमनके विषयमें उपयुक्त नहीं है। क्योंकि एक देशके परिणमनसे सब प्रदेशोंमें परिणमनका साधक कोई प्रमाणही प्रतीत नहीं होता है। और न कोई ऐसा दृष्टान्तही मिलता है जो कि अन्वय तथा व्यतिरेक दोनोंका साधक हो, और केवल अन्वय और केवल व्यतिरेकका साधक दृष्टान्त सच्चा दृष्टान्त नहीं कहा जा सकता है।

अन्वय पोषक कथनकी शंका तथा समाधान।

ननु चैकस्मिन् देशे कस्मिंश्चित्वन्यतरेऽपि हेतुवशात् ।
परिणमति परिणमति हि देशाः सर्वे सदेकतास्त्विति चेत् ॥ ४६६ ॥

न यतः सव्यभिचारः पक्षोऽनैकान्तिकत्वदोषत्वात् ।
परिणमति समयदेशे तद्देशाः परिणमन्ति नेति यथा ॥ ४६७ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (हेतुवशात्) कारणवश (कस्मिंश्चित् अन्यतरे-
ऽपि तु एकस्मिन् देशे परिणमति) द्रव्यके बहुत प्रदेशोंमेसे किसी एक प्रदेशके भी परिणमन करनेपर (हि)
निश्चयसे (सदेकत.) मतके एक होनेसे (सर्वे देशा) सब देश (परिणमन्ति) परिणमन करते हैं (इति
चेत् तु) यदि ऐसा कहो तो–

(न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (अनैकांतिकत्वदोषत्वात्) अनैकांतिक
दोषपनेसे (पक्षः) पक्ष (सव्यभिचारः) व्यभिचार सहित है (यथा) जैसे कि (समयदेशे परिणमति)
आत्माके किसी एक देशमें परिणमन होनेपर (तद्देशाः न परिणमन्ति इति) उसके सर्व देश परिणमन
नहीं करते है।

भावार्थः— यदि कदाचित् यह कहा जाय कि किसी कारणसे द्रव्यके किसी एक प्रदेशमें परिणमन होनेसे
द्रव्यके एक होनेके कारण, सब प्रदेशोंमे भी परिणमन हो जाता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि संसारी आ-
त्माके शेष प्रदेशोंमें परिणमन होनेपर भी आत्माके अचलित अष्ट मध्य प्रदेशोंमें हलन चलन नहीं होता है। इसलिए उक्त
कथन अनैकान्तिक दोषसे युक्त होनेसे व्यभिचरित है।

इसप्रकार शंकाकारके अन्वय कथनमें व्यभिचार दिखाकर आगे व्यतिरेक कथनमें दोष दिखाते है।

व्यतिरेकपोषक कथनकी शंका।

व्यतिरेके वाक्यमिदं यदपरिणमति सदेकदेशे हि ।
कश्चिदपि न परिणमति हि तद्देशाः सर्वतः सदेकत्वात् ॥ ४६८ ॥

अन्वयार्थः— (व्यतिरेके इदं वाक्यं) शंकाकारका कहना है कि व्यतिरेकके विषयमें यह वाक्य है कि (यत्) जो (हि) निश्चयसे (सदेकदेशो अपरिणमति) सत्के एक देशमें परिणमन नहीं होनेपर (सर्वतः सदेकत्वात्) सब प्रकारसे सतको एक होनेके कारण (क्वचिदपि) कहींपर भी (तद्देशाः) सत्के शेष देशोंमें (न हि परिणमन्ति) परिणमन नहीं होता है।

भावार्थ — शंकाकारका कथन है कि सत्को सर्वथा एक होनेसे, सत्के किसी एक देशमें परिणमन नहीं होनेके कारण, सत्के सभी प्रदेशोमें परिणमन नहीं होता है अतः यह व्यतिरेक व्याप्तिही क्षेत्रकी अपेक्षा सत्के एकत्वमें कारण है।

समाधान।

तन्न यतः सति सति वे व्यतिरेकाभाव एव भवति यथा।
तद्देशसमयभावैरखण्डितत्वात्सतः स्वतः सिद्धात् ॥ ४६९ ॥

अन्वयार्थः— (तन्न) शंकाकारका उपर्युक्त कहना भी ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (यथा) जैसे (सति सति) सत्के सदैव रहनेपर (वै) निश्चय करके (व्यतिरेकाभाव एव भवति) व्यतिरेकका अभाव ही है ('तथा,) वैसे ही (सतः स्वत सिद्धात्) सत्को स्वत सिद्ध होनेसे (तद्देशसमयभावैरखंडितत्वात्) वह उसके देश, काल, और भावोंके द्वारा भी अखंडित है।

भावार्थः— सत् सदैव रहता है अर्थात् उसके सदैव विद्यमान रहनेके कारण, उक्त प्रकारका व्यतिरेक कहाही नहीं जा सकता है। इसलिए जैसे स्वतः सिद्ध सत् सदैव विद्यमान होनेके कारण, अपने क्षेत्रकी अपेक्षा व्यतिरेकके अभाव वाला है। वैसेही वह अपने देश, काल और भावकी अपेक्षासे भी स्वयं अखण्डित है। अतः यही (केवल) अखण्डित पना वास्तवमें एकत्वका मूलकारण है।

उपसंहार।

एवं यकेपि दूरादपनेतव्या हि लक्षणाभासाः।
यदकिंचित्कारित्वादत्रानाधिकारिणोऽनुक्ताः ॥ ४७० ॥

अन्वयार्थः— (एवं) इसी प्रकार (हि) निश्चयसे (यकेऽपि) जो कोई और भी (लक्षणाभासाः) लक्षणाभास है वे भी (दूरादपनेतव्या) दूरसे ही छोडने योग्य है (यत) क्योंकि (अकिंचित्कारित्वात्) आकिंचि-

त्कारी होनेसें वे (अत्र) इस विषयमें (अनधिकारिणः) अनधिकारी है इसलिए (अनुक्ता) नहीं कहे हैं।

भावार्थः— इसी प्रकार और भी दूसरे लक्षणाभास त्याज्य समझना चाहिये। तथा उन्हें अकिंचित्कारी होनेके कारण, इस अधिकारमें उनका खंडन भी किसी प्रकार उपयुक्त न ठहरनेसे नहीं किया गया है।

इसप्रकार क्षेत्रकी अपेक्षा एकत्वका निरूपण करके अब आगे कालकी अपेक्षा एकत्वका विचार करते हैं।

कालकी अपेक्षा एकत्वमें युक्ति।

काल: समयो यदि वा तद्देशे वर्तनाकृतिश्चार्थात्।
तेनाप्यखण्डितत्वाद्भवति सदेकं तदेकनययोगात् ॥ ४७१ ॥

अन्वयार्थः— (कालः) काल नाम (समय) समयका है (यदि वा) अथवा (अर्थात्) परमार्थसे (तद्देशे) द्रव्यके देशमें (वर्तनाकृति च) वर्तनाके आकारका नाम भी काल है इसलिए (एकनययोगात्) द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टीसे (तत् सत्) वह सत् (तेनापि अखंडितत्वात्) उस कालके द्वारा भी अखंडित होनेसे (एकं भवति) एक होता है।

भावार्थः—काल शब्दका अर्थ समय, अथवा प्रत्येक द्रव्यका स्वाभाविक रीतिसे होनेवाली वर्तनाकृति, होता है। उसके द्वारा भी द्रव्यार्थिकनयसे वस्तु अखण्डित है। इसलिए स्वकालकी अपेक्षासे भी सत् एक है अर्थात् सत् स्वभावसे परिणामी है। और उसमें परिणमनके होते हुएभी सतका अन्वय बराबर रहता है। कभी भी सतके अन्वयका विच्छेद नहीं होता है। इसलिए द्रव्यार्थिकनयसे अखंडित होनेके कारण, सत् कालकी अपेक्षा एक है।

स्पष्टीकरण

अयमर्थः सन्मालामिह संस्थाप्य प्रवाहरूपेण।
क्रमतो व्यस्तसमस्तैरितस्ततो वा विचारयन्तु बुधाः ॥ ४७२ ॥

तत्रैकावसरस्थं यद्यावद्यादृगास्ति सत्सर्वम्।
सर्वावसरसमुदितं तत्तावत्तादृगस्ति सत्सर्वम् ॥ ४७३ ॥

न पुनः कालसमृद्धौ यथा शरीरादिवृद्धिरिति वृद्धिः।
अपि तद्धानौ हानिर्न तथा वृद्धिर्न हानिरेव सतः ॥ ४७४ ॥

अन्वयार्थः— (अयं अर्थ) सारांश यह है कि (इह) यहापर (प्रवाहरूपेण) प्रवाह रूपसे उर्ध्व कल्पनासे (सन्मालां) सतकी मालाको (संस्थाप्य) स्थापित करके (क्रमतः) क्रमपूर्वक (व्यस्तसमस्तैः) व्यस्त तथा समस्तरूपके द्वारा (इतस्ततः वा) पूर्वापार रीतिसे ही (बुधा) विद्वान लोग (विचारयन्तु) विचार करें तो [तत्र] उन सब समयोंमेंसे [एकावसरस्थं] एक समय रहनेवाला [यत] जो [यावत्] जितना और [यादृक्] जिस प्रकारका [सर्वं सत् अस्ति] संपूर्ण सत् है [तत्] वही [तावत्] उतना और [तादृक्] उसी प्रकारका [सर्वं सत्] संपूर्ण सत (सर्वावसरसमुदितं अस्ति) समुदित सब समयोंमें भी है [न पुनः) किंतु ऐसा नहीं है कि (यथा) जैसे (कालसमृद्धौ) कालकी वृद्धि होनेपर (शरीरादिवृद्धिः) शरीरादिककी वृद्धि होती है (इति) उसप्रकारकी (वृद्धि) वृद्धि (अपि) तथा (तद्धानौ) कालकी हानि होनेपर (हानिः) शरीरकी हानि होती है (तथा) वैसे (सतः) सतकी (वृद्धि न) वृद्धि नहीं होती हैं और (न हानिः एव) न हानि ही होती है।

भावार्थः— उक्त कथनका साराश यह है कि क्रमपूर्वक प्रवाहरूपसे परिवर्तन शील सतकी परम्पराको रखकर यदि विद्वान् लोग व्यस्त तथा समस्त रूपसे विचार करें तो उस सतकी परम्परामें एक समयमें जो जैसा और जितना सत् लक्ष्यगोचर होता है उतना वैसा तथा वही सत सम्पूर्ण समयोंमें भी समुदित रूपसे प्रतीत होता है। किन्तु जैसे कालकी वृद्धि व हानिके कारण शरीरादिककी वृद्धि तथा हानि होती है वैसे कालकृत वृद्धि और हानि द्रव्यार्थिकनयसे सतमें उपलब्ध नहीं होती है। अतः कालकी अपेक्षासे भी सत एक है।

शंका।

ननु भवति पूर्वपूर्वभावध्वंसान्नु हानिरेव सतः।
स्यादपि तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन वृद्धिरेव सतः ॥ ४७५ ॥

१ मूल पुस्तकमें 'वृद्धौ' पाठ है।

अन्वयार्थ— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**नु**) विचार करनेपर (**पूर्वपूर्वभावध्वंसात्**) पूर्व पूर्व भावोंके नाश होनेसे (**सत**) सतकी (**हानिः एव भवति**) हानि ही होती है (**अपि**) और (**तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन**) उस सतके उत्तरोत्तर भावोंका उत्पाद होनेसे (**सतः**) सतकी (**वृद्धिः एव स्यात्**) वृद्धि ही होती है।

भावार्थ — शंकाकारका कहना है कि सतमें पूर्व २ भावके नाशसे हानि, तथा उत्तरोत्तर भावके उत्पादसे वृद्धि ही तो होती है।

उत्तर।

नैवं सतो विनाशादसतः सर्गादसिद्धसिद्धान्तात्।
सदनन्यथाऽथवा चेत्सदानित्यं कालतः कथं तस्य ॥ ४७६ ॥

अन्वयार्थः—(**एवं न**) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है क्योंकि (**असिद्धसिद्धांतात्**) सिद्ध नहीं हो सकनेवाले उक्त सिद्धांतके माननेसे (**सतः विनाशात्**) सतके विनाश और (**असतः सर्गात्**) असतकी उत्पत्तिका प्रसंग आवेगा (**अथवा**) अथवा (**सत्**) सत (**अनन्यथा चेत्**) अन्यथा नहीं होता है यदि ऐसा कहो तो (**तस्य**) इसप्रकारके कहनेवालेके मतमें (**सत्**) सत (**कालतः**) कालकी अपेक्षासे (**अनित्यं**) अनित्य भी (**कथं**) कैसे होगा?

भावार्थः— पूर्वपूर्व भावके नाशसे सतमें हानि और नवीन २ भावके उत्पादसे सतमें वृद्धि माननेसें सतके नाश तथा असतकी उत्पत्तिका प्रसंग आता है। इसलिए उक्त रूपसे हानि वृद्धि मानना ठीक नहीं है। यदि कदाचित् इस दोषको निवारण करनेके लिए सतमें सर्वथा अनन्यथाभाव—अपरिणमनशीलता मानी जावे तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि सतमें किसी प्रकारका परिणमन नहीं माननेसे कालकी अपेक्षा सत अनित्य कैसे कहला सकेगा?

नासिद्धमनित्यत्वं सतस्ततः कालतोऽपि नित्यस्य।
परिणामित्वान्नियतं सिद्धं तज्जलधरादिदृष्टान्तात ॥ ४७७ ॥

तस्मादनवद्यमिदं परिणममानं पुनः पुनः सदपि।
स्यादेकं कालादपि निजप्रमाणादखण्डितत्त्वाद्वा ॥ ४७८ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिए (नित्यस्य अपि सतः) कथंचित् नित्य भी सत्के (कालतः) कालकी अपेक्षासे (अनित्यत्व) अनित्यपना (असिद्ध न) असिद्ध नहीं है क्योंकि (तत्) वह अनित्यपना (परिणामित्वात्) सत्को कथंचित् परिणामी होनेके कारण (जलधरादिदृष्टांतात्) मेघादिकके दृष्टांतसे (नियत सिद्धं) निश्चय करके सिद्ध है (तस्मात्) इसलिए (इदं अनवद्यं) यह कथन निर्दोष है कि (सत् पुन पुनः परिणममानं अपि) सत् बार बार परिणमन करता हुआ भी (निजप्रमाणात्) अपने प्रमाणके बराबर रहनेसे—अपने प्रमाणके बाहर नहीं जानेसे (वा) अथवा (अखण्डितत्वात्) खंडित नहीं होनेसे (कालात् अपि) कालकी अपेक्षासे भी (एक स्यात्) एक है।

भावार्थ — और सत्में कालकृत अनित्यता असिद्ध नहीं है। क्योंकि द्रव्यार्थिकनयसे सत्को नित्य मानकरके भी उस सत्में परिणामीपनेके कारण कथंचित् कालकृत अनित्यता जलधरादिकके दृष्टान्तसे सिद्ध होती है। इसलिए सत् परिणमन शील होकरके भी अपने प्रमाणको उलघन नहीं करनेके कारण तथा अखडित रहनेके कारण कालकी अपेक्षासे भी एक है। इसप्रकार कालकी अपेक्षा एकत्व बताकरके अब आगे--भावकी अपेक्षासे एकत्व बताते है।

भावका स्वरूप।

भावः परिणाममयः शक्तिविशेषोऽथवा स्वभावः स्यात्।
प्रकृतिः स्वरूपमात्रं लक्षणमिह गुणश्च धर्मश्च ॥ ४७९ ॥

अन्वयार्थः— (इह) यहांपर (भावः परिणाममयः) भाव परिणाममय होता है (अथवा) अथवा (शक्तिविशेषः) शक्तिविशेष (स्वभावः) स्वभाव (प्रकृतिः) प्रकृति (स्वरूपमात्रं) स्वरूपमात्र (लक्षणं) आत्मभूतलक्षण (गुणः) गुण (च) और (धर्मश्च) धर्म भी (स्यात्) भाव कहलाता है।

भावार्थः— भाव शब्दका अर्थ परिणाममय, शक्ति विशेष, स्वभाव, प्रकृति, स्वरूपमात्र, लक्षण, गुण और धर्म होता है।

भावकी अपेक्षासे एकत्वमें युक्ति।

तेनाखंडतया स्यादेकं सच्चैकदेशनययोगात्।
तल्लक्षणमिदमधुना विधीयते सावधानतया ॥ ४८० ॥

अन्वयार्थः— (तेन) उस स्वभावसे (अखण्डतया) अखंडितपनेके कारण (एकदेशनययोगात्) द्रव्यार्थिक नयके योगसे (सत् एकं च स्यात्) सत् कथंचित एक है इसलिये (अधुना) इस समय (इदं तत् लक्षणं) यह उस भावका लक्षण (सावधानतया) सावधानतासे (विधीयते) कहा जाता है।

भावार्थः— द्रव्यार्थिकनयसे द्रव्य अपने स्वभावमे सदैव अखंडित रहता है अर्थात अपने स्वभावसे कभी च्युत नहीं होता है। इसलिए भावकी अपेक्षासे भी सत एक है। अतः—

—अब आगे—भावका लक्षणही सावधानतासे कहा जाता है।

भावके स्वरूपका स्पष्टीकरण।

सर्वं सादिति यथा स्यादिह संस्थाप्य गुणपंक्तिरूपेण।
पश्यन्तु भावसादिह निःशेषं सन्नशेषमिह किंचित् ॥ ४८१ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे कि (इह) यहांपर (सर्वं सत् इति) सपूर्ण सत्को (गुणपंक्तिरूपेण संस्थाप्य) गुणोंके पंक्तिरूपसे स्थापित करके (भावसात् पश्यन्तु) केवल भावदृष्टिसे देखो तो (इह) इन गुणोंमे (निःशेष सत्) सब सत् ही है और (इह) यहांपर (किंचित् शेषं न स्यात्) कुछ भी नहीं है।

भावार्थः— द्रव्यके यावत गुणोंको पंक्तिरूपसे स्थापित करके यदि भावदृष्टिसे देखो तो सब गुण सत रूपही दृष्टिगोचर होते है। सतसे भिन्न और कुछभी उनमें प्रतीत नहीं होता है। तथा एक गुणकी अपेक्षासे जितना सत है उतनाही सत सर्व गुणोंकी अपेक्षासे भी है, इसीको बताते है।

एकं तत्रान्यतरं भाव समपेक्ष्य यावदिह सादिति।
सर्वानपि भावानिह व्यस्तसमस्तानपेक्ष्य सत्तावत ॥ ४८२ ॥
न पुनर्द्व्यणुकादिरिति स्कन्धः पुद्गलमयाऽस्त्यणूनां हि।
लघुरपि भवति लघुत्वे सति च महत्वे महानिहास्ति यथा ॥ ४८३ ॥

अन्वयार्थः— (इह) यहांपर (तत्र) उन गुणोंमेंसे (एक अन्यतर भाव समपेक्ष्य) किसी एक भावकी अपेक्षा करके (सत् इति यावत्) सत यह जितना है (तावत्) उतनाही (सत्) सत (इह) यहांपर

(सर्वान् व्यस्तसमस्तान् भावान् अपि अपेक्ष्य) सम्पूर्ण पृथक तथा समस्तरूप भावोंकी अपेक्षा करके भी है

(पुनः) किंतु वह सत (यथा) जैसे (इह) यहांपर (हि) निश्चयकरके (अणूनां) अणुओंके (पुद्गलमय) पुद्गलमय (द्व्यणुकादिः इति) द्व्यणुकादिक (स्कंध) स्कंध (लघुत्वे सति लघु भवति) परमाणुओंके कम होजानेपर लघु हो जाते है (अपि च) और (महत्वे) परमाणुओंके अधिक हो जानेपर (महान् अस्ति) महान्-- बडे हो जाते है ('तथा, न अस्ति) वैसा उन गुणोंमें नहीं है।

भावार्थः— उक्त कथनका सारांश यह है कि उन सब गुणोंमेंसे किसी एक गुणकी अपेक्षासे जितना सत् है उतनाही व्यस्त तथा समस्त सम्पूर्ण गुणोंकी अपेक्षासे भी सत है। किन्तु जैसे पुद्गलमय द्व्यणुकादिक स्कन्ध, परमाणुओंकी अधिकतासे अधिक तथा न्यूनतासे कम प्रतीत होता है। वैसे द्रव्योंमें गुणकृत हानि और वृद्धि नहीं होती है।

सारांश।

अयमर्थो वस्तु यदा लक्ष्येत विवक्षितैकभावेन।
तन्मात्रं सदिति स्यात्सन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥ ४८४ ॥
यदि पुनरन्यतरेण हि भावेन विवक्षितं सदेव स्यात्।
तन्मात्रं सदिति स्यात्सन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥ ४८५ ॥

अन्वयार्थः— (अयं अर्थः) सारांश यह है कि (यदा) जिस समय (वस्तु) वस्तु (विवक्षितैकभावेन) विवक्षित किसी एक भावसे (लक्ष्येत) लक्षित की जाती हैं ('तदा,) उस समय (सत् इति) सत् यह (तन्मात्रं स्यात) विवक्षित भावमात्र हो जाता है (च) अथवा (सः विवक्षितः भावः) वह विवक्षित भाव (सन्मात्र स्यात) सन्मात्र होजाता है (यदि पुनः) अर्थात् यदि (सदेव) वही सत् (हि) निश्चय करके (अन्यतरेण भावेन) अन्यतर किसी एकभावके द्वारा (विवक्षितं स्यात्) विवक्षित होता है तो (सदिति) सत यह (तन्मात्र) उसी अन्यतर भावरूप (स्यात) होजाता है (च) और (सः विवक्षितः भावः) वह अन्यतर विवक्षितभाव [सन्मात्रः 'स्यात् ,] सन्मात्र होजाता है।

भावार्थः— सारांश यह है कि सत् अपने अनन्त भावोंमेंसे जिससमय किसी एक भावके द्वारा विवक्षित

किया जाता है उससमय वह सत् उस भावमय तथा वह भाव उतनेही सत् मय कहा जाता है। और जिससमय सत् दूसरे भावसे विवाक्षित किया जाता है उस समय वह सत् उस विवाक्षित दूसरे भावमय तथा वह विवाक्षित दूसरा भाव उतनेही सतमय कहा जाता है। इसी प्रकार जितने जिस द्रव्यके भाव हैं उतनेही भावमय सत् और उतनेही सत मय भाव, भिन्न भिन्न समयमें भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके द्वारा विवक्षित किये जा सकते हैं। आगे इसी कथनका दृष्टान्तके द्वारा खुलासा करते है।

दृष्टांतपूर्वक स्पष्टीकरण।

अत्रापि च संदृष्टि : कनकः पीतादिमानिहास्ति यथा।
पीतेन पीतमात्रो भवति गुरूत्वादिना च तन्मात्रः॥ ४८६॥

अन्वयार्थः— (**अत्र च सन्दृष्टिः अपि**) इस विषयमें संदृष्टि भी है कि [**इह**] यहांपर [**यः पीतादिमान् कनकः अस्ति**] जो पीतादि गुणयुक्त सुवर्ण है वह [**यथा**] जैसे [**पीतेन पीतमात्रो भवति**] पीत गुणके द्वारा केवल पीतरूप कहा जाता है (**तथा च,**) वैसेही वह [**गुरुत्वादिना**] गुरुत्वादिक गुणोंके द्वारा [**तन्मात्रः**] गुरुत्वादि मात्र भी कहा जाता है।

भावार्थः— उदाहरणार्थ सुवर्णकोही लीजिये कि जैसे पीतत्व गुरुत्वादि गुणमय सुवर्ण जिस समय अपने पीतत्व व गुरुत्वादि गुणोंसे विवाक्षित होता है उस समय वह केवल पीतत्व व गुरुत्वादि गुणमयही कहा जाता है। अर्थात् पीतत्व धर्मकी विवक्षाके समय गुरुत्वादिक गुणोंकी विवक्षा न रहनेसे, वे गौण पड जाते हैं। और गुरुत्वादिक गुणोंकी विवक्षाके समय पीतत्व व स्निग्धत्वादिकी विवक्षा न रहनेसे, वे गौण पड जाते है। वैसेही द्रव्यके अनन्त भावोंमेंसे विवाक्षित भावको मुख्य, तथा शेष अविवाक्षित भावोंको गौण हो जानेसे, विवक्षित भावमय सत, और सतमय, विवाक्षित भाव कहा जाता है।

न च किंचित्पीतत्वं किंचित्स्निग्धत्वमस्ति गुरूता च।
तेषामिह समवायादस्ति सुवर्णस्त्रिसत्वसत्ताकः॥ ४८७॥

अन्वयार्थः— (**न च**) किन्तु ऐसा नहीं है कि सोनेमें (**किंचित्पीतत्वं**) कुछ पीतत्व हो (**किंचित् स्निग्धत्वं**) कुछ स्निग्धत्व हो (**च**) और कुछ (**गुरुता अस्ति**) गुरुता हो (**इह**) और यहांपर (**तेषां**

समवायात्) उन तीनोंके समवायसे (**सुवर्ण**) सुवर्ण (**त्रिसत्त्वसत्ताकः अस्ति**) तीनो गुणोंकी पृथक् २ सत्ता लिएहुए, एक सत्तावाला हो।

भावार्थः— यहांपर ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि सुवर्णमें पीतत्व, स्निग्धत्व तथा गुरुत्वादिक गुणोंकी सत्ता भिन्न भिन्न है। और समवाय सम्बन्धसे उन तीनों गुणोंका सम्बन्ध सुवर्णके साथ होता है इसलिए सुवर्ण त्रित्वसत्तावाला कहा जाता है। क्योंकि द्रव्य और गुण भिन्न पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकते हैं। तथा न उन दोनोंमें संबंध करानेवाला समवाय नामका पदार्थ भी भिन्न सिद्ध हो सकता है।

इदमत्र तु तात्पर्यं यत्पीतत्वं गुणः सुवर्णस्य।
अन्तर्लीनगुरुत्वाद्विवक्ष्यते तद्गुरुत्वेन ॥ ४८८ ॥

अन्वयार्थ — (**तु**) किंतु (**अत्र इदं तात्पर्यं**) यहांपर यह तात्पर्य है कि (**यत् पीतत्वं सुवर्णस्य गुणः**) जो पीतत्व सुवर्णका गुण है (**तत्**) वह (**अन्तर्लीनगुरुत्वात्**) अंतर्लीन गुरुत्वगुणवाला होनेसे (**गुरुत्वेन**) गुरुपनेसे (**विवक्ष्यते**) विवक्षित किया जाता है अर्थात उस पीतत्व गुणमें गुरुत्वगुणको अंतर्लीन होनेसे वह गुरुत्वरूपसे भी कहा जाता है।

भावार्थः— साराश यह है कि जिस समय सुवर्णकी पीतत्व गुणमुखसे, विवक्षा की जाती है उससमय उस पीतत्वमें, गौण रूपमे सुवर्णके गुरुत्वादिक गुण भी गर्भित रहते हैं। केवल अविवक्षित रहनेके कारण उनका उच्चारण नहीं किया जाता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि सुवर्णके पीतत्व गुणकी विवक्षाके समय गुरुत्वादिक गुणों-का अभाव हो गया है।

ज्ञानत्वं जीवगुणस्तादिह विवक्षावशात्सुखत्वं स्यात्।
अन्तर्लीनत्वादिह तदेकसत्वं तदात्मकत्वाच्च ॥ ४८९ ॥

अन्वयार्थ — (**इह**) यहांपर ('**यत्**,) जो (**ज्ञानत्वं जीवगुण**) ज्ञानत्व जीवका गुण है (**तत्**), वही (**विवक्षावशात्**) विवक्षाके वशसे (**सुखत्वं स्यात्**) सुखरूप हो जाता है क्योंकि (**इह**) यहांपर ज्ञानत्वमें (**तत्**) उस सुखत्वको (**अन्तर्लीनत्वात्**) अंतर्लीन होनेसे (**च**) तथा (**ज्ञानात्मकत्वात्**) ज्ञानात्मक होनेसे

(एकत्वं) ज्ञान और सुख दोनोंही एक सत्तावाले है।

भावार्थः— सुवर्णमें पीतत्वादिक गुणोंके समान, जीवमें ज्ञान सुखादिक, विशेष गुण माने हैं। जिस समय ज्ञान मुखेन, जीवकी विवक्षा की जाती है उस समय सुखादिक ज्ञानमय, और जिस समय सुख मुखेन, जीवकी विवक्षा की जाती है उस समय ज्ञानादिक, सुखमें गर्भित हो जानेसे सुखमय प्रतीत होते हैं। इसप्रकार विवक्षाके भेदसेही ज्ञान और सुखकी भिन्न २ सत्ता प्रतीत होती है वास्तवमें भिन्न २ सत्ता नहीं।

शंका।

ननु निर्गुणा गुणा इति सूत्रे सूक्तं प्रमाणतो वृद्धैः।
तत्किं ज्ञानं गुण इति विवक्षितं स्यात्सुखत्वेन ॥ ४९० ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि जब (गुणा निर्गुणा) गुण निर्गुण होतें है (इति) इसप्रकार (सूत्रे) सूत्रमें (वृद्धैः) वृद्ध ऋषियोंने (प्रमाणत) प्रमाणीक रूपसे (सूक्तं) अच्छी तरहसे कहा है (तत्किं) तो फिर किस तरह (ज्ञानं इति गुणः] ज्ञान यह गुण [सुखत्वेन] सुखरूपसे [विवक्षितं स्यात्] विवक्षित हो सकेगा ?

भावार्थः— आचार्योंने 'द्रव्याश्रयाः निर्गुणाः गुणा', इस गुणके लक्षणमें, जब गुणोंको स्वयं निर्गुण माना है तो फिर आपके कथनानुसार, ज्ञानगुण सुखरूपसे, कैसे विवक्षित हो सकता है ?

समाधान।

सत्यं लक्षणभेदाद्गुणभेदो निर्विलक्षणः स स्यात्।
तेषां तदेकसत्त्वादखण्डितत्वं प्रमाणतोऽध्यक्षात् ॥ ४९१ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है, (लक्षणभेदात्) लक्षणके भेदसे ('यः') जो (गुणभेदः) गुणोंमें भेद है (सः) वह (निर्विलक्षणः स्यात्) निर्विलक्षण है अर्थात् गुणोंमें दूसरे गुणोंका लक्षण नहीं पाया जाता है कारण (तदेकसत्वात्) उन सब गुणोंकी एक सत्ता होनेसे (तेषां) उन सब गुणोंमें (अखण्डितत्व) अखंडितपना (अध्यक्षात् प्रमाणत) प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है।

भावार्थः— ठीक है, लक्षण दृष्टिसे गुणोंमें जो भेद माना गया है वह वैसाही है अर्थात् गुणोंमें गुण नहीं रहते हैं यह आपका कहना ठीक है। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाणसे उन गुणोंकी भिन्न २ सत्ता न होकर, परस्परमें वे सब एकसत्ता-वाले हैं। इसलिए उनमें अखण्डितपना है। और यही उपर्युक्त मुख्य व गौण विवक्षाका प्रयोजन है। अतएव सुखमें ज्ञानादिकके, और ज्ञानमें सुखादिकके, एक सत्ताकी अपेक्षासे गर्भित हो जानेके कारण, गुणके लक्षणगत निर्गुण विशेषणमें विरोध नहीं आता है।

उपसंहार।

तस्मादनवद्यमिदं भावेनाखण्डितं सदेकं स्यात्।
तदपि विवक्षावशतः स्यादिति सर्वं न सर्वथेति नयात् ॥ ४९२ ॥

अन्वयार्थः— (तस्मात्) इसलिए (इदं अनवद्यं) यह कथन निर्दोष है कि यद्यपि (भावेन सत् अखण्डितं एकं स्यात्) भावके द्वारा सत् अखडित एक है (तदपि इति सर्वं) तथापि यह सब कथन (विवक्षावशात् स्यात्) विवक्षाके वशसे है (सर्वथा इति नयात् न) सर्वथा इस नयसे नहीं है।

भावार्थः—इसलिए हमारा यह कहना ठीक है कि भावकी अपेक्षासे भी सत् एक और अखण्डित है। तथा यह कहना भी नय विशेषकी विवक्षासे है सर्वथा नहीं।

एवं भवति सदेकं भवति न तदपि च निरंकुशं किन्तु।
सदनेकं स्यादिति किल सप्रतिपक्षं यथा प्रमाणाद्वा ॥ ४९३ ॥

अन्वयार्थः— (एवं), इसप्रकार यद्यपि (सत् एकं भवति) सत् एक होता है (तदपि च), तो भी वह (निरंकुशं न भवति) निरपेक्ष नहीं है (किंतु) किंतु (सत् अनेकं स्यात्) सत् अनेक है (इति) इस कथनके द्वारा (किल) निश्चयसे (सप्रतिपक्षं) प्रतिपक्ष सापेक्ष है (यथा प्रमाणात् 'सिद्ध, वा) जैसे कि प्रमाणसे सिद्ध भी है।

भावार्थः— इसप्रकार ४३६ वें पद्यसे लेकर जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा सत्को अखण्डित-पनेसे एक सिद्ध किया गया है। वह सब निरंकुश अर्थात् निरपेक्ष नहीं है। किन्तु वक्ष्यमाणरीतिसे सत् अनेक भी है इस प्रमाणसिद्ध प्रतिपक्षकी अपेक्षापूर्वक एक है ऐसा समझना चाहिए।

अब आगे–सत् अनेक किस प्रकारसे है इस बातका निरूपण करते है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे सत्के अनेकत्वमें युक्ति।

अपि च स्यात्सदनेकं तद्द्रव्याद्यैरखण्डितत्वेपि।
व्यतिरेकेण विना यन्नान्वयपक्षः स्वपक्षरक्षार्थम् ॥ ४९४ ॥

अन्वयार्थः— (**अपि च**) तथा (**तत् सत्**) वह सत् (**द्रव्याद्यैः**) द्रव्यादिकोंके द्वारा (**अखण्डितत्वेऽपि**) अखंडित होते हुए भी (**अनेकं स्यात्**) अनेक है (**यत्**) क्योंकि (**व्यतिरेकेण विना**) व्यतिरेकके विना (**अन्वयपक्षः**) केवल अन्वय पक्ष (**स्वपक्षरक्षार्थं न**) अपने पक्षकी रक्षाके लिए समर्थ नहीं होता है।

भावार्थः— व्यतिरेक पक्षसे सत्को अनेक और अन्वयपक्षसे सत्को एक माना है। किन्तु व्यतिरेकके विना अन्वय भी अपने पक्षकी रक्षा नहीं कर सकता है। इसलिए द्रव्यादिकके द्वारा अखण्डितपनेके कारण वह सत् एक हो करके भी अनेक है अर्थात् जैसे द्रव्यार्थिक नयके द्वारा द्रव्यादिक चतुष्टयकी अपेक्षासे सत् कथंचित् एक है वैसेही वह पर्यायार्थिक नयके द्वारा द्रव्यादिक चतुष्टयकी अपेक्षासे कथंचित् अनेक भी है। इसीको आगे बताते है।

द्रव्यकी अपेक्षा अनेकत्वमें युक्ति।

अस्ति गुणस्तल्लक्षणयोगादिह पर्ययस्तथा च स्यात्।
तदनेकत्वे नियमात्सदनेकं द्रव्यतः कथं न स्यात् ॥ ४९५ ॥

अन्वयार्थः— (**इह**) यहांपर (**तल्लक्षणयोगात्**) अपने २ लक्षणके योगसे (**यथा**) जैसे (**गुण अस्ति**) गुण है (**तथा च**) वैसे ही [**पर्ययः स्यात्**] पर्याय है और [**नियमात्**] नियमसे [**तदनेकत्वे सति**] इसप्रकार द्रव्यसे अभिन्न गुणों तथा पर्यायोंमें अनेकत्वके सिद्ध होनेपर [**सत्**] वह सत [**द्रव्यतः**] द्रव्यकी अपेक्षासे [**अनेकं कथं न स्यात्**] अनेक किस तरह नहीं होगा अर्थात् अवश्यही होगा।

भावार्थः— आस्तित्व गुणके लक्षणकी अपेक्षासे जैसे आस्तित्वगुण और उसकी पर्याय भिन्न है। वैसेही इतर गुण तथा उनकी पर्यायें भिन्न २ हैं। तथा सत्से अभिन्न गुणों व पर्यायोंमें अनेकता सिद्ध होनेपर द्रव्यके नाना गुणों और नाना पर्यायोंकी अपेक्षासे सत् अनेक क्यों नहीं माना जायगा अर्थात् अवश्यही माना जायगा।

क्षेत्रकी अपेक्षा अनेकत्वमें युक्ति।

यत्सत्तदेकदेशे तद्देशे न तद्द्वितीयेषु ।
अपि तद्द्वितीयदेशे सदनेकं क्षेत्रतश्च को नेच्छेत् ॥ ४९६ ॥

अन्वयार्थः— (**यत् सत्**) जो सत (**एकदेशे**) एक देशमें है (**तत्**) वह (**तद्देशे**) उसी देशमें है (**तत् द्वितीयेषु न**) उससे भिन्न दूसरे देशोंमें नहीं है तथा (**तत् द्वितीयदेशे अपि**) उस दूसरे देशमें भी जो सत् है वह उसी देशमें है उससे भिन्न देशमें नहीं है इसलिए (**कः**) कौन पुरुष (**क्षेत्रतश्च**) क्षेत्रसे भी (**सत् अनेकं न इच्छेत्**) सत्को अनेक नहीं मानेगा ?

भावार्थः— जब सतके यावत् प्रदेशोंमेंसे विवक्षित किसी एक प्रदेशमें जो सत् है वह दूसरे प्रदेशोंमें नहीं रहता है। किन्तु उस प्रदेशका सत् उसी प्रदेशमें रहता है। तथा जब दूसरे प्रदेशोंमें रहनेवाला सत दूसरे प्रदेशोंमें रहनेवालाही कहा जाता है इतर प्रदेशोंमें रहनेवाला नहीं कहा जाता है तब क्षेत्रकी अपेक्षासे सत अनेक क्यों नहीं कहा जायगा अर्थात् अवश्यही कहा जायगा । कालकी अपेक्षा अनेकत्वमें युक्ति।

यत्सत्तदेककाले तत्तत्काले न तादितरत्र पुनः ।
अपि सत्तदितरकाले सदनेकं कालतोऽपि तदवश्यम् ॥ ४९७ ॥

अन्वयार्थः— (**यत् सत्**) जो सत (**तदेककाले**) उसके एक कालमें है (**तत्**) वह सत् (**तत्काले**) उसी कालमें है (**पुनः**) किंतु (**तदितरत्र न**) उससे भिन्न कालमें नहीं है और इसी तरह (**तदितरकाले अपि**) उससे इतर कालमें भी (**सत्**) जो सत है वह उसी कालमें है उससे भिन्न कालमें नहीं है इसलिए (**कालतः अपि**) कालसे भी (**तत् सत्**) वह सत (**अवश्यं**) अवश्य (**अनेकं**) अनेक है ।

भावार्थः— जैसे प्रतिसमय होनेवाली सतकी त्रिकालवर्ती पर्यायोंमेंसे किसी एक विवक्षित समयमें जो सत् पाया जाता है वह सत् केवल उसी समयमें पाया जाता है। इतर समयमें नहीं। वैसेही अन्य समयमें रहनेवाला सत् भी अपने २ विवक्षित समयमेंही पाया जाता है अन्य समयमें नहीं। इसलिए कालकी अपेक्षासे भी सत अनेक माना जाता है।

भावकी अपेक्षा अनेकत्वमें युक्ति।

तन्मात्रत्वादेको भावो यः स न तदन्यभावः स्यात्।
भवति च तदन्यभावः सदनेकं भावतो भवेन्नियतम् ॥ ४९८ ॥

अन्वयार्थः— (**यः**) जो (**तन्मात्रत्वात्**) तन्मात्र होनेसे (**एकः भावः**) एक भाव है (**सः**) वह (**तदन्यभाव न स्यात्**) उससे भिन्न भाव नहीं होता हैं किंतु वह वही भाव होता है इसप्रकार (**तदन्यभावश्च भवति**) तदन्यभाव भी होता है अर्थात् विवक्षित तदन्यभाव, तदन्यभाव रूपही होता है उससे भिन्न भाव रूप नहीं होता है इसलिए (**नियतं**) निश्चयकरके (**भावत.**) भावकी अपेक्षासे (**सत् अनेकं भवेत्**) सत् अनेक होता है।

भावार्थः— अपने यावत भावोंमेंसे जो सत् जिस समय जिस भाव रूपसे विवक्षित होता हैं उस समय वह सत केवल उस भावमयही कहा जाता है इतर भावमय नहीं। इसी प्रकार जिस जिस भावमुखसे जिस जिस समय सत्की विवक्षा की जायगी उस उस समय सत उस उस भावमय कहा जायगा। इसलिए इसप्रकारके भावोंकी अनेकताके कारण भावदृष्टिसे भी सत् अनेक कहा जाता है। **उपसंहार।**

शेषो विधिरुक्तत्वादत्र न निर्दिष्ट एव दृष्टान्तः।
अपि गौरवप्रसंगाद्यदि वा पुनरुक्तदोषभयात् ॥ ४९९ ॥

अन्वयार्थः— (**शेषोविधिः**) शेष विधिको (**उक्तत्वात्**) पूर्वमें उक्त होनेसे (**अपि**) और (**गौरवप्रसगात्**) ग्रंथमें गौरवका प्रसंग आनेसे (**यदि वा**) अथवा (**पुनरुक्तदोषभयात्**) पुनरुक्त दोषके भयसे (**अत्र**) यहांपर (**दृष्टांत एव**) उसका दृष्टातही (**न निर्दिष्ट**) नहीं कहा है।

भावार्थः— इस प्रकार ४९४ वे पद्यसे लेकर ४९८ वें पद्यतक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे अनेकत्व सिद्ध किया। तथा शेष विधि उक्त होनेके कारण अर्थात उभय अनुभय आदि रूप शेषभगोंका कथन पहले कहा जा चुका है इसलिए पुनरुक्त दोषके भयसे तथा गौरवके प्रसगकी संभावनासे यहांपर दृष्टान्तपूर्वक उनका कथन नहीं किया है।

तस्माद्यदिह सदेकं सदनेकं स्यात्तदेव युक्तिवशात् ।
अन्यतरस्य विलोपे शेषविलोपस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ५०० ॥

अन्वयार्थः— (**तस्मात्**) इसलिए (**इह**) यहांपर (**यत्**) जो (**सत् एकं**) सत एक है (**तदेव सत्**) वही सत् (**युक्तिवशात्**) युक्तिके वशसे (**अनेक स्यात्**) अनेक है क्योंकि एक और अनेकको परस्पर सापेक्ष होनेसे (**अन्यतरस्य विलोपे**) दोनोंमेंसे किसी एकके लोप होनेपर (**शेषविलोपस्य**) शेष दूसरेका भी लोप (**दुर्निवारत्वात्**) दुर्निवार होजायगा अर्थात् रोका नहीं जायगा ।

भावार्थः— इसलिए यह सिद्ध होता है कि यहापर जो सत एक कहा गया है वही सत युक्तिपूर्वक अपेक्षा विशेषसे अनेक भी कहा जाता है। तथा वे एक और अनेक दोनोंही मुख्य गौण विवक्षासे परस्पर सापेक्ष हैं निरपेक्ष नहीं। इसलिए किसी एकके नहीं माननेपर शेष दूसरेकी भी सिद्धि नही हो सकती है। आगे सर्वथा एक तथा अनेकके माननेमें दोष बताते है ।

सत्को सर्वथा एक मानना युक्तियुक्त नही है।

अपि सर्वथा सदेकं स्यादिति पक्षो न साधनायालम् ।
इह तदवयवाभावे नियमात्सदवयविनोऽप्यभावत्वात् ॥ ५०१ ॥

अन्वयार्थः— (**सत् सर्वथा एकं स्यात्**) सत् सर्वथा एक है (**इति पक्षः अपि**) यह पक्ष भी (**साधनाय अलं न**) इष्ट सिद्धिके लिए समर्थ नहीं है क्योंकि (**इह**) यहांपर (**तदवयवाभावे**) सत्के अनेकरूप अवयवके अभावमें (**सदवयविनोऽपि**) सत्रूप अवयवीका भी (**नियमात्**) नियमसे (**अभावत्वात्**) अभाव हो जायगा ।

भावार्थः— सतको सर्वथा एक मानना युक्तिपूर्वक सिद्ध नहीं किया जा सकता है। क्योंकि एक अवयवी है और अनेक उसका अवयव है। इसलिए लोकमें जिस प्रकार अवयवके अभावमें अवयवीकी सिद्धि नहीं हो सकती है। उसी प्रकार अनेक रूप अवयवके अभावमें अवयवी रूप एककी भी सिद्धि नहीं हो सकती है।

सतको सर्वथा अनेक मानना भी युक्तियुक्त नही है।

अपि सदनेकं स्यादिति पक्षः कुशलो न सर्वथेति यतः ।
एकमनेकं स्यादिति नानेकं स्यादनेकमेकैकात् ॥ ५०२ ॥

अन्वयार्थः— (सत् अनेकं स्यात्) सत् अनेक है (इति पक्ष अपि) यह पक्ष भी (सर्वथा इति) सर्वथा इस रूपसे (कुशलः न) ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (एक अनेकं स्यात्) एक द्रव्यही अनेक गुणों और पर्यायोंकी विवक्षासे अनेक माना गया है किंतु (एककात्) एक एक गुण व पर्यायके मिलनेसे (अनेकं अनेकं न स्यात् इति) अनेक, अनेक नहीं माना गया है।

भावार्थः—जैनदर्शनमें एक अखण्ड द्रव्य भिन्न २ गुणों तथा पर्यायोंकी भिन्न २ विवक्षावश अनेक माना गया है। इसलिए एक निरपेक्ष सर्वथा अनेक मानना युक्तियुक्त नहीं है। सर्वथा अनेक मानना उस समय युक्त हो सकता था जब कि एक दो मिलकर अनेक माना गया होता किन्तु ऐसा माना नहीं है। अतः एक निरपेक्ष सर्वथा अनेक मानना ठीक नहीं है। **प्रमाण और नयके स्वरूपके प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा।**

उक्तं सादिति यथा स्यादेकमनेकं सुप्रसिद्धदृष्टांतात्।
अधुना तद्वाङ्मात्रं प्रमाणनयलक्षणं वक्ष्ये ॥ ५०३ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (सुप्रसिद्धदृष्टांतात्) सुप्रसिद्ध दृष्टांतोंसे (सदित्) सत् यह (एकं अनेक) एक तथा अनेकरूप (स्यात्) है ('तथा,) वैसे (उक्तं) कहा (अधुना) अब (वाङ्मात्रं) केवल वचनात्मक (तत् प्रमाणनयलक्षण) उस प्रमाण और नयके लक्षणको (वक्ष्ये) कहता हूं।

भावार्थः— इसप्रकार दृष्टान्तपूर्वक मतको एक व अनेक रूप बताकरके अब वचनात्मक प्रमाणनयका निरूपण करते हैं।

नयका लक्षण।

इत्युक्तलक्षणेऽस्मिन् विरुद्धधर्मद्वयात्मके तत्वे।
तत्राप्यन्यतरस्य स्यादिह धर्मस्य वाचकश्च नयः ॥ ५०४ ॥

अन्वयार्थः— (इति) इसप्रकार (उक्तलक्षणे) कहा गया है लक्षण जिसका ऐसा (विरुद्धधर्मद्वयात्मके अस्मिन् तत्वे) विरुद्ध धर्मद्वयात्मक जो तत्व है (तत्रापि) उस तत्वमें भी (इह) यहांपर (अन्यतरस्य धर्मस्य च) किसी एक धर्मकाही (वाचकः) वाचक (नय स्यात्) नय होता है।

भावार्थः— परस्पर विरोधी एकानेकादिक धर्मात्मक जो तत्वका स्वरूप निरूपण किया गया है उसमेंसे किसी एक धर्मके वाचकको नय कहते है।

नयके भेद।

द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद्द्विधा च सोऽपि यथा ।
पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्यं भावश्च चिदिति जीवगुणः ॥ ५०५ ॥

अन्वयार्थः— (सोऽपि) वह नय भी (द्रव्यनय) द्रव्यनय (च) और (भावनयः) भावनय (इति भेदात्) इसप्रकारके भेदसे (द्विधा स्यात्) दोप्रकारका है (यथा) जैसे कि (किल) निश्चयसे (पौद्गलिकः शब्दः) पौद्गलिक शब्द (द्रव्यं) द्रव्यनय कहलाता है (च) तथा (जीवगुण) जीवका गुण जो (चिदिति) चेतन्य यह है वह (भावः) भावनय कहलाता है।

भावार्थः— द्रव्य नय और भाव नयके भेदसे वह नय दो प्रकारका है। उनमेंसे पौद्गलिक शब्द द्रव्यनय तथा जीवका ज्ञानगुणरूप चेतनभाव भावनय कहलाता है। अर्थात् नय ज्ञानात्मक और वचनात्मकके भेदसे दोप्रकारका है। उनमेंसे वचनात्मकनय द्रव्यनय तथा ज्ञानात्मकनय भावनय कहलाता हैं।

दूसरे प्रकारसे नयका लक्षण।

यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोऽस्ति सोप्यपरमार्थः ।
नयतो ज्ञानं गुण इति शुद्धं ज्ञेयं च किन्तु तद्योगात् ॥ ५०६ ॥

अन्वयार्थः— (यदि वा) अथवा (ज्ञानविकल्पः) ज्ञानके विकल्पका नाम (नय) नय है और (स विकल्पः अपि) वह विकल्प भी (अपरमार्थः अस्ति) परमार्थभूत नहीं है (यतः) क्योंकि वह ज्ञान विकल्परूप नय (शुद्धं ज्ञानं गुण इति) शुद्ध ज्ञान गुण यह (च) और (ज्ञेयं) ज्ञेयभी (न) नहीं है (किंतु) किंतु (तद्योगात्) ज्ञेयके संबंधसे होनेवाले ज्ञानके विकल्पका नाम नय है।

भावार्थ— अथवा ज्ञानविकल्पको नय कहते है। और वह विकल्प उपचरित है वास्तविक नहीं है। कारण कि शुद्ध ज्ञान तथा ज्ञेयको नय नहीं कहते है। किन्तु ज्ञेयके अनुसार होनेवाले श्रुतज्ञानके विकल्पको नय कहते हैं।

खुलासा।

ज्ञानविकल्पो नय इति तत्रेयं प्रक्रियापि संयोज्या ।
ज्ञानं ज्ञानं न नयो नयोपि न ज्ञानमिह विकल्पत्वात् ॥ ५०७ ॥

अन्वयार्थः— (**ज्ञानविकल्पः नयः इति**) ज्ञानके विकल्पका नाम नय है जो यह कहा गया है (**तत्र**) वहांपर (**इयं**) यह (**प्रक्रिया अपि**) प्रक्रिया भी (**संयोज्या**) लगाना चाहिए क्योंकि (**इह**) ज्ञानमें (**विकल्पत्वात्**) विकल्प होनेसे अर्थात् ज्ञानके विकल्पको नयके होनेसे (**ज्ञानं**) ज्ञान (**ज्ञानं**)ज्ञान है (**नयः न**) नय नहीं है और (**नयोऽपि**) नय भी नय है (**ज्ञानं न**) ज्ञान नहीं है।

भावार्थः— ज्ञानके विकल्पको नय कहनेके विषयमें यह प्रक्रिया (शैली विशेष) लगाना चाहिए कि नय-विकल्पात्मक है। इसलिए वास्तवमें ज्ञान, ज्ञान है नय नहीं कहा जा सकता है। और नय, नय है ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। किन्तु ज्ञेयके आश्रयसे होनेवाले श्रुतज्ञानके विकल्पको नय कहते है।

उन्मज्जति नयपक्षो भवति विकल्पो विवक्षितो हि यदा ।
न विवक्षितो विकल्पः स्वयं निमज्जति तदा हि नयपक्षः ॥ ५०८ ॥

अन्वयार्थः-(**हि**) निश्चयकरके (**यदा**) जिससमय (**विकल्पः विवक्षित भवति**) विकल्प विवक्षित होता है उससमय (**नयपक्ष**) नयपक्ष (**उन्मज्जति**) उदयको प्राप्त होता है और जिससमय (**विकल्पः विवक्षितः न 'भवति,**) विकल्प विवक्षित नहीं होता है (**तदा**) उससमय (**हि**) निश्चय करके (**नयपक्ष**) नयपक्ष (**स्वय**) स्वयं (**निमज्जति**) अस्तको प्राप्त हो जाता है—डूब जाता है।

भावार्थ — जिस समय विकल्प विवक्षित होता है उस समय नय पक्षका उदय होता है। और जिस समय विकल्पकी विवक्षा नहीं रहती है उस समय नय पक्ष स्वयं विलीयमान हो जाता है।

दृष्टान्त।

संदृष्टिः स्पष्टेयं स्यादुपचाराद्यथा घटज्ञानम् ।
ज्ञानं ज्ञानं न घटो घटोऽपि न ज्ञानमस्ति स इति घटः ॥ ५०९ ॥

अन्वयार्थः— (**इयं सन्दृष्टि**) उक्त कथनमें यह दृष्टांत [**स्पष्टा स्यात्**] स्पष्ट है कि [**यथा**] जैसे [**उपचारात्**] उपचारसे घटको विषय करनेवाले ज्ञानको [**घटज्ञान**] घट ज्ञान कहतें है किंतु यथार्थमें [**ज्ञानं**

ज्ञानं] ज्ञान, ज्ञान है (घटः न) घट नहीं है और [घटोऽपि] घट भी [ज्ञानं न अस्ति] ज्ञान नहीं है किंतु [सः घटः इति] वह घट ही है।

भावार्थः— जैसे कि उपचारसे घटको विषय करनेके कारण ज्ञान, घटज्ञान कहलाता है वास्तवमें ज्ञान, घट नहीं हो सकता है। और घट, ज्ञान नहीं सकता है। किन्तु ज्ञान, ज्ञान तथा घट, घटहि रहता है। केवल उपचार से घटको विषय करनेके कारण ज्ञान, घटज्ञान कहलाता है।

तात्पर्य।

इदमत्र तु तात्पर्यं हेयः सर्वो नयो विकल्पात्मा।
बलवानिव दुर्वारः प्रवर्तते किल तथापि बलात् ॥ ५१० ॥

अन्वयार्थ— (अत्र तु इदं तात्पर्यं) यहापर यह तात्पर्य है कि यद्यपि (विकल्पात्मा) विकल्पात्मक (सर्वः नयः) सबही नय (हेयं) हेय है (तथापि) तो भी वे नय (दुर्वारः बलवान इव) दुर्वार बलवान् की तरह (किल) निश्चयसे (बलात्) बलपूर्वक (प्रवर्तते) प्रवृत्त होतें है।

भावार्थः— उक्त कथनसे तात्पर्य यह है कि यद्यपि सबही नय विकल्पात्मक होते है और वें हेय माने है तथापि दुर्वार योंद्धाके समान उनकी बलपूर्वक प्रवृत्ति पाई जाती है अर्थात लोकव्यवहारवश नयोंकी प्रवृत्ति रोकी नहीं जा सकती है।

नयमात्र विकल्पात्मक क्यों हैं ?।

अथ तद्यथा तथा सत्सन्मात्रं मन्यमान इह कश्चित्।
न विकल्पमतिक्रामति सदिति विकल्पस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ५११ ॥

स्थूलं वा सूक्ष्मं वा बाह्यान्तर्जल्पमात्रवर्णमयम्।
ज्ञानं तन्मयमिति वा नयकल्पो वाग्विलासत्वात् ॥ ५१२ ॥

अन्वयार्थः— (अथ तद्यथा) अब उसका खुलासा इसप्रकार है कि (यथा) जैसे (इह) यहांपर (सत्) सतको (सन्मात्रं मन्यमानः) सत मात्र माननेवाला (कश्चित्) कोई (विकल्पं न अतिक्रामति) विकल्पको उल्लंघन नही कर सकता है क्योंकि उसके भी (सदिति) सत यह (विकल्पस्य) विकल्प (दुर्निवार

त्वात्) दुर्निवार है ('तथा:,) वैसेही (स्थूलं) स्थूल (वा) अथवा (सूक्ष्मं वा) सूक्ष्म भी जो (वाग्यान्तर्ज ल्पमात्रवर्णमयं) संपूर्ण बाह्य जल्पात्मक वर्ण विकार तथा अन्तर्जल्पात्मक वर्ण विकार और (तन्मयं ज्ञानं) तदाकार ज्ञान (इति वा) यह भी अर्थात् ये तीनोंही (वाग्विलासत्वात्) वचनके विलास होनेसे अथवा तदनु- कूल अंशात्मक ज्ञान होनेसे (नयकल्पः) नयके विकल्प है ।

भावार्थः-- जैसे कि केवल सत्रूपही सतको माननेवाला भी कोई व्यक्ति, विकल्प कोटिके बाहर नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उसके द्वारा भी सत् यह विकल्प किसी प्रकारसे रोका नहीं जा सकता है। वैसेही बाह्य- जल्पात्मक तथा अन्तर्जल्पात्मक वाक्य और उन वाक्योंके आकारका ज्ञान यह सब वचन विलास होनेके कारण नयके विकल्प हैं अर्थात् विकल्पपनेका उलंघन नहीं कर सकते हैं। अथवा।

अवलोक्य वस्तुधर्मं प्रतिनियतं प्रतिविशिष्टमेकैकम् ।
संज्ञाकरणं यदि वा तद्वागुपचर्यंते च नयः ॥ ५१३ ॥

अन्वयार्थ — (यदि वा) अथवा (प्रतिनियतं) प्रतिनियत (प्रतिविशिष्टं) अपनी २ विशेषता ओसे युक्त (एकैकं) प्रत्येक (वस्तुधर्मं) वस्तुधर्मको (अवलोक्य) देखकर जो (संज्ञाकरणं) ज्ञानमें संज्ञा करना [च] और [तद्वाक्) उसका वाचक वचन भी [नय उपचर्यंते] उपचारसे नय कहा जाता है ।

भावार्थः— अथवा वस्तुके प्रत्येक विशेष धर्मको अवलोकन करके जो ज्ञानाकार संज्ञाकरण और उसका प्रतिपादक वचन है उसेही उपचारसे नय कहते हैं अर्थात प्रतिनियत धर्म विशेषको अवलम्बन करके उत्पन्न होनेवाला ज्ञान तथा उसका प्रतिपादक वचन नय कहलाता है। दृष्टान्त।

अथ तद्यथा यथाग्नेरौष्ण्यं धर्मं समक्षतोऽपेक्ष्य ।
उष्णोऽग्निरिति वागिह तज्ज्ञानं वा नयोपचारः स्यात् ॥ ५१४ ॥

अन्वयार्थः— (अथ तद्यथा) अब उसका खुलासा इसप्रकार है कि (यथा) जैसे (इह) यहांपर (समक्षतः) प्रत्यक्षसे (अग्ने) अग्निके (औष्ण्य धर्मं अपेक्ष्य) उष्णतारूप धर्मको देखकरके (अग्नि

उष्णः) अग्नि उष्ण है (इति वाक्) इसप्रकारका वचन (वा) अथवा (तज्ज्ञानं) उस वचनानुसारी ज्ञान (नयोपचारः स्यात्) नयोपचार है ।

भावार्थः— जैसे अग्निके उष्णता धर्मको देखकरके अग्नि उष्ण है इत्याकारक ज्ञान और उस ज्ञानका वाचक 'उष्णोग्निः, यह वचन दोनोही उपचारसे नय कहलाते हैं।

इह किल छिदानिदानं स्यादिह परशुः स्वतन्त्र एव यथा ।
न तथा नयः स्वतन्त्रो धर्मविशिष्टं करोति वस्तुबलात् ॥ ५१५ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (इह) इसलोकमें (किल) निश्चयकरके (छिदानिदानं) भेदका मूल कारण (परशुः) फरशा (स्वतंत्र एव) स्वतंत्रही (स्यात्) होता है (तथा) वैसे (इह) यहांपर (नयः) नय (स्वतंत्रः) स्वतंत्र होकर (वस्तु) वस्तुको (बलात्) बलपूर्वक (धर्मविशिष्ट न करोति) धर्म विशिष्ट नहीं करता है ।

भावार्थ — जैसे फर्सा स्वतंत्र होकर भेदका करनेवाला है वैसे नय स्वतत्र होकर वस्तुको बलपूर्वक धर्म विशिष्ट नहीं करता है। किन्तु वस्तुमें अनन्तधर्म होनेसे तथा शब्दमें युगपत् सब धर्मोके प्रतिपादन करनेकी शक्ति न होनेसे, लोकव्यवहारवश, वस्तुगत एक २ विशेष २ धर्मकी अपेक्षासेही, होनेवाला ज्ञान व तदनुसार कहा जानेवाला शब्द, उपचारसे नय कहलाता है।

इसप्रकार ५०४ वें पद्यसे लेकर यहातक ज्ञानात्मक और वचनात्मक दोनोही प्रकारके नयोको विकल्पात्मक सिद्ध करके क्रमपूर्वक नयोंके वर्णन करनेके लिए नयोंके मूलभेदोका वर्णन करते हैं।

एकः सर्वोऽपि नयो भवति विकल्पाविशेषतोऽपि नयात् ।
अपि च द्विविधः स यथा स्वविषयभेदे विकल्पद्वैविध्यात् ॥ ५१६ ॥
एकोद्रव्यार्थिक इति पर्यायार्थिक इति द्वितीयः स्यात् ।
सर्वेषां च नयानां मूलमिवेदं नयद्वयं यावत् ॥ ५१७ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (विकल्पविशेषतोऽपिनयात्) विकल्प सामान्यरुप नयके लक्षणकी

अपेक्षासे विकल्पात्मक ज्ञानकी अपेक्षासे (सर्वोऽपि नयः) संपूर्ण ही नय (एकः भवति) एक होतें है वैसेही (स च) वे सब नय (स्वविषयभेदे) अपने विषयके भेद होनेपर (विकल्पद्वैविध्यात्) विकल्पके द्वैविध्यसे अर्थात् दो प्रकारके विकल्प होनेसे (एको द्रव्यार्थिक इति) एक द्रव्यार्थिक तथा (द्वितीयः पर्यायार्थिकः) दूसरा पर्यायार्थिक (इति) इस प्रकारसे (द्विविधः अपि स्यात्) दो प्रकारके भी होतें है (च) और (सर्वेषां नयानां] संपूर्ण नयोंका [इदंनयद्वयं यावत्] इन दोनों नयोंतक [मूलं इव] मूल स्थान है अर्थात् संपूर्ण न । इन दोनों नयोंकेही भेद है।

भावार्थः— विकल्प सामान्यकी अपेक्षासे नय एक है। और विषय भेदके कारण वह नय द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिकके भेदसे दो प्रकारका है। इन्हीं दोनों नयोंकेही नैगम संग्रहादिक सब उत्तरभेद माने गये है। इसलिए द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनो नयही उत्तरोत्तर होनेवाले भेद प्रभेदोके मूलस्थान है।

द्रव्यार्थिक नयका निरूक्त्यर्थ।

द्रव्यं सन्मुख्यतया केवलमर्थः प्रयोजनं यस्य ।
भवति द्रव्यार्थिक इति नयः स्वधात्वर्थसंज्ञकश्चैकः ॥ ५१८ ॥

अन्वयार्थः— [मुख्यनया] मुख्यपनेसे [केवलं] केवल [द्रव्यं] द्रव्य अर्थात् [सत्] सत है [अर्थः] अर्थ अर्थात् [प्रयोजनं यस्य] प्रयोजन जिसके ऐसा [इति] यह [स्वधात्वर्थ संज्ञकः] अपने धात्वर्थके अनुसार संज्ञावाला [द्रव्यार्थिकः नयः] द्रव्यार्थिक नय [भवति] है [च] और वह [एक] एक है।

भावार्थः— पर्याय सापेक्ष द्रव्यको मुख्यतासे विषय करनेवाले नयको द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यार्थिक शद्ध द्रव्य और अर्थ इन दो शद्धोंसे बना है। मुख्यतासे द्रव्य है अर्थ प्रयोजन जिसका उसको द्रव्यार्थिक कहते है। इसलिए द्रव्यार्थिक शद्ध अन्वर्थ शद्ध है। द्रव्य शद्ध सामान्यका वाचक है। अतः सामान्यतत्वको विषय करनेवाले नयको द्रव्यार्थिक नय कहते है। यह नय सामान्य तत्वको विषय करनेके कारण अभेदका साधक है। इसलिए एकही है नाना नहीं।

पर्यायार्थिक नयका निरूक्त्यर्थ।

अंशाः पर्याया इति तन्मध्ये यो विवक्षितोंऽशः सः ।
अर्थो यस्येति मतः पर्यायार्थिकनयस्त्वनेकश्च ॥ ५१९ ॥

अन्वयार्थः— (अंशाः पर्याया) अंश नाम पर्यायोंका है (इति) इसलिए (तन्मध्ये) उन अंशों-के मध्यमें (विवक्षितः) विवक्षित (यः) जो (अंशः) अंश है (सः) वह अंश है (अर्थ यस्य) प्रयोजन जिसका ऐसा (इति) यह (पर्यायार्थिकः नयः मतः) पर्यायार्थिक नय माना गया है (तु) और वह (अनेकश्च) अनेक भी है।

भावार्थ — द्रव्यसापेक्ष पर्यायको मुख्यतासे विषय करनेवाले नयको पर्यायार्थिक नय कहते हैं। यह नय भेद प्रभेदोंको विषय करता है। इसलिए अनेक है। प्रतिज्ञा।

अधुना रूपदर्शनं संदृष्टिपुरस्सरं द्वयोर्वक्ष्ये ।
श्रुतपूर्वमिव सर्वं भवति च यद्वाऽनुभूतपूर्वं तत् ॥ ५२० ॥

अन्वयार्थः— (अधुना) ग्रंथकार कहते हैं कि अब मैं इससमय (संदृष्टि पुरस्सरं) दृष्टांतपूर्वक (द्वयोः) उन दोनों नयोंके (रूपदर्शन) स्वरूपको (वक्ष्ये) कहता हूं (यत्) जिससे कि (तत्सर्वं च) वह सबही कथन कहने सुननेवालोंको (अनुभूतपूर्वं इव) पूर्वमें अनुभव किये हुएकी तरह (वा) अथवा (श्रुत पूर्वं इव) पूर्वमें सुने हुएकी तरह (भवति) हो जाता है ।

भावार्थः— जो सबको पूर्वानुभूत तथा पूर्वश्रुतकी तरह प्रतीत हो इसरीतिसे ग्रन्थकार दृष्टान्तपूर्वक अब उन दोनों नयोंका लक्षण कहते हैं। व्यवहारनय पर्यायार्थिक नयकाही नाम है।

पर्यायार्थिक नय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति ।
एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात् ॥ ५२१ ॥

अन्वयार्थः— (पर्यायार्थिक इति नयः) पर्यायार्थिक यह नय (यदि वा) अथवा (व्यवहार इति नाम) व्यवहार यह संज्ञा इसप्रकार ये दोनो भी (एकार्थः एव) एकही अर्थके वाचक है (यस्मात्) क्योंकि (इह) यहापर (सर्वोऽपि) सबही व्यवहार (उपचारमात्र स्यात्) केवल उपचाररूप होता है।

भावार्थः— यहापर पर्यायार्थिकनय और व्यवहारनयका एकही अर्थ है। क्योंकि पर्यायार्थिकनयसम्बन्धी सबही व्यवहार केवल उपचारसे होता है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंमेंसे पहले पर्यायार्थिक नयके निरूपण करनेका प्रयोजन यह है कि पर्यायार्थिकनय प्रतिषेध्य तथा द्रव्यार्थिक प्रतिषेधक माना है।

व्यवहारनयका अन्वर्थ अर्थ।

व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शद्बार्थतो न परमार्थः ।
स यथा गुणगुणिनोरिह सदभेदे भेदकरणं स्यात् ॥ ५२२ ॥

अन्वयार्थः— (**व्यवहरणं व्यवहारः इति**) विधीपूर्वक भेद करनेका नाम व्यवहार है और (**इति**) यह (**शद्बार्थत स्यात्**) शद्बार्थसे अर्थात् व्यवहार शद्बकी निरुक्तिसे कहा जाता है (**परमार्थः न**) वास्तवीक नहीं है (**यथा**) जैसेकि (**इह**) यहांपर (**गुणगुणिनो**) गुण और गुणीमें (**सदभेदे**) सतरूपसे अभेद होनेपर ('**सत्, भेदकरण**) जो भेद करना है वह (**सः**) व्यवहारनय (**स्यात्**) कहलाता है।

भावार्थः— विधिपूर्वक भेद करनेको व्यवहार कहते है। यह शद्बका निरूक्त्यर्थ है। द्रव्यमें उपचारसे भेद होता है वास्ताविक नहीं। इसलिए व्यवहारनयका अर्थ गुण और गुणीमे सत् रूपसे अभेद होनेपर भी भेद करना है।

आगे व्यवहारके निमित्त और प्रयोजनको बताते हैं। व्यवहारमें निमित्त।

साधारणगुण इति वा यदि वाऽसाधारणः सतस्तस्य।
भवति विवक्ष्या हि यदा व्यवहारनयस्तदा श्रेयान् ॥ ५२३ ॥

अन्वयार्थः— (**यदा**) जिससमय (**तस्य सतः**) उस सतके (**साधारणगुण**) साधारण गुण [**यदि वा**] अथवा [**असाधारणः इति वा**] असाधारण गुण इन दोनों गुणोंमेंसे कोई एक गुण भी (**विवक्ष्यो भवति**] विवक्षित होता है (**तदा**) उसीसमय [**हि**] निश्चय करके [**व्यवहारनयः**] व्यवहारनय [**श्रेयान**] ठीक कहलाता है।

भावार्थः— सतके साधारण और असाधारण दो प्रकारके गुण माने है। उन दोनोही प्रकारके गुणोंमेंसे किसी भी एक गुणके विवाक्षित होनेपर जो व्यवहार किया जाता है वही व्यवहार, व्यवहारनय कहलाता है अन्यथा नहीं।

व्यवहारका प्रयोजन।

फलमास्तिक्यमतिः स्यादनंतधर्मैकधर्मिणस्तस्य।
गुणसद्भावे नियमाद्द्रव्यास्तित्वस्य सुप्रतीतत्वात् ॥ ५२४ ॥

अन्वयार्थः— (अनन्तधर्मैकधर्मिणः) अनंतधर्मवाले धर्मीके विषयमें (आस्तिक्यमतिः) आस्तिक्य बुद्धिका होना ही (तस्य फलं स्यात्) उस व्यवहारनयका फल है क्योंकि (गुणसद्भावे) गुणोंका आस्तित्व माननेपर ही (नियमात्) नियमसे (द्रव्यास्तित्वस्य) द्रव्यका आस्तित्व (सुप्रतीतत्वात्) प्रतीत होता है।

भावार्थ — उक्त प्रकारके व्यवहारके माननेका प्रयोजन यह है कि अनन्त धर्मात्मक मतकी वास्तवीक प्रतीति उन गुणोंके सद्भावसेही हुआ करती है इसी प्रयोजनवश व्यवहारको उपयोगी नय माना है।

व्यवहार नयके भेद।

व्यवहारनयो द्वेधा सद्भूतस्त्वथ भवेदसद्भूतः।
सद्भूतस्तद्गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृत्तिमात्रत्वात् ॥ ५२५ ॥

अन्वयार्थः— (सद्भूत) सद्भूत (अथ तु) और (असद्भूत) असद्भूत इसप्रकारसे (व्यवहार नयः) व्यवहारनय (द्वेधा) दो प्रकारका (भवेत्) होता है उनमेंसे (तद्गुणः सद्भूतः इति) विवक्षित उस वस्तुके गुणोंका नाम सद्भूत तथा (तत्प्रवृत्तिमात्रत्वात्) उन गुणोंकी उसी वस्तुमें भेदरूप प्रवृत्तिमात्रका नाम (व्यवहार) व्यवहार है।

भावार्थः— व्यवहार नयके दो भेद है एक सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा असद्भूत व्यवहारनय। उनमेंसे विवक्षित किसी द्रव्यके गुणोंको उसी द्रव्यमें भेदरूपसे प्रवृत्ति करानेवाले नयका नाम सद्भूत व्यवहार नय है।

सद्भूत व्यवहारमे निमित्त।

अत्र निदानं च यथा सदसाधारणगुणा विवक्ष्यः स्यात्।
अविवक्षितोऽथवापि च सत्साधारणगुणो न चान्यतरात् ॥ ५२६ ॥

अन्वयार्थः— (**अत्र**) सद्भूत व्यवहार नयकी प्रवृत्तिमें (**निदानं च**) मूल कारण भी यह है कि (**यथा**) जैसे कहींपर जब (**सदसाधारणगुणः**) सत्का कोई विशेष गुण (**अथवा सत् साधारणगुणोऽपि च**) अथवा सत्का कोई साधारण गुण भी (**विवक्ष्य. स्यात्**) विवक्षा करनेके योग्य होता है अर्थात मुख्य गौण विवक्षासे सत्के साधारण व असाधारण गुणकी विवक्षा होती है तब सद्भूत व्यवहारनय होता है (**अन्यतरात् अविवक्षितः न च**) मुख्य गौण विवक्षाको छोडकर केवल साधारण व असाधारण गुणके निमित्तसे सद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्ति नहीं होती है।

भावार्थः— मुख्य गौण विवक्षावश साधारण व असाधारण गुणोंकी विवक्षा करनेपर सद्भुत व्यवहारनय प्रवृत्त होता है यही सद्भुत व्यवहार नयका कारण है।

सद्भूत व्यवहार नयका प्रयोजन।

अस्यावगमे फलमिति तादितरवस्तुनि निषधबुद्धिः स्यात्।
इतरविभिन्नो नय इति भेदाभिव्यजको न नयः ॥ ५२७ ॥

अन्वयार्थ— (**अस्यावगमे इति फलं**) इसके अनुसार ज्ञान होनेपर अर्थात इस नयका प्रयोजन यह है कि (**तदितरवस्तुनि निषेधबुद्धिः स्यात्**) उसमे इतर वस्तुमे निषेध बुद्धि हो जाती है क्योंकि (**इतरविभिन्न नयः**) दूसरेसे विकल्पवश भिन्न होना नय है किंतु (**भेदाभिव्यञ्जको नयः न**) नय, कुछ भेदका अभिव्यजक नहीं है।

भावार्थः— 'सति निमित्ते प्रयोजने चोपचारः प्रवर्तते, अर्थात् निमित्त और प्रयोजनके मिलनेपर उपचारकी प्रवृत्ति हुआ करती है। सद्भुत व्यवहारनय उपचारसे व्यवहार नय है। इसमें निमित्त केवल सत्के साधारण व असाधारण गुणकी विवक्ष्यता है। और प्रयोजन विवक्षितसे इतर वस्तुमें निषेधबुद्धिका होना है। इसलिए निमित्त तथा प्रयोजनके मिल जानेसे सद्भुत व्यवहारनय उपचारसे व्यवहारनय है यह सिद्ध होता है। क्योंकि विकल्पवश नय विभिन्न होता है। नय स्वतंत्र होकर भेदका करनेवाला नहीं है।

अस्तमितसर्वसंकरदोषं क्षतसर्वशून्यदोषं वा।
अणुरिव वस्तुसमस्तं ज्ञानं भवतीत्यनन्यशरणमिदम ॥ ५२८ ॥

अन्वयार्थ — (**अस्तमितसर्वसंकरदोष**) संपूर्ण संकर दोपोंसे रहित (**वा**) तथा (**क्षतसर्व शून्यदोषं**) सर्वशून्य दोपोंसे रहित (**इदं समस्तं वस्तु**) यह संपूर्ण वस्तु इस सद्भूतव्यवहार नयके कारण (**अणुरिव**) अणुकी तरह (**अनन्यशरणं**) अनन्यशरण है अर्थात् कोई किसीवस्तुका शरण नहीं है (**इति ज्ञान भवति**) ऐसा ज्ञान होता है।

भावार्थः— साराश यह है कि सद्भुत व्यवहारनयके कारण समस्त वस्तु निर्दोष रीतिसे स्वतंत्र अनन्य शरणके समान प्रतीत होने लगती है।

इसप्रकार सद्भूत व्यवहारनयका निरूपण करके अब आगे असद्भूत व्यवहारनयका निरूपण करते हैं।

असद्भूत व्यवहार नयका लक्षण।

अपि चाऽसद्भूतादिव्यवहारान्तो नयश्च भवति यथा।
अन्यद्रव्यस्य गुणाः संजायन्ते बलात्तादन्यत्र ॥ ५२९ ॥

अन्वयार्थः— (**अपि च**) और वह (**असद्भूतादिव्यवहारान्तः नयश्च भवति**) असद्भूत व्यवहार नय है कि (**यतः**) जिससे (**अन्यद्रव्यस्य गुणाः**) अन्य द्रव्यके गुण (**बलात्**) बल पूर्वक अर्थात् उपचार सामर्थ्यसे (**तदन्यत्र**) उससे भिन्न अन्य द्रव्यके (**सजायन्ते**) कहे जाते है अर्थात् अन्य द्रव्यमें आरोपित किये जाते है।

भावार्थ — जिसके द्वारा अन्य द्रव्यके गुण उपचार सामर्थ्यसे अन्य द्रव्यमें आरोपित किये जाते हैं उसको असदभूत व्यवहार नय कहते है। जिसका उपचार किया जा रहा है वह वास्तवमे उसमें नहीं हैं इसलिए इस नयको असद्भुत कहते है। और व्यवहार होता है इसलिए व्यवहार कहते है। इसप्रकार इस नयका असदभुत व्यवहार यह नाम इस अर्थसामर्थ्यसे पडता है।

दृष्टान्त।

स यथा वर्णादिमतो मूर्तद्रव्यस्य कर्म किल मूर्तम् ।
तत्संयोगत्वादिह मूर्ताः क्रोधादयोऽपि जीवभवाः ॥ ५३० ॥

अन्वयार्थः— (**स यथा**) वह इस प्रकार है जैसे कि (**वर्णादिमतः मूर्तद्रव्यस्य**) वर्णादिमान् मूर्त

द्रव्यके जो (किल) निश्चय करके (मूर्तं कर्म) मूर्तीक कर्म है (तत्संयोगत्वात्) उन मूर्त कर्मोंके संयोगसे–एक-
त्व बुद्धि जनक सम्बन्ध विशेषसे (इह) यहांपर (जीवभवाः) जीवमें उत्पन्न होनेवाले (क्रोधादयोऽपि) क्रोधा-
दिकभी (मूर्ताः) मूर्त कहे जाते हैं।

भावार्थः— मूर्तीक कर्मके निमित्तसे जीवके भाव क्रोधादिकको मूर्तीक कहना असद्भुत व्यवहारनय है। जीव
में मूर्तीकपना बिलकुल नहीं है। परन्तु वैभाविक शक्तिके कारण मूर्तीक कर्मके साथ जीवका अनादि सम्बन्ध है इस-
लिए क्रोधादिक भाव उपचारसे मूर्तीक कहे जाते हैं। नहीं है, इसलिए असद्भूत तथा, अनादि संयोगके कारण, व्यव-
हार, किया जाता है इसलिए व्यवहार कहकर इस नयको असद्भुत व्यवहारनय कहते हैं।

आगे ऐसे कथनके लिए निमित्त और प्रयोजनको बताते हैं।

निमित्त।

कारणमन्तर्लीना द्रव्यस्य विभावभावशक्तिः स्यात्।
सा भवति सहजसिद्धा केवलमिह जीवपुद्गलयोः ॥ ५३१ ॥

अन्वयार्थः— (**कारण**) उस असद्भूत व्यवहारनयमें कारण (**अन्तर्लीना**) अंतर्लीन (**द्रव्यस्य**)
द्रव्यको (**विभावभावशक्तिः स्यात्**) वैभाविक शक्ति है और (**सा**) वह (**इह**) यहांपर (**केवलं**) केवल
(**जीवपुद्गलयोः**) जीव तथा पुद्गलमें (**सहजसिद्धा भवति**) सहज सिद्ध मानी गई है।

भावार्थ — जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें एक वैभाविक नामकी शक्ति है। उसके निमित्तसे पुद्गलका
पुद्गलके तथा जीवके साथ और जीवका पुद्गलके साथ अनादि कालसे सम्बन्ध हो रहा है अर्थात् पुद्गलोंमें सजातीय तथा
विजातीय दोनों प्रकारके बन्ध होते हैं। और जीवमें केवल पुद्गलके साथ विजातीय बन्ध होता है। सजातीय नहीं।
यह वैभाविक शक्ति भी स्वाभाविक है। इसके निमित्तसे जीवका बंध पुद्गलके साथ हो रहा है। अतः भावक्रोधादिक-
को असद्भुत व्यवहारनयसे मूर्तीक कहनेमें कारण यही वैभाविक शक्ति है।

प्रयोजन।

फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय यावदिह।
शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित् ॥ ५३२ ॥

अन्वयार्थः— (**फलं**) उस असद्भूत व्यवहार नयके माननेका फल यह है कि (**इह**) यहांपर (**आगन्तुकभावात्**) क्रोधादिकको परके निमित्तसे होनेवाले भाव होनेसे, (**यावत् उपाधिमात्र विहाय**) संपूर्ण उपाधिमात्रको छोडकरके (**शेषः**) शेष (**तच्छुद्धगुणः स्यात्**) उसका–जीवका शुद्ध गुण है (**इति मत्वा**) ऐसा मानकरके (**इह**) यहांपर (**कश्चित्**) कोई पुरुष (**सुदृष्टिः**) सम्यग्दृष्टी हो सकता है।

भावार्थः— असद्भुत व्यवहार नयका प्रयोजन यह है कि जो जीवके रागादिकको मूर्तिक कहा गया है वह असद्भुत व्यवहार नयसे है निश्चय नयसे नहीं। अतः कोई भव्यात्मा, उपाधि मात्र अंशको त्याग कर निश्चय तत्वके ग्रहण करनेका इच्छुक होता हुआ, सम्यग्दृष्टी हो सकता है। कारणकि निश्चय नयही सब नयोंमें उपादेय है। इतर नय नहीं। इतर नय तो केवल परिस्थितिवश प्रतिपाद्य विषयका निरूपण मात्र करते है इसलिए निश्चय नयही कल्याणकारी है। यद्यपि उक्त असद्भुत व्यवहार नयका व्यवहार, व्यवहार है परन्तु वह उपादेय नहीं है। ऐसा समझकर इस नयके विषयको समझ लेनेके अनन्तर निश्चय नयके विषयमें दृष्टि रखनेवाला आत्मा सम्यग्दृष्टि हो सकता है यही इस नयके बतानेका मुख्य प्रयोजन है।

दृष्टान्त।

अत्रापि च संदृष्टिः परगुणयोगाच्च पाण्डुरः कनकः।
हित्वा परगुणयोगं स एव शुद्धोऽनुभूयते कैश्चित्॥ ५३३॥

अन्वयार्थः— (**अत्र च सन्दृष्टिः अपि**) यहांपर दृष्टांत भी है कि जैसे (**परगुणयोगाच्च**) दूसरेके गुणोंके संबंधसे ही (**कनकः**) सुवर्ण (**पांडुर**) पांडुर सफेद हो जाता है परतु (**परगुणयोगं हित्वा**) परगुणके संबंधको छोडकरके (**स एव**) वही सुवर्ण (**कैश्चित्**) किन्हीं पुरुषोंके द्वारा (**शुद्धः अनुभूयते**) शुद्ध अनुभव किया जाता है।

भावार्थः— जैसे सोनेमें चांदीके मिल जानेसे जो सफेदी आ जाती है वह उस अवस्थामें सोनेकी सफेदी कदाचित् असद्भुत व्यवहार नयसे कही जा सकती है। किन्तु वास्तवमें सोनेमें सफेदी होती ही नहीं है। केवल पर-वस्तुके गुणोंके योगसे आती है ऐसा समझकर कोई न कोई पुरुष शुद्ध सोनेके गुरुत्व पीतत्वादि गुणोंकाही अनुभव करता है। वैसेही भाव क्रोधादिक भी वास्तवमें मूर्तिक नहीं है। केवल मूर्तिक द्रव्यके संयोगसे मूर्तीक कहे जाते है ऐसा समझकर कोई आत्मा शुद्ध अमूर्तिक आत्माका अनुभव करनेवाला हो जाता है।

आगे सद्भूत और असद्भूत व्यवहारनयके भेदोंका निरूपण करते हैं।

सद्भूतव्यवहारोऽनुपचारितोस्ति च तथोपचरितश्च।
अपि चाऽसद्भूतः सोनुपचारितोस्ति च तथोपचरितश्च ॥ ५३४ ॥

अन्वयार्थः— (सद्भूतव्यवहारः) सद्भूत व्यवहारनय (अनुपचरितः) अनुपचारित (तथा च) और (उपचरितश्च) उपचारित इसतरह दो प्रकारका (अस्ति) है (अपि च) तथा जो (असद्भूतः) असद्भूत व्यवहारनय है (स च) वह भी (अनुपचरित.) अनुपचरित (तथा च) और (उपचरितः) उपचरित इस तरह दोप्रकारका है।

भावार्थः— सदभूत व्यवहारनयके अनुपचारित और उपचरित इस तरह दो भेद हैं। तथा असदभूत व्यवहारनयके भी अनुपचारित और उपचारित इसतरह दो भेद हैं। इसप्रकार व्यवहारनयके १ अनुपचारित सद्भुत व्यवहारनय २ उपचरित सदभूत व्यवहारनय ३ अनुपचारित असदभूत व्यवहारनय तथा ४ उपचरित असदभुत व्यवहारनय इसतरह चार भेद हो जाते हैं।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनयका लक्षण।

स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः।
तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ॥ ५३५ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (यस्य सतः) जिस पदार्थकी (या) जो (अन्तर्लीना) अंतर्लीन (शक्तिः अस्ति) शक्ति है (तत्तत्सामान्यतया) उस शक्तिके सामान्यपनेसे उस पदार्थका (चेत्) यदि (विशेषनिरपेक्षं) विशेषकी अपेक्षा न करके (निरूप्यते) निरूपण किया जाता है तो वह (आदिमः स्यात्) अनुपचरित सदभुत व्यवहारनय कहलाता है।

भावार्थ— जिस पदार्थकी जो अन्तर्लीन शक्ति है केवल उस शक्ति मुखसे ही उसके निरूपण करनेको अनुपचरित सदभूत व्यवहारनय कहते हैं।

उदाहरणपूर्वक खुलासा।

इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः।
ज्ञेयालंबनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवि स्यात् ॥ ५३६ ॥

अन्वयार्थः— (**अत्र इदं उदाहरणं**) यहांपर यह उदाहरण है कि जैसे (**जीवगुणः**) जीवका गुण (**ज्ञानं**) ज्ञान (**जीवोपजीवि**) जीवोपजीवि है (**तथा**) वैसे वह (**ज्ञेयालंबनकाले**) ज्ञेयके अवलंबनके कालमें अर्थात् ज्ञेयको विषय करते समय (**ज्ञेयोपजीवी**) ज्ञेयोपजीवी (**न स्यात्**) नहीं होता है ।

भावार्थः— यद्यपि ज्ञान जिससमय जिस विषयको विषय करता है उससमय उसे वही कहते हैं जैसे कि घटको विषय करनेसे ज्ञान, घटज्ञान कहलाता है तथापि अनुपचरित सद्भुत व्यवहारनयकी दृष्टिसे यह कथन ठीक नहीं है । इसलिए ज्ञानको ज्ञेयोपजीवी न कहकर केवल आत्मोपजीवीही कहना अर्थात ज्ञानको घटज्ञान न कहकर ज्ञान कहना अनुपचरित सद्भुत व्यवहारनयका विषय है।

घटसद्भावे हि यथा घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ।
अस्ति घटाभावेपि च घटानिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ॥ ५३७ ॥

अन्वयार्थः—(**यथा**) जैसे (**हि**) निश्चयकरके (**घटसद्भावे**) घटके सद्भावमें (**घटनिरपेक्षं**) घटकी अपेक्षा न करके (**चिदेव**) केवल चैतन्य–ज्ञानही (**जीवगुणः**) जीवका गुण है वैसे (**घटाऽभावेऽपि च**) घटके अभावमें भी (**घटनिरपेक्षं**) घटकी अपेक्षा न करके (**चिदेव**) केवल ज्ञानही (**जीवगुणः अस्ति**) जीवका गुण है ।

भावार्थः— जैसे घटके जानते समय ज्ञान घट निरपेक्ष रहता है अर्थात् सिर्फ ज्ञानरूपही रहता है । वैसेही वह ज्ञान घटके न जानते समय भी सिर्फ ज्ञानरूपही रहता है अर्थात् ज्ञेयके आश्रयसे ज्ञानमें कुछ विशेषता नहीं आ जाती है। क्योंकि वास्तवमें आत्माके ज्ञानगुणसे ज्ञेयका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए इसे अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। किसी प्रकारसे ज्ञेयाश्रित धर्मकी अपेक्षाका निरूपण न करनेसे इस नयको अनुपचरित, और जिस द्रव्यका गुण है उसका उसीमें प्रतिपादन करनेसे सद्भुत, तथा व्यवहार किया जाता है, इसलिए व्यवहार, कहते है। इसप्रकार इस नयका नाम अनुपचरित सद्भुत व्यवहार नय है।

एतेन निरस्तं यन्मतमेतत्साति घटे घटज्ञानम् ।
असति घटे न ज्ञानं न घटज्ञानं प्रमाणशून्यत्वात् ॥ ५३८ ॥

अन्वयार्थः— (**एतेन**) इस कथनके द्वारा (**यत् एतत् मतं**) जो यह मत है कि (**घटे सति**) घटके रहनेपर (**घटज्ञानं**) घटका ज्ञान होता है और (**घटे-असति**) घटके नहीं रहनेपर (**न ज्ञानं**) न तो ज्ञान होता है तथा (**न घटज्ञानं**) न घटज्ञान होता है यह मत (**प्रमाणशून्यत्वात्**) प्रमाणके द्वारा शून्य होनेसे (**निरस्तं**) खंडित होगया।

भावार्थ— अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनयका ऐसा विषय माननेसें ज्ञानको अर्थजन्य माननेवालोका निराकरण हो जाता है। क्योंकि ज्ञानको अर्थजन्य माननेवालोंका जो यह कथन है कि घटके सद्भावमेंही घटज्ञान हो सकता है घटके अभावमें नहीं वह कथन प्रमाणीक न होनेसे विघटित–खंडित हो जाता है।

प्रयोजन।

फलमास्तिक्यनिदानं सद्द्रव्ये वास्तवप्रतीतिः स्यात्।
भवति क्षणिकादिमते परमोपेक्षा यतो विनायासात ॥ ५३९ ॥

अन्वयार्थः— (**सत् द्रव्ये**) सत्‌रूप द्रव्यमें (**आस्तिक्यनिदान**) आस्तिक्यपूर्वक (**वास्तवप्रतीतिः**) यथार्थ प्रतीतिका होनाही (**फलं स्यात्**) इस नयका फल है (**यतः**) क्योंकि इस नयके द्वारा (**आयासात् विना**) विना किसी परिश्रमके (**क्षणिकादिमते**) क्षणिकादि मतोंमें (**परमोपेक्षा भवति**) परम उपेक्षा हो जाती हैं।

भावार्थः— अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनयका प्रयोजन यह है कि वस्तुमें वास्तविक प्रतीतिका होनाही सम्यग्दर्शनका मूलकारण है। और वह वास्तविक प्रतीति अनुपचरित सद्भुत व्यवहारनयसे होती है। तथा इस नयके द्वाराही क्षणिकैकान्त आदिक एकान्त व विपरीतादि मतोंमें विना किसी प्रयत्नके परम उपेक्षा भाव हो जाता है। इसलिए सिद्ध होता है कि पदार्थोंकी वास्तविकताही अनुपचरित सद्भुत व्यवहारनयका प्रयोजन है।

इसप्रकार अनुपचरित सद्भुत व्यवहारनयका निरूपण करके आगे-उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका निरूपण करते है।

१ ग्रन्थकारने इसनयका निमित्त नहीं बताया।

उपचरित सद्भुत व्यवहारनयका लक्षण।

उपचरितः सद्भूतो व्यवहार. स्यान्नयो यथा नाम।
अविरुद्धं हेतुवशात्परतोऽप्युपचर्यते यतः स्वगुणः ॥ ५४० ॥

अन्वयार्थः— (यत) जिससे (अविरुद्धं) अविरोधपूर्वक (हेतुवशात्) किसी हेतुके वशसे (स्वगुणः अपि) अपना गुण भी (परतः) दूसरेमें (उपचर्यते) उपचरित किया जाता है वह (**यथानाम**) अन्वर्थ संज्ञावाला (उपचरितः सद्भूतः व्यवहारः नयः स्यात्) उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है।

भावार्थ — अविरोधभावसे युक्तिपूर्वक किसी द्रव्यके गुणोंका किसी अन्य द्रव्यमे उपचार करनेको उपचरित सद्भूत व्यवहारनय कहते है।

उदाहरण।

अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेऽधुनापि यथा।
अर्थः स्वपरनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारम् ॥ ५४१ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (अधुनाऽपि) इससमय (अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणं) अर्थ विकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है (इति) ऐसा जो (लक्ष्यते) कहा जाता हे वह उपचरित सद्भूत व्यवहार नयका उदाहरण है उसमेंसे यहांपर (स्वपरनिकायः अर्थः भवति) स्वपर समुदायको अर्थ कहते है (तु) और (चित्तदाकार विकल्पः) ज्ञानके स्व पर व्यवसायरूप होनेको विकल्प कहते है।

भावार्थ — 'अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाण' अर्थात् अर्थके विकल्पात्मक ज्ञानको प्रमाण कहना उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण है। अर्थ शब्दका अर्थ स्वपर पदार्थ और विकल्प शब्दका अर्थ तदाकार व व्यवसायात्मक होनेसे अर्थविकल्प शब्दका अर्थ स्वपरव्यवसायात्मक ज्ञान होता है। यही प्रमाणका लक्षण है। और यह उपचरित सद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षासे कहा जाता है।

असदपि लक्षणमेतत्सन्मात्रत्वे सुनिर्विकल्पत्वात्।
तदपि न विनावलम्बान्निर्विषयं शक्यते वक्तुम् ॥ ५४२ ॥

तस्मादनन्यशरणं सदपिज्ञानं स्वरूपसिद्धत्वात् ।
उपचरितं हेतुवशात् तदिहज्ञानं तदन्यशरणमिव ॥ ५४३ ॥

अन्वयार्थः— (सन्मात्रत्वे सुनिर्विकल्पत्वात्) निश्चयनयसे तत्वका स्वरूप केवल सत्‌रूप मानते हुए, निर्विकल्पताके कारण (एतत् अपि लक्षणं) यद्यपि उक्त लक्षण (असत्) ठीक नहीं है (तदपि) तो भी (अवलम्बात् विना) अवलंबनके विना (निर्विषयं) निर्विषय ज्ञानका स्वरूप (वक्तुं न शक्यते) कहा नहीं जाता है (तस्मात्) इसलिए (ज्ञानं) ज्ञान (स्वरूपसिद्धत्वात्) स्वरूपसे सिद्ध होनेसे (अनन्यशरणं सद् पि) अनन्य शरण होकरके भी—निरालम्ब होकरके भी (इह) यहापर (तत् ज्ञानं) वह ज्ञान (हेतुवशात्) हेतुके वशसे (उपचरितं) उपचरित होकर (तदन्यशरणं इव) उससे भिन्नके शरणकी तरह मालूम होता है अर्थात् स्वपर व्यवसायात्मक प्रतीत होता है ।

भावार्थः— यद्यपि ज्ञान निर्विकल्पक है । केवल सत् शब्दसेही प्रतिपादित हो सकता है । अत ज्ञानको अर्थ विकल्पात्मक कहना युक्त नहीं है । क्योंकि वह तो केवल सदात्मक और किसीके आश्रित नहीं होता हुआ केवल स्वरूपसिद्ध होनेसे निर्विकल्प है तथापि, उसका (निर्विकल्पका) स्वरूप किसी न किसीके अवलम्बनके विना नहीं कहा जा सकता है इसलिए युक्तिपूर्वक ज्ञेयका अवलम्बन करके वह, स्वपर व्यवसायात्मक, अर्थ विकल्पात्मक इत्यादि शब्दों-द्वारा कहा जाता है । और ज्ञेयाश्रितसा भासित होता है । ज्ञेयाश्रित कहना उपचारसे है इसलिए उपचरित, वास्तविक होनेसे सद्भूत, तथा व्यवहार होनेसे व्यवहार, इसप्रकार इस नयको उपचरित सद्भूत व्यवहारनय कहते हैं ।

कारण ।

हेतुस्वरूपासिद्धिं विना न परसिद्धिरप्रमाणत्वात् ।
तदपि च शक्तिविशेषाद्द्रव्यविशेषे यथा प्रमाणं स्यात् ॥ ५४४ ॥

अन्वयार्थः— (स्वरूपसिद्धि विना) स्वरूप सिद्धिके विना (परसिद्धिरप्रमाणत्वात् (पर सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि विना स्वरूपके सिद्ध हुए, परसिद्धिका होना अप्रमाणीक होता है और (यथाप्रमाणं) प्रमाणानुसार (तदपि च) वह प्रमाण अथवा उसका स्वरूप भी (शक्तिविशेषात्) अपनी स्वपर व्यवसायात्मकके

शक्तिविशेषसे (द्रव्यविशेषे स्यात्) द्रव्य विशेषके विषयमें होता है--प्रवृत्त होता है। (१)

(भावार्थ परिशिष्टमें देखिये।)

प्रयोजन।

अर्थो ज्ञेयज्ञायकसङ्करदोषभ्रमक्षयो यदि वा।
अविनाभावात् साध्यं सामान्यं साधको विशेषः स्यात् ॥ ५४५ ॥

अन्वयार्थः— (ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषभ्रमक्षयः) ज्ञेय ज्ञायकमें संभव होनेवाले संकरदोषके भ्रमको क्षय करना (यदि वा) अथवा (अविनाभावात्) अविनाभावसे (सामान्यं) सामान्यको (साध्यं) साध्य और (विशेषः) विशेषको साधक होनाही (अर्थः स्यात्) इस उपचरितसद्भूत व्यवहारनयका प्रयोजन है।

भावार्थः— और उपचरित सद्भुत व्यवहारनयकी अपेक्षासे अर्थ विकल्पको प्रमाण कहनेका प्रयोजन यह है कि ऐसा कहनेसे ज्ञान तथा ज्ञेयमें जो संकरपनेका भ्रम हो सकता है उस भ्रमका निवारण हो जाता है। क्योंकि ज्ञानको अर्थ विकल्पात्मक कहना उपचरित सद्भुत व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। 'ज्ञान' ज्ञायक है और 'स्वपर' ज्ञेय होते है अतः ज्ञान और ज्ञेयमें वास्तवमें संकरता नहीं होती है। तथा दूसरा प्रयोजन यह भी है कि अर्थ विकल्पात्मक विशेष ज्ञान साधक तथा सामान्यज्ञान साध्य है अर्थात् सामान्यज्ञान—अनुपचरित सद्भुत व्यवहारनयका विषय साध्य, और ज्ञानको अर्थ विकल्पात्मक कहना, उपचरित सद्भुत व्यवहारनयका विषय साधक है।

इसप्रकार सद्भुत व्यवहारनयके अनुपचरित और उपचरित भेदोंका निरूपण करके अब आगे–असद्भूत व्यवहारनयके अनुपचरित तथा उपचरित भेदोंका निरूपण करते हैं।

दृष्टान्तपूर्वक अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयका लक्षण।

अपि वाऽसद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा।
क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवाः ॥ ५४६ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे कि (चेत्) यदि (अबुद्धिभवा) अबुद्धिपूर्वक होनेवाले-अनुदयागत-उदयागत (क्रोधाद्याः) क्रोधादिक (जीवस्य हि) जीवके (विवक्षिताः) विवक्षित किए जावें तो (यः अनुप-

चरिताख्यः असद्भूतः नयः 'अस्ति,) जो अनुपचरित नामक असद्भूत व्यवहारनय कहलाता है (स भव ति) वह हो जाता है।

भावार्थः— * अबुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादिकको जीवके कहना अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। अबुद्धिपूर्वक क्रोधादिक अर्थात् जिनका उदय नहीं हो रहा है और उपयोगदशामय प्रवृत्ति नहीं है ऐसे क्रोधादिक वास्तवमें जीवके नहीं हैं इसलिए असद्भूत, और उनको जीवके कहनेमें किसी प्रकारका उपचार नहीं किया गया है इसलिए अनुपचरित, कहकर इसनयको अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय कहा है।

कारण।

कारणमिह यस्य सतो या शक्तिः स्याद्विभावभावमयी।
उपयोगदशाविष्टा सा शक्तिः स्यात्तदाप्यनन्यमयी॥ ५४७॥

अन्वयार्थ — (कारणं) अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिमें कारण यह है कि (इह) यहांपर (यस्य सतः) जिस सत्की (या) जो (विभावभावमयी) विभावभावमयी (शक्तिः स्यात्) शक्ति है (सा शक्तिः) वह शक्ति जिससमय (उपयोगदशाविष्टा) उपयोग दशासे युक्त होती है (तदाऽपि) उस समय भी (अनन्यमयी स्यात्) अनन्यमयी होती है।

भावार्थ — अनुपचरित असद्भुत व्यवहारनयसे अबुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादिकको जीवके कहनेमें कारण

---

* यहा अबुद्धिपूर्वक क्रोधादिकका अर्थ अनुदयप्राप्त सत्तागत क्रोधादिक है तथा बुद्धिपूर्वक औदयिक क्रोधादिकका अर्थ उदय अवस्थाको प्राप्त भाव क्रोधादिक किया है। शास्त्रांतरोंमें यद्यपि छट्टे गुणस्थानतक बुद्धिपूर्वक क्रोधादिक और आगेके गुणस्थानोंमें होनेवाले क्रोधादिकको अबुद्धिपूर्वक क्रोधादिक बताया है परन्तु वहांपर अबुद्धिपूर्वकका अर्थ अव्यक्त क्रोधादिक और बुद्धिपूर्वक क्रोधादिकका अर्थ व्यक्त क्रोधादिक होता है। अत. यह अर्थ यहापर नहीं गृहीत करना चाहिए। कारण दोनोंही प्रकारके क्रोधादिकमें केवल व्यक्त और अव्यक्त अवस्थाकृत भेद है औदायिकत्व दोनोंही भेदोंमें सदृश है किन्तु इस प्रकरणमें साध्य साधनपना भी बताना है अत. अबुद्धिपूर्वक उदयअवस्थाको प्राप्त न होकर सत्तामें रहनेवाले क्रोधादिक भाव साध्य और उदयागत भाव उनके साधक है यह अर्थ ठीक जचता है।

यह है कि जिस पदार्थकी जिस समय जो शक्ति विभावभावमयी हो रही है उससमय यदि वह उपयोगदशामय हो तो उसमें अभिन्नताका व्यवहार होने लगता है। अबुद्धिपूर्वक क्रोधादिक भाव, विभाव भाव हैं। इसलिए उनके लिए अनुपचरित और असद्भुत ये दोनों विशेषण दिये जा सकते हैं। तथा इन क्रोधादिकके साथ उपयोगमय अवस्थाके होते ही जीव और क्रोधादिकमें अनन्यभाव प्रतीत होने लगता है। अत अनुपचरित असद्भुत व्यवहारनयकी दृष्टिसे अनुदय प्राप्त अबुद्धिपूर्वक क्रोधादिक जीवके कहे जाते हैं। प्रयोजन।

फलमागन्तुकभावाः स्वपरनिमित्ता भवन्ति यावन्तः।
क्षणिकत्वान्नादेया इति बुद्धिः स्यादनात्मधर्मत्वात् ॥ ५४८ ॥

अन्वयार्थ — (फलं) अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयका फल यह है कि (स्वपरनिमित्ताः) स्व और परके निमित्तसे होनेवाले (यावन्तः) जितने भी (आगन्तुक भावाः भवंति) आगंतुक भाव हैं वे सब (क्षणिकत्वात्) क्षणिक होनेसे और (अनात्मधर्मत्वात्) आत्माके धर्म न होनेसे (नादेयाः) आदेय नहीं है (इति बुद्धिः स्यात्) ऐसी बुद्धि हो जाती है।

भावार्थः— अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी दृष्टिसे अबुद्धिपूर्वक होनेवाले अनुदयप्राप्त क्रोधादिकको जीवके कहनेमें प्रयोजन यह है कि स्व और परके निमित्तसे जितने भी भाव होते हैं वे सब क्षणिक होनेके कारण तथा आत्मधर्म न होनेके कारण उपादेय नहीं कहे जा सकते है। इसप्रकारकी बुद्धि उत्पन्न हो जाती है।

दृष्टान्तपूर्वक उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका लक्षण।

उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा।
क्रोधाद्याः औदयिकाश्चितश्चेद्बुद्धिजा विवक्ष्याः स्युः ॥ ५४९ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे कि (चेत्) यदि (बुद्धिजाः) बुद्धिपूर्वक होनेवाले (चितः) जीवके (औदयिकाः) औदयिक (क्रोधाद्याः) क्रोधादिक (विवक्ष्याः स्यु) विवक्षित किये जावें तो (सः) वह (उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः भवति) उपचरित असद्भूत व्यवहार नामका नय कहलाता है।

भावार्थः— बुद्धिपूर्वक होनेवाले औदयिक भाव क्रोधादिकको जीवके कहना उपचरित असदभूत व्यवहार

नय है। वास्तवमें औदयिक क्रोधादिक भी केवल जीवके नहीं है इसलिए उन्हें असद्भूत, तथा उपचारवश जीवके कहे जाते हैं इसलिए उपचरित, और ऐसा व्यवहार होता है इसलिए व्यवहार विशेषण दिया है।

कारण।

बीजं विभावभावाः स्वपरो भयहेतवस्तथा नियमात्।
सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्ताद्विना भवन्ति यतः॥ ५५०॥

अन्वयार्थः— (**बीजं**) उपचरित असद्भूत व्यवहार नयकी प्रवृत्तिमें कारण यह है कि (**तथा विभावभावा.**) उक्त क्रोधादिकरूप विभावभाव (**नियमात्**) नियमसे (**स्वपरोभयहेतवः**) स्व और पर दोनोंके निमित्तसे होतें है (**यतः**) क्योंकि (**शक्तिविशेषे सत्यपि**) शक्ति विशेषके रहनेपर भी (**परनिमित्ताद्विना**) पर के निमित्तके विना वे वैभाविक भाव नहीं होतें है।

भावार्थः— द्रव्य क्रोधादिकके निमित्तसे चारित्र गुणके विकारको औदयिक क्रोधादिक कहते हैं। कारण कि जितने भी स्वपर निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले विभावभाव होते है वे सब शक्तिके रहते हुएभी जबतक परनिमित्तका योग नहीं मिलता है तबतक उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। इसलिए द्रव्य क्रोधादिकके निमित्तविना जीवका चारित्र गुण क्रोधादिरूप वास्तवमें नहीं हो सकता है। अतएव केवल जीवके न होनेसे असद्भूत तथा उपचारसे जीवके कहे जानेके कारण उपचरित कहकर बुद्धिपूर्वक होनेवाले औदयिक क्रोधादिक इस नयके द्वारा जीवके कहे जाते हैं यही इसनयकी प्रवृत्तिमें कारण है।

प्रयोजन।

तत्फलमविनाभावात्साध्यं तदबुद्धिपूर्वका भावाः।
तत्सत्तामात्रं प्रति साधनमिह बुद्धिपूर्वका भावाः॥ ५५१॥

अन्वयार्थः— (**तत्फलं**) उस उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका फल यह है कि (**अविनाभावात्**) बुद्धिपूर्वक भावोंके साथ अबुद्धिपूर्वक अनुदयागत क्रोधादिकका अविनाभाव होनेसे (**तदबुद्धिपूर्वकाःभावा**) वे जीवके अबुद्धिपूर्वक भाव अनुदयागत द्रव्य क्रोधादिक (**साध्यं**) साध्य हो जाते है क्योंकि (**इह**) यहांपर

(**तत्सत्तामात्रं प्रति**)उन अबुद्धिपूर्वक होनेवाले अनुदयागत क्रोधादिक भावोंकी सत्ता मात्रके प्रति (**बुद्धिपूर्वकाः भावाः**) बुद्धिपूर्वक होनेवाले औदयिक भावक्रोधादिकभाव (**साधन**) साधन हो जाते है।

भावार्थः— उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी दृष्टिसे बुद्धिपूर्वक होनेवाले औदयिक क्रोधादिक भावोंको जीवके कहनेका प्रयोजन यह है कि जो अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयके विषय अबुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादिक कहे जाते है वे साध्य, तथा उपचरित असद्भुत व्यवहारनयके विषयभूत जो बुद्धिपूर्वक होनेवाले औदयिक भाव क्रोधादिक है वे साधन हो जाते हैं। कारणकि उन दोनोंमें अविनाभाव सम्बन्ध है। तथा अबुद्धिपूर्वक अनुदयागत क्रोधादिककी केवल सत्तामात्रही प्रतीत होती है। कुछ वे अनुभवमें नहीं आते है। और बुद्धिपूर्वक होनेवाले औदयिक क्रोधादिक अनुभवमें आनेवाले क्रोधादिक हैं। इसलिए इन बुद्धिपूर्वक होनेवाले औदयिक क्रोधादिकके द्वारा अबुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादिक साधे जा सकते हैं यही इसनयका प्रयोजन है।

इसप्रकार अनुपचरित और उपचरित असद्भुत व्यवहारनयके भेदोंको कहकर अब आगे—अन्य प्रकारसे ग्रन्थान्तरमें माने गये सद्भुत असद्भुत व्यवहारनयके विषयमेही ऊहापोह पूर्वक विचार करते हैं।

शंका।

ननु चासद्भूतादिर्भवति स यत्रेत्यतद्गुणारोपः।
दृष्टान्तादपि च यथा जीवो वर्णादिमानिहास्त्वितिचेत् ॥ ५५२॥

अन्वयार्थः— (**ननु च**) शंकाकारका कहना है कि (**यत्र**) जहांपर (**अतद्गुणारोपः इति**) दूसरी वस्तुके गुण दूसरी वस्तुमें आरोपित किये जाते है (**स**) वह (**असद्भूतादिः भवति**) असद्भूत व्यवहार नय है (**च**) और वह (**दृष्टांतात् अपि**) दृष्टांतसे भी इसप्रकार हैं कि (**यथा**) जैसे (**इह**) यहांपर (**जीवः**) जीव (**वर्णादिमान् अस्तु**) वर्णादिमान् है (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहोतो।

भावार्थ— शंकाकारका कहना है कि जहापर अन्यके गुणोंका अन्यमें आरोप किया जाता है उसे असद्भूत व्यवहारनय कहते हैं जैसे कि जीवको वर्णादिमान् कहना। वर्णादिक पुद्गलके गुण हैं। उनका जीवमे आरोप करना असद्भुत व्यवहारनय है इसलिए यहि असद्भूत व्यवहारनयका लक्षण क्यों न माना जाय।

उत्तर।

तन्न यतो न नयास्ते किन्तु नयाभाससंज्ञकाः सन्ति।
स्वयमप्यतद्गुणत्वादव्यवहाराऽविशेषतो न्यायात् ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थः— (तन्न) यह कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (स्वयं अपि) स्वयं भी (अतद्गुणत्वात्) अतद्गुण होनेसे (अव्यवहाराऽविशेषतो न्यायात्) अव्यवहाररूप सामान्य न्यायके कारण अर्थात् न्यायानुसार व्यवहारनयमात्रके अयोग्य होनेके कारण (ते नया न) वे नय नहीं है (किंतु) किंतु (नयाभास-संज्ञकाः सन्ति) नयाभास संज्ञक हैं।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि अतद्गुणका निरूपण करना नयोंके व्यवहार सा-मान्यके भी योग्य नहीं है अर्थात् सामान्यरूपसेभी जो नय व्यवहारमें किसीके गुण किसीमें कहना योग्य, नहीं माना गया है तो फिर अतद्गुणका आरोप, असद्भूत व्यवहार कैसे कहा जा सकता है। इसलिए जीवको वर्णादिमान् कहना नयाभास है नय नहीं हो सकता है।

खुलासा।

तदभिज्ञानं चेतद्येऽतद्गुणलक्षणा नयाः प्रोक्ताः।
तन्मिथ्यावादत्वाद्ध्वस्तास्तद्वादिनोऽपि मिथ्याख्याः ॥ ५५४ ॥

अन्वयार्थः— (तदभिज्ञानं च एतत्) उसका खुलासा भी यह है कि (अतद्गुणलक्षणाः) अतद्गुण लक्षण (ये) जो (नयाः प्रोक्ताः) नय कहे है (तन्मिथ्यावादत्वात्) वे मिथ्यावाद अर्थात् मिथ्यानय होनेसे (ध्वस्ताः) खंडित किये गये हैं इसलिए (तद्वादिनोऽपि) उन मिथ्या नयोंको सम्यक्नय कहनेवाले भी (मिथ्याख्याः) मिथ्यादृष्टी है।

भावार्थः— पूर्वोक्त कथनका खुलासा यह है कि जितनेभी अतद्गुण लक्षणवाले नय हैं वे सब मिथ्यावाद होनेसे खंडित हो जाते हैं। तथा उनके निरूपण करनेवाले मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। क्योंकि सुनय कभी भी अतद्गुण लक्षणवाले नय नहीं होते हैं अर्थात् ऐसा कभी नहीं हो सकता है कि नयकी सामर्थ्यसे अन्य द्रव्यके गुण अन्य द्रव्यके कहे जावें। जो अन्य द्रव्यके निमित्तसे उस द्रव्यमें भाव होते है उन्हें नयवादसे उस द्रव्यके कह सकते हैं। अन्य द्रव्यके गुणोंको अन्य द्रव्यके गुण नहीं कह सकते हैं। इसलिए वर्णादिक किसी भी नयके द्वारा जीवके नहीं कहे जा सकते हैं।

तद्वादोऽथ यथा स्याज्जीवो वर्णादिमानिहास्तीति ।
इत्युक्ते न गुणः स्यात्प्रत्युत दोषस्तदेकबुद्धित्वात् ॥ ५५५ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ तद्वादः स्यात्**) अब मिथ्यावाद इसप्रकार है कि (**यथा**) जैसे (**इह**) यहां पर (**जीव**) जीव (**वर्णादिमान् अस्ति इति**) वर्णादिमान् है (**इत्युक्ते**) ऐसा कहनेपर (**गुण न स्यात्**) कोई गुण नहीं है (**प्रत्युत**) किंतु उल्टा (**तदेकबुद्धित्वात्**) जीव और वर्णादिकोंमें एकत्व बुद्धि होनेसे (**दोषः**) दोष है ।

भावार्थ — शंकाकारका जो यह पक्ष था कि असद्भूत व्यवहारनयसे जीव वर्णादिक गुणवाला है उस पक्षसे शंकाकारका कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है । किन्तु जीव तथा पुद्गलमें एकत्व बुद्धि उत्पन्न होनेसे उल्टा भेद-विज्ञानके अभावका प्रसंग आता हैं । इसलिए जीवको वर्णादिमान कहना ठीक नहीं है । और न जीवको वर्णादिमान् कहनेवाला नयही उक्त दोषोंके आनेके कारण ठीक है । शंका ।

ननु किल वस्तुविचारे भवतु गुणोवाथ दोष एव यतः ।
न्यायबलादायातो दुर्वार स्यान्नयप्रवाहश्च ॥ ५५६ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**किल**) निश्चयसे (**वस्तुविचारे**) वस्तुके विचारमें चाहे (**गुण भवतु**) गुण होवे (**अथवा**) अथवा (**दोष एव**) दोषही होवे किंतु उस गुणदोषसे कोई प्रयोजन नहीं है (**यत**) क्योंकि (**न्यायबलात्**) न्यायबलसे (**आयात**) आया हुवा (**नयप्रवाहः**) नयका प्रवाह (**दुर्वारश्च स्यात्**) दुर्वार ही है अर्थात् किसीसे रोका नहीं जासकता है ।

भावार्थः— यदि कदाचित कहा जाय कि वस्तुका विचार करते समय चाहे गुण हो अथवा दोष हो इसमें हमें क्या प्रयोजन है । क्योंकि न्यायबलसे आये हुए नयके प्रवाहका भला कौन रोक सकता है ?

उत्तर ।

सत्यं दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहो यथाप्रमाणाद्वा ।
दुर्वारश्च तथा स्यात्सम्यक्मिथ्येति नयाविशेषोपि ॥ ५५७ ॥

अन्वयार्थः— (**सत्यं**) ठीक है परंतु फिर भी (**यथा**) जैसे (**नयप्रवाहः**) न्यायबलसे आया हुवा नयका प्रवाह (**दुर्वारः स्यात्**) दुर्वार है (**तथा वा**) वैसेही (**प्रमाणात्**) प्रमाणसे (**सम्यक् मिथ्या इति नय विशेषोऽपि**) सम्यक्मिथ्यारूप यह नय विशेषका प्रवाह भी तो (**दुर्वारश्च स्यात्**) दुर्वारही है।

भावार्थः— ठीक है, न्यायके बलसे प्राप्त नयका प्रवाह नहीं रोका जा सकता है परन्तु क्या वह नयका-प्रवाह सम्यग् है या मिथ्या है यहभी नहीं कहा जा सकता है ? अवश्य कहा जा सकता है अर्थात जैसे न्यायसे नयका प्रवाह अवश्य बहता है वैसेही उसके सम्यक् और मिथ्या विशेषण भी अवश्यही उसके साथ २ चला करते है। जो युक्ति तथा आगमसे अविरुद्ध नय है वे सम्यगनय कहलाते है। और जो युक्ति व आगमसे विरुद्ध नय है वे मिथ्या नय कहलाते है।

स्पष्टीकरण।

अर्थविकल्पो ज्ञानं भवति तदेकं विकल्पमात्रत्वात् ।
अस्ति च सम्यग्ज्ञानं मिथ्याज्ञानं विशेषविषयत्वात् ॥ ५५८ ॥

अन्वयार्थः— (**विकल्पमात्रत्वात्**) विकल्पमात्रपनेसे (**तत्**) वह (**अर्थविकल्पो ज्ञानं**) अर्थ विकल्पात्मक ज्ञान (**एकं भवति**) एक प्रकारका है तथा (**विशेषविषयत्वात्**) सम्यक् व मिथ्यारूप विशेषका विषय होनेसे (**सम्यग्ज्ञानं**) सम्यग्ज्ञान (**च**) और (**मिथ्याज्ञानं**) मिथ्याज्ञान इस तरहसे दो प्रकारका-(**अस्ति**) है।

भावार्थः— सामान्यपनेसे अर्थ विकल्पात्मक अर्थात स्वपर व्यवसायात्मक जो ज्ञान कहा जाता है वही अर्थ विकल्पात्मक ज्ञान विशेष दृष्टिसे, सम्यक और मिथ्या विशेषण युक्त भी कहा जाता है। यथार्थ विषयको विषय करने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। तथा अयथार्थ विषयको विषय करनेवाला ज्ञान मिथ्या ज्ञान कहलाता है।

सम्यक मिथ्या विशेषणका कारण।

तत्रापि यथावस्तु ज्ञानं सम्यग्विशेषहेतुः स्यात् ।
अथ चेदयथावस्तुज्ञानं मिथ्याविशेषहेतुः स्यात ॥ ५५९ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्राऽपि**) उन दोनोंमेसे भी (**यथावस्तुज्ञान**) वस्तुके अनुसार ज्ञान होना अर्थात

जिसप्रकारसे वस्तु स्थित है उसीप्रकारसे उसका ज्ञान होना (सम्यग्विशेषहेतुः स्यात्) ज्ञानके सम्यक् विशेषणका कारण है (अथ चेत्) और यदि (अयथा वस्तुज्ञानं) वस्तुके अनुसार ज्ञान नहीं हुवा तो वह ज्ञान अर्थात् जिस प्रकारसे वस्तु स्थित है उसप्रकारसे उसका ज्ञान नहीं होना (मिथ्याविशेषहेतुः स्यात्) ज्ञानके मिथ्या विशेषणका कारण है।

भावार्थ — जिस रूपसे वस्तु स्थित है उसी रूपसे उसका ज्ञान होना, ज्ञानमें सम्यग्विशेषणका कारण है। और जिस प्रकारसे वस्तुस्थित नहीं है उस प्रकारसे उसका ज्ञान होना, ज्ञानमें मिथ्या विशेषणका कारण है।

प्रमाणकी तरह नयभी सम्यक् और मिथ्या होते हैं।

ज्ञानं यथा तथासौ नयोस्ति सर्वो विकल्पमात्रत्वात्।
तत्रापि नयः सम्यक् तादितरथा स्यान्नयाभासः ॥ ५६० ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (ज्ञानं) ज्ञान है (तथा) वैसे ही (विकल्पमात्रत्वात्) विकल्पमात्रपनेसे (असौ सर्वः नयः) यहसपूर्ण नयभी (अस्ति) है और (तत्रापि) वहांपरभी (सम्यक्) विकलादेशरूप सम्यग्ज्ञान (नयः) सम्यक्नय कहलाता है तथा (तदितरथा) उससे भिन्न मिथ्याज्ञान (नयाभासः स्यात्) नयाभास कहलाता है।

भावार्थ —जैसे प्रमाण सम्यक् और मिथ्या विशेषण युक्त होता है वैसेही नयभी सम्यक् तथा मिथ्या विशेषण युक्त होता है। इसलिए सम्यक नयोंको नय और मिथ्या नयोंको नयाभास कहते है।

सम्यक और मिथ्या नयका लक्षण।

तद्गुणसंविज्ञानः सोदाहरणः सहेतुरथ फलवान्।
यो हि नयः स नयः स्याद्विपरीतो नयो नयाभासः ॥ ५६१ ॥

अन्वयार्थ — (हि) निश्चयकरके (यः नयः) जो नय (तद्गुणसंविज्ञान) तद्गुणसंविज्ञान

१ नैगमादि सातोंही नयको अध्यात्मदृष्टिमे व्यवहारनय माना है।

(**सोदाहरणः**) उदाहरण सहित (**सहेतुः**) सहेतुक (**अथ**) और (**फलवान्**) फलवान् हो (**सः नयः**) वह नय है तथा (**विपरीतः नय**) इससे विपरीत नय (**नयाभासः स्यात्**) नयाभास है।

भावार्थः— जो नय तद्गुणसंविज्ञान अर्थात् तद्गुणका बोधक होता है, तथा उदाहरण, हेतु, और प्रयोजन सहित होता हैं वह विकलादेशात्मक वास्तविकनय कहलाता है। तथा इसके विपरीत अर्थात् जिसमें तद्गुणपना, उदाहरण, हेतु और फलका अभाव पाया जाता है वह नयाभास कहलाता है।

प्रमाणके समान नयको भी फलवान् होना चाहिये।

फलवत्त्वेन नयानां भाव्यमवश्यं प्रमाणवद्धि यतः।
स्यादवयविप्रमाणं स्युस्तदवयवा नयास्तदंशत्वात् ॥ ५६२ ॥

अन्वयार्थः—(**हि**) निश्चयसे (**प्रमाणवत्**) प्रमाणकी तरह (**नयानां**) नयोंको (**फलवत्त्वेन**) फलवानपनेसे (**अवश्यं भाव्यं**) अवश्य होना चाहिये अर्थात् प्रमाणकी तरह नयोंकोभी अवश्य फलवान् होना चाहिये (**यतः**) क्योंकि (**प्रमाणं**) प्रमाण (**अवयवि स्यात्**) अवयवी है और (**तदंशत्वात्**) प्रमाणके अंश होनेसे (**नयाः**) नय (**तदवयवाः स्युः**) प्रमाणके अवयव हैं।

भावार्थः— प्रमाणके समान नयोंको भी फलवान अवश्य होना चाहिये। कारणकि प्रमाण अवयवी है और अंशअंशी भाव सम्बन्धसे नय, उसके अवयव हैं अर्थात् प्रमाणका एक देशही नय है। इसलिए प्रमाणकी तरह नयोंको भी फलवान अवश्य होना चाहिये।

उपसंहार।

तस्मादनुपादेयोऽव्यवहारोऽतद्गुणे तदारोपः।
इष्टफलाभावादिह न नयो वर्णादिमान् यथा जीवः ॥ ५६३ ॥

अन्वयार्थः— (**तस्मात्**) इसलिये (**अतद्गुणे तदारोपः**) अतद्गुणमें तदारोपकरनेरूप अर्थात् जिस वस्तुमें जो गुण नहीं है उस वस्तुमें उस गुणका आरोप करनेरूप (**व्यवहार**) व्यवहार (**इष्टफलाभावात्**) इष्ट फलके अभावसे (**अनुपादेयः**) उपादेय नहीं है (**यथा**) जैसे कि (**इह**) यहांपर (**जीवः वर्णादिमान्**) जीवको वर्णादिमान् कहना (**नयः न**) नय नहीं है।

भावार्थ — अतद्गुणारोप करके भी जीवको वर्णादिमान कहनेसे कोई फल नहीं निकलता है। और न इष्टकी सिद्धिही होती है। इसलिए वह सम्यग्नय नहीं कहा जा सकता है।

शंका।

ननु चैवं सति नियमादुक्तासद्भूतलक्षणो न नयः।
भवति नयाभासः किल क्रोधादीनामतद्गुणारोपात् ॥ ५६४ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (एवं सति) ऐसामाननेपर तो (नियमात्) नियमसे (उक्तासद्भूतलक्षणः) कहागया असद्भूत लक्षण नय भी (नय न) नय नहीं हो सकेगा किंतु (किल) निश्चयसे (क्रोधादीनाम् अतद्गुणारोपात्) क्रोधादिकोंका अतद्गुणमें आरोप होनेसे अर्थात् क्रोधादिकोंको जीवके गुण न होते हुएभी जीवमें आरोप करनेमें उक्त असद्भूत व्यवहारनय भी (नयाभासः भवति) नयाभास ही होगा।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि 'तद्गुणसंविज्ञानः सोदाहरणः, इत्यादि नयके लक्षणके अनुसार यदि अतद्गुणारोपके कारण जीवको वर्णादिमान कहनेमें नयका लक्षण नहीं घट सकता है अर्थात् जीवको वर्णादिमान कहना नयाभास है तो फिर आपके इस कथनानुसार असद्भूत व्यवहारनयके विषयभूत बुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादिकको जीवके कहना यहभी वास्तविक नय न होकर नयाभासही होगा। क्योंकि वहांपर भी तो अतद्गुणकाही आरोप है। इसलिए बुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादिकको जीवके कहना यहभी सम्यग्नय नहीं कहलावेगा।

उत्तर।

नैवं यतो यथा ते क्रोधाद्या जीवसंभवा भावाः।
न तथा पुद्गलवपुषः सन्ति च वर्णादयो हि जीवस्य ॥ ५६५ ॥

अन्वयार्थः— (नैवं) इसप्रकारकाकहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (यथा) जैसे (ते क्रोधाद्या भावाः) वे क्रोधादिक भाव (जीवसंभवाः) जीवके सम्भव है (तथा) वैसे (पुद्गलवपुषः) पुद्गलात्मक शरीरके (वर्णादयः) वर्णादिक (हि) निश्चयसे (जीवस्य) जीवके (न च सन्ति) संभव नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ -- उक्त शंका ठीक नहीं है। कारणकि वे क्रोधादिक भाव, द्रव्य क्रोधादिकके निमित्तसे जीवमें होनेवाले औदयिक भावरूप होते है। इसलिए वे तद्गुण हैं। नैमित्तिक होनेसे वे सर्वथा पुद्गलके नहीं कहे जा सकते है। और जीवको वर्णादिमान कहनेमें तो वर्णादिक सर्वथा पुद्गलकेही है इसलिए वे भला जीवके कैसे कहे जा सकते हैं। तथा बुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादिकको जीवके कहनेमे प्रयोजन पहले बताया जा चुका है। किन्तु जीवको वर्णादिमान् कहनेमें किसी भी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः उक्त असद्भूत व्यवहारमे दोष नहीं आता है। किन्तु जीवको वर्णादिमान कहनेमेंही दोष आता है।

नयाभासोके निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा।

अथ सन्ति नयाभासा यथोपचाराख्यहेतुदृष्टान्ताः ।
अत्रोच्यन्ते केचिद्धेयतया वा नयादिशुद्ध्यर्थम् ॥ ५६६ ॥

अन्वयार्थः— (अथ) अत्र (यथोपचाराख्यहेतुदृष्टांताः) उपचारके अनुकूल है संज्ञा, हेतु और दृष्टांत जिन्होका ऐसे जो (नयाभासः) नयाभास (सन्ति) है उनमेंसे (अत्र) यहांपर (केचित्) कुछ नयाभास (हेयतया) त्याज्यरूपसे (वा) अथवा (नयादिशुद्ध्यर्थं) नयादिककी शुद्धिकेलिये (उच्यन्ते) कहते है।

भावार्थः— इसप्रकार शंकाकारके द्वारा प्रतिपादित जीवको वर्णादिमान कहनेवाले, असद्भुत व्यवहार नयको, नयाभास सिद्ध करके, नयके प्ररूपणकी विशुद्धिके लिए, हेय रूपसे उन कुछ नयाभासोंका दिग्दर्शन कराते हैं, जिसमें कि वास्तविक नयका लक्षण तो घटता नहीं है किन्तु उपचार, संज्ञा, हेतु और दृष्टान्तके द्वारा नय जैसा सादृश प्रतिभासित हुआ करता है। एक प्रकारसे इस कथनके द्वारा ग्रन्थकारने नयाभासका लक्षण भी बता दिया है अर्थात् जिनमें नयका लक्षण तो घटे नहीं किन्तु उपचार, संज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त पाए जाते हैं उन्हें नयाभास कहते हैं।

पहला नयाभास।

अस्ति व्यवहारः किल लोकानामयमलब्धबुद्धित्वात् ।
योऽयं मनुजादिवपुर्भवति सजीवस्ततोऽप्यनन्यत्वात् ॥ ५६७ ॥

सोऽयं व्यवहारः स्यादव्यवहारो यथापसिद्धान्तात् ।
अप्यपसिद्धान्ततंव नासिद्धं स्यादनेकधर्मित्वात् ॥ ५६८ ॥

अन्वयार्थः— (लोकाना अलब्धबुद्धित्वात्) सर्वसाधारण लोगोका अलब्ध बुद्धिवाला होनेसे अर्थात् विद्वान् न होनेसे (किल) निश्चयसे (अयं व्यवहारः अस्ति) यह व्यवहार होता है कि (यः) जो (अयं) यह (मनुजादिवपुः) मनुष्यादिकका शरीर है (सः) वही (जीव भवति) जीव है क्योंकि (ततः अपि अनन्यत्वात्) शरीरसे भी वह जीव अनन्य है किंतु (सः अयं व्यवहारः) वह यह व्यवहार (यथापसिद्धान्तात्) अपसिद्धांतकी तरह होनेसे अर्थात् सिद्धांत विरुद्ध होनेसे (अव्यवहारः स्यात्) अव्यवहारही है तथा (अपसिद्धांतत्वं अपि) अपसिद्धांतपना भी (अनेकधर्मित्वात्) अनेक धर्मी होनेसे (असिद्ध न स्यात्) असिद्ध नहीं है ।

भावार्थः— मनुष्य आदि गति सम्बन्धी जो शरीर है वही जीव है। क्योंकि शरीरसे जीव अभिन्न है इत्यादि रूपसे तत्वको न समझनेवाले साधारण लोग जो व्यवहार करते हैं वह असद्भूत व्यवहारनय है ऐसा किन्हीका कहना है। परन्तु वह ठीक नहीं है। और न ऐसा व्यवहार व्यवहारही कहा जा सकता है। क्योंकि 'तद्गुणसंविज्ञान' इत्यादि नयका लक्षण माना गया है। अतः गुणगुणीमें भेद कल्पना आदिका नामही नय है। जहापर भिन्न २ धर्मी होते हैं वहांपर नय कहना सिद्धान्त विरुद्ध है। इसलिए अपसिद्धान्त नामक दोष आता है। मनुष्यादि शरीर और जीवमें भिन्नता है। भिन्न २ धर्मी है। अतएव शरीरको जीवके कहनेमे नयके लक्षण 'तद्गुणसविज्ञान, आदि न घटनेसे अपसिद्धान्त नामका दोष आता हैं।

एक क्षेत्रावगाहित्वसे एकत्वकी आशकामे अतिव्याप्ति दोष ।

नाशंक्यं कारणमिदमेकक्षेत्रावगाहिमात्रं यत् ।
सर्वद्रव्येषु यतस्तथावगाहाद्भवेदतिव्याप्तिः ॥ ५६९ ॥

अन्वयार्थ— (यत् इदं एकक्षेत्रावगाहिमात्रं) यहांपर वे दोनों एक क्षेत्रावगाही हैं इसलिये जो यह एक क्षेत्रावगाहित्व है वह (कारणं) मनुष्यादिक शरीरको जीव कहनेरूप व्यवहारमे कारण होजायगा ऐसी (नाशंक्य) आशंकाभी नहीं करना चाहिये (यतः) क्योंकि (सर्वद्रव्येषु) सम्पूर्ण द्रव्योंमें (तथावगाहात्) एक क्षेत्रावगाह पाये जानेसे (अतिव्याप्तिः भवेत) अतिव्याप्ति होजायगी ।

भावार्थ,— उक्तअप सिद्धान्तत्व दोषके निवारण करनेके लिए मनुष्य शरीर और जीव ये दोनों एक क्षेत्रावगाही हैं इसलिए उनमें एकधर्मीपना आ जायगा ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये। क्योंकि एक क्षेत्रमें तो छहों ही द्रव्य रहते है। इसलिए यदि एक जगह रहनेसे एकधर्मीपना मानोगे तो छहोंही द्रव्योंमें एकत्वका प्रसंग आयगा। अत· एक क्षेत्रावगाहीपनेसे शरीर और जीवको एकधर्मी कहनेमें अतिव्याप्ति दोष आता है।

वन्ध्यवन्धक भावकी आशका नहीं करना चाहिये।

अपि भवति वन्ध्यवन्धकभावो यदिवानयोर्न शक्यमिति।
तदनेकत्वे नियमात्तद्वन्धस्य स्वतोप्यसिद्धत्वात् ॥ ५७० ॥

अन्वयार्थः— (**यदिवा**) अथवा (**अनयोः**) शरीर और आत्मामें (**वन्ध्यवन्धकभावो भवति**) वन्ध्यवन्धकमाव है (**इति अपि**) यहभी (**न शक्यं**) आशंका नहीं करना चाहिये क्योंकि (**नियमात्**) नियम से (**तदनेकत्वे**) उन दोनोंमें अनेकत्वके होनेपर (**स्वत**) स्वयं (**तद्बन्धस्य अपि**) उन दोनोंका बन्ध भी (**असिद्धत्वात्**) असिद्ध है।

भावार्थः— शरीर और आत्मामें वन्ध्यवन्धकभावके कारण भी एकधर्मीपनेकी आशंका नहीं करना चाहिये। क्योंकि दो पदार्थोंमे एकत्व बुद्धिजनक सम्बन्ध विशेषको वन्ध कहते हैं। शरीर और आत्मामें एकत्व बुद्धि-जनक सम्बन्ध न होनेसे आत्मा तथा शरीरमें वन्ध्य वन्धक भाव भी नहीं है। अतः किसी न किसी तरहसे एक धर्मी-पना लगाकरके भी जीवको शरीर कहना इस विषयमें नयत्व नहीं आसकता है।

जीव और शरीरमें निमित्त नैमित्तक भावभी नहीं है।

अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः।
न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया ॥ ५७१ ॥

अन्वयार्थ.— (**अथचेत्**) यदि कदाचित् यह कहा जायकि (**मिथः**) परस्पर (**एतन्निमित्तनैमित्तिकत्वं**) इन दोनोंमें निमित्त और नैमित्तिकपना (**अवश्य अस्ति**) अवश्य है तो इसप्रकारका कहना भी (**न**) ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**स्वयं**) स्वयं (**वा**) अथवा (**स्वतः**) स्वत (**परिणममानस्य**) परिणममान वस्तुके

(**निमित्ततया**) निमित्तपनेसे (कि) क्या फायदा है अर्थात् स्वतः परिणमनशील वस्तुके लिये निमित्तकारणसे कोई प्रयोजनही नहीं है।

भावार्थ — कदाचित् कहा जाय कि एक क्षेत्रावगाहित्व तथा बन्ध्य बन्धक भावसे यदि एकधर्मीपना नहीं आसकता है अर्थात् उसमें नयका तद्गुणसंविज्ञान इत्यादि लक्षण घटाकर नयत्व नहीं ला सकते हैं तो शरीर और आत्मामें परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव तो है इसलिए उसके कारण एकधर्मीपना मानकर 'आत्माको शरीर कहना, इसमें नयत्व आ जायगा तो इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतः परिणमन शील है। अत उसके लिए निमित्तकी क्या जरूरत है। इसलिए जीवको मनुष्यादिकका शरीर कहना इसमें एकधर्मीपना सिद्ध न होकर अनेकधर्मीपना सिद्ध होनेके कारण नयका व्यवहार नहीं किया जा सकता है। अतः इसे भी असद्भूत व्यवहार नहीं कह सकते।

दूसरा नयाभास।

अपरोपि नयाभासो भवति यथा मूर्तस्य तस्य सतः।
कर्त्ता भोक्ता जीवः स्यादपि नोकर्मकर्मकृतेः॥ ५७२॥

अन्वयार्थः—(**अपरोऽपि नयाभासः भवति**) दूसरा नयाभास है (**यथा**) जैसेकि (**तस्य मूर्तस्य सतः**) उस मूर्तिक सत्के (**नोकर्मकर्मकृतेः**) नोकर्म तथा कर्मरूप कार्यका (**जीवः**) जीव (**कर्त्ता**) कर्ता (**अपि भोक्ता**) और भोक्ता (**स्यात्**) है अर्थात् मूर्तिक कर्मों और नोकर्मोंका जीवको कर्ता तथा भोक्ता कहना दूसरा नयाभास है।

भावार्थः— जीवको मूर्तिक कर्मों तथा नोकर्मोंका कर्ता और भोक्ता कहना दूसरा नयाभास है। तेइस * प्रकारकी वर्गणाओंमेंसे आत्माके साथ पांच प्रकारकी वर्गणाओंका सम्बन्ध होता है। उनमेंसे आहारवर्गणा, तेजवर्गणा, भाषावर्गणा और मनोवर्गणाको नोकर्म तथा कार्माण वर्गणाको कर्म कहते है। इनमें बन्ध तो केवल कर्मोंकाही होता है। और इतर चार वर्गणाएँ कर्मोंके उदयादिकमें सहायता करती हैं। अतः उन्हें नोकर्म अर्थात् ईषत् कर्म कहते हैं।

---

* अणुसखासंखेज्जा णताय अगेज्जगेहिं अतरिया। आहार तेज भासा मणकम्मइया धुवक्खंधा॥
सांतरानिरतरेणय सुण्णा पत्तेय देहधुवसुण्णा। बादर निगोदसुण्णासुहुमणिगोदा णभोमहक्खंधा॥

(गोम्मटसार, जीवकांड.)

नयाभासपनेका खुलासा।

नाभासत्वमसिद्धं स्यादपसिद्धान्ततो नयस्यास्य।
सदनेकत्वे सति किल गुणसंक्रांतिः कुतः प्रमाणाद्वा ॥ ५७३ ॥
गुणसंक्रांतिमृते यदि कर्त्ता स्यात्कर्मणश्च भोक्तात्मा।
सर्वस्य सर्वसंकरदोषः स्यात् सर्वशून्यदोषश्च ॥ ५७४ ॥

अन्वयार्थः— (अपसिद्धांततः) अपसिद्धांत होनेसे (अस्य नयस्य) इस नयको (आभासत्वं) नयाभासपना (असिद्धं न स्यात) असिद्ध नहीं है क्योंकि (सदनेकत्वे सति) सतको अनेकत्व होनेपर अर्थात जीव और कर्मोको भिन्न भिन्न होनेपर (किल) निश्चयसे (कुतः प्रमाणात् वा) किस प्रमाणसे (गुणसंक्रांतिः) गुणसंक्रमण होगा और (यदि) यदि (गुणसंक्रांति ऋते) गुण संक्रमणके विनाही (आत्मा) जीव (कर्मणः) कर्मोका (कर्त्ता) कर्ता (च) तथा (भोक्ता स्यात्) भोक्ता होगा तो (सर्वस्यसर्वसंकरदोषः) सब पदार्थोंमें सर्व संकरदोष (च) और (सर्वशून्यदोषः) सर्वशून्यदोष (स्यात्) होजायगा।

भावार्थः— जीवको कर्मादिकका कर्ता और भोक्ता कहनेवाले नयमें नयाभासपना असिद्ध नहीं कहा जा सकता है। कारणकि कर्म नोकर्म रूप, पुद्गल, और जीव भिन्न २ द्रव्य हैं। भिन्न द्रव्यको भिन्न द्रव्यका कर्ता भोक्ता कहनेवाले नयमें 'तद्गुणसंविज्ञान, रूप नयके लक्षणसे बहिर्भूतपनेके कारण अपसिद्धान्तपना है। क्योंकि गुणसंक्रान्तिके विना कर्तृ भोक्तापना बन नहीं सकता है अर्थात कर्ता और भोक्तापनेके लिए गुणोंमें परिणमन होना चाहिये। यदि संक्रान्ति–गुणोंके परिणमनके विनाही कोई किसी द्रव्यका कर्ता तथा भोक्ता माना जावेगा तो चाहे सो द्रव्य चाहे जिस द्रव्यका कर्ता भोक्ता हो जावेगा।

कर्ता भोक्ता कहनेमें भ्रमका कारण और उसका समाधान।

अस्त्यत्र भ्रमहेतुर्जीवस्याशुद्धपरिणतिं प्राप्य।
कर्मत्वं परिणमते स्वयमपि मूर्तिमद्यतो द्रव्यम् ॥ ५७५ ॥
इदमत्र समाधानं कर्त्ता यः कोऽपि सः स्वभावस्य।

परभावस्य न कर्त्ता भोक्ता वा तन्निमित्तमात्रेऽपि ॥ ५७६ ॥

अन्वयार्थः— (**अत्र**) यहांपर (**भ्रमहेतुः अस्ति**) भ्रमका कारण भी है (**यतः**) क्योंकि (**मूर्तिमत् द्रव्यं**) मूर्तिमान् द्रव्य (**स्वयं अपि**) स्वयंही (**जीवस्य**) जीवकी (**अशुद्धपरिणतिं प्राप्य**) अशुद्ध परिणतिको प्राप्त होकरके (**कर्मत्वं परिणमते**) कर्म रूपसे परिणम जाता है।

(**अत्र**) यहापर (**इदं समाधानं**) यह समाधान है कि (**यः कोऽपि कर्ता**) जो कोईभी कर्ता है (**स स्वभावस्य**) वह अपने स्वभावकाही कर्ता है किंतु (**तन्निमित्तमात्रेऽपि**) परभावमें निमित्त होनेपरभी (**परभावस्य**) परभावका (**न कर्ता वा न भोक्ता**) न कर्ता है और न भोक्ता है।

भावार्थ — जीवको कर्मादिकोंका कर्ता और भोक्ता कहनेके विषयमें जो भ्रम है उसका भी कारण यह है कि जीवकी अशुद्ध परिणतिके निमित्तसे पुद्गल–कार्माण वर्गणा कर्मपनेको प्राप्त हो जाती हैं। अत लोगोंको ऐसा भ्रम होता है कि कर्मोंका कर्ता जीव है। वास्तवमें जीवकी अशुद्ध परिणति कर्मरूप परिणमनके केवल निमित्त कारण है अर्थात् जीवकी अशुद्ध परिणतिके निमित्तसे स्वय पुद्गलही कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। अतः कर्मोंका कर्ता कर्मही है। जीव तो किसी तरह अर्थात् अशुद्ध परिणतिकी अपेक्षासे निमित्त मात्र है। केवल निमित्तमात्रपनेसे कुछ कर्तापना थोडा ही आजाता है क्योंकि जो कोई भी कर्ता होता है वह अपने स्वभावकाही कर्ता होता है। केवल निमित्तमात्रपनेसे कोई परभावका कर्ता नहीं हो सकता है। दृष्टांत।

भवति स यथा कुलालः कर्त्ता भोक्ता यथात्मभावस्य।
न तथा पराभवस्य च कर्त्ता भोक्ता कदापि कलशस्य ॥ ५७७ ॥

अन्वयार्थः— (**स यथा**) वह इसप्रकार है कि (**यथा**) जैसे [**कुलाल**] कुम्भकार [**आत्मभावस्य**] अपने भावका [**कर्ता भोक्ता भवति**] कर्ता तथा भोक्ता होता है [**तथा**] वैसे [**परभावस्य कलशस्य**] परभावरूप कलशका [**कदापि**] किसी समयभी [**कर्ता**] कर्ता [**च**] और [**भोक्ता**] भोक्ता [**न**] नहीं होता है।

भावार्थ — जैसे कुंभार वास्तवमें अपने भावोंका कर्ता व भोक्ता है वैसे परभावरूप जो कलश हैं उसका वह कदापि कर्ता तथा भोक्ता नहीं हो सकता है। किन्तु कलशकी पूर्व पर्यायही उसका कर्ता कही जा सकती है। कारणकि

यथार्थमें प्रत्येक अवस्थामें पूर्व २ पर्याय कर्ता और उत्तर २ पर्याय कार्य कहलाती है। कलशकी पूर्व पर्यायही उसका कर्ता है। कुंभार तो निमित्त मात्र है। इसलिए केवल निमित्तमात्रपनेसे उसमें कर्तृत्वव्यपदेश नहीं हो सकता है।

खुलासा।

तदभिज्ञानं च यथा भवति घटो मृत्तिकास्वभावेन।
अपि मृण्मयो घटः स्यान्न स्यादिह घटः कुलालमयः ॥ ५७८ ॥

अन्वयार्थः— (तदभिज्ञानं च) उसका उदाहरण भी इसप्रकार है कि (यथा) जैसे (इह) यहांपर (घटः) घट (स्वभावेन) स्वभावसे (मृत्तिका) मिट्टीरूप (भवति) होता है इसलिये वह (घटः) घट (मृण्मयः अपि स्यात्) मृण्मय--मिट्टीमय भी कहलाता है वैसे (घटः) घट (कुलालमयः न स्यात्) कुलाल मय नहीं कहलाता है।

भावार्थः— पूर्वोक्त कथनका खुलासा यह है कि जैसे घट स्वभावसे मृत्तिका रूप है इसलिए वह घट मृत्तिकामय कहा जा सकता है। वैसे घट कुलालमय नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् जैसे उपादानकारणको कर्ता माननेसे उस उपादन रूप धर्म उत्तर पर्यायमें अनुगत हो जानेके कारण उत्तर पर्यायमें तन्मयपनेका व्यवहार होने लगता है वैसे निमित्त कारणमें तन्मयताका व्यवहार नहीं किया जा सकता है। जैसेकि घट मृतिकामय है अर्थात मृतिका घटकी उपादान कारण है इसलिए मृत्तिका कर्ता और कुमार उसका निमित्त तथा घटकार्य है। अतएव यहापर जैसे घट मृत्तिकामय कहा जा सकता है वैसे वह कुलालमय नहीं कहा जा सकता है। आगे--घटका करनेवाला घटकार कहलाता है इत्यादि जो लोकव्यवहार है वह भी नयाभास है इसको बताते है।

अथ चेद्घटकर्तासौ घटकारो जनपदोक्तिलेशोऽयम्।
दुर्वारो भवतु तदा कानो हानिर्यदा नयाभासः ॥ ५७९ ॥

अन्वयार्थः— (यदा) जिससमय (असौ घटाकारः) यह घटाकार--कुंभकार (घटकर्ता) घटका कर्ता है (अयं जनपदोक्तिलेशः) यह लोकव्यवहार (दुर्वारः भवतु) दुर्निवार होजायगा (अथ चेत्) यदि इसप्रकार शंकाकार कहे तो (तदा) उससमय यह लोकव्यवहार दुर्निवार रहो (का नो हानिः) इसमें हमारी क्या हानि है क्योंकि वह लोकव्यवहार (नयाभासः) नयाभास है।

भावार्थः— यदि कदाचित् यह कहा जाय कि लोकमे घटका करनेवाला घटकार कहा जाता है। इसलिए परभावका पर पदार्थ कर्ता हो सकता है तो इस कथनसे भी हमारे कथनमें कोई बाधा नहीं आती है। क्योंकि यदि इस तरहके व्यवहारको हम नय कहते तो हमारे कथनमें बाधा आती। परन्तु हम तो इसे नय न कहकर नयाभास कहते है। इसलिए कुंभार घटका करनेवाला है, इत्याकारक लोक व्यवहार नयाभास होनेके कारण हमारे कथनका किसी भी तरह बाधक नहीं हो सकता है।

३ तीसरा नयाभास।

अपरे बहिरात्मानो मिथ्यावादं वदन्ति दुर्मतयः।
यदबद्धेपि परस्मिन् कर्ता भोक्ता परोपि भवति यथा ॥ ५८० ॥

सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्यं कलत्रपुत्राँश्च।
स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च ॥ ५८१ ॥

अन्वयार्थः— (अपरे दुर्मनयः बहिरात्मनः) कोई खोटी बुद्धिवाले मिथ्यादृष्टी जीव (इसप्रकार मिथ्यावादं वदन्ति) मिथ्याकथनका प्रतिपादन करते है कि (यत्) जो (अबद्धे परस्मिन् अपि) बन्धको प्राप्त नहीं होनेवाले परपदार्थके विषयमें भी (परः) अन्यपदार्थ (कर्ता) कर्ता (अपि) और (भोक्ता) भोक्ता (भवति) होता है (यथा) जैसे कि (इह) यहापर (सद्वेद्योदयभावान्) सातावेदनीके उदयसे है सद्भाव जिन्होंका ऐसे अर्थात् साता वेदनीके उदयमें प्राप्तहोनेवाले (गृहधनधान्य) घर, धन, धान्य (च) और (कलत्र पुत्रान्) स्त्री पुत्र वगैरहको (जीवः) जीव (स्वयं करोति) स्वय करता है (वा) तथा (स एव जीवश्च) वही जीवही (भुनक्ति) उनका भोग करता है।

भावार्थः— कोई २ बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि दुर्मति जीव, जिससे वास्तवमें आत्माका किसी प्रकारसे बन्ध नहीं है ऐसे परपदार्थमें भी कर्ता भोक्ताका व्यवहार करते हैं। जैसे कि वे कहते हैं कि सातावेदनीके उदयसे प्राप्त होनेवाले घर, धन धान्य, स्त्री पुत्रादिकोको जीव स्वय उत्पन्न करता है। और वही जीव भोक्ता होनेसे उनका भोग करता है।

शंका।

ननु सति गृहवनितादौ भवति सुखं प्राणिनामिहाध्यक्षात्।
असति च तत्र न तदिदं तत्तत्कर्ता स एव तद्भोक्ता ॥ ५८२ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (अध्यक्षात्) प्रत्यक्षसे (इह) यहांपर (प्राणि नां) प्राणियोंको (गृहवनितादौ सति) घर स्त्री आदिके रहनेपर (सुखं भवति) सुख होता है (च) और (तत्र असति) उन घर स्त्री आदिके न रहनेपर (तदिदं न) वह यह सुख नहीं होता है (तत्) तिस कारणसे (स एव) वह जीवही (तत्कर्ता) उन गृहवनितादिकका कर्ता और (तद्भोक्ता) उसका भोक्ता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जीव परभावोंका कर्ता तथा भोक्ता है इसको नयाभास कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष है कि घरद्वार स्त्री पुत्रादिकके रहनेपरही प्राणियोंको सुख होता है। और उनके न रहनेपर सुख वगैरह नहीं होता है। इसलिए जीवही उसका कर्ता भोक्ता है। अर्थात जीवही अपनी सुखसामग्रीका कर्ता तथा भोक्ता है। ऐसा माननेमें क्या दोष है।

समाधान।

सत्यं वैषयिकमिदं परमिह तदपि न परत्र सापेक्षम्।
सति बहिरर्थेऽपि यतः किल केषांचिदसुखादिहेतुत्वात् ॥ ५८३ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है कि (इह) यहांपर (इदं) यह सांसारिक सुख (परं) केवल (वैषयिकं) वैषयिक है (तदपि) तोभी (परत्र) परविषयमें (सापेक्षं न) सापेक्ष नहीं है (यतः) क्योंकि (किल) निश्चयसे (बहिरर्थे सति अपि) बाह्य पदार्थोंके होते हुए भी (केषांचित्) किन्हींको वे गृहवनितादिक (असुखादिहेतुत्वात्) असुखादिकके कारण होते हैं।

भावार्थः— ठीक है, यह सब सांसारिक सुख वैषयिक है। और इन वैषयिक सुखोंमें ऐसी व्याप्ति नहीं रहती है कि बाह्य पदार्थरूप स्त्री पुत्रादिकोंके रहनेसे सबको सुखही प्राप्त होगा। क्योंकि जब दुष्ट स्त्री पुत्रादिकोंका अशुभ कर्मके उदयसे संयोग हो जाता है। तब इन्हींके कारण दुःख भी होता देखा जाता है। अतः इनके साथमें सुख की व्याप्ति नहीं कहा जा सकती है। और न, इनके रहते हुए सबको सुख होताही है ऐसा कहना भी निर्दोष कहा जा सकता है। इसप्रकारसे सिद्ध होता है कि जीवको परपदार्थोंका कर्ता तथा भोक्ता कहना नय नहीं है। किन्तु नयाभास है। आगे-ग्रन्थकार इस सब कथनका तात्पर्य बताते हुए अन्य नयाभासका विचार करते हैं।

तात्पर्य।

इदमत्र तु तात्पर्यं भवतु स कर्त्ताथ वा च मा भवतु।

भोक्ता स्वस्य परस्य च यथाकथंचिदात्मको जीवः ॥ ५८४ ॥

अन्वयार्थः — (अत्र इदं तात्पर्यं) यहांपर यह तात्पर्य है कि (सः) वह जीव (स्वस्य) अपना (च) और (परस्य) परका (कर्त्ता) कर्त्ता (च) तथा (भोक्ता) भोक्ता (भवतु) होवे (अथवा) अथवा (मा भवतु) नहीं होवे किंतु (जीव) जीव (यथाकथंचित्) जिस किसी भी प्रकारसे (चिदात्मकः)चिदात्मकही है ।

भावार्थ — साराश यह है कि जीव, व्यवहारमें परपदार्थोंका कर्ता व भोक्ता सिद्ध हो अथवा न हो इससे हमें कुछ प्रयोजन नहीं है। किन्तु प्रयोजन तो, यहापर हमको अध्यात्मवादसे सिर्फ इतनाही है कि वह जीव जिस किसी भी प्रकारसे चिदात्मकही है। कारण, यह तो कहा जा चुका है कि प्रत्येक कार्यकी पूर्व पर्याय ही कर्तापनेकी आधकारी है। अतः जीवकी संपूर्ण पर्यायें कभी अपने चेतनत्वको नहीं छोडती हैं, अतः वास्तवमें जीवके निज भावोंका अध्यात्मवादसे आत्माही कर्ता है व कर्ताके समान निजभावोंका भोक्ता आत्माही हैं।

४ चौथा नयाभास।

अयमपि च नयाभासो भवति मिथो बोध्यबोधसम्बन्धः ।
ज्ञानं ज्ञेयगतं वा ज्ञानगतं ज्ञेयमेतदेव यथा ॥ ५८५ ॥

अन्वयार्थ — (अय अपि च) यहभी (नयाभास भवति) नयाभास है कि (मिथः) ज्ञान और ज्ञेयमें परस्पर (बोध्यबोधसम्बन्धः) बोध्यबोधक सम्बन्ध है (यथा) जैसे कि (ज्ञानं) ज्ञान (ज्ञेयगतं) ज्ञेयगत है (वा) अथवा (एतत् ज्ञेय एव) यह ज्ञेयही (ज्ञानगत) ज्ञानगत है ।

भावार्थः— बोध्यबोधक सम्बन्धमे ज्ञानको ज्ञेयगत कहना और ज्ञेयको ज्ञानगत कहनाभी नयाभास है ।

क्योंकि ।

चक्षू रूपं पश्यति रूपगतं तन्न चक्षुरेव यथा ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति च ज्ञेयगतं वा न भवति तज्ज्ञानम् ॥ ५८६ ॥

अन्वयार्थ — (यथा) जैसे (चक्षुरूप पश्यति) चक्षुरूपको देखता है परन्तु (तत् चक्षुरेव रूपग-

तं न) वह चक्षुही स्वयं रूपगत नहीं होजाता है वैसेही (ज्ञान) ज्ञान (ज्ञेयं अवैति) ज्ञेयको जानता है (च) किंतु (तज्ज्ञानं) वह ज्ञानही स्वयं (ज्ञेयगतं न वा भवति)ज्ञेयगत नहीं होजाता है।

भावार्थ.— जैसे चक्षु, रूपको देखता है एतावता वह चक्षु कुछ रूपगत नहीं हो जाता है। वैसेही ज्ञान ज्ञेयको जानता है एतावता वह ज्ञान ज्ञेयगत नहीं हो जाता है। इसलिए बोध्यबोधक सम्बन्धसे ज्ञानको ज्ञेयगत कहना नयाभास है। ज्ञेयको ज्ञानगत कहने बावत ग्रन्थकारने कुछ नहीं लिखा है।

उपसंहार।

इत्यादिकाश्च बहवः सन्ति यथालक्षणा नयाभासाः।
तेषामयमुद्देशो भवति विलक्ष्यो नयान्नयाभासः ॥ ५८७ ॥

अन्वयार्थ — (इत्यादिकाश्च) इत्यादिक (बहव) बहुतसे (यथालक्षणा) अपने २ लक्षणानुसार (नयाभासाः सन्ति) नयाभास है और (नयात्) नयसे (नयाभास) नयाभास (विलक्ष्यो भवति) विलक्षण होते है (अयं) यह (तेषा) उनका (उद्देशः) उद्देश है अर्थात नयसे विलक्षणको नयाभास कहते है।

भावार्थः— इत्यादिक बहुतसे अपने २ लक्षणानुसार जो और भी नयभास हैं उन्हें नय नहीं समझना चाहिये किन्तु नयोंसे विलक्षण होनेके कारण उन्हें नयाभास जानना चाहिये। जो नयके समान तो मालुम पडते हो परन्तु जिनमें 'तद्गुण विज्ञान, इत्यादि नयका लक्षण नहीं घटता हो उन्हें नयाभास कहते है।

इसप्रकार प्रकरणवश कुछ नयाभासोंको बता करके ग्रन्थकार अब फिरसे अपने प्रकृत विषय नयके निरूपणपर आते है।

शंका।

ननु सर्वतो नयास्ते किं नामानोऽथवा कियन्तश्च।
कथमिव मिथ्यार्थास्ते कथमिव ते सन्ति सम्यगुपदेश्याः ॥ ५८८ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (सर्वतः) सब प्रकारसे (ते नयाः) वे नय (किं नामानः) कौनसे नामवाले (अथ और (कियन्तः वा) कितने है (च) तथा (कथमिव) किसतरह (ते) वे (मिथ्यार्थाः) मिथ्या अर्थवाले होते है और (कथमिव) किस तरह (ते) वे (सम्यगुपदेश्याः सन्ति) सम्यक् उपदेश करनेके योग्य अर्थात सम्यक् कहे जानेवाले होते है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जब नयके साथ नयाभास भी हो सकते हैं तो कृपाकर यही भले प्रकार बताईये कि सम्पूर्ण नय कितने हैं और उनके क्या नाम है तथा किस प्रकारसे वे मिथ्या और समीचीन नय कहलानेके योग्य होते हैं।

समाधान।

सत्यं यावदनंताः संति गुणा वस्तुतो विशेषाख्याः।
तावन्तो नयवादा वचोविलासा विकल्पाख्याः ॥ ५८९ ॥
अपि निरपेक्षा मिथ्यास्त एव सापेक्षका नयाः सम्यक्।
अविनाभावत्वे सति सामान्यविशेषयोश्च सापेक्षात ॥ ५९० ॥

अन्वयार्थ — (सत्यं) ठीक है क्योंकि (वस्तुत) परमार्थ रीतिसे वस्तुमें (विशेषाख्या) विशेषनामवाले (यावत् अनन्ताः गुणाः सन्ति) जितने अनंत गुण हैं उनमें जितने (विकल्पाख्याः) विकल्प-सहित (वचोविलासा) वचन विलास है (तावन्तः) उतनेही (नयवादाः) नयवाद हैं (अपि) और उनमें जो (निरपेक्षा) निरपेक्ष नय हैं (ते एव) वेही नय (मिथ्या) मिथ्या है (च) तथा (सापेक्षकाः) सापेक्ष (नयः) नय (सम्यक्) सम्यक् है क्योंकि (सामान्यविशेषयो) सामान्य और विशेषमें (अविनाभावत्वे-सति) अविनाभाव रहते हुए (सापेक्षात्) परस्पर सापेक्षपना है।

भावार्थः— ठीक है! वास्तवमें वस्तुमें अनन्त गुण हैं। इसलिए उनके जितने विकल्पसहित वचनविलास हो सकते है उतनेही नय हो सकते हैं। तथा जैनसिद्धातमें सामान्य और विशेषको परस्पर सापेक्ष माना है। क्योंकि सामान्य तथा विशेषमें अविनाभाव सम्बन्ध है। इसलिए नयके द्वारा सामान्य कथन विशेष सापेक्ष और विशेष कथन सामान्यसापेक्ष कहा जाता है। अतएव परस्पर सापेक्षनय समीचीन नय, तथा परस्पर निरपेक्ष, नय, मिथ्यानय कहे जाते हैं।

खुलासा।

सापेक्षत्वं नियमादविनाभावस्त्वनन्यथासिद्धः।
अविनाभावोपि यथा येन विना जायते न तत्सिद्धिः ॥ ५९१ ॥

अन्वयार्थः— (नियमात्) नियमसे (सापेक्षत्व) सापेक्षपनाही (तु) तो (अनन्यथासिद्धः अवि-

भाव॰) अनन्यथा सिद्ध अविनाभाव है अर्थात् अविनाभावका द्योतक है और वह (अविनाभावः अपि) अविनाभावभी (यथा) जैसे (येन विना) जिसके विना (तत्सिद्धः न जायते) उसकी सिद्धि न हो उसे कहते हैं।

भावार्थ.— उन नयोंकी परस्पर सापेक्षता उन नयोंके अन्यथारूपसे न होनेवाले अविनाभावकी द्योतक है। कारण कि जिसके विना जिसकी सिद्धि न हो उसे अविनाभाव कहते हैं; अर्थात् सामान्यके विना विशेषकी तथा विशेषके विना सामान्यकी सिद्धि नहीं होती है। इसलिए सामान्यको विषय करनेवाला जो द्रव्यार्थिक नय है और विशेषको विषय करनेवाला जो पर्यायार्थिक नय है। उन दोनोंमें परस्पर सापेक्षपना है।

गुणोंके अनुसार नयोंके नाम।

अस्त्युक्तो यस्य सतो यन्नामा यो गुणो विशेषात्मा।
तत्पर्यायविशिष्टास्तन्नामानो नया यथाम्नायात् ५९२ ॥

अन्वयार्थः— (**यस्य सतः**) जिस सत्का (**यन्नामा**) जिस नामवाला (**यः**) जो (**उक्तः**) कहा-गया (**विशेषात्मा**) विशेषरूप (**गुणः अस्ति**) गुण होता है (**तत्पर्यायविशिष्टा**) उस गुणकी पर्यायविशिष्ट (**तन्नामान॰**) उसी नामवाले (**यथाऽम्नायात्**) आम्नायके अनुसार (**नया**) नय होते हैं।

भावार्थः— आम्नायको उलंघन न करके जिस द्रव्यके जिस नामवाले जो २ विशेषात्मक-अनुजीवी गुण होते हैं। उन २ गुणोंकी पर्यायसे-अंशकल्पनासे विशिष्ट उसी नामवाले नय होते है अर्थात् विशेष शब्द गुणवाचकही है। इसलिए यहांपर जो विशेषात्मा शब्द दिया है उसका अनुजीविगुण यह अर्थ करना चाहिए। तथा पर्याय शब्द अंशकल्पना-वाचक है। इसलिए 'तत्पर्यायविशिष्टा' इस शब्दका यह अर्थ करना चाहिए कि उन अनुजीवी गुणोंकी अंशोंकी कल्पनासे युक्त उसही नामके नय होते हैं।

सारांश यह है कि द्रव्यमें जितने गुण है उतनेही उन गुणोंकी अपेक्षासें उन गुणोंके नामानुसार नय कहे जासकते है।

अस्तित्व नय।

अस्तित्वं नाम गुणः स्यादिति साधारणः सतस्तस्य।
तत्पर्यायश्च नयः समासतोऽस्तित्वनय इति वा ॥ ५९३ ॥

अन्वयार्थ.— (**तस्य मतः**) उस सतका (**अस्तित्वं नाम**) अस्तित्वनामका (**साधारणः इति गुणः स्यात्**) साधारण गुण है इसलिए (**तत्पर्याय नयः च**) उस गुणके द्वारा पर्याय-अंशकल्पनावाला नयभी (**समासतः**) सक्षेपरीतीसे (**अस्तित्व नयः इति वा**) अस्तित्व नय कहलाता है ।

भावार्थः— द्रव्यका अस्तित्व यह साधारण गुण है । इसलिए अस्तित्व गुणके मुखसे जो द्रव्यको अस्तित्ववान कहा जाता है वह अस्तित्वनय कहलाता है। क्योंकि अस्तित्वगुणके द्वारा अस्तित्वरूप अंशोंकी कल्पना करके पदार्थ को अस्तित्ववान कहा गया है । इसी प्रकार जितने भी गुण हैं उन सबके द्वारा होनेवाली अंशकल्पनाको नय कहसकते है।

कर्तृत्वनय ।

कर्तृत्वं जीवगुणास्त्वथ वैभाविकोऽथवा भावः ।
तत्पर्यायविशिष्टः कर्तृत्वनया यथा नाम ॥ ५९४ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ**) अब दूसरा उदाहरण बताते है कि (**कर्तृत्व**) कर्तृत्व नामका (**जीवगुणः**) जीवका गुण (**अथवा**) अथवा (**वैभाविकः भावः**) वैभाविकभाव (**अस्तु**) है इसलिए (**तत्पर्यायविशिष्टः**) उस गुणकी पर्यायसे विशिष्ट अर्थात् उसके निमित्तसे होनेवाली अंशकल्पनावाला (**यथानाम**) अपने नामानुसार (**कर्तृत्वनयः**) कर्तृत्वनय कहलाता है ।

भावार्थः— कर्तृत्व यह जीवका गुण अथवा जीवका वैभाविक भाव है । इसलिए उसके निमित्तसे जीवमे जो अंशकल्पना की जाती है उसको कर्तृत्वनय कहते हैं । उपसंहार ।

अनया परिपाट्या किल नयचक्रं यावदस्ति बोधव्यम् ।
एकैकं धर्मं प्रति नयोपि चैकैक एव भवति यतः ॥ ५९५ ॥

अन्वयार्थ— (**किल**) निश्चयकरके (**अनया परिपाट्या**) इसी परिपाटीसे (**यावत् नय चक्रं अस्ति**) जितनाभी नयचक्र है वह सब [**बोधव्य**) जान लेना चाहिए (**यतः**) क्योंकि (**एकैकं धर्मं प्रति**) एक एक धर्मके प्रति [**नयोऽपि च**] नयभी (**एकैक एव भवति**) एक एकही होता है ।

भावार्थः—द्रव्यमें जितनें धर्म हैं उतनेही सम्पूर्ण नय हैं । इसलिए इसी परिपाटीसे उन सब गुणोंके नामा-

नुसारही सम्पूर्ण नयचक्र लगाना चाहिये। क्योंकि द्रव्यके एक २ धर्मके प्रति नय भी एक २ हो जाता है।

व्यवहारनय।

सोदाहरणो यावान्नयो विशेषणविशेष्यरूपः स्यात्।
व्यवहारापरनामा पर्यायार्थो नयो न द्रव्यार्थः ॥५९६॥

अन्वयार्थः— (सोदाहरण) उदाहरण सहित (विशेषणविशेष्यरूप) विशेषण विशेष्यरूप (यावान् नयः स्यात्) जितनाभी नय है वह सब (व्यवहारापरनामा) व्यवहार है दूसरा नाम जिसका ऐसा (पर्यायार्थः नयः) पर्यायार्थिक नय है (द्रव्यार्थ न) द्रव्यार्थिक नय नहीं है।

भावार्थः— इसप्रकार जितने भी उदाहरण सहित विशेषण विशेष्यरूप नय होते है वे सब व्यवहारनामवाले पर्यायार्थिक नयही हैं। द्रव्यार्थिक नय नहीं है। *

द्रव्यार्थिकनय किसे कहते है।

ननु चोक्तलक्षण इति यदि न द्रव्यार्थिको नयो नियमात्।
कोऽसौ द्रव्यार्थिक इति पृष्टास्तच्चिन्हमाहुराचार्याः ॥ ५९७ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (इति उक्तलक्षणः) इसप्रकार कहा गया है लक्षण जिसका ऐसा नय (यदि) यदि (नियमात्) नियमसे (द्रव्यार्थिक नयः न) द्रव्यार्थिक नय नहीं है तो (असौ द्रव्यार्थिकः कः) यह द्रव्यार्थिक नय कौन है (इति) इसप्रकारसे (पृष्टाः) पूंछे गये (आचार्याः) आचार्य (तच्चिन्हं) उसके चिन्हको— लक्षणको (आहुः) कहते है।

भावार्थः— यदि सोदाहरण विशेषणविशेष्यरूप सबही नय नियमसे पर्यायार्थिक नयही हैं द्रव्यार्थिक नय नहीं है तो बताइये द्रव्यार्थिकनय किसे कहते हैं इसप्रकार शंकाकारके द्वारा पूंछे जानेपर आचार्य द्रव्यार्थिक नयके लक्षणको कहते है।

---

* ग्रंथकारने अस्तित्वनय, कर्तृत्वनय इत्यादि रूपसे नयोंका स्वरूप दर्शाया है। नैगमादि रूपसे नयोंका निरुपण नहीं किया है। कारण अध्यात्मवादका प्रकरण है।

द्रव्यार्थिक नयका लक्षण।

व्यवहार : प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः।
व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात् ॥५९८॥

अन्वयार्थ —(**व्यवहारः**)व्यवहारनय (**प्रतिषेध्य**) प्रतिषेध्य है (**च**) और (**तस्य प्रतिषेधक**) उसका प्रतिषेधक है (**परमार्थ**) निश्चयनय है अर्थात् जो (**व्यवहारप्रतिषेध**) व्यवहारनयका निषेध है [**स एव**) वही (**निश्चयनयस्य वाच्य स्यात्**) निश्चयनयका वाच्य है।

भावार्थः— व्यवहारनय प्रतिषेध करनेके योग्य है और उसका जो प्रतिषेधक है वही द्रव्यार्थिक नय है। अर्थात् जो व्यवहारनयका प्रतिषेध है वही निश्चयनयका (द्रव्यार्थिक नयका) वाच्य होता है '

सारांश यह है कि व्यवहारनय प्रतिषेध्य और निश्चयनय प्रतिषेधक होता है। इसलिए व्यवहारनयके निषेध करनेवानेको द्रव्यार्थिक नय कहते है।

उदाहरण।

व्यवहारः स यथा स्यात्सद्द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा।
नेत्यतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपातिः ॥ ५९९ ॥

अन्वयार्थः— (**यथा**) जैसे (**सत् द्रव्यं स्यात्**) सत द्रव्य है (**वा**) अथवा (**ज्ञानवांश्च जीवः**) ज्ञानवान् जीव है इसप्रकारका जो कथन है (**स**) वह (**व्यवहारः**) व्यवहार नय है और (**एतावन्मात्रो न**) इतनाही नहीं है [**इति**] इसप्रकारका जो व्यवहारका निषेधपूर्वक कथन है (**सः**) वह [**नयाधिपतिः**] नयोंका स्वामी [**निश्चयनयः भवति**] निश्चयनय है।

भावार्थ.— जैसे कि 'सत् द्रव्य' अथवा 'ज्ञानवान् जीवः' इत्यादि रूपसे जो द्रव्यको सत् तथा जीवको ज्ञानवान कहा गया है। वह उदाहरणपूर्वक विशेषण विशेष्यसम्बन्धसे कहा गया है। इसलिए यह सब व्यवहारनय अर्थात पर्यायार्थिक नय कहलाता है तथा 'न इत्येतावन्मात्रः' अर्थात् द्रव्य केवल सत्रूपही नहीं है क्योंकि उसमें और भी प्रमेयत्वादि गुण मौजूद हैं। और जीव केवल ज्ञानवालाही नहीं हैं। क्योंकि और भी उसमें सुखादि अनन्तगुण मौजूद है। इसलिए व्यवहारको प्रतिषेध्यमानकर उसका प्रतिषेध करनेवाला नयोंका अधिपति निश्चयनय कहलाता है।

यही वास्तविक द्रव्यार्थिक नय है । थोडेका अभाव, बहुत रूप तथा बहुतका अभाव थोडे रूप पडता है । इसलिए व्यवहारनयने द्रव्यको अस्तित्वमुखसे सत् व जीवको ज्ञानगुणकी अपेक्षासे जो ज्ञानवान कहाथा सो द्रव्य केवल, सत्ही नहीं और जीव केवल ज्ञानवानही नहीं है । इसप्रकार निषेध करनेसे उस एक अंशकेविना शेषअंश द्रव्यार्थिक नयके विषय पडते हे । पर्याय, व्यवहार, विशेष ये पर्यायवाचक शद्ध हैं । इसलिए सत व ज्ञानवान् आदि व्यवहाररूप विशेषका अभाव इस नयका विषय पडता हैं । द्रव्य, सामान्य ये पर्यायवाचक शद्ध हैं । अत. इसे सामान्यनय और द्रव्यार्थिक अथवा अध्यात्म परिभाषासे. निश्चयनय कहते हैं । अब आगे–शंकासमाधानपूर्वक निश्चयनयमें विकल्पपनेकी सिद्धि करते हैं ।

ननु चोक्तं लक्षणमिह नयोस्ति सर्वोपि किल विकल्पात्मा ।
तदिह विकल्पाभावात् कथमस्य नयत्वमिदमिति चेत् ॥ ६०० ॥

अन्वयार्थः—[ननु च] शकाकारका कहना है कि जब [इह] यहांपर [लक्षणं उक्तं] नयका लक्षण यह है कि [किल] निश्चयकरके [सर्वोऽनयः] सबही नय [विकल्पात्मा अस्ति] विकल्पात्मक है [तत् इह] तो फिर यहांपर [विकल्पाभावात्) विकल्पका अभाव होनेसे [अस्य] इस निश्चयनयको [इदं नयत्वं कथ) यह नयपना किसतरह होगा [इति चेत्] यदि ऐसा कहोतो ।

भावार्थः— शकाकारका कहना है कि पहले नयका लक्षण विकल्प कहा जा चुका है । परन्तु निश्चयनयको प्रतिषेध्यके अभावरूप माननेसे अर्थात् केवल व्यवहारका प्रतिषेधक माननेसे उसमें विकल्पपना आ नही सकता है । सारांश यह है कि विकल्पका अभाव होनेसे निश्चयनयमें नयपना कैसे आसकेगा ?

समाधान ।

तन्न यतोस्ति नयत्वं नेति यथा लक्षितस्य पक्षत्वात् ।
पक्षग्राही च नयः पक्षस्य विकल्पमात्रत्वात् ॥ ६०१ ॥

अन्वयार्थ —(तन्न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (न इति यथालक्षितस्यच) न इस शद्बके द्वारा जिसकिसी प्रकारसे लक्षित अर्थको भी (पक्षत्वात) पक्ष होनेसे (नयत्व अस्ति) नयपना है (च) कारण (पक्षस्य विकल्पमात्रत्वात्) पक्षको केवल विकल्पात्मक होनेसे (पक्षग्राही) पक्षको–विकल्पको ग्रहण करनेवाला (नयः) नय होता है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि नय, पक्षको विषय करता है और पक्ष विकल्पात्मक होता है। इसलिए निश्चयनयमें भी 'न' इत्याकारक पक्षरूप विकल्पके रहनेके कारण विकल्पपना सिद्ध हो जाता है।

दोनों नय विकल्पात्मक हैं।

प्रतिषेध्यो विधिरूपो भवति विकल्पः स्वयं विकल्पत्वात्।
प्रतिषेधको विकल्पो भवति तथा सः स्वयं निषेधात्मा ॥ ६०२ ॥

अन्वयार्थ— (यथा) जैसे (स्वयं विकल्पत्वात्) स्वयं विकल्पात्मक होनेसे (प्रतिषेध्यः) प्रतिषेध्य (विधिरूपः) विधिरूप विकल्प होता है (तथा) वैसे (सः) वह (प्रतिषेधकः) प्रतिषेधकभी (स्वयं निषेधात्मा) स्वयं निषेधात्मक (विकल्पः भवति) विकल्प होता है।

भावार्थ — जैसे प्रतिषेध्य–व्यवहारनय स्वयं विकल्पात्मक होनेसे विधिरूप विकल्प कहलाता है। वैसेही प्रतिषेधक–निश्चयनयभी विकल्पात्मक होनेसे निषेधरूप विकल्प कहलाता है।

स्पष्टीकरण।

तल्लक्षणमपि च यथा स्यादुपयोगो विकल्प एवेति।
अर्थानुपयोगः किल वाचक इह निर्विकल्पस्य ॥ ६०३ ॥
अर्थाकृतिपरिणमनं ज्ञानस्य स्यात् किलोपयोग इति।
नार्थकृतिपरिणमनं तस्य स्यादनुपयोग एव यथा ॥ ६०४ ॥
नेति निषेधात्मा यो नानुपयोगः सबोधपक्षत्वात्।
अर्थाकारेण विना नेतिनिषेधावबोधशून्यत्वात् ॥ ६०५ ॥

अन्वयार्थ — (च) और (तल्लक्षणं अपि) उसका लक्षणभी इसप्रकार है कि (यथा) जैसे (इह) यहांपर (उपयोग इति एव) उपयोग यहही (विकल्पः स्यात्) विकल्प है तथा (किल) निश्चयसे (अर्थानुपयोगः) अर्थका उपयोग न होना (निर्विकल्पस्य) निर्विकल्पका (वाचकः) वाचक है

(यथा) जैसे (किल) निश्चयसे (ज्ञानस्य) ज्ञानका (अर्थाकृतिपरिणमन) अर्थाकार रूपसे परिणमन होना (उपयोगः इति स्यात्) उपयोग यह कहलाता है ('तथा') वैसेही (तस्य) उस ज्ञानका (नार्थकृतिपरिणमनं) किसीविशेष अर्थाकार रूपसे परिणमन नहीं होना (अनुपयोग एव स्यात्) अनुपयोग कहलाता है इसलिए

(नेति) न इस शब्दके द्वारा (यः) जो (निषेधात्मा) निषेधरूप पक्ष है (सः) वह (बोधपक्ष-त्वात्) बोधपक्ष होनेसे अर्थात् सामान्यरूपेस ज्ञानका विषयभूत होनेसे (अनुपयोग) सर्वथा अनुपयोग (न) नहीं है किंतु सामान्यको विशेषकरनेवाला उपयोगही है क्योंकि [नेति] न इसे (अर्थाकारेणाविना) अर्थाकारके विना (निषेधावबोधशून्यत्वात्) निषेधात्मक ज्ञान नहीं कह सकते है ।

भावार्थः— इन तीनों पद्योंका शब्दार्थ अन्वयार्थेसे आचुका है । भावार्थ ऐसा मालुम होता है कि आत्माका ज्ञानवान् कहना जो व्यवहारनयका विषय बताया है उसमें ज्ञान शब्दका अर्थ उपयोग और उपयोगका अर्थ ज्ञानको ज्ञेयाकार परिणत होना ऐसा है । व्यवहारनय प्रतिषेध्य और निश्चयनय उसका प्रतिषेधक होता है इस सिद्धातानुसार निश्चयनयकेद्वारा जब उक्त विधीका निषेध विवक्षित होगा तब आत्मा 'ज्ञानवान्ही नहीं है' इसका अर्थ यह होगा कि आत्मा उपयोगरूप नहीं है । और उपयोग शब्दका अर्थ अर्थाकार परिणति है इसलिए आत्मा उपयोगरूप नहीं है इसका अर्थ होगा कि आत्माका ज्ञान अर्थाकार परिणत नहीं है । साराश यह है कि उक्त व्यवहारका प्रतिषेध करनेसे अनुपयोग निश्चयनयका विषय पडता हैं परंतु यहापर उपयोगके अभावरूप अनुपयोगका अर्थ सर्वथा उपयोगका अभाव नही है किन्तु जैनसिद्धान्तमें अभावको भी भावान्तररूप माना है इसलिए अर्थाकार उपयोगके प्रतिषेधको विषय करनेवाला अर्थ होगा । क्योंकि 'न' के द्वारा विषय करनेवाला निश्चयनयका भी विषय तुच्छाभावरूप नहीं हैं । किन्तु विवक्षित विधिरूप विशेषके अभावमुखसे सामान्यधर्म निश्चयनयका विषय पडता है इसलिए उसको भी सुबोधपक्ष होनेसे तथा सामान्य धर्माकार परिणत होनेसे विकल्पपना सिद्ध होता है । हा ! यदि निशेषका अभाव सर्वथा अभाव माना गया होता निश्चयनय विकल्पासिद्ध नहीं होता.

दृष्टांत ।

जीवो ज्ञानगुणः स्यादर्थालोकं विना नयो नासौ ।
नेति निषेधात्मत्वादर्थालोकं विना नयो नासौ ॥ ६०६ ॥

अन्वयार्थः— जैसे (जीवः) जीव (ज्ञानगुणः) ज्ञानगुणवाला है (असौ नय) यह नय (अर्थालोकं विना) पदार्थके प्रतिभासके विना (न स्यात्) नहीं होता है वैसेही (निषेधात्मत्वात्) निषेधात्मक होनेसे (नेति) 'न' इत्याकारक (असौ नय) यह नय (अर्थालोक विना) अर्थके प्रतिभासके विना (न) नहीं होता है।

भावार्थ —जैसे जीव ज्ञानगुणवाला है यह व्यवहारनय अर्थालोकके विना अर्थात् पदार्थको विषय कियेविना नय नहीं कहा जासकता है वैसेही 'नेत्येतावन्मात्रा' जीव केवल ज्ञानगुणवालाही नहीं है इसप्रकारसे उस विधिरूप व्यवहारके प्रतिषेधको विषय करनेवाला निश्चयनय भी ज्ञानगुणके अभावसुखमे शेष गुणोंके सद्भावरूप अर्थालोकके विना अर्थात् सामान्यात्मक अर्थको विषय कियेविना नय नहीं कहा जा सकता है।

खुलासा।

स यथा शक्तिविशेषं समीक्ष्य पक्षश्चिदात्मको जीवः।
न तथेत्यपि पक्षः स्यादभिन्नदेशादिकं समीक्ष्य पुनः॥ ६०७ ॥

अन्वयार्थ — (स यथा) उसका खुलासा इसप्रकार है कि जैसे (शक्तिविशेषं) विशेष शक्ति को -ज्ञानशक्तिको (समीक्ष्य) देखकरके (जीवः) जीव (चिदात्मक) चिदात्मक है यह (पक्षः) पक्ष कहलाता है (पुनः) वैसेही (अभिन्नदेशादिकं) अभिन्न देशादिकको अर्थात् जीवके अकेले ज्ञानगुणपर ध्यान न देकर सब गुणोंको (समीक्ष्य) देखकरके (न तथा) जीव अकेला ज्ञानगुणवाला नहीं है (इत्यपि) ऐसा कहना भी (पक्षः स्यात्) पक्ष कहलाता है।

भावार्थः—साराश यह है कि जीव ज्ञानगुणवाला है इस व्यवहारनयमे जैसे जीवके ज्ञानगुणके अवलम्बनसे जीवको चिदात्मक कहना पक्ष है। वैसेही निश्चयनयमें, जीव केवल ज्ञानगुणवालाही नहीं है। इसलिए जीवके ज्ञानरूप विशेष गुणके अतिरिक्त सामान्यधर्मको अवलम्बन करके जीवकी ज्ञानात्मकताका निषेध करना भी पक्ष है।

अर्थालोकविकल्पः स्यादुभयत्राविशेषतोपि यतः।
न तथेत्यस्य नयत्वं स्यादिह पक्षस्य लक्षकत्वाच्च॥ ६०८ ॥

अन्वयार्थः— (यतः) क्योंकि (उभयत्रापि) दोनोंही नयोंमें (अविशेषतः) सामान्यरूपसे (अर्थालोकविकल्प) अर्थप्रतिभासरूप विकल्प (स्यात्) है इसलिए (इह च) इस निश्चयनयमेंभी (पक्षस्य) पक्षका (लक्षकत्वात्) विषय होनेसे (न तथा इत्यस्य) 'न तथा' इसको अर्थात् द्रव्यार्थिक नयको (नयत्वं स्यात्) नयपना है।

भावार्थः— व्यवहार ओर निश्चय दोनोंही नयोंमें अर्थालोक विकल्प, सदृश है। इसलिए 'न तथा' इत्याकारक निश्चयनयकोभी पक्षका ग्राही होनेसे उसमें नयपना सिद्ध हो जाता है।

एकाङ्गग्रहणादिति पक्षस्य स्यादिहांशधर्मत्वम्।
न तथेति द्रव्यार्थिकनयोस्ति मूलं यथा नयत्वस्य ॥ ६०९ ॥

अन्वयार्थः— (इति) इसप्रकारसे (इह) यहांपर (पक्षस्य) पक्षको (एकांगग्रहणात्) एक अंगका ग्रहण करनेवाला होनेसे (अंशधर्मत्वं) अंशधर्मपना (स्यात्) है इसलिए (न तथा इति) 'न तथा' यह (द्रव्यार्थिकः नयः) द्रव्यार्थिकनय (नयत्वस्य) नयपनेका (मूल यथा) मूलकी तरह (अस्ति) है।

भावार्थः— इसप्रकार निश्चयनयका विषयभूत पक्ष, द्रव्यके सामान्यरूप एक अंगका ग्राहक है। अतः उसमें अंशधर्मपनेके घट जानेमें वह (द्रव्यार्थिक) नय कहा जाता है। और वहही सब नयोंका मूल मानागया है।

एकाङ्गत्वमसिद्धं न नेति निश्चयनयस्य तस्य पुनः।
वस्तुनि शक्तिविशेषो यथा तथा तदविशेषशक्तित्वात् ॥ ६१० ॥

अन्वयार्थः— (पुनः) और (नेति तस्य निश्चयनयस्य) न इत्याकारक निषेधको विषय करनेवाले उस निश्चयनयमें (एकांगत्वं) एकांगपना (असिद्ध न) असिद्ध नहीं है क्योंकि (यथा) जैसे (वस्तुनि) वस्तुमें (शक्तिविशेष) शक्तिविशेष एक अंग है (तथा) वैसेही उसमें (तदविशेषशक्तित्वात्) उसकी सामान्य शक्तिभी उसका एक अंग है।

भावार्थः— जैसे व्यवहारनयकी विषयभूत वस्तुकी कोई एक विशेषशक्ति एक अंग कहलाता है। वैसेही उस विशेषशक्तिके अभावमुखसे कही जानेवाली वस्तुकी सामान्यात्मक शक्तिभी एक अंग है।

इसप्रकार ६०० वें पद्यसे लेकर ६१० वे पद्यतक निश्चयनयमें विकल्पपनेकी सिद्धि करके आगे उहापोह पूर्वक निश्चयनयको उदाहरण सहित सिद्ध करते है। शंका।

ननु च व्यवहारनयः सोदाहरणो यथा तथाऽयमपि ।
भवतु तदा को दोषो ज्ञानविकल्पाविशेषतो न्यायात् ॥ ६११ ॥
स यथा व्यवहारनयः सदनेकं स्याच्चिदात्मको जीवः ।
तदितरनयः स्वपक्षं वदतु सदेकं चिदात्मवात्विातिचेत् ॥ ६१२ ॥

अन्वयार्थ — (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (ज्ञानविकल्पाविशेषतो न्यायात्) ज्ञानविकल्प रूप सामान्य न्यायमे अर्थात् दोनोंही नयोका ज्ञानका विकल्प होनेसे (यथा) जैसे (व्यवहारनयः) व्यवहारनय (सोदाहरण) उदाहरण सहित है (तथा) वैसे (अयं अपि) यदि यह निश्चयनयभी (भवतु) माना जावेतो (तदा को दोष) उससमय कौनसा दोष है ? क्योंकि (यथा) जैसे (सदनेकं) सत अनेक हैं (जीवः) जीव (चिदात्मकः स्यात्) चिदात्मक है इसप्रकारसे (स व्यवहारनय) वह व्यवहारनय उदाहरणसहित होता है वैसेही (चिदात्मवत्) चित्‌कोही आत्माके कहनेकी तरह (सदेकं) सत् एक है इसप्रकारसे (तदितरनय) व्यवहारनयसे भिन्न निश्चयनयभी (स्वपक्षं) अपने पक्षको (वदतु) कहे अर्थात् वहभी उदाहरण सहित कहलावे (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि दोनोंही नय ज्ञानविकल्पात्मक है तो जैसे व्यवहारनय उदाहरण सहित माना जाता है वैसेही निश्चयनयकोभी उदाहरणसहित मानना चाहिये अर्थात जैसे सत्‌को अनेक कहना जीवको चिदात्मक कहना ये व्यवहारनयके उदाहरण माने जाते है वैसेही सत्‌को एक कहना चित्‌कोही आत्मा कहना ये निश्चयनयके उदाहरण मानना चाहिये ।

न यतः संकर दोषो भवति तथा सर्वशून्यदोषश्च ।
स यथा लक्षणभेदाल्लक्ष्याविभागोस्त्यनन्यथासिद्धः ॥ ६१३ ॥

अन्वयार्थ — (न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि ऐसा माननेसे (संकरदोषः)

संकर दोष (तथा) और (सर्वशून्यदोषश्च) सर्वशून्य दोषभी (भवति) होगा क्योंकि (लक्षणभेदात्) लक्षणके भेदसे (अनन्यथा सिद्धः) उसका अविनाभावी (लक्ष्यविभागः अस्ति) लक्ष्यका विभाग अवश्य होता है (स यथा) जैसा कि आगेके पद्यसे बताते है।

भावार्थः— सतको एक कहनेवाला व चितको आत्मा कहनेवाला निश्चयनय नहीं है। किन्तु व्यवहारही है। कारण कि भेद करना व्यवहारनयका लक्षण है। और इन दृष्टान्तोंमें लक्ष्यलक्षणभावमें भेद होता है अर्थात सत् लक्ष्य है तथा एक उसका लक्षण है। और चित् लक्ष्य है तथा आत्मत्व* उसका लक्षण है। इसप्रकार लक्षणके भेदसे लक्ष्यमें, अविनाभाव सम्बन्धके कारण भेद प्रतीत हो जाता है। अतः भेद विषय होनेसे वह व्यवहारही है अभेद-सामान्यसाधक निश्चयनय नहीं। इसलिए किसी भी तरह निश्चयनयको सोदाहरण नहीं कहसकते है। क्योंकि सोदाहरण माननेसे संकर तथा सर्वशून्य ये दो दोष आते है। इन दोनो दोषोंको आगे बताया है।

लक्षणमेकस्य सतो यथाकथंचिद्यथा द्विधाकरणम् ।
व्यवहारस्य तथा स्यात्तदितरथा निश्चयस्य पुनः ॥६१४॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (एकस्य सतः) एकसतका (यथाकथंचित्) जिसकिसी प्रकार (द्विधाकरणं) दोरूपसे करना (व्यवहारस्य लक्षण) व्यवहारनयका लक्षण है (तथा पुनः) वैसेही (तदितरथा) व्यहारनयसे विपरीत अर्थात एकसतको दोरूपसे नहीं करना (निश्चयस्य स्यात्) निश्चयनयका लक्षण है।

भावार्थ — एक अखंड सतमें जिस किसी प्रकारसे कथंचित भेद करना व्यवहारनयका लक्षण है और उस अखंड सतमें किसी प्रकारका भेद नहीं करना निश्चयनयका लक्षण है अतएव 'सदेक' तथा 'चिदेव जीव' आदि निश्चयनयके उदाहरणोंका व्यवहारमेंही अन्तर्भाव हैं। इसीको बताते है।

अथ चेत्सदेकमिति वा चिदेव जीवोथ निश्चयो वदति ।
व्यवहारान्तर्भावो भवति सदेकस्य तद्द्विधापत्तेः ॥ ६१५ ॥

अन्वयार्थः— (अथचेत्) यदि कदाचित् यह कहा जाय कि (सदेक) सत् एक है (इति) इसको

* व्यापकत्व

(अथवा) अथवा (चिद्वजीवः) चित् ही जीव है इसको (निश्चय) निश्चयनय (वदति) कहता है (तत्) तो (सदेकस्य) एक सत्को (द्विधापत्तेः) द्वैत भावका प्रसंग आनेसे वह निश्चयनय (व्यवहारमात्र.) व्यवहारमेंही अन्तर्भूत (भवति) हो जायगा ।

भावार्थः— यदि सत् एक है, चितही जीव है इसको निश्चयनयका उदाहरण माना जायगा तो सत्को एक कहनेमें व चित्कोही जीव कहनेमें लक्ष्यलक्षणभावसे द्वैधाभाव उत्पन्न हो जानेके कारण निश्चयनय भी व्यवहारमें अन्तर्भूत हो जायगा । आगे—इनमें लक्ष्यलक्षणभाव कैसे है इसको बताते है ।

एवं सदुहारणे सल्लक्ष्यं लक्षणं तदेकमिति ।
लक्षणलक्ष्यविभागो भवति व्यवहारतः स नान्यत्र ॥ ६१६ ॥
अथवा चिदेव जीवो यदुदाह्रियतेप्यभेदबुद्धिमता ।
उक्तवदत्रापि तथा व्यवहारनयो न परमार्थः ॥ ६१७ ॥

अन्वयार्थ — (उदाहरणे सत् एकं) उदाहरणमें सत् एक कहनेमें (सल्लक्ष्यं) सत् लक्ष्य है और (तदेक इति) वह एक है यह उसका (लक्षण) लक्षण है तथा (सः) वह (लक्षण लक्ष्यविभाग) लक्षण लक्ष्य विभाग (व्यवहारतः) व्यवहारनयमें (भवति) होता है (अन्यत्र न) निश्चयनयमें नहीं

(अथवा) अथवा (चिदेवजीवः) चितही जीव है (यत् अपि) जोभी यह (अभेदबुद्धिमता) अभेद बुद्धिके द्वारा (उदाह्रियते) निश्चयनयका उदाहरण कहा जाता है (अत्रापि) सो यहांपरभी (उक्तवत्) सदेककी तरह (तथा) लक्षणलक्ष्यभावसे (व्यवहारनयः) व्यवहारनय सिद्ध होता है (परमार्थः न) निश्चयनय सिद्धनहीं होता है ।

भावार्थः— सत् एक है व चितही जीव है । इसप्रकार शंकाकार के द्वारा दियेगए निश्चयनयके उदाहरणोंमें सत् और चित, लक्ष्य, तथा एक, और जीव लक्षण हैं । अतः लक्ष्यलक्षण भावके द्वारा उनमें भेद सिद्ध होजानेके कारण निश्चयनयमें भेदको विषय करनेवाला व्यवहारनयपनाही सिद्ध होता है निश्चयनयपना नहीं । क्योंकि लक्ष्यलक्षण व्यवहारनयमेंही होता है निश्चयनयमें नहीं ।

उपसंहार ।

एवं सुसिद्धसंकरदोषे सति सर्वशून्यदोषः स्यात् ।
निरपेक्षस्य नयत्वाभावात्तल्लक्षणाद्यभावत्वात् ॥ ६१८ ॥

अन्वयार्थ — (एव) इसप्रकार (सुसिद्धसंकरदोषे सति) प्रसिद्ध संकर दोषके आनेपर (सर्व शून्यदोषः स्यात्) सर्व शून्य दोष आता है क्योंकि (तल्लक्षणाद्यभावत्वात्) निरपेक्ष नयमें नयका लक्षणादिक न घटनेसे (निरपेक्षस्य) निरपेक्ष नयमें (नयत्वाभावात्) नयपनाही नहीं आसकता है ।

भावार्थः— इसप्रकार शंकाकारके द्वारा बतायेगए 'सदेक' व 'चिदेवजीव' रूप निश्चयनयके उदाहरणोंमे लक्ष्यलक्षणभावके घट जानेसे व्यवहारनयपनाही सिद्ध होता है । अत निश्चय और व्यवहारनयका कोई नियामक न रहनेसे संकर दोष तथा इन उदाहरणोंको निश्चयनयके उदाहरण माननेसें सबहीको व्यवहारनयपना आ जानेके कारण निश्चयनयके अभावका प्रसंग आवेगा । और उसके अभावमें निश्चयनयके विषयभूत सामान्यकी अपेक्षा न करके कहा जानेवाला व्यवहार, व्यवहारनयही नहीं कहला सकेगा । क्योंकि उसमें 'निरपेक्षानया मिथ्याः' के सिद्धान्तानुसार वास्तविक व्यवहारनयपना नहीं रह सकता है । इसलिए सदेक तथा चिदेवजीवको निश्चयनयका उदाहरण माननेमें सर्व नयोंके अभावकी समावनामें सर्व शून्यत्व दोष भी आता है ।

शंका ।

ननु केवलं सदेव हि यदि वा जीवो विशेषनिरपेक्षः
भवति च तदुदाहरणं भेदाभावात्तदा हि को दोषः ॥ ६१९ ॥
अपि चैवं प्रतिनियतं व्यवहारस्यावकाश एव यथा ।
सदनेकं च सदेकं जीवश्चिद्द्रव्यमात्मवानिति चेत् ॥ ६२० ॥

अन्वयार्थ — (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (हि) निश्चयकरके (विशेषनिरपेक्षः) विशेष निरपेक्ष (केवल) केवल (सदेव) सदेव अर्थात् सतही (यदि वा) अथवा (जीव) जीवही (भेदाभावात्) अभेदरूपहोनेसे (तदुदाहरणं भवति) निश्चयनयके उदाहरण है ऐसा माना जाय तो (तदा) उससमय (को हि दोष) कौनसा दोष होगा क्योंकि (एवं च) ऐसा माननेपर (व्यवहारस्य अपि) व्यवहारनयकोभी (अव-

काशः) अवकाश (**प्रतिनियत एव**) निश्चितरूपसे रहही जाता है (**यथा**) जैसेकि (**सदनेक**) सत् अनेक है (**च**) और [**सदेकं**] सत् एक है तथा [**जीवः**) जीव [**चिद्द्रव्यं**] चिद्द्रव्य है [**आत्मवान्**] आत्मवान् है [**इति चेत्**] यदि ऐसा कहोतो।

भावार्थ— शंकाकारका कहना है कि यदि सत्को एक अथवा चेतनाकोही जीव कहना व्यवहारनयकाही विषय है। इसलिए उनको निश्चयनयका उदाहरण माननेमें दोष है तो रहो। परन्तु विशेष निरपेक्ष केवल सत् व जीवको निश्चयनयका उदाहरण माननेमे तो कोई दोष नहीं है। अतः इनको निश्चयनयका उदाहरण मानना चाहिए। क्योंकि विशेष निरपेक्ष केवल सत् अथवा जीवको निश्चयनयका उदाहरण माननेमे निश्चयनय सोदाहरण सिद्ध हो जाता है। और सत् एक है व अनेक है चेतनाही जीव है इत्यादि रूपसे व्यवहारके लिये अवकाशभी रह जाता है।

समाधान।

न यतः सादिति विकल्पो जीवः काल्पनिक इति विकल्पश्च।
तत्तद्धर्मविशिष्टस्तद्वानुपचर्यते स यथा ॥ ६२१ ॥

अन्वयार्थ — [**न**] इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (**यत**] क्योंकि (**सदिति**) 'सत् यह' [**विकल्पः**] विकल्प (**च**] तथा [**जीव इति विकल्प**] 'जीव' यह विकल्प इसप्रकार ये दोनोंही विकल्प [**काल्पनिकः**] काल्पनिक है क्योंकि [**य.**] जो [**तत्तद्धर्मविशिष्टः**] उस २ धर्मसे सहित होता है अर्थात् जिसमें जो धर्म रहते है [**सः**] वह [**तद्वान्**] उस २ धर्मवाला [**उपचर्यते**] उपचारनयसे कहा जासकता है [**यथा**] जैसेकि।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक नही हैं। कारणकि विशेषनिरपेक्ष सत्, व'जीव'को निश्चयनयके उदाहरण माननेमेंभी वही दोष आते है। क्योंकि सत् और जीव ये दोनोंही विकल्प काल्पनिक विकल्प है। कारणकि धर्म तथा धर्मीमें अभेद होनेसे जो जिस २ धर्मसे विशिष्ट होते है उनमें उपचारसे तद्वान अर्थात उस २ धर्मवालेका उपचार किया जाता है।

स्पष्टीकरण।

जीवः प्राणादिमतः संज्ञाकरणं यदेतदेवेति।
जीवनगुणसापेक्षो जीवः प्राणादिमानिहास्त्यर्थात् ॥ ६२२ ॥

अन्वयार्थ — [प्राणादिमत) प्राणोंको धारण करनेवालेका [यत] जो [संज्ञाकरणं संज्ञा करण है (एतदेव] यही [जीव इति] 'जीव' यह है [अर्थात्] अर्थात् [इह] यहांपर [जीवनगुण सापेक्षः] जीवनगुणकी अपेक्षा रखनेवाला [प्राणादिमान्] प्राणादियुक्त आत्मद्रव्य (जीवः अस्ति] जीव कहा जाता है।

भावार्थः- - प्राणादि वालेको जीव कहते है अर्थात् जीवन गुणकी अपेक्षासे आत्मा जीव कहलाता है। इसलिए जीवका अर्थ प्राणादिमान जीवस्व युक्त हो जाता है।

यदि वा सादीति सतः स्यात्संज्ञा सत्तागुणस्य सापेक्षात्
लब्धं तदनुक्तमपि सद्भावात् सदिति वा गुणो द्रव्यम् ॥ ६२३ ॥

अन्वयार्थः-- (यदि वा) अथवा (सत्तागुणस्य सापेक्षात) सत्व गुणकी अपेक्षासे सहित होनेसे (सदिति) 'सत्' यह (सतः) द्रव्यकी (संज्ञा स्यात्) संज्ञा है (तत्) इसलिए (सद्भावात्) सतपनेसे (सदिति) 'सत' यह (अनुक्त अपि) विना कहे हुएभी (गुणः) गुण (वा) अथवा (द्रव्यं) द्रव्य है ऐसा (लब्धं) लब्ध अर्थात् सिद्ध हो जाता है।

भावार्थः— और सत्तागुणकी अपेक्षासे 'सतको' सत् कहते है। इसलिए विना कहेही सतपनेसे 'सत्' यह गुण अथवा द्रव्य कहाजाता है अर्थात सत शद्बका अर्थ उपचारसे सत्वगुणवान् व द्रव्यवान् हो जाता है। इसलिए सतका अर्थ गुण, तथा सत्वयुक्त द्रव्य, व जीवका अर्थ जीवयुक्त, (प्राणादिमान्) हो जाता है। अतः सत् लक्ष्य तथा सत्वादिक उसका लक्षण और जीव लक्ष्य तथा जीवत्व उसका लक्षण मानकर लक्ष्यलक्षणभावभेदकी कल्पना होनेसे इनकाभी व्यवहारमेंही अन्तर्भाव होजाता है। अतः विशेषनिरपेक्ष केवल सत् और जीवको, निश्चयनयका उदाहरण माननेमेंभी उक्तदोष आते है ऐसा समझना चाहिये। अब आगे- विशेषणशून्य विशेष्यमात्रको निश्चयनयका उदाहरण माननेमें दोष बताते है।

यदि च विशेषणशून्यं विशेष्यमात्रं सुनिश्चयस्यार्थः।
द्रव्यं गुणो न पर्याय इति वा व्यवहारलोपदोषः स्यात् ॥ ६२४ ॥

अन्वयार्थ — (यदि च) यदि (विशेषणशून्यं) विशेषणशून्य (विशेष्यमात्रं) विशेष्यमात्र

(सुनिश्चयस्य) निश्चयनयका (अर्थः) विषय है —उदाहरण है तो (द्रव्यं) द्रव्य (गुण) गुण (वा) अथवा (पर्ययः) पर्याय कुछभी (न) नहीं बनेंगे (इति) इसलिए (व्यवहारलोपदोषः स्यात्) व्यवहारके लोप होनेका प्रसंगरूपदोष होगा।

भावार्थः— यदि उदाहरण विशेषण शून्य विशेष्यमात्रको निश्चयनयका विषय मानोगे तो सर्वथा विशेषण मात्रका अभाव मानना पडेगा। और विशेषणमात्रके अभावमें द्रव्यगुण व पर्यायका भी व्यवहार नहीं किया जा सकेगा। इसलिए विशेषणशून्य केवल विशेषको निश्चयनयका विषय—उदाहरण माननेसे व्यवहारके लोपका प्रसंगनामा दोष आता है।

उपसंहार।

तस्मादवसेयमिदं यावदुदाहरणपूर्वको रूपः।
तावान् व्यवहारनयस्तस्य निषेधात्मकस्तु परमार्थः॥ ६२५॥

अन्वयार्थः— (तस्मात्) इसलिए (इदं अवसेयं) ऐसा समझना चाहिये कि (यावत्) जितने (उदाहरणपूर्वकोरूप) उदाहरणपूर्वक रूप है (तावान्) उतनाही वह सब (व्यवहारनयः) व्यवहारनय है (तु) और (तस्य) उस व्यवहारनयके (निषेधात्मकः) निषेधस्वरूप (परमार्थः) निश्चयनय है।

भावार्थः— इसलिए यह निश्चित समझना चाहिए कि जितना भी उदाहरणपूर्वक कथन है वह सब व्यवहारनय है। और उस व्यवहारका निषेध करनेवाला जो है वह निश्चयनय है।

शंका।

ननु च व्यवहारनयो भवति च निश्चयनयो विकल्पात्मा।
कथमाद्यः प्रतिषेध्योऽस्त्यन्यः प्रतिषेधकश्च कथमिति चेत्॥ ६२६॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि जब (व्यवहारनयः) व्यवहारनय (च) और (निश्चयनयः) निश्चयनय दोनोंही [विकल्पात्मा) विकल्पात्मक (भवति) होते है तो फिर (आद्यः) पहला व्यवहारनय (प्रतिषेध्य) प्रतिषेध्य (कथं अस्ति) क्यों है (च) तथा [अन्यः) दूसरा निश्चयनय [प्रतिषेधकः कथं] प्रतिषेधक क्यों है (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जब व्यवहार और निश्चय दोनोंही नय विकल्पात्मक मानेगये है। तो फिर व्यवहारनयको 'प्रतिषेध्य' तथा निश्चयनयको उसका 'प्रतिषेधक' क्यों माना है ?

समाधान।

न यतो विकल्पमात्रमर्थाकृतिपरिणतं यथा वस्तु ।
प्रतिषेध्यस्य न हेतुश्चेदयथार्थस्तु हेतुरिह तस्य ॥ ६२७ ॥

अन्वयार्थः—(न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (यथावस्तु) वस्तुके अनुसार (विकल्पमात्रं) केवल विकल्परूप (अर्थाकृतिपरिणत) अर्थाकार परिणत होना (प्रतिषेध्यस्य) प्रतिषेध्यका (हेतुः न) कारण नहीं है (तु) किंतु (अयथार्थ चेत्) यदि वह वास्तविक नहीं है तो वह (इह) यहांपर (तस्य) प्रतिषेध्यका (हेतुः) कारण होता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्येक वस्तुमें जो उस वस्तुके अनुसार ज्ञानका अर्थाकार परिणमन होता है उसको विकल्प कहते हे। और उस प्रकारका वह विकल्प व्यवहारनयको प्रतिषेध्य कहलानेमें कारण नहीं है। किन्तु यहांपर व्यवहारनयके द्वारा जो वस्तुका स्वरूप कहा जाता है वह यथार्थ नहीं होता है। इस-लिए यही अयथार्थपना, व्यवहारनयको प्रतिषेध्य–प्रतिषेध करने योग्य कहलानेमें कारण है अर्थात् व्यवहारनय मिथ्या है अतः वह प्रतिषेध्य है। केवल विकल्पात्मक होनेसे वह प्रतिषेध्य नहीं है। क्योंकि विकल्पात्मक तो निश्चयनयभी होता है।

खुलासा।

व्यवहारः किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यतः ।
प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च ॥ ६२८ ॥

अन्वयार्थः—(यत) क्योंकि (किल) निश्चयकरके (व्यवहार) व्यवहारनय (स्वय अपि च) स्वयंही (मिथ्योपदेशकः) मिथ्या अर्थका उपदेश करनेवाला है अतः (मिथ्या) मिथ्या है (तस्मात्) इसलिए वह (इह) यहांपर (प्रतिषेध्यः) प्रतिषेध्य हैं (च) तथा (तदर्थदृष्टि) व्यवहारनयके अर्थपर दृष्टि रखनेवाले (मिथ्यादृष्टि) मिथ्यादृष्टी कहलाते है।

भावार्थ — व्यवहारनय विकल्पात्मक होनेसे मिथ्या नहीं है किन्तु मिथ्या अर्थका कथन करनेवाला होनेसे मिथ्या है। इसलिए उसको प्रतिषेध्य तथा केवल उसीमें दृष्टि रखनेवाले जीवोंको मिथ्यादृष्टी कहा है।

स्वयमपि भूतार्थत्वाद्भवति स निश्चयनयो हि सम्यक्त्वम्।
अविकल्पवदतिवागिव स्यादनुभवैकगम्यवाच्यार्थः ॥ ६२९ ॥
यदि वा सम्यग्दृष्टिस्तद्दृष्टिः कार्यकारी स्यात्।
तस्मात् स उपादेयो नोपादेयस्तदन्यनयवादः ॥ ६३० ॥

अन्वयार्थः— और (स्वयं अपि) स्वयंही (भूतार्थत्वात्) यथार्थ अर्थको विषय करनेवाला होनेसे (हि) निश्चयकरके (सः) वह (निश्चयनयः) निश्चयनय (सम्यक्त्व) सम्यक्त्व (भवति) है और (अविकल्पत्वात्) निर्विकल्पकी तरह तथा (अतिवागिव) वचनगोचरकी तरह (अनुभवैकगम्यवाच्यार्थ) एक स्वानुभवके द्वाराही गम्य है वाच्यार्थ जिसका ऐसा (स्यात्) है (यदि वा) अथवा (तद्दृष्टिः) निश्चयनय पर दृष्टि रखनेवाला ही (सम्यग्दृष्टिः) सम्यग्दृष्टी और (कार्यकारी) कार्यकारी (स्यात्) है (तस्मात्) इसलिए (स) वह निश्चयनय (उपादेयः) ग्रहण करनेके योग्य है तथा (तदन्यनयवादः) उससे भिन्न व्यवहार नयवाद (उपादेयः न) ग्रहण करनेके योग्य नहीं है।

भावार्थः— स्वयं भूतार्थ होनेसे निश्चयनयही सम्यक्त्व है अर्थात् सम्यक्त्वका विषय है। और वह यद्यपि 'नेत्येतावन्मात्रः' इत्याकारक निषेधात्मक विकल्पमय माना गया है तथापि उसमें भेदजनक और किसी प्रकारका विकल्प न हो सकनेसे उसको निर्विकल्पके समान कहा है। तथा व्यवहारके निषेधके सिवाय अन्य वचनद्वारा प्रतिपाद्य न हो सकनेसे उसको वचनागोचरसा कहा है। निश्चयनयके विषयमें दृष्टि रखनेवालेही सम्यग्दृष्टी कहे जाते है। अत केवल निश्चयदृष्टीही कार्यकारी है उपादेय हैं। व्यवहारदृष्टि नहीं। शंका।

ननु च व्यवहारनयो भवति स सर्वोपि कथमभूतार्थः।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं यथोपदेशात्तथानुभूतेश्च ॥६३१॥

अथ किमभूतार्थत्वं द्रव्याभावोऽथवा गुणाभवः ।
उभयाभावो वा किल तद्योगस्याप्यभवसादिति चेत् ॥ ६३२ ॥

अन्वयार्थ:— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (यः) जो (व्यवहारनयः) व्यवहारनय है (स) वह (सर्वोऽपि) सबही (अभूतार्थः कथं भवति) अभूतार्थ क्यों है क्योंकि (द्रव्यं) द्रव्य (यथोपपदेशात् गुणपर्ययवत्) जैसे उपदेशसे गुणपर्यायवाला है (तथा च) वैसेही वह (अनुभुतेः) अनुभवसेभी गुण पर्यायवाला प्रतीत होता है (अथ) यदि गुणपर्ययवद्द्रव्य भूतार्थ नहीं है तो (किल) निश्चयसे (किं) क्या (द्रव्याभावः) द्रव्यका अभाव (अथवा) अथवा (गुणाभावः) गुणका अभाव (वा) अथवा (उभयाभावः) उभयका अभाव अथवा (तद्योगस्यापि अभवसात्) उन दोनोंके योगका अभाव (भूतार्थत्वं) भूतार्थत्व है ?

भावार्थ — शंकाकारका कहना है कि जैसा द्रव्य, गुण पर्यायवाला सूत्रमें कहा गया है वैसाही वह गुणपर्यायवाला अनुभवमें भी प्रतीत होता है । फिर सबही व्यवहारनय, अभूतार्थ क्यों कहा जाता है ?

यदि व्यवहारनय भूतार्थ नहीं है तो क्या द्रव्यके अभावको भूतार्थतत्व कहते हो ? अथवा क्या गुणके अभावको भूतार्थत्व कहते हो ? अथवा क्या दोनोंके अभावको भूतार्थत्व कहते हो ? अथवा क्या उनदोनोंके योगके अभावको भूतार्थत्व कहते हो ?

समाधान ।

सत्यं न गुणाभावो द्रव्यभावो न नोभयाभावः ।
न हि तद्योगाभावो व्यवहारः स्यात्तथाप्यभूतार्थः ॥ ६३३ ॥

अन्वयार्थ— (सत्यं) ठीक है क्योंकि (न गुणाभावः) यद्यपि न गुणाभाव [न द्रव्याभावः) न द्रव्याभाव [न उभयाभावः) न उभयाभाव और (न हि तद्योगाभावः) न उन दोनोंके योगका अभाव भूतार्थत्व है (तथापि) तौभी (व्यवहारः) व्यवहारनय (अभुतार्थ स्यात्) अभूतार्थ है ।

भावार्थः— यद्यपि न गुणाभाव, न द्रव्याभाव, न उभयाभाव और न उनदोनोंके योगका अभाव भूतार्थपना है तथापि व्यवहारनय अभूतार्थही है । आगे-व्यवहारनय अभूतार्थ क्यों है इसका खुलासा करते है ।

इदमत्र निदानं किल गुणवद्द्रव्यं यदुक्तमिह सुत्रे
अस्ति गुणोस्ति द्रव्यं तद्योगात्तदिह लब्धमित्यर्थात ॥ ६३४ ॥

तदसत् गुणोस्ति यतो न द्रव्यं नोभयं न तद्योगः ।
केवलमद्वैतं सत्भवतु गुणो वा तदेव सभद्रव्यम् ॥६३५॥

अन्वयार्थः— (किल) निश्चयकरके (अत्र) व्यवहारनय, अभूतार्थ है इसमें (इद) यह (निदान) निदान है कि (इह) यहांपर (सूत्रे) सूत्रमें (यत) जो (द्रव्यं) द्रव्यको (गुणवत्) गुणवाला (उक्तं) कहा है उसका (अर्थात्) अर्थकरनेसे (इह) यहांपर (गुणः अस्ति) गुण पृथक् है (द्रव्यं अस्ति) द्रव्य पृथक् है और (तद्योगात्) गुणके योगसे (तत्) वह द्रव्य गुणवाला कहलाता है (इति लब्धं) ऐसा लब्ध सिद्ध होता है परन्तु (तदसत्) वह ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (न गुण अस्ति) न गुण है (न द्रव्य) न द्रव्य है (न उभयं) न उभय है तथा (न तद्योगः) न उन दोनोंका योग है किंतु (केवल) केवल (अद्वैतं सत्) अद्वैत सत् है और (तदेव सत्) वही सत चाहे (गुणः भवतु) गुण मान लो (वा) अथवा (द्रव्य) द्रव्य मान लो परन्तु वह भिन्न नहीं है अर्थात निश्चयनयसे अभिन्नही है ।

भावार्थः— व्यवहारनयसे 'गुणवद्द्रव्य' अर्थात् गुणवालेको द्रव्य कहनेसे ऐसा बोध होसकता है कि गुण और द्रव्य भिन्न २ वस्तु है तथा गुणके योगसे द्रव्य, द्रव्य कहलाता है । किन्तु ऐसा अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि न गुण है, न द्रव्य है और न दोनों है तथा न उनका योगही है । किन्तु निश्चयनयसे केवल एक अद्वैत अभिन्न अखण्ड सत ही है । उसेही चाहे गुण कहो, चाहे द्रव्य कहो अथवा जो चाहे सो कहो ।

सारांश ।

तस्मान्न्यायागत इति व्यवहारः स्यान्नयोप्यभूतार्थः
केवलमनुभवितारस्तस्य च मिथ्यादृशो हतास्तेऽपि ॥ ६३६ ॥

अन्वयार्थ — (तस्मात्) इसलिए (इति न्यायागत.) यह न्यायसे सिद्ध हुवा है कि (व्यवहारः) व्यवहार (नयोऽपि) नयभी (अभूतार्थः स्यात्) अभूतार्थ है (च) और (केवल) केवल (तस्य) उसका

(अनुभवविनार) अनुभव करनेवाले (ये) जो (मिथ्यादृशः) मिथ्यादृष्टी है (ते ऽपि) वेभी (हताः) खण्डित होचुके।

भावार्थः— व्यवहारनय, उक्तप्रकारके भेदको विषय करता है। क्योंकि विधिपूर्वक भेद करनाही व्यवहार शब्दका अर्थ है। अतएव सिद्ध होता है कि व्यवहारनय अभूतार्थही है–परमार्थभूत नही है। और केवल उसका अनुभव करनेवाले मिथ्या दृष्टी है। तथा वे नष्ट समझना चाहिए। शंका।

नतु चैवं चेन्नियमादादरणीयो नयो हि परमार्थः।
किमकिंचित्कारित्वाद्व्यवहारेण तथाविधेन यतः॥ ६३७ ॥

अन्वयार्थः— [ननु च] शंकाकारका कहना है कि [एवं चेत्] यदि ऐसा कहोतो [नियमात्] नियमसे [हि] निश्चयकरके [परमार्थः नय] निश्चयनयही [आदरणीय] आदर करनेके योग्य मानना चाहिए [यतः] क्योंकि [अकिंचित्कारित्वात्) अकिंचित्कारी होनेसे [तथाविधेन] अपरमार्थभूत [व्यवहारेण] व्यवहारनयसे [किं] क्या प्रयोजन है [इति चेत्] यदि ऐसा कहोतो।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि व्यवहारनय, अपरमार्थभूत तथा कार्यकारी नहीं है तो फिर केवल एक निश्चयनयही मानना चाहिए। अकिंचित्कारी व अपरमार्थभूत–व्यवहारनयके माननेकी क्या जरूरत है?

समाधान।

नैवं यतो वलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ।
वस्तुविचारे यदि वा प्रमाणमुभयावलम्बि तज्ज्ञानम्॥ ६३८ ॥
तस्मादाश्रयणीयः केषांचित् स नय प्रसंगत्वात्।
अपि सविकल्पानामिव न श्रेयो निर्विकल्पबोधवताम्॥ ६३९ ॥

अन्वयार्थ — (एवं न] इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (इह) यहापर (विप्रतिपत्तौ) विप्रतिपत्तिके होनेपर (च) और (संशयापत्तौ) संशयकी आपत्ती आनेपर व (वस्तुविचारे) वस्तुके विचार करनेमें [वलात्] बलपूर्वक [व्यवहार प्रवर्तते] व्यवहारनय प्रवृत्त होता है। [यदि वा] अथवा

['यत् '] जो [ज्ञानं] ज्ञान [उभयावलम्बि) दोनों नयोंको अवलम्बन करनेवाला है [तत] वही [प्रमाण] प्रमाण कहलाता है [तस्मात्] इसलिए [प्रसंगत्वात्] प्रसगवश [स नय.] वह व्यवहारनय [केषांचित] किन्हींके लिये [आश्रयणीयः] आश्रय करनेके योग्य है। [अपि] किंतु [सविकल्पानां इव] सविकल्प ज्ञानवालाकी तरह (निर्विकल्पबोधवतां) निर्विकल्प ज्ञानवालोंको वह (श्रेय न] कल्याणकारी नहीं है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यद्यपि व्यवहारनय, अपरमार्थभूत है तथापि जिस समय वस्तु विचारमें विवाद तथा संशय उत्पन्न होता है उस समय वह उपयोगी पडता है । अथवा दोनों नयोंका युगपत् विषय करनेवाला अर्थात उनके विषयको युगपत जाननेवाला ज्ञान, प्रमाण कहलाता है । इसलिए प्रमाण पक्षकी दृष्टिवश वह व्यवहारनय भी किन्हीं २ के लिए आश्रय करनेके योग्य माना गया है । किन्तु सविकल्पक ज्ञानवालोंके समान, निर्विकल्पक बोधवालोंकेलिए, वह कल्याणकारी नहीं है । अर्थात सविकल्पक बोधके अनन्तर जो निर्विकल्पक बोधकी स्थितीको पहुंच जाते है उनकेलिए वह कल्याणकारी नहीं है । जहापर नय, निक्षेप और प्रमाणका भी उदय नहीं रहता है ऐसे निश्चयनयके पक्षसे आगे होनेवाले विकल्परहित बोधको निर्विकल्पकबोध कहते है ।

शंका ।

नतु च समीहितसिद्धिः किल चैकस्मान्नयात्कथं न स्यात ।
विप्रतिपत्तिनिरासो वस्तुविचारश्च निश्चयादिति चेत् ॥ ६४० ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (किल) निश्चयकरके (समीहितसिद्धि) इष्टकी सिद्धि (एकस्मात् नयात्] एकही नयसे (कथं च न स्यात) क्यों नहीं होगी क्योंकि (विप्रतिपत्तिनिरासः) विप्रतिपत्तीका निरास (च) और (वस्तुविचारः) वस्तुका विचार (निश्चयात्) निश्चयनयसे हो जायगा [इति चेत्] यदि ऐसा कहोतो ।

भावार्थ — शंकाकारका कहना है कि वस्तु विचार और संशयापत्तीके उपस्थित होनेपर जो व्यवहारनयको उपयोगी बताया है सो ठीक है । परन्तु वस्तुविचार तथा संशयका निराकरण, तो केवल एक निश्चयनयसेही हो जायगा इसलिए इष्टसिद्धिकेलिए, केवल एक निश्चयनयही मानना चाहिये ।

समाधान।

नैवं यतोस्ति भेदोऽनिर्वचनीयो नयः स परमार्थः।
तस्मात्तीर्थस्थितये श्रेयान् कश्चित् स वावदूकोपि ॥ ६४१ ॥

अन्वयार्थ — (एवं न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (सःपरमार्थःनयः) वह परमार्थनय तो (अनिर्वचनीय) अनिर्वचनीय अर्थात् वचनके द्वारा नहीं कहा जासकता है (तस्मात्) इसलिए (तीर्थस्थितये] तीर्थ स्थितिके लिये अर्थात् जैनदर्शनके विषयमें विप्रतिपत्ति तथा संशयको दूर करनेके लिये [वावदूकोऽपि) वावदूकभी [सः कश्चित्] वह कोई व्यवहारनय [श्रेयः) कार्यकारी है यह (भेदः अस्ति) भेद है।

भावार्थः— निश्चयनय वचनगोचर नहीं है। इसलिए वह तीर्थके स्थापनार्थ उपयोगी नहीं पडसकता है। परन्तु तीर्थकी स्थापना आवश्यक कार्य है और वह तीर्थस्थापन व्यवहारनयके द्वाराही होसकता है एतावता भेदको विषय करनेवाला, वावदूक भी व्यवहारनय उपयोगी माना है। अतएव केवल निश्चयनयसे काम न चलनेके कारण, व्यवहारनय भी आश्रय करनेके योग्य है—माननेके योग्य है।

इसप्रकार निश्चय और व्यवहारकी सिद्धि करके अब—आगे निश्चयनयके विषयको सम्बन्धमें शंकासमाधान पूर्वक विचार करते हैं।

ननु निश्चयस्य वाच्यं किमीति यदालम्ब्य वर्तते ज्ञानम्।
सर्वविशेषाभावेऽत्यन्ताभावस्य वै प्रतीतत्वात् ॥ ६४२ ॥

अन्वयार्थ— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (निश्चयस्य) निश्चयनयका (वाच्य किं इति) वाच्य क्या है कि (यत्) जिसको (आलम्ब्य] आलम्बन करके (ज्ञानं) निश्चयनयात्मकज्ञान (वर्तते) पैदा होता है क्योंकि [सर्वविशेषाभावे) संपूर्ण विशेषोंके अभावमें (वै) निश्चयकरके (अत्यन्ताभावस्य) अत्यन्ताभावकीही (प्रतीतत्वात्) प्रतीति होती है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि निश्चयनय निर्विकल्प है । वह किसी प्रकारके विशेषको विषय नहीं करता है अर्थात् उसमें किसी प्रकारकी विशेषता नहीं रहती है तो विशेषके अभावमें सामान्यकाभी अभाव हो जाता है इस नियमानुसार सामान्यात्मक विषयके भी असम्भव हो जानेसे वह निश्चयनय निर्विषय हो जायगा । तथा निर्विषय होनेसे उसका भी सद्भाव नहीं रहेगा । अतः निश्चयनयकी सिद्धिकेलिए उसका विषय बताना चाहिए जिसके कि अवलम्बनसे उसकी प्रवृत्ति होती है ।

समाधान ।

इदमत्र समाधानं व्यवहारस्य च नयस्य यद्वाच्यम् ।
सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य यद्वाच्यम्॥ ६४३ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र इदं समाधानं) यहांपर यह समाधान है कि (व्यवहारस्य नयस्य) व्यवहारनयका (यद्वाच्य) जोभी वाच्य है (सर्व विकल्पाभावे) उसके सम्पूर्ण विकल्पोंके अभावमें (यत्वाच्य स्यात्) जो वाच्य है (तदेव निश्चयनयस्यवाच्यं) वही निश्चयनयका वाच्य होता है (१)

भावार्थः— व्यवहारनयके वाच्योंके सम्पूर्ण विकल्पोंको दूर करदेनेपर जो कुछ वाच्य रहता है वही निश्चय नयका वाच्य है । व्यवहारनय किसी एक २ धर्मकी प्रधानतासे पदार्थको निरूपण करता है इसलिए उस एक २ धर्मके अभाव करनेपर जो उन एक २ विकल्पके अभावमें शेष अनन्त धर्मात्मक सामान्य बचता है वही निश्चयनकाय वाच्य है । अर्थात् व्यवहारनयके व्यवहारके अभावकोही निश्चयनयका विषय समझना चाहिये । वह उन एक २ विकल्पके अभावरूप शेष सम्पूर्ण धर्मात्मक सामान्यरूप पडता है । दृष्टान्तपूर्वक समाधान ।

अस्त्यत्र च संदृष्टिस्तृणाग्निरिति वा यदोष्ण एवाग्निः ।
सर्वविकल्पाभावे तत्संस्पर्शादिनाप्यशांतत्वम् ॥६४४ ॥

अन्वयार्थ — (अत्र च सदृष्टिः अस्ति) निश्चयनयके वाच्यके विषयमें दृष्टांतभी है कि (यदा) जिससमय (तृणाग्निः) तृणकी अग्नि (वा) अथवा (उष्ण एव अग्नि) उष्णही अग्नि (इति) ऐसा सविकल्प व्यवहार होता है ('तदा') उससमय (सर्वविकल्पाभावेऽपि) तृणाग्नि उष्णाग्नि आदि विशेषरूप उन सब विकल्पोंके अभावमेंभी (संस्पर्शादिना) संस्पर्शनादिकके द्वारा (तत्) वह अग्नि (अशांतत्वं) सामान्य उष्णतात्मक प्रतीत होती है ।

भावार्थः— उष्णात्मक धर्मकी अपेक्षासे अग्निको उष्ण कहना, तृणके निमित्तसे होनेवाली अग्निको तृणाग्नि कहना व्यवहारनय है। और नय विकल्पोंके अभावका नाम निश्चयनय है। व्यवहारनय प्रतिपाद्य विषय एक धर्मरूप पडता है। किन्तु व्यवहारका अभाव, एकके अभावरूप–एक धर्म भिन्न वस्तुके शेषधर्मरूप पडता है। अर्थात् उष्णत्व तृणाग्नित्वादि विशेष धर्मोंके विना शेष जो अशीतत्वादि रह जाता है वही सब निश्चयनयका वाच्य है। तथा यह निश्चयनयका विषय व्यवहारनयके विकल्पके अभावरूप होनेसे शुद्ध और व्यापक होता है।

निश्चयनयावलम्बीको परसमय कहनेके विषयमें शंका।

ननु चैवं परसमयः कथं स निश्चयनयावलंबी स्यात्।
अविशेषादपि स यथा व्यवहारनयावलंबी यः ॥ ६४५॥

अन्वयार्थः— (**ननु च**) शंकाकारका कहना है कि (**अविशेषात् अपि**) सामान्यरूपसेभी (**यथा**) जैसे (**यः**) जो (**व्यवहारनयावलम्बी**) व्यवहारनयका अवलम्बन करनेवाला है (**सः**)वह ('**परसमय**') परसमय अर्थात् स्वात्मानुभूतिसे रहित है (**एवं**) वैसेही जो (**निश्चयनयावलम्बी**) निश्चयनयका अवलम्बन करनेवाला है (**सः**) वह (**कथं परसमयः स्यात्**) किस प्रकारसे स्वात्मानुभूतिसे रहित है (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहोतो।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि आपने–ग्रन्थकारने जो सामान्यपनेसे दोनोंही नयोंके जाननेवालोंको पर समय कहा है सो ठीक नहीं है।

सत्यं किंतु विशेषो भवति ससूक्ष्मो गुरूपदेशत्वात्।
अपि निश्चयनयपक्षादपरः स्वात्मानुभूतिमहिमा स्यात् ॥ ६४६

---

* व्यवहारको छोडकर निश्चय और निश्चयसेभी उपर निर्विकल्प परिस्थितिमें लवलीन होनेवालेको पर समय माना है इसलिए जो व्यवहार नयावलम्बी है उन्हें ही परसमयावलम्बी अर्थात् मिथ्यादृष्टि कहना चाहिये किन्तु निश्चयनयावलम्बीको पर समयावलम्बी नहीं कहना चाहिए।

अन्वयार्थः—(सत्यं) ठीक है (किंतु) किंतु (विशेषो भवति) इतना विशेष है कि (निश्चयनयपक्षादपि) निश्चयनयके पक्षसेभी (अपरः) भिन्न (स्वात्मानुभूति महिमा स्यात्) स्वात्मानुभव की महिमा है और (सः) वह स्वात्मानुभूतिकी महिमा (गुरूपदेशत्वात्) गुरुके द्वारा उपदेश करनेके योग्य होनेसे (सूक्ष्म) सूक्ष्म है।

भावार्थ — साधारण रूपसे व्यवहारनयावलम्बीके समान निश्चयनयावलम्बीको परसमय कहनेका प्रयोजन यह है कि व्यवहार विधिको विषय करता है। और व्यवहारनयके द्वारा प्रतिपादित विधिके अभावको निश्चयनय विषय करता है। किन्तु विधि तथा निषेधसे भी परेउपर चलकर स्वानुभूतिका माहात्म्य है। जो कि गुरुके द्वाराही उपदेश करनेके योग्य होनेसे सूक्ष्म है। और जहां विधि व निषेध कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता है। इसप्रकारकी स्वात्मानुभूतिकोही स्वसमय कहते है। इसलिए उस स्वानुभुतिको न पहचाननेके कारणही व्यवहारनयके अवलम्बन करनेवालोके समान निश्चयनयावलम्बीको भी आचार्योंने परसमय कहा है। (उक्तच) जैसा कि कहा भी है।

उभयं णयं विभणिमं जाणइ णवरिं तु समयपडिवद्धो।
णदु णयपक्खं गिण्हादि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो॥ १॥

अन्वयार्थः—(भणिय) कहे गये (उभयं वि) दोनोंही (णयं) नयोंको (जाणइ) परसमय प्रतिवद्ध आत्मा जानता है (तु) किंतु (णवरिं) विशेष यह है कि (समयपडिवद्धो) स्वसमय प्रतिवद्ध आत्मा (णयपक्खपरिहीणो) नयपक्षसे रहित होकर (किंचिवि) कुछभी (णयपक्खं) नयपक्षको (णदुगिण्हदि) ग्रहण नहीं करता है।

भावार्थः— गाथामें जो आगे 'समयपडिवद्धो' शब्द दिया है उससे पहले, परसमय शब्दको ध्वनिसे ग्रहण करना चाहिये। इसलिए ऐसा अर्थ होता है कि दोनों नयोंके विषय करनेवालोंको परसमय कहते है। और जो नय पक्षसे हीन होकर केवल स्वात्मानुभुतिमें तत्पर है। नयके पक्षको किंचित् विषय नहीं करते है वे स्वसमय प्रतिवद्ध कहलाते हैं।

१ पूर्व प्रकाशित पुस्तकमें इसका नंबर ६४८ है। और ६४५ के बाद 'उक्तंच' कहकर गाथा दी है। परन्तु हमने प्रकरण मिलानेकेलिए नंबर आगे पछि करदिया है।

इत्युक्तसूत्रादपि सविकल्पत्वात्तथानुभूतेश्च ।
सर्वोऽपि नयो यावान् परसमयः स च नयावलंबी च ॥ ६४७ ॥

अन्वयार्थः— (इति उक्तसूत्रात्) इसप्रकार कहे गये आगमप्रमाणसे (अपि) और (सविकल्पत्वात्) सविकल्प होनेसे (च) तथा (तथानुभूतेः) वैसा अनुभव होनेसे (यावान् सर्वोऽपि नयः) जितनाभी सब नय है वह (च) और (नयावलम्बी) उनका अवलंबन करनेवाला (यः) जो है (स च) वह (परसमयः) परसमय– स्वात्मानुभूतिसे रहित है।

भावार्थ.— इसप्रकार उक्त गाथा सूत्रसे सिद्ध होता है कि व्यवहारनयके समान निश्चयनयभी सविकल्पक है। अन्तर-सिर्फ इतना है कि व्यवहारनय विधिरूपसे एक धर्म मुखमे पदार्थको विषय करता है। और निश्चयनय व्यवहारनयके निषेधमुखमे उस धर्मके शिवाय शेष धर्मोंको विषय करता है। परन्तु विकल्पात्मक दोनोंही है। क्योंकि दोनो ही नय युक्तिसे तथा अनुभवसे विकल्पात्मक सिद्ध होतें है। अतः जितनेभी नय हे वे सब तथा उनके अवलम्बन करनेवालेभी परसमय कहलाते है। इसप्रकार निश्चयनयावलम्बीभी व्यवहारनयावलम्बीके समान, परसमय कहलानेके योग्य है।

स्पष्टीकरण।

स यथा सति सविकल्पे भवति स निश्चयनयो निषेधात्मा ।
न विकल्पो न निषेधो भवति चिदात्मानुभूतिमात्रं च ॥ ३४८ ॥

अन्वयार्थः— (स यथा) वह स्वात्मानुभूतिकी महिमा इसप्रकार है कि (सति सविकल्पे) व्यवहारनयके द्वारा सतको सविकल्प कहनेपर (सः निश्चयनय) वह निश्चयनय सब प्रकारके विकल्पोंका निषेध करनेवाला होनेसे (निषेधात्मा भवति) एक प्रकारसे निषेधात्मक विकल्प होता है और वास्तवमें देखा जाय तो स्वसमय स्थितिमें (न विकल्पः) न व्यवहारनयका विषयभूत विकल्प है (न निषेधः) न निश्चयनयका विषयभूत निषेधात्मक विकल्प है किंतु (चिदात्मानुभूतिमात्र च भवति) केवल चेतनाका स्वात्मानुभवन है।

भावार्थः— उपर्युक्त स्वानुभूतिकी महिमाकी द्योतक स्वसमयप्रतिबद्ध अवस्थाका खुलासा इसप्रकार है कि स्वानुभूतिके समय व्यवहारनय विधीरूप विकल्पको विषय करता है। और उसका निषेध करनेवाला निश्चयनय निषेधात्मक

विकल्पको विषय करता है। इसप्रकार ये दोनोंही नय विकल्पात्मक होते हैं। अन्तर सिर्फ इतना है कि व्यवहारनयमें विधिरूप विकल्प होता है और निश्चयनयमें विधिके निषेधरूप निषेधात्मक विकल्प होता है। परन्तु निश्चयनयसे भी आगे जिस अवस्थामें विधि तथा निषेधमेंसे किसी प्रकारका विकल्प नहीं है केवल निर्विकल्प स्वानुभूति मात्र है उसको स्वसमय प्रतिबद्धअवस्था कहते हैं। उसकी प्राप्तिके विना सबको परसमय व परसमयावलम्बी (मिथ्यावादी) कहा है।

दृष्टांतपूर्वक स्वानुभूतिकी महिमाका स्वरूप।

दृष्टान्तोऽपि च महिषध्यानाविष्टो यथा हि कोऽपि नरः।
महिषोऽयमहं तस्योपासक इति नयावलंबी स्यात् ॥ ६४९ ॥
चिरमाचिरं वा यावत् स एव दैवात् स्वयं हि महिषात्मा।
महिषस्यैकस्य यथा भवनात् महिषानुभूतिमात्रं स्यात् ॥ ६५० ॥
स्वात्मध्यानाविष्टस्तथेह कश्चिन्नरोऽपि किल यावत्।
अयमहमात्मा स्वयमिति स्यामनुभविताहमस्यनयपक्षः॥ ६५१ ॥
चिरमाचिरं वा दैवात् स एव यदि निर्विकल्पकश्च स्यात्
स्वयमात्मेत्यनुभवनात् स्यादियमात्मानुभूतिरिह तावत् ॥ ६५२ ॥

अन्वयार्थः— (दृष्टांतोऽपि च) इस विषयमें दृष्टांतभी है कि (यथा हि) जैसे (महिषध्याना-विष्टो) महिषके-भैंसके ध्यानसे युक्त (कोपि नरः) कोई मनुष्य (अयं महिष.) यह महिष है और (अहं) मैं (तस्य) उसका (उपासक) उपासक हूं (इति) इसप्रकारके विकल्पसे जबतक युक्त रहता है तबतक वह (नयावलम्बी) नयका अवलम्बन करनेवाला कहा जाता है किंतु (चिर वा अचिरं यावत) अधिक व थोडे समयमें जब (स एव) वही व्यक्ति (दैवात) दैववशसे (हि) निश्चयकरके (स्वयं) स्वयं (महि-षात्मा) महिषरूप हो जाता है तब (एकस्य महिषस्य भवनात्) एक महिषरूप हो जानेसे-अनुभव करनेसे

(यथा) जैसे (महिषानुभूतिमात्रं स्यात्) केवल महिषानुभूति कही जाती है (तथा) वैसेही (इह) यहांपर (किल) निश्चयकरके (स्वात्मध्यानाविष्टः) स्वात्मध्यानसे युक्त (कश्चिन्नरोऽपि) कोई मनुष्यभी (यावत्) जबतक (अहं अयं आत्मा) मैं यह आत्मा हूं और (अहं स्वयं) मैं हि स्वयं (अस्य अनुभविता स्यात्) इस का अनुभवकरनेवाला है (इति) इस प्रकारके विकल्पसे युक्त रहताहै तबतक वह (नयपक्षः) नयपक्षवाला कहा जाता है किंतु (यदि च) यदि (दैवात्) दैववशसे (स एव) वही नयावलंबी जब (चिरं वा अचिरं) अधिक अथवा थोडे कालमें (निर्विकल्पः स्यात्) निर्विकल्पक हो जाता है तो (स्वयं आत्मा इति अनुभवनात्) मैं स्वय आत्मा हूं इसप्रकारका अनुभव करनेसे (इह) यहां पर (तावत्) उसीसमयं (इयं) यह (आत्मानुभूति. स्यात्) आत्मानुभूति कही जाती है ।

भावार्थः— जैसे भैसके ध्यानमें मग्नहुआ मनुष्य जबतक 'मैं और मेरी भैंस' इसप्रकारकी कल्पनायें करता है तबतक वह भेदका ग्राहक होनेसे नयावलम्बी है । किन्तु भैंसका ध्यान करते २ जब वह तन्मय हो जाता है तब उसे भैंसकी अनुभूति कहते है । इसलिए उसमें किसी प्रकारकी उक्तभेदकल्पना नहीं रहती है । वैसेही स्वात्माकी अनुभूति में तत्पर व्यक्ति जबतक यह आत्मा मेरा है व मैं इसका अनुभव करनेवाला हूं इत्यादि भेद कल्पनामें रहता है तबतक वह नयावलम्बी कहा जाता है । किन्तु जिससमय वह अपने स्वात्मध्यानमें लीन होकर तन्मय हो जाता है । उसी समय यह मेरी आत्मा है और मैं इसका अनुभवन करनेवाला हूं । इत्यादि भेद कल्पनासे रहित जो उसकी अवस्था होती है वही उसकी स्वात्मानुभूति कहलाती है ।

दूसरा यह भी लौकिक दृष्टान्त दिया जाता है कि पहले किसीको जिनेन्द्रकी उपासना करते समय 'दासोऽहं' अर्थात् हे भगवन् ! मै तुम्हारा दास हूं ऐसी कल्पना होती है । इसके अनन्तर उपासनामें तत्पर रहनेसे 'दा' जाकर 'सोऽहं' वही मैं हूं जो परमात्मा है अर्थात परमात्मामें और मेरेमें द्रव्यदृष्टिसे कुछ भी अन्तर नहीं है अभेद है ऐसी कल्पना होने लगती है । किन्तु ऐसा करते २ जब वह पूर्ण ध्यानमग्न हो जाता है तब 'दा' और 'सो' दोनोंको भुलकरके केवल वह 'अहमात्र' का अनुभव करने लगता है । और उस अहमात्रके अनुभवकोही स्वानुभूति कहते है ।

उपसंहार ।

तस्मात्व्यवहार इव प्रकृतो नात्मानुभूतिहेतुः स्यात् ।

अयमहमस्य स्वामी सदवश्यम्भावि विकल्पत्वात् ॥ ६५३ ॥

अन्वयार्थ.— (तस्मात) इसलिए (व्यवहार इव) व्यवहार नयकी तरह (प्रकृतः) निश्चयनयभी (आत्मानुभूतिहेतुः न स्यात्) आत्मानुभूतिका कारण नहीं है क्योंकि उस निश्चयनयमेंभी (अहं अयं अस्य स्वामी) मैं यह इसका स्वामी हूं इसप्रकारके (सदवश्यम्भावि विकल्पत्वात) सतमें अवश्य होनेवाले विकल्प होतें हैं।

भावार्थः— निश्चयनयको भी विकल्पात्मक होनेसे, तथा निश्चयनयसे भी आगे स्वानुभूति होनेसे, व्यवहारनय के समान, निश्चयनय भी वास्तवमें निर्विकल्प स्वात्मानुभूतिका साक्षात्कारण नहीं है। क्योंकि निश्चयनयमेंभी आत्मा व आत्मानुभूतिका भेद करनेवाला अथवा यह आत्माका स्वरूप है और मैंही इसका धनी हू इसप्रकारका भेद संभव है

ननु निश्चयस्य वाच्यं किमिति यदालभ्ब्य वर्त्तते ज्ञानम् ।
सर्वविशेषाभावेऽत्यन्ताभावस्य वै प्रतीतत्वात् ॥ ६५४ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (इह) यहांपर (यदि) यदि (केवल) केवल (व्यवहारान्निरपक्ष) व्यवहारनयसे निरपेक्ष (निश्चयनयपक्षः) निश्चयनयका पक्ष (विवक्षितो भवति) विवक्षित किया जाय (तत्) तो (सः) वह (आत्मानुभुति हेतुः भवति) आत्मनुभुतिका कारण हो जायगा (इतिचेत्) यदि ऐसा कहो तो

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि व्यवहारनय निरपेक्ष, केवल निश्चयनयका अवलम्बन किया जाय तो वह निरपेक्ष निश्चयनय स्वात्मानुभूतिका कारण हो सकता है ?

नैवमसंभवदोषाद्यतो न कश्चिन्नयो हि निरपेक्षः ।
सति च विधौ प्रतिषेधःप्रतिषेधे सति विधेःप्रसिद्धत्वात् ॥ ६५५ ॥

अन्वयार्थ.— (असंभवदोषात्) असम्भव दोष आनेसे (एव न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (हि) निश्चयकरके (कश्चिन्नयः) कोईभी नय (निरपेक्षः न) निरपेक्ष नहीं है किंतु (विधौ सति) विधिके होनेपर (प्रतिषेधः) प्रतिषेध (च) और (प्रतिषेधे सति) प्रतिषेधके होनेपरही (विधेः प्रसिद्धत्वात्) विधिकी प्रसिद्धि है।

भावार्थः— नयोंको निरपेक्ष कहना असंभव है। क्योंकि नय विधिकी मुख्यतामें गौणरूपसे निषेधका और निषेधकी मुख्यतामें गौणरूपसे विधिका ग्रहण होजाता है तभी नय, नयपदके योग्य ठहरते हैं। इसलिए समस्त नयोंके परस्पर सापेक्ष होनेसे उक्त शंका ठीक नहीं है।

निश्चयनयके एकत्वके विषयमें शंका।

ननु च व्यवहारनयो भवति यथाऽनेक एव सांशत्वात्।
अपि निश्चयो नयः किल तद्वदनेकोऽथ चैकशांत्वाति चेत ॥ ६५६ ॥

अन्वयार्थः— (अथ च) और (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (यथा) जैसे (सांशत्वात्) अंशग्राही होनेसे (व्यवहारनयः) व्यवहारनय (अनेक एव भवति) अनेक ही है (तद्वत) उसी तरह (किल) निश्चयकरके (निश्चय नय अपि तु) निश्चयनयभी तो (एकक) एक २ के निषेधसे (अनेकः) अनेक हो सकता है (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जैसे सांशपनेसे व्यवहारनय अनेक है वैसेही भिन्न २ व्यवहारके निषेध करनेसे निश्चयनयभी अनेक होना चाहिए। अतः निश्चयनयको एक मानना ठीक नहीं है।

समाधान।

नैवं यतोस्त्यनेको नैकः प्रथमोऽप्यनन्तधर्मत्वात्।
न तथेति लक्षणत्वादस्त्येको निश्चयो हि नानेकः ॥ ६५७ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) उक्त शंकाकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (अनन्तधर्मत्वात्) अनन्तधर्मवाला होनेसे (प्रथमः) पहला व्यवहारनय (अनेकः अस्ति) अनेक है (अपि) किंतु (एकः न) एक नहीं है और (हि) निश्चयकरके (न तथा इति लक्षणत्वात्) 'न तथा' इस प्रकारके निषेधात्मक लक्षणसे (निश्चयः) निश्चयनय (एकः अस्ति) एक है (अनेकः न) अनेक नहीं है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि पदार्थमें अनंत धर्म हैं। उनमेंसे एक एक धर्मको विषय करनेवाला व्यवहार तो अनेक है इसमें कोई संशयही नहीं। परंतु एक २ व्यवहारके निषेधसे

निश्चयनय एक एक होकर, अनेक हो, ऐसा नहि हो सकता है। क्योंकि 'न तथा, इस रूपसे व्यवहार मात्रका प्रतिषेधक निश्चयनय सदैव एकसा होनेसे, एक ही होता है। भिन्न २ व्यवहारके निषेधसे एक एक होकर अनेक नहि होता है। अर्थात सदैव यावत व्यवहारका प्रतिषेधक होनेसे निश्चयनय एकही है। इसलिये ही निश्चयनयका सूचक 'न तथा, यह माना हैं। और वह सदैव एकसाही रहता है अर्थात अनेक व्यवहारोंके प्रतिषेधको विषयकरनेसे सामान्यरूप विषयमें नानापना नही आता है। अतएव वह नाना नहीं हो सकता है। दृष्टांत

संदृष्टिः कनकत्वं ताम्रोपाधेर्निवृत्तितो यादृक्।
अपरं तदपरमिह वा रुक्मोपाधेर्निवृत्तितस्तादृक् ॥ ६५८ ॥

अन्वयार्थः—(सन्दृष्टि) निश्चयनयके एकत्वमें दृष्टान्त यह है कि (इह) यहांपर (ताम्रोपाधेर्निवृत्तितः) ताम्ररूप उपाधिकी निवृत्तिसे (यादृक्) जिसप्रकारका (अपर) भिन्न (कनकत्वं) सुवर्णपनाहै (तादृक्) उसीप्रकारका (रुक्मोपाधेर्निवृत्तितः वा) रुक्मरूप उपाधिकी निवृत्तिसेभी (अपरं) भिन्न (तत्) वह सुवर्णपना है

भावार्थः— जैसा सुवर्णपना, ताम्रोपाधिके अभावमे विवक्षित होता है वैसाही चादी आदि उपाधिके अभावमे भी विवक्षित होता है अर्थात् जैसे परोपाधिके अभावमे शुभ सुवर्णत्व सामान्यमे अनेकता नहीं आती है। वैसेही भेद कल्पनारूप उपाधिके अभावसे, द्रव्यत्व सामान्यमें भी अनेकता नहीं आसकती है। अतः निश्चयनयमें अनेकता नहीं कही जासकती है।

उपसंहार।

एतेन हतास्ते ये स्वात्मप्रज्ञापराधतः केचित्।
अप्येकनिश्चयनयमनेकमिति सेवयन्ति यथा ॥ ६५९ ॥

अन्वयार्थः—(एतेन) इस कथनके द्वारा (स्वात्मप्रज्ञापराधतः) अपनी बुद्धिके अपराधसे (ये केचित्) जो कोई (एकनिश्चयनयं अपि) एकनिश्चयनयकोभी (अनेकं इति) अनेक इसप्रकारका (सेवयन्ति) मानतेहैं (ते हताः) वे खण्डित होगये (यथा) जैसे कि

भावार्थः— इसप्रकार अपनी बुद्धिके अपराधसे जो एक निश्चयनयको भी अनेक मानते है उनका पक्ष असमर्थ होनेसे खाण्डित होगया है।

अब निश्चयनयको अनेक कैसे मानते है यह बताकर उसमे दोष बताते है।

शुद्धद्रव्यार्थिक इति स्यादेकः शुद्धनिश्चयो नाम।
अपरोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति तदशुद्धनिश्चयो नाम ॥६६०॥

इत्यादिकाश्च बहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते।
सहि मिथ्यादृष्टित्वात् सर्वज्ञाज्ञावमानितो नियमात् ॥ ६६१ ॥

अन्वयार्थ.— (शुद्धद्रव्यार्थिकः इति) शुद्धद्रव्यार्थिक इसप्रकारका (एकः) एक (शुद्धनिश्चयो नाम स्यात्) शुद्ध निश्चयनय नामका नय है (अपि) और ('यत्') जो (अशुद्धद्रव्यार्थिक इति) अशुद्ध द्रव्यार्थिक इसप्रकारका नामवाला है (तत्) वह (अपर) दूसरा (अशुद्ध निश्चयनयो नाम) अशुद्ध निश्चय नामका नय है (इत्यादिकाः) इत्यादिक (बहवः च) बहुतसेही (निश्चनयस्य भेदा) निश्चयनयके भेद (यस्य मते) जिसके मतमें है (सः) वह (हि) निश्चयकरके (मिथ्यादृष्टित्वात्) मिथ्यादृष्टी होनेसे (नियमात्) नियमसे (सर्वज्ञाज्ञावमानिन) सर्वज्ञकी आज्ञा उलघन न करनेवाला है।

भावार्थः— शुद्ध द्रव्यार्थिकनय, अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय इत्यादि जिसके मतमें निश्चयनयके भेद माने गये है वह भी मिथ्यादृष्टी होनेसे सर्वज्ञकी आज्ञाकी अवज्ञा करनेवाला है। क्योंकि जैनागममें निश्चयनय एकही माना है। अतः उसे अनेक कहना आगमके विरुद्ध है। तात्पर्य।

इदमत्र तु तात्पर्यमधिगन्तव्यं चिदादि यद्वस्तु ।
व्यवहारनिश्चयाभ्यामविरुद्धं यथात्मशुद्ध्यर्थम् ॥ ६६२ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र तु इदं तात्पर्यं) यहापर यह तात्पर्य है कि (यत्) जो (चिदादिवस्तु) चेतनादिक पदार्थ है वे (व्यवहारनिश्चयाभ्यां) व्यवहार तथा निश्चयनयके द्वारा (अविरुद्धं) परस्पर सापेक्ष ('तथा,') वैसे (अधिगन्तव्य) समझना चाहिये (यथा) जैसे (आत्मशुद्ध्यर्थं) आत्माकी शुद्धिके लिए हों।

भावार्थः— साराश यह है कि जिस प्रकारसे निश्चय और व्यवहारनयमे विरोध न आवे उसप्रकारसे परस्पर

में अविरोधपूर्वक निश्चय तथा व्यवहारनयके द्वारा जाने गये जीवादिक पदार्थही आत्माकि शुद्धिकेलिए उपयुक्त हो सकते हैं। यह समझना चाहिए।

निश्चयनयका निमित्त और प्रयोजन।

अपि निश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यामात्रमिह वस्तु।
फलमात्मसिद्धिः स्यात कर्मकलंकावमुक्तबोधात्मा ॥ ६६३ ॥

अन्वयार्थ.— (अपि) और (इह) यहांपर (सामान्यमात्रं वस्तु) केवल समान्यरूप वस्तु (नियतं) निश्चयकरके (निश्चयस्य हेतुः) निश्चयनयका कारण है तथा (कर्मकलंकावमुक्तबोधात्मा) कर्मरूपी कलंकसे रहित ज्ञानस्वरूप (आत्मसिद्धिः) आत्माकी सिद्धि (फलं स्यात) फल है।

भावार्थ.— निश्चयनयके विषयके प्रतिपादनमें केवल सामान्य वस्तुका स्वरूप निमित्त पडता है। इसलिए सामान्यमात्र वस्तु निश्चयनयका कारण है। और सर्व कर्म कलंकोंसे रहित ज्ञानमय आत्माकी सिद्धिका होना निश्चयनयका प्रयोजन-फल है।

प्रमाणके स्वरूपके प्रतिपादनकी प्रतिज्ञा

उक्तो व्यवहारनयस्तदनु नयोनिश्चयःपृथक् पृथक्।
युगपद्द्वयं च मिलितं प्रमाणमिति लक्षणं वक्ष्ये॥ ६६४ ॥

अन्वयार्थ.— इसप्रकार (व्यवहारनयः) व्यवहारनय तथा (तदनु) उसके पश्चात (निश्चयनयः) निश्चयनय (पृथक् पृथक्) भिन्न २ रूपसे (उक्तः) कहा अब आगे (युगपत) एकसाथ (द्वयं च मिलितं) दोनों नयोंके मिलनेरूप जो (प्रमाणं इति) प्रमाण है उसके (लक्षणं) लक्षणको (वक्ष्ये) कहता हूं।

भावार्थः— इसप्रकार पृथक् २ रूपसे ५२२ वें पद्यसे लेकर ५९६ वें पद्यतक व्यवहारनयका स्वरूप और ५९७ वें पद्यसे लेकर ६६४ तक निश्चयनयका स्वरूप आदिका उहापोह पूर्वक विशद रीतिसे वर्णन किया गया। अब आगे दोनों नयोंके युगपत मिलनेसे होनेवाले प्रमाणके स्वरूपको-लक्षणको कहते है।

प्रमाणका लक्षण।

विधिपूर्वः प्रतिषेधः प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयोः।
मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम् ॥६६५ ॥

अन्वयार्थ — (विधिपूर्व) विधिपूर्वक (प्रतिषेधः) प्रतिषेध होता है और (प्रतिषेधपुरस्सर) प्रतिषेधपूर्वक (विधिः) विधि होतीहै (तु) किंतु (अनयोः) इन दोनों विधि निषेधात्मक नयोंकी (मैत्री) मैत्री अर्थात् दोनों नयोंका एकसाथ रहना (प्रमाणं इति) प्रमाण है (वा) अथवा (स्वपराकारावगाहि) अपने और परके आकारको विषयकरनेवाला अर्थात् स्वपरव्यवसायात्मक (यत् ज्ञानं) जो ज्ञान है (तत् प्रमाणं) वह प्रमाण है।

भावार्थ — विधि सापेक्ष निषेधात्मक ज्ञानको निश्चयनय और निषेध सापेक्ष विधिरूप ज्ञानको व्यवहार-नय कहते है। तथा इन दोनों नयोंकी मैत्रीको प्रमाण कहते हैं। अथवा जो स्वपर व्यवसायात्मक ज्ञान है उसको प्रमाण कहते है।

खुलासा।

अयमर्थोऽर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य।
एकविकल्पो नयसादुभयविकल्पः प्रमाणमिति बोधः ॥ ६६६ ॥

अन्वयार्थ — (अय अर्थ) सारांश यह है कि (किल) निश्चयकरके (अर्थविकल्पः) अर्थके आकार रूप होना जो (ज्ञान) ज्ञान है वह (तस्य) प्रमाणका (स्वतः) स्वयंसिद्ध (लक्षणं) लक्षण है तथा (एक-विकल्पः बोधः) एकविकल्पात्मक ज्ञान (नयसात्) नयके आधीन है अर्थात सामान्यात्मक व विशेषात्मक ज्ञान नय कहलाता है और (उभयविकल्पः) उभयविकल्पात्मकज्ञान–सामान्यविशेषात्मकज्ञान (प्रमाणं इति) प्रमाण कहलाता है अर्थात् उभयविकल्पात्मकज्ञान प्रमाणके आधीन है।

भावार्थः— अर्थ विकल्पात्मक ज्ञान प्रमाणका लक्षण है। प्रत्येक ज्ञान अर्थ विकल्पात्मक होता है। जो ज्ञान एकदेशको विषय करता है वह नयज्ञान कहलाता है। और जो ज्ञान युगपत सर्व देशको विषय करता है वह प्रमाणज्ञान कहलाता है। नय श्रुतज्ञानका भेद है। कारणकि नयज्ञान अत्यन्त परोक्ष हैं। इसलिए वह अत्यन्त परोक्ष श्रुतज्ञानमेंही गर्भित हो सकता है। अवधि मन पर्यय और केवलज्ञानमें तो गर्भित होही नहीं सकता है। रही मति–

१ अर्थ शब्दका अर्थ स्व और पर विषय तथा विकल्पका अर्थ व्यवसाय है। इसलिए अर्थ विकल्पका अर्थ–स्वपर व्यवसायात्मक भी होता है।

ज्ञानकी बात, सो वह भी साव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है। इसलिए नयज्ञान उसमें भी गर्भित नहीं होसकता है। मतिज्ञानादि चारोंही ज्ञान स्वार्थ होते है, और श्रुतज्ञान स्वार्थ तथा परार्थ दोनोंही प्रकारका होता है। ज्ञानात्मकको स्वार्थ और वचनात्मकको परार्थ कहते है। नय परार्थश्रुतज्ञानके भेदमें गर्भित होता है अर्थात यदि परार्थ श्रुतज्ञान एक देशको विषय करनेवाला हुआ तो उसे नय कहते है। तथा यदि वह परार्थ श्रुतज्ञान सर्व देशको विषय करनेवाला हुआ तो उसे प्रमाण कहते हैं।

शंका।

ननु चास्त्येकल्पोप्यविरुद्धोभयाविकल्प एवास्ति।
कथमिव तदेकसमये विरुद्धभावद्वयोर्विकल्पः स्यात् ॥ ६६७॥

अथ चेदस्ति विकल्पो क्रमेण युगपद्वा बलाद्वाच्यः।
अथ चेत् क्रमेण नय इति भवति न नियमात्प्रमाणमितिदोषः॥६६८॥

युगपच्चेदथ न मिथो विरोधिनोर्यौगपद्यं स्यात्।
दृष्टिविरुद्धत्वादपि प्रकाशतमसोर्द्वयोरिति चेत् ॥ ६६९ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि यदि (एकविकल्पः) एक विकल्प (अस्ति) है (अपि) और (अविरुद्धोभयविकल्प एव अस्ति) अविरोधी दो विकल्पभी हैं अर्थात् यदि एक विकल्पात्मकनय और उभयविकल्पात्मक प्रमाण मानतेहो (तत्) तो (एकसमये) एकससमयमे (विरुद्धभावद्वयोर्विकल्पः) परस्पर विरोधी दोभावोंका विकल्प (कथमिव स्यात्) किसतरह होगा (अथ चेत्) यदि (क्रमेण) क्रमसे (वा) अथवा (युगपत्) युगपत् (बलात्) वलपूर्वक (विकल्पः वाच्यः अस्ति) विकल्प वाच्य होता है ऐसा कहोगे तो भी यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि (अथ चेत्) यदि वे दोनों विकल्प (क्रमेण) क्रमसे होते है ऐसा कहोगे तो (नियमात्) नियमसे (नय इति भवति) नय यह होगा (प्रमाण न) प्रमाण नहीं होगा (इति दोषः) यह दोष आवेगा (अथ युगपत् चेत्) यदि वे दोनों विकल्प युगपत् होतें है ऐसा कहोगेतो (दृष्टिविरुद्धत्वात्) प्रत्यक्ष विरुद्ध होनेसे (प्रकाशतमसो. द्वयोः) प्रकाश और अन्धकार दोनोंके समान (मिथः) परस्परमें (विरो

धिनोः) विरोधी दो विकल्पोंका (यौगपद्यं अपि) यौगपद्यभी (न स्यात्) नहीं होगा (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि अविरुद्ध उभय धर्मवालाभी एक विकल्प होसकता है और वह विकल्प होनेसे नयका विषय होता है । परन्तु विरुद्ध दो भावोंका एकविकल्प नहीं हो सकेगा, कारण उन विरुद्ध उभय विकल्पोंमेंसे दोनोंका एक समयमे जो ग्रहण होगा वह क्रमसे होगा या युगपत यदि क्रमसे होगा तो केवल नय पक्षही सिद्ध हो सकेगा । प्रमाणपक्ष सिद्ध नहीं हो सकेगा । कदाचित् इस दोषके परिहारके लिए यह कहाजाय कि उन परस्पर विरोधी दोनों धर्मोंका युगपत ग्रहण हो सकता है । तो यह कहनाभी ठीक नहीं जचता कारण जैसे परस्पर विरोधी प्रकाश और अन्धकारका यौगपद्य असंभव है वैसेही अस्तिनास्ति आदिरूप उभय धर्मोंकाभी यौगपद्य असंभव है ।

समाधान ।

न यतो युक्तिविशेषाद्युगपद्वृत्तिर्विरोधिनामस्ति ।
सदसदनेकेषामिह भावाभावध्रुवाध्रुवाणां च ॥ ६७० ॥

अन्वयार्थः— (न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि [इह) यहांपर (युक्तिविशेषात्) युक्तिविशेषसे [सदसदनेकेषां) सत असतरूप अनेक [भावाभावध्रुवाध्रुवाणां] भाव अभाव नित्य और अनित्यात्मक [विरोधिनां च) विरोधियोंकीभी [युगपद्वृत्तिः अस्ति] युगपत वृत्ति होती है ।

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है । कारणकि युक्ति विशेषसे परस्पर विरोधी सत असत भाव अभाव ध्रुव अध्रुवकी भी युगपत वृत्ति पाई जाती है ।

स्पष्टीकरण ।

अयमर्थो जीवादौ प्रकृतपरामर्शपूर्वकं ज्ञानम् ।
यदि वा सदभिज्ञानं यथा हि सोयं बलाद्दृश्यामर्शि ॥ ६७१ ॥

अन्वयार्थः— (अयं अर्थ) उक्त कथनका सारांश यह है कि (जीवादौ) जीवादिकके विषयमे (प्रकृतपरामर्शपूर्वकं) प्रकृत नयोंके परामर्शपूर्वक जो (ज्ञानं) ज्ञान है उसको (यदि वा) अथवा (सोऽयं) यह वही

है इसप्रकार (बलाद्द्वयामर्शि) बलपूर्वक दोनों विकल्पोंको विषय करनेवाला जो (सदभिज्ञानं) प्रत्यभिज्ञान है उसको प्रमाण कहते है (यथा हि) जैसाकि आगे खुलासा करते है।

भावार्थः— हमारे उक्त कथनका सारांश यह है कि प्रकृत उभयनयोंके परामर्श पूर्वक ज्ञानको अथवा जैसे यह वहां है इसप्रकारसे दोनों नयों के जोडरूप समीचीन प्रत्यभिज्ञानको प्रमाण कहते हैं।

दृष्टांत।

सोऽयं जीवविशेषो यः सामान्येन सदिति वस्तुमयः।
संस्कारस्य बशादिह सामान्यविशेषजं भवेज्ज्ञानम्॥ ६७२॥

अन्वयार्थः— (यः) जो (सामान्येन) सामान्यरूपसे [सदितिवस्तुमयः] सत् इसप्रकार वस्तु रूप था [सोऽयं] वही यह [जीवविशेष] जीव विशेष है इसप्रकारका [इह] यहांपर [संस्कारस्य वशात्] संस्कारके वशसे [सामान्यविशेषज] सामान्य विशेषसे होनेवाला प्रमाणात्मक (ज्ञानं भवेत्) ज्ञान होता है।

भावार्थः— पहिले जो सामान्यपनेसे सत् रूप कहा गया था वही यह जीव विशेष है इसप्रकार युक्ति पूर्वक परस्पर विरोधी सामान्य विशेषों को संस्कार वश जोड रूपसे युगपत् विषय करने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है।

अस्त्युपयोगि ज्ञानं सामान्यविशेषयोः समं सम्यक।
आदर्शस्थानीयात् तस्य प्रतिबिम्बमात्रतोऽन्यस्य॥ ६७३॥

अन्वयार्थः— (समं) एकसाथ (सामान्यविशेषयोः) सामान्य और विशेषको (उपयोगि) विषय करनेवाला (ज्ञानं) ज्ञान (सम्यक्) सम्यग्ज्ञान कहलाता है क्योंकि (तस्य आदर्श स्थानीयात्) ज्ञान आदर्शके समान है और (अन्यस्य प्रतिबिम्बमात्रतः) ज्ञेय प्रतिबिंबके समान है।

भावार्थ — जैसे दर्पण और दर्पणगत प्रतिबिम्बका युगपत् प्रतिभास होता है वैसेही 'युगपत् स्व' और पर विषय करनेवाला ज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहलाता है अन्य नहीं। क्योंकि ज्ञानको दर्पणके समान, और तद्गत विषयको प्रतिबिम्बके समान माना है।

शंका।

ननु चैवं नययुग्मं व्यस्तं नय एव न प्रमाणं स्यात्।
तादिह समस्तं योगात् प्रमाणमिति केवलं न नयः॥ ६७४॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि [एवं] इसप्रकारसे [इह] यहांपर (व्यस्त नययुग्मं) पृथक् २ रूपसे प्रयोग किये गये दोनों नय (नय एव स्यात्) नयही कहलावेंगे (प्रमाणं न) प्रमाण नहीं और (योगात्) योगसे [समस्त तत्] मिले हुए वे दोनों नय (केवलं प्रमाण इति) केवल प्रमाणही कहलावेंगे [न नयः] नय नहीं (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो।

भावार्थः—शंकाकारका कहना है कि यदि उभयनयावलम्बीको प्रमाण कहते हो तो अस्ति और नास्ति इन दोनों व्यस्त नयोंको केवल नय तथा अस्तिनास्ति आदि समस्त नयोंको नय न कहकर केवल प्रमाण कहना चाहिए?

समाधान।

तन्न यतो नययोगादतिरिक्तरसान्तरं प्रमाणमिदम्।
लक्षणविषयोदाहृतिहेतुफलाख्यादिभेदभिन्नत्वात्॥ ६७५॥

अन्वयार्थः— (तन्न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकी (इदं प्रमाणं) यह प्रमाण (लक्षणविषयोदाहृतिहेतुफलाख्यादिभेदभिन्नत्वात्) लक्षण, विषय, उदाहरण, हेतु, फल और नाम आदि भेदोंसे भिन्न होनेके कारण (नययोगात्) नय योगसे- मिलेहुए नयोंसे (अतिरिक्तरसान्तरं) भिन्न जातिका है।

भावार्थः— शंकाकारका उक्तकथन ठीक नहीं है। क्योंकि सम्मिलित योगरूप अस्तिनास्ति आदि मिश्र-विकल्पात्मक नयोंसे प्रमाणका विषय भिन्न है। कारणकि अनेक धर्मोंके सम्मिलितरूप कथनकी अपेक्षामे मिश्र भंगात्मक विषयको नय विषय करता है। और दोनों नयोंके जोडरूप तृतीय अवस्थापन्न विषयको प्रमाण विषय करता है। इसलिए सम्मिलित भंगरूप नय तथा प्रमाणमें लक्षण, विषय, उदाहरण निमित्त और फलआदिकी भिन्नता होनेसे समभंगनय-मिश्रनय तथा प्रमाणमें भेद है। दोनों एक नहीं हो सकते है। अब आगे-प्रमाणके लक्षण विषय आदिको दिखाते है।

तत्रोक्तं लक्षणमिह सर्वस्वग्राहकं प्रमाणमिति।
विषयो वस्तुसमस्तं निरंशदेशादिभूरुदाहरणम्॥ ६७६॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन प्रमाणके लक्षणादिकमेसे (इह) यहांपर [प्रमाणं सर्वस्वग्राहकं] प्रमाण सबका ग्राहक होता है (इति लक्षण) यह प्रमाणका लक्षण और (समस्तं वस्तु विषयः) समस्त वस्तु उसका विषय तथा [निरंशदेशादिभूरुदाहरण] निरंश देशादिक भू उदाहरण (उक्तं)कहागया है।

भावार्थः— प्रमाणका सर्वांशग्राहक लक्षण, समस्त वस्तु विषय और अखण्डद्रव्यादि उदाहरण कहा गया है।

प्रमाणकी प्रवृत्तिमें हेतु।

हेतुस्तत्वबुभुत्सोः संदिग्धस्याथवा च बालस्य।
सार्थमनेकं द्रव्यं हस्तामलकवदवेतुकामस्य ६७७ ॥

अन्वयार्थः– (हस्तामलकवत्) हाथमे रखे हुये आवलेकी तरह (अनेकं) अनेकरूप (द्रव्यं) द्रव्यको (सार्थ) युगपत् (अवेतु कामस्य) जाननेकी इच्छा रखनेवाले (सन्दिग्धस्य) सन्दिग्धको (अथवा) अथवा (बालस्य च) अज्ञानिको (तत्वबुभुत्सा) तत्वोंकी जिज्ञासाका होना (हेतु) प्रमाणका कारण है।

भावार्थः—तत्वोंके स्वरूपमें सन्देह अथवा अज्ञान होनेके कारण जो युगपत् अनेक धर्मात्मक द्रव्यके स्वरूपको जाननेकी इच्छा रखते है ऐसे सन्दिग्ध अथवा अज्ञानी जीवोंकी युगपत् द्रव्यके सर्वांशोंके जाननेकी इच्छाही प्रमाणके स्वरूपके जाननेके लिए हेतु पड़ती है। आगे प्रमाणके फल, संज्ञा और भेदोंको बताते है।

फलमस्यानुभवः स्यात्समक्षमिव सर्ववस्तुजातस्य।
आख्या प्रमाणमिति किल भेदः प्रत्यक्षमथ परोक्षं च ॥ ६७८ ॥

अन्वयार्थः— (सर्ववस्तु जातस्य) सम्पूर्ण वस्तुओंके धर्मोंका (समक्षं इव) प्रत्यक्षके समान (अनुभव) अनुभव होना (अस्य फलं स्यात्) प्रमाणका फल है तथा (किल) निश्चयकरके (प्रमाणं इति आख्या) प्रमाण यह संज्ञा है (अथ) और (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष (च) तथा (परोक्षं) परोक्ष ये (भेद) भेद है।

भावार्थः— प्रत्यक्षमे देखेहुए पदार्थके समान वस्तुके सब धर्मोंका युगपत् अनुभव होना प्रमाणका फल है। तथा प्रमाण यह उसका नाम है और प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ये दो उसके भेद हैं।

उपसंहार ।

ज्ञानविशेषो नय इति ज्ञानविशेषः प्रमाणमिति नियमात् ।
उभयोरन्तर्भेदो विषयविशेषान्न वस्तुतो भेदः ॥ ६७९ ॥

अन्वयार्थः— (नियमात्) नियमसे (नय इति) नय यह (ज्ञानविशेषः) ज्ञानविशेष है और (प्रमाणं इति) प्रमाण यहभी (ज्ञानविशेषः) ज्ञानविशेष है इसलिए (उभयोः) दोनोंमें (विषयविशेषात्) विषयकी विशेषतासे (अन्तर्भेदः) अन्तरंगमें भेद है किंतु (वस्तुतः भेदः न) परमार्थ रीतिसे कुछ भेद नहीं है ।

भावार्थः— इसप्रकारसे यद्यपि नय और प्रमाण दोनोंही ज्ञानविशेष है । अतः वास्तवमें ज्ञानदृष्टिसे उन दोनोंमें भेद नहीं किया जासकता है तथापि विषय भेदसे उन दोनोंमें भेद है ऐसा कहा जाता है ।

स यथा विषयविशेषो द्रव्यैकांशो नयस्य योऽन्यतमः ।
सोप्यपरस्तदपर इह निखिलं विषयः प्रमाणजातस्य ॥ ६८० ॥

अन्वयार्थः— (सः विषयविशेषः यथा) वह विषय विशेष इसप्रकार है कि जैसे (इह) यहांपर (यः अन्यतमः द्रव्यैकांशः) जो कोई द्रव्यका एक अंश है (सः) वह (नयस्य) नयका विषय है और वह अंश तथा (तदपरः) उससे भिन्न (अपरः अपि) दूसरा अंशभी इसप्रकार (निखिलं) सम्पूर्ण अंश (प्रमाणजातस्य) प्रमाणोंके अर्थात् दोनों प्रमाणोंके (विषयः) विषय होते है ।

भावार्थः— अति संक्षेपमे द्रव्यके सामान्य और विशेष दो अंश होते है । उनमेसे नय मुख्य गौण विवक्षासे एक अंशका ग्राहक होता है । और प्रमाण[1] दोनोंही अंशोंका युगपत् ग्रहण करनेवाला होता है । जैसा कि कहा भी है ।

यदनेकनयसमूहे संग्रहकरणादनेकधर्मत्वम ।
तत्सदपि न सदिव यतस्तदनेकत्वं विरुद्धधर्ममयम् ॥ ६८१ ॥

---

१ प्रमाणके दोनोंही [प्रत्यक्ष परोक्ष] भेद दोनोंको युगपत् ग्रहण करता है ।

अन्वयार्थः— (यत्) जो (अनेकनयसमूहे) अनेक नयोंके समूहमें अर्थात् अस्ति नास्ति आदि भंगोंमें (संग्रहकरणात्) केवल संग्रह करनेसे (अनेकधर्मत्व) अनेक धर्मपना है (तत्) वह (सदपि) सत् होकरकेभी (सदिव न) सत्की तरह नहीं है (यतः) क्योंकि (तदनेकत्व) वह अनेक धर्मपना (विरुद्ध धर्ममयं) विरुद्ध धर्ममय है ।

भावार्थः— अस्तिनास्ति आदि सयोगी भंगोको विषय करनेवाले नयोंमें जो अनेक धर्मत्व पायाजाता है । वह क्रमपूर्वक विरुद्ध धर्ममय होता है । उसमें एकका दूसरेके साथ 'यह वही है' इसप्रकार प्रत्यभिज्ञान रूपसे अतिरिक्त रसान्तरपना नहीं रहता है । इसलिए वह अनेक धर्मत्व प्रमाणके विषयभूत अनेक धर्मत्व समान नही होता है । किन्तु वह केवल भिन्न कालवर्ती होकर क्रमार्पितपनेकी अपेक्षासे अनेक धर्मत्वरूप होता है । वास्तविक नहीं क्योंकि वास्तवमें तो वह एक धर्मत्वरूपही होता है ।

यदनेकांशग्राहकमिह प्रमाणं न प्रत्यनीकतया ।
प्रत्युत मैत्रीभावादिति नयभेदाददः प्रभिन्नं स्यात् ॥ ६८२ ॥

अन्वयार्थः— (यत्) जो (इह) यहांपर (प्रमाणं अनेकांशग्राहकं) प्रमाण अनेक अंशोंका ग्रहण करनेवाला है ऐसा कहा गया है वह (प्रत्यनीकतया न) प्रत्यनीकपनेसे अर्थात् परस्पर विरोधीपनेसे नहीं कहागया है (प्रत्युत) किंतु (मैत्रीभावात्) मैत्रीभावसे कहागया है (इति) इसलिये (नयभेदात्) संयोगी भंगात्मक नयोंके भेदसे (अदः) यह प्रमाण (भिन्नं स्यात) भिन्न है ।

भावार्थ.— और जो प्रमाणमें अनेकांश ग्राहकपना है वह "जो द्रव्यार्थिक नयसे एक है वही पर्यायार्थिक नयसे अनेक है" इत्याकारक परस्पर मैत्रीभावसे युगपत् अनेक अंशोंको विषय करनेवाला ग्राहकपना है परस्पर प्रत्यनीकतासे–विरोधभावसे नयोंके अस्तिनास्तिआदि भंगोंके समान नहीं है इसलिए उन संयोगी नयोंसे यह प्रमाणकी जाति भिन्न है ।

इसप्रकार ६७४ वे पद्यकी शंकाका समाधान करके आगे– युगपत् कहा जानेवाला अस्तिनास्तिरूप भंग एक-भंग कैसे है इसविषयमें उहापोहात्मक दृष्टिसे विचार करते है ।

शंका।

ननु युगपदुच्यमानं नययुग्मं तद्यथास्ति नास्तीति।
एको भंगः कथमयमेकांशग्राहको नयो नान्यः॥ ६८३॥

अपि चास्ति न चास्तीति सममेकोक्त्या प्रमाणनाशः स्यात्।
अथ च क्रमेण यदि वा स्वस्य रिपुः स्वयमहो स्वनाशाय॥ ६८४॥

अथवाऽवक्तव्यमयो वक्तुमशक्यात्समं स चेद्भंगः।
पूर्वापरबाधायाःकुतः प्रमाणात्प्रमाणमिह सिद्ध्येत्॥ ६८५॥

इदमपि वक्तुमयुक्तं वक्ता नय एव न प्रमाणमिह।
मूलविनाशाय यतोऽवक्तरि किल चेदवाच्यतादोषः॥ ६८६॥

अन्वयार्थ— [ननु] शंकाकारका कहना है कि (यथा] जैसे [अस्तिनास्ति इति] अस्तिनास्ति यह (युगपत् उच्यमानं) एकसाथ कहागया जो (नययुग्मं) नययुग्म (एकोभंग) एक भंग है (तत्] वह (अयं] यह एकभंग (एकांशग्राहकः] एक अंशको ग्रहण करनेवाला (नयः) नय है [अन्यत् न) अन्य नहीं है ('इति' कथं] यह कैसे ? (अपि च] तथा यदि कहोकि [अस्ति) अस्ति (च) और (न अस्ति इति) नास्ति ये दोनों (समं) एकसाथ (एकोक्त्या) एक शब्दके द्वारा कहे जाते है तो (प्रमाणनाशः स्यात्] प्रमाणका नाश होजायगा (अथ च यदि] और यदि यह कहोकि वे दोनों भंग [क्रमेण वा) क्रमसे ही कहे जाते है तो (अहो) आश्चर्य है कि (स्वयं विनाशाय] स्वय अपने नाशके लिए (स्वस्य रिपुः] अपने शत्रु हो जावेंगे [अथवा] अथवा [समं] एकसाथ [वक्तुं अशक्यत्वात्] कहनेके लिए असमर्थ होनेसे (सः भंगः] वह भंग (अवक्तव्यमयः चेत्] अवक्तव्यमय है यदि ऐसा कहोगे तो (पूर्वापरबाधायाः) पूर्वापर बाधाके आनेसे (इह) यहांपर (कुतः प्रमाणात्) कौनसे प्रमासे (प्रमाण सिध्येत्) प्रमाण, सिद्ध होगा तथा (इह) यहांपर (इदमपि) यहभी (वक्तुं अयुक्तं) कहनेकेलिये ठीक नहीं है कि (वक्ता नय एव) वक्ता केवलनय होता है (प्रमाण न) प्रमाण नहीं (यतः) क्योंकि (अवक्तरि चेत्) यदि प्रमाणको

अव्यक्त मानोगे तो प्रमाणके अव्यक्त होनेपर (किल) निश्चयसे (मूलविनाशाय) मूलके विनाशके लिये (अवाच्यता दोष) अव्यक्तव्यदोष आयगा अर्थात् प्रमाणको अवक्ता माननेसे अवक्तव्य दोषके कारण मूलका नाश होजायगा (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो

भावार्थः— शंकाकारकी शंका है कि अस्तिनास्ति यह भंग अनेक होताहुआ भी यदि क्रमसे युगपत् कहा जानेके कारण एक भंग कहा जाता है तो फिर जो एकांशका ग्राहक होता है वह नय कहलाता है अन्य नहीं ऐसा क्यों कहते हो ? क्योंकि 'अस्तिनास्ति' इस भगमें एक अंशपनेके न रहते हुए भी नयपना कहा जाता है।

यदि कदाचित् कहो कि अस्तिनास्तिको क्रमसे युगपत् एक उक्तिके द्वारा कहनेसे वह एक भंग कहा जाता है तो प्रमाणके अभावका प्रसंग आयगा। क्योंकि यदि अस्तिनास्ति इस दोनोंकोही वह अस्तिनास्ति रूप भग विषय करलेता है तो प्रमाणके विषयकाही अभाव हो जायगा और विषयके अभावमें प्रमाणका भी अभाव हो जायगा।

यदि कदाचित् कहो कि प्रमाण, भाव तथा अभाव दोनोंको युगपत् विषय करता है। किन्तु नय क्रमसे विषय करता है' तो आस्तिके विरोधि नास्तिको अस्तिके साथ योजित करना अपने नाशके लिए स्वतः शत्रुको उपस्थित करनेके बराबर है। तथा इसी प्रकार अवक्तव्य रूपभगमें भी यह शंका उपस्थित होती है कि यदि "युगपत् अस्ति और नास्ति कहा नहीं जाता है। इसलिए अवक्तव्य भग होजाता है" ऐसा कहोगे तो यह कहना 'यदि कहा नहीं जाता है तो अवक्तव्य शब्दके द्वारा क्यों कहते हो' इसप्रकारकी पूर्वापर बाधाके उपस्थित होनेसे कैसे प्रमाणीक माना जासकता है। तथा नयही वक्ता है। प्रमाण वक्ता नहीं है ऐसा माननेसे प्रमाणको अवक्ता सिद्ध होनेपर मूलके घातका प्रसंग आवेगा। कारणकि प्रमाणके अधीनही तो वस्तु व्यवस्था हैं। और यदि उसे अवक्ता मानोगे तो वस्तुकी व्यवस्थाको कोन प्रतिपादित करेगा।

समाधान।

नैवं यतः प्रमाणं भंगध्वंसादभगबोधवपुः।
भंगात्मको नयं इति यावानिह तदंशधर्मत्वात् ॥ ६८७: ॥

अन्वयार्थ — (एव न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यत) क्योंकि (प्रमाणं) प्रमाण भंगध्वंसात्) भंगोंके नाशसे (अभंगबोधवपुः) अभंगज्ञानात्मक होता है और (इह) यहांपर (यावान् नयः) जितनेभी नय है वे सब (तदंशधर्मत्वात्) अंशको विषय करनेवाले हैं इसलिए (भंगात्मकः इति) भंगात्मक होते है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रमाण भंगोको मिटाकरके अभंग ज्ञानात्मक होता है और जितने भी नय हैं वे सब अंशधर्मके विषय करनेवाले होते है। अतः भंगात्मक होते हैं।

सबही नय विकल्पात्मक हैं।

स यथास्ति च नास्तीति च क्रमेण युगपच्च वानयोर्भंगः।
अपि वाऽवक्तव्यमिदं नयो विकल्पानतिक्रमादेव ॥ ६८८ ॥

अन्वयार्थः— (स यथा) वह इसप्रकार है कि जैसे (विकल्पानतिक्रमात् एव) विकल्पका उलंघन नहीं करनेसेही (क्रमेण) क्रमपूर्वक (अस्ति) अस्ति (च) और (नास्ति इति च) नास्ति ये दोनो भंग (वा) अथवा (अनयोः) अस्तिनास्तिका क्रमपूर्वक (युगपत्) एकसाथ कहना यह (भंगः) भंग (अपि वा) तथा (इदं अवक्तव्यं) यह अवक्तव्य भंगभी (नयः) नय है।

भावार्थः— अस्ति व नास्ति तथा क्रमपूर्वक युगपत दोनों अर्थात अस्ति नास्ति अथवा अवक्तव्य ये चारोंही भंग विकल्पात्मकही है। विकल्पको उलंघन नहीं करसकते हैं। इसलिए चारोंही भंग नय कहलाते है जैसा कि आगे निरूपण करते है।

तत्रास्ति च नास्ति समं भंगस्यास्यैकधर्मता नियमात्।
न पुनः प्रमाणमिव किल विरुद्धधर्मद्वयाधिरूढत्वम् ॥ ६८९ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन भंगोमेंसे (किल) निश्चयकरके (समं) एकसाथ (अस्ति) अस्ति (च) और (नास्ति) नास्तिरूप (अस्य भंगस्य) इसमिलेहुये एकभगको (नियमात्) नियमसे (एकधर्मता)

१ 'समयोऽस्ति' मूल पुस्तकमे ऐसा पाठ है।

एक धर्मपना है (पुनः) किंतु (प्रमाणं इव) प्रमाणकी तरह (विरुद्धधर्मद्वयादिरूढत्व न) विरुद्ध दो धर्मोंका एकसाथ विषय करनेवालापना (न) नहीं है ।

भावार्थः— अस्ति और नास्तिरूप व्यक्त भंगोंमें तो एकांशपना स्पष्टही है । अत ग्रन्थकार उनके विषय में कुछ न कहकर तीसरे द्विसंयोगी अस्ति–नास्तिरूप भंगके विषयमें विचार करतें है कि क्रमपूर्वक युगपत कहे जानेवाले अस्ति–नास्तिरूप भंगकोभी नियमसें एकही धर्मता है क्योंकि प्रमाणके समान विरुद्ध धर्मद्वयाविरूढपना नहीं है अर्थात प्रमाणके समान वह विरुद्ध अस्तिनास्तिरूप धर्मोंको युगपत विषय नहीं करता है ।

स्पष्टीकरण ।

अयमर्थश्चार्थवशादथ च विवक्षावशात्तदंशत्वम् ।
युगपदिदं कथ्यमानं क्रमाज्ज्ञेय तथापि तत्स यथा ॥ ६९० ॥

अन्वयार्थः— (अयं अर्थः) उपरके कथनका खुलासा यह है कि (अर्थवशात्) प्रयोजन वशसे (अथ च) तथा (विवक्षावशात् च) विवक्षा वशसेभी (क्रमात्) क्रमसे (तथा) और (युगपदपि) युगपत्भी (कथ्यमानं) कहाजानेवाला (तत् इदं) वह यह (तदंशत्व) तदंशपना अर्थात अंशधर्मपना अस्ति, नास्ति, व अस्तिनास्ति आदिमें (ज्ञेयं) समझना चाहिये (स यथा) जैसाकि आगे बताया जाता है ।

भावार्थः— प्रयोजनवश व विवक्षावश व्यस्त तथा समस्त रूपसे कहेगये अस्ति, नास्ति, और अस्तिनास्ति इन तीनों भंगोको एकांशपना सिद्ध है जैसाकि आगेके पद्यसे खुलासा करतें है ।

अस्ति स्वरूपसिद्धेर्नास्ति च पररूपसिद्ध्यभावाच्च ।
अपरस्योभयरूपादितस्ततः कथितमस्ति नास्तीति ॥ ६९१ ॥

अन्वयार्थः—[स्वरूपसिद्धेः] स्वरूप सिद्धिसे (अस्ति] है [च] तथा [पररूपसिद्ध्यभावात्] पररूपसिद्धिके अभावसे [नास्ति च] नहींभी है और (ततः उभयरूपादितः]उन दोनोंकी युगपत् क्रम विवक्षासे (अपरस्य)तिसरे भंगको (अस्तिनास्ति इति कथितं) अस्ति नास्ति इसप्रकर कहा

भावार्थ — स्वरूपसिद्धिकी अपेक्षासे अस्ति और पररूपकी सिद्धिके अभावकी अपेक्षासे नास्ति भंग कहा

जाता है। तथा पररूपकी सिद्धि और पररूपकी सिद्धिकेअभावकी क्रमपूर्वक विवक्षा होनेसे अस्तिनास्ति यह तीसरा भंग कहाजाता है।

उक्तं प्रमाणदर्शनमस्ति स योयं हि नास्तिमानर्थः।
भवतीदमुदाहरणं न कथंचिद्वै प्रमाणतोऽन्यत्र ॥ ६९२ ॥

अन्वयार्थः— (यः अर्थः अस्ति) जो अर्थ अस्तिरूप है (स हि) वही अर्थ (नास्तिमान्) नास्तिमान है [अयं] यह प्रमाणदर्शनं उक्तं) प्रमाणका दृष्टांत कहाजा चुका है और [इदं उदाहरण]यह दृष्टांत[वै] निश्चय करके [प्रमाणतः अन्यत्र] प्रमाणको छोडकरके नयपक्षमे [कथंचित् न भवति] किसीभीतरह नहीं घटसकता है।

भावार्थः— जो अर्थ अस्तिरूप है वही नास्तिरूप है यह प्रमाणका उदाहरण है। और यह उदाहरण प्रमाणको छोडकर अस्ति, नास्ति तथा अस्तिनास्ति इन तीनोंमें कथंचित्भी नहीं घटाया जासकता है।

,युगपत् दोनों धर्मोंकी विवक्षा होनेसे अवक्तव्यमग होजाता है जिसकाकि आगे खुलासा करते है।

तदभिज्ञानं हि यथा वक्तुमशक्यात् समं नयस्य यतः।
अपि तुर्यो नयभंगस्तत्त्वावक्तव्यतां श्रितस्तस्मात् ॥ ६९३ ॥

न पुनर्वक्तुमशक्यं युगपद्धर्मद्वयं प्रमाणस्य।
क्रमवर्त्ती केवलमिह नयः प्रमाणं न तद्वादिह यस्मात् ॥ ६९४ ॥

यत्किल पुनः प्रमाणं वक्तुमलं वस्तुजातमिह यावत्।
सदसदनेकैकमथो नित्यानित्यादिकं च युगपदिति ॥ ६९५ ॥

अन्वयार्थ.— [तदभिज्ञानं हि यथा) उसका खुलासा इसप्रकार है जैसेकि (यतः) जिसकारणसे (समं] युगपत् विरुद्ध दो धर्मोंको [नयस्य वक्तुं अशक्यत्वात्] नय कहनेके लिये असमर्थ होता है [तस्मात्] तिस कारणसे [तत्वावक्तव्यतां श्रितः] तत्वकी अवक्तव्यताको आश्रित करनेवाला (तुर्य. अपि) चौथा

भी [नयभंगः] नयभंग है [पुनः] किंतु (प्रमाणस्य) प्रमाणको [युगपत् धर्मद्वयं] एकसाथ दो धर्मोका (वक्तुं) प्रतिपादन करना [अशक्यं न] अशक्य नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [इह] यहांपर [केवलं] केवल [नयः] नय [क्रमवर्ती] क्रमवर्ती है किंतु [तद्वत्] नयकी तरह [इह] यहांपर [प्रमाणं न] प्रमाण क्रम वर्ती नहीं है [पुनः] और [इह] यहांपर [किल] निश्चयसे (यत्) जो (प्रमाणं) प्रमाण है ('तत्') वह (सदसदनेकैकं) सत, असत, एक अनेक (अथ च) और (नित्यादिकं) नित्य अनित्य वगैरह (यावत् वस्तुजातं) संपूर्ण वस्तुके धर्मोको (युगपत्) एकसाथ (वक्तुं) कहनेके लिये (अलं) समर्थ है ।

भावार्थः— अस्ति और नास्तिको क्रमपूर्वक मिलाकर एकसाथ बोलनेसे जैसे अस्तिनास्ति तीसराभंग हो जाता हैं वैसेही जिससमय अस्ति और नास्तिके युगपत प्रतिपादन करनेकी वक्ताको तुल्यबल विरोधपूर्वक इच्छा होती है उससमय अस्ति व नास्ति एकसाथ एकालापसे नही कहे जा सकते हैं इसलिए अवक्तव्य नामका चौथाभंग हो जाता है । परन्तु प्रमाणका विषय सामान्य विशेषात्मक होनेसे अवक्तव्य नहीं है । किन्तु सत् असत, एक अनेक, नित्य अनित्य-आदि सबही धर्म प्रमाणके द्वारा युगपत कहे जासकते है । क्योंकि, प्रमाण, नयके समान क्रमवर्ती नहीं है ।

इसप्रकार ६८३ वें पद्यमे लेकर ६८६ वे पद्यतककी गई शंकाका समाधान करते हुए अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य भंगके विषयसे प्रमाणके विषयको भिन्न बताकर आगे प्रमाणके भेदोंको बताते है ।

प्रमाणके भेद और उनके लक्षण ।

अथ तद्द्विधा प्रमाणं ज्ञानं प्रत्यक्षमथ परोक्षं च ।
असहायं प्रत्यक्षं भवति परोक्षं सहायसापेक्षम् ॥ ६९६ ॥

अन्वयार्थः— (अथ) अब प्रमाणके भेदोंका निरूपण करतें है कि (तत् प्रमाणज्ञानं) वह प्रमाणज्ञान (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष (अथ च) और (परोक्षं) परोक्ष इसप्रकारसे (द्विधा) दो प्रकारका है उनमें (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष (असहायं) सहायता रहित तथा (परोक्षं) परोक्ष (सहाय सापेक्षं) इंद्रिय आलोक वगैरहकी अपेक्षा सहित अर्थात् उनकी अपेक्षा रखनेवाला (भवति) होता है ।

भावार्थः— प्रमाणके दो भेद है एक प्रत्यक्ष प्रमाण और दूसरा परोक्ष प्रमाण । उनमेंसे इन्द्रिय आलोक

आदिकी अपेक्षा नहीं करके उत्पन्न होनेवाले असहाय ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। और इन्द्रियादिकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेवाले सहायसापेक्ष ज्ञानको परोक्ष कहते हैं।

प्रत्यक्षके भेद और उनके लक्षण।

प्रत्यक्षं द्विविधं तत्सकलप्रत्यक्षमक्षयं ज्ञानम्।
क्षायोपशमिकमपरं देशप्रत्यक्षमक्षयं क्षयि च॥ ६९७॥

अन्वयार्थ — (तत् प्रत्यक्षं द्विविधं) वह प्रत्यक्ष दो प्रकारका है उनमेंसे (अक्षयं) अविनाशी (ज्ञानं) केवलज्ञान (सकलप्रत्यक्षं) सकल प्रत्यक्ष है और जो (क्षायोपशमिक) क्षायोपशमिक ज्ञान है वह (अपरं) दूसरा (अक्षयं) अप्रतिपाति (च) तथा (क्षयि) प्रतिपाति (देशप्रत्यक्षं) देशप्रत्यक्ष है।

भावार्थः— प्रत्यक्ष प्रमाणके दो भेद हैं एक सकल प्रत्यक्ष और दूसरा विकलप्रत्यक्ष-देशप्रत्यक्ष उनमेंसे अविनाशी केवल ज्ञानको सकलप्रत्यक्ष कहते हैं। और क्षायोपशमिक अवधि तथा मनःपर्यय ज्ञानको देशप्रत्यक्ष कहते हैं। और अवधि व मनःपर्यय ये दोनोंही ज्ञान अप्रतिपाती तथा प्रतिपाती होते हैं।

सकलप्रत्यक्षका लक्षण।

अयमर्थो यज्ज्ञानं समस्तकर्मक्षयोद्भवं साक्षात्।
प्रत्यक्षं क्षायिकमिदमक्षातीतं सुखं तदक्षयिकम्॥ ६९८॥

अन्वयार्थः— (अयं अर्थः) सारांश यह है कि (यत् ज्ञानं) जो ज्ञान (समस्तकर्मक्षयोद्भवं) संपूर्ण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला (साक्षात्प्रत्यक्षं) साक्षात प्रत्यक्षरूप (अक्षातीतं) अतीन्द्रिय तथा (क्षायिकं सुखं) क्षायिक सुखरूप है (तत् इदं) वह यह (अक्षयिकं) अविनश्वर सकल प्रत्यक्ष है।

भावार्थः— सारांश यह है कि जो ज्ञान सम्पूर्ण घातिया कर्मोंके क्षयके अनन्तर उत्पन्न होता है। यह चरा-चर पदार्थोंका साक्षात प्रत्यक्ष करनेवाला है। और क्षायिक तथा अतीन्द्रिय सुखरूपी होता है। वही अविनाशी केवल ज्ञान, सकलप्रत्यक्ष कहलाता है।

[1] मूल पुस्तकमें 'तदक्षयिक' ऐसा पाठ है।

देशप्रत्यक्षके भेद और उनमे दोको देशपृत्यक्ष कहलानेका कारण।

देशप्रत्यक्षमिहाप्यवधिमन.पर्ययं च यज्ज्ञानम् ।
देशं नोइन्द्रिमन उत्थात् प्रत्यक्षमितरनिरेपक्षात् ॥ ६९९ ॥

अन्वयार्थः-- (अपि च) और (इह] यहांपर [अवधिमनः पर्ययः] अवधिमनःपर्ययरूप (यत् ज्ञानं] जो ज्ञान है वह (देशप्रत्यक्षं] देशप्रत्यक्ष है क्योंकि वह [नोइन्द्रियमन उत्थात्) केवल अनिंद्रियरूप मनसे उत्पन्न होनेके कारण (देश) देश तथा (इतरनिरपेक्षात्) अन्य बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा न रखनेसे (प्र-त्यक्षं] प्रत्यक्ष कहलाता है।

भावार्थ.— अवधि और मनःपर्यय ये दोनों ज्ञान देशप्रत्यक्ष कहलाते है। क्योंकि मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण देश, और अन्य किसी इन्द्रियादिक बाह्य अवलम्बनकी अपेक्षा न करके केवल आत्माकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेके कारण प्रत्यक्ष कहलाते है।

मति और श्रुतज्ञानके लक्षणपूर्वक उनके परोक्ष होनेमे युक्ति।

आभिनिबोधिकबोधो विषयविषयिसन्निकर्षजस्तस्मात् ।
भवति परोक्षं नियमादपि च मतिपुरस्सरं श्रुतं ज्ञानम् ॥ ७०० ॥

अन्वयार्थः— (आभिनिबोधिकबोधः) मतिज्ञान (विषयविषयिसन्निकर्षजः) विषय और विषयीके सन्निकर्षसे उत्पन्न (भवति) होता है (च) तथा (श्रुतं ज्ञान अपि) श्रुतज्ञानभी (नियमात्) नियमसे (मतिपुरस्सरं) मतिज्ञानपूर्वक होता है (तस्मात्) इसलिए वे दोनों ज्ञान (परोक्षं) परोक्ष कह-लाते है।

भावार्थः— मतिज्ञान विषय और विषयीके सन्निकर्ष होनेके अनन्तर होता है। इसलिए परकी अपेक्षा रखनेके कारण वह परोक्ष कहलाता है। तथा श्रुतज्ञानभी मतिपूर्वकही होता है। इसलिए वह भी परकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेके कारण परोक्ष कहलाता है।

---

१ अवधिज्ञानको मनसे उत्पन्न कहनेकी युक्ति समझमें नहीं आई है।

वास्तवमें तो चारों ज्ञान परोक्ष है।

छद्मस्थायामावरणेन्द्रियसहायसापेक्षम् ।
यावज्ज्ञानचतुष्टयमर्थात् सर्वं परोक्षमिववाच्यम् ॥ ७०१ ॥

अन्वयार्थ:— (छद्मस्थावस्थायां) छद्मस्थ[1] अवस्थामें (आवरणेन्द्रियसहायसापेक्षं) आवरण और इंद्रियोंकी सहायताकी अपेक्षा रखनेवाला (यावत् ज्ञानचतुष्टयं) जितनेभी चारों ज्ञान है (सर्वं) वे सब (अर्थात्) परमार्थ रीतिसे (परोक्षं इव) परोक्षकी तरह (वाच्यं) कहना चाहिए ।

भावार्थ:— परमार्थकी अपेक्षासे तो छद्मस्थ अवस्थामें जितनेभी ज्ञान होतें है अर्थात् मति, श्रुत, अवधि और मन.पर्यय ये चारोंही ज्ञान यथायोग्य आवरण व इंद्रियकी अपेक्षा रखतें है । इसलिये चारोंही क्षायोपशमिक ज्ञान परोक्षही है । केवल एक केवल ज्ञान वास्तवमें असहाय है । अतः वही एक प्रत्यक्ष है ' शेष चारों ज्ञान किसी न किसीकी सहायताकी अपेक्षा रखनेवाले होनेसे परोक्षही है ।

अवधि और मनःपर्यय ज्ञानको परोक्ष कहनेमें युक्ति ।

अवधिमनःपर्ययवद्द्वैतं प्रत्यक्षमेकदेशत्वात् ।
केवलमिदमुपचारादथ च विवक्षावशान्न चान्वर्थात् ॥ ७०२ ॥

अन्वयार्थ:— (अवधिमन पर्ययवत् द्वैतं) अवधि और मनःपर्यय ये दोनों ज्ञान (एकदेशत्वात्) एकदेशपनेसे (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष है (इदं) यह कथन (केवल) केवल (उपचारात्) उपचारसे (अथ च) अथवा (विवक्षावशात्) विवक्षा वशसे समझना चाहिये (च) किंतु (अन्वर्थात् न) अन्वर्थसे नहीं—वास्तविक रीतिसे नहीं ।

भावार्थ:— अवधि और मनःपर्यय ज्ञानको जो एक देश प्रत्यक्ष कहा है । वह केवल उपचारसे अथवा विवक्षावशसे कहा है । क्योंकि मतिश्रुतकी तरह वे दोनों इन्द्रिय सापक्ष नहीं है किन्तु अतीन्द्रिय है तथा अपने २ विषय को एक देशसे जितना जानते है उतना सकल प्रत्यक्षके समानही जानते है इस विवक्षावशसे उनको देशप्रत्यक्ष कहा है ।

---

१ पहलेसे लेकर १२ वे गुणस्थानवालेको छद्मस्थ कहते है ।

वास्तवेंमे वे क्षायोपशमिकज्ञान है। अतः प्रत्यक्षका असहाय लक्षण न घट सकनेसे वे दोनों, प्रत्यक्ष नहीं कहा जासकते है।

उपचारका कारण।

तत्रोपचारहेतुर्यथा मतिज्ञानमक्षजं नियमात्।
अथ तत्पूर्वं श्रुतमपि न तथावधिचित्तपर्ययं ज्ञानम् ॥ ७०३ ॥

अन्वयार्थः—(तत्र) वहांपर (उपचारहेतुः) उपचारका कारण यह है कि (यथा) जैसे (नियमात्) नियमसे (मतिज्ञानं) मतिज्ञान (अक्षजं) इंद्रियोंसे उत्पन्न होता है (अथ) और (श्रुतं अपि) श्रुतज्ञानभी (तत्पूर्वं) मतिज्ञानपूर्वक होता है (तथा) वैसे (अवधिचित्तपर्ययं ज्ञानं न) अवधिमनःपर्यय ज्ञान इंद्रियादिकसे उत्पन्न नहीं होता है।

भावार्थः— अवधि और मनःपर्यय ज्ञानको उपचारसे प्रत्यक्ष कहनेमे कारण यह है कि जैसे नियमसे मति ज्ञान इन्द्रियजन्य होता है। तथा उस मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। वैसे साक्षात् व परम्परासे भी इन्द्रिय जन्यता अवधि और मनःपर्ययमें नहीं है। इसलिए अवधि तथा मनःपर्यय ये दोनों ज्ञान उपचारसे देश प्रत्यक्ष कहे जाते है।

यत्स्यादवग्रहेहावायानतिधारणापरायत्तम्।
आद्यं ज्ञानं द्वयमिह यथा तथा नैव चांतिमं द्वैतम् ॥ ७०४ ॥

दूरस्थानर्थानिह समक्षमिव वेत्ति हेलया यस्मात्।
केवलमेव मनसादवधिमनःपर्ययद्वयं ज्ञानम् ॥ ७०५ ॥

अन्वयार्थः—(यत्) क्योंकि (यथा) जैसे (इह) यहांपर (आद्यं ज्ञानद्वयं) आदिके दोनों ज्ञान (अवग्रहेहावायनतिधारणापरायत्तं) अवग्रह, ईहा, आवाय और धारणाको उल्लंघन नहीं करनेसे अर्थात् तत्पूर्वक होनेसे पराधीन (स्यात्) है (तथा च) वैसे (अन्तिम द्वैतं) अन्तके दोनों ज्ञान (नैव) नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (इह) यहांपर (अवधिमनःपर्ययद्वयं ज्ञानं) अवधि और मनःपर्यय ये दोनों ज्ञान

१ मूल पुस्तकमें 'हेति' पाठ है कारण लीलासे यह उसका अर्थ है।

(केवल) केवल (मनःमात्र एव) मनमेही (दूरस्थान् अर्थान्) दूरवर्ती पदार्थोंको (हेलया) लीलामात्रमें (समक्षं इव) प्रत्यक्षकी तरह (वेत्ति) जानतें है ।

भावार्थः— जैसे मतिज्ञान, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा पर्यन्त क्रम २ से प्रवृत्त होता है । तथा साक्षात् व परम्परा मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है । वैसे अवधि व मनःपर्ययकी प्रवृत्ति नहीं होती है किन्तु ये दोनों ज्ञान युगपत द्रव्यक्षेत्र काल और भावकी अपेक्षासे दूरवर्ती पदार्थोंको भी क्षणमात्रमें उपयोग लगातेही मनकी सहायतासे (?) जानलेते हैं । इसलिए इन्हें देश प्रत्यक्ष कहते है ।

अपि किंच ाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत् ।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत् ॥ ७०६ ॥

अन्वयार्थ —(अपि किंच) और विशेष यह है कि (स्वात्मानुभूतिसमये) स्वात्मानुभूतिके समयमें (यावत्) जितनाभी (आदिमं) पहला (तत्) वह (आभिनिबोधिकबोध द्वैतं) मतिज्ञान और श्रुतिज्ञानका द्वैत रहता है (तत्) उतना वह सब (समक्ष इव) साक्षात् प्रत्यक्षकी तरह (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष है (अन्यत् न) दूसरा नहीं–परोक्ष नहीं ।

भावार्थः- तथा इन मति और श्रुत ज्ञानोंमें भी इतनी विशेषता है कि जिससमय इन दोनोंमेसे किसीएक ज्ञानके द्वारा स्वात्मानुभूति होती है उस समय ये दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्माका प्रत्यक्ष करते है । इसलिए ये दोनों ज्ञान भी स्वात्मानुभूतिके समय प्रत्यक्ष हैं, परोक्ष नहीं ।

तदिह द्वैतमिद चित्स्पर्शादीन्द्रियविषयपरिग्रहणे ।
व्योमाद्यवगमकाले भवति परोक्ष न समक्षमिह नियमात ॥ ७०७ ॥

अन्वयार्थ.— किंतु (इह) यहांपर (स्पर्शादीन्द्रियविषयपरिग्रहणे) स्पर्शादिक इंद्रियोंके विषयोंको ग्रहण करते समय और (व्योमाद्यवगमकाले) आकाश वगैरहका विषय करते समय (तत इदं द्वैत चित्) वे दोनोंही मति तथा श्रुतज्ञान (नियमात्) नियमसे (इह) यहांपर (परोक्ष) परोक्ष (भवति) होतें है (समक्षं न) प्रत्यक्ष नहीं ।

भावार्थः— किन्तु जिससमय ये दोनों ज्ञान स्पर्शादिकको विषय करते है। उससमय तथा जिससमय आकाशादि अमूर्त पदार्थोंको विषय करते हैं—जानते है उससमय ये दोनों ज्ञान नियमसे परोक्षही हैं। किन्तु स्वानुभूतिके समयके समान प्रत्यक्ष नहीं है

शंका।

ननु चाद्ये हि परोक्षे कथमिव सूत्रे कृत· समुद्देशः।
अपि तल्लक्षणयोगात परोक्षमिव सम्भवत्येतत ॥ ७०८ ॥

अन्वयार्थ.— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि यदि मतिश्रुतज्ञान स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष हैं तो (हि) निश्चयकरके (आद्ये परोक्षे) आदिके दो ज्ञान परोक्ष है ऐसा (सूत्रे) सूत्रमें (समुद्देशः) निर्देश—कथन (कथमिव कृतः) क्यों किया? तथा (तल्लक्षणयोगात् अपि) परोक्षके लक्षणके योगसेभी अर्थात् परोक्षका उनमें लक्षण घटजानेसेभी (एतत्) ये दोनों ज्ञान (परोक्ष इव) परोक्ष (सम्भवति) प्रतीत होते है।

भावार्थ — शंकाकारका कहना है कि यदि मतिश्रुतज्ञान स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष होते है तो सूत्रकारने 'आद्ये परोक्ष' इस सूत्रमें उनको परोक्ष क्यों कहा अर्थात यदि मतिश्रुतज्ञान स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष होते तो सूत्रकार भी उसका उल्लेख करते। परन्तु किया नहीं है। इसलिए मतिश्रुतको स्वानुभूतिके समय भी परोक्षही कहना चाहिए प्रत्यक्ष नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष कहना सूत्रविरूद्ध होनेसे आगम बाधित है। तथा इनमें इन्द्रियादिककी अपेक्षा होनेसे 'सहाय सापेक्ष' परोक्षका लक्षण भी घट जाता है इसलिए भी इनको परोक्षही कहना चाहिए प्रत्यक्ष नहीं।

समाधान।

सत्यं वस्तुविचारः स्यादतिशयवर्जितोऽविसंवादात्।
साधारणरूपतया भवति परोक्षं तथा प्रतिज्ञायाः ॥ ७०९ ॥

अन्वयार्थ— (सत्यं) ठीक है क्योंकि (अविसंवादात्) विसंवाद रहित होनेसे (वस्तुविचारः) वस्तुका विचार (अतिशय वर्जितः स्यात्) अतिशय रहित होता है इसलिये वे दोनों ज्ञान (साधारणरूपतया) साधारणरूपपनेसे (तथा प्रतिज्ञायाः), 'आद्ये परोक्ष' इस सूत्रोक्त प्रतिज्ञाके अनुसार (परोक्षं भवति) परोक्ष है।

भावार्थः— यदि कोई विसंवाद न रहे तो वस्तुका विचार निरतिशय होता है अर्थात उसके अतिशयका वर्णन नही किया जा सकता है। स्वात्मानुभूति के समय मति श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका साक्षात्कार होनेसे उनके प्रत्यक्ष होनेमें कोई विसवाद नही रह जाता है। अतः उन्हे प्रत्यक्ष कहना योग्यही है। किन्तु सूत्रकारनें जो उन दोनों ज्ञानोंको परोक्ष कहा है उसमें अपेक्षा इतनीही समझना चाहिये कि साधारण रूपसे ये दोनों ज्ञान परोक्ष है। जब किसी भव्यजीवके सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है तब मिथ्यात्वकर्मके नाश होनेसे एक अनिर्वचनीय शक्तिका प्रादुर्भाव होता है जिस शक्तिकी सामर्थ्यसेकि इनदोनो ज्ञानोको प्रत्यक्ष कहा है।

इह सम्यग्दृष्टेः किल मिथ्यात्वोदयविनाशजा शक्तिः।
काचिदनिर्वचनीया स्वात्मप्रत्यक्षमेतदस्ति यया ॥ ७१० ॥

अन्वयार्थः— (इह] यहांपर (किल) निश्चयसे (**सम्यग्दृष्टे**] सम्यग्दृष्टी जीवके (**मिथ्यात्वोदयविनाशजा**] मिथ्यात्वकर्मके उदयके विनाशसे उत्पन्न होनेवाली (**काचित्**) कोई (**अनिर्वचनीया**) अनिर्वचनीय (**शक्तिः अस्ति**) शक्ति है (**यया**) जिसशक्तिके द्वाराकि (**एतत्**] यह (**स्वात्मप्रत्यक्षं**) स्वात्म प्रत्यक्ष होता है।

भावार्थः— यहापर मिथ्यात्वके उदयका अभाव होनेमे सम्यग्दृष्टी जीवके एक ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति उत्पन्न होती है। जिसकेकि सानिध्यसे वह अनिर्वचनीय स्वात्माका प्रत्यक्ष करलेता है। अर्थात सम्यग्दर्शनके होनेपर मिथ्यात्वके अभावके सायही साथ स्वानुभुत्यावरणकर्मका क्षयोपशम होता है। उसकीही सामर्थ्यसे वह आत्मप्रत्यक्ष करता है। इसलिए स्वानुभूतिके समय मतिश्रुतको प्रत्यक्ष कहा।

तदभिज्ञानं हि यथा शुद्धस्वात्मानुभूतिसमयेऽस्मिन्।
स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोतं च नोपयोगि मतम् ॥ ७११ ॥

केवलमुपयोगि मनस्तत्र च भवतीह तन्मनो द्वेधा।
द्रव्यमना भावमनो नोइंद्रियनाम किल स्वार्थाह ७१२ ॥

अन्वयार्थ— (**तदभिज्ञानं हि यथा**] उसका खुलासा इसप्रकार है कि (**अस्मिन् शुद्धस्वात्मा-**

तुभूतिसमये] इस शुद्ध स्वात्मानुभूतिके समयमें [स्पर्शनरसनघ्राणं]स्पर्शन, रसन, घ्राण, (चक्षुः] चक्षु [च] और [श्रोत्रं] श्रोत्र इसप्रकार ये पाचों इंद्रियां [उपयोगी न मतं] उपयोगी नहीं मानी गई हैं किंतु (तत्र) वहांपर [केवलं] केवल [मनः] मनही [उपयोगि] उपयोगी मानागया है [च] और [इह] यहांपर [किल] निश्चयकरके [अर्थात्] अपने अर्थकी अपेक्षासे [नोइंद्रियनाम] नोइंद्रिय है दूसरा नाम जिसका ऐसा [तन्मन] वह मन [द्रव्यमन]द्रव्यमन तथा [भावमनः] भावमन इसप्रकार [द्वेधा] दो प्रकारका है ।

भावार्थः— पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि जिससमय सम्यग्दृष्टी स्वानुभूति करता है उस समय उसके पाचोंही इन्द्रियोंका उपयोग नहीं होता है । किन्तु केवल एक मनकाही उपयोग होता है । तथा वह मन द्रव्यमन और भावमन इसतरह दोप्रकारका माना गया है । साराश यह है कि स्वानुभूतिके समय इन्द्रियजन्यज्ञान नहीं होता है]

भावमनका स्वरूप ।

द्रव्यमनो हृत्कमले घनांगुलासंख्यभागमात्रं यत् ।
अचिदपि च भावमनसः स्वार्थग्रहणे सहायतामेति ॥ ७१३ ॥

अन्वयार्थः— (यत्) जो (हृत्कमले) हृदयरूपी कमलमें (घनांगुलासंख्यभागमात्रं) घनागुलके असख्यातवे भागमात्र है प्रमाण जिसका ऐसा (द्रव्यमनः) द्रव्यमन होता है (' तत् ') वह (अचिदपि च) अचेतन होकरकेभी (स्वार्थग्रहणे) ज्ञानके विषयको ग्रहण करते समय (भावमनस.) भावमनकी (सहायतां सति) सहायताको प्राप्त -समर्थ होता है अर्थात् द्रव्यमन भावमनकी सहायता करता है ।

भावार्थः— द्रव्यमन हृदयकमलमें घनागुलके असंख्यातमें भाव प्रमाण होता है । और यद्यपि वह द्रव्यमन अचेतन है तथापि क्षायोपशमिक भाव मनके लिए वह सहायक माना गया है । क्योंकि द्रव्यमनकी सहायताके विना भावमन उपयोग करनेमें समर्थ होता है ।

भावमनका स्वरूप

भावमनः परिणामो भवति तदात्मोपयोगमात्रं वा ।
लब्ध्युपयोगविशिष्टं स्वावरणस्य क्षयक्रमाच्च स्यात् ॥ ७१४ ॥

अन्वयार्थः— [स्वावरणस्य) स्वावरणका (क्रमात्) क्रमपूर्वक (क्षयाच्च) उदयाभावीक्षयसेही

(लब्ध्युपयोगविशिष्टं) लब्धि और उपयोगसे युक्त (' यत् ') जो (आत्मोपयोगमात्रं वा) केवल आत्मोपयोगरूपही (परिणामः) आत्माका परिणाम है

भावार्थः— मनोमतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होनेवाले आत्माके उपयोगको भावमन कहते है । तथा उस भावमनके भी भावइन्द्रियोंके समान लब्धि और उपयोगरूपसे दो भेद होते है । वीर्यान्तरायसहित मनोमतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जो विशुद्धि होती है उसको लब्धिरूप मन कहते है । तथा उस लब्धिपूर्वक ज्ञेयके उन्मुख होनेवाले मनको उपयोगरूप मन कहते है ।

स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पंचक यावत् ।
मूर्तग्राहकमेकं मूर्त्तामूर्त्तस्य वेदकं च मनः ॥ ७१५ ॥

अन्वयार्थः– [स्पर्शनरसनघ्राणं) स्पर्शन, रसन, घ्राण (चक्षु) चक्षु (च) और (श्रोत्रं) श्रोत्र (पंचकं यावत्) ये पांचोंही इंद्रियां (एकं) एक (मूर्तग्राहकं) मूर्तीक पदार्थको जाननेवाली है (च) तथा (मनः) मन (मूर्तामूर्तस्य) मूर्तीक तथा अमूर्तीक दोनों पदार्थको (वेदकं) जाननेवाला है ।

भावार्थः— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांचोंही इन्द्रिया केवल मूर्तीक पदार्थकोही अवग्रह ईहा, अवाय तथा धारणारूपसे विषय करनेवाली होती हैं । और मन, मूर्त व अमूर्त दोनों प्रकारके पदार्थोंको विषय करनेवाला होता है ।

तस्मादिदमनवद्यं स्वात्मग्रहणे किलोपयोगि मनः ।
किंतु विशिष्टदशायां भवतीह मनः स्वयं ज्ञानम् ॥ ७१६ ॥

अन्वयार्थः— [तस्मात] इसलिए (इह) यहांपर (इदं अनवद्य) यह कथन निर्दोष है कि (स्वात्मग्रहणे) स्वात्माके ग्रहणमें (किल) निश्चयसे (मनः) मनही (उपयोगि) उपयोगी है (किन्तु) किंतु इतना विशेष है कि (विशिष्टदशायां) विशिष्ट दशामें वह (मनः) मन (स्वतः) स्वतः (ज्ञानं भवति) ज्ञानरूप होजाता है ।

भावार्थ— इसलिए पूर्वोक्त कथन निर्दोषसिद्ध होता है कि स्वानुभूतिके समय अतीन्द्रिय आत्माके प्रत्यक्ष करनेकेलिए केवल मनही उपयोगी है तथा स्वानुभूतिकी तत्परताकी विशेष अवस्थामें वह मनही ज्ञान ज्ञात व ज्ञेयके विक-

ल्पसे रहित होकर स्वयंज्ञानमय होजाता है। अतः उस ज्ञानके द्वारा सम्यग्दृष्टी जीवको अतीन्द्रिय आत्माका अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होना युक्तियुक्त है।

नासिद्धमेतदुक्तं तदिंद्रियानिंद्रियोद्भवं सूत्रात्।
स्यान्मीतज्ञाने यत्तत्पूर्वं किल भवेच्छ्रुतज्ञानम् ॥ ७१७॥

अयमर्थो भावमनो ज्ञानविशिष्टं स्वयं हि सदमूर्तम्।
तेनात्मदर्शनमिह प्रत्यक्षमतींद्रियं कथं न स्यात ॥ ७१८॥

अन्वयार्थ — (किल) निश्चयकरके (सूत्रात्) सूत्रसे (यत् मतिज्ञानं) जो मतिज्ञान है (तत्) वह (इन्द्रियानिंद्रियोद्भवं) इंद्रिय और मनसे उत्पन्न (स्यात्) होता है तथा (तत्पूर्वं) मतिज्ञानपूर्वक (श्रुत-ज्ञानं) श्रुतज्ञान (भवेत्) होता है ऐसा जो (उक्त) कहा है (एतत् असिद्धं न) वह यह कथन असिद्ध नहीं है।

(अयं अर्थः) सारांश यह है कि [हि] निश्चयकरके (भावमनः) भावमन (ज्ञानविशिष्टं सत्) ज्ञानविशिष्ट होता हुवा (स्वयं) स्वयंही (अमूर्तं) अमूर्त होजाता है इसलिए (तेन) उस भावमनके द्वारा होने वाला (इह) यहांपर (आत्मदर्शनं) आत्मप्रत्यक्ष (अतींद्रियं प्रत्यक्षं) अतींद्रिय प्रत्यक्ष (कथं न स्यात्) क्यों नहीं होगा।

भावार्थः— यदि कदाचित् यह कहा जाय कि मतिश्रुतात्मक भावमन स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष होता है तो सूत्रमें जो मतिज्ञानको इन्द्रिय और अनिंद्रियसे उत्पन्न होनेसे तथा श्रुतज्ञानको मतिज्ञानपूर्वक उत्पन्न होनेसे परोक्ष कहा है वह कथन असिद्ध होजायगा तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि मतिश्रुतात्मक उस भावमनको स्वानु-भूतिके समय प्रत्यक्ष कहनेका यही अर्थ है कि स्वानुभूतिके समय वह मतिश्रुतज्ञानात्मक भावमन विशेष दशापन्न होकर अमूर्त होजाता है। इसलिए उसके द्वारा होनेवाला अमूर्त आत्माका प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष क्यों नहीं होगा अर्थात् अवश्य ही होगा।

साराश यह है कि स्वात्मरसमें मग्न होनेवाला भावमनही स्वयं अमूर्त होकर स्वानुभूतिके समय आत्मप्रत्यक्ष कर-नेवाला कहा गया जैसे श्रेणि चढते समय ज्ञानकी जो निर्विकल्प अवस्था है उस निर्विकल्प अवस्थामें ध्यानकी अवस्था—

पन्न स्रुतज्ञान व उस स्रुतज्ञानके पूर्वका मतिज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है। वैसेही जो सम्यग्दृष्टीजीव चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थानवर्ती हैं उनका मन भी मतिस्रुतात्मक भावमन भी स्वानुभूतिके समय विक्षेप दशापन्न होनेसे श्रेणीके समान तो नहीं किन्तु उसकी भूमिकाके योग्य निर्विकल्प होता है।

इसलिए वह मतिस्रुतात्मक भावमन स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष माना जाता है। यही कारण है कि मतिस्रुत विना केवल ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। किन्तु अवधि मन पर्ययके विना होसकती है।

अपि चात्मसंसिद्ध्यै नियतं हेतू मतिश्रुत ज्ञाने।
प्रान्त्यद्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्यादृते मतिद्वैतम् ॥ ७१९ ॥

अन्वयार्थः— (**अपि च**) और (**आत्मसंसिद्ध्यै**) आत्माकी सिद्धिके लिये (**मतिस्रुतज्ञाने**) मति स्रुतज्ञान (**नियतं हेतू**) निश्चित कारण है क्योंकि (**प्रान्तद्वयं विना**) अन्तके दो ज्ञानोंके विना (**मोक्षः स्यात्**) मोक्ष हो सकता है किंतु (**मतिद्वैतं ऋते**) मतिस्रुतज्ञानके विना (**न स्यात्**) मोक्ष नहीं होसकता है।

भावार्थः— मतिज्ञान और स्रुतज्ञानको स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष कहा सो ठीक कहा है। क्योंकि आत्म सिद्धिकेलिए मति और स्रुत ये दोनों ज्ञानही आवश्यक ज्ञान है। कारण कि अवधि तथा मन पर्ययके विना मोक्ष हो सकता है। किन्तु मतिस्रुतके विना मोक्ष कभी नही होसकता है।

ननु जैनानामेतन्मतं मतेष्वेव नापरेषां हि।
विप्रतिपत्तौ बहवः प्रमाणमिदमन्यथा वदन्ति यतः ॥ ७२० ॥

अन्वयार्थ — (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि [**हि**) निश्चयकरके [**एतत्**] उपर्युक्त रीतिसे कहाहुवा प्रमाणका लक्षण [**जैनानां मतं**) जैनियोंके यहा मानागया है [**अपरेषां मतेषु नैव**) दूसरोंके मतोंमें नहीं मानागया है [**यतः**] क्योंकि [**विप्रतिपत्तौ**] विप्रतिपत्तिके होनेपर [**बहवः**] बहुतसे अन्यमतवादी [**इदं प्रमाणं**] इस प्रमाणको [**अन्यथा वदन्ति**) अन्यप्रकारसे कहते है।

भावार्थः— शंकाकारका प्रश्न है कि उक्त प्रमाणका लक्षण जैन संप्रदाय वालोंका है। अन्य संप्रदायवाले

उसे अंगीकार नहीं करते है । अतः प्रमाणके स्वरूपको विवादग्रस्त होनेसे बहुतसे वादी उसके स्वरूपको अन्य रूपसे प्रतिपादन करके विसवाद करते है ।

वेदाः प्रमाणमिति किल वदन्ति वेदान्तिनो विदाभासाः ।
यस्मादपौरुषेयाः सन्ति यथा व्योम ते स्वतः सिद्धाः ॥ ७२१ ॥

अन्वयार्थः— (**विदाभासाः**) ज्ञानाभासी–मिथ्याज्ञानी [**वेदांतिनः**] वेदान्त मतवाले (**किल**) निश्चयकरके (**वेदाः प्रमाणं**) वेदही प्रमाण है [**इति**] इस प्रकार [**वदंति**] कहते है [**यस्मात्**] क्योंकि [**यथाव्योम**] आकाशके समान [**ते**] वे वेद [**स्वतः सिद्धाः**] स्वयं सिद्ध और [**अपौरुषेयाः**] अपौरुषेय है ।

भावार्थः—विदाभासी वेदान्ती वेदोंकोही आकाशके समान स्वतःसिद्ध अपौरुषेय मानकर प्रमाण मानते है ।

अपरे प्रमानिदानं प्रमाणमिच्छन्ति पण्डितम्मन्याः ।
समयान्तिसम्यगनुभवसाधनमिह यत्प्रमाणमिति केचित् ॥ ७२२ ॥

अन्वयार्थः— (**पण्डितम्मन्याः**) अपनेको पंडित माननेवाले (**अपरे**) दूसरे मतवाले (**प्रमानिदानं**) प्रमाके निदानको (**प्रमाणं इच्छन्ति**) प्रमाण मानते है और (**केचित्**) कोई (**इह**) यहांपर (**यत्**) जो (**सम्यगनुभवसाधनं**) सम्यक् अनुभवका साधन है वह (**प्रमाणं**) प्रमाण है (**इति**) इसप्रकार (**समयंति**) कहते है ।

भावार्थः— वैशेषिक लोग प्रमा–प्रमिती–प्रमाणके फलके करणको प्रमाण मानते है तथा अनुभवके साधन को प्रमाण मानते है ।

इत्यादि वादिवृन्दैः प्रमाणमालक्ष्यते यथारुचि तत् ।
आप्ताभि ।नदग्धैरलब्धमानैरतींद्रियं वस्तु ॥ ७२३ ॥

अन्वयार्थ — (**इत्यादि**) इत्यादिक (**आप्ताभिमानदग्धैः**) आप्तके अभिमानमें जलनेवाले और (**अतींद्रियं वस्तु**) अतींद्रिय वस्तुको (**अलब्धमानैः**) प्राप्त नहीं होनेवाले (**वादिवृन्दैः**) वादियोंके समूहोंद्वारा

(यथारुचि) अपनी २ रुचिके अनुसार (तन् प्रमाणं) वह प्रमाण (आलक्ष्यते) कहाजाता है।

भावार्थ — इसप्रकार अतीन्द्रिय वस्तुके स्वरूपको नहीं समझनेवाले और आप्तके अभिमानमें जलेहुए वेदान्ती आदि वादियोंके द्वारा प्रमाणका लक्षण अपनी २ रुचिके अनुसार किया जाता है।

प्रकृतमलक्षणमेतल्लक्षणदोषैरधिष्ठितं यस्मात्।
स्यादविचारितरम्यं विचार्यमाणं खपुष्पवत्सर्वम् ॥ ७२४ ॥

अन्वयार्थ — (यस्मात्) जिसकारणसे कि (एतत्सर्वं प्रकृतं) ये सब प्रकृत लक्षण (लक्षणदोषैरधिष्ठितं) लक्षणके दोषसे युक्त और (विचार्यमाणं] विचार करनेपर (खपुष्पवत्) आकाशके फूलके समान है (तस्मात्) तिसकारणसे (अलक्षणं) अलक्षण तथा (अविचारितरम्य) अविचारित रम्य (स्यात्) है।

भावार्थः— किन्तु उन वादियोंके द्वारा कहेहुए उपर्युक्त सबही ये प्रमाणके लक्षण, लक्षणके अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असमव इन तीन दोषोंसे युक्त होनेके कारण अलक्षण है। तथा इनपर यदि विचार किया जाय तो ये सब लक्षण आकाशकुसुमके समान अलीक ठहरते है। इसलिए अविचारित रम्य है।

अर्थाद्यथा कथंचिज्ज्ञानादन्यत्र न प्रमाणत्वम्।
करणादि विना ज्ञानादचेतनं कः प्रमाणयति ॥ ७२५ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) अर्थात् (यथा कथचित्) जिस किसी प्रकारभी (ज्ञानादन्यत्र) ज्ञानको छोडकर दूसरेको (प्रमाणत्व न) प्रमाणपना नहीं है क्योंकि (ज्ञानात विना) ज्ञानके विना (अचेतनं करणादि) अचेतन इंद्रिय वगैरहको (कः प्रमाणयति) कौन प्रमाण मानेगा।

भावार्थ.— प्रमाके करण मूर्तइन्द्रियोंको जो वैशेषिक प्रमाण मानते है उनके प्रति यह कथन है कि किसी भी प्रकारसे ज्ञानको छोडकर अन्यमें प्रमाणपना नहीं रहसकता है। इसलिए ज्ञानकेविना अचेतम इन्द्रियादिकको प्रमाण कौन मानसकता है। अर्थात् कोई नहीं मानसकता है' क्योंकि प्रमाणका फल अज्ञान निवृत्तिरूप माना गया है इसलिए उसका कारण भी अज्ञान निवृत्त्यात्मक–ज्ञानात्मक होना चाहिए। अतः इन्द्रिय व सन्निकर्षादिक ज्ञानात्मक न होनेसे प्रमाके करण नहीं होसकते हैं।

तत्रांतर्लीनत्वाज्ज्ञानसनाथं प्रमाणमिदामिति चेत् ।
ज्ञानं प्रमाणमिति यत्प्रकृतं न कथं प्रतीयेत ॥ ७२६ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन करणादिकमें (अन्तर्लीनत्वात) ज्ञानको अंतर्लीन होनेसे (ज्ञान सनाथं) ज्ञानके द्वारा सहित (इदं) ये करणादिक (प्रमाण) प्रमाण हो जावेंगे (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो (ज्ञान प्रमाण) ज्ञानही प्रमाण है (इति) यह (यत्) जो (प्रकृतं) प्रकृत कथन है ('तत्') वह (कथं न प्रतीयेत) क्यों नहीं प्रतीतिका विषयभूत होजायगा अर्थात् माना जायगा ?

भावार्थः— यदि कदाचित् कहो कि प्रमाके करणरूप इन्द्रियोंको प्रमाण कहनेसे हमारा तात्पर्य इंद्रियादिकोंमें ज्ञानको अन्तर्लीन होनेसे ज्ञान सनाथ—चेतनात्मक इन्द्रियोंको प्रमाण कहनेसे है तो फिर इस कथनसे हमाराही कथन सिद्ध होता है। अतः हमारा यह प्रकृत कथनही क्यों नहीं मानलेते हो कि स्वपर व्यवसायात्मक ज्ञानही प्रमाण होता है। सारांश यह है कि ज्ञान सनाथ इन्द्रियोंको प्रमाण माननेसे सम्यग्ज्ञानकोही प्रमाण माननाही सिद्ध होजाता है ।

ननु फलभूतं ज्ञानं तस्य करणं भवेत्प्रमाणमिति ।
ज्ञानस्य कृतार्थत्वात् फलत्वमसिद्धमिदमिति चेत् ॥ ७२७ ॥

अन्वयार्थ— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (ज्ञानं) ज्ञान (फलभूतं) फलस्वरूप (तु) और [तस्यकरणं) ज्ञानका करण (प्रमाणं इति) प्रमाण यह (भवेत्) होवे क्योंकि यदि ज्ञानकोही प्रमाण माना जायगा तो (ज्ञानस्य) ज्ञानको (कृतार्थत्वात्) कृतार्थ हो जानेसे अर्थात् ज्ञानका प्रयोजन पूर्ण हो चुकनेसे (इदं फलवत्व) प्रमाणका यह फलवानपना (असिद्धं) असिद्ध होजायगा (इति चेत) यदि ऐसा कहोतो ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि इन्द्रिय प्रमाण है और ज्ञान प्रमाणका फल है । इसलिए इन्द्रियोंको प्रमाण और ज्ञानको प्रमाणका फल मानना ठीक है । क्योंकि ज्ञानकोही प्रमाण माननेसे प्रमाणके फलके अभावका प्रसंग आता है ।

नैवं यतः प्रमाणं फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ।
दृष्टिर्यथा प्रदीपः स्वयं प्रकाश्यः प्रकाशकश्च स्यात् ॥ ७२८ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यत.) क्योंकि (तत् ज्ञानं) वह ज्ञान रूप (प्रमाणं) प्रमाणही (स्वयं) स्वय (फलं) फल (च) तथा (फलवत्) फलवान् है (च) और (दृष्टि) इस विषयका दृष्टान्तभी यह है कि (यथा) जैसे (प्रदीपः) दीपक स्वयं (प्रकाश्यः) प्रकाश्य [च] तथा [प्रकाशक] प्रकाशक [स्यात्] होता है।

भावार्थः— शंकाकारका उक्तकथन ठीक नहीं है। क्योंकि प्रमाणशद्ब करणसाधन और भावसाधन दोनोही प्रकारका है इसलिए 'प्रमीयते अनेन प्रमाणं' अर्थात् जिससे जाना जाय इसप्रकार जो प्रमाणशद्ब करणसाधन है उसका अर्थ प्रमाका करणरूप ज्ञान प्रमाण है यह होता है। और 'प्रमितिमात्रं प्रमाणं' अर्थात केवल जाननेको—अज्ञान निवृत्यात्मक ज्ञानकोंही प्रमाण कहते है इसप्रकार जो प्रमाणशद्ब भावसाधन है उसका अर्थ अज्ञानकी निवृत्तीरूप प्रमाणका फल यह होता है। अत जैसे दीपकही स्वय प्रकाश्य हैं और प्रकाश माना जाता है। कुछ दीपकके प्रकाशके लिए अन्य दीपककी अपेक्षा नहीं करना पडती है। वैसेही ज्ञान स्वयंही प्रकाश्य तथा प्रकाशक है। उसके जाननेके लिये ज्ञानान्तरभूत प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करना पडती है। इसलिये ज्ञानकोही स्वयं फल व फलवान्रूप कहना युक्तियुक्त है। अथवा सम्यग्ज्ञानके उत्पन्न होने और अज्ञानके नाश होनेका एकही समय है। क्योंकि प्रमाणकी उत्पत्ति तथा अज्ञानकी निवृत्तिके दो समय नहीं है। इसलिए प्रामाण्यकी उत्पत्तिके सहित पनेका नाम प्रमाण और उसके हो नेसे जो तद्विषयक अज्ञानका नाश होजाता है उसका नाम प्रमाणका फल हैं।

इसप्रकार प्रमाणात्मक ज्ञानको कथंचित् स्वयंफल तथा फलवान्रूप युक्ति बाधित नहीं।

उक्तं कदाचिदिन्द्रियमथ च तदर्थेन सन्निकर्षयुतम् ।
भवति कदाचिज्ज्ञानं त्रिविधं करणं प्रमायाश्च ॥ ७२९ ॥
पूर्वं पूर्वं करणं तत्र फलं चोत्तरोत्तरं ज्ञेयम् ।
न्यायात्सिद्धमिदं चित्फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ॥ ७३० ॥

अन्वयार्थः— (कदाचित्) कदाचित (इन्द्रियं) इंद्रिय (अथ च) और कदाचित (तदर्थेन सन्निकर्षयुतं) अपने विषयके सन्निकर्षसहित इंद्रिय (च) तथा (कदाचित्) कदाचित (ज्ञानं) ज्ञान इसप्रकार (प्रमायाः) प्रमाका (करण) करण (त्रिविधं) तीनप्रकारका (उक्त) वैशे षकोंके यहां कहा है (तत्र)

उनमेंसे (पूर्व पूर्वं) पहले पहलेके (कारणं) कारण (च) और (उत्तरोत्तरं) आगे २ के (फलं) फल (ज्ञेय) जानना चाहिये इसलिए (न्यायात्) इसन्यायसे (इद सिद्धं) यह सिद्ध हुवा कि (चित्) ज्ञान (स्वयं) स्वयं (फलं) फल है (च) तथा (तत् ज्ञानं च) वह ज्ञानही स्वयं (फलवत्) फलवान है अर्थात् प्रमाणका फल माना जाता है।

भावार्थ — वैशेपिकोंके यहा प्रमाके करण तीन माने है। १ इन्द्रिय, २ सन्निकर्प सहित इन्द्रिय और ३ ज्ञान। इनमेंसे इन्द्रियका फल, सन्निकर्ष सहित इन्द्रिय तथा सन्निकर्प सहित इन्द्रियका फल, प्रमाण माना है। इसप्रकार जैसे वैशेपिकोंके यहा भी मध्यवर्ती करण, पूर्ववर्ती करणकी अपेक्षासे फलरूप, और अपने उत्तरवर्ती करणकी अपेक्षासे करणरूप पडजानेके कारण वह मध्यवर्ती करण, स्वयं करण व फलरूप माना जाता है वैसेही ज्ञान भी अज्ञाननिवृत्तिकी अपेक्षासे फलरूप और प्रामाण्यकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे प्रमाणरूप होजाता है। इसलिए प्रमाणात्मक ज्ञानही स्वयंफल व फलवान है ऐसा मानना युक्तियुक्त है।

तत्रापि यदा करणं ज्ञानं फलसिद्धि रस्ति नाम तदा।
अविनाभावेन चितो हानोपादानबुद्धिसिद्धत्वात् ॥ ७३१ ॥

अन्वयार्थः— (तत्रापि) वहांपरभी (यदा) जिससमय (ज्ञानं) ज्ञान (करण) करण होता है (तदा) उससमय (फलसिद्धि नाम अस्ति) फलसिद्धि है क्योंकि (अविनाभावेन) ज्ञानके साथ अविनाभावरूपसे (चितोहानोपादानबुद्धि सिद्धत्वात) चेतना हानोपादान ज्ञानरूप प्रसिद्ध है।

भावार्थः— जिससमय हम ज्ञानको करणरूपसे प्रमाण मानते हैं उससमय उस ज्ञानके साथ अविनाभाव रखनेवाला हेयके त्याग, उपादेयके ग्रहण और अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमाणका फल सिद्धही हो जाता है।

नाप्येतदप्रसिद्धं साधनसाध्यद्वयोः सदृष्टान्तात्।
न विना ज्ञानात्त्यागो भुजगादेर्वा स्रगाद्युपादानम् ॥ ७३२ ॥

अन्वयार्थ — (साधनसाध्यद्वयो.) साधन और साध्य इन दोनोंमें (सदृष्टांतात) दृष्टांत मिलजानेसे (एतत् अप्रसिद्धं अपि न) यह बात असिद्धभी नहीं है क्योंकि (ज्ञानात् विना) ज्ञानके विना (भु-

जगादेः) सर्प वगैरहका (त्यागः) त्याग (वा) और (स्रगाद्युपादानं) माला वगैरहका ग्रहण (न) नहीं होता है।

भावार्थः— प्रमाणके साथहीसाथ अज्ञानकी निवृतिरूप प्रमाणका फल, और हेयके त्याग व उपादेयके ग्रहणरूप प्रमाणका फल, असिद्ध नहीं कहा जासकता है। क्योंकि जबतक ज्ञान नहीं होता है तबतक सर्प आदि समझकर कोई छोडता नहीं है तथा माला समझकर कोई ग्रहण नहीं करता है अर्थात जैसे कि कोई व्यक्ति अंधेरी जगहमे जारहा है। रास्तेमें उसे कोई चीज दिखाई–दिखपडी। उसने उसे जाननेकी कोशिश की, कि यह क्या है। यदि उसकी समझमें आया कि यह तो सर्प है तो वह उसे जानतेही छोड देता है। और यदि उसकी समझमें आया कि यह तो पुष्पमाला है तो वह जानतेही उसे उठालेता है। इसलिए सिद्ध होता है कि ज्ञान और अज्ञाननिवृत्ति अथवा हानोपादन व उपेक्षा ये जो प्रमाणके–ज्ञानके फल (तीन फल) माने हैं वे (तीनोंही) युगपत् होजाते है। उनका कालभिन्न नहीं है। अतएव प्रमाणही स्वयफल तथा फलवान है यह कहना ठीक है।

उक्तं प्रमाणलक्षणमिह यदनार्हतं कुवादिभिः स्वैरम् ।
तल्लक्षणदोषत्वात्तत्सर्वं लक्षणाभासम् ॥ ७३३ ॥

अन्वयार्थ— (यत्] जो (इह) यहांपर (कुवादिभिः) कुवादियोंने (अनार्हतं) जैन निरूपित लक्षणके विना (स्वैर) स्वच्छन्दता पूर्वक (प्रमाणलक्षण) प्रमाणका लक्षण (उक्त) कहा है [तत्सर्वं] वह सब [तल्लक्षणदोषत्वात] प्रमाणके लक्षणके दोषपनेसे (लक्षणाभासं) लक्षणाभास है।

भावार्थः— इसप्रकार अन्यलोगोंके द्वारा मानेहुए प्रमाणके लक्षण, अव्याप्ति आदि लक्षण सम्बन्धी दोषोंसे युक्त होनेके कारण यथार्थ लक्षण नहीं है किन्तु लक्षणाभास है।

स यथा चेत्प्रमाणं लक्ष्यं तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
अव्याप्तिको हि दोषः सदेश्वरे चापि तदयोगात् ॥ ७३४ ॥

अन्वयार्थः— (स यथा) उसका खुलासा इसप्रकार है कि जैसे (चेत) यदि (प्रमाणं) प्रमाणको

---

१ 'मल्लक्षण' मूल पुस्तकमें ऐसा पाठ है।

(लक्ष्यं) लक्ष्य और (प्रमाकरण) प्रमाके करणको (तल्लक्षणं) उसका लक्षण माना जाय तो (हि) निश्चय करके (अव्याप्तिक: दोष) अव्याप्ति नामक दोष आता है क्योंकि (ईश्वरे सदाऽपि च) प्रमाणभूत ईश्वरके सदैव रहनेपरभी उसमें (तद्योगात्) ' प्रमाकरण प्रमाण , यह प्रमाणका लक्षण नहीं घटता है ।

भावार्थ.— पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि प्रमाके करणको प्रमाण मानना अव्याप्ति दोषसे दूषित है । कारणकि उनके प्रसिद्ध उदयनाचार्यके मतमें ईश्वरको प्रमाण तो माना है । परतु उसे प्रमाका करण न मानकर अधिकरण माना है । इसलिए प्रमाणका ' प्रमाकरण ' यह लक्षण उनकेही अभिमत ईश्वररूप प्रमाणमें नहीं जानेसे अव्याप्ति दोषसे दूषित होनेके कारण अलक्षण है ।

योगिज्ञानेपि तथा न स्यात्तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
परमाण्वादिषु नियमान्न स्यात्तत्सान्निकर्षश्च ॥ ७३५ ॥

अन्वयार्थ:—(तथा) तथा (योगिज्ञानेऽपि) योगियोंके ज्ञानमेभी (प्रमाकरणं) प्रमाका करण रूप (तल्लक्षणं) प्रमाणका लक्षण (न स्यात्) नहीं जाता है क्योंकि (नियमात्) नियमसे (परमाण्वादिषु) परमाणु वगैरह सूक्ष्म पदार्थोंमें (तत्सन्निकर्षश्च) इंद्रियोंका सन्निकर्षभी (न स्यात्) नहीं होता है ।

भावार्थ:— वैशेषिकोंनें योगियोंके ज्ञानको प्रमाण माना है । और यह भी माना है कि वे योगी परमाणु आदि सूक्ष्मपदार्थोंको अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष सामर्थ्यसे जानते हैं । इन्द्रिय प्रत्यक्षसे नहीं । अत योगियोके ज्ञानमें प्रमाकरणरूप प्रमाणका लक्षण नहीं जाता है—नहीं घटता है । क्योंकि उनके यहा इन्द्रिय सन्निकर्षादिकको प्रमाका करण मानागया है । और इंद्रियोंका, परमाणु आदि सूक्ष्म इंद्रिय अगोचर पदार्थोंके साथ, सन्निकर्ष हो नही सकता है इसलिए प्रमाकरणरूप प्रमाणका लक्षण प्रमाणभूत योगि प्रत्यक्षमें न जानेसेभी अव्याप्ति दोषसे दूषित है ।

इसप्रकार प्रमाकरणरूप प्रमाणके लक्षणमें अव्याप्ति दोष बताकर आगे वेदको प्रमाण माननेके विषयमें विचार करतें है ।

वेदाः प्रमाणमत्र तु हेतुः केवलमपौरुषेयत्वम् ।
आगमगोचरताया हेतोरन्याश्रितादहेतुत्वम् ॥ ७३६ ॥

अन्वयार्थ — (वेदाः प्रमाणं) वेद प्रमाण है (अत्र) यहांपर (केवलं) केवल (अपौरुषेयत्व-हेतु) अपौरुषेयपना हेतु है (तु) किंतु (हेतोः) अपौरुषेयरूप हेतुको (आगमगोचरतायाः) आगम गोचर होनेसे (अन्याश्रितात्) अन्याश्रित है इसलिए वह (अहेतुत्वं) समीचीन हेतु नहीं है।

भावार्थः— वेदोंको प्रमाण माननेवाले वेदोंकी प्रमाणतामें अपौरुषेयत्व हेतु बताते हैं अर्थात् उनका यह कहना है कि पुरुष राग द्वेषसे दूषित होते हैं। अतः पुरुषोंके द्वारा निरुपित पदार्थका स्वरूप प्रमाणीक नहीं कहा जासकता है। किंतु जो पुरुषोंके द्वारा प्रतिपादित न हो वही प्रमाणीक होसकता है। वेद अपौरुषेय है इसलिए वही प्रमाण है। इसप्रकार अपौरुषेयत्व हेतुसे वे वेदमें प्रमाणता सिद्ध करते हैं। परन्तु यहापर वेदकी प्रमाणीकतामें जो अपौरुषेयत्व हेतु दिया है वह उनके आगमसेही सिद्ध है युक्तिसे नहीं। इसलिए वह अपौरुषेयत्व हेतु आगमके आश्रित होनेसे अन्याश्रित-आगमाश्रित हैं। और अन्याश्रित होनेसे समीचन हेतु नहीं कहा जासकता है। कारण कि अपने २ अनुयायी वर्गही आगम प्रमाणको प्रमाण माननेके लिए वाध्य होतें हैं इतर नहीं। क्योंकि सर्वसाधारण तो युक्तिसिद्ध कथनकोही प्रमाण माननेके लिए वाध्य किये जासकते है साराश यह है कि अपौरुषेयत्व हेतु आगमाश्रित होनेसे स्याद्वादियोंके प्रति असिद्ध हैं।

एवमनेकविधं स्यादिह मिथ्यामतकदम्बकं यावत।
अनुपादेयमसारं वृद्धैः स्याद्वादवेदिभिः यावत ॥ ७३७ ॥

अन्वयार्थः— (एव) इसीप्रकार (इह) यहांपर (यावत) जितनेभी (अनेकविध) नानाप्रकारके (मिथ्यामतकदम्बकं) मिथ्यामतोंके समूह (स्यात्) है वे सब (समयात्) समयानुसार (स्याद्वादवेदिभिः) स्याद्वादके जाननेवाले (वृद्धै) वृद्ध पुरुषोंके द्वारा (असारं) असार और (अनुपादेयं) अनुपादेय है।

भावार्थः— इसप्रकार यहापर जितने भी मिथ्या मत है वे सब सिद्धान्तानुसार अनुभवी वृद्ध स्याद्वादियोंके द्वारा असार व अनुपादेय बताये गए है।

उक्तं प्रमाणलक्षणमनुभवगम्यं यथागमज्ञानात्।
अधुना निक्षेपपदं संक्षेपाल्लक्ष्यते यथालक्ष्म ॥ ७३८ ॥

अन्वयार्थः— [**अनुभवगम्यं**] अनुभवके द्वारा जाननेके योग्य (**यथाऽऽगमज्ञानात्**) आगमज्ञानानुसार (**प्रमाणलक्षण**) प्रमाणका लक्षण (**उक्तं**) कहा (**अधुना**) अब इससमय (**संक्षेपात्**) संक्षेपसे (**यथालक्ष्म**) लक्षणके अनुसार (**निक्षेपपदं**) निक्षेप पद (**लक्ष्यत**) कहा जाता है।

भावार्थ.— इसप्रकार ६६४ वें पद्यसे लेकर ७३७ वें पद्यतक आगमके अनुसार अनुभवमें आने योग्य प्रमाणके लक्षणका निरूपण किया। अब आगे संक्षेपसे लक्षणके अनुसार निक्षेपके स्वरूपादिकका कथन किया जाता है अर्थात् निक्षेपका स्वरूप कहा जाता है।

ननु निक्षेपो न नयो नच प्रमाणं न चांशकं तस्य।
पृथगुद्देश्यत्वादपि पृथगिव लक्ष्यं स्वलक्षणादिति चेत ॥ ७३९ ॥

अन्वयार्थ— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**निक्षेप.**) निक्षेप (**न नयः**) न तो नय है (**च**) और (**न प्रमाणं**) न प्रमाण है (**च**) तथा (**न तस्य अंशकं**) न प्रमाण व नयका अंश है (**अपि**) किंतु (**पृथगुद्देश्यत्वात्**) निक्षेपका पृथक् उद्देश होनेसे (**स्वलक्षणात्**) अपने लक्षणसे वह (**पृथक् इव लक्ष्यं**) पृथक्ही लक्षित है (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहोतो।

भावार्थः— प्रमाण, नय और निक्षेप पदार्थके स्वरूप जाननेमें आवश्यक होते है। उनमेसे नय तथा प्रमाणके लक्षणका निरूपण किया जाचुका है। किन्तु निक्षेपके लक्षणका निर्देश नहीं किया है। इसलिए शंकाकारकी शंका है कि निरपेक्ष न तो नय है और न प्रमाण है तथा न नय व प्रमाणका अंशही है। किन्तु उसका निर्देश पृथक् होनेसे वह नय प्रमाणके लक्ष्यसे भिन्न लक्ष्यवाला है। अतः उसका लक्षण कहना चाहिये।

उत्तर (निरपेक्षका लक्षण)

सत्यं गुणसाक्षेपो सविपक्षः स च नयः स्वयांक्षिपति।
य इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः ॥ ७४० ॥

अन्वयार्थः— (**सत्यं**) ठीक है किंतु (**गुणसापेक्ष.**) गुणोंकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेवाला (**च**) और (**सविपक्षः**) विपक्षकी अपेक्षा रखनेवाला (**यः**) जो [**नयः**] नय है [**सः**] वह नय (**स्वयं**

क्षिपति) जिसका स्वयं क्षेप करता है अर्थात् इसप्रकारका (यः) जो (इह) यहांपर (केवलं उपचरितः गुणाक्षेप स्यात्) केवल उपचरित गुणका आक्षेप है (सः निक्षेपः) वह निक्षेप कहलाता है ।

भावार्थः— नय और निक्षेपमें विषयविषयीभाव सम्बन्ध है । इसलिए निक्षेपका लक्षण करते समय ग्रन्थकारने श्लोकके पूर्वार्धमें सविपक्ष और गुणसापेक्षरूप नयके स्वयक्षेपको निक्षेपका निरुक्त्यर्थ वताया है । और उत्तरार्ध में उक्त निरुक्तिका साराश वताया है कि नयोंके केवल उपचरित गुणाक्षेपको निक्षेप कहते हैं अर्थात् नाम स्थापना, द्रव्य और भावरूपसे जो नयोंके द्वारा पदार्थोंमे एकप्रकारका आरोप किया जाता है उसे निक्षेप कहते है । जैसे लोकव्यवहारके लिए जिनसम्बन्धी गुणोंकी अपेक्षा न करके किसीका जिननाम रखलेनेको नाम निक्षेप कहते है । जिनके समान आकारादिवाली मूर्तिमें जिनभगवानकी "यह वेही जिन है" इसप्रकारकी बुद्धिपूर्वक स्थापना करनेको स्थापना निक्षेप कहते है । तथा साक्षात् जिनपर्यायके उन्मुख छद्मस्थवीतराग जिनके जीवको जिन कहकर पूजनेको द्रव्यनिक्षेप कहते है । और समवशरणमें विराजमान साक्षात् जिनभगवानकोही जिन कहनेको भावनिक्षेप कहते है ।

निक्षेपोंके भेद ।

निक्षेपः स चतुर्धा नाम ततः स्थापना ततो द्रव्यम् ।
भावस्तल्लक्षणमिह भवति यथा लक्ष्यतेऽधुना चार्थात् ॥ ७४१ ॥

अन्वयार्थः-- (स निक्षेपः) वह निक्षेप [नाम] नाम (ततः) उसके बाद (स्थापना) स्थापना (द्रव्यं) द्रव्य (च) और (भावः) भाव इसतरह [चतुर्धा] चारप्रकारका है (अधुना) अब (इह) यहांपर [अर्थात्] अर्थसे [तल्लक्षणं] उन चारोंही निक्षेपोंका लक्षण [यथा भवति] जिसप्रकारसे है [तथा लक्ष्यते] उस प्रकारसे कहा जाता है ।

भावार्थ — नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे वह निक्षेप चार प्रकारका है । अब आगे उन चारोंही निक्षेपोंका लक्षण कहा जाता है ।

नाम और स्थापना निक्षेपका लक्षण ।

वस्तुन्यतद्गुणे खलु संज्ञाकरणं जिनो यथा नाम ।
सोऽयं तत्समरूपे तद्बुद्धिः स्थापना यथा प्रतिमा ॥ ७४२ ॥

अन्वयार्थ — (खलु) निश्चयकरके (अतद्गुणे वस्तुनि) अतद्गुण वस्तुमें (संज्ञाकरण) व्यवहारके लिए संज्ञा करना (नाम) नाम निक्षेप है (यथा) जैसे (जिनः) किसीका नाम जिन रखलेना और (तत्समयरूपे) उसीके समानरूपवाली वस्तुमें (सोऽयं) यह वही है इसप्रकारकी (तद्बुद्धि) उसीकी बुद्धि होना (स्थापना) स्थापना निक्षेप है (यथा) जैसेकि (प्रतिमा) जिनेंद्रकी प्रतिमा अर्थात् जिनेंद्रकी प्रतिमामें जिनेंद्रकी बुद्धिका होना स्थापना निक्षेप है।

भावार्थः— अतद्गुण वस्तुमें व्यवहारके लिए जो संज्ञा कीजाती है उसको नामनिक्षेप कहते हैं जैसे किसी-का नाम जिन रखलेना। और समानरूपवाली वस्तुमें यह वही है इसप्रकारकी बुद्धिको स्थापना निक्षेप कहते हैं जैसे जिनेन्द्रकी प्रतिमामें 'ये वे ही जिनभगवान हैं' इसप्रकारकी बुद्धिपूर्वक जिनेंद्र भगवानकी स्थापना करना। किन्तु स्थापना निक्षेपमें पूज्यापुज्य व्यवहार होता है यही नाम और स्थापना निक्षेपमें अन्तर है।

द्रव्यनिक्षेपका लक्षण।

ऋजुनयानिरपेक्षतया, सापेक्षं भाविनैगमादिनैय.।
छद्मस्थोजिनजीवो जिन इव मान्यो यथात्र तद्द्रव्यम् ॥ ७४३ ॥

अन्वयार्थः— (ऋजुनयनिरपेक्षतया) ऋजुसूत्रनयकी उपेक्षासे और (भाविनैगमादिनयैः सापेक्षं) भावि नैगमादिक नयोंकी अपेक्षासे जो कहा जाता है (तत् द्रव्यं) वह द्रव्यनिक्षेप है (यथा) जैसेकि (अत्र) यहांपर (छद्मस्थः जिनजीव) छद्मस्थ जिनजीव (जिन इव मान्यः) जिनकी तरह मान्य है।

भावार्थ — ऋजुसूत्रनयका विषय वर्तमान है तथा भाविनैगम नयका विषय होनेवाला है। और आदि शब्दसे यहापर भूतनैगम नयका ग्रहण किया है। उसका विषय भूतकालीन विषय होता है। इन तीनों नयोंके विषयोंमे ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा न करके भूत व भावी नैगमनयकी अपेक्षासे होचुके तथा होनेवालेको वर्तमानमें कहना द्रव्यनि-क्षेप है जैसेकि छद्मस्थ अवस्थामें वर्तमान जिनके जीवको जिन कहना अथवा सिद्धोंको जिन कहना द्रव्य निक्षेप कहलाता है।

तत्पर्यायो भावो यथा जिनः समवशरणसंस्थितिकः।
घातिचतुष्टयरहितो ज्ञानचतुष्टययुतो हि दिव्यवपुः ॥ ७४४ ॥

अन्वयार्थः— (तत्पर्यायतः भावः) तत्पर्यायवाला भाव कहलाता है अर्थात जो पदार्थ जिससमय जिसपर्यायसे सहित उस पदार्थको उस समय उसी पर्यायवाला कहना भावनिक्षेप है (यथा हि) जैसे (समवशरणसंस्थितिकः) समोशरणमें है स्थिति जिनकी ऐसे तथा (घातिचतुष्टयरहितः) चार घातिया कर्मोंसे रहित (ज्ञानचतुष्टययुतः) अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयोंसे युक्त और (दिव्यवपुः) दिव्य परमौदारिक देहधारी (जिनः) जिनकोही 'जिन' कहना।

भावार्थ — जिससमय जिसपदार्थकी जो पर्याय हो उससमय उस पदार्थको उस पर्यायवाला कहना भावनिक्षेप कहलाता है जैसे घातिया कर्मोंके नाश करनेवाले अनन्त चतुष्टयसहित और परम दिव्य औदारिक देहधारी समवशरणमें विराजमान अरहंत भगवानकोही 'जिन' कहना।

इसप्रकार नाम, स्थापना द्रव्य और भावनिक्षेपकी अपेक्षासे चार प्रकारसे जिन, 'जिन' कहे जाते है। ये चारोंही निक्षेप नयके विषय होते हैं। नाम, स्थापना तथा द्रव्यनिक्षेप द्रव्यार्थिक नयके विषय होते है। और भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नयका विषय होता है। कारण कि नाम, स्थापना और द्रव्यनिक्षेपमें नयोंके द्वारा पुरे द्रव्यका निक्षेप किया जाता है। तथा भावनिक्षेपमें ऋजुसूत्रनयके द्वारा केवल पर्यायका निक्षेप किया जाता है। अतः नामादिक तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नयके विषय माने गये हैं। और भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नयका विषय माना गया है।

णाम जिणा जिणणामा ठवण जिणा जिणिंद पडिमाए।
दव्व जिणाजिण जीवा भावजिणा समवसरणत्था॥ १॥

अन्वयार्थः—(जिणणामा) जिननामक व्यक्ति (णामजिणा) नाम जिन है (जिणिंद पडिमाए) जिनेंद्र प्रतिमायें (ठवणजिणा) स्थापना जिन है (जिणजीवा) जिन होनेवाले जीव (दव्वजिणा) द्रव्य जिन है और (समवसरणत्था) समोशरणमें स्थित साक्षात जिन (भावजिणा) भाव जिन है।

दिङ्मात्रमत्र कथितं व्यासादपि तच्चतुष्टयं यावत्।
प्रत्येकमुदाहरणं ज्ञेयं जीवादिकेषु चार्थेषु॥ ७४५॥

---

१ सूत्रानुसार नैगम, संग्रह, व्यवहारको द्रव्यार्थिक और शेषको पर्यायार्थिक नय कहते हैं किंतु अध्यात्मवादसे तीनों-ही नय व्यवहारनय है।

अन्वयार्थ— (अत्र) यहांपर (दिङ्मात्रं) सामान्यरूपसे (तच्चतुष्टयं यावत्) नामादिक चारों निक्षेपोंका (कथितं) कथन किया (अपि च) और (व्यासात्) विस्तारसे (जीवादिकेषु अर्थेषु) जीवादिक अर्थोंमेंभी (प्रत्येकं उदाहरण ज्ञेय) प्रत्येकके उदाहरण समझना चाहिये।

भावार्थः— इसप्रकार अतिसंक्षेपसे दृष्टान्तके द्वारा निक्षेपके स्वरूपका वर्णन किया विशेषरूपसे चाराहों प्रकारके निक्षेप जीवादिक सप्तपदार्थोंमें मय उदाहरणोंके लगालेना चाहिए।

उक्तं गुरूपदेशान्नयनिक्षेपप्रमाणमिति तावत्।
द्रव्यगुणपर्ययाणामुपरि यथासंभवं दधाम्युधुना ॥ ७४६ ॥

अन्वयार्थ —(इति) इसप्रकार (नय निक्षेप प्रमाणं तावत्) नय निक्षेप और प्रमाणका स्वरूप तो (उक्त) कहा (अधुना) अब इससमय (गुरूपदेशात्) गुरुके उपदेशानुसार (द्रव्यगुणपर्ययाणां) द्रव्य गुण और पर्यायोंके (उपरि) ऊपर (यथासंभवं) यथायोग्य (दधामि) नय प्रमाणको लगाते है अर्थात् द्रव्य गुण तथा पर्यायोंमेंमे नय और प्रमाणके कौन कैसे विषय होते है यह घटाते है।

भावार्थ— इसप्रकार नय, प्रमाण और नयके विषयभूत निक्षेपोंके स्वरूपका वर्णन करके अब आगे द्रव्यगुण तथा पर्यायोंमेंसे नय और प्रमाण किस २ को विषय करते है इसको बताते है।

तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य भवति मतम् ॥।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम् ॥ ७४७ ॥

अन्वयार्थः— (तत्वं अनिर्वचनीयं) तत्व अनिर्वचनीय है यह (शुद्धद्रव्यार्थिकस्य) शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका (मतं भवति) पक्ष है और (गुणपर्ययवत् द्रव्यं) गुणपर्यायवाला द्रव्य है (अयं) यह (पर्यायार्थिक नयस्य) पर्यायार्थिक नयका (पक्षः) पक्ष है।

भावार्थः— तत्व अनिर्वचनीय है यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका विषय हैं। और द्रव्य गुणपर्यायवाला है यह पर्यायार्थिक नयका विषय है अर्थात् अभेदमात्र द्रव्यार्थिक नयका तथा भेदमात्र पर्यायार्थिक नयका विषय माना है।

यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्ययवत्तदेव नास्त्यन्यत् ।
गुणपर्ययवद्यादिदं तदेव तत्वं तथा प्रमाणमिति ॥ ७४८ ॥

अन्वयार्थः— (यत् इदं अनिर्वचनीयं) जो यह अनिर्वचनीय है (तदेव) वही (गुणपर्ययवत् - गुण पर्ययवाला द्रव्य है, (अन्यत् नास्ति) दूसरा कुछ नहीं है (तथा) तथा (यत् इदं) जो यह (गुण पर्ययवत्) गुण पर्ययवाला द्रव्य है (तदेव) वही (तत्वं) तत्व है (इति) इसप्रकारसे सामान्य विशेषको विषय करनेवाला (प्रमाणं) प्रमाण है ।

भावार्थः— तथा जो तत्व अनिर्वचनिय है वही गुणपर्यायवाला है । अथवा जो तत्व, गुणपर्यायवाला है वही अनिर्वचनीय तत्व है इसप्रकार जोडरूप युगपत उभयको विषय करना प्रमाणका पक्ष है ।

स्पष्टीकरण ।

यद्‌द्रव्यं तन्न गुणो योपि गुणस्तन्न द्रव्यमिति चार्थात् ।
पर्यायोपि यथा स्यातृजुसूत्रनयपक्षः स्वपक्षमात्रत्वात् ॥ ७४९ ॥
यादिदं द्रव्यं स गुणो योपि गुणो द्रव्यमेतदेकार्थात् ।
तदुभयपक्षे दक्षो विवक्षितः प्रमाणपक्षोऽयम् ॥ ७५० ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (यथा) जैसे (यत् द्रव्य) जो द्रव्य है (तन्न गुणः) वह गुण नहीं है (अपि) और (यः) जो (गुण) गुण है (तत् द्रव्यं च न) वह द्रव्यभी नहीं है (' तथा ') वैसेही (पर्यायोऽपि) पर्यायभी पर्यायही है द्रव्यगुण नहीं है (इति) यह (स्वपक्षमात्रत्वात्) केवल अपने पर्यायरूप पक्षको विषय करनेसे (ऋजुसूत्रनयपक्षः स्यात्) ऋजुसूत्रनयका पक्ष है और (एकार्थत्वात्) द्रव्य गुणका एकार्थ होनेसे (यत् इदं द्रव्य) जो यह द्रव्य है (स गुणः) वही गुण है (अपि) तथा (यः गुण) जो गुण है (एतत् द्रव्यं) वही द्रव्य है यह द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है तथा (तदुभयपक्षे दक्षः) उन दोनों पक्षोंके विषय करनेमें समर्थ (विवक्षितः) विवक्षित जो पक्ष है वह (अयं) यह (प्रमाणपक्षः) प्रमाणका पक्ष है ।

भावार्थः— जैसे जो द्रव्य है वह गुण नहीं है। और जो गुण है वह द्रव्य नहीं है। किन्तु गुण, गुणही है तथा द्रव्य, द्रव्यही है। वैसेही जो पर्याय है वह पर्यायही है द्रव्य व गुण नहीं है यह पक्ष (विषय) अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्यायको पृथक् २ मानकर केवल पर्यायमात्रको विषय करना ऋजुसूत्र नयका पक्ष है—विषय है। तथा जो द्रव्य है वही गुण है और जो गुण है वही द्रव्य है। क्योंकि 'गुणसमुदायो द्रव्यं' इस सिद्धान्तमें यावत् गुणोंकोही द्रव्य कहा है। इसलिए गुणद्रव्य परस्परमें भिन्न नहीं है। किन्तु उक्तप्रकारसे एकही अर्थवाले हैं। अतएव गुण तथा द्रव्यको एक कहना द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है—विषय है। और इन दोनों नयोंके पक्षोंको युगपत् विषय करना प्रमाणका पक्ष है।

पृथगादानमशिष्टं निक्षेपो नयविशेष इव यस्मात्।
तदुदाहरणं नियमादस्ति नयानां निरूपणावसरे॥ ७५१॥

अन्वयार्थ— (यस्मात्) जिस कारणसे (निक्षेप) निक्षेप (नय विशेष इव) नय विशेषके समान है ति कारणसे (पृथगादानं अशिष्टं) निक्षेपका पृथक् ग्रहण करके निरूपण करना योग्य नहीं है क्योंकि (नयानां निरूपणावसरे) नयोंके निरूपणके अवसरमें अर्थात् नयोंका निरूपण करते समय (नियमात्) नियमसे (तदुदाहरण अस्ति) निक्षेपके उदाहरण रहते है।

भावार्थः— प्रमाण और नयके समान निक्षेपोंका पृथक् वर्णन करना ठीक नहीं है। कारणकि विशेषरीतिसे नयोंके उदाहरणके निरूपण करतेसमय नयविशेषके समान निक्षेपोंकाभी निरूपण हो जाता है अर्थात नयोंके वर्णनमें गर्भित होजाता है। अतः निक्षेपोंका पृथक् वर्णन करना उपयुक्त नहीं है।

अब आगे चार पद्यों द्वारा व्यवहार नयके अन्तर्गत अनेक व एक नयका तथा द्रव्यार्थिक नयका स्वरूप बताकर दोनोंके युगपत् ग्रहण करनेसे प्रमाण होता है यह बताते है।

अस्ति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्यायस्तत्त्रयं मिथोऽनेकम्।
व्यवहारैकविशिष्टो नयः स वाऽनेकसंज्ञको न्यायात्॥ ७५२॥

अन्वयार्थः— (द्रव्यं) द्रव्य (गुणः) गुण (अथवा) अथवा (पर्याय) पर्याय ये तीनों अपने २ स्वरूपसे (अस्ति) है (अत) इसलिए (त्रयं) ये तीनों (मिथो वा) परस्परमेंभी (अनेकं) अनेक है इसप्रका-

ऐसे (व्यवहारैकविशिष्टः नयः) केवल एक व्यवहार विशिष्ट जो नय है अर्थात व्यवहारके अन्तर्गत जो नय है (सः) वह (न्यायात) न्यायानुसार (अनेकसंज्ञकः) अनेकताको प्रतिपादन करनेके कारण अनेकसंज्ञक नय है।

भावार्थः— जो नय, द्रव्य है, गुण है, पर्याय है, इसप्रकारसे द्रव्य, गुण और पर्यायोंको भिन्न २ प्रतिपादन करता है वह व्यवहारनयके अन्तर्गत अनेक नय कहलाता है।

एकं सदिति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्ययोऽथवा नाम्ना ।
इतरद्वयमन्यतरं लब्धमनुक्तं स एकनयपक्षः ॥ ७५३ ॥

अन्वयार्थः— (नाम्ना) नामके द्वारा चाहे (द्रव्यं) द्रव्य हो (अथवा) अथवा (गुणः) गुण हो (अथवा) अथवा (पर्ययः) पर्याय हो किंतु सामान्यसे वह (एकं सत्) एक सतही है (इति) इसलिए तीनोंमेंसे किसी एकके कहनेपर (अनुक्तं) नहीं कहे गये (अन्यतरं इतरद्वयं) शेष दो (लब्धं) लब्ध होजाते है इसप्रकार जो सतको एक कहता है (सः) वह (एकनयपक्षः) एक नयका पक्ष है।

भावार्थ — द्रव्य गुण व पर्याय ये तीनोंही एक सत् है ऐसा कहनेवाला जो नय है वह व्यवहारनयके अन्तर्भूत एक नय है। क्योंकि इन तीनोंमेंसे किसी एकके कहनेसे अर्थात् द्रव्यको, गुणको अथवा पर्यायको सत कहनेसे इतर-शेष दो का विना कहेही ग्रहण होजाता है। इसलिए एकपनेका कहनेवाला होनेसे यह नय व्यवहारान्तर्गत नयोंमेंसे एक नय कहलाता है।

न द्रव्यं नापि गुणो नच पर्यायो निरंशदेशत्वात् ।
व्यक्तं न विकल्पादपि शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतमेतत् ॥ ७५४ ॥

अन्वयार्थः— (निरंशदेशत्वात्) वस्तुको अखंडरूप होनेसे (न द्रव्यं) न द्रव्य है [अपि] और (न गुणः) न गुण है (च) तथा (न पर्यायः) न पर्याय है और (न विकल्पात् व्यक्तं अपि) न वह वस्तु

नोट:—अध्यात्म परिमाणसे सातोंही नय व्यवहार कहलाता हैं अतः यहांपर संग्रहनयको व्यवहारान्तर्गत एक नय कहा है।

किसी विकल्पसे व्यक्तभी हो सकती है (एतत्) यह (शुद्ध द्रव्यार्थिकस्य मत) शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका मत है– पक्ष है ।

भावार्थः— न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है और न कोई विकल्पही है । इसप्रकार 'नेत्येतावन्मात्रः' जो निश्चयनयका लक्षण कहा है तदनुसार यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है ।

द्रव्यगुणपर्ययाख्यैर्यदनेकं सद्विभिद्यते हेतोः ।
तदभेद्यमनंशत्वादेकं सदिति प्रमाणमतमेतत् ॥ ७५५ ॥

अन्वयार्थः– (हेतो) युक्तिके वशसे (यत् सत्) जो सत् (द्रव्यगुणपर्ययाख्यैः) द्रव्य, गुण और पर्यायोंके नामसे (अनेकं) अनेक रूपसे (विभिद्यते) भिन्न किया जाता है (तत् सत्) वही सत् (अनंशत्वात्) अंश रहित होनेसे (अभेद्यं एकं) अभेद्य एक है (इति एतत्) इसप्रकार यह (प्रमाणमतं) प्रमाणका पक्ष है ।

भावार्थः— युक्तिपूर्वक जो सत् द्रव्य गुण तथा पर्यायोंकी अपेक्षासे अनेक कहा गया था वही सत् अंशरहित होनेसे अभेद्य व एकही है इसप्रकार युगपत एकानेकको विषय करना प्रमाणका पक्ष है ।

अब आगे–चार पद्योंके द्वारा व्यवहारनयके अन्तर्गत अस्ति तथा नास्ति नयके स्वरूपको बतानेके साथ २ इस दोनों विकल्पोंसे रहित शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके स्वरूपको बताकरके उभय नयोंके विषयको प्रमाण कैसे विषय करता है । इसको बताते है ।

अपि चास्ति सामान्यमात्रादथवा विशेषमात्रत्वात् ।
अविवक्षितो विपक्षो यावदनन्यः स तावदस्तिनयः ॥ ७५६ ॥

अन्वयार्थः— (अपि च) तथा जो (सामान्यमात्रात्) सामान्यमात्रसे (अथवा) अथवा (विशेषमात्रत्वात्) विशेषमात्रसे (अस्ति) है उसमें (यावत्) जबतक (विपक्षः) विपक्ष (अविवक्षितः) अविवक्षित रहता है (तावत्) तबतक (सः अनन्यः) वह एक (अस्तिनयः) अस्तिनय कहलाता है ।

भावार्थः— सामान्यविशेषात्मक वस्तुमें जिससमय विशेषको गौण करके केवल सामान्यकी विवक्षा होती

यदिदं नास्तिस्वरूपाभवादास्ति स्वरूपसद्भावात् ।
तद्वाच्यात्ययरचितं वाच्यं सर्वं प्रमाणपक्षस्य ॥ ७५९ ॥

अन्वयार्थः— [यत्] जो (इदं) यह (स्वरूपाभावात्) स्वरूपके अभावसे (नास्ति) नहीं है और (स्वरूपसद्भावात्) स्वरूपके सद्भावसे (अस्ति) है (तत्) वही (वाच्यात्ययरचितं) वाच्यात्यय रचित है—निर्विकल्प है (' इति ' सर्वं) यह सब (प्रमाणपक्षस्य) प्रमाणपक्षका (वाच्यं) वाच्य है ।

भावार्थः— जो वस्तुस्वरूपकी अपेक्षासे अस्तिरूप और स्वरूपके अभावकी अपेक्षासे अर्थात् परस्वरूपसे नास्तिरूप है वही वस्तु अनिर्वचनीय है इसप्रकार जोडरूपसे युगपत् दोनों पक्षोंको प्रमाणपक्ष कहता है ।

उत्पद्यते विनश्यति सदिति यथास्वं प्रतिक्षणं यावत् ।
व्यवहारविशिष्टोऽयं नियतमनित्यो नयः प्रसिद्धः स्यात् ॥ ७६० ॥

अन्वयार्थः— [सत् इति] सत् यह [यथास्वं] यथायोग्य [प्रतिक्षणं यावत्] प्रत्येक समयमें (उत्पद्यते) उत्पन्न होता है तथा (विनश्यति) विनष्ट होता है (अयं) यह [नियतं] निश्चयसे [व्यवहार-विशिष्टः] व्यवहारविशिष्ट [प्रसिद्धः] प्रसिद्ध [अनित्यः नयः स्यात्] अनित्यनय है ।

भावार्थ— सत्को प्रतिसमय यथायोग्य नयविवक्षावश पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे उत्पन्न तथा नष्ट होने-वाला कहना व्यवहारान्तर्गत प्रसिद्ध अनित्यनय है ।

नोत्पद्यते न नश्यति ध्रुवमिति सस्यादनन्यथावृत्तेः ।
व्यवहान्तरभूतो नयः स नित्योऽप्यनन्यशरणः स्यात् ॥ ७६१ ॥

अन्वयार्थः— (अन्यथावृत्तेः) अन्यथावृत्ति न होनेसे (सत् इति) सत् यह (न उत्पद्यते) न उत्पन्न होता है (न नश्यति) न नष्ट होता है किंतु (ध्रुवं स्यात्) ध्रुव है इसप्रकारका जो कथन है (सः अपि) वहभी (व्यवहारान्तर्भूतः) व्यवहारनयके अन्तर्भूत (अनन्यशरणः) अनन्यशरण (नित्यः नयः स्यात्) नित्य नय है ।

भावार्थः— द्रव्यार्थिक नयसे सत्में उत्पादव्यय कुछभी विवक्षित नहीं होते है । किन्तु सदा अनन्यथावृत्ति

है अथवा सामान्यको गौण करके केवल विशेषकी विवक्षा होती है उससमय विपक्षकी विवक्षा न करके केवल सामान्य न विशेषकी अपेक्षासे वस्तुके अस्तित्वका जो निरुपण किया जाता है वह व्यवहारान्तर्गत नयोंमेसे अस्तिनय कहलाता है।

नास्ति च तदिह विशेषैः सामान्यस्य विवक्षितायां वा।
सामान्यैरितरस्य च गौणत्वे सति भवति नास्तिनयः ॥ ७५७ ॥

अन्वयार्थः— (च) और (इह) यहांपर (तत्) वस्तु (**सामान्यस्य विवक्षितायां**) सामान्यकी विवक्षामें (**गौणत्वे सति**) विशेषधर्मकी गौणता होनेपर (**विशेषैः**) विशेष धर्मोंके द्वारा (**नास्ति**) नहीं है (**वा**) अथवा (**इतरस्य विवक्षितायां**) इतरकी विवक्षामें—विशेषकी विवक्षामें सामान्य धर्मकी गौणता होनेपर (**सामान्यैः नास्ति**) सामान्य धर्मोंके द्वारा नहीं है इसप्रकार जो कथन है वह (**नास्तिनयः**) नास्तिनय (**भवति**) है।

भावार्थः— वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। इसलिए जिससमय सामान्यकी विवक्षा होती है। उससमय विशेष धर्मकी गौणता होनेसे वह वस्तु विशेषकी अपेक्षासे नहीं है। तथा जिससमय विशेषकी विवक्षा होती है उससमय सामान्यधर्मकी गौणता होनेसे वह वस्तु सामान्यकी अपेक्षासे नहीं है इसप्रकार जो कथन किया जाता है उसको व्यवहारान्तर्गत नयोंमेसे नास्तिनय कहते है।

द्रव्यार्थिकनयपक्षादस्ति न तत्वं स्वरूपतोऽपि ततः।
न च नास्ति परस्वरूपात्सर्वविकल्पातिगं यतो वस्तु ॥ ७५८ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्व**) तत्व (**तत द्रव्यार्थिकनय पक्षात्**) उस प्रसिद्ध द्रव्यार्थिक नयके पक्षकी अपेक्षासे (**स्वरूपतोऽपि**) स्वरूपसेभी (**नअस्ति**) नहीं है (**च**) तथा (**परस्वरूपात्**) परस्वरूपसे (**नास्ति न**) नहीं है ऐसाभी नहीं है (**यतः**) क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे (**वस्तुः**) वस्तु (**सर्वविकल्पतिगं**) सम्पूर्ण विकल्पोंसे रहित मानी गई है।

• **भावार्थः**— शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षामे तत्व न अस्तिरूप है। और न पररूपसे नास्तिरूपभी है। क्योंकि इस नयकी अपेक्षासे वस्तु निर्विकल्पात्मक मानी गई है।

ही विवक्षित होती है । इसलिए सत्को द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे, उत्पन्न तथा विनष्ट नहीं कहकर ध्रुव कहना दूसरेकी शरण ही रखनेवाला व्यवहारान्तर्गत नयोंमेंसे नित्य नय है ।

न विनश्यति वस्तु यथा वस्तु तथा नैव जायते नियमात् ।
स्थितिमेति न केवलमिह भवति स निश्चयनयस्य पक्षश्च ॥ ७६२ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (इह) यहांपर (केवल) केवल (वस्तु) वस्तु (न विनश्यति) विनष्ट नहीं होती है (तथा) वैसेही (नियमात्) नियमसे (वस्तु) वस्तु (नैव जायते) उत्पन्नभी नहीं होती है (च) और (न स्थितिं एति) न ध्रौव्यको प्राप्त होती है जो यह कथन है (सः) वह (निश्चयनयस्य पक्षः) निश्चयनयका पक्ष (भवति) है ।

भावार्थः— जिसप्रकार वस्तु उत्पन्न तथा विनष्ट नहीं होती है उसी प्रकार वह ध्रुव भी नहीं है । किन्तु अनिर्वचनीय है ऐसा कहना शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका- निश्चयनयका पक्ष है ।

यदिदं नास्ति विशेषैः सामान्यस्यविवक्षया तदिदम् ।
उन्मज्जत्सामान्यैरस्ति तदेतत्प्रमाणमविशेषात् ॥ ७६३ ॥

अन्वयार्थः— (यत् इदं) जो यह (सामान्यस्य विवक्षया) सामान्यकी विवक्षासे (सामान्यैः) सामान्यके द्वारा (उन्मज्जत्) विवक्षाको प्राप्त (इदं अस्ति) यह है और जो (विशेषैः नास्ति) विशेषोंके द्वारा नहीं है (तत्) वह, इसप्रकारसे ये (तदेतत्) यह वही है इसप्रकार दोनोंको (अविशेषात्) सामान्यरूपसे- किसीको मुख्य गौण किये विना, विषय करना (प्रमाणं) प्रमाणका पक्ष है ।

भावार्थः— जो वस्तुविशेषकी अपेक्षासे नास्तिरूप है वही वस्तु सामान्यकी अपेक्षासे अस्तिरूप भी है । इसप्रकार दोनोंको जोडरूपसे युगपत, मुख्य गौण व्यवस्थाको छोडकरके, विषय करना प्रमाणका पक्ष है ।

अभिनवभावपरिणतेर्योऽयं वस्तुन्यपूर्वसमयो यः ।
इति यो वदति स कश्चित्पर्यायार्थिक नयेष्वभावनयः ॥ ७६४ ॥

अन्वयार्थः— (**अभिनवभावपरिणतेः**) नवीन पर्यायरूपपरिणमनसे (**वस्तुनि**) वस्तुमें (**यः यः अयं अपूर्वसमयः**) जो जो यह अपूर्व पर्याय होरही है (**इति**) इसप्रकारसे (**यः**) जो (**वदति**) कहता है (**सः**) वह (**कश्चित्**) कोई (**पर्यायार्थिकनयेषु**) पर्यार्थिक नयोंमें (**अभावनयः**) अभाव नय है।

भावार्थः— जो नय प्रतिसमय होनेवाले नवीन २ उत्पादरूप परिणमनकी अपेक्षासे पूर्व २ पर्यायके नाश-पूर्वक उत्तरोत्तर कालवर्ती पर्यायोंकाही प्रतिपादन करता है वह पर्यायार्थिक नयोंमेसे एक अभावनय है।

परिणममानेऽपि तथाभूतै र्भावैर्विनश्यमानेऽपि।
नायमपूर्वो भावः पर्यायार्थिकविशिष्टभावनयः॥ ७६५॥

अन्वयार्थ— (**अपि**) और (**तथाभूतैः भावैः**) तथाभूत परिणामोंके द्वारा (**परिणममाने**) परिणमन होते हुए (**विनश्यमानेऽपि**) पूर्व २ परिणमनका विनाश होनेपरभी (**अयं अपूर्वः भावः न**) यह कोई अपूर्वभाव नहीं है इसप्रकारका जो कथन है वह (**पर्यायार्थिक विशिष्टभावनयः**) पर्यायार्थिक विशेषण विशिष्ट भावनय है।

भावार्थः— प्रतिसमय नवीन २ उत्पादरूपसे तथा भूतभावोंके द्वारा परिणमन होनेपर और नष्ट होनेपर भी द्रव्यार्थिक दृष्टिसे द्रव्यमें कोई अपूर्वता नहीं आती है इसप्रकार अपूर्व भावोंके नहीं कहनेवाले नयको अर्थात् सदैव पूर्व भावोंके प्रतिपादन करनेवाले नयको व्यवहारान्तर्गत नयोंमेंसे भावनय कहते है।

शुद्धद्रव्यादेशादभिनवभावो न सर्वतो वस्तुनि।
नाप्यनवभिनवश्च यतः स्यादभूतपुर्वो न भूतपुर्वो वा॥ ७६६॥

अन्वयार्थः— (**शुद्धद्रव्यादेशात्**) शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे (**वस्तुनि**) वस्तुमें (**सर्वतः**) सब तरहसे (**न अभिनवभावः**) न नवीन भाव है (**अपि च**) और (**न अनभिनवः**) न अनभिनव भाव है अर्थात् न भूर्त भावोंका अभावही है (**यत**) क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका विषय (**अभूतपूर्वः**) अभूत-पुर्व (**न स्यात्**) कुछ नहीं है।

भावार्थः— शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे नवीन भावोंका उत्पादही होता है और न पुर्वभावोंका विनशाही होता है। क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे तत्व निर्विकल्प है। इसलिए द्रव्यार्थिकनय न भूतपूर्व

विषयकोही विषय करता है । और न अभूतपूर्व विषयकोही विषय करता है । किन्तु दोनोंका निषेध करता है ।

अभिनवभावै यदिदं परिणममानं प्रतिक्षणं यावत् ।
असदुत्पन्नं न हि तत्सन्नष्टं वा न प्रमाणमतमेतत् ॥ ७६७ ॥

अन्वयार्थः— (अभिनवभावै) नूतन भावोंके द्वारा (प्रतिक्षणं यावत्) प्रत्येक क्षणमें (परिणममानं) परिणममान (यत् इदं) जो यह सत् है (तत्) वह (हि) निश्चयकरके (असत् उत्पन्न न) असत्‌रूपसे उत्पन्न नहीं है (वा) अथवा (सत् नष्ट न) सत्‌रूपसे नष्ट नहीं है (एतत् प्रमाण मतं) यह प्रमाणपक्ष

भावार्थ — जो यह सत् नवीन २ भावोंके द्वारा परिणमन कर रहा है वह सत न असत रूपसे उत्पन्न होता है । और न सत् रूपसे नष्टही होता है ऐसा कहना प्रमाणका पक्ष है ।

इत्यादि यथासम्भवमुक्तमिवानुक्तमपि च नयचक्रम् ।
योज्यं यथागमादिह प्रत्येकमनेक भावयुतम् ॥ ७६८ ॥

अन्वयार्थ— (इत्यादि उक्तं इव) इत्यादि उक्त कथनके समान (यथासंभवं) यथा संभव (अनेकभावयुत) अनेक भाव सहित (प्रत्येकं) प्रत्येक (अनुक्त अपि च) नहीं कहे गयेभी (नयचक्रं) नय समुदायको (इह) यहांपर (यथागमात्) आगमके अनुसार (योज्यं) लगाना चाहिये ।

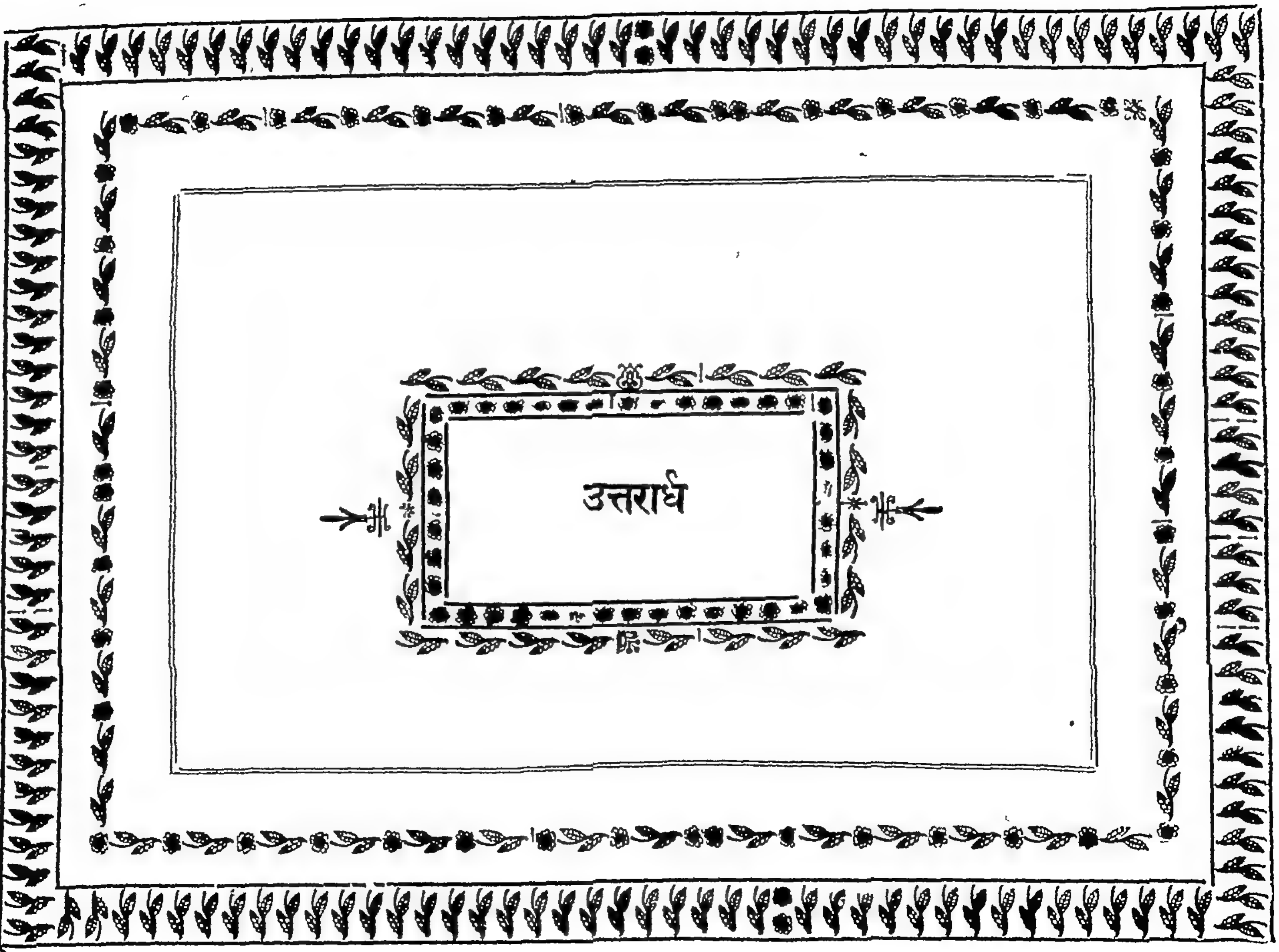
भावार्थः— जैसे अनेक भावोंसे सहित नित्यानित्य व एकानेक आदिक नयपक्षके विषयमें प्रक्रिया बताई है वैसे संपूर्ण नयोंके विषयमें भी आगमानुसार यथायोग्य रीतिसे समझलेना चाहिए ।

—: पंचाध्यायीकी :—

पंडित देवकीनंदनजी कृत

सरलार्थ प्रबोधिनी नामकी हिंदी टीकामें द्रव्यसामान्यके स्वरूपादिकका वर्णन करनेवाला पहला अध्याय

समाप्त


उत्तरार्ध



सरलार्थ प्रबोधिनी हिन्दी टीका सहीत

पंचाध्यायी

उत्तरार्ध ।

सिद्धं विशेषवद्वस्तु सत्सामान्यं स्वतो यथा ।
नासिद्धो धातुसंज्ञोऽपि कश्चित्पीतः सितोऽपरः ॥ १ ॥

अन्वयार्थः— (**यथा**) जैसे (**वस्तु**) पदार्थ (**सत्सामान्य**) सत है सामान्य जिसका ऐसा अर्थात् सामान्यतासे सतरूप (**स्वत सिद्ध**) स्वयंसिद्ध है (' **तथा** ') वैसेही वह (**विशेषवत्**) विशेषवान्भी स्वतःसिद्ध है क्योंकि (**धातुसंज्ञोऽपि कश्चित् पीत अपरः सितः**) सामान्यरूपसे धातु है संज्ञा जिसकी ऐसा कोई एक पदार्थ पीत और कोई दूसरा पदार्थ श्वेत है यह (**असिद्धः न**) असिद्ध नहीं है ।

भावार्थः--- जिसप्रकार सोना, चांदी आदि सम्पूर्ण धातुएं सामान्यरूपसे धातु कहलाकरके भी विशेषरूपसे कोई पीली धातु और कोई सफेद धातु कहलाती है यह असिद्ध नहीं है । उसी प्रकार जीवाजीवादिक सम्पूर्ण द्रव्य सामान्यरूपसे सत् कहलाकरके भी विशेषरूपसे कोई जीवद्रव्य तथा कोई अजीव द्रव्य कहलाता है यह भी असिद्ध नहीं है अर्थात् जैसे सुवर्णादिक द्रव्योंमें धातुरूपसे सामान्यपना तथा पीतत्वादि अपने २ विशेष गुणोंकी अपेक्षासे विशेषपना स्वतः सिद्ध है । वैसेही जीवादिक द्रव्योंमें सत् रूपसे सामान्यपना और चेतनाचेतनत्वादिक अपने २ विशेष गुणोंकी अपेक्षासे विशेषपना भी स्वत.सिद्ध है ।

साराश यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वतःसिद्ध सामान्य विशेषात्मक है । इसलिए जैसे वह सामान्यरूपसे स्वतः सिद्ध है वैसेही वह विशेषरूपसे भी स्वत सिद्ध है ।

सामान्य और विशेषका लक्षण ।

बहु व्यापकमेवैतत्सामान्यं सदृशत्वतः ।
अस्त्यल्पव्यापको यस्तुविशेषः सदृशेतरः ॥२ ॥

अन्वयार्थः— (सदृशत्वतः) सदृशतासे ('यत्') जो (बहुव्यापकं) बहुत देशमें व्यापक रहता है (एतत् एव सामान्य) इसीको सामान्य कहतें हैं (तु) और (यः) जो (सदृशेतर) सदृशसे भिन्न है-- सदृश नहीं है तथा (अल्पव्यापक) अल्प देशमें व्याप्त होकरके रहता है (स.) वह (विशेषः अस्ति) विशेष है ।

भावार्थः— "बहु देशवृत्तित्वं व्यापकत्वं, अल्प देशवृत्तित्वं तु व्यापकत्वं" अर्थात् जो वस्तु धर्म, सदृश पनेसे बहु देशमे व्याप्त होकरके रहता है उसको व्यापक कहते है । तथा जो वस्तुधर्म, विशेपता रखतेहुए अल्प देशमें व्याप्त होकरके रहता है उसको व्याप्य कहते है । सामान्य व्यापक धर्म है । और विशेष व्याप्यधर्म है । सामान्यधर्मसे सब वस्तुओंमें सदृशताका बोध होता है । तथा विशेष धर्मसे विसदृशताका अर्थात् प्रत्येक द्रव्यकी विशेषताका बोध होता है ।

सम्पूर्ण द्रव्योंके जीव अजीव रूपसे भेद और उनके लक्षण ।

जीवाजीवविशेषोऽस्ति द्रव्याणां शद्वतोऽर्थतः ।
चेतना लक्षणो जीवः स्यादजीवोऽप्यचेतनः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः— (द्रव्याणां) द्रव्योंके (शद्वतः अर्थतः) शद्व और अर्थकी अपेक्षासे (जीवाजीव विशेषः अस्ति) जीव और अजीव ये दो भेद होते है उनमेंसे (चेतनालक्षणो जीवः) जिसमें चेतना पाई जावे वह जीव है (अपि) और (अचेतनः अजीवः स्यात्) जिसमें चेतना नहीं पाई जावे वह अजीव है ।

भावार्थ — सम्पूर्ण द्रव्य, जीव तथा अजीव शद्वसे कहे जाते है अर्थात जीव शद्वसे जीव द्रव्य और अजीव शद्वसे शेप पाच द्रव्य कहे जाते है यह जीव तथा अजीवमें शद्वकृत भेद है । और जिसमें चेतना पाई जावे उसको जीव कहते हैं । तथा जिसमें चेतना न पाई जावे उसको अजीव कहते है । इसप्रकार अर्थ–वाच्यकी अपेक्षासे जो उनमें

लक्षणकृत भेद पायाजाता है वह अर्थकृत भेद है। इसतरह चेतनारूपी विशेष धर्मके सद्भाव और असद्भावके कारण सम्पूर्ण द्रव्योंके शद्ब तथा अर्थकी अपेक्षासे जीव और अजीव रूपसे दो भेद हो जाते है। अब आगे–जीव और अजीवका यह द्वैत असिद्ध नहीं है इसीको दृष्टान्तपूर्वक बताते हैं।

जीव व अजीवमें द्वैतकी सिद्धि।

नासिद्धं सिद्धदृष्टांताच्चेतनाचेतनद्वयम्।
जीवद्वपुर्घटादिभ्यो विशिष्टं कथमन्यथा ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः–(**सिद्धदृष्टांतात्**) जीवित शरीर और घटादिकके प्रसिद्ध दृष्टांतसे (**चेतनाचेतनद्वयम्**) चेतन और अचेतनमें द्वैत (**असिद्धं न**) असिद्ध नहीं है क्योंकि (**अन्यथा**) यदि चेतन तथा ये द्रव्य दो नहीं होते तो (**घटादिभ्य**) घट आदिसे (**जीवद्वपुः**) जीवित शरीर (**विशिष्टं कथं**) विलक्षण क्यों प्रतीत होता है ?

भावार्थः— जीवित शरीर और अचेतन घटादिकमें सजीव तथा अजीवपनेके भेदका, जो ज्ञाता दृष्टापनेका सद्भाव, और उसका असद्भाव कारण है वही जीव और अजीवमें भेदका द्योतक है। यदि जीव और अजीवमें चेतनाके सद्भाव तथा असद्भावके निमित्तसे भेद नहीं होता तो जीवित शरीर व अचेतन घटादिकमेंभी भेद नहीं पाया जाना चाहिये था किंतु भेद पायाजाता है। अतः जीव और अजीवमें भेद है यह कथन सिद्ध होता है।

जीवकी सिद्धिमें हेतु।

अस्ति जीवः सुखादीनां स्वसंवेदनसमक्षतः।
योनैवं स न जीवोऽस्ति सुप्रसिद्धो यथाघटः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ— (**सुखादीनां**) सुख आदिके (**संवेदनसमक्षतः**) 'मैं सुखी हूं मैं दुखी हुं' इत्यादि अहं प्रत्ययगोचर स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे (**जीवः अस्ति**) जीवका आस्तित्व ज्ञात होता है क्योंकि (**यः जीव न**) जो जीव नहीं है (**सः**) वह (**एवं न अस्ति**) स्वसंवेदन प्रत्यक्षवालाभी नहीं है (**यथा**) जैसे (**सुप्रसिद्ध घटः**) सुप्रसिद्ध घट।

भावार्थः— जीवकी सिद्धिमें सबसे प्रबल प्रमाण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। मैं सुखी हूं मैं दुखी हु, इत्याकारक

अह प्रत्ययको स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहते है। यहापर जीवका आस्तित्व साध्य है और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष उसका साधन है। साधनकी साध्यके साथ व्याप्ति मिल जानेसे साधन अपने साध्यका अवश्य साधक होजाता है । इसलिए पद्यके उत्तरार्धसे " जो जीव नहीं है वह सुखादिकका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करनेवालाभी नहीं है जैसे घट " इस व्यतिरेक व्याप्तिके घट जानेसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप हेतु सद्धेतु है । और जीवकी सिद्धिका साधक है ।

जीवकी सिद्धिपूर्वक अजीवकी सिद्धिमें हेतु ।

इति हेतु सनाथेन प्रत्यक्षेणावधारितः ।
साध्यो जीवस्स्वसिद्ध्यर्थमजीवश्च ततोऽन्यथा ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ — (इति) इसप्रकार (**स्वसिद्ध्यर्थं**) आत्मसिद्धिके लिए (**साध्यः जीवः**) साध्यरूप जीव (**हेतुसनाथेन प्रत्यक्षेण**) इस पूर्वोक्त स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप हेतु सहित आत्मप्रत्यक्षसे (**अवधारितः**) सिद्ध होता है (च) और (**ततः अन्यथा अजीवः**) इसके विपरीत होनेसे अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप हेतुके अभावसे अजीवभी सिद्ध होता है ।

भावार्थः— सुखादिकके स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप हेतुसे और स्वानुभवप्रत्यक्षसे जीवकी सिद्धि होती है । तथा इसके विपरीतपनेसे अजीवकी सिद्धि होती है ।

इसप्रकार ३ रे पद्यसे लेकर ६ वें पद्यतक चेतनाके सद्भाव और असद्भावके कारण जीव व अजीवकी सिद्धि करके आगे द्रव्योंके मूर्तामूर्त भेदके विषयमें विचार करते है ।

मूर्तामूर्तविशेषश्च द्रव्याणां स्यान्निसर्गतः ।
मूर्तं स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यममूर्तिमत् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ — (च) तथा प्रकारांतरसे (**द्रव्याणां**) द्रव्योंके (**निसर्गतः**) स्वभावसे (**मूर्तामूर्तविशेषः**) मूर्त और अमूर्त ये दो भेद होते है (**इन्द्रियग्राह्य मूर्तं**) जिसमें इंद्रियोंके द्वारा गोचर होसकनेकी योग्यता हो उसको मूर्त और (**तदग्राह्य अमूर्तिमत् स्यात्**) जिसमें इंद्रियोंके द्वारा गोचर होसकनेकी योग्यता न हो उसको अमूर्त कहते है ।

भावार्थ.— जैसे जीव और अजीव रूपसे सम्पूर्ण द्रव्योंके दो भेद होते है। वैसेही मूर्त तथा अमूर्तरूपसे भी द्रव्योंके दो भेद होते हैं। जो इन्द्रियोंके विषय हो सकते है वे मूर्तद्रव्य कहलाते है जैसेकि पुद्गल और जिनमें इन्द्रियोंके विषयभूत होनेकी योग्यता नहीं है वे अमूर्तद्रव्य कहलाते है जैसे कि जीव, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल यद्यपि परमाणु आदि सूक्ष्म पुद्गलभी इन्द्रियोंसे गृहीत नहीं होसकते तथापि वे स्थूल स्कन्धकी पर्यायको प्राप्त होकर इंद्रियोंके विषय होसकते है। इसलिये उनमेंभी इंद्रियग्राहकपनारूप, मूर्तका लक्षण घटजाता है। इसप्रकार द्रव्योंके मूर्त और अमूर्त ये दोनों भेद वास्तविक है। किंतु ऐसा नहीं है कि।

न पुनर्वास्तवं मूर्तममूर्तं स्यादवास्तवम्।
सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपातात्तथासति ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः— (**न पुनः**) किंतु ऐसा नहीं है कि (**मूर्तं वास्तवं**) मूर्तही यथार्थमें पदार्थ हो और (**अमूर्तं अवास्तवं स्यात्**) अमूर्त कोई वस्तुही नहीं हो क्योंकि (**तथासति**) ऐसा माननेपर (**सर्वशून्यादि दोषाणां सन्निपातात्**) सर्वशून्यादि दोषोंका प्रसंग आता है।

भावार्थः— यदि मूर्तमेंही वस्तुत्व माना जायगा तो अमूर्त जीव आदि द्रव्योंमें वस्तुत्व नहीं रहेगा। और ऐसा होनेपर आत्माके भी अभावका प्रसंग आयगा तथा आत्माके अभावमें उसके ज्ञानादि गुणोंका भी अभाव हो जायगा। और ज्ञानका अभाव हो जानेपर मूर्त द्रव्योंमें ज्ञेयत्व–पदार्थत्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि ज्ञाता और ज्ञानके अभावमें ज्ञेयकी कल्पना निष्प्रयोजन ठहरती है। इसतरह सर्व शून्यदोषका प्रसंग आता है। तथा अमूर्त आत्माके अभावमें बन्ध और मोक्ष आदिकी व्यवस्था भी नहीं बनसकेगी। इसप्रकार अनेक दोषोंके आनेसे अमूर्त आदि द्रव्योंको अवास्तविक कहना ठीक नहीं है।

मूर्त और अमूर्तका लक्षण।

स्पर्शो रसश्च गन्धश्च वर्णोऽमी मूर्तिसंज्ञकाः।
तद्योगान्मूर्तिमद्द्रव्यं तदयोगादमूर्तिमत् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः— (**स्पर्शः**) स्पर्श (**रसः**) रस (**च**) तथा (**गन्धः**) गन्ध (**च**) और (**वर्णः**)

वर्ण (अमी मूर्तिसंज्ञकाः) इनकी मूर्ती संज्ञा है तथा (तद्योगात) इन्हीं स्पर्शादिकके योगसे (द्रव्यं मूर्तिमत) पुद्गलद्रव्य मूर्तीमान्–मूर्तीक कहलाता है और (तदयोगात् अमूर्तिमत्) इन स्पर्श आदिकोंके योगके अभावसे जीव आदि शेष पांच द्रव्य अमूर्तीक कहलातें है ।

भावार्थः— जिस द्रव्यमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये पाये जावें वह मूर्त द्रव्य कहलाता है । जैसे कि पुद्गल तथा जिनमें स्पर्शादिक नहीं पाये जावें वे अमूर्त द्रव्य कहलाते है जैसे कि जीवादिक ।

रूपादि मूर्तिक क्यों है ?

नासंभवं भवेदेतत् प्रत्यक्षानुभावद्यथा ।
सान्निकर्षोऽस्ति वर्णाद्यैरिन्द्रियाणां न चेतरै. ॥ १० ॥

अन्वयार्थ — (प्रत्यक्षानुभवात) साक्षात अनुभव होनेके कारण (एतत् असंभव न भवेत्) स्पर्श रस गंध और वर्णको मूर्तीक कहना असंभव नहीं है क्योंकि (यथा) जैसे (इन्द्रियाणां) इंद्रियोंका (वर्णाद्यै) रूप रसादिके साथ (सन्निकर्षः अस्ति) सन्निकर्ष होता है ('तथा') वैसे (इतरैः न च) रूपादि भिन्न गुणोंसे सन्निकर्ष नहीं होता।

भावार्थः— पे६ लेकर ६ ८ कहा जा चुका है कि ' इन्द्रियग्राह्यं मूर्तं ' अर्थात इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत होने योग्यको मूर्त कहते है । तथा स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारों, इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष गृहीत होते है । इसलिए इनकी मूर्तीसज्ञा साक्षात् अनुभव गोचर होनेसे युक्तियुक्त है । वह असंभव नहीं है ।

अमूर्त पदार्थके सद्भावमे शंका ।

नन्वमूर्तार्थसद्भावे किं प्रमाणं वदाद्य नः ।
याद्विनापीन्द्रियार्थाणां सन्निकर्षात खपुष्पवत् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ — (ननु) शंकाकारका कहना है कि (अमूर्तार्थ सद्भावे) अमूर्त पदार्थोंके सद्भावमें (किं प्रमाण) क्या प्रमाण हैं (' इति ' अद्य नः वद) यह अब हमें बताओ क्योंकि (इन्द्रियार्थाणां)

इंद्रिय और अर्थके (**सन्निकर्षात् विना**) सन्निकर्षके विना (**यत् अपि**) जो कुछ है (' **तत्** ') वह सब (**खपुष्पवत्**) आकाश पुष्पके समान असभव है।

भावार्थ:— शंकाकारका कहना है कि इंद्रियोंके गोचर होंनेसेही पदार्थोंका सद्भाव जाना जाता है। क्योंकि जिनका इंद्रियोंके साथ सन्निकर्ष नहीं होता है उनका सद्भाव आकाशके फूलके समान अलीक ठहरता है । इसलिए इंद्रियगोचर न होंनेसे अमूर्त जीवादि पदार्थोंका सद्भाव नहीं माना जासकता है । यदि उनका सद्भाव है तो उसमें प्रमाण क्या है ?

समाधान।

नैवं यतः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।
नासिद्धं वास्तवं तत्र किंत्वसिद्धं रसादिमत् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः— (**एव न**) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**सुखादीनां सवेदनसमक्षत**) सुखादिकोंके संवेदनरूप प्रत्यक्षसे (**तत्र**) उन अमूर्त पदार्थोंमें (**वास्तवं असिद्धं न**) वस्तुत्व-पदार्थत्व असिद्ध नहीं है (**किंतु**) किंतु (**रसादिमत् असिद्धं**) वे रसआदिवाले है यह असिद्ध है।

भावार्थ.— केवल इन्द्रियार्थ सन्निकर्षसेही वस्तुका वस्तुत्व नहीं जाना जाता है किन्तु स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आदिसे भी वस्तुके वस्तुत्वका बोध होता है। यद्यपि अमूर्त जीवादिक द्रव्योंकी सिद्धि इन्द्रियार्थ सन्निकर्षसे नहीं हो सकती है तथापि स्वसंवेदन प्रत्यक्षादिके द्वारा उनकी सिद्धि होती है। इसलिए उनको भी मूर्त द्रव्यकी तरहही वास्तविक पदार्थ होंनेसे उनमें पदार्थत्व असिद्ध नहीं है। किन्तु इन्द्रियगोचर न होंनेसे उनमें केवल रसादिपना असिद्ध है। रसादिपनेका अभाव होनेके कारण उनका वस्तुत्व असिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि इन्द्रियगोचरता और अगोचरतासे पुद्गलोंमें रूपादिकका सद्भाव तथा जीवादिकमें उनका असद्भावही सिद्ध किया जासकता है। पदार्थत्वका सद्भाव और असद्भाव नहीं है। अतएव इन्द्रियोंके अगोचरपनेसे जीवादिकमें रसादिकका अभाव सिद्ध हो सकता है। पदार्थत्वका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है।

अमूर्त आत्मामें रसादिकके अभावकी सिद्धि

तद्यथा यद्रसज्ञानं स्वयं तन्न रसादिमत् ।
यस्माज्ज्ञानं सुखं दुःखं यथा स्यान्न तथा रसः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) उसका खुलासा इसप्रकार है कि (यत् रसज्ञानं) जो रसका ज्ञान होता है (तत् स्वयं रसादिमत् न) वह स्वयं रसादिमान् नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (यथा) जैसे (ज्ञानं सुखं दुखं स्यात्) ज्ञान, सुख और दुखरूप हो सकता है (तथा) वैसे वह ज्ञान (रसः न) रसरूप नहीं होसकता है।

भावार्थः— ऊपरके पद्यमें जो आत्मामें रसादिकका अभाव कहागया है उसका खुलासा इसप्रकार है कि जैसे सुख या दुखके अनुभव करनेसे ज्ञान सुखमय तथा दुखमय कहा जाता है वैसे वह ज्ञान रसको विषय करनेसे रसमय नहीं कहाजाता है। क्योंकि ज्ञान सुखादिक एकही आत्माके गुण व पर्याय है अतः एकार्थ सम्बन्धसे उन ज्ञान और सुखादिकमें अभेद होसकता है। किंतु एकार्थ सम्बन्ध न होनेसे ज्ञानका पुद्गलके रसादिक गुणके साथ अभेद नहीं होसकता है। अतः ज्ञान रसमय नहीं कहाजासकता है।

ज्ञानसे सुखादिक अभिन्न है।

नासिद्धं सुखदुःखादि ज्ञानानर्थान्तरं यतः।
चेतनत्वात् सुखं दुःखं ज्ञानादन्यत्र न क्वचित् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः— (सुखदुःखादि ज्ञानानर्थान्तरं असिद्धं न) सुख और दुख ज्ञानसे अभिन्न है यह कथन असिद्ध नहीं है (यतः) क्योंकि (सुखं दुखं) सुख तथा दुख आदि (चेतनत्वात्) चेतनात्मक होनेसे (ज्ञानात् अन्यत्र क्वचित् न) ज्ञानके सिवाय और कहीं नहीं पाये जाते हैं।

भावार्थः— आत्माके सुखादिक गुणोंको ज्ञानसे अभिन्न कहना असिद्ध नहीं है। कारण कि चेतन होनेसे सुख दुःखादिकोंका सद्भाव ज्ञानको छोडकर अन्यत्र कहीं भी नहीं पाया जाता है।

सारांश यह है कि आत्माके सुखादि गुण तथा चेतनगुण इनमें द्रव्य दृष्टिसे अभेद है। अत सुखादिक ज्ञानसे भिन्न नहीं है। किन्तु ज्ञानके साथ उनका अभेद होनेसे वे ज्ञानमयही है।

आत्मामें सुखादिक स्वैरसंचारी नहीं है।

न पुनः स्वैरसंचारि सुखं दुःखं चिदात्मनि।
अचिदात्मन्यपि व्याप्तं वर्णादौ तदसम्भवात् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ — (न पुनः) किंतु ऐसाभी नहीं है कि (सुखं दुःखं) सुख और दुख (चिदात्मनि अपि अचिदात्मनि) चिदात्मा तथा अचिदात्मामें (व्याप्तं) व्याप्त होकर (स्वैरसचारि) स्वतंत्रतासे रहते हों क्योंकि ये भाव जीवकेही है इसलिए (वर्णादौ) वर्णादिकमें (तदसम्भवात्) उनका पायाजाना असम्भव है।

भावार्थः— सुखदुख ज्ञानसे अभिन्न है, इसलिये वे ज्ञानसे भिन्न होकर, चेतन अचेतन पदार्थोंमें व्याप्त होकर, स्वतंत्रतासे संचरण करनेवाले नहीं है। क्योंकि यदि वे चेतन व अचेतन दोनोंही पदार्थोंमें स्वतंत्रतासे रहते होते तो ज्ञानके समान वर्णादिकोंके साथभी उनका अभेद पायाजाना चाहिये था किंतु अभेद पाया नहीं जाता है। अतः वे ज्ञानसे अभिन्नही है स्वतंत्र नहीं है।

ततः सिद्धं चिदात्मादि स्यादमूर्तं तदर्थवत्।
प्रसाधितसुखादीनामन्यथाऽनुपपत्तितः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिए यह कथन (सिद्धं) सिद्ध होता है कि (तत् अमूर्तं चिदात्मादि अर्थवत् स्यात्) वे अमूर्त जीव आदि पदार्थभी वास्तविक है क्योंकि (अन्यथा) यदि इन जीवादिक अमूर्त द्रव्योंको वास्तविक नहीं माना जायगा तो (प्रसाधितसुखादीनां अनुपपत्तितः) स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्षसे सिद्ध किये गये सुखादिकोंका सद्भाव युक्तियुक्त नहीं ठहरेगा।

भावार्थः— इसलिए यह सिद्ध होता है कि केवल मूर्त पदार्थही वास्तविक नहीं है किन्तु अमूर्त जीवादिक पदार्थ भी वास्तविक है। क्योंकि यदि जीवादिक अमूर्त पदार्थ वास्तविक नहीं मानें जावेगे तो ज्ञानसे अभिन्न और स्वानुभव सिद्ध, जो सुख दुःखकी प्रतीति होती है उसमें बाधा आवेगी अर्थात् अमूर्त पदार्थोंको वास्तविक न माननेसे जीवमें सुखादिककी प्रतीति बाधित हो जावेगी।

शंका

नन्वासिद्धं सुखादीनां मूर्तिमत्त्वादमूर्तिमत्।
तद्यथा यद्रसज्ञानं तद्रसो रसवद्यतः ॥ १७ ॥

तन्मूर्तत्वे कुतस्त्यं स्यादमूर्तं कारणाद्विना।
यत्साधनाविनाभूतं साध्यं न्यायानतिक्रमात् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (सुखादीनां मूर्तिमत्त्वात्) सुखादिकको मूर्तीक होनेके कारण (तत् अमूर्तिमत् असिद्धं) वह अमूर्तिकपना असिद्ध है (यथा) जैसे कि (यत् रसज्ञानं) जो रसके विषयका ज्ञान होता है (तत्) वह (यतः) जिस कारणसे (रसवत्) रसवान् होता है (' ततः ') तिस कारणसे वह (रसः) रसही है अर्थात् रसज्ञान, रसके अनुभवसे मूर्तीकही है अमूर्तीक नहीं है और (तन्मूर्तत्वे) उस रसज्ञानको मूर्तीक सिद्ध होनेपर (कारणात विना) विना कारणके सुखादिकमें (अमूर्तं) अमूर्तीकपना (कुतस्त्य स्यात्) किस प्रमाणसे सिद्ध होसकता है (यत्) क्योंकि (न्यायाननतिक्रमात्) न्यायानुसार (साध्यं) साध्यका (साध्यविनाभूत) साधनके साथ अविनाभाव होता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि रसको विषय करनेके कारण रसज्ञानको मूर्तीक सिद्ध होनेसे ज्ञानसे अभिन्न सुखादिकभी मूर्तीकही सिद्ध होंगे अमूर्तीक नहीं । कारणकि रसज्ञानके मूर्तीक सिद्ध होनेपर उस रसज्ञानसे अभिन्न सुखादिकको अमूर्तीक सिद्ध करनेवाला कोई अविनाभावी साधनही नहीं मिलसकता है।

समाधान ।

नैवं यतो रसाद्यर्थं ज्ञानं तन्न रसः स्वयम् ।
अर्थाज्ज्ञानममूर्तं स्यान्मूर्तं मूर्तोपचारतः ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ — (एवं न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (' यत् ') जो (रसाद्यर्थं) रसादिकके जाननेके लिये ज्ञान होता है (तत्) वह (स्वय रसः न) स्वयं रसमय नहीं होजाता है कारण (अर्थात् ज्ञानं अमूर्तं) वास्तवमें ज्ञान अमूर्तिकही है किंतु (मूर्तोपचारतः) मूर्त पदार्थको विषय करनेसे वह केवल उपचारसे (मूर्तं स्यात्) मूर्तीक कहलाता है।

भावार्थ — शंकाकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। क्योंकि जो रस आदिको विषय करनेवाला ज्ञान है वह केवल रसको विषय करने मात्रसे मूर्त नहीं हो जाता है। क्योंकि वास्तवमें वह ज्ञान अमूर्तीक आत्माका गुण होनेसे अमूर्तीकही है केवल उपचारसे वह मूर्तीक कहा जाता है।

न पुनः सर्वथा मूर्तं ज्ञानं वर्णादिमद्यतः ।
स्वसंवेद्याद्यभाव स्यात्तज्जडत्वानुषङ्गतः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ.— (**न पुनः**) किंतु ऐसा नहीं है कि (**ज्ञानं**) रसज्ञान (**सर्वथा वर्णादिमत मूर्त**) सर्वथा वर्णादिमान् हो (**यतः**) क्योंकि मूर्त पदार्थोंको केवल विषय करनेके कारण ज्ञानको सर्वथा मूर्तीक माननेसे (**तज्जडत्वानुषंगत**) उसमें अचेतनका प्रसंग आवेगा और अचेतनताका प्रसंग आनेसे वह (**स्वसंवेद्याद्यभावः**) स्वसंवेदी आदि नहीं ठहरेगा।

भावार्थः— उपचारसे जो ज्ञानको मूर्तीक कहा है उसका ऐसा अर्थ नहीं समझना चाहिये कि ज्ञान रूपादिकके समान सर्वथा मूर्तीक है। क्योंकि यदि ज्ञानको रूपादिकके समान सर्वथा मूर्तीक मानलिया जाय तो ज्ञान गुणमें जडत्वका प्रसंग आवेगा। और उसके जड सिद्ध होनेपर आत्माको भी जडत्वका प्रसग आवेगा ऐसी स्थितीमें मै सुखी हूं, मैं दुखी हूं आदि रूपसे जो प्रत्यक्ष सिद्ध स्वसवेदन पाया जाता है उसका अभाव मानने पडेगा जो कि स्वानुभवसे बाधित है।

उपसहार।

तस्माद्वर्णादिशून्यात्मा जीवाद्यर्थोऽस्त्यमूर्तिमान्।
स्वीकर्तव्यः प्रमाणाद्वा स्वानुभूतेर्यथागमात् ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ— (**तस्मात्**) इसलिए (**वर्णादिशून्यात्मा**) वर्णादिक धर्मोंसे रहित स्वरूपवाले (**अमूर्तिमान**) अमूर्तीक (**जीवाद्यर्थः अस्ति**) जीव आदि पदार्थ है यह (**यथागमात्**) आगमानुसार (**प्रमाणात्**) प्रमाणसे (**वा**) और (**स्वानुभवात्**) स्वानुभवसे (**स्वीकर्तव्यः**) स्वीकार करना चाहिये।

भावार्थः— इसलिए रूपादिक धर्मोंसे रहित अमूर्तीक जीवादिक पदार्थ भी वास्तविकही है इस कथनको आगम स्वानुभव तथा प्रमाणसे स्वीकार करना चाहिए।

इसप्रकार मूर्तामूर्त भेदरूपसे द्रव्योंकी विशेषताको बताकरके आगे–लोकालोक भेदरूपसे द्रव्योंकी विशेषताको बताते हैं।

लोकालोकविशेषोऽस्ति द्रव्याणां लक्षणाद्यथा।
षड्द्रव्यात्मा स लोकोऽस्ति स्यादलोकस्ततोऽन्यथा ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः— (**लक्षणात्**) लक्षणसे (**द्रव्याणां**) द्रव्योंके (**लोकालोकविशेषः अस्ति**) लोक

और अलोक ये दो भेदभी होते है (यथा) जैसे (' यः ') जो (षड् द्रव्यात्मा) छहों द्रव्यमय है (सः लोकः अस्ति) वह लोक है (ततः अन्यथा) और जो षड्द्रव्यमय नहीं है किंतु केवल आकाशमय है वह (अलोकः स्यात्) वह अलोक है ।

भावार्थः— जीव अजीव और मूर्त अमूर्तके समान द्रव्योंके, लक्षणमे लोक अलोकरूपसेभी विशेष भेद होते है । उनमेंसे छहों द्रव्योंके समुदायका नाम लोक है । तथा छहों द्रव्योंके समुदायके अभावका नाम अर्थात केवल अलोकाकाशका नाम अलोक है ।

अलोक केवल आकाशमय है ।

सोऽप्यलोको न शून्योऽस्ति षड्भिर्द्रव्यैरशेषतः ।
व्योममात्रावशेषत्वाद्व्योमात्मा केवलं भवेत् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः— (सः अलोकः अपि) वह अलोकभी (अशेषतः षड्भिः द्रव्यैः) सम्पूर्ण छहों द्रव्योंसे (शून्यः न अस्ति) शून्य नहीं है किंतु (व्योममात्रावशेषत्वात्) आकाशमात्र शेष रहनेसे वह (केवल व्योमात्मा भवेत्) अन्य पांच द्रव्योंसे रहित केवल आकाशमय है ।

भावार्थः— षड् द्रव्योंके समुदायात्मक लोकके अभावरूप जो अलोक है वह अलोक भी षड् द्रव्योंसे सर्वथा शून्य नहीं है । किन्तु केवल आकाशरूपसे अवशिष्ट है । अतः वह केवल आकाश द्रव्यमय है । क्योंकि लोककी मर्यादाके कारणभूत धर्म, अधर्म द्रव्य वहां नहीं है । इसलिए क्रियावान जीव और पुद्गल वहां जा नहीं सकते है । तथा कालद्रव्यकी संख्या केवल लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर होनेसे वह कालद्रव्य भी वहा नहीं पाया जाता है । अतः अवशिष्ट आकाशमयही वह अलोक माना गया है । अब–आगे क्रियावती और भाववती शक्तिके निमित्तसे द्रव्योंकी विशेषताको बताते है ।

क्रिया भावविशेषोस्ति तेषामन्वर्थतो यतः ।
भावक्रियाद्वयोपेताः केचिद्भावगता. परे ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ.— (अन्वर्थतः) अन्वर्थदृष्टिसे (तेषां) उन सब द्रव्योंमें (क्रियाभावविशेषः अस्ति) क्रिया और भावरूप भेद पाया जाता है (यतः) क्योंकि उनमेंसे (केचित्) कोई द्रव्य (भावक्रिया

द्वयोपेता) भाव और क्रिया दोनों विशेषोंसे युक्त है तथा (परे) कोई द्रव्य (भावगताः) केवल भावरू विशेषसे युक्त है ।

भावार्थः— पूर्वोक्त छह प्रकारके द्रव्योंमें उक्त तीन प्रकारके भेदोंके समान अन्वर्थ दृष्टिसे क्रिया और भाव रूपसे भी विशेष–भेद पाया जाता है । क्योंकि उनमेंसे कोई द्रव्यतो क्रिया व भाव इन दोनोंही भेदोंसे युक्त है । तथा कोई द्रव्य क्रियारहित होनेसे केवल भावरूप भेदसेही युक्त है । आगे इसी अर्थका खुलासा करते है ।

भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ ।
तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृताः ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः— (जीवपुद्गलौ एतौ द्वौ) जीव और पुद्गल ये दोनो द्रव्य (भाववन्तौ क्रियावन्तौ) भाववान्‌भी हैं तथा क्रियावान्‌भी है (च) और (तौ) वे दोनों (च) तथा (शेषचतुष्कं) शेष चार (एते षड्) ये छहों द्रव्य (भावसंस्कृताः) भावविशेषसे युक्त है ।

भावार्थः— भाव व्यापक, और क्रिया व्याप्य है इसलिये छहों द्रव्योंमेंसे केवल जीव तथा पुद्गल ये दो द्रव्य क्रिया और भाव दोनोंसे युक्त है ! तथा शेष चार द्रव्य केवल भावयुक्त है ।

सारांश यह है कि शक्तियोंके दो प्रकार है १ क्रियावती शक्ति और २ भाववती शक्ति । इनमेंसे क्रियावती शक्तिके निमित्तसे क्रिया होती है । तथा भाववती शक्तिके निमित्तसे उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक परिणमन होता है । क्रियावती शक्ति केवल जीव और पुद्गल द्रव्योंमेंही पाई जाती है शेषमें नहीं । इसलिए भाववती शक्ति छहों द्रव्योंमें और क्रियावती शक्ति जीव तथा पुद्गलोंमेंही कही गई है ।

क्रिया और भावका लक्षण ।

तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पंदश्चलात्मकः ।
भावस्तत्परिणामोस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ॥ २६ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उनमेंसे (प्रदेशानां चलात्मकः परिस्पन्दः क्रिया) प्रदेशोंके चलात्मक–हलनचलनरूप परिस्पंदको क्रिया कहते है और (एकवस्तुनि) अखण्ड द्रव्यमें (धारावाही तत्परिणामः भावः

अस्ति) धारावाही–प्रवाहरूपसे होनेवाले द्रव्यके उत्पादादि त्रयरूप परिणमनको भाव कहते है ।

भावार्थः— द्रव्यके प्रदेशोंके चलनात्मक परिस्पन्दको क्रिया कहते है । और अगुरुलघुगुणके निमित्तसे प्रति-समय होनेवाले द्रव्यके धारावाही परिणमनको भाव कहते हैं ।

उक्त कथन असिद्ध नहीं है ।

नासंभवमिदं यस्मादर्थाःपरिणामिनोऽनिशं ।
तत्र केचित कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मकाः ॥ २७ ॥

अन्वयार्थः— (इदं असंभवं न) उपर्युक्त यह कथन असिद्ध नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (अर्था.) सबही पदार्थ (अनिशं) प्रतिसमय (परिणामिनः) परिणमनशील होते हैं और (तत्र) उनमेंसे (केचित् कोई २ द्रव्य अर्थात् जीव, पुद्गलद्रव्य (कदाचित्) कभी २ (प्रदेशचलनात्मकाः वा) प्रदेशचलनात्मकभी होते हैं ।

भावार्थः— द्रव्योंमें क्रिया और भावका पायाजाना असंभव नहीं है । कारण कि सबही द्रव्योंके गुण सदैव परिणमनशील रहते है । कोई भी गुण कभी भी अपरिणामी नहीं होता है । अतः प्रत्येक द्रव्यमे अगुरुलघु गुणके निमित्तसे उत्पादादि त्रयरूपसे परिणमन होते रहनेके कारण, द्रव्योंमें भाववती शक्तिका पायाजाना असंभव नहीं है और केवल पुद्गल तथा जीव द्रव्यकेही प्रदेश चलनात्मक होते है । इसलिये इन दोनो द्रव्योंमें प्रदेशोंके परिस्पन्दके पाये जानेसे क्रिया पाई जाती हैं । शेष द्रव्योंमें प्रदेश परिस्पन्द नहीं होता है । अतः आकाश, धर्म, अधर्म और काल इन चार द्रव्योंमें क्रिया नहीं पाई जाती है । इसलिए जीव और पुद्गलमें क्रियावती शक्तिका पाया जाना असंभव नहीं हैं ।

---

१ सव्वमरूवीदव्वं अवट्ठिदं अचलिदा पदेसावि । रूवी जीवा चलिया तिवियप्पा होंति हु पदेसा ॥
पोग्गल दव्वम्हि अणूसंखेज्जा हवदि चालिदा हु । चरिममहाखंधम्मि य चलाचला होंति हु पदेसा ॥

अर्थात् आकाश आदि चारों द्रव्योंके प्रदेश स्थित और अचलित है । जीवके प्रदेश चलित, अचलित तथा चलिता चलित है । और सिद्धोंके प्रदेश अचलित हैं । पुद्गलकी अणुआदि महास्कन्ध पर्यन्त २३ तेइसप्रकारकी वर्गणाये मानी हैं । उनमेंसे अणुआदि २२ बाईस वर्गणाये चलित होती है । तथा महास्कन्धरूप अन्तिम वर्गणाके प्रदेश चलिताचलित होते है ।

ऐसा क्यों होता है इसका कारण वस्तुका स्वभावही वैसा है यह समझना चाहिये।

इसप्रकार द्रव्योंके सम्पूर्ण विशेषताओंका सामान्यरूपसे वर्णन करके अब आगे–ग्रन्थकार जीव द्रव्यका विशेष रूपसे वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं।

प्रतिज्ञा।

तद्यथाचाधिचिद्द्रव्यं देशनारभ्यते मया।
युक्त्यागमानुभूतिभ्यः पूर्वाचार्यानतिक्रमात् ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ — (अथ) अब (पूर्वाचार्यानतिक्रमात्) पूर्वाचार्योंके अनुसारही (युक्त्यागमानुभूतिभ्यः) युक्ति आगम और अनुभवसे (अधिचिद्द्रव्यं) जीव द्रव्यके विषयमें (मया देशना आरभ्यते) मेरे द्वारा देशना प्रारम्भ की जाती है (तद्यथा) वह इसप्रकार है।

भावार्थः— ग्रन्थकार, पूर्वाचार्योंकी आम्नायको उलंघन नहीं करके युक्ति आगम और स्वानुभवसे जीव द्रव्यके विषयमें विशेष वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करतें हैं।

प्रागुद्देश्यः स जीवोस्ति ततोऽजीवस्ततः क्रमात्।
आस्रवाद्या यतस्तेषां जीवोधिष्ठानमन्वयात् ॥ २९ ॥

अन्वयार्थः— (प्राक् सः जीव उद्देश्यः अस्ति) सात तत्वोंमेंसे सबसे प्रथम वह जीवही कथन करनेके योग्य है (ततः) उसके बाद (अजीवः) अजीव और (ततः) उसके बाद (क्रमात्) क्रमसे (आस्रवाद्या) आस्रवादिक कथन करनेके योग्य है (यतः) क्योंकि (अन्वयात्) शेष तत्वोंमें जीवका अन्वय पाया जानेसे (तेषां) उन सब तत्वोंका (जीव अधिष्ठान) जीवही आधार है।

भावार्थ.— सातोंही तत्व जीवकी अवस्थाविशेष है। इसलिए सब तत्वोंकाअधिष्ठान होनेसे सबसे प्रथम जीवका वर्णन किया जाता है। तदनन्तर क्रमक्रमसे अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्षका वर्णन किया जायगा।

जीवके स्वरूपका निरूपण।

अस्ति जीवः स्वतस्सिद्धोऽनाद्यनन्तोऽप्यमूर्तिमान्।
ज्ञानाद्यनन्तधर्माधिरूढत्वाद्द्रव्यमव्ययम् ॥ ३० ॥

अन्वयार्थः— (स्वतः सिद्धः) स्वयंसिद्ध (अनाद्यनन्तः) अनादि अनन्त (अपि) और (अमूर्तिमान्) अमूर्तीक (जीवः) जीव (ज्ञानाद्यनन्तधर्माधिरूढत्वात्) ज्ञान दर्शन आदि अनन्त धर्मोंसे युक्त होनेके कारण (अव्ययं द्रव्य अस्ति) अविनाशी द्रव्य है।

भावार्थः— स्वतःसिद्ध, अनाद्यनन्त और अमूर्तीक जीव ज्ञानादिक अनन्त गुणोंके द्वारा युक्त होनेसे अविनाशी द्रव्य मानागया है।

साधारणगुणोपेतोऽप्यसाधारणधर्मभाक्।
विश्वरूपे ऽप्यविश्वस्थःसर्वोपक्षोऽपि सर्ववित् ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ— आत्मा (साधारणगुणोपेतः अपि) साधारण गुणोंसे सहित होता हुवाभी (असाधारणधर्मभाक्) असाधारण धर्मोंका धारण करनेवाला है (विश्वरूपः अपि) सर्व पदार्थमय होता हुवाभी (अविश्वस्थः) सर्व पदार्थमय नहीं है और (सर्वोपेक्षः अपि) सबसे निरपेक्ष होता हुवाभी (सर्व वित्) सर्व पदार्थोंका ज्ञाता है।

भावार्थः— यहां विरोधाभास अलङ्कार है। शब्द दृष्टिसे विरोध मालूम होता है किन्तु अर्थकी अपेक्षा वह नहीं रहता है। जैसे कि जीव साधारण गुणोंसे सहित हो कर भी साधारण धर्मोंको धारण करनेवाला नहीं है इसतरह विरोध मालूम होता है। परन्तु अस्तित्वादि साधारण गुणोंसे युक्त होकरके, भी, जीव सम्यक्त्वादिक असाधारण धर्मोंको धारण करनेवाला है। अतः शाब्दिक विरोधका परिहार हो जानेसे दोनों विशेषण सार्थक सिद्ध हो जाते है।

विश्वरूप होकर भी अविश्वस्थ होनेमें विरोध मालूम होता है। किन्तु विश्व—सब पदार्थोंको जानता है। इसलिए यद्यपि विषयमें विषयीके उपचारसे वह विश्वस्थ कहा गया है तोभी वह सर्व पदार्थमय नहीं हो जाता है। इसलिए 'अविश्वस्थ' विशेषणभी सार्थक सिद्ध हो जाता है।

सर्व निरपेक्ष होकर सर्व पदार्थोंके ज्ञाता होनेमें विरोध मालूम होता है। किन्तु जीव यद्यपि निश्चयनयसे अपने २ स्वरूपमे किसी भी द्रव्यसे किसी प्रकारकी अपेक्षा नहीं रखता है तो भी वह स्वभावसे सर्व पदार्थोंका ज्ञाता है। इसप्रकार विशेष अर्थकी दृष्टिसे उपर्युक्त तीनों विशेषणोंमें किसी प्रकारका विरोध नहीं रहता है प्रत्युत विशेष ज्ञान होता है।

असंख्यातप्रदेशोपि स्यादखण्डप्रदेशवान् ।
सर्वद्रव्यातिरिक्तोपि तन्मध्ये संस्थितोपि च ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ.— जीव (असंख्यातप्रदेशः अपि) असंख्यात प्रदेशी होकरकेभी (अखण्डप्रदेशवान् स्यात्) अखण्ड प्रदेशी है (अपि च) और (सर्वद्रव्यातिरिक्तः अपि) सम्पूर्ण द्रव्योंसे भिन्न होकरकेभी (तन्मध्ये संस्थितः) सर्व द्रव्योंमें रहनेवाला है ।

भावार्थः— जीव असंख्यात प्रदेशी होकरके भी अखण्ड प्रदेशी है अर्थात् जीव लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशवान है इसलिए उसको असंख्यात प्रदेशी कहा है । परन्तु वह अपने अंशोंसे कभी छिन्नभिन्न नहीं होता है । इसलिए अखण्ड प्रदेशी कहा जाता है । तथा जीव सम्पूर्ण द्रव्योंसे भिन्न होकरके भी सर्व द्रव्यवर्ती है अर्थात् निश्चयनयसे सबही जीवादिक द्रव्य अपने २ स्वभावोंके कारण एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न होकर अपने २ में ही रहते है । किसीका किसीमें आधार आधेयभाव नहीं है । इसलिए जीव द्रव्यभी सर्व द्रव्योंसे भिन्न कहा जाता है । तथापि लोकाकाशका ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाकि छहों द्रव्य नहीं रहते हों इसलिए जीव द्रव्य सर्व द्रव्योंमें संस्थित भी कहा जाता है । इसप्रकार जीव तत्वके स्वरूपको कहकर आगे उसके प्रकारोंका वर्णन करते है ।

अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोपि यः ।
स्याद्द्विधा सोपि पर्यायान्मुक्तामुक्तप्रभेदतः ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थः— (अथ शुद्धनयादेशात्) शुद्ध नयकी अपेक्षासे (यः) जो जीव (शुद्धः) शुद्ध (अपि च) और (एकविधः) एकप्रकारका है (सः) वही जीव (पर्यायात्) पर्यार्थिक नयकी अपेक्षासे (मुक्तामुक्तप्रभेदतः) मुक्त और संसारी जीवके भेदसे (द्विविधः अपि) दो प्रकारकाभी (स्यात्) है ।

भावार्थः— शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे जीवोंमें किसी प्रकारका भेद नहीं कहा जाता है । इसलिए उस नयकी अपेक्षासे जीव शुद्ध और एकप्रकारके कहे जाते है । तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे जीवोंमें भेद कहा जाता है । इसलिए उस नयकी अपेक्षासे जीव ससारी और मुक्तरूपसे दो प्रकारके कहे जाते है ।

पुद्गलको सर्वथा शुद्ध माननेमें दोष ।

अथ चेत्पुद्गलः शुद्धः सर्वतः प्रागनादितः ।
हेतोर्विना यथा ज्ञानं तथा क्रोधादिरात्मनः ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थः— (अथ चेत्) यदि कहोकि अनादिसे (सर्वतः प्राक् अनादितः) सबसे पहले सब जीवोंमें (पुद्गलः शुद्धः) पुद्गल शुद्ध है तो (यथा) जैसे (हेतोः विना) विना किसी कारणके–स्वभाव होनेके कारण (आत्मनः ज्ञानं) आत्माके ज्ञान रहता है (तथा क्रोधादिः) वैसेही विना किसी कारणके आत्मामें क्रोधादिक रहते हैं यह मानने पडेगा ।

भावार्थः— यदि कदाचित उक्त अन्योन्याश्रय दोषके परिहारके लिए कहो कि पुद्गल अनादिसे शुद्ध है । जीवके निमित्तसे वह अशुद्ध नहीं होता है तो आत्माका स्वभाव होनेसे जैसे आत्मामें विनाकिसी कारणके सदैव ज्ञान पाया जाता है वैसेही विनाकिसी कारणके आत्मामें क्रोधादिकभी सदैव पाये जाना चाहिए ।

साराश यह है कि पुद्गलको सर्वथा शुद्ध माननेपर ज्ञानादिककी तरह क्रोधादिकका भी आत्मामें निर्निमित्त सद्भाव पाये जानेसे क्रोधादिकको भी ज्ञानादिकके समान सदैव माननेका प्रसंग आवेगा ।

एवं बन्धस्य नित्यत्वं हेतोः सद्भावतोऽथवा ।
द्रव्याभावो गुणाभावो क्रोधादीनामदर्शनात् ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ— (एवं) इसप्रकार (हेतोः सद्भावतः) हेतुके सद्भावसे अर्थात् क्रोधादिकको निर्निमित्त माननेके कारण (बन्धस्य नित्यत्वं) बन्धको नित्यपनेका प्रसंग आवेगा अर्थात् बन्ध नित्य होजावेगा (अथवा) अथवा (क्रोधादीनां अदर्शनात्) क्रोधादिकके अदर्शनसे (गुणाभावे) गुणोंके अभावमें (द्रव्याभावः) द्रव्यकाभी अभाव होजायगा ।

भावार्थः— यदि क्रोधादिक निर्निमित्त होते है । उनके लिए किसी निमित्तकी आवश्यकता नहीं है तो उन क्रोधादिककी सदैव संभावना होनेसे बन्धमें नित्यताका प्रसंग आवेगा । क्योंकि वास्तवमें क्रोधादिककोही बन्ध

कहते है। अथवा क्रोधादिकको निर्निमित्त होनेसे वे भी ज्ञानादिककी तरह आत्माके गुण हो जावेंगे और उनके अभावमें द्रव्यके भी अभावका प्रसंग आवेगा।

उपसंहार।

तत्सिद्धः सिद्धसम्बन्धो जीवकर्मोभयोर्मिथः।
सादिसिद्धेरसिद्धत्वात् असत्संदृष्टितश्च तत् ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ— (तत्) इसलिए (सादिसिद्धेः असिद्धत्वात्) सादिसम्बन्धके असिद्ध होनेसे (जीवकर्मोभयोः मिथः) जीव और कर्म इन दोनोंका परस्परमें (सिद्धसम्बन्धः) प्रसिद्ध अनादिसम्बन्ध (सिद्धः) सिद्ध होता है (च) तथा (तत् 'सादिसिद्धेः असिद्धत्वं) वह सादिसम्बन्धकी सिद्धिकी असिद्धता (असत्संदृष्टितः) जीव और कर्मोंके सादिसम्बन्धको सिद्ध करनेवाले किसी दृष्टान्तके नहीं मिलनेसे सिद्ध होती है।

भावार्थः— इसलिए जीव और कर्मोंके सादि सम्बन्धके माननेमें बन्धकी नित्यता तथा द्रव्याभावके प्रसंग रूप दो दोषोंके आनेके कारण उन दोनोंका परस्परमें अनादि सम्बन्धही सिद्ध होता है। तथा जीव और कर्मोंके सम्बन्धको सादि सिद्ध करनेके लिये कोई दृष्टान्त भी नहीं मिल सकता है इसलिये भी उन दोनोंका अनादि संबंधही सिद्ध होता है। अब आगे उनके इसी अनादि संबंधको बताते हैं।

जीवस्याशुद्धरागादिभावानां कर्म कारणम्।
कर्मणस्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत् ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थः— (प्रत्युपकारिवत्) परस्पर उपकारककी तरह (जीवस्य) जीवके (अशुद्धरागादिभावानां) अशुद्ध रागादिक भावोंका (कारण) कारण (कर्म) द्रव्यकर्म है और (तस्य कर्मणः) उस द्रव्यकर्मके कारण (रागादिभावाः रागादिक भाव है।

भावार्थः— प्रत्युपकारीके समान जीवके अशुद्ध रागादिक भाव, द्रव्यकर्मके लिये और द्रव्यकर्म, अशुद्ध रागादिक भावोके लिये कारण होते है। अर्थात् अशुद्ध रागादिक भावोंके निमित्तसे कर्मोंका बंध होता है। तथा उनके निमित्तसे आत्माके चारित्रगुणके विकाररूप अशुद्ध रागादिक भावोंकी उत्पत्ति होती है। और उन अशुद्ध रागा-

दिकके निमित्तसे फिर नवीन कर्मोंका बंध होता है। तथा उन नवीन कर्मोंके निमित्तसे फिर अशुद्ध रागादिक भावोंकी उत्पत्ति होती है। इसप्रकार प्रत्युपकारीके समान द्रव्यकर्म और अशुद्ध रागादिक परस्परमें एक दूसरेके कारण होते है।

खुलासा।

पुर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः।
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धःपुनस्ततः ॥ ४२ ॥
एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणोः।
संसारः स च दुर्मोच्यो विना सम्यग्दृगादिना ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थः—(पुर्वकर्मोदयात् भाव) पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे रागादिक भाव होते है और (भावात् प्रत्यग्र संचयः) उन रागादिक भावोंसे नवीन कर्मोंका सचय होता है तथा (तस्य पाकात्) उन नवीन कर्मोंके उदयसे (पुनः भावः) फिर रागादिक भाव होते है और (ततः भावात) उन रागादिक भावोंसे (पुनः बन्धः) फिर नवीन कर्मोंका बन्ध होता है (एव) इसप्रकार (संतानत) सन्तानपरम्परासे जो (जीवकर्मणोः अनादिसम्बन्धः) जीव और कर्मोंका अनादि सम्बन्ध है वही (ससारः) ससार है (च) तथा (सः) वह संसार (सम्यग्दृगादिना विना) सम्यग्दर्शनादिकके विना (दुर्मोच्यः) छुट नहीं सकता है।

भावार्थः— पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे भावबन्ध (रागादिक) और भावबन्धसे नवीन कर्मोंके ग्रहणरूप द्रव्यबन्ध होता है। तथा फिर उन नवीन कर्मोंके उदयसे भावबन्ध होता है। और उस भावबन्धसे फिर नवीन कर्मोंका बन्ध होता है। इसप्रकार भावबन्धके निमित्तसे द्रव्यबन्ध तथा द्रव्यबन्धके निमित्तसे भावबन्धकी परस्परा ही जीव और कर्मोंके अनादि सम्बन्धको सिद्ध करती है। तथा इस जीव कर्मके अनादि सम्बन्धकोही ससार कहते है। और वह ससार सम्यग्दर्शनादिकके विना दुर्मोच्य है।

केवल प्रदेशोंके सम्बन्धको बन्ध नहीं कहते है।

न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमात्रतः।
सोऽपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तदद्वयोरिति ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थः— (**इति**) इसप्रकार (**तद्द्वयोः**) उन जीव और कर्मोंके (**अशुद्धैः भावैः**) अशुद्ध भावोंसे (**सापेक्षः**) अपेक्षा रखनेवाला (**स बन्ध अपि**) वह बन्धभी (**केवलं**) केवल (**प्रदेशानां**) प्रदेशोंके (**सम्बन्धमात्रत**) सम्बन्धमात्रसेही (**न स्यात्**) नहीं होता हैं।

भावार्थः— जीवके रागादिक भावोंसे जो कर्म बन्धको प्राप्त होते है उनके साथ विस्रसोपचयरूप कर्मभी रहते है। और उनकाभी आत्माके प्रदेशोंके साथ एकक्षेत्रावगाहरूप होना माना है। यदि उन दोनों आत्मा और कर्मोंके एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धमात्रको बन्ध मानाजाता तो विस्रसोपचयरूप कार्माणवर्गणायेंभी बद्ध कहलातीं। किंतु वे बद्ध नहीं कहलातीं है। इसलिये प्रदेशोंके सम्बन्धमात्रको बन्ध नहीं कहते है किंतु उन दोनोंके अशुद्ध भावोंकी अपेक्षासे होनेवाले जीव और कर्मोंके एकत्वबुद्धिजनक रागादिरूप सम्बन्ध विशेषको बंध कहते है। तथा वह बंध केवल जीव और पुद्गलमें उनकी वैभाविक शक्तिके द्वारा होता है।

आगे इसी अर्थका खुलासा करते हैं।

अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थः— (**तद्द्वयोः**) उन दोनों जीव और कर्मोंमें (**पृथक्**) भिन्न २ (**मिथः**) परस्परमें (**बन्धाधिकारिणी**) बन्धको करानेवाली (**अयस्कांतोपलाकृष्टसूचीवत्**) चुम्बक पत्थरके द्वारा खिचनेवाली लोहेकी सुईके समान अर्थात् आकर्षक तथा आकृष्यरूप (**विभावाख्या शक्तिः अस्ति**) विभाव नामकी शक्ति है।

भावार्थ— जैसे लोहेमें आकृष्य शक्तिके तथा चुम्बकमें आकर्षक शक्तिके रहनेसे परस्पर उन दोनोंमें आकर्षण होता है वैसेही जीवमें वैभाविक नामकी आकर्षक और पुद्गलमें आकृष्यरूप—खिचे जाने योग्य बंधनेरूप जो वैभाविक शक्ति है उसके निमित्तसे जीव व पुद्गल इन दोनोंका परस्परमें वह बंध होता है। यही कारण है कि जीवका पुद्गलके साथ बंध होता है इतर द्रव्योंके साथ नहीं। यहा इतनी विशेषता और समझना चाहिये कि पुद्गलोंमें दो प्रकारकी वैभाविक शक्तियां है। एक तो वह वैभाविक शक्तिहैकि जिसके निमित्तसे वह जीवके साथ बंधको प्राप्त होसकता है। तथा दुसरी वह वैभाविक शक्तिहैकि जिसके निमित्तसे वह पुद्गल, पुद्गलके साथ सजातीय बंधको प्राप्त होसकता है। इसप्रकार

जीव और पुद्गलमें वैभाविक शक्तिके माननेके कारण, जीव तथा पुद्गलमेंही बंध क्यों होता है। इतर द्रव्योंके साथ उनका बंध क्यों नहीं होता है। और क्यों अनादि कालसे जीव, कर्मोंके साथ बंधको प्राप्त होता आ रहा है। इत्यादि प्रश्नोंका निराकरण हो जाता है।

बन्धके प्रकारोंका वर्णन।

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयो द्वन्द्वजः क्रमात् ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थतः) वास्तवमें (भावद्रव्योभयात्मकः) भाव द्रव्य और उभय इसतरह (बन्धः त्रिविध) बन्ध तीन प्रकारका है उनमेंसे (क्रमात् प्रत्येक तद्द्वयं यावत्) क्रमसे भावबन्ध तथा द्रव्य-कर्मबन्ध ये दो बंध प्रत्येकरूपसे—स्वतंत्ररूपसे होते हैं और (तृतीयः द्वन्द्वज) तीसरा उभय बंध दोनोंके मेलसे होता है।

भावार्थः— बंध तीन प्रकारके होते हैं १ भावबन्ध, २ द्रव्यबन्ध और ३ उभयबन्ध। उनमेंसे बन्धके मूल कारणभूत जीवके अशुद्ध रागादिक भावोंको भावबन्ध कहते हैं। तथा कर्मस्कंधोंको द्रव्यबन्ध कहते है। और दोनोंके संबंध होनेपर होनेवाले तृतीय अवस्थारूप बंधको उभय बध कहते हैं। आगे इसी अर्थका खुलासा करते हैं।

भावबन्ध और द्रव्यबन्धका स्वरूप।

रागात्मा भावबन्धः स जीवबन्ध इति स्मृतः।
द्रव्यं पौद्गलिकः पिण्डो बन्धस्तच्छक्तिरेव वा ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थः— (यः रागात्मा भावबन्ध) जो रागादिरूप भावबन्ध है (सः जीवबन्धः इति स्मृतः) वह जीवबन्ध कहलाता है और (पौद्गलिकः पिण्ड द्रव्यं) कर्मरूप पौद्गलिक पिंडको द्रव्यबंध (वा) अथवा (तच्छक्तिः एव बन्धः) कर्मकी शक्तिकाही नाम द्रव्यबन्ध है।

भावार्थः— नवीन कर्मोंके निमित्तभूत रागादिक भावोंको भावबन्ध कहते है। इस बंधका दूसरा नाम जीवबध भी है। और पुद्गल पिण्डाकार कर्मको, अथवा उनकी ज्ञानादिकको घातने वाली शक्तिको, द्रव्यबंध कहते है।

१ पद्य १०२ देखो।

उभय बन्धका स्वरूप।

इतरेतरबन्धश्च देशानां तद्द्वयोर्मिथः ।

बन्ध्यबन्धकभावः स्याद्भावबन्धनिमित्तत ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थः— (च तथा तद्द्वयोः) उन जीव और कर्मोंके (देशानां) प्रदेशोंका (मिथः) परस्परमें (भावबन्धनिमित्ततः) भावबन्धके निमित्तसे जो (बन्ध्यबन्धकभावः) बन्ध्यबन्धक भाव है वह (इतरेतरबन्धः स्यात्) इतरेतर बन्ध-उभयबन्ध कहलाता है।

भावार्थः— रागादिरूप परिणत जीवके प्रदेशोंका तथा कर्मके प्रदेशोंका परस्परमें रागादिक भावबंधके निमित्तसे जो बध्यबधकभाव होता है उसको उभयबंध कहते हैं। जैसे हल्दी और चूनाके परस्परमें अत्यन्त संश्लेष होनेसे दोनोंही अपनी २ पूर्व अवस्थासे च्युत होकर तृतीय अवस्थारूप लालिमाको धारण करते हैं। वैसेही रागादि परिणत अशुद्ध आत्माके प्रदेश तथा पुद्गलके प्रदेश भावबंध-रागादिकके निमित्तसे अपनी २ पूर्व अवस्थासे च्युत होकर तीसरी अशुद्ध परिणतिरूप अवस्थाको प्राप्त हो जाते है। इसीका नाम उभयबंध है। और यही वास्तविक बंध है। क्योंकि पहलेके दो बंधतो बंधकी योग्यताके कारण बध कहलाते है जैसे चूना तथा हल्दी। अब आगे-इसबंधके कारणभूत जीव और कर्मके अस्तित्वकी सिद्धि करते है।

नाप्यसिद्धं स्वतस्सिद्धेरस्तित्वं जीवकर्मणोः ।

स्वानुभवगर्भयुक्तेर्वा चित्समक्षोपलब्धितः ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थः— (स्वत सिद्धेः) स्वतः सिद्धिसे तथा (स्वानुभवगर्भयुक्तेः) स्वानुभव सहित युक्तियोंसे (वा) और (चित्समक्षोपलब्धितः) स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे (जीवकर्मणोः अपि) जीवक कर्मका (अस्तित्वं) अस्तित्व (असिद्धं न) असिद्ध नहीं है।

भावार्थः— उभयबंधकी सिद्धिके लिए सबसे पहले जीव और कर्मोंके अस्तित्वको सिद्ध करना आवश्यक है। अतः ग्रन्थकार कहते है कि जीव तथा कर्मोंका अस्तित्व असिद्ध नही है। क्योंकि स्वतःसिद्ध स्वानुभवसे गर्भित युक्तियोंसे तथा स्वानुभव प्रत्यक्षके द्वारा वह सिद्ध होता है। अब आगे इन दोनोंके अस्तित्वकी सिद्धिमें युक्तिको बताते है।

अहम्प्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात् ।
एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ— (अहंप्रत्ययवेद्यत्वात्) अहं प्रत्यय वेद्यरूप (अन्वयात्) अन्वयसे (जीवस्य) जीवका ('अस्तित्व') अस्तित्व सिद्ध होता है और (हि) निश्चयसे (एकः दरिद्रः) कोई दरिद्री (च) तथा (एकः श्रीमान्) कोई श्रीमान् होता है (इति) इसलिए इस दशाकी विचित्रतासे (कर्मणः) कर्मका (अस्तित्वं) अस्तित्व सिद्ध होता है ।

भावार्थः— प्रत्येक जीवमें जो निरंतर अहं प्रत्यय (मैं मैं ऐसा अनुभव) पाया जाता है उसीसे आत्माका बोध होता है । अतः सदैव अन्वयपूर्वक पाये जाने वाले अहं प्रत्ययसे जीवकी सिद्धि होती है । और सब जीवोंके सदृश होनेपर तथा सदृश उद्योगके करते रहनेपर भी कोई दरिद्री और कोई श्रीमान् देखा जाता है । अतः दारिद्र्य व श्रीमत पनेके कारणभूत कर्मोंके सद्भावका अनुमान किया जाता है ।

इसप्रकार स्वानुभवगर्भित युक्तिसे तथा स्वानुभवसे जीव और कर्मका अस्तित्व सिद्ध करके आगे जीव तथा कर्मोंके अनादि व स्वतःसिद्ध संयोगको सिद्ध करते है ।

जीव और कर्मका संयोग स्वतःसिद्ध है ।

यथास्तित्वं स्वतः सिद्धं संयोगोपि तथानयोः ।
कर्तृभोक्त्रादिभावानामन्यथानुपपत्तितः ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (अनयोः) जीव और कर्मका (अस्तित्वं) अस्तित्व (स्वतः सिद्धं) स्वतः सिद्ध है (तथा) वैसेही (संयोगः अपि) उन दोनोंका संयोगभी स्वतःसिद्ध है क्योंकि (अन्यथा) यदि उनका संयोग स्वत सिद्ध नहीं माना जायगा तो (कर्तृभोक्त्रादिभावानां) उनमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि भावोंकी (अनुपपत्तितः) उपपत्ती नहीं वनसकेगी ।

भावार्थः— जिसप्रकार जीव और कर्मका अस्तित्व स्वतःसिद्ध है । उसीप्रकार उन दोनोंका संयोगभी स्वतःसिद्ध है क्योंकि यदि जीव तथा कर्मोंका संयोग स्वतःसिद्ध नहीं होता तो जीवमें कर्ता और भोक्तापना नहीं

घनता अर्थात् यदि कर्म सयोग न होता तो कर्मके फलका भोगना व कर्मका करना ये दोनोंही भाव जीवमें कैसे संभव होते ? कारण कि जीव जो कर्म करता है और उनका फल भोगता है वह सब उस स्वतःसिद्ध कर्मसंयोगपूर्वकही होता है। जिससमय कर्मका सम्बन्ध छुट जाता है। और जीव मुक्त होजाता है उससमय न वह किसी प्रकारके भावकर्मही करता है। तथा न उनके शुभाशुभ फलकोही भोगता है। इसलिये कर्मकर्तृत्व और भोक्तृत्वसे, जीव तथा कर्मके स्वत सिद्ध सयोगकी सिद्धि होती है।

इसप्रकार जीव और कर्मके अनादि स्वतःसिद्ध संयोगको सिद्ध करके आगे—मूर्तकर्मोंके साथ अमूर्त जीवका बन्ध कैसे होता है इस विषयमें उहापोहपूर्वक विचार करते हैं।

शंका।

ननु मूर्तिमता मूर्तो बध्यते द्व्यणुकादिवत्।
मूर्तिमत्कर्मणा बन्धो नामूर्तस्य स्फुटं चितः॥ ५२॥

अन्वयार्थ — (ननु) शंकाकारका कहना है कि (द्व्यणुकादिवत्) जैसे द्व्यणुक आदि स्कंधोंमें मूर्तिमान् परमाणुओंका मूर्त परमाणुओंसेही बन्ध होता है वैसेही (मूर्त्तिमता मूर्तः बध्यते) मूर्तिमान्के साथ मूर्तका बन्ध होसकता है इसलिए उक्त दृष्टांतसे (स्फुटं) यह स्पष्ट है कि (मूर्तिमत् कर्मणा) मूर्तिमान कर्मके साथ (अमूर्तस्य चित बन्धः न) अमूर्त आत्माका बन्ध नहीं होसकता है।

भावार्थः— शंकाकारका कथन है कि द्व्यणुकादिक स्कन्धोमें मुर्तिमानका मूर्तिमानसेही संयोगबंध देखा जाता है। इसलिए मूर्तिक कर्मोंके साथ अमूर्तिक आत्माका बन्ध नहीं होना चाहिए।

समाधान।

नैवं यतः स्वतः सिद्धः स्वभावोऽतर्कगोचरः।
तस्मादर्हति नाक्षेपं चेत्परीक्षां च सोर्हति॥ ५३॥

अन्वयार्थः— (एवं न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (स्वतः सिद्धः स्वभावः) अनादिकालके बन्धरूप स्वतः सिद्ध स्वभाव (अतर्कगोचरः) तर्कका विषय नहीं होता है (तस्मात्) इसलिये

(सः) वह स्वतःसिद्ध स्वभाव (आक्षेपं न अर्हति) आक्षेप करनेके योग्य नहीं है (च) और (चेत्) यदि चाहोतो (परीक्षां अर्हति) उसकी परीक्षा की जासकता है।

भावार्थः— जीव और कर्मोंमें वैभाविकी शक्ति नामा एक गुण माना है। उसके अशुद्ध परिणमनके निमित्तसे जीव व कर्मोंमें परम्परासे अनादि सम्बन्ध हो रहा है। वह वैभाविकी शक्ति जीव तथा पुद्गलकी स्वाभाविक शक्ति है। इसलिए उसके निमित्तसे स्वतःसिद्ध जीव और कर्मके सम्बन्धमें यह प्रश्न नहीं किया जासकता कि अमूर्तीक जीवसे उनका सम्बन्ध क्यों हुआ। कारण कि स्वभावमें तर्क नहीं किया जासकता। इसलिए इसविषयमें आक्षेप नहीं किया जासकता। हां यदि चाहो तो परीक्षा की जासकती है।

उदाहरण।

अग्नेरौष्ण्यं यथा लक्ष्म न केनाप्यार्जितं हि तत्।
एवं विधः स्वभावाद्वा न चेत्स्पर्शेन स्पृश्यताम् ॥ ५४ ॥
तथानादिः स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणोः।
कुतः केन कृतः कुत्र प्रश्नोऽयं व्योमपुष्पवत् ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे ('यत्') जो (अग्नेः औष्ण्यं लक्ष्म) अग्निका उष्णतारूप लक्षण है (तत्) वह (हि) निश्चयसे (केन अपि अर्जितं न) किसीनेभी बनाया नहीं है किंतु (स्वभावात् वा एवं विधः) स्वभावसेही वह ऐसा है (न चेत्) यदि उसे ऐसा नहीं मानते होतो (स्पर्शेन स्पृश्यतां) स्पर्शन इन्द्रियसे स्पर्श करके मालूम करलिया जाय (तथा) वैसेही (जीवपुद्गलकर्मणो) जीव और पुद्गलस्वरूप कर्मोंका (बन्धः) बन्ध (स्वतः अनादिः) स्वयं अनादि है इसलिये (कुतः) किस कारणसे हुवा (केन कृतः) किसने किया तथा (कुत्र) कहां हुआ (अयं प्रश्नः) यह प्रश्न (व्योमपुष्पवत्) आकाशके फूलकी तरह व्यर्थ है।

भावार्थः— जीव और कर्मके स्वतःसिद्ध अनादि सम्बन्धमें यह उदाहरण दिया जासकता है कि जैसे अग्निका उष्णता लक्षण है। वह किसीने अग्निमें उत्पन्न नहीं किया है। किन्तु वह अग्नि स्वतःसिद्ध उष्ण है। इसलिए

अग्नि उष्ण क्यों हुई इसप्रकारका प्रश्न नहीं किया जासकता है। हां! यदि कोई न माने तो स्पर्शके द्वारा परीक्षा कर सकता है। वैसेही जीव और कर्मोंका वैभाविक शक्तिके निमित्तसे जो स्वतःसिद्ध अनादि सम्बन्ध है उसमें, किसनें किया? कहा किया? इसप्रकारके प्रश्न नहीं किये जासकते है। प्रत्युत ऐसे प्रश्न करना आकाश कुसुमके समान अलीक (व्यर्थ) है।

चेद् बुभुत्सास्तिचित्ते ते स्यात्तथा वान्यथेति वा।
स्वानुभूतिसनाथेन प्रत्यक्षेण विमृश्यताम् ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ — (चेत्) यदि (तथा वा स्यात् अन्यथा वा) जीव कर्मोंका सम्बन्ध अनादि है किंवा सादि है–अनादि नहीं है (इति) यह (बुभुत्सा) जाननेकी इच्छा (ते चित्ते अस्ति) तेरे हृदयमें हो तो (स्वानुभूति सनाथेन प्रत्यक्षेण) स्वानुभव प्रत्यक्षसे (विमृश्यतां) परीक्षा कर लीजावे।

भावार्थः— यदि तुम्हारे चित्तमें यह जिज्ञासा हो कि जीव और कर्मका वह बंध अनादिसे स्वतःसिद्ध है या नहीं तो स्वानुभूति प्रत्यक्षसे उसकी परीक्षा की जासकती है।

अब आगे मूर्तीक कर्मोंके साथ होनेवाले अमूर्तीक आत्माके सम्बन्धको मद्यके द्वारा मूर्छित होनेवाले मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानके दृष्टान्तसे स्पष्ट करते है।

अस्त्यमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुतः
मद्यादिना समूर्तेन स्यात्तत्पाकानुसारि तत् ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थः— (वस्तुतः) वास्तवमें (मतिज्ञानं) मतिज्ञान (च) और (श्रुतज्ञानं) श्रुतज्ञान (अमूर्तं अस्ति) अमूर्त हैं किंतु (तत्) वह दोनों प्रकारका ज्ञान (समूर्तेन मद्यादिना) मूर्तीक मद्य आदिके सम्बन्धसे (तत्पाकानुसारि स्यात्) मद्यादिकके परिपाकके अनुसार मूर्च्छित होजाता है।

भावार्थः— यद्यपि मतिश्रुतज्ञान अमूर्तिक आत्माके ज्ञानगुणकी पर्याय होनेसे, वास्तवमें अमूर्तीक हैं तथापि मादक पदार्थोंके पीनेसे जो बेहोशी आती है उसके कारण वे दोनों ज्ञान भ्रान्त हो जाते है।

उक्त कथन असिद्ध नहीं है।

नासिद्धं तद्यथायोगात् यथा दृष्टोपलब्धितः।
विना मद्यादिना यस्मात् तद्विशिष्टं न तद्द्वयम् ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थः— (यथादृष्टोपलब्धितः) यथा दृष्टोपलब्धिसे अर्थात् जैसाकि लोकमें देखा जाता है यदि उसके अनुसार वास्तवमें देखा जावे तो (तथायोगात्) मद्यादिकके सम्बन्धसे (तत्) वे दोनों मति और श्रुतज्ञान मूर्च्छित होजाते है यह कथन (असिद्धं न) असिद्ध नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (तद्द्वयं) वे दोनों मतिश्रुतज्ञान (मद्यादिनाविना) मद्यादिकके विना (तद्विशिष्टं न) मद्य पीनेवालेके समान मलिन--विकारयुक्त नहीं होते है।

भावार्थः--- मूर्त मद्यके निमित्तसे मति, श्रुत दोनों विकृत हो जाते है। यह असिद्ध नहीं है। क्योंकि मद्यके निमित्त विना वे मतिश्रुतज्ञान मद्य पीनेवालेके समान मूर्छित (बेहोश) नहीं देखेजाते है। अतः मूर्त मद्यादिकके सम्बन्धसे अमूर्त ज्ञानका सम्बन्ध होता है। यह असिद्ध नहीं है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें मूर्तता उपचारसे है।

अपि चोपचारतो मूर्तं तूक्तं ज्ञानद्वयं हि यत्।
न तत्तत्त्वाद्यथा ज्ञानं वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थः-- (अपि च) और (यत् ज्ञानद्वयं) जो उन दोनों ज्ञानोंको (मूर्तं उक्तं) मूर्तीक कहा है ('तत्' तु उपचारतः) वह तो केवल उपचारसे कहा है (तत्वात्) वास्तवमें (तत् ज्ञानं तथा न) वे दोनों ज्ञान मूर्तीक नहीं है (हि) क्योंकि (वस्तुसीम्नः अनतिक्रमात्) कोईभी पदार्थ परके सम्बन्धसे अपने स्वभावका उल्लंघन नहीकरता है।

भावार्थः— यदि कदाचित यह कहा जाय कि मतिश्रुतज्ञान तो मूर्तीक माने गये हैं इसलिये मद्यादिक के साथ उनका सम्बन्ध होनेसे मूर्तका मूर्तसेही सम्बन्ध सिद्ध होता है अमूर्तसे मूर्तका सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता तो यह कहनाभी ठीक नहीं है। क्योंकि मतिश्रुतज्ञान क्षायोपशमिकहोते हैं इसलिये अथवा संसारी आत्माकेही मतिश्रुत होता

इस लिए उन्हें उपचारसे मूर्तिक माना है । वास्तवमें वे दोनों, आत्माके ज्ञानगुणकी पर्याय होनेसे अमूर्तिकही हैं ।

उपचार असिद्ध नहीं है ।

नाऽसिद्धश्चोपचारोयं मूर्तं यत्तत्त्वतोपि च ।
वैचित्र्याद्वस्तुशक्तीनां स्वतः स्वस्यापराधतः ॥ ६० ॥

अन्वयार्थ— (अपि च) तथा (मूर्तं) मति और श्रुतज्ञान मूर्तीक है (अय च उपचारः) यह उपचार (असिद्धः न) असिद्ध नहीं है (यतः) क्योंकि (तत्वतः) वास्तवमें (वस्तुशक्तीनां वैचित्र्यात्) वस्तुओंके गुणोंमें विलक्षणता होती है इसलिये यह स्वभाव उन वस्तुओंका (स्वतः स्वस्यापराधत.) स्वयंसिद्ध अपराध है अत वह परकृत न होनेसे दोषका नियामक नहीं कहा जासकता है ।

भावार्थ — मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मूर्तिमत्सम्बन्धसे मूर्त कहे जाते हैं । यह असिद्ध नहीं है । क्योंकि तत्वत· जीव तथा पुद्गलोंमें वैभाविक शक्तिके निमित्तसे बंध होता है । और उस बंधकी अपेक्षासे मतिश्रुतको मूर्त कहते है । यदि कदाचित् कहा जाय कि ऐसा क्यों होता हैं तो उसका उत्तर यही है कि वस्तुओंमे शक्तियोंकी विचित्रता पाई जाती है । इसलिए वह उनके स्वभावकाही दोष मानना चाहिये ।

साराश यह है कि वैभाविक शक्तिके निमित्तसे परवस्तुके साथ बन्ध होनेके कारण, मूर्तिमत् सम्बन्धसे जो मति श्रुतको मूर्त कहते है वह जीवकी वैभाविक शक्तिका स्वतःसिद्ध अपराध है । कारणकि यदि आत्मामें वैभाविक शक्ति न होती तो उसका मूर्तिमत् पदार्थसे संबन्धभी न होता और न फिर संसारी आत्मा व आत्माके मतिज्ञानादिक, मूर्त कहे जाते । इसलिये आत्माको व मतिश्रुतको उसकी वैभाविक शक्तिके निमित्तसे जो उपचारवश मूर्त कहाजाता है वह किसीका अपराध नहीं है केवल उस वैभाविक शक्तिकाही अपराध हैं ।

क्योंकि ।

अप्यस्त्यनादिसिद्धस्य सतः स्वाभाविकी क्रिया ।
वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्तितः ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थः— (अनादिसिद्धस्यापि सतः) स्वतः अनादिसिद्धभी सत्में (पारिणामिक शक्तितः)

परिणमनशीलतासे (**स्वाभाविकी क्रिया**) स्वाभाविकी क्रिया (**च**) और (**वैभाविकी क्रिया**) वैभाविकी क्रिया (अस्ति) होती है।

भावार्थः— अनादिसिद्ध सत्में पारिणामिक शक्तिसे अर्थात् स्वतःसिद्ध स्वाभाविक परिणमनशीलतासे स्वाभाविकी और वैभाविकी दोनोंही प्रकारकी क्रियाए परिणमन होती रहती है अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार द्रव्यनिष्क्रिय हैं। अतः उनमें किसी प्रकारकी क्रिया नहीं पाई जाती है। केवल उत्पादादिक भाव पाये जाते है। जीव और पुद्गल ये दोनों क्रियावान् तथा भाववान् है। इसलिए उनमें उत्पादादिक भाव और स्वाभाविकी तथा वैभाविकी दोनों प्रकारकी क्रिया पाई जातीं हैं। अतः जीव और पुद्गलमें वैभाविक शक्तिके निमित्तसे जो वैभाविक भाव हो रहा है उसीके कारण जीवके मतिश्रुत उपचारवश मूर्तीक कहे जाते है। उनके मूर्त कहलानेमें कारण जीवके वैभाविक भावही है इतर भाव नहीं। इसलिए मूर्त कहलानेमें किसी अन्यका अपराध नहीं है।

न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया।
यस्मात्सतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्यैर्न शक्यते ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थः— (सतः) द्रव्यकी (**वैभाविकी क्रिया**) वैभाविकी क्रिया (**पर**) केवल (**परायत्ता न स्यात्**) पराधीन नहीं होती है (**यस्मात्**) क्योंकि (**सतः**) द्रव्यकी (**असती शक्ति.**) अविद्यमान शक्ति (**अन्यैः कर्तुं न शक्यते**) दूसरोंके द्वारा उत्पन्न नहीं कीजासकती है।

भावार्थः— जीव और पुद्गलोंमें वह वैभाविकी क्रिया स्वयं किसी गुणके निमित्त विना, केवल पराधीनताके कारणसेही नहीं होसकती है। क्योंकि जिस पदार्थमें जो शक्तिही नहीं है उसको केवल परनिमित्त उत्पन्नही नहीं करसकता है अर्थात् यदि जीव और पुद्गलमें वैभाविक शक्ति न होती तो केवल परनिमित्तसे बंध नहीं होसकता था। इसलिए बन्धका मूल निमित्त वैभाविकी शक्तिको मानना चाहिए। उसीके मूल निमित्तसे होनेवाले परवस्तुके संयोगसे जीव व पुद्गलोंमें वैभाविकी क्रिया होती है।

अब आगे वैभाविकी और स्वाभाविकी दोनोंही क्रियाएँ जब पारिणामिकी हैं तो फिर उनमें अंतर क्या है इस विषयमें शंका समाधानपूर्वक विचार करते है।

शंका ।

नन्रु वैभाविकभावाख्या क्रिया चेत्पारिणामिकी ।
स्वाभाविक्याः क्रियायाश्च कः शेषो हि विशेषभाक् ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थ— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (चेत्) यदि (वैभाविकभावाख्या क्रिया पारिणामिकी) वैभाविकी क्रियाभी अनादि सत्वमें परिणमन शीलतासे, होती है तो (हि) निश्चयसे (स्वाभाविक्या क्रियायाः) उसमें, स्वभाविकी क्रियासे (विशेषभाक्) विशेषताको रखनेवाला (कश्च शेषः) कौनसा विशेष भेद रहेगा ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि वैभाविकी क्रिया भी पारिणामिकी है तो फिर स्वाभाविकी क्रिया और वैभाविकी क्रियामें क्या अंतर रहेगा ? अर्थात कुछभी नहीं ।

दृष्टान्त पूर्वक शंकाका स्पष्टीकरण ।

अपि चार्थपरिच्छेदि ज्ञानं स्वं लक्षणं चितः ।
ज्ञेयाकाराक्रिया चास्य कुतो वैभाविकी क्रिया ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ— (अपि च) तथा (अर्थपरिच्छेदिज्ञानं) पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञान (चितः) आत्माका (स्वं लक्षणं) स्वलक्षण है इसलिये (अस्य च) इस ज्ञानकी यह (ज्ञेयाकारक्रिया) ज्ञेयके आकार होनेरूप क्रिया (कुत. वैभाविकी क्रिया) किस तरहसे वैभाविकी क्रिया हो सकती है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि पदार्थोंको जानना ज्ञानका लक्षण है । इसलिये यदि दोनोंही क्रियाएँ पारिणामिकी है तो फिर मतिश्रुत ज्ञानकी घटादिक ज्ञेयके आकार होनेरूप जो क्रिया है वह वैभाविकी क्रिया कैसे कही जावेगी ? अर्थात् किसी तरह नहीं ।

तस्माद्यथा घटाकृत्या घटज्ञानं न तद्घटः ।
मद्याकृत्या तथाज्ञानं ज्ञानं ज्ञानं न तन्मयम् ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थः— (तस्मात्) इसलिए (यथा) जैसे (घटाकृत्या) घटरूप ज्ञेयाकार होनेसे (तत्

(घटज्ञानं) यह घटका ज्ञान (घटः न) घट नहीं होजाता है वैसेही (मद्याकृत्या) मद्यके अनुभवसे (ज्ञानं) ज्ञान (तन्मय न) मद्यमय नहीं होजाता है किंतु (ज्ञानं) ज्ञान (ज्ञानं) ज्ञानही रहता है

भावार्थः— इसलिए जैसे घटाकार होनेसे ज्ञान कुछ घट नहीं होजाता है वैसेही मद्यके आकार होनेसे भी वह ज्ञान, ज्ञानही रहता है कुछ मद्यमय नहीं हो जाता है। अत मतिज्ञानादिरूप वैभाविक क्रियामें और केवल ज्ञानरूप स्वाभाविक क्रियामें क्या अन्तर है। अर्थात् कुछभी अन्तर नहीं है।

समाधान।

नैवं यतो विशेषोस्ति बद्धाबद्धावबोधयोः।
मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात् ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थः-- (एवं न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (बद्धाबद्धावबोधयोः) बद्ध और अबद्ध ज्ञानोंमें (विशेष. अस्ति) भेद है उनमेंसे (मोहकर्मावृत्त बद्धः) मोहनीय कर्मसे आवृत ज्ञानको बद्ध कहते है तथा (तदत्ययात् अबद्ध स्यात्) उस मोहनीय कर्मसे रहित ज्ञानको अबद्ध कहते है।

भावार्थः--- शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है क्योकि बद्ध द्रव्यकी वैभाविकी क्रिया और अबद्ध द्रव्यकी स्वाभाविकी क्रिया होनेसे बद्ध तथा अबद्ध ज्ञानमें अन्तर रहता है। जो ज्ञान मोह कर्मसे युक्त रहता है उसको बद्ध और जो मोहकर्मसे रहित है उसको अबद्ध कहते है। अर्थात् मोह कर्मसे युक्त ज्ञानको बद्ध तथा मोह कर्मके अभावसे ज्ञानको अबद्ध कहते है।

मोहकर्मावृतं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
इष्टानिष्टार्थसंयोगात् स्वयं रज्यद्द्विषद्यथा ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ – (यत् ज्ञानं) जो ज्ञान (मोहकर्मावृतं) मोह कर्मसे युक्त है वह (यथा) जैसे (इष्टानिष्टार्थ संयोगात्) इष्ट और अनिष्ट अर्थके संयोगसे (स्वय) स्वयं (रज्यत् द्विषत्) रागद्वेषमय होता है (तथा) वैसेही वह (प्रत्यर्थं परिणामि) प्रत्येक पदार्थका विषय करनेवाला होता है अर्थात् युगपत् सब पदार्थोंको विषय करनेवाला नहीं होता है।

भावार्थः— जबतक मोहनीय कर्मका उदय रहता है तबतक उसीके अनुसार राग द्वेपमय प्रवृत्ति रहनेसे ज्ञानकी, सर्व पदार्थोंको युगपत् जाननेरूप स्वाभाविक क्रिया न होकर इष्टानिष्ट अर्थके ग्रहण और त्यागनेरूप वैभाविक क्रियाही होती है।

तत्र ज्ञानमबद्धं स्यान्मोहकर्मातिगं यथा ।
क्षायिकं शुद्धमेवैतल्लोकालोकावभासकम् ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (तत्र) उन बद्ध और अबद्ध ज्ञानोंमें (मोहकर्मातिगं ज्ञानं) मोहकर्मके नाशसे व्यक्त होनेवाला ज्ञान (अबद्ध स्यात्) अबद्ध कहलाता है तथा (एतत् एव) यही ज्ञान (क्षायिकं) क्षायिक (शुद्धं) शुद्ध और (लोकालोकावभासकं) लोक व अलोकका प्रकाशक है।

भावार्थः— मोह कर्मके अभावसे होनेवाला ज्ञान अबद्ध कहलाता है। और बन्ध निर्मुक्त वही ज्ञान क्षायिक, लोकालोकका युगपत् प्रकाशक तथा शुद्ध कहलाता है। यही ज्ञानकी स्वाभाविकी क्रिया है।

उक्त कथन असिद्ध नहीं हैं

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्तात् एतद्दृष्टोपलब्धितः ।
शीतोष्णानुभवः स्वस्मिन् न स्यात्तज्ज्ञे परात्मनि ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थः— (एतत्) यह उक्त कथन (सिद्धदृष्टांतात्) प्रसिद्ध इस दृष्टांतसे और (दृष्टोपलब्धितः) प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध होनेके कारण (असिद्धं न) असिद्ध नहीं है क्योंकि (स्वस्मिन्) अपनेमें (शीतोष्णानुभवः) शीत तथा उष्णका अनुभव होता है किंतु (तज्ज्ञे परात्मनि) उस सबके जाननेवाले परमात्मामें (न स्यात्) नहीं होता हैं।

भावार्थः— वैभाविकी क्रिया और स्वाभाविकी क्रियामें पारिणामिकपनेके रहते हुएभी उक्त बद्ध तथा अबद्धज्ञानमें जो अन्तर बताया है वह असिद्ध नहीं है। क्योंकि रागी द्वेषी प्राणियोंके ज्ञानमें शीत और उष्णका स्वानुभव होता है। अर्थात् रागद्वेषके कारण उनको शीत तथा उष्णके विषयमें इष्ट अनिष्टपनेकी प्रतीति होती है। किंतु रागद्वेष रहित परमात्मामें सर्व पदार्थोंका युगपत् ज्ञान होनेसे शीत उष्णता आदिका ज्ञान तो होता है। परन्तु रागादिकका

भावसे उनका अनुभव अर्थात् शीतोष्णके विषयमें इष्टानिष्टकी कल्पना नहीं होती है।

ततः सिद्धः सुदृष्टान्तो मूर्तज्ञानद्वयं यथा।
अस्त्यमूर्तोऽपि जीवात्मा बद्धः स्यान्मूर्तकर्मभिः ॥ ७० ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिये यह (सुदृष्टांतः सिद्धः) सम्यक्‌दृष्टांत सिद्ध हुवा कि (यथा) जैसे (ज्ञानद्वय अमूर्त सत्) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अमूर्त होकरभी (मूर्त अस्ति) मूर्त कहलाते हैं ('तथा') वैसेही (अमूर्तः जीवः अपि) अमूर्त जीवात्माभी (मूर्तकर्मभिः बद्धः स्यात्) मूर्त कर्मोंसे बद्ध होता है।

भावार्थः— इसलिए सिद्ध होता है कि जैसे अमूर्त मतिश्रुतज्ञान मद्यादिकके द्वारा मूर्च्छित होकर बद्ध सिद्ध होते हैं। वैसेही अमूर्त आत्माभी मूर्त कर्मोंके उदयानुसार मूर्च्छित होनेके कारण बद्ध सिद्ध होता है।

अब आगे-बद्धत्व और अशुद्धत्वके विषयमें शंका समाधानपूर्वक विचार करते हैं।

ननु बद्धत्वं किं नाम किमशुद्धत्वमर्थतः
वावदूकोऽथ संदिग्धो बोध्यः कश्चिदिति क्रमत् ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थः— (अथ) अब (ननु) शंकाकारका कहना है कि (अर्थतः) वास्तवमें (बद्धत्वं कि नाम) बद्धत्व किसे कहते हैं और (अशुद्धत्वं कि नाम) अशुद्धत्व किसे कहते हैं (इति) इस विषयमें (संदिग्धः कश्चित् वावदूकः) संदेह रखनेवाले किसी वादीको (क्रमात्) क्रमसे (बोध्यः) समझाया जाता है।

भावार्थः— शंकाकारका प्रश्न है कि बद्धत्व और अशुद्धत्वका क्या अर्थ है?

समाधान।

अर्थाद्वैभाविकी शक्तिर्या सा चेदुपयोगिनी।
तद्‌गुणाकारसंक्रांतिर्बन्धः स्यादन्यहेतुकः ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (या) जो (वैभाविकी शक्ति) वैभाविकी शक्ति है (सा)

वह (उपयोगिनी चेत्) यदि उपयोगवाली-चरितार्थ हो तो (अन्यहेतुकः तद्गुणाकारसंक्रांतिः) जो परद्रव्यके निमित्तसे जीव और पुद्गलके गुणोंमें संक्रमण होना है (बन्धः स्यात्) वह बन्ध कहलाता है।

भावार्थः— उपर्युक्त योगसहित वैभाविकी शक्तिके कारण परस्परमें एक दूसरेके निमित्तसे जो बांधनेवाले और बंधनेवाले पदार्थोंके गुणोंमें संक्रमण होता है उसको बंध कहते हैं। अर्थात् दोनों द्रव्योंके गुणोंमें अपने २ स्वरूपसे च्युत होकर तृतीय अवस्थाका प्राप्त होना बंध कहलाता है।

बन्धमें परायत्तता प्रयोजक है।

तत्र बन्धे न हेतुःस्याच्छक्ति वैभाविकी परम्।
नोपयोगोऽपि तत्किन्तु परायत्तं प्रयोजकम् ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ— (तत्र बन्धे) उस बन्धमें (परं) केवल (वैभाविकी शक्तिः) वैभाविकी शक्ति (हेतुः न स्यात्) कारण नहीं है और (न उपयोगः अपि) न केवल उसका उपयोगभी कारण है (किंतु किंतु (तत्) वह (परायत्त) परस्परमें एक दूसरेके आधीन होकर रहना (प्रयोजकं) प्रयोजक है अर्थात् कार्यकारी है।

भावार्थः— केवल वैभाविकी शक्ति तथा उसका उपयोग बन्धका कारण नहीं है। किंतु जीव और पुद्गलका बन्ध होनेपर, जीवके गुण कर्मके अधीन होनेके कारण, स्वतंत्र परिणमन नहीं कर सकते हैं। तथा कर्मपुद्गलभी जीवसे बद्ध होनेके कारण स्वतंत्र रूपसे परिणत नहीं होसकते हैं इसप्रकारकी अनादि पराधीनताही बन्धमें कारण है। मुक्त होनेपर इसके न रहनेसे पुनः बन्ध नही होसकता है। यदि केवल वैभाविकी शक्ति बन्धका कारण होती तो वैभाविक शक्ति तो सिद्ध अवस्थामें रहती है। और यदि उसका उपयोग बन्धका कारण होता तो उपयोगभी सिद्ध अवस्थामें रहता है। इसलिए सिद्धोंका भी बंध होना चाहिये था। किन्तु होता नही है। अतएव सिद्ध होता है कि अनादि कालीन स्वतः सिद्ध परस्पराधीनताही बंधकी प्रयोजक है। यही कारण है कि एकवार परस्पराधीनताका अभाव होनेपर फिर उसके अभावमें बन्ध नहीं होता है। आगे इसी अभिप्रायका खुलासा करते हैं।

केवल वैभाविकी शक्तिको बन्धका हेतु माननेमें दोष ।

अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्द्रव्योपजीविनी ।
सा चेद्बन्धस्य हेतुःस्यादर्थान्मुक्तेरसंभवः ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थः— ('या ' वैभाविकी शक्ति) जो वैभाविकी शक्ति (तत्तद्द्रव्योपजीविनी अस्ति) उन जीव और पुद्गलोंमें सदैव रहनेवाली शक्ति है (सा)वह शक्ति (चेत्) यदि (बन्धस्य हेतुः) बन्धका कारण मानी जायगी तो (अर्थात्) वास्तवमें (मुक्तेरसम्भवः) मुक्ति नहीं होसकेगी ।

भावार्थः— जो वैभाविकी शक्ति पुद्गल और जीवकी अनुजीवी शक्ति है वह शक्ति यदि बंधका कारण मानी जायगी तो उसके सदैव रहनेमें मुक्ति असम्भव होजायगी अर्थात सदैव बंध होते रहनेका प्रसंग आवेगा ।

केवल वैभाविक शक्तिके उपयोगको बन्धका कारण माननेमें दोष ।

उपयोगः स्यादभिव्यक्तिः शक्तेः स्वार्थाधिकारिणी ।
सैव बन्धस्य हेतुश्चेत्सर्वो बन्धः समस्यताम् ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थः—(शक्तेः) शक्तिकी (स्वार्थाधिकारिणी) अपने विषयमें अधिकार रखनेवाली (अभिव्यक्तिः) व्यक्तता (उपयोग स्यात्) उपयोग है और (चेत्) यदि (सा एव) वह शक्तिकी अभिव्यक्तिही बन्धका कारण मानी जावगी तो (सर्वः बन्धः समस्यतां) सभी प्रकारका बन्ध उसका उसीमें समाजायगा ।

भावार्थः— शक्तिकी अभिव्यक्तिको–शक्तिके व्यक्तताको–विकाशको उपयोग कहते है । और यदि वह वैभाविक शक्तिका उपयोगही बंधका कारण माना जायगा तो सब बंधही बंध हो जायगा कारणकि शक्तिके विकासको बंध कहना बंधकी विडम्बना करना है । कारण ऐसा बंध बंधही नहीं कहला सकता है । क्योंकि दो पदार्थोंके मिलनेसे उनमें जो गुणोंकी संक्रांति होकर तृतीय अवस्था होती है उसको बन्ध माना है और ऐसा बंध स्वभावकी अभिव्यक्तिरूप नहीं कहा जासकता है । इसलिए वैभाविकी शक्तिकी अभिव्यक्तिको बंध कहना बंधकी विडम्बना है । कारण वैभाविकी शक्तिकी व्यक्तता तो अशुद्ध रूपसे संसार अवस्थामें और शुद्धरूपसे मुक्त अवस्थामें पाई जाती है । इसलिए वह बंधका कैसे कहो जासकती है ।

किंतु पूर्व सामग्री सहित परस्पराधीन गुणसन्क्रान्तिही बन्धका कारण है।

तस्मात्तद्धेतुसामग्रीसान्निध्ये तद्गुणाकृतिः।
स्वाकारस्य परायत्ता तया बद्धोपराधवान् ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ — (तस्मात्) इसलिए (तद्धेतुसामग्रीसन्निध्ये) उस बन्धकी कारणभूत सम्पूर्ण सामग्रीके मिलनेपर (स्वाकारस्य) अपने २ आकारका (परायत्ता) परद्रव्यके निमित्तवश (तद्गुणाकृतिः) जिसके साथ बन्ध होना है उसके गुणके आकाररूप होना 'तद्गुणसंक्रांति' कहलाती है और (तया) उसके द्वारा (अपराधवान्) यह अपराधी –रागद्वेषी जीव (बद्धः) बंधाहुआ है।

भावार्थ — इसप्रकार केवल वैभाविकी शक्ति व उसका उपयोग पृथक् २ रूपसे बन्धका कारण नहीं है किंतु वह वैभाविकी शक्ति और परायत्तताके कारण उस वैभाविकी शक्तिके उपयोगपूर्वक होनेवाली, जीव तथा पुद्गलके परस्परमें गुणोंकी संक्रांति, ये सब बन्धके कारण है। और उसीके द्वारा रागी द्वेषी, परबुद्धि, यह जीव आसक्त होनेरूप अपराधके कारण बद्ध है।

परायत्तकी सद्धिमें दोष।

नासिद्धं तत्परायत्तं सिद्धसंदृष्टितो यथा।
शीतउष्णमिवात्मानं कुर्वन्नात्माप्यनात्मवित् ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ — (सिद्धसंदृष्टितः) प्रसिद्ध इस दृष्टांतसे (तत्परायत्त) वह जीवका परवश होकर रहना (असिद्धं न) असिद्ध नहीं है। उदाहरणार्थ (यथा) जैसेकि (अनात्मवित् आत्मा) अज्ञानी आत्मा शीत तथा उष्णका अनुभव करते समय (आत्मानं शीतं अपि उष्णं इव कुर्वन् 'आस्ते') अपनेको शीत और उष्णकी तरह मानलेता है।

भावार्थ:— अज्ञानी जीव मिथ्यात्व कर्मके उदयसे शीतत्वका अनुभव करते समय अपनेको शीत और उष्णताका अनुभव करते समय अपनेको अपनेको उष्ण मानलेता है। यदि जीवकी रागादिरूप परायत्त दशा नहीं हुई होती तो यह जीव शीत तथा उष्ण आदि मूर्तीक द्रव्योंके धर्मोंको अपनेमें अनुभव नही करता किंतु अपनेको अचिन्त्य और अनन्त ज्ञानादिक गुणमय समझता

खुलासा ।

तद्यथा मूर्तद्रव्यस्य शीतश्चोष्णो गुणोऽखिलः ।
आत्मनश्चाप्यमूर्तस्य शीतोष्णानुभवः क्वचित ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थ – (तद्यथा) उक्त उदाहरणका खुलासा इसप्रकार है कि यद्यपि (शीतः) शीत (च) और (उष्णः) उष्ण ये (अखिल गुण) सब गुण (मूर्तद्रव्यस्य) मूर्त द्रव्यके हैं परन्तु (अमूर्तस्य च अपि आत्मनः) अमूर्तभी आत्माके (क्वचित्) अज्ञान अवस्थामें (शीतोष्णानुभवः) 'मैं शीत हूं , मैं उष्ण हूं इत्यादि रूपसे मूर्त गुणोंका अपनेमें अनुभव होता हैं ।

भावार्थः— उस उदाहरणका खुलासा यह है कि यद्यपि शीत और उष्ण ये पुद्गलके गुण है । तथापि रागी द्वेषी आत्माके 'मैं शीत तथा उष्ण हूं' इसप्रकारका अनुभव होता है । और वही अनुभव परायत्तताका द्योतक है ।

शंका ।

ननु वैभाविकी शक्तिस्तथा स्यादन्ययोगतः ।
परयोगाद्विना किं न स्याद्वास्ति तथान्यथा ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि यदि (वैभाविकी शक्तिः) वैभाविकी शक्ति (अन्ययोगतः) जीव और पुद्गलमें परस्परके योगसे (तथा स्यात्) बंध करानेमें समर्थ होती है तो (परयोगात् विना किं तथा न स्यात) क्या परयोगके विना वह वन्ध करानेमें समर्थ नहीं होती है ? (वा) अथवा (अन्यथा अस्ति) अन्यथा होती है ।

भावार्थः—शंकाकारका कहना है कि जैसे जीवकी वैभाविकीशक्ति कर्मोंकी परवशतासे बन्धमें कारण होती है वैसेही क्या वह कर्मोंके सम्बध विनाभी बन्धमे कारण होती है अथवा नही होती है अर्थात क्या कर्मोंका सम्बन्ध छूट जानेपर उसमे बन्धके कारणपनेरूप शक्तिका अभाव हो जाता है अथवा नहीं होता है ।

समाधान ।

सत्यं नित्या तथा शक्तेः शक्तित्वाच्छुद्धशक्तिवत् ।
अथान्यथा सतो नाशः शक्तीनां नाशतः क्रमात् ॥ ८० ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) तुम्हारा कहना ठीकही हैं परंतु (शक्तित्वात्) शक्ति होनेके कारण (शुद्धशक्तिवत्) स्वाभाविकी शक्तिकी तरह (शक्तिः) वैभाविकी शक्तिभी (तथानित्या) वैसी ही नित्य रहती है कारण (अथ अन्यथा) यदि किसी शक्तिको अनित्य मानोगे तो (क्रमात्) क्रमसे (शक्तिनां नाशतः) शक्तियोंके नाशसे अर्थात् गुणोंके नाशसे (सतः नाश) सत्–द्रव्यके नाशका प्रसङ्ग आवेगा ।

भावार्थः— शंकाकारका कथन ठीक है । परन्तु वैभाविकी शक्ति भी नित्य है । क्योंकि जितनीभी जीवकी शक्तियां (गुण) है वे सब आत्माके शुद्ध ज्ञानादिकके समान नित्य हैं । इसलिए यदि इस वैभाविकी शक्तिको नित्य न माना जायगा तो इसके नाशके प्रसंगकी सम्भवनासे इसीके समान इतर शक्तियोंके भी नाशका प्रसंग आयगा । तथा एक एक करके शक्तियोंके नाश हो जानेसे द्रव्यके भी नाशका अनिष्ट प्रसंग दुर्निवार हो जायगा । अतः वैभाविकी शक्ति भी नित्य है अनित्य नही है ।

किंतु मुक्त जीवके वैभाविकी शक्तिका शुद्ध परिणमन होता है ।

किन्तु तस्यास्तथाभावः शुद्धादन्यान्यहेतुकः ।
तन्निमित्ताद्विना शुद्धो भावः स्यात्केवलं स्वतः ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थः— (किन्तु) किन्तु (तस्याः)उस वैभाविकी शक्तिका (शुद्धात् अन्य तथाभावः) वह अशुद्ध परिणमनरूप विभावभाव (अन्यहेतुकः) परनिमित्तसे होता है और शुद्ध अवस्थामें (तन्निमित्तात् विना) उस निमित्तके हटजानेसे उसका (स्वतःकेवलं) स्वयं केवल (शुद्धः भावः स्यात्) शुद्ध ही परिणमन होता है अर्थात् संसारी अवस्थाकी तरह सिद्ध अवस्थामें अशुद्ध परिणमन नहीं होता है अतएव आत्माके शुद्ध होनेपर पुनःबन्ध नही होता है ।

भावार्थः— यद्यपि उपर्युक्त युक्तिसे वैभाविकी शक्ति भी नित्य है । अतः वह सिद्ध अवस्थामें भी पाई जाती है । तथापि जिसप्रकार संसार अवस्थामें वह, परनिमित्तसे विभावरूप परिणत होकर नवीन बंधमें कारण पडती थी उसप्रकार सिद्ध अवस्थामें वह विभावरूपसे परिणत होकर नवीन बंधमें कारण नहीं पडती हैं । क्योंकि सिद्ध अवस्थामें उसके उस परनिमित्तका अत्यन्त अभाव हो जानेसे, उस शक्तिका भी परनिमित्तसे होनेवाला विभाव परिणमन

नहीं होता है। किन्तु केवल शुद्ध परिणमनही होता रहता है।

दृष्टान्त।

नासिद्धोऽसौ हि सिद्धान्तः सिद्धः संदृष्टितो यथा।
वन्हियोगाज्जलंचोष्णं शीतं तत्तादयोगतः ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थः— (असौ सिद्धांतः) यह उक्त सिद्धांत (असिद्ध न) असिद्ध नहीं है (हि) क्योंकि (सदृष्टित सिद्धः) इस दृष्टांतसे सिद्ध होता है (यथा) जैसेकि (वन्हियोगात्) अग्निके सम्बन्धसे (जल उष्णं) जल उष्ण होजाता है (च) और (तद्योगतः) उस अग्निका सम्बन्ध न रहनेसे (तत् शीत स्यात्) वह जल स्वभावसे शीत रहता है।

भावार्थः— जिसतरह वन्हिके योगसे जलके शीतगुणका उष्णरूप परिणमन होजाता है। उसी तरह आत्माकी वैभाविक शक्तिका भी पूर्वबद्ध कर्मके निमित्तसे अशुद्ध परिणमन होजाता है। जैसे अग्निका निमित्त हट जानेसे जलके शीतगुणका शीतरूपही स्वाभाविक परिणमन रहजाता है वैसेही कर्मबंधका निमित्त हट जानेसे आत्माकी वैभाविक शक्तिका भी पुनर्बन्धका कारणभूत अशुद्ध परिणमन नहीं होता है, किन्तु पुनः २ शुद्ध परिणमनही होता रहता है। क्योंकि आगममें शुद्ध आत्माके अशुद्ध परिणमनकाही निषेध है शुद्ध परिणमनका नहीं।

शंका।

ननु चैवं चैका शक्तिस्तद्भावो द्विविधो भवेत्।
एकः स्वाभाविको भावो भावो वैभाविकोपरः ॥ ८३ ॥
चेदवश्यं हि द्वे शक्ती सतः स्तः का क्षतिः सताम्।
स्वाभाविकी स्वभावैः स्वैः स्वैर्विभावैर्विभावजा ॥ ८४ ॥
सद्भावेथाप्यसद्भावे कर्मणां पुद्गलात्मनाम्।

अस्तु स्वाभाविकी शक्तिः शुद्धैर्भावैर्विराजिता ॥ ८५ ॥

अस्तु वैभाविकी शक्तिः संयोगात्पारिणामिकी ।
कर्मणामुदयाभावे न स्यात्सा पारिणामिकी ॥ ८६ ॥

दण्डयोगाद्यथा चक्रं बम्भ्रमत्यात्मनात्मनि ।
दण्डयोगाद्विना चक्रं चित्रं वा व्यवतिष्ठते॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ — (ननु) शंकाकारका कहना है कि (एवं च) उपर्युक्त इस कथनसे तो यह सिद्ध होता है कि (शक्ति एका) शक्ति एक है (च) और (तद्भावः द्विविध) उसका परिणमन दो तरहका होता है (एकः स्वाभाविकः भावः) एक स्वाभाविक भाव तथा (अपर) दूसरा (वैभाविकः भावः) वैभाविक भाव अर्थात् शंकाकारका कहना है कि उक्त कथनसे सिद्ध होता है कि शक्ति तो एक है किंतु उस एक शक्तिकेही स्वभाव और विभावरूपसे दो परिणमन होते है इसलिये (चन्नु) यदि (सतः) द्रव्यकी (द्वे शक्ती) स्वाभाविकी और वैभाविकी दोनोंही शक्तियां (अवश्य) स्वतंत्ररूपसे (स्त) मानी जावें तो (सतां) द्रव्योंकी (का क्षतिः) क्या हानि है क्योंकि (हि) निश्चयसे द्रव्यमें (स्वैः भावैः स्वाभाविकी) अपने २ स्वभावोंसे स्वाभाविकी शक्ति तथा (स्वै विभावै विभावजा) अपने २ विभावोंसे वैभाविकी शक्ति बनी रहेगी अर्थात् एक शक्तिके दो परिणाम न माननेकी अपेक्षा द्रव्यमें स्वाभाविकी और वैभाविकी इस तरह दो शक्तियां माननाही ठीक है कारणकि (पुद्गलात्मनां कर्मणां) पुद्गलरूप कर्मोंके (सद्भावे) सद्भावमें (अथ) अथवा (असद्भावे अपि) असद्भावमेंभी (शुद्धैः भावैः विराजिता) अपने शुद्ध परिणमनसे युक्त (स्वाभाविकी शक्तिः अस्तु) स्वाभाविकी शक्ति सदैव रहो तथा (वैभाविकी शक्तिः) वैभाविकी शक्ति (संयोगात्) परसंयोगसे तो (पारिणामिकी अस्तु) पारिणामिकी हो और (कर्मणां उदयाभावे) कर्मोंका उदय नहीं रहनेपर (सा) वही वैभाविकी शक्ति (पारिणामिकी न स्यात्) पारिणामिकी–परिणमनशील नही होगी (यथा) जैसे की (चक्रं) कुंभारका चक्रा (दण्डयोगात्) दण्डके सम्बन्धसे (आत्मना आत्मनि बम्भ्रमति) अपने द्वारा अपनेमें वार २ घूमता है तथा (दण्डयोगात् विना) दण्डका योग न मिलनेसे (चक्रं) वही चक्र (चित्रं वा) चित्रकी तरह (व्यवतिष्ठते) स्थिर रहता है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहता है कि वैभाविकी शक्तिको नित्य मानकरके, संसार अवस्थामें परनिमित्तसे उसका विभावरूप परिणमन माननेसे, एक शक्तिके दो प्रकारके परिणमन सिद्ध होते है। एक स्वाभाविक और दूसरा वैभाविक। किन्तु ऐसा न मानकरके द्रव्योंमे एक स्वाभाविकी शक्ति तथा दूसरी वैभाविकी शक्ति, इसतरह दो प्रकारकी स्वतंत्र शक्तियांही मानना चाहिए। क्योंकि ऐसा माननेसे एक शक्तिके दो परिणमन भी नहीं मानने पडेंगे। तथा इन दोनो शक्तियोंमे से स्वभाविकी शक्ति बद्ध व अबद्ध दोनो हि अवस्थाओमें अपने स्वभाविक परिणपणरुप भावोंसे युक्त मानना चाहिये। और जो वैभाविक शक्ति है उसको कर्मोके संयोगके अभावमे परिणमनमात्रसे रहित मानना चाहिये जैसे कि दण्डके सयोगपूर्वक कुमारका चक्र घूमता है और उसके अभावमें वह स्थिरही रहता है।

समाधान।

नैवं यतोऽस्ति परिणामि शक्तिजातं सतोऽखिलम्।
कथं वैभाविकी शक्तिर्नस्याद्वैपारिणामिकी।॥ ८८॥

अन्वयार्थः— (एव न) परनिमित्तके विना वैभाविकी शक्तिको शुद्ध अवस्थामें अपरिणमनशील मानना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि जब (सतः अखिलं शक्तिजातं) पदार्थकी सर्व शक्तियां (परिणामि अस्ति) सदैव परिणमनशील होती है तो फिर (वभाविकी शक्ति) वैभाविकी शक्ति (वै) निश्चयसे (पारिणामिकी कथं न स्यात्) शुद्ध अवस्थामें परिणमनशील क्यों नहीं होगी?

भावार्थः— शकाकारका उक्त कथन ठीक नही है। क्योंकि प्रत्येक शक्तिका प्रत्येक समयमें अवश्यही परिणमन होता है। इसलिए वैभाविकी शक्तिकाभी शुद्ध अवस्थ में परिणमन नहीं मानना ठीक नहीं है।

क्योंकि।

पारिणामात्मिका काचिच्छक्तिश्चाऽपारिणामिकी।
तद्ग्राहकप्रमाणस्याऽभावात्सद्दृष्टचभावतः॥ ८९॥

अन्वयार्थ.— (काचित् शक्तिः पारिणामिका च अपारिणामिकी) कोई शक्ति परिणमनशील और कोई शक्ति अपरिणमनशील होती है इसप्रकारके (सद्दृष्टचभावत) उदाहरणका अभाव होनेसे (तद्ग्राहक प्रमाणस्य अभावात्) तुह्मारे सिद्धांतको विषय करनेवाले प्रमाणका अभाव है।

भावार्थः— वैभाविकी शक्तिको शुद्ध अवस्थामें अपारिणामिकी माननेसे पदार्थकी किसी शक्तिको परिणमनशील और किसी शक्तिको अपरिणमनशील माननेका प्रसंग आता है। किन्तु पदार्थकी यावत् सम्पूर्ण शक्तिया सदैव परिणमनशील रहती है। इसलिए शुद्ध अवस्थामें वैभाविकी शक्तिको अपारिणामिकी मानना उसके पोषक उदाहरणके न मिलसकनेसे अप्रमाणिक है।

फलितार्थ।

तस्माद्वैभाविकी शक्तिः स्वयं स्वाभाविकी भवेत्।
परिणामात्मिका भावैरभावे कृत्स्नकर्मणाम् ॥ ९० ॥

अन्वयार्थ — (तस्मात्) इसलिये (वैभाविकी शक्तिः) वैभाविकी शक्ति (कृत्स्नकर्मणां अभावे) सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव होनेपर (भावैः) अपने भावोंसे (स्वयं स्वाभाविकी परिणामात्मिका भवेत्) स्वयं स्वाभाविक परिणमनशील रहती है।

भावार्थः— इसलिए वैभाविकी शक्तिकी अन्य शक्तियोंके समान नित्य हैं। तथा शुद्ध अवस्थामें सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव हो जानेसे अपने स्वभावरूपसे परिणमनशील रहती है।

ततः सिद्धं सतोवश्यं न्यायात् शक्तिद्वयं यतः।
सदवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपत्तयोः ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ— (ततः सिद्ध) इसलिए यह सिद्ध होता है कि (न्यायात्) न्यायानुसार (सतः शक्ति द्वयं अवश्यं) पदार्थमें दो शक्तियां तो अवश्य है परंतु (यतः) जिसकारणसे (तयोः) उन दोनों शक्तियोंमे (सदवस्थाभेदतः द्वैतं) केवल सतकी अवस्थाके भेदसे द्वैत है ('ततः,) इसलिये (युगपत् द्वैत न) एक कालमेंही स्वाभाविकी और वैभाविकी इन दोनों शक्तियोका द्वैत नहीं है।

भावार्थः— जैन सिद्धांतमें इन शक्तियोंके द्वैतको केवल सतकी अवस्थाके भेदसे माना है। युगपत उन दोनों शक्तियोंके द्वैतको नहीं माना है। इसलिए जो पहले शंकाकारने युगपत वैभाविकी और स्वाभाविकी शक्तिका सद्भाव मानकरके स्वाभाविकी शक्ति स्वाभाविक भावोंसे सदैव विराजमान रहती है। तथा आत्माकी सकर्म अवस्थाके सद्भावतक तो वैभाविकी शक्ति पारिणामिकी रहती है। और कर्मोंका अभाव हो जानेपर शुद्ध सिद्ध अवस्थामें उसके

परिणमनके निमित्त न मिलनेसे वह कुंभकारके चक्रके समान अपरिणामिकी रहती है इसप्रकार युगपत शक्तियोंका द्वैत माना है वह ठीक नहीं है।

दोनों शक्तियोंको युगपत् माननेमें दोष।

यौगपद्ये महान् दोषस्तद्द्वयस्य नयादपि।
कार्यकारणयोर्नाशो नाशः स्याद्बन्धमोक्षयोः॥ ९५॥

अन्वयार्थ.— (तद्द्वयस्य) उस स्वाभाविकी और वैभाविकी शक्तिका (यौगपद्ये) एक कालमें सद्भाव माननेपर (नयात् अपि) न्यायशास्त्रसेभी (महान् दोषः स्यात्) बडाभारी दोष आवेगा क्योंकि युगपत् स्वाभाविक और वैभाविक भावके माननेसे (कार्यकारणयोः नाशः) कार्यकारण भावके नाशका तथा (बन्धमोक्षयोः नाशः) बन्ध व मोक्षका नाश होनेका प्रसंग आता है।

भावार्थः— वैभाविक शक्तिके विभाव और स्वभावरूप दो अवस्था माननेसे बंध और मोक्षकी व्यवस्था सिद्ध हो जाती है। तथा विभाव और स्वभाव अवस्थाएँ क्रमवर्ती हैं । इसलिए उनमें कार्यकारणभाव बनजाता है। किंतु दोनों शक्तियोंको युगपत् माननेसे न तो कार्यकारणभाव बनेगा और न बंध मोक्षकी व्यवस्थाही बनसकेगी।

नैकशक्तेर्द्विधाभावो यौगपद्यानुषंगतः।
सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्यादबाधितम्॥ ९६॥

अन्वयार्थ — (एकशक्तेः द्विधाभाव न) तथा एक कालमें एक शक्तिके दो तरहके परिणमन नहीं होसकते हैं क्योंकि एक शक्तिके युगपत् दो परिणमन माननेसे (यौगपद्यानुषंगतः) युगपत् दोनों प्रकारके परिणमनके सद्भावका प्रसंग आता है तथा (तत्र सति) ऐसा होनेपर (विभावस्य) विभाव परिणमनमेंभी (अबाधित नित्यत्वं स्यात्) अबाधित नित्यत्वका प्रसंग आता है।

भावार्थ — और वे वैभाविक शक्तिके विभाव तथा स्वभावरूप परिणमनभी युगपत् नहीं होते हैं किंतु क्रमपूर्वकही होते हैं कारण दोनों प्रकारके परिणमनको युगपत् माननेसे स्वाभाविक परिणमनके समान वैभाविक परिणमनकोभी नित्य मानना पडेगा।

शंका।

ननु चानादितः सिद्धं वस्तुजातमहेतुकम्।

तथाजातं परं नाम स्वतःसिद्धमहेतुकम ॥ ९४ ॥

तदवश्यमवश्यं स्यादन्यथा सर्वसङ्करः ।
सर्वशून्यादिदोषश्च दुर्वारो निग्रहास्पदम् ॥ ९५ ॥

ततः सिद्धं यथा वस्तु यत्किंचिच्चिज्जडात्मकम् ।
तत्सर्वं स्वस्वरूपाद्यै स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥ ९६ ॥

अयमर्थ कोपि कस्यापि देशमात्रं हि नाश्नुते ।
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावात सीम्नोनतिक्रमात् ॥ ९७ ॥

व्याप्यव्यापकभावस्य स्यादभावेपि मूर्तिमत ।
द्रव्यं हेतुर्विभावस्य तात्किं तत्रापि नापरम् ॥ ९८ ॥

वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात्सन्निकर्षतः ।
तत्रस्थोप्यपरो हेतु र्न स्यात्किंवा वतेति चेत ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (' यथा ') जैसे (अनादितः) अनादिसे (वस्तुजातं अहेतुकं सिद्धं) सम्पूर्ण पदार्थ किसी अन्य कारणसे उत्पन्न न होनेके कारण स्वत सिद्ध है (तथा) वैसेही उनका (परं जातं नाम) प्रतिसमय परिणमनशील होनाभी (अहेतुकं स्वत सिद्धं) किसी अन्य कारणसे उत्पन्न न होनेके कारण स्वतःसिद्ध है अर्थात जैसे द्रव्य स्वतःसिद्ध है वैसेही उनका परिणामभी स्वतःसिद्ध है इसलिए (तत) वह परिणमनशील वस्तुसमूह (अवश्यं अवश्य स्यात) अवश्य स्वतंत्र है अर्थात अपने २ परिणमनमें कोई किसीकी आवश्यकता नहीं रखता है क्योंकि (अन्यथा) यदि ऐसा नहीं मानाजायगा तो (दुर्वारः) अनिवर्य तथा (निग्रहास्पद) निग्रहास्पद (सर्वसंकरः) सर्वसंकर दोष (च) और (सर्वशून्यदिदोष) सर्वशून्यता आदि दोषोंका प्रसंग आवेगा (ततःसिद्धं) इसलिये सिद्ध होता है कि (यथावस्तु) अपने २ वस्तुका

उलंघन नहीं करनेवाला (चिज्जडात्मक) चेतनात्मक तथा अचेतनात्मक (यत्किंचित्) जो कुछभी है (तत्सर्वे) वह सब अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ (स्वस्वरूपाद्यैः) अपने स्वरूप आदिसे (स्वतः) स्वयं (अनन्यगतः स्यात्) एक दूसरेस्वरूप नहीं होजाते है अर्थात् कोईभी पदार्थ अपने स्वभावका परित्याग नहीं करता है (अयं अर्थः) पूर्वोक्त कथनका सारांश यह है कि (कः अपि) कोईभी पदार्थ (कस्य अपि) किसीभी पदार्थका (हि) निश्चय करके (द्रव्यतः) द्रव्यसे (क्षेत्रत) क्षेत्रसे (कालात्) कालसे और (भावात्) भावसे (देशमात्र) अंशमात्रभी (न अश्नुते) अपनेमें नहीं मिला सकता है क्योंकि (सीम्नः अनतिक्रमात्) पदार्थ अपने स्वभावकी मर्यादाका उलंघन नहीं करता है तथा (व्याप्यव्यापक भावस्य अभावे अपि) जीव और पुद्गलमें व्याप्य व्यापक भावके अभाव होनेपर भी (तत्र) आत्माके (विभावस्य हेतुः) विभावपरिणमनमें कारण (तत् मूर्तिमत् द्रव्यं अपि) वह मूर्तीक द्रव्यही क्यों होता है (अपरं किं न) अन्य द्रव्यभी क्यों नहीं है? यदि कदाचित कहाजायकि आत्मामें (सन्निकर्षतः) मूर्तीक द्रव्यका सन्निकर्ष होनेसे अर्थात् आत्माके साथ मूर्तद्रव्यका एकक्षेत्रावगाहरूप होनेसे वह मूर्तद्रव्य जीवके (वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात्) वैभाविक भावमें कारण होजाता है तो (तत) खेद है कि (तत्रस्थ अपर अपि) वहींपर रहनेवाला विस्रसोपचयरूप अन्यमूर्तद्रव्य समुदायभी (हेतुः किं वा न स्यात्) विभाव परिणमनका कारण क्यों नहीं होता है (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो ।

भावार्थः— जो किसी कारणसे उत्पन्न न होकर स्वतःसिद्ध होता है वह अनादि होता है । इस नियमके अनुसार जैसे यावत् पदार्थ अहेतुक स्वतःसिद्ध होनेसे अनादि माने जाते है । वैसेही परिणमन भी अहेतुक स्वतःसिद्ध होनेसे अनादि मानना चाहिए । अर्थात् द्रव्योंके समान परिणमनको भी अहेतुक स्वतःसिद्ध होनसे अवश्य स्वतंत्र मानना चाहिए । यदि वह स्वतंत्र नहीं माना जावेगा तो निग्रहास्पद तथा अनिवार्य सर्व संकर दोष और सर्व शून्यादि दोषोंका प्रसग आवेगा अर्थात् जीवकी वैभाविक शक्ति कर्मके निमित्तसे विभाव परिणमन करती है यह मानकर यदि वैभाविकी शक्तिके परिणमनमें पुदल निमित्त माना जायगा तो एक गुणकी पर्यायको अन्य द्रव्यके आश्रित होनेके कारण चाहे जिस द्रव्यके गुणको चाहे जिस द्रव्यके निमित्तसे परिणमनशील हो सकने की संभावनासे, सर्व संकर दोष आवेगा । तथा आश्रयके अभावमें आश्रयीके अभावसे अर्थात् परनिमित्तके अभावमें गुणका परिणमन न होनेसे परिणामके अभावमें गुणका अभाव हो जायगा । और विवक्षित गुणके अभावमें शेष गुणोंके अभावकी भी संभावनासे सर्व शून्यता दोष आयगा ।

इसलिए जितनेभी चेतनात्मक तथा अचेतनात्मक पदार्थ है वे सब अपने २ वस्तुत्वको उलंघन न करके अपने २ स्वरूप आदिकके द्वारा अनन्यगति है ।

साराश यह है कि कोईभी पदार्थ, अपने २ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे अपनी २ सीमाका उलंघन न करनेके कारण किसीभी अन्य द्रव्यके अंशभागी उपभोग नहीं करता है । इसलिए, तथा जब जीवद्रव्यमें और पुद्गलमें किसी प्रकारका व्याप्यव्यापक भावभी नहीं माना गया है तो फिर यह क्यों कहाजाता है कि जीवके विभाव परिणमनके लिए (बद्ध) मूर्तीमान् पुद्गलद्रव्य हेतु पडता है इतर नहीं । यदि कदाचित कहाजायकि (बद्ध) कर्मरूप पुद्गल द्रव्यका, और जीवका सन्निकर्ष होरहा है इसलिए (बद्ध) कर्मरूप मूर्तिमान् पुद्गलद्रव्य जीवके विभाव परिणमनमें हेतु पडता है तो फिर जीवके प्रदेशोंके साथ सन्निकर्षको प्राप्त विस्रसोपचयरूप कार्माण परमाणुओंको जीवके विभाव परिणमनमें कारण क्यों नहीं मानते हो ? समाधान ।

सत्यं बद्धमबद्धं स्याच्चिद्द्रव्यं चाथ मूर्तिमत् ।
स्वीयसम्बन्धिभिर्बद्धमबद्धं परबन्धिभिः ॥ १०० ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) सत्य है कि (चिद्द्रव्य) जीव द्रव्य (अथ) और (मूर्तिमत्) पुद्गलद्रव्य (बद्धं च अबद्धं स्यात्) बद्ध तथा अबद्ध दोनों प्रकारके होते है क्योंकि (स्वीयसम्बन्धिभिः बद्ध) जिनसे जिनका परस्परमें बन्ध्यबन्धक भाव है उनसे वे बद्ध है और (परबन्धिभिः अबद्धं) जिनसे जिनका बन्ध्यबन्धक भाव नहीं उनसे वे अबद्ध है ।

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि सम्पूर्ण जीव और सम्पूर्ण मूर्तिमान् पुद्गलद्रव्य परस्परमें बद्धही है ऐसा नहीं है किंतु कोई बद्ध तथा कोई अबद्ध है अर्थात जीव और पुद्गल द्रव्यमें सबही जीव सबही पुद्गलोंसे बंध है तथा सबही पुद्गल सबही जीवोंसे बंधे है ऐसा नहीं है । किंतु अपने २ योग व कषायोंसे उत्पन्न होनेवाली आकर्षक शक्तिसे, और अपने २ द्रव्य क्षेत्र कालादिककी योग्यताके द्वारा पुद्गलोंमें रहनेवाली आकृष्य शक्तिसे, जीव पुद्गल बंधते है । इसलिए सन्निकर्षके रहते हुएभी केवल कर्मपरिणत पुदलोंसे बंध होता है इतरसे नहीं ।

बद्ध और अबद्धमें पारमार्थिक विशेष है।

बद्धाबद्धत्वयोरस्ति विशेषः पारमार्थिकः ।
तयोर्जात्यन्तरत्वेपि हेतुमद्धेतुशक्तितः ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थः— (तयोः) उन जीव कर्मोंमें (जात्यन्तरत्वे अपि) जातिकी अपेक्षा अन्तर रहनेपरभी (हेतुमद्धेतुशक्तितः) कार्यकारणशक्तिसे होनेवाली (बद्धाबद्धत्वयो.) बद्धता तथा अबद्धतामें (पारमार्थिकः विशेषः अस्ति) वास्तविक भेद हैं।

भावार्थः— जीव और कर्मोंको जातिकी अपेक्षासे भिन्न होनेपरभी कार्यकारणभावसे आपसमें बंधनेवाले द्रव्योंके गुणोंमें अपने २ स्वरूपको छोडकरके तृतीय अवस्थाके होनेको बन्ध, तथा उस बन्धसे युक्तको बद्ध कहते है। और इनमें विपरीतको अबद्ध कहते है। इसलिए बद्धता तथा अबद्धतामें यही पारमार्थिक भेद है। आगे–इसी अर्थका खुलासा करते है।

बद्ध और अबद्धका लक्षण।

बद्धःस्याद्बद्धयोर्भावः स्यादबद्धोप्यबद्धयोः ।
सानुकूलतया बन्धो न बन्धः प्रतिकूलयोः ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थः— (बद्धयोः भाव बद्ध स्यात्) एक दूसरेसे बंधेहुए दोनोंके भावको बद्ध कहते है (अपि) और (अबद्धयोः अबद्ध स्यात्) एकदूसरेसे नहीं बंधे हुए दोनोंके भावको–अवस्थाको अबद्ध कहते है क्योंकि (सानुकूलतया बन्धः) जीवमें बन्धक शक्ति तथा कर्ममें बंधनेकी शक्तिकी परस्पर अनुकूलताई बन्ध होता है और (प्रतिकूलयोः बन्धः न) उन दोनोंके परस्पर प्रतिकूल होनेपर बन्ध नहीं होता है।

भावार्थः— आपसमें बंधे हुए दोनोंकी तृतीय अवस्थारूप भावको– पर्यायको बद्ध कहते है। तथा परस्परमें नहीं बंधेहुए उन दोनोंके भाव अर्थात् अपनी २ पर्यायमें जो अवस्था रहती है उसको अबद्ध कहते है। क्योंकि जीवमें योग कषायके निमित्तसे बांधनेकी शक्तिके आविर्भाव होनेपरसे और पुद्गलोंमें अपने द्रव्यक्षेत्र कालभावानुसार जीवके साथ बंधने योग्य शक्तिके आविर्भाव होनेपर, बन्धहोता है। अन्यथा नहीं। इसलिए जीव तथा पुद्गलोंमें भी बद्ध व अबद्ध भाव पाया जाता हैं। अतः जीव और कर्मोंमे परस्पर बंध्य बंधक भावकी संभावना होनेसे जीवके विभाव परिणमनमें

यद्धकर्मही हेतु हो सकता है। किन्तु विस्रसोपचयरूप इतर पुद्गलोंके साथ सन्निकर्ष रहते हुएभी वन्ध्य बन्धकभावके न रहनेसे वे जीवके विभाव परिणमनमें हेतु नहीं हो सकते है। अब आगे—बद्धभावकेस्पष्टीकरणार्थ बन्धका विस्तारपूर्वक स्वरूप कहते है।

बन्धके भेद।

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो वाच्यं तल्लक्षणं त्रयम्।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयस्तूच्यतेऽधुना ॥ १०३ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थतः)अर्थकी अपेक्षासे (बन्धः त्रिविधः)बन्ध तीन प्रकारका होता है इसलिये (तत् लक्षणत्रयं) तीनोंके लक्षण (वाच्यं) कहना चाहिये उनमेंसे (तत् द्वय तु यावत् प्रत्येकं) आदिके दो दो बन्ध तो जीवबन्ध और कर्मबन्ध इसतरह प्रत्येक भंगकी अपेक्षासे है किन्तु उभयबन्ध दोनोंके संयोगसे होता है अतः (अधुना तृतीय. उच्यते) अब तीसरे उभयबन्धका स्वरूप कहा जाता है।

भावार्थः— जीवके रागादिकको भावबन्ध और कर्म व कर्मकी ज्ञानादिकके घातनेकी शक्तिको द्रव्यबन्ध कहते है। इन दोनोंमें उपचारसे बन्धका लक्षण समझना चाहिये अर्थात् रागादिक भावोंमें और कर्मरूप कार्माण वर्गणाओंमें उभयबन्धकी योग्यता है केवल इसीलिए उपचारसे रागादिभावों तथा कार्माण वर्गणाए इन दोनोंको बन्ध कहा है। वास्तवमें उभय बन्धमेंही बन्धका लक्षण घटता है। इसलिए आदिके उन दोनों बन्धोंका नाममात्र निर्देश करके ग्रन्थकार अब आगे उभय बन्धके निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा करते है।

उभय बन्धका स्वरूप।

जीवकर्मोभयोर्बन्धः स्यान्मिथः साभिलाषुकः।
जीवःकर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत् ॥ १०४ ॥

अन्वयार्थः— (यः) जो (जीवकर्मोभयोः) जीव और कर्मका (मिथः) परस्परमें (साभिलाषुकः) एकदूसरेकी अपेक्षासे बन्ध होता है ('सः' बन्धः स्यात्) वह उभय बन्ध कहलाता है (हि) क्योंकि (जीवः कर्मनिबद्धः) जीव कर्मसे बन्धाहुवा है तथा (तत् कर्म हि जीवबद्धं) वह कर्म जीवसे बंधाहुवा है।

भावार्थः— जीव अपने रागादिकके निमित्तसे जिससमय कार्माण वर्गणाओंका आकर्षण करता है उसी

समय बधने योग्य कार्माण वर्गणाओंमें, जीवके योग कषायादिकके निमित्तसे ज्ञानावरणादिकी शक्ति प्रगट होती है। और उन्हींमें जीव बंधता है। तथा जबतक उन बंधहुए कर्मोकी स्थिती पूरी नहीं हो तबतक वे भी जीवसे मुक्त नहीं हो सक्ते है। इसलिये कर्म जीवसे बंधा हुआ है और जीव कर्मसे बंधाहुआ है। इस (रागादि तथा ज्ञानावरणादि) रूपसे जीव और कर्म पुद्गलोंमें जो अपने २ पूर्वपर्यायवर्ती द्रव्यसम्बन्धी गुणोंसे च्युत होकर (अवस्थान्तर) तृतीय अवस्था प्राप्त होती है उसको उभयबन्ध कहते है।

अब आगे–यद्यपि बन्ध जीव और कर्म दोनोंमे है। तथापि जीवके स्वरूपका वर्णन करना है। इसलिये कर्मके बन्धका विचार न करके ग्रन्थकार जीवके बंधके मिमित्त आदिके विषयमें विचार करते है।

बन्धका निमित्त।

तद्गुणाकारसंक्रांति र्भावो वैभाविकश्चितः।
तन्निमित्तं च तत्कर्म तथा सामर्थ्यकारणम् ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थ – (चितः) आत्माके गुणोंका (तद्गुणाकारसंक्रान्तिः) कर्मरूप पुद्गलके गुणोंके आकाररूप कथंचित् सक्रमण होना (वैभाविकः भावः) वैभाविक भाव कहलाता है (च) और (तन्निमित्तं) उसका निमित्त (तथासामर्थ्यकारणं) जीवको वैभाविक रूप परिणमन करानेकी सामर्थ्य रखनवाला (तत्कर्म) पूर्वबद्ध वह द्रव्यकर्म होता है।

भावार्थः— आत्माके गुणोंका पुद्गल (कर्म) के गुणोंके आकार रूपमें जो संक्रमण हो रहा है वही आत्माका वैभाविक भाव है। और उस वैभाविक भावका निमित्त, जीवको ज्ञानादिक गुणोंके आवरणादि करनेकी अर्थात् उनको घात करनेकी शक्ति रखनेवाले ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म है।

सारांश।

अर्थोयं यस्य कार्यं तत् कर्मणस्तस्य कारणम्।
एको भावश्च कर्मैकं बन्धोयं द्वन्द्वजः स्मृतः ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थः— (अयं अर्थः) सारांश यह है कि (भावः एकः) भाव एक है (च) और (कर्म

एकं) कर्म एक है तथा (अयं बन्ध द्वन्द्वजः स्मृतः) यह बन्ध उन दोनोंसे उत्पन्न तृतीय दशारूप कहागया है इसलिए (यस्य कर्मणः) जिस द्रव्यकर्मरूप क्रोधादिकका (तत्कार्यं) वह कार्य है (तस्य कर्मण. कारणं) उस कर्मके आस्रवके लिये वह कारण होता है।

भावार्थः— द्रव्य क्रोधादिकसे भाव क्रोधादिक और भाव क्रोधादिकसे द्रव्य क्रोधादिकका आश्रव होनेसे द्रव्यकर्मसे भावकर्म तथा भावकर्मसे द्रव्यकर्मबंध होता है। तथा इन दोनोंसे उत्पन्न होनेवाले तृतीय अवस्थारूप बन्धको उभयबंध कहते है।

दृष्टान्त।

तथाऽदर्शे यथा चक्षुः स्वरूपं संदधत्पुनः।
स्वाकाराकारसंक्रांतं कार्यं हेतु स्वयं च तत ॥ १०७ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसेकि (आदर्शे) दर्पणमें (स्वाकाराकारसंक्रांन्तं) अपने आकारसे प्रतिबिंबित (स्वरूपं सन्दधत चक्षु) अपने स्वरूपका प्रतिबिंब स्थापित करनेवाला वह चक्षु (स्वयं कार्यं) स्वय कार्य है (पुनः) और (हेतु) स्वयं कारणभी है।

भावार्थः— जैसे मुंह देखते समय चक्षुका प्रतिबिंब दर्पणमें पडता है। इसलिए प्रतिबिम्बरूप कार्यके लिये चक्षु कारण है। और उस प्रतिबिम्ब द्वारा चक्षुके देख जानेके लिए वह चक्षु स्वय कार्यरूपभी है। वैसेही जीवके नवीन द्रव्यकर्मके लिए रागादिक कारण है और द्रव्यकर्म कार्य है। तथा उस द्रव्यकर्मके निमित्तसे गुणोंमें संक्रांति होकर रागादिककी उत्पत्ति होती है। इसलिये वह द्रव्यकर्म कारण है और उससे उत्पन्न होनेवाले रागादिक भाव उसके कार्य है। इसप्रकार आदर्शमें संक्रांत चक्षुके समान द्रव्य और भाव दोनोंही कर्मोंमें संतानक्रमसे कार्यकारणभाव घट जाता है। अत जो कारण है। वह कार्य कैसे होगा इसकाभी निराकरण हो जाता है।

दार्ष्टान्त।

अपि चाचेतनं मूर्तं पौद्गलं कर्म तद्यथा।
* .... ॥ १०८ ॥

* इस पद्यका उत्तरार्द्ध उपलब्ध नहीं है।

अन्वयार्थः— (अपि च) तथा (तत्कर्म) वह कर्म (अचेतनं) अचेतन (मूर्तं) मूर्त और (पौद्गलं) पौद्गलिक है (यथा) जैसेकि।

भावार्थः— वह कर्म अचेतन, मूर्त, और पुद्गलात्मक है।

जीवभावविकारस्य हेतुः स्याद्द्रव्यकर्म तत्।
तद्धेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः ॥ १०९ ॥

अन्वयार्थः— (तत् द्रव्यकर्म) वह द्रव्यकर्म (जीवभावविकारस्य हेतुः स्यात्) जीवके ज्ञानादिक भावोंके विकारका कारण होता है (च) और (तद्विकारः) जीवके भावोंका विकार (तद्धेतुः) द्रव्यकर्मके आस्रवका कारण होता है (यथा) जैसेकि (प्रत्युपकारकः) परस्पर उपकार करनेवाले एकदूसरेको कार्यकारणरूप होते है।

भावार्थः— जीवका रागद्वेषरूप परिणमन ही उसका वैभाविक भाव है। और उसके निमित्तसे पुद्गलभी ज्ञानावरणादि कर्मरूप होजाता है। क्योंकि पुद्गलोंका कार्माणवर्गणारूपसे परिणमन तो अपने द्रव्यक्षेत्रादिकके निमित्तसे होता है। परन्तु उनमें ज्ञानावरणादिरूप कर्मकी अवस्था जीवके वैभाविक भावके कारण होती है।

चिद्विकाराकृतिस्तस्य भावो वैभाविकः स्मृतः।
तन्निमित्तात्पृथग्भूतोप्यर्थः स्यात्तन्निमित्तकः ॥ ११० ॥

अन्वयार्थः— (तस्य चिद्विकाराकृतिः) उस जीवकी भावक्रोधादिकरूप-रागद्वेषरूप परिणतिही (वैभाविकः भावः स्मृत) उसका वैभाविक भाव मानागया है और (तन्निमित्तात्) उस जीवके वैभाविक भावके निमित्तसे (पृथक्भूत अपि अर्थः) पृथक् रहनेवाला कार्माण वर्गणारूप पुद्गल (तन्निमित्तकः स्यात् वह है निमित्त जिसमें ऐसा अर्थात् जीवके वैभाविक भावके निमित्तसे ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत होजाता है।

भावार्थः— जीवके भावोंके विकारमें कारण पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म होता है। और नवीन द्रव्यकर्ममें जीवके भावोंका वह विकार कारण होता है। इसप्रकार परस्पर उपकार–प्रत्युपकारसे करनेवाले वृक्ष बीजके समान संतानक्रमसे जीव तथा कर्मोंमे कार्यकारणभाव सिद्ध होता है।

तद्धि नोभयबन्धाद्वै बहिर्बद्धाश्चिरादपि ।
न हेतवो भवन्त्येकक्षेत्रस्थाऽप्यबद्धवत् ॥ १११ ॥

अन्वयार्थः— (हि) निश्चयसे (तत्) यह द्रव्यकर्म (उभयबन्धात् बहिः न) उभय बन्धके बिना जीवके विकारमें कारण नहीं होता है क्योंकि (वै) निश्चयसे (चिरात् अपि बद्धाः) चिरकालसेही कर्मपरमाणुओंके साथ सम्बन्धको प्राप्त तथा (एकक्षेत्रस्थाः अपि) एकक्षेत्रावगाही होकर रहनेवालीभी विस्रसोपचयरूप कार्माण वर्गणायें (अबद्धवत्) अबद्ध कार्माण वर्गणाओंकी तरह (हेतवः न भवन्ति) जीवके विकारमें कारण नहीं होती है ।

भावार्थ— जैसे केवल द्रव्यबन्धसे आनेवाली विस्रसोपचयरूप कार्माणवर्गणायें कर्मके साथ आत्मामें एक क्षेत्रावगाहरूप होकर रहती है । परन्तु जबतक भावबन्धके निमित्तसे उनमें बन्धकी योग्यता नहीं होती है तबतक उन का आत्माके साथ बन्ध नहीं होता है । वैसेहीं उभयबन्धके बिना किसीभी कार्माण वर्गणाका बन्ध नहीं होता है ।

स्वभावसेही जिनका उपचय-संचय होता है उन्हें विस्रसोपचय कहते है यह विस्रसोपचय शब्दका निरुक्त्यर्थ है । जो कार्माण वर्गणारूप पुद्गल जीवके वैभाविक भावोंके निमित्तसे बंधनेवाले कर्मपरमाणुओंके साथ खिचकर आत्मासे संबंधको प्राप्त तो होते है । किंतु जिनमें योगादिकके निमित्तसे ज्ञानावरणादिरूप योग्यताकी व्यक्ति नहीं हुई है अर्थात् आत्माके योग कषायोंसे जिनका सम्बन्ध नहीं हैं केवल बंधे हुए कर्मोंके साथ जिनका स्निग्ध रूक्षत्वादिकके द्वारा सबंध है उन्हें विस्रसोपचय कहते है । और वे, प्रत्येक कर्मपरमाणुके साथ अनन्तानन्त रहा करते है । तथा आत्माके साथ आसन्न वृत्ति होनेसे बंधते समय बहुधा उनमेंही बन्धकी योग्यता उत्पन्न होती है ।

बन्धकी अविनाभाविनी अशुद्धताका लक्षण

तद्बद्धत्वाविनाभूतं स्यादशुद्धत्वमक्रमात् ।
तल्लक्षणं यथा द्वैतं स्यादद्वैतात्स्वतोऽन्यथा ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थः— (अक्रमात्) जिससमय बन्ध होता है उसीसमय (तद्बद्धत्वाविनाभूत) बद्धतासे अविनाभाव रखनेवाली (अशुद्धत्वं स्यात्) अशुद्धता उत्पन्न होती है (यथा) जैसे (स्वतः अद्वैतात्) स्वयं

अद्वैत अवस्थासे (अन्यतः) परनिमित्तके कारण (द्वैतं) द्वैतरूप होजानाही (तल्लक्षणं स्यात्) उस अशुद्धताका स्वरूप है।

भावार्थः— जीव और पुद्गलका योग होनेपर तृतीय अवस्थारूप होनेको बन्ध कहते है। बन्ध होतेही अशुद्धता होती है। शुद्धता और अशुद्धतामें कालभेद नहीं है। इसपद्यके पूर्वार्धमें, बन्धके साथ अशुद्धताका अविनाभावी सम्बन्ध तथा उत्तरार्धमें अशुद्धताका लक्षण कहागया है अर्थात अद्वैत अवस्थासे च्युत होकर जीवकी द्वैत अवस्थाको अशुद्धता कहते है। क्योंकि जीवकी शुद्ध अवस्था अद्वैतरूप है। और अशुद्ध अवस्था द्वैतरूप मानी है।

द्वैत उपचरित है।

तत्राऽद्वैतेपि यद्द्वैतं तद्द्विधाप्यौपचारिकम्।
तत्राद्यं स्वांशसंकल्पश्चेत्सोपाधि द्वितीयकम् ॥ ११३ ॥

अन्वयार्थ — (तत्र अद्वैते अपि) उस अद्वैतमेंभी (यत्) जो (द्विधा अपि द्वैतं) दोप्रकारका भी द्वैत कहाजाता है (तत् औपचारिकं) वह औपचारिक है अर्थात व्यवहारनयसे है उनमेंसे (आद्यं स्वांशसंकल्पः चेत्) यदि अपने २ अंशोंकी कल्पना करना प्रथम द्वैत हैं तो (सोपाधि द्वितीयकं) उपाधिसहित होना द्वितीय द्वैत है।

भावार्थः— दोनोंकि एकत्व बुद्धि जनक परिणमन होनेपर दो तरहकी द्वैत कल्पना की जाती है। एक तो अपने २ अंशरूप कल्पना और दूसरी सोपाधिरूप कल्पना। अद्वैत-अभेद जीव तत्वमें जो द्वैत (भेद) व्यवहार होता हैं वह दोप्रकारका होता है। १ एक अखण्ड द्रव्यमें खण्ड कल्पनारूप द्वैत (भेद) कल्पना जैसे जीव असंख्यात प्रदेशी है इत्यादि। और दूसरी सोपाधि कल्पना जैसे जीवको रागी द्वेषी मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी आदि कहना। ये दोनोंही कल्पनायें परनिमित्तसे होती है। क्योंकि वास्तवमें निश्चयनयसे शुद्ध जीवद्रव्य अभिन्न हैं किंतु उसके महत्व व अमहत्व के समझानेके लिए जो प्रदेशबराबर क्षेत्रकी अपेक्षासे उसमें (जीवमें) असंख्यात प्रदेशकी कल्पनाकी जाती है वह स्वांशसंकल्पात्मक द्वैत (भेद) व्यवहार है। तथा योग कषायके निमित्तसे संचित द्रव्य क्रोधादिकके कारण जो जीवमें विकृत अवस्था होती है उस विकृत अवस्थाकी अपेक्षासे जीवको रागी द्वेषी कहना सोपाधि अंशकल्पना है।

शंका ।

ननु चैकं सत्सामान्यात् द्वैतं स्यात्सद्विशेषतः ।
तद्विशेषेपि सोपाधि निरूपाधि कुतोर्थतः ॥ ११४ ॥

अपिचाभिज्ञानमत्रास्ति ज्ञानं यद्रसरूपयोः ।
न रूपं न रसो ज्ञानं ज्ञानमात्रमथार्थतः ॥ ११५ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**सामान्यात्**) सामान्यकी अपेक्षासे (**सत् एकं**) सत् एक है (**च**) और (**विशेषत**) विशेषकी अपेक्षासे (**सत् द्वैतं स्यात्**) सत् द्वैतरूप है इसलिए (**सद्विशेषेऽपि**) सत्विशेषमेंभी अर्थात् सामान्यरूपसे सतको एक तथा विशेषकी अपेक्षासे सतको अनेक माननेपरभी जीवद्रव्यमें (**सोपाधि**) सोपाधि और (**निरूपाधि**) निरुपाधि कल्पना (**कुतः अर्थतः**) किस प्रयोजनसे की जाती है! (**अत्र च**) इस विषयमें (**अभिज्ञान अपि अस्ति**) दृष्टांतभी है (' **यथा** ') जैसेकि (**यत् रसरूपयोः**) जो रस और रूपका (**ज्ञानं**) ज्ञान होता है (' **तत्, ज्ञानं**) वह ज्ञान (**न रूपं**) न रूप स्वरूपही होजाता है (**अथ**) और (**न रसः**) न रसस्वरूपभी होजाता है क्योंकि वह (**अर्थतः**) वास्तवमें (**ज्ञानमात्रं**) ज्ञान स्वरूपही होता है ।

भावार्थः— सामान्यकी अपेक्षासे सतको एक और विशेषकी अपेक्षासे सत्को अनेक मानते हुएभी जीव द्रव्यमें सोपाधि तथा निरुपाधि कल्पनाकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि जैसे परपदार्थको विषय करनेसे ज्ञान वास्तवमें पररूप नहीं होजाता है वैसेही परके साथ बन्ध होनेसे आत्माभी पररूप नहीं होजाता है । इसलिए परनिमित्तसे होने-वाली जीवमें सोपाधि कल्पना व उसके अभावमें होनेवाली निरुपाधि कल्पनाके करनेका क्या प्रयोजन है ?

समाधान ।

नैवं यतो विशेषोस्ति सद्विशेषेपि वस्तुतः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वाभ्यां वै सिद्धसाधनात् ॥ ११६ ॥

१ मूलपुस्तकमें ' तद्विशेषेऽपि ' ऐसा पाठ है ।

अन्वयार्थ.— (एवं न) ऐसा कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (वस्तुतः) वास्तवमें (सद्विशेषे अपि) जीव सत, अजीव सत, आस्रव सत्, इत्यादिरूपसे सत्में द्वैत रहनेपरभी (वै) निश्चयसे (द्वाभ्यां अन्वयव्यतिरेकाभ्यां) दोनों प्रकारके अन्वय और व्यतिरेक दृष्टांतसे (सिद्धसाधनात्) साधनके सिद्ध होनेके कारण (विशेषः अस्ति) विशेषता पाई जाती है।

भावार्थः— शंकाकारने जो यह पहले कहाथा कि जब सत्‌रूपसे सब द्रव्योंमे अद्वैत है। और जीवाजीवादिरूप विशेषोंके कारण द्वैत है तो फिर जीवमें सोपाधि तथा निरुपाधि कल्पना क्यों की जाती है ? उसका उत्तर यह है कि सामान्यरूपसे अद्वैत और विशेषरूपसे द्वैतके रहनेपरभी जीवादि विशेष द्रव्योंमेंभी औरभी अनेक विशेषतायें पाई जाती हैं जोकि उनमें अपने २ अन्वय व्यतिरेकसे सिद्ध होती है। इसलिए सोपाधिरूप द्वैत मानना अयुक्त नहीं है।

आगे इसी अर्थका खुलासा करते हैं। अन्वय दृष्टांत।

तत्रान्वयो यथा ज्ञानमज्ञानं परहेतुतः ।
अर्थाच्छीतमशीतं स्याद्वन्हियोगाद्धि वारिवत् ॥ ११७ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उनमें (अन्वयः) अन्वय दृष्टांत इसप्रकार है (यथा) जैसेकि (अर्थात्)अर्थ दृष्टिसे (ज्ञानं) ज्ञान (परहेतुत) परके निमित्तसे (अज्ञानं) अज्ञान होजाता है (हि) क्योंकि (शीतं) शीतपदार्थ (वन्हियोगात्) अग्निके संयोगसे (वारिवत्) जलके समान (अशीत स्यात्) उष्ण होजाता है।

भावार्थ — उक्त कथनका समर्थन अन्वयसाधक दृष्टांतसे इसप्रकार होता है कि जैसे ज्ञान परनिमित्तसे अज्ञान कहलाता है। जल शीत होकरकेभी वन्हिके योगसे उष्ण कहलाता है वैसेही कर्मके सम्बन्धसे आत्मा अज्ञानी, रागी, द्वेषीरूप सोपाधि कहलाता है। उक्त दृष्टांत असिद्ध नहीं है।

नासिद्धोसौ हि दृष्टान्तो ज्ञानस्याज्ञानतः सतः ।
अस्त्यवस्थान्तरं तस्य यथाजातप्रमात्त्वतः ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थः— (असौ) यह (दृष्टांत) दृष्टांत (असिद्धः न) असिद्ध नहीं है (हि) क्योंकि (सतः ज्ञानस्य) सम्यग्ज्ञानको (अज्ञानतः) अज्ञानरूप होजानेसे (तस्य) उसकी (यथाजातप्रमात्त्वतः)

वास्तविक ज्ञानत्वसे (अवस्थांतरं अस्ति) भिन्नअवस्था होजाती है ।

भावार्थः— यदि परनिमित्तसे ज्ञानकी अवस्थान्तररूप दशा नहीं मानी जाती तो केवलीकी तरह सबही जीवोंमें परिपूर्ण शुद्धज्ञान पाया जाना चाहिए था किंतु पाया नहीं जाता है । इसलिए परनिमित्तसे ज्ञान अज्ञान हो जाता है यह दृष्टांत असिद्ध नहीं है । व्यतिरेक दृष्टांत ।

व्यतिरेकोस्त्यात्मविज्ञानं यथास्वं परहेतुतः ।
मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्याद्यन्नैवं शुद्धमेव तत् ॥ ११९ ॥

अन्वयार्थ.— (व्यतिरेकः अस्ति) व्यतिरेक दृष्टांतभी इसप्रकार है (यथा) जैसेकि (स्वं आत्मविज्ञानं) अपनी आत्माका ज्ञान (परहेतुत) केवल मोहादि कर्मोंके निमित्तसेही (मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्यात्) मिथ्यात्वरूप दशासे युक्त रहता है क्योंकि (यत्) जो ज्ञान (एवं न) कर्मोंसे आवृत नहीं होता है (तत्) वह ज्ञान (शुद्धं एव) अशुद्धभी नहीं होता है अर्थात् शुद्धही रहता है ।

भावार्थः— ज्ञान परनिमित्तसेही अज्ञानरूप हो रहा है । परनिमित्तके न रहनेसे ज्ञान मिथ्यात्वरूप अवस्थासे युक्त नहीं रहता है । अतः सोपाधि होनेके कारण ज्ञान अज्ञान कहलाता है । और उसके अभावमें अज्ञानरूप नहीं कहलाता है । इसलिये यह सद्विशेषमेंभी विशेषताका साधक व्यतिरेक दृष्टान्त पाया जाता है ।

इसप्रकार सामान्यरूपसे अद्वैत तथा विशेषरूपसे द्वैतके रहते हुएभी अन्वय व्यतिरेक साधक दृष्टान्तपूर्वक सद्विशेषमें—जीवमें विशेषता सिद्ध होती है । इसलिए जीवमें सोपाधि और निरुपाधि कल्पना युक्तिविरुद्ध नहीं है ।

खुलासा ।

तद्यथा क्षायिकं ज्ञानं सार्थं सर्वार्थगोचरम् ।
शुद्धं स्वजातिमात्रत्वात् अबद्धं निरुपाधितः ॥ १२० ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) उक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (सार्थं सर्वार्थगोचर) युगपत् सर्व पदार्थोंका विषय करनेवाला (क्षायिकं ज्ञान) क्षायिकज्ञान (स्वजातिमात्रत्वात्) केवल स्वाभाविक ज्ञान होनेसे (शुद्धं) शुद्ध है और (निरुपाधितः अबद्धं) रागादिरूप उपाधिसे रहित होनेके कारण अबद्ध है ।

भावार्थः— उक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि ज्ञानावरणादि परनिमित्तके अभावसेही ज्ञान क्षायिक कहलाकर सब पदार्थोंको युगपत जानता है। तथा वह केवल ज्ञानत्वरूप अपनी जातिसे युक्त होनेके कारण शुद्ध और किसी प्रकारकी रागद्वेषादिरूप उपाधिके न रहनेके कारण अबद्ध कहलाता है।

क्षायोपशमिकं ज्ञानमक्षयात्कर्मणां सताम् ।
आत्मजातेश्च्युतेरेतद्बद्धं चाशुद्धमक्रमात् ॥ १२१ ॥

अन्वयार्थः— (क्षायोपशमिकं ज्ञानं) मतिज्ञान आदि चार क्षायोपशमिक ज्ञान (सतां कर्मणां अक्षयात्) सत्तामें रहनेवाले सर्वघाति स्पर्धकोंके क्षय न होनेसे अर्थात परनिमित्तके सद्भावसे (आत्मजातेः च्युतेः) स्वाभाविक ज्ञानरूप आत्मजातिसे च्युत होजाता है इसलिए (एतत्) ये चारोंही क्षायोपशमिक ज्ञान (अक्रमात्) युगपत् (बद्धं) बद्ध (च) और (अशुद्धं) अशुद्ध कहे जाते हैं।

भावार्थः— तथा मतिश्रुत अवधि और मनःपर्यय ये चारोंही ज्ञान ज्ञानावरणादिरूप परनिमित्तके क्षय न होनेके कारण, क्षायोपशमिक तथा अपनी शुद्ध ज्ञानत्व जातिसे च्युत होनेके कारण युगपत् बद्ध और अशुद्ध कहलाते हैं। क्योंकि बद्धता तथा अशुद्धतामें अविनाभाव है।

सोपाधि और निरुपाधि रूपकल्पनाके नहीं माननेमें दोष।

नस्याच्छुद्धं तथाऽशुद्धं ज्ञानं चेदिति सर्वतः ।
न बन्धो न फलं तस्य बन्धहेतोरसंभवात् ॥ १२२ ॥

अन्वयार्थः— (ज्ञानं) ज्ञान (सर्वतः) सर्वथा (शुद्धं न स्यात्) शुद्ध नहीं होता है (च) और (अशुद्धं न) अशुद्धभी नहीं होता है (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो (तस्य) उस ज्ञानके (बन्धहेतोः) बन्धके कारणका (असंभवात्) अभाव होनेसे (बन्धः न) बन्ध नहीं होगा तथा (फलं न) उस बन्धका फलभी सिद्ध नहीं होता है।

भावार्थः— यदि सद्विशेषमें उपर्युक्त सोपाधि और निरुपाधि कल्पनाको न मानकरके कोई यह कहे कि ज्ञान न शुद्ध है तथा न अशुद्ध है। किन्तु वह तो केवल अद्वैत रूप है तो उसका उत्तर यह है कि ज्ञानमें सोपाधि व

निरुपाधि कल्पनाके न माननेसे बन्धके हेतुओंके अभावसे बंधके अभावका और बंधके अभावमें बंधके फलके भी अभावका प्रसंग आवेगा।

अथचेद्बन्धस्तदा बन्धो बन्धो नाऽबन्ध एव यः ।
न शेषश्चिद्विशेषाणां निर्विशेषादबन्धभाक् ॥ १२३ ॥

अन्वयार्थः— (अथ) अथवा (बन्ध चेत्) यदि बन्ध होगा(तदा) तो (यः बन्ध) जो बन्ध है ('सः' बन्धः एव) वह बन्धही रहेगा (अबन्धः न) अबन्ध नहीं होगा क्योंकि (चिद्विशेषाणां निर्विशेषात) चेतनाकी पर्यायोंमें किसी प्रकारका अन्तर न रहनेसे (अबन्धभाक् शेषः न) अमुक अवस्थामें बन्ध नहीं होता है ऐसी कोई विशेषता न रहेगी अर्थात् सब अवस्थाओंमें बन्ध होताही रहेगा।

भावार्थः— यदि सोपाधि तथा निरुपाधि कल्पनाके विना बन्ध माना जायगा तो जो बन्ध होगा वह सदैव बन्धही रहेगा। कभीभी वह बन्ध अबन्ध अवस्थाको प्राप्त नहीं होसकेगा। कारणकि जीवमें सोपाधि और निरुपाधिरूप विशेषताके न माननेसे उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओंमें किसी प्रकारकी विशेषता न रहनेके कारण सर्वथा माननेप अबन्ध धारक विशेषही कुछ शेष नहीं पाया जासकता है।

मामूद्वा सर्वतो बन्धः स्यादबन्धप्रसिद्धितः ।
नाबन्धः सर्वतः श्रेयान् बन्धकार्योपलब्धितः ॥ १२४ ॥

अन्वयार्थः— (अबन्धप्रसिद्धितः) सिद्ध अवस्थामें बन्ध नहीं होता है यह प्रसिद्ध है इसलिए (सर्वत) सर्वथा सब जीवोंमें (बन्धः स्यात) बन्धही होता है यह (माभूत) सिद्ध नहीं होसकता है (वा) अथवा (बन्धकार्योपलब्धितः) बन्धरूप कार्यके हेतुका सद्भाव होनेसे (सर्वतः) सर्वथा (अबन्धः) बन्धका अभाव कहनाभी (श्रेयान् न) ठीक नहीं कहाजासकता है।

भावार्थः— इसलिए सिद्धोंमे अबन्धकी प्रसिद्धिसे सर्वथा बंध माननाभी ठीक नहीं है। और संसारी आत्माओंमें बंधक कार्य अज्ञानादिक पाये जाते हैं। इसलिए सर्वथा अबन्ध माननाभी ठीक नहीं है। अर्थात् दोनोंका दृष्टान्तोंके पाए जानेसे सर्वथा बंध व अबन्ध मानना ठीक नहीं है।

अवद्धका दृष्टान्त ।

अस्तिचित्सार्थसर्वार्थसाक्षात्कार्यविकारभुक् ।
अक्षयि क्षायिकं साक्षादबद्धं बन्धव्यत्ययात् ॥ १२५ ॥

अन्वयार्थः— (बन्धव्यत्ययात्) बन्धके अभाव होनेसे (चित्सार्थसर्वार्थसाक्षात्कारि) आत्मा- और सर्व पदार्थोंको युगपत् जाननेवाला (अविकारभुक्) निर्विकार (अक्षयि) अनन्त (क्षायिकं) क्षायिक और (साक्षात्) प्रत्यक्ष करनेवाला जो ज्ञान है वह ज्ञान (अबद्धं अस्ति) अबद्ध कहलाता है ।

भावार्थः—आत्माके ज्ञानावरणादि कर्मोंके अभाव होनेपर जो युगपत् चराचर पदार्थोंका प्रत्यक्ष करनेवाला निर्विकार अनन्त और क्षायिक, प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह ज्ञान अबद्ध कहलाता है ।

बद्धका दृष्टान्त ।

बद्धः सर्वोपि संसारकार्यत्वे वैपरीत्यतः ।
सिद्धं सोपाधि तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः ॥ १२६ ॥

अन्वयार्थः— (संसारकार्यत्वे ' सति ' वैपरीत्यतः) संसाररूप कार्यके होते हुए विपरीतता पाई जाती है इसलिए (सर्व. अपि बद्ध) सबही संसारी जीव कर्मोंसे बंधे हुए हैं अतः उसका ज्ञान (सोपाधि सिद्धं) कर्मरूप उपाधिसहित सिद्ध होता है क्योंकि (अन्यथा) यदि उनका ज्ञान उपाधि सहित न होता तो (तद्धेतो) संसाररूप कार्यके होते हुए बन्धके कारणसे उत्पन्न होनेवाली जो जीवके स्वभावकी विपरीतता पाई जाती है वह (अनुपपत्तितः) नहीं पाईजाना चाहिए ।

भावार्थः— बन्धके कार्यरूप संसारके होते हुए जो जीवके स्वभावमें विपरीतता पाई जाती है उससे, सम्पूर्ण संसारी जीव कर्मोंके द्वारा बंधे हुए हैं यह सिद्ध होता है । इसलिए बद्ध ससारी जीवोंके ज्ञानको सोपाधि किंवा बद्ध कहते है । यदि संसारी जीवोंका ज्ञान बद्ध न होता तो ससाररूप कार्यके होते हुए उनके ज्ञानमें विपरीतता भी नहीं पाई जाती । किंतु संसारी अवस्थामें उनका ज्ञान स्वभावसे च्युत होता हुवा विपरीत पाया जाता है । अतः संसारी आत्माओंका ज्ञान सोपाधि अर्थात् बद्ध सिद्ध होता है ।

उपसंहार ।

सिद्धमेतावता ज्ञानं सोपाधि निरुपाधिं च ।
तत्राशुद्धं हि सोपाधि शुद्धं तन्निरुपाधि यत् ॥ १२७ ॥

अन्वयार्थः— (एतावता) इसप्रकारसे (ज्ञान) ज्ञान (सोपाधि) सोपाधि (च) और (निरुपाधि) निरुपाधि सिद्ध होता है (तत्र) उनमेंसे (हि) निश्चयकरके (यत्) जो ज्ञान (अशुद्धं) अशुद्ध होता है वह (सोपाधि) सोपाधि कहलाता है तथा जो ज्ञान (शुद्ध) शुद्ध होता है (तत्) वह (निरुपाधि) निरुपाधि कहलाता है ।

भावार्थः— इसप्रकारसे जीवमें सोपाधि और निरुपाधिरूप कल्पनाके माननेसे बद्ध तथा अशुद्ध ज्ञान सोपाधि, और अबद्ध तथा शुद्ध ज्ञान निरुपाधि सिद्ध होता है ।

इसप्रकार ११५ वें पद्यमें प्रतिपादित जीवकी सोपाधि और निरुपाधिरूप विशेषताका निरूपण करके अब आगे बद्धता तथा अशुद्धताके विषयमें शंकासमाधानपूर्वक विचार करते हैं ।

शंका ।

ननु कस्को विशेषोस्ति बद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
अस्त्यनर्थान्तरं यस्मादर्थदैक्योपलब्धितः ॥ १२८ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (द्वयो बद्धाशुद्धत्वयोः) उन दोनों बद्धता और अशुद्धतामें (कः क.) क्या क्या (विशेषः अस्ति) अन्तर है (यस्मात) क्योंकि (अर्थात्) वास्तवमें (ऐक्योपलब्धितः) उन दोनोंमें एकता पाये जानेके कारण (अनर्थान्तर अस्ति) कुछ अर्थान्तर नहीं पाया जाता है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि बद्धता और अशुद्धताका एकही अर्थ है । इसलिए इन दोनोंमें कुछ अन्तर नहीं है ।

समाधान ।

नैवं यतो विशेषोस्ति हेतुमद्धेतुभावतः ।
तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ॥ १२९ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) उक्त कथन ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (हेतुमद्धेतुभावतः) कार्यकारणपनेसे-कार्यकारणभावसे (वा) अथवा (कार्यकारणभेदात्) कार्यकारण भेदसे (द्वयोः विशेषः अस्ति) दोनोंमें भेद है (यथा तल्लक्षण) जैसेकि उनका लक्षण इसप्रकार है।

भावार्थ— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि कार्यकारणभावसे तथा कार्यकारण भेदमे बद्धता और अशुद्धतामें अन्तर है जिसको कि आगे प्रतिपादन करते है।

बन्ध और अशुद्धताका लक्षण।

बन्धः परगुणाकारा क्रिया स्यात्पारिणामिकी।
तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ॥ १३०

अन्वयार्थः— (परगुणाकारा) परगुणके आकाररूप (पारिणामिकी क्रिया) पारिणामिकी क्रिया (बन्ध स्यात्) बन्ध कहलाती है और (तस्यां सत्यां) उसी क्रियाके होनेपरही जो (तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः) उन दोनों जीव तथा कर्मोंका अपने २ गुणोंसे च्युत होना है वह (अशुद्धत्वं) अशुद्धता कहलाती है।

भावार्थः— जीव और कर्मोंकी परस्परमें परगुणके आकार जो पारिणामिकी क्रिया होती है उसको बंध कहते है। तथा उस पारिणामिकी क्रियाके होनेपर जो उन दोनोंका अपने २ गुणोंसे च्युत होना है उसको अशुद्धता कहते है। अब आगे बंध और अशुद्धतामें कारण कार्यभाव बताते है।

बन्धहेतुरशुद्धत्वं हेतुमच्चेति निर्णयः।
यस्माद्बन्धं विना न स्यादशुद्धत्वं कदाचन ॥ १३१ ॥

अन्वयार्थः— (बन्धहेतुः) बन्ध कारण है (च) और (अशुद्धत्वं हेतुमत्) अशुद्धता बन्धका कार्य है (इति निर्णयः) यह निश्चित है (यस्मात्) क्योंकि (बन्धंविना) बन्धके विना (कदाचन) कभीभी (अशुद्धत्व न स्यात्) अशुद्धता नहीं होती है।

भावार्थः— बंध कारण, और अशुद्धता उसका कार्य है। क्योंकि पूर्व बंधके विना अशुद्धता नहीं होती है। अब आगे बंध तथा अशुद्धतामें कार्यकारणभाव बताते है।

कार्यरूप: स बन्धोस्ति कर्मणां पाकसंभवात् ।
हेतुरूपमशुद्धत्वं तन्नवाकर्षणत्वत: ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थ —(स बन्धः) वह बन्ध (कार्यरूप अस्ति) कार्यरूप है क्योंकि (कर्मणां पाकसम्भवात्) कर्मोंके पाकसे–उदयसे होता है और (अशुद्धत्वं) अशुद्धता (हेतुरूपं) कारणरूप है क्योंकि (तन्नवाकर्षणत्वत) उसके द्वाराही नवीन कर्मोंका आकर्षण होकर उनका बन्ध होता है।

भावार्थः— अशुद्धतापूर्वकही नवीन कर्मोंका आश्रव होकर बंध होता है इसलिए अशुद्धता कारण और बंध कार्यभी कहा जाता है। क्योंकि वह बंध अशुद्धताके निमित्तसे आनेवाले कर्मोंके उदयसे होता है।

इसप्रकार बद्धता और अशुद्धतामें अन्तर बताकर आगे जीवकी शुद्धाशुद्धताके विषयमें विचार करते हैं।

जीव: शुद्धनयादेशादस्ति शुद्धोपि तत्त्वत: ।
नासिद्धश्चाप्यशुद्धोपि बद्धाबद्धनयादिह ॥ १३३ ॥

अन्वयार्थः—(तत्वतः) वास्तवमें (इह) यहांपर (शुद्धनयादेशात्) शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे (जीवः) जीव (शुद्धः अपि) शुद्धभी (अस्ति) है (अपि च) और (बद्धाबद्धनयात्) कथंचित् बद्धाबद्ध नय अर्थात् व्यवहारनयसे जीव (अशुद्धः अपि) अशुद्ध है यहभी (असिद्ध न) असिद्ध नहीं है।

भावार्थः— शुद्ध निश्चयनयसे जीव शुद्ध कहा जाता है। और व्यवहार नयसे जीव अशुद्ध कहा जाता है।

शुद्ध और अशुद्ध नयका स्वरूप।

एक: शुद्धनय: सर्वो निर्द्वंदो निर्विकल्पक: ।
व्यवहारनयोऽनेक: सद्वन्द्: सविकल्पक: ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थः—(सर्वः शुद्धनयः) सम्पूर्ण शुद्धनय (एकः) एक (निर्द्वन्द) निर्द्वन्द और (निर्विकल्पः) निर्विकल्प है तथा (व्यवहारनयः) व्यवहारनय (अनेकः) अनेक (सद्वन्द) सद्वन्द और (सविकल्पकः) सविकल्प है।

भावार्थः— निश्चयनय–द्रव्यार्थिकनय, एक निर्द्वन्द और निर्विकल्पक होता है। तथा व्यवहारनय–पर्यायार्थिकनय अनेक द्वन्द सहित और सविकल्पक होता है।

निश्चय और व्यवहारनयका विषय।

वाच्यः शुद्धनयस्यास्य शुद्धो जीवश्चिदात्मकः।
शुद्धादन्यत्र जीवाद्याः पदार्थास्ते नव स्मृताः ॥ १३५ ॥

अन्वयार्थः— (अस्य शुद्धनयस्य) इस शुद्धनयका विषय (चिदात्मकः शुद्धः जीवः वाच्यः) चेतनात्मक शुद्ध जीव कहना चाहिये कारण (शुद्धात् अन्यत्र) व्यवहारन के विषयस्वरूप (ते जीवाद्याः) वे जीव आदि (नवपदार्थाः स्मृता) नौ पदार्थ कहे गये हैं।

भावार्थः— शुद्ध नयका विषय केवल चेतनात्मक शुद्ध जीव होता है। और व्यवहारनयका विषय जीवादिकनौ पदार्थ होते हैं। क्योंकि जीव अजीव आदि नवपदार्थ जीवकेही पद होनेसे विवक्षावश व्यवहारनयके विषय माने जाते हैं।

शंका।

ननु शुद्धनयः साक्षादस्ति सम्यक्त्वगोचरः।
एको वाच्यः किमन्येन व्यवहारनयेन चेत् ॥ १३६ ॥

अन्वयार्थ — (ननु) शंकाकारका कहना है कि (शुद्धनयः) शुद्धनयही (साक्षात् सम्यक्त्व गोचरः) साक्षात् सम्यक्त्वको–यथार्थताको विषय करनेवाला है इसलिए (एकः वाच्य) एक वह शुद्धनयही मानना चाहिये (अन्येन व्यवहारनयेन) अन्य व्यवहार नयसे (किं) क्या प्रयोजन है ? ('इति' चेत्) यदि ऐसा कहोतो।

भावार्थ — शंकाकारका कहना है कि शुद्ध निश्चयनयही सम्यक्त्वको अर्थात् परमार्थभूत विषयको विषय करता है। इसलिए केवल एक शुद्ध निश्चयनयही मानना चाहिए अपरमार्थभूत व्यवहारनय नहीं।

समाधान।

सत्यं शुद्धनयः श्रेयान् न श्रेयानितरो नयः।
अपि न्यायबलादस्ति नयः श्रेयानिवेतरः ॥ १३७ ॥

अन्वयार्थः— (सत्य) ठीक है कि (शुद्धनयः श्रेयान्) शुद्धनयही उपादेय है (इतरः नयः श्रेयान् न) दूसरा व्यवहारनय उपादेय नहीं है (अपि) किंतु फिरभी (न्यायबलात्) न्यायबलसे अर्थात् युक्तियुक्त होनेके कारण (इतरः नयः) व्यवहारनय (श्रेयान् इव अस्ति) शुद्धनयके समान उपादेय है।

भावार्थः— ठीक है क्योंकि यद्यपि परमार्थको विषय करनेवाला केवल शुद्ध नयही उपादेय है व्यवहारनय नहीं। तथापि व्यवहारनयभी न्यायानुसार उपादेयतो नहीं किन्तु उपादेयके समान माना है अर्थात् कार्यकारी माना है अकार्यकारी नहीं।

व्यवहारनयकी उपादेयतामें युक्ति।

तद्यथानादिसन्तानबन्धपर्यायमात्रतः।
एको विवक्षितो जीवः स्मृता नव पदा अमी ॥ १३८ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (एकः जीवः) एकही जीव (अनादिसन्तानबन्धपर्यायमात्रतः) केवल अनादिसन्तानके क्रमसे होनेवाले बन्धके पर्यायकी अपेक्षासे (विवक्षितः सन्) विवक्षित होकर जीवके (अमी नवपदाः स्मृता) इन जीव आदि नव पदार्थरूप कहाजाता है।

भावार्थः— उपर्युक्त कथनका खुलासा यह है कि जीवकी अनादि सन्तानक्रमसे होनेवाली केवल बंधरूप पर्यायकी अपेक्षासे जीवकी विवक्षा करनेपर उस जीवकेही स्वरूप ये नवपदार्थ पडते हैं। अर्थात् विवक्षावश जीवही नवपदार्थमय कहा जाता है। इसलिए व्यवहारनय सर्वथा अनुपादेय नहीं कहा जासकता है।

किंच पर्यायधर्माणो नवामी पदसंज्ञकाः।
उपरक्तिरुपाधिः स्यान्नात्र पर्यायमात्रता ॥ १३९ ॥

अन्वयार्थः— (किंच) तथा (अमी नवपदसंज्ञकाः) ये नव पदार्थ (पर्यायधर्माणः) पर्यायके

धर्म है और (अत्र) इनमें (पर्यायमात्रतः न) केवल पर्यायरूपता नहीं है किंतु (उपरक्ति उपाधिः स्यात्) उपरक्तिरूप उपाधि भी है।

भावार्थः— उपरक्तिका अर्थ परायत्त है । और वे जीवादिक जो पदार्थ उपरक्ति सहित पर्यायके धर्म हैं। क्योंकि 'तत्रबन्धे न हेतुः स्यात, इत्यादि ७२ वे श्लोकमें ७७ वें श्लोकतक बन्धके कारणोंको बताते हुए, स्वय ग्रन्थकारने अनादिकालसे जीव और कर्मोंका एक दूसरेके आधीन होकर, अपने २ गुणोंसे च्युत होनेरूप परस्पर परायत्त होजानेकोही बन्धका कारण बताया है। परायत्तताके कारण कर्मोंका जीवके साथ बन्ध होता है। उनके अभावमें नहीं। इसी लिये मुक्तजीव सदा निर्बंध रहते हैं। उपाधि 'साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तिः उपाधि' अर्थात साधनके साथ व्यापकरूपसे न रहकर, साध्यके साथ व्यापक रूपसे रहे उसको उपाधि कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जो साधनके साथ तो नियमसे न रहे किंतु साध्यके साथ अवश्य रहे उसे उपाधि कहते हैं। जैसे यह पर्वत धूमवान् है क्योंकि यहांपर अग्नि है। यहा गीला ईंधन उपाधि है। क्योंकि गीला इंधन, साधनरूप अग्निके साथ नियमसे नहीं रहता है किंतु साध्यभूत धूमके साथ अवश्य रहता है। सोपरक्ति उपाधि असिद्ध नहीं है।

नात्रासिद्धमुपाधित्वं सोपरक्तेस्तथा स्वतः ।
यतो नवपदव्याप्तमव्याप्तं पर्ययेषु तत् ॥ १४० ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) जीव आदि नव पदार्थोंमें (स्वतः) अनादिकालसे (तथा) वैसी (सोपारक्तेः उपाधित्वं) सोपरक्तिकी उपाधिता (असिद्धं न) असिद्ध नहीं है (यतः) क्योंकि (तत् पर्ययेषु-अव्याप्त) वह उपाधिता 'व्यापक' जीवकी सम्पूर्ण पर्यायोंमें अव्याप्त और (नवपदव्याप्तं) नव पदोंमें व्याप्त है।

भावार्थः— उपाधिका लक्षण कहा जा चुका है। उक्त दृष्टान्तमें गीले ईंधनरूप उपाधि सहित अग्निरूप साधनके द्वारा धूमवान् पर्वत साध्य किया है यदि अग्नि निरुपाधि होती तो पर्वतमें धूमवत्व, साध्यकी सिद्धिमें नियामक नहीं होती। क्योंकि अग्निके शुद्ध होजानेपर फिर उसमें धूआ नहीं हो सकता है। 'गीले ईंधनकी अग्नि' यह विशेषण देने पर उपाधि सहित अग्नि धूमवत्व साध्यकी अवश्य नियामक होती है । इसीतरह केवल पर्यायमात्रसे जीवादिक नवें पदार्थोंकी सिद्धि नहीं होसकती है क्योंकि सिद्ध अवस्थामें पर्यायत्वके रहते हुएभी नव पदार्थरूपता नहीं पाई जाती है

इसलिए उपरक्तिरूप उपाधि सहित पर्याय मात्रताही नवपदार्थोंके साथ व्याप्ति रहती है ।

सारांश यह है कि जीवको नवपदार्थमय होनेमें केवल पर्यायमात्रता कारण नहीं है किन्तु उपरक्तिरूप उपाधि सहित पर्यायता कारण है । क्योंकि बंधकी उपरक्ति सहित पर्यायमात्रताके कारणही जीव नवपदार्थमय कहा जाता है । केवल पर्यायपनेसे नहीं ।

उपाधि न माननेमें दोष ।

सोपरक्तेरुपाधित्वान्नादरश्चेद्विधीयते ।
क्व पदानि नवामूनि जीवः शुद्धोनुभूयते ॥ १४१ ॥

अन्वयार्थः— (चेत्) यदि (सोपरक्तेः उपाधित्वात्) सोपरक्तिके उपाधित्वके कारण (अनादरः विधीयते) उसका अनादर किया जावे तो (अमूनि एव पदानि) ये नव पद (क्व) कहां मिलेंगे ? और उनके अभावमें (शुद्धजीवः क्व, अनुभूयते) शुद्ध जीवकाभी अनुभव कहां होगा ।

भावार्थ.— सोपरक्तिरूप उपाधिसे सहित होनेवाली पर्यायोंकेही कारण व्यवहारनयसे जीव नवपदार्थरूप सिद्ध होता है यदि उपरक्तिको-उपाधिको नहीं मानी जावे तो उसके निमित्तसे होनेवाले जीवादिक नवपदार्थ भी सिद्ध न होसकेंगे । अतः बंध मोक्षादि दशाओंके अभावमें शुद्ध जीवकी भी उपलब्धि नहीं होगी । इसलिए सोपरक्तिको यहां उपाधि मानना आवश्यक है ।

सारांश यह है कि रागादि उपाधि सहित पर्यायोंकी अपेक्षासेही व्यवहारनयके द्वारा नवपदार्थ माने जाते है केवल पर्यायत्वसे नहीं । यदि उपाधिको छोडकर केवल पर्यायत्वसे नवपदार्थोंकी सिद्धि करना चाहो तो उनकी सिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि जीव अजीव आश्रवादि परस्पर विरुद्ध पदार्थ केवल पर्याय सामान्यकी अपेक्षासे वैसे कहे जासकेंगे अर्थात् नहीं कहे जासकते है । कारण कि पर्यायमात्रत्व सामान्य धर्म है । इसलिए वह सब पदार्थोंमें सदृशतासे पाया जाता है । अत वह वैसादृश्य सहित पदार्थोंको सिद्ध नहीं करसकता है । तथा पदार्थोंके अभावमें पर्यायी जीवभी कहां अनुभव करनेको मिलेगा । क्योंकि पर्याय निरपेक्ष द्रव्यभी सिद्ध नहीं हो सकता है । इसलिए नवपदार्थोंकी सिद्धिके लिए पर्यायमात्रतामें उपरक्तिको उपाधि मानना चाहिए ।

इसप्रकार जीवादिक नवपदार्थोंमें उपाधि सहित पर्यायधर्मपना सिद्ध करके अब आगे—उपरक्तिके विषयमे अस्ति आदि चतुष्टय रूपसे शंका समाधानपूर्वक विचार करते है ।

शंका ।

ननूपरक्तिरस्तीति किंवा नास्तीति तत्वतः ।
उभयं नोभयं किंवा तत्क्रमेणाक्रमेण किम् ॥ १४२ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (उपरक्तिः अस्ति इति) उपरक्ति है (किंवा) अथवा (नास्ति इति) नहीं है (किंवा) अथवा (तत्क्रमेण उभयं) अस्तित्व नास्तित्वके क्रमसे उभयरूप है (किं) अथवा क्या (अक्रमेण उभयं न) युगपत् उभयरूप नहीं है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जीवादिक नव पदार्थोंमें उपरक्तिका सद्भाव है अथवा असद्भाव है। अथवा उपरक्ति और अनुपरक्तिकी क्रमपूर्वक उभय अवस्था है अथवा अक्रमपूर्वक अनुभय अवस्था है ।

अस्तीति चेत्तदा तस्यां सत्यां कथमनादरः ।
नास्तीति चेदसत्त्वेस्याः सिद्धो नानादरो नयात् ॥ १४३ ॥

अन्वयार्थः— (अस्ति इति चेत्) यदि जीवादिक पदार्थोंमें उपरक्तिका सद्भाव मानते हो (तदा) तो (तस्यां सत्यां) उसका सद्भाव होनेपर (अनादरः कथं) उसका अनादर कैसे होगा अर्थात् यदि जीवादिक नव पदार्थोंमें रहनेवाली उपरक्ति वास्तविक है तो जीव आदि नव पदार्थरूपही जीवका स्वरूप क्यों नहीं मानलिया जाता (नास्ति इति चेत्) यदि उनमें उपरक्तिका सद्भाव वास्तवमें नहीं है तो (अस्याः असत्वे) इसका असद्भाव होनेपर (नयात् अनादरः न सिद्धः) न्यायानुसार उसका अनादर सिद्ध नहीं होसकता है क्योंकि जो पदार्थ खरविषाणके समान अभावरूप होते है उसका अनादर किसप्रकार किया जासकता है । कारण कि आदर अनादर सद्भावात्मक पदार्थकाही होता है अभावात्मक पदार्थका नहीं ।

भावार्थः— यदि जीवादिक नौ पदार्थोंमें उपरक्ति वास्तविक है तो जीवादिक नौ पदार्थोंको अनुपादेय नहीं कहना चाहिये और यदि उपरक्ति अवास्तविक है तो उसका अनादर कैसे किया जासकता है । क्योंकि सद्भावात्मक पदार्थोंमेंही आदर अनादर होता है । अभावात्मक पदार्थमें नहीं ।

सत्यामुपरक्तौ तस्यां नादेयानि पदानि वै ।
शुद्धादन्यत्र सर्वत्र नयस्यानाधिकारतः ॥ १४४ ॥

अन्वयार्थः— (वै) निश्चयसे (तस्यां उपरक्तौ सत्यां) उस उपरक्तिके सद्भावात्मक होनेपर शुद्धनयसे (पदानि आदेयानि न) जीवादिक नव पदार्थ उपादेय नहीं ठहरते है अर्थात् वे जीवके नवपद नहीं कहे जासकते है क्योंकि (शुद्धात् अन्यत्र सर्वत्र) शुद्ध द्रव्यको छोड करके अशुद्ध सम्पूर्ण द्रव्योंमें ('अस्य' नयस्य अनधिकारतः) इस शुद्धनिश्चयनयका अधिकार नहीं है अर्थात् शुद्धनिश्चयनय अशुद्ध द्रव्यका ग्रहण नहीं करता है ।

भावार्थ — तथा यदि जीवादिक नव पदार्थोंमे उपरक्तिका सद्भाव मानोगे तो वह उपरक्ति उनमें सदैव रहना चाहिए । और उसके सदैव रहनेसे केवल शुद्ध जीवको विषय करनेवाले शुद्ध नयके द्वारा वे नव पदार्थ उपादेय नहीं कहे जासकेंगे । क्योंकि निश्चयनय शुद्ध द्रव्यकोही विषय करता है अशुद्ध द्रव्यको नहीं । (१)

असत्यामुपरक्तौ वा नैवामूनि पदानि च ।
हेतुशून्याविनाभूतकार्यमन्यस्य दर्शनात् ॥ १४५ ॥

अन्वयार्थः— (वा) अथवा (उपरक्तौ असत्यां) उपरक्तिका अभाव माननेपर (अमूनि पदानि च न एव) ये नव पदही नहीं बनसकेंगे क्योंकि (हेतुशून्याविनाभूतकार्यशून्यस्य दर्शनात्) हेतुके अभावसे अविनाभाव रखनेवाले कार्यकाभी अभाव देखा जाता है ।

भावार्थः— जीवके नव पद उपरक्तिके निमित्तसे माने जाते है इसलिये उपरक्तिरूप हेतुके अभावमें नव पदरूप कार्यकी सिद्धि कैसे होसकती है अर्थात उपरक्तिके अभावमें नवपद नहीं बन सकते है

उभयं चेत्क्रमणेह सिद्धं न्यायाद्विवक्षितम् ।
शुद्धमात्रमुपादेयं हेयं शुद्धेतरं तदा ॥ १४६ ॥

अन्वयार्थः— (इह) जीवादिक नव पदोंमें (क्रमेण उभयं विवक्षितं सिद्धं चेत्) यदि क्रमपूर्वक उपरक्तिका सद्भाव और असद्भावरूप उभय विवक्षित सिद्ध हो (तदा) तो (न्यायात्) न्यायानुसार (शुद्धमात्र उपादेयं) केवल शुद्धांश उपादेय और (शुद्धेतर हेय) अशुद्धांश हेय ठहरेगा ।

भावार्थः— यदि जीवादिक नव पदार्थोंमें क्रमपूर्वक उपरक्तिके सद्भाव और असद्भावके कारण उपरक्ति अनुपरक्तिकी क्रमपूर्वक उभय अवस्था मानी जायगी तो उपरक्तिके सद्भावसे जितना अशुद्धांश है उसको हेय तथा उसके असद्भावसे जितना शुद्धांश है उसको उपादेय मानने पडेगा।

योगपद्येपि तद्द्वैतं न समीहितसिद्धये।
केवलं शुद्धमादेयं नादेयं तत्परं यतः॥ १४७॥

अन्वयार्थ — (योगपद्ये) उन दोनोंके युगपत होनेपर (तद्द्वैतं अपि) उपरक्ति और अनुपरक्तिका द्वैतरूप भंगही (समीहितसिद्धये न) अभीष्ट सिद्धिके लिए समर्थ नही होसकता है (यतः) क्योंकि (केवलं शुद्ध आदेयं) केवल उपरक्ति रहित शुद्धांश उपादेय होगा और (तत्परं) उससे विपरीत उपरक्ति रहित अशुद्धांश (आदेय न) उपादेय नही होगा।

भावार्थः— युगपत उपरक्तिके सद्भाव और असद्भावको माननेपरभी नव पदार्थोंमें उपादेयता सिद्ध नही होसकती है। क्योंकि शुद्धमात्रही उपादेय मानागया है इतर नहीं।

नैकस्यैकपदे स्तो द्वे क्रिये वा कर्मणी ततः।
योगपद्यमसिद्धं स्याद्द्वैताद्वैतस्य का कथा॥ १४८॥

अन्वयार्थः— (एकस्य) एक द्रव्यके (एकपदे) एक पदमें (द्वे क्रिये वा कर्मणी नस्तः) दो क्रियायें अथवा दो कर्म नही हो सकते है (ततः) इसलिए जब (योगपद्यं असिद्ध स्यात्) उपरक्ति और अनुपरक्तिका योगपद्यही सिद्ध नही होसकता है तो फिर (द्वैताद्वैतस्य का कथा) द्वैताद्वैतका विचारही कैसे किये जासकता है?

भावार्थः— द्रव्यके किसी एक पदमें युगपत दो क्रिया अथवा दो कर्म नहीं हो सकते हैं इसलिये जब जीवादिकपदार्थोंमे उपरक्ति और अनुपरक्तिका योगपद्यही सिद्ध नहीं होता है तो फिर योगपद्यके कारण द्वैताद्वैतका विचारही कैसे किया जासकता है अर्थात किसी तरह नहीं।

ततोऽनन्यगतेर्न्यायाच्छुद्धः सम्यक्त्वगोचरः ।
तद्वाचकश्च यः कोपि वाच्यः शुद्धनयोपि सः ॥ १४९ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिए (न्यायात्) न्यायानुसार (अनन्यगतेः) और कोई गति न रहनेसे (सम्यक्त्वगोचरः) यथार्थताका विषयभूत (शुद्धः) उपरक्ति रहित द्रव्यही शुद्ध है (च) और (तद्वाचकः यः कः अपि) उस शुद्ध द्रव्यका वाचक जो कोईभी नय है (सः शुद्धनयः अपि) वह शुद्धनयही वक्तव्य है अर्थात् शुद्ध द्रव्य तथा शुद्ध द्रव्यका वाचक शुद्ध नयही कहना चाहिये । किंतु अशुद्ध द्रव्यरूप जीवादिक नव पदार्थ व उनका वाचक व्यवहारनय नहीं कहना चाहिये ।

भावार्थः— इसप्रकार उपरक्तिके सद्भाव असद्भाव तथा क्रमपूर्वक उभयरूपता और युगपत अनुभयरूपतासे भी जीवादिक नव पदार्थोंके विषयमें उपादेयता सिद्ध नहीं होती है । इसलिए अशुद्ध द्रव्य व उसके वाचक व्यवहार नयके लिए कोई गति न रहनेसे केवल शुद्ध द्रव्य और उसका वाचक एक शुद्ध निश्चयनयही कहना चाहिये ।

इसतरह शंकाकारने उपरक्ति तथा अनुपरक्तिके विषयमें होनेवाली अपनी शंकाको ८ पद्यों द्वारा पुष्ट किया है । अब आगे-ग्रंथकार उसका समाधान करते हैं । समाधान ।

नैवं त्वमन्यथासिद्धेः शुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
विरोधेप्यविरोधः स्यान्मिथः सापेक्षतः सतः ॥ १५० ॥

अन्वयार्थः— (एवं तु न) शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि (सतः शुद्धाशुद्धत्वयोः द्वयोः) सतकी शुद्धता और अशुद्धता इन दोनोंमें (अनन्यथा सिद्धेः) अनन्यथा सिद्धि है अर्थात् सतकी शुद्धता, अशुद्धताके बिना तथा अशुद्धता, शुद्धताके बिना सिद्ध नहीं होसकती हैं इसलिये (मिथः) दोनोंमें परस्परकी (सापेक्षतः) अपेक्षासे पाये जानेसे (विरोधे अपि) कथंचित् विरोधके रहते हुएभी (अविरोधः स्यात्) अविरोध है-विरोध नहीं है ।

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि सतकी शुद्धता और अशुद्धता परस्पर सापेक्ष भावसेही सिद्ध होती है एकान्तसे नहीं ; इसलिए यद्यपि उपरि दृष्टिसे दोनोंके कथनमें विरोध मालूम होता है तथापि

भिन्न २ दृष्टिकी अपेक्षासे भिन्न २ कथन होनेके कारण वह विरोध, विरोधही नहीं कहला सकता है।

अनन्यथासिद्धि असिद्ध नहीं है।

नासिद्धानन्यथासिद्धिस्तद्द्वयोरेकवस्तुतः।
यद्विशेषेपि सामान्यमेकमात्रं प्रतीयते ॥ १५१ ॥

अन्वयार्थः— (तद्द्वयोः एक वस्तुत) उन दोनों अवस्थाओंमें एकही द्रव्य होनेसे अर्थात एकही द्रव्यकी पूर्वापर अशुद्ध तथा शुद्ध दशा होनेसे (अनन्यथा सिद्धिः) अनन्यथा सिद्धि (असिद्धा न असिद्ध नहीं है (यत्) क्योंकि (विशेषे अपि) विशेषमेंभी अर्थात् अपनी सम्पूर्ण अवस्थाओंमेंभी (एकमात्रं सामान्य) एकमात्र सामान्य (प्रतीयते) प्रतीत होताही रहता है

भावार्थः— अशुद्धता और शुद्धता ये दोनोंही जीवकी पर्यायें हैं। जीवको अशुद्धसे शुद्ध होनेपर केवल पर्यायमें भेद होता है द्रव्यमें नहीं। क्योंकि द्रव्य तो वही जीव द्रव्य रहता है। यदि ऐसा नहीं माना जावे तो सामान्य विशेषात्मक पदार्थही सिद्ध नही हो सकता है। इसलिए शुद्धता तथा अशुद्धतामें दिया हुआ अनन्यथा सिद्धि रूप हेतु असिद्ध नहीं है।

नवतत्वोंके मूलभूत जीव और पुद्गल द्रव्य है।

तद्यथा नव तत्त्वानि केवलं जीवपुद्गलौ।
स्वद्रव्याद्यैरनन्यत्वाद्वस्तुतः कर्तृकर्मणोः ॥ १५२ ॥

अन्वयार्थ.— (तद्यथा) पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (नव तत्वानि) ये नव तत्व (केवलं जीवपुद्गलौ) केवल जीव और पुद्गलरूप हैं क्योंकि (वस्तुतः) वास्तवमें (स्वद्रव्याद्यैः) अपने द्रव्य क्षेत्रादिकके द्वारा (कर्तृकर्मणोः) कर्ता तथा कर्ममें (अनन्यत्वात्) अन्यत्व है—अनन्यत्व नहीं है

भावार्थ — कर्ता और कर्मकी भेद विवक्षासे केवल जीव तथा पुद्गलके द्वारा नव तत्वकी सिद्धि होजाती है। और उनकी अभेदविवक्षासे जीव व पुद्गल ये दोही द्रव्य- पदार्थ सिद्ध होते हैं।

केवल विशुद्ध जीव और पुद्गलकेभी नव पदार्थ सिद्ध नहीं होसकते है।

ताभ्यामन्यत्र नैतेषां किंचिद्द्रव्यान्तरं पृथक्।
न प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य पुद्गलस्य च ॥ १५३ ॥

अन्वयार्थ — (ताभ्यां अन्यत्र) उन जीव और पुद्गलोंके सिवाय (एतेषां) इन नव तत्वोंमें (किंचित् पृथक् द्रव्यांतरं न) पृथक् २ से कुछ दूसरे द्रव्य नहीं हैं तथा (प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य च पुद्गलस्य न) पृथक् २ विशुद्ध जीव और विशुद्ध पुद्गलकेभी ये नव पदार्थ नहीं होते है

भावार्थः— जीव और पुद्गलके सिवाय नव पदोंमें अन्य किसी द्रव्यका सम्बन्ध नहीं है। तथा न ये नव पद शुद्ध जीव और शुद्ध पुद्गलकेभी नहीं है। किंतु परस्पर संयुक्त जीव और पुद्गलके है। क्योंकि विना परनिमित्तके शुद्ध द्रव्योंमें विकार नहीं होता है।

किन्तु नव पदार्थ परस्परमें सम्बन्धको प्राप्त जीव तथा पुद्गलके हैं।

किन्तु सम्बन्धयोरेव तद्द्वयोरितरेतरम्।
नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां भावा नव पदा अमी ॥ १५४ ॥

अन्वयार्थः— (किंतु) किंतु (इतरेतर) परस्परमें (तद्द्वयोः सम्बन्धयो एव) सम्बन्धको प्राप्त उन दोनों जीव और पुद्गलोंकेही (नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां) नैमित्तिक निमित्त सम्बन्धसे होनेवाले (भावाः) भाव (अमी नव पदाः) ये नव पदार्थ है

भावार्थः— बंध कार्य है आस्रव उसका कारण है। मोक्ष कार्य है संवर और निर्जरा उसके कारण है। मोक्ष बंधपूर्वक होता है। बंधही जीव तथा पुद्गलमें वैभाविक भाव उत्पन्न करता है। इस प्रकार निमित्त नैमित्तिक संबंधसे जीव और पुद्गलमे बंध होकर उनके संयोग व वियोग स्वरूप ये नवपद होते है। अन्यथा नहीं अर्थात् पुद्गलके निमित्तसे जीवमें बंधादिक नैमित्तिक भाव होते है पुद्गलके निमित्त विना नहीं।

सारांश यह है नैमित्तिक जीव तथा निमित्त पुद्गल इन दोनोंके परस्पर संबंधसेही नवपद सिद्ध होते है।

जीवकेही नौ पद है।

अर्थान्नवपदीभूय जीवश्चैको विराजते ।
तदात्वेऽपि परं शुद्धस्तद्विशिष्टदशामृते ॥ १५५ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) अर्थात् (एक जीव) एक जीवही (नवपदीभूय) जीवाजीवादिक नव पदार्थरूप होकरके (विराजते) विराजमान है (च) और (तदात्वे अपि) उन नव पदार्थोंकी अवस्थामें भी (तद्विशिष्टदशां ऋते) यदि विशेष दशाकी विवक्षा न की जावे तो (परं शुद्धः) केवल शुद्ध जीवही अनुभवमें आता है

भावार्थः— उक्त कथनका सारांश यह है कि पुद्गलके निमित्तसे बन्धको प्राप्त जीवही जीवादि नव पदार्थमय है अर्थात् जीवादिक नव पदार्थ जीवकीही विशेष अवस्थायें है। इसलिए यदि विशेष अपेक्षाको गौण करके एकमात्र सामान्यकी विवक्षा की जावे तो जीव अपनी सम्पूर्ण अवस्थाओं केवल शुद्धही प्रतीत होता है।

खुलासा।

नासंभवं भवेदेतत् तद्विधेरुपलब्धितः ।
सोपरक्तेरभूतार्थात् सिद्धं न्यायाददर्शनम् ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थः— (तद्विधेः उपलब्धितः) नव पदार्थोंमें जीवको अन्वयरूपसे पाये जानेके कारण (एतत्) यह उक्त कथन (असंभवं न भवेत्) असंभव नहीं है क्योंकि (सोपरक्तेः अभूतार्थात्) सोपरक्तिके वास्तविक नही होनेके कारण (न्यायात्) न्यायानुसार उस उपरक्तिकी (अदर्शनं सिद्धं) उपेक्षा होजाती है।

भावार्थः— अपने संपूर्ण विशेषोंमें सामान्यका अन्वय पाया जाता है। इसलिए सामान्यकी अपेक्षासे जीवाजीवादि विशेष धर्मोंकी उपेक्षा होना असिद्ध नहीं है। क्योंकि जिस सोपरक्तिसे जीवमें कर्मके सयोगपूर्वक ये नवपद होते है वह उपरक्ति जीवका वास्तविक स्वरूप नहीं है। किन्तु केवल उपाधि है। अतः शुद्ध दृष्टिसे उसकी अपेक्षाका होना युक्तियुक्त है असिद्ध नहीं है।

नवपदार्थोंमे जीवोपलब्धिके दृष्टान्त ।

सन्त्यनेकेत्र दृष्टान्ता हेमपद्मजलाऽनलाः ।
आदर्शस्फटिकाश्मानौ बोधवारिधिसैंधवाः ॥ १५७ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) इस विषयमें (हेमपद्मजलानलाः) सुवर्ण, कमल, जल, अग्नि (आदर्शस्फटिकाश्मनौ) दर्पण, स्फटिकपत्थर (बोधवारिधिसैन्धवा) ज्ञान, समुद्र और नमक इसप्रकार (अनेके दृष्टांनाः सन्ति) अनेक दृष्टांत है जिनकेकि द्वारा नव पदार्थोंमे शुद्ध जीवका अनुभव सिद्ध किया जासकता है ।

भावार्थः— यहांपर उक्तकथनके साधक हेम, पद्म, जल, अग्नि, दर्पण, स्फटिक, ज्ञान, समुद्र और सैन्धवादि अनेक दृष्टान्त है ।

सुवर्णका दृष्टान्त ।

एकं हेम यथानेकवर्णं स्यात्परयोगतः ।
तमसन्तमिवोपेक्ष्य पश्य तद्धेम केवलम् ॥ १५८ ॥

अन्वयार्थः— (यत्र) जैसे (एकं हेम) शुद्ध सुवर्ण (परयोगत.) अन्य धातुओंके संयोगसे (अनेकवर्णं) नाना प्रकारके रूपोंको धारण करनेवाला होता है किंतु यदि (तं असन्तं इव) उस परयोगको नहींके समान् मानकरके उसकी (उपेक्ष्य) उपेक्षा करके उस सुवर्णको (पश्य) देखो तो (तत्) वह अन्य धातुसे मिश्रित सुवर्ण (केवलं हेम) केवल शुद्ध सुवर्णही प्रतीत होता है ।

भावार्थः— जैसे अन्य धातुओंके संयोगसे सुवर्णमें अनेक प्रकारके रूप दिखाई देते हैं । किन्तु यदि परसंयोगसे होनेवाली उस सुवर्णकी अवस्था पर ध्यान नहीं देकर उस सुवर्णको देखा जावे तो वह सुवर्ण शुद्ध सुवर्णही प्रतीत होता है । वैसेही जीवभी कर्मके निमित्तसे अजीव आश्रव आदि पदोंमे अशुद्ध रूपसे पाया जाता है–दिखाई देता है । किन्तु यदि परसंयोगरूप कर्म निमित्तकी उपेक्षा करके उसको देखा जावे तो वह जीव शुद्धही प्रतीत होता है --अनुभवमें आता हैं ।

---

१ मू. पु. में 'वप्र' पाठ है।

नचाशंक्यं सतस्तस्य स्यादुपेक्षा कथं जवात ।
सिद्धं कुतः प्रमाणाद्वा तत्सत्वं न कुतोपिवा ॥ १५९ ॥

अन्वयार्थः— (तस्य सतः) उस सत्स्वरूप पर संयुक्त द्रव्यकी (जवात) सहसा (उपेक्षा) उपेक्षा (कथं स्यात) कैसी होजायगी (' इति न च आशंक्य) ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए क्योंकि (तत्सत्वं वाकुत. प्रमाणात्) उस परद्रव्यका सत्व (सुवर्णमेंभी) किस प्रमाणसे (सिद्धं) सिद्ध होता है अर्थात (कुतः अपि वा न) किसीभी प्रमाणसे नहीं ।

भावार्थः— यहांपर यह आशंका करना ठीक नहीं है कि संयुक्त द्रव्यमें विवक्षावश असत्व कैसे कहा जायगा । क्योंकि किसी द्रव्यमें किसी द्रव्यका सत्व मानना किसीभी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होसकता है अर्थात जब सुवर्णमें अन्य धातुका सत्वही सिद्ध नहीं है तो फिर उसमें रहनेवाले संयुक्त द्रव्यकी उपेक्षा क्यों जाती है ? यह श ; का निर्मूल सिद्ध होती है । क्योंकि अन्य द्रव्यमें अन्य द्रव्यका सद्भाव केवल उपचारवश पाया जाता है वास्तवमें नहीं ।

नानादेयं हि तद्धेम सोपरक्तेरुपाधिवत् ।
तत्त्यागे सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपाततः ॥ १६० ॥

अन्वयार्थः— (सोपरक्ते. उपाधिवत्) सोपरक्तिसे उपाधि सहित (तत्त हेम) वह सुवर्ण (अनादेयं न हि) त्याज्य नहीं है क्योंकि (तत्त्यागे) उसका त्याग करनेपर (सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपाततः) सर्व शून्यता आदि दोषोंका प्रसंग आता है ।

भावार्थः— अन्यधातु संयुक्त वह सुवर्ण त्याज्य नहीं है । यदि उसका त्याग करदिया जायगा तो सर्व शून्यता आदि. अनेक दोषोंका प्रसंग आवेगा। अर्थात् खानसे निकली हुई सोनेकी मट्टी आदि सब अवस्थाएँ सुवर्णके पर्याय धर्म है । अत उनको त्याज्य माननेमें उनका अभाव होनेसे पर्यायके अभावमें पर्यायीके भी अभावकी सभावनासे सर्वशून्यता दोषका प्रसंग आता है ।

न परीक्षाक्षमं चैतच्छुद्धं शुद्धं यदा तदा ।
शुद्धस्यानुपलब्धौ स्याल्लब्धिहेतोरदर्शनम् ॥ १६१ ॥

अन्वयार्थः— (एतत) यह कथनभी (परीक्षाक्षमं न च) परीक्षा करनेसे सिद्ध नहीं होसकता है कि (यदा) जिससमय (शुद्धं) सुवर्ण शुद्ध है (तदा शुद्धं) उस समय वह शुद्धही हैं क्योंकि (शुद्धस्य अनुपलब्धौ) शुद्ध द्रव्यकी प्राप्ति नही होनेपर (लब्धिहेतोः अदर्शनं स्यात्) उसकी प्राप्तिके हेतुकाभी अदर्शन सिद्ध होता है।

भावार्थः— यदि कदाचित् कहा जाय कि जो जिससमय शुद्ध है वह उस समय शुद्धही रहता है तो यह कहनाभी ठीक नहीं है। क्योंकि शुद्धता और अशुद्धतामें अनन्यथासिद्धि रहती है अर्थात् अशुद्ध अवस्था पूर्वकही शुद्ध अवस्था प्राप्त होसकती है। इसलिए जब अशुद्ध निरपेक्ष केवल शुद्धकी उपलब्धि न होनेसे उसका साधक हेतुभी प्राप्त नहीं होसकता है तो फिर विना हेतुके वह केवल शुद्धही कैसे सिद्ध हो सकता है ?

यदा तद्वर्णमालायां दृश्यते हेम केवलम् ।
न दृश्यते परोपाधिः स्वेष्टं दृष्टेन हेम तत् ॥ १६२ ॥

अन्वयार्थः— (यदा) जिस समय (तद्वर्णमालायां) उस अशुद्ध सुवर्णके रूपोंमें (केवलं हेम दृश्यते) केवल शुद्ध सुवर्ण दृष्टिगोचर किया जाता है ('तदा') उस समय (परोपाधिः न दृश्यते) परद्रव्यके उपाधि दृष्टिगोचर नही होती है किंतु (दृष्टेन) प्रत्यक्ष प्रमाणसे (स्वेष्टं) अपना अभीष्ट (तत् हेम) वह केवल शुद्ध सुवर्णही दृष्टिगोचर होता है।

भावार्थः— जिससमय अन्यधातु संयुक्त सुवर्णकी वर्णमालामें केवल सुवर्णकी अपेक्षासे दृष्टि रक्खी जाती है उस समय इतर वर्ण लक्ष्यगत न होकर केवल शुद्ध सुवर्णही दृष्टिगोचर होता है।

सारांश ।

ततः सिद्धं यथा हेम परयोगाद्विना पृथक् ।
सिद्धं तद्वर्णमालायामन्ययोगेपि वस्तुतः ॥ १६३ ॥

अन्वयार्थ— (ततः) इसलिए (सिद्धं) सिद्ध हुआ कि (यथा) जैसे (तद्वर्णमालायां) उस अशुद्ध सुवर्णकी वर्णमालामें (अन्ययोगे अपि) अन्य धातुका संयोग होनेपरभी (वस्तुतः) वास्तवमें (परयो-

गात् विना) परसंयोगके विना (पृथक् हेम) पृथक् रूपसे शुद्ध सुवर्णका अस्तित्व (सिद्धं) सिद्ध होता है ('तथा') वैसेही जीवादिक नव पदार्थोंमें शुद्ध जीवका अस्तित्व सिद्ध है।

भावार्थः— इसलिए सिद्ध होता है कि जैसे परसंयोगके विना वास्तवमें सुवर्णकी शुद्ध रूपसे प्रतीति होती है वैसेही परसयोगके विना वास्तवमें जीवकी भी शुद्ध रूपसे प्रतीति होती है।

प्रक्रियेयं हि संयोज्या सर्वदृष्टान्तभूमिषु ।
साध्यार्थस्याविरोधेन साधनालंकरिष्णुषु ॥ १६४ ॥

अन्वयार्थः—(अविरोधेन) अविरोधपूर्वक (साध्यार्थस्य) साध्यार्थके साथ (साधनालंकरिष्णुषु) साधनको भूषित करने वाले (सर्वदृष्टान्तभूमिषु) सम्पूर्ण दृष्टान्तोंमें भी (इय हि प्रक्रिया) यही प्रक्रिया (सयोज्या) घटित करना चाहिये।

भावार्थः— जैसे सुवर्णके दृष्टान्तमें प्रक्रिया लगाई है वैसेही साध्यार्थके साथ साधनको दिखानेवाले अर्थात जिनमें साध्य व्याप्त साधनकी दृष्टान्त रूपसे सिद्धि की जाती है ऐसे पद्मादिकके दृष्टान्तमें यही प्रक्रिया लगाना चाहिये।

पद्मका दृष्टान्त।

तोयमग्नं यथा पद्मपत्रमत्र तथा न तत् ।
तदस्पृश्यस्वभावत्वादर्थतो नास्ति पत्रतः ॥ १६५ ॥

अन्वयार्थः—(यथा) जैसे (पद्मपत्रं) कमलका पत्ता (तोयमग्नं) जलमें डुबा हुआ रहता है परन्तु (तत्) वह कमलका पत्ता (अत्र तथा न) जलमें जलरूपसे नहीं रहता है किन्तु अपने स्वरूपसे रहता है क्योंकि (तदस्पृश्यस्वभावत्वात्) वह जलसे अस्पृश्य स्वभाववाला है इसलिए (अर्थत) वास्तवमें (पत्रतः) पत्रमें (नास्ति) जल नहीं है

भावार्थ.— जैसे यद्यपि जलके विना कमलपत्र उपलब्ध नहीं होता है तो भी कमलपत्र जलमें लिप्त नहीं है। वैसेही नव तत्वोंके विना जीवकी उपलब्धि नहीं होती है। तथापि शुद्ध जीव नव तत्वोंमें लिप्त नहीं है। किन्तु शुद्ध दृष्टिसे कमलके समान भिन्न है।

सारांश यह है कि जैसे कमल जलसे भिन्न है वैसेही परसंयोग वियोग पूर्वक होनेवाले व्यवहारनयके विषयभूत जीवादि नव पदार्थोंसे शुद्ध दृष्टिकी अपेक्षा जीव भिन्न हैं।

जलका दृष्टान्त।

सकर्दमं यथा वारि वारि पश्य न कर्दमम्।
दृश्यते तदवस्थायां शुद्धं वारि विपङ्कवत् ॥ १६६ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे यदि (सकर्दमं वारि) कीचड सहित जलको (वारि) जलरूपसे (पश्य) देखो तो (कर्दम न) कीचड लक्ष्यगत नहीं होता है किंतु (तदवस्थायां) उस कर्दम सहित अवस्थामेंभी (विपंकवत्) कर्दम रहित शुद्ध जलके समान (शुद्धं वारि) निर्मल जलही (दृश्यते) दृष्टिगोचर होता है।

भावार्थः— जिसप्रकार कीचड और जल दोनों मिले हुये मालूम होते है। किन्तु शुद्ध जलकी ओरही लक्ष्य करनेपर कीचडका ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि वास्तवमें जल कीचडसे भिन्न है। उसी प्रकार जीवभी नव तत्त्वोंमें पाया जाता है। किन्तु शुद्ध जीव उनसे वास्तवमें पृथक् है।

अग्निका दृष्टान्त।

अग्निर्यथा तृणाग्निः स्यादुपचारात्तृणं दहन्।
नाग्निस्तृणं तृणं नाग्निरग्निरग्निस्तृणं तृणम् ॥ १६७ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे यद्यपि (तृणं दहन अग्नि) तृणको—तिनकाको जलानेवाली अग्नि (उपचारात्) उपचारसे (तृणाग्निः स्यात्) तृणकी अग्नि कही जाती है तथापि वास्तवमें (अग्निः) अग्नि (तृण न) तृणरूप नहीं होजाती है और (तृण) तृण (अग्नि. न) अग्निरूप नहीं होजाता है किंतु (अग्नि अग्निः) अग्नि, अग्निस्वरूप रहती है तथा (तृणं तृणं) तृण, तृणस्वरूप रहता है।

भावार्थः— जैसे लोकमें यह तृणाग्नि है, यह काष्ठाग्नि है, यह कारीषाग्नि है और यह पाषाणाग्नि है इत्यादि रूपसे अग्नि कही जाती है। किन्तु वास्तवमें अग्नि, तृण काष्ट, ईंटया पत्थर आदिरूप नहीं होजाती हैं। क्योंकि वह उनसे वस्तुतः भिन्न है। वैसेही जीवभी नव तत्वोंमें पाया जाता है। किन्तु वह वस्तुतः नव तत्वरूप नहीं हो जाता है।

दर्पणका दृष्टान्त ।

प्रतिबिम्बं यथादर्शे सन्निकर्षात्कलापिनः ।
तदात्वे तदवस्थायामपि तत्र कुतः शिखी ॥ १६८ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (आदर्शे) दर्पणमें (कलापिनः सन्निकर्षात्) मयूरके सन्निकर्षसे मयूरका (प्रतिबिम्बं) प्रतिबिम्ब पडता है परन्तु (तदात्वे) उस समय (तत्र) उस दर्पणमें (तदवस्थायां अपि) उस प्रतिबिंबरूप अवस्थाके पाये जानेपरभी (शिखी कुतः) वास्तविक मयूर कहांसे आजायगा ?

भावार्थ.— जैसे दर्पणमें जो मयूरका प्रतिबिम्ब पडता है वह प्रतिबिम्ब वास्तविक मयूर नहीं कहलाता है। यदि वह भी वास्तविक हो तो भी प्रत्यक्ष मयूरके समान प्रत्यक्ष होना चाहिये। किन्तु दर्पणमें उसका प्रत्यक्ष होता नहीं है। केवल प्रतिबिम्बही उसका पाया जाता है। वैसेही जीवादिक नव तत्वोंमें जीवका प्रतिबिम्ब पडता है। वास्तविक जीव नहीं है। इसलिए जीवादिक नव तत्व परोपाधिनिमित्तक जीवकी अवस्थाएं है। शुद्ध जीवद्रव्य नहीं।

स्फटिकका दृष्टान्त ।

जपापुष्पोपयोगेन विकारः स्फटिकाश्मनि ।
अर्थात्सोपि विकारश्चाऽवास्तवस्तत्र वस्तुतः ॥ १६९ ॥

अन्वयार्थ.— (अर्थात्) यथार्थमें (जपापुष्पोपयोगेन) जपा कुसुमके–एक प्रकारके लाल फूलके संयोगसे (स्फटिकाश्मनि) स्फटिक मणिमें ('यः') जो (विकारः) विकार अर्थात् लालिमा पडने लगती है (स च विकारः अपि) वह विकारभी (तत्र) उस स्फटिकमें (वस्तुतः) वास्तवमें (अवास्तवः) अवास्तविक है।

भावार्थः— जैसे जपाकुसुमके योगसे जो स्फटिकमें लालिमाका प्रतिभास होता है। वह परनिमित्तजन्य है वास्तविक नहीं। वैसेही पर द्रव्यके संयोग वियोग पूर्वक होनेवाले जीवादि नव तत्वोंमें जो जीवका प्रतिभास होता है वह वास्तविक नहीं है किन्तु केवल व्यवहार दृष्टिमें है। शुद्ध दृष्टिमें नहीं। शुद्ध दृष्टिमें तो जीव अद्वैतरूपही है। उसमें परनिमित्तसे होनेवाली अवस्थाओंका प्रतिभास प्रतीत नहीं होता है।

ज्ञानका दृष्टान्त ।

ज्ञानं स्वयं घटज्ञानं परिच्छिन्दद्यथा घटम् ।
नार्थाज्ज्ञानं घटोयं स्याज्ज्ञानं ज्ञानं घटो घटः ॥ १७० ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (घटं परिच्छिन्दत् ज्ञानं) घटको विषय करनेवाला—जाननेवाला ज्ञान (स्वयं) स्वयं (घटज्ञानं) घटज्ञान कहलाता है परन्तु (अर्थात्) वास्तवमें (अय घटः) यह घट (ज्ञानं न) ज्ञानरूप नहीं हो जाता है किंतु (ज्ञानं ज्ञानं) ज्ञान, ज्ञानरूप और (घट घटः स्यात्) घट, घटरूपही रहता है ।

भावार्थ — जैसे घटको जाननेवाला ज्ञान घटज्ञान कहलाता है । वास्तवमें ज्ञान घटरूप नहीं हो जाता है । किन्तु ज्ञान, ज्ञान और घट, घटही रहता है । वैसेही जीव व्यवहारनयसे नव द्रव्यमय कहा जाता है । किंतु शुद्ध दृष्टिसे वह नव पदार्थमय नहीं है ।

समुद्रका दृष्टान्त ।

वारिधिः सोत्तरंगोऽपि वायुना प्रेरितो यथा ।
नार्थादैक्यं तदात्वेपि पारावारसमीरयोः ॥ १७१ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (वायुना प्रेरितः वारिधिः) वायुसे प्रेरित समुद्र यद्यपि (सोत्तरंग अपि) तरंगित होरहा है तथापि (तदात्वे अपि) उस अवस्थामेंभी (पारावारसमीरयो) समुद्र और वायुमें (अर्थात्) वास्तविक (ऐक्य न) एकता नहीं है ।

भावार्थः— जैसे यद्यपि वायुके निमित्तसे समुद्र सदा लहराता रहता है तथापि वायु और समुद्र वास्तवमें एक नहीं हो जाते है । वैसेही जीव यद्यपि पर द्रव्यके संयोग वियोग पूर्वक होनेवाले नवपदार्थमय कहलाता है । तथापि वह परद्रव्यमय नहीं हो जाता है । किंतु शुद्ध नयसे शुद्ध ही रहता है ।

नमकका दृष्टान्त ।

सर्वतः सैन्धवं [illegible]मर्थादेकरसं स्वयम् ।
चित्रोपदंशकेषूच्चैर्यज्ञानेकरसं यतः ॥ १७२ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (सर्वतः) सब अवस्थाओंमें (अर्थात्) वास्तविक (स्वयं) स्वयं (एकरसं) एक रसवाली अर्थात् खारे रसवाली (यत् सैन्धवं खिल्यं) जो नमककी डली है ('तत्') वह (उच्चैः चित्रोपदंशकेषु) उत्तम नाना प्रकारके व्यंजनोंमें मिलकर (अनेक रस न) अनेक रसवाली नहीं होजाती है।

भावार्थः— जैसे वास्तवमें स्वयं एकरसवाला नमक नाना प्रकारके व्यंजनोंमें मिलकर भिन्न रसवाला नहीं हो जाता है। वैसेही जो जीव स्वयं अद्वैतरूप होकर सब अवस्थाओंमें चिदात्मकही है वह पर द्रव्यके संयोग वियोग पूर्वक होनेवाले जीवादि नव तत्वोंमें विमिश्रित होकर भी अशुद्ध द्वैतरूप नहीं हो जाता है।

उपसंहार।

इति दृष्टान्तसनाथेन स्वेष्टं दृष्टेन सिद्धिमत्।
यत्पदानि नवामूनि वाच्यान्यर्थादवश्यतः॥ १७३॥

अन्वयार्थः— (इति) इसप्रकार (दृष्टांतसनाथेन दृष्टेन) दृष्टांतपूर्वक प्रत्यक्ष प्रमाणसे (यत् स्वेष्टं) जो अपना इष्ट था (तत् सिद्धिमत्) वह सिद्ध होता है कि (अर्थात्) वास्तवमें (अमूनि नव पदानि) ये नव पद (अवश्यतः) अवश्य (वाच्यानि) कहना चाहिये अर्थात सम्यग्दर्शनके विषयभूत मानना चाहिये।

भावार्थः— उक्त दृष्टान्तोंसे सिद्ध होता है कि यद्यपि निश्चयनयसे शुद्ध जीव द्रव्यका स्वरूप नव पदार्थोंसे वस्तुतः भिन्न है तथापि उन नव पदार्थोंको छोडकरके अन्यत्र शुद्ध जीव द्रव्य उपलब्ध नही हो सकता है अर्थात् जैसे अग्नि, तृण काष्ट पाषाण आदि विशिष्ट द्रव्योंके आधार विना, समुद्र वायुके विना, सुवर्ण खनिज अन्य द्रव्यके संयोग के विना, ज्ञान घटादिक विना, और कमल जल विना, उपलब्ध नही हो सकता है वैसेही नव द्रव्यरूप पर्यायोंको छोडकरके अन्यत्र शुद्ध जीव द्रव्यका स्वरूप भी उपलब्ध नहीं हो सकता है। इसलिए जीवके स्वरूपको समझानेके लिए नव पदार्थ अवश्य कहना चाहिए। अर्थात् सम्यग्दर्शनके विषयभूत मानना चाहिये। अब आगे— शुद्ध जीवको नव पदोंसे सर्वथा भिन्न माननेमें दोष बताते हैं।

आशंका।

कैश्चित्तु कल्प्यते मोहाद्वक्तव्यानि पदानि न।
हेयानीति यतस्तेभ्यः शुद्धमन्यत्र सर्वतः॥ १७४॥

अन्वयार्थः— (केश्चित् तु) किन्हीं लोगोंके द्वारा (मोहात्) मोहसे (हेयानि पदानि वक्तव्यानि न) वक्तव्य पद हेय है इसलिए उन्हे नहीं कहना चाहिये (इति) ऐसा (कल्प्यते) कल्पित किया जाता है (यतः) क्योंकि (तेभ्यः सर्वतः अन्यत्र) उन सब पदार्थोंसे अतिरिक्त (शुद्ध) शुद्ध द्रव्य है ।

भावार्थः— कोई ऐसी कल्पना करते है कि शुद्ध जीव नव तत्वोंसें सर्वथा भिन्न है । इसलिए यहांपर अप्रयोजनभूत हेय नव तत्व नहीं करना चाहिये । परिहार ।

तदसत्सर्वतस्त्यागः स्यादसिद्धः प्रमाणतः ।
तथा तेभ्योऽतिरिक्तस्य, शुद्धस्यानुपलब्धितः ॥ १७५ ॥

अन्वयार्थः— (तत् असत्) उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि (सर्वतः त्यागः) उनका सर्वथा त्याग अर्थात् अभाव (प्रमाणतः असिद्धः स्यात्) प्रमाणसे असिद्ध है (तथा) तथा उन नव पदार्थोंको सर्वथा हेय माननेपर (तेभ्यः अतिरिक्तस्य) उनके विना (शुद्धस्य अनुपलब्धितः) शुद्ध आत्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती हैं

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि जीवाजीवादिक नव पदार्थ जीवके ही पर्याय धर्म है । अतः उनका सर्वथा अभाव नहीं कहा जासकता है । कारण कि पर्यायोंके सर्वथा अभावको माननेसे पर्यायीके भी अभावका प्रसंग आता है । इसलिए उनका सर्वथा अभाव मानना प्रमाणसिद्ध नहीं है । तथा विशेषमात्रके अभावमें सामान्यके भी अभावका प्रसंग आनेसे नव तत्वोंके नहीं माननेपर जीवकी भी उपलब्धि नहीं हो सकती है ।

नावश्यं वाच्यता सिद्ध्येत्सर्वतो हेयवस्तुनि ।
नान्धकारेऽप्रविष्टस्य प्रकाशानुभवो मनाक् ॥ १७६ ॥

अन्वयार्थः— किन्तु (सर्वतः हेयवस्तुनि) सर्वथा हेय वस्तुमें अभावात्मक वस्तुमे (वाच्यता) वाच्यता (अवश्य न सिद्ध्येत्) अवश्य सिद्ध नहीं होसकती है अर्थात् सर्वथा अभावात्मक पदार्थ अलीक होता है अतः उसके कहनेमें अवश्य कुछ प्रयोजन नहीं निकलता है क्योंकि (अन्धकारे अप्रविष्टस्य) अन्धकारमें प्रवेश नहीं करनेवाले मनुष्यको (मनाक्) कुछभी (प्रकाशानुभव न) प्रकाशका अनुभव नहीं होता है

भावार्थः— यदि जीवादिक नौ पदार्थ खरविषाणकी तरह सर्वथा अभावात्मक होते तो उनमें अवश्य वाच्यता सिद्ध नहीं होती। किन्तु वे सर्वथा अभावात्मक नहीं है। भावनापेक्ष अभावात्मक है। अर्थात शुद्ध विरुद्ध जीवकी अशुद्ध पर्यायरूप जीवादिक नौ पदार्थ है। इसलिए जैसे अन्धकारके बिना प्रकाशका अनुभव नहीं होता है। वैसेही अशुद्धकी अपेक्षाके बिना शुद्ध की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतएव जीवादिक नौ पदार्थोंमें वाच्यता अवश्य सिद्ध होती है।

सारांश यह है कि जैसे प्रकाशानुभव अन्धकारानुभवकी अपेक्षा रखता है वैसेही शुद्ध आत्माका ज्ञान नव तत्वरूप अशुद्ध जीवकी दशाके ज्ञानकी अपेक्षा रखता है। इसलिए नव तत्वोंका सर्वथा त्याग नहीं किया जासकता है।

नवतत्व प्रयोजनभूत है अतः अवाच्यता युक्तियुक्त नहीं है।

नावाच्यता पदार्थानां स्यादकिंचित्करत्वतः।
सार्थानीति यतोवश्यं वक्तव्यानि नवार्थतः॥ १७७॥

अन्वयार्थः— (यतः) क्योंकि (अर्थतः) प्रयोजनवश (सार्थानि नव अवश्य वक्तव्यानि) प्रयोजनभूत नव पदार्थ अवश्य वक्तव्य हैं (इति) इसलिए (अकिंचित्करत्वतः) अकिंचित्कर हेतुसे (पदार्थानां अवाच्यता न स्यात्) पदार्थोंमें अवाच्यता सिद्ध नहीं होती है।

भावार्थः— व्यवहारके लिये जीवादिक नव पदार्थ प्रयोजनभूत हैं। इसलिये उन्हें अकिंचित्कर हेतुसे अवाच्य कहना युक्तियुक्त नहीं है।

नव पदार्थोंसे अतिरिक्त (द्रव्य) को शुद्ध माननेमें साधन नहीं मिल सकता है।

न स्यात्तेभ्योऽतिरिक्तस्य सिद्धिः शुद्धस्य सर्वतः।
साधनाभावतस्तस्य तद्यथानुपलब्धितः॥ १७८॥

अन्वयार्थः— (तेभ्यः अतिरिक्तस्य सर्वतः शुद्धस्य) उन नव पदार्थोंसे अतिरिक्त सर्वथा शुद्ध द्रव्यकी (सिद्धिः न स्यात्) सिद्धि नहीं होसकती है क्योंकि (साधनाभावतः) साधनका अभाव होनेसे (तस्य)

उस शुद्ध द्रव्यकी (अनुपलब्धितः) उपलब्धि नहीं होसकती है (तद्यथा) जैसाकी आगे शंका समाधानसे प्रगट होता है

भावार्थः— शुद्ध द्रव्य नव पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न है। यह सिद्ध करनेके लिए कोई साधन नहीं मिल सकता है। इसलिए साधनका अभाव होनेसे साध्यरूप शुद्ध द्रव्यका सद्भाव भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

शंका।

ननु चार्थान्तरं तेभ्यः शुद्धं सम्यक्त्वगोचरम् ॥
अस्ति जीवस्य स्वं रूपं नित्योद्योतं निरामयम् ॥ १७९ ॥
न पश्यति जगद्यावन्मिथ्यान्धतमसा ततम्।
अस्तमिथ्यान्धकारं चेत् पश्यतीदं जगज्जवात् ॥ १८० ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (तेभ्यः अर्थान्तर) उन नव पदोंसे सर्वथा भिन्न (शुद्धं) शुद्ध (सम्यक्त्वगोचरं) सम्यग्दर्शनका विषयभूत (नित्योद्योतं) नित्य प्रकाशमान (निरामयं) आधिव्याधि रहित (जीवस्य) जीवका (स्वरूप अस्ति) शुद्ध स्वरूप है किंतु (जगत्) लोग (यावत्) जब तक (मिथ्यांधतमसा तत) मिथ्यात्वरूपी गाढ अन्धकारसे व्याप्त रहते है (तावत्) तबतक वे उसी जीवके शुद्ध स्वरूपको (न पश्यति) नही देखते है और जिससमय (जगत) लोग (अस्तमिथ्यांधकारं चेत्) मिथ्यारूपी अन्धकारसे रहित होजाते हैं उस समय (जवात्) तत्काल वे (इदं पश्यति) इस जीवके शुद्ध स्वरूपको देखने लगते है–अनुभव करने लगते है।

भावार्थः— उक्त जीवका शुद्ध स्वरूप नव पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न है और वह सदैव जीवमें विद्यमान रहता है। किन्तु मिथ्यात्वोदयके कारण उसका लोगोंको ज्ञान नहीं होता है। और मिथ्यात्वके हट जानेपर उन्हें अपना वह अपनेमेंही विद्यमान शुद्धस्वरूप तत्कालही ज्ञात हो जाता है।

समाधान।

नैवं विरुद्धधर्मत्वाच्छुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः।
नैकस्यैकपदे द्वे स्तः शुद्धाशुद्धे क्रियेर्थतः ॥ १८१ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है क्योंकि (शुद्धाशुद्धत्वयोः द्वयोः) उन शुद्ध और अशुद्ध दोनों धर्मोंको (विरुद्ध धर्मत्वात्) परस्पर विरुद्ध धर्म होनेसे (अर्थतः) वास्तवमें ((एकस्य) एक द्रव्यके (एकपदे) एकपदरूप पर्यायमें (शुद्धाशुद्धे द्वे क्रिये) शुद्ध तथा अशुद्ध दोनो क्रियायें एक साथ (न स्तः) नहीं होसकती है

भावार्थः— जीवका शुद्ध स्वरूप सदैव विद्यमान है किन्तु मिथ्यात्व अवस्था प्राप्त जीव उस शुद्ध जीवके स्वरूपका अनुभव नहीं कर सकता है यदि ऐसा माना जावे तो एक कालमें युगपत् परस्पर विरुद्ध शुद्ध और अशुद्ध दोनों क्रियाओंके पाये जानेका प्रसंग आवेगा जो कि ठीक नहीं हो सकता है।

खुलासा।

अथ सत्यां हि शुद्धायां क्रियायामर्थतश्चितः।
स्यादशुद्धा कथं वा चेदस्ति नित्या कथं न सा ॥ १८२ ॥

अन्वयार्थः— (अथ) अब उक्त कथनका खुलासा करते है कि (अर्थतः) वास्तवमें (चितः) आत्माकी (शुद्धायां क्रियायां सत्यां) शुद्ध क्रिया होनेपर (अशुद्धा कथं वा स्यात्) अशुद्ध क्रिया कैसे होगी (अस्ति चेत्) यदि होगी तो (हि) निश्चयसे (सा नित्या कथं न स्यात्) वह अशुद्ध क्रिया नित्य क्यों नही होगी

भावार्थ— यदि शुद्ध क्रियाके रहते हुएभी अशुद्ध क्रिया रहती है तो शुद्ध क्रियाके समान अशुद्ध क्रियाकाभी सदैव सद्भाव पाया जायगा। और उसका सदैव सद्भाव पाये जानेसे उसमेंभी नित्यताका प्रसंग आवेगा।

अथ सत्यामशुद्धायां बन्धाभवो विरुद्धभाक्।
नित्यायामथ तस्यां हि सत्यां मुक्तेरसंभवः ॥ १८६ ॥ १८३

अन्वयार्थः— (अथ) तथा (अशुद्धायां सत्यां) अशुद्ध क्रियाके रहनेपर (बन्धाभावः विरुद्धभाक्) बन्धका अभाव मानना बाधित होजायगा (अथ) और (तस्यां नित्यायां सत्यां) उस अशुद्ध क्रियाके नित्य सिद्ध होनेपर (हि) निश्चयसे (मुक्तेः असंभवः) मुक्तिका होना असंभव होजायगा।

भावार्थः— यदि अशुद्ध क्रियाका सद्भाव सदैव माना जायगा तो कभी भी मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होसकेगी क्योंकि जीवकी अशुद्ध अवस्थाके अभावका नामही तो मुक्ति है।

उपसंहार।

ततः सिद्धं यदा येन भावेनात्मा समन्वितः।
तदाऽनन्यगतिस्तेन भावेनात्माऽस्ति तन्मयः ॥ १८४ ॥ १८४

अन्वयार्थः— (ततः सिद्ध) इसलिए सिद्ध होता है कि (आत्मा) आत्मा (यदा) जिससमय (येन भावेन समन्वितः) जिस भावसे युक्त होता है (तदा) उस समय (तेन भावेन) उसी भावसे (अनन्यगति) अन्यभावरूप न होकर (आत्मा) आत्मा (तन्मय अस्ति) उसी भावमय होता है।

भावार्थः— इसलिए सिद्ध होता है कि आत्मा जिससमय जिस भावसे युक्त होता है उससमय वह अनन्यगति होकर उसी भावमय अर्थात् शुद्ध अवस्थामें शुद्ध और अशुद्ध अवस्थामें अशुद्ध प्रतीत होता है।

तस्माच्छुभः शुभेनैव स्यादशुभोऽशुभेन यः।
शुद्धः शुद्धेन भावेन तदात्वे तन्मयत्वतः ॥ १८५ ॥ १८५

अन्वयार्थः— (तस्मात्) इसलिए (तदात्वे तन्मयत्वतः) उस समय उसीभावरूप परिणत होनेके कारण (यः शुभः) जो शुभ है वह (शुभेन एव) शुभ भावसेही जो (अशुभः) अशुभ है वह (अशुभेन) अशुभ भावसे और (शुद्धः) जो शुद्ध है वह (शुद्धेन भावेन) शुद्धभावसेंही कहा जाता है

भावार्थः— जीवोंकी शुभ अशुभ और शुद्ध रूपसे तीन प्रकारकी परिणति होती है। तथा उन तीनों प्रकारकी परिणतियोंमेंसे जिससमय जो परिणति होती है। उससमय वह उसी परिणति रूपसे कहा जाता है अर्थात् शुभ अवस्थामें केवल शुभ, अशुभ अवस्थामें केवल अशुभ और शुद्ध अवस्थामें केवल शुद्धही कहलाता है अन्य नहीं।

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किंचिच्छुद्धमनीदृशम्।
शुद्धं नव पदान्यत्र तद्विकारादृते परम ॥ १८६ ॥ १८५

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिए (शुद्धं) शुद्ध तत्व (किंचित्) कुछ (तेभ्यः) उन नव तत्वोंसे (अनीदृशं) विलक्षण (अर्थान्तरं न) अर्थांतर नहीं हैं किंतु (परं) केवल (तद्विकारात् ऋते) नव तत्व सम्बन्धी विकारोंको छोडकर (नवतत्वानि एव शुद्धं) नव तत्वही शुद्ध है ।

भावार्थः— इसलिए सिद्ध होता है कि केवल विकारकी उपेक्षा करनेसे नव तत्वही शुद्ध जीव है । नवतत्वोंसे कुछ सर्वथा भिन्न शुद्धत्व नहीं है ।

अतस्तत्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सद्दर्शनं मतम् ।
तत्तत्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः क्रमादपि ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थः— (अतः) इसलिए (सूत्रे) सूत्रमें (तत्वार्थश्रद्धानं) तत्वार्थका श्रद्धान करना (सद्दर्शनं मतं) सम्यग्दर्शन माना गया है और (तत् तत्वं अपि) वे तत्वभी (जीवाद्याः नव) जीवाजीवादिरूपसे नव है अतः (यथाक्रमात्) क्रमानुसार उन नव तत्वोंका (उद्देश्याः) कथन करना चाहिये ।

भावार्थः— विकारकी उपेक्षा करनेसे नवतत्वोंसे अभिन्न शुद्धत्व है । अतः सूत्रकारनें इन नवतत्वोंके यथार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है । इसलिए अब यथाक्रमसे उन नव तत्वोंका निर्देश करना चाहिये ।

तत्वोंके कथनका क्रम ।

तदुद्देशो यथा जीवः स्यादजीवस्तथास्रवः ।
बन्धः स्यात्संवरश्चापि निर्जरा मोक्ष इत्यपि ॥ १८८ ॥

अन्वयार्थः— (तदुद्देश्यो यथा) उनका निर्देश–नाममात्र कथन इसप्रकार है कि (जीव अजीवः तथा आश्रवः स्यात्) जीव अजीव और आश्रव (बन्धः च संवर अपि स्यात्) बन्ध तथा संवर (निर्जरा अपि मोक्षः) निर्जरा और मोक्ष (इति) ये सात तत्व है ।

भावार्थः— जीव, अजीव, आश्रव बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इसप्रकारसे सात तत्वोंका निर्देश है ।

सप्तैते पुण्यपापाभ्यां पदार्थास्ते नव स्मृता ।

सन्ति सद्दर्शनस्योच्चैर्विषया भूतार्थमाश्रिताः ॥ १८९ ॥

अन्वयार्थः— (पुण्यपापाभ्यां 'सह') पुण्य और पापके साथ (एतेसप्त) ये सात तत्व ही (ते नव पदार्थाःस्मृताः) वे नव पदार्थ कहे गये है तथा (भूतार्थं आश्रिताः) येहि नवपदार्थ यथार्थताको लिये हुये (सद्दर्शनस्य उच्चैः विषयाःसन्ति) सम्यग्दर्शनके वास्तविक विषय है

भावार्थः— तथा पुण्य और पापके साथ जीवादि सात तत्वही नवपदार्थ कहलाते है । तथा ये नव पदार्थ ही यथार्थताको लिये हुए सम्यग्दर्शनके यथार्थ विषय है ।

जीव तत्वके वर्णनकी प्रतिज्ञा ।

तत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथाधुना ।

कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः ॥ १९० ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन तत्वोंमेंसे (अधुना) अब (पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः कवि) पूर्वापर सम्बन्धपूर्वक पर्यालोचन करनेवाला कवि (अधिजीवं आख्यानं) जीवका व्याख्यान (विदधाति) करता है (यथा) जैसे ।

भावार्थः— उन नव तत्वोंमेंसे अब ग्रन्थकार जीव तत्वका कथन करते है ।

जीवसिद्धिः सती साध्या सिद्धा साधीयसी पुरा ।

तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये साक्षात्तल्लब्धिसिद्धये ॥ १९१ ॥

अन्वयार्थः— (पुरा) पहले (सती सिद्धा) भले प्रकार सिद्ध की गई (जीवसिद्धिः) जीवकी सिद्धि (साधीयसी साध्या) अत्यन्त विशारदरूपसे सिद्ध करना है इसलिए (साक्षात्तल्लब्धि सिद्धये) साक्षात् जीवकी उपलब्धिके लिए (तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये) उसका प्रसिद्ध लक्षण कहता हूं ।

भावार्थः— यद्यपि साधारणरूपसे पदार्थोंके विशेष स्वरूपको बताते समय जीवकी सिद्धि की जाचुकी है। तथापि साक्षात् जीवकी उपलब्धिके लिये उसको विशदरीतिसे सिद्धि करना है। इसलिए अब जीवकी सिद्धिके लिये जीवका प्रसिद्ध लक्षण कहते है।

जीवका लक्षण।

स्वरूपं चेतना जन्तोः सा सामान्यात्सदेकधा।
सद्विशेषादपि द्वेधा क्रमात्सा नाऽक्रमादिह ॥ १९२ ॥

अन्वयार्थः— [एका शुद्धाचेतना स्यात्] एक शुद्ध चेतना है और (ततः परा अशुद्धा स्यात्) उस से विपरीत दूसरी अशुद्ध चेतना है उनमेंसे (शुद्धा) शुद्ध चेतना (आत्मनः तत्त्व स्यात्) आत्माका स्वरूप है तथा (अशुद्धा) अशुद्ध चेतना (आत्मकर्मजा अस्ति) आत्मा और कर्मके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला है अर्थात् आत्माके अशुद्ध स्वरूपमय है।

भावार्थः— सामान्यकी अपेक्षासे चेतना एक प्रकारकी होती है। और विशेषकी अपेक्षासे क्रमपूर्वक शुद्ध तथा अशुद्ध रूपसे दो प्रकारकी होती है। युगपत् शुद्ध व अशुद्ध रूपसे दो प्रकारकी नहीं होती है।

चेतनाके भेद और उनका स्वरूप।

एका स्याच्चेतना शुद्धा स्यादशुद्धा परा ततः।
शुद्धा स्यादात्मनस्तत्वमस्त्यशुद्धाऽऽत्मकर्मजा ॥ १९३ ॥

अन्वयार्थः— (जन्तो स्वरूपं चेतना) जीवके स्वरूपको चेतना कहते है और (सा) वह चेतना (इह) यहांपर (सामान्यात्) सामान्यरूपसे–द्रव्यदृष्टिसे (सदा) सदा (एकधा) एक प्रकारकी होती है (अपि) तथा (सद्विशेषात्) विशेषरूपसे–पर्याय दृष्टिसे (सा) वह चेतना (क्रमात्) क्रमसे (द्वेधा) दो प्रकारकी होती है [अक्रमात् न] युगपत् नहीं।

भावार्थः— चेतनाके दो भेद है। १ शुद्ध चेतना और २ अशुद्ध चेतना। उनमेंसे आत्माके शुद्ध स्वरूपको शुद्ध चेतना कहते है। तथा आत्मा और कर्मके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली चेतनाको अर्थात् आत्माके अशुद्ध स्वरूपको अशुद्ध चेतना कहते हैं।

एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्वतः ।
शुद्धाशुद्धोपलब्धित्वाज्ज्ञानत्वाज्ज्ञानचेतना ॥ १९४॥

अन्वयार्थः— (शुद्धस्य एकविधत्वत.) शुद्ध ज्ञान एकप्रकारकाही होता है इसलिए (शुद्धचेतना एकधा) शुद्ध चेतना एक प्रकारकी होती है और वह (शुद्धोपलब्धित्वात्) शुद्ध आत्माको विषय करनेके कारण (शुद्धा) शुद्ध तथा (ज्ञानत्वात्) ज्ञानमय होनेके कारण (ज्ञानचेतना) ज्ञान चेतना कहलाती है ।

भावार्थः— शुद्धोपलब्धि रूप होनेसे उसे शुद्ध और ज्ञान मय होनेसे उसे ज्ञानचेतना कहते हैं ।

अशुद्ध चेतनाके भेद ।

अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना ।
चेतनत्वात्फलस्यास्य स्यात्कर्मफलचेतना ॥ १९५ ॥

सर्वे कर्मफलं मुख्यभावेन स्थावरास्त्रसाः । सकार्यं चेतयन्तेऽस्तप्राणित्वा ज्ञानमेव च ॥ ३५ ॥ अनगार धर्मामृत

भावार्थः— मुख्यतासे स्थावरोंके कर्मफलचेतना, त्रसोंके कर्मचेतना और जीवन त्रसोंके ज्ञानचेतना होती है, जीवन्मुक्त शब्दसे सम्यग्दृष्टिसे लेकर १३ गुणस्थानको ग्रहण, अपेक्षाभेदसे होता है

चेतयन्तेऽनुभवन्ति । के ? सर्वे स्थावरा एकेन्द्रिया जीवा पृथिवीकायिकादयः । किं तत् ? कर्मफलं सुखदुःखम् । केन ? मुख्यभावेन । तथा चेतयन्ते । के त्रसा द्वीन्द्रियादयः । किं तत् ? कर्मफलम् । किं विशिष्टम् ? सकार्यम् । क्रियते इति कार्यं कर्म । बुद्धिपूर्वो व्यापार इत्यर्थः । तेन सहितं । कार्यचेतना हि प्रवृत्तिनिवृत्तिकारणभूतक्रियाप्राधान्येनोत्पाद्यमानः सुखदुःखपरिणामः । तथा चेतयन्ते । के ? अस्तप्राणित्वा. प्राणित्वमतिक्रान्ता जीवाः किं ? ज्ञानमेव । ते हि व्यवहारेण जीवन्मुक्ताः परमार्थेन परममुक्ताश्च मुक्ता एव हि निर्जीर्णकर्मफलत्वादत्यन्तकृतकृत्यत्वाच्च स्वतोऽव्यतिरिक्तस्वाभाविकसुखं ज्ञानमेव चेतयन्ते । जीवन्मुक्तास्तु मुख्यभावेन ज्ञानं गौणतया त्वन्यदपि । ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं ह्यज्ञानचेतना । सा द्विविधा कर्मचेतना कर्मफलचेतना च । तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना । ज्ञानादन्यत्रेदं चेतयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना । सा चोभय्यपि जीवन्मुक्ते गौणी बुद्धिपूर्वकर्तृत्वभोक्तृत्वाभावात्तयोरुच्छेदात् ।

अन्वयार्थः— (अशुद्ध चेतना द्वेधा) अशुद्ध चेतना दो प्रकारकी होती है (तद्यथा) जैसे (कर्मचेतना) एक तो कर्म चेतना और दूसरी (अस्य फलस्य चेतनत्वात्) इस कर्मजन्य फलका अनुभव करनेके कारण (कर्मफलचेतना स्यात्) कर्मफलचेतना कहलाती है।

भावार्थ.— कर्म चेतना और कर्मफलचेतना इसतरह अशुद्ध चेतना दो प्रकारकी होती है।

शुद्ध चेतनाका निरुक्ति पूर्वक अर्थ।

अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयम्।
स चेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना ॥ १९६ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) इस ज्ञानचेतना शब्दमें (ज्ञानशब्देन) ज्ञान शब्दसे (आत्मा वाच्यः) शुद्ध आत्मा वाच्य पडता है—कहाजाता है क्योंकि वह (स्वयं तन्मात्रतः) स्वयं ज्ञानस्वरूप है और (सः शुद्ध) वह शुद्ध आत्मा (अनया चेत्यते) इस चेतनाके द्वारा अनुभूत होता है—जाना जाता है इसलिये (सा ज्ञानचेतना) वह ज्ञान चेतना (शुद्धा) शुद्ध कहलाती है।

भावार्थः— ज्ञानचेतनामें ज्ञानशब्दसे ज्ञानमय होनेके कारण शुद्ध आत्माका ग्रहण होता है। और वह शुद्ध आत्मा जिसके द्वारा अनुभूत हो उसको ज्ञानचेतना कहते हैं। यही ज्ञानचेतनाका निरुक्त्यर्थ है।

स्पष्टीकरण।

अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा।
आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञानचेतना ॥ १९७ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) उक्त कथनका खुलासा इस प्रकार है कि (यदा) जिस समय (ज्ञानं गुणः) आत्माका ज्ञानगुण (सम्यक् प्राप्तावस्थान्तर) सम्यक्त्वयुक्त प्राप्त किया है अवस्थान्तर जिसने ऐसा अर्थात् मिथ्यात्वोदयके अभावसे युक्त होकर (आत्मोपलब्धिरूप स्यात्)आत्मस्वरूपकी उपलब्धिरूप होता है (तदा)उस समय (ज्ञानचेतना उच्यते) उसे ज्ञानचेतना कहते हैं।

भावार्थः— आत्मस्वरूपकी उपलब्धिरूप सम्यग्ज्ञानको ज्ञान चेतना कहते है।

ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टीकेही होती है।

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसम्भवात् ॥ १९८ ॥

अन्वयार्थः— (नूनं) निश्चयसे (सा ज्ञानचेतना) वह ज्ञानचेतना (सम्यग्दृगात्मनः अस्ति) सम्यग्दृष्टी जीवके होती है क्योंकि (तदात्वे तदसम्भवात्) मिथ्यात्वका उदय होनेपर उस आत्मोपलब्धिका होना असम्भव है इसलिए वह ज्ञानचेतना (मिथ्यादृशः क अपि न स्यात्) मिथ्यादृष्टी जीवके किसीभी अवस्थामें नहीं होती है।

भावार्थः— वह ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टी जीवकेही होती है। मिथ्यादृष्टी जीवके किसी भी अवस्थामें नहीं होती है। क्योंकि मिथ्यात्वके उदयमें उसका होना संभव नहीं है।

क्योंकि।

अस्ति चैकादशांगानां ज्ञानं मिथ्यादृशोऽपि यत्।
नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात्परम् ॥ १९९ ॥

अन्वयार्थः— (यत्) क्योंकि (मिथ्यादृशः अपि) मिथ्यादृष्टीकेभी (एकादशांगानां ज्ञानं अस्ति) ग्यारह अंगो तकका ज्ञान होता है (पर च) किंतु (अस्य मिथ्याकर्मोदयात्) इसके मिथ्यात्व कर्मका उदय होनेके कारण (आत्मोपलब्धिः न अस्ति) आत्मोपलब्धि नही होती है।

भावार्थः— क्योंकि मिथ्यादृष्टी जीवके ग्यारह अंगोतकका ज्ञान हो जाता है। परन्तु मिथ्यात्व कर्मका उदय रहनेसे उसके स्वात्माकी यथार्थ उपलब्धि नहीं होती है। इसलिये सम्यग्दृष्टीकेही ज्ञान चेतना होती है यह कहा गया है।

शंका।

ननूपलब्धिशब्देन ज्ञानं प्रत्यक्षमर्थतः।
तत् किं ज्ञानावृतेः स्वीयकर्मणोन्यत्र तत्क्षतिः ॥ २०० ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (अर्थतः) वास्तवमें (उपलब्धिशब्देन) ज्ञान चेतनाके लक्षणभूत आत्मोपलब्धिमें उपलब्धि शब्दसे (प्रत्यक्ष ज्ञानं) 'प्रत्यक्ष ज्ञान' यह अर्थ निकलता है इसलिए ज्ञानावरण कर्मको आत्मोपलब्धिका घातक मानना चाहिये। मिथ्यात्वोदयको नहीं मानना चाहिये किंतु उसके पक्षमें जब मिथ्यात्वके उदयको उस आत्मोपलब्धिका घातक माना है (नर्तिक) तो क्या (इतरोपकर्मणा ज्ञानावृते अन्यत्र) ज्ञान घातक ज्ञानावरण कर्मके सिवाय कोई दूसरे कर्मके द्वाराभी (तत्क्षतिः) उस आत्मोपलब्धिका घात होता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि आत्मोपलब्धिमें उपलब्धि शब्दको प्रत्यक्ष ज्ञानका वाचक होनेसे ज्ञान चेतनाका अर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। किन्तु जब ग्यारह अंगके पाठीके भी मिथ्यात्वके कारण ज्ञान चेतना नहीं मानी जाती है। तो क्या ज्ञानावरणके अतिरिक्त अन्य कर्मोदयसे ज्ञान चेतनाका घात होता है?

समाधान।

सत्यं स्वावरणस्योच्चैर्मूलं हेतुर्यथोदयः।
कर्मान्तरोदयापेक्षो नासिद्धः कार्यकृद्यथा ॥ २०१ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है (यथा) जैसे (स्वावरणस्य उदयः) अपने २ ज्ञानके घातमें अपने २ आवरणका उदय (उच्चैः) वास्तवमें (मूल हेतु) मूल कारण है (तथा) वैसेही वह ज्ञानावरण आदि (कर्मान्तरोदयापेक्ष) दूसरे कर्मोंके उदयकी अपेक्षा सहित (कार्यकृत) कार्यकारी होता है यहभी (असिद्धः न) असिद्ध नहीं है (यथा) जैसाकि आगे खुलासा करते हैं।

भावार्थः— जैसे ज्ञानावरण कर्मका उदय वीर्यान्तराय कर्मके उदयकी अपेक्षा रखकर ज्ञानका घातक होता है वैसेही आत्मोपलब्धिके घातमेंभी मिथ्यात्वके उदयके साथ ज्ञानावरणके उदयही कारण है। किन्तु सिर्फ ज्ञानावरणका उदयही आत्मोपलब्धिके घातमें कारण नहीं है। इसलिये ग्यारह अंगके पाठी मिथ्यादृष्टिके ज्ञानावरणका विशेष क्षयोपशम होते हुएभी मिथ्यात्वका उपशमादि नहीं होनेसे शुद्ध आत्मोपलब्धिरूप ज्ञानचेतना नहीं होती है।

स्पष्टीकरण।

अस्ति मत्यादि यज्ज्ञानं ज्ञानावृत्त्युदयक्षतेः।
तथा वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽनुदयादपि ॥

अन्वयार्थ.— ('यथा') जैसे (यत्) जो (मत्यादिज्ञानं) मत्यादिक ज्ञान (ज्ञानवृत्त्युदय क्षतेः) ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है (तथा) वैसेही (तत्) वह मतिज्ञानादि (वीर्यान्तरायस्य कर्मणः अनुदयात् अपि) वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसेभी (अस्ति) होता है।

भावार्थः— जैसे मतिज्ञानादिक ज्ञान ज्ञानावरण आदिके क्षयोपशम व क्षयसे होते है वैसेही वे यथायोग्य वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम वक्षयसे भी होते है। अर्थात् मतिज्ञानादिककी प्राप्तिमें केवल, ज्ञानावरणादिका क्षयोपशम कारण नहीं है किन्तु उसके साथ २ यथायोग्य वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमकी भी आवश्यकता पडती है।

मत्याद्यावरणस्योच्चैः कर्मणोऽनुदयाद्यथा।
दृङ्मोहस्योदयाभावादात्मशुद्धोपलब्धिः स्यात् ॥२०३॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (उच्चैः) वास्तविक (आत्मशुद्धोपलब्धिः) आत्माकी शुद्धोपलब्धि (मत्याद्यावरणस्य कर्मणः अनुदयात्) स्व योग्य मतिज्ञानावरणादि कर्मके अभावसे होती है वैसेही (दृङ्मोहस्य उदयाभावात् स्यात्) दर्शन मोहनीय कर्मके उदयके अभावसे होती है।

भावार्थः— केवल मतिज्ञानावरणादिके अभावसे शुद्धोपलब्धि नहीं होती है। किन्तु दर्शन मोहनीय और ज्ञानावरण कर्मके उदयके अभावसे शुद्ध आत्मोपलब्धि होती है।

प्रकारान्तरसे समाधान।

किंचोपलब्धिशब्दोपि स्यादनेकार्थवाचकः।
शुद्धोपलब्धिरित्युक्ता स्यादशुद्धत्वहानये ॥२०४

अन्वयार्थः— (किं च) दूसरा उत्तर यह है कि (उपलब्धिः शब्दः अपि) उपलब्धि शब्दभी (अ-

नेकार्थवाचकः स्यात्) अनेकार्थवाचक है इसलिए यहांपर प्रकरणवश (अशुद्धत्वहानये) अशुद्धताके अभावके प्रगट करनेके लिए (शुद्धाउपलब्धि. इति उक्ता स्यात्) ' शुद्ध ' उपलब्धि ऐसा कहा है।

भावार्थ.— यद्यपि उपलब्धिको प्रत्यक्ष ज्ञानवाचक मानने पूर्वक होनेवाली शकाका उत्तर दिया जाचुका है तथापि शंका निवारणार्थ ग्रन्थकार दूसराभी उत्तर देते है कि उपलब्धि शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। इसलिए यहांपर आत्मोपलब्धिमें उपलब्धि शब्द अशुद्धताके अभावका वाचक मानना चाहिये। प्रत्यक्षज्ञान वाचक नहीं। अतः आत्माकी अशुद्धताके अभावको आत्मोपलब्धि कहनेसे ग्यारह अंगके पाठीके ज्ञानकी विशालता रहनेपर भी,मिथ्यात्वोदय जन्य अशुद्धताका अभाव न होनेसे, ज्ञान चेतनाका सद्भाव नहीं पाया जाता है।

अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परम।
सुदृशां गौणरूपेण स्यान्न स्याद्वा कदाचन ॥२०५॥

अन्वयार्थ — (तथा अशुद्धोपलब्धिश्च) उसप्रकारकी अशुद्धोपलब्धिभी मुख्यरूपसे (परं) केवल (मिथ्यादृशां) मिथ्यादृष्टि जीवोंके (अस्ति) होती है और (सुदृशां) सम्यग्दृष्टियोंके (गौणरूपेण कदाचन स्यात्) गौणरूपसे कभीहोती है (वा) अथवा (न स्यात्) नहींभी होती है।

भावार्थ — तथा उसप्रकारकी वह अशुद्धोपलब्धि मुख्य रूपसे केवल मिथ्यादृष्टियोंकेही होती है सम्यग्दृष्टियोंके नहीं। यदि कदाचित् सम्यग्दृष्टियोंके हो भी तो वह गौणरूपसे होती है मुख्यरूपसे नहीं।

स्पष्टीकरण।

तद्यथा सुखदुःखादिरूपेणात्माऽस्ति तन्मयः।
तदात्वेऽहं सुखी दुःखी मन्यते सर्वतो जगत् ॥२०६॥

यद्वा क्रुद्धोयमित्यादि हिनस्म्येनं हठाद्द्विषम्।
न हिनास्मि वयस्यं एवं सिद्धं चेत्तत सुखादिवत् ॥२०७॥

बुद्धिमानत्र संवेद्यो यः स्वयं स्यात्संवेदकः।

स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमुपलब्धिरियं यतः ॥ २०८ ॥

अन्वयार्थ— (**तद्यथा**) उक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (**तदात्वे**) अशुद्धोपलब्धिके समयमे (**आत्मा सुखदुःखादिरूपेण तन्मयः अस्ति**) आत्मा सुख और दुःख आदि रूपसे सुखदुःखमय होजाता है इसलिए (**जगत्**) संसारी लोग जीव (**सर्वतः**) मुख्य और गौण दोनोंही विवक्षाओंसे (**अहं सुखीदुःखी मन्यते**) मैं सुखी हू मैं दुखी हू इस तरह मानते हैं (**यद्वा**) अथवा (**अहं शुद्धः**) मैं शुद्ध हूं (**इत्यादि**) इत्यादि मानकर (**एनं द्विषं**) इस शत्रुको (**हठात्**) अवश्य (**हिनस्मि**) मारुंगा और (**स्वं वयस्यं न हिनस्मि**) अपने मित्रको नहीं मारुंगा। (**एतत् च**) यहभी (**सुखादिवत् सिद्ध**) मैं सुखी दुखीकी तरह अशुद्धोपलब्धिमें सिद्ध होता है (**यतः**) क्योंकि (**अत्र**) शुद्धोपलब्धिमें (**यः बुद्धिमान् संवेद्यः**) जो चेतनावान् जीव ज्ञेय होता है (**सः**) वही (**स्वयं वेदकः स्यात्**) स्वयं ज्ञानी माना जाता है अर्थात् निश्चयनयसे ज्ञान और ज्ञेयमें कोई अन्तर नहीं माना जाता है इसलिए (**इयं उपलब्धि**) यह शुद्धोपलब्धि (**स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानं**) अतींद्रिय ज्ञानरूप पडती है।

भावार्थः— पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि संसारी जीवोंकी आत्मा अशुद्धोपलब्धिके निमित्तवश सुखदुःखादि रूपसे सुखदुखादिमय होजाती है। इसलिए उस अशुद्धोपलब्धिके समय वे अपनेमें सुखी दुखीका अनुभव करने लगते है। अथवा मैं क्रोधी हूं यह मेरा शत्रु है यह मेरा मित्र है मैं अपने शत्रुका घात करुगा मित्रका नहीं इत्यादि रूपसे सुखी दुखीकी तरह अनुभव करने लगते है क्योंकि शुद्धोपलब्धिको अभेदरूप होनेसे उसमें ज्ञान तथा ज्ञेयका भेद प्रतिभासित नहीं होता है। इसलिए वह अतींद्रिय है। और अशुद्धोपलब्धिमें भेद प्रतिभासित होता है। सुखदुखकी तथा शत्रुमित्रकी कल्पना होती है। इसलिए वह अशुद्धोपलब्धि मानसिक ज्ञानात्मक होनेसे इंद्रियजन्य है। अतः मैं क्रोधी हूं यह मेरा मित्र है यह मेरा शत्रु है इत्यादि ज्ञानमेंभी मैं सुखी दुखीकी तरह अशुद्धोपलब्धिपना असिद्ध नहीं है।

नोपलब्धिरसिद्धास्य स्वादुसंवेदनात्स्वयम् ।
अन्यादेशस्य संस्कारमन्तरेण सुदर्शनात् ॥२०९ ॥

अन्वयार्थः— (**अस्य**) संसारी जीवोंके (**स्वादुसंवेदनात्**) मैं सुखी दुखी इत्यादि रूपसे सुखदु-

खके स्वादका अनुभव होनेके कारण (उपलब्धिः असिद्धा न) अशुद्धोपलब्धि असिद्ध नहीं है किंतु सिद्धही है क्योंकि उनके (स्वयं अन्यादेशस्य संस्कारं अन्तरेण सुदर्शनात्) स्वयंही और दूसरी अपेक्षाका संस्कार नहीं होता है इसलिए केवल यही उपलब्धि देखी जाती है।

भावार्थः— उपरके तीन पद्योंसे संसारी जीवोंके जो अशुद्धोपलब्धि बताई है वह असिद्ध नहीं है। क्योंकि उनके शुद्ध निश्चयनयके संस्कारके विना स्वयं ही मैं सुखी हुं, मैं दुखी हुं इत्यादि रूपसे सुख दुखके स्वादके संवेदनसे अशुद्धोपलब्धि पाई जाती है अर्थात संसारी जीवोंके शुद्ध निश्चयनयके संस्कारके विना जो सुखदुख रूपसे अपना अनुभव पाया जाता है उसके कारण उनके अशुद्धोपलब्धि असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्धही है।

नातिव्याप्तिरभिज्ञाने ज्ञाने वा सर्ववेदिनः।
तयोःसंवेदनाभावात केवलं ज्ञानमात्रतः॥ २१० ॥

अन्वयार्थः— (अभिज्ञाने) स्वानुभूतिरूप मतिश्रुत ज्ञानमें (वा) अथवा (सर्व वेदिनः ज्ञाने) सर्वज्ञके ज्ञानमें (व्याप्तिः न अस्ति) अशुद्धोपलब्धिकी व्याप्ति नहीं है अर्थात उनमें अशुद्धोपलब्धिका लक्षण नहीं घटता है क्योंकि (तयो. संवेदनाभावात्) उन दोनो ज्ञानोंमें सुख दुखके स्वादका संवेदन नहीं होता है इसलिये वे दोनों (केवलज्ञानमात्रतः) केवल, ज्ञानरूप होते है सुखदुखानुभवन करनेवाले नहीं होते है।

भावार्थ — उक्त अशुद्धोपलब्धिकी व्याप्ति मिथ्या दृष्टियोंके ज्ञानकेही साथ पाई जाती है। किन्तु सम्यग्दृष्टीके स्वानुभूतिरूप सम्यग्ज्ञानमें और सर्वज्ञके केवल ज्ञानके साथ नहीं पाई जाती है। क्योंकि यद्यपि उसके वे ज्ञान ज्ञानात्मक है परन्तु सुख दुखके स्वादके संवेदन रूप नहीं है।

क्योंकि।

व्याप्यव्यापकभावः स्यादात्मनि नातदात्मनि।
व्याप्यव्यापकताभावः स्वस्तः सर्वत्र वस्तुषु॥ २११ ॥

अन्वयार्थः— (आत्मनि) अपनेमेंही (व्याप्यव्यापक भावः स्यात्) व्याप्यव्यापक भाव होता है (अतदात्मनि न) अपनेसे भिन्नमें नहीं होता है क्योंकि वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो (सर्वत्र वस्तुषु)

सर्व पदार्थोंका (स्वतः) अपनेमंही (व्याप्यव्यापकताभावः) व्याप्य व्यापकपनेका होना संभव है । अन्यका अन्यमें नहीं ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टी जीवका स्वानुभूतिरूप ज्ञान और केवलीका केवल ज्ञान ये दोनों ज्ञान सुख दुखके अनुभवमे रहित है । इसलिए उनमें केवल, ज्ञानमात्रता रहनेके कारण उनके साथ अशुद्धोपलब्धिकी व्याप्ति नहीं कही जा सकती है । क्योंकि जैसे निश्चयनयसे किसी पदार्थका किसी पदार्थके साथ आधार आधेयभाव नहीं है वैसेही किसी पदार्थका किसी पदार्थके साथ व्याप्यव्यापक भाव भी नहीं है । सबही पदार्थोंका अपने स्वरूपके साथही व्याप्यव्यापक भाव होता है अन्यके साथ नहीं । अतः परसंयोगके निमित्तसे होनेवाली अशुद्धोपलब्धिकी व्याप्ति शुद्धोपलब्धिरूप स्वानुभूतिके साथ तथा केवल ज्ञानके साथ नहीं होसकती है—नहीं पाई जाती है ।

उपसंहार ।

उपलब्धिरशुद्धासौ परिणामक्रियामयी ।
अर्थादौदयिकी नित्यं तस्माद्बन्धफला स्मृता ॥ २१२ ॥

अन्वयार्थः— (परिणामिकक्रियामयी) परिणमनशील क्रियारूप उपलब्धिसे अर्थात् पर्यायार्थिक दृष्टिसे रागद्वेषवश मैं सुखी हूं मैं दुखी हू इत्यादि रूपसे जो उपलब्धि होती है (असौ अशुद्धा उपलब्धिः) वह अशुद्धोपलब्धि है और वह (अर्थात) वास्तवमें (औदयिकी) कर्मोंके उदयसे होनेवाली है (तस्मात) इस लिए वह (नित्यबन्धफला स्मृता) सदैव नित्य वन्ध करानेवाली मानी गई है संवर तथा निर्जरा करानेवाली नहीं ।

भावार्थः— मिथ्यात्वके उदयसे जो जीवकी अशुद्ध परिणति हो रही है । और जिस अशुद्ध परिणतिके कारण यह आत्मा परवस्तुमे रागी द्वेषी होता हुआ कर्मोदयवश अपनेको सुखी दुखी मानकर सुखदुख रूपसे अपने स्वरूपको समझ रहा है वह अशुद्ध परिणति वास्तवमें मिथ्यात्वकर्मके उदय वश होनेसे नित्य वन्धरूप फलको देनेवाली मानी गई है ।

अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात् ।
न ज्ञानचेतना किंतु कर्म तत्फलचेतना ॥ २१३ ॥

अन्वयार्थः— (**सा अशुद्धोपलब्धिः**) वह अशुद्धोपलब्धि (**ज्ञानाभासात् चिदन्वयात्**) शुद्ध आत्माके आभासरूप चिदन्वयसे अशुद्ध आत्माके प्रतिभासमय होनेके कारण (**ज्ञानचेतना न**) ज्ञानचेतनारूप नहीं कही जासकती है (**किंतु**) किंतु (**कर्मतत्फलचेतना**) कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनारूप कही जाती है ।

भावार्थः— और उस अशुद्धोपलब्धिमें शुद्ध ज्ञानका प्रतिभास नहीं होता है किन्तु अशुद्ध ज्ञानरूपसे चेतनाका प्रतिभास होता है अर्थात अशुद्ध आत्माका अनुभव होता है इसलिए उसको ज्ञान चेतना नहीं कह सकते हैं किन्तु कर्म तथा कर्मफल चेतनाही कहते है ।

> इयं संसारिजीवानां सर्वेषामविशेषतः ।
> अस्ति साधारणीवृत्ति र्न स्यात् सम्यक्त्वकारणम् ॥२१४॥

अन्वयार्थ — (**इयं**) यह कर्म और कर्मफलरूप अशुद्ध चेतना (**सर्वेषां संसारिजीवानां**) सपूर्ण संसारि जीवोंके (**अविशेषतः**) सामान्यतासे (**साधारणी वृत्तिः अस्ति**) साधारण वृत्ति है अर्थात् सामान्य रूपसे सब संसारि जीवोंके पाई जाती है इसलिए यह (**सम्यक्त्वकारण न**) सम्यक्त्वका कारण नही है ।

भावार्थः— कर्म और कर्मफल ये दोनों चेतनायें सामान्य रूपसे भव्य व अभव्य सब जीवोंके पाई जाती है । इसलिए ये दोनों चेतनायें सम्यक्त्वका कारण नहीं मानी गई है ।

> न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम् ।
> शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक् ॥ २१५ ॥

अन्वयार्थ — (**वा**) तथा (**आत्मोपलब्धि सम्यग्दर्शनलक्षणं न स्यात**) केवल आत्माकी उपलब्धिभी सम्यग्दर्शनका लक्षण नही होसकता है किंतु (**शुद्धा चेत सम्यक्त्व अस्ति**) यदि वह उपलब्धि शुद्ध विशेषण युक्त हो अर्थात् शुद्ध आत्मोपलब्धि हो तो सम्यग्दर्शनका लक्षण हो सकता है (**चेत् सा शुद्धा न**) यदि वह आत्मोपलब्धि अशुद्ध हो तो वह (**सुदृक् न**) सम्यग्दर्शनका लक्षण नही होसकता है ।

भावार्थः— उपलब्धि शब्द सामान्यवाचक हैं । और अशुद्धोपलब्धि शुद्धोपलब्धि ये विशेष वाचक है ।

अर्थात् यद्यपि शुद्ध तथा अशुद्धके भेदमे उपलब्धिके दो भेद हो जाते है तथापि सामान्यरूपमे उपलब्धिपना दोनोंमेही सिद्ध हो सकता है। इसलिए शुद्धाशुद्ध विशेषण रहित सामान्य उपलब्धि भी व्यापक होनेसे अपने सब अवान्तर भेदोंमें पाये जानेके कारण अर्थात् शुद्धोपलब्धिके समान अशुद्धोपलब्धिमें पाये जानेके कारण वह सम्यग्दर्शनका लक्षण नहीं हो सकती है। किन्तु शुद्धोपलब्धिही सम्यग्दर्शनका लक्षण हो सकती है। अशुद्धोपलब्धि नहीं।

शंका।

ननु चेयमशुद्धेव स्यादशुद्धा कथंचन।
अथ बन्धफला नित्यं किमबन्धफला क्वचित् ॥ २१६ ॥

अन्वयार्थ — (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (किं इय अशुद्धा एव स्यात् ' किं ' कथं चन अशुद्धा ' स्यात्,) क्या यह आत्मोपलब्धि सर्वथा अशुद्ध होती है अथवा कथंचित् अशुद्ध होती है (अथ) और (' किं, नित्य बन्धफला किं क्वचित् अबन्धफला) क्या वह नित्य बन्ध करानेवालीही है अथवा क्या कभी कभी बन्ध करानेवाली है ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि मिथ्यादृष्टीकी वह अहं सुखी अहं दुखी इत्यादि रूपसे होनेवाली अशुद्ध आत्मोपलब्धि क्या सर्वथा अशुद्धही होती है अथवा क्या कथंचन अशुद्ध होती है तथा नित्यबन्धही फल जिसका ऐसी है अर्थात् उस अशुद्धोपलब्धिसे क्या सर्वथा बन्धही होता है अथवा क्या कदाचित् बन्ध होता है

समाधान।

सत्यं शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवाशुद्धाऽस्ति तद्विना।
अस्त्यबन्धफला तत्र सैव बन्धफलाऽन्यथा ॥ २१७ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक हैं (सम्यक्त्वे शुद्धा अस्ति) सम्यक्त्वके होनेपर वह आत्मोपलब्धि शुद्ध कहलाती है परन्तु (सा एव तद्विना अशुद्धा अस्ति) वही आत्मोपलब्धि सम्यक्त्वके विना अशुद्ध कहलाती है और (तत्र) सम्यक्त्वके होनेपर वह (अबन्धफला अस्ति) अबन्ध फलवाली होती है किंतु (अन्यथा सा एव बन्धफला ' अस्ति ') सम्यक्त्वके अभावमें वही आत्मोपलब्धि बन्ध फलवाली होती है।

भावार्थः— शंकाकारके उक्त प्रश्नोंका उत्तर यह है कि सम्यक्त्व और उपलब्धिकी शुद्धताका अविनाभाव है। इसलिए सम्यग्दर्शनके होनेपर जो आत्मोपलब्धि होती है वह शुद्ध आत्मोपलब्धि कहलाती है। तथा वह अबन्ध-फलवाली होती है। क्योंकि सम्यक्त्वके होनेपर अबद्धायुष्ककी अपेक्षामें उत्तम मनुष्यों तथा वैमानिक देवोंकी पर्याय को छोडकरके अन्य पर्यायोंमें जीव नहीं जाते हैं। और बद्धायुष्ककी अपेक्षासे प्रथम नरक व भोग भूमिया तिर्यंचकी गतिको छोडकरके अन्य गतियोंमें नहीं जाता है। इसलिये इनकेसिवाय शेषगति सम्बंधी बन्धका अभाव होनेसे शुद्धोपलब्धिको अबन्धफला कहा है। यह कथन चतुर्थ गुणस्थानवर्ती की अपेक्षासे है। तथा कषायसे रहित सम्यग्दृष्टियों के तो बिलकुल बन्ध नहीं होता है अतः यह अबन्ध फलवाली मानी गई है। तथा मिथ्यात्वके उदयमें वही आत्मोपलब्धि अशुद्ध आत्मोपलब्धि कहलाती है। तथा बन्धफला मानी गई है क्योंकि मिथ्यात्वका उदय रहनेपर आश्रवका निरोध नहीं माना है। अतः वह अशुद्ध आत्मोपलब्धि बन्धका कारण कहलाती है।

शंका।

ननु सद्दर्शनं शुद्धं स्यादशुद्धा मृषा रुचिः।
तत्कथं विषयश्चैकः शुद्धाशुद्धविशेषभाक् ॥ २१८ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि यद्यपि (शुद्धारुचिः) शुद्धरुचि (सद्दर्शनं) सम्यग्दर्शन (च) और (अशुद्धा 'रुचि') अशुद्धरुचि (मृषा स्यात) मिथ्यादर्शन कहलाती है परन्तु जब (तद्विषयः एकः) उन दोनोंका विषय एकही रहता है तो फिर (शुद्धाशुद्धविशेषभाक् कथं) वह आत्मा शुद्ध तथा अशुद्ध दोप्रकारके विरुद्ध विशेषणोंका धारक कैसे हो सकता है।

भावार्थ — यद्यपि शुद्ध श्रद्धाको सम्यग्दर्शन और अशुद्ध श्रद्धाको मिथ्यादर्शन कहते है परन्तु जब दोनोंही प्रकारकी श्रद्धाके विषय जीवादिक होते है तो फिर यथार्थ रुचि, शुद्ध तथा विपरित रुचि, अशुद्ध क्यो नही जाती है।

यद्वा नवसु तत्त्वेषु चास्ति सम्यग्दृगात्मनः।
आत्मोपलब्धिमात्रं वै साचेच्छुद्धा कुतो नव ॥ २१९ ॥

अन्वयार्थः— (यद्वा) अथवा (चेत्) यदि (नवसु तत्वेषु) नवतत्वोंमें (सम्यग्दृगात्मनः) सम्य-

ग्‌दृष्टी के (वै) निश्चयसे (आत्मोपलब्धिमात्रं अस्ति) केवल आत्माकी उपलब्धिही होती है (च) और (सा शुद्धा) वही शुद्ध उपलब्धि है तो (नव कुतः) सम्यग्दर्शन के विषय नवपदार्थ कैसे हो सकते हैं ?

भावार्थः— तथा दूसरी शंका यह है कि यदि सम्यग्दृष्टीके नव तत्वोंमेंसे केवल शुद्ध आत्माकीही उपलब्धि होती है और वही शुद्ध कहलाती ह तो सम्यग्दर्शनके विषयभूत नव पदार्थ क्यों कहे जाते है। केवल एक शुद्ध आत्म तत्वही सम्यग्दर्शनका विषय मानना चाहिए। **समाधान।**

नैवं यतः स्वतः शश्वत स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि।
तत्राभिव्यंजकद्वेधाभावसद्भावतः पृथक् ॥ २२० ॥

अन्वयार्थः— (**एवं न**) उपयुक्त कथन ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**तत्र**) सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीके (**अभिव्यन्जकद्वेधाभावसद्भावतः**) पदार्थके स्वरूपकी अभिव्यक्तिके भेदसे (**वस्तुनि**) वस्तुमें (**शश्वत्**) सदा (**स्वतः**) स्वयं (**पृथक् स्वादुभेदः अस्ति**) पृथक् २ स्वादका अनुभव पायाजाता है।

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि वस्तुके एक होनेपरभी सम्यग्दृष्टी और मिथ्या-दृष्टीके वस्तुके स्वरूपके प्रतिभासमें अन्तर रहता है अर्थात् मिथ्यादृष्टीके ज्ञानमें मिथ्यात्वके उदयसे विपर्यास रहता है। सम्यग्दृष्टीके ज्ञानमें नहीं। इसलिए दोनोंके पदार्थके स्वरूपमें होनेवाले आभासमें द्वैविध्य पाया जाता है। अतः वस्तुके एक होनेपरभी स्वादमें भेद रहता है जैसा कि ग्रन्थकार आगे स्वयं बताते है।

शुद्धं सामान्यमात्रत्वादशुद्ध तद्विशेषतः।
वस्तु सामान्यरूपेण स्वदते स्वादु सद्विदाम् ॥ २२१ ॥

अन्वयार्थः— (**वस्तु**) वस्तु (**सद्विदां**) सम्यग्ज्ञानीयोंको (**सामान्यरूपेण**) सामान्यरूपसे (**स्वादु स्वदते**) अनुभवमें आती है इसलिए (**तत्**) वह वस्तु (**सामान्यमात्रत्वात् शुद्धं**) केवल सामान्यरूपसे शुद्ध कहलाती है और (**विशेषतः अशुद्धं**) विशेष भेदोंकी अपेक्षासे अशुद्ध कहलाती है।

भावार्थः— मिथ्यादृष्टी जीवके, राग द्वेषकी तीव्रता रहनेसे परवस्तुमें इष्टानिष्ट की कल्पना रहती है। और

वह इन राग द्वेषोंके कारण वस्तुके वस्तुत्वका अनुभव न करके केवल इष्ट अनिष्ट रूपसेही वस्तुका अनुभव करता है। परन्तु सम्यग्दृष्टी जीवके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीका अभावसे होने उसके निमित्तसे होनेवाले अनन्त संसारके कारणभूत राग-द्वेषका अभाव हो जाता है। इसलिए सम्यग्दृष्टी इष्टानिष्ट कल्पनासे विरहित होकर वस्तुके वस्तुत्वकाही अनुभव करता है।

स्वदते न परेषां तद्यद्विशेषेप्यनीदृशम् ।
तेषामलब्धबुद्धित्वाद् दृष्टेर्दृङ्मोहदोषतः ॥२२२॥

अन्वयार्थ.— किंतु (परेषां) मिथ्यादृष्टियोंको (तत्) वह शुद्ध सामान्यरूप सत् (न स्वदते) अनुभवमें नहीं आता है (यत्) जो कि (विशेषे अपि अनीदृशं) अपनी सब विशेष अवस्थाओंमेंभी अनुपम रूपसे विद्यमान रहता है क्योंकि (दृष्टेः दृङ्मोहदोषतः) दृष्टिमें दर्शनमोहके उदयसे दोष आनेके कारण (तेषां) उन मिथ्यादृष्टियोंके (अलब्ध बुद्धित्वात्) ज्ञानचेतना नहीं होती है।

भावार्थः— विशेषमात्रमें जो अनुपम उस सत्का स्वरूप विद्यमान है अर्थात् अपने सम्पूर्ण विशेषोंमें जो अन्वयरूपसे सत् विद्यमान रहता है वह मिथ्यादृष्टीयोंके स्वादमें नहीं आता है। क्योंकि उनके मिथ्यात्वका उदय रहनेसे सामान्य शुद्धत्वका स्वाद लेनेवाली-अनुभव करनेवाली ज्ञानचेतना नहीं होती है।

यद्वा विशेषरूपेण स्वदते तत्कुदृष्टिनाम् ।
अर्थात् सा चेतना नूनं कर्मकार्येऽथ कर्मणि ॥ २२३ ॥

अन्वयार्थ.— (यद्वा) अथवा (कुदृष्टिनां) मिथ्यादृष्टियोंको (विशेषरूपेण) विशेषरूपसे अर्थात् पर्यायरूपसे (तत्स्वदते) उस सत्का स्वाद आता है इसलिए (अर्थात्) वास्तवमें (नूनं) निश्चयसे (सा चेतना) उन मिथ्यादृष्टियोंकी वह चेतना (कर्मकार्ये) कर्मफलमें (अथ) और (कर्मणि) कर्ममेंही होती है अर्थात् इसी कारणसे मिथ्यादृष्टियोंके कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनाही होती है।

भावार्थः— अथवा यों कहना चाहिये कि मिथ्यादृष्टीयोंके वह सत् इष्टानिष्ट कल्पनावश केवल विशेषरूपसे—पर्यायरूपसेही अनुभवमें आता है। इसलिए मिथ्यादृष्टीयोंको अध्यात्मशास्त्रमें पर्यायबुद्धि कहा है। और उनकी

वह चेतना ज्ञानचेतना न कहलाकर कर्म तथा कर्मफल चेतनाही कहलाती है। आगे–इसी कथनका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन करते है।

दृष्टान्त।

दृष्टान्तः सैन्धवं खिल्यं व्यंजनेषु विमिश्रितम्।
व्यंजनं क्षारमज्ञानां स्वदते तद्विमोहिनाम्॥ २२४॥

अन्वयार्थः— (दृष्टांतः) उक्त कथनका साधक दृष्टांत यह है कि यद्यपि (व्यंजनेषु विमिश्रितं सैन्धवं खिल्य क्षारं) व्यंजनोंमें मिली हुई नमककी डलीही खारी है परन्तु (विमोहिनां अज्ञानां व्यंजनं तत् स्वदते) भोजन लोलुपी अज्ञानी जीवोंको वह व्यंजनका स्वाद मालूम होता है नमकका नहीं।

भावार्थः— अज्ञानी जीवोंको व्यंजनोंमें मिला हुआ जो नमक है वह खारा प्रतीत न होकरके केवल व्यंजनही खारे प्रतीत होते है।

क्षारं खिल्यं तदेवैकं मिश्रितं व्यंजनेषु वा।
न मिश्रितं तदेवैकं स्वदते ज्ञानवेदिनाम्॥ २२५॥

अन्वयार्थः— (ज्ञानवेदिनां) तत्वज्ञानियोंको (व्यंजनेषु मिश्रितं) व्यन्जनोंमे मिली हुई (तत् एकं खिल्यं एव) केवल वह नमककी डलीही (वा) अथवा (न मिश्रितं) व्यंजनोंमें नहीं मिली हुई (तत् एव एकं क्षारं स्वदते) वही केवल नमककी डलीही खारी मालूम होती है व्यन्जन नही।

भावार्थः— तत्वज्ञानियोंको व्यंजनोंमें मिश्रित अथवा अमिश्रित दोनोंही अवस्थाओंमें केवल नमककी डलीही खारी प्रतीत होती है व्यंजन नहीं।

उपसंहार।

इति सिद्धं कुदृष्टीनामेकैवाज्ञानचेतना।
सर्वैर्भावैस्तदज्ञानजातैस्तैरनतिक्रमात्॥ २२६॥

अन्वयार्थ — (इति सिद्धं) इसप्रकार सिद्ध होता है कि (तदज्ञानजातैःतैः सर्वैः भावैः) आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले उन सब भावोंको (अनतिक्रमात्) उलंघन नहीं करसकनेके कारण (कुदृष्टीनां एका अज्ञानचेतना एव) मिथ्यादृष्टियोंके केवल अज्ञानचेतनाही होती है

भावार्थः— इसलिए सिद्ध होता है कि अज्ञानमय भावोंसे सदैव लिप्त रहनेके कारण मिथ्यादृष्टियोंके केवल अज्ञान चेतना अर्थात् कर्म तथा कर्मफल चेतनाही होती है। ज्ञान चेतना नहीं होती है।

सम्यक्त्वका और ज्ञान चेतनाका अविनाभाव सम्बन्ध है।

सिद्धमेतावता यावच्छुद्धोपलब्धिरात्मनः।
सम्यक्त्वं तावदेवास्ति तावती ज्ञानचेतना ॥ २२७ ॥

अन्वयार्थ— (एतावता सिद्धं) और उपर्युक्त कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि (**यावत् आत्मनः शुद्धोपलब्धिः**) जबतक आत्माकी शुद्धोपलब्धि होती है (**तावत् एव सम्यक्त्वं अस्ति**) तबतकही सम्यक्त्व रहता है तथा (**तावती ज्ञानचेतना**) उतनीही ज्ञानचेतना कहलाती है अर्थात् जितने अंशोमें आत्माकी शुद्ध उपलब्धि होती है उतनेही अंशोमें ज्ञानचेतना होती है।

भावार्थः— उपर्युक्त कथनसे यहां फलितार्थ निकलता है कि शुद्धोपलब्धिका नाम सम्यक्त्व है। और अपने प्रतिपक्षी कर्मके अभावसे जितनी शुद्धोपलब्धि होती है उतनीही ज्ञान चेतना कहलाती है। क्योंकि पूर्ण ज्ञान चेतना केवलीके मानी गई है। और पूर्ण परमावगाढ सम्यक्त्व भी केवलीके माना गया है।

एकः सम्यग्गात्माऽसौ केवलं ज्ञानवानिह।
ततो मिथ्यादृशः सर्वे नित्यमज्ञानिनो मताः ॥ २२८ ॥

अन्वयार्थः— (इह) यहांपर (**केवलं असौ एक सम्यग्दृगात्मा ज्ञानवान्**) केवल यह सम्यग्दृष्टी जीवही ज्ञानवान् है (**ततः**) इसलिए (**सर्वे मिथ्यादृशः**) समस्त मिथ्यादृष्टी (**नित्यं अज्ञानिनः मताः**) नित्य अज्ञानी माने गये हैं।

भावार्थ — शुद्धोपलब्धिके कारण जैनागममें केवल सक सम्यग्दृष्टीको ज्ञानी और अशुद्धोपलब्धिके के कारण अर्थात शुद्धोपलब्धिके अभावमें सम्पूर्ण मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी कहते है।

ज्ञानि और अज्ञानिके क्रियाफलमें भेद।

क्रिया साधारणी वृत्ति र्ज्ञानिनोऽज्ञानिनस्तथा।
अज्ञानिनः क्रिया, बन्धहेतुर्न ज्ञानिनः क्वचित् ॥ २२९ ॥

भावार्थः— सम्यग्दृष्टीयोंकी सम्पूर्ण क्रियाएं सदैव ज्ञानमय होती है। अर्थात मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी के उदयके न रहनेसे सम्यग्दृष्टीयोंभी परमार्थसे राग द्वेष पूर्वक आसक्तिका अभाव हो जाता है। इसलिए वे भोगोंको रुचिपुर्वक नहीं भोगते है किन्तु चारित्रमोहके उदयसे उनको वे भोग भोगने पडते है। अत. उनकी सपूर्ण क्रियाएं ज्ञानमय कही जाती है। और उनके अज्ञानमय भावोंका सद्भावही नहीं पाये जानेसे उनके केवल संवर तथा निर्जरा ही होती है।

वैराग्यं परमोपेक्षाज्ञानं स्वानुभवः स्वयम्।
तद्द्वय ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्तः स एव च॥ २३२॥

अन्वयार्थः— (परमोपेक्षा वैराग्यं) जो सम्यग्दृष्टियोंके परम उपेक्षारूप वैराग्य और (स्वयं स्वानुभवः ज्ञानं) स्वय आत्मप्रत्यक्ष करनेरूप ज्ञान होता है अत (तद्द्वय) वे दोनोंही (ज्ञानिन. लक्ष्म) ज्ञानी के लक्षण है (च) और (स एव जीवन्मुक्त) वही ज्ञानी जीवन्मुक्त है।

भावार्थः— परम उपेक्षारूप वराग्य और स्वानुभूति ये दोनोंही सम्यग्दृष्टीके लक्षण है। अतएव परमोपेक्षा तथा स्वानुभव हो जानेके कारण सम्यग्दृष्टीकोही जीवन्मुक्त कहते है।

ज्ञानी ज्ञानैकपात्रत्वात पश्यत्यात्मानमात्मवित्।
बद्धस्पृष्टादिभावानामस्वरूपादनास्पदम्॥ २३३॥

अन्वयार्थ— (आत्मवित ज्ञानी) आत्मप्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञानी (आत्मान) अपनेको (ज्ञानैकपात्रत्वात) एक ज्ञानकाही पात्र होनेसे तथा (बद्धस्पृष्टादि भावानां अस्वरूपात्) बद्ध और स्पृष्ट आदि भावोंको अपने स्वरूप न होनेसे (आत्मान अनास्पद पश्यति) अपनेको बद्ध स्पष्टादि भावोंका अपात्र समझता है।

. ततः स्वादु यथाध्यक्षं स्वमासादयति स्फुटम्।
अविशिष्टमसंयुक्तं नियतं स्वमनन्यकम्॥ २३४॥

अन्वयार्थः— (ततः) ज्ञानके पात्र होनेसे तथा बद्ध स्पृष्टादिक भावोंका अपात्र होनेसे सम्यग्दृष्टी

(स्वं) अपनेको (यथाध्यक्षं) प्रत्यक्षपूर्वक (स्फुटं) स्पष्टरीतिसे (स्वादु अविशिष्टं असंयुक्तं नियतं स्वं अनन्यकं आसादयति) स्वादु, विशेष रहित, संयोग रहित, स्वस्वरूपमय और अन्यरूपसे भिन्न पाता है।

अथबद्धमथास्पृष्टं शुद्धं सिद्धपदोपमम्।
शुद्धस्फटिकसकाशं निःसंगं व्योमवत सदा॥ २३५॥

इन्द्रियोपेक्षितानन्तज्ञानदृग्वीर्यमूर्तिकम्।
अक्षातीतसुखानन्तस्वाभाविकगुणान्वितम्॥ २३३॥

पश्यन्निति निजात्मानं ज्ञानी ज्ञानैकमूर्तिमान्।
प्रसंगादपरं चेच्छेदर्थात्सार्थं कृतार्थवत्॥ २३७॥

अन्वयार्थः— (अथ) और (अबद्धं) बन्धसे रहित (अथ) तथा (अस्पृष्ट) अस्पृष्ट (शुद्धं) शुद्ध (सिद्धपदोपमं) सिद्ध समान (शुद्धस्फटिकसकाशं) शुद्ध स्फटिकके समान (सदा व्योमवत्) सदैव आकाशके समान (निस्संगं) परिग्रह रहित (इन्द्रियोपेक्षितानन्तज्ञानदृग्वीर्यमूर्तिकं) अतींद्रिय अनन्तज्ञान दर्शन और अनन्तवीर्यमय तथा (अक्षातीतसुखानन्तस्वाभाविकगुणान्वितं) अतींद्रिय सुख आदि अनन्त स्वाभाविक गुणों सहित (निजात्मानं पश्यन्) अपनी आत्माका श्रद्धान करनेवाला होता है (इति) इसलिए (अर्थात्) यद्यपि वास्तवमें (ज्ञानी ज्ञानैकमूर्तिमान्) सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानमय मूर्तिवाला है तथापि (प्रसंगात्) प्रसंगवश अर्थात् चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे (कृतार्थवत्) कृतकृत्यके समान परम उपेक्षा भावसे (अपरं सार्थं च इच्छेत्) अन्य पदार्थकीभी इच्छा करता है।

भावार्थः— ज्ञानैक पात्र होनेसे तथा बद्ध स्पृष्टत्वादि भावोंसे लिप्त न होनेके कारण ज्ञानी जीव यद्यपि अपनेको अविशिष्ट, असंयुक्त, अनन्य अबद्ध, अस्पृष्ट, शुद्ध, सिद्धके समान शुद्धस्फटिकके समान, आकाशके समान निःसंग अतीन्द्रिय अनन्त ज्ञान दर्शन सुख और वीर्य आदि अनन्त स्वाभाविक गुणोंसे युक्त मानता है तथापि वह कृतार्थकी तरह परम उपेक्षा भावसे प्रसंगवश परपदार्थकी इच्छा भी करता है इसलिए उसे जीवन्मुक्त कहते हैं।

ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम् ।
न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम् ॥ २३८ ॥

अन्वयार्थः— (यत् ऐहिकं सुखं नाम) जो लौकिक सुख है (' तत् ' सर्वं वैषयिकं स्मृतं) वह सब इंद्रिय विषयजन्य माना गया है इसलिए (तत् सुखं [illegible], सुखाभासं न) वह सुख केवल सुखाभासही नहीं है (किन्तु) [illegible] (असंशयं दुःखं) निसंदेह दुःखरूपही है ।

[illegible] — जो लौकिक सुख है वह अतीन्द्रिय नहीं है किन्तु विषयजन्य है । इसलिये उस सुखको सुखाभासही नहीं कहना चाहिए किन्तु [illegible] दुःखही कहना चाहिए । क्योंकि वास्तविक सुख आत्माका गुण है और वह अतीन्द्रिय है । इन्द्रिय जन्य नहीं ।

तस्माद्धेयं सुखाभासं दुःखं दुःखफलं यतः ।
हेयं तत्कर्म यद्धेतुस्तस्यानिष्टस्य सर्वतः ॥ २३९ ॥

अन्वयार्थः— (यतः) क्योंकि (सुखाभासं दुःखफलं) सुखके समान मालूम होनेवाला वह इंद्रिय जन्य सुख दुःखरूप फलको देनेवाला होनेसे (दुःखं) दुःखरूप है (तस्मात्) इसलिए (हेयं) वह सुखाभास छो[illegible] उसके योग्य है तथा (सर्वतः) सर्वथा (अनिष्टस्य तस्य) अनिष्ट उस दुःखका (यत् कर्म हेतुः तत् हेयं) जो कर्म कारण है वह भी छोडनेके योग्य है ।

भावार्थः— इन्द्रिय जन्य सुख, दुःख देनेवाला होनेसे दुःखरूप है । इसलिए सुखाभासरूप वह सुख और उस सुखका कारणभूत सातावेदनीय आदि शुभकर्म भी हेय है ।

तत्सर्वं सर्वतः कर्म पौद्गलिकं तदष्टधा ।
वैपरीत्यात्फलं तस्य सर्वं दुःखं विपच्यतः ॥ २४० ॥

अन्वयार्थ — (सर्वतः) सर्वप्रकारसे (तत्सर्वं कर्म पौद्गलिकं) वह सब कर्म पौद्गलिक है और (तत्) वह कर्म (अष्टधा) आठ प्रकारका है तथा (वैपरीत्यात् विपच्यतः) विपरीतपनेसे उदयमें आनेवाले (तस्य) उस कर्मका (सर्वं फलं) शुभ व अशुभ रूप सबही फल (दुःखं) दुःखरूप है ।

भावार्थः— असाता-दुःखका कारण कर्म पौद्गलिक है । और वह आठ प्रकारका है । तथा विपरीत रूपसे उदयमें आनेवाले उस कर्मका शुभ व अशुभरूपसे जो कुछभी फल होता है वह सब वास्तवमें दुःखरूपही होता है । सुखरूप नहीं ।

चतुर्गतिभवावर्ते नित्यं कर्मैकहेतुके ।
न पदस्थो जनः कश्चित् किन्तु कर्मपदास्थितः ॥ २४१ ॥

अन्वयार्थः— (नित्यं कर्मैकहेतुके चतुर्गतिभवावर्ते) सदैव कर्मके कारण चारगति स्वरूप संसारचक्रमें (कश्चित् जनः पदस्थः न) कोईभी जीव आत्मपदमें स्थित नहीं है (किंतु) किंतु सबही (कर्मपदस्थितः) कर्मपदमेंही स्थित है ।

भावार्थ — कर्मोंके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले चारो गतिरूप संसारके चक्रमें घूमनेवाले ससारी लोग अपने पदमें—स्वपदमें स्थित नहीं है । किन्तु उसी कर्मके पदमें स्थित हैं अर्थात् स्वाधीन नहीं है किन्तु पराधीन है ।

स्वस्वरूपाच्युतो जीवः स्यादलब्धस्वरूपवान् ।
नानादुःखमाकीर्णे संसारे पर्यटन्निति ॥ २४२ ॥

अन्वयार्थः— (इति) इसप्रकार (स्वस्वरूपात् च्युतः जीवः) अपने स्वरूपसे च्युत यह जीव (नानादुःखसमाकीर्णे संसारे पर्यटन्) अनेक प्रकारके दुःखोंसे व्याप्त संसारमें परिभ्रमण करता हुवा (अलब्धस्वरूपवान् स्यात्) अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं कर रहा है ।

भावार्थः— इसप्रकार कर्मपदमें स्थित होनेके कारण जीव अपने स्वरूपसे च्युत होकर नाना दुःखोंसे व्याप्त संसारमें परिभ्रमण करता हुआ अपने स्वरूपको नहीं पाता है ।

शङ्का ।

ननु किंचिच्छुभं कर्म किंचित्कर्माशुभं ततः ।
क्वचित्सुखं क्वचिद्दुखं तत्किं दुखं परं नृणाम् ॥ २४३ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शङ्काकारका कहना है कि (किंचित्कर्म शुभं) कुछ कर्म शुभ और (किंचि-

ध्यायी

त्कर्म अशुभं) कुछ कर्म अशुभ है (ततः) इसलिए जब जीवोंको (क्वचित् सुखं) कभी सुख होता है तथा (क्वचित्दुःखं) कभी दुख होता है (तत) तो फिर (नृणां परं दुःखं) जीवोंको केवलकर्मोंके कारण दुःखही होता है ऐसा (किं) क्यों कहाजाता है ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि कर्मोंके शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद है उनमेंसे कोई कर्म शुभ तथा कोई कर्म अशुभ होते हैं । इसलिये जब जीवोंको शुभकर्मके उदयसे कभी सुख होता है और अशुभ कर्मके उदयसे कभी दुख होता है तो फिर कर्मोंके निमित्तसे सम्पूर्ण जीवोंको केवल दुखही होता है ऐसा क्यों कहा जाता है ?

समाधान ।

नैवं यतः सुखं नैतत् तत्सुखं यत्र नाऽसुखम् ।
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तच्छुभं यत्र नाऽशुभ । २४४ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यत) क्योंकि (एतत् सुखं न) यह ऐहिक सुख वास्तविक सुख नहीं है कारण कि वास्तवमें (तत् सुखं) वही सुख है (यत्र असुखं न) जहांपर कि दुख नहीं है (सः धर्मः) वही धर्म है (यत्र अधर्मः न) जहांपर कि अधर्म नहीं है (और तत् शुभं) वही शुभ है (यत्र अशुभं न) जहांपर कि अशुभ नही है।

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि सातावेदनीय आदि कर्मोंके उदयसे जो सुख प्राप्त होता है वह सुख नहीं है । कारण कि वास्तवमें सुख वही है जहांपर दुखका लेश नहीं है । धर्म वही है जहांपर अधर्मका लेश नहीं है । तथा शुभ वही है जहांपर अशुभका लेश नहीं है ।

लौकिक सुखका स्वरूप ।

इदमस्ति पराधीनं सुखं बाधापुरस्सरम् ।
व्युच्छिन्नं बन्धहेतुश्च विषमं दुःखमर्थतः ॥ २४५ ॥

अन्वयार्थः— (इदं सुखं) यह लौकिक सुख (पराधीनं) पराधीन (बाधापुरस्सरं) दुःखपूर्वक

(व्युच्छिन्नं) सान्त (बन्धहेतुः) बन्धका कारण (च) और (विषमं) विषम होता है इसलिए वह (अर्थतः) वास्तवमें (दुःखं अस्ति) दुःखस्वरूप है ।

भावार्थः— यह इंद्रियजन्य सासारिक सुख कर्मोदयके आधीन होनेसे पराधीन, दुखोसे अन्तरित होनेके कारण बाधा सहित, अन्तसहित होनेसे व्युछिन्न और कर्मोंके आश्रवका कारण होनेसे बन्धका हेतु तथा तरतमभावके पाये जानेसे विषम है । इसलिए वह वास्तवमें दुखही है ।

उक्तं च ।

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदिएहिलद्धं तं सुक्खं दुक्खमेव तहा ॥ १ ॥

अन्वयार्थः— (सपरं) कर्माधीन (बाधासहियं) बाधासहित (विच्छिण्ण) विच्छेद सहित (बन्धकारणं) बन्धका कारण और (विसमं) विषमरुप अर्थात् आकुलतामय (जं सुक्खं) जो सुख (इंदिएहिलद्धं) इंद्रियोंके द्वारा प्राप्त होता है (तं तहा) उस प्रकारका वह सुख वास्तवमें (दुःखं एव) दुखरूपही है ।

भावार्थश्चात्र सर्वेषां कर्मणामुदयः क्षणात् ।
वज्राघात इवात्मानं दुर्वारो निष्पिनाष्टि वै ॥ २४६ ॥

अन्वयार्थः— (भावार्थः) अभिप्राय यह है कि (अत्र च) संसारमें (सर्वेषां कर्मणां उदयः) सब कर्मोंका उदय (क्षणात्) प्रतिक्षण (वै) वास्तवमें (आत्मानं दुर्वार वज्राघात इव निष्पिनष्टि) आत्माको दुर्वार वज्राघातकी तरह चकनाचूर करता है ।

भावार्थः— साराश यह है कि शुभ व अशुभ सबही कर्मोंका उदय दुर्वार है । और वह प्रतिक्षण वज्राघातके समान आत्माको पीसे डालता है ।

व्याकुलः सर्वदेशेषु जीवः कर्मोदयाद्ध्रुवम् ।
वन्हियोगाद्यथा वारि तप्तं स्पर्शोपलब्धितः ॥ २४७ ॥

अन्वयार्थः— (जीवः) जीव (कर्मोदयात्) कर्मोदयसे (ध्रुवं) सदैव (सर्वदेशेषु व्याकुलः) अपने सर्व प्रदेशोंमे व्याकुल रहता है (यथा) जैसे कि (वन्हियोगात्) वन्हिके योगसे (तप्त) अपने सम्पूर्ण अवयवोंमें खोलता हुआ (वारि) जल (स्पर्शोपलब्धितः) स्पर्शकरनेसे संतप्त पाया जाता है।

भावार्थः— जैसे जल वन्हिके निमित्तसे उष्ण होनेके कारण अपने सम्पूर्ण अवयवोंमें संतप्त देखा जाता है वैसेही यह जीवभी कर्मोंके निमित्तसे अपने सम्पूर्ण अवयवोंमें संतप्त होकर व्याकुल रहता है।

सातासातोदयाद्दुःखमास्तां स्थूलोपलक्षणात् ।
सर्वकर्मोदताघात इवाघातश्चिदात्मनः ॥२४८ ॥

अन्वयार्थः— (स्थूलोपलक्षणात्) स्थूलताकी अपेक्षासे (सातासातोदयात् दुख आस्तां) साता और असाता वेदनीयके उदयसे जो दुःख होता है वह दुख तो दूर रहे अर्थात् वह तो दुख है ही किंतु (चिदात्मनः) चेतनात्माके (सर्वकर्मोदयाघातः) सब कर्मोंके उदयका आक्रमण (आघात इव 'अस्ति') भयंकर आघातके समान हो रहा है।

भावार्थः— जीवोंको केवल साता असाता जन्य दुख ही नहीं हो रहा है। किन्तु प्रतिसमय सम्पूर्ण कर्मोंके उदयसे भयकर वज्राघातके समान आघात हो रहा है, —दुख हो रहा है।

आस्तां घातः प्रदेशेषु संदृष्टेरुपलब्धितः ।
वातव्याधेर्यथाध्यक्षं पीडचन्ते ननु सन्धयः ॥ २४९ ॥
नहि कर्मोदयः काश्चित् जन्तोर्यः स्यात्सुखावहः ।
सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ॥ २५० ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (ननु) निश्चयकरके (वातव्याधेः) वातव्याधिके होजानेसे (सन्धयः अध्यक्ष पीडयन्ते) सन्धि २ में प्रत्यक्ष पीडा होती है। इस (संदृष्टेः उपलब्धितः) दृष्टांतके मिलनेसे (प्रदेशेषु घातः आस्तां) जीवके प्रदेशोंमें होनेवाला घात तो दूर रहे किंतु (तत्र) उन कर्मोंके उदयमेंसे ऐसा ('सः'

कश्चित् कर्मोदयः न हि) वह कोईभी, कर्मका उदय नहीं है (**यः**) जो (**जन्तोः**) जीवको (**सुखावहः स्यात्**) सुख प्राप्त करानेवाला हो, क्योंकि (**स्वरूपत**) स्वभावसे (**सर्वस्य कर्मण· वैलक्षण्यात्**)सबही कर्म आत्माके स्वभावसे विलक्षण होते हैं।

भावार्थ.— जैसे वातव्याधिके होनेसे सन्धिमें २ पीडा होती है। वैसेही साता असाता वेदनयिकर्मके उदयसे जो जीवोंके प्रदेशोंमें दुख होता है, इतनाही नहीं है। किंतु उन सपूर्ण कर्मोंके उदयोंमेंसे ऐसा कोईभी कर्मोदय नहीं हैं जो जीवको सुखावह हो। कारण कि आत्मासे सम्बन्धित होकर उसको अपने स्वभावसे च्युत करदेनाही सम्पूर्ण कर्मोंका स्वभाव है। इसलिए वह कर्मोदय सुखकारी कैसे हो सकता है ?

तस्य मन्दोदयात् केचित् जीवाःसमनस्काः कचित्।
तद्वेगमसहमाना रमन्ते विषयेषु च ॥ २५१ ॥

अन्वयार्थ — (**क्वचित्**) कभी (**तस्य मन्दोदयात्**) उन कर्मोंके मन्दोदयसे (**केचित् जीवा·**) कोई २ जीव (**समनस्काः**) सैनी पंचेंद्रिय होकर (**च**) और (**तद्वेगं असहमानाः**) उन कर्मोंके वेगको सहन करनेमें असमर्थ होकर (**विषयेषु रमन्ते**) विषयोंमे रमण करते है।

भावार्थः— कभी कोई २ जीव, कर्मोंके मंद उदय होनेसे सैनी होकर, कर्मोदयजन्य आकुलताके निवारण करनेमें असमर्थ होते हुए, विषयोंका सेवन करते है।

केचित्तीव्रोदयाः सन्तो मन्दाक्षाः खल्वसंज्ञिनः।
केवलं दुःखवेगार्ता रन्तुं नार्थानापि क्षमाः ॥ २५२ ॥

अन्वयार्थः— (**केचित् मन्दाक्षाः असंज्ञिन· खलु**)कितनेही मन्दाक्ष व असंज्ञी जीव (**तीव्रोदयाः सन्त·**) कर्मोंके तीव्र उदयवाले होते हुए (**केवल दु खवेगार्ता·**) केवल दुखके वेगसे पीडित होकर (**अर्थान् अपि रन्तुं क्षमाः न**) प्राप्त अर्थोंकेभी भोगनेमें समर्थ नहीं होते है।

भावार्थः— कितनेही जीव कर्मोदयवश स्थावर, विकलेंद्रिय तथा असैनी होकर केवल दु खके वेगसे पीडित होते हुए विषयोंकेभी भोगनेमें समर्थ नहीं होते है।

सांसारिक सुखभी दुःख है।

यद्दुःखं लौकिकी रूढिर्निर्णीतिस्तत्र का कथा।
यत्सुखं लौकिकी रूढिस्तद्दुखं दुःखमर्थतः॥ २५३॥

अन्वयार्थः— जब (यत् सुखं लौकिकी रूढिः) जो लोकव्यवहारमें सुख कहाजाता है (अर्थत.) वास्तवमें (तत् सुखं दु खं) वह सुखाभासरूप सुख दुःखही है तब (यत् दुःखं लौकिकीरूढिः) जो लोकमें रूढिवशभी दुःख कहलाता है (तत्र निर्णीते) उसके विषयमें निर्णय होनेमे (का कथा) क्या कहना चाहिये।

भावार्थः— लोकमें रूढिवश जो सुख कहा जाता है परमार्थ दृष्टिसे उसे दुख कहते है तो लोकमें जिसे दुःख कहते है परमार्थसे उसके विषयमे भला क्या कहा जासकता है ?

कादाचित्कं न तद्दुखं प्रत्युताच्छिन्नधारया।
सन्निकर्षेषु तेषुच्चैस्तृष्णातङ्कस्य दर्शनात्॥ २५४॥

अन्वयार्थः— (तत् दुःखं कादाचित्कं न) वह दु ख जबकभी नहीं होता है (प्रत्युत) किंतु (अच्छिन्नधारया) प्रवाहरूपसे निरन्तर होता रहता है क्योंकि (तेषु सन्निकर्षेषु) उन विषयोंके सन्मुख होनेपर (उच्चैः तृष्णातङ्कस्य दर्शनात्) अतिशय तृष्णारुपी रोग देखाजाता है

भावार्थः— वह दुखभी कादाचित्क नहीं है। किंतु सदैव अविच्छिन्न प्रवाहरूपसे वर्तमान रहता है। क्यों कि यदि वह दु ख न होता तो जीवोंके उत्तरोत्तर तृष्णाका सद्भाव नहीं पाया जाता। किंतु तृष्णाका सद्भाव पाया जाता है। इसलिए सदैव तृष्णा वृत्तिके सद्भावसे प्रत्येक प्राणीमें प्रतिसमय अविच्छिन्न प्रवाहरूपसे दारुण दुःखका सद्भाव सिद्ध होता है।

---

१ इन दोनों पदोंमें प्रथमा विभक्ति है अत. शब्दानुसार अर्थ नहीं लिखा है किंतु भावानुसार अर्थ लिखदिया है।

खुलासा ।

इन्द्रियार्थेषु लुब्धानामन्तर्दाहः सुदारुणः ।
तमन्तरा यतस्तेषां विषयेषु रतिः कुतः ॥२५५॥

अन्वयार्थ — (इन्द्रियार्थेषु लुब्धानां) इन्द्रियोंके विषयोंमे तृष्णा रखनेवालोंके (सुदारुण अन्तर्दाहः) भीषण अन्तरग दाह पाया जाता है (यतः) क्योंकि (तं अन्तरा) उस अन्तर्दाहके विना (तेषां) उन जीवोंकी (विषयेषु रति कुतः) विषयोंमें रति कैसे हो सकती है ?

भावार्थः— यदि विषयोंमें लालसा रखनेवाले जीवोंके अन्तर्दारुणदाह नहीं होता तो उनके, उसकी तृप्तिके लिए विषयोंमें लोलुपता नहीं पाई जाना चाहिए थी । किंतु विषयोंमें लोलुपता पाई जाती है इसलिए अन्तरंगमे उन जीवोंके दारुणदाह सिद्ध होता है ।

दृश्यते रतिरेतेषां सुहितानामिवेक्षणात् ।
तृष्णाबीजं जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् ॥ २५६ ॥

अन्वयार्थः— (जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् इव) जैसे जलौकोंको तो खराब खूनके चूसनेसे तृष्णाकी बीजभूत रति देखी जाती है वैसेही संसारी जीवोंमेंभी (एतेषां सुहिताना ईक्षणात्) इनविषयोंके सुहित माननेसे (तृष्णाबीजं रतिः दृश्यते) तृष्णाकी बीजभूत रति देखी जाती है ।

भावार्थ.— जैसे गोंचके खराब खूनके चूसनेके कारण तृष्णाकी बीजभूत रतिका सद्भाव सिद्ध होता है । वैसेही संसारी जीवोंकेभी, विषयोंमें इष्ट कल्पनाके पाये जानेसे विषयोंमें तृष्णाकी बीजभूत रतिका सद्भाव सिद्ध होता है । इसलिए विषयोंमें रतिके सद्भावसे अन्तरंगमें दारुणदाह सिद्ध होता है । और परपदार्थोंको सुहित माननेसे विषयोंमें रतिका सद्भाव सिद्ध होता है ।

शक्रचक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम् ।
तृष्णाबीजं रतिस्तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी ॥२५७॥

अन्वयार्थ.— (**पुण्यशालिनां**) पुण्य प्रकृतिके उदयवाले (**शक्रचक्रधरादीनां**) इंद्र नरेंद्र आदिके (**केवल तृष्णाबीज रति**) केवल तृष्णाकी बीजभूत रति पाई जाती है इसलिए (**तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी**) उनको सच्चे सुखकी प्राप्ति कैसे होसकती है ?

भावार्थः— पुण्यशाली इन्द्रादिकोंकेभी तृष्णाकी बीजभूत रतिके पाये जानेसे वास्तविक सुख नहीं कहा जासकता है अर्थात् उनकोभी सच्चा सुख प्राप्त नहीं होता है।

उक्तं च।

जेसिं विसये सुरदि तेसिं दुःखं च जाण साहावं।
जदि तं णत्थि साहावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः— (**जेसि विसये सुरदि**) जिनकी विषयोंमें रति होती है (**तेसि साहावं दुख च जाण**) उनके स्वाभाविक दुःखही समझना चाहिये क्योंकि (**जदि तं सहावं णत्थि**) यदि उनके वह दुःख स्वाभाविक नहीं होता तो (**विसयत्थं वावारो णत्थि**) उनकी विषयोंमें प्रवृत्ति नहीं होती।

भावार्थः— जिन जीवोंकी विषयोंमें रति होती है उनके स्वभावसेही दुःख समझना चाहिये। कारण कि यदि उनके स्वभावसे वह दुःख नहीं होता तो उनके विषयनिमित्तक रति नहीं पाई जाना चाहिये। किंतु पाई जाती है।

सर्वं तात्पर्यमत्रैतद् दुःखं यत्सुखसंज्ञकम्।
दुःखस्यानात्मधर्मत्वान्नाभिलाषः सुदृष्टिनाम् ॥ २५८ ॥

अन्वयार्थः— (**सर्वं तात्पर्यं एतत्**) सम्पूर्ण कथनका सारांश यह है कि (**अत्र**) यहांपर जगत् (**यत्सुखसंज्ञक**) जिसको सुख कहता है वह सब (**दुःखं**) दुःख है, और (**दुःखस्य अनात्मधर्मत्वात्**) उस दुःखको आत्माका धर्म नहीं होनेके कारण (**सुदृष्टिनां अभिलाषः न**) सम्यग्दृष्टियोंको उन दुःखस्वरूप सांसारिक सुखोंकी अभिलाषा नहीं होती है।

भावार्थः— उक्त संपूर्ण कथनका सारांश यह है कि जिसको सर्व साधारण सुख समझते है वह सुख वास्तवमें दुख हैं। इसलिए इन्द्रियजन्य सुखोंको दुःखमय समझनेके कारण सम्यग्दृष्टियोंको उन सांसारिक सुखोंकी अभिलाषा नहीं होती है।

वैषयिकसुखे न स्याद्रागभावःसुदृष्टिनाम् ।
रागस्याज्ञानभावत्वाद स्ति मिथ्यादृश'स्फुटम् ॥ २५९ ॥

अन्वयार्थ —(सुदृष्टिनां वैषयिकसुखे रागभावः न स्यात्) सम्यग्दृष्टियोंके वैषयिक सुखमें ममता नहीं होती है क्योंकि (रागस्य अज्ञानभावत्वात्) वास्तवमें वह आसक्तिरूप रागभाव अज्ञानरूप है इसलिए (स्फुटं) यह स्पष्ट है कि वैषयिक सुखोंकी अभिलाषा (मिथ्यादृश अस्ति) मिथ्यादृष्टि जीवोंकोही होती है सम्यग्दृष्टियोंको नहीं।

भावार्थः— वैषयिक सुखोंमें सम्यग्दृष्टियोंको आसक्ति नहीं होती है। कारणकि वह विषयोंकी आसक्ति अज्ञानभाव रूप हैं। इसलिए वह मिथ्यादृष्टी जीवोंकेही पाई जाती है सम्यग्दृष्टी जीवोंके नहीं।

सम्यग्दृष्टेस्तु सम्यक्त्वं स्यादवस्थान्तरं चितः ।
सामान्यजनवत्तस्मान्नाभिलाषोस्य कर्माणि ॥ २६० ॥

अन्वयार्थः—(तु)किंतु (सम्यग्दृष्टे चितः) सम्यग्दृष्टीकी चेतनाकी (अवस्थांतरं) अवस्थाविशेषको (सम्यक्त्वं स्यात्) सम्यक्त्व कहते है (तस्मात्) इसलिए (सामान्यजनवत्) सामान्य पुरुषोंकी तरह (अस्य) इस सम्यग्दृष्टी जीवके (कर्मणि) कर्ममात्रमें - सांसारिक क्रियाओंमें (अभिलाष. न) अभिलाषा नहीं होती है।

भावार्थ — चेतनाकी अशुद्ध अवस्थासे भिन्न अवस्थाको अर्थात शुद्ध चेतनाकी परिणतिको सम्यक्त्व कहते हैं। इसलिए साधारण पुरुषोंके समान सम्यग्दृष्टीके अशुद्धचेतनामय—कर्म व कर्मफलचेतनामय जो विषयोंकी अभिलाषा है वह नहीं होती है।

उपेक्षा सर्वभोगेषु सद्दृष्टेर्दृष्टरोगवत् ।
अवश्यं तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गजः ॥ २६१ ॥

अन्वयार्थः— (सद्दृष्टे) सम्यग्दृष्टीको (सर्वभोगेषु) सर्व प्रकारके भोगमें (दृष्टरोगवत्) प्रत्यक्ष रोगकी तरह (उपेक्षा) अरुचि होती है क्योंकि (तदवस्थायाः) उस सम्यक्त्वरूप अवस्थाका (अवश्यं तथाभावः) विषयोंमें अवश्य अरुचिका होना (निसर्गजः) स्वतःसिद्ध स्वभाव है ।

भावार्थः— जैसे सर्व साधारणको दृष्ट रोगोंमें अरुचि रहती है, वैसेही सम्यग्दृष्टियोंको विषयोंमें अरुचि रहती है । क्योंकि जिससमय सम्यग्दृष्टियोंकी चेतना सम्यक्त्वके होनेसे शुद्ध अवस्थाको प्राप्त होजाती है उससमय उनकी विषयोंमें अरुचि होना स्वाभाविक बात है ।

अस्तु रूढिर्यथा ज्ञानी हेयं ज्ञात्वाऽथ मुंचति ।
अत्रास्त्यावास्थिकः कश्चित्परिणामः सहेतुकः ॥ २६२ ॥

अन्वयार्थः— (रूढिः अस्तु) जो यह रूढि है वह ठीक है कि (यथा) जैसे (ज्ञानी हेयं ज्ञात्वा अथ मुंचति) ज्ञानी जीव हेय पदार्थको हेय जाननेके अनन्तरही उसका त्याग करता है परन्तु (अत्र) इसमें (आवस्थिकः सहेतुकः कश्चित् परिणामः अस्ति) सम्यक्त्वरूप अवस्थासे सम्बन्ध रखनेवाला युक्तियुक्त कोई विशेष परिणाम कारण है ।

भावार्थ — जो यह रूढि है कि सम्यग्दृष्टी हेयको हेय समझकरके छोड देता है वह ठीक है । परन्तु हेय पदार्थके त्यागनेमें केवल सम्यक्त्वही कारण नहीं है किंतु सम्यक्त्वके सद्भावके साथ चारित्रमोहनीय आदिका अभाव भी कारण है अर्थात सम्यक्त्वके सद्भावमें विषयोंमें केवल अरुचि होती है, उन विषयोंका त्याग तो सम्यक्त्वके साथ होनेवाले चारित्र मोहके अभावसे होता है । जिन सम्यग्दृष्टियोंके चारित्र मोहका अभाव नहीं होता है उन सम्यग्दृष्टियोंके अरुचिपूर्वक विषय सेवन भी पायाजाता है इसलिये उक्त रूढि बहुभागमें है ।

सिद्धमस्ताभिलाषत्वं कस्यचित्सर्वताश्रितः ।
देशतोऽप्यस्मदादीनां रागाभावस्य दर्शनात् ॥ २६३ ॥

अन्वयार्थः— (अस्मदादीनां अपि देशतः रागाभावस्य दर्शनात्) हम लोगोंकेभी एकदेशरूपसे रागभावोंका अभाव देखे जानेके कारण (कस्यचित् चितः) किसी आत्माके (सर्वत) सर्वथा (अस्ताभिलाषत्वं सिद्धं) रागादिभावोंका अभाव सिद्ध होता है।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टीको विषयोंमें सर्वथा अभिलाषा नहीं होती है यह असिद्ध नहीं है। कारण अस्मदादिकके तरतम रूपसे रागादि भावोंके पाये जानेसे किसी न किसी आत्माके सर्वथा रागादि भावोंका अभाव अनुमानसे सिद्ध होसकता है। इस युक्तिसे सम्यग्दृष्टियोंके अभिलाषाका अभाव असिद्ध नहीं है।

तद्यथा न मदीयं स्यादन्यदीयमिदं ततः।
परप्रकरणे कश्चित्तृप्यन्नापि न तृप्यति ॥ २६४ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) उसका खुलासा इसप्रकार है कि (इदं मदीयं न अन्यदीयं स्यात्) यह मेरा नहीं है [illegible] (ततः) इसलिये (परप्रकरणे कश्चित् तृप्यन् अपि) पर प्रकरणोंमें कोई तृप्त होता [illegible] (न तृप्यति) तृप्त नहीं होता है।

भावार्थः— [illegible] कथनका खुलासा इसप्रकार है कि जब यह समझलिया जाता है कि यह मेरा नहीं है [illegible] जो कोई तृप्त होता है वह वास्तविकमे तृप्त नहीं है किंतु अतृप्तही है अर्थात् इन्द्रियोंके [illegible] चारित्रमोहनीयकी पराधीनतावश सम्यग्दृष्टी जीवके उन विषयोंमें जो तृप्ति पाई जाती [illegible] नहीं है।

अब आगे दृष्टान्तपूर्वक इसी अर्थका खुलासा करते हैं।

यथा [illegible]ः कुर्वाणोऽनुचितां क्रियाम्।
[illegible] तस्याः क्रियायाश्च न स्यादस्ताभिलाषवान् ॥ २६५ ॥

[illegible] (अस्ताभिलाषवान् कश्चित् परायत्तः) अपनी इच्छाके विना [illegible] (कुर्वाणः च) अनुचित क्रियाको करता हुआभी (तस्याः क्रियायाः) [illegible] नहीं माना जाता है।

भावार्थः— जैसे कि पराधीन पुरुष, अपनी इच्छाके न रहते हुए परप्रयोगवश अनुचित क्रियाको करकेभी वास्तवमें अनुचित क्रियाका कर्ता नहीं कहा जाता है। वैसेही सम्यग्दृष्टिभी मोहोदयवश भोगोंको भोगकरभी वास्तवमें भोगोंका भोक्ता नहीं कहा जाता है।

इसप्रकार उपर्युक्त कथनसे सम्यग्दृष्टी जीवके अभिलाषा नही होती है यह सिद्ध होता है।

शंका।

स्वदते ननु सद्दृष्टिरिन्द्रियार्थकदम्बकम्।
तत्रेष्टं रोचते तस्मै कथमस्ताभिलाषवान्॥ २६६ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि जब (**सद्दृष्टिः**) सम्यग्दृष्टी जीव (**इन्द्रियार्थकदम्बकं**) इंद्रियोंके विषयोंको (**स्वदते**) भोगता है और (**तत्र तस्मै इष्टं रोचते**) उन विषयोंमें वह इष्टकी चाहभी करता है तो फिर उसमें (**अस्ताभिलाषवान कथं**) विषयोंकी अभिलाषाका अभाव कैसे कहा जायगा ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जब सम्यग्दृष्टी जीव पंचेंद्रियोंके विषयोंको भोगता है। तथा उनमें इष्ट विषयोंकी चाहभी करता है तो फिर उसको विषयोंकी अभिलाषासे रहित क्यों कहा ? अर्थात् जब सम्यग्दृष्टी जीव विषयोंका सेवन करता है तो उसे विषयोंकी अभिलाषासे रहित नहीं कहना चाहिये।

समाधान।

सत्यमेतादृशो यावज्जघन्यं पदमाश्रितः।
चारित्रावरणं कर्म जघन्यपदकारणम्॥ २६७ ॥

अन्वयार्थः— (**सत्यं**) ठीक है क्योंकि (**यावत्**) जबतक (**जघन्यपदं आश्रितः**) सम्यग्दृष्टी जीव जघन्यपदमें स्थित रहता है तबतक (**एतादृशः**) कथञ्चित् विषयसेवन करता है और (**जघन्यपद कारणं**) उसके उस जघन्यपदमें कारणभूत (**चारित्रावरणं कर्म**) चरित्रावरण कर्म है।

भावार्थः— शंकाकारकी उक्त शंकाका उत्तर यह है कि जबतक सम्यग्दृष्टी जीव जघन्य पदमें स्थित रहता है तबतक उसके पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें अनासक्ति पूर्वक इच्छा रहती है। तथा उसके उस जघन्यपदका कारण अप्रत्या-

ख्यानावरणादि कर्मोंका उदय है। इसलिए जिन सम्यग्दृष्टियोंको चारित्रमोहनीय कर्मका उदय रहता है वे जघन्य पदमें स्थित है। और उनकी उन विषयोंमें अभिलाषा मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कृत राग द्वेषपूर्वक होती है। अतएव उस अभिलाषाको अनासक्तिपूर्वक होनेसे न होनेके बराबरही समझना चाहिए।

तदर्थेषु रतो जीवश्चारित्रावरणोदयात।
तद्विना सर्वतः शुद्धो वीतरागोस्त्यतींद्रियः॥ २६८॥

अन्वयार्थः— (जीवः) वह सम्यग्दृष्टी जीव (चारित्रावरणोदयात्) चारित्र घातक कर्मके उदयसे (तदर्थेषु रतः) उन इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्त होता है और (तद्विना) उस कर्मके उदयका अभाव होनेपर (सर्वतः) सर्वथा (शुद्धः) शुद्ध (वीतरागः) वीतराग तथा (अतींद्रिय अस्ति) अतींद्रिय माना जाता है।

भावार्थः— केवल चारित्रावरण कर्मके उदयसेही जघन्य पदमें स्थित सम्यग्दृष्टी जीव इन्द्रियोंके विषयोंमें अनासक्तिपूर्वक इष्टानिष्ट बुद्धि करता है। किंतु जब उसके चारित्रमोहनीयका अभाव हो जाता है तब वही सम्यग्दृष्टी जीव शुद्ध, वीतराग और अतींद्रिय माना जाता है।

दृग्मोहस्य क्षतेस्तस्य नूनं भोगाननिच्छतः।
हेतुसद्भावतोऽवश्यमुपभोगक्रिया बलात्॥ २६९॥

अन्वयार्थः— (दृग्मोहस्य क्षतेः) दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव होनेसे (नूनं) निश्चयकरके (भोगान् अनिच्छतः तस्य) भोगोंकी इच्छा नहीं रखनेवाले उस सम्यग्दृष्टीके (हेतुसद्भावतः) भोग क्रियाके कारणभूत चारित्रावरण कर्मके उदयसे (बलात् अवश्यं उपभोगक्रिया) बलपूर्वक अवश्य उपभोग क्रिया होता है।

भावार्थः— यद्यपि सम्यग्दृष्टीके दर्शनमोहका अभाव होजानेसे उसकी उपभोगमें इच्छा नहीं रहती है। परन्तु इष्टानिष्ट कल्पनाके कारणभूत चारित्रमोहका उदय रहनेसे उसको अनासक्तिपूर्वक भोगोंको भोगने पडता है।

नासिद्ध तद्विरागत्वं क्रियामात्रस्य दर्शनात् ।
जगतोऽनिच्छतोऽप्यस्ति दारिद्र्यं मरणादि च ॥ २७० ॥

अन्वयार्थः— (क्रियामात्रस्य दर्शनात्) केवल क्रियाके देखनेसे (तद्विरागत्वं असिद्धं न) सम्यग्दृष्टीकी विषयोंमें वीतरागता असिद्ध नहीं है क्योंकि(अनिच्छतः अपि जगतः) दारिद्र्य तथा मरणादिकको नहीं चाहनेवालेभी लोगोंको (दारिद्र्यं) दारिद्र्य (च) और (मरणादि अस्ति) मरणकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थ — जैसें लोगोंके इच्छाके विनाही दारिद्र्य और मरणादिककी प्राप्ति होती है वैसेही इच्छाके विना सम्यग्दृष्टीकी विषयोंमें प्रवृत्ति पाई जाती है । इसलिए उसके, विषयोंमें वीतरागपना—निरभिलाषित्व असिद्ध नहीं है ।

व्याधीपीडितो जनः कश्चित्कुर्वाणो रुक्प्रतीक्रियाम् ।
तदात्वे रुक्पदं नेच्छेत् का कथा रुक्पुनर्भवे ॥ २७१ ॥
कर्मणा पीडितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियाम् ।
नेच्छेत् कर्मपदं किंचित् साभिलाषः कुतो नयात् ॥ २७२ ॥

अन्वयार्थ — (रुक्प्रतिक्रियां कुर्वाणः कश्चित् व्याधीपीडितः जनः) जैसे जब रोगकी प्रतिक्रिया करता हुआ कोई रोगी पुरुष (तदात्वे) रोगी अवस्थामें (रुक्पदं न इच्छेत्) रोगके पदको नहीं चाहता है अर्थात् अपनी सरोगावस्थाको नहीं चाहता है तो फिर (रुक्पुनर्भवे का कथा) दुबारा रोगके उत्पन्न होनेकी इच्छाके विषयमें तो कहनाही क्या है अर्थात फिरसे रोगकी उत्पत्तिको तो वह चाहेगाही नहीं, वैसेही जब (कर्मणा पीडित) कर्मके द्वारा पीडित होकर (कर्मजां क्रियां कुर्वाणः ज्ञानी) कर्मजन्य इष्टानिष्ट क्रियाको करनेवाला ज्ञानी (किंचित् कर्मपदं न इच्छेत्) किसीभी कर्मपदकी इच्छा नहीं करता है तो फिर वह (साभिलाषः कुतः नयात्) इन्द्रियोंके विषयोंका अभिलाषी किस न्यायसे कहा जासकता है ?

भावार्थ — जैसे जब रोगी, रोगसे पीडित होकर उस रोगका इलाज करते समय रोगका अभिलाषी सिद्ध

नहीं होता है तो फिर वह फिरसे रोगकी उत्पत्तिका अभिलाषुक है यह कैसे कहा जासकता है अर्थात् किसी तरह नहीं कहा जासकता है। वैसेही जब कर्मसे पीडित होकर केवल कर्मोदयवश अनिच्छापूर्वक इष्टानिष्ट क्रियाओंको करता हुवा ज्ञानी किसी कर्मपदकीही इच्छा नहीं करता है तो फिर वह विषयोंमें अभिलाषावाला है यह कैसे कहा जासकता है अर्थात् किसीभी तरह नहीं कहा जासकता है।

नासिद्धोऽनिच्छितस्तस्य कर्म तस्याऽऽमयात्मनः।
वेदनायाः प्रतीकारो न स्याद्रोगादिहेतुकः॥ २७३॥

अन्वयार्थ — और (कर्म अनिच्छित तस्य) कर्ममात्रको नहीं चाहनेवाले उस सम्यग्दृष्टिके (वेदनायाः प्रतीकारः) कषायजन्य वेदनाका प्रतीकारभी (असिद्धः न) असिद्ध नहीं है क्योंकि (आमयात्मनः तस्य) कषायरूपी रोगसे युक्त उस सम्यग्दृष्टीके (वेदनायाः प्रतीकार) वेदनाका प्रतीकार (रोगादिहेतुकः न स्यात्) नवीन रोग आदिके उत्पन्न करनेमें कारण नहीं कहा जासकता है।

भावार्थ.—सम्यग्दृष्टीके किसीभी कर्मकी इच्छाके नहीं रहनेपरभी उसके जो कर्मोंके उदयजन्य आकुलता होती है उस आकुलताका जो वह भोगोंको भोगनेके द्वारा प्रतिकार करता है वह वेदनाका प्रतिकार उसके असिद्ध नहीं है अर्थात् सिद्ध है। परन्तु उन भोगोंसे उसके बन्ध नहीं होता है। कारण कि जैसे रोगका प्रतिकार रोगकी उत्पत्तिमें कारण नहीं होता है वैसेही केवल कर्मोदयवश उत्पन्न होनेवाली आकुलताके निवारणार्थ भोगे हुए भोग नवीन कर्मोंके आश्रवमें कारण नहीं हो सकते है।

सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोऽप्यसेवकः।
नीरागस्य न रागाय कर्माऽकामकृतं यतः॥ २७४॥

अन्वयार्थ — (असौ सम्यग्दृष्टि) वह सम्यग्दृष्टि (भोगान् सेवमानः अपि) भोगोंका सेवन करता हुवाभी (असेवकः) वास्तवमें भोगोंका सेवन करनेवाला नहीं कहलाता है (यतः) क्योंकि (नीरागस्य अकामकृत कर्म) राग रहित जीवके विना इच्छाके किये गये कर्म (रागाय न) रागके उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होते है।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिके भोग इच्छापूर्वक नहीं होते है इसलिए वे रागजनक नहीं कहे जासकते है। क्योंकि उसके सदैव परम उपेक्षाभावका सद्भाव रहनेसे अनिच्छापूर्वकही क्रियाएँ होती है।

आस्ति तस्यापि सद्दृष्टेः कस्यचित्कर्मचेतना।
अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना ॥ २७५ ॥

अन्वयार्थः— (कस्यचित् तस्य सद्दृष्टेः अपि) यद्यपि किसी २ सम्यग्दृष्टि जीवके अर्थात् जघन्य पदवर्ती किसी सम्यग्दृष्टीके (कर्मचेतना) कर्मचेतना (अपि) और (कर्मफले) कर्मफलमे चेतना (अस्ति) होती है तथापि (अर्थतः) वास्तवमें (सा ज्ञानचेतना स्यात्) वह ज्ञानचेतनाही है।

भावार्थः— जब सम्यग्दृष्टी जीव जघन्यपदमें स्थित रहते हैं तब उनके कर्म और कर्मफलचेतनाभी गौण रूपमे पाई जाती है। परन्तु उनको विषयोंकी अभिलाषा रोगके प्रतीकारके समानही होती है इसलिए वास्तवमें वह ज्ञानचेतनाही कहलाती है अर्थात यद्यपि सम्यग्दृष्टियोंके मुख्य रूपसेतो ज्ञानचेतनाही होती है। और गौणरूपसे किसी २ के कर्म तथा कर्मफलचेतनाभी होती है। परन्तु उक्त अपेक्षासे वहभी वास्तवमें ज्ञानचेतनाही है.

क्योंकि।

चेतनायाः फलं बन्धस्तत्फले वाऽथ कर्मणि।
रागाभावान्न बन्धोऽस्य तस्मात्सा ज्ञानचेतना ॥ २७६ ॥

अन्वयार्थः— (कर्मणि अथवा तत्फले) कर्ममें अथवा कर्मफलमें रहनेवाली (चेतनायाः) चेतनाका (फलं) फल (बन्धः) बन्ध होता है परन्तु (अस्य रागाभावात् बन्धः न) इस सम्यग्दृष्टीके रागका अभाव होनेसे बन्ध नहीं होता है (तस्मात्) इसलिये (सा ज्ञानचेतना) वह ज्ञानचेतनाही है।

भावार्थः— कर्म और कर्मफलचेतनाके होनेसे बन्ध होता है। परन्तु सम्यग्दृष्टिके जो कर्म व कर्मफलचेतनाकी प्रवृत्ति पाई जाती है वह इच्छापूर्वक नहीं होती है। अत उन दोनों चेतनाओंके रहते हुएभी बन्ध, न होनेके कारण सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतनाही कही जाती है।

आस्ति ज्ञानं यथा सौख्यमैन्द्रियं चाप्यतीन्द्रियम्।

आद्यं द्वयमनादेयं समादेयं परं द्वयम् ॥ २७७ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (ज्ञानं) ज्ञान (ऐन्द्रियं) इंद्रियजन्य (च) और (अतींद्रिय) अतींद्रिय (अस्ति) होता है वैसेही (सौख्यं अपि) सुखभी ऐंद्रियक तथा अतींद्रिय होता है उनमेंसे सम्यग्दृष्टि-को (आद्यं द्वयं) पहलेके दोनों अर्थात् इंद्रियजन्य ज्ञान तथा इंद्रियजन्य सुख (अनादेयं) उपादेय नहीं होते है (परं द्वयं समादेयं) किंतु शेषके दोनों अर्थात् अतींद्रिय ज्ञान व अतींद्रिय सुख उपादेय होते है।

भावार्थ— ज्ञान और सुख ऐन्द्रियक तथा अतींद्रिय दोनों प्रकारके होते है। परन्तु सम्यग्दृष्टीके लिये केवल अतींद्रिय ज्ञान और सुखही उपादेय होते है इंद्रियजन्य नहीं इसलिये उसके ज्ञानचेतनाही कही जाती है। कारण वह इंद्रियजन्य सुख और ज्ञानमें रुचि नहीं रखता है।

अब आगे २८ पद्यों द्वारा इन्द्रिजन्य ज्ञानके दोषोंको बताते हैं।

नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थाद्दुःखमनर्थवत् ॥ २७८ ॥

अन्वयार्थ — (नूनं) निश्चयसे (यत् ज्ञान) जो ज्ञान (परतः) इंद्रिय आदिके अवलम्बनसे होता है और (यत्) जो ज्ञान (प्रत्यर्थं परिणामि) प्रत्येक अर्थके प्रति परिणमनशील रहता है अर्थात् प्रत्येक अर्थके अनुसार परिणामी होता है वह ज्ञान (व्याकुलं) व्याकुल तथा (मोह सम्पृक्तं) राग द्वेष सहित होता है इस-लिये (अर्थात) वास्तवमें वह ज्ञान (दुःख अनर्थवत्) दुःखरूप तथा निष्प्रयोजनके समान है।

भावार्थ — इंद्रियज्ञान परावलम्बी और प्रत्येक ज्ञेयानुसार परिणमनशील होनेसे व्याकुल तथा मोहके सम्प-र्कसे सहित होता है। इसलिए वास्तवमें वह इंद्रियज्ञान दुःखरूप है और कार्यकारी नहीं है।

सिद्धं दुःखत्वमस्योच्चैर्व्याकुलत्वोपलब्धितः ।
ज्ञातशेषार्थसद्भावे तद्बुभुत्सादिदर्शनात् ॥ २७९ ॥

अन्वयार्थ — (व्याकुलत्वोपलब्धितः) प्रत्यर्थ परिणामी होनेके कारण अथवा परनिमित्तसे होनेके कारण ज्ञानमें व्याकुलता पायी जाती है इसलिये (अस्य दुःखत्वं) ऐसे इंद्रियजन्य ज्ञानमें दुःखपना (उच्चैः सिद्धं) अ-

तरहसे सिद्ध होता है क्योंकी (ज्ञातशेषार्थसद्भावे) जाने हुये पदार्थांशके सिवाय शेषांशोके अज्ञात रहनेपर (तद्बुभुत्सादि दर्शनात्) उनके जाननेकी इच्छा देखी जाती है।

भावार्थ:— परावलम्बी और प्रत्यर्थपरिणामी होनेसे इंद्रियजन्य ज्ञानमें दुःखपना असिद्ध नहीं है। क्योंकि ज्ञातसे शेष रहे हुए ज्ञेयके अंशोंको जाननेके लिये जिज्ञासा रहती है इसलिए उस ज्ञानमें व्याकुलताका सद्भाव सिद्ध होता है। और व्याकुलताके पाये जानेसे ज्ञानमें दुःखपना सिद्ध होता है। तथा दुःखपनेके सद्भावसे उसमें अनुपादेयताकी सिद्धि होती है।

आस्तां शेषार्थजिज्ञासोरज्ञानाद् व्याकुलं मनः।
उपयोगि सदर्थेषु ज्ञानं वाप्यसुखावहम् ॥ २८० ॥

अन्वयार्थः— (शेषार्थजिज्ञासोः) शेषअर्थके जाननेकी इच्छा रखने वालेका (मनः) मन (अज्ञानात्) अज्ञानसे अर्थात् उनज्ञातांशोंसे अतिरिक्त शेष अंशोंके ज्ञान नहीं होनेसे (व्याकुलं) व्याकुल रहता है यहतो (आस्ताम्) दूर रहो किन्तु (सदर्थेषु उपयोगि अपि ज्ञानं) यथार्थ पदार्थों के विषयमे उपयोगी पडनेवाला भी ज्ञान (असुखावहं वा) दुःखजनकके समान होता है

भावार्थः— ज्ञात अंशसे अतिरिक्त शेषार्थकी जिज्ञासाके रहनेसे जिज्ञासुका मन केवल व्याकुल रहता है इसकी तो कहनाही क्या है अर्थात वह तो निश्चयसे व्याकुल है ही—दुःखरूप है ही। परन्तु यथार्थ विषयोंमे उपयोगी पडनेवालाभी इंद्रियज्ञान दुःखरूप कहा जाता है।

मिथ्यादृष्टियोंको इंद्रियज्ञान और इंद्रिय सुख उपादेय होते है। और मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानको मिथ्यात्वके उदयके कारण दुःखप्रद कहा गया है। कारण उसमें व्याकुलता पाई जाती है जिसेकि ऊपर बताया जाचुका है। तथा इस पद्यसे यह बताया है कि मिथ्यादृष्टिका ज्ञान व्याकुल होता है इतनाही नहीं है किंतु यथार्थ पदार्थोंके विषयोंमें उपयुक्त होनेके योग्य होकरभी " सदसतोरविशेषात " के सिद्धातानुसार सच्चे सुखका अनुभव करनेवाला न होनेसे दुःखावह ही है।

प्रमत्तं मोहयुक्तत्वान्निकृष्टं हेतुगौरवात्।

व्युच्छिन्नं क्रमवर्तित्वात्कृच्छ्रं चेहाद्युपक्रमात् ॥ २८१ ॥

अन्वयार्थ — वह इंद्रियजन्य ज्ञान (मोहयुक्तत्वात्) मोहसे युक्त होनेके कारण (प्रमत्तं) प्रमत्त (हेतुगौरवात्) अपनी उत्पत्तिमें बहुत कारणोंकी अपेक्षा रखनेसे (निकृष्टं) निकृष्ट (क्रमवर्तित्वात्) क्रमपूर्वक पदार्थोंको विषय करनेके कारण (व्युच्छिन्नं) व्युच्छिन्न (च) और (ईहाद्युपक्रमात्) ईहा आदि पूर्वकही होनेसे (कृच्छ्रं) दुःखरूप कहलाता है ।

भावार्थः— वह इंद्रियजन्य ज्ञान मोहयुक्त होनेसे प्रमत्त, हेतुगौरवसे निकृष्ट, क्रमवर्ती होनेसे व्युच्छिन्न तथा ईहादि पूर्वक होनेसे दुःखरूप कहलाता है ।

परोक्षं तत्परायत्तादाक्ष्यमक्षसमुद्भवात् ।
सदोषं संशयादीनां दोषाणां तत्र संभवात् ॥ २८२ ॥

अन्वयार्थ— (तत्) वह ऐन्द्रियकज्ञान (परायत्तात् परोक्षं) परनिमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण परोक्ष हैं (अक्षसमुद्भवात्) इन्द्रियोंसे पैदा होनेके कारण (आक्ष्यं) आक्ष्य है और (तत्र) उसमें (संशयादीनाम् दोषाणां सम्भवात्) संशय आदि दोषोंके आनेकी संभावनासे वह (सदोषं) सदोष है ।

भावार्थः— वह इंद्रियजन्य ज्ञान पराधीन होनेसे परोक्ष, इंद्रियजन्य होनेसे आक्ष्य तथा उसके द्वारा ज्ञात विषयोंमें संशयादिक दोषोंकी संभावनासे सदोष है ।

विरुद्धं बन्धहेतुत्वाद्बन्धकार्याच्च कर्मजम् ।
अश्रेयोऽनात्मधर्मत्वात् कालुष्यादशुचिः स्वतः ॥ २८३ ॥

अन्वयार्थ— (बन्धहेतुत्वात्) बन्धका हेतु होनेसे (विरुद्धं) विरुद्ध (बन्धकार्यात्) बन्धका कार्य होनेसे कर्मजन्य (अनात्मधर्मत्वात्) आत्माका धर्म न होनेसे (अश्रेय) अश्रेय (च) और (कालुष्यात् स्वतः अशुचि) कलुषित होनेसे स्वयं अशुचि है ।

भावार्थः— उस इंद्रिय ज्ञानके निमित्तसे बन्ध होता है इसलिये वह विरुद्ध है । पूर्वबद्ध कर्मोंके सम्बन्धको रखकरही उसकी उत्पत्ति होती है इसलिए वह कर्मजन्य है । वास्तवमें आत्माका स्वभाव नहीं है इसलिये अश्रेय है । और स्वतः ध्यामल है इसलिये वह अशुचि है ।

मूर्छितं यदपस्मारवेगवद्वर्धमानतः ।
क्षणं वा हीयमानत्वात् क्षणं यावददर्शनात् ॥ २८४ ॥

अन्वयार्थः— (क्षणं वर्धमानतः) कभी बढ जानेसे (वा) अथवा (हीयमानत्वात्) कभी घट जानेसे अथवा (क्षण यावत् अदर्शनात्) कभी दिखाई नहीं देनेसे (तत्) वह ऐंद्रियक ज्ञान (अपस्मारवेगवत्) अपस्मार–मृगी रोगके वेगके समान (मूर्च्छितं) मूर्च्छित है ।

भावार्थः— जैसे अपस्मार रोग कभी बढजाता है । कभी घट जाता है तथा कभी विलकुल नहीं रहता है। वैसेही यह इंद्रियजन्य ज्ञान कभी कम, कभी अधिक और कभी २ अत्यन्त कम होजाता है । इसलिए यह मूर्च्छित कहलाता है ।

अत्राणं प्रत्यनीकस्य क्षणं शान्तस्य कर्मणः ।
जीवदवस्थातोऽवश्यमेष्यतः स्वरसस्थितिं ॥ २८५ ॥

अन्वयार्थः— (क्षणं शांतस्य) थोडी देरके लिये उपशांत हुआ (प्रत्यनीकस्य कर्मणः) जो घातक कर्म है उसके (जीवदवस्थातः) जीवित अवस्थामें रहनेसे वह (अवश्य स्वरसस्थितिं) कभी न कभी अवश्यही अपने रसकी स्थितिको (एष्यतः) प्राप्त होगा इसलिए वह इंद्रियजन्य ज्ञान (अत्राण) अशरण है– अशरणरूप है ।

भावार्थः— वह इंद्रियजन्य ज्ञान अपने प्रतिपक्षी कर्मोंके थोडी देरके लिये शान्त हो जानेसे उत्पन्न होता है । इसलिये जब कर्मोंका उदय आजायगा तब वह इंद्रियजन्य ज्ञान अवश्यही विलीयमान होजायगा अत वह अत्राण है अर्थात् क्षयोपशम प्राप्त कर्मोंका उदय होनेपर उसके नाशको कोई रोक नहीं सकता है । इसलिये वह अत्राण है ।

दिङ्मात्रं षट्सु द्रव्येषु मूर्तस्यैवोपलम्भकात् ।
तत्र सूक्ष्मेषु नैव स्यादस्ति स्थूलेषु केषुचित् ॥२८६ ॥
सत्सु ग्राह्येषु तत्रापि नाग्राह्येषु कदाचन ।

तत्रापि विद्यमानेषु नातीतानागतेषु च ॥२८७॥

तत्रापि सान्निधानत्वे सान्निकर्षेषु सत्सु च ।
तत्राप्यवग्रहेहादौ ज्ञानस्यास्तिक्यदर्शनात् ॥ २८८ ॥

समस्तेषु न व्यस्तेषु हेतुभूतेषु सत्स्वपि ।
कदाचिज्जायते ज्ञानमुपर्युपरि शुद्धितः ॥ २८९ ॥

अन्वयार्थः— वह इंद्रियज्ञान (षट्सु द्रव्येषु) छहों द्रव्योंमें (मूर्तस्य एव उपलम्भकात्) मूर्त द्रव्यकोही विषय करता है तथा (तत्र) उसमेंभी (सूक्ष्मेषु नैव स्यात्) सूक्ष्म पुद्गलोंमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है स्थूलोंमेंही होती है और (स्थूलेषु केषुचित् अस्ति) स्थूलोंमेंभी उसकी सब स्थूलोंमें प्रवृत्ति नहीं होती है किंतु किन्हीं स्थूल पुद्गलोंमेंही होती है तथा (तत्र अपि) उन स्थूलोंमेंभी (ग्राह्येषु सत्सु) इंद्रियोंके द्वारा ग्राह्य स्थूल पदार्थोंमेंही उसकी प्रवृत्ति होती है (अग्राह्येषु कदाचन न स्यात्) इंद्रियोंके द्वारा अग्राह्य पदार्थोंमें उसकी प्रवृत्ति कभीभी नहीं होती है और (तत्रापि) उन ग्राह्य पदार्थोंमेंभी (विद्यमानेषु) वर्तमानकालसंबंधी ग्राह्य पदार्थोंमें प्रवृत्ति होती है (अतीतानागतेषु न च भूत तथा भविष्यतकालसंबंधी पदार्थोंमें नहीं होती है और (तत्रापि) उन वर्तमानकालसंबंधी ग्राह्य पदार्थोंमेंभी (सन्निधानत्वे सन्निकर्षेषु सत्सु) सन्निधानपूर्वक पदार्थोंके साथ इंद्रियोंके सन्निकर्षके होनेपरही उस इंद्रियकी प्रवृत्ति होती है । (च) तथा (तत्रापि) सान्निकर्षके होनेपरभी (अवग्रहेहादौ) अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके होनेपरही (ज्ञानस्य) उस ऐंद्रियक ज्ञानका (अस्तित्वदर्शनात्) अस्तित्व देखा जाता है तथा (समस्तेषु हेतुभूतेषु सत्सु अपि) इन समस्त कारणोंके रहनेपरभी (उपरि उपरि शुद्धितः) ऊपर २ में शुद्धिके होनेसे (ज्ञानं) वह इंद्रियजन्य ज्ञान जीवोंको (कदाचित् जायते) कदाचित् होता है सदैव नहीं और (व्यस्तेषु न) असंपूर्ण कारणोंके रहनेपर तो वह बिलकूलही नहीं होता है अत वह इंद्रियज्ञान (दिङ्मात्रं) दिङ्मात्र है ।

भावार्थ— वह इंद्रियज्ञान छह द्रव्योंमेंसे केवल मूर्त द्रव्यकोही विषय करता है इतर द्रव्योंको नहीं । तथा मूर्त द्रव्यमेंभी वह सूक्ष्म पुद्गलोंको विषय नहीं करता है किन्तु केवल स्थूल पुद्गलोंकोही विषय करता है । और स्थूल

पुद्गलोंमेंभी सब स्थूल पुद्गलोंको विषय नहीं करता हैं किंतु किन्हीं २ स्थूल पुद्गलोंकोही विषय करता है। तथा उन स्थूल पुद्गलोंमेंभी इंद्रियोंके द्वारा ग्राह्य पुद्गलोंकोही वह विषय करता है अग्राह्योंको नहीं।

तथा उन ग्राह्य पुद्गलोंमेंभी वर्तमानकालसंबंधी पुद्गलोंकोही विषय करता है, अतीत अनागतकालसंबंधी नहीं। और उन वर्तमानकालसंबंधी पुद्गलोंमेंभी जिनका सन्निधानपूर्वक इंद्रियोंके साथ सन्निकर्ष होता है उनकोही विषय करता है अन्यको नहीं। तथा उनमेंभी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके होनेपरही उनको अवग्रहादिक रूपसे वह विषय करता हैं। और इन सब कारणोंके रहनेपरभी वह इंद्रियज्ञान कदाचित् होता है सदैव नहीं। तथा सामग्रीके पूर्ण न होनेपर तो वह बिलकूल नहीं होता है। इसलिए वह इंद्रियज्ञान दिङ्मात्र है।

तद्यथा मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य वा सतः।
आलापाः सन्त्यसंख्यातास्तत्रानन्ताश्च शक्तयः॥ २९० ॥
तेषामावरणान्युच्चैरालापाच्छक्तितोथवा।
प्रत्येकं सान्ति तावान्ति सन्तानस्यानतिक्रमात् ॥ २९१।
तत्रालापस्य यस्योच्चैर्यावदंशस्य कर्मणः।
क्षायोपशमिकं नाम स्यादवस्थान्तरं स्वतः ॥२९२ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) उक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (सत) यथार्थरूप (मतिज्ञानस्य) मतिज्ञानके (वा) अथवा (श्रुतज्ञानस्य) श्रुतज्ञानके (असंख्याता. आलापाः सन्ति) असंख्यात आलाप होते है (च) और (तत्र) उनमें (अनन्ता शक्तयः ' भवन्ति ') अविभागप्रतिच्छेदरूप अनन्त शक्तियां होती है और (उच्चै) अधिकसे अधिक (तेषां आवरणानि) उनके आवरणभी (आलापात्) आलापकी अपेक्षासे (सन्तानस्य अनतिक्रमात्) सन्तानको उलंघन नहीं करके (प्रत्येक तावंति सन्ति) प्रत्येकके उतनेही होते है=मति श्रुतज्ञानके आलापोंके बराबरही मतिश्रुतज्ञानावरण कर्मके आलाप होते है (तत्र) उनमें (कर्मणः) कर्मके (यस्य आलापस्य) जिस आलापके (उच्चैः) अधिकसे अधिक (यावद्शस्य) जितने अंशोंका (स्वतः अवस्थांतरं) स्वयं अवस्थांतर होता है अर्थात् क्षयोपशम होता है (' तावदशस्य ')

उतनेही अंशोंका विकाश (क्षायोपशमिकं नाम स्यात्) क्षायोपशमिक ज्ञान कहलाता है।

भावार्थः— मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके आलाप अथवा शक्तिकी अपेक्षासे जितने भेद होसकते है उतनेही उनके आवरण करनेवाले ज्ञानावरण कर्मकेभी आलाप व शक्तिकी अपेक्षासे भेद होसकते है। उनमें जिस ज्ञानावरण कर्मके, जिस व जितनी शक्तिका क्षयोपशम होगा उतनेही ज्ञानके अंशोंके विकाशको लिये हुए क्षायोपशमिक ज्ञान होगा।

अपि वीर्यांतरायस्य लब्धिरित्याभिधीयते ।
तदैवास्ति स आलापस्तावदंश शक्तितः ॥ २९३ ॥

अन्वयार्थः— (यदा) जिस समय (यावदंशः सः) जितने अंशोंवाला मतिश्रुतज्ञानावरण सम्बन्धी आलाप हो (तदैव) उसी समय यदि (वीर्यांतरायस्य अपि) वीर्यांतराय कर्मकाभी (शक्तितः तावदंश आलाप अस्ति) शक्तिकी अपेक्षासे उतनेही अंशोंवाला आलाप हो तो (लब्धिः इत्यभिधीयते) इंद्रियज्ञानकी लब्धि कही जाती है।

भावार्थः— यदि जिस समय जितनी शक्तिकी अपेक्षासे जितने अंशोवाला मतिज्ञानावरणका आलाप हो उतनेही अंशोवाला वीर्यान्तरायकार्मा हो, (दोनोंका युगपत् क्षयोपशम हो) तो उससमय इन्द्रियज्ञानकी लब्धि लब्धि इस नामसे कही जा सकती है।

यदि कदाचित् मतिज्ञानावरण तथा वीर्यान्तरायके आलापोंमें भिन्नता रहे तो उसका क्षयोपशम नहीं हो सकता है। इसालिये ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायक आलापोंमें समानताका होनाभी इन्द्रियज्ञानकी लब्धिके लिये आवश्यक है।

इसप्रकार २९० वें पद्यसे लेकर २९६ वें पद्यतक इंद्रियज्ञानकी लब्धिके क्षयोपशमकी कारण सामग्रीका वर्णन करके अब आगे इंद्रियज्ञानके उपयोग की कारण सामग्री का वर्णन करते है।

उपयोगविवक्षायां हेतुरस्यास्ति तद्यथा ।
अस्ति पंचेंद्रियं कर्म कर्मस्यान्मानसं तथा ॥ २९४ ॥

अन्वयार्थः— [अस्य] इंद्रिय ज्ञानके [उपयोगविवक्षायां] उपयोगकी विवक्षामें [हेतुः अस्ति] हेतु है, वे [तद्यथा] इसप्रकार है कि [यथा] जैसे [पञ्चेद्रियं कर्म अस्ति] पंचेंद्रिय नामक नामकर्म

हेतु होता है (तथा) वैसेही (मानसं कर्म स्यात्) मनअंगोपांग नामक नामकर्मभी हेतु होता है ।

भावार्थ — उस इंद्रियज्ञानके उपयोगमे पंचेंद्रिय नामकर्म तथा मन अगोपाग नामकर्मका उदय निमित्त है क्योंकि यदि पचेंद्रिय नामकर्म और मन अंगोपाग नामकर्मका उदय न हो तो वह इंद्रियजन्यज्ञान उपयोगवान नहीं हो सकता है । इसलिये पचेंद्रिय नामकर्म तथा मनअगोमाग नामकर्म उपयोगमें हेतु है ।

दैवात्तद्बन्धमायाति कथंचित्कस्यचित्क्वचित ।
आति तस्योदयस्तावन्न स्यात्संक्रमणादिचेत् ॥ २९५ ॥

अन्वयार्थः— (दैवात्) दैवसे (तत्) वह पचेंद्रिय तथा मनअंगोपांग नामक नामकर्म (कस्यचित्) किसी जीवके (कथचित्) किसी प्रकारसे (क्वचित) कभी (बन्धं आयाति) बन्धको प्राप्त होता है और (चेत्) यदि (संक्रमणादि न स्यात्) उसका संक्रमण आदि नहीं होगया हो (तावत्) तो जीवके (तस्य उदय अस्ति) उस पंचेंद्रिय तथा मानसअंगोपाग नामक नामकर्मका उदय होता है ।

भावार्थः— इंद्रियज्ञानके उपयोगमें कारणभूत उक्त दोनों कर्मोंका बन्धभी सदैव सब जीवोंके नहीं होता है किंतु कदाचित किन्हीं जीवोंको होता है । तथा बन्ध होकरभी किन्हीं जीवोंके उनका संक्रमण होजाता है । इसलिये फिर उनका अस्तित्व न रहनेसे उदय नहीं होसकता है । अतः उन दोनोंका बन्ध होनेपर यदि उनका संक्रमण नहीं होगया हो तो उन दोनों कर्मोंका उदय होता है । और उनका वह उदयही इंद्रियज्ञानमें कारण पडता है ।

अथ तस्योदये हेतुरस्ति हेत्वन्तरं यथा ।
पर्याप्तं कर्म नामेति स्यादवश्यं सहोदयात ॥ २९६ ॥

अन्वयार्थ — (अथ) तथा (तस्योदये) उस नामकर्मके उदयमें (हेत्वंतरं यथा) कारणांतरके समान (पर्याप्तनामकर्म इति हेतुः अस्ति) पर्याप्तनामकर्म यह हेतु होता है क्योंकि (अवश्यं सहोदयात् स्यात्) पर्याप्तनामकर्मके उदयके साथही उन दोनों कर्मोंका उदय होनेसे इंद्रियज्ञानका उपयोग होसकता है ।

भावार्थ — पर्याप्तनामकर्मके उदयके बिना मन देह और इंद्रियोंकी पूर्ति नहीं होती है इसलिए उनके लिये पर्याप्तनामकर्म कारण बताया है । अत अपर्याप्त अवस्था होनेसे इंद्रियज्ञानका उपयोग नहीं होसकता है इसलिए उन

दोनों नामकर्मके उदयके साथ पर्याप्ति नामकर्मका उदयभी इन्द्रियज्ञानके उपयोगमें निमित्त है।

सति तत्रोदये सिद्धाःस्वतो नोकर्मवर्गणाः।
मनो देहेन्द्रियाकारं जायते तन्निमित्ततः॥ २९७॥

अन्वयार्थ — (तत्र उदये सति) उस पर्याप्ति नामकर्मके उदय होनेपर (स्वतः सिद्धा नोकर्म वर्गणाः) स्वयंसिद्ध आहारादि नोकर्म वर्गणाएँ (तन्निमित्ततः) उस पर्याप्तिनामकर्मके उदयके निमित्तसे (मनो देहेन्द्रियाकारं जायते) मन, देह और इन्द्रियोंके आकाररूप होजाती है

भावार्थ.— उस पर्याप्ति नामकर्मके उदय होनेपर जो स्वतः सिद्ध नोकर्म वर्गणाएँ है वे उस पर्याप्ति नामकर्मके उदयके अवलम्बनसे यथायोग्य मन, देह और इंद्रियरूप परिणत हो जाती है। यदि पर्याप्ति नामकर्मका उदय न हो तो उसके विना अपर्याप्ति अवस्थामें नोकर्म वर्गणाओंके रहते हुएभी मन, देह और इन्द्रियोंका आकार पूर्ण नहीं होता है तथा इनके आकारके पूर्ण न होनेसे वे अपूर्ण मन, देह और इंद्रिया उपयोगमेंभी निमित्त नहीं होसकती हैं।

तेषां परिसमाप्तिश्चेज्जायते दैवयोगतः।
लब्धेः स्वार्थोपयोगेषु बाह्य हेतुर्जडेन्द्रियम् ॥२९८॥

अन्वयार्थ — (चेत्) यदि (दैवयोगतः) दैवयोगसे (तेषां) उन मन, शरीर और इंद्रियोंकी (परिसमाप्तिः जायते) परिसमाप्ति–पूर्णता हो जावे तो (जडेन्द्रियं) जडेंद्रिय (लब्धेः स्वार्थोपयोगेषु) लब्धिके स्वार्थोपयोगमें (बाह्य हेतु) बाह्य कारण होसकती है।

भावार्थ — यदि दैवयोगसे–पर्याप्ति नामकर्मके उदयसे उन शरीर मन और इंद्रियोंकी पूर्णता होजाय तो लब्धिके अनुसार उपयोग होनेमे बाह्य जडइंद्रियां कारण होसकती है अन्यथा नहीं।

अस्ति तत्रापि हेतुर्वा प्रकाशो रविदीपयोः।
अन्यदेशस्थसंस्कारः पारंपर्यावलोकनम् ॥ २९९ ॥

अन्वयार्थः— (तत्रापि) उक्त कारण सामग्रीमेंभी (रविदीपयोः प्रकाशः) सूर्य तथा दीपकका प्रकाश (अन्यदेशस्थसंस्कारः) अन्यदेशस्थ संस्कार (वा) और (पारंपर्यावलोकनं) परम्परावलोकनभी (हेतुः अस्ति) कारण है ।

भावार्थः— उपयोगमें पूर्ण जडेंद्रिय भी रवि तथा दीपकादिकके प्रकाशके सद्भावमेंही कारण होसकती है । इसलिए रविदीपकादिका प्रकाश, अन्यदेशस्थ संस्कार और परम्परावलोनभी उसमें कारण है । *

एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सद्भानसंभवात् ।
रूपेणैकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थोपयोगि तत् ॥ ३०० ॥

अन्वयार्थः— (एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु) इन सब हेतुओंके रहनेपर (सद्भानसंभवात्) ठीक प्रतिभास होता है अर्थात् उपयोग होसकता है तथा (एकेन रूपेण हीनेषु) उन कारणोंमेंसे किसी एक कारणके कम रहनेपर (तत् ज्ञानं अर्थोपयोगि न) वह ज्ञान अपने विषयोंमें उपयोगवाला नहीं होसकता है ।

भावार्थ — उपर्युक्त कारणभूत इन सब सामग्रीके सद्भावमेंही उपयोग होसकता है । क्योंकि किसी एक कारणके कम रहनेपर ज्ञान अर्थको विषय करनेमें समर्थ नहीं होसकता है ।

अस्ति तत्र विशेषोऽयं विना बाह्येन हेतुना ।
ज्ञानं नार्थोपयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात् ॥ ३०१ ॥

अन्वयार्थः— (इति) इसप्रकार (तत्र) वहांपर (अयं विशेष अस्ति) यह विशेष है कि (बाह्येन हेतुना विना) बाह्य हेतुके विना (ज्ञानं अर्थोपयोगि न) ज्ञान अपने विषयका ग्रहण नहीं करसकता है किंतु (लब्धिज्ञानस्य दर्शनात्) वह लब्धिज्ञान देखा जाता है अर्थात् वह ज्ञान लब्धिरूप देखा जाता है ।

भावार्थः— इसप्रकार उपर्युक्त कथनसे यह साराश निकलता है कि बाह्य हेतुके विना वह ज्ञान उपयोगयुक्त नहीं होता है किंतु केवल लब्धिरूप रहता है ।

---

* अन्यदेशस्थ सस्कार और परम्परावलोकनका भाव समझमें नहीं आया ।

देशतः सर्वतो घातिस्पर्धकानामिहोदयात्
क्षायोपशमिकावस्था न चेज्ज्ञानं न लब्धिमत् ॥ ३०२ ॥

अन्वयार्थ — (इह) इंद्रियज्ञानमें (चेत्) यदि (देशतः) एकदेशरूपसे (सर्वतः घातिस्पर्द्धकानां उदयात्) सर्वघाति स्पर्द्धकोंका उदय होनेसे (क्षायोपशमिकावस्था न) क्षायोपशमिक अवस्था न होवे तो (ज्ञान उपलब्धिमत् न) वह ज्ञान लब्धियुक्त नहीं होसकता है ।

भावार्थः— उपर्युक्त बाह्य कारणोंके रहते हुएभी यदि एकदेशरूपसे तत्सर्वघातिस्पर्द्धकोंके यथायोग्य उदयसे अर्थात् देशघाति स्पर्द्धकोंके उदयसे और सर्वघाति स्पर्द्धकोंके सदवस्थारूप उपशम तथा उदयाभावी क्षयसे ज्ञानकी क्षायोपशमिक अवस्था नहीं होवे तो ज्ञानको लब्धि नहीं होसकती है ।

ततः प्रकृतर्थमेवैतद्दिङ्मात्रं ज्ञानमैन्द्रियम् ।
तदर्थार्थस्य सर्वस्य देशमात्रस्य दर्शनात् ॥ ३०३ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिए (प्रकृतार्थं एतत् एव) प्रकृत अर्थ यही है कि (ऐन्द्रिय ज्ञानं) इंद्रियजन्य ज्ञान (दिङ्मात्र) दिङ्मात्र है अर्थात् नामात्रके लिए ज्ञान है क्योंकि (सर्वस्य तदर्थार्थस्य) इसके विषयभूत सभी पदार्थका (देशमात्रस्य दर्शनात्) दिङ्मात्ररूपसेही ज्ञान होता है ।

भावार्थ — अत प्रकृत अर्थ सिद्ध हुआकि सम्पूर्ण इंद्रियज्ञान दिङ्मात्र है । क्योंकि उसके विषयका ज्ञान दिङ्मात्ररूपसेही होता है अर्थात् नाममात्रसेही होता है स्पष्ट नहीं होता है ।

खंडितंखण्डशस्तेषामेकैकार्थस्य कर्षणात् ।
प्रत्येकं नियतार्थस्य व्यस्तमात्रे सति क्रमात् ॥ ३०४ ॥

अन्वयार्थः— (तेषां) उन सब विषयोंमेसे (एकैकार्थस्य खण्डशः कर्षणात्) अपने २ विषयभूत एक २ ही अर्थका खण्डशः विषय करनेके कारण वह इंद्रियज्ञान (खण्डित) खण्डरूप है और (क्रमात्) क्रम २ से (व्यस्तमात्रे सति) केवल व्यस्तरूप पदार्थमें (नियतार्थस्य कर्षणात्) नियत विषयको जानता है इसलिए वह इंद्रियज्ञान (प्रत्येक) प्रत्येकरूपभी है ।

भावार्थ — पदार्थमें एक २ अर्थकोही खंडश: जाननेके कारण खंडित है और केवल व्यस्तरूप पदार्थमेंही क्रम २ से, उस ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है इसलिए वह प्रत्येकरूपभी है।

आस्तामित्यादि दोषाणां सन्निपातास्पदं पदम् ।
ऐन्द्रियं ज्ञानमप्यस्ति प्रदेशचलनात्मकम् ॥ ३०५ ॥

निष्क्रियस्यात्मनः काचिद्यावदौदयिकी क्रिया ।
अपि देशपरिस्पन्दो नोदयोपाधिना विना ॥३०६ ॥

अन्वयार्थः— (ऐन्द्रिय ज्ञान) इंद्रियजन्य ज्ञान (इत्यादि दोषाणां) व्याकुलता आदि अनेक दोषोंके (सन्निपातास्पदं पदं) समावेशका स्थान है यह तो (आस्तां) दूर रहो अर्थात यह ज्ञान उपरि उक्त व्याकुलता आदि दोषोंका स्थान है यह तो निश्चितही है किंतु उसके साथ तबतक वह ज्ञान (प्रदेशचलनात्मकं अपि अस्ति) प्रदेशचलनात्मकभी होता है।

(यावत्) जबतक कि (निष्क्रियस्य आत्मनः) निष्क्रिय आत्माकी (काचित्) कोईभी (औदयिकी क्रिया अस्ति) औदयिकी[1] क्रिया होती है तथा वह (देशपरिस्पन्दः अपि) प्रदेशोंका हलनचलनभी (उदयोपाधिना विना) कर्मोदयरूप उपाधिके विना नहीं होता है।

भावार्थः— ऐंद्रियक ज्ञान केवल व्याकुलता आदि उक्त दोषोंका आस्पदही नहीं है किंतु जबतक निष्क्रिय आत्माके कोई न कोई औदयिकी क्रिया रहती है तबतक वह इंद्रियज्ञान प्रदेशचलनात्मकभी रहता है। क्योंकि आत्माके प्रदेशोंका परिस्पंद कर्मोदयरूप उपाधिके विना नहीं होता है।

नासिद्धमुदयोपाधे दुःखत्वं कर्मणः फलात् ।
कर्मणो यत्फलं दुःखं प्रसिद्धं परमागमात् ॥ ३०७ ॥

[1] औदयिकी क्रिया घातिकर्मोंकी कही जाती है अघातियांकी नहीं।

अन्वयार्थः— (कर्मणः फलात्) कर्मका फल होनेसे (उदयोपाधेः दुःखत्वं) उदयरूप उपाधि में दुःखरूपता (असिद्धं न) असिद्ध नहीं है क्योंकि (कर्मणः यत् फलं) कर्मका जो फल है वह (परमागमात्) परमागमसे (दुःखप्रसिद्धं) दुःखरूप प्रसिद्ध ही है।

भावार्थः— तथा उन कर्मोंकी उदयरूप उपाधिमें दुःखपना असिद्ध नहीं है। क्योंकि परमागममें कर्मोंके फलको दुःखरूप कहा है।

बुद्धिपूर्वकदुःखेषु दृष्टान्ताः सन्ति केचन।
नाबुद्धिपूर्वके दुःखे ज्ञानमात्रैकगोचरे ॥ ३०८ ॥

अन्वयार्थः— (बुद्धिपूर्वकदुःखेषु) बुद्धिपूर्वक दुःखों के विषयमें (केचन दृष्टान्ताः सन्ति) कितने हि दृष्टान्त मिलते है किन्तु (ज्ञानमात्रैकगोचरे) केवल अनुभवगम्य (अबुद्धि पूर्वके दुःखे) अबुद्धि पूर्वक होनेवाले दुःखोंके विषयमें कोईभी दृष्टान्त नहीं मिलता है।

भावार्थ — दुःख दो प्रकारका होता है। १ बुद्धिपूर्वक और २ अबुद्धिपूर्वक। उनमेंसे बुद्धिपूर्वक दुःखके द्योतक तो कितने ही दृष्टान्त मिल सकते है जिनकोकि द्वारा बुद्धिपूर्वक दुःखका सद्भाव जाना जासकता है अर्थात् उसका स्वरूप समझा जासकता है। परन्तु अबुद्धिपूर्वक जो दुःख है वह अनुभवगोचर होता है। इस लिए उसके स्वरूपके-सद्भावके बोधक साक्षात् दृष्टान्त नहीं मिलसकते है।

अस्यात्मनो महादुःखं गाढं बद्धस्य कर्मभिः।
मनःपूर्वं कदाचिद्वा शश्वत्सर्वप्रदेशजम् ॥ ३०९ ॥

अन्वयार्थः— (वै) निश्चनयसे (कर्मभिः गाढं बद्धस्य आत्मनः) कर्मोंके द्वारा दृढतासे बंधे हुए आत्माके (शश्वत्) सदैव (सर्वप्रदेशजं) सब प्रदेशोंसे उत्पन्न होनेवाला (महादुःखं अस्ति) अबुद्धिपूर्वक महा दुःख है किंतु (मनःपूर्वं) बुद्धिपूर्वक दुःख (कदाचित्) कभी २ होता है अर्थात् जब पंचेंद्रिय संज्ञी अवस्थाकी प्राप्ति होती है तब वह अनुभवमें आता है इसलिए बुद्धिपूर्वक दुःख कदाचित् होता है।

भावार्थ — कर्मबन्धसे बंधे हुए आत्माके अबुद्धिपूर्वक महादुःख सदैव रहता है। और बुद्धिपूर्वक दुःख कदाचित् होता है।

अस्ति स्वस्यानुमेयत्वादबुद्धिजं दुःखमात्मनः ।
सिद्धत्वात्साधनेनालं वर्जनीयो वृथाश्रमः ॥ ३१० ॥

अन्वयार्थः— (स्वस्य अनुमेयत्वात्) अपने अनुमानगम्य होनेसे (आत्मनः) आत्माके (बुद्धिज दुख अस्ति) बुद्धिपूर्वक दुःख सिद्धही है इसलिए उसके (सिद्धत्वात्) सिद्ध होनेके कारण (साधनेन अलं) फिरसे उसको सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि (वृथाश्रमः वर्जनीयः) व्यर्थ श्रम करना वर्जनीय होता है ।

भावार्थ — बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक दुःखोंमेसे बुद्धिपूर्वक दु ख तो अनुमानगम्य होनेसे आत्माके सिद्धही है । इसलिए उसके सिद्ध करनेके लिए श्रम करना व्यर्थ है किंतु ।

साध्यं तन्निहित दुःखं नाम यावदबुद्धिजम् ।
कार्यानुमानतो हेतुर्वाच्यो वा परमागमात् ॥ ३११ ॥

अन्वयार्थः— ('यत्') जो (परमागमात्) परमागमसे, (निहित यावत अबुद्धिजं दुःखं नाम) छिपाहुवा सम्पूर्ण अबुद्धिजन्य दु.ख है (तत् साध्यं) वह सिद्ध करना चाहिये (वा) तथा (कार्यानुमानत) कार्यानुमानसे (हेतु वाच्य.) उसका साधक हेतु कहना चाहिये ।

भावार्थ — बुद्धिपूर्वक दुःख स्वतः अनुमानगम्य होनेसे सिद्धही है इसलिए ग्रन्थकार उसका निरूपण न करके सर्व साधारणके अगोचर और परमागमसे सिद्ध अबुद्धिपूर्वक होनेवाले महादुःखकी सिद्धि करनेके लिए कार्यानुमानसे कारण की सिद्धिदर्शक हेतुके बतानेकी प्रतिज्ञा करते है ।

अस्ति कार्यानुमानाद्वै कारणानुमितिः क्वचित् ।
दर्शनान्नदपूरस्य देवो वृष्टो यथोपरि ॥ ३१२ ॥

अन्वयार्थः—(वै) निश्चयसे (कार्यानुमानात्) कार्यके अनुमानसे (कारणानुमिति अस्ति) कारण का अनुमान होता है (यथा) जैसेकि (नदपूरदर्शनात्) नदीके प्रवाह को देखनेसे (उपरि क्वचित्

देवः वृष्टः) ऊपरमें कहींपर मेघ वरसा है ऐसा अनुमान होता है ।

भावार्थः— जैसे नदीका पूर उपरमें वृष्टिके हुए विना नहीं आसकता है इसलिये नदीमें पूरके देखनेसे उपर कहींपर वृष्टिका अनुमान किया जाता है । वैसेही सर्वत्र कार्यके दर्शनसे कारणका अनुमान किया जाता है ।

अस्त्यात्मनो गुणः सौख्यं स्वतःसिद्धमनश्वरम् ।
घातिकर्माभिघातत्वादसद्वाऽदृश्यतां गतम् ॥ ३१३ ॥

अन्वयार्थः— (आत्मन) यद्यपि आत्माका (अनश्वर सौख्यं गुणः) अविनाशी सुखगुण (स्वतःसिद्धं अस्ति) स्वतः सिद्ध है परन्तु (घातिकर्माभिघातत्वात्) घातिया कर्मों के द्वारा घाते जानेके कारण वह (असत्वा) असद्रूपके समान (अदृश्यतां गतम्) प्रगट नहीं दिखाई देता है ।

भावार्थ — यद्यपि आत्मामें अविनाशी और स्वतःसिद्ध सुखगुण है । परन्तु सम्पूर्ण घातिया कर्मोंके उदयसे बाधित होनेके कारण उसका दर्शन नहीं होपाता है ।

सुखस्यादर्शनं कार्यलिङ्ग लिङ्गमिवात्र तत् ।
कारणं तद्विपक्षस्य दुःखस्यानुमितिः ॥ ३१४ ॥

अन्वयार्थः—(अत्र)अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धिमें (लिङ्ग इव सुखस्य अदर्शन) लीन अर्थको जतानेवालेके समान सुखका अभाव (कार्य लिङ्ग) कार्यरूप हेतु है और (तत्) वह अबुद्धिजन्य दुःख (कारणं) कारण है अतः सुखादर्शनरूप हेतुसे (तद्विपक्षस्य सत दुःखस्य अनुमितिः) सुखके विपक्षभूत दुखके सद्भावका (अनुमितिः) अनुमान किया जाता है ।

भावार्थः— घातियाकर्मोंके द्वारा जो सुखका अदर्शन हो रहा है वह घातियाकर्मोंके उदयसे होनेवाले अबुद्धिजन्य दुःखका कार्य है । इसलिये सुखके अदर्शनरूप हेतुसे उस सुखके विपक्षभूत अबुद्धिजन्यके दुःखके सद्भावका अनुमान किया जाता है ।

सर्वसंसारिजीवानामास्ति दुःखमबुद्धिजम् ।
हेतोर्नैसर्गिकस्यात्र सुखस्याभावदर्शनात् ॥ ३१५ ॥

अन्वयार्थ — (अत्र) यहांपर (नैसर्गिकस्य सुखस्य अभावदर्शनात्) स्वाभाविक सुखके अभावरूप (हेतोः) हेतुके सद्भावसे (सर्वसंसारीजीवानां अबुद्धिजं दुःखं अस्ति) सब संसारी जीवोंके अबुद्धिपूर्वक दुःखका अनुमान होता है।

भावार्थ — सम्पूर्ण संसारी जीवोंके जो स्वाभाविक सुखका अभाव पाया जाता है उससे अनुमान होता है कि उनके घातिया कर्मोंके उदयके निमित्तसे होनेवाले अबुद्धिपूर्वक दुःखका सद्भाव है। कारणकि यदि उनके अबुद्धिपूर्वक दुःखका सद्भाव नहीं होता तो उनके स्वाभाविक सुखका दर्शन पाया जाना चाहियेथा किन्तु पाया नहीं जाता है। इसलिए उनके अबुद्धिपूर्वक दुःखका सद्भाव सिद्ध होता है।

नासौ हेतुरसिद्धोऽस्ति सिद्धसंदृष्टिदर्शनात्।
व्याप्तेः सद्भावतो नूनमन्यथानुपपत्तितः॥ ३१६ ॥

अन्वयार्थ - (नूनं) निश्चयकरके (सिद्धसंदृष्टिदर्शनात्) वक्ष्यमाण प्रसिद्ध दृष्टान्त के द्वारा अबुद्धिपूर्वक दुःखके सद्भावमें और सुखादर्शनमें (अन्यथानुपपत्तितः व्याप्तेः) अविनाभावसम्बन्धरूप व्याप्तिके (सद्भावतः) सद्भावके पाये जानेसे (असौ हेतुः) यह सुखादर्शनरूप हेतु (असिद्धः न अस्ति) असिद्ध नहीं है।

भावार्थः—उक्त अभिप्रायके पोषक दृष्टांतके मिलजानेसे अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धिके लिये दिया हुआ यह सुखादर्शनरूप हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि अबुद्धिपूर्वक दुःखके सद्भावमें सुखादर्शनकी व्याप्ति है अर्थात् अबुद्धिपूर्वक दुःखके रहनेपरही सच्चे सुखका अदर्शन होता है। तथा अबुद्धिपूर्वक दुःखके अभावमें सुखके अदर्शनका भी अभाव होजाता है। इसप्रकारकी परस्परमें व्याप्ति पाई जाती है।

व्याप्तिर्यथा विचेष्टस्य मूर्छितस्यैव कस्यचित्।
अदृश्यमापि मद्यादिपानमस्त्यत्र कारणम्॥ ३१७ ॥

अस्ति संसारिजीवस्य नूनं दुःखमबुद्धिजम्।
सुखस्यादर्शनं स्वस्य सर्वतः कथमन्यथा॥ ३१८ ॥

अन्वयार्थः— (व्याप्तिः) उन दोनोंमें व्याप्ति इसप्रकार है कि (यथा) जैसे (अत्र) यहांपर (कस्यचित् विचेष्टस्य इव मूर्च्छितस्य) किसी विचेष्टितके समान मूर्च्छित पुरुषके (अदृश्यं अपि) अदृश्यभी (मद्यादिपानं) मद्यादिकका पान (कारणं अस्ति) कारण कहा जाता है वैसेही (संसारिजीवस्य) परपदार्थमें मूर्च्छित संसारी जीवोंके सुखके अदर्शनमेंभी (नून) निश्चयसे (अबुद्धिजं दुख अस्ति) अबुद्धिपूर्वक दुःख कारण है क्योंकि (अन्यथा) यदि ऐसा न होता तो उनके (स्वस्य) आत्माके (सुखस्य) सुखका (सर्वत. अदर्शनं कथं) सर्वथा अदर्शन कैसे होता—क्यों होता ?

भावार्थ — संसारी जीवोंके अबुद्धिपूर्वक दुःखके सद्भाव और सुखके अदर्शनमें जो व्याप्ति है उसे बताते है कि जैसे किसी मदिरापान करनेवालेके मादराके कारण होनेवाली मूर्च्छित अवस्थाके देखनेसे सहजमें यह अनुमान किया जाता है कि इसने मदिरापान किया है। यदि मादिरापान न किया होता तो सर्व साधारणके समान इसकी प्राकृतिक चेष्टामें अन्तर नहीं पाया जाता। किंतु चेष्टामें अन्तर पाया जाता है, इसलिए अनुमान होता है कि इस मूर्च्छित अवस्थका कारण मादिरापान है। वैसेही सम्पूर्ण संसारी जीवोंके स्वाभाविक सुखके अदर्शनके पाये जानेसे अबुद्धिपूर्वक दुःखके सद्भावका अनुमान किया जाता है। क्योंकि यदि उनके अबुद्धिपूर्वक दुःख न होकर केवल बुद्धिपूर्वकही होता तो शारीरिक मानासिक और इंद्रियजन्य दुःखके अभावमें स्वाभाविक सुखका अदर्शनमीं नहीं पाया जाता किंतु पाया जाता है। इसलिए उनके उन सुखादर्शनरूप हेतुसे अबुद्धिपूर्वक दुःखका सद्भाव सिद्ध होता है।

ततोनुमीयते दुःखमस्ति नूनमबुद्धिजम् ।
अवश्यं कर्मबद्धस्य नैरन्तर्योदयादितः ॥ ३१९ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसालिये (नूनं) निश्चयकरके (कर्मबद्धस्य) कर्मबद्ध संसारी जीवके (नैरन्तर्योदयादितः) निरन्तर कर्मके उदय आदिके कारण (अवश्य अबुद्धिजं दुःखं अस्ति) अवश्यही अबुद्धि पूर्वक दुख है ऐसा (अनुमीयते) अनुमान किया जाता है।

भावार्थ — इसालिये कर्मसे बंधे हुये संसारी जिवोंके निरन्तर कर्मोंके उदय उदीरणादिके कारण अवश्यही वह अबुद्धिपूर्वक दुःख पाया जाता है यह सिद्ध होता है।

नाऽवाच्यता यथोक्तस्य दुःखजातस्यसाधने ।
अर्थादबुद्धिमात्रस्य हेतोरौदयिकत्वतः ॥ ३२० ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (अबुद्धिमात्रस्य हेतो. औदयिकत्वतः) संपूर्ण अबुद्धिपूर्वक
दुःखोंका कारण जीवका औदायिक भाव ही है इसलिये (यथोक्तस्य दु.खजातस्यसाधने) उपर्युक्त संपूर्ण अबुद्धि
पूर्वक दुखके सिद्ध करनेमें (अवाच्यता न) अवाच्यता नही है।

भावार्थः— औदायिकभावही उन अबुद्धिपूर्वक सम्पूर्ण दुःखोंका साधक कारण है। इसलिये अबुद्धिपूर्वक
दु.खोंमे अवाच्यता कहना ठीक नहीं है। क्योंकि औदायिक भावोंके द्वारा उनमें वाच्यता सिद्ध होता है।

तद्यथा काश्चिदत्राह नास्ति बद्धस्य तत्सुखम् ।
यत्सुखं स्वात्मनस्तत्त्वं मूर्छितं कर्मभिर्बलात् ॥ ३२१ ॥
अस्त्यनिष्टार्थसंयोगाच्छारीरं दुःखमात्मनः ।
ऐंद्रियं बुद्धिजं नाम प्रसिद्धं जगति स्फुटम् ॥ ३२२ ॥
मनोदेहेंद्रियादिभ्यः पृथग् दुःखं न बुद्धिजम् ।
तद्ग्राहकप्रमाणस्य शून्यत्वात् व्योमपुष्पवत् ॥ ३२३ ॥
साध्ये वाऽबुद्धिजे दुःखे साधनं तत्सुखक्षतिः ।
हेत्वाभासः स व्याप्यत्वासिद्धो व्याप्तेरसंभवात् ॥ ३२४ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र कश्चित् आह) यहांपर कोई शंकाकार पूछता है (तद्यथा) वह इसप्रकार है जैसे
कि (यत् सुखं स्वात्मनः तत्त्वं) जो सुख आत्माका स्वतत्त्व है (तत्सुखं) वह सुख बद्धजीवके (कर्मभिः
बलात् मूर्छितं) कर्मोंके द्वारा मूर्च्छित रहता है इसलिए वह (बद्धस्य नास्ति) बद्ध संसारी जीवके नहीं होता
है किंतु (अनिष्टार्थसंयोगात्) अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे (शारीरं) शारीरिक और (ऐन्द्रियं नाम) इंद्रिय-

जन्य नामक केवल (बुद्धिजं दु खं) बुद्धिजन्य दुःख (आत्मनः अस्ति) बद्ध आत्माके होता है (इति) यह (जगति) संसारमें (स्फुटं प्रसिद्धं) स्पष्टरीति से प्रसिद्धही है और वह (बुद्धिज दु खं) बुद्धिजन्य दुख (मनोदेहेन्द्रियार्दिभ्यः पृथक् न) मन, देह, तथा इंद्रिय आदिसे उत्पन्न होनेवाले दु.खोंसे भिन्न नहीं है कारणकि (व्योमपुष्पवत्) आकाश पुष्पके समान (तद्ग्राहकप्रमाणस्य शून्यत्वात्) इन दुःखोंसे भिन्न दुखके ग्राहक प्रमाणका अभाव है अत (अबुद्धिजे दुःखे साध्ये) अबुद्धिजन्य दुखके सिद्ध करनेके लिए (तत्सुखक्षतिः साधनं न) आत्माके सुखका अभाव हेतु नहीं होसकता है किंतु (व्याप्तेरसंभवात्) उन दोनोंमें व्याप्तिके न बननेके कारण (व्याप्यत्वासिद्धौ) व्याप्तिकी असिद्धिके पाये जानेसे (सः हेत्वाभासः) वह सुखाभासरूप हेतु व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है।

भावार्थः— जो सुख, बद्धजीवोंके होता है वह सुख कर्मोंसे बलपूर्वक मूर्च्छित रहता है इसलिये वह स्वात्माका तत्वभूत वास्तविक सुख नही कहला जा सकता है इसमें तो कोई मत भेदही नहीं है। परन्तु अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले शारीरिक और मनइन्द्रियजन्य बुद्धिजन्य नामक दुःखही ससारीजीवोंके–बद्धजीवोंके होते है यह जगतमें भी प्रसिद्ध है। क्योंकि आकाश कुसुमके समान इन तीनों प्रकारके दुखोंसे भिन्न अबुद्धि पूर्वक दुःखके सिद्ध करनेके लिये ग्राहक प्रमाणही नही है। अतः शारीरिक, ऐन्द्रियक और मानसिक दु.खके अतिरिक्त कोई भिन्न (अबुद्धिजन्य) दुःख नही है।

शकाकारके कथनका सारांश यह है कि केवल मन इन्द्रिय और शरीर सम्बधी दुःखही दु ख है। किन्तु जो जैन आगममें कर्मके उदयमात्र को दुःख माना है वह कोई दुःख नही है। इसलिये ग्रंथकारने जो दुखके अदर्शन रूप हेतुसे मन इन्द्रिय तथा शरीर सम्बधी बुद्धिजन्य दुःखके अतिरीक्तभी दुःखको सिद्ध किया है। वह ठीक नही है। क्यो कि सुखादर्शनरूप हेतु और बुद्धि तथा अबुद्धिपूर्वक दुःखरूप साध्यकी व्याप्ति न रहनेसे सुखादर्शन हेतु समीचीन हेतु नही है किन्तु व्याप्यत्वसिद्ध हेत्वाभास है। अतः अनिष्टार्थ संयोगसे केवल बुद्धिजन्य दु.खही सिद्ध होता है। इससे अतिरिक्त कोई दुःख, दुःख नही सिद्ध होता है।

साध्य और साधनमें व्याप्तिके न मिलनेको व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास कहते है। इस हेत्वाभासका दूसरा नाम व्यभिचारी हेत्वाभासभी है अर्थात हेतुके व्यभिचारिपनेसे–दुफसलापनेसे हेतु व्यभिचारी अथवा व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है जैसे यह गौ है पशुत्व होनेसे यहापर पशुत्व हेतुकी गौकेही साथ व्याप्ति नहीं है किन्तु घोडे

आदिके साथभी है। इसलिये 'पक्षत्व हेतु' हेतु नहीं है किन्तु व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है। वैसेही सुखादर्शनरूप हेतुकी बुद्धिजन्य दु खके साथतो व्याप्ति है परन्तु कर्मोदयजन्य दु खमात्र, बुद्धि, तथा, अबुद्धिजन्यरूप साध्यके साथ व्याप्ति नहीं है। इस लिए साध्य मात्रके साथ व्याप्ति न रखनेसे यह हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है।

नैवं यत्ताद्विपक्षस्य व्याप्तिर्दुःखस्य साधने।
कर्मणस्तद्विपक्षत्वं सिद्धं न्यायात्कुतोऽन्यथा॥ ३२५॥

अन्वयार्थः— (एवं न) शंकाकारका कहना ठीक नहीं है (तत्) क्योंकि (तद्विपक्षस्य दु खस्य) उस आत्मसुखमे विपक्षरूप उन तीनों दुखोंमे भिन्न दुखकेभी–अबुद्धिपूर्वक दुखकेभी (साधने) सिद्ध करनेमें (व्याप्तिः) सुख दर्शनकी व्याप्ति है अर्थात् स्वाभाविक सुखाभावकी बुद्धि तथा अबुद्धिपूर्वक दुखके साथ व्याप्ति है केवल बुद्धिजन्यही दुखके साथ नहीं, कारण कि (अन्यथा) यदि ऐसा न होता तो (कर्मणः) कर्मोंको (तद्विपक्षत्वं) सुखका विपक्षपना (कुतः न्यायात् सिद्ध) किस न्यायसे सिद्ध है।

भावार्थ — शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि अबुद्धिपूर्वक दु खकी सुखाभावके साथ व्याप्ति है अव्याप्ति नहीं है। इसलिये बुद्धि और अबुद्धिपूर्वक दु खके सिद्ध करनेमे सुखाभाव हेतु समीचीन, हेतु है व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास नहीं है। कारण कि यदि सुखादर्शनकी दुःखमात्र के साथ व्याप्ति नहीं होती तो दुःखमात्र के कारणभूत कर्मोंको आत्माके सुखगुणका विपक्षी क्यों कहा जाता है।

विरुद्धधर्मयोरेव वैपक्ष्यं नाऽविरुद्धयोः।
शीतोष्णधर्मयोर्वैरं न तत्क्षारद्रवत्वयोः॥ ३२६॥

अन्वयार्थः— (विरुद्धधर्मयोः एव वैपक्ष्यं) परस्पर विरुद्ध दो धर्मोंमेंही विपरीतता होती है (अविरुद्धयो न) अविरोधी धर्मोंमें नहीं क्योंकि (शीतोष्णधर्मयो वैरं) शीत और उष्ण धर्ममें वैर–विरोध होता है किंतु (तत्) वह वैर–विरोध (क्षारद्रवत्वयोः न) क्षारत्व व द्रवत्वमें नहीं होता है।

भावार्थ — आत्मीय सुख और दुखमात्रके कारणभूत कर्ममें जो परस्पर विपक्षता कही जाती है उससे सिद्ध होता कि कर्मोंके उदयके साथ सुखाभाव की व्याप्ति है। कारण कि परस्पर विरोधियोंमें विपक्षता कही जाती है

अविराधियोंमें नहीं, जैसाकि परस्पर विरोधी शीतत्व तथा उष्णत्वमेंही विपक्षता कही जाती है। क्योंकि ये दोनो धर्म एकत्र नहीं रहसकते है किन्तु क्षारत्व और द्रवत्वमें विपक्षता नहीं कही जाती है क्योंकि समुद्रमें ये दोनो धर्म एकत्र पाये जाते है। अतः सिद्ध होता है कि सुखाभावरूपहेतुसे शारीरिक मानसिक तथा इन्द्रियजन्य दुःखके अतिरिक्त अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धि युक्तियुक्त है अयुक्त नहीं है।

निराकुलं सुखं जीवशक्तिर्द्रव्योपजीविनी।
तद्विरुद्धाकुलत्वं वै शक्तिस्तद्घातिकर्मणः॥ ३२७॥

अन्वयार्थ — (वै) निश्चयसे (निराकुल सुख) निराकुल सुख (द्रव्योपजीविनी) अनुजीवी (जीवशक्तिः) जीवका गुण है और जो (तद्विरुद्धाकुलत्व) उस सुखसे विरुद्ध आकुलता है (तद् घाति कर्मण. शक्तिः) वह उस सुख गुणके घातक घातिया कर्मोंकी शक्ति है।

भावार्थः— निराकुल-स्वाभाविक सुख जीवका एक अनुजीवी गुण है। तथा उस सुखके विपरीत जो आकुलता है वह उस सुखगुणके घातक घातिया कर्मोंकी शक्ति है अर्थात चारों घातिया कर्मोंका उदय आत्माके स्वाभाविक गुणका घातक है। अतःसुखके विपरीत जो जीवमें आकुलता रूपी बुद्धि तथा अबुद्धिपूर्वक दुःख पाया जाता है। वह सब घातिया कर्मोंके उदयका काम है।

असिद्धा न तथा शक्तिः कर्मणः फलदर्शनात्।
अन्यथाऽऽत्मतया शक्ते बाधकं कर्म तत्कथम्॥ ३२८॥

अन्वयार्थः— (कर्मणः फलदर्शनात्) जीवोंमें कर्मोंका फल देखे जानेसे ('कर्मणः' तथा शक्तिः) कर्मोंमें वैसी शक्ति (असिद्धा न) असिद्ध नहीं है क्योंकि (शक्तेः अन्यथाऽऽत्मतया) कर्मोंकी शक्तिके अन्यथापनेसे अर्थात् यदि उन कर्मोंमें सुख गुणके घातनेकी वैसी शक्ति नहीं होती दूसरे प्रकारकी शक्ति होती तो (तत् कर्म) वह कर्म (बाधकं कथं) आत्माका बाधक कैसे हो सकता है।

भावार्थः— यदि कर्मोंके सुख गुणके घातनेरूप फलको देखनेपरभी घातिया कर्मोंमें सुखगुणको घातनेवाले

ली शक्ति न मानीजाय दूसरीही शक्ति मानीजाय तो कर्म आत्माका बाधकही कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात नहीं होसकता है इसलिये कर्मोंमें सुखगुण के घातनेकी शक्ति असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्धही है ।

न (न्या) यात्सिद्धं ततो दुःखं सर्वदेश प्रकम्पवत् ।
आत्मनः कर्मबद्धस्य यावत्कर्मरसोदयात् ॥ ३२९ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिए (कर्मबद्धस्य आत्मनः) कर्मबद्ध आत्माके (यावत्कर्मरसोदयात) जबतक कर्मोंका उदय रहता है ('तावत') तबतक (सर्वदेशप्रकम्पवत) सब प्रदेशोंमें प्रकम्प पैदा करनेवाला (दु ख) दुःख (नयात् सिद्ध) युक्तिसे सिद्ध होता है ।

भावार्थः— इसलिये कर्मबन्धनबद्ध ससारी जीवोंके जबतक कर्मोंका उदय रहता है तबतक सब प्रदेशोंको कपानेवाला बुद्धि तथा अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्ध होता है ।

देशतोस्त्यत्र दृष्टान्तो वारिधिर्वायुना हतः ।
व्याकुलोऽव्याकुलः स्वस्थःस्वाधिकारप्रमत्तवान् ॥ ३३० ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) इस विषयमें (वायुना हतः वारिधिः) वायुके निमित्तसे कम्पित समुद्र (देशतः दृष्टांत अस्ति) एकदेशरूपसे दृष्टांत है क्योंकि वह समुद्रस्वरूपसे (अव्याकुलः स्वस्थ) अव्याकुल और स्वस्थ होकरभी (स्वाधिकारप्रमत्तवान) वायुके निमित्तसे स्वाधिकारमें प्रमत्त होता हुवा (व्याकुलः) व्याकुल देखा जाता है ।

भावार्थः— उक्त कथनका साधक एकदेशीय दृष्टांत यह है कि जैसे यद्यपि समुद्र स्वभावसे निष्कम्प है तथापि वायुसे प्रेरित होकर स्वाधिकारमें प्रमत्त होनेके कारण व्याकुल देखा जाता है वैसेही आत्माभी कर्मरूपी वायुसे बाधित होकर स्वाधिकारमें प्रमत्त होनेके कारण व्याकुल देखा जाता है ।

आशंका ।

न च वाच्यं सुखं शश्वद्विद्यमानमिवास्ति तत् ।
बद्धस्याथाप्यबद्धस्य हेतोस्तच्छक्तिमात्रत. ॥ ३३१ ॥

अन्वयार्थः— (न च वाच्यं) यहांपर ऐसी शंका नहीं करना चाहिये कि (बद्धस्य अथ अबद्धस्य अपि) बद्ध और अबद्धकेभी (तच्छक्तिमात्रत. हेतो.) केवल आत्माका गुण विशेष होनेके कारण (तत् सुखं) वह सुख (शश्वत्) निरतर (विद्यमानं इव अस्ति) विद्यमानके समान है।

भावार्थः— आत्माकी बद्ध और अबद्ध दोनोंही अवस्थाओंमें वह निराकुल सुख आत्माका गुण होनेके कारण सदैव विद्यमान रहता है यह आशका नहीं करना चाहिये।

आगे इसी आशंकामें दोषको बताते हैं।

अत्र दोषावतारस्य युक्तिः प्रागेव दर्शिता।
यथा स्वस्थस्य जीवस्य व्याकुलत्वम् कुतोर्थतः ॥ ३३२ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) उपरि उक्त कथनमें (दोषावतारस्य युक्ति) दोषोंके आनेके विषयमें युक्ति (प्राक् एव दर्शिता) पहलेही प्रदर्शित की जाचुकी है (यथा) जैसे कि यदि (अर्थतः) वास्तवमें (स्वस्थस्य जीवस्य) जीव सदैव स्वस्थ रहता है तो उसके (व्याकुलत्वं कुत) व्याकुलता क्यों उपलब्ध होती है ?

भावार्थः— यदि जीवमें सदैव सुखके रहनेसे अव्याकुलता रहती तो ऊपरके वायुके निमित्तसे व्याकुल समुद्रके दृष्टातसे, कर्मनिमित्त वश स्वाधिकारमें प्रमत्त होनेके कारण, उसमें किसी प्रकारकी व्याकुलताकी उपलब्धि नहीं पाई जाना चाहिये थी किन्तु व्याकुलता पाई जाती है। इसलिये सिद्ध होता कि उसमें सुखगुण सदैव विद्यमान नहीं है किन्तु घातिया कर्मोंके उदयसे ससारी जीवोंके सुख गुणकी दुःखके रूपमे विभावपरिणिति हो रही है।

नचैकतः सुखव्यक्तिरेकतो दुःखमस्ति तत्।
एकस्यैकपदे सिद्धमित्यनेकांतवादिनाम् ॥ ३३३ ॥

अन्वयार्थः— (इति न च) यहभी कहना ठीक नहीं है कि (एकस्य एकपदे) एक आत्माके एकही पदमें (अनेकांतवादिनां सिद्ध) अनेकांत वादियोंके यहां अंगीकृत (एकत सुखव्यक्ति) किसी एक दृष्टिसे सुखकी व्यक्ति और (एकत. तत् दुख अस्ति) किसी एक दृष्टिसे वह दुःखभी रहता है।

भावार्थ— स्याद्वादियोंके यहा एक वस्तुके एकही पदमें परस्पर विरोधी दो धर्मका सद्भाव युक्तिसिद्ध माना

है। इसलिये एकहि आत्माके एकही अवस्थामें किसी दृष्टीसे सुखकी व्यक्ति और किसी दृष्टीसे दुखकी व्यक्ति अबाधित है यहभी नहीं कहना चाहिये

अनेकांतः प्रमाणं स्यादर्थादेकत्र वस्तुनि ।
गुणपर्याययोर्द्वैतात् गुणमुख्यव्यवस्थया ॥ ३३४ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (एकत्र वस्तुनि) एक वस्तुमें (गुणमुख्यव्यवस्थया) गौण और मुख्यकी व्यवस्थासे (गुणपर्याययोः द्वैतात्) गुण तथा पर्यायोंमे द्वैत होनेके कारण (**अनेकांतः प्रमाणं** स्यात्) अनेकांत प्रमाण होता है।

भावार्थ :— अनेकान्त इसलिये प्रमाण होता है की किसी एक की मुख्यरूपसे विवक्षा करनेपर शेषके गौण हो जानेके कारण, एकही पदार्थमें गुण और पर्यायोंका, मुख्य गौण व्यवस्थासे द्वैत रहजाता है।

अभिव्यक्तिस्तु पर्यायरुपा स्यात्सुखदुःखयो ।
तदात्वे तन्न तद्द्वैतं द्वैतं चैतद्द्रव्यतः क्वचित् ॥ ३३५ ॥

अन्वयार्थः— (तु) परन्तु (सुखदुःखयो अभिव्यक्तिः) सुखदुःखकी अभिव्यक्ति (**पर्यायरूपा** अस्ति) पर्यायरूप होती है इसलिये (तदात्वे) उस सुख और दुःखकी अवस्थामें (तत् द्वैत न) वे दोनों युगपत् नहीं रहसकते हैं (तत् द्वैतं चेत्) यदि उन दोनोंका द्वैत युगपत् रहता है तो (क्वचित् द्रव्यतः) कहीं भिन्न दो द्रव्योंमें रहसकता है पर्यायोंमें नहीं।

भावार्थः— सुख व दुःख ये दोनो सुखगुणकी पर्याय है। इसलिये इनमें मुख्य गौण विवक्षाके न रहनेसे किसी अपेक्षासे सुखकी व्यक्ति तथा किसी अपेक्षासे दुःखकी व्यक्ति नहीं कही जासकती है कारण कि सुखदुखकी पर्याय होनेसे जिस समय सुख होगा उस समय दुःख नहीं होगा और जिस समय दुःख होगा उस समय सुख नहीं होती है। इसलिये एकही जीवमें पर्यायकी अपेक्षासे अनेकान्त द्वारा दोनोंका युगपत सद्भाव अपेक्षाभेदसे सिद्ध नहीं होसकता है।

बहु प्रलपनेनालं साध्यं सिद्धं प्रमाणतः ।
सिद्धं जैनागमाच्चापि स्वतः सिद्धो यथाक्रमः ॥ ३३६ ॥

अन्वयार्थः— (बहुप्रलपनेन अलं) बहुत कथनसे क्या प्रयोजन है क्योंकि (प्रमाणतः साध्यं सिद्धं) प्रमाणसे अबुद्धिपूर्वक दुःखरूप साध्य सिद्ध होता है (च) और (जैनागमात् अपि सिद्धं) जैनागमसे भी सिद्ध होता है तथा आगमप्रमाणको प्रमाणीक सिद्ध करनेके लिए प्रमाणांतरकी आवश्यकता नहीं है कारण कि (आगम स्वतः सिद्धः) आगम स्वतः सिद्ध है (यथा) जैसेकि आगे खुलासा करते हैं।

भावार्थ.— सुखादर्शन हेतुपूर्वक अनुमानसे तथा आगमप्रमाणसे जीवके जबतक कर्मोंका उदय रहता है तबतक निरंतर उसके अबुद्धिपूर्वक दुःखभी रहता है यह सिद्ध होता है। इसलिये अब इसविषयमें अधिक कहनेकी जरूरत नहीं है। उस अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धिके लिये इतनाही कथन पर्याप्त है और आगम स्वतः सिद्ध होता है।

क्योंकि।

एतत्सर्वज्ञवचनमाज्ञामात्रं तदागमः।
यावत्कर्मफलं दुःखं पच्यमानं रसोन्मुखम् ॥ ३३७ ॥

अन्वयार्थः— (पच्यमानं) उदयागत (रसोन्मुखं यावत् कर्मफलं दुःखं) रस देनेके उन्मुख सम्पूर्ण कर्मोंका फल दुःख कहलाता है (एतत्) यह जो (आज्ञामात्रं सर्वज्ञवचनं) केवल आज्ञारूप सर्वज्ञका वचन है (तत् आगमः) वही आगम है।

भावार्थ— अपने अपने फलदानके उन्मुख उदयावस्थाको प्राप्त जो किसीभी कर्म का फल है वह सब दुःख है। यह सर्वज्ञ देवकी आज्ञाही आगम प्रमाण है।

अभिज्ञानं यदत्रैतज्जीवाः कार्मणकायकाः।
आ एकाक्षादापंचाक्षा अप्यन्ये दुःखिनोमताः ॥ ३३८ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र यत् अभिज्ञानं तत् एतत्) इस विषयमें जो अभिज्ञान है—खुलासा है वह इसप्रकार है कि (आएकाक्षात् आपञ्चाक्षाः) एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्रियतक सम्पूर्ण (कार्मणकायकाः) कार्मण कायवाले (जीवाः) जीव और (अन्ये अपि) औदारिकमिश्र आदि शरीर धारक जितनेभी जीव हैं वे सब (दुःखिनः मताः) दुखी माने गये हैं।

भावार्थ.— वह आगम प्रमाण यह है कि आगममें कार्माण काययाले एकेन्द्रियादि पांचोंही प्रकारके देहधारी और सैनी ये दुःखी माने गये हैं।

तत्राभिव्यनुजको भावो वाच्यं दुःखमनीहितम् ।
घातिकर्मोदयाघाताज्जीवदेशवधात्मकम् ॥ ३३९ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उसमें (भाव) रागादिक भाव (अभिव्यजकः) व्यंजक तथा (घातिकर्मोदयाघातात्) घातिया कर्मोंके उदयके आघातसे (जीवदेशवधात्मकं) जीवोंके प्रदेशोंके वधस्वरूप (अनीहितं) अनिच्छित (दुःख वाच्यं) दुःख वाच्य कहाजाता है।

भावार्थः— यहापर घातिया कर्मोंके उदयसे जो जीवके प्रत्येक प्रदेशमें आघात हो रहा है वहापर अनिच्छित दुःख वाच्य और रागादिकभाव उसके वाचक है अर्थात् जीवके प्रत्येक प्रदेशमें घातिया कर्मोंके उदयसे होने वाले अन्तर्दाहके निवारणार्थ जो इष्ट संयोग तथा अनिष्ट वियोगके लिये बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक रागद्वेषादि भाव होते है। उससेही घातियाकर्मोंके उदयसे होनेवाला जीवके प्रत्येक प्रदेशमे व्याकुलतामय बुद्धि तथा अबुद्धिपूर्वक दुःख कहा जाता है।

अन्यथा न गतिः साध्वी दोषाणां सन्निपाततः
संज्ञिनां दुःखमेवैकं दुःखं नाऽसंज्ञिनामिति ॥ ३४० ॥

अन्वयार्थः— (अन्यथा) अन्यथा-यदि कर्मोंके उदयमात्रको दुख नहीं माना जायगा किन्तु शारीरिक ऐंद्रियक और मानसिक दुखही केवल दुख माना जायगा तो (दोषाणां सन्निपाततः) नाना प्रकारके दोषोंके आनेसे (साध्वी गति न) वह कथन युक्तियुक्त नहीं ठहरेगा क्योंकि वैसा माननेसे (एकं संज्ञिनां एव दुखं) केवल सज्ञी जीवोंकोही दुःख सिद्ध होगा (असंज्ञिनानां दुःख न इति) किंतु असज्ञी जीवोंको दुख सिद्ध नहीं होगा।

भावार्थः— जैसाकी ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि केवल शरीर मन ओर इन्द्रिय सम्बधी बुद्धिपूर्वक होनेवाला दुःखही दुःख नहीं है किन्तु कर्ममात्रका उदय दुःख है। यदि ऐसा न माना जाय तो वे तीनों दुख केवल

संज्ञी जीवोंकेही पाए जाते है इसलिये केवल सज्ञियोंके ही दुःख सिद्ध होगा असंज्ञियोंके नहीं । क्योंकि असैनियोंके मनके अभावमें उन दुःखोंका अनुभव नहीं होता है । इसलिये असैनियोंके बिलकुलही दुःख सिद्ध नहीं होगा ।

महच्चेत्संज्ञिनां दुःखं स्वल्पं चाऽसंज्ञिनां न वा।
यतो नीचपदादुच्चैः पदं श्रेयस्तथामतम् ॥ ३४१ ॥

अन्वयार्थ.—(चेत्) यदि कदाचित यह कहा जाय कि (संज्ञिनां महत् दुख) संज्ञी जीवोंको बहुत दुख होता है (च) और (असंज्ञिनां स्वल्पं) असज्ञी जीवोंको बहुत थोडा दुःख होता है तो यह कहनाभी (न वा) ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (नीचपदात्) नीचपदसे (तथा उच्चैः पदं) वैसा अर्थात् संज्ञी कैसा ऊंचापद (श्रेय. मतं) श्रेष्ठ माना जाता है ।

भावार्थः— यदि कदाचित यह कहाजाय कि केवल संज्ञीजीवोंकेही दुःखमाननेमे क्या हानि है । क्योंकि संज्ञी जीवोंकी अपेक्षासे असंज्ञीजीवोंके बहुतकम दुःख होता है तो यह कहनाभी ठीक नहीं है । कारण कि असैनीसे सैनीका पद उचा माना है इसलिये सैनीसे असैनीके कम दुःख सिद्ध नहीं हो सकता है किन्तु उल्टा असैनीकोही अधिक दुःख सिद्ध होता है ।

न च वाच्यं शरीरं च स्पर्शनादीन्द्रियाणि च ।
सन्ति सुक्ष्मेषु जीवेषु तत्फलं दुःखमाङ्गिनाम् ॥ ३४२ ॥

अन्वयार्थः— ('इति' न च वाच्यं) यहभी नहीं कहना चाहिये कि (सुक्ष्मेषु जीवेषु) सूक्ष्म एकेंद्रियादि जीवोंमें (शरीरं) शरीर (च) और (स्पर्शनादीन्द्रियाणि च) स्पर्शनादिक इंद्रियांभी (सन्ति) होती है इसलिए (अङ्गिनां) उन प्राणियोंकोभी (तत्फलं दुःखं) कर्मोंके फलरूप दुःख शरीर तथा इंद्रियोंके निमित्तसे मिलता है ।

१ सूक्ष्मपदभी मन रहितपनेके कारण सैनीसे शेष जीवोंका वाचक है ।

भावार्थः— उक्त दोषके निराकरण करनेकेलिये यदि एकेन्द्रियादि जीवोंकेभी, शरीर और इन्द्रियोंके होनेसे संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंकी तरह, शरीर व इन्द्रियोंके निमित्तसे दुःख कहाजायगा तो वहभी ठीक नहीं है ।

क्योंकि

> अव्याप्तिः कार्मणावस्थावस्थितेषु तथा सति ।
> देहेन्द्रियादिनोकर्मशून्यस्य तस्य दर्शनात् ॥ ३४३ ॥

अन्वयार्थः— क्योंकि (तथा सति) वैसा माननेपर (कार्मणावस्थावस्थितेषु) विग्रहगतिमें कार्माणकाययोग युक्त प्राणियोंमें (अव्याप्ति) अव्याप्ति दोष आता है क्योंकि (तस्य देहेन्द्रियादिनोकर्मशून्यस्य दर्शनात्) उस अवस्थामें वह जीव देह, इंद्रिय आदि नोकर्मवर्गणाओंसे रहित देखा जाता है ।

भावार्थः— यदि एकेन्द्रियादि जीवोंकेभी केवल शरीर और इन्द्रियोंके निमित्तसे दुःख माना जायगा तो इस कथनमें अव्याप्ति नामका दोष आता है । क्योंकि कार्माणकाययोगकी अवस्थामें शरीर और इन्द्रियोंका निर्माण करनेवाली आहारादि नोकर्म वर्गणायें नहीं रहती है । इसलिये वहांपर औदारिक शरीर तथा इन्द्रियोंके न रहनेसे उन जीवोंमें दुःख सिद्ध नहीं होगा । अत अव्याप्ति दोषके आनेसे उक्त कथन ठीक नहीं है ।

> अस्ति चेत्कार्मणो देहस्तत्र कर्मकदम्बकः ।
> दुःखं तद्धेतुरित्यस्तु सिद्धं दुःखमनीहितम् ॥ ३४४ ॥
> अपि सिद्धं सुखं नाम यदनाकुललक्षणम् ।
> सिद्धत्वादपि नोकर्मविप्रमुक्तो चिदात्मनः ॥ ३४५ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उस कार्माणकाययोगकी अवस्थामें (कर्मकदम्बकः कार्माणदेहः अस्ति) कर्मसमूहरूप कार्माण शरीर होता है और (तद्धेतुः दुःखं) उस कर्मरूपी शरीरके निमित्तसे उनके दुःख होता है (इति चेत्) यदि ऐसा कहा जायतो फिर (अनीहितं दुःखं सिद्धं अस्तु) अनिच्छित वह कर्मोदयमात्र अबुद्धिपूर्वक दुख सिद्ध होजाता है तथा वही मानलेना चाहिये ।

(अपि) तथा कर्मोदयमात्रको दुख सिद्ध होजानेसे (यत्) जो (अनाकुललक्षणं सुखं नाम) अना-

कुलता लक्षणस्वरूप सुख है ('तदपि' सिद्ध) वहभी सिद्ध होजाता है कारण कि वह सुख (चिदात्मन) चेतनात्माके (नोकर्मविप्रमुक्तौ अपि) कर्मोंके समान नोकर्मोंकेभी अभाव होनेपर (सिद्धत्वात्) सिद्ध होता है ।

भावार्थ — विग्रहगतिमें कर्माण शरीरके निमित्तसे दुःख माननेपर कर्मोंके उदयमात्रकोही दुःखपना सिद्ध होता है । और कर्मोंके उदय मात्रको दुःखपना सिद्ध होनेसे उसके अभावमें अनाकुलतामय जो वास्तविक आत्मीय सुख है उसकी सिद्धि होजाती है कारण कि आगममें उस स्वाभाविक सुखकी व्यक्ति (प्रगटपणा) कर्मोंके समान नोकर्मोंकेभी छूटनेपर मानी है इसलिये जबतक किसीभी कर्मका उदय रहता है तबतक दुःख तथा जब कर्म व नोकर्म मात्रका अभाव होजाता है तब आत्माको सच्चा सुख प्राप्त होता है ।

ननु देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धः परमात्मनि ।
तदभावे सुखं ज्ञानं सिद्धिमुन्नीयते कथम् ॥ ३४६ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि यदि (**परमात्मनि देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धः**) परमात्मामें देह और इंद्रियोंका अभाव प्रसिद्ध है तो फिर परमात्माके (**तदभावे**) शरीर तथा इंद्रियोंके अभावमें (**सुखं ज्ञान**) सुख और ज्ञान (**कथं सिद्ध उन्नीयते**) कैसे कहे जासकते हैं ।

भावार्थः— शंकाकार का कहना है कि यदि परमात्माके शरीर और इन्द्रियोंका अभाव है । तो परमात्माके शरीर तथा इन्द्रियोंके विना ज्ञान और सुख कैसा सिद्ध होसकेंगे ?

न यद्यतःप्रमाणं स्यात साधन ज्ञानसौख्ययोः ।
अत्यक्षस्याशरीरस्य हेतोः सिद्धस्य साधनम् ॥ ३४७ ॥

अन्वयार्थः (**तत् न**) उक्त कथन ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**अत्यक्षस्य अशरीरस्य**) इंद्रियोंसे तथा शरीरसे विमुक्त (**सिद्धस्य**) सिद्ध परमात्माके (**हेतोः**) हेतुपूर्वक (**ज्ञानसौख्ययोः साधने**) ज्ञान और सुखकी सिद्धिके लिए (**प्रमाणं साधनं स्यात्**) प्रमाणीक साधन मौजूद हैं जैसे कि आगें ग्रन्थकार स्वयं बताते है।

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि आगेके पद्यसे ग्रन्थकारने इंद्रिय और शरीरसे

रहित परमात्माके अतींद्रिय ज्ञानको और सुखको प्रमाणपूर्वक सिद्ध किया है।

आस्ति शुद्धं सुखं ज्ञानं सर्वतः कस्यचिद्यथा ।
देशतोऽप्यस्मदादीनां स्वादुमात्रं बत द्वयोः ॥ ३४८ ॥

अन्वयार्थः—(यथा) जैसे (कस्यचित्) किसी जीवके (सर्वतः) सर्वथा (शुद्धं सुखं ज्ञान) शुद्ध सुख और ज्ञान (अस्ति) होनेचाहिये क्योंकि (बत) खेद है कि (अस्मददीनां अपि) हमलोगोंकेभी (द्वयोः) उन शुद्ध सुख तथा ज्ञानका (देशतः) एकदेशरूपसे (स्वादुमात्रं) अनुभवमात्रही पायाजाता है

भावार्थः— हमलोगोंमें किसी २को अर्थात जो सम्यग्दृष्टि है उनको शुद्ध सुख और ज्ञानका केवल स्वाद पाया जाता है। इसलिये अनुमान किया जाता है कि किसी न किसीके उनकी पूर्णता होनी चाहिये। क्योंकि जिसमें तरतम भाव पाया जाता है उसकी कहीं न कहींपर पूर्णता अवश्य होती है यहांपर खेदवाचक बत शब्दका यह प्रयोजन है कि कर्मोंके उदयकी परवशता वश शुद्धसुख और ज्ञानका स्वादमात्रभी सबको नहीं हो सकता है किन्तु केवल सम्यग्दृष्टियोंको होता है।

ज्ञानानन्दौ चितोधर्मौ नित्यौ द्रव्योपजीविनौ ।
देहेन्द्रियाद्यभावेऽपि नाभावस्तद्वयोरिति ॥ ३४९ ॥

अन्वयार्थः— (चितः) आत्माके (ज्ञानानन्दौ) ज्ञान और सुख (नित्यौ द्रव्योपजीविनौ धर्मौ) नित्य तथा द्रव्यके अनुजीवी गुण है (इति) इसलिये (देहेन्द्रियाद्यभावे अपि) परमात्माके देह और इंद्रिय आदिका अभाव होनेपरभी (तत् द्वयोः अभावः न) उसके उन दोनोंका अभाव नहीं कहाजासकता है।

भावार्थः— ज्ञान और सुख आत्माके अनुजीवी गुण है। अतः परमात्माके देह तथा इन्द्रियोंका अभाव होनेपरभी उन दोनोंका अभाव नहीं कहा जा सकता है।

सिद्धं धर्मत्वमानन्दज्ञानयोर्गुणलक्षणात् ।
यतस्तत्राप्यवस्थायां किंचिद्देहेन्द्रियं विना ॥ ३५० ॥

अन्वयार्थ— (**यतः**) क्योंकि (**तत्र अवस्थायां अपि**) उस सिद्ध अवस्थामेंभी (**किंचित् देहेन्द्रियं विना**) किसीभी देह और इंद्रियोंके निमित्तके विना ज्ञान व सुख पाये जाते है (' **ततः** ') इसलिए (**आनन्द ज्ञानयोः**) आनन्द तथा ज्ञानमें (**गुणलक्षणात्**) गुणका लक्षण घटित होनेसे उनमें (**धर्मत्वं सिद्धं**) गुणपना सिद्ध होता है ।

भावार्थः— सिद्धअवस्थामेंभी किसी शरीर तथा इन्द्रियके सद्भावके विनाही ज्ञान और सुखमें गुणका लक्षण घटजाता है । इसलिये उन दोनोंमें गुणपना असिद्ध नहीं है किंतु सिद्धही है ।

मतिज्ञानादिवेलायामात्मोपादानकारणम् ।
देहेन्द्रियास्तदर्थाश्च बाह्यं हेतुरहेतुवत् ॥ ३५१ ॥

अन्वयार्थः— (**मतिज्ञानादिवेलायां**) मतिज्ञानादिके उत्पन्न होनेके समय (**आत्मा उपादानकारणं**) आत्मा उपादानकारण है और (**देहेन्द्रियाः**) देह इंद्रिय (**च**) तथा (**तदर्थाः**) उन इंद्रियोंके विषय भूत पदार्थ (**बाह्य हेतु**) केवल बाह्य हेतु है अत वे (**अहेतुवत्**) अहेतुके बराबर है ।

भावार्थः— तथा इन्द्रियज्ञानके होतेसमय इन्द्रिया केवल बाह्य हेतु मानी जाती है उपादान कारण नहीं । क्योंकि उपादान कारण तो आत्माही होता है । इसलिये वास्तवमें इन्द्रियज्ञानमें इन्द्रिया अहेतुके ही समान है । कारण कि मृतअवस्थामें इंद्रियोंके रहते हुयेभी इंद्रियज्ञान नहीं होता है ।

संसारे वा विमुक्तौ वा जीवो ज्ञानादिलक्षणः ।
स्वयमात्मा भवत्येष ज्ञानं वा सौख्यमेव वा ॥३५२ ॥

अन्वयार्थः— (**जीवः**) जीव (**संसारे वा विप्रमुक्तौ वा**) संसार तथा मोक्ष दोनोंही अवस्थाओंमें (**ज्ञानादिलक्षणः**) ज्ञानादिक स्वरूपवालाही होता है अत (**एष आत्मा एव**) यह आत्माही (**स्वयं**) स्वयं (**ज्ञानं वा सौख्यं वा**) ज्ञान अथवा सुखमय (**भवति**) होता है ।

भावार्थ :— जीव ससार अथवा मोक्ष दोनोंही अवस्थाओंमें अपने ज्ञान आदि लक्षणोंसे युक्त रहता है अपने लक्षणसे कभीभी च्युत नहीं होता है इसलिये आत्माही स्वयं ज्ञान और सुख रूप है ऐसा समझना चाहिये ।

स्पर्शादीन् प्राप्य जीवश्च स्वयं ज्ञानं सुखं च तत् ।
अर्थाः स्पर्शादयस्तत्र किं करिष्यन्ति ते जडाः ॥ ३५३ ॥

अन्वयार्थः— मति ज्ञानदिक के समय (जीवश्च) जीवभी (स्पर्शादीन् प्राप्य) स्पर्शादि विषयोंको विषय करके (स्वयं तत् ज्ञानं च सुखं) स्वयं उस ज्ञान और सुखमय होजाता है अतः (तत्र) आत्माके उस ज्ञान तथा सुखमें (ते जडाः स्पर्शादयः अर्थाः) वे अचेतन स्पर्शादिक अर्थ विचारे (किं करिष्यन्ति) क्या कर सकते हैं ?

भावार्थः— इन्द्रिय ज्ञानके होते समय वास्तवमें आत्माही स्पर्शादि विषयोंको प्राप्त करके स्वयं ज्ञान और सुखमय होजाता है इसलिये उस विषयमें-ज्ञानोत्पत्तिमें विचारे अचेतन स्पर्शादि क्या कर सकते है ? अर्थात स्पर्शादि विषय इन्द्रियज्ञानमें केवल अवलम्बन मात्र है इसलिये वे ज्ञानके उत्पादक कारण नहीं हो सकते है।

अर्थाः स्पर्शादयः स्वैरं ज्ञानमुत्पादयन्ति चेत् ।
घटादौ ज्ञानशून्ये च तत्किं नोत्पादयन्ति ते ॥३५४ ॥

अन्वयार्थः— (चेत्) यदि (स्पर्शादयः अर्थाः) स्पर्शादिक विषय (स्वैरं) स्वतंत्र, बिना आत्माके (ज्ञानं) ज्ञान (उत्पादयन्ति) उत्पन्न करते होते तो (ते) वे स्पर्शादिक (ज्ञानशून्ये घटादौ च) ज्ञानशून्य घटादिकमेंभी (तत्) वह ज्ञान (किं न उत्पादयन्ति) क्यों उत्पन्न नहीं करते है ।

भावार्थः— यदि स्पर्शादिक विषय ज्ञानके उत्पादक है तो वे अचेतन घटादिकमें ज्ञानको उत्पन्न क्यों नहीं करते है ?

अथ चेच्चेतने द्रव्ये ज्ञानस्योत्पादकाः क्वचित् ।
चेतनत्वात्स्वयं तस्य किं तत्रोत्पादयन्ति वा ॥ ३५५ ॥

अन्वयार्थः— (अथचेत्) और यदि यह कहा जाय कि (चेतने द्रव्ये) चेतन द्रव्यमें (क्वचित्) कहींपर ये स्पर्शादिक (ज्ञानस्य उत्पादकाः) ज्ञानको उत्पन्न करते है तो (तस्य) उस आत्माके (स्वयं चेतनत्वात्) स्वयं चेतन होनेके कारण (तत्र) उस चेतन आत्मा में वे स्पर्शादिक (किं वा उत्पादयन्ति) क्या उत्पन्न

करते है अर्थात् कुछ नहीं।

भावार्थ.— यदि कहा जाय कि स्पर्शादिक चेतन द्रव्यमें ज्ञानके उत्पादक होते है अचेतनमें नहीं। इसलिये घटादिकमें ज्ञान उत्पन्न नहीं करते है तो चेतन आत्मा तो स्वयं ज्ञानात्मक है इसलिए उसमें उन्होंने ज्ञानका उत्पादन क्या किया है अर्थात् कुछ नहीं।

ततः सिद्धं शरीरस्य पंचाक्षाणां तदर्थसात्।
अस्त्यकिंचित्करत्वं तच्चितो ज्ञानं सुखंप्रति॥ ३५६॥

अन्वयार्थ — (ततः सिद्धं) इसलिये सिद्ध होता है कि (चितः) आत्माके (तत् ज्ञानं सुखं प्रति) उस इन्द्रियजन्य ज्ञान और सुखके प्रति (शरीरस्य) शरीरको (पंचाक्षाणां) पांचोंहि इन्द्रियोंको तथा तदर्थ सात) उन इन्द्रियोंके विपयोंको (अकिन्चित्करत्वं अस्ति) अकिन्चित्कारित्व है।

भावार्थः— उक्त कथनसे सिद्ध होता है कि आत्माके इद्रिजजन्य ज्ञानके और सुखके प्रति शरीर, इद्रिय तथा उनके विपय अनुत्पादक होनेसे अकिंचित्कारी है।

शंका।

ननु देहेन्द्रियार्थेषु सत्सु ज्ञानं सुखं नृणाम्।
असत्सु न सुखं ज्ञानं तदकिंचित्करं कथम्॥ ३५७॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (नृणां) मनुष्यों को (देहेन्द्रियार्थेषु सत्सु) देह इन्द्रिय और अर्थोंके रहने परही (ज्ञानं सुखं) ज्ञान तथा सुख होते है और (असत्सु) उन देहादिकके नहीं रहनेपर (सुखं ज्ञानं न) सुख तथा ज्ञान नहीं होते हैं इसलिये (तत्) वे देहादिक (अकिन्चित्करं कथ) ज्ञान व सुखके प्रति अकिन्चित्कर कैसे हो सकते हैं।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि ज्ञान और सुख ये देह, इंद्रिय तथा उनके अर्थोंके रहनेपरही होते है अन्यथा नहीं। इसलिए देहादिक, ज्ञान तथा सुखकेप्रति अकिंचित्कारी क्यों कहे जाते हैं?

समाधान।

नैवं यतोन्वयापेक्षे व्यंजके हेतुदर्शनात्।
कार्याभिव्यंजकः कोपि साधनं न विनान्वयम् ॥ ३५८ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) उक्त कथन ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (व्यंजके अन्वयापेक्षे 'सति' हेतु दर्शनात्) व्यंजक, अन्वयकी-द्रव्यकी अपेक्षा रखनेपरही साधक हेतु हो सकता है कारण कि (कोऽपि कार्याभिव्यंजकः) कोईभी कार्यका अभिव्यंजक-द्योतक (अन्वयं विना साधनं न) अन्वयकी-द्रव्यकी अपेक्षाके विना साधक हेतु-व्यंजक हेतु नहीं हो सकता है।

भावार्थः— आत्माके ज्ञान और सुख अभिव्यञ्ज है। तथा शरीरादिक अभिव्यञ्जक है। कोईभी अभिव्यंजक अपने अभिव्यंजका अपने २ द्रव्यके अन्वयकी अपेक्षा रखकरकेही अभिव्यंजक हो सकता है अन्यथा नहीं इसलिए आत्माके अनुजीवी गुण होनेसे ज्ञान और सुखमें जो आत्माका अन्वय पाया जाता है उस अन्वयका उलंघन नही करकेही शरीरादिक आत्मामें ज्ञान सुखके द्योतक होसकते है। अन्यथा नहीं।

दृष्टान्तोऽगुरुगन्धस्य व्यञ्जकः पावको भवेत्।
न स्यादिनाऽगुरुद्रव्यं गन्धस्तत्पावकस्य सः ॥ ३५९ ॥
तथा देहेंद्रियं चार्थाः सन्त्यभिव्यंजकाः क्वचित्।
ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य न स्वयं चित्सुखात्मकाः ॥ ३६० ॥

अन्वयार्थः— (दृष्टान्तः) उक्त कथनका साधक दृष्टान्त यह है कि जैसे यद्यपि (पावकः) अग्नि (अगुरुगन्धस्य व्यन्जकः भवेत्) अगुरु द्रव्यके गन्धकी व्यंजक होती है परन्तु (अगुरु द्रव्यं विना) अगुरु द्रव्यके विना (स गन्धः) वह गन्ध (तत्पावकस्य न स्यात्) वास्तवमें उस अग्निका नहीं हो सकता है (तथा) वैसेही यद्यपि (देहेन्द्रियं च अर्थाः) देह इन्द्रिय और पदार्थ (क्वचित्) कहींपर (ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य) ज्ञान तथा सुखके (अभिव्यजका सन्ति) अभिव्यंजक होते हैं परन्तु वे (स्वयं) स्वय (चित्सुखात्मकाः न) ज्ञान और सुख स्वरूप नहीं हो जाते है।

भावार्थ.— जैसे अग्नि अगुरु द्रव्यके गन्धकी व्यंजक होनेसे स्वयं गन्धस्वरूप नहीं होजाता है वैसेही देह

इन्द्रियादिक सुख और ज्ञानके अभिव्यंजक होनेसे स्वय ज्ञान तथा सुखस्वरूप नहीं होजाते है।

नाप्युपादानशून्येपि स्यादाभिव्यंजकात्सुखम् ।
ज्ञानं वा तत्र सर्वत्र हेतुशून्यानुषङ्गतः ॥ ३६१ ॥

अन्वयार्थ.— (अपि) तथा (उपादानशून्ये) उपादानके विना (अभिव्यंजकात् अपि) केवल अभिव्यंजकसेंही (सुख वा ज्ञानं न स्यात्) सुख और ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि (तत्र सति) वैसा माननेपर अर्थात् उपादानके विना केवल अभिव्यंजकसे सुख या ज्ञानकी उत्पत्तिको माननेसे (सर्वत्र हेतु शून्यानुषङ्गतः) सर्वत्र उपादान कारणके विनाही कार्यकी उत्पत्तिका प्रसग आवेगा।

भावार्थः— यदि ज्ञानसुखके उपादानकारणभूत आत्मासे ज्ञान व सुखकी सिद्धि न मानकर केवल ज्ञानसुखके अभिव्यंजक शरीर तथा इद्रियादिकसेही ज्ञान व सुखकी सिद्धि मानी जायगी तो उपादन कारणके विनाही सर्वत्र केवल अभिव्यंजकसेंही कार्यकी उत्पत्तिका प्रसंग आवगा।

ततः सिद्धं गुणो ज्ञानं सौख्यं जीवस्य वा पुनः ।
संसारे वा प्रमुक्तौ वा गुणानामनतिक्रमात् ॥ ३६२ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिये (संसारे वा विप्रमुक्तौ गुणानां अनतिक्रमात्) संसार तथा मोक्ष दोनोंही अवस्थाओंमें गुणोंको उलङ्घन न करनेसे (ज्ञान पुनः सौख्यं वा गुणः जीवस्य सिद्ध) ज्ञान और सुख ये दोनोंही गुण जीवके सिद्ध होते है।

भावार्थ — इसलिए ज्ञान तथा सुख ये दोनों संसार और मोक्ष दोनोंही अवस्थाओंमें गुणके लक्षणानुसार जीवके गुण सिद्ध होते है।

किंच सावरणं ज्ञानं सुखं संसारपर्यये ।
तन्निरावरणं मुक्तौ ज्ञानं वा सुखमात्मनः ॥ ३६३ ॥

अन्वयार्थः— (किं च) तथा (आत्मनः) आत्माकी (संसारपर्यये) संसार अवस्थामे (साधा-

रणं ज्ञान सुखं) साधारण ज्ञान और सुख होता है तथा (मुक्तौ) मुक्त अवस्थामें (निवारणं तत् ज्ञाणं वा सुखं) शुद्ध वह ज्ञान और सुख होता है।

भावार्थः— तथा इतना विशेष है कि संसार अवस्थामें आत्माके साधारण ज्ञान और सुख होता है। तथा मुक्त अवस्थामें शुद्ध ज्ञान व सुख होता है।

कर्मणां विप्रमुक्तौ तु नूनं नात्मगुणक्षतिः।
प्रत्युतातीव नैर्मल्यं पङ्कापाये जलादिवत् ॥ ३६४ ॥

अन्वयार्थ — (कर्मणां विप्रमुक्तौ तु) कर्मोंका चय हो जानेपर (नूनं आत्मगुणक्षतिः न) निश्चयसे आत्माके गुणोंका नाश नहीं होता है (प्रत्युत) किन्तु उल.ी (पङ्कापाये) कीचडका अभाव हो जानेसे (जलादिवत्) जलादिककी तरह आत्मामें (अतीव नैर्मल्यं) अत्यन्त निर्मलता प्रगट हो जाती है।

भावार्थः— कर्मोंका क्षय होनेपर आत्माके गुणोंका नाश नहीं होता है किंतु जिसप्रकार पंकके अभावमें जलमें अत्यन्त निर्मलता प्रगट होती है उसी प्रकार कर्मपंकके अभावमें आत्मामे अत्यन्त निर्मलता प्रगट होती है।

अस्ति कर्ममलापाये विकारक्षतिरात्मनः।
विकारः कर्मजो भावः कादाचित्कः सपर्ययः ॥३६५ ॥

अन्वयार्थः— (कर्ममलापाये) कर्ममलका नाश होजानेपर (आत्मनः) आत्माके (विकारक्षतिः अस्ति) विकारोंका नाश हो जाता है क्यों कि (सः विकारः) वह विकार (कादाचित्कः) आनित्य (पर्ययः) पर्यायरूप और (कर्मजः भावः) कर्मजन्य भाव है।

भावार्थः— कर्मजन्य विकार कदाचित्क और पर्यायरूप है। इसलिए मुक्तअवस्थामें कर्मरूपी मलका नाश होजानेपर आत्माके विकारोंका अवश्यही नाश हो जाता है। क्योंकि वे विकार गुण व द्रव्य नहीं है किन्तु कादाचित्क पर्यायरूप है। अतः मुक्त अवस्थामें उनका अभाव मानना युक्तियुक्त है।

नष्टे चाशुद्धपर्याये मा भूद्भ्रान्तिर्गुणव्यये ।
ज्ञानानन्दत्वमस्योच्चैर्नित्यत्वात्परमात्मनि ॥ ३६६ ॥

अन्वयार्थ — (च) तथा (अशुद्धपर्याये नष्टे) अशुद्ध पर्यायके नष्ट होनेपर (गुणव्यये) ज्ञानादिक गुणोंके नाश होनेके विषयमें (भ्रान्तिः माभूत) भ्रम नहीं करना चाहिये क्यों कि (अस्य नित्यत्वात्) गुण नित्य होते हैं इसलिये (परमात्मनि) परमात्मामें (उच्चैः) भलेप्रकार (ज्ञानानन्दत्वं) ज्ञान और आनन्दपना पाया जाता है ।

भावार्थ— अशुद्धपर्यायोंके नाश होनेसे उन ज्ञान और सुखके नाशकी आशंका नहीं करना चाहिये । क्योंकि ज्ञान तथा सुख गुण होनेसे नित्य है, अशुद्ध पर्यायोंके समान अनित्य नहीं है । इसलिए उनका कभीभी नाश नहीं होसकता है अतः परमात्माके शरीरादिकक विनाभी भलेप्रकार ज्ञान और आनन्दपना सिद्ध होता है ।

दृषदादिमलापाये यथा पावकयोगतः ।
पीतत्वादिगुणाभावो न स्यात्कार्तस्वरोस्ति चेत् ॥ ३६७ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (चेत् कार्तस्वरः) यदि सुवर्ण हो तो (पावकयोगतः) अग्निके संयोगसे (दृषदादिमलापाये) पत्थर आदि मलके नाश होनेपर (पीतत्वादिगुणाभावः न स्यात्) उसके पीतत्व आदि गुणोंका अभाव--नाश नहीं हो सकता है ।

भावार्थः— जैसे सुवर्णको अग्निके द्वारा तपाये जानेपरभी मलके नाश होनेसे उसके पीतत्व, गुरुत्व आदि गुणोंका नाश नहीं होता है । वैसेही आत्माको ध्यानाग्निके द्वारा तपाये जानेपर अशुद्ध पर्यायेक नाश होनेसे उसके ज्ञानादिक गुणोंका अभाव नहीं होता है ।

एकविंशतिदुःखानां मोक्षो निर्मोक्षलक्षणः ।
इत्येके तदसज्जीवगुणानां शून्यसाधनात् ॥ ३६८ ॥

अन्वयार्थः— (एक विंशतिदुःखानां निर्मोक्षलक्षण मोक्षः) इक्कीस प्रकारके दुःखोंका निर्मोक्ष–सर्वथा अभावही मोक्ष है (इति एके) ऐसा कोई मानते है किन्तु (तत् असत्) उनका यह मानना ठीक नहीं है

क्योंकि (जीवगुणानां शून्यसाधनात्) जीवके गुणोंका नाश माननेसे जीवकेभी अभावका प्रसङ्ग आवेगा ।

भावार्थ :— नैयायिकोंके यहां सुखके समान दुखभी एक गुण माना है । तथा उसके इक्कीस प्रकार है । उन इक्कीसोंही प्रकारके दु खोंसे छूटनेका नाम मोक्ष है । अर्थात मोक्षमें दुःखनामके गुणके सम्पूर्ण प्रकारोंका अभाव हो जाता है ऐसा नैयायिक मानते है । परन्तु दुखको गुण मानकर मुक्त अवस्थामें उसका अभाव मानना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि गुणोंके नाश होनेपर गुणी (द्रव्य) केभी नाशका प्रसंग आता है । इसलिए एकविंशतिदुःखक्षय मोक्षका लक्षण ठीक नहीं है ।

न स्यान्निजगुणव्यक्तिरात्मनो दुःखसाधनम् ।
सुखस्य मूलतो नाशादतिदुःखानुषंगतः ॥ ३६९ ॥

अन्वयार्थः— (**आत्मनः**) आत्माके (**निजगुणव्यक्तिः**) निजगुणोंका विकाश (**दुःखसाधन न स्यात्**) दु खका कारण नहीं हो सकता है क्योंकि (**सुखस्य**) सुखका (**मूलतः नाशात्**) मूलसे नाश होजानेसे (**अतिदुखानुषंगतः**) आत्माके अत्यन्त दु.खका प्रसङ्ग आवेगा ।

भावार्थः— मुक्त अवस्थामें आत्माके सुखगुणका पूर्ण विकाश होता है यदि उस विकाशको, शरीरादिकके अभावके कारण सुखाभाव कहोगे तो उस सुखाभावसे आत्माके अत्यन्त दु खका प्रसग आवेगा । इसलिए मुक्तअवस्थामें शरीरादिकका अभाव होनेपरभी निजगुणके विकासको सुखका अभाव कहना ठीक नहीं है अर्थात् शरीर, इंद्रिय और मनका अभाव होनाही निजगुणका विकाश है । इसलिए शरीरादिकके अभावमें सुखाभाव सिद्ध नहीं होसकता है ।

निश्चितं ज्ञानरूपस्य सुखरूपस्य वा पुनः ।
देहेंद्रियैर्विनापि स्तो ज्ञानानन्दौ परात्मनः ॥ ३७० ॥

अन्वयार्थः— इसलिये (**ज्ञानरूपस्य**) ज्ञानरुपस्य (**पुनः**) औ (**सुखरूपस्य वा**) सुखस्वरुपभी (**परात्मनः**) मुक्त जीवके (**देहेन्द्रियैः विना अपि**) देह इन्द्रियादिकके विनाभी (**निश्चितं**) निश्चय रूपसे (**ज्ञाननन्दौ स्तः**) ज्ञान और सुख होते हैं ।

भावार्थः— इसलिये ज्ञानरूप तथा सुखरूप परमात्माके, देह इंद्रिय और मनके विनाभी ज्ञान व आनंद निश्चित

रूपसे सिद्ध होते हैं।

इत्येवं ज्ञाततत्त्वोसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक्।
वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत ॥ ३७१ ॥

अन्वयार्थः— (इति एव) इसप्रकार (ज्ञाततत्वः) तत्वोंको जाननेवाला (निजात्मदृक्) स्वात्मदर्शी (असौसम्यग्दृष्टिः) यह सम्यग्दृष्टी जीव (वैषयिके सुखे) इन्द्रियजन्य सुख और (ज्ञाने) ज्ञानमें (रागद्वेषौ) राग तथा द्वेषका (परित्यजेत) परित्याग करे।

भावार्थः— इसप्रकार आत्मीक ज्ञान और सुखके रहस्यको जाननेवाला आत्मदर्शी सम्यग्दृष्टी जीव इंद्रिययजन्य सुख तथा ज्ञानमें रागद्वेष नहीं करता है।

ननूलेखः किमेतावानास्ति किंवा परोप्यतः।
लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्षणेनांचितः पुमान् ॥ ३७२ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (कि एतावान् उल्लेख किंवा अतः परः अपि अस्ति) क्या सम्यग्दृष्टी के विषयमें इतनाही उल्लेख है अथवा इससेभी अधिक कुछ है अर्थात् सम्यग्दृष्टीका क्या इतनाही स्वरूप है अथवा औरभी कुछ है कि (येन लक्षणेन) जिस स्वरूपके द्वारा (अञ्चितः पुमान्) युक्त जीव (सद्दृष्टिः लक्ष्यते) सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

भावार्थ— शंकाकारका कहना है कि सम्यग्दृष्टी जीव इंद्रियजन्य ज्ञान और सुखमें रागद्वेष नहीं करता है इतनाही क्या सम्यग्दृष्टिका लक्षण है अथवा औरभी कोई लक्षण है कि जिनके द्वारा लक्षित जीव सम्यग्दृष्टि कहलाता है

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यै (श्च) संलक्ष्यते सुदृक् ॥ ३७३ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यग्दृगात्मन) सम्यग्दृष्टि जीवके (अपराणि लक्ष्माणि अपि सन्ति) दूसरे लक्षणभी है कि (सम्यक्त्वेन अविनाभूतैः यैः च) सम्यक्त्वके आविनाभावी जिन लक्षणोंके द्वारा

(सुदृक्) सम्यग्दृष्टीजीव (संलक्ष्यते) लक्षित होता है।

भावार्थः— इंद्रियजन्य विषयोंमें रागद्वेष नहीं करनेके साथ २ सम्यग्दृष्टि जीवके औरभी लक्षण है। तथा वे सब सम्यग्दर्शनके अविनाभावी है अतः उनके द्वाराभी सम्यग्दृष्टी जाना जाता है।

उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः ।
नादेयं कर्म सर्वं च (स्वं) तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ॥ ३७४ ॥

अन्वयार्थः— (**यथा**) जैसे (**दृगात्मनः**) सम्यग्दृष्टिको (**उक्तं आक्ष्यं सुखं ज्ञान**) उक्त इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञान (**अनादेयं**) आदेय नहीं होते हैं (**तद्वत्**) वैसेही (**दृष्टोपलब्धितः**) आत्मप्रत्यक्ष होनेके कारण (**सर्वं कर्म च**) सम्पूर्ण कर्मभी (**आदेयं न**) आदेय नहीं होते है।

भावार्थः— जैसें सम्यग्दृष्टीजीवको इंद्रियजन्य सुख, ज्ञान व भोगोपभोग आदि क्रियायें अनादेय है वैसेही उसको कर्ममात्रभी अनादेय है चाहे वह महाप्रशस्त तीर्थंकरनामकर्मभी क्यों न हो।

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् ।
गोचरं स्वावधिस्वान्तःपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥ ३७५ ॥

अन्वयार्थः— (**सम्यक्त्वं**) सम्यक्त्व (**वस्तुतः**) वास्तवमें (**सूक्ष्मं**) सूक्ष्म है और (**केवलज्ञानगोचरं**) केवलज्ञानके गोचर है (**वा**) तथा (**अवधिस्वान्तः पर्ययज्ञानयोः द्वयो**) अवधि और मनःपर्यय इन दोनोंके (**गोचरं**) गोचर है।

भावार्थ— सम्यग्दर्शन आत्माका अतींद्रिय गुण है। इसलिए वह वास्तवमें सूक्ष्म है। तथा केवलज्ञान और सुअवधि व मनःपर्यय ज्ञानके गोचर है।

न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञान(श्रुतविज्ञान)द्वयोर्मनाक् ।
नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ॥ ३७६ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र**) उन पांचों ज्ञानोंमेंसे (**मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोः**) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन

दोनों ज्ञानोंके तो वह सम्यक्त्व (मनाक् गोचरं न) बिलकुल गोचर नहीं है तथा (अनुपलब्धितः) देशावधिके द्वारा उसकी उपलब्धि नहीं होसकती है इसलिए वह (देशावधेः अपि विषयः न) देशावधिकाभी विषय नहीं है।

भावार्थः— पांचों ज्ञानोंमेंसे मति और श्रुतज्ञान अत्यन्त परोक्ष है। इंद्रियगोचर पदार्थोंकाही विषय करनेवाले हैं इसलिए उनके द्वारा सम्यक्त्व बिलकुल नहीं जाना जासकता है। तथा यद्यपि देशावधिका विषय अतींद्रिय है परन्तु सम्यक्त्वको विषय करनेके योग्य नहीं होता है इसलिए वह सम्यक्त्व उसके द्वाराभी नहीं जाना जासकता है। किंतु फलबलात् सिद्ध होता है कि परमावधि, सर्वावधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानके द्वाराही वह सम्यक्त्व जाना जाता है।

अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित् सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्।
तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादुरूपमनादितः ॥ ३७७ ॥

अन्वयार्थः— यद्यपि (**सम्यक्त्वं निर्विकल्पकं**) सम्यक्त्व निर्विकल्पक है और वह (**आत्मनः कश्चित् गुण अस्ति**) आत्माका एक विशेष गुण है परन्तु (**तत्**) वह (**अनादितः**) अनादि कालसे (**दृङ्मोहोदयात्**) दर्शन मोहनीयके उदयसे (**मिथ्यास्वादुरूपं**) मिथ्यात्व युक्त हो रहा है।

भावार्थ :— सम्यक्त्व आत्माका एक निर्विकल्प गुण है। और वह अनादिकालसे मिथ्यात्वके उदयसे विपरीत रुपसे परिणत होरहा है।

दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥ ३७८ ॥

अन्वयार्थः— (**दैवात्**) दैवयोगसे (**कालादिसंलब्धौ**) कालादिक लब्धियोंकी प्राप्ति होनेपर (**भवार्णवे प्रत्यासन्ने**) संसारसागरके निकट होनेपर (**वा**) अथवा (**भव्यभावविपाकात्**) भव्यताके विपाक होनेसे (**जीवः**) जीव (**सम्यक्त्वं अश्नुते**) सम्यक्त्वको प्राप्त करता है।

भावार्थ — दैववश संसारके आसन्न होनेपर, कालादिक लब्धियोंकी प्राप्ति होनेपर अथवा भव्यत्व नामा गुणके विपाकसे जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है।

भव्यत्व आत्माका एक गुण है । संसारअवस्थामें ज्ञानादिक गुणके साथ उसका अभेद होनेसे एकार्थसम्बन्धके कारण अर्थात् आत्माकी अशुद्धतासे उसमेंभी अशुद्ध परिणमन होता है । किंतु जब संसारसागर निकट रहजाता है अथवा कालादि लब्धियोंकी प्राप्ति होजाती है तब जीवके उस भव्यत्व गुणके परिणमनमें एक प्रकारकी विशेषता आती है कि जिसके कारण जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है । इतर शास्त्रोंमें पंच लब्धियोंकोही सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें कारण बताया है । परन्तु यहांपर ग्रंथकारने भव्यत्वके विपाककोभी कारण बताया है । तत्वार्थसूत्रमेंभी 'औपशमिकादि भव्यत्वाना च' इस सूत्रसे यही द्योतित होता है कि भव्यभाव यद्यपि पारिणामिक है परन्तु उसके अशुद्धपरिणमनका मुक्त अवस्थामें अभाव होजाता है । इसलिए भव्यभावका विपाकभी एक कारण है ।

प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत् ।
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ॥ ३७९ ॥

अन्वयार्थः— उक्त कारण सामग्रीके मिलतेही (**प्रयत्न अन्तरेण अपि**) प्रयत्नके विनाभी (**गुणश्रेण्यनतिक्रमात्**) गुणश्रेणी निर्जराके अनुसार (**अन्तर्मुहूर्तमात्रं च**) केवल अन्तर्मुहूर्त कालमेंही (**दृङ्मोहोपशम. भवेत्**) दर्शनमोहनीयका उपशम होजाता है ।

भावार्थः— उक्त काललब्धि आदि निमित्तोंके मिलतेही विना किसी प्रयत्नके गुणश्रेणी निर्जरापूर्वक अर्थात् करणलब्धिके प्राप्त होजानेसे अन्तर्मुहूर्तमेंही दर्शनमोहनीयका उपशम होजाता है ।

सारांश यह है कि सबसे पहले उपशम सम्यक्त्व होता है इसके द्योतन करनेके लिए 'दृंग्मोहोपशम' पद दिया है । तथा अधःकरणादि करणलब्धिपूर्वकही सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है इसके द्योतनके लिए 'गुणश्रेण्यनतिक्रमात्' पद दिया है । और करणलब्धिके कालको सूचित करनेकेलिए 'अन्तर्मुहूर्तमात्रं' पद दिया है । ऊपरके पद्यके 'कालादि लब्धौ' इस पदवर्ती आदि शब्दसे क्षयोपशम, विशुद्धि और देशना लब्धिका ग्रहण होता है । 'प्रत्यासन्ने भवार्णवे' इस पदसे प्रायोग्य लब्धिका बोध होता है । तथा 'भव्यभावविपाकात्' इस पदसे सम्पूर्ण लब्धियोंमें आत्माके भव्यभावका विपाक कारण है और पाचोंही लब्धियां कर्मोंकी अपेक्षासे कारण है ऐसा द्योतित होता है ।

इसप्रकार प्रसिद्ध पांच लब्धियोंके मिलनेपर भव्यभाव विपाकसे, दर्शनमोहके उपशम होनेसे, सम्यक्त्वकी उत्पत्ति

होती है।

अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा।
पुंसोवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके [कैः] ॥ ३८० ॥

अन्वयार्थः— (दृङ्मोहोपशमात्) दर्शनमोहनीयके उपशमसे (पुस) जीवकी (अवस्थान्तराकारं) अवस्थाविशेष (उपशमसम्यक्त्वं अस्ति) उपशम सम्यक्त्व कहलाता है किन्तु (चिद्विकल्पके) चिदाकार रूपमें (आकारं न) आकार सम्यक्त्व नहीं कहलाता है (यथा) जैसाकि आगे खुलासा किया जाता है।

भावार्थः— दर्शनमोहके उपशमसे होनेवाली आत्माकी अवस्थाविशेषकोही उपशमसम्यक्त्व कहते हैं किंतु चेतनाके आकारमें होनेवाली किसी प्रकारकी विशेषताको सम्यक्त्व नहीं कहते है अर्थात् चेतना गुणकी अवस्था सम्यक्त्व नहीं है किन्तु सम्यक्त्व एक निर्विकल्पक गुण है उसकी औपशमिक आदि अवस्थाको सम्यक्त्व कहते हैं।

सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्।
सत्तारूपं परिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥ ३८१ ॥

अन्वयार्थ— (सामान्यात् वा विशेषात् वा) सामान्य और विशेष दोनोंही अपेक्षासे (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व (निर्विकल्पकं) निर्विकल्पक (सत्तारूपं) सत्तारूप है और (पर) केवल (चितः प्रदेशेषु परिणामि) आत्माके प्रदेशोंमें परिणमन करनेवाला है।

भावार्थः— सम्यक्त्व आत्माका निराकार गुण होनेसे सामान्य तथा विशेष दोनोंही रूपसे निर्विकल्प सत्-रूप है। और गुण होनेके कारण अपनी आत्माके प्रदेशोंमें सदैव परिणमनशील है।

तत्रोलेखस्तमोनाशे तमोऽरेरिव रश्मिभिः।
दिशः प्रसात्ति[प्रसाद]मासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥ ३८२ ॥

दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव सः।
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥ ३८३ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र उल्लेखः**) उसके विषयमें यह उलेख है कि (**तमोऽरे रश्मिभिः**) सूर्यकिरणोंके द्वारा (**तमोनाशे इव**) अन्धकारके नाश होनेपर जैसे (**दिशः**) दिशाएँ (**सर्वतः**) चारों ओरसे (**विमलाशयाः**) निर्मल होकर (**प्रसत्तिं आसेदुः**) प्रसन्नताको प्राप्त होती है वैसेही (**दृङ्मोहोपशमे**) दर्शनमोहनीयके उपशम होनेपर (**सम्यग्दृष्टेः**) सम्यग्दृष्टिकाभी (**सः एव उल्लेखः**) यही उलेख है (**यत्**) क्योंकि दर्शनमोहनका उपशम होनेपर (**सर्वदेशेषु**) आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें (**त्रिधा बन्धापहारि शुद्धत्वं**) तीनो प्रकारके बन्धको नाश करनेवाली शुद्धता उत्पन्न होती है ।

भावार्थ.— जैसे सूर्यके उदय होनेपर सम्पूर्ण दिशाएँ प्रसन्न होजाती है वैसेही दर्शनमोहके उपशमसे होनेवाले सम्यक्त्वके उदय होनेपर आत्मामेंभी प्रसन्नता (निर्मलता) उत्पन्न होजाती है । क्योंकि सम्यग्दर्शनके होनेपर द्रव्य, भाव और नोकर्म बन्धको नाश करनेवाली शुद्धता प्रगट होजाती है ।

यथा वा मद्यधत्तूरपाकस्यास्तंगतस्य वै ।
उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्छितः ॥ ३८४ ॥

अन्वयार्थः— (**वा**) अथवा सम्यग्दृष्टीके स्वरूपको जतानेके लिए (**अस्तंगतस्य मद्यधत्तूरपाकस्य**) उतरे हुए शराब या धतूरेके नशेका दृष्टांत (**वै उल्लेखः**) ठीक दृष्टांत है, क्योंकि (**यथा**) जैसे (**मूर्च्छितः जन्तुः**) मद्यादिके द्वारा मूर्च्छित प्राणी (**अमूर्च्छितः 'सन्'**) अमूर्छित होकर (**उल्लाघः स्यात्**) प्रसन्न देखा जाता है ।

दृङ्मोहस्योदयान्मूर्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः ।
प्रशान्ते त्वस्य मूर्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥ ३८५ ॥

अन्वयार्थः— (**तथा**) वैसेही यद्यपि संसारी जीवके (**दृङ्मोहस्य उदयात्**) दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले (**मूर्च्छावैचित्यं**) मूर्च्छाजनित अज्ञान (**वा**) और (**भ्रमः**) भ्रम ये दोनों पाये जाते है (**तु**) परन्तु (**अस्य प्रशांते**) इस दर्शनमोहनीयके उपशान्त होजानेपर (**मूर्च्छायाः नाशात्**) उस मूर्च्छाके नाश होजानेसे (**जीवः निरामयः**) जीव मिथ्यात्वादि रूपी रोगसे मुक्त होकर प्रसन्न होजाता है ।

भावार्थ.— जैसे जिससमय मद्य व धतूरेका असर नष्ट होजाता है उससमय जीवमें प्रसन्नता होती है वैसेही दर्शनमोहके उदयसे उत्पन्न होनेवाली मूर्च्छाके कारण संसारी जीवोंके जो अज्ञान तथा भ्रम पाया जाता है, उस अज्ञान व भ्रमके दूर होजानेपर जीवमें परम प्रसन्नता उत्पन्न होती है। इसलिए मद्यादिकके नशेके उतारका दृष्टान्त, दर्शनमोहके उपशमसे होनेवाले उपशम सम्यक्त्वके लिए ठीक है।

श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः ।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥ ३८६ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यग्दृगात्मनः) सम्यग्दृष्टिजीवके (श्रद्धानादिगुणाः) श्रद्धान आदि गुण-लक्षण (बाह्यं लक्ष्म) बाह्यलक्षण है (इति) इसलिए (तत् एव सम्यक्त्वं न) केवल उन श्रद्धानादिककोही सम्यक्त्व नहीं कहसकते है क्योंकि वे श्रद्धानादिक वास्तवमें (ज्ञानस्य पर्ययाः सन्ति) ज्ञानके पर्याय हैं।

भावार्थ — शास्त्रान्तरोंमें जो सम्यग्दृष्टीके तत्वार्थश्रद्धान आदिक लक्षण कहे है वे सब सम्यग्दर्शनके बाह्य लक्षण है अन्तरंग लक्षण नहीं है। इसलिए तत्वार्थश्रद्धानादिककोही सम्यक्त्व नहीं कहसकते है। क्योंकि तत्वार्थश्रद्धा-नादिक वास्तवमें सम्यक्त्वगुणके अविनाभावी ज्ञानकी पर्याय है साक्षात् सम्यक्त्व नहीं।

अपि चात्मानुभूतिश्च (स्तु) ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात् ।
अर्थात् ज्ञानं न सम्यक्त्वमास्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥ ३८७ ॥

अन्वयार्थः— (अपि) तथा (आत्मानुभूतिः च) आत्मानुभूति ज्ञानचेतनाभी (ज्ञानं) ज्ञानही है, सम्यक्त्व नहीं हैं, क्योंकि वह (ज्ञानस्य पर्ययात्) ज्ञानकी पर्याय है इसलिए (अर्थात् ज्ञान) वास्तवमें वह स्वानुभूतिरूपी ज्ञान, ज्ञानही कहलाता हैं (सम्यक्त्वं न) सम्यक्त्व नहीं अर्थात् स्वानुभूतिरूप ज्ञानभी सम्यक्त्वका लक्षण नहीं कहा जासकता है और (चेत्) यदि सम्यक्त्वका लक्षणभी कहा जाय तो (बाह्यलक्षणं अस्ति) बाह्य लक्षण कहलाता है अंतरंग नहीं।

भावार्थः— स्वानुभूतिभी सम्यक्त्वका अन्तरंग लक्षण नहीं होसकता है केवल बाह्यलक्षण होसकता है। क्योंकि स्वानुभूतिभी ज्ञानकी पर्याय है। इसलिए वास्तवमें ज्ञान, ज्ञानही कहलाता है सम्यक्त्व नहीं।

यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः ।
वाङ्मनःकायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥ ३८८ ॥

अन्वयार्थः— (यथा हि) जैसे (दुर्लक्ष्यः उल्लाघः) दुर्लक्ष्य स्वास्थ्यलाभजन्य हर्ष (वाङ्मनःकायचेष्टानां) वचन, मन, और शरीरकी क्रियाओंके (उत्साहादिगुणात्मकैः) उत्साहादिक गुणरूप (स्थूललक्षणैः) स्थूल लक्षणोंके द्वारा (लक्ष्यते) लक्षित किया जाता है वैसेही वास्तवमें सूक्ष्म, दुर्लक्ष्य तथा निर्विकल्प सम्यक्त्वभी अपने अविनाभावी श्रद्धानादि बाह्य चिन्होंके द्वारा लक्षित किया जाता है ।

भावार्थ— जैसे रोगादिकके अभावसे होनेवाली नीरोगता मनवचनकायकी क्रियाओंके उत्साह आदिरूप स्थूललक्षणोंके द्वारा जानी जाती है वैसेही दुर्लक्ष्य निर्विकल्प सम्यक्त्वभी अपने अविनाभावी श्रद्धानादि बाह्य गुणोंके द्वारा जाना जाता है ।

शंका ।

नन्वात्मानुभवः साक्षात् सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम् ।
सर्वतः सर्वकालेऽस्य मिथ्यादृष्टेरसंभवात् ॥ ३८९ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (साक्षात आत्मानुभवः) साक्षात आत्माका अनुभव (वस्तुतः) वास्तवमें (स्वयं सम्यक्त्वं) स्वयं सम्यक्त्वस्वरूप है क्योंकि वह साक्षात् स्वानुभव (सर्वतः) किसीभी क्षेत्र या (सर्वकाले) किसीभी कालमें (अस्य मिथ्यादृष्टेः असंभवात्) इस मिथ्यादृष्टिको प्राप्त नहीं होसकता है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि स्वानुभूति मिथ्यादृष्टीके कदाचितभी नहीं होती है केवल सम्यग्दृष्टिकेही होती है । इसलिए स्वानुभूतिकोही सम्यक्त्व मानना चाहिए ।

समाधान ।

नैवं यतोऽनाभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः ।
अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥ ३९० ॥

अन्वयार्थः— (एव न) शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (सत्सामान्य विशेषयो) सामान्य और विशेषके लक्षणभूत (अनाकारसाकारलिंगयोः अपि) अनाकार तथा साकारके विषयमेंभी (अनभिज्ञः असि) तुम अनभिज्ञ हो इसलिए उस अनाकार और साकारका स्वरूप (तत् यथा उच्यते) कहा जाता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि वह सत्सामान्य और सत् विशेषके अनाकार तथा साकार भेदसेभी अनभिज्ञ है। अतः वह स्वानुभूति और सम्यक्त्व के अन्तर को नहीं समझसका। इसलिये सम्यक्त्वादि गुण तथा स्वानुभूति में अन्तर बतानेके लिये ग्रन्थकार आगे आकार व निराकार शब्दका निरुक्त्यर्थ बताते है।

आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥ ३९१ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थविकल्प. आकारः स्यात) साकार शब्दमें आकार शब्दका अर्थ, अर्थविकल्प होता है और (अर्थः स्वपरगोचर) अर्थविकल्प शब्दमें अर्थ शब्दका अर्थ स्व तथा परविषय होता है (वा) और (विकल्पः सोपयोगः) विकल्प शब्दका अर्थ ज्ञानकी उपयोगसहित अवस्था होता हैं (हि) क्योंकि (ज्ञानस्य एतत् लक्षणं) ज्ञानका यह आकार लक्षण है।

भावार्थः— साकार शब्दमें आकार शब्दका अर्थ अर्थविकल्प और अर्थविकल्प शब्दमें अर्थ शब्दका अर्थ स्वपर पदार्थ तथा विकल्प शब्दका अर्थ उपयोग सहित अवस्था होती है। इसलिए इसप्रकार निरुक्ति करनेसे आकार शब्दका अर्थ, ज्ञान होता है।

नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥ ३९२

अन्वयार्थः— और (न आकार. अनाकारः स्यात) जो आकार न हो सो अनाकार है इसलिये (वस्तुतः) वास्तवमें (ज्ञानं अन्तरा) ज्ञानके विना (शेषानन्तगुणानां) शेष अनन्त गुणोमें (निर्विकल्पता) निर्विकल्पता होती है अतः (तत् लक्षणं) ज्ञानके विना शेषसब गुणोंका लक्षण अनाकार होता है।

भावार्थः— ऊपर आकार शब्दका अर्थ, ज्ञान किया जाचुका है। और जो गुण आकारात्मक नहीं है— अर्थविकल्पात्मक नहीं है वे गुण अनाकार कहलाते है अर्थात् ज्ञान, अर्थविकल्पात्मक होनेसे साकार शब्दसे कहा जाता है और इतर शेष गुण अर्थविकल्पात्मक नहीं होनेसे अनाकार शब्दसे कहे जाते है। इसलिए ज्ञानगुणके विना शेष सब गुणों- का लक्षण केवल अनाकार और निर्विकल्पपनाही कहा है।

शंका।

नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सत्सामान्यं विशेषवत्।
तत्किं किंचिदनाकारं किंचित्साकारमेव तत् ॥ ३९३ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शकाकारका कहना है कि यदि (विशेषवत्) विशेषके समान (सर्वं सत्सामान्यं) सब सत्‌रूप सामान्यभी (वास्तवं अस्ति) वास्तविक है (तत्) तो फिर (किन्चित् तत् साकारं) किंचित् सत् साकार और (किंचित् अनाकारं एव) किंचित् सत् अनाकारही होता है ऐसा (किं) क्यों कहा जाता है? अर्थात् एकही सत्‌के ज्ञानरूप अंशको साकार तथा शेष गुणरूप अंशोंको निराकार क्यों कहते हो ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि विशेषकेही समान सामान्यभी वास्तविक है तो फिर आत्माके ज्ञानरूप विशेषगुणको साकार और शेष गुणोंको सामान्यरूप होनेसे अनाकार क्यों कहते हो ?

समाधान।

सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत्।
यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥ ३९४ ॥

अन्वयार्थ— (सत्यं) ठीक है क्योंकि (अर्थात्) वास्तवमें जैसे (ज्ञानं सामान्यवत्) ज्ञान- सामान्यधर्मसे युक्त होता है वैसेही वह (विशेषवत् च अस्ति) विशेषधर्मसेभी युक्त होता है परन्तु उनमेसे

नोट·— श्लोक नं० ३७३ से ( ) ऐसे कौंसके अंदर दिया गया पाठ माणिकचंद दि० जै० ग्रंथमालामें प्रकाशित लाटिसंहितासे उद्धृत किया है। १ ला. स में, ' किंचित्स्यादनाकारम् ' ऐसाभी पाठ है।

(यत्) जो (सामान्व) सामान्यधर्मयुक्त होता है वह (अनाकार) अनाकार और (यत्) जो (विशेषभाक्) विशेषधर्मसे युक्त होता है वह (साकारं) साकार कहलाता है ।

भावार्थः— यहा ज्ञान शब्द चेतनावाचक है । और चेतनाके दो भेद (आकार) माने है १ ज्ञानाकार २ ज्ञेयाकार (ज्ञेयाकार शब्दका अर्थ, ज्ञानके विना आत्माके अनन्त गुणोंका सामान्याकार होता है) उनमेंस चेतनाकी ज्ञानाकार परिणतिको ज्ञान कहते है । और शेप गुणोंकी परिणतिको ज्ञेयाकार शब्दसे कहते है ।

ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः ।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः ॥ ३९५ ॥

अन्वयार्थः— (ज्ञानात् विना) ज्ञानके विना (सर्वे गुणाः) शेप सब गुण (सल्लक्षणकिताः प्रोक्ताः) केवल सतरूप लक्षणसेही लक्षित होते है इसलिए (सामान्यात् वा विशेषात् वा) सामान्य अथवा विशेप दोनोंही अपेक्षासे (सत्यं आकारमात्रकाः न) वास्तवमें वे अनाकार रूपही होते हैं अर्थात् अर्थ विकल्पात्मक नहीं होते हैं ।

भावार्थ — केवल ज्ञान गुणकोही अर्थविकल्पात्मक होनेसे साकार कहते है । और ज्ञानके विना शेप सब गुणोंको अर्थ विकल्पात्मक नहीं होनेसे अनाकार कहते है । इसलिए वास्तवमें ज्ञानके विना शेप सब गुण सामान्यरूपेस अथवा विशेषरूपसे केवल अनाकाररूप है ।

ततो वक्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुनः ।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥ ३९६ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिये (निर्विकल्पस्य वस्तुनः) निर्विकल्पवस्तुके कथनको (वक्तुं अशक्यत्वात्) अनिर्वचनीय होनेके कारण (ज्ञानद्वारा तदुल्लेखं समालेख्य) ज्ञानके द्वारा उन सामान्यात्मक गुणोंका उल्लेख करके (निरूप्यते) उनका निरूपण किया जाता है ।

---

१ ला. सं में, ' सन्त्यनाकारलक्षणा. , ऐसाभी पाठ है ।

भावार्थः— ज्ञानके विना शेष सब गुण अनाकाररूप होनेसे निर्विकल्पक हैं। और निर्विकल्पक, वस्तु कही नहीं जासकती है इसलिए उन सामान्यात्मक गुणोंके अविनाभावी ज्ञानकी पर्यायोंमें उन गुणोंका आरोप करके ज्ञानके द्वारा उनका उल्लेख किया जाता है।

स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः।
नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥ ३९७ ॥

अन्वयार्थः— (ज्ञानं) ज्ञान (एकशः) युगपत् (स्वापूर्वार्थद्वयोः एव) स्व और अपूर्व दोनोंही अर्थोंका (ग्राहकं) ग्राहक है अतः (अत्र) इस स्वपर ग्राहक ज्ञानके लक्षणमें (ज्ञानं) ज्ञान (अपूर्वार्थः न) अपूर्व अर्थ नहीं होजाता है किंतु (ज्ञान) ज्ञान (ज्ञानं) ज्ञानरूप और (पर परः) पर, पररूपही रहता है।

भावार्थः— उक्त कथनकी पुष्टिके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि ज्ञान स्व और अपूर्व दोनोंही अर्थोंका ग्राहक है ऐसा माननेसे स्व तथा अपूर्व अर्थमें अनेकताही सिद्ध होती है। इसलिए ज्ञान अपूर्वार्थ नहीं होजाता है और अपूर्वार्थ ज्ञान नहीं होजाता है किंतु ज्ञान, ज्ञान तथा अपूर्वार्थ, अपूर्वार्थही रहता है।

स्वार्थो वै ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः।
परार्थस्वार्थसंबन्धी गुणाःशेषे सुखादयः ॥ ३९८ ॥

अन्वयार्थः— (वै) निश्चयसे (ज्ञानमात्रस्य चितः) ज्ञानात्मक आत्माका (एकं ज्ञानं गुणः) एक ज्ञान गुण (स्वार्थः) स्वार्थ है और (शेषे सुखादयः) शेष सुखादिक गुण (स्वार्थसंबंधिगुणाः परार्थाः) उस ज्ञानरूप स्वार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले गुण परार्थ हैं।

भावार्थः— ज्ञानको स्व और ज्ञानके विषयभूत सुखादिकको परार्थ होनेसे ज्ञान स्व तथा परार्थका युगपत् ग्राहक कहा जाता है।

तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयम्।
ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाज्ज्ञानं सुखादिमत् ॥ ३९९ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) उक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (सुखदु खादि भाव) सुखदु:खादिक भाव (स्वय जीव गुणः) स्वयं जीवके गुण हैं और (ज्ञानं नूनं तद्वेदक) ज्ञान निश्चयसे उनका विषय करनेवाला है इसलिये (अर्थात्) वास्तवमें (ज्ञान सुखादिमत् न) ज्ञान सुख आदि मय नहीं है।

भावार्थ — उक्त कथनका खुलासा यह है कि वास्तवमें ज्ञान जीवके सुखदुःखादिक भावोंकाही वेदक है। ज्ञान, परपदार्थका वेदक केवल उपचारसे कहा जाता है। अत ज्ञान सुखदु:खादिरूप नहीं है। किंतु ज्ञान, ज्ञान है और अपूर्वार्थरूप सुखदुःखादिभाव, सुखदु खादिरूपही है ज्ञानरूप नहीं।

साराश यह है कि इस कथनसे ज्ञान और सुखादिक एक द्रव्यके गुण होकरकेभी साधक होनेसे ज्ञान साकार तथा ज्ञेय होनेसे शेष गुण निराकार, सिद्ध होते हैं। क्योंकि ज्ञान, ज्ञायक है और शेष गुण ज्ञेय हैं।

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम् ।
तस्माद्वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥ ४०० ॥

अन्वयार्थः— (वस्तुत.) वास्तवमें (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व (सूक्ष्मं) सूक्ष्म है और (वाचां अगोचरं) वचनोंके अत्यन्त अगोचर (अस्ति) है (तस्मात्) इसलिए (पुमान्) कोईभी जीव (विधिक्रमात) उसके विधिपूर्वक (वक्तुं च श्रोतु च) कहने तथा सुननेका (अधिकारी न) अधिकारी नहीं है।

भावार्थः— सम्यक्त्व आत्माका एक गुण है और वह सूक्ष्म तथा वचनोंके अगोचर है। इसलिये कोईभी पुरुष उसके स्वरूपके कथन करनेमें व सुननेमें अधिकारी नहीं है। क्योंकि वचनगोचर पदार्थही कहा और सुना जाता है वचनके अगोचर पदार्थके विषयमें वक्तापना तथा श्रोतापना नहीं घटसकता है।

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः ।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत्परमं पदम् ॥ ४०१ ॥

अन्वयार्थः— (चितः साधनादिविधौ) आत्माकी साधन आदि विधिमें (एकं ज्ञानं एव प्रसिद्धं) केवल ज्ञानही एक प्रसिद्ध गुण है (च) तथा ज्ञा नही (स्वानुभूत्येक हेतुः) स्वानुभवमें एक कारण है (तस्मात्) इसलिए (तत्) वह ज्ञान (परमं पदं) परमपद है।

भावार्थः— इतर गुणोंको अनिर्वचनीय होनेसे एक ज्ञान नामा गुणही आत्माकी सिद्धि आदिमें तथा स्वानुभूतिमें हेतु पडता है। अतः ज्ञानही परमपद है।

तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद्व्यतिरेकतः॥ ४०२॥

अन्वयार्थः— (तत्र अपि) और उन सम्यग्दर्शनके लक्षणमेंभी (या आत्मानुभूतिः) जो आत्मानुभूति है (सा आत्मनः विशिष्टं ज्ञानं) वह आत्माका विशेष ज्ञान है तथा वह स्वानुभूतिरूप विशेषज्ञान (सम्यक्त्वेन) सम्यक्त्वके साथ (अन्वयात् व्यतिरेकतः) अन्वयव्यतिरेकसे (अविनाभूतं) अविनाभावी है।

भावार्थः— उन सम्यग्दर्शनके लक्षणमें जो स्वानुभूतिरूप ज्ञान है वह सम्यग्दर्शनके बिना आत्मामें नहीं होता है।

ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः।
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात्साचेच्छुद्धनयात्मिका॥ ४०३॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसालिए (तयोः) सम्यक्त्व और स्वानुभूतिमें (व्याप्तेः सद्भावतः) व्याप्ति होनेके कारण (वक्तुं योग्यता अस्ति) वचनके अगोचरभी सम्यक्त्व वचनगोचर होजाता है अत (सा स्वानुभूतिः शुद्धनयात्मिका चेत्) यदि शुद्ध नयात्मिक हो तो (सम्यक्त्व स्यात) वह स्वानुभूति सम्यक्त्व कहलासकती है।

भावार्थः— इसलिये सम्यग्दर्शन और स्वानुभूतिरूप सम्यग्ज्ञानकी व्याप्ति होनेके कारण सम्यग्दर्शनके निर्विकल्प होनेपरभी वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शनकेही साथ होनेवाली स्वानुभूतिके द्वारा कहा जाता है। इसलिये स्वानुभूतिको सम्यक्त्व कह सकते है। यदि वह शुद्धनयात्मिक हो तो।

किंचास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः।
नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा॥ ४०४॥

अन्वयार्थः— (किं च) इतना विशेष है कि (सम्यक्त्वानुभवद्वयोः) सम्यग्दर्शन और स्वानुभव इन दोनोंमें (विषमव्याप्तिः अस्ति) विषमव्याप्ति है क्योंकि (उपयोगे) उपयोगमें अर्थात् उपयोगरूप स्वानुभूतिके साथ (समव्याप्तिः न अस्ति) सम्यक्त्वकी समव्याप्ति नहीं है (तु) किंतु (लब्धिविधौ सा) लब्धिमें अर्थात् लब्धिरूप स्वानुभूतिके साथही सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है।

भावार्थः— दुतरफा व्याप्तिको समव्याप्ति कहते हैं। और वह सहचर पदार्थोंमें होती है। जैसे जहां २ रूप रहता है वहां २ रस रहता है तथा जहां २ रस रहता है वहां २ रूप रहता है। तथा इकतरफा व्याप्तिको विषमव्याप्ति कहते हैं और वह जिनपदार्थोंमें कार्यकारण भाव होता है उनमें होती है जैसे अग्निके होनेपरही धूम होता है अन्यथा नहीं। अतः अग्नि और धूमकी विषमव्याप्ति है। विषमव्याप्तिके होनेपर यह तो निश्चित होजाता है कि कार्यकी उत्पत्ति कारणकेही सद्भावमें होती है। परन्तु कारणके सद्भावमें कार्यका सद्भाव अवश्यंभावी नहीं कहा जाता है। इसीसरह सम्यक्त्व तथा स्वानुभूतिमेंभी विषमव्याप्ति है। कारणकि सम्यक्त्व कारण है और सम्यग्ज्ञानरूप स्वानुभूति कार्य है इसलिए उपयोगरूप स्वानुभूतिके होनेपर सम्यक्त्वका बोध होता है। परन्तु सम्यक्त्वके होनेपर उपयोगरूप स्वानुभूति होतीही है यह नहीं कहा जाता है क्योंकि छद्मस्थ सम्यग्दृष्टिके स्वानुभूतिसे भिन्न उपयोगभी पाया जासकता है किंतु सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके साथ स्वानुभूत्यावरणकाभी क्षयोपशम होता है। अतः लब्धिरूप स्वानुभूतिके साथ सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है।

आगे इसी अर्थका दो पद्यों द्वारा खुलासा करते हैं।

तद्यथा स्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि।
अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत् ॥ ४०५ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) उक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (स्वानुभूतौ) स्वानुभवके होनेपर (वा) अथवा (तत्काले वा) स्वानुभूतिके कालमेंभी (तदात्मनि) उस आत्मामें (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व (अवश्यं हि अस्ति) अवश्यही ज्ञात होता है (यस्मात्) क्योंकि (तद्विना) उस सम्यग्दर्शनरूप कारणके विना (सा अपि न) वह स्वानुभूतिरूप कार्यभी नहीं होता है।

भावार्थः— स्वानुभूति कार्य है और सम्यक्त्व कारण है । अतः उपयोगरूप स्वानुभूतिके साथ सम्यक्त्वकी विषमव्याप्ति सिद्ध होती है ।

यदि वा सति सम्यक्त्वे स स्याद्वा नोपयोगवान् ।
शुद्धस्यानुभवस्तत्र लब्धिरूपोस्ति वस्तुतः ॥ ४०६ ॥

अन्वयार्थः— (**यदि वा**) अथवा इसप्रकारसेभी विषमव्याप्ति कही जाती है कि (**सम्यक्त्वे सति**) सम्यग्दर्शनके होनेपर (**सः**) वह आत्मा (**उपयोगवान् स्यात् वा न**) स्वानुभूतिके उपयोगही सहित हो ऐसा कोई नियम नहीं है परन्तु इतना अवश्य है कि (**वस्तुतः**) वास्तवमें (**तत्र लब्धिरूपः शुद्धस्य अनुभवः अस्ति**) सम्यक्त्वके होनेपर लब्धिरूप स्वानुभूति रहती है ।

भावार्थ.— यद्यपि सम्यक्त्वके होनेपर स्वानुभूतिही होती है अन्य विषयमें सम्यग्दृष्टिका उपयोग होताही नहीं है ऐसा नियम नहीं है परन्तु सम्यक्त्वके होनेपर स्वानुभूतिरूप उपयोगके कारणभूत स्वानुभूत्यावरणकर्मके क्षयोपशमजन्य लब्धिरूप स्वानुभूति अवश्य रहती है ऐसा नियम है । क्योंकि दर्शनमोहका उपशम आदि और स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम युगपत् होता है । इसलिये उस स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमसे होनेवाली लब्धि (विशुद्धि) सम्यक्त्वके उत्पन्न होनेपर अवश्य होती है । अतः लब्धिरूप स्वानुभूति और सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है । तथा उपयोगरूप स्वानुभूतिकी सम्यक्त्वके साथ विषम व्याप्ति है ।

आगे फिरभी इसी अर्थका खुलासा करते है ।

हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेस्त्यवश्यतः ।
तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वतः ॥ ४०७ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र अपि हेतुः अस्ति**) सम्यक्त्वके होनेपर नियमपूर्वक लब्धिरूप स्वानुभूतिके रहनेमें कारण यह है कि (**सम्यक्त्वोत्पत्तिकाले**) सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके समय (**अवश्यतः**) अवश्यही (**स्वतः**) स्वय (**तज्ज्ञानावरणस्य उच्चैः अवस्थान्तरं अस्ति**) स्वानुभूत्यावरण कर्मकाभी यथायोग्य क्षयोपशम होता है

भावार्थः— सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके समय स्वानुभूत्यावरणकर्मकाभी क्षयोपशम होता है । इसलिये सम्यक्त्वके

साथ स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमजन्य लब्धिकी समव्याप्ति कही जाती है।

क्योंकि।

यस्माज्ज्ञानमनित्यं स्याच्छद्मस्थस्योपयोगवत्।
नित्यं ज्ञानमच्छद्मस्थे छद्मस्थस्य च लब्धिमत् ॥ ४०८ ॥

अन्वयार्थः— (यस्मात्) क्योंकि (छद्मस्थस्य) छद्मस्थ सम्यग्दृष्टिजीवोंका (उपयोगवत् ज्ञानं) उपयोगात्मक ज्ञान (अनित्यं स्यात्) अनित्य होता है (च) और (अछद्मस्थे ज्ञान नित्यं) केवलीका ज्ञान नित्य होता है और (छद्मस्थस्य) छद्मस्थ सम्यग्दृष्टिकाभी सम्यक्त्वके सद्भावतक (लब्धिमत्) लब्धिरूप ज्ञान नित्य रहता है।

भावार्थ— स्वानुभूतिके साथ सम्यक्त्वकी विषम व्याप्तिमें कारण यह है कि छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियोंका उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य होता है। तथा केवलीका उपयोगात्मक ज्ञान नित्य होता है। इसलिये उपयोगात्मक स्वानुभूतिके साथ सम्यक्त्वकी विषमव्याप्ति है। और जबतक छद्मस्थोंके सम्यक्त्व रहता है तबतक स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशमभी अवश्य रहता है इस अपेक्षासे छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियोंकी लब्धिरूप स्वानुभूतिभी नित्य कहलाती है। अतः लब्धिरूप स्वानुभूतिके साथ सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है।

नित्यं सामान्यमात्रत्वात् सम्यक्त्वं निर्विशेषतः।
तत्सिद्धा विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ॥ ४०९ ॥

अन्वयार्थः— तथा (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व (निर्विशेषतः सामान्यमात्रत्वात्) अपने अवान्तरविशेषोंकी अपेक्षा न करके केवल सामान्यरूप होनेके कारण (नित्यं) नित्य है (तत्) इसलिये (सम्यक्त्वानुभवद्वयोः) सम्यक्त्व और उपयोगात्मक स्वानुभूतिमें (विषमव्याप्तिः सिद्धा) विषमव्याप्ति सिद्ध होती है।

भावार्थः— अपने अवान्तर विशेषोंकी गौण तथा सामान्यमात्रकी मुख्य विवक्षासे सम्यक्त्व नित्य है अतः छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियोंके उपयोगात्मक ज्ञानको अनित्य, तथा सामान्यपनेसे सम्यक्त्वको नित्य होनेसे, सम्यक्त्व और उपयोगात्मक स्वानुभूतिकी विषमव्याप्ति सिद्ध होती है समव्याप्ति नहीं।

अपि सन्ति गुणाः सम्यक्श्रद्धानादिविकल्पकाः ।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥ ४१० ॥

अन्वयार्थः— (अधुना) अब जो (सम्यक्श्रद्धानादिविकल्पकाः अपि) सम्यक्श्रद्धानादिक विकल्पवालेभी (गुणा सन्ति) सम्यग्दर्शनके गुण–लक्षण है (तेषां) उनका (उद्देशः) उद्देश (लक्षणं) लक्षण और (तत्परीक्षा) उनकी परीक्षा (उच्यते) कही जाती है ।

भावार्थ — अब जो सम्यक्श्रद्धानादिकभी सम्यग्दृष्टिके लक्षण कहे जाते हैं उनका उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा पूर्वक निरूपण किया जाता है ।

तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः ।
चरणं च यथाम्नाय (यात्) मर्थात्तत्वार्थगोचरम् ॥ ४११ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन तीनोंमें (नाम उद्देशः) नाममात्र कथनको उद्देश कहते है (यथा) जैसकि जो (श्रद्धारुचिप्रतीतयः) श्रद्धा, रुचि, प्रतीति (च) और (चरण) स्वरूपाचरण (यथाम्नायं) आम्नायके अनुसार (अर्थात्) वास्तवमें (तत्वार्थगोचरं) तत्वार्थविषयक होते हैं, उन्हें सम्यक्त्व कहते हैं ।

भावार्थ— आगमानुसार तत्वार्थविषयक श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और आचरणको सम्यग्दर्शन कहना सम्यग्दर्शनका उद्देश है । यहापर ' तत्वार्थगोचर ' यह विशेषण शेष तीनोंमेंभी अन्त्य दीपकके न्यायानुसार सम्बद्ध होजाता है ।

आगे प्रत्येकका स्पष्टीकरण करते हैं ।

तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा ।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥ ४१२ ॥

अन्वयार्थः— (तत्वार्थाभिमुखी) तत्वार्थोंके विषयमें उन्मुख (बुद्धिः) बुद्धि (श्रद्धा) श्रद्धा कहलाती है (तथा सात्म्यं) तत्वार्थोंके विषयमें तन्मय होना (रुचि) रुचि कहलाती है (तु) और (तथा इति स्वीकारः) तत्वार्थका स्वरूप जिसप्रकार है वह उसीप्रकार है ऐसा स्वीकार करना (प्रतीतिः स्यात्) प्रतीति कहलाती है तथा (चरणं क्रिया) उसके अनुसार आचरण करना, चरण कहलाता है ।

भावार्थः— तत्वार्थोंके विषयमें उन्मुख बुद्धिको श्रद्धा, तन्मय बुद्धिको रुचि तथा वे जीवादिक पदार्थ वैसेही हैं अन्यथा नहीं हैं इसप्रकारकी बुद्धिको प्रतीति और तदनुकूल आचरणको चरण कहते हैं।

अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवात्र [र्थं] पर्ययात्।
चरणं वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥ ४१३ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) इन चारोंमेंसे (अर्थात्) वास्तवमें (आद्यत्रिकं) आदिके श्रद्धा रुचि और प्रतीति ये तीन (ज्ञानस्य एव पर्ययात्) ज्ञानकीही पर्याय होनेसे (ज्ञानं) ज्ञानरूप है तथा (वाक्कायचेतोभिः) वचन, काय, और मनसे (शुभकर्मसु व्यापारः) शुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति करना (चरणं) चरण कहलाता है।

भावार्थः— उक्त श्रद्धादिक चारोंमें श्रद्धा रुचि और प्रतीति ये तीनों तो ज्ञानकी पर्याय होनेसे ज्ञानरूप पडते हैं। तथा मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तिरूप चरण चारित्ररूप पडता है।

व्यस्ताश्चैते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा।
सपक्षे वा विपक्षे वा सान्ति यद्वा न सन्ति वा ॥ ४१४ ॥

अन्वयार्थः— (एते व्यस्ताः) ये श्रद्धा आदि चारों पृथक् २ रूपसे (वा) अथवा (समस्ताः च) समस्तरूपसेभी (सम्यग्दृष्टेः) सम्यग्दर्शनके (लक्षणं न वा) वास्तवमें लक्षणस्वरूप नहीं हो सकते हैं (यत्) क्योंकि ये श्रद्धादिक (सपक्षे वा विपक्षे) सपक्ष अथवा विपक्ष दोनोंही अवस्थामें (सन्ति वा) होतेभी है (वा) और (न वा सन्ति) नहींभी होते है।

भावार्थः— श्रद्धादिक चारोंही ज्ञान व चारित्रके भेद होनेसे सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि दोनोंकेही पायेजा सकते है। किन्तु केवल सम्यग्दृष्टिके ही पायेजासकते है ऐसा नियम नहीं है इसलिये ये चारों ही व्यस्त रुपसे अथवा समस्तरुपसे सम्यग्दर्शनके अतरंग लक्षण नहीं हो सकते है

स्वानुभूतिसनाथाश्चेत् सान्ति श्रद्धादयो गुणाः।
स्वानुभूतिं विनाऽऽभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥ ४१५ ॥

अन्वयार्थ — (चेत्) यदि (श्रद्धादयः) श्रद्धा आदि (स्वानुभूतिसनाथाः) स्वानुभव सहित हों तो वे (गुणा सन्ति) सम्यग्दृष्टिके गुण--लक्षण कहलाते है और (अर्थात) वास्तवमें (स्वानुभूति विना) स्वानुभवके विना (श्रद्धादयः गुणा न ' कितु ' आभासाः) उक्त श्रद्धादिक सम्यग्दर्शनके लक्षण नहीं कहलाते है किंतु लक्षणाभास कहलाते है।

भावार्थ — यदि उक्त श्रद्धादिक गुण स्वानुभूति सहित हों तो सम्यग्दर्शन कहे जाते है अन्यथा नहीं।

तत्स्माच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत् ।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत् स्वतः ॥ ४१६ ॥

अन्वयार्थ— (तस्मात् स्वानुभूतिमत् सम्यक्त्व स्यात्) इसलिए यदि वह स्वानुभूति सहित सम्यग्दर्शन है तो (सर्वे श्रद्धादयः ' स्युः ') सम्पूर्ण श्रद्धादिक, श्रद्धादिक कहे जाते है और यदि (' तत् ') सम्यक्त्व न) वह स्वानुभूतिसहित सम्यग्दर्शन नहीं है तो (स्वत) स्वयंही वे श्रद्धादिक (मिथ्याश्रद्धादिवत्) मिथ्याश्रद्धादिकके समान (तदाभासाः) श्रद्धाके समान मालूम होनेवाले श्रद्धाभासादिक कहे जाते है।

भावार्थः— उक्त कथनका साराश यह है कि यदि सम्यक्त्वपूर्वक श्रद्धादिक रहे तो सम्यक्त्वके लक्षण–गुण कहे जाते है। और यदि सम्यक्त्वके विना श्रद्धादिक रहे तो श्रद्धाभासादिक कहे जाते है। इसलिए सम्यक्त्वके विना श्रद्धादिक उसके लक्षण नहीं कहे जाते हैं।

सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः ।
सपक्षवद्विपक्षेऽपि वृत्तित्वाद्व्यभिचारिणः ॥ ४१७ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां विना) सम्यक् और मिथ्या विशेषणोके विना (श्रद्धादिमात्रकाः) केवल श्रद्धा आदिकी (सपक्षवत) सपक्षके समान (विपक्षे अपि) विपक्षमेंभी (वृत्तित्वात्) वृत्ति रहनेके कारण (व्यभिचारिणः) वे व्यभिचार दोपसे युक्त है।

भावार्थः— सम्यक्त्वपूर्वक श्रद्धादिकको सम्यग्दर्शनके लक्षण तथा सम्यक्त्वके विना श्रद्धादिकको मिथ्या कहनेमें कारण यह है कि विना सम्यक् और मिथ्या विशेषणके जो सामान्य श्रद्धादिक है वे सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टिमे

भी पाये जाते है । इसलिए किसी नियामकके अभावमें उनको सम्यक्त्वका लक्षण कहना व्यभिचार दोषसे युक्त है ।

खुलासा ।

अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिश्रद्धादयो यतः ।
मिथ्या श्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो ततः (यतः) ॥ ४१८ ॥

अन्वयार्थः— (यत) क्योंकि (सम्यग्दृष्टिश्रद्धादयः) सम्यग्दृष्टि जीवके श्रद्धादिक (अर्थात्) वास्तवमें (श्रद्धादयः) श्रद्धा आदिक है और (मिथ्याश्रद्धादयः) मिथ्यादृष्टिजीवके श्रद्धा आदिक (मिथ्या) मिथ्या है (ततः) इसलिए (अर्थात् श्रद्धादयः न) मिथ्यादृष्टिके श्रद्धादिक वास्तविक श्रद्धा आदिक नहीं है ।

भावार्थः— जिसकारणसे सम्यग्दृष्टि जीवकेही श्रद्धादिक, यथार्थ श्रद्धादिक गुण कहलाते है । मिथ्यादृष्टि जीवके यथार्थ नहीं कहलाते है तिसकारणसे मिथ्यादृष्टि जीवके जो श्रद्धादिक होते है वे मिथ्या श्रद्धादिकही है । यथार्थ नहीं ।

शंका ।

ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात् ।
सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तत्कुतोर्थतः ॥ ४१९ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि जब (श्रद्धामात्रैकलक्षणात्) केवल श्रद्धा लक्षण घट जानेसे (तत्त्वरुचिः) तत्वोंमें रुचि (श्रद्धा) श्रद्धा कहलाती है (तत्) तो फिर (सा) वह श्रद्धा (अर्थत.) अर्थदृष्टिसे (सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्या) सम्यक् और मिथ्या इन दो विशेषणोंके द्वारा (द्विधाकुत) सम्यक् श्रद्धा तथा मिथ्याश्रद्धा इस प्रकार दो तरहकी कैसे कही जासकती है ।

भावार्थ.— शंकाकारका कहना है कि जब सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि दोनोंकेही तत्वरुचिरूप श्रद्धा एकसी होती है तो फिर सम्यक् और मिथ्या विशेषणोंसे उस श्रद्धाके दो भेद क्यों किये जाते है अर्थात् श्रद्धाको सम्यक् तथा मिथ्या नहीं कहना चाहिये ।

समाधान ।

नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धा स्वानुभवद्वयोः ।
नूनं नानुपलब्धेऽर्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥ ४२० ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (श्रद्धा स्वानुभवद्व
योः) श्रद्धा और स्वानुभव इन दोनोंमें (समव्याप्तिः) समव्याप्ति है कारण कि (नूनं) निश्चयसे (अनुपलब्धे
अर्थे) सम्यक्ज्ञानके द्वारा अगृहीत पदार्थमें (श्रद्धा) सम्यक्श्रद्धा (खरविषाणवत् न) खरविषाणके समान
होही नहीं सकती है ।

भावार्थ — शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि सम्यक् श्रद्धा और स्वानुभूतिमें समव्याप्ति है ।
अर्थात् स्वानुभूति तथा समीचीन श्रद्धा दोनोंही एकसाथ होते है । कारणकि जिन पदार्थोंको स्वानुभूति सम्यग्ज्ञानीका
ज्ञान, विषय नहीं करता है उन पदार्थोंमें समीचीन श्रद्धाभी नहीं होती है ।

विना स्वात्मानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः ।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः ॥ ४२१ ॥

अन्वयार्थः— (तु) और (या) जो (स्वात्मानुभूतिं विना) स्वात्मानुभूतिके विना (श्रुतमा-
त्रतः श्रद्धा) केवल शास्त्रोंके श्रवणसे श्रद्धा होती है वह (तत्वार्थानु गता अपि) तत्वार्थके अनुकूल होनेपरभी (अ-
र्थात् अनुपलब्धितः) वास्तवमे शुद्धआत्माकी अनुपलब्धिसे— वास्तवमे उपलब्धि न होनेके कारण (श्रद्धा न)
शुद्ध श्रद्धा नही कहीं जाती है ।

भावार्थः— यद्यपि भद्रताके कारण केवल व्यवहार रूपसे किन्ही २को जीवादि तत्वोंका श्रद्धान हो जाता है।
किन्तु सम्यक्त्वका अभाव होनेके कारण अर्थात् स्वात्मानुभूति के नहीं होनेके कारण उनकी वह श्रद्धा वास्तविक श्रद्धा
नहीं कहलाती है ।

लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत् ।
नोपलब्धिरिहार्थात्सा (ख्याता) तच्छेषानुपलब्धिवत् ॥४२२ ॥

अन्वयार्थः— (इह सदसतो अविशेषात् वा) यद्यपि मिथ्यादृष्टिकेभी इन नव तत्वोंमें सत् और असत्के स्वरूपमें किसीभी प्रकारकी विशेषताका ज्ञान न होनेसे (उन्मत्तवत्) उन्मत्त पुरुषकी तरह (लब्धिः स्यात्) तत्त्वोंकी उपलब्धि हो जाती है तथापि (सा) वह श्रद्धा (अर्थात्) वास्तवमें (तच्छेषानुपलब्धिवत्) उस सम्यग्ज्ञानके विषयसे रहित शेष पदार्थोंकी अनुपलब्धि के समान (उपलब्धिः न) उपलब्धि नहीं कहलाती है।

भावार्थ— मिथ्यादृष्टिके सत् व असत्में विशेषतापूर्वक ज्ञान न होनेसे जो तत्वार्थश्रद्धान होता है वह वास्तविक नहीं कहा जासकता है किंतु जैसे उसके ज्ञात विषयोंसे भिन्न अज्ञात विषयोंमें उपलब्धि नहीं होती है वैसेही विना विशेषपूर्वक जाने हुए पदार्थोंमेंभी होनेवाली उसकी उपलब्धि अनुपलब्धिकेही समान है कार्यकारी नहीं है। उदाहरणार्थ जैसे उन्मत्त पुरुष, माता और पत्नीमें विना किसी विशेषताके कभी माताको माता तथा पत्नीको पत्नी कह-देनेपरभी अनुन्मत्त नहीं कहलाता है वैसेही सत् असत्की वास्तविक विशेषताको नजानकर तत्वार्थोंमें की हुई श्रद्धाभी यथार्थ श्रद्धा नहीं कहलाती है।

ततोऽस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम्।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात्सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ॥ ४२३ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) स्वात्मानुभूतिके विना श्रद्धा समीचीन श्रद्धा नहीं होती है इसलिये (यत्) जो (सम्यक्त्व लक्षणं) सम्यग्दर्शनकी लक्षणभूत (श्रद्धा) श्रद्धा (यौगिकी रूढि अस्ति) यौगिक रूढि– निरुक्तिसे सिद्ध अर्थवाली है (तदपि) वहभी (अर्थात्) वास्तवमेंभी (स्वात्मानुभूतिवत्) स्वात्मानुभूतिके समान (सूक्तं अविरुद्धं स्यात्) अविरुद्ध है।

भावार्थः— स्वानुभूति सहित श्रद्धाही वास्तविक श्रद्धा कहलाती है इसलिए योगरूढ समीचीन श्रद्धाको सम्यग्दर्शनका लक्षण कहना स्वानुभूतिके समानही अविरुद्ध कथन है।

जैसे स्वानुभूति सहित होनेसे श्रद्धाको सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते है वैसेही स्वानुभूतिसहित रुचि, प्रतीति और चरणकोभी सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते है। इतना यहा और समझना चाहिए, कारण ग्रन्थकारने केवल श्रद्धाका यह विवेचन किया है।

अब आगे—प्रशमादिक सम्यग्दर्शनके लक्षण कैसे होते हैं इस बातका विचार करते हैं।

गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेःप्रशमादयः।
बाहिर्दृष्ट्या यथास्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणाः ॥ ४२४ ॥

अन्वयार्थः— (सद्दृष्टेः) सम्यग्दृष्टिजीवके (प्रशमादयः च) प्रशमादिकभी (ये अन्ये गुणाः प्रसिद्धाः) जो अन्य गुण प्रसिद्ध है (ते) वे भी (बहिर्दृष्ट्या) बाह्यदृष्टिसे (यथास्वं) यथायोग्य (सम्यक्त्व लक्षणाः) सम्यक्त्वके लक्षण (सन्ति) होते हैं।

भावार्थः— जो शास्त्रान्तरोंमें श्रद्धादिकके समान प्रशमादिक भी सम्यग्दर्शन के लक्षण बताये हैं वे भी बाह्यदृष्टिसे यथायोग्य रीतिसे सम्यग्दर्शनके लक्षण हैं।

तत्राद्यःप्रशमो नाम संवेगश्चगुणःक्रमात्।
अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ ४२५ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन प्रशमादिकोंमेंसे (आद्य) पहला (प्रशमः नाम गुणः) प्रशम गुण है (च) और इसके बाद (क्रमात्) क्रम २ से (संवेगः) संवेग (अनुकम्पा) अनुकम्पा (तथा) तथा (आस्तिक्यं) आस्तिक्य गुण है, अब (तल्लक्षणं वक्ष्ये) उनका लक्षण कहता हूं (यथा) जैसे कि।

भावार्थ— प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार सम्यग्दृष्टिके गुण–लक्षण है। अब आगे उन चारोंहीके लक्षणका क्रमपूर्वक कहता हूं।

प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥ ४२६ ॥

अन्वयार्थः— (विषयेषु) पचेंद्रियोंके विषयोंमें (च) और (लोकासंख्यातमात्रेषु उच्चैः भावक्रोधादिकेषु) लोकके असंख्यातव भाग प्रमाण तीव्र भावक्रोधादिकोंमे (स्वरूपात् शिथिलं मनः) स्वरूपसे शिथिल मनका होनाही (प्रशमः) प्रशम कहलाता है।

भावार्थ — पाँचों इंद्रियोंके विषयोंमें तथा असंख्यातलोक प्रमाण तीव्र भावक्रोधादिकोंमें स्वभावसेही मनका शिथिल होना प्रशम कहलाता है।

सद्यः कृताऽपराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित्।
तद्वधादि विकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥ ४२७ ॥

अन्वयार्थः— (यद्वा) अथवा (सद्यः कृतापराधेषु जीवेषु) उसी समय अपराध करनेवाले जीवों पर (जातुचित्) कभीभी (तद्वधादिविकाराय) उनके वध आदिरूप विकारके लिए (बुद्धिः न) बुद्धिका नहीं होना (प्रशमः मतः) प्रशम माना गया है—कहलाता है।

भावार्थः— अथवा अपराधियोंके प्रति भी मन्दकषायपनेके कारण प्रत्यपकार करनेके लिए बुद्धिकी अप्रवृत्तिको प्रशम कहते है।

हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम्।
अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोंऽशतः ॥ ४२८ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उस प्रशमभावकी उत्पत्तिमें (नूनं) निश्चयसे (अनन्तानुबन्धिनां) अनंतानुबन्धी कषायोंका (उदयाभावः) उदयाभाव (अपि) और (शेषकषायाणां) शेष अप्रत्याख्यानादि कषायोंका (अंशतः) अंशरूपसे (मन्दोदयः) मन्द उदय (हेतुः स्यात्) कारण है।

भावार्थः— अनन्तानुबन्धी कषायोंका उदयाभाव तथा अप्रत्याख्यानावरणादि शेष कषायोंका मन्दोदयही प्रशमभावका जनक होता है।

आरम्भादि क्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः।
अन्तः शुद्धेः प्रसिद्धत्वान्न हेतुः प्रशमक्षतेः ॥ ४२९ ॥

अन्वयार्थः— (तस्य) यद्यपि प्रशमभावयुक्त सम्यग्दृष्टिके (दैवात् अकामतः) दैवयोगसे अनिच्छापूर्वक (आरम्भादिक्रिया वा स्यात्) आरम्भ आदि क्रियाभी होती है तथापि (अन्तः शुद्धेः) अनन्तानुब-

क्योंकि अभाव आदिसे अभ्यन्तर शुद्धिकी (प्रसिद्धत्वात) प्रसिद्धि होनेके कारण वह क्रिया (प्रशमक्षतेः हेतुः न) उसके उस प्रशमगुणमें बाधा पहुंचानेके लिए कारण नहीं होसकती है।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिके चारित्रमोहके उदयवश जो आरम्भादि क्रिया होती है वह, उसके अन्तरंगमें शुद्धिके विद्यमान रहनेके कारण प्रशममें बाधक नहीं होसकती है।

सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः ।
अन्यत्र प्रशमंमन्येऽप्याभासःस्यात्तदत्ययात् ॥ ४३० ॥

अन्वयार्थ —(सम्यक्त्वेन अविनाभूतः) सम्यक्त्वके साथ अविनाभाव रखनेवाला (प्रशमः) प्रशमभाव (परमः गुणः) सम्यग्दृष्टिका परम गुण है कारण (प्रशमंमन्ये अपि अन्यत्र) अपनेमें प्रशमका झूंटा अहंकार रखनेवालेभी मिथ्यादृष्टिके (तदत्ययात) सम्यक्त्वका सद्भाव न रहनेसे (आभास स्यात) प्रशमाभास होता है। सच्चा प्रशमभाव नहीं होता है।

भावार्थः— प्रशमगुण सम्यग्दर्शनका अविनाभावी है इसलिए सम्यग्दृष्टिके यथार्थ प्रशमगुण होता है। किंतु प्रशमगुणका झूंठा अभिमान रखनेवालेभी मिथ्यादृष्टिके सम्यग्दर्शनके न होनेसे उसका अविनाभावी प्रशमनामा गुणभी नहीं होता है।

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः ।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥ ४३१ ॥

अन्वयार्थः— (धर्मे) धर्ममें और (धर्मफले) धर्मके फलमें (चितः परमोत्साहः) आत्माके परम उत्साहको (संवेगः) संवेग कहते हैं (वा) अथवा (सधर्मेषु अनुरागः) धार्मिक पुरुषोंमें अनुराग (वा) अथवा (परमेष्ठिषु प्रीतिः) पंच परमेष्ठीमें प्रीति रखनेकोभी संवेग कहते हैं।

भावार्थः— धर्म और धर्मके फलमें परमोत्साहका होना संवेग कहलाता है। अथवा साधर्मी जनोंमें और पंचपरमेष्ठीमें अनुराग रखनाभी संवेग कहलाता है।

धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽथवा ।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥ ४३२ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यक्त्वमात्रात्मा धर्मः) केवल सम्यग्दर्शन है स्वरूप जिसका, वह धर्म कहलाता है (अथवा) अथवा (शुद्धस्य अनुभवः) शुद्ध आत्माका अनुभव धर्म कहलाता है (च) तथा (अत्यक्षं) अतींद्रिय (अक्षयं) अविनाशी और (क्षायिकं) घातिया कर्मोंके क्षयसे होनेवाला (यत् सुखं) जो अनन्त सुख है वह (तत्फलं) उस धर्मका फल है ।

भावार्थ— सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान धर्म है । और अतींद्रिय अविनाशी तथा घातिया कर्मोंके क्षयसे होनेवाला अनन्त सुख उस धर्मका फल है ।

इतरत्र पुना रागस्तद्गुणेष्वनुरागतः ।
नातद्गुणोऽनुरागोपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ॥ ४३३ ॥

अन्वयार्थः— (तद्गुणेषु अनुरागतः) उनके गुणोंमें अनुरागसे (अपि) और (तत्फलस्य अलिप्सया) अनुरागकृत फलकी इच्छा न करनेसे (इतरत्र पुनः रागः) गुणोंसे गुणी कथंचित् भिन्न होता है इसलिए गुणोंसे कथंचित् भिन्न पन्च परमेष्ठियोंमें तथा धार्मिकोंमें जो अनुराग होता है. (अनुरागः अपि) वह अनुरागभी (अतद्गुणः न) अतद्गुणराग नहीं है किन्तु गुणानुरागही है ।

भावार्थ— सम्यग्दृष्टियोंका धर्मियोंमें अनुराग किसी प्रकारके स्वार्थपूर्वक नहीं होता है । इसलिये धर्मात्माओंके प्रति जो अनुराग है वहभी धर्मानुराग है अधर्मानुराग नहीं है । अतः धर्मके आधार पंच परमेष्ठी व धर्मके धारक साधर्मियोंके प्रति प्रीति तथा अनुरागका नाम संवेग कहलाता है ।

अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते ।
किंतु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥ ४३४ ॥

अन्वयार्थः— (अपि) तथा (अत्र) यहांपर (अनुरागशब्देन) अनुराग शब्दके द्वारा (अभिलाषः न निरुच्यते) अभिलाषा रूप अर्थ नहीं कहा गया है (किन्तु) किन्तु (अधर्मात् शेषं वा तत्फलात् निवृत्तिः) यावत् अधर्मके विना जो कुछ रहता है उसे अनुराग कहते हैं अथवा अधर्मके फलभूत कुक्रियाओंसे होनेवाली निवृत्ति को अनुराग कहते हैं ।

भावार्थ — यहांपर अनुराग शब्दका अर्थ किसी प्रकारकी कांक्षा नहीं है । किंतु अधर्मके बिना जो कुछ रहता है अर्थात् धर्ममात्र तथा अधर्मके फलसे निवृत्ति अर्थात अधर्ममात्रके फलसे विमुख रहना अनुराग शब्दका अर्थ समझना चाहिये । इसलिये सम्यग्दृष्टिके धर्म तथा धर्मियोंके प्रति अनुरागसे किसी प्रकारकी कांक्षा सिद्ध नहीं होती है।

अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्योयदार्थतः ।
प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ ४२५ ॥

अन्वयार्थ — (अथ) अथवा (यदा) जिससमय (अनुरागशब्दस्य) अनुराग शब्दका (अर्थतः) अर्थकी अपेक्षासे (विधिःवाच्यः) विधिरूप अर्थ वक्तव्य होता है (' तदा ') उससमय अनुराग शब्दका अर्थ (प्राप्ति वा उपलब्धिश्च स्यात्) प्राप्ति व उपलब्धि होता है क्योंकि (शब्दाः एकार्थवाचकाः) अनुराग, प्राप्ति और उपलब्धि ये तीनों शब्द एकार्थवाचक है ।

भावार्थः— अनुराग, प्राप्ति तथा उपलब्धि ये तीनों शब्द एकार्थवाचक हैं । इसलिये अनुराग शब्दका विधिरूप अर्थ प्राप्ति तथा उपलब्धि होता है।

नचाऽशंक्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम् ।
शुद्धोपलब्धिमात्रेपि हि यो भोगाभिलाषवत् ॥ ४२६ ॥

अन्वयार्थ — (अभिलाषः) सम्यग्दृष्टिकी अभिलाषा (भोगेषु) भोगोंमेंही (अलं निषिद्धः-स्यात्) केवल निषिद्ध है यह (नच आशंक्यं) आशंका नहीं करना चाहिये (हि) क्योंकि सम्यग्दृष्टिके (भोगाभिलाषवत्) भोगोंमें अभिलाषाकी तरह (शुद्धोपलब्धिमात्रे अपि) शुद्धोपलब्धिमेंभी (यः) जो अभिलाषा होती है वहभी निषिद्ध है।

भावार्थ — यह आशंका नहीं करना चाहिये कि सम्यग्दृष्टिके केवल भोगोंके विषयमेंही अभिलाषा नहीं होती है । क्योंकि सम्यग्दृष्टिके भोगोंके समान शुद्धोपलब्धिके विषयमेंभी अभिलाषा नहीं होती है । अर्थात् सम्यग्दृष्टिके अभिलाषा मात्रका अभाव होता है । इसलिये ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि सम्यग्दृष्टिके केवल विषयभोगोंमेंही अभिलाषाका अभाव होता है ।

अर्थात्सर्वोभिलाषः स्यादज्ञानं दृग्विपर्ययात् ।
न्यायादलब्धतत्त्वार्थो लब्धुं कामो न लब्धिमान् ॥ ४३७ ॥

अन्वयार्थ — (अर्थात्) वास्तवमें (सर्वः अभिलाषः) अभिलाषामात्र (दृग्विपर्ययात्) मिथ्यादर्शनके उदय होनेके कारण (अज्ञानं स्यात्) अज्ञानरूप होती है क्योंकि (न्यायात्) न्यायानुसार (अलब्धतत्त्वार्थ) जिसे तत्वार्थकी उपलब्धि अर्थात् शुद्ध आत्मानुभवकी प्राप्ति नहीं हुई है (लब्धुं कामः) शुद्ध तत्वकी प्राप्तिकी अभिलाषा करता है किन्तु (लब्धिमान् न) जिसने शुद्धोपलब्धिकी प्राप्ति करली है वह शुद्धतत्वकी प्राप्तिके लिये अभिलाषा नहीं करता है ।

भावार्थः— चाहे विषयोंकी अभिलाषा हो अथवा चाहे शुद्ध तत्वोंकी उपलब्धिकी अभिलाषा हो, दोनोंही अभिलाषाएं दर्शनमोहके उदयसे होती हैं । इसलिए सम्यग्दृष्टिके शुद्ध तत्वोंकी उपलब्धिकी अभिलाषा होती है यहभी आशंका नहीं करना चाहिये (क्योंकि तत्वार्थोपलब्धिके विना सम्यग्दर्शन नहीं होता है । अतः विषयोंके समान शुद्ध तत्वकी उपलब्धिके विषयमेंभी सम्यग्दृष्टिके अभिलाषा नहीं होती है यह सिद्ध होता है ।)

मिथ्या (अर्थात्) सर्वोभिलाषः स्यान्मिथ्याकर्मोदयात्परम् ।
स्वार्थसार्थक्रियासिद्धौ नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥ ४३८ ॥

अन्वयार्थः— (सर्वः अभिलाषः) सब अभिलाषाएँ (परं) केवल (मिथ्याकर्मोदयात्) मिथ्यादर्शनके उदयसे होनेके कारण (मिथ्या स्यात्) मिथ्या होती है (यतः) और (प्रत्यक्षतः) प्रत्यक्षरीतिसे (अर्थक्रिया) कोईभी अभिलाषा (स्वार्थस्य सिद्धये अलं न) अपने स्वार्थके सिद्धिके लिये समर्थ नहीं होती है (यतः) क्योंकि ।

भावार्थः— और कोईभी अभिलाषा स्वार्थ सिद्धिके लिये समर्थही हो ऐसा नियम नहीं है । अतः अभिलाषामात्र केवल मिथ्यात्वके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण मिथ्या है ।

खुलासा ।

क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः ।
अभिलाषस्याप्यसद्भावे स्वेष्टसिद्धिश्च हेतुतः ॥ ४३९ ॥

अन्वयार्थः— (क्वचित्) किसी जीवके (तस्य सद्भावे अपि) उस अभिलाषाके होनेपरभी (अहेतुतः इष्टसिद्धिः न) कारण सामग्रीके न मिलनेसे इष्ट पदार्थकी सिद्धि नहीं होती है (च) और किन्हीं जीवोंके (अभिलाषस्य असद्भावे अपि) अभिलाषाके विनाभी (हेतुतः) कारण सामग्रीके मिलनेपर (स्वेष्टसिद्धिः) अपनी इष्ट सिद्धि होजाती है ।

भावार्थः— अभिलाषाका इष्ट सिद्धिके साथ कार्यकारणभावसम्बन्ध नहीं है । क्योंकि कारण सामग्रीके सद्भावमें विना अभिलाषाकेही इष्ट सिद्धिका सद्भाव और कारण सामग्रीके अभावमें अभिलाषाके न रहनेपरभी इष्टसिद्धिका अभाव देखा जाता है । इसलिये इष्टसिद्धिके लिये केवल अभिलाषा कारण नहीं है किंतु योग्य कारण सामग्रीही इष्टसिद्धिके लिये समर्थ कारण है ।

दृष्टांतपूर्वक उक्त कथनका समर्थन ।

यशःश्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत् ।
नास्य लाभोऽभिलाषेपि विना पुण्योदयात्सतः ॥ ४४० ॥

अन्वयार्थः— (सर्वं जगत्) सम्पूर्ण संसार (यशः श्री सुतमित्रादि) यश, सम्पत्ति, पुत्र, और मित्रादिककी (कामयते) इच्छा करता है परन्तु (सतः पुण्योदयात् विना) पुण्यके सद्भावके विना (अस्य अभिलाषे अपि) इस जीवके उनके विषयमें अभिलाषाके रहनेपरभी (लाभः न) इष्टकी सिद्धि नहीं होती है ।

भावार्थ — यद्यपि कीर्ति सम्पत्ति और पुत्रादिककी प्राप्तिकी इच्छा सबकोही रहती है परन्तु पुण्योदयके विना केवल इच्छामात्रसे किसीकोभी उनकी प्राप्ति नहीं होती है ।

१ ला. स में ' अभिलाषस्याभावेऽपि, ऐसा पाठ है ।

जरामृत्युदरिद्रादि नहि (नापि) कामयते जगत् ।
तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राऽशुभोदयात् ॥ ४४१ ॥

अन्वयार्थः— (जगत्) सम्पूर्ण संसार (जरामृत्युदरिद्रादि) बुढापा, मृत्यु और दारिद्र्यादिकको (न हि कामयते) नहीं चाहता है परन्तु (तत्र) संसारमें जीवोंको (अशुभोदयात् सतः) अशुभोदयके सद्भावसे (बलात्) अभिलाषाके न रहनेपरभी (तत्संयोगः अस्ति) उन जरा आदिका संयोग होता है ।

भावार्थः— यद्यपि जरा मृत्यु आदिको कोईभी नहीं चाहता है परन्तु अशुभोदयसे इच्छाके न रहते हुएभी जरा आदिका समागम होता है ।

संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदश्च (स्तु) निषेधनात्[1] ।
स्याद्विवक्षावशाद्द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥ ४४२ ॥

अन्वयार्थः— (संवेग विधिरूपः स्यात्) संवेग विधिरूप होता है (च) और (निर्वेद निषेधनात्) निषेधको विषय करनेसे निर्वेद निषेधात्मक होता है इसलिए (तयोः) उन संवेग तथा निर्वेदमें (विवक्षा वशात्) विवक्षावशसे द्वैत होता है (अर्थात् अर्थान्तरं न) वास्तवमें अर्थान्तर रूपसे द्वैत नहीं होता है ।

भावार्थः— संवेग विधिरूप होता है और निर्वेद निषेधरूप होता है । इसलिये अपेक्षाभेदसे दोनोका ही एक अर्थ होनेसे दोनोमें केवल विवक्षा वशसे द्वैत है वास्तविक द्वैत नहीं है ।

त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा ।
स संवेगोऽथवा[2] धर्मः साभिलाषो न धर्मवान् ॥ ४४३ ॥

अन्वयार्थः— (सर्वाभिलाषस्य त्यागः) सब अभिलाषोंका त्याग (निर्वेदः) निर्वेद कहलाता है (अथवा) और (लक्षणात्) धर्म तथा धर्मके फलमें अनुरागको संवेग कहते हैं इस सवेगके लक्षणसे

---

१ ला. स में ' विशेषसात्, ऐसाभी पाठ है ।
२ ला. स. में. ' संवेगोप्यथवा , ऐसाभी पाठ है ।

(सः संवेगः धर्मः तथा) वह संवेगरूप धर्मभी सर्वप्रकारकी अभिलापाओंके त्यागरूप पडता है, क्योंकि (धर्मवान् साभिलाषः न) उक्त संवेगवाला सम्यग्दृष्टि अभिलापावान् नहीं होता है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टि अभिलाषावान् नहीं होसकता है इसलिए जैसे सम्पूर्ण अभिलापाओंका त्यागरूप धर्म निर्वेद कहलाता है वैसेही धर्म तथा धार्मिक पुरुषोंमें गुणानुराग करनेरूप संवेग धर्मभी सर्व प्रकारकी अभिलापाओंके त्यागरूप पडता है । अतः दोनोंमें केवल विवक्षावश द्वैत हैं वास्तवमें द्वैत नहीं है ।

नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः ।
नित्यं रागादिसद्भावात् प्रत्युताऽधर्म एव सः ॥ ४४४ ॥

अन्वयार्थः— (इह मिथ्यादृष्टेः) यहांपर मिथ्यादृष्टिके (नित्यं रागादिसद्भावात्) सदैव रागादि भावोंका सद्भाव रहनेसे (क्रियामात्रं अपि) केवल क्रियारूप धर्मका पायाजानाभी (अर्थतः) वास्तवमें (धर्मः न) धर्म नहीं हो सकता है (प्रत्युत) किंतु (सः) वह क्रियारूप धर्म (अधर्म एव) अधर्मही है ।

भावार्थ.— मिथ्यादृष्टिके जो सम्यग्दर्शनके विना बाह्यरूपसे संवेग तथा निर्वेद देखे जाते हैं वे, अन्तरंगमें अनन्तानुबन्धीजन्य रागादिक भावोंका सद्भाव रहनेसे, धर्मरूप नहीं है किंतु अधर्मरूपही है ।

नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात्कचिदरागवान् ।
अस्तरागोऽस्ति सदृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान् ॥ ४४५ ॥

अन्वयार्थः— (कुदृष्टिः) मिथ्यादृष्टि जीव (नित्य) सदैव (रागी स्यात्) रागी होता है (कचित्) कभीभी (अरागवान्) राग रहित (न स्यात्) नहीं होता है तथा (सदृष्टिः) सम्यग्दृष्टि जीव (नित्य अस्तरागः वा अस्ति) सदैव वीतराग होता है (रागवान् न स्यात्) रागवान् नहीं होता है ।

---

१ ला० स० में० ' हि ' ऐसाभी पाठ है ।

भावार्थः— मिथ्यादृष्टि जीव सदैव रागवानही है अरागी नहीं है। और सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्वके अभावसे सदैव वीतरागके समान रागरहित है रागसहित नहीं है।

अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥४४६ ॥

अन्वयार्थः— (अनुकम्पा कृपा ज्ञेया) अनुकम्पा शब्दका अर्थ कृपा समझना चाहिये (अथ) अथवा (वैरवर्जनात्) वैरके त्यागपूर्वक (सर्वसत्वेषु अनुग्रहः) सब प्राणियोंपर अनुग्रह (मैत्रीभावः) मैत्रीभाव (माध्यस्थं) माध्यस्थभाव और (नैःशल्यं) शल्यरहित वृत्ति (अनुकम्पा स्यात्) अनुकम्पा कहलाती है।

भावार्थः— कृपाको वैरवृत्तिके त्यागपूर्वक प्राणीमात्रपर अनुग्रहको, मैत्रीभावको, माध्यस्थभावको और तीनों प्रकारकी शल्यसे रहित वृत्तिको अनुकम्पा कहते है।

दृङ्मोहा (मोहस्या) नुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम् ।
मिथ्याज्ञानं विना न स्याद्वैरभावःक्वचिद्यतः ॥४४७॥

अन्वयार्थः—(तत्र) उस अनुकम्पाके होनेमें (केवल) केवल (दृङ्मोहानुदयः) दर्शनमोहनीयका अनुदय (हेतुः वाच्यः अस्ति) हेतु कहना चाहिये (यतः) क्योंकि (मिथ्याज्ञान विना) दर्शनमोहके उदय-जन्य मिथ्याज्ञानके विना (क्वचित्) किसी जीवमें (वैरभावः न स्यात्) वैरभाव नहीं हो सकता है।

भावार्थ— मिथ्यादृष्टियोंके मिथ्यादर्शनके उदयसे वास्तविक अनुकम्पा नहीं होसकतीं है। क्योंकि मिथ्या-दर्शनके उदयसे मिथ्यादृष्टियोंके जो मिथ्या ज्ञान होता है उससे उनके सदैव वैरभाव पाया जाता है। जबतक मिथ्या-दर्शनके अभावपूर्वक उस वैरभावका अभाव नहीं होता है तबतक उन मिथ्यादृष्टियोंके प्राणिमात्रकेप्रति अनुग्रहादिरूप वास्तविक अनुकम्पा नहीं होती है।

मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम् ।
इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥ ४४८ ॥

अन्वयार्थ — (**यत्**) जो (**परतः स्वस्य**) परके निमित्तसे अपने (**वा**) अथवा (**स्वस्मात् परजन्मिनां**) अपने निमित्तसे दूसरे प्राणियोंके (**मनाक्सुखदुःखादि**) कुछभी सुख दुःखादिक तथा (**मृत्युः वा जीवितं**) मरण और जीवनका (**इच्छेत**) चाहना है (**तत्**) वही (**मिथ्या**) मिथ्याज्ञान है।

भावार्थः— मिथ्यादृष्टियोंके मिथ्यात्वके उदयसे जो ऐसी इच्छा होती है कि मेरे निमित्तसे स्त्री पुत्रादिकको और उनके निमित्तसे मेरेको सदैव सुख व जीवन प्राप्त होते रहें तथा मेरे निमित्तसे शत्रुओंको सदैव मृत्यु व दुःखादिक प्राप्त होते रहें वह सब मिथ्याज्ञान है।

अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः सशल्यवान् ।
अज्ञानाद्धन्तुकामोऽपि क्षमो हन्तुं नचापरम् ॥ ४४९ ॥

अन्वयार्थ— (**यस्य**) जिसके (**एतत् अज्ञानं**) यह मिथ्या अज्ञान (**अस्ति**) होता है (**सः शल्यवान् मिथ्यादृष्टिः**) वह सशल्य मिथ्यादृष्टि है (**च**) तथा वह (**अज्ञानात्**) इस अज्ञानसे (**अपरं हन्तुकामः अपि**) दूसरेको मारनेकी इच्छा रखनेवाला होकरकेभी (**हन्तुं क्षमः न**) मारनेके लिये वास्तवमें समर्थ नहीं होता है।

भावार्थ— जिसके उपर्युक्त अज्ञानभाव रहता है वह मिथ्यात्व शल्यवाला मिथ्यादृष्टि है तथा वह इस अज्ञानसे यद्यपि अन्य जीवों के मारने कि इच्छा करता है तथापि वह वास्तवमें किसीको मार नहीं सकता है। क्योंकि तीव्र अशुभोदयके विना केवल परनिमित्तसे मृत्यु नहीं होती है।

समता सर्वभूतेषु याऽनुकम्पा परत्र सा ।
अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनात् ॥ ४५० ॥

अन्वयार्थः— (**या**) जो (**सर्वभूतेषु**) सब प्राणियोंमें (**समता**) समता—माध्यस्थभाव और (**परत्र**) दूसरे प्राणियोंके प्रति (**अनुकम्पा**) दयाभाव है (**सा**) वह सब (**अर्थतः**) वास्तवमें (**शल्यवत्**) शल्यके समान (**शल्यवर्जनात्**) शल्यके त्यागसे होनेके कारण (**स्वानुकम्पा स्यात्**) स्वानुकम्पाही है।

भावार्थ.— जो सब जीवोंके प्रति समताभाव—माध्यस्थभाव तथा अन्य जीवोंके प्रति दयाभाव है वह वास्तवमें मिथ्यात्वादि शल्यके अभावसे होता है इसलिये स्वानुकम्पाही है ।

रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि ।
न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपात्मनि ॥ ४५१॥

अन्वयार्थः— (हि) निश्चयसे (रागाद्यशुद्धभावाना सद्भावे एव) रागादिक अशुद्ध भावोंका सद्भाव होनेपर ही (बन्ध) कर्मबन्ध होता है और (तदसद्भावे) उन अशुद्ध रागादिकका अभाव होनेपर (बन्ध न) कर्मबन्ध नहीं होता है (तत्) इसलिये (आत्मनि कृपा) स्वानुकम्पा (विधेया) करनी चाहिये ।

भावार्थः— रागादिकके सद्भावसे नियमपूर्वक बन्ध होता है । तथा उनके असद्भावसे बन्ध नहीं होता है । इसलिये अपनी आत्मामें रागादिक भावोंको उत्पन्न न करके स्वानुकम्पा करनी चाहिये ।

आस्तिक्यं तत्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चितिः ।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चाऽऽस्त्यादि धर्मवित ॥ ४५२॥

अन्वयार्थ.— (स्वतःसिद्धे तत्वसद्भावे) स्वतःसिद्ध नव तत्वोंके सद्भावमे (च) तथा (धर्मे) धर्ममें (धर्मस्य हेतौ) धर्मके हेतुमे (च) और (फले) धर्मके फलमे जो (विनिश्चितिः) निश्चय रखना है वह (अस्त्यादिधर्मवित्) जीवादि पदार्थोंमें अस्तित्व बुद्धि रखनेवाला (आस्तिक्यं) अस्तिक्य कहलाता है ।

भावार्थः— तत्वोंके सद्भावमें, धर्ममें, धर्मके कारणमें व धर्मके फलमें विश्वास रखनाही जीवादि पदार्थोंमें अस्तित्व बुद्धि रखनेवाला आस्तिक्य गुण कहलाता है ।

अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतः सिद्धोप्यमूर्तिमान् ।
चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥ ४५३ ॥

१ ला. सं. में ' गतिश्चितः , ऐसाभी पाठ है। तदनुसार (' स्वतःसिद्धे तत्वसद्भावे चितः गतिः आस्तिक्यं ') ऐसा अन्वय समझना ।

अन्वयार्थः— (यः स्वतः सिद्धः) जो स्वतः सिद्ध है (अपि) और (अमूर्तिमान्त्वात्) अमूर्तीक है वह (चेतनः आत्मा) चेतन, आत्मा (जीवसंज्ञः अस्ति) जीव नामा पदार्थ है (तु) तथा (यावान्-अपि अचेतनः) सपूर्ण अचेतन द्रव्य (अजीवः अस्ति) अजीव नामा पदार्थ है ।

भावार्थ— स्वतःसिद्ध, अमूर्तीक, चेतन आत्मा जीव है । और शेष सम्पूर्ण अचेतन द्रव्य अजीव है ।

अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः ।
कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥ ४५४ ॥

अन्वयार्थः— (हि) निश्चयसे (आत्मा) आत्मा (कार्मणात्मकैः कर्मभिः) कार्मणवर्गणारूप कर्मोंके द्वारा (अनादितः बद्धः अस्ति) अनादि कालसे बद्ध है (च) और इसलिए (तेषां) उनका (कर्त्ता भोक्ता) कर्ता व भोक्ता भी है तथा (तत्क्षयात्) उन कर्मोंके क्षयसे (मोक्षभाक् भवेत्) मुक्त होजाता है ।

भावार्थ— जीव अनादि कालसे पौद्गलिक कर्मोंसे बधा हुआ है । तथा इसी अपेक्षासे व बधा कर्ता व भोक्ताभी है । इसलिये बन्ध नामा पदार्थ है । और उन बद्ध कर्मोंके क्षयसे मोक्षको प्राप्त होता है, इसलिये मोक्षनामाभी पदार्थ है ।

अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै ।
आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥ ४५५ ॥

अन्वयार्थः— (तस्य संसारिण अनिश) उन संसारी जीवके (च) निश्चयसे (तद्धेतुः) बन्धके हेतुभूत व मोक्षके हेतुभूत (आस्रवाद्याः तथा सन्ति) आश्रव संवर और निर्जरा पदार्थभी जीवादिकके समान पदार्थ है (च) तथा (तत्फलं) उन आश्रव और बन्धके फलभूत , पुण्यं च पापं अस्ति) पुण्य व पापभी पदार्थ है ।

भावार्थः— पहले पद्यमें जीव अजीव, बन्ध और मोक्ष के अस्तित्वको बता चुके है । और इस पद्यमें 'च' शब्दसे बन्धके हेतुभूत आश्रव तथा मोक्षके हेतुभूत संवर और निर्जरा नामके पदार्थोंका अस्तित्व बताया है । तथा

आश्रव और बन्धके फलभूत पुण्य व पापकाभी अस्तित्व है। इसप्रकार नव पदार्थोंके विषयमें अस्तित्व बुद्धिको आस्तिक्य कहते है।

अस्त्येवं पर्ययादेशाद्बन्धो मोक्षश्च [स्तु] तत्फलम्।
अथ(अपि)शुद्धनयादेशाच्छुद्धः सर्वोऽपि सर्वदा ॥ ४५६ ॥

अन्वयार्थः— (एवं) इसप्रकार (पर्ययादेशात्) पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे (बन्धः मोक्षः च तत्फलं अस्ति) बन्ध मोक्ष तथा बन्धके फल पुण्य पाप आदि है (अथ) और (शुद्धनयादेशात्) शुद्धद्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे (सर्वे अपि) सब ही जीव (सर्वदा शुद्धः) सदैव शुद्ध है।

भावार्थः— इसप्रकार पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे बन्ध, मोक्ष व बन्धके फल पुण्य और पाप नामके पदार्थ है। तथा यँहापर 'च' शब्दसे आश्रवादिकका ग्रहण किया है। और शुद्ध नयकी अपेक्षासे सदैव सबही जीव शुद्ध है। इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे जीव नव पदार्थमय है। तथा शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जीव सदैव शुद्ध है।

तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वसं(यं)वेद्यश्चिदात्मकः।
सोऽहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पौद्गलिका अमी ॥ ४५७ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन नव तत्वोंमें (यः अयं) जो यह (स्वसंवेद्यः) स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय (चिदात्मकः) चैतन्यात्मक और (जीवसंज्ञः) जीव संज्ञावाला है (सः अहं) वह मैं उपादेय हूं (तु) तथा (अमी अन्ये पौद्गलिकाः रागादयः हेयाः) ये मुझसे भिन्न पौद्गलिक रागादिकभाव त्याज्य है।

भावार्थः— पर्यायार्थिक नयसेही बन्धमोक्षादि पदार्थ है। द्रव्यार्थिक नयसे सबही शुद्ध जीव द्रव्य है इस कथनमें हेतु यह है कि नव तत्वोंमेंसे केवल जीवही उपादेय है। और शेष बन्धादिरूप रागादि पदार्थ हेय है।

इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम्।
निश्चयव्यवहाराभ्यामास्तिक्यं तत्तथामतिः ॥ ४५८ ॥

अन्वयार्थः— (यतः) जिस कारणसे (निश्चयव्यवहाराभ्यां) निश्चय और व्यवहारनयके द्वारा (इत्यादि 'यत्यथा') इत्यदि जो जैसे (अनादि) अनादिसे (जीवादि आखिल वस्तुजातं) जीवादिक संपूर्ण पदार्थ है (तत) तिसकारणसे उनमें निश्चय व्यवहारपूर्वक (तथ्यथामति) वे वैसेही है ऐसी बुद्धिका होना (आस्तिक्यं) आस्तिक्य है ।

भावार्थ— उक्त प्रकारसे निश्चयव्यवहार नयके गोचरभूत अनादिसे जो और जैसे जीवादिक सम्पूर्ण पदार्थ है उनको वैसेही निश्चयव्यवहारनयपूर्वक जानना, आस्तिक्य कहलाता है ।

सम्यक्त्वेनाविनाभूतंस्वानुभूत्यैकलक्षणम् ।
आस्तिक्यं नाम सम्यक् तत (त्वं) मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥ ४५९ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यक्त्वेन अविनाभूत) सम्यक्त्वसे अविनाभूत (स्वानुभूत्यैकलक्षण) स्वानुभूतिही है एक लक्षण जिसका ऐसा जो आस्तिक्य है (तत् सम्यक् आस्तिक्यं नाम) वह सम्यक् आस्तिक्य कहलाता है और (ततः अन्यथा) उससे विपरीत जो आस्तिक्य है वह (मिथ्या आस्तिक्यं) मिथ्या आस्तिक्य कहलाता है ।

भावार्थः— आस्तिक्य दो प्रकारका है एक समीचीन आस्तिक्य और दुसरा मिथ्या आस्तिक्य । उनमेंसे जो स्वानुभूतिरूप लक्षण सहित सम्यक्त्वका अविनाभावी आस्तिक्य है वह समीचीन आस्तिक्य है । तथा जो इससे विपरीत आस्तिक्य है वह मिथ्या आस्तिक्य है ।

शंका ।

ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः ।
न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥ ४६० ॥
यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत् ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोर्थतः ॥ ४६१ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**वै**) निश्चयसे (**एक केवलज्ञानं**) एक केवल ज्ञानही (**अर्थतः**) वास्तवमें (**प्रत्यक्षं**) प्रत्यक्ष है इसलिए (**तच्छेषज्ञानचतुष्टयं**) उससे अतिरिक्त शेष मतिज्ञानादि चारों ज्ञान वास्तवमें (**कदाचित् प्रत्यक्षं न**) कभीभी प्रत्यक्ष नहीं होते हैं अर्थात यथार्थमें सदैव परोक्षही रहते हैं ।

(**यदि वा**) अथवा (**आक्ष्यं**) इंद्रियजन्य ज्ञान (**देशतः अध्यक्षं**) देशप्रत्यक्ष होते हैं इसलिए (**अर्थतः**) वास्तवमें (**तत् आस्तिक्यं स्वात्मसुखादिवत्**) वह आस्तिक्य आत्माके सुखादिकके समान (**स्वसंवेदनप्रत्यक्षं कुतः**) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कैसे होसकता है ?

भावार्थ— शंकाकारकी शका है कि परमागममें केवलज्ञानकोही अकेला वास्तविक प्रत्यक्ष माना है और अन्य ज्ञान परोक्ष माने है । तथा लोकसे व्यवहारमें इंद्रियजन्य मतिज्ञानकोभी प्रत्यक्ष माना है । तो आस्तिक्य नामा गुण सुखदुःखादिकके समान स्वसंवेदनगोचर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कैसे होगा ? अर्थात् न तो वह केवल ज्ञानरूपही है और न वह इंद्रियज्ञानरूपही है इसलिए प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है ।

समाधान ।

सत्यमाद्यंद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि ।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादितः ॥ ४६२ ॥

अन्वयार्थः— (**सत्यं**) ठीक है परन्तु (**आद्यं द्वयं ज्ञानं**) आदिके मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान (**परसंविदि परोक्षं**) परपदार्थके जानते समय परोक्ष हैं (**तु**) और (**दृङ्मोहोपशमादितः**) दर्शनमोहनीयके उपशम क्षय तथा क्षयोपशम होनेके कारण (**स्वानुभूतौ**) स्वानुभवकालमें (**प्रत्यक्षं**) प्रत्यक्ष है ।

भावार्थ— शंकाकारका कहना ठीक है परन्तु उक्त मतिश्रुतको परपदार्थके जानते समय परोक्ष माना है । और स्वसंवेदनके समय प्रत्यक्ष माना है । इसलिए आस्तिक्य आत्मीय सुखादिकके समान स्वसंवेदनरूप मतिश्रुतज्ञानके गोचर होनेसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप कहा जाता है ।

स्वात्मानुभूतिमात्र स्यादास्तिक्यं परमो गुणः ।
भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं (त्रे)परत्वतः ॥४६३ ॥

अन्वयार्थः— (स्वात्मानुभूतिमात्रं) केवल स्वानुभूतिरूप (आस्तिक्यं) आस्तिक्य (परमः गुणः स्यात) परम गुण है (परद्रव्ये) परद्रव्यमें (परत्वत ज्ञानमात्र) पररूपपनेसे ज्ञानमात्र जो स्वात्मानुभूति है (भवेत् वा मा 'भूत्') वह हो व न हो ।

भावार्थः— केवल स्वात्माकी अनुभूतिरूप आस्तिक्यही परम गुण है । किंतु परद्रव्यमें वह आस्तिक्य केवल स्वानुभूतिरूप हो ही ऐसा नहीं कहा जासकता है।

अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि ।
गाढं प्रतीतिरस्यास्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः ॥४६४ ॥
न तथास्ति प्रतीतिर्वा (चास्ति) नास्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ।
दृङ्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेसद्भावतोऽनिशम् ॥ ४६५ ॥

अन्वयार्थ — (तत्र जीवादौ परवस्तुनि) उन जीवादिक पर वस्तुओंमे (परोक्षत्वे अपि) परोक्षपनेके रहनेपरभी (अस्य सम्यग्दृगात्मनः) इस सम्यग्दृष्टिके (यथा गाढ प्रतीतिः अस्ति) जैसी दृढ श्रद्धा होती है (तथा) वैसी (प्रतीतिः) प्रतीति (अस्य मिथ्यादृशः) इस मिथ्यादृष्टिके (स्फुटं वा न च अस्ति) अवश्यही नहीं होती है क्योंकि (तत्र अनिश दृङ्मोहोदयात्) मिथ्यादृष्टिके निरन्तर दर्शनमोहके उदयसे (भ्रांते· सद्भावतः) भ्रम रहता है ।

भावार्थ — तथा जीवादिक परपदार्थोंमेभी सम्यग्दृष्टिके जैसी आस्तिक्यपूर्वक गाढ प्रतीति होती है वैसी गाढप्रतीति मिथ्यादृष्टिके नहीं होती है । क्योंकि मिथ्यात्वका उदय रहनेसे उसके सदैव भ्रम बनारहता है ।

ततः सिद्धमिद सम्यक् युक्तिस्वानुभवागमात् ।
सम्यक्त्वेनाऽविनाभूतमस्त्या(स्त्रा)स्तिक्यं गुणो महान् ॥ ४६६ ॥

अन्वयार्थः— (तत.) इसलिये (युक्तिस्वानुभवागमात) युक्ति स्वानुभव और आगमसे

(इदं सम्यक् सिद्धं) यह भलीभान्ति सिद्ध होता है कि (सम्यक्त्वेन अविनाभूतं) सम्यक्त्वके साथ अविना-भाव सम्बन्ध रखने वाला (आस्तिक्यं) आस्तिक्य (महान् गुण अस्ति) महान गुण है।

भावार्थः— इसलिए युक्ति, स्वानुभव तथा आगमसे यह भलेप्रकार सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाला आस्तिक्य महान् गुण है।

उक्तं च।

संवेओ णिव्वेओ णिंदणगरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकम्पा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः— (सम्मत्ते) सम्यक्त्वमें (संवेओ) संवेग (णिव्वेओ) निर्वेद (णिंदण गरुहा) निन्दा, गर्हा (य) और (उवसमो) उपशम (भत्ती) भक्ति (वच्छल्लं) वात्सल्य तथा (अनुकम्पा) अनुकम्पा ये (अट्ठगुणा) आठ गुण (होंति) होते है।

भावार्थः—सम्यक्त्वके होनेपर संवेग, निर्वेद, आत्मनिन्दा, गर्हा, प्रशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण होते है।

उक्तगाथार्थसूत्रेपि प्रशमादिचतुष्टयम्।
नातिरिक्तं यतोस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥ ४६७ ॥

(उक्तगाथार्थसूत्रे अपि) उक्त गाथा अर्थ सूत्रमें भी (प्रशमादिचतुष्टय) प्रशम [illegible] है (अतिरिक्तं न) उनसे भिन्नका नहीं है (यतः) क्योंकि (अत्र) इनमें [illegible]) लक्षणोंका उपलक्षण है।

[illegible] लक्षण करनेसे उन प्रशमादिक चार गुणोंका ही इन आठोंमें कथन है। अतः सम्य-[illegible] आगमसे बाधा नहीं आती है।

अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् ।
तत्तथाऽस्त्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥४६८ ॥

अन्वयार्थः— (यत् लक्षणस्य अपि) जो लक्षणकाभी (लक्षणं) लक्षण होता है (तत् उपलक्षणं अस्ति) वह उपलक्षण कहलाता है क्योंकि (उत्तरस्य लक्षणं च) लक्षणका लक्षणही (आदिलक्ष्यस्य तत् अस्ति) प्रथम लक्ष्यकी अपेक्षासे उपलक्षण कहलाता है (तद्यथा) वह इसप्रकार है कि ।

भावार्थः— लक्षणके लक्षणको उपलक्षण कहते हैं । क्योंकि लक्षणका लक्षणही मूल लक्ष्यका उपलक्षण कहलाता है ।

यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः ।
स चोऽपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाऽथवार्हताम् ॥४६९ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (सम्यक्त्वभावस्य) सम्यक्त्व भावका (संवेग गुणः) संवेग गुण (लक्षणं)लक्षण है (च) और (सः) वह संवेग गुण (अर्हतां भक्त्या वात्सल्येन) अर्हत भगवानकी भक्ति अथवा वात्सल्यसे (उपलक्ष्यते , उपलक्षित होता है ।

भावार्थ— जैसे सम्यक्त्व लक्ष्य है और संवेग उसका लक्षण है । तथा अर्हत भगवानकी भक्ति अथवा वात्सल्य ये दोनों संवेगरूप लक्षणके लक्षण है इसलिए संवेग सम्यक्त्वका लक्षण है और अर्हतभक्ति व वात्सल्य ये दोनों उपलक्षण है ।

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् ।
वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥ ४७० ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन दोनोंमें (शमात्) दर्शनमोहनीयका उपशम होनेसे (वाग्वपुश्चेतसां) वचन, काय और मन सम्बन्धी (अनौद्धत्यं) उद्धतपनेके अभावको (भक्तिः) भक्ति कहते है तथा (तद्गुणोत्कर्षहेतवे) उनके गुणोंके उत्कर्षके लिए (सोद्यत मन) तत्पर मनको (वात्सल्यं) वात्सल्य कहते है ।

भावार्थः— मिथ्यात्वके अभावसे मन, वचन, और कायके द्वारा अर्हंतभगवानकी विनयको भक्ति कहते है तथा अपनेमें उनके गुणोत्कर्षकी प्राप्तिके लिए उद्यत मनको वात्सल्य कहते है ।

भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं स्यात्संवेगमन्तरा ।
स संवेगो दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणम् ॥ ४७१ ॥

अन्वयार्थः— (**भक्तिः वा वात्सल्य नाम**) भक्ति अथवा वात्सल्य (**संवेगमन्तरा न स्यात्**) संवेगके विना नहीं होते है अतः (**स संवेग**) वह संवेग (**दृश लक्ष्म**) सम्यग्दर्शनका लक्षण है और (**एतौ द्वौ**) भक्ति तथा वात्सल्य ये दोनों (**उपलक्षणं**) उस सम्यग्दर्शनके उपलक्षण है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिके, संवेगके विना भक्ति और वात्सल्य नहीं होते है । इसलिये सम्यग्दृष्टिका संवेग लक्षण है । तथा भक्ति व वात्सल्य ये दोनों उपलक्षण है ।

दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमो गुणः ।
तत्राभिव्यन्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥ ४७२ ॥

अन्वयार्थः— (**दृङ्मोहस्य उदयाभावात्**) दर्शनमोहनीयके उदयके अभावसे (**प्रशमः गुणः प्रसिद्धः**) प्रशम गुण उत्पन्न होता है यह प्रसिद्ध है और (**तत्र**) उस प्रशमके (**बाह्यात् अभिव्यन्जकं**) बाह्यरूपसे अभिव्यन्जक (**निन्दनं अपि च गर्हणं**) निंदा तथा गर्हा ये दोनों होते है ।

भावार्थः— मिथ्यात्वके अभावसे प्रशम नामका गुण होता है । और बाह्यरूपसे आत्मनिंदा तथा आत्म-गर्हा उस प्रशम गुणके द्योतक है ।

निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि ।
पश्चात्तापकरो बन्धो ना[नो]पेक्ष्यो नाप्यु[प्य]पेक्षितः ॥ ४७३ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र**) उन दोनोंमेंसे (**निन्दनं**) निन्दन यह कहलाता है कि (**दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि**) दुर्वार रागादिरूप दुष्ट कर्मोंका (**पश्चात्तापकरः बन्धः**) पश्चात्तापकारक बन्ध (**नापेक्ष्यः अपि**) अनिष्ट होकरभी (**उपेक्षित. न**) उपेक्षित नहीं होता है-छूटता नहीं है ।

भावार्थः— यद्यपि मेरे लिये इन दुष्ट कर्मोंका बन्ध पश्चात्ताप कारक है—अनिष्ट है तथापि छूटता नहीं है इसप्रकारके विचारको निंदन कहते है।

गर्हणं तत्परित्यागः पंचगुर्वात्मसाक्षिकः।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥ ४७४ ॥

अन्वयार्थः— (**नूनं**) निश्चयसे (**निष्प्रमादतया**) प्रमाद रहित होकरके (**शक्तितः**) अपनी शक्तिके अनुसार (**कर्महानये**) उन कर्मोंके क्षयके लिये जो (**पंचगुर्वात्मसाक्षिकः**) पंचपरमेष्ठीके सामने आत्मसाक्षीपूर्वक (**तत्परित्यागः**) उन रागादि भावोंका त्याग है वह (**गर्हणं**) गर्हा कहलाती है।

भावार्थः— और उन कर्मोंके क्षयके लिये जो पंचपरमेष्ठीके सामने आत्मसाक्षीपूर्वक अपनी शक्तिके अनुसार अप्रमादी होकर उन रागादि भावोंका त्याग किया जाता है। उसको गर्हा कहते है।

अर्थादेतद्द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम।
प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाऽविशेषतः ॥ ४७५ ॥

अन्वयार्थः— (**अर्थात**) वास्तवमें (**कषायाणां अनुद्रेकाविशेषतः**) कषायोंकी मन्दता रूपही होनेसे (**प्रशमस्य एतत् द्वयं**) प्रशम नामा गुणके लक्षणभूत ये दोनों (**सम्यक्त्वस्य उपलक्षणं सूक्तं**) सम्यक्त्वके उपलक्षण सिद्ध होते है।

भावार्थः— निंदा और गर्हामेंभी कषायोंकी मन्दता पाई जाती है। इसलिए सम्यक्त्वके प्रशम नामा गुणके लक्षणभूत जो निंदा तथा गर्हा है वे दोनों सम्यक्त्वके उपलक्षण है।

शेषमुक्तं यथाम्नायाज्ज्ञातव्यं परमागमात।
आगमाब्धेः परं पारं माद्दग्गन्तुं क्षमः कथम ॥ ४७६ ॥

अन्वयार्थः— (**शेषं उक्तं**) शेष कथन (**यथाम्नायात्**) आम्नायानुसार (**परमागमात्**) परमागमसे (**ज्ञातव्यं**) जानना चाहिये क्योंकि (**आगमाब्धेः**) आगमरूपी समुद्रके (**परं पारं**) पारको (**गन्तु**)

प्राप्त करनेके लिये (मादृक्) मेरे समान पुरुष (कथं क्षमः) कैसे समर्थ होसकता है।

भावार्थ — जिसप्रकार प्रशम और संवेगके लक्षणभूत निंदा गर्हा तथा भक्ति और वात्सल्य सम्यक्त्वके उपलक्षण होते है उसीप्रकार शेष कथनभी आम्नायके अनुसार परमागमसे जानना चाहिये । मेरे समान पुरुष कैसे उनके वर्णनमें समर्थ होसकता है ।

शंका।

ननु तद्दर्शनस्यैतल्लक्ष्यस्य स्यादशेषतः ।
किमथास्त्यपरं किंचिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥ ४७७ ॥

अन्वयार्थ — (ननु) शंकाकारका कहना है कि (लक्ष्यस्य सद्दर्शनस्य) लक्ष्यभूत सम्यग्दर्शनका (अशेषतः) सम्पूर्णरीतिसे (एतत् लक्षणं स्यात्) केवल यही लक्षण है (अथ किं) अथवा क्या (अपरं किंचित् लक्षणं अस्ति) दूसरा कोई लक्षण है यदि है तो (अद्य) अब (नः) मुझे (तत् वद) वह बताओ ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि सम्यग्दर्शनका केवल पूर्वोक्तही लक्षण है अथवा क्या कोई दूसराभी लक्षण है । यदि दूसरा लक्षण है तो वह बताना चाहिये ।

समाधान।

सम्यग्दर्शनमष्टांगमस्ति सिद्धं जगत्त्रये ।
लक्षणं च गुणश्चांगं शद्बाश्चैकार्थवाचकाः ॥ ४७८ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यग्दर्शनं अष्टांग) सम्यग्दर्शन आठ अंगवाला (जगत्त्रये सिद्धं अस्ति) तीनों लोकमें प्रसिद्ध है (च) तथा (लक्षणं गुणः च अंगं च एते) लक्षण, गुण और अग ये सब (एकार्थवाचकाः शद्बाः) एकार्थवाचक शद्ब है ।

भावार्थः— तीनों लोकोंमें सम्यग्दर्शनके आठ अंग प्रसिद्ध है । और यहांपर अंग शद्बका अर्थ लक्षण है । क्योंकि अंग, गुण तथा लक्षण ये तीनों शद्ब एकार्थवाचक हैं । इसलिए सम्यग्दर्शनके निःशंकितादि आठ अंगभी लक्षण है ।

निःशंकितं यथा नाम निष्कांक्षितमतः परम् ।
विचिकित्सावर्जं चापि तथा दृष्टेरमूढता ॥ ४७९ ॥
उपबृंहणनामा च(थ)सुस्थितीकरणं तथा ।
वात्सल्यं च यथाम्नायाद् गुणोऽप्यास्ति प्रभावना ॥ ४८० ॥

अन्वयार्थ— (यथा) जैसेकि (निःशङ्कितंनाम) निशंकित (अतः परं) इसके बाद (निःकांक्षितं) निःकांक्षित (अपि च) और (विचिकित्सावर्जं) निर्विचिकित्सित (तथा) तथा (दृष्टेः अमूढता) अमूढदृष्टि (च) और (उपबृंहणनामा) उपबृंहण (तथा) और (सुस्थितीकरणं) स्थितीकरण (च) तथा (वात्सल्यं) वात्सल्य (अपि) और (यथाम्नायात्) आम्नायानुसार (प्रभावना गुणः अस्ति) प्रभावना इसप्रकार ये सम्यक्त्वके आठ गुण—अंग होते हैं ।

भावार्थ— सम्यग्दृष्टीके निशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ गुण, अंग हैं ।

निशंकित अंग

शंका भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी ।
तस्य निष्क्रांतितो जातो भावो निःशंकितोऽर्थतः ॥ ४८१ ॥

अन्वयार्थ (शंका भीः साध्वस भीतिः भयं अमी एकाभिधा) शंका, भी, साध्वस, भीति और भय ये शब्द एकार्थ वाचक हैं और (तस्यनिष्क्रान्तितः) उस भयके अभावसे (जातः भावः) उत्पन्न होनेवाला भाव (अर्थतः) अर्थकी अपेक्षासे (निःशङ्कितः) निशंकित अंग कहलाता है ।

भावार्थः— शंका, भी, साध्वस, भीति और भय इनका एकही अर्थ है । तथा इनसे रहित भाव निःशंकित अंग कहलाता है ।

अर्थवशादत्र सूत्रे(मूलार्थे)शंका न स्यान्मनीषिणाम् ।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदास्तिक्यगोचराः ॥ ४८२ ॥

अन्वयार्थः— (सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः) सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ (तदास्तिक्य-गोचराः स्युः) सम्यग्दृष्टिके आस्तिक्यके गोचर है अतः (अत्र सूत्रे) उनके अस्तित्व प्रतिपादक आगममें (मनीषिणां) सम्यग्दृष्टियोंके (अर्थवशात्) किसी प्रयोजनवश कभीभी (शका न स्यात्) शका नहीं होती है ।

भावार्थ.— परमाणु आदि सूक्ष्म, मेरु आदि अन्तरित और रामरावणादि दूरवर्ती पदार्थोंको सम्यग्दृष्टि केवल आस्तिक्यपूर्वक जानलेता है । इसलिये सम्यग्दृष्टिको इनके विषयमेंभी शंका नहीं होती है ।

तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः ।
अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिंगस्याक्षैरदर्शनात ॥ ४८३ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन सूक्ष्मादि पदार्थोंमें (धर्मादय. सूक्ष्माः) धर्मादिक द्रव्य सूक्ष्म होते है और (कालाणवः अणवः सूक्ष्माः) कालाणु तथा शुद्ध पुद्गलपरमाणुभी सूक्ष्म होते है क्योंकि (एतेषां) इनके (लिंगस्य) साधक साधनका (अक्षैः अदर्शनात्) इंद्रियोंके द्वारा दर्शन नहीं होता है इसलिये इनमें (सूक्ष्मत्वं अस्ति) सूक्ष्मपना हैं ।

भावार्थः— किसीभी इन्द्रियके द्वारा गोचर न होसकनेस धर्म, अधर्म, आकाश, काल और शुद्ध पुद्गलपरमाणु ये सब सूक्ष्म कहलाते हैं ।

अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपाः ।
दूरार्था भाविनोतीता रामरावणचाक्रिणः ॥ ४८४ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे कि (द्वीपसरिन्नाथनगाधिपा.) द्वीप, समुद्र, और पर्वत आदि (अन्तरिताः) अन्तरित पदार्थ हैं और (भाविनः अतीताः) भूत तथा भविष्यत कालमें होनेवाले (रामरावणचक्रिणः) राम, रावण, और चक्रवर्ती (दूरार्थाः) दूरार्थ है ।

भावार्थः— धातकी खंडादि द्वीप, लवणादि समुद्र तथा सुमेरु आदि पर्वत अत्यन्त दूरक्षेत्रवर्ती पदार्थ अन्तरित कहलाते है । और भूतभविष्यत् कालवर्ती रामरावण चक्रवर्ती आदि कालकी अपेक्षासे अत्यन्त दूर होनेसे दूरार्थ कहलाते है ।

न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषां क्वाप्यसंशयम् ।
संशयस्यादिहेतोर्वै दृङ्मोहस्योदयात्सतः ॥ ४८५ ॥

अन्वयार्थः— (मिथ्यादृशः) मिथ्यादृष्टियोंके (एतेषां ज्ञानं) इन सूक्ष्म आदि पदार्थोंका ज्ञान (क्व अपि) कभीभी (असंशयं न स्यात्) निःसंशयरूपसे नहीं होता है क्योंकि (वै) निश्चयसे उनके (संशयस्यादि हेतोः) संशयादिकका हेतुभूत (दृङ्मोहस्योदयात् सतः) दर्शनमोहनीयका उदय रहता है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टियोंको इन सूक्ष्मादि पदार्थोंका आस्तिक्य भावपूर्वक ज्ञान होता है । परन्तु मिथ्यादृष्टियोंके संशयादिकका कारणभूत मिथ्यात्वका उदय सदैव रहता है । इसलिए उनको इनके विषयमें सदैव संशय बना रहता है ।

नचाशङ्क्यं परोक्षास्ते सद्दृष्टेर्गोचराः कुतः ।
तैः सह सान्निकर्षस्य साक्ष(क्षि)कस्याप्यसंभवात् ॥ ४८६ ॥

अन्वयार्थ— (तैः सह साक्षकस्य सन्निकर्षस्य अपि असंभवात्) उन सूक्ष्म आदि पदार्थोंके साथ इंद्रिय सहित सन्निकर्षकेभी असंभव होनेसे (ते परोक्षाः) वे परोक्ष सूक्ष्मादि पदार्थ (सद्दृष्टेः गोचराः कुतः) सम्यग्दृष्टिके ज्ञानके विषयभूत कैसे होते है ऐसी (न च आशंक्यं) आशंका नहीं करना चाहिये ।

भावार्थः— ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि सूक्ष्मादि पदार्थोंके साथ इंद्रियसन्निकर्ष नहीं होता है अतः वे परोक्ष है । इसलिये सम्यग्दृष्टियोंकोभी उन परोक्षसूक्ष्मादिकके विषयमें ज्ञान कैसे होगा ।

अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं महतां महत् ।
यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥ ४८७ ॥

अन्वयार्थः— (तत्रापि) सूक्ष्म आदि पदार्थोंके परोक्ष होनेपरभी (महतां महत् सम्यक्त्व माहात्म्यं अस्ति) सम्यग्दृष्टियोंके सम्यक्त्वका ऐसा कुछ माहात्म्य है कि (यत्) जिससे उनके (अस्य जगतः) इस जगतका (आस्तिक्यपुरस्सरं ज्ञानं अस्ति) आस्तिक्यपूर्वक ज्ञान पाया जाता है ।

भावार्थ — सूक्ष्मादि पदार्थोंके अत्यन्त परोक्ष होनेपरभी सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वके महात्म्यसे उन सबकाभी ज्ञान होता है।

नासंभवमिदं यस्मात स्वभावोऽतर्कगोचरः ।
अतिवागतिशयः सर्वो योगिनां योग(गि)शक्तिवत ॥ ४८८ ॥

अन्वयार्थः— (इदं असभवं न) सम्यक्त्वके इसप्रकारके महात्म्यका होना असंभव नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (स्वभावः अतर्कगोचरः) स्वभाव तर्कका विषय नहीं होता है इसलिये (योगिनां योगशक्तिवत्) योगियोंकी योगशक्तिके समान (सर्वः अतिशयः) सम्यग्दृष्टियोंका वह सब माहात्म्य (अतिवाक्) वचनके द्वारा कहा नहीं जासकता है।

भावार्थः— जैसे योगियोंकी योगशक्तिका अचिन्त्य माहात्म्य रहता है वैसेही सम्यग्दृष्टियोंके सम्यक्त्वकाभी अचिन्त्य माहात्म्य है। और वह संभव है, असंभव नहीं है।

क्योंकि।

अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदो(दो)पमम् ॥ ४८९ ॥

अन्वयार्थः— क्योंकि (सम्यग्दृगात्मनः) सम्यग्दृष्टिजीवका (आत्मपरिच्छेदि) अपनी आत्माको जाननेवाला (स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं) स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप ज्ञान (शुद्धं) शुद्ध (च) और (सिद्धास्पदोपमं) सिद्धोंके समान (अस्ति) होता है।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टियोंका, अपनी आत्माको जाननेवाला स्वसंवेदन ज्ञान सिद्धोंके समान शुद्ध होता है इसलिए उनके ज्ञानका उक्त माहात्म्य असभव नहीं है।

यत्रानुभूयमाने[नो]पि सर्वैराबालमात्मनि ।
मिथ्याकर्मविपाकाद्धि नानुभूतिः शरीरिणाम ॥ ४९० ॥

अन्वयार्थ — यद्यपि (आबालम्) बालकसे लेकर वृद्धतक (सर्वै.) सबके द्वारा (यत्र आत्मनि अनुभूयमाने अपि) जो आत्मा अनुभव करनेके योग्य है तथापि उसके विषयमें (वै) निश्चयसे (मिथ्याकर्म विपाकात्) केवल मिथ्यात्व कर्मके उदयसे (शरीरिणां अनुभूतिः न) मनुष्योंको स्वानुभव नहीं होता है।

भावार्थः— यद्यपि आत्मा सबके द्वारा अनुभव करनेके योग्य है परन्तु मिथ्यात्व कर्मका जबतक उदय रहता तबतक उसका किसीकोभी अनुभव नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टेःकुदृष्टेश्च स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि।
न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोनातिक्रमात् ॥ ४११ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यग्दृष्टेः च कुदृष्टेः) सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके (वस्तुनि) पदार्थके विषय करनेमें केवल (स्वादुभेदः अस्ति) स्वादभेद होता है किंतु (तत्र) उनके विषयभूत पदार्थोंमें (वास्तव भेद. न) वास्तविक भेद नहीं होता है क्योंकि (वस्तुसीम्न अनतिक्रमात्) कोईभी पदार्थ अपनी मर्यादाका उलंघन नहीं करता है।

भावार्थ.— सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके वस्तुके केवल स्वादमें भेद होता है किंतु वस्तु अपने वस्तुत्वका कभी उलंघन नहीं करता है इसलिये उनके विषयभूत पदार्थोंमें कुछ भेद नहीं होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टिके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ भिन्न हों और मिथ्यादृष्टिके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ भिन्न हो ऐसा नहीं हैं। क्योंकि पदार्थ तो जैसे है। वैसेही है। परन्तु सम्यग्दृष्टिके रागके अभावसे अहंकार भाव ममकार भाव नहीं होते है मिथ्यादृष्टिके होते हैं। इसलिय प्रत्येक वस्तुके अनुभवमें भेद होजाता है।

अत्र तात्पर्यमेवैतत्तत्त्वैकत्वेपि यो भ्रमः।
शंकायाः सोऽपराधोऽस्ति सातु मिथ्योपजीविनी ॥ ४१२ ॥

अन्वयार्थ — (अत्र एतत् एव तात्पर्यं) यहांपर यही अभिप्राय है कि (तत्वैकत्वे अपि यः भ्रमः) दोनोंके विषयभूत तत्त्वोंमें एकत्वके होनेपरभी जो भ्रम होता है (सः शंकायाः अपराधः अस्ति)

वह शंकाका अपराध है (तु) और (सा) वह शंका (मिथ्योपजीविनी) मिथ्यात्वके उदयके साथ होनेवाली होती है।

भावार्थ:— उक्त कथनका सारांश यह है कि दोनोंके विषयभूत पदार्थोंमें पदार्थकी दृष्टिसे यद्यपि किसी प्रकारका भेद नहीं है तथापि दोनोंके उनका अनुभव भिन्न होता है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि रागद्वेष विहीन होनेके कारण परमें निजत्वकी कल्पना नहीं करता है। किंतु मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वके उदयसे ग्रस्त होकर उन्हें इष्टानिष्ट मानकर तत्कृत रागद्वेष करता है इतनाही भेद है। और इस भेदका कारण मिथ्यात्वके उदयके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाली शंका है।

शंका।

ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम्।
सा शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥ ४९३ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि यदि (**नृणां यः मिथ्यानुभवः**) मनुष्योंका जो पदार्थोंमें मिथ्या अनुभव होता है वह (**शङ्काकृतः दोषः**) शंकाकृत दोष है तो (**सा शंका अपि**) वह शंकाभी (**मिथ्योपजीविनी कुतः न्यायात् अस्ति**) मिथ्यात्व कर्मका उदय होनेसेही होती है यह किस न्यायसे सिद्ध होता है ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि मिथ्या अनुभव होना शंकाकृत अपराध है तो यह बताईये कि वह शंकाभी मिथ्यात्वकर्मकेही उदयसे होती है यह किस न्यायसे सिद्ध होता है ?

समाधान।

अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युतः।
नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक् ॥ ४९४ ॥

अन्वयार्थः— (**अत्र उत्तरं**) यहांपर उत्तर यह है कि (**यः कुदृष्टिः**) जो मिथ्यादृष्टि होता है (**सः सप्तभिः भयैः युतः**) वह सात प्रकारके भयोंसे सहित होता है और (**यः सुदृष्टिः**) जो

सम्यग्दृष्टि होता है (स· सप्तभि· भयैः मनाक् अपि स्पृष्ट· न) वह सात भयोंसे किसीभी प्रकार युक्त नहीं होता है ।

भावार्थः— शंकाकारकी उक्त शंकाका उत्तर यह है कि मिथ्यादृष्टि सदैव सात प्रकारके भयोंसे युक्त रहता किन्तु सम्यग्दृष्टि कभीभी सात भयोंसे युक्त नहीं होता है । इसलिये वह शंका मिथ्यात्वकी उपजीविनी कही जाती है ।

परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी ।
भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥ ४९५ ॥

अन्वयार्थः— (वै) निश्चय करके (परत्र) पर पदार्थोंमें (आत्मानुभूतेः विना) आत्मीय-बुद्धिके विना (भीतिः कुतस्तनी) भय कैसे होसकता है अतः (पर्यायमूढानां भीतिः) पर्यायोंमें मोह करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंकोही भय होता है (आत्मतत्त्वैकचेतसां न) केवल शुद्ध आत्माका अनुभव करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंको भय नहीं होता है ।

भावार्थः— परपदार्थोंमें निजत्वकी कल्पना किये विना तत्सम्बन्धी इष्टानिष्ट कल्पना नहीं होती है और इष्टानिष्ट कल्पनाका अभाव होनेसे उन पदार्थोंके संयोगवियोगजन्य भय नहीं होता है । इसलिये सम्यग्दृष्टियोंके परपदार्थोंमें निजत्व न होनेसे भय नहीं होता है । केवल मिथ्यादृष्टियोंकेही परपदार्थमें निजत्वकी कल्पनासे होनेवाली इष्टानिष्ट कल्पना होती है । और उस इष्टानिष्ट कल्पनापूर्वक इष्टवियोग अनिष्टसंयोगजन्य भय होता है ।

ततो भीत्यानुमेयोस्ति मिथ्याभावो जिनागमात् ।
साच भीतिरवश्यं स्याद्धेतुः स्वानुभवक्षतेः ॥ ४९६ ॥

अन्वयार्थः— (जिनागमात) जिनागमसे—आगम प्रमाणसे तथा (ततः) परपदार्थमें ममताके विना भय नहीं होता है इसलिए (भीत्या) भयरूप साधनसे (मिथ्याभाव.) मिथ्यात्व भाव (अनुमेयः अस्ति) अनुमित होता है और (सा च भीतिः) वह भयही (स्वानुभवक्षतेः) आत्मानुभवके क्षयके लिये (अवश्यं हेतु· स्यात्) अवश्य कारण होता है ।

भावार्थः— आगमप्रमाणसे तथा परपदार्थोंमें ममताके विना भय उत्पन्न नहीं होता है । और मिथ्यात्वके

विना परपदार्थोंमें ममता नहीं होती है इसलिए भयके पाये जानेसे मिथ्यात्वभावका अनुमान किया जाता है तथा उस मिथ्याभावसे स्वानुभूतिका नाश होता है इसी अपेक्षासे भयको स्वानुभूतिके क्षयका कारण बताया है।

आस्ते सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः।
स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेरसंभवात् ॥ ४९७ ॥

अन्वयार्थः— (परायत्त. स्वानुभवच्युतः भीतः इह सिद्धं अस्ति) पराधीन जीव आत्मानुभवसे पतित होता हुवा भयवान सिद्धही है क्योंकि (स्वस्थस्य स्वाधिकारत्वात्) स्वस्थ– आत्मस्थ जीवको स्वाधिकारी–स्वसंवेदन प्रत्यक्ष सहित होनेके कारण (नूनं भीतेः असंभवात्) निश्चयसे भय नहीं होसकता है।

भावार्थः— पराधीन व्यक्ति स्वानुभवसे च्युत होकरही भयवान होता है यह असिद्ध नहीं है। क्योंकि स्वस्थ व्यक्ति अपनेमें स्वतः अधिकारी होता है। इसलिये उसके भयकी संभावनाही नहीं है।

शंका।

ननु सन्ति चतस्रोपि संज्ञास्तस्यास्य कस्याचित्।
अर्वाक् च तत् परि(स्थिति)च्छेदस्थानादास्तित्वसंभवात् ॥ ४९८ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (कस्यचित् तस्य अस्य च) किसी २ सम्यग्दृष्टिकेभी (चतस्रः अपि संज्ञाः सन्ति) आहार आदि चारोंही संज्ञायें होती है क्योंकि (तत्परिच्छेदस्थानात् अर्वाक् अस्तित्वसंभवात्) जिस गुणस्थानतक जिस २ संज्ञाकी व्युच्छित्ति नहीं होती है उस गुणस्थान तक व उससे पहलेके गुणस्थानोंमें वे २ संज्ञायें पाई जाती है।

भावार्थ— शंकाकारका कहना है कि आहारादिक संज्ञायें चौथे गुणस्थानसे लेकर जहांतक उनकी व्युच्छित्ति नहीं होती है वहांतक पाई जाती है। इसलिये सम्यग्दृष्टियोंकेभी ५ वें गुणस्थानतक सब संज्ञायें व छट्टे गुणस्थानमें आहारसंज्ञा कार्यरूपसे पाई जाती है। तथा संज्ञाके कारणभूत वेद आदि कर्मोंके सद्भावकी अपेक्षासे जहांतक वेद, भय, लोभ और असाता कर्मका सद्भाव पाया जाता है वहांतक उपचारसे यथायोग्य संज्ञायें पाई जाती है। इस नियमानुसार भयसंज्ञाकी व्युच्छित्ति आठवें गुणस्थानमें होती है, क्योंकि भय कर्मका अस्तित्व आठवें गुणस्थानतक पाया जाता है।

तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि ।
अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रयत्नवान् ॥ ४९९ ॥

अन्वयार्थः— (तत्) इसलिए (दृष्टिवान्) सम्यग्दृष्टि (सर्वतः अपि) सर्वथा (निर्भीकः नाम कथं) निर्भीक कैसे होसकता है (अपि) और वह (अध्यक्षं) प्रत्यक्षमेंभी (अनिष्टार्थसंयोगात्) अनिष्ट पदार्थके संयोगके होनेसे (प्रयत्नवान् अस्ति) उसके निवारण करनेके लिए प्रयत्नवानभी देखा जाता है।

भावार्थः— जब सम्यग्दृष्टिके सज्ञायें पाई जाती है तथा प्रत्यक्षमें वह अनिष्टार्थ संयोगके निवारणार्थ प्रयत्नवान देखा जाता है तो फिर सम्यग्दृष्टि सर्वथा भयोंसे निर्मुक्त रहता है ऐसा क्यों कहाजाता है ?

समाधान।

सत्यं भीकोपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः ।
रूपि द्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ॥ ५०० ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है किंतु (तत्स्वामित्वाद्यभावतः) सम्यग्दृष्टिके परपदार्थोंमें स्वामित्व नहीं होता है अत वह (भीकः अपि) भयवान होकरकेभी (निर्भीकः) निर्भीक है (यथा) जैसे कि (चक्षुः अपि द्रव्यं पश्यत् अपि) चक्षुइंद्रिय रूपीद्रव्यको देखनेपरभी (न पश्यति) इष्टानिष्ट कल्पनापूर्वक निजत्वके अभावसे इष्टानिष्ट नहीं कहलाता है।

भावार्थ — ठीक है कि सम्यग्दृष्टि के संज्ञाएं पाई जाती है। और अनिष्ट पदार्थ के संयोगके निवारण करने के लिये वह प्रयत्नभी करता है। परन्तु ऐसा होनेपरभी उसके परपदार्थों मे स्वामित्व की कल्पना न होनेसे अर्थात् अहंकार ममकार भावके नहीं होनेसे भयवान हो करभी वह वास्तवमें निर्भय ही है। उदाहरणार्थ जैसे कि रागद्वेष विहीन चक्षु रूपी द्रव्य को देखता हुआभी द्रष्टानहीं कहलाता है।

सान्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः ।
मुह्यन् रज्यन् द्विषंस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ॥ ५०१ ॥

अन्वयार्थः— (संसारिजीवानां) संसारीजीवोंके (कर्मांशाः) जो २ कर्मांश (उदयागताः

सन्ति) उदय अवस्थाको प्राप्त होते हैं (तत्र च) उसमेंही वे संसारी जीव (मुह्यन् रज्यन् द्विषन्) मोह राग और द्वेष करते हुए (तत्फलेन उपयुज्यते) उन कर्मोंके फलोंसे उपयुक्त होते है।

भावार्थः— कर्मोंके उदय होनेपर संसारी जीव उन कर्मोंके उदयानुसार मोही रागी और द्वेषी होकर उन कर्मोंके फलसे तन्मय होजाते है अर्थात् अपनेको मोही रागी तथा द्वेषी मानकर इष्टानिष्ट पदार्थोंसे सुखी दुखी होते है व तन्निमित्तक भयसे युक्त रहते है। किंतु सम्यग्दृष्टि जीव कर्मोंके उदयसे परवश होकरभी वास्तवमें उनके फलसे उपयुक्त नहीं होता है। इसलिये वह बाह्यमें भय सहित होकरभी वास्तवमें निर्भयही है।

एतेन हेतुना ज्ञानी निःशंको न्यायदर्शनात्।
देशतेप्यत्र मूर्च्छायाः शंकाहेतोरसंभवात् ॥ ५०२ ॥

अन्वयार्थः— (एतेनहेतुना) इस कारणसे (न्यायदर्शनात्) उक्त न्यायानुसार (ज्ञानी) ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि जीव (निश्शंकः) निश्शंक होता है क्योंकि (अत्र) इस सम्यग्दृष्टि जीवमें (देशतः अपि) एकदेशसेभी (शंकाहेतोः) शंका-भयका कारणभूत (मूर्च्छायाः असंभवात्) मिथ्यात्वोदयजन्य आसक्तिका होना संभव नहीं है।

भावार्थः— इसलिये ज्ञानी निःशंक कहाजाता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्वका अभाव होनेसे शंकाकी एकदेशसेभी संभावना नहीं होती है कारणकि शंकाकी उत्पत्ति मिथ्यात्वजन्य परपदार्थोंमें ममतापूर्वक होती है मिथ्यादृष्टि अपनेको रागादि भावोंका स्वामी समझता है किंतु सम्यग्दृष्टियोंके उक्त प्रकारकी ममता व रागद्वेषादिक विकारोंका स्वामीपना नहीं होता है इसलिये वह निर्भयही है।

स्वात्मसंचेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते।
येन कर्मापि कुर्वाणः कर्मणा नोपयुज्यते ॥ ५०३ ॥

अन्वयार्थः— अत्र (तस्य) उस सम्यग्दृष्टिका (स्वात्मसंचेतनं) शुद्ध आत्मानुभव (कीदृक् अस्ति) कैसा होता है (इति चिन्त्यते) यह विचार किया जाता है (येन) जिस शुद्धात्मानुभवके साथ वह (कर्म कुर्वाणः अपि) कर्म करता हुआभी (कर्मणा न उपयुज्यते) कर्मसे उपयुक्त नहीं होता है।

भावार्थः— अब आगे सम्यग्दृष्टीके स्वात्माका अनुभव कैसा होता है इसका खुलासा करते है जिससे कि सम्यग्दृष्टि कर्मोंको करके भी उनके उपयोगसे युक्त नहीं होता है अर्थात् कर्मोंके करके भी उसकी ज्ञानचेतनामें बाधा नहीं पहुंचती है।

तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै(वा)वेदनाभयम्।
चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पंचमी ॥ ५०४ ॥

भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकं(की) ततः।
क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥ ५०५ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन सातों भयोंमेंसे (वै) निश्चयसे (इहलोके भीतिः) इहलोकभय (अमुत्र भीतिः) परलोकभय (वेदनाभयं) वेदनाभय (चतुर्थी भीतिरत्राणं) चौथा अत्राणभय (तु) और (पंचमी भीति. अगुप्तिः स्यात्) पांचवां अगुप्तिभय होता है (तथा वा) तथा (मृत्युः भीतिः स्यात्) छट्ठा मृत्युभय होता है (च) और (ततः) इसके बाद सातवां (आकस्मिकं) आकस्मिक भय होता है (इति) इसप्रकार (क्रमात् उद्देशिताः) क्रमसे उद्देशित (एताः सप्त भीतयः स्मृताः) ये सात भय मानेगये हैं।

भावार्थः— १ इहलोकभय २ परलोकभय ३ वेदनाभय ४ अत्राणभय ५ अगुप्तिभय ६ मरणभय ७ आक-स्मिकभय ये सात भय है। अब आगे उनका यथाक्रम वर्णन किया जाता है।

तत्रेह लोकतो भीतिः क्रान्दितं चात्र जन्मनि।
इष्टार्थस्य व्ययो माभून्माभून्मेऽनिष्टसंगमः ॥ ५०६ ॥

स्थास्यतीदं धनं नोवा दैवान्माभूद्दरिद्रता।
इत्याद्याधिश्चिता दग्धु ज्वलितेवाऽदृगात्मनः ॥ ५०७ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उनमेंसे (मे इष्टार्थस्य व्यय. माभूत) मेरे इष्ट पदार्थका वियोग न

होजाय (च) और (अनिष्टसंगम माभूत्) अनिष्ट पदार्थका संयोग न होजाय इसप्रकार (अत्र जन्मनि) इस जन्ममें (क्रन्दितं) क्रन्दन करनेको (इह लोकतः भीति) इहलोकभय कहते है तथा (इदं धन स्थास्यति वा नो) न जाने यह धन स्थिर रहेगा कि नहीं (दैवात् दरिद्रता माभूत्) दैवयोगसे कहीं दारिद्रता प्राप्त न हो जावे (इत्याद्याधिः चिता) इत्यादिक मानसिक व्यथारूपी चिता (अदगात्मन दग्धुं ज्वलिता इव) मिथ्यादृष्टिको जलानेके लिये मानो सदैव जलतीही रहती है ।

भावार्थः— कहीं मेरे इष्ट पदार्थोंका वियोग और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग न होंजाय, न जाने यह धन ठहरेगा कि नहीं, कहीं धन नष्ट न हो जाय, दरिद्रता न आजाय इसप्रकारकी जो मानसिक व्याधि सदैव चिताके समान मिथ्यादृष्टीयोंके जलानेके लिये जलती रहती है इसको इहलोकभय कहते है ।

अर्थादज्ञानिनो भीतिभीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित ।
यतोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषाश्चानयोर्महान्॥ ५०८ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (अज्ञानिनः भीति) इसप्रकारका भय अज्ञानी जीवोंकोही होता है (ज्ञानिनः क्वचित भीति न) ज्ञानीको इसप्रकारका भय कभी नहीं होता है (यतः) क्योंकि (शेषात् हेतुतः च) शेष हेतुपूर्वकभी (अनयोः) इन ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंमें (महान् विशेषः अस्ति) महान् अन्तर है ।

भावार्थः— भय मिथ्यादृष्टिको होता है सम्यग्दृष्टिको नहीं । अतः भयके न होने और होनेके कारणही सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियोंमें विशेषता है तथा औरभी जिन कारणोंसे इन दोनोंमें अन्तर होता है उन्हें बताते है।

अज्ञानी कर्मनोकर्मभावकर्मात्मकं च यत ।
मनुते सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत ॥ ५०९ ॥

अन्वयार्थः— (अज्ञानी) अज्ञानी (यत् कर्मनोकर्मभावकर्मात्मकं च) जो कर्म नोकर्म और भावकर्ममय है (तदेव एतत् सर्व एव) वही यह सब है ऐसा (मोहात्) मोहसे इन सबको (अद्वैतवादवत) अद्वैत वादके समान (मनुते) मानता है ।

भावार्थः— जैसे अद्वैतवादी सबको अद्वैतरूपसे मानते हैं वैसेही मिथ्यादृष्टिजीवभी कर्म नोकर्म और भावकर्म सबकोही आत्मासे अभिन्न मानता है अर्थात् आत्माकोही कर्म नोकर्मात्मक मानता है।

विश्वाद्भिन्नोपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा।
भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥ ५१० ॥

अन्वयार्थः— (आत्महा) मिथ्यादृष्टि (विश्वात् भिन्न अपि) ससारसे भिन्न होकरभी (स्व आत्मानं विश्वं कुर्वन्) अपनी आत्माको विश्वरूप करता हुवा (विश्वमयः भूत्वा) विश्वमय होकर (लोके) लोकमें (जातुचित्) कभी (भयं न उन्मजति) भय नहीं त्यागता है।

भावार्थ— आत्मघ्न मिथ्यादृष्टि लोकमें विश्वसे भिन्न होकरभी अपनेको विश्वमय कल्पित करके कभीभी भयसे रहित नहीं होता है।

तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणः पाकसंभवात्।
नित्यबुद्धया(नित्यं बुध्वा)शरीरादौ भ्रांतो भीतिमुपैति सः ॥ ५११ ॥

अन्वयार्थः— (तात्पर्यं) तात्पर्य यह है कि (सः) वह मिथ्यादृष्टि (कर्मणः पाकसंभवात्) मिथ्यात्व कर्मके उदयसे (सर्वतः अनित्ये शरीरादौ) सर्वथा अनित्य शरीर आदिमें (नित्यबुद्धया) नित्यताकी बुद्धिसे (भ्रान्तः) भ्रान्त होकर (भीतिं उपैति) भयको प्राप्त होता है।

भावार्थः— शरीरादिक, कर्मोंके उदयसे निष्पन्न होते हैं इसलिये शरीरादिक अनित्य हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि उन्हें नित्य मानकर सदैव मृत्यु आदिके भयसे ग्रस्त रहता है।

सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव।
यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमत्येति चिन्मयम् ॥ ५१२ ॥

अन्वयार्थः— और (सम्यग्दृष्टि) सम्यग्दृष्टी जीव (यावत्कर्मातिरिक्तत्वात्) सम्पूर्ण कर्मोंसे भिन्न होनेके कारण (स्वं) अपनेमें (सदेकत्वं) सत्स्वरूप एकता को (समासादयन् इव) प्राप्त करता हुआ ही मानो क्या (शुद्धं चिन्मयं) शुद्ध चिन्मय रूपसे (अन्वेति) अनुभव करता है।

भावार्थः— और सम्यग्दृष्टि जीव, अपना स्वरूप कर्मसे भिन्न है अर्थात् वह कर्मोपाधिजन्य अवस्थाओंसे भिन्न होनेके कारण अपनेमें सत्स्वरूपको पाकर अपनेको शुद्ध चेतनमय रूपसे अनुभव करता है।

शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा।
अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः ॥ ५१३ ॥

अन्वयार्थः— (**यः**) जो सम्यग्दृष्टि है वह (**कर्मकार्यत्वात्**) कर्मोंके फलस्वरूप होनेसे (**शरीरं**) शरीर (**सुखदुःखादि**) सुख दुःख आदि (**तथा**) और (**पुत्रपौत्रादिकं**) पुत्र पौत्र आदिको (**अनित्यं**) अनित्य तथा (**अस्वरूपं**) आत्मस्वरूपसे भिन्न (**अवैति**) समझता है।

भावार्थः— जो सम्यग्दृष्टि है वह कर्मके फलरूप होनेसे शरीर, सुखदुःख तथा पुत्रपौत्रादिकको अनित्य और अपने स्वरूपसे भिन्न समझता है।

लोकोऽयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योऽस्ति सोऽर्थतः।
नाऽपरोऽलौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोऽस्ति मे ॥ ५१४ ॥

अन्वयार्थः— (**अयं हि चिल्लोक**) यह चेतनामयी लोकही (**मे लोक**) मेरा लोक है और (**सः**) वही लोक (**अर्थतः**) वास्तवमें (**नूनं नित्यं अस्ति**) निश्चयसे नित्य है तथा (**अपरः लोक अलौकिकः न**) आत्मासे भिन्न लोक अलौकिक नहीं है किंतु लौकिक है (**तत**) इसलिये (**मे भीतिः कुतः अस्ति**) मुझे इहलोकसंबंधी भय कैसे उत्पन्न होसकता है अर्थात् नहीं होसकता है।

भावार्थः— मेरा लोक चेतनामय है। और निश्चयसे नित्य है। तथा यह लौकिक लोक मेरा नहीं है इस लिए ऐसे बाह्य लोकसे मुझे भय कैसे होसकता है?

स्वात्मसंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः।
इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबंधनात ॥५१५॥

अन्वयार्थ.— (**एवं**) इसप्रकार (**ज्ञानी**) सम्यग्दृष्टि जीव (**स्वात्मसचेतनात**) शुद्ध आत्माक

अनुभव करनेसे (ज्ञानैकतानतः) ज्ञानमें तलीन होनेके कारण (इहलोकभयात् मुक्तः) इहलोकभयसे मुक्त होकर (तत्कर्मबंधनात्) इहलोकभयसे होनेवाले कर्मबन्धनसे (मुक्त.) मुक्त होजाता है।

भावार्थः— इसप्रकारसे सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धात्माका अनुभव करनेसे ज्ञानमय होकर इहलोकभयसे मुक्त होता हुआ तज्जन्य बन्धसे मुक्त रहता है।

परलोकःपरत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक्।
ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोऽस्ति सा॥ ५१६॥

अन्वयार्थः— (परत्र) परभवमें (भाविजन्मांतरांशभाक्) भावि पर्यायरूप अंशको धारण करनेवाला (आत्मा) आत्मा (परलोकः) परलोक है और (ततः यः कम्पइव त्रासः) उस परलोकसे जो कँपनेके समान भय होता है (सा परलोकतः भीतिः अस्ति) उसको परलोकभय कहते है।

भावार्थ.— आगेके भवमें आत्माकी स्थितिको परलोकभय कहते है। और न जाने परभवमें कैसी स्थिति प्राप्त होगी इसप्रकारके भयको परलोकभय कहते है।

भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ।
इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम्॥५१७॥

अन्वयार्थः— (स्वर्लोके जन्म चेत् भद्रं) यदि स्वर्गमें जन्म हो तो अच्छा है (मे जन्म दुर्गतौ माभूत्) मेरा जन्म दुर्गतिमें न हो (इत्याद्याकुलितं चेतः) इत्यादि प्रकारसे हृदयका आकुलित होना (पारलौकिकं साध्वसं) पारलौकिकभय कहलाता है।

भावार्थः— मुझे स्वर्लोकमें उत्तम जन्म प्राप्त हो। दुर्गतिमें कभीभी निकृष्ट जन्म प्राप्त न हो इसप्रकारकी मनकी आकुलताको परलोकभय कहते है।

मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात्।
तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति तत्तत्र व्यत्ययात्॥ ५१८॥

अन्वयार्थः— (मिथ्याभावैककारणात्) केवल मिथ्यादर्शनके कारण (तत् मिथ्यादृशः एव अस्ति) वह पारलौकिकभय मिथ्यादृष्टिकोही होता है (तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेः) मिथ्यादृष्टिके विपक्षभूत सम्यग्दृष्टिके (तत् नास्ति) वह परलोकभय नहीं होता है क्योंकि (तत्र व्यत्ययात्) उस सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व भावका अभाव होजाता है ।

भावार्थः— मिथ्यात्वके उदयसे केवल मिथ्यादृष्टियोंकोही परलोकभय होता है । किंतु सम्यग्दृष्टियोंके मिथ्यात्वके उदयका अभाव रहता है इसलिये उनको परलोकभय नहीं होता है ।

बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः ।
स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम् ॥५१९

अन्वयार्थः— (अनात्मज्ञः बहिर्दृष्टिः अज्ञः) अपने आत्माको नहीं जाननेवाला मिथ्यादृष्टी अज्ञानी (मिथ्यामात्रैकभूमिकः) केवल मिथ्यात्वभूमिमें रहनेवाला होता है इसलिये वह (स्वं) अपनेको सदैव (कर्म कर्मफलात्मकं) कर्म और कर्मफलरूपसेही (समासादयति) प्राप्त करता है ।

भावार्थः— आत्मज्ञानशून्य बहिर्दृष्टि केवल मिथ्याभावोंकाही मूल होता है इसलिये वह अज्ञानी अपनेको सदैव कर्मचेतना और कर्मफलचेतनामय समझता रहता है ।

ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव ।
मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः कुधीः ॥ ५२० ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिये वह मिथ्यादृष्टि उस परलोकभयसे (नित्यं) सदा (भ्रांतिमान् इव) भ्रांतिमानकी तरह (भयाक्रांतः वर्तते) भयभीत रहता है सो ठीकही है क्योंकि (कुधीःजनः) अज्ञानी जीव (मृगतृष्णाया) मृगतृष्णामें (अम्भोभारं मनुते) जलका अस्तित्व मानता है ।

भावार्थ— मिथ्यादृष्टि जीव नित्य परलोकभयसे भयाक्रान्त रहता है सो ठीकही है क्योंकि अज्ञानी जीव मृगतृष्णामेंही जलकी कल्पना किया करता है ।

अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः ।
भीतिहेतोरिहावश्यं भ्रान्तेरत्राप्यसंभवात् ॥ ५२१ ॥

अन्वयार्थः— (तु) किन्तु (इह) यहांपर (अन्तरात्मा) सम्यग्ज्ञानीजीव (निर्भीकः सन्) निर्भीक होताहुआ (निर्भय पदं आश्रितः) निर्भयपदके आश्रित होता है क्यों कि (अत्र अपि) सम्यग्दृष्टीके इहलोकके समान परलोकमेंभी (भीतिहेतोः भ्रांतेः) भयका कारणभूत भ्रांति (अवश्यं असंभवात्) अवश्यही संभव नहीं है ।

भावार्थः— परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव सदैव परलोकके विषयमें निर्भीक होकर निर्भयपदमेंही स्थित रहता है। क्योंकि परलोकके विषयमें भयका कारण जो भ्राति है वह सम्यग्दृष्टिके नहीं होती है।

मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः ।
यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासाद्द्रवत्यधीः ॥ ५२२ ॥

अन्वयार्थः— (यत् अन्यत्र) जो दूसरे पदार्थोंमें (अन्य वस्तुनः दर्शनं वा) अन्य पदार्थका दर्शन करना है वही (मिथ्याभ्रांति) मिथ्या भ्रांति है (यथा) जैसे कि (अधीः) अज्ञानी मनुष्य (तमो हेतोः) अन्धकारके कारण (रज्जौ) रस्सीमें (सर्पाध्यासात्) सर्पकी कल्पना करनेसे (द्रवति) डरता है ।

भावार्थः— जैसे अज्ञानी जीव अज्ञानके कारण रज्जुमें सर्पका भ्रम करनेसे डरता है ठीक वैसही मिथ्यादृष्टि-योंके सदैव मिथ्यात्वके उदयसे अन्य वस्तुका अन्य वस्तुमें अवलोकन करनेसे सदैव मिथ्या भ्राति होती है।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात्
स विभेति कुतो न्यायादन्यथाऽभवनादिह ॥ ५२३ ॥

अन्वयार्थः— (यः) जो (अनन्यसात्) पर निमित्तके विना होनेवाले (स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिः) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप ज्योतिका-ज्ञानका (वेत्ति) अनुभव करता है (सः) वह सम्यग्दृष्टि (इह)

(इह) इस लोकमें (अन्यथा अभवनात् न्यायात्) अन्यथा हो नहीं सकता इस सिद्धांतके कारण (कुतः) कैसे (बिभेति) डरसकता है ?

भावार्थ.— जो अपनेको स्वयं सदैव स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ज्ञानज्योतिमयही मानता है वह सम्यग्दृष्टि भवान्तर सम्बन्धी अन्यथा भवनरूप भावसे कैसे डरसकता है ?

वेदनाऽऽगन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ ।
भीतिः प्रागेव कम्पः स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम् ॥ ५२४ ॥

अन्वयार्थ.— (तनौ) शरीरमें (मलानां कोपतः) दूषित वात पित्त आदिके प्रकोप होनेसे (आगन्तुका बाधा) आनेवाली बाधा (वेदना) वेदना कहलाती है और (मोहात्) मोहके कारण (प्राक् एव कम्पः) विपत्तिके आनेके पहलेही उससे भय करना (वा) अथवा (परिदेवनं) जिससे अपने ऊपर दूसरेंको करुणा उत्पन्न हो इसप्रकारसे रोना पीटना (भीतिः स्यात्) वेदनाभय कहलाता है ।

भावार्थः— शरीरमें दोषोंके कारण आनेवाली बाधा वेदना कहलाती है । और उस वेदनाके भयसे जो शरीरमें कपनेके समान मनका कपना है अथवा दीनतापूर्वक दुखी होना है जिससे कि दूसरोंको अपने ऊपर करुणा उत्पन्न हो उसको वेदनाभय कहते है ।

उल्लाघोऽहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित् ।
मूर्च्छैव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः ॥ ५२५ ॥

अन्वयार्थः— (अहं उल्लाघः भविष्यामि) मैं नीरोग हो जाऊं (मे क्वचित् वेदना माभूत्) मुझे कभीभी वेदना नहीं होवे इसप्रकारकी (मूर्च्छा एव) मूर्च्छाही-ममत्व बुद्धिही (वा) अथवा (मुहुः मुहुः) बार २ (चिन्तनं) चिन्तवन करना (वेदनाभीतिः) वेदनाभय कहलाता है ।

भावार्थः— मैं नीरोग हो जाऊं, मुझे आगे कभीभी वेदना उत्पन्न न हो इसप्रकारकी ममता अथवा पुनः पुनः जो रोगसे डरनेवाली मनकी गति है उसे वेदनाभय कहते है ।

अस्ति नूनं कुदृष्टे सा दृष्टिदोषैकहेतुतः ।
नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनः क्वचित ॥ ५२६ ॥

अन्वयार्थः— (सा) वह वेदना (नूनं) निश्चयसे (दृष्टिदोषैकहेतुतः) केवल मिथ्याद-र्शनके कारण (कुदृष्टेः) मिथ्यादृष्टिके (नीरोगस्य आत्मनः अज्ञानात्) नीरोग आत्माका ज्ञान नहीं होनेसे (अस्ति) होती है; किन्तु (सा) वह भीति (ज्ञानिनः क्वचित् न स्यात्) सम्यग्ज्ञानीको कभीभी नहीं होती है।

भावार्थ.— वह वेदनाभय मिथ्यादृष्टिकोही मिथ्यात्वके उदयसे, (अपनी आत्मा तो सदैव नीरोग है ' इस प्रकारका ज्ञान न होनेसे) होता है। किंतु ज्ञानियोंके मिथ्यात्वका अभाव होनेसे कभीभी वह वेदनाभय नहीं होता है।

पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् ।
व्याधिः सर्वो शरीरस्य नाऽमूर्तस्येति चिन्तनम् ॥ ५२७ ॥

अन्वयार्थः— (पुद्गलात्) पुद्गलसे (भिन्नचिद्धाम्नः मे) सर्वथा भिन्न चेतनस्वरूप मुझको (व्याधिः न) व्याधि नहीं होसकती है इसलिये (भयं कुतः) भय कैसे होसकता है क्योंकि (सर्वो व्याधिः शरीरस्य) सम्पूर्ण व्याधिया शरीरमें होती है (अमूर्तस्य न) अमूर्त आत्मामे नहीं (इति चिन्तनात्) इसप्रकार सम्यग्दृष्टि विचार करता है।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिके सदैव ऐसे विचार रहते है कि सम्पूर्ण व्याधियां शरीरमेंही होती है आत्मामें नहीं। क्योंकि चेतनामय मैं तो शरीरसे सर्वथा भिन्न हूं। इसलिये मुझे किसीसेभी भय नहीं होसकता है।

यथा प्रज्वलितो वन्हिः कुटीरं दहति स्फुटम् ।
न दहति तदाकारमाकाशमिति दर्शनात् ॥ ५२८ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (प्रज्वलितः वन्हिः) प्रदीप्त अग्नि (कुटीरं दहति) झोपडीको जलाती है किंतु (तदाकार आकाशं न दहति) झोपडीमें आये हुये आकाशको नहीं जलाती है (इति स्फुटं दर्शनात्) यह स्पष्ट देखा जाता है।

भावार्थः— जैसे अग्नि केवल झोपडीकोही जलाती है किंतु तद्वत आकाशको नहीं जला सकती है वैसेही व्याधि केवल शरीरकोही कष्ट देसकती है अमूर्तिक आत्माको नहीं।

स्पर्शनादींद्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु ।
नादरो यस्य सोस्त्यर्थान्निर्भीको वेदना भयात्॥ ५२९ ॥

अन्वयार्थः— क्योंकि (प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु) वर्तमान और भविष्यत्कालमें होनेवाले (स्पर्शनादींद्रियार्थेषु) स्पर्शनादिक इंद्रियोंके विषयोंमें (यस्य आदरः न) जिसका आदर नहीं है (सः) वह (अर्थात्) वास्तवमें (वेदनाभयात्) वेदनाभयसे (निर्भीकः अस्ति) निर्भीक रहता है ।

भावार्थः— शरीरमें ममताकेही कारण व्याधिसे भय होता है । परन्तु जब सम्यग्दृष्टिके वर्तमान और अनागत इंद्रियोंके विषयोंमें आदरही नहीं होता है तो फिर उसके तज्जन्य भय कैसे होसकता है ?

व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैर्नाऽसिद्धोऽनादरो मनाक् ।
बाधाहेतोः स्वतस्तेषामाभयस्याविशेषतः ॥ ५३० ॥

अन्वयार्थः— (मनाक्) सम्यग्दृष्टिके कभीभी (तेषु व्याधिस्थानेषु) उन व्याधिके स्थानभूत इंद्रियविषयमें (उच्चैः अनादरः) अत्यन्त अनादरभाव (असिद्धः न) असिद्ध नही है क्योंकि (तेषां स्वतः बाधाहेतोः अभअविशेषयस्य तः) सामान्यरूपसे वे इंद्रियविषय स्वयं बाधाके कारण स्वरूप रागरूप होते है अर्थात् सामान्यपनेसे बाधाके हेतुभूत रोगमें और भोगोंमें कोई विशेष नहीं है ।

भावार्थः— बाधाके हेतुभूत रोग तथा इंद्रियोंके विषयमें कुछभी अन्तर नहीं है । इसलिये व्याधिके स्थानभूत विषयोंमें सम्यग्दृष्टिके सदैव अनादरही रहता है । यह असिद्ध नहीं है ।

अत्राणं क्षणिकैकांते पक्षे चित्तक्षणादिवत् ।
नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमताऽत्मनः ॥ ५३१ ॥

अन्वयार्थः— जैसेकि (क्षणिकैकांते पक्षे) बौद्धोंके क्षणिक एकान्त पक्षमें (चित्तक्षणादिवत्) चित्तक्षण प्रतिसमय नश्वर होता है वैसेही (नाशात् प्राक्) पर्यायके नाशसे पहले (आत्मन अंशि-

नाशस्य) अंशिरूप आत्माके नाशकी (त्रातुं अक्षमता) रक्षाके लिए अक्षमता (अत्राण) अत्राणभय कहलाता है ।

भावार्थः— जैसे बौद्ध आत्म द्रव्यको न मानकर केवल चित्त क्षण की सन्तानको प्रति समय नश्वर मानते है वैसेही अंश नाशसे पहिलेही अंशी के नाश को भय मानना अत्राण भय कहलाता है ।

साराश यह है कि मनुष्यादि पर्यायके नाशसे पहलेही आत्माके नाशके भयको अत्राण भय कहते है ।

भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोन्वयात् ।
मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोऽस्ति सा ॥ ५३२ ॥

अन्वयार्थः— (अंशनाशात् प्राक्) अंशके–पर्यायके नाशसे पहले (अन्वयात् अंशिनाश भ्रमः) अन्वयसे अंशवानके–द्रव्यके नाशका भ्रम (भीतिः स्यात्) अत्राणभय है और (सा) वह भीति (नूनं) निश्चयसे (मिथ्यामात्रैकहेतुत्वात्) केवल मिथ्या हेतुक होनेसे (मिथ्यादृशः अस्ति) मिथ्यादृष्टिकेही होती है ।

भावार्थः— उक्त अत्राणभय मिथ्यात्वके उदयसे होनेवाली भ्रमताके कारण होता है । इसलिये वह भय मिथ्यादृष्टिकोही होता है । सम्यग्दृष्टिको नहीं ।

शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयात् ।
तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोस्त्यत्राणसाध्वसात् ॥ ५३३ ॥

अन्वयार्थः— (अस्तंगतस्य अपि पर्ययस्य) नष्ट हुई पर्यायकेभी (अन्वयात्) अन्वयसे (सत्) सत (शरण) शरणभूत है किंतु (सः अज्ञः) वह अज्ञानी (तं अनिच्छन् इव) उस शरणभूत सतको स्वीकार नहीं करता हुआही मानो क्या (अत्राणसाध्वसात्) अत्राणभयसे (त्रस्त अस्ति) त्रस्त होता है ।

भावार्थ.— पर्यायों के नाश होने परभी द्रव्यके नाशको नही होने देने के लिये द्रव्य स्वयं शरण है अर्थात यद्यपि द्रव्यपनेके कारण किसी द्रव्यका नाश नहीं होसकता है तथापि मिथ्यादृष्टी जीव पर्याय के नाशसे ममता के

कारण पहलेही अपने नाशके भयसे आतुर रहता है । किंतु उक्त भयवश अपने द्रव्यत्वको शरण नहीं मानता है ।

सद्दष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणं(णे) नष्टे चिदात्मनि ।
पश्यनष्टमिमात्मानं निर्भयोत्राणऽभीतितः ॥ ५३४ ॥

अन्वयार्थः— (तु) किंतु (सद्दृष्टिः) सम्यग्दृष्टि जीव (स्वैः चिदंशैः) अपने चेतनात्मक अंशोंसे (क्षणं चिदात्मनि नष्टे) प्रतिसमय चिदात्माके नाश होनेपरभी (आत्मानं न नष्टं) अपनेको द्रव्यदृष्टिसे अनष्ट (पश्यन्) अनुभव करता हुआ (अत्राणभीतितः निर्भयः 'अस्ति') अत्राणभयसे निर्भय होता है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टि जीव पर्यायरूप अपने अंशोंके द्वारा नष्ट होनेपरभी द्रव्यत्वका कभी नाश नहीं होता है । ऐसा समझता है । इसलिये वह कभीभी अपनी आत्माके नाशको नहीं मानता है । अतः वह उक्त अत्राण भयसे सदैव निर्भय रहता है ।

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः ।
नात्राणमंशतोप्यत्र कुतस्तद्धि[द्धिर्] महात्मनः ॥ ५३५ ॥

अन्वयार्थः— (हि) जिस कारणसे वास्तवमें किसी द्रव्यका (द्रव्यतः अपि च क्षेत्रतः कालात् अपि च भावतः) द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावकी अपेक्षासे (अत्र) इस लोकमें (अंशतः अपि अत्राणं न) अंशरूपसेभी कभी अत्राण नहीं होता है (तत्) इसलिये वह भय (महात्मनः कुतः) सम्यग्दृष्टिके कैसे होसकता है ?

भावार्थः— द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे प्रत्येक द्रव्यका रक्षणही रहता है । इसलिये सम्यग्दृष्टिके अत्राणभय कैसे होसकता है ?

---

१ प. 'पश्यन्नष्टमिवात्मानं', ऐसा पाठ है और यह पाठ कुछ अशुद्ध प्रतीत होता है इसलिये लाटीसंहिताका पाठ ग्रहण किया है ।

दृङ्मोहस्योदयाद्बुद्धिः यस्यैकान्तवादिनी[1] ।
तस्यैवागुप्तिभीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ॥ ५३६ ॥

अन्वयार्थः— (दृङ्मोहस्य उदयात्) दर्शनमोहनीयके उदयके कारण (यस्य बुद्धिः) जिसकी बुद्धि (एकांतवादिनी) एकान्त मिथ्यात्व आदिकी वादिनी होती है (तस्य एव) उसकोही (नूनं) निश्चयसे (अगुप्तिभीतिः स्यात्) अगुप्तिभय होता है (च) किंतु (अन्यस्य जातुचित् न) अनेकांतवादी सम्यग्दृष्टि आत्माको वह अगुप्तिभय कदापि नहीं होता है ।

भावार्थः— मिथ्यात्वके उदयसे क्षणिकैकातादि वादको अंगिकार करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंकोही अगुप्तिभय होता है । अनेकातवादी सम्यग्दृष्टियोंको कभीभी नहीं होता है ।

असज्जन्म सतोनाशं मन्यमानस्य देहिनः ।
कोऽवकाशस्ततोमुक्तिमिच्छतोऽगुप्तिसाध्वसात् ॥ ५३७ ॥

अन्वयार्थः— (असत् जन्म) असत् पदार्थके जन्मको और (सतः नाश) सत् पदार्थके नाशको (मन्यमान्यस्य) माननेवाले तथा (मुक्ति इच्छतः देहिनः) मुक्तिको चाहनेवाले शरीर धारियोंको (तत. अगुप्तिसाध्वसात्) उस अगुप्तिभयसे (अवकाशः कः) अवकाश कहां मिलसकता है ।

भावार्थः— यद्यपि असतकी उत्पत्ति नहीं होती है और सत्का कभी नाश नहीं होता है । इसलिये प्रत्येक द्रव्यका स्वरूप स्वयं गुप्त है अरक्षित नहीं है । तथापि असत्की उत्पत्ति तथा सत्का विनाश माननेवाले मिथ्या-दृष्टि मुमुक्षुओंको सदैव अगुप्तिभय रहता है । सम्यग्दृष्टियोंको नहीं क्योंकि ।

सम्यग्दृष्टिस्तु स्वरूपं गुप्तं वै वस्तुनो विदन् ।
निर्भयोऽगुप्तितो भीतेर्भीतिहेतोरसंभवात् ॥ ५३८ ॥

---

१ ला. स में ' यस्यैकान्तादिवादेन· ' ऐसाभी पाठ है ।

अन्वयार्थः— (तु) किन्तु (सम्यग्दृष्टिः)सम्यग्दृष्टि (वै) निश्चयकरके (वस्तुन स्वरूपं) वस्तुके स्वरूपको (गुप्तं विदन्) सदैव गुप्त मानता हुआ (भीतिहेतो असंभवात्) भयके कारणके असंभव हानेसे (अगुप्तितः भीतेः निर्भय.) अगुप्तिभयसे निर्भीक होता है।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टि जीव ' असत्का उत्पाद और सत्का विनाश कभी नहीं होता है ' ऐसा अनुभव करता है। इसलिये अगुप्तिभयके कारणभूत असत्के उत्पाद तथा सत्के विनाशका असंभव होजानेसे उसके इस अगुप्ति भयकी संभावनाही नहीं रहती है।

मृत्युः प्राणात्यः प्राणः कायवागिन्द्रियं मनः।
निःश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥ ५३९ ॥

अन्वयार्थः— (प्राणात्ययः) प्राणोंके नाश होनेको (मृत्यु) मृत्यु कहते है और (वाक्य विस्तरात्) प्राण शब्दका विस्तारपूर्वक अर्थ करनेसे (कायवागिंद्रिय) काय, वचन इंद्रिय (मनः) मन (निःश्वासोच्छ्वासं) श्वासोच्छ्वास (च)और (आयुः) आयु (एते दश प्राणा.) ये दश प्राण होते है।

भावार्थः— प्राणवियोगको मृत्यु कहते है । पाच इंद्रियां मनबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये दश प्राण हैं।

तद्भीतिर्जीवितं भूयान्मा भून्मे मरणं क्वचित्।
कदा लेभे न वा दैवात् इत्याधिः स्वे तनुव्यये ॥ ५४० ॥

अन्वयार्थः— (मे जीवितं भूयात्) मैं जीवित रहूं (क्वचित् मरणं माभूत्) कभी मेरा मरण न हो (वा) अथवा (दैवात् कदा न लेभे) दैवयोगसे मृत्यु कभी न मिले (इति) इसप्रकारकी (स्वे तनुव्यये) अपने शरीरके नाशके विषयमें जो (आधिः) मानसिक चिन्ता होती हैं वह (तद्भीतिः) मृत्युभय कहलाता है।

भावार्थः— मैं सदैव जीवित रहूं कभीभी न मरूं अथवा कभीभी मुझे मृत्यु प्राप्त न हो इसप्रकार शरीरके नाशके विषयमें मानसिक व्यथाका होना मृत्युभय कहलाता है।

नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम् ।
अन्तस्तत्त्वैकवृत्ती(त्ता)नां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥ ५४१ ॥

अन्वयार्थः— (नित्यं तत्व अनिच्छतां) नित्य तत्वका विचार न करनेवाले (कुदृष्टीनां) मिथ्यादृष्टियोंकोही (नूनं तद्भीः) निश्चयसे मृत्युभय होता है किंतु (अन्तस्तत्त्वैकवृत्तीनां ज्ञानिनां) अन्तरंगमें-अन्तस्तत्वमें वृत्ति रखनेवाले ज्ञानियोंको (तद्भीतिः कुतः) उक्त मरणभय कैसे होसकता है ?

भावार्थः— जो मिथ्यात्वके उदयसे जीव तत्वको नित्य नहीं मानते है उनकेही मृत्युभय होता है । किंतु अन्तरतत्वमें वृत्ति रखनेवालोंके वह भय नहीं होता है ।

जीवस्य चेतना प्राणाः नूनं सा(स्वा)त्मोपजीविनी
नार्थान्मृत्युरतस्तद्भीः कुतः स्यादिति पश्यतः ॥ ५४२ ॥

अन्वयार्थः— (चेतना जीवस्य प्राणाः) केवल चेतनाही जीवके प्राण है और (सा) वह चेतनाही (नूनं) निश्चयसे (आत्मोपजीविनी) आत्माका उपजीवी गुण है (अतः) इस लिये (अर्थात् मृत्युः न) वास्तवमें जीवका कभीभी मरण नहीं होता है (इति पश्यतः तद्भीः कुतः स्यात्) ऐसा विचार करनेवालेको वह मृत्युभय कैसे होसकता है ।

भावार्थः— वास्तवमें एक चेतनाही जीवका प्राण है इतर नहीं । और वह चेतनता आत्माका अनुजीवि गुण होनेसे आत्मासे कभी छूट नहीं सकता है । इसलिये प्राणोंका नाश-मृत्यु आत्माके कभीभी प्राप्त नहीं होसकती है इस-प्रकार सदैव विचार करनेवाले तत्वज्ञानिको मृत्युभय नहीं होता है ।

अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम् ।
तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥ ५४३ ॥

अन्वयार्थः— (अकस्मात् जातं) अकस्मात् उत्पन्न होनेवाला (उच्चैः) महान दुःख (आक-

स्मिकभयं स्मृतं इति) आकस्मिकभय माना गया है (तद्यथा) जैसे कि (विद्युदादीनां पातात्) बिजली आदिके गिरनेसे (असुधारिणां पातः) प्राणियोंका मरण होजाता है।

भावार्थः— विद्युत्पातादि आकस्मिक घटनाओंसे होनेवाले भयको आकस्मिक भय कहते हैं।

भीतिर्भूयाद्यथा सौख्यं माभूद्दौस्थ्यं कदापि मे।
इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा ॥ ५४४ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (मे सौस्थ्यं भूयात्) मैं सदैव नीरोग रहूं (कदापि दौस्थ्यं माभूत्) कभीभी रोगी नहीं होऊं (इत्येव) इसप्रकारसे (पर्याकुलितचेतसा) व्याकुलचित्तपूर्वक होनेवाली (मानसी चिंता) मानसिक चिंता (भीतिः) आकस्मिक भीति कहलाती है।

भावार्थः— मुझे कभीभी आकस्मिक दुर्घटनाजन्य कष्ट न हो। सदैवही स्वास्थ्य युक्त अवस्था बनी रहे इसप्रकार मनमें आकुलताका रहना आकस्मिकभय है।

अर्थादाकास्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः।
कुतो मोक्षऽस्य(स्ति) तद्भीतेर्निर्भीकैकपदच्युतेः ॥ ५४५ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (मिथ्यात्वशालिन) मिथ्यादृष्टिको (आकस्मिकभ्रांतिः अस्ति) आकस्मिक भय होता है और (तद्भीतेः निर्भीकैकपदच्युतेः) उस आकस्मिक भयसे वह अपने निर्भीक अनुपमपदसे च्युत होजाता है इसलिए (अस्य मोक्षः कुतः) इस मिथ्यादृष्टिको मोक्ष कैसे होसकता है?

भावार्थः— मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यादृष्टियोंकोही आकस्मिक भय होता है और वे उस भयसे आत्मतत्वसे च्युत होजाते है इसलिये उन मिथ्यादृष्टियोंको मोक्षभी नहीं होसकता है।

निर्भीकैकपदो जीवः स्यादन्तोऽप्यनादिसात्(मान्)।
नास्ति चाकास्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तामिच्छतः ॥ ५४६ ॥

अन्वयार्थः— (जीवः) जीव सदैव (निर्भीकैकपदः) अनुपम निर्भीक पदमें स्थित है (अनंतः) अनंत

(अपि) और (अनादिसात् स्यात्) अनादि है इसलिये (तत्र) उस अनादि अनन्त निर्भीक पदमें स्थित जीवको (आकस्मिक न च अस्ति) आकस्मिक भय नहीं होता है अतः (त इच्छतः) उस निर्भीक पदके चाहनेवाले सम्यग्दृष्टिको (तद्धी कुतः) वह आकस्मिक भय कैसे होसकता है ?

भावार्थः— जीव अनादि अनन्त और सदैव निर्भय पदमें विराजमान है । अत उसके आकस्मिक भयकी संभावनाही नहीं है । इसकारणसे निर्भयपदकी इच्छा करनेवाले सम्यग्दृष्टिको वह आकस्मिक भय नहीं होता है ।

निःकांक्षित अंग ।

कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृतेऽमुष्य(ष्य) क्रियासु वा ।
कर्मणि तत्फले सात्म्यमन्यदृष्टि प्रशंसनम् ॥ ५४७ ॥

अन्वयार्थः— (अमुष्यकृते) परभवके लिये (क्रियासु) व्रतादिक क्रियाओंमें (भोगाभिलाषः) भोगकी अभिलाषा (कर्मणि तत्फले सात्म्यं) कर्म और कर्मफलमें तन्मयता (वा) अथवा (अन्यदृष्टिप्रशंसनं) अन्य लिंग धारियोंकी प्रशंसा (कांक्षा स्यात) कांक्षा कहलाती है ।

भावार्थ — परभवमें भोगाभिलाषासे व्रतादिकका पालना, कर्म, और कर्मफल चेतनामय प्रवृत्ति रखना अथवा कर्म, कर्मफलचेतना और भोगाभिलाषापूर्वक व्रतसेवन करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा करना कांक्षा कहलाती है ।

हृषीकारुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः ।
स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिंगं स्वेष्टार्थरंजनात ॥ ५४८ ॥

अन्वयार्थः— (हृषीकारुचितेषु) इंद्रियोंके लिये अप्रिय (विषयेषु) विषयोंमें (यः उच्चैः उद्वेगः) जो अत्यन्त उद्वेग होता है (सः) वह (स्वेष्टार्थरञ्जनात) स्वेष्ट पदार्थमें अनुरागपूर्वकही होता है अतः वह (भोगाभिलाषस्य लिंग स्यात) भोगाभिलाषका साधक लिंग है ।

भावार्थः— अनरुचते इंद्रिय विषयोंमें जो एकप्रकारका उद्वेग होता है वह स्वेष्ट पदार्थकी आसक्तिपूर्वकही होता है । इसलिए अनिष्ट विषयोंमें होनेवाले उद्वेगसे इष्ट विषयोंमें आसक्तिका अनुमान किया जाता है । अतः अनिष्ट विषयोंमें उद्वेग, इष्ट विषयोंमें आसक्तिका साधक है ।

तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षेप्यरतिं विना ।
नारतिर्वा स्वपक्षेपि तद्विपक्षे रतिं विना ॥ ५४९ ॥

अन्वयार्थ.— (तद्यथा) पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है जैसे (पक्षे रति अपि) पक्षमें अनुरागभी (विपक्षे अरतिं विना न) विपक्षमें अरतिके विना नहीं होता है वैसेही (स्वपक्षे) स्वपक्षमे (अरति अपि) अरतिभी (तद्विपक्षे रतिं विना न वा) उसके विपक्षमें रतिके विना नहीं होती है ।

भावार्थः— जैसे इष्ट पदार्थमें रति, अनिष्ट पदार्थमें अरतिके विना नहीं होती है वैसेही इष्ट पदार्थमें अरतिभी अनिष्ट पदार्थमें रतिके विना नहीं होती है ।

साराश यह है कि रागद्वेष परस्पर सापेक्ष हैं । इसलिए पक्षमे राग विपक्षमें द्वेषपूर्वक होता है । और विपक्षमें राग पक्षमें द्वेषपूर्वकही होता है ऐसा समझना चाहिये ।

शीतद्वेषी यथा कश्चित उष्णस्पर्शं समीहते ।
नेच्छेदनुष्णसंस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ॥ ५५० ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (कश्चित् शीतद्वेषी) कोई शीतस्पर्श से द्वेष करनेवालाही (उष्ण स्पर्शं समीहते) उष्ण स्पर्शकी इच्छा करता है क्योंकि (उष्णस्पर्शाभिलाषुकः) उष्ण स्पर्शको चाहनेवाला (अनुष्णस्पर्शं न इच्छेत्) शीतस्पर्शको नहीं चाहता है ।

भावार्थ — जैसे कोई शीतद्वेषी है वही उष्ण स्पर्शानुरागी सिद्ध होता है क्योंकि उष्ण स्पर्शानुरागी उष्णसे भिन्न शीतस्पर्शको कैसे चाह सकता है ।

यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः ।
यस्य नास्ति स सद्दृष्टिर्युक्तिस्वानुभवागमात ॥ ५५१ ॥

अन्वयार्थः— (यस्य कांक्षित भावः अस्ति) जिसके आकांक्षाका भाव होता है (सः नूनं मिथ्यादृक् अस्ति) वह निश्चयसे मिथ्यादृष्टि होता है और (यस्य सः नास्ति) जिसके वह कांक्षित भाव नहीं

होता है वह (युक्तिस्वानुभवागमात्) युक्ति अनुभव तथा आगममें (सद्दृष्टिः) सम्यग्दृष्टि होता है ।

भावार्थः— जिसके परपदार्थमें कांक्षा होती है वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है । और जिसके वह कांक्षा नहीं होती है वह युक्ति स्वानुभव तथा आगम प्रमाणसे सम्यग्दृष्टि कहलाता है ।

आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्र भोगाभिलाषतः ।
स्वार्थसार्थैकसंसिद्धिर्न स्यान्नामैहिकात्परम् ॥ ५५२ ॥

अन्वयार्थः— (भोगाभिलाषतः) भोगोंकी अभिलाषासे (अमुत्र इष्टार्थ संयोगः आस्तां) परभवमें इष्ट पदार्थोंका संयोग होना तो दूर रहो किन्तु (ऐहिका सा स्वार्थसार्थैकसंसिद्धिः अपि नाम न स्यात्) इह लोक सम्बन्धी वह स्वार्थोंकी सिद्धिभी नहीं होती है ।

भावार्थः— भोगाभिलाषासे परभवमें इष्टार्थकी प्राप्ति होसकेगी कि नहीं यह कथा तो दूर रहो परन्तु भोगाभिलाषासे इहलोकसम्बन्धीभी स्वार्थोंकी सिद्धि नहीं देखी जाती है अर्थात् अभिलाषाके साथ इहलोकसम्बन्धी इष्ट सिद्धिकाभी कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है ।

निःसारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः ।
जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्धेर्वातोत्तरङ्गवत् ॥ ५५३ ॥

अन्वयार्थः— (उन्मत्तवत्) उन्मत्त पुरुषकी तरह (अपि च) और (वार्धे वातोत्तरंगवत्) वायुसे तरंगित समुद्रकी तरंगोंके समान (एषः) यह भोगाभिलाषा (जन्तोः) जीवके (मिथ्याकर्मैकपाकतः) केवल मिथ्यात्वके उदयसे (निःसारं प्रस्फुरति) व्यर्थही उदित होती रहती है ।

भावार्थः— जैसे उन्मत्त पुरुषको चाहे जिस पदार्थके विषयमें लहरें उठा करती है अथवा जैसे समुद्रमें वायुके निमित्तसे तरंग उठा करती है वैसेही मिथ्यात्वके उदयसे जीवको परविषयमें निष्प्रयोजनभूत अभिलाषायें उत्पन्नहुआ करती है ।

ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।
भोगाकांक्षा विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ॥ ५५४ ॥

नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम ।
शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चा शुभावहम् ॥ ५५५ ॥

नचाऽऽशंक्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित ।
दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागोपि विरागवत् ॥ ५५६ ॥

यतः सिद्धं प्रमाणद्वै नूनं बन्धफला क्रिया ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्योऽवश्यं तद्धेतुसंभवात ॥ ५५७ ॥

सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया ।
अस्ति बन्धफलाऽवश्यं मोहस्यान्यतमोदयात ॥ ५५८ ॥

न च वाच्यं स्यात्सदृष्टिः कश्चित प्रज्ञापराधतः ।
अपि बंधफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन ॥ ५५९ ॥

यतः प्रज्ञाविनाभूतमास्ति सम्याग्विशेषणम ।
तस्याश्चाऽभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ॥ ५६० ॥

अन्वयार्थ — (ननु) शंकाकारका कहना है कि जब (मन्दः अपि) अज्ञानी पुरुषभी (कार्यं अनुद्दिश्य) किसी कार्यके उद्देशके विना (न प्रवर्तते) प्रवृत्ति नहीं करता है (तत्) तो फिर (ज्ञानी) ज्ञानी सम्यग्दष्टि (भोगाकांक्षां विना) भोगोंकी आकांक्षाके विना (व्रतं कथं आचरेत्) व्रतोंका क्यों आचरण करेगा और (क्रियायाः) क्रियाका (बन्धमात्रत्वं अद्वयं फलं असिद्धं न) केवल बन्धरूप एक फल असिद्ध नहीं है तथा (शुभायाशुभमात्रं) शुभक्रियाका केवल शुभरूप (च) और (अशुभायाः-

अशुभावहं स्यात्) अशुभक्रियाका केवल अशुभरूप फल होता है यह असिद्ध नहीं है तथा (**न च आशंक्यं**) ऐसीभी आशंका नहीं करना चाहिये कि (**दर्शनातिशयात् हेतोः**) सम्यग्दर्शनके माहात्म्यरूप हेतुसे (**विरागवत्**) वीतरागकी तरह (**क्वचित् सरागे अपि**) रागसहित किसी सम्यग्दृष्टिकेभी (**एषा क्रिया**) यह व्रताचरणादिरूप क्रिया (**अबन्धफला अपि स्यात्**) बन्धरूप फलको देनेवालीभी नहीं होती है (**यतः**) क्योंकि (**वै**) निश्चयसे यह (**प्रमाणात् सिद्धं**) आगम प्रमाणसे सिद्ध है कि (**क्षीणकषायेभ्यः अर्वाक्**) बारहवें गुणस्थानसे पहले (**अवश्यं तद्धेतुसंभवात्**) बन्धके हेतुरूप मोहादिकके अवश्य होनेके कारण (**नूनं**) निश्चयसे (**क्रिया बन्धफला**) व्रताचरणादि क्रिया बन्धरूप फलको देनेवाली होती है (**नूनं**) निश्चयपूर्वक (**मोहस्यान्यतमोदयात्**) मोहनीय कर्मके भेदोंमेंसे किसी एकके उदयसे (**सरागे वा वीतरागे**) सराग अथवा वीतराग दोनोंकेही (**औदयिकी क्रिया**) जो औदयिकी क्रिया होती है वह (**अवश्यं बन्धफला अस्ति**) अवश्यही बन्धरूप फलको देनेवाली होती है और (**न च वाच्यं स्यात्**) यहभी नहीं कहना चाहिये कि (**कश्चित् सद्दृष्टिः**) कोई सम्यग्दृष्टि (**प्रज्ञापराधतः**) ज्ञानकी मन्दतासे (**तां बन्धफलां अपि**) उस बन्धरूप फलको देनेवालीभी क्रियाको (**अबन्धफलां विदन्**) अबन्धफलवाली समझ करके (**कुर्यात्**) करता है (**यतः**) क्योंकि (**प्रज्ञां विना भूतं**) प्रज्ञाके साथ अविनाभाव संबंध रखनेवाला (**सम्यग्विशेषणं अस्ति**) सम्यक् विशेषण है यदि सम्यग्दृष्टिके (**तस्याः च अभावतः**) उस प्रज्ञाकाभी अभाव माना जायगा तो (**नूनं दृशः दिव्यता कुतस्त्या**) निश्चयसे सम्यग्दर्शनमें दिव्यताही कैसे रहेगी ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जब विना प्रयोजनके मन्दव्यक्तिकी भी प्रवृत्ति नही होती है तो फिर सम्यग्दृष्टी जीव भोगोंकी अभिलाषाके विना व्रतादिक क्रियाओंको कैसे करता है ? और क्रियामात्रका फल केवल बन्धही होता है यह असिद्ध नहीं है । तथा क्रिया दो प्रकारकी होती है एक शुभक्रिया व दुसरी अशुभक्रिया । उनमेंसे व्रतादिक शुभक्रिया का फल शुभही होता है । और हिंसादिक अशुभक्रियाका फल अशुभही होता है । यदि कदाचित कोई यह कहे कि वीतराग के समान सरागसम्यग्दृष्टीकी क्रियाएभी सम्यग्दर्शन के महात्म्यसे बन्धजनक नहीं होती है तो यह कहनाभी ठीक नहीं है । क्योंकी बारहवें गुणस्थानसे पहले रागादिक का सद्भाव रहनेसे यथायोग्य बन्ध आगममें अवश्य माना है । कारणकि जबतक मोहनीय कर्मके अवान्तर भेदोंमेंसे किसीकाभी उदय रहता है तबतक जीवके औदयिक भाव रहता है और उसके निमित्तसे यथायोग्य बन्धभी होता रहता है । यदि कदाचित यह कहा

जाय कि यद्यपि सम्यग्दृष्टी के बन्ध तो होता है परन्तु वह अपने ज्ञानकी मंदतासे कभी २ अपनी बन्धजनक क्रियाओं-कोभी अबन्धजनक मान लेता है तो यहभी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिकेही साथ ज्ञान सम्यग्ज्ञान होजाता है। इसलिए सम्यग्दृष्टीके बन्धादिकके विषयमें ज्ञानकी भूल नहीं होती है। वह इतर विषयोंमें मन्दज्ञानी होकरकेभी बन्ध मोक्षके विषयमें तो यथार्थ ज्ञाताहि है।

समाधान।

नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया।
शुभायाश्चाऽशुभायाश्च कोऽवशेषो विशेषभाक् ॥ ५६१ ॥

अन्वयार्थः— (**एवं न**) शंकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है (**यतः**) क्यों कि (**प्राक् सुसिद्धं अस्ति**) पहले यह सिद्धही किया जाचुका है कि (**अनिच्छत च क्रिया**) विना इच्छाकेही सम्यग्दृष्टिके सब क्रियाएं होती है इसलिये उस सम्यग्दृष्टीके (**शुभायाः च अशुभाय. च**) शुभ और अशुभ क्रियामें (**विशेष भाक्**) विशेषता को बतानेवाला (**कः अवशेष**) क्या शेष रहजाता है? अर्थात कुछ नहीं।

भावार्थः— शंकाकारकी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि पहले स्पष्ट रीतिसे सिद्ध कर आये है कि सम्यग्दृष्टिके सबही क्रियायें विना इच्छाके होती है अर्थात् चाहे वे शुभ हों या अशुभ परन्तु उनमें कोई अन्तर नहीं है।

इच्छापूर्वक शुभ और अशुभ दोनोंही क्रियायें बन्धका कारण होकसता है किंतु विना इच्छापूर्वक होनेवाली क्रियोंय बन्धका कारण नहीं होसकती हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टिके व्रतादिक क्रियाओंके इच्छापूर्वक न होनेसे बन्ध नहीं होता है ऐसा समझना चाहिये।

शंका।

नन्वानिष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः क्रिया।
विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा ऽसा निच्छतःकथम ॥ ५६२ ॥

अअन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**या**) जो (**अनिष्टार्थसंयोरूपा**) अनिष्ट प्रयोजनके सयोगरूप क्रिया होती है (**सा क्रिया अनिच्छतः**) वह क्रिया विना इच्छावालेकेभी होसकती है परन्तु (**विशिष्टेष्टार्थ संयोगरूपा सा**) विशिष्ट इष्ट योजनके संयोगरूप वह व्रताचरणादि क्रिया (**अनि-**

च्छतः कथं)-विना इच्छावालेके कैसे होसकती है ?

भावार्थः— शंकाकारकी शंका है कि दारिद्र्य मरणादि अनिष्ट क्रियायें तो अनिच्छापूर्वक होसकती है। परन्तु स्वर्गादिक अभ्युदयको देनेवाली क्रियायें इच्छापूर्वकही होती है। इसलिये वे अनिच्छापूर्वक कैसे होसकती है ?

सत्क्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम्।
तस्याः स्वतन्त्रसिद्धत्वात्सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात ॥ ५६३ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) अर्थात् (व्रतरूपा सत्क्रिया) व्रतरूप शुभक्रिया (**अनिच्छत स्फुट न स्यात्**) नहीं चाहनेवालके कभीभी नहीं होसकती है किंतु (**अर्थसात्**) प्रयोजनवश (**तस्याः स्वतन्त्र कर्तृत्वं सिद्धं**) उन व्रतादिरूप शुभ क्रियाओंको स्वतंत्र सिद्ध होनेसे उनका कर्ता सम्यग्दृष्टि सिद्ध होता है।

भावार्थः— व्रतादिरूप क्रियायें विना इच्छापूर्वक नहीं होती है। किंतु प्रयोजन देखे जानेसे सम्यग्दृष्टिही उन क्रियाओंका कर्ता सिद्ध होता है ऐसा समझना चाहिये।

समाधान।

नैवं यतोस्त्यानिष्टार्थ सर्वः कर्मोदयात्मकः।
तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत् कर्म च तत्फलम् ॥ ५६४ ॥

अन्वयार्थ— (**एवं न**) शंकाकारका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**कर्मोदयात्मकः सर्वः**) कर्मोदयसे प्राप्त होनेवाला जो कुछभी है वह सब सम्यग्दृष्टिके लिये (**अनिष्टार्थः अस्ति**) अनिष्ट अर्थ है (**तस्मात्**) इसलिये सिद्ध होता है कि (**ज्ञानी**) ज्ञानी-सम्यग्ज्ञानी (**यावत्कर्म च तत्फल**) सम्पूर्ण कर्म और कर्मफलकी (**न आकांक्षते**) आकांक्षा नहीं करता है।

भावार्थः— जो भी कर्मोदयसे प्राप्त होसकता है उस सबको सम्यग्दृष्टि इष्ट नहीं मानता है चाहे वह इंद्रादिक पदभी क्यों न हो। इसलिये सिद्ध होता है कि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि कर्म व कर्मफलचेतनात्मक शुभ क्रियाओंकी कभीभी इच्छा नहीं करता है।

यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः काश्चिदर्थसात् ।
तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात् पीतशंखावलोकनात् ॥ ५६५ ॥

अन्वयार्थः— (पुनः) और (यत्) जो (अर्थसात्) अर्थोंमें (कश्चित् इष्टार्थः कश्चित् अनिष्टार्थः) कोई इष्ट पदार्थ है तथा कोई अनिष्ट पदार्थ है ऐसी कल्पना होती है (तत्सर्वं) वह सब (पीतशंखावलोकनात्) शंखको पीत आदि रूपवान देखनेकी तरह) दृष्टिदोषत्वात्) दृष्टिका दोष है ।

भावार्थ — जो मिथ्यादृष्टियोंके पदार्थोंमे ऐसी कल्पना होती है कि अमुक पदार्थ इष्ट है और अमुक पदार्थ अनिष्ट है वह सब मिथ्यादर्शनका प्रभाव है कारण कि पदार्थोंका तो जैसा स्वरूप है वैसाही है परन्तु जैसे काचकामलादिक दृष्टिदोषसे लोग शुक्लशंखको पीतत्वादिरूपसे देखते है वैसेही जीव मिथ्यात्वके उदयसे पदार्थको इष्टानिष्टरूपसे देखता है ।

दृङ्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षात् सूक्ष्मार्थ(भूतार्थ)दर्शिनी ।
तस्यानिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिःकर्मफलात्मके ॥ ५६६ ॥

अन्वयार्थः— परन्तु (तस्य) सम्यग्दृष्टिके (दृङ्मोहस्य अत्यये) दर्शन मोहनियका नाश होनेपर (साक्षात् सूक्ष्मार्थदर्शिनी दृष्टिः) सूक्ष्म पदार्थोंकोभी साक्षात् देखनेवाली दृष्टि होजाती है और (अनिष्टे कर्म फलात्मके) अप्रयोजनभूत कर्म तथा कर्मफलरूप चेतनामें (अनिष्टार्थ बुद्धिः अस्ति) अनिष्टार्थ बुद्धि होजाती है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिकी दृष्टिमें मिथ्यात्वके उदयका अभाव होनेपर ऐसी विशदता प्रगट होजाती है कि जिसके प्रभावसे वह प्रयोजनभूत अतींद्रिय विषयोंकाभी बोध प्राप्त करलेता है । और अप्रयोजनभूत यावत् कर्म तथा कर्म चेतनामय भावोंमें अनिष्ट बुद्धि रखता है । इसलिये सिद्ध होता है कि स्वर्गादिक अभ्युदय कर्मोंके फलरूप होनेसे सम्यग्दृष्टिको व्रतादि धारण करनेके द्वारा अनिष्टही प्रतिभासित होते है । अतः उनकी प्राप्तिके लिएसी उसके कभीभी इच्छा नहीं होती है ।

नचाऽसिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च।
सर्वतो दुःखहेतुत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमात ॥ ५६७॥

अन्वयार्थः— (युक्ति स्वानुभवागमात्) युक्ति स्वानुभव और आगमसे कर्म तथा कर्मफलचेतना (सर्वतः दुःखहेतुत्वात्) सर्वथा दुःखका कारण है अतः सम्यग्दृष्टिकेलिए (कर्मण च तत्फलस्य) कर्म और कर्मफलमें (अनिष्टत्वं) अनिष्टता (असिद्ध नच) असिद्ध नहीं है ।

भावार्थः— मिथ्यात्वके उदयपूर्वकही होनेके कारण कर्म और कर्मफलचेतना युक्तिसे, आगमसे तथा स्वानुभवसे दुःखोंकाही कारण है अतएव सम्यग्दृष्टिके लिये वे दोनों चेतनायें अनिष्ट होती है यह असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्धही है ।

अनिष्टफलवत्वाऽस्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया ।
दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥ ५६८ ॥

अन्वयार्थः— (दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोः) जैसे दुष्ट कार्योंके उत्पादक हेतुको (दुष्टोपदेशवत्) दुष्ट कहते है वैसेही (अनिष्ट फलवत्वात्) अनिष्ट फलप्रद होनेके कारण (व्रतक्रिया अनिष्टार्था स्यात्) सम्यग्दृष्टिके लिये व्रतक्रियाभी इष्टार्थ नहीं किन्तु अनिष्टार्थही है ।

भावार्थः— साता वेदनीयादि कर्म तथा इष्ट संयोगादि उसके फल इन दोनोंमें सम्यग्दृष्टिके रुचिका अभाव रहता है क्योंकि वह सम्यग्दृष्टि उन्हें बन्धजनक होनेसे अनुपादेय मानता है ।

क्रियायें शुभ और अशुभरूपसे दो तरहकी होती है । अशुभक्रियारूप हिंसादिकसे दुराश्रव–पापाश्रव होता है । तथा शुभक्रियारूप व्रतादि परिणतिसे शुभाश्रव-पुण्याश्रव होता है । ये दोनोंही आश्रव शुभ और अशुभ बन्धके कारण है अर्थात शुभ व अशुभ दोनोंही परिणतिया बन्धरूप कार्यको उत्पन्न करनेवाली है । और बन्ध जीवात्माकी दूषित अवस्था है । अत. उस दूषित अवस्थाका कारणभी दूषितही होना चाहिये इस न्यायसे शुद्ध परिणतिकी अपेक्षा व्रतक्रियाकोभी बन्धजनकही बताया है । इसलिए बन्धरूप दुष्ट कार्यको उत्पन्न करनेवाली व्रत क्रियाभी सम्यग्दृष्टिके लिये इष्टार्थ नहीं होती है ।

सारांश यह है कि तत्वज्ञान होनेके बाद परिणामोंमें ऐसी विशुद्धता होती है कि सम्यग्दृष्टि अचिंत्य अनन्त आनन्दमय उपयोगके बिना सम्पूर्ण क्रियाओंको हेय समझता है । परन्तु वह पूर्व संस्कारोंकी तीव्रतावश उनका सहसा उच्छेद कर नहीं सकता है । किंतु अशुभ क्रियाओंके त्यागपूर्वक शुद्धपरिणतिके कारणभूत शुभ प्रवृत्तिरूप व्रत धारणा- दिकमें परवश तत्पर होता है । और अनन्तर परम उपादेयभूत शुद्ध परिणतिको क्रम २ से प्राप्त करलेता है । इसलिये सम्यग्दृष्टिके क्रियामात्र उपादेय नहीं होती है, किंतु बन्धरूप दुष्कार्यको उत्पन्न करनेके कारण क्रियामात्र अनुपा- देयही प्रतीत होती है ।

अथाऽसिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियाय : कर्मणःफलात् ।
कृते कमादयाद्धेतोस्तस्याश्चाऽसंभवो यतः ॥ ५६९ ॥

अन्वयार्थः— (अथ) तथा सम्यग्दृष्टिमें (**कर्मणःफलात्**) कर्मका फल होनेसे (क्रियायाः) क्रियाकी (**स्वतंत्रत्व असिद्ध**) स्वतंत्रता असिद्ध है (यतः) क्योंकि (**कर्मोदयात् हेतो ऋते**) कर्मोदय रूप हेतुके बिना (**तस्या.च असभवः**) उस क्रियाका होना असभव है

भावार्थ — तथा सम्यग्दृष्टी व्रताचरणादि क्रियाओंका वास्तवमें कर्ता नहीं कहा जासकता है । क्योंकि क्रियामात्र कर्मोंके उदयसे होती है । इसलिये किन्हीं कर्मोंके क्षयोपशमके साथ २ देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयसे होनेवाली व्रतादि क्रियाओंका वह स्वतत्र कर्ता नहीं होता है । यदि वह बिना कर्मोदयके व्रतधारणादि करता तो उन क्रिया- ओंका कर्ता कहलासकता था । परन्तु कोईभी सम्यग्दृष्टि बिना कर्मोदयके शुभ क्रियाओंमेंभी प्रवृत्त नहीं होता है । इस लिये वह वास्तवमें किसीभी क्रियाका कर्ता नहीं कहलासकता है ।

यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चाऽत्मनः ।
यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत्यौदायिकी स्मृता ॥ ५७० ॥

अन्वयार्थः— (**यावत् अक्षीण मोहस्य**) सब सराग (**च**) और (**क्षीण मोहस्य**) वीतराग (**आत्मनः**) आत्माओंके (**यावती क्रियानाम अस्ति**) जितनीभी क्रियायें होती है (**तावती**) वे सब (**औदयिकी स्मृता**) औदयिक मानी गई है ।

भावार्थ— सम्पूर्ण मोहसहित तथा मोहरहित जीवोंके संसारमें जितनीभी क्रियायें होती है वे सब किसी न किसी कर्मके उदयसे होनेके कारण औदयिकीही होती है।

क्योंकि।

पौरुषो न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति।
न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः॥ ५७१॥

अन्वयार्थ — (उदित कर्मप्रति) उदयमें आनेवाले कर्मके प्रति (पुंस) जीवका (यथाकाम) इच्छानुकूल (पौरुषः) पुरुषार्थ (न) कारण नहीं है (हि) क्योंकि (पौरुषः) पुरुषार्थ (परं) केवल (पौरुषापेक्ष. न) पौरुषकी अपेक्षा नहीं रखता है किंतु (दैवापेक्ष) दैवकी अपेक्षा रखता है।

भावार्थः— इच्छानुकूल पुरुषका पुरुषार्थही कर्मोंके उदयमें कारण नहीं होता है अर्थात् पुरुषका पुरुषार्थभी स्वतंत्र नहीं है किंतु दैवकी अपेक्षापूर्वक होनेसे परतंत्र है। इसलिये सम्यग्दृष्टिका पुरुषार्थभी इच्छानुसार नहीं होता है किंतु दैव सापेक्षही होता है। अत उसके जोभी कर्मोंके उदयसे क्रियायें होती है वे उसकी इच्छानुसार न होनेसे वह सम्यग्दृष्टि उनका इच्छापूर्वक कर्ता नहीं कहा जासकता है। तथा अनिच्छापूर्वक होनेवाले कर्मोंका उदय आश्रव व बन्धमें कारण नहीं होसकता है इसलिये ज्ञानी कर्मोंके उदयसे होनेवाली क्रियाओंके करते हुएभी नि कांक्षित अंगधारी सिद्ध होता है।

सिद्धो निष्कांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोप्युदितां क्रियां।
निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम्॥ ५७२॥

अन्वयार्थः— (ज्ञानी) सम्यग्दृष्टि (उदितां क्रियां) औदयिक क्रियाको (कुर्वाणः अपि) करता हुआभी (निःकांक्षितः सिद्धः) निःकांक्षित सिद्ध होता है क्योंकि (विरागिणां निष्कामतः कृतं कर्म रागाय न) वीतरागोंके बिना इच्छापूर्वक होनेवाली क्रियायें राग उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होती है।

भावार्थः— इसलिये पुरुषके पुरुषार्थकोभी दैवसापेक्ष सिद्ध होनेसे सम्यग्दृष्टियोंके क्रियाओंके देखे जानेपरभी निःकांक्षितपना असिद्ध नहीं होता है। किंतु सिद्धही होता है। कारण कि राग रहित व्यक्तिके रागके बिना

नाशंक्य चास्ति निःष्कांक्ष सामान्योपि जनः क्वचित ।
हेतोः कुताश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥ ५७३ ॥

अन्वयार्थः— (न च आशंक्यं) यहांपर ऐसी आशका नहीं करना चाहिये कि (दर्शनातिशयात् अन्यत्र) सम्यग्दर्शनके माहात्म्यके विना (कुतश्चिदपि हेतोः) अन्य किसी कारणसेभी (क्वचित्) कहीं (सामान्यः जनः अपि) साधारण पुरुषभी (निकांक्ष. अस्ति) नि कांक्षित वृत्तिवाला होसकता है ।

भावार्थः— ऐसी आशका नहीं करना चाहिये कि कोई जीव सम्यग्दर्शनके प्राप्त किये विनाभी अन्य किसी कारणसे निःकाक्षित वृत्तिवाला होसकता है ।

यतो निष्कांक्षता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं विना ।
नानिच्छास्त्यक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥ ५७४ ॥

अन्वयार्थः— (यतः) क्योंकि (न्यायात्) न्यायानुसार (सद्दर्शनं विना) सम्यग्दर्शनके विना (निःकांक्षिता) निःकांक्षितपना (नास्ति) नहीं होसकता है कारण कि (तत अत्यक्षं) उस अतीन्द्रिय सुखको (अनिच्छत.) नहीं चाहनेवाले मिथ्यादृष्टिके (अक्षजे सौख्ये) इन्द्रियजन्य सुखमें (अनिच्छा न) अनिच्छा वृत्ति नहीं होसकती है।

भावार्थः— क्योंकि मिथ्यादृष्टिके सम्यग्दर्शनके विना निःकांक्षितपनेके अभावमेंभी कारण यह है कि सम्यग्दर्शन और निःकांक्षित वृत्तिका अविनाभाव सम्बन्ध है । इसलिये मिथ्यादृष्टिके सम्यग्दर्शनके अभावमें निःकांक्षित वृत्तिकाभी अभाव रहता है । कारणकि जो व्यक्ति अतींद्रिय सौख्यमें तत्पर रहता है उसकेही विषयसुखोंमें विरक्ति हो सकती है अन्यके नहीं और अतींद्रिय सुखमें अभिलाषा सम्यग्दर्शनके होनेपरही होती है सम्यग्दर्शनके अभावमें नहीं होती है इसलिये सम्यग्दर्शनके विना अन्य किसी कारणसे निःकाक्षित वृत्ति नहीं होसकती है ।

तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेच्छति ।
दृङ्मोहस्य तथा पाकःशक्तेः सद्भावतोऽनिशम ॥ ५७५ ॥

अन्वयार्थः— (**दृङ्मोहस्य**) दर्शनमोहनीय कर्मकी (**तथा पाकशक्तेः**) उसप्रकारकी विपरीत श्रद्धा। करानेवाली उदय शक्तिके (**अनिशं सद्भावतः**) सदैव पाए जानेसे (**सःमिथ्यादृष्टिः**) वह मिथ्यादृष्टि जीव (**मोहात्**) मोहके कारण (**तदत्यक्ष सुखं**) उस अतीन्द्रिय सुखकी (**न इच्छति**) कभीभी इच्छा नहीं करता है किन्तु सदैव वैषयिक सुखोंकोही चाहता है।

भावार्थः— मिथ्यादृष्टि जीवके दर्शनमोहके उदयवश सदैव परपदार्थमें मोह रहता है। और उस प्रकारके मोहके रहनेसे वह सदैव विषयोंमेंही आतुर रहता है। कभी अतींद्रिय सुखको नहीं चाहता है। इसलिये उसके कभीभी निःकांक्षित वृत्ति नहीं होती है प्रत्युत सदैव कांक्षावृत्तिही रहती है।

उक्तो निःकांक्षितो भावो गुणः सद्दर्शनस्य वै।
अस्तु का नः क्षतिः प्राक्चेत्परीक्षा क्षमता मता ॥ ५७६ ॥

अन्वयार्थः— (**यः, निःकांक्षितः भावः उक्तः**) जो निकांक्षित भाव कहागया है (**वै**) निश्चय करके (**सद्दर्शनस्य गुणः अस्तु**) सम्यग्दर्शनका लक्षण मानाजावे इसमें (**नः का क्षतिः**) हमारी कुछभी क्षति नही है (**चेत्**) यदि उस निःकांक्षित भावमें (**प्राक् परिक्षा क्षमता मता**) पहलेही परीक्षा क्षमता मानी जाचुकी हो अर्थात यदि वह निःकांक्षितभाव परिक्षित होचुका हो तोही सम्यक्त्वका लक्षण होसकता है अन्यथा नहीं।

भावार्थ — सम्यग्दर्शनके सद्भावमें होनेवालीही निःकांक्षित वृत्ति सम्यग्दर्शनका लक्षण होसकता है किंतु साधारण निःकांक्षितपना सम्यग्दर्शनका लक्षण नहीं होसकता है। अतः वास्तविक जो निःकांक्षित भाव है उसको सम्य-ग्दर्शनका लक्षण माननेमें कोई बाधा नहीं है।

अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः।
सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥ ५७७ ॥

अन्वयार्थ— (**अथ**) अब आगे (**सः**) वह (**निर्विचिकित्साख्य गुणः**) निर्विचिकित्सा नामक गुण (**संलक्ष्यते**) लक्षित किया जाता है कि (**यः**) जो (**युक्तिवशात् अपि**) आगम और युक्तिसेभी (**सद्दर्शन**

गुणस्य) सम्यग्दर्शनका (उच्चैः गुणः) उत्कृष्ट गुण सिद्ध होता है।

भावार्थ.— निःशंकित और निःकांक्षित गुणोंका वर्णन करके अब आगे उस निर्विचिकित्सा नामक गुण-का वर्णन किया जाता है कि जो आगम प्रमाणसेही नहीं किंतु युक्तिसेभी सम्यग्दर्शनका गुण—लक्षण कहलाता है।

आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्ध्यां स्वात्मप्रशंसनात्।
परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सता स्मृता ॥५७८ ॥

अन्वयार्थ.— (आत्मनि) अपनेमें (स्वात्म प्रशंसनात्) अपनी प्रशंसासे (आत्मगुणोत्कर्ष बुद्ध्या) अपने गुणोंके उत्कर्षको दिखानेकी बुद्धिके साथ २ जो (परत्र अपकर्षेषु अपि बुद्धिः) दूसरेके गुणोंके अपकर्षमेंभी बुद्धि होती है उसको (विचिकित्सता) निर्विकित्सा (स्मृता) कहते हैं।

भावार्थ — स्वात्मप्रशंसासे जो अपने गुणोंके उत्कर्षको बताते हुए दूसरोंके गुणोंमें अपकर्ष बुद्धि कीजाती है उसको विचिकित्सा कहते हैं।

निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः।
गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ ५७९ ॥

अन्वयार्थः—(विचिकित्सायाः) उस विचिकित्सासे जो (निष्क्रान्तः) रहित है वह (निर्विचि-कित्सक) निर्विचिकित्सक नामक (सद्दर्शनस्य) सम्यग्दर्शनका (उच्चैः गुणः) उत्कृष्ट गुण (प्रोक्तः) कहा गया है अब आगे (तल्लक्षणं) उसके लक्षणको (वक्ष्ये) कहता हूं (यथा) जैसेकि—

भावार्थः— उक्त प्रकारकी विचिकित्सासे जो रहित है उसे निर्विचिकित्सित अंग कहते हैं तथा यह निर्वि-चिकित्सक भावभी उक्त गुणोंके समान सम्यग्दर्शनका उत्कृष्ट गुण है अब आगे उसीका लक्षण बताया जाता है।

दुर्दवादुःखिते पुंसि तीव्राऽसाताघृणास्पदे।
यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥ ५८० ॥

अन्वयार्थः— (दुर्दैवात्) दुर्दैवसे (तीव्रासाताघृणास्पदे) तीव्र असाता वेदनीयके उदयके कारण तिरस्कार करनेके योग्य (दुःखिते पुंसि) दुःखित पुरुषमें (यत्) जो (असूया परं चेतः न) घृणातत्पर

चित्तका नहीं होना है वही (निर्विचिकित्सक. स्मृतः) निर्विचिकित्सक गुण माना गया है।

भावार्थः— दुर्दैवसे दुखित और तीव्र असाताके उदयसे घृणास्पद जो व्यक्ति है उनके प्रति चित्तकी ग्लानिका नहीं होनाही निर्विचिकित्सक गुण कहलाता है।

नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम् ।
नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम् ॥ ५८१ ॥

अन्वयार्थः— (**तन्मनसि**) उस निर्विचिकित्सक अंगवाले सम्यग्दृष्टिके मनमें (**एतत्**) यह (**अज्ञानं न**) अज्ञान नहीं होता है कि (**अहं**) मै (**सम्पदां**) सम्पत्तियोंका (**पदं अस्मि**) आस्पद हू और (**असौ**) यह (**दीनः वराकः**) दीन गरीब (**विपदां पदं**) विपत्तियोंकाही आस्पद है इसलिये (**अस्मत् समः न**) हमारे समान नहीं है।

भावार्थ — उक्त निर्विचिकित्सक गुणसे युक्त सम्यग्दृष्टिके ऐसे कुविचार नहीं होते है कि मै तो सम्पत्तियोंका आस्पद हू। और यह दीन गरीब विपत्तियोंका आस्पद है। इसलिए यह मेरे समान नहीं है।

प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः ।
प्राणिनःसदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥ ५८२ ॥

अन्वयार्थः— (**प्रत्युत**) किंतु (**तत्र**) उस निर्विचिकित्सक गुणवाले सम्यग्दृष्टिमें (**एतत् एव ज्ञानं**) ऐसाही ज्ञान होता है कि (**कर्मविपाकजाः**) कर्मोंके उदयसे उत्पन्न (**त्रसस्थावरयोनयः**) त्रस और स्थावर योनिवाले (**सर्वे प्राणिन**) सब जीव (**सदृशाः**) सदृश है।

भावार्थः— केवल कर्मोदयवशही त्रस स्थावर जीवोंमें भेद है आत्मदृष्टिसे नहीं। इसप्रकार सम्यग्दृष्टियोंके सब जीवोंमें सदृशताका द्योतक सम्यग्ज्ञानही होता है उक्त प्रकारका अभाव नहीं होता है।

यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात् ।
शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतो भेदो भ्रमात्मना ॥ ५८३ ॥

अन्वयार्थः— (**यथा शूद्रकाया उदरात् द्वौ अर्भकौ जातौ**) जैसे शूद्र पत्नीके पेटसे दो बच्चे पैदा हुए (**तौ द्वौ**) वे दोनोंही बच्चे (**अभ्रांतितः शूद्रौ**) निश्चयसे यद्यपि शूद्र है (**तथा**) वैसेही गरीब अमीर, ज्ञानी, अज्ञानी सबही कर्मोपाधिसे युक्त होनेसे सदृशही बध अवस्थाको प्राप्त है परन्तु (**भ्रमात्मनः भेद कृतः**) भ्रमिष्ट लोगोंके द्वारा उनमें भेद माना जाता है अर्थात् मिथ्यादृष्टिके द्वारा उनमें भेद कल्पित किया जाता है

भावार्थः— जैसे किसी शूद्र पत्नीके दो बच्चे थे उनकी मा मरगई थी। अत. एक बच्चेका पालनपोषण ब्राह्मणके यहां हुआ। और दूसरेका पालन किसी शूद्रके यहां हुआ। अतः बडे होनेपर क्रमसे अज्ञात पुरुषों द्वारा एक ब्राह्मण और दूसरा शूद्र शब्दसे पुकारा जाता है। वास्तवमें दोनोंही शूद्र है। ठीक वैसेही कर्मोपाधिसे नाना जीवोंमें जो भेद पाया जाता है। वह सब परवस्तुमें निजत्वके भ्रमके कारण होता है। वास्तवमें सबही संसारी कर्ममलीमस होनेसे सदृश है

इस भावको आगे दूसरे दृष्टांतसे स्पष्ट बताते है।

जले जम्बालवज्जीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम्।
अहंते चाऽविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसाः॥ ५८४ ॥

अन्वयार्थः— (**जले जम्बालवत्**) जैसे जलमें काई रहती है (**स्फुटं**) ठीक वैसेही (**जीवे यावत् अशुचिकर्म**) जीवमें जबतक अशुचि कर्म मौजूद है तबतक (**अहं च ते**) मैं और वे सब संसारी जीव (**अविशेषात् वा**) सामान्यरूपसे (**नूनं**) निश्चयपूर्वक (**कर्ममलीमसाः**) कर्मोंसे मलिनीकृत है।

भावार्थ— सम्यग्दृष्टिके निर्विचिकित्सित गुणके प्रभावसे विचार होते है कि जबतक जीवके कर्म लगे हुए है तब मैं व अन्य जीव सबही कर्ममलसे मलिन है अपनेमें ममताकी आसक्तिसे अन्य असाताके उदयप्राप्त पुरुषोंमें ग्लानि करना भ्रमयुक्त चेतनाका काम है। इसीके पुष्टिके लिये ऊपरका उदाहरण दिया है।

अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः।
यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित्॥ ५८५ ॥

अन्वयार्थ— (**असौ**) यह (**निर्विचिकित्सकः**) निर्विचिकितसा नामक (**गुणः**) गुण (**सद्दर्शनस्य अस्ति**) सम्यग्दर्शनका है (**यतः**) क्योंकि (**सः**) वह (**तत्र**) सम्यग्दर्शनके होनेपर (**अवश्यं अस्ति**) अवश्य होता है और (**तस्मात् अन्यत्र**) उसके विना (**क्वचित् न**) कहींपरभी नहीं होता है।

भावार्थ— यह निर्विचिकित्सित गुणभी सम्यग्दर्शनका एक अंग है। कारणकि सम्यग्दर्शनके होनेपरही वह होता है और उस सम्यग्दर्शनके विना नहीं होता है। अतः सम्यग्दर्शनका अविनाभावी होनेसे यहभी एक अंग कहा जाता है।

कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः।
सद्विशेषेऽपि सम्मोहाद्द्वयोरैक्योपलब्धितः ॥ ५८६ ॥

अन्वयार्थः— (समोहात्) मिथ्योदयजन्य व्यामोहके कारण (सद्विशेषे अपि) सत्में भेदके होनेपरभी (द्वयोःऐक्योपलब्धितः) दोनोंमें एकताका श्रद्धान करनेवाले ऐसे (कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः) कर्मके उदयसे होनेवाली पर्यायोंमें राग रखनेवाले अर्थात् पर्यायबुद्धि मिथ्यादृष्टिके (सः गुणः कुतः) वह निर्विचिकित्सित गुण कैसे प्रगट होसकता है।

भावार्थ — सम्यग्दृष्टिकेही निर्विचिकित्सित अंग क्यों होता है। इसीको ग्रन्थकार यहा दर्शाते है कि मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यादृष्टि जीव पर्यायबुद्धि होता है। आत्मा और कर्म ये दोनों यद्यपि भिन्न है तथापि आत्मामें कर्मके निमित्तसे जो देह, वाग् और बुद्धि पाई जाती है। वह आत्माका स्वरूप है इस प्रकारकी मिथ्या बुद्धि मिथ्यादृष्टिके होती है कारण यह है कि कर्म और आत्मामें यद्यपि भेद है तो भी मिथ्यात्वके उदयके कारण मिथ्यादृष्टियोंके मनमें एकत्वका व्यामोह होता है इसलिये उनके इस प्रकार भ्रम रहता है और इसीकारणसे वे विचिकित्सा भावसे ग्रस्त रहते है अतः उनके निर्विचिकित्सित अंग नहीं होता है।

इत्युक्तो युक्तिपूर्वोसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः।
नाविवक्षो हि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये ॥ ५८७ ॥

अन्वयार्थ — (इति युक्तिपूर्वः उक्तः सद्दर्शनस्य यः गुणः) इस प्रकार युक्तिपूर्वक कहा गया यह जो निर्विचिकित्सित नामक सम्यग्दर्शनका गुण-अंग है (असौ) यह यदि (अविवक्षः) नहीं कहा जाय तो (दोषाय न) किसी प्रकारके दोषके लिए नहीं होता है (अपि) और (विवक्षः गुणाप्तये न) कहा जाय तो सम्यग्दर्शनमें किसी प्रकारके विशेष गुणके लानेके लिएभी कारण नहीं होता है।

भावार्थः— यहांपर " अविवक्ष " और " विवक्षः " ये दो शद्ब अविवक्षित और विवाक्षितः अर्थमें आए है परन्तु मुझे ये दोनों कुछ अशुद्ध मालुम पडते है विद्वान् लोग विचार करे। जिस प्रकारसे इतर अंगोंके विषयमें ग्रथकारने जगह २ बताया है उसी प्रकार इस अंगके विषयमेंभी बताते है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर आत्मामें निर्विचिकित्सा बुद्धि होती है। इसलिए यहभी अग है परन्तु उसके प्रतिपादनसे कुछ विशेषता, और न प्रतिपादनसे कुछ न कुछ सम्यग्दर्शनमें हीनता होती है यह नहीं कहा जासकता है। यहां ग्रन्थकारका ऐसा अभिप्राय मालूम पडता हैकि यह बाह्य लक्षण है और बाह्य लक्षण सर्वथा ज्ञापकही होता है ऐसा नहीं कहा जासकता है। अन्तरंग लक्षण सम्यग्दर्शनका एक ज्ञानचेतना है।

अस्ति चामूढदृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी।
ययालंकृतवपुष्येतद्भाति सद्दर्शनं नरि[1] ॥ ५८८ ॥

अन्वयार्थः— (यया अलंकृतवपुषिनरि एतद् सम्यग्दर्शन भाति) जिससे अलकृत पुरुषमें सम्यग्दर्शन सुशोभित होता है (सा सम्यग्दर्शनशालिनी अमूढदृष्टिः अस्ति) वह सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाली अमूढ दृष्टि कहलाती है।

भावार्थः— तत्वज्ञानियोंकी दृष्टि मूढ नहीं होती है किंतु अमूढ होती है इसलिए जिस दृष्टिके द्वारा अलंकृत आत्मामें सम्यग्दर्शन शोभाको प्राप्त होता है वह सम्यग्दर्शनके अविनाभावसे होनेवाली अमूढदृष्टि है।

अमूढ दृष्टिका लक्षण।

अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात्।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोऽस्त्यमूढदृक् ॥ ५८९ ॥

अन्वयार्थः— (स्वलक्षणात्) मूढदृष्टिके लक्षणकी अपेक्षासे (अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः) अतत्वोंमें तत्वकी श्रद्धाको मूढदृष्टि कहते है (सा) वह मूढदृष्टि (यस्य जीवस्य नास्ति) जिस जीवकी नहीं है (सः अमूढदृक् अस्ति) वह अमूढदृष्टिवाला सम्यग्दृष्टि है।

---

१ ला. सं. में ' यथाऽलंकृतमात्रंसत् ' ऐसाभी पाठ है।

भावार्थ — अतत्त्वोंमें तत्त्वोंके श्रद्धानको करनेवाली जो दृष्टि है उसे मूढदृष्टि कहते हैं। जिसके इस प्रकारकी विपरीत दृष्टि नहीं होती है किंतु तत्वोंमें तत्वोंके श्रद्धान करनेवाली दृष्टि होती है उसे अमूढदृष्टि कहते हैं। उसीको आगे बताते हैं

अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैः मिथ्याऽर्थः साधितोऽपरैः।
नाप्यलं तत्र मोहाय दृङ्मोहस्योदयक्षतेः ॥ ५९० ॥

अन्वयार्थ — (य) जो (अपरैः) अन्य मतवालोंके द्वारा (असद्धेतुदृष्टांतैः मिथ्यार्थः साधितः अस्ति) मिथ्या हेतु और दृष्टांतोंके द्वारा वस्तुका स्वरूप विपरीत रीतिसे सिद्ध कर रक्खा है (" सः " अपि) वहभी (तत्र दृङ्मोहस्य उदयक्षते) सम्यग्दृष्टियोंके मिथ्यात्वका सद्भाव नहीं है इसलिए (मोहाय अलं न) मोह पैदा करनेके लिए समर्थ नहीं होता है।

भावार्थः— मिथ्या मतवालोंके द्वारा मिथ्या हेतु दृष्टांतोंके द्वारा सिद्ध किया हुआभी अर्थ (पदार्थ) मिथ्यात्वके अभावमें सम्यग्दृष्टियोंके मोहको उत्पन्न नहीं कर सकता है। अर्थात् जिनके मिथ्यात्वका सद्भाव होता है उनकेही मिथ्यामतवालोंके द्वारा प्रतिपादित अर्थ मोहजनक होते हैं सम्यग्दृष्टिके नहीं हैं।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः।
नाल्पश्रुतः स मुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः ॥ ५९१ ॥

अन्वयार्थ — (कुदृष्टिभिः सूक्ष्मांतरितदूरार्थे दर्शिते अपि) मिथ्यादृष्टियों द्वारा परमाणु आदि सूक्ष्म, सुमेरु आदि अन्तरित, और भूतकालीन रामरावणादि दूरार्थोंके प्रत्यक्ष दिखानेपरभी (अल्पश्रुतः सः) अल्पज्ञानी सम्यग्दृष्टि (न मुह्येत) मोहित नहीं होता है (बहुश्रुतः चेत् पुन किं) यदि बहुश्रुत हुआ तो फिर भला क्योंकर मोहित होगा ?

भावार्थ— सम्यग्दृष्टिको सूक्ष्मादि पदार्थोंका मिथ्यादृष्टि द्वारा युक्ति प्रयुक्तिसे प्रत्यक्ष कराया जाय तोभी वह मोहित नहीं होता है उसकी उस विषयमें श्रद्धा नहीं होती है कारण सम्यग्दर्शनके विना न तो समीचीन रूपसे

वस्तुके स्वरूपका बोधही होता है और समीचीन प्रतिपादनही होता है। अत. मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा यथार्थ स्वरूप कहा नहीं जाता है इसलिए अल्पज्ञानी अमूढदृष्टिकोभी, उसका श्रद्धान नहीं होता तो बहुश्रुतको तो क्योंकर होवेगा ?

अर्थाभासेऽपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढता।
स्थूलानन्तरितोपात्तमिथ्यार्थस्य कुतो भ्रमः ॥ ५९२ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र अर्थाभासे अपि) उन सूक्ष्मादि अर्थाभासोंमेंभी जब (उच्चैः) यथार्थमें (सम्यग्दृष्टेः) सम्यग्दृष्टिको (मूढता न) मूढता नहीं होती है तो फिर (स्थूलानन्तरितोपात्तमिथ्यार्थ अस्य भ्रमः कुतः) स्थूल और पार्श्ववर्ती तथा वर्तमान मिथ्या अर्थोंमें इसको भ्रम कैसे होसकता है ?

भावार्थ— सम्यग्दृष्टिके जब मिथ्यादृष्टियों द्वारा बताए हुए सूक्ष्मादि मिथ्या अर्थोंमें भ्रम नहीं होसकता है तो फिर स्थूल तथा पार्श्ववर्ती तथा वर्तमान मिथ्या अर्थोंमें भ्रम कैसे होसकता है ?

तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नानाविकल्पसात्।
निःसारैराश्रिता पुम्भिरथाऽनिष्टफलप्रदा ॥ ५९३ ॥
अफलाऽनिष्टफला हेतुशून्या योगापहारिणी।
दुस्त्याज्या लौकिकी रूढिः कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः ॥ ५९४ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) उसका खुलासा इस प्रकार है कि (नानाविकल्पसात्) अनेक विकल्पवाली (लौकिकी रूढिः अस्ति) लौकिक रूढि है और वह (निःसारैः पुम्भिः) निस्सार पुरुषों द्वारा (आश्रिता) आश्रित है (अथ) तथा (अनिष्टफलप्रदा) अनिष्ट फलको देनेवाली है।

(अफला) निष्फल (अनिष्टफला) दुष्फल अर्थात अनिष्ट फलरूप (हेतुशून्या) युक्तिरहित (योगापहारिणी) अन्वर्थ अर्थसे रहित अथवा असम्बद्ध (लौकिकी रूढिः) लौकिक रूढि (दुष्कर्मपाकतः) मिथ्यात्व कर्मके उदयसे (कैश्चित्) किन्हीं २ के द्वारा (दुस्त्याज्या) छोडी नहीं जाती है।

भावार्थः— उक्त मूढताका खुलासा इसप्रकार है कि यद्यपि देवमूढता गुरुमूढता आदि विकल्पोंसहित नानाप्रकारकी लौकिक रूढियां है जो कि निस्सार पुरुषोंके द्वारा आश्रित, अनिष्ट फलको देनेवाली, अफल, अनिष्टफलरूप, युक्तिशून्य और असम्बद्ध होती है तथापि वे मिथ्यात्वोदयवश मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा छोडी नही जाती है।

अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढता ॥ ५९५ ॥

अन्वयार्थः— (इह) इस लोकमें (या) जो (अदेवे देवबुद्धिः) कुदेवमें देवबुद्धि (अधर्मे धर्मधीः) अधर्ममें धर्मबुद्धि और (अगुरौ गुरुबुद्धिः) कुगुरुमें गुरुबुद्धि (स्यात्) होती है (सा) वह (देवादिमूढता) देवादिमूढता (ख्याता) कही जाती है।

भावार्थ.— कुदेवमें देवबुद्धि, अधर्ममें धर्मबुद्धि और कुगुरुमें गुरुबुद्धि को देवादिमूढता कहते है अर्थात् देवमूढता, धर्ममूढता और गुरुमूढता कहते है।

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता ॥ ५९६ ॥

अन्वयार्थ— (ऐहिकश्रेयसे) इहलोक सम्बन्धी कल्याणके लिये जो (कुधीः) मिथ्यादृष्टि जीव (कुदेवाराधनं) मिथ्या देवोंकी आराधनाको (कुर्यात्) करता है वह केवल (मृषालोकोपचारत्वात्) मिथ्या लोकोपचारवश की जानेके कारण (अश्रेया) अकल्याणकारी (लोकमूढता) लोकमूढता है।

भावार्थ.— ऐहिक स्वार्थ सिद्धिके लिये जो कुदेवोंकी आराधना की जाती है उसको लोकमूढता कहते है और वह मिथ्यालोकोपचारवश होनेके कारण अकल्याणकारी है।

अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकमूढवशादिह।
धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताऽम्बिका ॥५९७ ॥

अन्वयार्थ— (इह) इसलोकमें (लोकमूढवशात्) उक्त लोकमूढताके कारण (एकेषां)

किन्हीं २ का (श्रद्धानं अस्ति) ऐसा श्रद्धान है कि (सम्यगाराधिताम्बिका) अच्छी तरहसे आराधित की गई आम्बिकादेवी (नून) निश्चयसे (धनधान्यप्रदा) धन धान्य आदिको देनेवाली है।

भावार्थ — लोकरूढिवश किन्हीं २ का ऐसा विश्वास है कि यदि देवीकी भले प्रकार उपासना की जावे तो यथेच्छ धन धान्यादिककी प्राप्ति होती है।

अपरेऽपि यथाकामं देवानिच्छन्ति दुर्धियः।
सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञाऽपराधतः॥ ५९८॥

अन्वयार्थः— (अपरे अपि दुर्धियः) अन्य मिथ्यादृष्टि जीवभी (प्रज्ञापराधतः) अज्ञानके कारण (सदोषान् अपि देवान्) दोषयुक्तभी देवोंको (निर्दोषानिव) निर्दोष देवोंकी तरह (यथाकामं इच्छन्ति) अपनी २ इच्छानुसार मानते है।

भावार्थः— इसी प्रकार अन्य मिथ्यादृष्टि जीवभी मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले अज्ञानके कारण लोकरूढिवश सदोषभी देवोंको निर्दोष देवोंके समान अपनी २ रूचि के अनुसार मानते है।

नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसङ्गादपि सङ्गतः।
लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निःसारं ग्रन्थविस्तरम्॥ ५९९॥

अन्वयार्थः— (प्रसङ्गात् सगतः अपि) प्रसङ्गानुसार सुसङ्गत होते हुयेभी (तेषां समुद्देशः) उन कुदेवोंका कथन (न उक्तः) यहांपर नहीं किया है क्यों कि (वै) निश्चयसे (लब्धवर्णः) विद्वान पुरुष (निस्सार) निष्फल (ग्रन्थविस्तर) ग्रन्थके विस्तारको (न कुर्यात्) नहीं करता है।

भावार्थः— यद्यपि कुदेवोंका विशेष कथन करना प्रसंगवश युक्तियुक्त है तथापि निरर्थक ग्रन्थविस्तारके भयसे यहांपर उनका विशेष कथन नहीं किया गया है। क्योंकि कोईभी विद्वान पुरुष निरर्थक ग्रन्थविस्तारको नहीं करता है।

अधर्मस्तु कुदेवानां यावनाराधनोद्यमः।
तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतसाम्॥ ६००॥

अन्वयार्थ— (तु) और (कुदेवानां यावान् आराधनोद्यमः) जितनाभी कुदेवोंके आराधनाके सम्बन्धमें उद्यम है वह, तथा (तैः प्रणीतेषु धर्मेषु वाक्कायचेतसां चेष्टा) उनके द्वारा बताये हुये धर्मके विषयमें मन वचन और कायकी जो २ चेष्टा है वह सबभी (अधर्मः) अधर्म है।

भावार्थः— पुरुष प्रमाणसे वचनमें प्रामाणता होती है इस लिये सर्वज्ञ देवकी श्रद्धाके होनेपर उनकी आराधनाके उद्यमको ,तथा उनके द्वारा बताये हुए धर्ममें, मन वचन और कायकी प्रवृत्ति करनेको धर्म कहते है, तथा इसके विपरीत जो कुदेवोंकी आराधना है तथा कुदेव प्रणीत धर्ममें मन वचन और कायकी जो प्रवृत्ति है उसे अधर्म कहते है।

कुगुरु और सुगुरुका लक्षण ।

कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः ।
सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥ ६०१ ॥

अन्वयार्थ— (कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः कुगुरुः) जिसका चारित्र मिथ्या हो, जो शल्यसहित हो. परिग्रह सहित हो, वह कुगुरु है (यतः) क्योंकि (सम्यक्त्वेन अपि व्रतेन युक्तः सद्गुरुः स्यात्) सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे युक्त गुरुको सद्गुरु कहते है ।

भावार्थः— सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे युक्त गुरुको सद्गुरु कहते है । इसलिये परिग्रह, तीन प्रकारकी शल्य, और मिथ्या चारित्रको धारण करनेवालेको कुगुरु समझना चाहिये ।

अत्रोद्देशोऽपि न श्रेयान् सर्वतोतीव विस्तरात् ।
आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोऽनुक्त एव सः ॥ ६०२ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र अपि) कुगुरु और कुधर्मके विषयमेंभी (अतीव विस्तरात्) अत्यन्त विस्तारसे (उद्देशः) कथन करना (सर्वतः श्रेयान् न) सर्वथा श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि (अत्र)

इस विषयमें आगममें (उक्तः विधिः एव) जो विधि कही गई है वहही (आदेय) ग्रहण करना चाहिये तथा (अनुक्तः सः) जो विधि नहीं कही गई है वह (आदेयः न) ग्रहण नहीं करना चाहिये ।

भावार्थ — कुगुरु और कुधर्मके विषयमें विस्तारके भयसे यहांपर ज्यादह कुछ भी कथन नहीं किया गया है । अत उनके विषयमें आगममें जो विधि प्रतिपादित की गई उसे ग्रहण करना चाहिये । तथा जो विधि प्रतिपादित नहीं की गई है उसे ग्रहण नहीं करना चाहिये ।

दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणं च कर्मतत् ।
तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥ ६०३ ॥

अन्वयार्थ — (रागादिसद्भावः दोष) रागादिकका सद्भावरूप दोष और (आवरणं च तत् कर्म स्यात्) प्रसिद्ध ज्ञानावरणादिक कर्म कहलाते है तथा (यत्र) जिसमें (तयोः) उन दोनोंका रागादिक और ज्ञानावरणादिक कर्मोंका (निःशेष अभावः अस्ति) सर्वथा अभाव पाया जाता है (असौ) वह (देवः उच्यते) देव कहलाता है ।

भावार्थः— जिसमें रागादिक वैभाविक भावोंका और ज्ञानावरणादिक कर्मोंका सद्भाव नहीं पाया जाता है उसको सच्चा देव कहते है ।

अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् ।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥ ६०४ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) सच्चे देवमें (केवलं ज्ञानं) केवलज्ञान (क्षायिकं दर्शनं) क्षायिक दर्शन (सुखं) क्षायिक सुख (च) और (वीर्यं) क्षायिक वीर्य (इति) इस प्रकार जो (सुविख्यातं) सुप्रसिद्ध (अनन्तचतुष्टय स्यात्) अनन्त चतुष्टय है वह (अस्ति) पाया जाता है ।

भावार्थः— रागादिक भावोंका तथा ज्ञानावरणादिक घातिया कर्मोंका अभाव होजानेसे उस देवमें केवल ज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इस प्रकार अनन्त चतुष्टय प्रगट होजाता है ।

एको देवः स सामान्याद्द्विधाऽवस्थाविशेषतः ।
संख्येयो नामसन्दर्भाद्गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥ ६०५ ॥

अन्वयार्थः— (सः देवः) वह देव (सामान्यात्) देवत्व सामान्यपनेसे (एकः) एक प्रकारका है (अवस्थाविशेषतः) अवस्था विशेषसे—पर्यायोंकी अपेक्षासे (द्विधा) दो प्रकारका है (नाम सन्दर्भात्) संज्ञावाचक शब्दोंकी अपेक्षासे (सङ्ख्येयः) संख्यात प्रकारका है और (गुणेभ्यः) गुणोंकी अपेक्षासे (अनन्तधा स्यात्) अनन्त प्रकारका है।

भावार्थ— वह देव देवत्व सामान्यकी अपेक्षासे एक प्रकारका है। अरहंत तथा सिद्धरूप पर्यायकी अपेक्षासे दो प्रकारका है। संज्ञावाचक शब्दोंकी अपेक्षासे संख्यात प्रकारका है। और प्रत्येक गुणकी अपेक्षासे अनन्त प्रकारका है।

एको देवो स द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धोपलब्धितः।
अर्हन्निति सिद्धश्च पर्यायार्थाद्द्विधा मतः ॥ ६०६ ॥

अन्वयार्थः— (सः देवः) वह देव (शुद्धोपलब्धित द्रव्यार्थात्) शुद्धोपलब्धिरूप द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे (एकः सिद्धः) एक प्रकारका प्रसिद्ध है-एक प्रकारका माना गया है (च) और (पर्यायार्थात्) पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे (अर्हन्) अर्हंत (च) तथा (सिद्धः) सिद्ध (इति च) इस तरह (द्विधा मतः) दो प्रकारका माना गया है।

भावार्थ— वह देव द्रव्यार्थिक नयके विषयभूत सामान्य कथनकी अपेक्षासे एक प्रकारका है। और पर्यायार्थिक नयके विषयभूत विशेष कथनकी अपेक्षासे अरहन्त तथा सिद्ध इस तरह दो प्रकारका है।

दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥ ६०७ ॥

अन्वयार्थ— (यः) जो (दिव्यौदारिक देहस्थः) परम दिव्य औदारिक शरीरको धारण करनेवाला है (धौतघातिचतुष्टयः) चारों घातिया कर्मोंसे रहित है (ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः) अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य इन चार अनन्त चतुष्टयोंसे सहित है और (धर्मोपदेशकः) धर्म तीर्थका प्रवर्तक है (सः) वह (अर्हन्) अर्हन्त देव है।

भावार्थ— जो परम दिव्य औदारिक शरीरमें स्थित है-विराजमान है, चार घातिया कर्मोंका नाश करनेवाला है, अनन्त चतुष्टयसे परिपूर्ण है और समवशरणादि बाह्य विभूतिसे सहित होकर त्रिजगतके कल्याणके लिये मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाला है उसको अरहन्त कहते है।

मूर्तिमद्देहनिर्मुक्तो लोको लोकाग्रसंस्थितः।
ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसञ्ज्ञकः ॥ ६०८ ॥

अन्वयार्थः— ('यः') जो (मूर्तिमद्देहनिर्मुक्त) मूर्तीक शरीरसे रहित है (लोकः) सम्पूर्ण चर अचर पदार्थोंका युगपत् जानने तथा देखनेवाला है (लोकाग्रसंस्थितः) लोकाकाशके अग्रभागमें विराजमान है (ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतः) ज्ञानादिक अष्ट गुणोंसे युक्त है और (निष्कर्मा) सपूर्ण कर्ममलसे रहित है ('सः,) वह (सिद्धसंज्ञकः) सिद्ध नामक देव है अर्थात् उसे सिद्ध कहते है।

भावार्थः— जो मूर्तीकशरीर रहित है, सम्पूर्ण पदार्थोंका युगपत् ज्ञाता द्रष्टा है, लोकके अग्रभागमें विराजमान है, आठों कर्मोंके अभावसे उत्पन्न होनेवाले अनन्त ज्ञानादिक आठ गुणोंसे युक्त है और कर्म मलसे रहित है उसको सिद्धपरमात्मा कहते है।

अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात्।
महादेवोऽधिदेवत्वाच्छङ्करोऽपि सुखावहात् ॥ ६०९ ॥
विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृत्वात्कथंचन।
ब्रह्मा ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरिर्दुःखापनोदनात् ॥ ६१० ॥
इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात्।
यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥ ६११ ॥
चतुर्विंशतिरित्यादि यावदन्तमनन्तता।
तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैकविधत्वतः ॥ ६१२ ॥

अन्वयार्थ.— (जगत्पूज्यः इति) वह देव जगत्पूज्य होनेसे (अर्हन्) अरहन्त कहलाता है (कर्मारिघातनात्) कर्म रूपी शत्रुओंका नाश करनेसे (जिनः) जिन कहलाता है (अधिदेवत्वात्) देवाधिदेव होनेसे (महादेवः) महादेव कहलाता है (अभिसुखावहात्) जगतके प्राणियोंको सुखका देनेवाला होनेसे (शंकर) शंकर कहलाता हैं (ज्ञानेन) ज्ञानके द्वारा (कथञ्चन) कथञ्चित (सर्वार्थ विस्तृतत्वात्) सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्यापक होनेसे (विष्णुः) विष्णु कहलाता है (ब्रह्मज्ञरूपत्वात्) ब्रह्मज्ञ रूप होनेसे आत्माके स्वरूपको जाननेवाला होनेसे (ब्रह्मा) ब्रह्मा कहलाता है और (दुःखापनोदनात्) जगतके दुःखोंका नाश करनेवाला होनेसे (हरिः) हरि कहलाता हैं (इत्यादि अनेकनामा अपि) इस प्रकार वह अर्हन्त देव अर्हन् इत्यादिक अनेक नामवाला होकरकेभी (स्वलक्षणात्) अपने लक्षणकी अपेक्षासे (अनेक न अस्ति) अनेक नहीं है (यतः) क्योंकि (सिद्धसाधनात) प्रसिद्ध साधनोंके द्वारा (अनन्तगुणात्मकद्रव्य स्यात) अनन्त गुण स्वरूप एकही द्रव्य है तथा इसी तरह (चतुर्विंशति. इत्यादि) चौवीस तीर्थंकर आदिसे लेकर (अन्त यावत्) अन्त पर्यंत (अनन्तता) देवमें अनन्तपना पाया जात है परन्तु (देवत्वैकविधत्वतः) देवत्वको एक प्रकारकाही होनेसे (तद्बहुत्व) देवका बहुपना (दोषाय न) दोषके लिए नहीं होसकता है ।

भावार्थः— वह देव जगत्पूज्य है इसलिये अर्हत कहलाता है, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाला है इसलिए जिन कहलाता है, देवोंका देव है इसलिए महादेव कहलाता है, सम्पूर्ण जीवोंको सुख देनेवाला है इसलिए शंकर कहलाता है, ज्ञानकी अपेक्षासे कथंचित संपूर्ण पदार्थ गत है इसलिए विष्णु कहलाता है, शुद्ध आत्माके स्वरूपको जाननेवाला है इसलिए ब्रह्मा कहलाता है और जगतके दुःखोंका नाश करनेवाला है इसलिए हरि कहलाता है ।

इस प्रकार भिन्न २ गुणोंकी अपेक्षासे कहा जानेवाला वह देव यद्यपि संज्ञावाचक शब्दोंकी दृष्टिसे संख्यात भेद वाला कहा जाता है तथापि देवके लक्षणकी अपेक्षासे वह एकही प्रकारका है । कारणकि अनन्त गुणोंके पिंडको द्रव्य कहते है इसलिये किसीभी द्रव्यके गुणोंकी अपेक्षासे जो विवक्षित भेद है वे वास्तविक भेद नहीं कहलाते है तथा इसी प्रकार यद्यपि चौवीस तीर्थंकर आदिसे लेकर अनन्त संख्यापर्यंत देवके विषयमें भेद विवक्षा की जासकती है तथापि देवत्व सामान्यकी अपेक्षासे वह देव एकही प्रकारका है । अतः जो देवके विषयमें भेद विवक्षासे कहा हुआ बहुत्व है वह दोषावायक नहीं माना जासकता है ।

प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये ।
यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्न स्यान्नानाप्रकारता ॥ ६१३ ॥

अन्वयार्थ— (प्रदीपानां) प्रदीपोंकी (अनेकत्वं) अनेकता (प्रदीपत्वहानये न) प्रदीपत्व की हानिके लिये समर्थ नहीं है (यतः) क्योंकि (अत्र) इन दीपकोंमें (एकविधत्व स्यात्) प्रकारता एकही है (नानाप्रकारता न स्यात्) व्यक्तियोंके अनेक होनेपरभी अनेक प्रकारता नहीं है ।

भावार्थ — जैसे एकजातिके नाना दीपोंमें एक प्रदीपत्व जाति ही रहती है नाना नहीं । वैसेही कर्म मलसे रहित देवोंमें एक देवत्व जाति है नाना नहीं । इस लिये प्रदीपोंके समान देवोंकी अनेकताभी सामान्यपनेसे कहे जानेवाले देवत्वके प्रतिपादनके लिये बाधक नहीं होसकती है ।

न चाशंक्यं यथासंख्यं नामतोऽप्यस्त्वनंतधा ।
न्यायादेकं गुणं चेकं प्रत्येकं नामं चैककम् ॥ ६१४ ॥
न यतः सर्वतो मुख्यं संख्यातस्यैव संभवात् ।
अधिकस्य ततो वाचाऽव्यवहारस्य दर्शनात् ॥ ६१५ ॥

अन्वयार्थ— (न्यायात्) न्यायानुसार (एक गुणं प्रति एकैक च नाम " भवति इति ") एक २ गुणके मुख्यतासे देवके एक २ नाम अलहदा २ होजायगा इसलिये (यथासंख्यं नामत अपि तु) यथासख्य रीतिसे नामोंकी अपेक्षासेभी तो (अनन्तधा अस्तु) देव अनन्त प्रकार होना चाहिये ऐसीभी (आशंक्यं नच) आशंका नहीं करना चाहिये ।

---

१ अलौकिक गणितके मुख्य दो भेद है, एक संख्या मान और दूसरा उपमामान । संख्यामानके मूल ३ भेद है (१) सख्यात (२) असंख्यात और (३) अनन्त । असंख्यातके ३ भेद है (१) परीतासंख्यात (२) युक्तासंख्यात और (३) असंख्यातासंख्यात । अनन्तके भी ३ भेद है (१) परीतानन्त (२) युक्तानन्त और (३) अनन्तानन्त । संख्यातका एक भेद ही है इसप्रकार संख्यातका १ भेद, असंख्यात और अनन्तके तीन तीन भेद, सब मिलकर संख्यामानके सात भेद हुये । इन सातोंमेंसे

(नरत्न.) क्योंकि शद्वकी अपेक्षाको विषय करनेवाले नयकी अपेक्षासे (सर्वतोमुखंयसख्यात स्यैव सम्भवात्) अधिकसे अधिक उत्कृष्ट संख्यात तकही नाम होसकते है (ततो अधिकस्य अवाचा व्यवहारस्य दर्शनात्) उत्कृष्ट संख्यातसे अधिक शद्वकी अपेक्षामें कभीभी प्रतिपादित नही होते है।

भावार्थः— यहांपर कोई ऐसीभी शंका न करे कि एक गुणके अनुसार एक २ नाम मानलेनेसे शद्वदृष्टि-नामदृष्टिसेभी देवके अनन्त भेद मानलेना चाहिये, कारण बोलने योग्य शद्व उत्कृष्ट सख्यातसे अधिक नहीं होसकते है इसलिये अरहन्त आदि शद्वो द्वारा नामकी अपेक्षासे संख्यातही भेद होसकते हैं। असख्यात और अनन्त भेदभी होसकते है परन्तु वे भेद व्यक्ति भेद व गुणभेदके कारण आगममें माने है नाम भेदसे नहीं ।

प्रत्येक [हरएक] के जघन्य [सबसे छोटे] मध्यम [बीचके] और उत्कृष्ट [सबसे बडे] की अपेक्षासे तीन तीन भेद है। इसतरह संख्यामानके २१ भेद हुए।

एकमें एकका भाग देनेसे अथवा एकको एकसे गुणाकार करनेसे कुछभी हानि वृद्धि नही होती। इसलिये संख्याका प्रारम्भ दोके अकसे ग्रहण किया है। और एकको गणना [गिनति] शद्वका वाच्य [कहनेवाला] माना है, इसलिये जघन्य संख्यातका प्रमाण दो [२] है। तीन चार पाच इत्यादि एक कम उत्कृष्ट संख्याततक मध्यम संख्यातके भेद है। एक कम जघन्यपरीतासंख्यातकोही उत्कृष्ट संख्यात कहते है। अब आगे जघन्यपरीतासंख्यातका प्रमाण कितना है सो लिखते है।

जघन्यपरीतासंख्यातका स्वरूप समझानेके लिये जो उपाय लिखा जाता है, वह किसीने किया नही था और न किया जासकता है किन्तु बडे गणितका परिमाण समझानेके लिये एक कल्पित उपायमात्र है।

कल्पना कीजिये कि अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका नामके चार गोल कुण्ड है। जिनमेंसे प्रत्येक का व्यास (गोल पदार्थके एकतटसे दूसरे तटतककी चौडाई) एक लक्ष योजन (योजनका प्रमाण यहा दो हजार कोसका समझना) और गहराई (चौडाई) का प्रमाण एक हजार योजन है। इनमेसे अनवस्था कुण्डको गोल सरसोंसे शिखाऊ (पृथ्वीपर अन्नकी राशिकी तरह) भरना। गणित शास्त्रके अनुसार इस अनवस्था कुडमें १९७११२९३८४५१३१६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६$\frac{4}{11}$ छियालीस अंक प्रमाण सरसों समाई। किंतु यहा अपूर्णांकका ग्रहण नहीं करना।

इस अनवस्था कुडके भरनेपर दूसरी एक सरसों, अनवस्था कुडोंकी गिनती करनेके लिए शलाका कुंडमें डालनी चाहिये मध्यलोकमें असख्यात द्वीपसमुद्र है, जिनमें सबके बीचमें जम्बूद्वीप है। इसका व्यास एकलक्ष योजन है, उसके चारों तरफ लवण

वृद्धैः प्रोक्तमतःसूत्रे तत्वं वागति शायि यत् ।
द्वादशाङ्गाङ्गवाह्यं वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम ॥ ६१६ ॥

अन्वयार्थ— (अतः) इस लिये (वृद्धैः) पूर्वाचार्योंने (सूत्रे) सूत्रमें (प्रोक्त) कहा है कि (यत) जो (तत्वं) तत्व है वह (वागतिशायि) वचनातीत है (च) और (द्वादशांगांगबाह्य) द्वादशांग तथा अङ्गबाह्यरूप (श्रुतं) शास्त्र-श्रुतज्ञान (स्थूलार्थगोचरं) स्थूल पदार्थ को विषय करनेवाला है ।

भावार्थः— तत्व जो द्वादशाग गोचर कहाजाता है वह सब स्थूल दृष्टिकी अपेक्षासे कहा जाता है । क्योंकि वास्तवमें तत्व वचनके अगोचरही है ।

समुद्र है । उसको चारों तरफसे घेरकर धातकी खंड द्वीप है । इस प्रकार द्वीपके आगे समुद्र और समुद्रके आगे द्वीप इस क्रमसे असख्यात द्वीपसमुद्र है । चौडाई दूनी २ होती गई है । और उनकी (किसी द्वीप वा समुद्रकी) एकतटसे दूसरे तटतककी चौडाईको सूची कहते है । जैसे लवणसमुद्रकी सूची ५ लाख योजन है ।

अब अनवस्था कुंडमेंसे समस्त सरसोंको निकालकर देव या विद्याधरकी सहायतासे एक द्वीपमें एक समुद्रमें इस अनुक्रमसे डालते चलिये । जिस द्वीप वा समुद्रमें सब सरसों पूर्णकर अन्तकी सरसों डाले, उसी द्वीप वा समुद्रकी सूचीके समान सूचीवाला और १००० योजन गहराईवाला दूसरा अनवस्था कुंड बनाईये । और उसकोभी सरसोंसे शिखाऊ भर एक दूसरी सरसोंको, शलाका कुंडमें डालिये । इस दूसरे अनवस्था कुडकी सरसोंकोभी निकालकर जिस द्वीप वा समुद्रमें पहले समाप्ति हुई थी, उसके आगे एक सरसों, द्वीपमें और एक समुद्रमें डालते चलिये । जहां ये सरसों भी समाप्त हो जाँय वहां उसी द्वीप वा समुद्रकी सूचीप्रमाण चौडा और १००० योजन गहरा कुण्ड बनाकर उसे सरसोंसे शिखाऊ भरिये और शलाका कुण्डमें तीसरी सरसों डालिये । इस तीसरे कुण्डकी भी सरसों निकालकर आगेके द्वीप समुद्रोंमें एक एक डालते डालते जब सब सरसों समाप्त होजाय तब पूर्वोक्तानुसार चौथा अनवस्था कुण्ड भरकर चौथी सरसों शलाका कुण्डमें डालिये । इसीप्रकार एक एक अनवस्था कुण्डकी एक एक सरसों शलाका कुण्डमें डालते डालते जब शलाका कुण्डभी शिखाऊ भरजाय, तब एक सरसों प्रतिशलाका कुण्डमें डालिये । इसीतरह एक एक अनवस्था कुण्डकी एक एक सरसों शलाका कुण्डमें डालते डालते जब दूसरी बार भी शलाका कुण्ड भर जाय तो दूसरी सरसों प्रतिशलाका कुण्डमें डालिये । एक एक अनवस्था कुण्डकी एक एक सरसों शलाका कुण्डमें और एक २ शलाका कुण्डकी एक २ सरसों प्रतिश-

कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः ।
अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यं चेति चतुष्टयम ॥ ६१७ ॥
सम्यक्त्वं चेव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः ।
अप्यगुरुलघुत्वंच सिद्धे चाष्ट गुणाः स्मृताः ॥ ६१८ ॥

अन्वयार्थः— (कृत्स्नकर्मक्षयात्) सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला (क्षायिकं ज्ञानं) क्षायिक ज्ञान (पुनः) और (दर्शन) क्षायिक दर्शन (अत्यक्षं सुखं) अतींद्रिय अनन्त सुख (च) तथा (आत्मोत्थं वीर्यं) आत्मासे उत्पन्न होनेवाला अनन्त बल (इति चतुष्टयं) इस प्रकार अनन्त चतुष्टय (च) और (सम्यक्त्वं) क्षायिक सम्यक्त्व (सूक्ष्मत्वं) सूक्ष्मत्व (च) तथा (स्वतः एव अव्याबाधगुणः) स्वतः सिद्ध अव्याबाधत्व (अपि च) और (अगुरुलघुत्वं) अगुरुलघुत्व ('इति' च) इस प्रकार सामान्य रूपसे (सिद्धे) सिद्ध भगवानमें (अष्टगुणाः स्मृताः) अष्ट गुण माने गये है ।

भावार्थः— अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाधत्व और अगुरुलघुत्व ये सिद्धोंके आठ गुण है ।

इत्याद्यनन्तधर्माढ्यो कर्माष्टकविवर्जितः ।
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो नचेतरः ॥ ६१९ ॥

अन्वयार्थ — (इत्यादि अनन्तधर्माढ्यः) इस प्रकार ज्ञानादिक अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण (कर्माष्टकविवर्जितः) ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंसे रहित और (अष्टादशभिः दोषैः) क्षुधादिक अठारह दोषोंसे (मुक्तः) निर्मुक्त - रहित (देवः सेव्यः) देवही सेवन करनेके योग्य है—पूज्य है किंतु (इतर न च) अन्य देव पूज्य नहीं है।

भावार्थः— जो देव ज्ञानादिक अनन्त गुणोंसे युक्त है, आठ कर्मोंसे मुक्त है तथा क्षुधादिक अठारह दोंषोंसे रहित है वही पूज्य है । किंतु जो इससे विपरीत है वह पूज्य नहीं है ।

लाकाकुडमे डालते २ जब प्रतिशलाका कुंडभी भरजाय, तब एक सरसों महाशलाका। कुडमें डालिये जिसक्रमसे एक बार प्रतिशलाका कुड भरा है उसी क्रमसे दूसरी बार भरनेपर दूसरी सरसों महाशलाका कुंडमें डालिए इसी तरह एक २ प्रतिशलाका कुडकी सरसों महाशलाकाकुडमें डालते २ जब महाशलाकाकुडभी भरजाय उस समय सबसे बडे अन्तके अनवस्था कुंडमें जितनी सरसो समाई उतनाही जघन्य परीतासंख्यातका प्रमाण है । मध्यम परीतासंख्यातादि भेदोंके स्वरूपको त्रिलोकसारमें देखना चाहिये ।

अर्थाद्गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः ।
भगवांस्तु यतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥ ६२० ॥

अन्वयार्थ — (अर्थात्) वास्तवमें (स एव गुरुः अस्ति) वही देव सद्गुरु है (श्रेयोमार्गोपदेशकः) कल्याणमार्गका उपदेश देनेवाला (तु) तथा (भगवान्) सर्वज्ञ है (यतः) क्योंकि वह (साक्षात् मोक्षस्य वर्त्मनः नेता) साक्षात् मोक्षमार्गका नेता है।

भावार्थः— वही देव वास्तवमें गुरु है, श्रेयमार्गका उपदेशक है तथा भगवान है। क्योंकि वह साक्षात् मोक्षमार्गका नेता है।

तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः ।
गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्थाविशेषभाक् ॥ ६२१ ॥

अन्वयार्थ — (तेभ्यः अर्वाक्) उन सिद्ध और अर्हन्तोंकी अवस्थासे पहलेकी अवस्थावाले (तद्रूपधारिणः) उसी देवके रूपधारी (छद्मस्थरूपा अपि) छट्टे गुणस्थानसे लेकर बारहवे गुणस्थानतक रहनेवाले मुनिभी (गुरवः स्युः) गुरु कहलाते है क्योंकि वेभी (न्यायात्) भावी नैगमनयकी अपेक्षासे (गुरो अवस्था विशेषभाक्) उक्त गुरुकी अवस्था विशेषको धारण करनेवाले है (अतः अन्यः न) अगुरु नहीं है।

भावार्थः— छट्टे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थानतकमें रहनेवाले छद्मस्थ मुनियोंकोभी भाविनैगमनयकी अपेक्षासे देव कहसकते है। क्योकि मुनि अवस्था देवकी ही पूर्व अवस्था है। देवकी अवस्थाओंसे सर्वथा भिन्न अन्य अवस्था नहीं है। अतः मुनिभी सद्गुरु है असद्गुरु नहीं है।

अवस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्वानुभवागमात् ।
शेषसंसारिजीवेभ्यस्तेषामेवाति शायनात् ॥ ६२२ ॥

अन्वयार्थ — (युक्तिस्वानुभवागमात्) युक्ति स्वानुभव और आगमसे (अत्र) आचार्यादि मुनियोंमें (अवस्थाविशेष. अस्ति) देवकी पूर्ववर्ति विशेष अवस्थाही है अतः वेभी गुरु शब्दसे कहे जाते है

क्योंकि (**शेषसंसारिजीवेभ्यः**) देवके विना शेष संसारी जीवोंकी अपेक्षासे (**तेषां एव**) उन आचार्या-दिकमेंही (**अतिशायनात्**) अतिशय पाया जाता है ।

भावार्थः— छट्टे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थानतकमें रहनेवाले आचार्यादिक छद्मस्थ मुनियोंमें उक्त देवकी अवस्थाविशेषपना युक्ति, स्वानुभव तथा आगमसेभी सिद्ध है। क्योंकि शेष सम्पूर्ण जीवोंसे उन छद्मस्थ मुनियोंमें देवत्वकी ओर झुकनेवाली अतिशय युक्त विशेषता पाई जाती है ।

भविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते ।
अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात्सिद्धसाधनात् ॥ ६२३ ॥

अन्वयार्थः— (**भाविनैगमनयायत्त**) भाविनैगमनयकी अपेक्षासे (**भूष्णुः**) होनेवाला (**तद्वान् इव इष्यते**) होचुके हुयेके समान माना जाता है क्योंकि ऐसा कहना (**अवश्यंभावत**) अवश्यं-भावी (**व्याप्तेः सद्भावात्**) व्याप्तिके पाये जानेसे (**सिद्धसाधनात्**) युक्तियुक्त है ।

भावार्थ — जिस अवस्थाके अनन्तर आगामी जिस अवस्थाका होना निश्चित होता है उस अवस्थाका वर्तमानमेंभी कहना भावि नैगमनयसे युक्तियुक्त सिद्ध होता है इस न्यायसे छद्मस्थ मुनियोंकोभी आगामी कालमें निश्च-यसे सुदेवत्वकी प्राप्ति होगी इसलिए उनमे उस आगामी देवत्वकी भाविनैगमनयसे विवक्षा करके उनको सद्गुरु कहना असगत नहीं है किंतु युक्तियुक्तही है ।

अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तितः
चारित्रं देशतः सम्यक् चारित्रावरणक्षतेः ॥ ६२४ ॥

अन्वयार्थः— (**तेषु**) उन छद्मस्थ गुरुओंमें (**मिथ्याकर्मोपशान्तितः**) मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय कर्मके क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशमसे (**सद्दर्शन अस्ति**) क्षायिकादि सम्यग्दर्शन पाये जाते है और (**देशत चारित्रावरणक्षतेः**) एकदेश चरित्रमोहनीयके अभावसे (**सम्यक्चारित्र 'अस्ति'**) सम्यक्चारित्र पाया जाता है ।

भावार्थ— छद्मस्थ मुनियोंको सद्गुरु कहनेमें कारण यह है कि उनके मिथ्यादर्शनके अनुदयसे सम्यक्त्व और यथायोग्य चारित्रमोहके अनुदयसे आंशिक सम्यक्चारित्र पाया जाता है।

ततः सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्वं हेतुदर्शनात्।
मोहकर्मोदयाभावात् तत्कार्यस्याप्यसम्भवात् ॥ ६२५ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिए उन गुरुओंमें (वै) निश्चयकरके (निसर्गात्) स्वभावसे और (हेतुदर्शनात्) हेतुदर्शनसे (शुद्धत्व) शुद्धपना (सिद्धं) सिद्ध है क्योंकि (मोहकर्मोदयाभावात्) मोहनीय कर्मके उदयका अभाव होनेसे (तत्कार्यस्य अपि) मोहोदयजन्य रागादिकरूप कार्यका होनाभी (असम्भवात्) असंभव है।

भावार्थः— इसलिए उन छद्मस्थ मुनियोंमें स्वभावसे तथा युक्तिसेभी शुद्धता सिद्ध होती है। कारण कि उनके दोनों प्रकारके मोहका अनुदय रहता है। इसलिये उस मोहके अभावसे उत्पन्न होनेवाला जो शुद्धतारूप कार्य है वह उनके देखा जाता है।

तच्छुद्धत्वं सुविख्यातं निर्जराहेतुरञ्जसा।
निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि ॥ ६२६ ॥

अन्वयार्थः— (सुविख्यातं) सुप्रसिद्ध (तच्छुद्धत्वं) उनकी वह शुद्धताही (अंजसा) वास्तवमें (निर्जराहेतु) निर्जराका कारण है (अपि) और (संवरस्य निदानं) संवरका मूल कारण है तथा (क्रमात्) क्रम २ से (निर्वाणभाक् अपि) मोक्षकोभी प्राप्त करानेवाली है।

भावार्थ.—और उन छद्मस्थ गुरुओंकी वह शुद्धता उनके बद्ध कर्मोंकी निर्जरा तथा आनेवाले कर्मोंके संवरका कारण होती है। और क्रम २ से मोक्षकाभी कारण होती है।

यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः।
शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत्त्रयम् ॥ ६२७ ॥

अन्वयार्थः— (यद्वा) अथवा (अर्थात्) वास्तवमें (स्वयं) स्वत (निर्जरादित्रयं) निर्जरा संवर और मोक्ष है (यत) क्योंकि (तत् एव) वह शुद्धतासे अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाला (तत् त्रय अपि) वह निर्जरात्रिकही (शुद्धभावाविनाभावि) शुद्ध भावोंसे (द्रव्यनाम) शुद्ध द्रव्य है।

भावार्थः— शुद्धता और संवर निर्जरा तथा मोक्ष इन तीनोंका अविनाभाव सम्बन्ध है इसलिये शुद्धताकोही संवरत्रिक तथा संवरत्रिकको ही शुद्धता कहनेमें कोई बाधा नहीं आती है। कारण कि इसी अभिप्रायहीसे आगममें संवर निर्जरा और मोक्षको शुद्ध द्रव्य कहा है।

निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मनः।
परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः ॥ ६२८ ॥

अन्वयार्थः— (य) जो (चिदात्मन) आत्माका (शुद्ध भावः) शुद्धभाव (निर्जरादि-निदानं) निर्जरादिकका कारण है (सएव) वह ही (परमार्ह अस्ति) परमपूज्य है और (तद्वान् आत्मा) उस शुद्धभावसे युक्त आत्मा ही (पर गुरु) केवल गुरु कहलाता है।

भावार्थः— वास्तवमें कर्मोंके संवर निर्जरा और मोक्षका मूल कारण जो शुद्ध भाव है वह भावही परमपूज्य है तथा उस शुद्ध भावको धारण करनेवाला आत्मा ही परम गुरु कहलाता है।

न्यायाद्गुरुत्वहेतुः स्यात केवलं दोषसंक्षयः।
निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतरः ॥ ६२९ ॥

अन्वयार्थ — (न्यायात्) न्यायानुसार (गुरुत्वहेतुः) गुरुपनेके कारण (केवलं दोषसंक्षयः स्यात) केवल दोषोंका क्षय होजाना है क्योंकि जो (निर्दोषः) दोष रहित है वही (जगत साक्षी) सर्वदर्शी-सर्वज्ञ और (मार्गस्य नेता) मोक्षमार्गका नेता होसकता है किंतु (इतर न , जो दोषयुक्त है वह नहीं होसकता है।

भावार्थ— युक्तिपूर्वक विचार करनेसे सद्गुरुपनेका कारण केवल रागादिक दोषोंका अभाव ही कहा जासकता है। क्योंकि रागादि दोषोंसे रहित आत्मा ही सर्वज्ञ और मोक्षमार्गका नेता सिद्ध होसकता है अन्य नहीं।

नालं छद्मस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुनेः ।
रागाद्यशुद्धभावानां हेतुर्मोहैककर्म तत् ॥ ६३० ॥

अन्वयार्थः— (मुनेः) मुनिकी (एषा) यह (छद्मस्थता अपि) अल्पज्ञता भी (गुरुत्वक्षतये) गुरुपनेकी हानिके लिये (अलं न) समर्थ नहीं होसकती है क्योंकि (रागादिअशुद्धभावानां) रागादिक अशुद्ध भावोंका (हेतुः) कारण (तत्) वह (मोहकर्म) एक मोहनीय कर्मही है ।

भावार्थ— छटवें गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तकके मुनियोंको, सम्पूर्ण घातिया कर्मोंका नाश न होनेसे छद्मस्थ कहते है । परन्तु उनकी इस छद्मस्थ अवस्थामेंभी दोनोंही प्रकारके मोहका यथासंभव अनुदय रहता है । इस लिये उनके अशरूपसे शुद्धता और शुद्धताके निमित्तसे यथासंभव संवर तथा निर्जराभी होती है । और सवर तथा निर्जराके होते रहनेसे कालान्तरमें मोक्षभी उनको प्राप्त होजाता है । अतः छद्मस्थ अवस्था गुरुपनेकी बाधक नहीं कही जासकती है । कारण कि गुरुत्वका बाधक केवल एक मोहकर्मका उदय ही माना है । और वह मोहका उदय छद्मस्थ मुनियोंके रहता नहीं है । किंतु उसका यथासंभव क्षयोपशमादिक रहता है ।

शंका ।

नन्वावृतिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म च ।
अस्ति तत्राप्यवश्यं वै कुतः शुद्धत्वमत्र चेत् ॥ ६३१ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (चेत्) यदि (तत्रापि) उन छद्मस्थ गुरुओंमें भी (आवृत्तिद्वयं कर्म) ज्ञानावरणकर्म, दर्शनावरणकर्म (च) और (वीर्यविध्वंसिकर्म) अन्तरायकर्म (अवश्यं अस्ति) अवश्य है तो फिर (वै) निश्चयकरके (अत्र) इन छद्मस्थ गुरुओंमें (शुद्धत्वं) शुद्धता (कुतः) कहासे आसकती है ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यद्यपि छद्मस्थ गुरुओंके यथायोग्य मोहकर्मका अनुदय रहता है । परन्तु ज्ञानावरण और दर्शनावरण अन्तराय कर्मका तो सद्भाव पायाही जाता है इसलिए उनके शुद्धता कैसे सिद्ध होसकती है ?

उत्तर ।

सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च।
मोहकर्माविनाभूतं बंधसत्वोदयक्षयम् ॥ ६३२ ॥

अन्वयार्थः— (सत्य) शंकाकारका कहना ठीक है (किंतु) परन्तु (विशेषः अस्ति) इतनी विशेषता है कि (प्रोक्तकर्मत्रयस्य च) उक्त तीनों कर्मोंका (बन्धसत्वोदयक्षयं) बन्ध, सत्व, उदय और क्षय (मोहकर्माविनाभूत) मोह कर्मके साथ अविनाभूत है—अविनाभावी है अर्थात् मोहकर्मके साथ २ ही उक्त ज्ञानावरणादिक तीनोंही कर्मोंका बन्ध, उदय, सत्व तथा क्षय होता है।

भावार्थ — शंकाकारका कहना ठीक है कि छद्मस्थोंको ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंका सद्भाव पाया जाता है परन्तु इतनी विशेषता है कि घातिया कर्मोंमेंसे केवल एक मोह कर्ममेंही आत्मामें विपरीत स्वादुरूप परिणति करनेकी सामर्थ्य है। और उसका उदय रहनेपरही इतर तीव्र ज्ञानावरणादिक कर्मोंके उदयमें अत्यधिक तीव्रतादि रहती है। किंतु उस मोहके अनुदयके होतेही उन तीनों कर्मोंमें जो आत्माके ज्ञानादिक गुणोंके घातनेकी शक्ति है वह हीन पड जाती है कारणकि मोहका अभाव होतेही ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंकाभी यथासंभव अभाव होजाता है। इसलिए मोहके उदयादिकके साथही इतर तीन घातिया कर्मोंके उदयादिकका अविनाभाव माना है अर्थात् जितने अंशोंमें मोहके अनुदयसे आत्मामें शुद्धता प्रगट होती है उतनेही अंशोंमें इतर तीनों घातिया कर्मोंकाभी अभाव होता है। और तदनुसार आत्माके ज्ञानादिक गुणोंमेंभी यथायोग्य विशेषता प्रगट होती है अतएव ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंका सद्भाव पाया जानेसे छद्मस्थ मुनियोंके शुद्धता कैसे होसकती है यह शंका करनाभी ठीक नहीं है।

अब आगे इसी अर्थका खुलासा करते है।

तद्यथा बध्यमानेऽस्मिंस्तद्बंधो मोहबंधसात्।
तत्सत्वे सत्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः ॥६३३ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (अस्मिन् बध्यमाने) उसी मोहनीय कर्मका बन्ध होनेपर (मोहबंधसात) उसी मोहकर्मके बन्धके आधीन—साथ २ (तद्बन्ध) ज्ञानावरणादिकका बन्ध होता है (तत्सत्वे)मोहनीय कर्मका सत्व होनेपर (एतस्य) ज्ञानावरणादिकका (सत्वं) सत्व रहता है (पाके) उदय होनेपर (पाकः)उदय होता है और (क्षये) क्षय होनेपर (क्षयः) क्षय होता है।

भावार्थः— उक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि मोहके वन्ध, उदय, सत्व और क्षयके अनुसारही ज्ञानावरणादि तीनों कर्मोंका यथायोग्य वन्ध, उदय, सत्व तथा क्षय होता है।

नोह्यं छद्मस्थावस्थायामर्वागेवास्तु तत्क्षयः।
अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः॥ ६३४॥

अन्वयार्थः— (**छद्मस्थावस्थायां**) छद्मस्थ अवस्थामें (**अर्वाक् एव**) ज्ञानावरणादिक क्षय होनेके पहलेही (**तत् क्षयः अस्ति**) मोहनीय कर्मका क्षय होता है ऐसी (**नोह्यं**) आशंका नहीं करना चाहिये क्योंकि (**मोहक्षयस्य अंशात्**) मोहनीय कर्मका अंशरूपसे क्षय होनेपर (**अंशात् क्षयः**) ज्ञानावरणादिककाभी अंशरूपसे क्षय होता है और (**सर्वतः**) मोहनीय कर्मका सम्पूर्ण क्षय होनेपर (**सर्वतः क्षयः**) ज्ञानावरणादिककाभी सम्पूर्णरूपसेही क्षय होजाता है।

भावार्थः— यहां ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि " छद्मस्थ अवस्थामें ज्ञानावरणादि कर्मोंके पहलेही मोहका क्षय होजाता है। इसलिए पूर्व श्लोकमें कहा हुआ मोहके उदयादिकके साथ इतर कर्मत्रिकके उदयादिकका अविनाभाव सिद्ध नहीं होगा "। क्योंकि सर्वत्रही मोहके अंशरूपसे क्षय होनेपर नियमसे इन तीनों कर्मोंका आंशिक क्षय और सम्पूर्ण क्षय होनेपर पूर्ण क्षय होता है।

नासिद्धं निर्जरातत्वं तद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम्।
आदृङ्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणं क्रमात्॥ ६३५॥

अन्वयार्थ— (**सद्दृष्टेः**) सम्यग्दृष्टीके (**कृत्स्नकर्मणां**) ज्ञानावरणादिके सम्पूर्ण कर्मोंकी (**निर्जरा-तत्वं**) निर्जरा (**असिद्धं न**) असिद्ध नहीं है क्योंकि (**आदृङ्मोहोदयात्**) दर्शन मोहनीय कर्म उदयका अभाव होनेतक (**तत् च**) वह निर्जरा तत्वभी (**क्रमात्**) क्रमसे उत्तरोत्तर (**असंख्यगुणं**) असंख्यात गुणा माना गया है।

भावार्थ— सम्यक्त्वकी उत्पत्तिसे लेकर मोहनीयके पूर्ण क्षय होनेतक आठोंही कर्मोंकी प्रत्येक गुणस्थानमें उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा बताई है इसलिए यदि मोहके आंशिक क्षयके साथ इतर तीन घातिया कर्मोंके आंशिक

होना असिद्ध होता तो गुणश्रेणि निर्जरामें सब कर्मोंकी यथायोग्य निर्जराका युगपत् कथन नहीं पाया जाता। किंतु चारोंही घातिया कर्मोंकी निर्जरा मोहकी क्षयोपशमादिक अवस्थाके अनुपातसेही गुणश्रेणि निर्जरामें पाई जाती है इसलिए मोहके उदयादिकके साथ इतर ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंके उदयादिकका अविनाभाव सम्बन्ध युक्तियुक्तही है

ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि सांप्रतम् ।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥ ६३६ ॥

अन्वयार्थः— (**ततः**) इसलिए (**यद्यपि**) यद्यपि (**सांप्रतं**) छद्मस्थ वीतराग गुरुओंके (**प्रोक्तं कर्मत्रयं अस्ति**) उक्त ज्ञानावरणादिक तीनोंही कर्मोंका सद्भाव पाया जाता है तथापि (**रागद्वेषविमोहानां अभावात्**) राग, द्वेष और मोहका अभाव होनेसे (**गुरुता मता**) गुरुपना मानाही जाता है।

भावार्थः— इसलिए यह सिद्ध होता है कि यद्यपि छद्मस्थ अवस्थाओंमें ज्ञानावरणादिक तीनों कर्म विद्यमान है तथापि मोहके यथायोग्य क्षयोपशमादिकके होजानेसे उन तीनों कर्मोंकाभी क्षयोपशम होजाता है। अतः केवल राग, द्वेष और मोहके अभावसे गुरुपनेके सिद्ध करनेसेही शेष तीनों घातिया कर्मोंकाभी यथायोग्य अनुदयादिपना गर्भित होजाता है। दूसरे गुरुपनेके लिये केवल मोहकर्मका अभावही—अनुदयही मुख्य हेतु है। कारणकि मोहका अभाव होनेपर शेष तीनों घातिया कर्मोंकाभी यथायोग्य अनुदय होजाता है इसलिए रागद्वेष और मोहके अभावसे गुरुपना कहा जाता है

अथास्त्येकः स सामान्यात्सद्विशेषात्त्रिधा मतः ।
एकोप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पार्ण्यो दार्व्यस्त्रिधोच्यते ॥ ६३७ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ**) अब गुरुका विशेष वर्णन करनेके लिये प्रकरण प्रारम्भ करते है कि (**सः**) वह गुरु (**सामान्यात्**) सामान्यरूपसे (**एकः अस्ति**) एक प्रकारका माना गया है और (**सद्विशेषात्**) सत्‌की विशेष अपेक्षासे (**त्रिधा मतः**) तीन प्रकारका माना गया है (**यथा**) जैसे कि (**एक अग्निः**) अग्नित्व सामान्यसे अग्नि एक प्रकारकी होकरभी (**तार्ण्यः पार्ण्यः दार्व्यः**) तृणकी, पत्रकी तथा लकडीकी अग्नि इसप्रकार वह (**त्रिधा उच्यते**) तीन तरहकी कही जाती है।

भावार्थः— जैसे अग्नित्व सामान्यसे अग्नि एक प्रकारकी है और अपनी तृणादिकजन्य अवस्था विशेषकी अपेक्षासे तृणाग्नि, पर्णाग्नि तथा काष्ठाग्नि इसतरह तीन प्रकारकी कही जाती है। वैसेही वह गुरुभी गुरुत्वसामा-

न्यसे एक प्रकारका और गुरुविशेषक कथनकी अपेक्षासे अर्थात् आचार्य, उपाध्याय तथा साधुरूप गुरुकी पदवी विशेषकी अपेक्षासे तीन प्रकारका कहा जाता है।

आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा गतिः।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोपि मुनिकुंजराः ॥ ६३८ ॥

अन्वयार्थ — (आचार्यः) आचार्य (उपाध्यायः) उपाध्याय (च) और (साधु) साधु (इति) इसप्रकार उस गुरुकी (त्रिधा गतिः स्यात्) तीन अवस्थाएँ होती है अर्थात् वह गुरु तीन प्रकारका माना गया है कारण (त्रयः अपि) ये तीनोंही (मुनिकुन्जरा.) मुनिकुन्जर-मुनिवर (विशिष्टपदारूढा स्युः) आचार्यादि विशेष २ पदमें आरूढ माने जाते है-कहे जाते है।

भावार्थ — एक गुरुकीही आचार्य, उपाध्याय साधु और ये तीन अवस्थाएँ है।

साराश यह है कि आचार्यादिक तीनोंही गुरुके पद-विशेष अवस्थाए हैं। कोईभी सामान्य धर्म, विशेष अवस्थाके विना नहीं रह मकता है इस न्यायानुसार गुरुत्व धर्मभी आचार्य, उपाध्याय तथा साधुरूप पदके विना उपलब्ध नहीं होता है। इसलिए एकही गुरु, अवस्थाभेदसे तीन प्रकारका माना जाता है।

एको हेतुः क्रियाप्येका वेषश्चैको बहिः समः।
तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पंचधा ॥ ६३९ ॥
त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समतैकधा ।
मूलोत्तरगुणाश्चैके संयमाप्येकधा मतः ॥ ६४० ॥
परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् ।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्या स्थानासनादयः ॥ ६४१ ॥
मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टि ज्ञानं चारित्रमात्मनः ।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिस्थितम् ॥ ६४२ ॥

ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात्।
चतुर्धाऽऽराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥ ६४३ ॥
किंवाऽत्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते ।
विशेषाच्छेषानिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥ ६४४ ॥

अन्वयार्थः— (एक हेतु) उन आचार्यादिक तीनोंका एकही प्रयोजन है (क्रिया अपि एका) क्रियाभी एक है (च) और (बहिः वेषः) बाह्य वेष (एकः समः) एकसा है (च) तथा (द्वाद-शधा तप एक) बारह प्रकारका तप एकसा है (च) और (पञ्चधा व्रतं च एकं) पांच प्रकारका महाव्रत भी एकसा है ।

(त्रयोदशविधं चारित्रं) तेरह प्रकारका चारित्र (एकं) एकसा है (च) तथा (समता एकधा) समता एक प्रकारकी है—एकसी है (च) और (मूलोत्तरगुणाः) मूल तथा उत्तर गुण (एके) एकसे हैं (अपि) और (संयमः एकधा मतः) संयम एक प्रकारका माना गया है ।

(च) तथा (परीषहोपसर्गाणां सहनं) परीषह और उपसर्गोंका सहन (समं स्मृत) एकसा माना है (च) तथा (आहारादिविधिः) आहारादिककी विधि (एकः) एक है (चर्यास्थानासनादयः) चर्या, शय्या, आसन इत्यादिक एकसे हैं और (तेषां) उन तीनोंके (मोक्षस्य मार्गः) मोक्षके मार्गरूप (आत्मन) आत्माके (सद्दृष्टि ज्ञानं चारित्र) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तथा सम्यक्चारित्र इसप्रकार (अन्तः) अन्तरङ्ग (च) और (बहिः) बहिरंग (रत्नत्रय अपि) रत्नत्रयभी (समं स्थित) समान होता है (ध्याता) ध्याता (ध्यानं) ध्यान (च) तथा (ज्ञेयसात् ज्ञानं) ज्ञेयाधीन ज्ञान (चतुर्धा आराधना) चार प्रकारकी आराधना (अपि च) और (क्रोधादिजिष्णुता) क्रोधादिककी जयनशीलता (तुल्या) समान है इसलिये (अत्र) इस विषयमें (बहुना उक्तेन किं वा) अधिक कहांतक कहा जाय उन आचार्यादिक तीनोंकी सबही विषयोंमें समानता है केवल (तद्विशेषः) उनका वही विशेष (अवशिष्यते) अवशिष्ट रह जाता है जिसका कि आगे उल्लेख किया जायगा क्योंकि (न्यायात् (न्यायानुसार (विशेषात् शेष निःशेषः) विशेष कथनसे बाकी बचा हुवा सबही कथन (अविशेषभाक् अस्ति) सामान्य कहलाता है ।

भावार्थ — आचार्य, उपाध्याय और साधुओंमें प्रयोजन, क्रिया, बाह्यवेष, बारह प्रकारका तप, पाच प्रकारका व्रत, तेरह प्रकारका चारित्र, समताभाव, मूलगुण, उत्तरगुण, संयम, परीषह तथा उपसर्गोंका सहन, आहारादिक विधि, चर्या, आसन, शयन, मोक्षका मार्गभूत निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय, ध्याता, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, चार प्रकारकी आराधना और उत्तम क्षमादिक दशधर्म आदि सब सदृश होते है। परन्तु केवल यह इतनाही अन्तर रह जाता है कि जिसके कारण वे परस्परमें भिन्न होकर आचार्य, उपाध्याय तथा साधु कहलाते है।

उसेही बताते है।

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते।
पंचाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥ ६४५ ॥

अन्वयार्थः— (अनादितः रूढेः) अनादि रूढिसे और (योगात् अपि) योगसेभी-निरुक्त्यर्थसेभी (आचार्यः) आचार्य शब्दकी (निरुच्यते) व्युत्पत्ति की जाती है कि जो (संयमी) संयमी (परेभ्यः) अन्य संयमियोंसे (पंचाचारं आचारयति) पाच प्रकारके आचारोंका आचरण कराता है (सः) वह आचार्य कहलाता है।

भावार्थः— आचार्य शब्दका अर्थ रूढि तथा निरुक्तिसे आचरण करानेवाला होता है। इसलिये जो स्वयं दर्शनाचार आदि पाचो आचारोंका पालन करता हुआ अन्य मुनियोंसे उनका (पंचाचारोंका) पालन करवाता है उसको आचार्य कहते है।

अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छाति ॥ ६४६ ॥

अन्वयार्थः— (अपि) अथवा जो (व्रते छिन्ने) व्रतके खंडित होनेपर (पुनः) फिरसे (सन्धानं इच्छतः) प्रायश्चित्त लेकर उस व्रतमें स्थिर होनेकी इच्छा करनेवाले (साधोः) साधुको (तत्समादेशदानेन) अखंडित व्रतके समान व्रतोंके आदेश दानके द्वारा (प्रायश्चितं प्रयच्छति) प्रायश्चित्तको देता है वह आचार्य कहलाता है।

भावार्थः— प्रमादवश व्रतोंके छिन्न होनेपर व्रतोंका पुनः निर्दोष करनेकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको जो प्रायश्चित्त देता है। तथा अखण्डित रूपसे व्रतोंके पालन करनेका आदेश करता है उसको आचार्य कहते हैं।

आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक् ।
आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥ ६४७॥

अन्वयार्थः— (आदेशस्य) आदेशमें (उपदेशेभ्यः) उपदेशोंसे (सः भेदभाक् विशेषः स्यात्) वह भेद रखनेवाला विशेष होता है कि मैं (गुरुणा दत्तं आददे) गुरुके दिये हुये व्रतको ग्रहण करता हूं परन्तु (अयं विधिः) यह विधि (उपदेशेषु न) उपदेशोंमें नहीं होती है।

भावार्थ.— आदेश और उपदेशमें यह अन्तर है कि आदेश पालनाही पडता है, भंग नहीं किया जाता है और उपदेशका पालना, न पालना अपनी इच्छापर निर्भर रहता है अर्थात् उपदेशानुसार न चलनेसे भंगकृत पाप नहीं लगता है। इसलिये "गुरुके द्वारा दिये हुये आदेशको मैं ग्रहण करता हूं" इसप्रकारकी विधि जैसे आदेशमें होती है वैसे उपदेशमें नहीं होती है।

न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥ ६४८॥

अन्वयार्थ.— (व्रतधारिणां गृहिणां) व्रती गृहस्थोंकोभी (तदादेश) आचार्योंके समान आदेश करना (निषिद्धः न) निषिद्ध नहीं है क्योंकि (दीक्षाचार्येण दीयमाना) दीक्षाचार्यके द्वारा दी हुई (दीक्षा इव) दीक्षाके समान ही (तत्क्रिया अस्ति) गृहस्थाचार्योंकी क्रिया होती है।

भावार्थः— यत्याचार्योंके समान गृहस्थाचार्यभी होते हैं और उनके (यत्याचार्योंके) समानही गृहस्थाचार्यभी गृहस्थोंको दीक्षा तथा प्रायश्चित्त देते हैं। इसलिये व्रती गृहस्थाचार्योंके लिये प्रायश्चित्तादिकके विषयमें आदेश करना निषिद्ध नहीं है। क्योंकि गृहस्थाचार्यों के द्वारा दी हुई क्रियाएंभी यत्याचार्यके द्वारा दी हुई दीक्षा के समान ही पालनीय होती है।

स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिनां मनागपि ।
हिंसकश्चोपदेशोपि नोपयुज्येत कारणात ॥ ६४९ ॥

अन्वयार्थः—(अत्र) आदेश और उपदेशके विषयमे (अव्रतिनां) अव्रती गृहस्थोंको दूसरेके लिये (यथाम्नायात्) आम्नाय के अनुसार (मनाक् अपि सः) थोडासा भी आदेश करना (निषिद्ध) निषिद्ध है (च) तथा (कारणात्) किसी भी कारणसे (हिंसकः उपदेशः अपि) दूसरे के लिये हिंसाका उपदेश देना भी (उपयुज्य न) उचित नहीं है । (१)

भावार्थः— अव्रती पुरुष आम्नायानुसारभी आदेश नहीं कर सकता है । तथा किसीभी कारणवश वह हिंसाका उपदेशभी नहीं कर सकता है ।

मुनिव्रतधराणां वा गृहस्थव्रतधारिणाम ।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रितः ॥ ६५० ॥

अन्वयार्थ— (मुनिव्रतधराणां) मुनिव्रत धारियोंको (वा) और (गृहस्थव्रतधारिणां) गृहस्थके व्रत धारण करनेवालों को (वधाश्रितः) हिंसाका अवलंबन करनेवाला (आदेशः) आदेश (च) तथा (उपदेशः) उपदेश (न वा कर्तव्यः) नहीं करना चाहिये ।

भावार्थः— अव्रती पुरुषके समान व्रती गृहस्थ तथा मुनिभी हिंसादिकका आदेश और उपदेश नहीं कर सकते है ।

नचाशङ्क्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः ।
मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शितम ॥ ६५१ ॥

अन्वयार्थः — (यत) जो यह (प्रसिद्धं) प्रसिद्ध है कि (व्रतधारिभिः मुनिभिः) व्रती मुनियों के द्वारा (मुर्तिमत् शक्तिसर्वस्व) मूर्तिमान पदार्थोंकी सम्पूर्ण शक्तिया (हस्तरेखा इव दर्शित) हाथकी रेखाओ के समान देखली जाती है (' इति ' नच आशंक्य) ऐसी आशका नहीं करना चाहिये ।

भावार्थः— ऐसीभी आशंका ठीक नहीं है कि व्रती, मुनि संपूर्ण मूर्तिक पदार्थके पूर्ण ज्ञाता होते है अत वे चाहे जसा उपदेश परणाम देखकर देसकते है क्योंकि सवही मुनि पूर्ण रीतिसे मूर्त पदार्थ ज्ञाता नहीं होते है कारण पूर्ण ज्ञातापनेके साथ तो हिंसक उपदेशपनेके विरोधके उपदेशकी व्याप्ति है हिंसक उपदेशके साथ नहीं है । (१)

नूनं प्रोक्तोपदेशोपि न रागाय विरागिणाम् ।
रागिणामेव रागाय ततोवश्यं निषेधितः ॥ ६५२ ॥

अन्वयार्थः— (नूनं) निश्चय करके (विरागिणां) वीतरागियोंका (प्रोक्तोपदेशोऽपि) पूर्वोक्त उपदेश देना भी (रागाय न) रागके लिये नहीं होता है किंतु (रागिणां एव रागाय) सरागियोंकाही पूर्वोक्त उपदेश देना रागके लिये होता है (ततः) इसलिये रागियोंको (अवश्यं निषेधितः) उपदेश देने के लिये अवश्य निषेध किया है ।

भावार्थ — यहा रागी शद्बका अर्थ अव्रती समझना चाहिये । पहले जो अव्रतियोंको आदेश तथा उपदेश देनेका निषेध किया है उसका खुलासा ही इस पद्यके द्वारा किया गया है । वीतराग अर्थात् व्रती पुरुषोंकी उपदेश देनेसे रागकी पुष्टि नहीं होती है । और रागी पुरुषोंकी उपदेश देनेसे रागकी पुष्टि होती है अतएव रागी अव्रती पुरुषोंको उपदेश देना निषिद्ध बताया है ।

न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः ।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥ ६५३ ॥

अन्वयार्थ — (नून) निश्चय करके (सत्पात्रदानेषु) सत्पात्रों के लिये दान देनेके विषयमें (अपि) और (अर्हतां पूजायां) अर्हतों की पूजाके विषयमें (न सः आदेशः निषिद्धः) न तो वह आदेश निषिद्ध है तथा (न उपदेश निषेधितः) न उपदेश ही निषिद्ध है ।

भावार्थः—अव्रतियोंको जो उपदेश देनेका निषेध बताया है वह व्रतादिकके विषयमेंही बताया है । सत्पात्र दान और अर्हतोंकी पूजाके विषयमें अव्रती पुरुषोंके लिएभी आदेश तथा उपदेशका देना निषिद्ध नहीं है ।

यद्वादेशोपदेशौ स्तो तौ द्वौ निरवद्यकर्मणि ।
यत्र सावद्यलेशोस्ति तत्रादेशो न जातुचित् ॥ ६५४

अन्वयार्थ— (यद्वा) अथवा (तौ आदेशोपदेशौ द्वौ) वे आदेश और उपदेश दोनोही (निरवद्य कर्मणि स्तः) निर्दोष क्रियाओं में ही होते है किन्तु (यत्र) जहांपर (सावद्यलेश अपि) पापकी

थोडीसी भी संभावना है (मत्र) वहांपर (जातुचित्) कभी भी (आदेशः न) आदेशकी प्रवृत्ति नहीं होसकती है ।

भावार्थः— आचार्य वगैरह प्रशस्त मोक्षमार्गके विषयमेंही आदेश तथा उपदेश करते है । किंतु जिस विषयमें थोडेसेभी पापकी सभावना है उस विषयका कभीभी आदेश नहीं करते है क्योंकि सावद्य कार्य करनेका आदेश देनेसे उनको अनुमोदनाजन्य पाप लगता है ।

सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम् ।
कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हतः ॥ ६५५ ॥

अन्वयार्थः— (आचार्य) आचार्य (असंयमिभिः लोकैः सह) असंयमी पुरुषोंके साथ (संसर्गं) सम्बन्ध (भाषण) भाषण–बातचीत और (रतिं) प्रेमव्यवहार (कुर्यात्) करे (इति एके) ऐसा कोई कहते परन्तु जैनाम्नायसे असयमी पुरुषोंके साथ संसर्गादिकको करनेवाला (असौ) वह आचार्य (न सूरिः) न तो आचार्यही होसकता है (च) तथा (न आर्हतः) न अर्हत भगवानका अनुयायीही होसकता है ।

भावार्थ — किन्हीं २ लोगोंका ऐसा कहना है कि " आचार्य असंयमी पुरुषोंके साथ ससर्ग, भाषण व प्रेम व्यवहार करते हैं । " परन्तु उनका ऐसा कहना शास्त्र विरुद्ध है क्योंकि असंयमी पुरुषोंके साथ जो आचार्य संसर्गादिक रखता है वह न आचार्यही है और न अर्हत भगवानका अनुयायीही है ।

संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह ।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥ ६५६ ॥

अन्वयार्थः— (इह) इस लोकमें (कैश्चित मतेः) किन्हीं २ लोगोंने अपनी बुद्धिसे ऐसा (प्रोक्तः) कहा है कि (सूरिः) आचार्य (संघसम्पोषक) संघका पोषक–पालन करनेवाला होता है परन्तु उनका ऐसा कहनाभी ठीक नहीं है क्योंकि (अतः धर्मादेशोपदेशाभ्यां) इस धर्मके आदेश और उपदेशसे बढकर (अपरः उपकार न अस्ति) दूसरा कोई उपकारही नहीं है ।

भावार्थः— कोई २ अपनी बुद्धिके अनुसार आचार्यको संघका पालक बताते है। परन्तु उनका यह कहनाभी ठीक नहीं है क्योंकि धर्मके आदेश व उपदेशसे बढकर अन्य कोई उपकार नहीं है इसलिये आचार्यका जो महत्व धर्मादेश तथा धर्मोपदेशसे सिद्ध होता है वह पालक कहनेसे सिद्ध नहीं होता है। दूसरे पालकको आरम्भ और परिग्रहकी अपेक्षा रहती है। आचार्य आरम्भ परिग्रहसे सर्वथा विरक्त होते है। इसलिये वे संघके पालक नहीं होते है किंतु धर्मके आदेशक तथा उपदेशकही होते है।

यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम्।
तावत्कालं स नाऽचार्योप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः ॥ ६५७॥

अन्वयार्थ — (यद्वा) अथवा (य) जो (मोहात्) मोहसे (वा) अथवा (प्रमादात्) प्रमादसे ('यावत्कालं') जितने कालतक (लौकिकीं क्रियां कुर्यात्) लौकिक क्रियाको करता है (तावत्कालं) उतने कालतक (सः) वह (आचार्यः न) आचार्य नहीं है (च) और (अन्तर्व्रतात् च्युतः अपि अस्ति) अन्तरंगमें व्रतोंसे च्युतभी है।

भावार्थः— अथवा जबतक आचार्य मोह या प्रमादके वशमें होकर किसी लौकिक क्रियामें तत्पर रहता है तबतक वह यथार्थमें आचार्य नहीं कहलाता है। और अपने अन्तरंग व्रतोंसे च्युतभी समझा जाता है।

इत्युक्तव्रततपःशीलसंयमादिधरो गणी।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥ ६५८ ॥

अन्वयार्थः— (इति) इसप्रकार जो (गणी) आचार्य (उक्तव्रततप शीलसंयमादिधरः) पूर्वोक्त व्रत, तप, शील तथा संयमादिकको धारण करनेवाला है (सः) वही (साक्षात्गुरुः) साक्षात् गुरु है और (नमस्य) नमस्कार करनेके योग्य है किंतु (नऽन्य.) उससे भिन्न (गणी) आचार्य (गुरुः न) गुरु नहीं होसकता है।

भावार्थ — इसप्रकार निर्दोष रीतिसे उक्त व्रत, तप, शील संयमादिकको धारण करनेवाला जो गणका अधिपति आचार्य है वही साक्षात् गुरु है और वही नमस्कार करनेके योग्य है। किन्तु जिसमें उक्त व्रतादिक गुण नहीं है वह न आचार्य ही है तथा न गुरु ही है।

उपाध्यायः समाधीयान वादी स्याद्वादकोविदः ।
वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥ ६५९ ॥

कविर्व्रत्यग्रसूत्राणां शद्बार्थैः सिद्धसाधनात् ।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥ ६६० ॥

उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासो अस्ति कारणम् ।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्‌गुरुः ॥ ६६१ ॥

शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः ।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नाऽऽदेशंसूरिवत्क्वचित् ॥ ६२ ॥

तेषामवाश्रमं लिंगं सूरिणां संयमं तपः ।
आश्रयेच्छुद्धचारित्रं पंचाचारं स शुद्धधीः ॥ ६६३ ॥

मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम् ।
परिषहोपसर्गाणां विजयी स भवेध्द्रुवम् ॥ ६६४ ॥

अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः ।
शुद्धवेषधरो धीमान् निर्ग्रन्थः स गणाग्रणी ॥ ६६५ ॥

अन्वयार्थः—(उपाध्याय) उपाध्याय (समाधीयान्) शंका समाधान करनेवाला (वाग्मी) सुवक्ता (वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः) भाषा– सर्वज्ञ (सिद्धांतागमपारगः) सिद्धांत शास्त्र और यावत् आगमोंका पारगामी (व्रत्यग्रसूत्राणां) वार्तिक तथा सूत्रोंको (शद्बार्थैः सिद्धसाधनात्) शद्ब और अर्थके द्वारा सिद्ध करनेवाला होनेसे (कवि.) कवि (अर्थस्य माधुर्ये गमक) अर्थमें मधुरताका द्योतक तथा (वक्तृत्ववर्त्मनां धुर्य.) वक्तृत्वके मार्गका अग्रणी होता है (उपाध्यायत्वं इत्यत्र) उपाध्यायपनेमें (श्रुताभ्यास)

शास्त्रका विशेष अभ्यासही (कारणं अस्ति) कारण है (यत्) क्योंकि जो (स्वयं अध्येति) स्वयं अध्ययन करता है (च) और (शिष्यान् अपि अध्यापयेत्) शिष्योंकोभी अध्ययन कराता है वही (गुरुः) गुरु उपाध्याय है (तत्र) उपाध्यायमें (व्रतादीनां शेषः विधिः) व्रतादिकके पालन करनेकी शेष सब विधि (सर्वसाधारणः) सब मुनियोंके समान है तथा (सः वह उपाध्याय (धर्मोपदेशं कुर्यात्) धर्मका उपदेश तो करे किंतु (सूरिवत्) आचार्यकी तरह (क्वचित आदेशं न 'कुर्यात') किसीभी विषयमें आदेश न करे (सः शुद्धधी.) वह शुद्ध बुद्धिवाला उपाध्याय (तेषां सूरिणां एव) उन आचार्योंकेही (आश्रमं) आश्रम (लिंग) लिंग (सयम) संयम (तप) तप (शुद्धचारित्र) शुद्ध चारित्र तथा (पंचाचार) पंचाचारको (आश्रयेत्) धारण करे (यथोक्तान् मूलोत्तरगुणान् एव) शास्त्रोक्त मूल और उत्तर गुणोंकाही (चिर) चिरकालतक (आचरेत) पालन करे तथा (ध्रुव) निश्चयसे (सः) वह (परीषहोपसर्गाणां) परीषह और उपसर्गोंका (विजयी भवेत) जीतनेवाले होवे (अत्र) उपाध्यायके विषयमें (अति विस्तरेण अल) अधिक विस्तार करना व्यर्थ है किंतु इतना कहनाही पर्याप्त है कि (सः) वह उपाध्याय (नूनं). निश्चयसे (मुने.)मुनिका (अन्तर्बहि) अन्तरंग तथा बाहरंग (शुद्धवेषधरः) शुद्ध वेष धारण करनेवाला (धीरः) धीरवीर (निर्ग्रंथः) निर्ग्रंथ और (गणाग्रणी) गणमें अग्रणी—श्रेष्ठ होता है ।

भावार्थः— जो मुनि शका समाधान करनेवाला हो, वादपटु हो अनेकातका यथार्थ वेत्ता हो, वाग्मी हो, शब्दब्रह्म तथा सिद्धात शास्त्रोंका पारगामी हो, वृत्ति है आगे जिनके ऐसे सूत्रोंका अर्थात सवृत्ति सूत्रोंका शब्दार्थ द्वारा सिद्ध करनेवाला हो स्वाभाविक प्रतिभासम्पन्न होनेसे कवि हो, शब्दोंका माधुर्य पूर्वक अर्थ प्रगट करनेवाला हो और वक्ताओंमें अग्रणी हो वह उपाध्याय कहलाता है ।

उपाध्यायको उपाध्याय कहनेमें केवल विशेषरीतिसे श्रुताभ्यासही कारण है । क्योंकि उपाध्याय शब्दका निरुक्त्यर्थ भी यही है कि " जो स्वयं अध्ययन करता है और शिष्योंकोभी अध्ययन करता है उसे उपाध्याय कहते है " । इसलिये स्वयं अध्ययन करनेवाले तथा शिष्योंकोभी अध्ययन करानेवाले गुरुको उपाध्याय गुरु कहते है । इस प्रकार-अध्ययन अध्यापनकी विशेषता रहते हुएभी उपाध्याय गुरुमें शेष सब विधि सर्व साधारण मुनियोंके समान होती है । अतः यद्यपि उपाध्याय गुरु आचार्यके समान आदेश नहीं करते है तथापि मुनियोंके समान आचार्यके आश्रमका आश्रय करते रहते है । आचार्यकेही लिंग (नग्नलिंग) संयम, तप, शुद्ध चारित्र और पांच प्रकारके आचारको पालते

है। अपने मूलगुण तथा उत्तर-गुणोंकाभी सदैव निर्दोष रीतिसे पालन करते है। परीषह और उपसर्गोंको जीतते हैं सहन करते है। इस विषयमें अधिक कहांतक कहा जावे इतनाही कहना पर्याप्त है कि उपाध्याय गुरु अन्तरंग तथा बहिरंग रूपसे शुद्ध मुनिवेषधारी होकर धीरवीर गणाग्रणी तथा निर्ग्रंथ होते हैं।

उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणैः ।
अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात ॥ ६६६ ॥

अन्वयार्थ— (स्वलक्षणैः विख्यातः) अपने लक्षणोंसे प्रसिद्ध (उपाध्याय) उपाध्यायका (समाख्यातः अस्ति) सम्यक्प्रकारसे वर्णन हो चुका है इसलिए (अधुना) अब आगे (आगमात् सिद्धं) आगमसे सिद्ध (साधोः लक्षणं) साधुके लक्षण को (साध्यते) सिद्ध करते है—कहते है।

भावार्थ — इस प्रकार अपने लक्षणोंसे प्रसिद्ध उपाध्यायके स्वरूपका निरूपण करके अब आगमसे सिद्ध साधुके लक्षणका निरूपण करते है।

मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सद्दृग्ज्ञप्तिपुरःसरम् ।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥ ६६७ ॥
नोच्याच्चायं यमी किञ्चिद्धस्तपादादिसंज्ञया ।
न किंचिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥ ६६८ ॥
आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवांश्च परम् ।
स्तिमितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनिः ॥ ६६९ ॥
नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत स मनागपि ।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥ ६७० ॥
वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभ. ।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥ ६७१ ॥

निर्ग्रन्थोन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपोंशुभिः ॥ ६७२ ॥
परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः।
एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥ ६७३ ॥
इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥ ६७४ ॥

अन्वयार्थः— ('यः') जो (मोक्षस्य मार्गं) मोक्षके मार्गभूत (सदृग्ज्ञप्तिपुरस्सरं) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक (चारित्र) सम्यक्चारित्रको (आत्मसिद्ध्यर्थं) आत्मसिद्धिके लिये (साधयति) साधता है ('सः') वह (अन्वर्थसंज्ञकः) अन्वर्थ नामधारी (साधुः) साधु कहलाता है।

(अयं यमी) यह साधु (किंचित् न च उच्चयात्) कुछ नहीं बोले (हस्तपादादिसंज्ञया) हाथ, पैर आदिके संकेतसे (किंचित न दर्शयेत) कुछ नहीं दरशावे–किसी बातका इशारा नहीं करे और (स्वस्थ.) आत्मस्थ होकर (मनसा अपि) मनसेभी (न चिन्तयेत्) कुछ चिंतवन नहीं करे।

(च) और (सः मुनिः) वह साधु (परं) केवल ([1]शुद्धं आत्मानं) शुद्ध आत्मामें (आस्तिघ्नुवानः) लीन होता हुआ अथवा शुद्ध आत्माको प्राप्त होता हुआ (स्तिमितांतर्बहिर्जल्पः) अन्तरंग तथा बहिरंग वाग्व्यापारसे रहित होकर (निस्तरंगाब्धिवत्) तरंग रहित समुद्रकी तरह शान्त (अस्ति) रहता है तथा जब (सः) वह मुनि (स्वर्गापवर्गमार्गस्य) स्वर्ग और मोक्षमार्गका (मनाक् अपि) किंचित्भी (न आदेशं) न तो आदेश (च) तथा (न उपदेशं वा) न उपदेशही (आदिशेत्) करता है तो (पुनः) फिर (तद्विपक्षस्य किं) स्वर्ग व मोक्षमार्गके विपरीत मार्गके आदेशादिक करही कैसे सकता है?

(सः यमी) वह साधु (वैराग्यस्य) वैराग्यकी (परां काष्ठां) पराकाष्ठाको–चरम सीमाको (अधिरूढः प्राप्त होकर (अधिकप्रभः) अधिक प्रभावशाली (दिगम्बर) दिगम्बर (जातरूपधारी)

१ "नोच्याद्वाचं यमी" यहभी पाठ है।

यथाजात रूपको—जन्मके समय जैसा रूप था वैसे रूपको धारण करनेवाला (दयापरः) दयाशील (अन्तर्बहिर्मोहग्रन्थे) अन्तरंग तथा बहिरंग मोहकी ग्रंथिको -गाठको (उद्ग्रन्थकः) खोलनेवाला (निर्ग्रंथः) निर्ग्रंथ (श्रेण्याः) गुणश्रेणिरूपसे (कर्मनिर्जरकः) कर्मोंकी निर्जरा करनेवाला (यमी) यमी (तपोंऽशुभिः] तपरूपी किरणोंसे युक्त होनेसे (तपस्वी) तपस्वी (परीषहोपसर्गाद्यैः) परीषह तथा उपसर्गोंके द्वारा (अजय्यः) पराजित नहीं होनेवाला (जितमन्मथः) कामरूपी शत्रुको जीतनेवाला (एषणाशुद्धिसशुद्ध) शास्त्रोक्त विधिपूर्वक आहार लेनेवाला और (प्रत्याख्यानपरायणः) प्रत्याख्यानमें—त्यागमें परायण होता है—तत्पर रहता है (इत्यादि अनेकधा) इत्यादि अनेक प्रकारके (अनेकैः साधुगुणैः) अनेक साधुसबंधी गुणोंसे (श्रित) युक्त वह (महान) पूज्य (साधुः) साधुही (श्रेयसे) मोक्षकी प्राप्तिके लिये (विदुषां अवश्य नमस्यः) तत्वज्ञानियोंके द्वारा अवश्य नमस्कार करनेके योग्य है किंतु (इतरः न) इतर गुणोंसे रहित जो साधु है वह नमस्कार करनेके योग्य नहीं है।

भावार्थ.— जो आत्मकल्याणकी कामनासे मोक्षके मार्गभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और चारित्र को साधते है उन्हें साधु कहते है। और वे आचार्योंके समान आदेशको तथा उपाध्यायके समान वचन व हाथके निर्देशादिकके द्वारा उपदेशकोभी नहीं देते है। और आत्मध्यानमेंही सदैव निमग्न रहनेसे मनके द्वाराभी उपदेश देनेकी इच्छा नहीं करते है। केवल शुद्ध आत्मामें तत्पर होते हुए अन्तरंग बहिरंग व्यापारसेभी रहित होकर सदैव हंसमुख तथा वातान्दोलित तरंगोंसे रहित समुद्रकेसमान शान्त रहते है। और न वे स्वर्ग व मोक्ष मार्गका आदेश-उपदेश देते है। तथा न इससे विपरीत मार्गका आदेश उपदेश देते है। किंतु वैराग्यकी पराकाष्ठा को प्राप्त होते हुए अत्यन्त उत्कट तपरूपी ज्योतिसे प्रकाशमान, यथाजातरूपधारी होनेसे दिगंबर, परमदयालु, अन्तरंग बहिरंग मोहकी गाठको खोलनेवाले होनेसे निर्ग्रंथ श्रेणिमें आरूढ होकर कर्मोंकी निर्जरा करनेवाले होनेसे यमी, तपरूपी किरणोंसे युक्त होनेसे तपस्वी, परीषह और उपसर्गोंको सहनेवाले, कामको जीतनेवाले, एषणा शुद्धिसे परम शुद्ध तथा चारित्रमें तत्पर होते है—रहते है। इस प्रकार साधुके अनेक गुणोंसे विभूषित जो साधु है वेही तत्वज्ञानियोंके द्वारा वन्दनीय होते है। किंतु जो उपरि उक्त गुणोंसे युक्त नहीं है वे न तो साधु है और न तत्वज्ञानियोंके द्वारा वंदनीय भी है।

एवं मुनित्रयीख्याता महती महतामपि।
तथापि तद्विशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥ ७७५ ॥

अन्वयार्थः— (एवं) इसप्रकार (महतां अपि महती) श्रेष्ठोंमेंभी श्रेष्ठ (मुनित्रयी) उक्त

आचार्यादिक तीनोंका सामान्य रूपसेही (ख्याता) कथन किया गया है तथापि (क्रमात्) क्रमपूर्वक (तरतमात्मकः) तरतम रूपसें होनेवाली (तद्विशुद्धि विशेषः अस्ति) उनकी विशुद्धिके द्वारा उन तीनोंमें परस्पर विशेषता पाई जाती है।

भावार्थ — इसप्रकार यद्यपि सामान्य रूपसेही ाचार्य, उपाध्याय और साधुका वर्णन किया गया है तथापि तरतमरूपसे होनेवाली विशुद्धिकेद्वारा उन तीनोमे विशेषता पाई जाती है जिसका कि आगे उलेख किया जाता है।

तत्राचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्गणाग्रणीः।
न्यायाद्वाऽऽदेशतोऽध्यक्षात्सिद्धः स्वात्मनि तत्परः॥ ६७६ ॥
अर्थान्नातत्परोप्येष दृङ्मोहानुदयात्सतः।
अस्ति तेनाविनाभूतशुद्धात्मानुभवः स्फुटम्॥ ६७७ ॥

अन्वयार्थ — (तत्र) उन तीनोमेंसे जो (दीक्षादेशात्) दीक्षा तथा आदेश देता है वह (गणाग्रणी) गणाधीश (आचार्यः प्रसिद्धः अस्ति) आचार्य प्रसिद्धही है और वह (न्ययात्) युक्तिवादसे (आदेशतः वा अध्यक्षात) आगम और स्वानुभव प्रत्यक्षसे (स्वात्मनि तत्परः) अपनी आत्मामे तत्पर (सिद्धः) सिद्ध होता है (अर्थात्) अर्थात (दृङ्मोहानुदयात सत) दर्शनमोहनीयका अनुदय होनेसे (एषः अपि) यह आचार्यभी (अतत्परः न अस्ति) अपनी आत्मामें अतत्पर नहीं है क्योंकि उसके (तेनाविनाभूतशुद्धात्मानुभवः स्फुट ' अस्ति ') दर्शनमोहके अनुदयका अविर्भावी शुद्धात्मानुभव स्पष्ट रीतिसे पाया जाता है।

भावार्थः— जो दीक्षा तथा आदेश देता है उसे आचार्य कहते है। और वह अनुमान, आगम तथा स्वानुभव प्रत्यक्ष से आत्मामें तत्पर ही सिद्ध होता है अतत्पर नहीं। कारण कि उसके दर्शनमोहका अनुदय रहता है। इसलिये आत्मामें लीनतारूप स्वरूपाचरण चारित्र सदैव पाया ही जाता है।

अब आगे इसी अर्थका खुलासा करते है।

अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः।
बाह्यार्थात्केवलं न स्यात् क्षतिर्वा च तदक्षतिः॥ ६७८ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) आचार्यके शुद्धात्मानुभवरूप आत्मतत्परतामें (देशतः) एकदेशरूपसे (चारित्रावरणक्षति अपि अस्ति) चारित्रावरणका क्षय भी कारण है इसलिये आचार्य दीक्षा व आदेश देनेके समय अपनी आत्मामे अतत्पर नहीं कहा जाता है क्योंकि (केवलं) केवल (बाह्यार्थात्) दीक्षादिके देने व न देने रूप बाह्य कारणसे (क्षति) चारित्रकी क्षति (वा) अथवा (तदक्षतिः) चारित्रकी अक्षति (न च स्यात्) नहीं होती है।

भावार्थः— आचार्यके दर्शनमोहके अभावके साथ २ आंशिकरूपसे चारित्रमोहका अभावभी रहता है। इसलिये दीक्षा तथा आदेश देनेके कारण आचार्यको स्वानुभव और चारित्रसे च्युत नहीं कह सकते है। तथा जो सज्वलन कषायके निमित्तसे आचार्यके चारित्रकी क्षति व अक्षति बतलाई जाती है वह केवल संज्वलनके तीव्र और मन्दोदयसेही सम्बन्ध रखती है अर्थात् सज्वलनके तीव्र तथा मन्दोदयसे ही चारित्रकी क्षति अथवा अक्षति होती है। दीक्षा व आदेशके देने अथवा नहीं देनेसे नहीं होती है।

अब आगे इसी अर्थका खुलासा करते है।

अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः ॥
तदापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुतः ॥ ६७९ ॥

अन्वयार्थः— (उपादानहेतोश्च) केवल अपने उपादान हेतुसे ही (तत्क्षतिः) चारित्रकी क्षति (वा) अथवा (तदक्षतिः) चारित्रकी अक्षति (अस्ति) होती है इसलिए (तदापि) जिससमय अपने उपादान हेतुसे चारित्रकी क्षति व अक्षति होती है उससमयभी (अहेतुतः) कारण न होनेसे (बहिः वस्तु तद्धेतुः न स्यात्) दीक्षादेशादि देने तथा न देनेरूप बाह्य वस्तु चारित्रकी क्षति अथवा अक्षतिमें कारण नहीं होती है।

भावार्थः— यहाँपर क्षति शब्दका अर्थ आत्मामें संज्वलन कषायके तीव्रोदयसे होनेवाला संक्लेश है। और अक्षति शब्दका अर्थ उसके (सज्वलनके) मन्दोदयसे होनेवाली विशुद्धि है। ये दोनोंही अपने २ उपादान कारणोंसे मुनि अवस्थामें होती रहती है। इनका होना न होना केवल बाह्य कारणोंपर अवलम्बित नहीं है इसलिए दीक्षा आदेशादि देनेरूप बाह्य कारणसे आचार्यके सक्लेश होता होगा। और आदेश न देनेसे [साधुपदमें रहनेसे] संक्लेश नहीं होता होगा ऐसा नहीं समझना चाहिये। कारण कि संक्लेश व विशुद्धिरूप परिणाम सज्वलन कषायके तीव्र मन्द उदयरूप अपने २ उपादान कारणपरही निर्भर है बाह्य कारणपर नहीं।

संति संज्वलनस्योच्चैः स्पर्धका देशघातिनः।
तद्विपाकोऽस्त्यमन्दो वा मन्दोहेतुः क्रमाद्द्वयोः। ६८०।
संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः।
सोऽपि तरतमस्वांशैः सोप्यनेकैरनेकधा ॥ ६८१ ॥
अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह।
तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥ ६८२ ॥
तत्राऽवश्यं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिति।
संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥ ६८३ ॥
किंतु दैवाद्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोऽथवा क्वचित्।
तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोदयः पुनः ॥ ६८४ ॥
तेषां तीव्रोदयस्तावदेतावानत्र बाधकः।
सर्वतश्चेत्प्रकोपाय नापराधोपरोस्त्यतः ॥ ६८५ ॥
तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः।
कर्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥ ६८६ ॥

अन्वयार्थः — (उच्चैः) वास्तवमें जो (संज्वलनस्य देशघातिनः स्पर्द्धकाः सन्ति) संज्वलन कषायके देशघाति स्पर्द्धक है (तद्विपाकः अमंदः व मंदः, क्रमात् द्वयोः हेतु अस्ति) उनका तीव्र व मंद जो विपाक होता है वही यथाक्रमसे आचार्यके चारित्रकी क्षति व अक्षतिमें हेतु होता है।

कारण (नूनं) निश्चयसे (संक्लेशः तत्क्षतिः विशुद्धिः तदक्षतिः) संज्वलन कषायके तीव्र-उदयसे होनेवाला जो संक्लेश है वह चारित्रकी क्षति (हानि) और संज्वलन कषायके मंदोदयसे होनेवाली जो विशुद्धि है व चारित्रकी अक्षति अर्थात् आचार्य परमेष्ठिके चारित्रकी पूर्णता कहलाती है और (सः अपि तर-

तमस्वांशैः) वह सक्लेशभी अपने तरतमभावको धारण करनेवाले अशोंसे अनेक प्रकार है तथा (**सः अपि अनेकै अनेकधा**) वह तरतमभावभी अपने अनेक कारणोंसे अनेक प्रकार है ।

अत संज्वलन कषायके तीव्र तथा मन्दोदयजन्य संक्लेश और विशुद्धिके योगसे (**तत इह आदेशवशात्**) आचार्य परमेष्ठिके (**यत् शैथिल्यं अस्ति ' तत अस्तु वा न ' अस्तु '**) शिथिलता होवे अथवा न होवे उससे आचार्यको आचार्य कहनेकी विवक्षामे कुछ प्रयोजन नहीं है अर्थात् वह तो दैवयोगसे यथासभव हुआही करती है। प्रयोजन यहांपर यह हैकि आदेश आदिके कारण आचार्यके आचार्यपनेमें बाधा नही आती है इसके दिखानेसे उसके विषयमे ग्रंथकार कहते है कि (**तथापि एतावना**) आचार्यके दैवानुसार सज्वलनके तीव्रोदय व मन्दोदय होता रहता है केवल इतनेसे (**आचार्यः**) आचार्य (**आत्मनि अतत्पर. सिद्धः न भवति**) आत्मामें अतत्पर सिद्ध नहीं होता है ।

(**तत्र**) आचार्यकी आत्मामें (**तेषां मंदोदयात् विशुद्धयंशः अथवा तीव्रोदयात् संक्लेशांशः इति अयं विधि. न स्मृतः**) जो प्रतिसमय यथायोग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार उन सज्वलन कषायके मद उदयसे होनेवाली विशुद्धता और तीव्र उदयके कारण होनेवाला सक्लेश है वह सब आचार्य पदके लिए कुछ साधक बाधक विधि रूप नहीं है (**किंतु**) किन्तु (**दैवात् विशुद्ध्यंश कचित् संक्लेशांशः**) कर्मोंके यथायोग्य मंद व तीव्र उदयानुसार विशुद्धि व सक्लेशका अंश आचार्य महाराजके पाया जाता है अर्थात (**तद्विशुद्धेः विशुद्ध्यंश· पुनः संक्लेशादयः भवति**) संज्वलन कषायकी मंदतासे होनेवाली विशुद्धिके निमित्तसे चारित्रकी विशुद्धिका अंश और मंदताके हटनेसे सन्ज्वलन कषायकी तीव्रताके होतेही संक्लेशका अंश होता रहता है ।

(**अत्र**) आचार्य पदमें (**तेषां तीव्रोदय एतावान् बाधकः " अस्ति "**) उन संज्वलन कषायका तीव्रोदय इतनाही बाधक है अर्थात मंद उदयसे जो विशुद्धि रहती है उसका बाधक है आचार्य पदका बाधक नहीं है (**सर्वतः प्रकोपाय चेत्**) यदि वह सब प्रकारसे प्रकोपके लिये है अर्थात आचार्यपनेका बाधक होता है यह कहा जाय तो (**अतः अपर अपराधः न अस्ति**) इससे बडा कोई अपराध नहीं होता है ।

सारांश यह है कि (**अत्र एतावना तेन**) उस संज्वलनके तीव्रोदय द्वारा आचार्यकी आत्मामें (**नूनं**) निश्चयसे (**शुद्धत्वानुभवच्युतिः कर्तुं न शक्यते**) शुद्धात्माके अनुभवकी च्युति नहीं की जासकती है

(यस्मात्) क्योंकि (अत्र) शुद्धात्माके अनुभवसे च्युत करनेमें (अन्यः प्रयोजकः अस्ति) अन्य किसी कर्म का उदय कारणीभूत होता है अर्थात शुद्धात्माके अनुभवसे च्युत करना सज्वलन कषायके तीव्रोदयका काम नहीं है किन्तु मिथ्यात्वकर्मके उदयका काम है ।

भावार्थः— आचार्य परमेष्ठीके मिथ्यात्व अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणका अनुदय होता है तथा संज्वलन कषायका यथासभव उदय होता है । और वह उदयभी उनमें दो प्रकारका संभव है एक तीव्रोदय दूसरा मदोदय तथा ये दोनों प्रकारके उदयका संबंध आदेशके देने व न देनेसे नहीं है । किंतु स्वतः पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयके अनुसार होता रहता है । उसमेंभी यथायोग्य तरतमभाव पाया जाता है । जब संज्वलन कषायका तीव्रोदय रहता है । तब चारित्रमें (प्रमादकृत) थोडीसी शिथिलता आजाती है जिसे यहा सक्लेश व क्षति शब्दसे कहा है । और जब सज्वलन कषायका मदोदय होजाता है तब अप्रमत्तता होजाती है जिसे यहापर विशुद्ध अथवा अक्षति शब्दसे कहा है संक्लेश और विशुद्धि कितनेही बार हुआ करती है । इसका कारण सिर्फ दैवानुसार होनेवाला सज्वलन कषायका तीव्र व मदोदय है आदेशादिक नहीं । कारण सज्वलन कषायके तीव्रोदयसे न तो संयतपनेकाही नाश होता है और न सम्यक्त्वका नाश होता है । इसलिए इतनी शिथिलतासे आचार्य आत्मामें अतत्पर (मिथ्यादृष्टि) सिद्ध नहीं होते है ।

संयमके नाशमें और सम्यक्त्वके नाशमें अन्य कषाय व मिथ्यात्वका उदय कारण है । संज्वलन कषाय नहीं है जिसे कि आगे स्वय ग्रथकार खुलासेवार बतावेंगे । अतएव सज्वलन कषायके तीव्रोदयसे आचार्यके संयम व सम्यक्त्वमें बाधाका मानना शास्त्र विरुद्ध होनेसे एक प्रकारका सबसे बडा अपराध है ।

हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः ।
प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तस्य व्यत्ययात् ॥ ६८७ ॥

अन्वयार्थः — (शुद्धात्मनः ज्ञाने) शुद्धात्माके अनुभवमें (मिथ्यात्वकर्मणः शमः हेतुः) मिथ्यात्वकर्मका अनुदय कारण है (तु) और (अशमः) मिथ्यात्वकर्मका उदय (तत्र) शुद्धात्माके अनुभवमें (उच्चैः प्रत्यनीकः) वास्तविक बाधक है क्यों कि (तत्र तस्य व्यत्ययात्) उस मिथ्यात्वका उदय होतेही आत्माका वह शुद्धात्मानुभव नहीं होता है ।

भावार्थ — शुद्धात्माके ज्ञानमें मिथ्यात्वका अभावही एक साधक कारण है। क्योंकि मिथ्यात्वके अभावमेंही शुद्धात्मानुभवके होनेका तथा मिथ्यात्वके सद्भावमें शुद्धात्मानुभव नष्ट होनेका नियम है।

दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत्।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥ ६८८ ॥

अन्वयार्थः— (**पुंसः**) आत्माके (**दृङ्मोहे अस्तंगते**) दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव होनेपर (**शुद्धस्यानुभवः भवेत्**) शुद्धात्माका अनुभव होता है उस शुद्धात्मानुभवमें (**कश्चित् चारित्रावरणोदयः**) किसीभी चारित्रावरण कर्मका उदय (**विघ्नकरः न भवेत्**) बाधक नहीं होता है।

भावार्थ — दर्शनमोहके अस्त होतेही शुद्धात्माका अनुभव होने लगता है। इसलिए शुद्धानुभवके लिए केवल मिथ्यात्वका उदयही बाधक है। किंतु किसीभी चारित्रावरणका उदय बाधक नहीं है।

न चाकिंचित्करश्चैवं चारित्रावरणोदय।
दृङ्मोहस्य कृते नालं अलं स्वस्य कृते च तत् ॥ ६८९ ॥

अन्वयार्थः— (**एव च**) इसप्रकारसे अर्थात् शुद्धात्मानुभवमें बाधक नहीं है एतावता वह (**चारित्रावरणोदयः**) चारित्रावरणका उदय (**अकिञ्चित्करः**) सर्वथा अकिञ्चित्कर (**नच**) नहीं है, क्योंकि यद्यपि (**तत्**) वह चारित्रावरण कर्मका उदय (**दृङ्मोहस्य कृते**) दर्शनमें, मोह उत्पन्न करनेके लिए (**अलं न**) समर्थ नहीं है तथापि (**स्वस्य कृते**) चारित्रमें, मोह उत्पन्न करनेके लिये तो (**अलं च**) समर्थही है।

भावार्थः— चारित्रमोहका उदय सम्यक्त्व अर्थात् शुद्धात्मानुभवके लिये बाधक नहीं है एतावता वह किसीकाभी बाधक नहीं है ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि वह चारित्रमोहभी आत्माको चारित्र गुणसे च्युत करनेवाला है अर्थात् आत्माके चारित्र गुणका बाधक है। इसलिये चारित्रमोहका उदय आत्माके चारित्र गुणमें विघ्न करनेवाला है ऐसा समझना चाहिये।

कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः ।
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥ ६९० ॥

अन्वयार्थः— (न्यायात्) न्यायके अनुसार (आत्मनः) आत्माको (चारित्रात् च्युतिः) चारित्रसे च्युत करनाही (चारित्रमोहस्य कार्यं) चारित्र मोहका कार्य है (तु) किंतु (इतरदृष्टिवत्) इतरकी दृष्टिके समान (दृष्टित्वात्) दृष्टि होनेसे (आत्मदृष्टेः न) शुद्धात्मानुभवसे च्युत करना चारित्र मोहका कार्य नहीं है ।

भावार्थ— जैसे किसी एककी दृष्टिमें--चक्षुमें पीडा होनेसे किसी दूसरेकी दृष्टिकी प्रसन्नताका घात नहीं होता है । वैसेही सज्वलनरूप चारित्रमोहके द्वारा आत्माके चारित्र गुणमें थोडासा विकार होनेसे आत्माके सम्यग्दर्शन-गुणमें विकार नहीं होता है अर्थात् उसका घात नहीं है ।

अब आगे इसी अर्थका दृष्टांतपूर्वक खुलासा करते हैं ।

यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः ।
इतरत्राक्षतापेऽपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥ ६९१ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (दृष्टाध्यक्षात्) प्रत्यक्षमें (दैवयोगतः) दैवयोगसे (इतरत्र अक्षतापेऽपि) किसीकी आंखमें पीडाके होनेपरभी (कस्यचित्) किसी दूसरेकी (चक्षु वै प्रसन्नं) आंख प्रसन्नभी रह सकती है ('तथा') वैसेही चारित्रमोहके उदयसे चारित्र गुणमें विकारके होनेपरभी उससे (तत्क्षति न) आत्माके सम्यक्त्व गुणकी--शुद्धात्मानुभवकी किसी प्रकारसे क्षति नहीं होती है ।

भावार्थः— जैसे एकके आंखकी पीडा दूसरेकी आंख सम्बन्धी प्रसन्नताकी बाधक नहीं होती है । वैसेही चारित्र-गुणमें विकार उत्पन्न करनेवाला सज्वलनरूप चारित्रमोह शुद्धात्मानुभवका बाधक नहीं होसकता है ।

कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि ।
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥ ६९२ ॥

अन्वयार्थ — (हि) निश्चयसे जितना (**कषायाणां अनुद्रेकः**) कषायोंका अभाव है (**तावत् एव- चारित्रं**)उतनाही चारित्र है और जो (**कषायाणां अनुद्रेकः न**) कषायोंका उदय है वही (**आत्मनः**) आत्माका (**चारित्रात् च्युतिः**) चारित्रसे च्युत होना है।

भावार्थः— जितने २ अशोंमें आत्मा कषायोंके उदयसे रहित होता जाता है उतने २ ही अंशोंमें उसके चारित्रकी वृद्धि होती जाती है। और जितने २ अंशोंमें वह आत्मा कषायोंके उदयसे युक्त होजाता है उतने २ ही अशोंमें वह चारित्रसे च्युत होता जाता है अर्थात् कषायोंके उदयकाही नाम आत्माका चारित्र गुणसे च्युत होना है। तथा कषायोंके उदयके अभावका ही नाम आत्माका चारित्र गुणसे युक्त होना है।

ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः।
नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृङ्मोहस्योदयादृते ॥ ६९३ ॥

अन्वयार्थ.—(**दृङ्मोहस्य उदयात् ऋते**) दर्शनमोहके उदयके विना (**स्वतः**) स्वयं (**तेषां**) संज्वलन कषायोंका (**अनुद्रेकः**) अनुदय (**अथवा**) अथवा (**उद्रेक**) उदय (**स्यात्**) हो, परन्तु (**नूनं**) निश्चय करके (**ततः**) उससे (**आत्मदृष्टेः क्षतिः न**) शुद्धात्मानुभवकी क्षति नहीं होती है।

भावार्थ.— जब शुद्धात्मानुभव और चारित्रके प्रगट होनेके लिए भिन्न २ मोहोदय कारण है तब दर्शन-मोहके विना केवल चारित्रमोहसे आत्माके शुद्धानुभवमें बाधा कैसे पहुंच सकती है। इसलिए आचार्यके संज्वलन कषायके तीव्र अथवा मन्द उदयसे जो चारित्रकी क्षति व अक्षति होती है। वह रहो अथवा नहीं रहो। परन्तु उससे आचार्यके शुद्धात्मानुभवमें बाधा नहीं आती है।

इस प्रकार दीक्षा वा आदेशरूप बाह्य निमित्तसे आचार्यके शुद्धात्मानुभवमें किसीभी प्रकारकी बाधा नहीं आती है इस बातको सिद्ध करके अब आगे आचार्य और उपाध्याय दीक्षादि तथा पठनपाठनके करानेपरभी साधुओंकी अपेक्षा हीनाधिकपनेको प्राप्त नहीं होते है। किंतु भिन्न २ रूपसे धर्मादेशोपदेशादि बाह्य कार्योंको करते हुएभी वास्तवमें तीनों गुरु सदृश है। और तीनोंही श्रेणी चढकर मोक्षको प्राप्त करसकते है इसका क्रमपूर्वक विस्तृत रीतिसे वर्णन करते है।

अथ सूरिरुपाध्यायो द्वावेतौ हेतुतः समौ ।
साधू साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥ ६९४ ॥
नापि कश्चिद्विशेषोस्ति तयोस्तरतमो मिथः ।
नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यातिशायनात् ॥ ६९५ ॥
लेशतोऽस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिःकृतः ।
का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धेः समत्त्वतः ॥ ६९६ ॥
नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमात् ।
मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥ ६९७ ॥

अन्वयार्थ— (सूरिः) आचार्य (अथ) और (उपाध्यायः) उपाध्याय (एतौ द्वौ) ये दोनोंही (साधुः इव) साधुकी तरह (हेतुतः) अन्तरंग कारणसे (समौ) समान हैं (साधू) साधु हैं (आत्मज्ञौ) आत्मज्ञ हैं (शुद्धौ) शुद्ध हैं (शुद्धोपयोगिनौ) शुद्धोपयोगी हैं ।

इसलिए (तयोः) उन दोनोंमें (मिथः) परस्पर (कश्चित् अपि तरतमः विशेषः न अस्ति) कोईभी तरतम रूप विशेष-अन्तर नहीं है तथा (एताभ्यां अतिशायनात् साधोः अपि अन्तः उत्कर्षः न) आचार्य और उपाध्यायसे अतिशय पूर्वक दृष्टि गोचर होनेवाली, साधुमेंभी कोई अन्तरङ्ग उत्कृष्टता नहीं पाई जाती है ।

(चेत) यदि (तेषां) उन तीनोंमें (मिथः) परस्पर कुछ (लेशतः विशेषः अस्ति) आंशिक विशेषता पाई जाती है तो वह केवल (बहिः कृतः) बहिरंग दृष्टिसेही पाई जाती है क्योंकि (मूल-हेतोः अन्तःशुद्धेः समत्त्वतः) मूल कारणभूत जो अन्तरंग शुद्धि है वह उन सबकी समान है इसलिए उनमें जो साधारणरूपसे बाह्य अपेक्षाकृत विशेषता पाई जाती है उससे (का क्षतिः स्यात्) क्या हानि होसकती है अर्थात् कुछ नहीं ।

तथा (अत्र) इन (सूर्युपाध्यायसाधुषु) आचार्य, उपाध्याय और साधुओंमें (युक्तिस्वानुभवागमात्) युक्ति, स्वानुभव तथा आगमसे (तेषां) सज्वलन कषायके स्पर्द्धकोंका (कश्चित् मन्दादि उदयः) कोई मन्द उदय आदिभी (नियतः न अस्ति) नियत नहीं है।

भावार्थः— साधुके समान आचार्य और उपाध्याय गुरुकेभी चारित्रमोहका क्षयोपशमादिक सदृश होता है। इसलिए ये दोनों भी हेतुकी अपेक्षासे समान हैं। दोनोंही साधुके समान मोक्षमार्गके साधनेवाले होनेसे अन्वर्थ साधु है। साधुकेही समान आत्मज्ञ, शुद्ध और शुद्धोपयोगी हैं। अत दोनोंमें परस्पर तरतमता बतानेवाला कोई अन्तर नहीं पाया जाता है। तथा न आचार्य व उपाध्यायसे अधिकता द्योतित करनेवाला साधुमें ही कोई उत्कर्ष पाया जाता है यदि तीनोंमे कोई विशेषता है तो वह केवल दीक्षा, आदेश और उपदेशादि देनेरूप बाह्य क्रियाओंकी अपेक्षासेही है। इसलिए उस विशेषतासे जो भेद द्योतित होता है वह न कुछके बराबर है अर्थात् उसके निमित्तसे किसीमें न्यूनाधिक्यपना द्योतित नहीं होता है। तथा इसी प्रकार संज्वलन कषायके स्पर्द्धकोंका मन्द उदयादिकभी उन तीनोंकी विशेषताके लिए नियत नहीं है।

इस प्रकार अन्तरग दृष्टिसे तीनोंको समान बताकर अब आगे प्रत्येक अवान्तर सभव भेदोंको बताते हैं—

प्रत्येकं बहव सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्चैकैकशः पृथक्॥ ६९८॥

अन्वयार्थः— (प्रत्येक) प्रत्येकमें अर्थात्, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनोंमें (पृथक्) पृथक् २ (ऐकैकशः) प्रत्येकके (जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्च) जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्टपनेके निमित्तसे (सूर्युपाध्यायसाधवः बहव. सन्ति) आचार्य, उपाध्याय और साधुरूप बहुतसे विकल्प होजाते हैं।

भावार्थ— आचार्यादिक तीनोंमें परस्पर तो कुछ अन्तर नहीं है। परन्तु जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टपनेकी अपेक्षासे प्रत्येकके नाना भेद होसकते हैं अर्थात् जघन्य आचार्य, मध्यम आचार्य तथा उत्कृष्ट आचार्य इत्यादि रूपसे आचार्यके नाना भेद होजाते है इसी प्रकार आचार्यके समान उपाध्याय और साधुकेभी अवान्तर नाना भेद लगा लेना चाहिये।

कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः ।
मध्यमां वा जघन्यां वा विशुद्धिं पुनराश्रयेत ॥ ६९९ ॥

अन्वयार्थः— (कश्चित् सूरिः) कोई आचार्य (वै) निश्चयसे (कदाचित्) किसी समय (परमां विशुद्धिं गतः) परम विशुद्धिको प्राप्त होता हुआ (पुनः) फिर (मध्यमां) मध्यम (वा) अथवा (जघन्यां) जघन्य (विशुद्धिं वा) विशुद्धिकोभी (आश्रयेत) प्राप्त होजाते हैं ।

भावार्थः— एकही आचार्य उत्तम विशुद्धिको धारण करनेकी अपेक्षासे उत्तम और कालान्तरमें यथायोग्य संक्लेशके निमित्तसे मध्यम व जघन्य विशुद्धिको धारण करनेसे मध्यम अथवा जघन्य आचार्यपदको प्राप्त होजाते है । इसलिये एकही आचार्यके जघन्य मध्यम और उत्कृष्टपनेकी अपेक्षासे तीन भेद कहे जाते है ।

हेतुस्तत्रोदिता नानाभावांशैः स्पर्धकाः क्षणम् ।
धर्मादेशोपदेशादि हेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥ ७०० ॥

अन्वयार्थ—(तत्र) विशुद्धिके तरतमत्वमें (क्षणं) प्रतिक्षण (नानाभावांशै उदिताः स्पर्धकाः) नाना अविभाग प्रतिच्छेदोंको लिए हुए उदयमें आनेवाले संज्वलन और नोकषायके स्पर्धक ही (हेतुः) कारण है किन्तु (अत्र क्वचित्) इनतीनोंही भेदोंमें कहींपरभी (बहिः) बाह्य (धर्मादेशोपदेशादि) धर्मका आदेश तथा उपदेश (हेतुः न) कारण नहीं है ।

भावार्थ— आचार्यकी इस उत्तम, मध्यम और जघन्य विशुद्धिमें बाह्य धर्मका आदेश अथवा उपदेश कारण नहीं है । किंतु सज्वलन तथा नोकषायका यथासभव उदयही कारण है ।

परिपाट्यानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये ।
न विशेषो यतस्तेषां न्यायाच्छेषोऽविशेषभाक् ॥ ७०१ ॥

अन्वयार्थः— (अनया परिपाट्या) इसी परिपाटीसे (ये पाठकाः) जो उपाध्याय (च) और (साधवः) साधु हैं उनकी भी (योज्या) योजना करलेना चाहिये (यतः) क्यों कि (तेषां विशेषभाक्-नियतः विशेषः शेषः न) उन उपाध्याय तथा साधुओं में विशेषता को धारण करनेवाला कोई निश्चित विशेष शेष नहीं रहता हैं ।

भावार्थः— जैसे आचार्यके उत्तम, मध्यम और जघन्य विशुद्धिकी अपेक्षासे भेद बताए हैं वैसेही उपाध्याय और साधुओंकेभी समझना चाहिये। क्योंकि इन तीनोंमें परस्पर विशेषताका नियामक कोई भेद नहीं है। इसलिए उपाध्याय तथा साधुओंमेंभी आचार्य के समान उत्तम, मध्यम और जघन्य विशुद्धिकी अपेक्षासे अवान्तर भेद लगाना चाहिये।

शंका।

ननु धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं बहिः।
हेतो रभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्बहिः क्वचित् ॥ ७०२ ॥

अन्वयार्थ — (**ननु**) शङ्काकारका कहना है कि (**धर्मोपदेशादि बहिः कर्म**) धर्मोपदेश देना आदि बाह्य क्रियायें (**तत्कारणं**) आचार्यकी विशेषतामें कारण है क्योंकि (**अभ्यन्तरस्य हेतो अपि**) अभ्यन्तर हेतुकाभी (**क्वचित्**) कहींपर (**बाह्यं**) बाह्य वस्तु (**बहिः हेतुः**) बाह्य हेतु होता है।

भावार्थः— शङ्काकारका कहना है कि अभ्यन्तर हेतुके लिएभी बाह्य कारणकी अपेक्षा होती है। इसलिए आचार्यके आचार्यपनेमेंभी धर्मके आदेश तथा उपदेशको बाह्य कारण मानना चाहिये।

नैवमर्थाद्यतः सर्वं वस्त्वकिंचित्करं बहिः।
तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽप्यान्तरं परम् ॥ ७०३ ॥
किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोऽनिच्छतो बहिः।
धर्मादेशोपदेशादिस्वपदं तत्फलं च यत् ॥ ७०४ ॥

अन्वयार्थ— (**एवं न**) उक्त कथन ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**अर्थात्**) वास्तवमें (**सर्वं बहिः वस्तु**) सम्पूर्ण बाह्य पदार्थ (**अकिंचित्करं**) अकिंचित्कर हैं कारण कि यदि आचार्यादिकके भेदमें बाह्य वस्तु कारण मानी जायगी तो (**मोहात्**) मोहके कारण (**परं अपि आंतरं इच्छतः**) पर वस्तुकोभी निज माननेवालेकेही (**तत् पदं फलवत्**) वह पद–आचार्यादिकका पद फलवान–प्रयोजनभूत

ठहरेगा और ऐसे माननेसे (सर्वतः वहिः अनिच्छतः तस्य गणिनः) सर्वथा बाह्य वस्तुकी इच्छा न रखनेवाले आचार्यके (यत) जो (स्वपद) आचार्यपद (च) तथा (तत्फलं धर्मादेशोपदेशादि) उस पदका फल जो धर्मका आदेश व उपदेश करना है वह (पुनः किं ?) फिर कैसे सिद्ध होगा ?

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि यदि आचार्यके आचार्यपनेमें धर्मोपदेशादि बाह्य क्रियाओंको, कारण माना जायगा तो अर्थात् यदि आचार्य, आचार्यपनेकी इच्छासे धर्मोपदेशादिक करते है तो आचार्यके परवस्तुको निज माननेका प्रसंग आवेगा। और ऐसा होनेसे सर्वथा परको निज न माननेवाले यथार्थ आचार्यके जो वास्तविक आचार्यत्व और उस आचार्यपनेका जो निरीह वृत्तिसे धर्मका आदेश व उपदेश देनेरूप फल बताया है वह सिद्ध न होगा।

नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादि कर्मणि।
न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥ ७०५ ॥

अन्वयार्थः— (अस्य) आचार्यके (धर्मादेशादिकर्मणि) धर्मादेश आदि क्रियाओंमें (निरीहत्वं) निरपेक्षता (असिद्ध न) असिद्ध नहीं है क्यों कि (न्यायात्) न्यायानुसार (अक्षार्थकांक्षायाः अन्यत्र) इंद्रियोंके विषयोंकी अभिलाषाके सिवाय (जातुचित्) कभीभी (ईहा न) अभिलाषा नहीं कहलाती है।

भावार्थ — यदि कदाचित यह कहा जाय कि आचार्यके धर्मविषयक आदेशादिकमें निरीहपना असिद्ध है तो यह कहनाभी ठीक नहीं है। कारण कि इंद्रियोंके विषयोंकी चाहको ईहा--कांक्षा--अभिलाषा कहते है। और वह आचार्यके पाई नहीं जाती है। क्योंकि आचार्य इंद्रियोंके विषयोंसे निवृत्त रहते हुए ही धर्मका आदेश व उपदेश करते है। इसलिए धर्मविषयक आदेश और उपदेशोंमें उनकी निरीह वृत्ति असिद्ध नहीं है किंतु सिद्धही है।

ननु नेहा विना कर्म कर्म नेहां विना क्वचित्।
तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ॥ ७०६ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (क्वचित्) कहींभी (कर्म विना ईहा न) क्रियाके विना इच्छा नहीं होती है और (ईहां विना कर्म न) इच्छाके विना क्रिया नहीं होती है (तस्मात्) इस

लिए उस क्रियामें (अक्षार्थ स्यात वा न वा) इन्द्रियजन्य स्वार्थ रहो या न रहो (तु)किन्तु कोई भी (कर्म) क्रिया (अनिहित न) विना इच्छा के नहीं हो सकती है ।

भावार्थ — शकाकारका कहना है कि आचार्यकी इद्रियार्थ विषयोंमें प्रवृत्ति हो अथवा न हो परन्तु क्रियाके विना इच्छा और इच्छाके विना क्रिया नहीं होती है। इसलिए आचार्यकी जो धर्मदेशादिक क्रिया है वह विना इच्छाके सिद्ध नहीं होसकती है ।

नैवं हेतोरतिव्याप्तेरारादाक्षीणमोहिषु ।
वन्धस्य नित्यतापत्ते भवेन्मुक्तेरसंभवः ॥ ७०७ ॥

अन्वयार्थ — (एवं न) उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि (हेतोः) इच्छाके विना क्रियाके न माननेसे (आरात् आक्षीणमोहिषु) क्षीण कषाय और उसके समीपके गुणस्थानोंमें अर्थात् दशवें, ग्यारहवें बारहवें तथा तेरहवें गुणस्थानमें अनिच्छापूर्वक क्रियाके पाये जानेके कारण (अतिव्याप्तेः) उक्त लक्षणमें अतिव्याप्ति नामका दोष आता है और यदि उक्त गुणस्थानोंमेंभी क्रियाके सद्भावसे इच्छाका सद्भाव माना जायगा तो (बन्धस्य नित्यतापत्तेः) वन्धके नित्यत्वका प्रसंग आनेसे (मुक्तेः असम्भवः भवेत्) मुक्तिका होनाभी असंभव होजायगा ।

भावार्थ — शकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है। कारण कि इच्छापूर्वकही क्रियाके माननेसे दशवें गुणस्थानसे लेकर तेरहवे गुणस्थानतक जो विना इच्छाके क्रिया होती है उस भी इच्छापूर्वक माननेका प्रसंग आवेगा। तथा यदि उक्त गुणस्थानोंमें भी इच्छापूर्वक क्रियाको मानोगे तो इच्छा रागकी पर्याय है। इसलिये रागका सदैव सद्भाव पाए जानेसे बन्धमें नित्यता सिद्ध हो जावेगी। और बन्धमें नित्यता सिद्ध होनेपर मोक्षका होनाभी असंभव हो जायगा। इसलिये आचार्यादिकके इंद्रियजन्य विषयोंमें राग न होनेसे उनकी जो धर्मोपदेशादिकमें क्रिया पाई जाती है वह विना इच्छाकेही सिद्ध होती है ।

ततोऽस्त्यन्तःकृतो भेदः शुद्धेर्नानांशतास्त्रिषु ।
निर्विशेषात्समस्त्वेषः पक्षो माभूद्बहिः कृतः ॥ ७०८ ॥

अन्वयार्थ— (ततः) इसलिए यद्यपि (त्रिषु) तीनोंमें (शुद्धेः नानांशतः) अपनी २ विशुद्धिकृत नाना अंशोंके द्वारा (अन्तःकृतः भेद अस्ति) अंतरंगकृत भेद पाया जाता है (तु) परन्तु (निर्विशेषात) सामान्यरूपसे तीनोंही (समः) समान है अतः (बहिः कृतः एषः पक्षः माभूत) उन तीनोंमें बाह्य क्रियाओंकी अपेक्षासे भेद है यह पक्ष ठीक नहीं है।

भावार्थः— इसलिए सिद्ध होता है कि आचार्यादिक तीनोंमें विशुद्धिकृत अंशोंसेही भेद है बाह्य क्रियाओंकी अपेक्षासे नहीं क्योंकि सामान्यरूपसे तीनोंही समान है अतएव बाह्य क्रियाओंकी अपेक्षासे उन तीनोंमें भेद बतलाना यह पक्ष ठीक नहीं है।

किंचास्ति यौगिकीरूढिः प्रसिद्धा परमागमे।
विना साधुपदं न स्यात्केवलोत्पत्तिरंजसा ॥ ७०९ ॥
तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा।
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ ७१० ॥
यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेर्हसि।
कृत्स्नचिंतानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत ॥ ७११ ॥

अन्वयार्थ — (किंच) तथा दूसरी बात यह है कि (परमागमे) परमागममें (यौगिकी रूढिः प्रसिद्धा अस्ति) यह अन्वर्थ रूढि प्रसिद्ध है कि (अंजसा) वास्तवमें (साधुपदं विना) साधु पदके ग्रहण किये विना किसीकोभी (केवलोत्पत्तिः न स्यात्) केवल ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है।

(च) तथा (तत्र) उस परमागममें (साक्षात् सर्वार्थसाक्षिणा) प्रत्यक्ष रूपसे सम्पूर्ण पदार्थोंको जानने देखनेवाले सर्वज्ञ देवने (इद सम्यक् उक्तं) यह अच्छीतरह कहा है कि (श्रेण्यां अधिरूढस्य) उपशम या क्षपक श्रेणी चढनेवाले आचार्यादिकको (क्षण) क्षणभरमें (तत्पदं) वह साधुपद (स्वतः अस्ति) स्वयं प्राप्त होजाता है।

(यत) क्योंकि (स. सूरिः) वह आचार्य (वा) और (पाठकः) उपाध्याय (श्रेण्यनेहसि) श्रेणी चढनेके कालमें (कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षण ध्यानं) सम्पूर्ण चिंताओंके निरोधरूप ध्यान को (अवश्यं) अवश्यही (आश्रयेत्) धारण करता है।

भावार्थ.— जिसप्रकार आगममें सर्वज्ञ देवने यह कहा है कि साधुपदके ग्रहण किये विना किसीभी जीवको केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है। उसी प्रकार परमागममें सर्वज्ञ देवने यहभी कहा है कि श्रेणीमें आविरूढ आचार्यादिकको वह साधुपद क्षणभरमेंही प्राप्त होजाता है। क्योंकि श्रेणीके आरोहण कालमें आचार्य और उपाध्याय ये दोनोंहि, सम्पूर्ण चिंताओंका निषेध है, लक्षण जिसका, ऐसे ध्यानको धारण करते है। और उसीके कारण वे यथार्थ मोक्षमार्गके साधनेसे साधु कहलाते हैं। तथा थोडेही कालमें केवलज्ञानको प्राप्त करते है।

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह ।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोस्ति यत्र तत ॥ ७१२ ॥

अन्वयार्थः— (**ततः सिद्ध**) इसलिए सिद्ध होता है कि (**इह**) श्रेणीके कालमें (**तयो**) उन आचार्य और उपाध्यायको (**अनायासात्**) विना किसी प्रयत्नकेही—स्वयंही (**तत्पदत्व**) वह साधुपद प्राप्त होता है (**यत्र**) क्योंकि (**तत्र**) वहांपर (**नूनं**) निश्चयसे (**बाह्योपयोगस्य अवकाशः न अस्ति**) बाह्य उपयोगके लिए विलकुल अवकाशही नहीं मिलता है।

भावार्थः— इसलिए सिद्ध होता है कि श्रेणीके आरोहण कालमे विशुद्धिकी वृद्धिसे आचार्य और उपाध्यायको स्वयमेव साधुपद प्राप्त होता है। कारण कि वहापर शुक्लध्यानमें लवलीन होनेसे बाह्योपयोगके लिए बिलकुल अवकाशही नहीं मिलता है।

न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनां वरम् ।
प्रागादायक्षणं पश्चात्सूरिः साधुपदं श्रयेत ॥ ७१३ ॥

अन्वयार्थ— (**न पुन.**) किन्तु ऐसा नहीं है कि (**सूरिः**) आचार्य (**तत्र**) श्रेणीके आरोहण कालमें (**प्राक्क्षणं**) पहले (**छेदोपस्थापनां वरं चारित्रं**) छेदोपस्थापनारूप उत्तम चारित्रको (**आदाय**) ग्रहण करके (**पश्चात**) पीछे (**साधुपदं श्रयेत**) साधुपदको ग्रहण करते है।

भावार्थ— किंतु ऐसा नहीं है कि श्रेणीके चढते समय आचार्य पहले अपने पदकी भले प्रकार छेदोपस्थापना करके पीछे साधुपदको धारण करते है।

---

१ मूल पुस्तकमें 'वत्' पाठ है लाटी सहितासे यह पाठ लिया है।

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसंगाद्गुरुलक्षणम् ॥
शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥ ७१४ ॥

अन्वयार्थ— (प्रसंगात्) प्रकरण वश (अत्र) यहांपर (दिङ्मात्रं) केवल साधारण रूपसे (गुरुलक्षणं अपि) गुरुका लक्षणभी (उक्त) कहा और (शेषं तत्स्वरूपं) गुरुके शेष स्वरूपको (विशेषत) विशेष रूपसे (जिनागमात्) जिनागमके अनुसार (वक्ष्ये) मौका मिलनेपर आगे कहेंगे।

भावार्थः— इस प्रकार प्रसंगवश यहांपर साधारण रूपसे गुरुका लक्षण कहा। विशेषरूपसे गुरुके लक्षणको–स्वरूपको यथावकाश आगे कहेंगे।

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः॥ ७१५ ॥

अन्वयार्थः— ('य') जो (धार्मिक) धर्मात्मा पुरुषोंको (नीचैः पदात्) नीचपदसे (उच्चैः पदे) उच्च पदमें (धरति) धारण करता है ('सः') वह (धर्म.) धर्म कहलाता है तथा (तत्र) उन नीच और उच्च पदोंमें (आजवञ्जव) संसार (नीचैः पद) नीचपद तथा (तदत्यय) संसारका नाश–मोक्ष (उच्चैः पदं) उच्च पद कहलाता है।

भावार्थः— नीचपदसे उच्च पदमें धारण करनेवाले आत्माके स्वभावको धर्म कहते हैं। संसारी जीवका नीच पद है और मोक्ष उच्च पद है।

स धर्मः सम्यग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः॥ ७१६ ॥

अन्वयार्थ— (स. धर्म) वह धर्म (सम्यग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंरूप है तथा (तत्र) उन तीनोंमें (सद्दर्शनं) सम्यग्दर्शन (एतयोः) सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन दोनोंका (अद्वैतं मूलं हेतुः) एक मूल कारण है।

भावार्थः— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके समुदायको धर्म कहते हैं। तथा उन

तीनोंमें सम्यग्दर्शनही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका प्रधान कारण है। क्योंकि सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान व चारित्र में सम्यक्पना नहीं आता है।

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा।
सद्दक्पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥ ७१८ ॥

अन्वयार्थ — (ततः) इसलिए (सागाररूपः वा अनगारः वा धर्मः) सागाररूप अथवा अनगाररूप जो भी धर्म है वह सब (सद्दक्पुरस्सर एव धर्मः) सम्यग्दर्शनपूर्वक होनेसेही धर्म कहलाता है और (तद्विना) उस सम्यग्दर्शनके विना (क्वचित) कहींभी वह (धर्मः न) धर्म नहीं कहलाता है।

भावार्थ — सम्यग्दर्शनके सद्भावमें ही गृहस्थ अथवा मुनिधर्मको धर्म कहते है। और उसके विना उन दोनोंकोभी धर्म नहीं कहते है। किंतु वे दोनोंही अधर्म शब्दसे कहे जाते है।

रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥ ७१८ ॥

अन्वयार्थ — (रूढितः) रूढिसे (अधिवपुः) शरीरमें (वाचां) वचनोंकी (शुभावहा) शुभरूप-शुभ फलको देनेवाली (क्रिया) क्रिया (धर्मः) धर्म कहलाती है (वा) अथवा (तत्र) शरीरमें (अनया सह) उस वचनकी शुभरूप क्रियाके साथ २ (अनुकूलरूपा मनोवृत्तिः) अनुकूलरूप मनकी प्रवृति धर्म कहलाती है।

भावार्थः— रूढिसे मन, वचन और कायकी शुभ प्रवृत्तिको धर्म कहते है।

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः ॥ ७१९ ॥

अन्वयार्थः— (विशेषतः) विशेष कथनकी अपेक्षासे (सर्वसागारानगाराणां सा द्विधा) सम्पूर्ण गृहस्थ और मुनियोंकी वह मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तिरूप क्रिया दो प्रकारकी है (यतः) क्योंकि

(नूनं) निश्चयसे (क्रियाविशेषात) क्रियाकी विशेषतासेही (धर्मविशेषता) धर्ममें विशेषता होती है ।

भावार्थ— क्रियाके भेदसेही धर्ममें भेद विवक्षित होता है । इसलिए विशेष कथनकी अपेक्षासे मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तिरूप वह धर्म दो प्रकारका है । एक सागार धर्म और दूसरा अनगार धर्म ।

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात् ।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ ७२० ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन सागार और अनगाररूप दोनों प्रकारके धर्मोंमें (हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात) हिंसा, झूट, चोरी, कुशील और सम्पूर्ण परिग्रहसे (देशतः विरतिः) एकदेश विरक्त होना (गृहस्थानां अणुव्रतं प्रोक्त) गृहस्थोंका अणुव्रत कहा गया है ।

भावार्थ — हिंसादिक पाचों पापोंके एकदेश त्यागको अणुव्रत–गृहस्थधर्म कहते है । और यह अणुव्रत केवल गृहस्थोंके द्वाराही धारण किया जाता है ।

सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत् ।
नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिंगमर्हताम् ॥ ७२१ ॥

अन्वयार्थ — (तेषां हिंसादीनां) उन्हीं हिंसादिक पच पापोंका (सर्वत विरति) सर्व देशसे त्याग करना (महत् व्रत) महाव्रत कहलाता है और (एतत) यह (अर्हतां लिंगं) जिनरूप मुनिलिंग (सागारिभिः) गृहस्थोंके द्वारा (कर्तुं न शक्यते) नहीं पाला जासकता है किंतु मुनियोंके द्वाराही पाला जाता है ।

भावार्थः— हिंसादिक पाचों पापोंके सर्वथा त्यागको महाव्रत–मुनिधर्म कहते है । और यह धर्म-व्रत मुनियोंके द्वाराही पाला जाता है कारणकि गृहस्थाश्रममें रहकर गृहस्थोंके द्वारा यह व्रत पालन नहीं किया जासकता है ।

मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्त्तिनाम् ।
तथाऽनगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽथ ते ॥ ७२२ ॥

अन्वयार्थः— ('यथा') जैसे (वेश्मवर्तिनां) गृहस्थोंके (देशतः) एकदेशरूपसे (मूलोत्तरगुणाः सन्ति) मूल और उत्तर गुण होते है (तथा) वैसे (अनगारिणां न स्यु) मुनियोंके एक देश पक्ष नहीं होते है किन्तु उनके (ते अथ परे) वे मूल गुण तथा उत्तर गुण (सर्वतः स्यु) सर्व देश रूपसेही होते हैं ।

भावार्थ — गृहस्थोंके समान एक देशरूपसे मुनियोंके मूलोत्तर गुण नहीं होते है । किन्तु उनके [मुनियोंके] मूलगुण और उत्तरगुण सर्वदेशरूपमेही होते है ।

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधारणा इमे ॥ ७२३ ॥

अन्वयार्थः— तत्र (उनमें (यस्मात्) जिस कारणसे (व्रतधारिणां गृहिणां) व्रती गृहस्थोंके (अष्टौ मूलगुणाः) जो आठमूगुण हैं वे (क्वचित्) कहीं २ (अव्रतिनां च 'सन्ति') अव्रती गृहस्थोंकेभी पाए जाते हैं इसलिए (इमे सर्वसाधारणा.) ये आठों ही मूलगुण सर्वसाधारण हैं ।

भावार्थः— व्रती गृहस्थोंके समान अव्रती गृहस्थोंके भी पाए जानेसे गृहस्थोंके जो आठ मूलगुण हैं वे सर्वसाधारणके हैं ।

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम् ।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ॥ ७२४ ॥

अन्वयार्थः— (ते गुणा) वे आठें मूलगुण (निसर्गात्) स्वभावसे (वा) अथवा (कुलाम्नायात्) कुलपरंपरासेभी (आयाताः) आते हैं अर्थात् गृहस्थोंको प्राप्त होते हैं (तथा) और (स्फुटम्) यह स्पष्ट है कि (तद्विना) इन मूलगुणोंके विना (अङ्गिनां) जीवोंके (यावत् व्रतं) सव प्रकारका व्रत (च) और (सम्यक्त्व) सम्यक्त्व (न) नहीं होसकता है ।

भावार्थः— किन्ही २ गृहस्थोंकी मद्यादिकमें स्वभावसेही प्रवृत्ति नहीं होती है । और किन्हीं २ के कुल परम्पराकी आम्नायसे मद्यादिकके सेवन करनेकी प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है । इसलिये ये आठों मूलगुण साधारण कहे

गये हैं और इनके विना जीवोंको सम्यक्त्व तथा किसी प्रकारके व्रतकी प्राप्ति नहीं होती है।

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः ।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा ॥ ७२५ ॥

अन्वयार्थः— (एतावता विना) इन मूल गुणोंके विना जब (एषः) यह जीव (नामत अपि) नामसेभी (श्रावकः नास्ति) श्रावक नहीं होसकता है तो (पुनः) फिर (पाक्षिकः गूढः नैष्टिकः अथवा साधक किं) पाक्षिक, गूढ, नैष्टिक अथवा साधक श्रावक तो कैसे होसकता है ?

भावार्थः— जब मूल गुणोंके विना कोई जीव नाम निक्षेपसेभी श्रावक नहीं होसकता है तो फिर पाक्षिक, गूढ, नैष्टिक और साधक श्रावक कैसे होसकेगा ?

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपंचकः ।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथाऽपि तथा गृही ॥ ७२६ ॥

अन्वयार्थः— (मद्यमांसमधुत्यागी) मद्य, मास तथा मधुका त्याग करनेवाला और (त्यक्तोदुम्बरपञ्चक) पांचों उदुम्बर फलोंको छोडनेवाला (गृही) गृहस्थ (नामतः) नामसे (श्रावकः) श्रावक (ख्यात) कहलाता है (अपि) किन्तु (अन्यथा तथा न) मद्यादिकका सेवन करनेवाला गृहस्थ नामसेभी श्रावक नहीं कहलाता है।

भावार्थः— तीन मकार और पांच उदुम्बर फलोंके त्याग करनेवाले गृहस्थको ही नामसे श्रावक कहते है। किन्तु जो इससे विपरीत कार्य करनेवाला है अर्थात् मद्यादिकका सेवन करनेवाला है उसको नामसेभी श्रावक नहीं कहते है।

यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् ।
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम ॥ ७२७ ॥

अन्वयार्थ.— (गृहस्थैः) गृहस्थोंको (यथाशक्ति) अपनी अपनी शक्तिके अनुसार (व्यसनोज्झनं विधातव्यं) व्यसनोंका त्याग करना चाहिये और (श्रेयसीं क्रियां इच्छद्भि.) कल्याणप्रद क्रियाओंके करनेकी इच्छा करनेवाले (व्रतस्थैः तैः) व्रती गृहस्थोंको तो (अवश्य) अवश्यही (नत् ' व्यसनोज्झनं

१ गूढ श्रावककी कल्पना अन्यश्रावकाचारोंमे नही देखी है।

विघातव्य) उन व्यसनोंका त्याग करना चाहिये ।

भावार्थः— गृहस्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार व्यसनोंका त्याग करना चाहिये । और व्रती श्रावकोंको तो नियमसेही उनका त्याग करना चाहिये ।

त्यजेद्दोषाँस्तु तत्रोक्तान सूत्रेतीचारसंज्ञकान् ।
अन्यथा मद्यमांसादीन श्रावकः कः समाचरेत् ॥ ७२८ ॥

अन्वयार्थ— (तु) और (तत्र) मूलगुणोंमें लगनेवाले (सूत्रे उक्तान्) शास्त्रमें कहे गये (अतीचारसंज्ञकान्) अतीचार नामक (दोषान्) दोषोंकोभी (त्यजेत्) अवश्य छोडना चाहिये (अन्यथा) अन्यथा (मद्यमांसादीन) साक्षात्‌रूपसे मद्यमांसादिकको (कः श्रावकः) कौनसा श्रावक (समाचरेत्) खाता है ?

भावार्थः— गृहस्थोंको आचार शास्त्रमें प्रसिद्ध उक्त आठ मूलगुणोंके अतीचारोंकाभी त्याग करना चाहिये क्योंकि अतीचारोंके त्यागपूर्वक अष्ट मूलगुणोंका पालन करनाही वास्तवमें श्रावकोंके अष्ट मूलगुणोंका पालन करना कहलाता है । अतीचारोंके दूर किये विना जो मूलगुणोंका पालन किया जाता है वह वास्तवमें मूलगुणोंका पालन करना नहीं है कारण कि साक्षात् रूपसे तो मद्यमांसादिकको कोई श्रावक खाताही नहीं है ।

दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याऽथ श्रद्धया ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥ ७२९ ॥

अन्वयार्थ— (श्रावकोत्तमैः) उत्तम श्रावकोंको (पात्रबुद्धया) पात्र बुद्धिसे (अथ) और (श्रद्धया) श्रद्धा बुद्धिसे (जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः) जघन्य मध्यम तथा उत्कृष्ट पात्रोंके लिये (चतुर्विधं दान देय) चार प्रकारका दान देना चाहिये ।

भावार्थः—श्रावकोंको तीनोंही प्रकारके पात्रोंकेलिए श्रद्धापूर्वक पात्रबुद्धिसे चार प्रकारका दान देना चाहिये

कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम् ।
पात्रबुद्धया निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥ ७३० ॥

अन्वयार्थः— (**कुपात्राय**) कुपात्रके लिये और (**अपात्राय अपि**) अपात्रके लियेभी (**यथोचितं**) यथायोग्य (**दानं देयं**) दान देना चाहिये क्योंकि कुपात्र तथा अपात्र के लिये (**पात्रबुद्धया**) केवल पात्रबुद्धिसे दान देना (**निषिद्ध स्यात्**) निषिद्ध है (**कृपाधिया**) करुणा बुद्धिसे दान देना (**निषिद्धं न**) निषिद्ध नहीं है ।

भावार्थः— सम्यक्त्वके विना व्रतपालन करनेवाले कुपात्र के लिये और सम्यक्त्व तथा व्रतसे रहित मिथ्या चारित्र पालन करनेवाले अपात्रके लियेभी कृपाबुद्धिसे दान देना चाहिये । कारण कि इन दोनोंके लिये पात्रबुद्धिसे दान देनेका निषेध किया गया है । करुणा बुद्धिसे दान देनेका निषेध नहीं है ।

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात् ।
दीनेभ्योऽभयदानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥ ७३१ ॥

अन्वयार्थः— (**करुणार्णवैः**) दयालु श्रावकोंको (**अशुभोदयात्**) अशुभ कर्मके उदयसे (**क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्य शेषेभ्यः दीनेभ्य**) क्षुधा, तृषा आदिसे दुखी शेष दीन प्राणियोंके लियेभी (**अभयदानादि**) अभयदानादिक (**दातव्य**) देना चाहिये ।

भावार्थः— गृहस्थोंको उक्त पात्र, कुपात्र और अपात्रोंसे बाकी बचे हुए, अशुभकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाली क्षुदादिककी पीडासे दुखी प्राणियोंके लिएभी अभयदानादिक देना चाहिये ।

पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यद्वा प्रतिमासु तद्धिया ।
स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः ॥ ७३२ ॥

अन्वयार्थः— (**सुधीः**) उत्तम बुद्धिवाला श्रावक (**प्रतिमासु**) प्रतिमाओंमें (**तद्धिया**) अर्हंत की बुद्धिसे (**अर्हतां पूजां अपि कुर्यात्**) अर्हंत भगवानकी पूजाभी करे (**यद्वा**) और (**स्वरव्यंजनानि संस्थाप्य**) सिद्ध यंत्रमें स्वर व्यजनादिक रूपसे सिद्धोंकी स्थापना करके (**सिद्धान् अपि अर्चयेत**) सिद्ध भगवानकीभी पूजा करे ।

भावार्थः— श्रावकोंको प्रतिमाओंमें अर्हंतकी स्थापना करके अर्हंत भगवानकी तथा स्वर व्यंजनादिक

रूपसे सिद्धयन्त्रमें सिद्धकी स्थापना करके सिद्धभगवानकी भी पूजा करना चाहिये।

सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तत्पादयोः स्तुतिम् ।
प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात्स त्रिशुद्धितः ॥ ७३३ ॥

अन्वयार्थः— (सः) वह श्रावक (सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरः) आचार्य, उपाध्याय और साधुओंके सामने जाकर (प्राक्) पहले (तत्पादयोः स्तुतिं विधाय) उनके चरण कमलोंकी स्तुति करके (त्रिशुद्धितः) मन, वचन और कायकी शुद्धिपूर्वक उनकी भी (अष्टधा पूजां विदध्यात्) अष्ट द्रव्यसे पूजा करे।

भावार्थ.— श्रावकको आचार्य, उपाध्याय और साधुओंके सामने स्वयं उपस्थित होकर पहले उनके चरणोंकी स्तुति करना चाहिये तथा फिर अष्ट द्रव्यसे पूजा करना चाहिये।

सम्मानादि यथाशक्ति कर्त्तव्यं च सधर्मिणां ।
व्रतिनां चेतरेषां वा विशेषाद्ब्रह्मचारिणाम् ॥ ७३४ ॥

अन्वयार्थः— (यथाशक्ति) अपनी शक्तिके अनुसार (व्रतिनां वा इतरेषां च सधर्मिणां) व्रती अथवा अव्रती साधर्मी जनोंका (सम्मानादि कर्तव्यं) सन्मान आदि करना चाहिये (च) तथा (ब्रह्मचारिणां) त्यागी ब्रह्मचारिओंका तो (विशेषात) विशेष रूपसे सन्मान आदि करना चाहिये।

भावार्थ.— श्रावकोंको अपनी शक्तिके अनुसार व्रती और अव्रती दोनोंही प्रकारके साधर्मी जनोंका यथायोग्य सन्मानादिक करना चाहिये। तथा ब्रह्मचारी साधर्मी जनोंका तो विशेष रूपसे सन्मान आदि करना चाहिये।

नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे ।
देय सम्मानदानाा लोकानामविरूद्धतः ॥ ७३५ ॥

अन्वयार्थः— (जिनागमे) जिनागममें (व्रताढ्याभ्यः नारीभ्यः अपि) व्रतोंसे परिपूर्ण स्त्रियोंका भी सन्मानादिक करना (निषिद्धं न) निषिद्ध नहीं है इस लिए व्रती स्त्रियोंकाभी (लोकानां अविरूद्धतः) लोक व्यवहारके अनुकूल (सम्मानदानादि देयं) सन्मानदानादिक करना चाहिये।

भावार्थ.— जैनागममें व्रती स्त्रियोंका आदर सत्कार करना, उनको सन्मान देना आदि निषिद्ध नहीं है। इस लिये लोकव्यवहारके अनुकूल उनका भी आदर सत्कार, सन्मान आदि करना चाहिये।

जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता ।
यथा सम्पद्विधेयाऽस्ति दूष्या नावद्यलेशतः ॥ ७३६ ॥

अन्वयार्थ — (**यथासम्पत्**) अपनी सम्पत्तिके अनुसार (**जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे**) जिन मंदिर आदिके बनवानेमेंभी (**सावधानता विधेया**) सावधानता करना चाहिये क्योंकि (**अवद्यलेशतः**) थोडासा पाप होनेके कारण जिनमन्दिर आदिका बनवाना (**दूष्या न अस्ति**) निंद्य नहीं है।

भावार्थ— यद्यपि जिनमंदिरादिक बनवानेमें जीव हिंसा होनेके कारण थोडासा पाप लगता है। परन्तु पुण्यकी अधिकता होनेके कारण वह थोडासा पाप निंदनीय नहीं समझा जाता है अर्थात् पाप नहीं माना जाता है। इसलिए गृहस्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार जिनमंदिर आदिभी बनवाना चाहिये।

सिद्धानामर्हतां चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः ।
चैत्यालयेषु संस्थाप्य द्राक् प्रतिष्ठापयेत्सुधीः ॥ ७३७ ॥

अन्वयार्थ— (**सुधीः**) ज्ञानी श्रावक (**सिद्धानां यन्त्राणि**) सिद्धोंके यंत्रोंको (**अपि च**) और (**अर्हतां शुभाः प्रतिमाः**) अर्हन्त भगवानकी मनोज्ञ प्रतिमाओंको (**चैत्यालयेषु संस्थाप्य**) जिनालयोंमें स्थापित करके (**द्राक् प्रतिष्ठापयेत्**) शीघ्र ही उनकी प्रतिष्ठा करे।

भावार्थ — गृहस्थोंको जिनमंदिरोंमें सिद्ध यंत्र तथा अर्हंत भगवानकी प्रतिमाओंको स्थापित करके उनकी शीघ्रही विधिपूर्वक प्रतिष्ठा कराना चाहिये।

अथ तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः ।
श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ॥ ७३८ ॥

अन्वयार्थ — (**अथ**) और (**सः श्रावकः**) वह श्रावक (**तीर्थादियात्रासु**) तीर्थादिककी यात्रामेंभी (**मनः**) मनको (**सोद्यतं विदध्यात्**) तत्पर करे (**च**) तथा (**तत्रापि**) उस तीर्थयात्रा-

दिकमेंभी वह (संयम न विराधयेत्) अपने संयमकी विराधना नहीं करे अर्थात् संयममें बाधा नहीं आने देव ।

भावार्थः— गृहस्थोंको अपने संयमकी रक्षा करते हुए तीर्थयात्रा आदि पुण्यको बढानेवाले कार्यभी करना चाहिये ।

नित्ये नैमित्तिके चैवं जिनबिम्बमहोत्सवे ।
शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषतः ॥ ७३९ ॥

अन्वयार्थः— (एवं च) इसी प्रकार (नित्ये च नैमित्तिके) नित्य और नैमित्तिक रूपसे होनेवाले (जिनबिम्बमहोत्सवे) जिन बिम्ब महोत्सवमेंभी (शैथिल्यं नैव कर्तव्य) शिथिलता नहीं करना चाहिये तथा (तत्त्वज्ञैः) तत्त्वज्ञानियोंको तो (तत् विशेषत ' न कर्तव्य ') वह शिथिलता कभीभी किसीभी प्रकारसे नहीं करना चाहिये ।

भावार्थः— श्रावकोंको नित्य तथा नैमित्तिक रूपसे होनेवाले जो जिनबिम्ब आदि महोत्सव है उनमेंभी शिथिलता नहीं करना चाहिये । किन्तु उत्साह पूर्वक उनमें सम्मिलित होनाचाहिये । और तत्त्वज्ञानियोंको तो विशेष रूपसे उनमें सम्मिलित होना चाहिये ।

संयमो द्विविधश्चैवं विधेयो गृहमेधिभिः ।
विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ॥ ७४० ॥

अन्वयार्थः— (गृहमेधिभिः) गृहस्थोंको (स्वशक्तितः) अपनी शक्तिके अनुसार (प्रतिमारूपं व्रतं) प्रतिमारूपसे व्रत (यद्वा) अथवा (' प्रतिमारूप , विना अपि) विना प्रतिमारूपसे व्रत (एवं) इस प्रकार (द्विविधः संयमश्च) दोनों प्रकारका संयमभी (विधेयः) पालना चाहिये ।

भावार्थः— गृहस्थोंको प्रतिमारूपसे अथवा विना प्रतिमारूपसेभी संयमका पालन करना चाहिये । जो प्रतिमारूपसे व्रतोंका पालन करते है उन्हे नैष्टिक श्रावक कहते है और जो विना प्रतिमारूपसे व्रतोंका पालन करते है उन्हे पाक्षिक श्रावक कहते है ।

कृत्स्ना मन्यतमना तत्कार्य चानतिनीर्यसात् ॥७४१॥

अन्वयार्थः—(बाह्याभ्यन्तरभेदतः) बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे (द्वेधा तपः) दो प्रकारका तप अपने २ अवान्तर छह भेदोंकी अपेक्षासे (द्वादशधा) बारह प्रकारका है उनमेंसे श्रावकोंको (अनतिवीर्यसात्) अपनी शक्तिके अनुसार (कृत्स्नं) सम्पूर्ण (वा) अथवा (अन्यतम च तत् कार्यं) किसी एक प्रकारकेही तपको करना चाहिए ।

भावार्थ—तपके दो भेद हैं एक बाह्य तप और दूसरा अभ्यन्तर तप। बाह्य तपके अनशन आदि छह भेद हैं । अभ्यन्तर तपके प्रायश्चित्त, विनय आदि छह भेद हैं। इस प्रकार बाह्य तथा अभ्यन्तरके भेद से जो दो प्रकारका तप है उसके बारह भेद हो जाते हैं। उनमेंसे श्रावकोंको अपनी २ शक्तिके अनुसार सम्पूर्ण अथवा किसी एक प्रकारके तपको करना चाहिए ।

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम ।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशं सविस्तरम् ॥ ७४२ ॥

अन्वयार्थः—(अत्रापि) यहापर भी (प्रसङ्गात् वा) प्रसंगानुसार (दिङ्मात्रत) सक्षेपसे (गृहिव्रतं उक्तं , गृहस्थोक्त व्रतका निरूपण किया (च) और (सविस्तरं) विस्तार पूर्वक गृहस्थ धर्मका निरूपण तो (सावकाश) मौका मिलनेपर (उपासकाध्यायात) उपासकाध्ययनसे (वक्ष्ये) आगे कहेंगे ।

भावार्थः— इसप्रकार प्रसंगवश गृहस्थधर्मका संक्षेपसे निरूपण किया विस्तारपूर्वक उस गृहस्थ धर्मका निरूपण मौका मिलनेपर उपासकाध्ययनके अनुसार आगे करेंगे।

यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः ।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन ॥ ७४३ ॥

अन्वयार्थः—(तरोः मूलवत) वृक्षकी जडके समान (यतेः) मुनिके (अष्टाविंशति. मूलगुणाः 'सन्ति') अट्ठाइस मूल गुण होते है (अपिच) और (अत्र) इन अट्ठाईस मूल गुणोंमेंसे मुनियोंके वे मूल गुण (कदाचन) किसी भी समय (न अन्यतमेन ऊना.) न तो किसी एकसे कम तथा (न अतिरिक्ताः) न अधिक होते हैं ।

भावार्थः— वृक्षके लिये जडके समान मुनिव्रतके लिए मूलभूत मुनियोंके अठाईस मूलगुण होते हैं। इन-मेंसे मुनियोंके न तो कोई गुण कम होता है और न कोई गुण अधिकही होता है । किंतु अठाईसही होते है ।

सर्वैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम् ।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ॥ ७४४ ॥

अन्वयार्थः— (यावत् मुनिव्रत) सम्पूर्ण मुनिव्रत (एभिः सर्वै च समस्तै.) इन सब और समस्त मूलगुणोंसेही (सिद्ध) सिद्ध होता है (तु) किंतु (यावत् अशनयात् अपि) केवल अंशकोही विषय करनेवाले किसी एक नयकी अपेक्षासे (व्यस्तै.) असमस्त मूलगुणोंके द्वारा (व्यस्तमात्रं न.) एकदेशरूप मुनिव्रत सिद्ध नहीं होता हैं ।

भावार्थः— अठाईस मूलगुणोंसे युक्त होनेपरही मुनिव्रत, मुनिव्रत कहलाता है । किन्तु कुछ मूलगुणोंके पालनेसे वह मुनिव्रत व्यस्तमात्र–एकदेशमुनिव्रत नहीं कहलाता है अर्थात् सम्पूर्ण मूलगुणोंके पालनेसेही मुनिव्रत सिद्ध होता है । कमसे नहीं ।

वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवस्सयमचेलमन्हाणं ।
खिदिसयणमदंतमणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ ७४५ ॥

अन्वयार्थ— (वदसमिदिंदियरोधो) पांच महाव्रत और पांच समितियोंका धारण करना, पांचों इन्द्रियोंका निग्रह करना (लोचः) केश लोंच करना (आवस्सयं) छह आवश्यक पालना (अचेलं)नग्न दिगम्बर रहना (अन्हाणं) स्नान न करना (खिदिसयण) भूमिपर शयन करना (अदन्तमणं) दतोंन नहीं करना (ठिदिभोयणं) खडे होकर भोजन करना (च) और (एयभत्तं) एकबार अल्प भोजन करना ये मुनियोंके अठाईस मूल गुण है ।

भावार्थ — ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रिओंका निरोध, ६ आवश्यक. केशलोंच, अदन्तधावन, अस्नान, भूमिशयन, खडे होकर भोजन लेना, और एक बार भोजन करना ये मुनिओंके २८ मूलगुण कहलाते है ।

एते मूलगुणाः प्रोक्ता यतीनां जैनशासने ।
लक्षाश्च चतुरशीति गुणाश्चोत्तर संज्ञकाः ।
संस्कृ. ॥७४६॥

अन्वयार्थ — (जैनशासने) जिनागममें (यतीनां एते मूलगुणाः प्रोक्ताः) मुनियोंके ये अट्ठाईस मूलगुण कहे है (च) और (लक्षाणां चतुरशीतिः) चौरासी लाख (उत्तरसंज्ञकाः गुणाः) उत्तरगुण कहे है ।

भावार्थः— मुनियोंके उपरि उक्त २८ मूलगुण होते है । और चौरासी लाख उत्तरगुण होते है ।

ततः सागारधर्मोवाऽनगारो वा यथोदितः ।
प्राणिसंरक्षणंमूलमुभयत्राविशेषतः ॥ ७४७ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिए (यथोदितः) यथोक्त जो (सागारधर्मः) सागार धर्म (वा) अथवा (अनगारः वा) अनगार धर्म है (उभयत्र) उन दोनोंमेंही (अविशेषतः) सामान्यरूपसे (प्राणिसंरक्षण) अहिंसारूप धर्म (मूलं) मूलरूपसे हैं ।

भावार्थ — उपरि उक्त इन सागार और अनगाररूप दोनोंही धर्मोंमें अहिंसा मूलरूपसे पाई जाती है तथा शेष सत्यादिक धर्म इसके परिकररूपसे पाए जाते है ।

उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद्व्रतकदम्बकम् ।
सर्वसावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये ॥ ७४८ ॥

अन्वयार्थ — (यत्) जो (व्यासात्) विस्तारसे (क्रियारूपं) शुभ प्रवृत्तिरूप (व्रतकदम्बकं) व्रत समुदाय (उक्तं अस्ति) कहागया है (तत्) वह सब (एकस्य सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तये) एक सर्व सावद्य योगकी निवृत्तिके लिए है ।

भावार्थः— प्रवृत्तिरूप पांचोही व्रत केवल एक सर्वसावद्यरूप पापोंकी निवृत्तिके लिएही कहे गए है ।

अर्थाज्जैनोपदेशोऽयमस्त्यादेशः स एव च ।
सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥ ७४९ ॥

अन्वयार्थ — (अर्थात्) वास्तवमें (अयं) यही (जैनोपदेशः) जैनाचार्योंका उपदेश है (च) और (सः एव) वही (आदेशः अस्ति) आदेश भी है कि केवल (सर्व सावद्य योगस्य) सम्पूर्ण

सावद्य योगकी (निवृत्ति) निवृत्तिही (व्रत उच्यते) व्रत कहलाता है।

भावार्थः— जिनेन्द्र भगवानका यही आदेश और उपदेश है कि सम्पूर्ण पापों के त्यागकोही व्रत कहते हैं।

अब आगे ' सर्वसावद्ययोगनिवृत्ति ' शब्दका अन्वय अर्थ बताते हैं।

सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वृत्तिर्यदर्थतः।
प्राणच्छेदो हि सावद्यं सर्व हिंसा प्रकीर्तिता ॥ ७५० ॥
योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते।
सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥ ७५१ ॥
तस्याभावान्निवृत्तिः स्याद्व्रतं वार्थादिति स्मृतिः।
अंशात्साऽप्यंशतस्तत्सा सर्वतः सर्वतोऽपि तत् ॥ ७५२ ॥

अन्वयार्थ— (यत्) क्योंकि (तत्र) उस सर्व सावद्य योग शब्दमें (अर्थत) अर्थकी अपेक्षासे (सर्व शब्देन) सर्व शब्दसे (अन्तर्बहिर्वृत्तिः) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रवृत्ति है तथा (हि) निश्चयसे (सावद्य प्राणच्छेदः) सावद्य शब्दका अर्थ प्राणच्छेद हैं और (सा एव) वही (हिंसा प्रकीर्तिता) हिन्सा कही जाती है तथा (तत्र) उस हिन्सामें (यः) जो (बुद्धिपूर्वः उपयोगः) बुद्धिपूर्वक उपयोग होता है (सः) वह (योग उच्यते) योगशब्दका अर्थ है (वा) और (यः) जो (अबुद्धिपूर्व) अबुद्धिपूर्वक (च) तथा (सूक्ष्मः) सूक्ष्म उपयोग होता है (सः अपि) वहभी (योगः इति स्मृत) योगशब्दका अर्थ है और (अर्थात्) वास्तवमें (तस्य अभावात्) उस सर्व सावद्य योगके अभावसे जो (निवृत्तिः स्यात्) निवृत्ति होती है उसीको (व्रत वा इति स्मृतिः) व्रत कहते है तथा यदि (सा) वह निवृत्ति (अंशात्) अंश रूपसे हो तो (तत् अपि) वह व्रतभी (अंशतः) अणुव्रत कहलाता है और यदि (सा) वह (सर्वतः) सम्पूर्ण रूपसे हो तो [तत् अपि] वह व्रतभी [सर्वतः] महाव्रत कहलाता है।

भावार्थः— ' सर्व सावद्य योग निवृत्ति ' इस वाक्यका प्रत्येक शब्दके अर्थके अनुसार यह अर्थ होता है कि सव इस शब्दसे सब प्रकारकी अन्तरंग और बहिरंग प्रवृत्तिका बोध होता है। सावद्य इस शब्दसे हिन्साका बोध

होता है। योग इस शब्दसे हिन्सामें जो बुद्धिपुर्वक स्थूल उपयोग तथा अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म उपयोग होता है उन दोनों-का बोध होता है। और निवृत्ति इस शब्दसे सब प्रकारकी अन्तरंग तथा बहिरंग प्रवृत्तिमें जो हिंसाकेलिये, बुद्धिपूर्वक, तथा अबुद्धिपूर्वक जीवका उपयोग होता है उसके त्यागका बोध होता है। इस प्रकार सर्व सावद्य योग निवृत्ति शब्दका सर्व प्रकारकी हिन्सामे आत्माके सब प्रकारके उपयोगका त्याग यह अर्थ होता है। और इसीको व्रत कहते है। यदि वह सर्व सावद्य योगकी निवृत्ति अंशरूपसे हो तो व्रतभी एकदेश व्रत कहलाता है। तथा यदि वह निवृत्ति पूर्ण रूपसे हो तो व्रतभी महाव्रत–सर्वदेशव्रत कहलाता है।

सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रतं बाह्यं दयांगिषु।
व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैषात्मनि कृपा॥ ७५३॥

अन्वयार्थः— (एतत्) यह (सर्वतः सिद्धं एव) सब तरहसे सिद्ध होता है कि जो (अंगिषु-दया) सब प्राणियोंपर दया करना है वह [बाह्यं व्रत] बहिरंग व्रत है और जो [कषायाणां त्यागः] कषा-योंका त्याग करना है वह [अन्त व्रत] अन्तरंग व्रत है [तथा सा एव आत्मनि कृपा] वही अन्तर्व्रत स्वदया कहलाती है।

भावार्थः— सर्व सावद्ययोगकी निवृत्तिको व्रत कहते है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि जीवोंपर दया करना बहिरंग व्रत तथा अपनी कषायोंका त्याग करना अन्तरंग व्रत कहलाता है। और यही अन्तरंग व्रत स्वदय है

लोकासंख्यातमात्रास्ते यावद्रागादयः स्फुटम्।
हिंसास्यात्संविदादीनां धर्माणां हिंसनाच्चितः॥ ७५४॥

अन्वयार्थः— (स्फुट) यह बात स्पष्ट है कि (यावत) जबतक (ते लोकासंख्यातमात्रा. रागादय सन्ति) वे असंख्यात लोकप्रमाण रागद्वेषादिक भाव रहते है ('तावत') तबतक प्रत्येकके द्वारा (चितः) आत्माके (संविदादीनां धर्माणां) स्वसंवेदन आदि धर्मोंकी (हिंसनात्) हिंसा होनेसे) हिंसा स्यात्) स्व हिंसा होती रहती है।

भावार्थः— रागादिक भावोंके द्वारा आत्माके स्वसंवेदनादि गुणोंका घात होता है। इसलिए वे रागादिक भाव हिंसारूप है।

अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः ।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥ ७५५ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात) अर्थात् (रागादयः) रागादिकका नामही (हिंसा अधर्मः च व्रतच्युतिः अस्ति) हिंसा, अधर्म और अव्रत है तथा (किल) निश्चयसे (तत्परित्यागः) उनके त्यागकाही नाम (अहिंसा व्रत अथवा धर्मः) अहिंसा, व्रत अथवा धर्म है ।

भावार्थः— वास्तवमें रागादिकको ही हिंसा, अधर्म और व्रतच्युति तथा रागादिक के अभावकोही अहिंसा, धर्म और व्रत समझना चाहिये ।

आत्मेतराङ्गिणामंगारक्षण यन्मतं स्मृतौ ।
तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृतेनातः परत्र तत् ॥ ७५६ ॥

अन्वयार्थः— (अतः) इसलिये (यत) जो (स्मृतौ) आगममें (आत्मेतरांगिणां) स्व और अन्य प्राणियोंकी (अंगरक्षणं मतं) अहिंसाका सिद्धान्त माना गया है (तत) वह (परं) केवल (स्वात्मरक्षायाः कृते) स्वात्मरक्षाके लिएही है, (परत्र कृते तत् न) परके लिए नहीं है ।

भावार्थः— दूसरे जीवोंकी रक्षा करनेसे प्रमादका परिहार होता है । इसलिए पररक्षाभी स्वात्मरक्षा कहलाती है ।

सत्सु रागादि भावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात् ।
तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो वधः ॥ ७५७ ॥

अन्वयार्थः—(रागादि भावेषु सत्सु) रागादिक भावोंके होनेपर (बलात्) जबरन (कर्मणां बन्धः स्यात) कर्मोंका बन्ध होता है और (तत्पाकात्) उन कर्मोंके उदयसे (आत्मनः दुःखं) आत्माको दुःख होता है (तत्) इसलिये रागादिक भावोंके द्वारा (स्वात्मनः वधः सिद्धः) स्वात्माका वध सिद्ध होता है ।

भावार्थ.— रागादिक भावोंसे कर्मोंका बन्ध होता है। और उनके उदयसे आत्मामें दुःख होता है। तथा उस दुःखका होनाही आत्माका वध है। इस लिए सिद्ध होता है कि रागादिक के द्वारा आत्माका वध होता है।

ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते।
चारित्रापर नामैतद्व्रतं निश्चयतः परम्॥ ७५८॥

अन्वयार्थः— (**ततः**) इस लिए (**यः**) जो (**मोहकर्मोदयात् ऋते**) मोहनीय कर्मके उदयके अभावमें (**शुद्धोपयोगः**) शुद्धोपयोग होता है (**एतत्**) यही (**निश्चयतः**) निश्चयनयसे (**चारित्रापरनाम**) चारित्र है दूसरा नाम जिसका ऐसा (**परं व्रतं**) उत्कृष्ट व्रत हैं।

भावार्थः— इस प्रकार पूर्वोक्त कथनसे सिद्ध होता है कि चारित्रमोहके अभावसे जो आत्मामें शुद्धोपयोग होता है उसकोही निश्चयसे व्रत अथवा चारित्र कहते हैं।

चारित्रं निर्जरा हेतु र्न्यायादप्यस्त्यबाधितम्।
सर्वस्वार्थक्रियामर्हन् सार्थनामास्ति दीपवत्॥ ७५९॥

अन्वयार्थ— (**चारित्रं निर्जरा हेतुः**) वह चारित्र निर्जराका कारण है यह बात (**न्यायात् अपि अबाधितं अस्ति**) न्यायसेभी अबाधित है कि वह चारित्र (**सर्वस्वार्थ क्रियां अर्हन्**) अन्वर्थ क्रियामें समर्थ होता हुआ (**दीपवत् सार्थनामा अस्ति**) दीपककी तरह अन्वर्थ नामधारी है।

भावार्थ.— 'आत्मा येन स्वात्मनि चर्यते तत् चारित्रं' अर्थात् जिस गुणके द्वारा आत्मा आत्मामें लीन होता है उसे चारित्र कहते हैं। और इसकाही यह निरुक्तिकृत अर्थ है कि आत्मा रागद्वेषादिरूप हिंसासे रहित होकर जो आत्मामें लीन होता है उसीको शुद्धोपयोग कहते है। जहापर चारित्रका यह यथार्थ अर्थ प्रगट नहीं होता है अर्थात आत्मामें लीनता सिद्ध नहीं होती है। वहापर वास्तविक चारित्रभी सिद्ध नहीं होता है। और यह चारित्र अवश्यही निर्जराका हेतु है।

रूढेः शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसंज्ञया।
स्वार्थ-क्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात्॥ ७६०॥

किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत् ।
नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत् ॥ ७६१ ॥

अन्वयार्थ — (**रूढेः**) यद्यपि लोकरूढिमे (**शुभोपयोगः अपि**) शुभोपयोगभी (**चारित्रसंज्ञया ख्यात**) चारित्र नामसे कहाजाता है परन्तु (**निश्चयात्**) निश्चयनयसे वह चारित्र (**स्वार्थक्रियां अकुर्वाण**) स्वार्थ क्रियाको नहीं करनेसे अर्थात् आत्मामें लीनतारूप अर्थका धारी न होनेसे (**सार्थ नामा न**) अन्वर्थ नामधारी नहीं है (**किन्तु**) परन्तु (**अर्थात्**) वास्तवमें (**प्रत्यनीकवत्**) अशुभोपयोगकी तरह (**तत्**) वह (**बन्धस्य हेतुः स्यात**) बन्धकाही कारण होता है इस लिए (**असौ वरम् न**) यह उत्तम नहीं है क्योंकि (**य**) जो (**अपकारोपकारकृत् न**) अपकार और उपकारका करनेवाला नहीं है (**सः वरं**) वही उत्तम है।

भावार्थः— यद्यपि रूढिसे -व्यवहारनयसे शुभ प्रवृत्तिकोभी चारित्र कहते है । परन्तु वह चारित्र, शुभ प्रवृत्तिमय होनेसे शुभाश्रवकाही कारण है संवर व निर्जराका नहीं । इसलिए वह शुभोपयोगरूप चारित्र निश्चयनयमे चारित्र नहीं कहाजाता है । किंतु अशुभोपयोगकी तरह बन्धकाही कारण माना जाता है । अतः वह उपादेय नहीं है । क्योंकि निश्चयनयसे जो अपकार उपकार व किसीकोभी नहीं करता है वह शुद्धोपयोगही उपादेय माना गया है।

विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात् ।
बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्र संभवात् ॥ ७६२ ॥

अन्वयार्थ — (**एकान्ततः**) नियमसें (**शुद्धात् अन्यत्र बन्धस्य सम्भवात्**) शुद्ध क्रियाको छोडकर शेष क्रियायें बन्धकी ही जनक होती है (**हेतोः**) इस हेतुसे (**विचारसात्**) विचार करनेपर (**अस्य**) इस शुभोपयोगको (**विरुद्धकार्यकरित्वं**) विरूद्ध कार्यकारित्व (**असिद्धं न**) असिद्ध नहीं है ।

भावार्थः— विचारकर देखा जाय तो शुभोपयोगमे विरुद्ध कार्यकारित्व--संसारकार्यकारित्व असिद्ध नहीं है क्योंकि शुद्धोपयोगको छोडकर सब क्रियाएँ केवल बन्धकी जनक मानी गई हैं ।

नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जराहेतुरंशतः ।
अस्ति नाबन्ध हेतुर्वा शुभोनाप्यशुभावहात् ॥ ७६३ ॥

अन्वयार्थ — (**प्रज्ञापराधत्वात्**) बुद्धिकी मन्दतासे (**न उत्प्रेक्ष्य**) यहभी आशंका नहीं करना चाहिये कि (**अंशतः निर्जराहेतुः**) शुभोपयोग एक देशसे निर्जराका कारण होसकता है कारण (**अशुभा-** दहा) निश्चयनयसे शुभोपयोगभी संसारका कारण होनेसे (बन्धहेतुः न अस्ति) वह निर्जरादिकका हेतु नहीं होसकता है और (**न शुभा अपि**) न वह शुभही कहा जा सकता है।

भावार्थः— शुभोपयोगको निर्जराका कारण नहीं मानना चाहिये कारण शुभोपयोगभी तो बन्धका कारण है, अतः वह केवल व्यवहारसे शुभ माना जाता है क्योंकि वास्तवमें जिसके द्वारा संवर व निर्जरा हो उसकोही शुभ कहते है अतः शुभोपयोगसे जो शुभ बन्ध होता है वहभी बन्ध है इस लिये शुभोपयोगभी अशुभ है शुभ नहीं।

कर्मादानाक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत्।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्सैषचारित्रसंज्ञकः ॥ ७६४ ॥

अन्वयार्थ — (**यत्**) जो (**कर्मादानक्रियारोध**) कर्मोंकी आश्रवरूप क्रियाका रुक जाना है वही (**स्वरूपाचरणं**) स्वरूपाचरण है, (**च**) और (**सैषः चारित्रसंज्ञक शुद्धोपयोगः धर्मः स्यात्**) वही चारित्र नामधारी है, शुद्धोपयोग है, तथा धर्म है।

भावार्थ— वास्तवमें कर्मोंके आश्रवके निरोधकोही स्वरूपाचरण, शुद्ध चारित्र, शुद्धोपयोग और धर्म कहते है।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समेत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्कोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥

अन्वयार्थः— (**खलु**) निश्चय करके (**चारित्र धम्मो**) चारित्रकोही धर्म कहते है, और (**जो धम्मो**) जो धर्म है (**सो समोत्ति णिद्दिट्ठो**) उसीको सम कहते है क्योंकि (**मोहक्कोहविहीणो**) मोह और क्रोधसे रहित (**अप्पणो परिणामो धम्मो**) आत्माका परिणामही धर्म है।

भावार्थ— चारित्रकोही धर्म कहते है। कारण कि, धर्म समरूप अवस्थाको कहते है। इसलिए आत्माके जिस परिणाममें मोहके निमित्तसे मूर्च्छा और क्रोधके निमित्तसे चचलता नहीं है उस समरूप परिणामको धर्म कहते हैं।

ननु सद्दशनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः ।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥ ७६५ ॥

अन्वयार्थ— (ननु) शंकाकारका कहना है कि जब (समस्तैः सद्दर्शनज्ञानचारित्रैः एव) समुदायरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसेही (मोक्षपद्धतिः) मोक्षमार्ग सिद्ध होता है (व्यस्तैः न) भिन्न २ सम्यग्दर्शनादिकके द्वारा मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता है (तत्) तो फिर (चारित्रमात्रया किं) केवल चारित्रमात्रसेही मोक्षमार्गकी सिद्धि कैसे होसकती है ?

भावार्थ — शंकाकारका कहना है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता से ही मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है। इसलिए केवल शुद्ध चारित्रसे वह मोक्षमार्गकी सिद्धि कैसे होसकती है ?

सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रांतर्गतं मिथः ।
त्रयाणामविनाभावादिदं त्रयमखंडितं ॥ ७६६ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है किंतु (सद्दर्शन ज्ञानं) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान (चारित्रांतर्गतं) उस शुद्धोपयोगरूप चारित्रमेंही अन्तर्भूत होजाते है। क्योंकि (मिथः त्रयाणां अविनाभावात्) परस्परमें तीनोंका अविनाभाव सम्बन्ध होनेसे (इद त्रय) ये तीनों (अखण्डित) अखण्डित रूपसे एकही है।

भावार्थः— शुद्ध चारित्रमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दोनोंका अन्तर्भाव होजाता है। कारण कि तीनोंका परस्पर में अविनाभाव सम्बन्ध है। इसलिए अखण्डरूपसे विवक्षा करनेपर ये तीनों एकही है अर्थात् शुद्ध चारित्ररूपही पडते है।

किंच सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः ।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ ७६७ ॥

अन्वयार्थः— (किञ्च) और दूसरी बात यह है कि (सविचारित्रयो· द्वयोः) ज्ञान तथा चारित्र इन दोनोंका (सद्दर्शनं हेतुः) सम्यग्दर्शन कारण है (यद्वा) अथवा (प्रत्यग्रजन्मनः) आगे होनेवाले ज्ञान और चारित्रमें जो (सम्यग्विशेषणस्य) सम्यक् विशेषण है उसका वह (उच्चैः ' हेतुः ') सम्यग्दर्शनही कारण है।

भावार्थ— ज्ञान और चारित्रमें जो सम्यकपना आता है उसका मूल कारण सम्यग्दर्शनही है। क्योंकि सम्यग्दर्शनके विना ज्ञानको मिथ्याज्ञान तथा चारित्रको मिथ्याचारित्र कहते है।

अर्थोऽयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानं चारित्रमत्र यत्।
भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वाऽभूतपूर्वकम ॥ ७६८ ॥

अन्वयार्थः— (**अयं अर्थ.**) उक्त कथनका यह अभिप्राय है कि (**अत्र**) इस लोकमें (**सम्यक्त्वे-सति**) सम्यग्दर्शनके होतेही (**यत्**) जो (**भूतपूर्वं ज्ञानं चारित्रं**) भूतपूर्व ज्ञान व चारित्र था वह (**सम्यक् भवेत्**) सम्यक् विशेषण सहित होजाता है अत सम्यग्दर्शन (**अभूतपूर्वकं वा सूते**) अभूतपूर्व के समानही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको उत्पन्न करता है ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ.— उक्त कथनका साराश यह है कि सम्यग्दर्शन, भूतपूर्व ज्ञान और चारित्रके सम्यक् विशेषणका कारण होनेसे अभूतपूर्व (पहले कभी न होनेवाले) सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रका जनक कहलाता है।

शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिर्ज्ञानातिशायिनी।
साभवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धोभावोऽथवाऽपिच ॥ ७६९ ॥

अन्वयार्थः— (**या**) जो (**ज्ञानातिशायिनी**) ज्ञानमें अतिशय लानेवाली (**शुद्धोपलब्धिशक्तिः-लब्धिः**) शुद्धोपलब्धिकी शक्तिरूप लब्धि है (**सा**) वह (**सम्यक्त्वे सति**) सम्यक्त्वके होनेपरही (**भवेत्**) होती है (**अथवा**) अथवा (**शुद्धः भावः अपि च**) सम्पूर्ण शुद्धभावरूप जो चारित्र है वहभी सम्यक्त्वके होनेपरही होता है

भावार्थः— जिस ज्ञानविशेषके द्वारा शुद्ध आत्माका उपयोग होता है अर्थात् जो शुद्धोपलब्धिरूप सम्यग्ज्ञान है वह और जिस पवित्र चारित्रको शुद्धभाव शब्दसे कहते है वह सम्यक्चारित्र केवल सम्यग्दर्शनके होनेपरही होता है। इसलिए सम्यग्दर्शनको अभूतपूर्व के समान सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका जनक कहा है।

यत्पुनर्द्रव्यचारित्र श्रुतज्ञानं विनापिदृक्।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्तिचेत्कर्मबन्धकृत् ॥ ७७० ॥

अन्वयार्थः— (**पुन.**) और (**यत्**) जो (**दृक् विना**) सम्यग्दर्शनके विना (**द्रव्यचारित्रं**) द्रव्य

चारित्र (अपि) तथा (श्रुतज्ञानं) श्रुतज्ञान होता है (तत्) वह (न ज्ञानं) न सम्यग्ज्ञान है और (न चारित्रं) न सम्यक्चारित्र है (अस्ति चेत्) यदि है तो वह ज्ञान तथा चारित्र केवल (कर्मबन्धकृत्) कर्मबन्धको ही करनेवाला है।

भावार्थः— सम्यग्दर्शनके विना द्रव्यलिंगी मुनि तथा श्रावकोंका जो ज्ञान व चारित्र है वह शुद्धोपलब्धि को विषय न करनेके कारण वास्तवमें न ज्ञान है न चारित्र है किन्तु पर वस्तुमें इष्टानिष्ट कल्पना का जनक होनेसे केवल बन्धकाही कारण है।

तेषामन्यतमोद्देशो नालं दोषाय जातुचित् ।
मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ ७७१ ॥

अन्वयार्थः— (अपि) तथा (मोक्षमार्गैकसाध्यस्य) मोक्षमार्ग रूप एक साध्यकेही (साधकानां स्मृते) साधक होनेसे (तेषां अन्यतमोद्देश.) उन तीनोंमेंसे अपेक्षा पूर्वक किसी एकका भी कथन (जातुचित्) कभीभी (दोषाय अल न) दोषके लिए समर्थ नहीं है।

भावार्थः— यद्यपि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनोंही मोक्षके साधक है तथापि उन तीनोंमेंसे अपेक्षापूर्वक किसी एककोभी–सम्यग्दर्शनकोभी मोक्षका साधक कहना दोषाधायक नहीं होता है।

बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः ।
रागांशैर्बन्धएव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥ ७७२ ॥

अन्वयार्थ— इस प्रकार (प्रश्नकोविदैः) प्रश्न करनेमें चतुर जिज्ञासुओंको (समासात्) सक्षेपसे (बन्धः च मोक्षः) बन्ध और मोक्ष (ज्ञातव्यः) समझ लेना चाहिये कि (रागांशैः) जितने रागके अंश है उनसे (बन्ध एव स्यात्) बन्धही होता है तथा (अरागांशैः कदाचन न) जितने अरागके अंश है उनसे कभीभी बन्ध नहीं होता है।

भावार्थः— संक्षेपसे बन्ध और मोक्षका इतनाही स्वरूप है कि जितने अंशोंमें राग है उतने अंशोंसे बन्ध होता है। तथा जितने अंशोंमें रागका अभाव होता हैं उतने अंशोंमें बन्धकाभी अभाव होता है। और बन्धके अभावकोही मोक्ष कहते है।

२९२-२९४

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ ७७३ ॥ पुरुषार्थ.

अन्वयार्थ — (येन अंशेन) जिस अंशसे (सुदृष्टिः) सम्यग्दर्शन है (तेन अंशेन) उस अंशसे (अस्य बन्धनं न अस्ति) इस सम्यग्दृष्टिके बन्ध नहीं होता है (तु) और (येन अंशेन) जिस अंशसे (राग) राग है (तेन अंशेन) उस अंशसे (अस्य बन्धनं भवति) इस सम्यग्दृष्टिके बन्ध होता है ।

भावार्थः— जितने अंशमें राग होता है उतने अंशमें बन्ध और जितने अंशमें सम्यक्त्व होता है उतने अंशमें बन्धका अभाव होता है ।

उक्तो धर्मस्वरूपोऽपि प्रसंगात्संगतोंऽशतः ।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥ ७७४ ॥

अन्वयार्थः— (प्रसंगात्) प्रसङ्गानुसार (अंशतः) संक्षेपसे (संगतः) युक्तियुक्त (धर्मस्वरूप अपि) धर्मका स्वरूपभी (उक्त) कहा (वा) और (विस्तरात) विस्तारपूर्वक (त) उस धर्मके स्वरूपका वर्णन (कविः) कवि (लब्धावकाश.) मौका पाकर के आगे (करिष्यति) करेंगे ।

भावार्थः— यहांपर प्रकरणवश धर्मके स्वरूपकाभी संक्षेपमें वर्णन करादिया है । और यदि मौका मिला तो आगे भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा ।

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्वार्थ दर्शिनी ।
ख्याताऽप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥ ७७५ ॥

अन्वयार्थः— (देवे) देवमें (गुरौ) गुरुमें (तथा) और (धर्मे) धर्ममें (तत्त्वार्थदर्शिनी दृष्टि) समीचीन श्रद्धान करनेवाली जो दृष्टि है वह (अमूढदृष्टिः ख्याता) अमूढदृष्टि कहलाती है (अपि) और जो (अन्यथा) असमीचीन श्रद्धान करनेवाली दृष्टि है वह (मूढदृष्टिता स्यात्) मूढदृष्टि कहलाती है ।

भावार्थः— देव, गुरु तथा धर्मके विषयमें यथार्थ श्रद्धान करनेवाली दृष्टिको अमूढ दृष्टि कहते है । और इससे विपरीत दृष्टिको मूढदृष्टि कहते है ।

सम्यक्त्वस्य गुणोऽप्येष नालं दोषाय लक्षितः ।
सम्यग्दृष्टिर्यतोऽवश्यं तथा स्यान्न तथेतरः ॥ ७७६ ॥

अन्वयार्थः— (**सम्यक्त्वस्य**) सम्यक्त्वका (**एषः**) यह (**लक्षितः गुण. अपि**) लक्षित किया हुआ अमूढदृष्टि गुणभी (**दोषाय अलं न**) दोषके लिये समर्थ नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**सम्यग्दृष्टिः**) सम्यग्दृष्टि जीव (**अवश्यं तथा स्यात्**) अवश्यही अमूढदृष्टि रखनेवाला होता है और (**इतरः**) मिथ्या दृष्टि जीव (**तथा न**) सम्यग्दृष्टिकी तरह अमूढदृष्टि रखनेवाला नहीं होता है ।

भावार्थः— जैसी, सम्यग्दृष्टि जीवकी देवादिकके विषयमें मूढता रहित दृष्टि रहती है वैसी मिथ्यादृष्टि जीवोंकी नहीं रहती है । इसलिए इसको भी (अमूढदृष्टिको भी) सम्यग्दर्शनका गुण माननेमें कोई दोष नहीं है ।

उपबृंहणनामाऽस्ति गुणः सम्यक्दृगात्मनः ।
लक्षणादात्मशक्तिनामवश्यं बृंहणादिह ॥ ७७७ ॥

अन्वयार्थः— (**इह**) इस लोकमें (**आत्मशक्तीनां अवश्य बृंहणात्**) आत्माकी शक्तियोंके अवश्य बढानेरूप (**लक्षणात्**) लक्षणसे (**सम्यग्दृगात्मनः**) सम्यग्दृष्टि जीवका (**उपबृंहणनामा गुणः अस्ति**) उपबृंहण नामकाभी एक गुण है ।

भावार्थः— जिस गुणके द्वारा आत्माकी शक्तियोंकी वृद्धि होती है उसको सम्यग्दृष्टिका उपबृंहण नामक गुण कहते है ।

आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम् ।
अर्थाद्दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावादस्खलितं हि तत ॥ ७७८ ॥

अन्वयार्थः— (**आत्मशुद्धेः अदौर्बल्यकरण च**) आत्माकी शुद्धिमें कभी दुर्बलता नहीं आने देनाही (**उपबृंहणं**) उपबृंहण अंग कहलाता है (**अर्थात 'यत्' दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावात् अस्खलितं हि**

१ मु. पं. में असंवलित पाठभी छपा है ।

तत् भवति) अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप अपने भावोंसे जो च्युत नहीं होता है वही उपबृंहण अंग कहलाता है।

भावार्थः— अपने शुद्धिको संभालना अर्थात् अपने रत्नत्रयसे च्युत नहीं होनेको उपबृंहण अग कहते है।

जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं प्रेरयन्निव।
तथापि यत्नवानत्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥ ७७९ ॥ ×

नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोपि प्रमादवान्।
निष्प्रमादतयाऽऽत्मानमाददानः समादरात् ॥ ७८० ॥

अन्वयार्थः— (निष्प्रमादतया समादरात् आत्मानं आददानः) प्रमाद रहितपनेसे आदर पूर्वक आत्माका ग्रहण करनेवाला (अयं) उपबृंहण अंगका धारी (शुद्धोपलब्धौ लेशतः अपि) अपने शुद्ध स्वरूपकी उपलब्धिमें लेशमात्रसे (प्रमादवान् न स्यात्) प्रमादी नहीं होता है।

भावार्थ.— उपबृंहण अंगके धारक सम्यग्दृष्टिको शुद्ध स्वरूपकी उपलब्धि होती है। इसलिए वह शुद्धोपलब्धिके विषयमें प्रमादी नहीं होता है।

यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यस्येदपि तद्बहिः।
सत्क्रियां कांचिदप्यर्थात्तत्तत्साध्योपयोगिनीम् ॥ ७८१ ॥

अन्वयार्थः— (यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थं) अथवा उपबृंहण अंगधारक शुद्धोपलब्धिके लिये (तत् बहिः अपि अभ्यस्येत) उन बाह्य शुभ क्रियाओंकाभी अभ्यास करता है (अर्थात) अर्थात (तत्तत्साध्योपयोगिनीं कांचित् सत्क्रियां अपि 'अभ्यस्येत') सम्यग्दृष्टिके लिये शुद्धोपयोगको साध्य करनेके लिये उपयोगमें आनेवाली किन्हीं शुभक्रियाओंका भी वह अभ्यास करे।

भावार्थः— अथवा शुद्धोपयोगकी प्राप्तिके लिये, शुद्धोपयोगकी सहायक, बाह्य शुभ क्रियाओंकाभी वह

× इस श्लोकका अन्वय और अर्थ परिशिष्टमें देखिये।

अभ्यास करे । सारांश यह है कि अशुभका त्याग करके सम्यग्दृष्टि शुभ क्रियाओंमें तत्पर होता है और शुभ क्रियाओंकोभी उपादेय मानकर शुद्ध परिणतिमें प्रवेश करता है । अतः शुद्धोपयोगकी बाधक शुभपरिणतिमें भी प्रकृतिका उपदेश ग्रन्थकारने किया है ।

रसेन्द्र सेवमानोऽपि कोऽपि पथ्यं नवाचरेत् ।
आत्मनोऽनुल्लाघतामुज्झन्नुज्झन्नुलाघतामपि ॥ ७८२ ॥

अन्वयार्थः— (रसेन्द्रं सेवमानः अपि कः अपि) पारेके भस्मको सेवन करनेवाला जो कोई एखादा व्यक्ति है वह यदि (पथ्यं न वा आचरेत्) पथ्य सेवन नहीं करे तो (आत्मनः अनुल्लाघतां उज्झन) पारेके सेवनसे रोगके नाशको करता हुआ वह (आत्मन उल्लाघतां अपि उज्झन् 'स्यात') अपने स्वात्माकाभी नाश करनेवाला होजावेगा ।

भावार्थः— जैसे पारेके सेवन करनेवालोंको पथ्याचरण आवश्यक है क्योंकि पारेको सेवन करके यदि पथ्यका पालन नहीं किया जावेगा तो बीमारीके साथ २ स्वास्थ्यका भी नाश अवश्यंभावी हैं वैसेही शुभ परिणतिकी साधक शुभ क्रियाओंका पालनाभी शुद्धोपलब्धिमें सहायक होनेसे आवश्यक है ।

यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपबृंहणम ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसंभवात् ॥ ७८३ ॥

अन्वयार्थः— (यद्वा) अथवा (उर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसंभवात्) ऊपर २ होनेवाली गुणश्रेणि निर्जरामें असंख्यात गुणी निर्जरा प्रति समय होती रहती है अतः (तत्र) सम्यग्दृष्टिके (आयासात् विना) विना किसी प्रयत्नकेही (उपबृंहणं सिद्ध) उपबृंहण अंग सिद्ध होजाता हैं ।

भावार्थः— अथवा सम्यग्दृष्टिके गुणश्रेणि निर्जराके समय निर्जरा होती रहती है । इसलिये अवश्यही उक्त उपबृंहणका लक्षण घट जाता है ।

अवश्यं भाविनी चात्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणां ।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥ ७८४ ॥

न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षतिः ।
वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धेर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥ ७८५ ॥

अन्वयार्थः— (**अत्र**) सम्यग्दृष्टिके गुणश्रेणी निर्जरा सम्बन्धी स्थानोंमें (**कृत्स्नकर्मणां निर्जरा** च) सम्पूर्ण कर्मोंकी निर्जराभी (**प्रति सूक्ष्मक्षणं यावत**) प्रति समय (**असंख्येयगुणक्रमात्**) असंख्यात गुणी क्रमसे (**अवश्यं भाविनी**) अवश्यही होती है इसलिए (**वै**) निश्चयसे (**न्यायात् एतत् आयात**) न्यायसे यह बात सिद्ध हुई कि (**यावतांशेन**) जितने अंशसे (**तत्क्षतिः**) कर्मोंका क्षय होता है उतने अंशसे (**शुद्धोपयोगस्य वृद्धिः**) शुद्धोपयोगकी वृद्धि होती है और (**वृद्धेः**) शुद्धोपयोगकी वृद्धि होनेपर (**पुनः पुनः**) उत्तरोत्तर (**वृद्धिः**) विशुद्धिकी वृद्धि होती जाती है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिके उन गुणश्रेणी निर्जराके स्थानोंमें प्रतिसमय सम्पूर्ण कर्मोंकी उत्तरोत्तर असख्यात गुणी निर्जरा नियमसे होती है । इसलिए जितने २ अंशोंमें कर्मोंकी निर्जरा होती जाती है उतने २ अंशोंमें उत्तरोत्तर विशुद्धिके बढनेसे उसके उपबृंहण गुणकी भी वृद्धि होती जाती है ।

यथा यथा विशुद्धेः स्याद्वृद्धिरन्तःप्रकाशिनी ।
तथा तथा हृषीकानामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥ ७८६ ॥

अन्वयार्थः— (**यथा यथा**) जैसे २ (**विशुद्धेः**) विशुद्धिकी (**अन्तःप्रकाशिनी**) अन्तरङ्गमें प्रकाशमान (**वृद्धिः स्यात्**) वृद्धि होती जाती है (**तथा तथा**) वैसे २ ही (**हृषीकाणां**) इन्द्रियोंके (**विषयेषु अपि**) विषयोंमेंभी (**उपेक्षा**) उपेक्षा वुद्धि होती जाती है ।

भावार्थः— उक्त क्रमके अनुसार जैसे २ स्वात्मामें लीनतारूप विशुद्धि चढती जाती है । वैसे २ ही इद्रियोंके विषयोंमेंभी परम उपेक्षा होती जाती है ।

ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् ।
किन्तु संवर्धयेन्नूनं प्रयत्नादपि दृष्टिमान् ॥ ७८७ ॥

अन्वयार्थः— (**ततः**) इस लिए (**सः**) वह (**दृष्टिमान्**) सम्यग्दृष्टि जीव (**भूम्नि क्रियाकाण्डे**)

बडे भारी क्रियाकाण्डमें भी (आत्मशक्ति) अपनी शक्तिको (न लोपयेत्) नहीं छिपावे (किन्तु) किंतु (नून) निश्चयसे (प्रयत्नात् अपि) पुरुषार्थसे भी अपनी शक्तिको (संवर्धयेत) बढावे।

भावार्थः— इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवको सत्क्रियाओंके करनेमें अपनी शक्तिको नहीं छिपाना चाहिये। किंतु प्रयत्नसे बढानाही चाहिये।

उपबृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः।
गणितो गणानामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥ ७८८ ॥

अन्वयार्थः— इस प्रकार (सद्दर्शनस्य) सम्यग्दर्शनका (यः) जो (उपबृंहणनामा अपि गुणः) उपबृंहण नामकाभी गुण है वहभी (गुणानां) गुणोंकी (गणनामध्ये गणितः) गणनामें गिना जाकर (अगुणाय न च) किसी प्रकारसे दोषाधायक नहीं कहाजासकता है।

भावार्थः— आत्माकी विशुद्धिको बढानेके कारण सम्यग्दृष्टिका उपबृंहण नामका गुणभी यदि सम्यक्त्वके गुणोंकी गणनामे गिना जाय तो वहभी किसी प्रकारसे दोषाधायक सिद्ध नहीं होसकता है।

सुस्थितीकरणं नाम गुणः सम्यग्दृगात्मनः।
धर्माच्युतस्य धर्मे तत् नाऽधर्मेऽधर्मणः क्षतेः॥ ७८९ ॥

अन्वयार्थः— (धर्मात च्युतस्य) धर्मसे च्युत व्यक्तिको (धर्मे सुस्थितीकरणं नाम सम्यग्दृगात्मनः गुणः) धर्ममें स्थिर करदेनाही सम्यग्दृष्टिका स्थितीकरण अंग–गुण कहलाता है किंतु (अधर्मणः क्षतेः अधर्मे तत न) अधर्मके नाश होनेसे जो किसीको फिरसे उसी अधर्ममें स्थिर करना है वह स्थितीकरण नहीं कहलाता है।

भावार्थ.— सुधर्म से च्युत व्यक्ति को समझाकर--उपदेश देकर फिर से जो सुधर्म में स्थिर करना है उसेही स्थितीकरण अंग कहते है। किन्तु कुधर्म से च्युत व्यक्तिको फिरसे उसी कुधर्ममें स्थिर करनेको स्थितीकरण नहीं कहते है।

न प्रमाणीकृतं वृद्धैर्धर्मायाधर्मसेवनम् ।
भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ॥ ७९० ॥

अन्वयार्थ — यद्यपि (केचित्) कोई २ (मन्दाः) अल्पज्ञानी (भाविधर्माशया) भविष्यमें धर्मकी आशासे (सावद्यवादिन.) अधर्म सेवनको धर्म मानते परन्तु (वृद्धैः) वृद्ध पुरुषोंने (धर्माय) धर्मके लिये (अधर्मसेवनम्) अधर्मका सेवन करना (न प्रमाणीकृतं) प्रमाणिक नहीं माना है ।

भावार्थः— यद्यपि कोई २ अल्पज्ञानी पुरुष आगामी कालमें धर्मकी आशासे सावद्य क्रियायोंको भी धर्म कहते है । परन्तु अनुभवी तत्वज्ञानियोंने अधर्मसेवनसे धर्म होता है इसको प्रमाणिक नहीं माना है ।

परम्परोति पक्षस्य नावकाशोऽत्र लेशतः ।
मूर्खादन्यत्र नो मोहाच्छीतार्थं वन्हिमाविशेत ॥ ७९१ ॥

अन्वयार्थ— (परम्परा इति पक्षस्य) अधर्म सेवनके परम्परासे धर्मका कारण होता है इस पक्षको भी (अत्र) इस धर्मके विपयमें (लेशत· अवकाशः न) लेशमात्र अवकाश नहीं है अर्थात् यह पक्षभी किसी तरह न्यायसङ्गत नहीं है क्योंकि (मूर्खात् अन्यत्र) अज्ञानीको छोडकर कोईभी प्राणी (मोहात्) मोहके कारण (शीतार्थं) शीतके लिये (वन्हि न आविशेत) अग्निमें प्रवेश नहीं करेगा ?

भावार्थः— यदि कदाचित कोई यह कहे कि परम्परासे अधर्मके सेवनसे धर्मका सेवन होसकता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है । कारण कि जैसे शांतिके लिए अग्निमें प्रवेश नहीं किया जाता है। वैसेही धर्मके लिए अधर्मका सेवनभी नहीं किया जाता है ।

नैतद्धर्मस्य प्राग्रूपं प्रागधर्मस्य सेवनम् ।
व्याप्तेरपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥ ७९२ ॥

अन्वयार्थ.— (प्राक् अधर्मस्य सेवन) पहले अधर्मका सेवन करना (एतत्) यह (धर्मस्य प्राक् रूपं न) धर्मका पूर्वरूप नहीं होसकता है क्योंकि ऐसा माननेपर (व्याप्तेः अपक्षधर्मत्वात्)

पक्षधर्मता न रहनेसे व्याप्ति नहीं बन सकती है (वा) तथा (हेतोः व्यभिचारतः) उसकी सिद्धिके लिए जो हेतु दिया जाता है वह व्यभिचारी है।

प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः ।
धर्मो वा स्यादधर्मो वाऽप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥ ७९३ ॥

अन्वयार्थः— (प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावत्) प्रत्येक क्षणमें (कर्मोदयात् हेतोः) कर्मोदयके कारण (स्वत) स्वयं (धर्मः अपि वा अधर्मः वा) धर्म और अधर्म ये दोनोंही होते रहते है (एषः सर्वत्र निश्चयः) यह सर्वत्र निश्चित है ।

भावार्थः— धर्म और अधर्मके विषयमें यह सिद्धान्त निश्चित है कि जबतक इस जीवके ससार अवस्था हैं तबतक स्वयमेवही प्रतिसमय शुभाशुभ कर्मोंके उदयानुसार धर्म तथा अधर्म होते रहते है । इसलिये अधर्मसेवन धर्म-प्राप्तिका पूर्वरूप होसकता है यह नहीं कहना चाहिये । यहापर कषायोंके तीव्रोदयसे–संक्लेशसे होनेवाली अशुभ क्रियाको अधर्म कहा है । और कषायोंके मन्द उदयसे–विशुद्धिसे होनेवाली शुभ क्रियाको धर्म कहा है ।

तत्स्थितीकरणं द्वेधाऽध्यक्षात्स्वापरभेदतः ।
स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात्परत्वे तु परस्य तत् ॥ ७९४ ॥

अन्वयार्थः— (अध्यक्षात्) प्रत्यक्षसे (स्वापरभेदतः) स्व और परके भेदसे (तत्) वह (स्थितीकरणं) स्थितीकरण गुण (द्वेधा) दोप्रकार है (अर्थात्) अर्थात् (स्वात्मतत्त्वे स्वात्मनः) अपनी आत्मामें आत्माको स्थित करना स्वस्थितीकरण है (तु) तथा जो (परस्य परत्वे) दूसरेकी आत्मामें उसकी आत्माको स्थित करना है (तत्) वह परस्थितीकरण है ।

भावार्थः— वह स्थितीकरण स्व और परके भेदसे दो प्रकारका है । उनमेंसे जो अपनी भूलको अपने आप परिणामोंकी विशुद्धिसे सुधारता है उसको स्वस्थितीकरण कहते है । तथा अपनेसे भिन्न व्यक्तिको सम्यग्दर्शन व चारित्रसे च्युत देखकर जो उसे उपदेश देकरके शंका समाधान पूर्वक फिरसे उसे सम्यग्दर्शन व चारित्रमें स्थिर करदेना है उसको परस्थितीकरण कहते है ।

स्वस्थितीकरणका स्वरूप ।

तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः ।
भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥ ७९५ ॥
अयं भावः क्वचिद्दैवाद्दर्शनात्स पतत्यधः ।
व्रजत्यूर्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥ ७९६ ॥
अथ क्वचिद्यथा हेतुदर्शनादपतन्नपि ।
भावशुद्धिमधोऽधोंशैरूर्ध्वमूर्ध्वं प्ररोहति ॥ ७९७ ॥
क्वचिद्वाहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुंचति ।
न मुंचति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराश्रयेत् ॥ ७९८ ॥
यद्वा बाहिः क्रियाचारे यथावस्थं स्थितेपि च ।
कदाचिद्दीप्यमानोन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्तते ॥ ७९९ ॥
नासंभवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः ।
अस्ति तरतमस्वांशैर्गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥ ८०० ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) स्थितीकरणके उन दोनों भेदोमेंसे जो (मोहोदयोद्रेकात्) मोहके उदयकी उग्रतासे (आत्मस्थितेः) अपनी स्थितिसे (च्युतस्य स्वस्य चितः , च्युत हुए अपनी आत्माको (भूयः) फिरसे (आत्मनि) अपनी आत्मामें (संस्थापनं) स्थापित करना है वह (स्थितीकरणं) स्थितीकरण है ।

(अयं भावः) सारांश यह है कि (क्वचित्) कहीं २ पर (दैवात्) कर्मोदयसे (सः) वह सम्यग्दृष्टि जीव (दर्शनात् अधः पतति) सम्यग्दर्शनसे नीचे गिर जाता है (पुनः) और कभी (दैवात्) मोहके उपशमादिकसे (दर्शनं सम्यक् आरुह्य) सम्यग्दर्शनको पाकर (ऊर्ध्वं व्रजति) ऊपर चढ जाता है ।

(अथ) अथवा (क्वचित) कहीं २ पर (यथा हेतुदर्शनात्) जैसी कारण सामग्री मिलती जाती है उसके अनुसार दर्शनसे (अधोऽधोंऽशैः) नीचे २ के अंशोंके द्वारा (भावशुद्धिं) भावशुद्धिसे (अपतन् अपि) च्युत न होकरकेभी (ऊर्ध्वं ऊर्ध्वं प्ररोहति) केवल ऊपर रही चढता जाता है ।

(च) और (क्वचित) कहीं २ पर (बहिः) बहिरंग (स्वीकृतं शुभाचारं अपि) स्वीकृत शुभाचारोंकोभी (मुञ्चति) छोड देता है तथा (वै) निश्चयसे (मुक्त्वा) शुभाचारोंको छोडकरके (पुनः आश्रयेत्) फिरसे उनको ग्रहण करलेता है ।

(यद्वा) अथवा (बहि क्रियाचारे) बाह्य क्रियाचारके (यथावस्थं स्थिते च अपि) तदवस्थ स्थित रहनेपरभी (कदाचित्) कभी २ (अन्तर्भावैः दीप्यमानः भूत्वा च) अन्तरंग भावोंसे देदीप्यमान होकरके (वर्तते) रहता है ।

(इदं असंभवं न) यह कथन असंभव नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (इह) इन सम्यग्द-ष्टिकी अवस्थाओंमें जो (चारित्रावरणोदयः) चारित्रमोहनीय कर्मका उदय है उसके (तरतमस्वांशैः) तरतमरूप अंशोंसे वह (निम्नोन्नतां गच्छन् अस्ति) हीनाधिक अवस्थाको प्राप्त होता रहता है ।

भावार्थः— उक्त कथनका खुलासा इस प्रकार है कि मोहके उदयसे जो विकार होते है उनको अपनी आत्मासे हटाकर फिरसे अपनी आत्माके गुणोंमें अपनी आत्माके स्थित करनेको स्वास्थतीकरण कहते है ।

साराश यह है कि सम्यग्दष्टि जीव स्वयंही दैवयोगसे मिथ्यात्वका उदय आनेसे अपने सम्यक्त्वसे च्युत हो जाता है । और फिर स्वयं दैवयोगसे सम्यक्त्वको प्राप्त करके उन्नत अवस्थाको प्राप्त होजाता है ।

इस प्रकार जो पतनपूर्वक फिरसे स्वयं सम्यक्त्वम स्थित होता है उसेभी स्वस्थितीकरण कहते हैं ।

अथवा सम्यक्त्व तथा चारित्रसे च्युत न होनेके साथ २ जो उन दोनोंके विषयमें उच्चैस्त्वको प्राप्त करना है उसकोभी स्वास्थितीकरण कहते है ।

अथवा वारंवार जो विशुद्धि और संक्लेशकी वृद्धिसे शुभाचारोंका ग्रहण और त्याग होता रहता है उनमेंसे प्रमादवश जिनका त्याग करदिया था ऐसे शुभाचारोंके फिरसे ग्रहण करनेको स्वास्थितीकरण कहते है ।

इसतरह जो सम्यग्दृष्टिका, चारित्रसे च्युत होकर फिरसे स्वयं उसी चारित्रमें स्थिर होना बताया है वह असंभव नहीं है। कारण कि चारित्रमोहके उदयके तारतम्यसे उसके चारित्रगुणमेंभी सदैव हिनाधिकपना होता रहता है।

अत्राभिप्रेतमेवैतत्स्वास्थितीकरणं स्वतः।
न्यायात्कुतश्चिदत्रापि हेतुस्तत्रानवस्थितिः ॥ ८०१ ॥

अन्वयार्थः—(अत्र) इस स्वस्थितीकरणके विषयमें (एतत् एव अभिप्रेतं) इतनाही अभिप्राय है कि (स्वस्थितीकरण स्वतः) स्वस्थितीकरण स्वयंमेवही होता है, (अत्रापि कुतश्चित् न्यायात् हेतुः) यदि स्वस्थितीकरणके विषयमें भी न्यायानुसार कोई न कोई कारण होता है ऐसा मानेंगे तो (तत्र अनवस्थितिः) उस कारणके लिए कारण और उस कारणके लिएभी कारणकी कल्पना करते जानेसे अनवस्था नामके दोषका प्रसङ्ग आवेगा। इसलिए स्वस्थितीकरण स्वतःही होता है यही मानना ठीक है।

परस्थितीकरणका स्वरूप।

सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात्।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥ ८०२ ॥

अन्वयार्थ.— (तत्र) उन दोनों स्थितीकरणोंमें (स्वपदात्) अपने पदसे (भ्रष्टानां परेषा) भ्र[ष्ट] हुए अन्य जीवोंको जो (सदनुग्रहात्) उत्तम दया भावसे (तत्पदे) उनके पदमें (पुनः) फिरसे (स्थापनं) स्थापित करना है वह (सुस्थितीकरण नाम) परस्थितीकरण कहलाता है।

भावार्थ.— अपने पदसे भ्रष्ट हुए अन्य मुनि अथवा श्रावकोंको जो धार्मिक भावसे उनके पदमें फिरसे स्थिर करना है उसको परस्थितीकरण कहते है।

धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे।
नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ॥ ८०४ ॥

अन्वयार्थ — (धर्मादेशोपदेशाभ्यां) धर्मके आदेश और उपदेशके द्वाराही (परे) दूसरे जीवोंपर (अनुग्रहः कर्तव्यः) अनुग्रह करना चाहिये किंतु (आत्मव्रतं विहाय) अपने व्रतको छोडकरके

(पररक्षणे तत्परः न अस्तु) दूसरे जीवोंकी रक्षा करनेमें तत्पर नहीं होना चाहिये।

भावार्थ — आत्मव्रतको नहीं छोडकरही धर्मके आदेश और उपदेशके द्वारा परस्थितीकरण करना चाहिये। किंतु आत्मव्रतको छोडकर परस्थितीकरण नहीं करना चाहिये।

उक्त च।

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिदपरहिदादो आदहिदंसुट्ठुकादव्वं ॥

अन्वयार्थः— (आदहिदं कादव्वं) पहले आत्महित करना चाहिये और (जइ सक्कइ) यदि शक्य हो तो (परहिदं च कादव्वं) परहितभी करना चाहिये किंतु (आदहिदपरहिदादो) आत्महित तथा परहित इन दोनोंमेंसे (आदहिद सुट्ठुकादव्वं) आत्महितही भलेप्रकार करना चाहिये।

भावार्थः— आगममें कहा है कि सदैव आत्मकल्याणही करना चाहिये। और आत्मकल्याण करनेके साथ २ यदि शक्य हो तो परहितभी करना चाहिये। तथा यदि ऐसा समय उपस्थित हो कि दोनों हितोंमेंसे केवल कोई एक हितही बनसकता है तो ऐसी परिस्थितिमें आत्महितही करना चाहिये कारण कि परहितभी अपने हित के लिये किया जाता है। इसलिये जिस परहितके द्वारा अपने सम्यक्त्व तथा चारित्रमें बाधा आती हो ऐसे परहितको भी नहीं करना चाहिये।

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः।
निर्जराया गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः ॥ ८०५ ॥ १५८०

अन्वयार्थः— (गुणश्रेणौ निर्जरायां प्रसिद्धः) गुणश्रेणी निर्जरामें प्रसिद्ध (सुदृगात्मनः) सम्यग्दृष्टिका (सुस्थितीकरणं अपि गुणः) स्थितीकरण नामका भी गुण (अत्र) इस प्रकरणमें (दिङ्मात्रतः उक्तः) संक्षेपसे कहा।

भावार्थः— गुणश्रेणी निर्जराके लिए कारणभूत जो सम्यग्दृष्टिका स्थितीकरण नामका गुण है उसका भी यहांपर प्रकरणानुसार संक्षेपसे वर्णन किया।

अब आगे वात्सल्य नाम के गुण का लक्षणपूर्वक वर्णन करते हैं।

वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु।
संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥ ८०६ ॥

अन्वयार्थः— (स्वामिकार्ये सुभृत्यवत्) स्वामिके कार्यमें उत्तम सेवककी तरह (सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु) सिद्ध प्रतिमा, जिनबिंब, जिनमंदिर (चतुर्विधे संघे) चार प्रकारके संघमें और (शास्त्रे) शास्त्रमें जो (दासत्व) दासत्वभाव रखना है वही (वात्सल्य नाम) सम्यग्दृष्टिका वात्सल्य नामका अंग– गुण है।

भावार्थः— जैसे कोई योग्य सेवक अपने स्वामीकी सेवा करता है। वैसेही अर्हंत व सिद्धकी प्रतिमाओंकी, मंदिरकी, चार प्रकारके संघकी, और शास्त्रकी भक्तिपूर्वक सेवा करनेको वात्सल्य अंग कहते है।

अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान्।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥ ८०७ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात) अर्थात् (सः दृष्टिमान) वह वात्सल्य गुणका धारी सम्यग्दृष्टि जीव (उद्दिष्टेषु) उक्त सिद्ध प्रतिमा आदिमेंसे (अन्यतमस्य) किसी एकके ऊपर (घोरोपसर्गेषु सत्सु) घोर उपसर्ग के आनेपर (उच्चैः) अच्छी तरह से (तदत्यये) उसके दूर करनेके लिये (तत्परः स्यात्) तत्पर रहता है।

भावार्थः— उक्त कथनका यह अभिप्राय है कि जिनबिंब, जिनमंदिर, चतुर्विध संघ व शास्त्रके ऊपर उपसर्गादिकके उपस्थित होनेपर वह वात्सल्य अंगका पालन करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव उसके दूर करनेके लिये पूरा प्रयत्न करता है।

यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकं।
तावद्द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥ ८०८ ॥

---

१ ‘ तद्वान् ’ ऐसा पाठ हो तो बहुत ठीक अर्थ होसकता है—जैसे कि ‘ तद्वान् ’ अर्थात जो वात्सल्य गुणवाला है वह अपने सामर्थ्यके अनुसार व अपने पास मंत्र तलवार तथा धन है तबतक जिनबिंबादिकके उपसर्गको नहीं सह सकता है।

अन्वयार्थः— (**यद्वा**) अथवा (**आत्मसामर्थ्यं नहि**) अपनेमें सामर्थ्य तो नहीं है किन्तु (**यावत् मन्त्रासिकोशकं**) जबतक मन्त्र, तलवार और धन है (**तावत्**) तबतक (**सः**) वह सम्यग्दृष्टि (**तद्बाधां**) जिनबिम्बादिकके उपसर्गको (**द्रष्टुं च श्रोतु न च सहते**) देख तथा सुन नहीं सकता है।

भावार्थ— अपनी सामर्थ्य और मन्त्रादिक शक्तिके सद्भावमें वात्सल्य गुणवाला सम्यग्दृष्टि जिनबिम्बादिकके उपसर्ग को देख व सुन नहीं सकता है।

तद् द्विधाऽथच वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात् ।
प्रधानं स्वात्मसम्बन्धि गुणो यावत्परात्मनि ॥ ८०९ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ**) तथा (**तत् वात्सल्य च**) वह वात्सल्य अंगभी (**स्वपर गोचरात् भेदात्**) स्व और परके विषयके भेदसे (**द्विधा**) दो प्रकारका है उनमेंसे जो (**स्वात्मसम्बन्धि**) अपनी आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाला वात्सल्य है वह (**प्रधानं**) प्रधान है तथा (**यावत् परात्मनि**) सम्पूर्ण परआत्माओंसे सम्बन्ध रखनेवाला जो वात्सल्य है वह (**गुणः**) गौण है।

भावार्थ— स्थितीकरण अंग के समान वात्सल्य अंग भी स्व और परके विषयके भेदसे दो प्रकारका है। उन दोनोंमेंसे स्वात्मसम्बन्धि वात्सल्य प्रधान है। तथा परात्मसम्बन्धी वात्सल्य गौण है।

परीषहोपसर्गाद्यैः पीडितस्यापि कुत्रचित् ।
न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिमम् ॥ ८१० ॥

अन्वयार्थः— (**परीषहोपसर्गाद्यैः**) परीषह और उपसर्गोंके द्वारा (**पीडितस्य अपि**) पीडित होते हुए भी जो (**कुत्रचित् शुभाचारे ज्ञाने ध्याने**) किसी शुभाचार, ज्ञान तथा ध्यानमें (**शैथिल्यं न**) शिथिलता नहीं आने देना है (**तत् आदिमं**) वही पहला स्वात्मसम्बन्धी वात्सल्य है।

भावार्थः— अपने ऊपर घोर उपसर्ग और परीषहोंके आनेपरभी जो अपने किसीभी शुभाचार, ज्ञान तथा ध्यानमें किसी प्रकारकी शिथिलताको नहीं आने देना है वही स्ववात्सल्य कहलाता है अर्थात् वास्तविक शुभाचार,

ज्ञान और ध्यानमें जो प्रेम है वही स्ववात्सल्य है।

इतरत्प्रागिह ख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम्।
शुद्धज्ञानबलादेव यतो बाधापकर्षणम् ॥ ८११ ॥

अन्वयार्थ.— (इतरत्) दूसरा परवात्सल्य जो (इह) इस ग्रंथमें (प्राक् ख्यातं) पहले कहागया है वहभी (दृष्टिमतः स्फुटं गुणः) सम्यग्दृष्टिका प्रकट गुण है (यतः) क्योंकि (शुद्धज्ञानबलादेव) शुद्ध ज्ञानके बलसेही (बाधापकर्षणं) बाधा दूर की जाती है।

भावार्थः— दूसरे सधर्मियोंके ऊपर घोर उपसर्ग तथा परीषहोंके उपस्थित होनेपर जो उनकी बाधाका दूर करना है उसे परवात्सल्य कहते हैं।

इस प्रकार वात्सल्य अंगका साधारण रीतिसे वर्णन किया। इसका विशेष कथन पूर्वापर सम्बन्ध जोडकर पूर्व कथनसे समझलेना चाहिये। अर्थात् अपने सम्यक्त्व और व्रत को छोडकर परवात्सल्य नहीं करना चाहिये। कारण कि केवल शुद्ध ज्ञानसेही स्व तथा परकी बाधा दूर होती है।

प्रभावनांगसंज्ञोऽस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै।
उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम् ॥ ८१२ ॥

अन्वयार्थ.— (उत्कर्षकरणं नाम) धर्मका उत्कर्ष करना जो प्रभावना अंगका लक्षण है उस (लक्षणात् अपि लक्षितं) अपने लक्षणसे सिद्ध (प्रभावना अंगसंज्ञः) प्रभावना नामक अंगभी (वै) निश्चयसे (सद्दर्शनस्य गुणः अस्ति) सम्यग्दर्शनका एक गुण है।

भावार्थः— धर्मके उत्कर्ष करनेका नाम प्रभावना है। और यह प्रभावना अंगभी वात्सल्य अंग के समान सम्यग्दर्शनका एक गुण है।

अथातद्धर्मणः पक्षे नावद्यस्यामनागपि।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्माद्धर्मोत्कर्षपोषणात् ॥ ८१३ ॥

अन्वयार्थः— (अथ अतद्धर्मणः पक्षे) जो आत्माका धर्म नही है उसके पक्षमें (अवद्यस्य)

अवद्य मार्गका—पाप मार्गका (मनाक् अपि न) किंचितभी उत्कर्ष नहीं करना चाहिये (यस्मात्) क्योंकि (अधर्मोत्कर्षपोषणात्) अधर्मकी उत्कर्षतामें पुष्टि करनेसे (धर्मपक्षक्षतिः) धर्मपक्षकी क्षति होती है।

भावार्थः— जितने अंशमें अधर्मकी पुष्टि होती है उतने अंशमें धर्मकी क्षति होती है। इसलिए अधर्मके पक्षमें सावद्य कार्योंकी किंचित्भी पुष्टि नहीं करना चाहिये।

पूर्ववत्सोऽपि द्विविधः स्वान्यात्मभेदतः पुनः।
तत्राद्योवरमादेयः समादेयः परोऽप्यतः ॥ ८१४ ॥

अन्वयार्थः— (सः अपि पुनः) वह प्रभावना अंगभी (पूर्ववत्) वात्सल्यकी तरह (स्वान्यात्मभेदतः) स्व और परकी भेदसे (द्विविधः) दो प्रकारका है (तत्र) उनमेंसे (आद्यः) पहला (वर आदेयः) प्रधान रीतिसे आदेय है (अपि) तथा (अतः परः) इससे भिन्न जो परप्रभावना है वह (समादेयः) गौणरूपसे उपादेय है।

भावार्थः— वात्सल्य अंगके समान प्रभावना अंगभी स्व और परके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे स्वप्रभावना प्रधानरूपसे उपादेय है। तथा परप्रभावना गौणरूपसे उपादेय है।

उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादाधिकीकरणं वृषे।
असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषाय तत्क्वचित ॥ ८१५ ॥

अन्वयार्थः— (असत्सु प्रत्यनीकेषु) प्रतिबंधक कारणोंके रहनेपर (यत) जो (वृषे) धर्ममें (बलाधिकात् अधिकीकरणं) बलपूर्वक अधिकता की जाती है वह (उत्कर्षः) धर्मका उत्कर्ष कहलाता है और (तत् क्वचित् दोषाय अलं न) वह प्रतिबन्धकाभावमें बलपूर्वक धर्मकी अधिकताका करना किसीभी विषयमें दोषाधायक नहीं है।

भावार्थः— प्रतिबन्धक कारणकी उपस्थितिमें बलपूर्वक किया हुआ प्रयोग असफल होता है। इसलिए प्रतिबन्धक कारण सामग्रीके अभावमें जो बलपूर्वक धर्मकी अधिकता की जाती है उसे उत्कर्ष कहते हैं।

इस प्रकार अपने और परके सम्यग्दर्शनरूप धर्मके उत्कर्षकी जो मिथ्यात्वके अभावमें वृद्धि करना है उसे

स्वपरप्रभावना कहते है ।

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः ।
जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥ ८१६ ॥

अन्वयार्थः— (कश्चित् जीवः) कोई जीव (मोहारातिक्षतेः) मोहरूपी शत्रुके नाश होनेसे (शुद्धः) शुद्ध और कोई जीव (शुद्धात्) शुद्धसे (शुद्धतरः) शुद्धतर तथा कोई जीव (ततः) उस शुद्धतरसेभी (शुद्धतमः) शुद्धतम होजाता है (इति) इस तरह उत्तरोत्तर शुद्धताका प्रकर्षही (आत्मप्रभावना अस्ति) आत्मप्रभावना कहलाती है ।

भावार्थः— मोहरूपी शत्रुके अभावमें जो उत्तरोत्तर तरतमरूपसे शुद्धता की वृद्धि होती है उसको आत्मप्रभावना कहते हैं ।

नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किंतु नूनं स्वभावतः ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ यतः सिद्धिर्यथोत्तरम् ॥ ८१७ ॥

अन्वयार्थः— (नूनं) निश्चयसे (इदं पौरुषायत्त न स्यात्) तरतमरूपसे होनेवाली शुद्धता का यह उत्कर्षपना पौरुषाधीन नहीं होता है (किंतु) किंतु (स्वभावतः) स्वभावसेही सम्पन्न होता है (यतः) कारण कि (यथोत्तरं ऊर्ध्वं ऊर्ध्वं गुणश्रेणौ सिद्धिः) उत्तरोत्तर जो गुणश्रेणि निर्जरा होती है उसमें स्वयमेव उस शुद्धताकी तरतमरूपसे वृद्धि होती जाती है ।

भावार्थः— यह आत्मप्रभावना पुरुषार्थ के आधीन नहीं है । किंतु स्वभावसेही है । क्योंकि जब प्रतिपक्षी कर्मोंका अभाव होजाता है तब जो गुणश्रेणी निर्जरा होती है उसमें स्वयमेव उत्तरोत्तर शुद्धताकी तरतमरूपसे वृद्धि होती जाती है अर्थात इस जीवकी शुद्धताका उत्कर्ष होता जाता है ।

बाह्यः प्रभावनांगोऽस्ति विद्यामंत्रादिभिर्बलैः ।
तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥ ८१८ ॥

अन्वयार्थः— (विद्यामंत्रादिभिः) विद्या और मंत्रोंके द्वारा (बलैः) बलके द्वारा तथा (तपोदानादिभिः) तप और दानके द्वारा जो (जैनधर्मोत्कर्षः) जैनधर्मका उत्कर्ष किया जाता है वह

(बाह्यः प्रभावनांगः अस्ति) बाह्य प्रभावना अग कहलाता है तथा यहभी तत्वज्ञानियोंको (विधीयतां) अवश्य करना चाहिये।

भावार्थ — जो विद्या और मंत्रादिकोंके बलसे तथा तप और दानके द्वारा धर्मका उद्योत किया जाता है उसे बाह्य प्रभावना अंग कहते है। तथा बाह्य प्रभावना अंगकोभी करना चाहिये।

परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोकर्षशालिनाम् ।
चमत्कारकरं किंचित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥ ८१९ ॥

अन्वयार्थः— (मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनां परेषां) मिथ्यात्वके उत्कर्षको बढानेवाले मिथ्यादृष्टियोंका (अपकर्षाय) अपकर्ष करनेके लिए ('यत' किंचित् चमत्कारं 'अस्ति') जो कुछ चमत्कार दिखानेवाली क्रियाएँ है (तत् महात्मभिः विधेय) वे भी महात्माओंको करना चाहिये।

भावार्थ — मिथ्यात्वके उत्कर्ष को बढानेवाले पाखडी मिथ्यादृष्टियोंके महत्वको गिरानेके लिए महात्माओंको कुछ न कुछ चमत्कारिक कार्यभी करना चाहिये।

उक्त प्रभावनांगोऽपि गुणः सद्दर्शनान्वितः ।
येन सपूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥ ८२० ॥

अन्वयार्थः— (सद्दर्शनान्वितः) सम्यक्दर्शन सहित (उक्तः प्रभावनांगोऽपि) कहा हुवा प्रभावनांगभी (गुणः) सम्यग्दर्शनका वह गुण है (येन) कि जिस सच्चे प्रभावनांगसे (दर्शनस्य गुणाष्टकं) सम्यग्दर्शनके निःशंकितादि आठ गुण-अंग (संपूर्णतां याति) पूर्णताको प्राप्त होते हैं।

भावार्थः— उक्त यह प्रभावना अंग तबही सम्यक्दर्शनका अंग होसकता है जब कि वह सम्यग्दर्शन सहित हो तथा जिस सम्यग्दृष्टीके यह प्रभावना अंग पाया जाता है उसके इसी प्रभावनाके अविनाभावी शेष अंगभी पूर्ण रीतिसे पाये जाते है। अत. यहा प्रभावना अगसेही आठो अंग पूर्णताको प्राप्त होते है ऐसा कहा है।

इत्यादयो गुणाश्चान्ये विद्यन्ते सद्दगात्मनः ।
अलं चिंततया तेषामुच्यते यद्विवक्षितम् ॥ ८२१ ॥

अन्वयार्थः— (सद्दृगात्मनः) सम्यग्दृष्टिके (इत्यादयः अन्ये च गुणाः विद्यन्ते) इन निःशं-
कितादिक गुणोंकी तरह और भी अनेक गुण होते है परन्तु (तेषां चिन्तनया अलं) उनके विषयमें विचार
करनेसे कुछ अधिक फायदा नहीं है (अतः) अब (यद्विवक्षितम्) जो विवक्षित है 'तद्' (उच्यते)
नहीं कहा जाता है।

भावार्थः— केवल ज्ञानचेतनाही सम्यग्दर्शनका लक्षण है। प्रशमादि तथा निःशंकितादिक तो उसज्ञान-
चेतनाके अविनाभाव सम्बन्धसे सम्यग्दर्शनके लक्षण होते है अन्यथा नहीं। तथा जैसे ज्ञानचेतना के अविनाभावसे
प्रशमादिक सम्यग्दर्शनके लक्षण होसकते है। वैसेही ज्ञानचेतनाके साथ होनेवाले अन्यभी गुण सम्यग्दर्शनके लक्षण होस-
कते है। इस लिये यहा अब उन इतर गुणोंके विषयमें ऊहापोह करना व्यर्थ है। अतः मूलभूत उस ज्ञानचेतना के
विषयमेंही ऊहापोह करते है।

प्रकृतं तद्यथास्ति स्वं स्वरूपं चेतनाऽऽत्मनः।
सा त्रिधाऽप्युपादेया सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ८२२ ॥

अन्वयार्थः— (प्रकृतं तद्यथा) प्रकृत यह है कि (चेतना) चेतना (आत्मन) आत्माका
(स्वं स्वरूपं अस्ति) निज स्वरूप है (सा त्रिधा अपि) और वह तीन प्रकारकी है तोभी (अत्र)
सम्यग्दर्शनके लक्षण करते समय (सद्दृष्टेः) सम्यग्दृष्टिको (ज्ञानचेतना उपादेया) एक ज्ञानचेतनाही
उपादेय होती है।

भावार्थः— कर्म, कर्मफल तथा ज्ञानचेतना इस तरह चेतनाके तीन प्रकार है। इसका निरूपण प्रथम
किया जाचुका है। उन तीनों चेतनाओंमेंसे सम्यग्दृष्टिके उपादेय केवल ज्ञानचेतनाही है अन्य दो नहीं हैं। सारांश यह
है कि यद्यपि कदाचित् कर्म तथा कर्मफल चेतनारूपभी सम्यग्दृष्टिके ज्ञानकी परिणति पायी जाती है तोभी उसके
वे दो चेतनायें उपादेय नहीं होती है, केवल एक ज्ञानचेतनाही उपादेय होती है।

श्रद्धानादि गुणाश्चैते बाह्योल्लेखच्छलादिह।
अर्थात्सद्दर्शनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना ॥ ८२३ ॥

अन्वयार्थः— यद्यपि (इह) यहापर (बाह्योल्लेखच्छलात) केवल बाह्य स्वरूपके उलेख करनेके व्याजसे (एते श्रद्धानादि गुणाः च) यह श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, निःशंकितादि तथा प्रशम संवेगादिक गुणभी सम्यग्दृष्टिके गुण बताए हैं तथापि (अर्थात्) वास्तवमें (सद्दर्शनस्य) सम्यग्दर्शनका (ज्ञानचेतना) ज्ञानचेतनाही (एकं लक्षणं) एक लक्षण है ।

भावार्थः— वास्तवमें ज्ञानचेतनाही सम्यग्दर्शनका अंतरग लक्षण है । और जिन बाह्य चिन्होंमें सम्यग्दृष्टिकी पहिचान की जाती है वे बाह्य चिन्ह सम्यग्दर्शनके बाह्य लक्षण है । बहुधा वे बाह्य चिन्ह अंतरंग लक्षणके अविनाभावी होते है इसलिए वे सम्यग्दर्शनके बाह्य लक्षण कहे जाते है । किंतु किसी २ भद्र मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी श्रावक, वा द्रव्यलिंगी मुनिकेभी सम्यक्त्वके न होते हुए भी ये बाह्य लक्षण संभव होसकते हैं । इसलिये इन्हे सम्यक् दर्शनका बाह्य लक्षण कहा है । अतः अन्तरंग लक्षण नहीं कहा है । यहा आत्मभूत लक्षणकोही अन्तरंग लक्षण समझना चाहिये क्योंकि ज्ञानचेतना सम्यक्दर्शनके होनेपरही होती हैं विना सम्यक्त्वके नहीं होती है अतः यह सम्यक्दर्शनका अन्तरंग लक्षण है ।

ननु रूढिरिहाप्यस्ति योगाद्वा लोकतोऽथवा ।
तत्सम्यक्त्वं द्विधाप्यर्थं निश्चयाद्व्यवहारतः ॥ ८२४ ॥

अन्वयार्थ— (ननु) शङ्काकारका कहना है कि (इह) यहापर (योगात् वा लोकत रूढिः अपि अस्ति) योगसे व लोकके व्यवहारवशभी ऐसी रूढि है कि (तत्सम्यक्त्वं अपि) वह सम्यग्दर्शनभी (अर्थनिश्चयात् व्यवहारतः द्विधा) अर्थनिश्चय-निश्चय और व्यवहार के भेदसे दोप्रकारका है ।

व्यावहारिकं सम्यक्त्वं सरागं सविकल्पकम ।
निश्चयं वीतरागंतु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम ॥ ८२५ ॥

अन्वयार्थः— उनमेंसे (सविकल्पक) विकल्पसहित तथा (सरागं) राग सहित सम्यक्त्व (व्यावहारिकं) व्यवहारसम्यक्त्व है (तु) और (निर्विकल्पकं) विकल्परहित तथा (वीतरागं) राग रहित सम्यक्त्व (निश्चय सम्यक्त्वं) निश्चय सम्यक्त्व है ।

भावार्थः— शकाकारका कहना है कि लोकरूढिसे तथा अन्वर्थसे भी इस लोकमें वह सम्यग्दर्शन, निश्चय और व्यवहार इस भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे जो सम्यक्त्व, सराग और सविकल्पक होता है वह व्यवहार-सम्यक्त्व है। और जो वीतराग तथा निर्विकल्पक होता है वह सम्यक्त्व, निश्चय-सम्यक्त्व है।

इत्यस्ति वासनोन्मेषः केषांचिन्मोहशालिनाम् ।
तन्मते वीतरागस्य सद्दृष्टे र्ज्ञानचेतना ॥ ८२६ ॥

अन्वयार्थः— (केषांचित्) किन्हीं (मोहशालिनां) मोहशाली पुरुषोंको (इति) इस प्रकारका (वासनोन्मेषः) यह मोहकी वासनाके संस्कारका फल है कि जिसके कारण (तन्मते) उनकी समझमें (वीतरागस्य सद्दृष्टे) वीतराग सम्यग्दृष्टिकेही (ज्ञानचेतना) ज्ञान-चेतना होती है—सराग सम्यग्दृष्टिके नहीं।

तै स्सम्यक्त्वं द्विधा कृत्वा स्वामिभेदो द्विधाकृतः ।
एकः कश्चित्सरागोस्ति वीतरागश्च कश्चन ॥ ८२७ ॥

अन्वयार्थ.— (तैः) उन्होंने (सम्यक्त्व) सम्यक्त्वके (द्विधा कृत्वा) दो भेद करके (स्वामिभेद) सम्यग्दर्शन के अधिकारी भी (द्विधा कृतः) दो प्रकारसे बतलाये है अर्थात् (कश्चित् एकः) कोई एक (सरागः) सराग सम्यग्दृष्टि (च) और (कश्चन) दूसरा (वीतराग अस्ति) वीतराग सम्यग्दृष्टि होता है।

तत्रास्ति वीतरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना ।
सद्दृष्टे र्निर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन ॥ ८२८ ॥

अन्वयार्थ.— (तत्र) उन दोनोंमेंसे (कस्यचित्) एक (वीतरागस्य) वीतराग (निर्विकल्पस्य) निर्विकल्प (सद्दृष्टेः) सम्यग्दृष्टिकेही (ज्ञानचेतना अस्ति) ज्ञान चेतना होती है। और (इतरस्य) सविकल्पक सम्यग्दृष्टिके तो (कदाचन न) वह ज्ञान-चेतना कभीभी नहीं होती है क्यों कि

व्यावहारिकसद्दृष्टेः सविकल्पस्य रागिणः ।
प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः स्यात् ज्ञानचेतना ॥ ८२९ ॥

अन्वयार्थः— किन्तु (सविकल्पस्य) सविकल्प (रागिणः) और सरागी (व्यावहारिकसद्दृष्टे.)

सम्यग्दृष्टिके तो (**प्रतीतिमात्रं**) **केवल प्रतीति**-श्रद्धाही होती है इस लिये उसके (**ज्ञानचेतना कुतः स्यात्**) व्यवहारसे ज्ञानचेतना कैसे होसकती है ? अर्थात् नहीं होसकती है।

भावार्थः— इस प्रकार किन्ही २ मोहशाली पुरुषोंके पक्षपातवश सदैव एक प्रकारकी वासना रहती है और जिसके वशीभूत होकर वे मोही लोग सदैव ऐसा निरूपण करते है कि केवल वीतराग सम्यग्दृष्टिकेही ज्ञानचेतना होती है तथा उन्होनेही सम्यग्दर्शनके सविकल्प और निर्विकल्परूपसे दो भेद करके, उनके स्वामीभी क्रमसे सरागी और वीतरागी बताए है। और उनमेंसे केवल वीतराग-सम्यग्दृष्टिकेही ज्ञानचेतना बताई है।

इति प्रज्ञापराधेन ये वदन्ति दुराशयाः।
तेषां यावत् श्रुताभ्यासः कायक्लेशाय केवलम् ॥ ८३० ॥

अन्वयार्थः— किन्तु (**प्रजापराधेन**) बुद्धि के दोषसे (**ये दुराशयाः**) जो दुराशय-खोटे आशयवाले (**इति वदन्ति**) ऐसा कहते है (**तेषां**) उनका (**यावत्श्रुताभ्यासः**) जितनाभी शास्त्राध्ययन है वह सब (**केवलं**) केवल (**कायक्लेशाय**) शरीर-क्लेशके लियेही समझना चाहिये।

भावार्थः— इस प्रकार बुद्धिमन्दतासे कारण जो पक्षपाती लोक सम्यक्त्व के सविकल्प और निर्विकल्परूपसे भेद करके उस के सराग तथा वीतराग भेद बताते है उनका सब शास्त्राध्ययन केवल कायक्लेशके लियेही है ऐसा समझना चाहिये।

पूर्वोक्त शंकाका समाधान व उत्तर।

अतोच्यते समाधानं सामवादेन सूरिभिः।
उच्चैरुत्फणिते दुग्धे योज्यं जलमनाविलम् ॥ ८३१ ॥

अन्वयार्थः— (**अत्र**) अब यहांपर (**सूरिभिः**) आचार्य (**सामवादेन**) शांतिके साथ (**उच्यते**) कहते सो ठीकही है क्योंकि (**दुग्धे उच्चैः उत्फणिते**) जिस समय दूधमें उफान आरहा हो, उस समय दूधमें (**अनाविलं जल**) निर्मल जलही (**योज्यम्**) डालना योग्य है।

भावार्थ— यहांपर स्वय ग्रंथकारही उक्त शंकाका ठीक उत्तर समझाकर देते है। सो ठीकही है क्योंकि जैसे जिस समय दूधमें उफान आरहा हो, उस समयमें शीतल जलके छीटे डालकरही दूधका उफान बंद करना ठीक है। वैसेही पक्षपात वश की हुई शंकाओंका उत्तरभी शांतिपूर्वकही देना ठीक है। कारण कि ऐसा करनेसे कपायका वेग मंद पड जाता है तथा तत्त्वका ठीक स्वरूप समझमें आता है।

सतृणाभ्यवहारित्वं करीव कुरुते कुदृक् ।
तज्जहीहि जहीहित्वं कुरु प्राज्ञ विवेकिताम् ॥ ८३२ ॥

अन्वयार्थः— (कुदृक्) मिथ्यादृष्टि जीव (करी इव) हाथीके समान (सतृणाभ्यवहारित्वं कुरुते) मय घास फूसके अपने भोजनको ग्रहण करता है किंतु (प्राज्ञ) हे प्राज्ञ (त्वं) तू (तद् जहीहि जहीहि) उसे छोड छोड और (विवेकतां कुरु) योग्य विवेकपनेको संपादन कर ।

भावार्थः— जैसे हाथी अपने भोजनको विना सोंधे तृणसहित भक्षण करता है वैसेही मिथ्यादृष्टि जीवभी अपने ग्राह्य विषयोंका, विना विवेकके रागादिसहित विषय करता है । इसलिये भो प्राज्ञ तू मिथ्यादृष्टिकी तरह आत्माको सराग सविकल्प विषय करना छोडकर विवेकी बन । अर्थात् सम्यक्त्वको सराग सविकल्प मानना हाथीके सतृण भोजनकी तरह मिथ्यादृष्टित्वका विषय है । सम्यग्दृष्टित्वका नहीं है क्यों कि सम्यग्दृष्टि तो प्रत्येक विषयमें सविवेक प्रवृत्ति करता है । क्यों कि रागांश और विकल्पांश सम्यक्त्वका धर्म नहीं । किन्तु मोहीका धर्म है ।

वन्हेरौष्ण्यमिवात्मज्ञ पृथक्कर्तुं त्वमर्हसि ।
मा विभ्रमस्वदृष्ट्वापि चक्षुसाऽचाक्षुषाशयाः ॥ ८३३ ॥

अन्वयार्थः— (आत्मज्ञ) भो आत्मज्ञ (वन्हेः औष्ण्यं इव) अग्निके उष्णताके समान (त्वं) तुझे भी तुम्हारे स्वरूपको (पृथक्कर्तुं) पृथक् करना (अर्हसि) योग्य है । (चक्षुषा दृष्ट्वा अपि) प्रत्यक्ष देखकरभी (अचाक्षुषाशया अदृष्टकी आशासे (मा विभ्रमस्व) भ्रममें मत पडो ।

भावार्थ — जिस तरह अग्निका अग्नित्व पृथक् जाना जाता है उसी तरह तुमभी अपनेमें अपने आत्मतत्वको [निर्विकल्प और वीतरागस्वरूपको] प्रत्यक्ष देखकर प्रत्यक्ष सिद्ध न होनेवाले सराग और सविकल्पकी आशा के भ्रममें मत पडो ।

विकल्पो योगसंक्रान्तिरर्थाज्ज्ञानस्य पर्ययः ।
ज्ञेयाकारः स ज्ञेयार्थात ज्ञेयार्थान्तरसंगतः ॥ ८३४ ॥

अन्वयार्थ— (योगसंक्रान्तिः) मन, वचन कायकी प्रवृत्तिके परिवर्तनको (विकल्पः) विकल्प

कहते है (अर्थात्) अर्थात् (ज्ञेयार्थात्) एक ज्ञानके विषयभूत अर्थसे (ज्ञेयार्थान्तरसंगतः) दूसरे विषयान्तरत्वको प्राप्त होनेवाला (सः) जो (ज्ञेयाकार.) ज्ञेयाकार रूप (ज्ञानस्य पर्यय) ज्ञानकी पर्याय है (सः विकल्प) वह विकल्प कहलाता है।

भावार्थः— मन वचन काय के अवलम्बन के विषयसे विषयान्तररूप जो ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है उसे विकल्प कहते है।

क्षायोपशमिकं तस्यादर्थादक्षार्थसंभवात।
क्षायिकात्यक्ष ज्ञानस्य संक्रांतेरप्यसंभवात् ॥ ८३५ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (अक्षार्थसम्भवात्) इंद्रियोंके विषयोंको अवलम्बन करके उत्पन्न होनेवाली (तद्) वह सविकल्पक-ज्ञानरूप ज्ञानकी पर्याय (क्षायोपशमिक स्यात्) क्षायोपशमिक है क्योंकि (क्षायिकात्यक्षज्ञानस्य) अतींद्रिय-क्षायिक-केवलज्ञानमें (सन्क्रान्तेः अपि असम्भवात्) संक्रांति नहीं होती है अतः उसमें योगावलम्बनसे किसी प्रकारका परिवर्तनरूप विकल्पभी सम्भव नहीं है।

भावार्थः— योगसंक्रान्तिरूप विकल्प केवल क्षयोपशमजन्य ऐंद्रियक ज्ञानोंमें ही संभव है। क्योंकि स्वाभाविक अतींद्रिय क्षायिकज्ञानमें, सन्क्रातिके न होनेसे, वह योगसंक्रांतिरूप विकल्प नहीं होता है इससे यही अभिप्राय समझना चाहिये कि ज्ञानका इस प्रकार सविकल्प होना नैमित्तिक स्वरूप है वास्तविक नहीं है अतः वह वास्तवमें सम्यक्त्वका स्वरूप नहीं होसकता है।

अस्ति क्षायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात्।
नार्थादर्थांतराकारयोगसंक्रांतिलक्षणात् ॥ ८३६ ॥

अन्वयार्थः— (स्वलक्षणात्) स्वलक्षणकी अपेक्षासे (क्षायिकज्ञानस्य) क्षायिक-ज्ञानमें (विकल्पत्वं) जो विकल्पपना (अस्ति) है वह (अर्थात) एक अर्थसे (अर्थांतराकारयोगसन्क्रांति लक्षणात्) दूसरे अर्थके विषयमें मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिके अवलंबनसे होनेवाले सक्रातिरूप विकल्प शब्दके अर्थकी अपेक्षासे (न) नहीं है।

भावार्थः— ज्ञान गुण साकार है, शेष गुण निराकार है। ज्ञान गुणके साकार होनेसेही उसके द्वारा वस्तु-का वस्तुत्व और निज स्वरूपभी जाना जाता है। तथा जिननेभी गुणोंका उल्लेख किया जाता है वह सब उन सब गुणोंके विकास होनेसे इस ज्ञान गुणमें होनेवाली उन विकासोंकी अविनाभावी पर्यायोंके उल्लेखसेही उन शेष गुणोंका निरूपण किया जाता है। इस प्रकारका ज्ञानका स्वलक्षणभूत सविकल्पत्व तो क्षायिक ज्ञानमें है। किंतु अर्थसे अर्था-न्तराकार योगसंक्रातिरूप सविकल्पत्व नहीं है। ज्ञानके लक्षणभूत विकल्पत्वमें और क्षायोपशमिक ज्ञानके परनिमित्तसे होनेवाले विकल्पत्वमें वडा भारी अन्तर है। इसी विषयका खुलासा करते हैं।

तल्लक्षणं स्वापूर्वार्थविशेषग्रहणात्मकम्।
एकोऽर्थो ग्रहणं तस्य आकारः सविकल्पता ॥ ८३७ ॥

अन्वयार्थः— (**स्वापूर्वार्थविशेषग्रहणात्मकम्**) स्व और अपूर्व अर्थका विशेष ग्रहण करना (**तत् लक्षणम्**) ज्ञानका लक्षण है (**अर्थः एकः**) अर्थ एक है और (**तस्य ग्रहणं**) आत्माका जो ग्रहण करना है वह (**आकारः**) वह आकार कहलाता है (**सविकल्पता स्यात्**) वही सविकल्पता क्षायिकज्ञानमें होती है।

भावार्थः— केवलज्ञानमें ज्ञान गुण तो स्वशद्धसे गृहीत होता है और ज्ञानविना शेष अनन्त गुण अपूर्वार्थ शद्धसे गृहीत होते हैं, तथा ग्रहण शद्धसे आकारका बोध होता है, इस प्रकार ज्ञान के द्वारा अपने शेष अनन्तोंही गुणोंके ग्रहणको स्वापूर्वार्थ ग्रहणात्मक आकार अथवा सविकल्पता कहते है।

विकल्पः सोऽधिकारेऽस्मिन्नाधिकारी मनागपि।
योगसंक्रान्ति रूपो यो विकल्पोऽधिकृतोऽधुना ॥ ८३८ ॥

अन्वयार्थः— (**सः विकल्पः**) ज्ञानका स्वलक्षणभूत वह विकल्प (**अस्मिन् अधिकारे**) सम्य-क्त्व के निर्विकल्पक और सविकल्पके कथनमें (**मनागपि अधिकारी न**) कुछभी अधिकार नहीं है रखता अर्थात् उपयोगी नहीं है किन्तु (**योगसंक्रान्तिरूपः यः विकल्पः**) योगसंक्रान्तिरूप जो विकल्प 'सः' वही (**अधुना**) इस समय सम्यक्त्व के सविकल्प और निर्विकल्प के विचार करते समय (**अधिकृतः**) अधिकार रखता है- उपयुक्त है।

° 'तस्यादाकारः' प्राचीन पाठ है।

ऐन्द्रियं तु पुनर्ज्ञानं न संक्रातिमृते क्वचित् ।
गतोऽप्यस्य क्षणं यावदर्थादर्थान्तरे गतिः ॥ ८३९ ॥

अन्वयार्थः— (ऐन्द्रियं ज्ञान तु पुन) इन्द्रियजन्यज्ञान तो (क्वचित्) कहींभी (संक्रान्तिम् ऋते) योगसंक्रान्तिके विना (न) नहीं होता है । (यत) क्योंकि (अस्य) इन्द्रियजन्य ज्ञानकी (क्षणं अपि यावत्) प्रत्येक क्षणमेंभी (अर्थात् अर्थान्तरे गतिः) अर्थसे अर्थान्तररूप सक्रान्ति होती रहती है ।

भावार्थः— इन्द्रियज्ञानमें प्रतिसमय अर्थसे अर्थान्तररूप परिवर्तन होता रहता है । इसलिए इन्द्रिजन्य ज्ञान संक्रातिसहित होता है कभीभी वह संक्रान्तिके विना नहीं होता है ।

इदं तु क्रमवर्त्यस्ति न स्यादक्रमवर्ति यद् ।
एकां व्यक्तिं परित्यज्य पुनर्व्यक्तिं समाश्रयेत् ॥ ८४० ॥

अन्वयार्थ — (इदं तु) और यह इन्द्रियजन्य ज्ञान (क्रमवर्ति अस्ति) क्रमवर्ति है (अक्रमवर्ति न स्यात्) अक्रमवर्ति नहीं है । (यद्) क्यों कि वह (एकां व्यक्ति परित्यज्य) एक व्यक्तिको–विवक्षित अर्थको छोडकर (पुनर्व्यक्तिं समाश्रयेत्) अर्थान्तरको विषय करने लगता है ।

भावार्थ — इन्द्रियजन्यज्ञान एक समयमें एक विषयको विषयकरके दूसरे समयमें दूसरे ही विषयको विषय करता है । युगपद् भिन्न समयवर्ति विषयोंको विषय नहीं करता है इस लिए वह क्रमवर्तिही है । अक्रमवर्ति नही है ।

इदं त्वावश्यकी वृत्तिः समव्याप्तेरिवाद्वया ।
इयं तत्रैव नान्यत्र तत्रैवेयं न चेतरा ॥ ८४१ ॥

अन्वयार्थः— (समव्याप्तेः) समव्याप्ति होनेके कारण (अद्वया इव आवश्यकी वृत्तिः ' अस्ति ') अभिन्नकी तरह उन दोनोंकी–अर्थसे अर्थान्तर गति और योगसक्रातिकी यह वृत्ति अवश्य होती है कि (इयम्) यह योगसक्रान्ति (तत्रैव) उस इन्द्रियज्ञान के होनेपरही होती है, (अन्यत्र न) ज्ञान के अतीन्द्रिय होनेपर नहीं होती, (' तथा ' तत्रैव च) योगसंक्रान्ति होनेपरही (इय) अर्थसे अर्थान्तर गति होती है । (इतरा न च) अनर्थान्तर गति नहीं होती ' अर्थात् योगसंक्रान्तिके होते हुए अर्थान्तर गति नहीं यह नहीं होसकता ।

और अर्थान्तरगति होनेपर योगसंक्रान्ति न हो यहभी नहीं होसकता । इसलिए योगसक्रान्ति और अर्थसे अर्था-
न्तरगतिमें समव्याप्ति होने के कारण एकप्रकारसे अद्वैत है ।

भावार्थः— दुतर्फा व्याप्तिको समव्याप्ति कहते हैं, जैसे रूप और रसमें समव्याप्ति है, कारण कि रूपके
होनेपर जैसे रस होता है और रसके होनेपर रूप होता है । वैसेही उन दोनोंमेंसे किसी एकके अभावमें दूसरेकाभी
अभाव पाया जाता है । अग्नि और धूममें विषम व्याप्ति है, कारण कि अग्निके होनेपरही धूम होता है और अग्निके
अभावमें धूम नहीं होता है । अर्थात् जहा २ धूम वहा २ अग्नि होती है, ऐसा तो कहसकते है, किंतु जहा २ अग्नि
होती है वहा २ धूम होताही है यह नहीं कह सकते । क्योंकि शुद्ध अंगाररूप अग्निमें धूम नहीं रहता है । इसलिए इसे
विषमव्याप्ति कहते है । योगसंक्राति और इंद्रियज्ञान-अर्थसे अर्थांतरगति इन दोनोंमें परस्पर समव्याप्ति है । जहां २ योग-
संक्राति होती है वहा २ ज्ञानसंबंधि अर्थांतरगति भी होती है अथवा जहां २ ऐंद्रियज्ञान की अर्थांतरगति होती है
वहा २ योसंक्रातिभी अवश्य होती है कारण कि ये दोनों परस्परमें एक दूसरेके अभावमें नहीं रहते हैं । इसलिए
इन दोनोंकी व्याप्तिको समव्याप्ति बताया है ।

यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित् ।
अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थतः ॥ ८४२ ॥

अन्वयार्थः— (यत् पुनः) किन्तु जो (कुत्रचित् एकत्र) किसी एक विषयमें (नैरन्तर्येण ज्ञान)
निरन्तररूपसे ज्ञान रहता है (तद्ध्यानं अस्ति) उसे ध्यान कहते है । और (अत्रापि) इस ध्यानमेंभी
(अर्थतः) वास्तवमें (क्रमः) क्रमही है (अपि) किन्तु (अक्रमः न) अक्रम नहीं है ।

भावार्थः— अन्य सब विषयोंसे चित्तको हटाकर किसी एक विषयमें चित्तके लगानेको ध्यान कहते है ।
यह ध्यान श्रुतज्ञानकी पर्याय है । और उसमें जो चित्तकी एकाग्रता होता है, उसेभी सर्वथा चित्तकी अचंचल वृत्ति
नहीं कह सकते है किन्तु अन्य सब विषयोंसे हटाकर किसी एकही विषयमें चित्तकी पुनः २ वृत्ति लगानेको भी
ध्यान कहते है । इसलिए ध्यानमेंभी पुनः २ वृत्तिकी संभवनाके कारण क्रमवर्तित्व सिद्ध हो जाता है ।

एकरूपमिवाभाति ज्ञानं ध्यानैकतानतः ।
तत्स्यात्पुनः पुनर्वृत्तिरूपं स्यात्क्रमवर्ति च ॥ ८४३ ॥

अन्वयार्थ.— (ध्यानैकतानतः) ध्यानकी एकाग्रता के कारण (ज्ञानं) ध्यानरूप ज्ञान (एकरूपमिव) अक्रमवर्त्तिकी तरह (आभाति) प्रतीत होता है परन्तु (तत्) वह ध्यानरूप ज्ञान (पुनः पुनर्वृत्तिरूप स्यात्) पुनः पुनः उसी २ विषयमें होता रहता है इसलिए (क्रमवर्त्ति च स्यात्) क्रमवर्ति ही है।

भावार्थः— यदि कदाचित् यह कहा जाय कि ध्यानरूप ज्ञानमें क्रमवर्तित्व तो नहीं है इसलिए योगसंक्रान्ति और क्रमवर्तित्वकी व्याप्ति नहीं होसकती है। तो यह कहना भी ठीक नहीं है कारण कि ज्ञान के किसी एक विषयमें बार २ परिणत होनेका नाम ध्यान है इसलिए उसमेंभी अर्थसंक्रान्तिरूप क्रमवर्तित्व सिद्ध हो जाता है।

नात्र हेतुः परं साध्ये क्रमत्वेऽर्थान्तराकृतिः ।
किन्तु तत्रैव चैकार्थे पुनर्वृत्तिरपि क्रमात् ॥ ८४४ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र क्रमत्वे साध्ये) ऐन्द्रियज्ञानमें क्रमत्वकी सिद्धि करते समय (अर्थान्तराकृतिः) अर्थान्तराकार होना (पर) केवल (हेतुः न) हेतु नहीं है। (किन्तु) किन्तु (तत्रैव एकार्थे च) उसी एकार्थमें ही (क्रमात्) क्रमपूर्वक अर्थात् समय समयमें (पुनः वृत्तिः अपि) फिर फिरसे अपने उसही विषयमें रहनाभी क्रमत्वकी सिद्धिमें हेतु होता है।

भावार्थः— जैसे अर्थान्तराकृतिसे ऐन्द्रियज्ञानोंमें—मतिश्रुतादि ज्ञानोंमें क्रमवर्तित्व सिद्ध होता है वैसे ही किसी एक विषयमें पुन २ वृत्तके द्वाराभी क्रमवर्तित्व सिद्ध होता है। इसलिए ध्यानमे अक्रमवर्तित्वका निराकरण होजाता है अर्थात् क्रमवर्ति ध्यानकी सन्तानकोभी ध्यान शब्दसे कहते है । उक्तं च—ध्यानसन्तानमपि ध्यानमित्युपचर्यते।

नोह्यं तत्राप्यतिव्याप्तिः क्षायिकात्यक्षसंविदि ।
स्यात्परीणामवत्त्वेऽपि पुनर्वृत्तेरसम्भवात् ॥ ८४५ ॥

अन्वयार्थ— (**तत्र**) उस (**क्षायिकात्यक्षसंविदि**) क्षायिक–अतीन्द्रिय केवलज्ञानमें (**अपि**) भी (**अतिव्याप्ति**) अति व्याप्तिका प्रसङ्ग आवेगा ('**इति**' **न उद्यम्**) ऐसा तर्क नहीं करना चाहिये क्यों कि (**परीणामवत्त्वे अपि**) उस केवलज्ञानमें स्वाभाविकरूपसे परिणमन होते हुएभी (**पुनर्वृत्तेः असम्भवात्**) पुनर्वृत्ति सम्भव नहीं है।

भावार्थः— अलक्ष्यमेंभी लक्षणके जानेको अतिव्याप्ति कहते है। शंकाकारका कहना है कि यदि कदाचित् यह कहो कि ध्यानमे क्रमवर्तित्व माननेसे केवलीके ध्यानमेंभी क्रमवर्तित्वका प्रसंग आवेगा तो यह कहनाभी ठीक नहीं है क्योंकि केवलीके अतींद्रिय क्षायिक–ज्ञानमें पुनर्वृत्ति नहीं होती है इसलिए वह क्रमवर्ति न कहलाकर अक्रमवात, तथा युगपद् अनन्त पदार्थोंका ज्ञायक कहलाता है तथा उसमें जो ध्यान शद्वकी वृत्ति है वह उपचारित है क्योंकि ध्यान श्रुतज्ञानकी पर्याय है इसलिए वास्तवमें ध्यान बारहवें गुणस्थानके उपान्त्य समयतकही होता है। परन्तु आगेके गुणस्थानोंमे कर्मकी निर्जरारूप ध्यानका कार्य पाये जानेके कारण ध्यानका उपचार किया जाता है।

क्योंकि।

यावच्छ्रस्थजीवानामास्तिज्ञानचतुष्टयम्।
नियतक्रमवर्तित्वात्सर्वं संक्रमणात्मकम् ॥ ८४६ ॥

अन्वयार्थः— (**छद्मस्थजीवानां**) छद्मस्थ–अल्पज्ञ जीवोंमें (**यावद् ज्ञानचतुष्टयं अस्ति**) जो चारों ज्ञान पाये जाते है (**सर्वं**) वे सब (**नियतक्रमवर्तित्वात्**) नियमसे क्रमवर्ति होनेके कारण (**संक्रमणात्मकम्**) संक्रमणरूप होते है।

भावार्थः— छद्मस्थ जीवके चारोंही क्षायोपशामिक ज्ञान संक्रमणात्मक होते है और केवलीका क्षायिक-ज्ञान असंक्रमणात्मक होता है।

नालं दोषाय तच्छक्तिः सूक्तं संक्रांतिलक्षणा।
हेतोर्वैभाविकत्वेऽपि शक्तित्वाज्ज्ञानशक्तिवत् ॥ ८४७ ॥

अन्वयार्थः— (**वैभाविकत्त्वे अपि शक्तित्वात् हेतोः**) यद्यपि उन चारोंही क्षायोपशमिक

ज्ञानोंमें वैभाविकपना है तथापि शक्तिपनेरूप हेतुसे (ज्ञानशक्तिवत्) ज्ञान शक्तिकी तरह (सूक्तं सन्क्रांतिलक्षणा तच्छक्ति.) उत्तम प्रकारसे जिसका सन्क्रातिरूप लक्षण कहा गया है। ऐसी उन चारोंही क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी विकल्पात्मक वह शक्ति सम्यक्त्वके लिए (दोषाय अलं न) दोषाध्यापक नहीं है ।

भावार्थ — यद्यपि चारोंही क्षायोपशमिक ज्ञान वैभाविक भाव होनेके कारण संक्रमणात्मक है तथापि अपनी शक्तिपनेसे सम्यग्दर्शनके लिए बाधक नहीं है। इसलिए इनमें वैभाविकपनेके कारण जो विकल्पात्मकपना है उससे सम्यक्त्वमें किसी प्रकारका दोष उत्पन्न नहीं होसकता है। (अत· सरागोंके सम्यक्त्वको सविकल्प कहना युक्तियुक्त नहीं है।)

ज्ञानसंचेतनायास्तु न स्यात्तद्विघ्नकारणम् ।
तत्पर्यायस्तदेवेति तद्विकल्पो न तद्रिपुः ॥ ८४८ ॥

अन्वयार्थः— (तद्) वह क्षायोपशमिक ज्ञानका विकल्पपना (ज्ञानस्चचेतनायाः) ज्ञानचेतनाका (विघ्नकारणम्) बाधक (न तु स्यात्) नहीं हो सकता है क्योंकि (तद् पर्यायः तदेव) जिस गुणकी जो पर्याय होती है वह कथंचित् तद्रूपही होती है इसलिए (तद्विकल्प.) क्षायोपशमिक ज्ञानका पर्यायार्थिक नयसे विकल्पात्मक होनेरूप एक प्रकारका स्वभाव (तद्रिपुः न) ज्ञानचेतनारूप शुद्ध ज्ञानका बाधक नहीं होसकता है ।

भावार्थः— सम्यक्त्वके साथ उत्पन्न होनेवाली ज्ञानचेतनाके लिए चारोंही ज्ञानोंका संक्रमण बाधक नहीं है क्योंकि ज्ञानचेतना का बाधक विवक्षित ज्ञानावरणका उदयही होसकता है। क्षयोपशम नहीं। जिस प्रकार प्रतिपक्षी कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेवाली ज्ञानकी क्षायिकरूप शुद्ध पर्याय ज्ञानचेतनाकी बाधक नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली क्षायोपशमिकरूप ज्ञानकी पर्यायभी यद्यपि वैभाविक है तथापि वह ज्ञानचेतनाकी बाधक नहीं होसकती है। कारण कि क्षायोपशमिकरूप ज्ञानकी पर्यायें कथंचित् ज्ञानगुणरूपही पडती है। इस लिए क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल्प उस ज्ञानचेतनाके बाधक नहीं होसकते है ।

ननु चेति प्रतिज्ञा स्यादर्थादर्थान्तरे गतिः ।
आत्मनोऽन्यत्र तत्रास्ति ज्ञानसंचेतनान्तरम् ॥ ८४९ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि यदि ज्ञानका संक्रमणात्मकपना ज्ञानचेतनाका किसीभी प्रकारसे बाधक नहीं है तो (अर्थात् अर्थांतरे गतिः इति प्रतिज्ञा स्यात्) ज्ञानचेतनामेंभी मतिज्ञानपनेके कारण अर्थसे अर्थांतररूप संक्रमण होता है यह पक्ष मानना पडेगा और (तत्र) वैसा मान-नेपर (आत्मनः अन्यत्र) आत्माके विना इतर विषयोंमेंभी ज्ञानचेतनाका उपयोग होता है यह मानना पडेगा ।

भावार्थ— ज्ञानचेतनाका निरुक्त्यर्थ पहले ऐसा किया है कि 'ज्ञानं चेत्यते अनया' अर्थात् ज्ञान-शुद्धात्मा जिस चेतनाके द्वारा जाना जाता है उसे ज्ञानचेतना कहते है । परन्तु इस प्रकरणमें जैसे सम्यग्दृष्टि के अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें अर्थसे अर्थान्तररूप संक्रान्ति होती है वैसेही क्षायोपशमिकपने के कारण ज्ञानचेतनामेंभी संक्रमण मानना पडेगा और संक्रमणके माननेसे ज्ञानचेतनाका विषय केवल शुद्ध आत्मा न होकर इतर विषयभी होते है यह मानना पडेगा ।

सत्यं हेतोर्विपक्षत्वे वृत्तित्वाद्व्यभिचारिता ।
यतोऽत्रान्यात्मनोऽन्यत्र स्वात्मनि ज्ञानचेतना ॥ ८५० ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है कि (हेतोः विपक्षत्वे वृत्तित्वात्) हेतु कि विपक्षमें वृत्ति होनेसे उसमें (व्यभिचारिता) व्यभिचारीपना आता है । (यतः) क्यों कि (अन्यात्मनो अन्यत्र) परस्वरूप परपदार्थसे भिन्न (अत्र स्वात्मनि) अपने इस स्वात्मामें (ज्ञानचेतना) ज्ञानचेतना होती है ।

भावार्थः— ठीक है कि हेतुको विपक्षवृत्तिकी सम्भावनामें व्यभिचारीपनेकी सम्भावना होसकती है परन्तु ज्ञानचेतनामें जो आत्माकी प्रवृत्ति होती है वह परपदार्थोंसे आत्माको खींचकर पुनः पुनः स्वात्मामें स्थापित करती है इसप्रकार के क्रमवर्तिपनेसे विपक्षवृत्ति सम्भवही न होनेके कारण व्यभिचारीपना नहीं कहा जासकता है ।

किंच सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना ।
अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखण्डैकधारया ॥ ८५१ ॥

अन्वयार्थः— (**किञ्च**) तथा (**सर्वस्य सद्दृष्टेः**) सम्पूर्ण सम्यग्दृष्टियोंके (**अव्युच्छिन्न प्रवाहेण**) धारा प्रवाहमें (**यद्वा**) अथवा (**अखण्डैकधारया**) अखण्ड एक धारासे (**नित्यं ज्ञानचेतना स्यात्**) सदैव ज्ञानचेतना होती है ।

भावार्थः— सब सम्यग्दृष्टियोंको जबतक सम्यक्त्व रहता है तबतक अवश्यही प्रवाहरूपसे अथवा अखण्डधारा रूपसे ज्ञानचेतना रहती है । यहापर अव्युच्छिन्न प्रवाह अथवा अखण्डधारारूपसे उसे नित्य कहनेका यह प्रयोजन है कि ज्ञानचेतना जातिकी अपेक्षा लब्धिरूपसे सदैव रहती है, नोट.— यद्यपि तीन प्रकारके सम्यक्त्वोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि अथवा उपशम सम्यग्दृष्टिकी ज्ञानचेतनामें तरतम भावकी सम्भावना नहीं है किन्तु क्षयोपशम सम्यग्दृष्टिके देशघाति सम्यक्प्रकृतिके उदयसे चल मल आदि दोष उत्पन्न होनेसे ज्ञानचेतनामें तरतमभाव होसकता है । तथापि ज्ञानचेतना की धारा और प्रवाहमें बाधा नहीं आसकती । क्योंकि जबतक सम्यक्त्व रहता है तबतक लब्धिरूप ज्ञानचेतना अवश्य रहती है ।

हेतुस्तत्रास्ति सध्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह ।
ज्ञानसंचेतनालब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात् ॥ ८५२ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र हेतुः अस्ति**) सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना की सदैव उपलब्धिमें कारण यह है कि (**इह**) इसमें (**सम्यक्त्वेन अन्वयात्**) सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके साथ अविनाभावरूपसे होनेवाली (**स्वावरण व्ययात्**) स्वानुभूति मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे (**सध्रीची**) समीचीन (**ज्ञानचेतना लब्धिः**) ज्ञानचेतना की लब्धि अर्थात् लब्धिरूप ज्ञानचेतना (**नित्या**) सदैव पाई जाती है ।

भावार्थः— यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दोनोंकी उत्पत्तिका एकही काल है परन्तु फिरभी इन दोनोंमें कार्यकारण भाव है । क्योंकि सम्यग्दर्शनके होनेपरही ज्ञानमें सम्यक्पना आता है कारण कि जिस समय मिथ्यात्व कर्मका उपशम, क्षयोपशम किंवा क्षय होता है उसी समय मिथ्यात्वके अभावके साथही स्वानुभूत्यावरण नामक मतिज्ञानावरणकाभी क्षयोपशम अवश्य हो जाता है । सम्यक्त्व तथा सम्यग्ज्ञानके बाधक, मिथ्यात्व कर्म और स्वानुभूत्यावरण कर्मका व्यय युगपत् होनेसे उक्त दोनोंकी उपलब्धिभी युगपत् ही होती है जबतक सम्यक्त्वका सद्भाव रहता है तबतक लब्धिरूप ज्ञानचेतनाभी अखण्ड धारासे वा अव्युच्छिन्न प्रवाहसे अवश्य रहती है । इसलिए सम्यक्त्वके साथ ज्ञानचेतनाका नित्य संबध बताया है । और इसीलिए सम्यग्दृष्टिके ज्ञान चेतनाको नित्य कहा है ।

कदाचित्काऽस्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी ।
नालं लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसम्भवात् ॥ ८५३ ॥

अन्वयार्थः— (समव्याप्तेः असम्भवात्) लब्धि और उपयोगमें समव्याप्ति नहीं होनेसे (कदाचित्का स्वोपयोगिनी ज्ञानस्य चेतना) यदा कदाचित् आत्मोपयोगमें तत्पर रहनेवाली उपयोगात्मक ज्ञानचेतना (लब्धेः) लब्धिरूप ज्ञानचेतना के (विनाशाय) नाश करनेके लिए (अलं न) समर्थ नहीं है ।

भावार्थः— जैसे भावेन्द्रिय और भावमन ये दोनों लब्धि तथा उपयोगरूप होते है। वैसेही स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली ज्ञानचेतना भी लब्धि और उपयोगरूप होती है। यद्यपि युगपद् नाना ज्ञानोंकी लब्धि रह सकती है किन्तु उपयोग एक समय एकही जातिके ज्ञानका होता है अर्थात् जिस समय सम्यग्दृष्टि के कोई इन्द्रियोपयोग किंवा अन्य कोई श्रुतज्ञानोपयोग होता है उससमय यद्यपि उस के उपयोगात्मक ज्ञानचेतना नहीं होती है। तथापि लब्धिरूप ज्ञानचेतना अवश्य होती है इसलिए जिससमय उसके उपयोगात्मक ज्ञान नहीं होती है उससमय उस के उपयोगात्मक ज्ञानचेतना के अभावमें लब्धिरूप ज्ञानचेतना नहीं होती है ऐसा नहीं कहा जा सकता है कारण कि लब्धि और उपयोग इन दोनोंमें समव्याप्ति नहीं है। अतः उपयोगात्मक ज्ञानचेतनाका अभाव लब्धिरूप ज्ञानचेतना के नाशमें कारण नहीं हो सकता है।

अस्त्यत्र विषमव्याप्तिर्यावल्लब्ध्युपयोगयोः ।
लब्धिक्षतेरवश्यं स्यादुपयोगक्षतिर्यतः ॥ ८५४ ॥
अभावात्तूपयोगस्य क्षतिलब्धेश्चवा न वा ।
यत्तदावरणस्यामा दृशा व्याप्तिर्नचामुना ॥ ८५५ ॥
अवश्यं सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षतिः ।
न तत्क्षतिरसत्यत्र सिद्धमेताज्जिनागमात् ॥ ८५६ ॥

१ आवरण शब्दसे आवरणका क्षयोपशम ग्रहण किया है अन्यथा पद्यका अर्थ ठीक नही होसकता है ।

अन्वयार्थः— (अत्र) यहां (यावद्-लब्धिउपयोगयोः) सम्पूर्ण लब्धि और उपयोगोंमें (विषमव्याप्तिः, अस्ति) विषम व्याप्तिही होती है (यतः) क्योंकि (लब्धिक्षतेः) लब्धिके नाशसे (अवश्य उपयोगक्षतिः स्यात्) अवश्यही उपयोग का नाश होजाता है (तु) किन्तु (उपयोगस्य अभावात्) उपयोगके अभावसे (लब्धेः क्षतिः) लब्धिका नाश हो (वा) अथवा नहीं भी हो। (यद्) कारण (दृशा अमा[1]) जैसे दर्शनमोहके क्षयोपशमादिकके साथ (तदावरणस्य) स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमकी (लब्धिरूप ज्ञानचेतनाकी)(व्याप्तिः) समव्याप्ति है; (अमुना च न) वैसी ज्ञानचेतनाके उपयोगके साथ सम्यक्त्वकी व्याप्ति नहीं है किन्तु विषम-व्याप्ति है (सम्यक्त्वे सति) सम्यक्त्व होतेही (तद् लब्ध्यावरणक्षतिः) ज्ञानचेतनावरण=स्वानुभूत्यावरण कर्मका नाश (अवश्यं 'भवति') अवश्य होता है तथा (अत्र असति) इस सम्यक्त्वके न होनेपर (तत्क्षतिः न) उस ज्ञानचेतनावरण कर्मका क्षयोपशमभी नहीं होता अर्थात् उदयही रहता है (एतद् जिनागमात् सिद्धं) यह आगममें प्रसिद्ध है।

भावार्थः— स्वानुभूतिके लब्धिके अभावमें उपयोगकाभी अभाव होजाता है, किन्तु उपयोगके अभावमें लब्धिके अभाव होनेका नियम नहीं है इसलिये स्वानुभूतिकी लब्धि और उपयोगमें विषमव्याप्ति है जैसे सम्यक्त्वके उत्पत्तिके साथही स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमरूपजन्य ज्ञानचेतना-लब्धिकी उत्पत्तिका सहभावी नियम है। वैसे सम्यक्त्वके उत्पत्तिके साथ सदैव सम्यग्दृष्टिके शुद्ध आत्माके प्रति ही उपयोग रहता है यह नियम नहीं है। इसलिए सम्यक्त्वके साथ स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली ज्ञानचेतनाकी लब्धिका सहभावी अविनाभाव है। और उस सहभावी अविनाभावके कारण ज्ञानचेतनाकी लब्धि और सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है। किन्तु सम्यक्त्वके होनेपर ज्ञानचेतनाका उपयोग होगाही यह नियम नहीं किन्तु ज्ञानचेतनाका उपयोग यदि होगा तो सम्यक्त्वके होनेपरही होगा अन्यथा नहीं। ऐसा नियम है इसलिए अग्नि और धूमके समान, सम्यक्त्व और ज्ञानचेतनाके उपयोगमें विषमव्याप्तिही है।

नूनं कर्मफले सच्चेतना वाऽथ कर्मणि।
स्यात सर्वतः प्रमाणाद्धि प्रत्यक्षं बलवद्यतः॥ ८५७॥

१ प्रकरणवश 'दृशा' और 'तदावरणस्य' इन दोनों शब्दोंका अर्थ दर्शनमोह और ज्ञानावरणका यथायोग्य क्षयोपशमादि किया है। दूसरा अर्थ "दर्शनमोहके उदयके साथ स्वानुभूत्यावरणके उदयकी व्याप्ति" किया जासकता है।

अन्वयार्थः— (**सद्यः**) चतुर्थ आदि गुणस्थानोंमें (**सर्वतः प्रमाणात्**) सब प्रमाणोंसे (**कर्मफले**) कर्मफलमें (**अथवा**) अथवा (**कर्मणि**) कर्ममें (**चेतना नूनं स्यात्**) चेतना अवश्य पाई जाती है (**यतः**) क्यों कि (**वै**) निश्चयसे (**प्रत्यक्षं**) प्रत्यक्ष प्रमाण सब प्रमाणोंसे (**बलवत्**) बलवान् है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिके कर्म और कर्मफलचेतना के होनेका कारण ग्रन्थकारने जघन्यपद बताया है। और उस जघन्य पदका कारण चारित्र मोहका उदय बताया है अर्थात् जबतक सम्यग्दृष्टि जघन्य पदमें स्थित रहता है तबतक उस के कर्म और कर्मफल चेतनाके सद्भावकीभी सम्भावना रहती है । अर्थात् सम्यग्दृष्टि के कभी कभी कर्म तथा कर्मफलचेतनाभी होती है । कारण उस के सदैव उपयोगात्मक ज्ञानचेतना नहीं रहती है। तथा जैसें अविरत सम्यग्दृष्टि के, नाना उपयोगोंकी सम्भावना के रहनेसे, ज्ञानचेतनाकी लब्धि और उपयोगमें समव्याप्ति नहीं है। वैसेही सम्यक्त्व और ज्ञानचेतनाके साथभी समव्याप्ति नहीं है । किन्तु दोनोंही जगह विषमव्याप्तिही है। अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के, सम्यग्दर्शन और लब्ध्यात्मक ज्ञानचेतनाके साथही समव्याप्ति है ।

इसप्रकार सम्यक्त्व के साथ लब्ध्यात्मक ज्ञानचेतनाकी समव्याप्ति तथा उपयोगात्मक ज्ञानचेतनाकी विषम-व्याप्तिका विचार करके आगे योगसंक्रान्तिरूप विकल्पकी अपेक्षासें जैसा छद्मस्थोंके ज्ञानमें सविकल्पपना रहता है। वैसा लब्धि तथा उपयोगरूप ज्ञानचेतनामें सविकल्पकपना रहता है, या नहीं रहता है इस विषयका विचार करते है ।

सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धि र्या प्रोक्तलक्षणा ।
निरुपयोगरूपत्त्वान्निर्विकल्पा स्वतोऽस्ति सा ॥ ८५८ ॥

अन्वयार्थः— (**एतावता उक्तेन**) इतना कहनेसे (**सिद्धं**) यह सिद्ध होता है (**प्रोक्तलक्षणा या लब्धि**) कि जिसका लक्षण कहा जा चुका है ऐसी जो लब्धि है (**सा**) वह (**स्वतः निरूपयोगरूपत्वात्**) स्वतः उपयोगरूप न होनेसे (**निर्विकल्पा**) निर्विकल्प (**अस्ति**) है ।

भावार्थः— छद्मस्थोंके उपयोगात्मक ज्ञानमेंही योगसंक्रांतिके निमित्तसे होनेवाला विकल्प होता है, लब्ध्यात्मकमें नहीं, इसलिए स्वानुभूतिकी (ज्ञानचेतनाकी) लब्धि उपयोगात्मक न होनेसे निर्विकल्प है ।

शुद्धः स्वात्मोपयोगो यः स्वयं स्यात ज्ञानचेतना ।
निर्विकल्पः स एवार्थादसंक्रांतसंगतेः ॥ ८५९ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (स्वयं ज्ञानचेतना) स्वय ज्ञानचेतनारूप (यः शुद्धः स्वात्मोपयोग स्यात्) जो शुद्ध स्वकीय आत्माका उपयोग है (सः) वह (असंक्रांतसंगतेः) संक्रात्यात्मक न होनेसे (निर्विकल्पः एव) निर्विकल्पक रूपही है ।

भावार्थः— जिस समय ज्ञानचेतनारूप शुद्ध आत्मोपयोग होता है उस समय उस उपयोगमें अर्थसे अथार्तर गति नहीं होती है । इसलिए उतने समयतक वह उपयोगभी निर्विकल्पक ही है ।

प्रश्न

अस्ति प्रश्नावकाशस्य लेशमात्रोऽत्र केवलम् ।
यत्काश्चित् बहिरर्थे स्यादुपयोगोऽन्यत्रात्मनः ॥ ८६० ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) अतः अब यहापर (केवलम्) केवल (प्रश्नावकाशस्य लेशमात्रः) इतनेही प्रश्नको अवकाश (अस्ति) मिलता है कि (आत्मनः अन्यत्र) आत्माके सिवाय (बहिः अर्थे) बाह्यअर्थमें भी सम्यग्दृष्टिका (यद् कश्चित् उपयोगः स्यात्) क्या कोई अन्य उपयोग होता है ?

भावार्थः— भिन्न २ अपेक्षाओंसे, अविरत सम्यग्दृष्टिकी, लब्धिरूप ज्ञानचेतना और उपयोगरूप ज्ञानचेतनाको निर्विकल्प सिद्ध करनेसे, प्रश्नके लिए केवल इतनीही जगह रह जाती है कि जब वह जघन्यपदमें [अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानमें] स्थित है तब उसके आत्माके सिवाय बहिरर्थमें भी उपयोग होता है क्या ? अथवा नहीं ?

उत्तर ।

अस्ति ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः ।
आत्मपरोभयाकारभावकश्च प्रदीपवत् ॥ ८६१ ॥

अन्वयार्थः— (ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः) ज्ञानोपयोग के स्वभावकी महिमाही ऐसी कुछ है कि वह ज्ञानोपयोग (प्रदीपवत्) प्रदीपकी तरह (आत्मपरोभयाकारभावकश्च अस्ति) स्व और परके तथा उभय के आकारका युगपत् आभापक-प्रकाशक होता है ।

---

१ अन्तिम चरणमें एक अक्षर कम पडता है ।

भावार्थः—ज्ञानोपयोगका स्वरूपही ऐसा कुछ है कि वह केवल स्वावभासक वा परावभासक न होकर स्वपरावभासक होता है इसलिए क्वचित् सम्यग्दृष्टिका बाह्य पदार्थोंमें भी उपयोग जाता है परन्तु उस समयभी उसको स्वका-अपने आत्माकाभी आभास होता है इसलिए उसको तज्जन्य आसक्ति नहीं रहती। सारांश यह है कि सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वके महात्म्यसे उसके ज्ञानमें सम्यक्पना उत्पन्न होता है और यद्यपि वह जबतक जघन्यपदमें स्थित है तबतक चारित्रमोहवश बाह्य पदार्थोंमें रागद्वेष करता है तथापि अनंतानुबंधी और मिथ्यात्वका अभाव होनेसे, जो इन मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायके निमित्तसे संसार अवस्थामें विपरीतता थी उसका नाश होजाता है। इसलिए ज्ञानमें एक प्रकारकी विशुद्धता आजाती है। उसके कारण यह जीव स्वपरपदार्थोंमें विपरीतता नहीं करता। अतः यह सम्यग्दृष्टि जीव जघन्यपदमें रहकरभी स्वकीय बोधसे च्युत नहीं होता है।

स्पष्टीकरण।

निर्विशेषाद्यथाऽऽत्मानमिव ज्ञेयमवैति च।
तथा मूर्तानमूर्तांश्च धर्मादीनवगच्छति ॥ ८६२ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे वह ज्ञान (निर्विशेषाद्) सामान्य रीतिसे अर्थात् किसीप्रकारसे किसी प्रकारका भेद न करके (आत्मानं इव) अपनी तरह (ज्ञेयं च अवैति) अपने विषयभूत ज्ञेयको भी जानता है (तथा) वैसेही (मूर्तान्) मूर्त पदार्थोंको (च) और (अमूर्तान् धर्मादीन्) अमूर्त जो धर्म, अधर्म वगैरह द्रव्य है उनकोभी (अवगच्छति) जानता है।

भावार्थ— जिसप्रकार जिससमय आत्मा अपने विषयमें उपयोग करता है उससमय आत्माका आत्मज्ञान ज्ञान कहलाता है और उसका विषयभूत जो निज आत्मा है वह ज्ञेय हो जाता है। इसही प्रकार जब वह मूर्तामूर्तादि विषयको जानता है तब भी स्व और परको युगपत् जानता है।

अथवा इस पद्यका यहभी अर्थ होता है कि निश्चयनयसे आत्मा आत्मज्ञ है इसलिये जिससमय परम शुद्ध आत्मा अपने शुद्ध केवलज्ञानके द्वारा अपने आत्माको सम्पूर्ण रीतिसे जानता है उससमय जैसे उसके स्व [ज्ञान] और पर [ज्ञानका विषयभूत शुद्ध आत्म-द्रव्यका] पूर्ण ज्ञान होता है वैसेही उस ज्ञानकी अत्यन्त निर्मल प्रतिभासक

शक्तिसे शेष सम्पूर्ण द्रव्य भी स्वयं उसमें प्रतिभासित होने लगते है। कारण, शुद्ध ज्ञानोपयोगका ऐसाही कोई अचिन्त्य माहात्म्य है कि जिस के कारण वह स्व–विषय में उपयुक्त होता हुआ भी स्व तथा अन्य सब पदार्थोंका भी यथार्थ ज्ञाता होता है।

स्वस्मिन्नेवोपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि।
परस्मिन्नुपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि॥ ८६३ ॥

अन्वयार्थः— (यः) जो (स्वस्मिन् एव उपयुक्तः) निजात्मोपयोगी ही है (स एव हि) वही ही निश्चयसे (उपयुक्तः) उपयुक्त है (न वा) ऐसा नहीं है तथा (यः) जो (परस्मिन् उपयुक्तः) परपदार्थोपयोगी है (स एव हि) वही ही निश्चयसे (उपयुक्तः) उपयुक्त है (न वा) ऐसा भी नहीं है, किन्तु उभय विषयको विषय करनेवालाही उपयुक्त अर्थात् यथार्थ उपयोग करनेवाला होता है। ऐसा नियम है इस प्रकार क्रियाका अध्याहार करना चाहिये।

नोटः— अज्ञान बन्धका कारण नहीं और ज्ञान मोक्षका कारण नहीं है किन्तु मिथ्यात्व और कषायका उदय बन्धका निमित्त है और उनका ही अनुदय मोक्षका निमित्त है। अत. स्वात्मोपगीही या परमाथा–पयोगीही कृतार्थ है इस कथनमें कुछ महत्व नहीं है, किन्तु सम्यग्दृष्टिके जो मिथ्यात्व वा अनन्तानुबन्धीका वा औरभी कषायोंका जब यथासम्भव उपशम, क्षय, वा क्षयोपशम हो जाता है तदनुसारही उसके संवर वा निर्जरा होती है और जितने अंशोंमें कषायोंका उदय रहता है उतने अंशमें आस्रव भी होता रहता है। उसका उपयोग चाहे स्वात्मोपयोगमें हो या परपदार्थोपयोगमे हो उसपरसे उसमें कृतार्थका कुछ सम्बन्ध नहीं रहता है किन्तु वास्तवमें मिथ्यात्वादिकका अभाव होनेसे वह कृतार्थ कहलाता है।

भावार्थ— केवल स्व विषयका वा केवल पर विषयकाही उपयोग करनेवाला कोई सच्चा उपयोगवाला होता है ऐमा नहीं किन्तु स्व पर विषयको उपयोग करनेवालाही आत्मा उपयोगवाला कहलाता है।

स्वस्मिन्नेवोपयुक्तोऽपि नोत्कर्षाय स वस्तुतः।
उपयुक्तः परत्रापि नापकर्षाय तत्त्वतः॥ ८६४ ॥

अन्वयार्थ— (**सः**) वह सम्यग्दष्टि (**स्वस्मिन् एव**) अपनेमें (**उपयुक्तः अपि**) उपयुक्त होकरभी (**वस्तुत**) वास्तवमें (**उत्कर्षाय न**) किसी प्रकारके उत्कर्षके लिए समर्थ नहीं होता है अर्थात् इससे उसका कुछ संवर व निर्जरामें किसी प्रकारका उत्कर्ष नहीं हो जाता है। और यदि (**परत्र उपयुक्तः अपि**) पर पदार्थमेंभी वह उपयुक्त होगया हो तोभी (**तत्त्वतः**) वास्तवमें (**अपकर्षाय न**) किसी प्रकारके अपकर्षके लिये समर्थ होता है ऐसाभी नहीं है, अर्थात् उससे उसके संवर वा निर्जरामें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं आती है, कारण कि स्व और परमें उपयुक्त व अनुपयुक्त रहना मोक्ष व बन्धके लिये कारण नहीं माना है । किन्तु मिथ्यात्वका अनुदय व उदयको ही मोक्ष व बन्धमें कारण माना है ।

तस्मात् स्वस्थितयेऽन्यस्मादेकाकारचिकीर्षया ।
मासीदसि महाप्राज्ञ सार्थमर्थमवेहि भो ॥ ८६५ ॥

अन्वयार्थ — (**तस्मात्**) इसलिए (**स्वस्थितये**) अपनेमें अपनी स्थितीके लिये-निराकुलताके लिए (**अन्यस्मात्**) पर वस्तुके साथ (**एकाकारचिकीर्षया**) अभिन्नता करनेकी इच्छासे (**मा सीदसि**) तुम दुःखी मत होवो किन्तु (**भो महाप्राज्ञ**) भो महाप्राज्ञ (**सार्थम् अर्थम् अवेहि**) प्रयोजनभूत अर्थको समझो ।

भावार्थः— हे आत्मन्, परवस्तुमें निजत्त्व कल्पनाके कारणही तूं अनादि कालसे दुःखी होता है अर्थात् निराकुलताके लिए परवस्तुओंमेंही एकत्त्व मानकर उनके संग्रहमें सदैव तत्पर रहनेसे तूं दुःखी हो रहा है । इसलिए अब परमप्रयोजनभूत नव पदार्थोंको किंवा सप्त तत्वोंको तूं समझ । कारण इसके समझनेसेही तूं सांसारिक दुःखोंसे मुक्त हो सकता है । प्रयोजनभूत पदार्थोंके श्रद्धानका नामही सम्यक्दर्शन है और इससे विपरीत श्रद्धानका नाम मिथ्यादर्शन है ।

सार्थ शब्दके दो अर्थ होते हैं । एक प्रयोजनभूत और दूसरा युगपत् । जैसे सम्यक्त्वके प्रकरणमें सार्थ शब्दका अर्थ प्रयोजनभूत उपयुक्त मालूम होता है वैसे सम्यग्ज्ञानके प्रकरणमें युगपत् स्वपर अर्थको जानना यह अर्थ भी उपयुक्त प्रतीत होता है । यहांपर सम्यग्ज्ञानके स्वपरोपयोगका विषय चल रहा है । इसलिए हे आत्मन्, परवस्तुमें निजत्त्व मानकर एकाकार करनेकी इच्छासे तूं दुखी मत हो । किंतु युगपत् स्व और परको स्व तथा पररूपसे जान ।

चर्यया पर्यटन्नेव ज्ञानमर्थेषु लीलया ।
न दोषाय गुणायाथ नित्यं प्रत्यर्थमर्थसात् ॥ ८६६ ॥

अन्वयार्थः— (ज्ञानं) ज्ञान (अर्थेषु) अपने विषयोंमें (चर्यया एव पर्यटन्) इष्टानिष्ट कल्पनाके अनुसार प्रति समय अर्थसे अर्थांतरमें होनेवाली वृत्तिसेही वर्त रहा है (लीलया न) लीलासे नहीं इसलिए उसका (नित्यं) सदैव (प्रत्यर्थम्) अर्थ अर्थके प्रति (अर्थसात्) उसका तदाकार होकर विषय करना (दोषाय अथ गुणाय न) सम्यक्त्वके लिए दोषाधायक वा गुणाधायक नहीं है।

भावार्थ — साकार अर्थात् अर्थाकार होकर अर्थको जानना क्षायोपशमिक ज्ञानका स्वभाव है और वह क्षायोपशमिक-ज्ञान इष्टानिष्ट कल्पनाके अनुसार प्रत्यर्थ परिणामी होता रहता है। अतः उसके निमित्तसे सम्यक्त्वमें न कुछ दोष पैदा होते है तथा न गुणही पैदा होते है। क्योंकि चारित्रमोहके उदयसे उत्पन्न होनेवाली इष्टानिष्ट कल्पनासे सम्यक्त्वमें कुछ हानि लाभ नहीं होता है।

आगे ग्रन्थकार सम्यक्त्वके गुण और दोषोंका निरूपण करते हैं।

दोषः सम्यक्दृशो हानिः सर्वतोऽशाशतोऽथवा ।
संवराग्रेसरायाश्च निर्जरायाः क्षतिर्मनाक् ॥ ८६७ ॥
व्यस्तेनाथ समस्तेन तद्वयस्योपमूलनम् ।
हानिर्वा पुण्यबंधस्य हेयस्याप्यपकर्षणम ॥ ८६८ ॥
उत्पत्तिः पापबन्धस्य स्यादुत्कर्षोऽथवास्य च ।
तद्वयस्याथवा किंचिद्यावदुद्वेलनादिकम ॥ ८६९ ॥

अन्वयार्थः — (सम्यक्दृशः) सम्यग्दर्शनकी (सर्वतः) सर्वांशसे (अथवा) अथवा (अशांशतः) एक देशसे (हानिः) हानि होनाही (दोषः) दोष है (च) तथा (संवराग्रेसरायाः निर्जरायाः) सम्यक्त्वकी निमित्तसे संवरपूर्वक निर्जरा होती है उसकी (मनाक् क्षतिः) कुछ क्षति होनाही दोष है। साराश, देशरूपसे सम्यक्त्वकी हानि होना अथवा संवर निर्जरा न होनाही, सम्यक्त्व के दोष कहलाते है।

(व्यस्तेन) एक देशसे (अथ) अथवा (समस्तेन) सर्वांशसे (तद्द्वयस्य उपमूलनम्) उन संवर और निर्जराका विघात होना (वा) अथवा (हेयस्य अपि पुण्यबन्धस्य) सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा हेयभी पुण्यबन्धका (अपकर्षणम्) अपकर्षण होने लगना (हानिः) हानि अर्थात् सम्यक्त्वके लिए दोष कहलाते है ।

(अथवा) अथवा (पापबन्धस्य) पापबन्धकी (उत्पत्तिः) उत्पत्ति होने लगना (च) तथा (अस्य उत्कर्षः) इसी पापबन्धका उत्कर्ष होने लगना (हानिः 'स्यात्') दोष कहा जाता है (अथवा) अथवा (यावद्) जबतक (किंचित् उद्वेलनादिकम्) कुछ थोडाभी सम्यक्त्वप्रकृति आदिका उद्वेलनादि हो तबतक (तद् द्वयस्य) पापबन्धकी उत्पत्ति या उत्कर्ष होने लगना भी (हानिः) दोष कहा जाता है ।

भावार्थः— अंशत. अथवा पूर्ण रीतिसे सम्यग्दर्शनकी हानी होना, सम्यग्दृष्टिको होनेवाली संवर और निर्जरामें कुछ अन्तर पडना, अथवा उनका आशिक वा सर्व रीतिसे नाश होना, और यद्यपि सम्यग्दृष्टि पुण्यबन्धको हेयही समझता है तथापि उस के जो पापबन्ध कम होकर पुण्यबन्धही अधिक होता है उस पुण्यबन्धमें कुछ कमी होना, अथवा पुण्यबन्धका अपकर्षण होना वा पापबन्धकी उत्पत्ति अथवा उसका उत्कर्ष होने लगना अथवा सम्यक्प्रकृतिके उद्वेलनादि होने लगना पापबन्धकी उत्पत्ति या उत्कर्ष होना सम्यक्त्वमें दोषाध्यायक होते हैं ।

गुणः सम्यक्त्वसम्भूतिरुत्कर्षो वा सतोऽशकैः ।
निर्जराऽभिनवा यद्वा संवरोऽभिनवो मनाक् ॥ ८७० ॥

अन्वयार्थः— (सम्यक्त्वसम्भूतिः) सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होना (वा सतः) या प्राप्त सम्यग्दर्शनमें (अंशकैः) किन्ही अंशोंमें (उत्कर्षः) उत्कर्ष होना (यद्वा) या (मनाक् अभिनवा निर्जरा) कुछ नवीन निर्जराका होने लगना (वा) या (अभिनवः संवरः) कुछ नवीन संवर होने लगना सम्यक्त्वके लिए (गुणः) गुण है ।

भावार्थः— सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होना, क्षायोपशमिक सम्यक्त्वसे क्षायिक सम्यक्त्व हो जाना, अथवा क्षयोपशम के जो कतकृत्य—वेदक आदि अनेक भेद है उनमेंसे क्षायोपशमका कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाना और

विशुद्धि के वृद्धिसे सवर निर्जरामें वृद्धि हो जाना सम्यक्त्व के लिए गुणाधायक बताये है।

उत्कर्षोऽवानयोरंशे द्वयोरन्यतरस्य वा।
श्रेयोबन्धोथवोत्कर्षो यद्वा स्यादपकर्षणम् ॥ ८७१ ॥

अन्वयार्थः— (वा) अथवा (अंशे) कुछ अशोंद्वारा (अनयोः द्वयो वा अन्यतरस्य) निर्जरा और सवर इन दोनोंमें अथवा किसी एकमें (उत्कर्षः) अधिकता होना (अथवा श्रेयोबन्धः) अथवा विशेष पुण्यबन्ध होना (यद् उत्कर्षः वा अपकर्षणम् स्याद्) अथवा पुण्यप्रकृतियोंमें उत्कर्ष और पाप प्रकृतियोंमें अपकर्षण होने लगना (गुणः स्यात्) सम्यक्त्व के लिए गुण समझना चाहिए।

भावार्थः— सम्यक्त्वका उत्पन्न होना, प्राप्त सम्यक्त्वमें आंशिक विशुद्धि होना, अर्थात् वेदक-सम्यक्त्वसे कृतकृत्य-वेदक व क्षायिक-सम्यक्त्व होना, कुछ नवीन संवर और निर्जरा होना, संवर और निर्जरा इन दोनोंकी अथवा कोई एककी अधिकता होना, पुण्यबन्धमें उत्कर्ष होना, पुण्य प्रकृतियोंमें उत्कर्ष होना, पाप प्रकृतियोंमें अपकर्ष होना ये सब सम्यक्त्वके लिए गुणाधायक है।

गुणदोषद्वयोरेव नोपयोगोस्ति कारणम्।
हेतुर्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम् ॥ ८७२ ॥

अन्वयार्थः— (एवं) इस तरहसे सिद्ध होता है कि (उपयोग) ज्ञानोपयोग (गुणदोषद्वयोः कारणं न अस्ति) सम्यक्त्वके लिए गुण व दोषमेंसे किसीके लिएभी कारण नहीं (अन्यतरस्य अपि हेतुः न) तथा किसी एककाभी कारण नहीं है (च) और (अयम् योगवाही अपि न) यह ज्ञानोपयोग सम्यक्त्वके गुण और दोषमें किसी प्रकारका योगभी नहीं रखता है अर्थात् सहकारी कारण भी नहीं है।

भावार्थः— सम्यक्त्वके लिए गुणाधायक और दोषाधायक जो बाते बताई हैं उनमेंसे यह शुद्ध आत्मोपयोग ज्ञान-चेतनाका सविकल्पत्व, किसीभी प्रकार उन दोनोंका अथवा किसी एकका साक्षात्‌रूपसे साधक वा बाधक नहीं है। और न योगवाही होकर परंपरासे साधक बाधक है क्योंकि ज्ञान और सम्यक्त्व गुण पृथक् २ है और इनके बाधक कर्म भी पृथक् २ है। यद्यपि सम्यक्त्वके बाधक मिथ्यात्वके कारण ज्ञान अज्ञान कहलाता है तथापि

उत्पत्तिकी व्याप्ति दर्शनमोह-
ज्ञानावरणके उदयादिके द्वारा सम्यक्त्वमें कोई वाधा नहीं आती है क्योंकि सम्यक्त्वकी
मोहनीयके अभावके साथ है, अन्य कर्मके अभावके साथ नहीं है ।

इसी अर्थका खुलासा करते है ।

सम्यक्त्वं जीवभावः स्यादस्ताद्दङ्मोहकर्मणः ।
अस्ति तेनाविनाभूत व्याप्तेःसद्भावतस्तयोः ॥ ८७२ ॥

अन्वयार्थ.— (दृङ्मोहकर्मणः अस्तात्) दर्शनमोहनीयके अस्त होनेसे (जीवभावः) होने-
वाला जो जीवका भाव है (सम्यक्त्वं स्यात्) वह सम्यक्त्व कहलाता है क्योंकि (तयोः व्याप्तेः सद्भावतः)
दर्शनमोहनीयका अभाव और सम्यक्त्वमें व्याप्ति है इसलिए (तद्) वह सम्यग्दर्शन (तेन अविनाभूतं अस्ति)
दर्शनमोहनीयके अभावके साथ अविनाभाव रखनेवाला है

दैवादस्तंगते तत्र सम्यक्त्वं स्यादनंतरम् ।
दैवान्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम् ॥ ८७४ ॥

अन्वयार्थः— (दैवात्) दैवसे–काललब्धिसे (तत्र अस्तंगते) उस दर्शनमोहनीयके उपशमादिक
होतेही (अनन्तरम्) उसी समय (सम्यक्त्वं स्यात्) सम्यग्दर्शन होता है (दैवात् न) और दैवसे यदि उस
दर्शनमोहनीयका अभाव न हो, तो नहीं होता है अर्थात् जब काललब्धिसे दर्शनमोहका अभाव होता है तभी सम्य-
क्त्वकी उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं, इसलिए (अयम्) यह उपयोग (अन्यतरस्य अपि योगवाही न)
न तो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमेंही कारण है और न दर्शनमोहनीयके अभावमेंही निमित्त है ।

भावार्थ.— दर्शनमोहका अभाव और सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें व्याप्ति है इसलिए दर्शनमोहके अभावके होतेही
जीवके सम्यक्त्व नामक गुणका अविर्भाव होता है और उस दर्शनमोहका अभाव काललब्धिसे होता है अर्थात् जब
दैवयोगसे दर्शनमोहका अभाव होता है तब जीवमें सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है । इस सम्यक्त्वकी उत्पत्ति व दर्शन-
मोहके अभावमें साक्षात् व परम्परा, दोनोंही प्रकारसे उपयोग निमित्त नहीं पडता है ।

सार्धं तेनोपयोगेन न स्याद्व्याप्तिर्द्वयोरपि ।

विना तेनापि सम्यक्त्वं तदास्ते सति स्याद्यतः ॥ ८७५ ॥

अन्वयार्थः— (**तेन उपयोगेन सार्धम्**) उस आत्माके उपयोगके साथ (**द्वयोः अपि व्याप्तिः न स्यात्**) दर्शनमोहनीयके अभाव और सम्यक्त्वकी व्याप्ति (इन दोनोंकीही व्याप्ति) नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**तेन अपि विना**) आत्माके उपयोगके न रहते हुए भी (**तद् सम्यक्त्व आस्ते**) वह सम्यक्त्व रहता है और (**सति स्याद्**) उपयोगके रहते हुएभी रहता है ।

भावार्थ— आत्मोपयोगके साथ सम्यक्त्वका होना नियमित नहीं है अर्थात् सम्यक्त्व जैसे आत्माके उपयोगकी अवस्थामें रहता है । वैसेही भिन्न विषयके उपयोगकी अवस्थामें रहता है । इसलिए आत्मोपयोगके साथ सम्यक्त्वकी व्याप्ति नहीं है, क्योंकि भिन्न वस्तुके उपयोगमेंभी सम्यग्दर्शन रहता है ।

सम्यक्त्वेनाविनाभूता येऽपि ते निर्जरादयः ।
समं तेनोपयोगेन न व्याप्तास्ते मनागपि ॥ ८७६ ॥

अन्वयार्थः— (**सम्यक्त्वेन अविनाभूताः**) सम्यक्त्वके साथही अवश्य होनेवाले (**ये अपि ते निर्जरादयः**) जो वह संवर निर्जरादिक है (**ते**) सब भी (**तेन उपयोगेन समम्**) उस उपयोगके साथ (**मनाक् अपि**) किसी प्रकारसेभी (**व्याप्ताः न**) व्याप्ति नहीं रखते है ।

भावार्थ— तथा सम्यक्त्वके साथ होनेवाले जो संवर निर्जरा आदि कहे है उन सबकाभी सम्बन्ध सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्त्व और अनन्तानुबन्धीके अभावसे है । आत्माके उपयोगसे नहीं है ।

सत्यत्र निर्जरादीनां अवश्यंभावलक्षणम् ।
सद्भावोऽस्ति नासद्भावो यत्स्याद्वा नोपयोगि तद् ॥ ८७७ ॥

अन्वयार्थः— (**यद्**) क्यों कि (**तद् उपयोगी स्याद् वा न**) चाहे वह सम्यक्त्व, आत्माके उपयोगसहित हो अथवा न हो (**अत्र सति**) सम्यग्दर्शनके होनेपर (**निर्जरादीनां**) निर्जरादिकोंका (**अवश्यंभावलक्षणम्**) अवश्य होनेवाला (**सद्भावः अस्ति**) सद्भाव पाया जाता है, (**असद्भावः न**) असद्भाव नहीं ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिका उपयोग चाहे आत्मामें हो वा अन्य किसी विषयमें हो, उसका कुछ प्रयोजन नहीं है। सम्यक्त्व के सद्भावके कारण सम्यक्त्वादिकके संवर और निर्जरा अवश्य होती है।

आत्मन्येवोपयोग्यस्तु ज्ञानं स्यात् परात्मनि।
सत्सु सम्यक्त्वभावेषु सन्ति ते निर्जरादयः॥ ८७८॥

अन्वयार्थः— (**ज्ञानं**) ज्ञान (**आत्मनि उपयोगि अस्तु**) चाहे आत्मामें उपयोग कर रहा हो (**स्याद्**) अथवा कदाचित् (**परात्मनि अस्तु**) पर पदार्थोंमें उपयोग कर रहा हो, किन्तु (**सम्यक्त्वभावेषु सत्सु**) सम्यक्त्व भावोंके होनेपर (**ते निर्जरादयः सन्ति**) वे निर्जरादिक अवश्य होते है।

भावार्थः— आत्मामें उपयोग हो अथवा अन्य किसी पदार्थोंमें उपयोग हो परन्तु जब सम्यग्दर्शनरूप आत्माकी अवस्था होती है तब निर्जरादिक अवश्य होते है। अन्यथा नहीं। अतः उपयोगसे उनका कुछ संबंध नहीं है। " मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतव " इस सूत्रमेंभी अज्ञानको बन्धका कारण नहीं बताया है। किंतु मिथ्यात्त्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगकोही बन्धका कारण बताया है। इसलिए चाहे आत्मा अपनेमें उपयुक्त रहो अथवा अन्यमें उपयुक्त रहो परन्तु जितने अंशोंमें उसके मिथ्यात्त्व अथवा रागादिकका उदय रहता है उतने अंशोंमें उसका बन्ध होता है। और जितने अंशमें रागादि वा मिथ्यात्त्वका अभाव रहता है उतने अंशोंमें बन्धके कारणोंके अभावसे संवर और उस समय होनेवाली विशुद्धि से निर्जरा होती है उनका आत्माके उपयोग से कुछ भी संबंध नहीं है।

यत् पुनः श्रेयसोबन्धो बन्धश्चाश्रेयसोऽपि वा।
रागाद्वा द्वेषतो मोहात् स स्यात्स्यान्नोपयोगसात्॥ ८७९॥

अन्वयार्थः— (**यद् पुनः**) और जो (**श्रेयसः बन्धः**) पुण्यबन्ध (**वा**) अथवा (**अश्रेयसः अपि च**) पापबन्ध होता है (**सः**) वह सब (**रागात् द्वेषतः मोहात् वा**) राग, द्वेष और मोहसेही (**स्याद्**) होता है (**उपयोगसात् न स्यात्**) उपयोग के निमित्तसे नहीं।

व्याप्तिर्बन्धस्य रागाद्यैः नाव्याप्तिर्विकल्पैरिव ।
विकल्पैरस्यचाव्याप्ति न व्याप्तिः किलतैरिव ॥ ८८० ॥

अन्वयार्थः— (रागाद्यैः) रागादिक भावोंके साथ (बन्धस्य) बन्धकी (व्याप्ति) व्याप्ति है किन्तु (विकल्पैः इव व्याप्ति न) जैसे ज्ञानके विकल्पोंके साथ बन्धकी अव्याप्ति है । वैसेही रागादिकोंके साथ बन्धकी अव्याप्ति नहीं है, अर्थात् (विकल्पैः) विकल्पोंके साथ (अस्य च) इस बन्धकी (अव्याप्तिः) अव्याप्तिही है, किन्तु (तैः व्याप्ति इव किल न) रागादिकोंके साथ जैसी बन्धकी व्याप्ति है, वैसी विकल्पोंके साथ व्याप्ति नहीं है ।

भावार्थ — जैसे रागादिकोंके साथ बन्धके होनेका अविनाभाव सम्बन्ध है, वैसा ज्ञानके विकल्पोंके साथ नहीं है, अर्थात् जब जितने अंशोंमे रागादिक होते है, तब उतनेही अंशोंमें बन्धभी होता है, किन्तु ज्ञानके विकल्पोंके साथ बन्धके होनेका या न होनेका कुछ नियम नहीं है। जिस समय रागादिककी उदयरूप वा अनुदयरूप अवस्था होती है उससमय बन्ध और अबन्ध रहता है अत बन्ध के होनेका अथवा न होनेका रागादिकके उदय और अनुदयसे सम्बन्ध है । आत्मीक उपयोग व अनुपयोगसे नहीं । तथा ज्ञानके विकल्पोंके साथ जैसी बन्धकी अव्याप्ति है वैसी रागादिकके साथ अव्याप्ति नहीं है अर्थात् जैसे जैसे ज्ञानके विकल्प होते है तदनुसार बन्ध भी होता है यह नियम नहीं । इसतरह इस पद्यसे, रागादिकके साथही बन्धकी व्याप्तिको, तथा ज्ञानके विकल्पके साथ अव्याप्तिकोही निश्चय रूपसे कहनेके लिए, उभयथा व्याप्ति, अव्याप्ति बतलाई है ।

नानेकत्वमसिद्धंस्यान्नस्याद्व्याप्तिर्मिथोऽनया ।
रागादेश्चोपयोगस्य किन्तूपेक्षाऽस्ति तद्द्वयोः ॥ ८८१ ॥

अन्वयार्थः— (अनयोः) रागादिक और उपयोगमें (अनेकत्व असिद्धं नस्यात) भिन्नता असिद्ध नहीं है तथा (रागादेः उपयोगस्य च) रागादिक और उपयोगमें (मिथः व्याप्तिः न स्यात्) परस्पर व्याप्ति भी नहीं है (किंतु) किन्तु (तद्द्वयोः) उपयोग और रागादिक इन दोनोंमें (उपेक्षा अस्ति) परस्परमें उपेक्षा है अर्थात् किसी प्रकारकी अपेक्षा नहीं है ।

भावार्थः— रागादिक और उपयोग ये दोनों परस्परम एक नहीं किन्तु अनेक है। कदाचित् कहा जाय कि अनेक होते हुए भी उनमें किसी तरहका अविनाभाव संबंध है सो भी नहीं है। कारण रागादिक और उपयोग इन दोनोंमें किसी प्रकारकी परस्पर अपेक्षा नहीं है किन्तु उपेक्षा है।

आगे इसी अर्थका खुलासा करते हैं।

कालुष्यं तत्र रागादिर्भावश्चौदयिको यतः।
पाकाच्चारित्रमोहस्य दृङ्मोहस्याथनान्यथा ॥ ८८३ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उनमेंसे (कालुष्यं च रागादिभावः) मिथ्यात्व और रागादिक भाव (औदयिकः) औदयिक है। (यतः) क्योंकि (दृङ्मोहस्य अथ चारित्रमोहस्य पाकात्) दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीयके उदयसे रागादिकभाव होते हैं। (अन्यथा न) और किसीके उदयसे नहीं।

भावार्थः— मिथ्यात्व और रागादिक भाव दर्शनमोह तथा चारित्रमोहके उदयसे होते है। इसलिए वे दोनों औदयिक कहलाते हैं।

क्षायोपशमिकं ज्ञानमुपयोगः स उच्यते।
एतदावरणस्योच्चैः क्षयाद्वोपशमाद्यतः ॥ ८८४ ॥

अन्वयार्थः— (यद्) जो (क्षायोपशमिकं ज्ञानं) क्षायोपशमिक ज्ञान है (सः उपयोगः उच्यते) वह उपयोग कहलाता है (यतः) क्योंकि वह (एतदावरणस्य) ज्ञानावरणके (उच्चैः क्षयात् वा उपशमात् ' भवति ') सर्वघाति स्पर्द्धकोंके क्षयोपशमसे होता है।

भावार्थः— उपयोगरूप ज्ञान क्षायोपशमिक भाव है क्योंकि वह ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है। इसलिए यह ज्ञानगुण आंशिक विकास है और मिथ्यात्व तथा रागादि, सम्यक्त्व व चारित्र गुणकी बिलकुल विपरीत अवस्था है।

अस्ति स्वहेतुको रागो ज्ञानं चास्तिस्वहेतुकम्।
दूरे स्वरूपभेदत्वादेकार्थत्वं कुतोऽन्नयोः ॥ ८८५ ॥

अन्वयार्थः— (रागः स्वहेतुकः अस्ति) रागादिकका सद्भाव अपने कारणोंसे होता है, (च) और (ज्ञानं स्वहेतुकं अस्ति) ज्ञानका सद्भाव अपने कारणोंसे होता है इसलिए (अनयो स्वरूपभेद–त्वात् दूर ' सति ') रागादिक और ज्ञान स्वरूप-भेदसे अत्यंत भिन्न होनेपर इनमें (एकार्थत्वम् कुतोनयो) एकत्व कैसे होसकता है ?

भावार्थ — रागादि औदयिक भाव है और वे अपनी कारण सामग्री–चारित्रमोहनीय कर्मके उदयके होनेपर होते हैं । तथा उपयोग क्षायोपशमिक भाव है । वह अपनी कारण सामुग्री-ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है । इन दोनोंके कारण भिन्न २ है तथा एक औदयिक भाव है और दूसरा क्षायोपशमिक भाव है । इस तरह स्वरूपभेद होनेसे दोनोमे एकत्व कैसे होसकता है ? ।

किंच ज्ञानं भवदेव भवतीदं न चापरम् ।
रागादयो भवन्तश्च भवन्त्येते न चिद्यथा ॥ ८८६ ॥

अन्वयार्थः— (किंच) दूसरी बात यह है कि (यथा) जैसे (ज्ञानं भवत्) ज्ञान होते हुए (ज्ञानं एव भवति) ज्ञानही होता है (' तथा ') वैसेही (रागादयो भवन्तः) रागादिक भावोंके होते हुए (एते भवंति) रागादिक भावही होते हैं (चित् न) ज्ञान नहीं.

भावार्थः— रागादि भावोंका होना और ज्ञानका उपयोगरूप अवस्थामें परिणत होना ये दोनोही भिन्न स्वरूपोंके कार्य होनेसे एक समयमें ये दोनो एकात्मामें नहीं रह सकते, रागादिकके समय रागादिकही होंगे व ज्ञानोपयोगके समयमें ज्ञानही होगा रागादिक भाव नहीं होंगे ।

अभिज्ञानं च तत्रास्ति वर्धमाने चिति स्फुटम् ।
रागादीनामवृद्धिर्न स्याद्व्याप्तेरसम्भवात् ॥ ८८७ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उस विषयमें (अभिज्ञानं च अस्ति) दृष्टांत–रूपदर्शन इस तरह है कि (स्फुटम्) यह स्पष्ट है कि (चिति वर्धमाने) ज्ञानकी वृद्धि होनेपर (रागादीनां वृद्धिः न स्यात्) रागादिकोंकी वृद्धि नहीं होती है कारण कि (व्याप्तेः असम्भवात्) ज्ञानकी वृांद्धका रागादिककी वृद्धिके साथ अविनाभाव संबंध नहीं है अर्थात् ज्ञानके बढनेपर रागादिक बढेही ऐसा कुछ नियम नहीं है ।

वर्धमानेषु चैतेषु वृद्धिर्ज्ञानस्य न क्वचित ।
अस्ति यद्वा स्वसामग्र्या सत्यां वृद्धिः समाद्वयोः ॥ ८८७ ॥

अन्वयार्थ— (च) और (एतेषु वर्धमानेषु) रागादिकोंकी वृद्धि होनेपर (क्वचित्) कहीं २ (ज्ञानस्य वृद्धिः न अस्ति) ज्ञानकी वृद्धि नही पाई जाती है (यद्वा द्वयोः समा वृद्धिः) यदि कदाचित् ज्ञानकी वा रागादिककी एकके साथ युगपत् दूसरेकी वृद्धि पाई भी जाये तो वह (स्वसामग्र्यां सत्यां) अपने २ कारणोंके उपस्थित होनेपर होती है ।

भावार्थ —ज्ञानके कारण रागादिककी और रागादिकके कारण ज्ञानकी, वृद्धिका कोई संबंध नहीं हैं। कदाचित ज्ञान और रागादिक ये दोनोंही किसी एक व्यक्तिमे युगपत् वृद्धिशील पाए जावें तो वहा उन दोनोंके कारण अलग २ होगें ऐसा निश्चय है किसी एककी वृद्धिमें किसी दूसरेको कारणता नहीं है ।

ज्ञानेऽथ वर्धमानेऽपि हेतोः प्रतिपक्षक्षयात् ।
रागादीनां न हानिः स्याद्धेतोः मोहोदयात्सतः ॥ ८८८ ॥

अन्वयार्थः— (अथ) और (प्रतिपक्षक्षयात् हेतो) ज्ञानके प्रतिपक्षी ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके कारण (ज्ञाने वर्धमाने अपि) ज्ञानकी वृद्धि होनेपरभी (मोहोदयात् हेतोः सत.) मोहोदयरूप हेतुके सद्भाव होनेसे (रागादीना हानि· न स्यात्) रागादिकोंकी हानि नहीं होती है किन्तु वृद्धि होती है ।

भावार्थः— अपने प्रतिपक्षी कर्मके अभावमे ज्ञानके बढनेपरभी यदि चारित्र-मोहका उदय है तो रागादिककी हानि न होकर उलटी वृद्धि होती है इससे सिद्ध होता है की ज्ञानकी विशेपतासे रागद्वेपकी मंदता नहीं होती किन्तु चारित्र-मोहके अभावसे रागद्वेपका अभाव होता है ।

दैवयोगसे अपनी २ कारण सामग्रीके मिलनेपर ज्ञान और रागादिककी एक साथ हानि होती है । परन्तु यदि हानि हो तो वह अपने अपनेही कारणसे होती है अन्यथा नहीं ।

यद्वा दैवात्तत्सामग्र्यां सत्यां हानिः समं द्वयोः ।
आत्मीयाऽऽत्मीयहेतोर्या ज्ञेया नान्योन्यहेतुतः ॥ ८८९ ॥

अन्वयार्थः— (यद्वा) अथवा (दैवात्) किसी समय दैवयोगसे (तत् सामग्र्यां सत्यां) अपने २ कारणोंके सन्निधान होनेपर (द्वयोः सम या हानिः स्यात्) जो ज्ञान और रागादिककी हानि एकसाथ पायी जा सकती है " सा " वह (आत्मीयहेतोः ज्ञेया) अपने अपने कारणोंसे होती है यह समझना चाहिए (अन्योन्यहेतुतः न) परस्परमें एक दूसरेके निमित्तसे नहीं समझना चाहिये ।

भावार्थः— किसी समय किसी व्यक्तिके चारित्रमोहका मन्द उदय हुआ और उसी समय ज्ञानावरणके देशघाती स्पर्धकोंका तीव्र उदय हुआ तो रागादिके साथ २ उपयोगमेंभी मन्दता आसकती है, एतावता दोनोंके कारण अलाहिदा २ होनेसे वे परस्परमें एक दूसरेके कारण नहीं कहे जा सकते है ।

व्याप्ति र्वा नोपयोगस्य द्रव्यमोहेन कर्मणा ।
रागादीनां तु व्याप्तिः स्यात्संविदारणैः सह ॥ ८९० ॥

अन्वयार्थः— (उपयोगस्य) उपयोगकी (द्रव्यमोहेन कर्मणा वा) द्रव्यमोहनीय कर्मके साथभी (व्याप्तिः न) व्याप्ति नहीं है (तु) किन्तु (संविदावरणैः सह) ज्ञानावरण कर्मके साथ (रागादीनां व्याप्तिः) रागादिकोंकी व्याप्ति (स्यात्) है ।

भावार्थ.—जहातक उपयोग होता है वहातक द्रव्यमोहनीय कर्मका सद्भाव रहता हो ऐसा नियम नहीं है किन्तु जहानक रागादिक होते है वहातक संविदावरण कर्मका सद्भाव रहता है ऐसा नियम है। इसलिए उपयोगकी द्रव्यमोहके साथ व्याप्ति नहीं है किन्तु रागादिककी ज्ञानावरणके साथ व्याप्ति है। कारण कि मोहनीय कर्मका क्षय, पहिले होता है और ज्ञानावरण कर्मका [अन्तर्मुहूर्त] पीछे नाश होता है ।

व्याप्तिर्वा नोपयोगस्य द्रव्यमोहेन कर्मणा ।
रागादीनान्तु व्याप्तिः स्यात् संविदावरणैः सह ॥ ८९१ ॥
अन्वयव्यातिरेकाभ्यामेषा स्याद्विषमैव तु ।
न स्यात् समा तथाव्याप्तिर्हेतोरन्यतरादपि ॥ ८९२ ॥

अन्वयार्थः— (उपयोगस्य द्रव्यमोहेणकर्मणा न वा 'अस्ति') शुद्ध ज्ञानोपयोगकी द्रव्यमोह कर्मके साथ व्याप्ति नहीं है (तु) किन्तु (रागीदीनां संविदावरणैः सह व्याप्तिः स्यात्) रागादिकोंकी संविदावरणादिकके साथ व्याप्ति है ।

(तु) और (एषा) यह व्याप्ति (अन्वय व्यतिरेकाभ्यां विषमा एव) अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही मे विषम ही समझना चाहिये (तथा) तथा (अन्यतराद् अपि हेतोः) किसी दूसरे हेतुसे भी (समा न स्यात्) समव्याप्ति नहीं है।

भावार्थः— ऊपर जो खुलासा किया गया है कि ज्ञानके कारण रागादिकमें, अथवा विवक्षित रागादि-कके कारण ज्ञानमे भी किसी भी प्रकारकी हानि वृद्धिका सम्बन्ध नहीं है उसीकाही विशेषदृष्टिसे यहां खुलासा किया जाता है कि शुद्ध आत्माका उपयोग तो १३ वें १४ वें गुणस्थान तथा सिद्ध अवस्थामें भी पाया जाता है परन्तु द्रव्यमोहका क्षय " मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्चकेवलं "के सिद्धान्तानुसार दशवेंके अन्तमें ही होता है अर्थात द्रव्यमोह पहलेही नष्ट हो जाता है इस लिए उपयोगकी द्रव्यमोहके साथ व्याप्ति नहीं है कारण अनन्तानुबंधी रागादिकके सद्भावमें स्वानुभूत्यावरणका उदय रहता है इस लिए एतावता सामान्य रूपसे द्रव्यमोह मात्रके साथ उपयो-गकी व्याप्ति नहीं कही जाती किन्तु केवल रागादिकके साथ स्वानुभूत्यावरणकीही व्याप्ति कही जाती है और अवान्तर-भेदके साथ जो व्याप्ति होती है वह समव्याप्ति नहीं हो सकती. किन्तु विषम व्याप्तिही है।

विशेष भावार्थ.— यहा जो प्रकरण इस बातका चल रहा है कि आत्माके उपयोग तथा इतर पदार्थोंके उपयोगसे सम्यग्दृष्टीके होनेवाले संवर वा निर्जरामें अन्तर नहीं होता. इस लिए आत्मोपयोग रहो अथवा संभव रागादिके अनुसार इतर विषयोंमें उपयोग रहो केवल सम्यग्दृष्टीके इतनेमे कुछ हानि वा लाभ नहीं होता है इसी बातको खुलासा करते २ ग्रन्थकारने, जो द्रव्यमोहके साथ उपयोगकीव्याप्ति नहीं है केवल रागादिककी स्वानुभूत्यावरणके साथ व्याप्ति है और वह अन्वय व्यतिरेकसे विषम व्याप्ति किसी दूसरे कारणोंसे भी समव्याप्ति नहीं है! यह कहा है इसका भाव ऐसा माल्हम पडता है कि द्रव्यमोहकी सत्ता तो बारहवें गुणस्थानकी आदितक ही रहती है और आत्माका उपयोग आगेके गुणस्थानोंमें तथा सिद्ध अवस्थामें भी पाया जाता है इस लिए द्रव्यमोहकी आत्मोपयोगके साथ व्याप्ति नहीं है। तथा ग्रन्थकारने जो रागादिककी और स्वानुभूत्यावरणकी व्याप्ति बताई है वह भी स्पष्ट है कारण, जबतक अनन्तानुबन्धीका उदय रहता है, तबतक स्वानुभूत्यावरणका भी उदय रहता है. 'रागादिक' यह साधारण शब्द डाला है. इस लिए यह नियम नहीं रह जाता कि रागादिके होनेपर स्वानुभूत्यावरणका उदय नियमसे होताही हो कारण अप्रत्याख्यानावरण आदि सम्बन्धी रागादिकके होनेपर ज्ञानचेतनाका अभाव नहीं पाया जाता है किन्तु स्वानुभूत्यावरणके उदयमें अनन्ता-नुबन्धी रागादिक अवश्य ही पाये जाते है। इस तरह एकतरफा व्याप्तिके पाए जानेसे इन दोनोंमें विषम व्याप्ति है।

समव्याप्तिकी असिद्धिको युक्तिपूर्वक बताते हैं ।

व्याप्तेरसिद्धिः साध्यात्र साधनं व्यभिचारिता ।
सैकस्मिन्नापि सत्यन्यो न स्यात्स्याद्वा स्वहेतुतः ॥ ८९३ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) समव्याप्तिकी असिद्धिमें द्रव्यमोह और उपयोगमें व्याप्तिके अभावको सिद्ध करनेमें (व्याप्तेः असिद्धि. साध्या व्यभिचारिता साधनं ' अस्ति ') व्याप्तिकी असिद्धि तो साध्य है और व्यभिचारीपणा साधन है और (सा) वह व्यभिचारीपणा इस लिए सिद्ध होता है कि (एकस्मिन् सति अपि अन्यः न स्यात् वा स्यात् " तर्हि " स्वहेतुत. स्यात्) एकके होनेपर दूसरा नहीं होता है अथवा यदि होता भी है तो अपनी २ कारण सामग्रीसे होता है ।

भावार्थ— ज्ञान और रागादिकके निरूपण करते समय खुलासा किया जा चुका है कि रागादिके होनेपर अविनाभाव न रहनेसे. स्वानुभूत्यावरणके सद्भावका नियम नहीं है अतएव नियमके न रहनेमे व्यभिचारीपना पाया जाता है और उसके कारणसे दोनोंमें समव्याप्तिके अभावकी सिद्धी की जाती है ।

व्याप्तिका स्वरूप ।

व्याप्तित्वं साहचर्यस्य नियमः स यथा मिथः ।
सति यत्र यः स्यादेव न स्यादेवासतीह यः ॥ ८९४ ॥

अन्वयार्थः— (मिथः) परस्परमें (साहचर्यस्य नियमः व्याप्तित्व) सहचर नियमको व्याप्ति कहते है (स यथा) वह इस प्रकार है कि (इह) यहांपर (यत्र सति य स्यात् एव इह असति य न स्यात एव) जिसके होनेपर जो होवें और जिसके न होनेपर जो नहींही होवे ।

भावार्थ— जिसके होनेपर जो हो और जिसके न होनेपर जो नहीं हो इस प्रकार सहचरित नियमको अर्थात् अविनाभाव सम्बन्धको व्याप्ति कहते हैं ।

मा समा रागसद्भावे नूनं बन्धस्य सम्भवात् ।
रागादीनामसद्भावे बन्धस्याऽसम्भवादपि ॥ ८९५ ॥

व्याप्तिः सा विषमा सत्सु संविदावरणादिषु ।
अभावाद्रागभावस्य भावाद्वाऽस्य स्वहेतुतः ॥ ८९६ ॥

अन्वयार्थः— (**मा समा**) समव्याप्ति इस लिए नहीं है कि (**रागसद्भावे नूनं बन्धस्य सम्भवात्**) रागके सद्भावमें तो नियमसे यथासंभव कर्मोंका बन्ध होता है (**अपि**) तथा (**रागादीनां असद्भावे**) रागादिके अभावमें (**बन्धस्य असम्भवात्**) बन्ध नहीं होता है ।

तथा (**संविदावरणादिषु सत्सु रागभावस्य अभावात् वा अस्य स्वहेतुतः सद्भावात्**) ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायके रहनेपर रागभाव नहीं पाया जासकता है और यदि पाया भी जाता है तो अपने २ यथासंभव रागके कारण पाया जाता है ज्ञानावरणादिकके उदयसे बंधके सद्भावका कोई सम्बन्ध नहीं है इस लिए (**सा व्याप्तिः विषमा**) वह रागादिक और ज्ञानावरणादिकी व्याप्ति विषम कही जाती है ।

भावार्थः—पहले मोहका क्षय होता है अनन्तर ज्ञानावरणादिकका क्षय होता है इस सिद्धान्तके ऊपर लक्ष रखकर राग और ज्ञानावरणादिककी विषम व्याप्ति बताई है कारण कि रागके उदयमें ही कर्मोंकी स्थितिका और अनुभागका बंध होता है और ये दोनों बंध ही वास्तवमें बंध कहलाते है इस लिए रागके सद्भावमें बंध और इसके अभावमें बंधका अभाव कहा जाता है ऐसा होता है तो भी रागके सद्भावमें सब कर्मोंका उदय तथा ११ वें आदि गुणस्थानोंमें ज्ञानावरणादिकके होनेपर भी राग नहीं है इस लिए उभयता व्याप्तिके न घटनेसे समव्याप्ति नहीं. किन्तु विषमव्याप्ति ही है ८९५ वें पद्यका 'मासमा' और ८९६ वें पद्यका "व्याप्तिः सा विषमाः' इस पद्यको जोडकर अर्थ करनेसे यही अर्थ ध्वनित होता है अन्यथा ८९५ वें का पद्य अनमेलसा प्रतीत होता है ।(?)

अव्याप्तिश्चोपयोगेपि विद्यमानेष्टकर्मणाम् ।
बन्धो नान्यतमस्यापि नाबन्धस्तत्राप्यसति ॥ ८९७ ॥

अन्वयार्थ — (**च**) और (**अव्याप्तिः**) द्रव्यमोहकर्मके साथ उपयोगकी जो अव्याप्ति बताई है उसका खुलासा यह है कि (**उपयोगे विद्यमाने अपि अष्ट कर्मणां बन्धः न**) उपयोगके होनेपर आठों ही कर्मोंमेंसे किसी कर्मका बन्ध आगममें नहीं बताया तथा (**तत्र असति अपि अन्यतमस्य अबन्धः अपि न**) उपयोगके न होनेपर किसीका बन्ध रुकता भी नहीं है ।

भावार्थः— उपयोगके साथ किसी कर्मके बन्ध और अबन्धका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है क्यों कि सम्यग्दृष्टिके ज्ञानोपयोगके रहते हुए भी बंध होता है. और आत्माके प्रति उपयोगके न रहनेपर भी किसीका बंध नहीं रुकता है.

सर्वतश्चोपसंहारः सिद्धश्चैतावतात्र वै ।
हेतुः स्यान्नोपयोगोऽयं दृशो वा बन्धमोक्षयोः ॥ ८९८ ॥

अन्वयार्थः— (एतावता च अत्र) उक्त इस कथनपरसे भी यहांपर (सर्वतः च उपसंहारः सिद्धः) पूर्णतया यही सारांश सिद्ध होता है कि (अयं उपयोगः) यह उपयोग (दृशः वा बन्धमोक्षयोः) सम्यक्त्व तथा बन्ध मोक्षके लिए (हेतुः न स्यात्) किसी भी प्रकारसे कारण नहीं है।

भावार्थः— उक्त ऊहापोह से यही सारांश निकलता है कि उपयोग न तो सम्यक्त्वके लिए ही कारण है और न कर्मोंके बन्ध तथा मोक्षके लिए ही कारण है।

ननु चैवं स एवार्थो यः पूर्वं प्रकृतो यथा ।
कस्यचिद्वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ८९९ ॥
आत्मनोऽन्यत्र कुत्रापि स्थिते ज्ञाने परात्मसु ।
ज्ञानसंचेतनायाः स्यात्क्षतिः साधीयसी तदा ॥ ९०० ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (एवं) इस तरहसे तो यही बात सिद्ध होती है कि (पूर्वं यः प्रकृतः स एव अर्थः) जो पहले प्रकृत अर्थ था वही अर्थ इस कथनका भी होता है (यथा) जैसे कि (कस्यचित् वीतरागस्य सद्दृष्टेः ज्ञानचेतना) केवल किसी वीतराग सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना होती है क्योंकि जब (आत्मनः अन्यत्र) शुद्ध स्वात्माके सिवाय (कुत्रापि परात्मसु) किन्हीं अन्य पदार्थोंमें (ज्ञाने स्थिते) ज्ञानका उपयोग होता है (तदा) तब (ज्ञानसंचेतनायाः क्षतिः) ज्ञानचेतनाकी हानि (साधीयसी स्यात्) अवश्य सिद्ध होती है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि इस उक्त सब कथनसे तो हमारा पूर्वोक्त कथनही सिद्ध होता है कि केवल वीतराग सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना होती है। क्योंकि जब सरागीकी चेतना शुद्ध आत्माको छोडकर अन्य पदार्थोंमें उपयुक्त होती है तब अवश्य ही ज्ञानचेतनाकी क्षति होजाती है।

समाधान।

सत्यं चापि क्षतेरस्याः क्षतिः साध्यस्य न कचित्।
दृयानात्मोपयोगस्य तस्यास्तत्राप्यहेतुतः॥ १०१॥
साध्यं यद्दर्शनाद्धेतो र्निर्जरा चाष्टकर्मणाम।
स्वतो हेतुवशाच्छक्तेर्न तद्धेतुः स्वचेतना॥ १०२॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) शङ्काकारका कहना ठीक है परन्तु (अस्याः क्षतेः अपि) ज्ञानचेतनाके क्षतिसे भी अर्थात् ज्ञानचेतनाके अन्य पदार्थोंके विषय होनेपर भी (साध्यस्य क्वचित् क्षतिः न च) साध्य जो ज्ञानचेतनाके निमित्तसे होनेवाले संवर और निर्जरा है उनकी कभी भी हानि नहीं होती है क्यों कि (तस्याः तत्रापि अहेतुतः) ज्ञानचेतनाको सम्यक्त्वके साध्यभूत संवर तथा निर्जरामें निमित्त न होनेसे (उपयोगस्य दृयान् आत्मा) शुद्ध स्वात्माको विषय करनाही उपयोगात्मक ज्ञानचेतनाका स्वरूप है कारण कि (दर्शनात् हेतोः) सम्यग्दर्शनके निमित्तसे (अष्ट कर्मणां निर्जरा) आठों कर्मोंकी निर्जराका होना (यत्) जो (साध्यं) साध्य है ('तत्') वह (स्वतः शक्तेः हेतुवशात्) स्वयं सम्यक्त्वकी शक्तिके कारण होता है अर्थात् मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके अभावसे होनेवाली विशुद्धिके निमित्तसे होता है अतः (स्वचेतना तद्धेतुः न च) ज्ञानचेतना उसमें कारण नहीं है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक है। परन्तु ज्ञानचेतनाका काम केवल शुद्ध आत्माको जानना है। अतः उस ज्ञानचेतनाकी क्षतिसे—सम्यग्दृष्टिका इतर पदार्थोंमें उपयोग होनेसे ज्ञानचेतनाके साध्यभूत जो संवर और निर्जरा हैं उनकी क्षति नहीं होती है। क्योंकि संवर तथा निर्जराका कारण मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी का अभाव है ज्ञानचेतनाका सद्भाव नहीं है। अर्थात् मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी आदिके निमित्तसे बन्ध होता है। और उनके अभावसे संवर तथा निर्जरा होती है। उपयोग व अनुपयोगसे उसका कुछभी सम्बन्ध नहीं है।

ननु चेदाश्रयासिद्धो विकल्पो व्योमपुष्पवत्।
तर्त्कि हेतुः प्रसिद्धोऽस्ति सिद्धः सर्वविदागमात्॥ १०३॥

अन्वयार्थः— (ननु चेत्) शंकाकारका कहना है कि यदि (विकल्प) ज्ञानमें विकल्प मानोगे तो (व्योमपुष्पवत् आश्रयासिद्धः) आकाश–पुष्पकी तरह आश्रयासिद्ध दोष आता है परन्तु जब आपने ज्ञानको सविकल्प माना है (तत) तो फिर उसके सिद्धिके लिए (सर्वविदागमात् सिद्धः प्रसिद्धः हेतुः किं अस्ति) जिनागमसे अबाधित प्रसिद्ध हेतु क्या है ?

भावार्थ— जैनसिद्धातमें ज्ञानको सविकल्प और सम्यक्त्वादिकको निर्विकल्प माना है । उनमेंसे सम्यक्त्व के प्रकरणमें सम्यग्दर्शनको भले प्रकार निर्विकल्प सिद्धकर आये है अर्थात् योग-संक्रातिपूर्वक होनेवाली चेतनाकी अर्थसे अर्थान्तररूप सक्रातिके द्वारा सम्यक्त्वमें किसी प्रकारका विकल्प सिद्ध नही होता है ऐसा सिद्धकर आये है । अब ज्ञानके स्वलक्षणभूत विकल्पत्वके विषयमें प्रश्नोत्तर रूपसे उहापोहपूर्वक विचार करते है कि ज्ञानमें सविकल्पत्व सिद्ध करनके लिए आगममें साधक हेतु क्या बताया है उसे बतलाईयेगा । अन्यथा जैसे आकाशमें पुष्पका कहना आश्रयासिद्ध है वैसेही ज्ञानमें विकल्पका बताना भी आश्रयासिद्ध दोषसे युक्त माना जायगा ।

सत्यं विकल्पसर्वस्वसारं ज्ञानं स्वलक्षणात ।
सम्यक्त्वे यद्विकल्पत्वं नतत्सिद्धं परीक्षणात् ॥ १०४ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) शकाकारका कहना ठीक है क्योंकि (ज्ञानं) ज्ञान गुण (स्वलक्षणात्) अपने लक्षणसे (विकल्पसर्वस्वसारं) विकल्पात्मक है । किन्तु (सम्यक्त्वे यद्विकल्पत्वं) सम्यक्त्वके होनेपर जो ज्ञानमें अर्थ–सक्रांतिरूप विकल्पपना कहा जाता है (तत्परीक्षणात् न सिद्धं) वह परीक्षा करनेसे सिद्ध नहीं होता है ।

भावार्थः— विकल्प शब्दके दो अर्थ होते है एक आकार, व्यवसाय, निश्चय, स्वपरप्रकाशक और दूसरा अर्थसे अर्थांतररूप होनेवाली संक्राति । उनमेंसे आकार–व्यवसायरूप विकल्प का अर्थ ज्ञानका स्वलक्षण है । इसलिए उसका यहांपर खंडन नहीं किया है । किन्तु योगसंक्राति के अनुसार छद्मस्थ ज्ञानियोंके ज्ञानमें जो अर्थ से अर्थांतराकाररूप परिणमन होता है वह परीक्षा करनेपर सम्यग्दर्शनके समान सम्यग्ज्ञानमें भी सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि वह ज्ञानका स्वरूप नहीं है । किन्तु ज्ञानके साथ होनेवाली राग क्रियाका स्वरूप है ।

अब आगे इसी अर्थका खुलासा करते है ।

यत्पुनः कैश्चिदुक्तं स्यात्स्थूललक्ष्योन्मुखैरिह ।
अत्रोपचारहेतुर्यस्तं ब्रुवे किल साम्प्रतम् ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थ.— (यत्पुन) और जो (इह) इस विषयमें (कैश्चित्) किन्हीं (स्थूललक्ष्योन्मुखै.) स्थूलदृष्टि पुरुषोंने (उक्तं स्यात्) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें सविकल्पपना कहा है वह उपचारसेही कहा है अत (अत्र) यहांपर (यः उपचारहेतुः) जो उपचारका कारण है (तं) उसकोही (किल) निश्चय करके (साम्प्रतं ब्रुव) इस समय कहते है ।

भावार्थ.— किन्हीं २ आचार्योंने जो स्थूलदृष्टिसे सराग सम्यग्दृष्टियोंके सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञानमें अर्थ संक्रातिरूप सविकल्पपना कहा है वह उपचारसेही कहा है । अतः अब उस उपचारके प्रयोजनकोही यहांपर कहते है ।

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियाऽस्ति वै ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थः— (यत् क्षायोपशमिकं ज्ञानं) जो क्षायोपशमिक ज्ञान (प्रत्यर्थं परिणामि) प्रति-समय अर्थसे अर्थान्तरको विषय करनेके कारण सविकल्प माना जाता है (तत्) वह वास्तवमें (ज्ञानस्य स्वरूपं न) ज्ञानका स्वरूप नहीं है (किन्तु) किन्तु (वै) निश्चय करके (रागक्रिया अस्ति) उस ज्ञानके साथमें होनेवाली रागकी क्रिया है ।

भावार्थः— छद्मस्थोंकी प्रतिसमय रुचि बदलती रहनेसे उनका क्षायोपशमिक ज्ञान जो प्रतिसमय प्रत्यर्थ परिणामी होता रहता है । वह प्रत्यर्थ परिणामी होना ज्ञानका स्वरूप नहीं है । किन्तु उस ज्ञानके साथमें होनेवाली रागकी परिणतिका स्वरूप है ।

आगे इसीका खुलासा करते है ।

प्रत्यर्थं परिणामित्वमर्थानामेतदस्ति यत् ।
अर्थं अर्थं परिज्ञानं मुह्यद्रज्यद्द्विषद्यथा ॥ १०७ ॥

अन्वयार्थ:— (यथा) जैसे कि (यत्) जो (ज्ञानं) ज्ञान (अर्थं अर्थं प्रति) प्रत्येक अर्थके प्रति (मुह्यत् रज्यत् द्विषत्) मोहयुक्त, रागयुक्त अथवा द्वेषयुक्त होता रहता है (एतत्) यही (अर्थानां विषये ज्ञानस्य प्रत्यर्थं परिणामित्वं अस्ति) ज्ञानका प्रत्येक अर्थसम्बन्धी प्रत्यर्थपरिणामित्व है ।

भावार्थ:— संसारी जीवोंके ज्ञानका जो रागद्वेषादिकके अनुसार प्रवृत्ति हो रही है । यही ज्ञानका प्रत्यर्थ परिणामीपना है । और इस प्रत्यर्थपरिणामित्वको ज्ञानका स्वलक्षणभूत विकल्प नहीं कह सकते हैं । किन्तु यह तो रागकी क्रिया है । क्षायोपशमिक ज्ञानका तथा बुद्धिपूर्वक रागादिकका छटवे गुणस्थान तक केवल सहभाव पाया जाता है । इसलिए इस उपचारसे उस अर्थ—संक्रांतिरूप विकल्पसहित कह देना दूसरी बात है । परन्तु वास्तवमें अर्थ संक्रांतिरूप विकल्पत्व ज्ञानका धर्म नहीं कहा जासकता है ।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षादस्ति सिद्धमिदं यतः ।
रागार्त्तं ज्ञानमक्षांतं रागिणो न तथा मुनेः ॥१०८ ॥

अन्वयार्थ:— (स्वसंवेदनप्रत्यक्षात्) स्वसंवेदन—प्रत्यक्षसे (इदं सिद्धं अस्ति) यह पूर्वोक्त कथन सिद्ध होता है (यतः) क्योंकि ('यथा') जैसे (रागिणः) रागी पुरुषका (रागार्त्तं ज्ञानं) रागयुक्त ज्ञान (अक्षांतं) आकुलित होता है (तथा मुनेः न) वैसे वीतराग मुनिका नहीं होता है ।

भावार्थ — उपर्युक्त यह कथन स्वानुभवसेभी सिद्ध होता है । क्योंकि जैसा रागीका ज्ञान चंचल रहता है वैसा वीतरागी मुनिका नहीं रहता है ।

अस्ति ज्ञानाविनाभूतो रागो बुद्धिपुरस्सरः ।
अज्ञातेऽर्थे यतो न स्याद्रागभावः खपुष्पवत् ॥ १०९ ॥

अन्वयार्थ:— (बुद्धिपुरस्सरः रागः) बुद्धिपूर्वक राग (ज्ञानाविनाभूतः अस्ति) क्षायोपशमिक ज्ञानके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखता है (यतः) क्यों कि (अज्ञाते अर्थे) अज्ञात अर्थमें (खपुष्पवत्) आकाशके पुष्पकी तरह (रागभावः न स्यात्) रागभाव नहीं होता है ।

भावार्थ:— क्षायोपशमिक ज्ञान और बुद्धिपूर्वक रागका अवश्यंभावी सहयोग है । कारण कि ज्ञानके

विना वस्तुमें रागभाव नहीं होता है । इसलिए क्षायोपशमिकज्ञानके अनुसारही छद्मस्थोंके रागादिककी प्रवृत्ति पाई जाती हैं अन्यथा नहीं ।

इस प्रकार जो परपदार्थोंके रागद्वेष और मोहके कारण ज्ञानमें परिवर्तन होता रहता है वह ज्ञानका असली स्वरूप नहीं है । किन्तु राग क्रिया है ।

अस्त्युक्तलक्षणोरागश्चारित्रावरणोदयात् ।
अप्रमत्तगुणस्थानादर्वाक् स्यान्नोर्ध्वमस्त्यसौ ॥ ११० ॥

अन्वयार्थः— (**उक्तलक्षणः रागः**) यह पूर्वोक्त रागभाव (**चारित्रावरणोदयात् अस्ति**) चारित्रावरण नामक कर्मके उदयसे होता है तथा (**असौ**) यह राग (**अप्रमत्तगुणस्थानात् अर्वाक् स्यात्**) अप्रमत्त गुणस्थानके पहले पाया जाता है (**ऊर्ध्वं न अस्ति**) अप्रमत्त गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थानोंमें इसका सद्भाव नहीं पाया जाता है ।

भावार्थ — मिथ्यादृष्टिके अनन्तानुबन्धी आदि चारों क्रोधादिकके उदयजन्य, अविरत सम्यग्दृष्टिके अप्रत्याख्यानावरणादि क्रोधादिकके उदयजन्य, देशव्रतीके प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनके उदयजन्य तथा प्रमत्तविरतके संज्वलनके तीव्र उदयजन्य जो रागद्वेषादिक होते है उनको बुद्धिपूर्वक रागादि कहते है । और जो रागादिक सज्वलन तथा नोकषायके मन्दउदयादिकसे होते हैं उनको अबुद्धि-पूर्वक रागादिक कहते है । इन बुद्धि और अबुद्धिपूर्वक होनेवाले रागादिकोंमेंसे बुद्धिपूर्वक रागादि चारित्रमोहके उदयसे सातवें गुणस्थानके पहले पद तक ही होते है । आगे नहीं ।

अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वजः ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः स्याद्विवक्षावशान्नवा ॥ १११ ॥

अन्वयार्थः— (**च**) और (**ऊर्ध्वं**) ऊपरके गुणस्थानोंमें (**अबुद्धिपूर्वजः सूक्ष्मः रागः अस्ति**) जो अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म राग होता है (**असौ च**) यह अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म राग भी (**क्षीणकषायेभ्यः अर्वाक् स्यात्**) क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानके पहले होता है अर्थात् ७ वें गुणस्थानसे १० वें गुणस्थान तक

होता है (वा) अथवा (**विवक्षावशात् न**) ७ वें गुणस्थानसे १० वें गुणस्थानतक होनेवाला यह रागभाव सूक्ष्म होनेसे बुद्धिगम्य नहीं होता है इसलिए विवक्षावश नहीं भी होता है।

भावार्थः— ७ वें गुणस्थानसे १० वें गुणस्थानतक होनेवाला जो रागभाव है वह अबुद्धिपूर्वक कहा जाता है। अथवा उक्त गुणस्थानोंमें होनेवाला यह रागभाव अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अव्यक्त है इस अपेक्षासे नहीं भी है ऐसा कहा जाता है।

विमृश्यैतत्परं कैश्चिदसद्भूतोपचारतः।
रागवज्ज्ञानमत्रास्ति सम्यक्त्वं तद्वदीरितम् ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थ— (**परं एतत् विमृश्य**) केवल यही विचार करके (**कैश्चित्**) किन्हीं आचार्योंने (**असद्भूतोपचारतः**) असद्भूत उपचार नयसे (**अत्र ज्ञानं रागवत् अस्ति**) जिस प्रकार छट्टे गुणस्थान तक के ज्ञानको रागयुक्त कहा है (**तद्वत् सम्यक्त्वं ईरितम्**) उसी प्रकार सम्यक्त्वको भी रागयुक्त कहा है।

भावार्थ — ७ वें गुणस्थान के पहले बुद्धिपूर्वक होनेवाली रागक्रिया और क्षायोपशमिक ज्ञान ये दोनों साथ २ रहते हैं। इसलिए किन्हीं २ आचार्योंने असद्भूत–उपचार–नय की अपेक्षासे उक्त गुणस्थानोंके ज्ञान तथा सम्यक्त्व को सराग और सविकल्प कहा है।

हेतोः परं प्रसिद्धैर्यैः स्थूललक्ष्यैरिति स्मृतम्।
आप्रमत्तं च सम्यक्त्वं ज्ञानं वा सविकल्पकम् ॥ ११३ ॥
ततस्तूर्ध्वं तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पकम्।
शुक्लध्यानं तदेवास्ति तत्रास्ति ज्ञानचेतना ॥ ११४ ॥
प्रमत्तानां विकल्पत्वान्न स्यात्सा शुद्धचेतना।
अस्तीति वासनोन्मेषः केषांचित्स न सन्निह ॥ ११५ ॥

यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत्परम् ।
परो वा नाश्रयेद्दोष गुणं नापि पराश्रितम् ॥ ९१६ ॥

अन्वयार्थः— (परं) केवल (हेतोः) रागरूप हेतुसेही (प्रसिद्धैः यैः स्थूललक्ष्यैः) प्रसिद्ध जिन स्थूल-दृष्टि आचार्योंने (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्वं (च) और (ज्ञानं वा) ज्ञानको (आप्रमत्तं) छट्ठे गुणस्थानतक (सविकल्पं इति स्मृतं) सविकल्प कहा है उन्ही आचार्योंने (ततः ऊर्ध्वं) छट्ठे गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थानोंमें (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व (तु) तथा (ज्ञान वा) ज्ञानकोभी (निर्विकल्पकं) निर्विकल्पक कहा है (तु) और (तदेव शुक्लध्यानं अस्ति) उसीको शुक्लध्यान कहा है तथा (तत्र ज्ञानचेतना अस्ति) वहांपरही ज्ञानचेतना मानी है किन्तु (प्रमत्तानां विकल्पत्वात्) प्रमत्त गुणस्थानतक विकल्पका सद्भाव होनेसे उन गुणस्थानोंमें जो चेतना होती है (सा) वह (शुद्धचेतना न स्यात्) शुद्ध चेतना नहीं होती है (इति) इस प्रकारसे (इह) इस प्रकरणमें यहांपर जो (केषांचित्) किन्ही २ के (वासनोन्मेष अस्ति) वासनाका उदय है अर्थात् पक्ष है (सः सन् न) वह ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि जैसे (पराश्रितः दोषः) पराश्रित दोष-दूसरेसे सम्बन्ध रखनेवाले दोष (वा) अथवा (गुण) गुण (पर न आश्रयेत्) परके दोष अथवा गुण नहीं कहलाते है अर्थात् परको आश्रित नहीं करते है वैसेही (परो वा) अन्य कोई दूसरा गुण अथवा दोष भी (पराश्रितं दोषं च गुणं अपि न आश्रयेत्) परके दोष और गुणको आश्रित नहीं करते है किन्तु अपने २ गुण व दोष अपना २ आश्रय किया करते है अर्थात् जो गुण व दोष जिसके होंगे वे उसीकेही गुण व दोष कहावेंगे अन्यके नहीं ।

भावार्थ.— इस प्रकार रागरूप हेतु देकर कितनेही विद्वानोंने छट्ठे गुणस्थानतकके ज्ञान व सम्यक्त्वको सविकल्प माना है । और ७ वे आदि गुणस्थानोंमें उसी सम्यक्त्व व ज्ञानको निर्विकल्प माना है । तथा निर्विकल्प सम्यक्त्ववालोंकेही शुद्धचेतनाका सद्भाव माना है और उसमें यह हेतु दिया है कि प्रमत्तगुणस्थानतक जीवोंके सम्यक्त्व व ज्ञानमें विकल्प रहता है । इसलिए उनकी चेतना सविकल्प होनेसे शुद्ध चेतना नहीं होसकती है । इस सब कथनका उत्तर ग्रथकार देते है कि यह सब उनकी वासनाओंकी लहर है । और वासनोन्मेषसे तत्वके स्वरूपका निर्णय नहीं होता है । इसलिए उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि अन्य गुणोंके आश्रित विकार व विकाश अन्य गुणोंके लिए लागू

नहीं होते है । अत चारित्र-मोहोदजन्य रागभावभी, क्षयोपशमिकादि भावरूप सम्यक्त्वादिकमें कैसे लागू किये जा सकते है अर्थात् नही किए जा सकते है ।

पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोऽस्त्यौदयिकः स्फुटम् ।
सम्यक्त्वे स कुतो न्यायाज्ज्ञाने वाऽनुदयात्मके ॥ ११७ ॥

अन्वयार्थ — (स्फुटं) इस लिए यह बात स्पष्ट है कि (चारित्रमोहस्य पाकात्) चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाला जो (औदयिकः रागः अस्ति) औदयिक राग है (सः) वह (अनुदयात्मके सम्यक्त्वे वा ज्ञाने) अनुदयरूप-क्षायिक व क्षायोपशमिक भावरूप सम्यक्त्व तथा ज्ञान में (कुतः न्यायात्) कौनसे न्यायसे कहा जासकता है ।

भावार्थ— सम्ययक्त्व तो क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावरूप होता है । तथा ज्ञान क्षायो-पशमिक भावरूप होता है । किसी कर्मके उदयरूप नहीं होता है । इस लिए चारित्रमोह के उदय से होनेवाला जो औदयिक रागभाव है वह सम्यक्त्व व ज्ञानमें दोषाधायक नहीं हो सकता है अर्थात् वह केवल चारित्रमेंही दोष पैदा करनेवाला होसकता है इतर में नहीं ।

अनिघ्नन्निह सम्यक्त्वं रागोऽयं बुद्धिपूर्वकः ।
नूनं हन्तुं क्षमो न स्याज्ज्ञानसंचेतनामिमाम ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थः— (इह) यहापर (अयं बुद्धिपूर्वकः रागः) यह बुद्धिपूर्वक औदयिक भावरूप राग (सम्यक्त्वं अनिघ्नन्) सम्यक्त्वका घात नहीं करता है इसलिए वह (इमां ज्ञानसञ्चेतनां) इस ज्ञान चेतनाको भी (नूनं) निश्चयसे (हन्तु क्षम न स्यात्) घात करनेके लिए समर्थ नहीं हो सकता है ।

भावार्थः— इस प्रकार सिद्ध होता है कि यह बुद्धिपूर्वक राग न तो सम्यक्त्वकाही घात कर सकता है । और न उस सम्यक्त्वके साथ होनेवाली ज्ञानचेतनाकाही घात कर सकता है ।

नाप्यूह्यमिति शक्तिः स्याद्रागस्यैतावतो[ता]पि या ।
बन्धोत्कर्षोदयाशानां हेतुर्दृग्मोहकर्मणः ॥ ११९ ॥

अन्वयार्थः— (**एतावतः अपि**) इस उक्त कथनपरसे (**इति अपि न अर्ह**) यह आशंकाभी नहीं करना चाहिए कि (**या**) जो (**शक्तिः**) शक्ति (**दृङ्मोहकर्मणः**) दर्शन-मोहनीय कर्मके (**बन्धोत्कर्षोदयांशानां**) बन्ध, बन्धके उत्कर्ष और उसके उदयांशोंमें (**हेतुः**) कारण होती है ('**सा**') वह (**रागस्य स्यात्**) बुद्धिपूर्वक रागकी है ।

भावार्थ— दर्शन-मोहनीयके बन्धादिकमें रागादिकका उदय कारण नहीं होसकता है । क्योंकि दर्शन-मोहनीयका बन्ध बन्धोत्कर्ष किंवा उदय दर्शनमोहनीयके उदयमेंही होता है चारित्रमोहनीयके उदयमें नहीं । और सम्यक्त्वका घात भी दर्शन-मोहनीयके बन्धोत्कर्षादिकसे होता है चारित्रमोहके बन्धादिकसे नहीं । इसलिए जब दर्शन मोहके बन्धोत्कर्षादिक, दर्शनमोहके अभावमें केवल चारित्र मोहके उदयसे नहीं होते है तो फिर उनसे सम्यक्त्वका घात कैसे हो सकता है ।

साराश यह है कि सम्यग्दृष्टीके मिथ्यात्वका बन्ध व उदय न होनेसे उसके अप्रत्याख्यानावरणादिजन्य रागद्वेष ज्ञानचेतनाके बाधक नहीं हो सकते है ।

एवं चेत्सम्यगुत्पत्ति र्न स्यात्स्यात दृगसंभवः ।
सत्यां प्रध्वंससामग्र्यां कार्यध्वंसस्य संभवात् ॥ ९२० ॥

अन्वयार्थः— (**एवं चेत्**) यदि केवल रागादिकके द्वारा ज्ञानचेतनामें बाधा होती है ऐसा मानोगे तो फिर (**सम्यगुत्पत्तिः न स्यात्**) सम्यक्त्वकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी और उसके न होनेसे (**दृगसंभवः स्यात्**) सम्यग्दर्शनका होना असंभव होजायगा कारण कि (**प्रध्वंससामग्र्यां सत्यां**) घातके कारण उपस्थित होनेपर (**कार्यध्वंसस्य संभवात्**) कार्यका भी नाश अवश्य होता है ।

भावार्थः— अबुद्धिपूर्वक रागादिक का सद्भाव छट्टे गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थानों में पाया जाता है । और बुद्धिपूर्वक रागादिकका सद्भाव चौथे, पाचवें तथा छट्टे गुणस्थानोंमें पाया जाता है । यदि रागको सम्यक्त्वका घातक मानोगे तो सर्वत्र सम्यक्त्वके घातकी सामग्री रहनेसे सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका होनाही असंभव हो जायगा ।

न स्यात्सम्यक्त्वप्रध्वंसश्चारित्रावरणोदयात् ।

रागेणैतावता तत्र दृङ्मोहेऽनधिकारिणा ॥ ९२१ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र दृङ्मोहे**) उस दर्शनके मूर्छित करनेमें (**नाधिकारिणा**) अधिकार न रखने-वाले (**चारित्रावरणोदयात्**) मिथ्यात्व रहित केवल चारित्रवरणोदयसे होनेवाले (**एतावता रागेण**) इतने रागसे उस सम्यग्दृष्टिके (**सम्यक्त्वप्रध्वसः न स्यात्**) सम्यक्त्वका घात नहीं होता है।

भावार्थः— इसलिए दर्शनको विकृत करनेमें असमर्थ चारित्रमोहके उदय से उत्पन्न होनेवाला जो राग-भाव है वह सम्यक्त्व–ज्ञानचेतनाका घातक नहीं होसकता है।

यतश्चास्त्यागमात्सिद्धमेतत् दृङ्मोहकर्मणः।
नियतं स्वोदयाद्बन्धप्रभृति न परोदयात् ॥ ९२२ ॥

अन्वयार्थः— (**यतः**) क्योंकि (**एतत् आगमात् सिद्धं च अस्ति**) यह बात आगमसे भी सिद्ध है कि (**दृङ्मोहकर्मणः**) दर्शनमोहनीय कर्मका (**बन्धप्रभृति**) बन्ध वगैरह (**स्वोदयात् नियत**) अपनेही उदयसे नियत है (**परोदयात् न**) परोदयसे नियत नहीं है।

भावार्थ— किन्हीं प्रकृतियोंका बन्ध अन्य प्रकृतियोंके उदय होते हुए होता है। किन्हीं प्रकृतियोंका बन्ध अपनेही उदयमें होता है। और किन्हीं प्रकृतियोंका बन्ध स्वोदय तथा परोदयके होते हुए होता है। इनमेंसे मिथ्यात्वप्रकृति स्वोदयबन्धप्रकृति है।

इसलिए सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्वका उदय न होनेसे उसके मिथ्यात्वप्रकृतिका बन्धही जब नहीं होता है तो फिर मिथ्यात्वके विना केवल चारित्रमोहके उदयजन्य रागादिकसे सम्यक्त्वका (ज्ञानचेतनाका) घात कैसे हो सकता है?

ननु चैवमनित्यत्वं सम्यक्त्वाद्यद्वयस्य यत्।
स्वतः स्वस्योदयाभावे तत्कथं स्यादहेतुतः ॥ ९२३ ॥
न प्रतीमो वयं चैतद् दृङ्मोहोपशमः स्वयम्।
हेतुः स्यात्स्वोदयस्योच्चैरुत्कर्षस्याऽथवा मनाक् ॥ ९२४ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च एवं) शंकाकारका कहना है कि मिथ्यात्व प्रकृतिको स्वोदय बन्ध प्रकृति
होनेसे (सम्यक्त्वाद्यद्वयस्य) सम्यक्त्वोंमेंसे आदिके उपशम और क्षयोपशम इन दोनों सम्यक्त्वोंमे (यत् अनित्यत्वं)
जो अनित्यपना है (तत्) वह (स्वतः स्वस्य उदयाभावे) स्वयं मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयकी सम्भावनाके न
होनेपर (अहेतुनः कथं स्यात्) विना कारणके कैसे होगा और (वयं च एतत् न प्रतीमः) हम यह विश्वास
नहीं करते हैं कि (स्वयं दृङ्मोहोपशमः) स्वयं दर्शनमोहनीयका उपशम (स्वोदयस्य) अपने उदय (अथवा)
अथवा (उच्चैः उत्कर्षस्य) उदयोत्कर्षमें (मनाक् हेतुः स्यात्) कभी कारण होता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि मिथ्यात्वप्रकृति स्वोदय बन्धप्रकृति है अतः आदिके दो सम्य–
क्त्वों में जो अनित्यता है वह सिद्ध नहीं हो सकती है क्योंकि सम्यक्त्वके घातके लिए जिस मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय
की आवश्यकता है उसका उदय उन दोनों सम्यक्त्वोंके समयमें सम्भव ही नहीं है। अतः निष्कारण इन दोनों सम्य–
क्त्वोंमें अनित्यता कैसे सिद्ध होगी?

यदि कदाचित् कहा जाय कि दर्शनमोहका उपशम ही स्वयं मिथ्यात्वके उदय व उत्कर्ष में कारण होता है
तो यह प्रतीति सिद्ध प्रतीत नहीं होता है।

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु।
प्रतिकर्म प्रकृत्याद्यैर्नानारूपासु वस्तुतः॥ १२५॥

अन्वयार्थः— (एवं न) इस प्रकारका कथन ठीक नहीं है (यतः) क्यों कि (वस्तुतः) वास्त–
वमें (प्रतिकर्म) प्रत्येक कर्मकी (प्रकृत्याद्यैः नानारूपासु) प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागके द्वारा
अनेक रूप (पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु) पुद्गलोंकी अचिन्त्य शक्तियोंके विषयमें (अनभिज्ञः असि) तुम
अनभिज्ञ हो।

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है। कारण कि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके
द्वारा नानारूपवाले जो प्रत्येक कर्म[पुद्गल] हैं उनकी अचिन्त्य शक्तिके विषयमें वह अनभिज्ञ है—अपरिचित है। अथात्
योगादिकोंके निमित्तसे होनेवाले कार्माणवर्गणासम्बन्धी ज्ञानावरणादित्वके लिए, प्रदेशोंकी संख्याके लिए, स्थितिसम्बन्धी
न्यूनाधिकताके लिए और अनुभागकी हीनाधिकताके लिए जो कर्म पुद्गलोंमें अचिन्त्य शक्तियां हैं उनके विषयमें शंका-
कार अपरिचित है। अन्यथा वह उक्त दोनों सम्यक्त्वोंके अनित्यत्वके विषयमें शंकाही नहीं करता।

अस्त्युदयो यथाऽनादेः स्वतश्चोपशमस्तथा ।
उदयः प्रशमो भूयः स्यादर्वागपुनर्भवात् ॥ ९२६ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जिस तरह (अनादेः) अनादि कालसे (स्वत उदयः अस्ति) स्वय मोहनीयका उदय होता है (तथा) उसी तरह (उपशमश्च) उपशम भी काललब्धिके निमित्तसे स्वयं होता है इस तरह (अपुनर्भवात् अर्वाक्) मुक्ति होनेके पहिले (उदय प्रशमः) उदय और उपशम (भूयः स्यात्) बार २ होते रहते है ।

भावार्थः— यहा प्रशम शद्बसे उपशम सम्यक्त्वमे जो युगपत् सातों प्रकृतियोंका उपशम बताया है वह उपशम अनादि कालसे नहीं होता है यह ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि एकवार उपशम सम्यक्त्वके होनेपर यह जीव ज्यादहसे ज्यादह अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन कालतक ससार में रहता है । इसलिए उपशम सम्यक्त्वके लिए अनादि विशेषण नहीं लगाना चाहिये । यदि लगायाही जाय तो उपशम शद्बका अर्थ तीव्रोदयाभाव कहना चाहिये । कारण कि अनादि कालसे इस जीवके तीव्र उदय और उसका उपशम अर्थात् मन्दोदय तथा फिर तीव्र उदय ऐसा क्रम चला आरहा है । यद्यपि उपशम सम्यक्त्वमें अनादि विशेषण नहीं लगता है । तथापि एकवार प्रथमोपशम सम्यक्त्व के होनेके अनन्तर असंख्यातवार उसकी उत्पत्ति और नाश होसकता है इस दृष्टिसे जबतक मोक्ष न होगा तबतक दर्शनमोहका उदय और उपशम, फिर उदय, फिर उपशम इत्यादिक क्रम बारबार पाया जाता है ऐसा कहा है ।

साराश यह है कि सातों प्रकृतियोंका उपशम क्षयोपशम तथा उदय ये तीनोंही जब काललब्धि आती है तब स्वयं हो जाते है । अर्थात् सम्यक्त्वकी उत्पत्ति व घातमें दर्शनमोह का उपशम व उदयादिक ही स्वयं प्रधान कारण है । चारित्रमोहनीयका उपशम तथा उदय नहीं । यहा कारण शद्बसे जनक-कारण ग्रहणका करना चाहिए । इस-लिए जिस तरह अनादि कालसे दर्शनमोह का उपशम स्वतः होता है उसी तरह उस का उदय भी स्वतः होता है ।

इस प्रकार मिथ्यात्व के उदयसे उपशम व क्षयोपशम इन दोनों सम्यक्त्वोंका घात हो जाता है । और इस घातकी सभावना से ही ये दोनों सम्यक्त्व अनित्य कहलाते हैं ।

अथ गत्यन्तराद्दोषः स्यादसिद्धत्वसंज्ञकः ।
दोषः स्यादनवस्थात्मा दुर्वारोऽन्योन्यसंश्रयः ॥ १२७ ॥

अन्वयार्थ— (अथ गत्यन्तरात्) यदि ऐसा न मानकर रागके द्वारा सम्यक्त्वका घात मानोगे तो (असिद्धत्वसंज्ञकः दोषः स्यात्) असिद्धत्व नामका दोष आवेगा तथा (दुर्वारः) जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता है ऐसा (अनवस्थात्मा) अनवस्थारूप दोप और (अन्योन्यसंश्रयः) अन्योन्याश्रय नामका भी (दोषः स्यात्) दोप आवेगा ।

भावार्थः— यदि दर्शनमोहनीयका उपशम और उदय स्वत ही होता है ऐसा नहीं माना जायगा । किन्तु रागके द्वारा सम्यक्त्वका घात होता है ऐसा माना जायगा तो असिद्धत्व, अनवस्था और अन्योन्याश्रय ये तीन दोष आवेंगे ।

अब आगे ग्रंथकार स्वयं इसी अर्थका खुलासा करते है ।

दृङ्मोहस्योदयो नाम रागायत्तोऽस्ति चेन्मतम् ।
सोऽपि रागोऽस्ति स्वायत्तः किं स्यादपररागसात् ॥ १२८ ॥
स्वायत्तश्चेच्च चारित्रस्य मोहस्योदयात्स्वतः ।
यथारागस्तथा चायं स्वयत्तः स्वोदयात्स्वतः ॥ १२९ ॥

अन्वयार्थः— (चेत्) यदि (दृङ्मोहस्य उदयः नाम) उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्वका घातक जो जो दर्शनमोहका उदय है वह (रागायत्तः अस्ति) राग के आधीन है–रागके द्वारा होता है ऐसा (मतं) मानते हो तो हम पूछते है कि (सः रागः अपि) वह राग भी (किं स्वायत्त. अस्ति) क्या अपने आप होता है अथवा (अपररागसात् स्यात्) अथवा दूसरे रागसे उत्पन्न होता है (चेत्) यदि (स्वतः ,चारित्रस्य मोहस्य उदयात्) स्वयं चारित्र–मोहनीयके उदयसे होनेके कारण वह राग (स्वायत्तः) अपने आप ही होता है ऐसा मानते हो तो (यथा) जैसे (अयं रागः) यह राग स्वय चारित्र-मोहनीयके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण अपने आप होता है (तथा च अयं) वैसेही यह दर्शनमोहका उदय

भी–मिथ्यात्वका उदय भी (स्वतः स्वोदयात् स्वायत्त) स्वयं दर्शनमोहनीयके उदय से उत्पन्न होनेके कारण अपने आप होता है ऐसा क्यों नहीं मान लेते हो।

भावार्थ.— मिथ्यात्वके उदयको यदि रागके अधीन मानते हो तो वह रागोदय किसके अधीन है ? स्वाधीन है अथवा अन्य किसी दूसरे कर्मके उदयके अधीन है ? यदि वह रागका उदय स्वाधीन नहीं तो फिर जिस तरह अपने उदयके लिए इस रागके उदयको स्वाधीन मानते हो उसी तरह मिथ्यात्वके उदयके लिए मिथ्यात्वके उदयको भी स्वाधीन मानना चाहिए।

अथ चेत्तद्द्वयोरेव सिद्धिश्चान्योन्यहेतुतः ।
न्यायादसिद्धदोषः स्याद्दोषादन्योन्यसंश्रयात् ॥ ९३० ॥

अन्वयार्थः— (**अथ चेत तद्द्वयोः एव सिद्धिः**) यदि कदाचित् कहो कि उन दोनोंकी ही सिद्धि (**अन्योन्यहेतुतश्च**) एक दूसरेके कारण से– निमित्तसे होती है तो (**न्यायात्**) न्यायानुसार (**अन्योन्यसंश्रयात दोषात्**) अन्योन्याश्रय दोषके कारण किसी एक भी सिद्धि न हो सकनेसे (**असिद्धः दोषः स्यात्**) असिद्धत्व नामका दोष आवेगा।

भावार्थः— यदि कदाचित कहा जाय कि दर्शनमोहके उदयसे चारित्र-मोहजन्य रागभाव होता है। और इस रागभावसे दर्शनमोहका उदय होता है तो अन्योन्याश्रय दोषके कारण किसी एककी भी सिद्धि नहीं होसकती है। इसलिए असिद्धत्व नामका दोष उपस्थित होता है।

नागमः कश्चिदस्तीदृग्धेतुर्दृङ्मोहकर्मणः ।
रागस्तस्याथरागस्य तस्य हेतु र्दृगावृतिः ॥ ९३१ ॥

अन्वयार्थः— (**ईदृक् कश्चित् आगमः न अस्ति**) तथा ऐसा कोई आगम प्रमाण भी नहीं है कि (**तस्य दृङ्मोहकर्मणः राग हेतुः**) उस दर्शन-मोहनीय कर्मके उदयमें राग कारण होता है (**अथ**) और (**तस्य रागस्य हेतुः दृगावृत्तिः**) उस रागके लिए दर्शन-मोहनीयका उदय कारण होता है।

भावार्थः— आगम में भी इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता है कि दर्शनमोह के उदय के लिए रागभाव कारण होता है। और रागभावके लिए दर्शनमोह का उदय कारण होता है।

तस्मात्सिद्धोऽस्ति सिद्धान्तो दृङ्मोहस्येतरस्य वा ।
उदयोनुदयोऽ वाऽथ स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थः— (तस्मात् सिद्धान्तः सिद्ध अस्ति) इसलिए यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि (दृङ्मोहस्य वा इतरस्य) दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय इन दोनोंके (उदयः अथवा अनुदयः) उदय अथवा अनुदय ये दोनोंही (स्वत. अनन्यगति स्यात्) स्वयं अनन्य गति–अपने आप होते है अर्थात् परस्परमें एक दूसरेके निमित्तसे नहीं होते है ।

भावार्थः— इस लिए यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि दर्शनमोह व चारित्र-मोहके उदय उपशममें स्वयं दर्शनमोह व चारित्र-मोहका उदय व अनुदयही कारण है । किन्तु दोनोंमेंसे किसी एकके लिए भी अन्य किसी दूसरे कर्मका उदय, अथवा अनुदय कारण नहीं है ।

तस्मात्सम्यक्त्वमेकं स्यादर्थात्तल्लक्षणादपि ।
तद्यथाऽऽवश्यकी तत्र विद्यते ज्ञानचेतना ॥ १३३ ॥

अन्वयार्थः— (तस्मात्) इसलिए (अर्थात्) अर्थकी अपेक्षासे और (तल्लक्षणात् अपि) उस सम्यक्त्वके लक्षणकी अपेक्षासे भी (सम्यक्त्व एकं स्यात्) सम्यक्त्व एकही है अर्थात् सम्यक्त्व के सराग-सम्यक्त्व तथा वीतराग सम्यक्त्व ये दो भेद नहीं है और (तत्र) उस सम्यक्त्वके होनेपर (आवश्यकी ज्ञानचेतना विद्यते) नियमसे ज्ञानचेतना होती है (तद्यथा) जैसे कि ग्रन्थकार आगे स्वयं सिद्ध करते है ।

भावार्थः— दर्शनमोहनीयके उपशम, क्षयोपशम और क्षय के होनेपर जो सम्यक्त्वरूप परिणाम होता है उसमें अर्थ तथा लक्षण इन दोनों की अपेक्षा से कोई अन्तर नहीं है । इसलिए सम्यक्त्व के सराग व वीतराग ऐसे दो भेद नहीं हो सकते है । तथा उस सम्यक्त्व के होनेपर ज्ञानचेतना भी अवश्य ही होती है । और ऐसा क्यों होता है इस विषयका ग्रन्थकार आगे स्वय निरूपण करते है ।

मिश्रौपशमिक नाम क्षायिकं चेति तात्रिधा ।
स्थितिबन्धकृतो भेदो न भेदो रसबन्धसात् ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्**) वह सम्यक्त्व (**मिश्रौपशमिकं**) क्षायोपशमिक, औपशमिक (**च**) और (**क्षायिकं नाम**) क्षायिक (**इति त्रिधा**) इस तरह तीन प्रकारका है तथा इन तीनोंमें जो कुछ (**भेदः**) भेद है वह (**स्थितिबन्धकृतः**) केवल स्थिति-बन्धकृत है (**रसबन्धसात् भेदः न**) अनुभाग-बन्धकृत भेद नहीं है ।

भावार्थः— औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक इन तीनोंही सम्यक्त्वोंमें मिथ्यात्वका उदय नहीं रहता है । इसलिए उनमें रसबन्धकृत किसी प्रकारका अन्तर नहीं है । किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टिको छोडकर शेष दोनों प्रकारके सम्यग्दृष्टियोंके प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता रहती है । अतः उन दोनोंमें स्थितिबन्धकृत भेद पाया जाता है ऐसा कहा है । इसका विशेष खुलासा ग्रन्थकारने आगे स्वयं किया है ।

> तद्यथाऽथ चतुर्भेदो बन्धोऽनादि प्रभेदतः ।
> प्रकृतिश्च प्रदेशाख्यो बन्धौ स्थित्यनुभागकौ ॥ ९३५ ॥
> प्रकृतिस्तत्स्वभावात्मा प्रदेशो देशसंश्रयः ।
> अनुभागो रसो ज्ञेयो स्थितिः कालावधारणम् ॥ ९३६ ॥

अन्वयार्थः— (**तद्यथा अथ**) पूर्वोक्त कथनका खुलासा इस प्रकार है कि (**अनादिप्रभेदतः**) अनादि कालसे चले आए हुए भेदकी अपेक्षासे (**प्रकृतिः**) प्रकृतिबन्ध (**प्रदेशाख्यः** (प्रदेश-बन्ध (**च**) और (**स्थित्यनुभागकौ बन्धौ**) स्थितिबन्ध तथा अनुभाग इस तरह (**बन्धः चतुर्विधः**) बन्ध चार प्रकार-का है उनमेंसे (**तत्स्वभावात्मा प्रकृतिः**) बन्ध होनेवाले कर्मोंके स्वभावको प्रकृतिरूप बन्ध कहते है (**देश संश्रयः प्रदेशः**) कर्मोंके प्रदेशोंकी इयत्ताको-सख्याको प्रदेशरूप बन्ध कहते है (**कालावधारणम् स्थितिः**) कर्मोंकी स्थितिकी मर्यादाको स्थिति बन्ध कहते है और (**रसः अनुभागः ज्ञेयः**) कर्मोंमें जो साक्षात् फल देनेकी शक्ति है उसको अनुभाग-बन्ध कहते है ।

भावार्थः— बन्धने योग्य कर्मोंके स्वभावका नाम प्रकृतिबन्ध, कर्मोंके प्रदेशोंकी संख्याका नाम प्रदेशबन्ध, आत्मामें कर्मोंके ठहरनेके कालकी मर्यादाका नाम अर्थात् आत्मामें कर्म कितने कालतक ठहरकर फल देते है इस कालकी मर्यादाका नाम स्थितिबन्ध और साक्षात् फल देनेका नाम अनुभाग बन्ध है ।

स्वार्थक्रियासमर्थोऽत्र बंधः स्याद्रससंज्ञकः ।
शेषबंधात्रिकोऽप्येष न कार्यकरणक्षमः ॥ १३७ ॥

अन्वयार्थ — (**अत्र**) इन चारों प्रकारके बन्धोंमें (**रससंज्ञकः बन्धः**) केवल अनुभाग नामक बन्धही (**स्वार्थक्रियासमर्थः स्यात्**) बान्धने रूप अपनी क्रियामें समर्थ है (**अपि**) तथा (**एषः शेषबन्धत्रिकः**) शेषके तीनों बन्ध (**कार्यकरणक्षम न**) आत्माको बान्धने रूप कार्य करनेमें समर्थ नहीं है ।

भावार्थः— कर्म और आत्माके आकृष्य तथा आकर्षणरूप भावसे जीव और पुद्गलोंका सम्बन्ध होनेके अनन्तर जो तृतीय अवस्था होती है उसे भावबन्ध कहते है जिसे कि पहले उभय बन्धभी कह आये है । यह तृतीय अवस्था अनुभागबन्धमेंही पायी जाती है । इसी कारणसे जीव कर्म-निबद्ध होता है । और कर्म, जीव-निबद्ध होता है । अनुभागबन्धके सिवाय इतर तीनों बन्धोंमें यह तृतीय अवस्था नहीं पाई जाती है ।

ततः स्थितिवशादेव सन्मात्रेऽप्यत्र संस्थिते ।
ज्ञानसंचेतनायास्तु क्षति नंस्यान्मनागपि ॥ १३८ ॥

अन्वयार्थः— (**ततः**) इसलिए (**अत्र अपि**) औपशमिक और क्षायोपशमिक इन दोनों प्रकारके सम्यग्दृष्टियोंके (**सन्मात्रे संस्थिते**) केवल सत्तारूपसे दर्शनमोहनीयके रहनेपर (**स्थितिवशादेव**) स्थिति बन्धमात्रसे (**ज्ञानसञ्चेतनायाः**) ज्ञानसचेतनाकी (**मनाक् अपि क्षतिः न तु स्यात्**) कुछभी हानि नहीं हो सकती है ।

भावार्थः— क्षायिक सम्यग्दृष्टिको छोडकर शेष सम्यग्दृष्टियोंके प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता मौजूद रहती है । अत जबतक उनके मिथ्यात्वका उदय नहीं आता है तबतक उन दोनों प्रकारके सम्यग्दृष्टियोंकी ज्ञानचेतनामें भी किसी प्रकारकी क्षति नहीं होती है । इसीलिए ग्रन्थकारने तीनों सम्यक्त्वोंमें स्थितिबन्धकृत अन्तर कहा है । रसबन्धकृत अन्तर नहीं कहा है । कारण कि तीनोंही सम्यक्त्वोंकी अवस्थाओंमें मिथ्यात्वका उदय नहीं रहता है । अत. रसबन्धकी दृष्टिसे तीनोंही सम्यक्त्व एकसे हैं । और तीनोंही सम्यक्त्वोंमें मिथ्यात्वका अभाव होनेसे मिथ्यात्व कर्मके साथही नष्ट होनेवाली स्वानुभूत्यावरण प्रकृतिका भी अभाव हो जाता है । इसलिए तीनोंकेही सम्यक्त्वकी अविनाभावी ज्ञानचेतना अवश्य रहती है । अत. अर्थ और लक्षण दोनोंकी अपेक्षासे तीनों [illegible] क्त्वोंमें समानता है ।

एवमित्याद्यश्चान्ये सन्ति ये सद्गुणोपमाः ।
सम्यक्त्वमात्रमारभ्य ततोऽप्यूर्ध्वं च तद्वतः ॥ १३९ ॥

अन्वयार्थः— (एवं) इस प्रकार (इत्यादयः अन्ये च) निःशंकितादिक तथा वक्ष्यमाण वैराग्यादिक और भी (ये) जो गुण (सन्ति) हैं, जिन्हें कि (सद्गुणोपमा) सद्गुणोंकी उपमा दी जा सकती है वे सब (तद्वत) सम्यग्दृष्टि के (सम्यक्त्वमात्रमारभ्य ततश्च ऊर्ध्वं अपि ' भवन्ति ') केवल सम्यक्त्वको प्रारम्भ करके आगे भी पाए जाते है अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर उसके आगे के गुणस्थानोंमें भी होते है ।

भावार्थः— जो निःशंकतादिक तथा वक्ष्यमाण वैराग्यादिक सम्यग्दर्शनके गुण हैं वे सब अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर ऊपरके सब गुणस्थानोंमें पाए जाते है ।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाह्वयम् ।
वैराग्यं भेदविज्ञानमित्याद्यस्तीह किं बहु ॥ १४० ॥

अन्वयार्थः— (इह) सम्यग्दर्शनके होनेपरही आत्मामें (स्वसंवेदनप्रत्यक्ष) स्वसंवेदन–प्रत्यक्ष (स्वानुभवाह्वय ज्ञानं) स्वानुभव नामका ज्ञान, (वैराग्यं) वैराग्य और (भेदविज्ञानं) भेदविज्ञान (इत्यादि अस्ति) इत्यादि गुण प्रगट हो जाते है अत. (किं बहु ?) उनका अधिक कहातक वर्णन करे ।

भावार्थ.— जिस तरह निःशंकितादिक अंग और प्रशमादिक सम्यग्दर्शनके गुण है–लक्षण है । उसी तरह सम्यग्दर्शनके अविनाभावी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, स्वानुभूति, परमोपेक्षारूप वैराग्य और भेद–विज्ञान ये सब भी सम्यक्त्व के गुण है ।

अद्वैतेऽपि त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात् ।
ययोपलक्षितो जीवः सार्थनामाऽस्ति नान्यथा ॥ १४१ ॥

अन्वयार्थः— (यया उपलक्षितः जीवः) जिस चेतना के द्वारा युक्त जीव (सार्थनामा अस्ति) अन्वर्थ नामधारी कहलाता है और (अन्यथा न) जिस चेतनाके विना जीव, जीव शब्दका वाच्यही

नहीं कहलाता है वह (**चेतना**) चेतना (**अद्वैते अपि**) यद्यपि सामान्य दृष्टिसे अखण्ड-एक है तथापि वह (**आगमात्**) आगमानुसार (**एवं च त्रिधा प्रोक्ता**) उक्त प्रकार से तीन तरहकी कही गई है ।

भावार्थः— जो चेतना का-जीवका लक्षण है वह चेतना सामान्यरूपसे एक प्रकारकी है । और विशेष-रूपसे ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना इस तरह तीन प्रकारकी है । जिससे लक्षित होकरही यह जीव चेतन कहलाता है । इन तीनों चेतनाओंका वर्णन पहले हो चुका है । अतः यहापर पुनरुक्ति दोषके भयसे नहीं किया है ।

शंका ।

ननु चिन्मात्र एवास्ति जीवः सर्वोऽपि सर्वथा ।
किं तदाद्या गुणाश्चान्ये सति तत्रापि केचन ॥ १४२ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शकाकारका कहना है कि जब (**सर्वः अपि जीवः**) सबही जीव (**सर्वथा चिन्मात्र एव अस्ति**) सर्वथा केवल चैतन्यमय ही है तो फिर (**तत्रापि**) उस जीवद्रव्यमें भी (**तदाद्याः अन्ये च केचन गुणाः सन्ति इति किं ?**) चैतन्यको आदि लकर औरभी अनेक गुण है ऐसा क्यों कहा जाता है ?

भावार्थः—शंकाकारका कहना है कि जब केवल चैतन्यमात्रही जीवका स्वरूप है तो फिर उस जीव द्रव्यमें और भी अनेक गुण पाए जाते है ऐसा क्यों कहा जाता है ।

समाधान ।

उच्यतेऽनन्तधर्माधिरूढोऽप्येकः सचेतनः ।
अर्थजातं यतो यावत्स्यादनन्तगुणात्मकम् ॥ १४३ ॥

अन्वयार्थः— शङ्काकारकी शकाका उत्तर यह है कि (**एकः अपि सचेतनः**) एकही जीव (**अनन्तधर्माधिरूढ उच्यते**) अनन्त धर्मयुक्त कहा जाता है (**यतः**) क्योंकि (**यावत् अर्थजातम्**) जितना भी पदार्थोंका समुदाय है वह सब (**अनन्तगुणात्मकम् स्यात्**) अनन्त गुणात्मक होता है ।

भावार्थ— यद्यपि सामान्यदृष्टिसे जीव केवल चेतनात्मक है । तथापि विशेष दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणात्मक है, इसलिए जीव भी अनन्तगुणात्मक है, अतः यहापर उसके विशेष गुणोंका वर्णन करना युक्तियुक्त है ।

अभिज्ञानं च तत्रापि ज्ञातव्यं तत्परीक्षकैः ।
वक्ष्यमाणमपि साध्यं युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ १४४ ॥

अन्वयार्थ.— (वक्ष्यमाणं अपि) जिसका हम प्रकरणानुसार विस्तृत वर्णन करनेवाले है और जो (युक्तिस्वानुभवागमात) युक्ति, स्वानुभव तथा आगमसे (साध्यं) सिद्ध किया जासकता है ऐसे (तत्रापि) उस जीवके अनन्त धर्मात्मक होनेमें भी (अभिज्ञानं च तत्परीक्षकैः ज्ञातव्य) विशेष परिज्ञान भी उस विषयके जानकार परीक्षकोंको करना चाहिए ।

भावार्थः— ' वक्ष्यमाणमपि ' इस पदसे यह सिद्ध होता है कि ग्रन्थकारकी इच्छा स्वय इस विषयमें आगे विस्तारसे लिखनेका है । और ' युक्ति स्वानुभवागमात् साध्यं ' इस पदसे यह सिद्ध होता है कि विशेष–दृष्टिसे प्रत्येक वस्तुका अनन्त गुणात्मक होना युक्तियुक्त, स्वानुभवगम्य तथा आगम प्रमाणसे सिद्ध है ।

तद्यथायथं जीवस्य चारित्रं दर्शनं सुखम् ।
ज्ञानं सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेषगुणाः स्फुटम ॥ १४५ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथायथ) पूर्वोक्त कथनका खुलासा इस प्रकार है जैसे कि (चारित्रं) चारित्र (दर्शनं) दर्शन (सुख) सुख (ज्ञानं) ज्ञान और (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व (इति एते) ये पांच (स्फुटं) स्पष्ट रीतिसे (जीवस्य विशेषगुणाः स्यु) जीवके विशेष गुण है ।

भावार्थः— जो गुण दूसरे द्रव्यमें न पाये जाकर केवल जीव द्रव्यमेंही पाये जावे वे जीवके विशेष गुण कहलाते है जैसे कि– चारित्र, दर्शन, सुख, ज्ञान और सम्यक्त्व ।

वीर्यं सूक्ष्मोऽवगाहः स्यादव्याबाधश्चिदात्मकः ।
स्यादगुरुलघुसंज्ञं च स्युः सामान्यगुणा इमे ॥ १४६ ॥

अन्वयार्थः— (चिदात्मकः) चेतनात्मक (वीर्यं) वीर्य (सूक्ष्मः) सूक्ष्म (अवगाहः) अवगाह (अव्याबाधः स्यात्) अव्याबाध (च) और (अगुरुलघु संज्ञं स्यात्) अगुरुलघु (इमे सामान्य गुणाः स्युः) ये पांच जीवके सामान्य गुण है ।

भावार्थः— यहा चिदात्मक विशेपण इसलिए दिया है कि वीर्य, सूक्ष्म, अवगाह, अव्याबाध और अगुरुलघु ये गुण जीव तथा अजीव दोनोंमें ही पाये जाते है । किन्तु यहां जीवका प्रकरण है । इसलिए सम्पूर्ण जीवोंमें पाये जानेके कारण सामान्य अपेक्षासे ये चिदात्मक पाचोंही गुण जीवके सामान्य गुण कहे जाते है ।

सामान्या वा विशेषा वा गुणाः सिद्धाः निसर्गतः ।
टंकोत्कीर्णा इवाजस्रं तिष्ठन्तः प्राकृताः स्वतः ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थ— (सामान्या वा विशेषा वा गुणा) सामान्य अथवा विशेष दोनोंही प्रकारके गुण (निसर्गतः सिद्धाः) स्वभावसे सिद्ध है और वे सब गुण (स्वतः प्राकृताः) स्वयं भावरूपही होते है इसलिए (टंकोत्कीर्णा इव) टांकीसे उकेरे हुए की तरह द्रव्यमे (अजस्रं) सदैव (तिष्ठंतः) रहते है ।

भावर्थ— जैसे टांकीसे उकेरे हुए पत्थरमें पत्थरके संस्कार उससे कभी पृथक् नहीं होते है । वैसेही उक्त दोनों प्रकारके गुण भी सद्भावी होनेसे द्रव्यमें सदैव रहते है । कभी भी द्रव्यसे पृथक् नहीं होते है ।

तथापि प्रोच्यते किंचित श्रूयतामवधानतः ।
न्यायबलात्समायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥ १४८ ॥

अन्वयार्थः— (तथापि) तथापि (किंचित् प्रोच्यते) उन गुणोंके विषयमें कुछ कहते है इसलिए (अवधानतः श्रूयतां) सावधानीसे सुनो क्यों कि (न्यायबलात् समायातः प्रवाहः) न्यायके बलसे आया हुआ–प्रकरणप्राप्त कथनका प्रवाह (केन वार्यते) किसके द्वारा रोका जा सकता है ? ।

भावार्थः— यद्यपि गुणोंके सामान्य और विशेष भेद के कथन से गुणोंका कथन पूरा हो जाता हैं । तथापि उनके विषय में कुछ कथन करना अनुपयुक्त न होगा । अत उसे ध्यानपूर्वक सावधानतासे सुनना चाहिए । कारण कि न्यायानुसार आया हुआ गुणोंके कथन का प्रवाह किसीके द्वारा रोका नहीं जासकता है ।

अस्ति वैभाविकी शक्तिः स्वतस्तेषु गुणेषु च ।
जन्तोः संसृत्यवस्थायां वैकृताऽस्ति स्वहेतुतः ॥ १४९ ॥

अन्वयार्थः— (तेषु गुणेषु च) उन स्वयं सिद्ध जीवके गुणोंमें (स्वतः) स्वय सिद्ध (वैभा-

विकीशक्तिः अस्ति) एक वैभाविकी शक्ति है और वह (जन्तोः संसृत्यवस्थायां) जीवकी ससारावस्थामें (स्वहेतुतः वैकृता अस्ति) स्वय अनादि कालसे विकृत होरही है ।

भावार्थः— जीवके गुणोंमें से एक वैभाविकशक्ति नामका गुण है । और वह अनादि कालसे स्वयं विकृत हो रहा है ।

यथा वा स्वच्छताऽऽदर्शे प्राकृताऽस्ति निसर्गतः ।
तथाऽप्यस्यास्यसंयोगाद्वैकृताऽस्त्यर्थतोऽपि सा ॥ ९५० ॥

अन्वयार्थः— (यथा वा) जैसे (निसर्गत) स्वभावसेही (आदर्शे स्वच्छता प्राकृता अस्ति) दर्पणमें स्वच्छता प्राकृतिक होती है परन्तु (आस्यसंयोगात्) उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाले मुखके संयोगसे वह (वैकृता अपि) विकृत भी होजाती है (तथा) वैसेही (अर्थतः सा अपि ' वैकृता भवति ') जीवकी वह स्वाभाविक वैभाविकशक्ति भी कर्मके निमित्तसे वास्तवमें विकृत हो रही है ।

भावार्थः— जैसे दर्पणकी स्वाभाविक स्वच्छता उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाले मुखके संयोगसे विकृत होजाती है । वैसेही जीवका वैभाविक नामका स्वाभाविक-गुण भी अनादि कालसे कर्मोंके संयोगके कारण विकृत हो रहा है । और उसीके निमित्तसे जीव तथा कर्मका रागद्वेष पूर्वक आकृष्य आकर्षक भावसे बन्ध हो रहा है ।

वैकृतत्वेऽपि भावस्य न स्यादर्थान्तरं क्वचित् ।
प्रकृतौ यद्विकारत्वं वैकृतं हि तदुच्यते ॥ ९५१ ॥

अन्वयार्थ.— (भावस्य वैकृतत्वे अपि) भावमें विकृतपनेके होनेपर भी (क्वचित् अर्थान्तरं न स्यात्) कुछ भिन्न अर्थपना नहीं होजाता है (हि) क्यों कि (प्रकृतौ यद्विकारत्व) किसी अर्थके किसी स्वभावमें पर निमित्तसे जो परिवर्तन होता है (तत् वैकृतं उच्यते) उसेही विकृतिपना कहते हैं ।

भावार्थः— किसी पदार्थके किसी स्वभावमें जो पर निमित्तसे नैमित्तिक परिवर्तन होता है— सयोगज तृतीय अवस्था होती है उसे विकार कहते है । इसलिए अनादि कालसे जो उस वैभाविक शक्तिमें पर निमित्तवश परिवर्तनरूप जो विकार हो रहा है उस नैमित्तिक परिवर्तनरूप विकारसे उस वैभाविक शक्तिके मूल स्वभावमें कोई अन्तर नहीं पडता है अर्थात् उससे मूल स्वभावका घात नहीं होता है ।

यथाहि वारुणीपानाद्बुद्धि र्नाबुद्धिरेव नुः ।
तत्प्रकारान्तरं बुद्धौ वैकृतत्वं तदर्थसात् ॥ ९५२ ॥

अन्वयार्थ.— (यथाहि) उक्त कथनको दृष्टान्त पूर्वक दिखाते है जैसे कि विकृत होनेपरभी (नु.) पुरुषकी (बुद्धिः) बुद्धि (वारुणीपानात्) मद्यके पीनेसे (अबुद्धिः एव न) पूर्ण अबुद्धिही नहीं हो जाती है किन्तु (बुद्धौ) उस बुद्धिमें (तदर्थसात्) उस मद्यके निमित्तसे जो (तत्प्रकारान्तरं) कुछ न कुछ जात्यन्तरता आती है ('तत्' वैकृतत्वं) वही उसकी बुद्धिका विकृतपना कहलाता है।

भावार्थ.— परवस्तुके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले भावको विकार कहते है अर्थात् परवस्तुके निमित्तसे गुणकी जातिमें एक प्रकारकी जात्यन्तरताके आ जानेको विकार कहते है। कुछ स्वभावके मूलत उच्छेदका नाम विकार नहीं है। जैसे कि मद्यपानसे पुरुषके बुद्धिका मूलतः नाश नहीं होता है। किन्तु मद्यपानके निमित्तसे उसकी बुद्धिमें जो एक तरहकी भ्रमयुक्त बुद्धिकी जाति, परिवार्तित हो जाती है उसकाही नाम विकार है।

प्राकृतं वैकृतं वाऽपि ज्ञानमात्रं तदेव यत् ।
यावदत्रेन्द्रियायत्तं तत्सर्वं वैकृतं विदुः ॥ ९५३ ॥

अन्वयार्थ — (प्राकृतं अपि वैकृतं वा यत्) प्राकृत अथवा वैकृत भी जो ज्ञान है वह सब सामान्यरूपसे (ज्ञानमात्रं) ज्ञानही कहलाता है परन्तु (तदेव यावत् अत्र) वही ज्ञान सामान्य जबतक यहां (इन्द्रियायत्त) इन्द्रियाधीन रहता है तबतक (तत्सर्वं वैकृत विदुः) वह सब ज्ञान, विकृत कहलाता है।

भावार्थः— ज्ञानको प्राकृतज्ञान अथवा वैकृतज्ञान कहना यह ज्ञानका विशेष रूपसे कथन कहलाता है। क्योंकि सामान्य रूपसे ज्ञानमें किसी प्रकारका अन्तर विवक्षित नहीं है। अतः ज्ञानकी सम्पूर्ण अवस्थाओंमें ज्ञानको ज्ञानही कहना यह ज्ञानका सामान्यरूपसे कथन कहलाता है। तथा उन दोनो प्रकारके ज्ञानोंमेंसे जो ज्ञान इन्द्रियादि-ककी सहायतासे उत्पन्न होता है वह विकृतज्ञान कहलाता है।

अस्ति तत्र क्षतिर्नूनं नाक्षतिर्वास्तवादपि ।
जीवस्यातीव दुःखित्वात्सुखस्योन्मूलनादपि ॥ ९५४ ॥

अन्वयार्थः— ज्ञानमें विकार के होनेसे (**जीवस्य अतीव दुःखित्वात्**) जीव अत्यन्त दुखी होता है (**अपि**) और (**सुखस्य उन्मूलनात्**) उस के आत्मीक सुखका घात–उच्छेद होजाता है इसलिए (**तत्र**) जीवके ज्ञानमें विकार के होनेपर (**वास्तवात् अपि क्षतिः नून अस्ति**) जीवकी वास्तविकरूपसे हानि ही होती है (**अक्षति न**) कुछ लाभ नहीं होता है।

भावार्थ— यदि कदाचित् कोई यहांपर ऐसा कहे कि " ज्ञानमें विकार के होनेसे वास्तव में कुछ हानि नहीं होती है। कारण कि पर वस्तु के योग से होनेवाला, विकार केवल नैमित्तिक भाव है। अत उस से वस्तुकी यथार्थताका घात नहीं होता है " तो उसका यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञान के विकृत होनेसे जीव अत्यन्त दुखी होता है। और उसके आत्मीक सुखका उन्मूलन होजाता है। इसलिए ज्ञानमें विकार के होनेसे वास्तवमें जीव की क्षति ही होती है अक्षति नहीं।

अपि द्रव्यनयादेशाट्टंकोत्कीर्णोऽस्ति प्राणभृत् ।
नात्मसुखे स्थितः कश्चित्प्रत्युतातीव दुःखवान् ॥ १५५ ॥

अन्वयार्थः— (**अपि**) यद्यपि (**द्रव्यनयादेशात्**) द्रव्यार्थिक-नयकी अपेक्षासे यह (**प्राणभृत्**) जीव (**टंकोत्कीर्णः अस्ति**) टांकीसे उकेरे हुए पत्थरकी तरह अपरिणामी विवक्षित होता है अर्थात् वह पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा के गौण होजानेसे अपरिवर्तनीय कहा जाता है तथापि पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे (**कश्चित् आत्मसुखे स्थितः न**) कोई भी ससारी जीव विकृत अवस्थाके होनेपर आत्मसुखमें स्थिर नहीं रहता है (**प्रत्युत अतीव दुःखवान**) किंतु अतीव दुखी रहता है।

भावार्थः— जैसे टांकीसे टकी हुई पत्थरकी चीज सदैव तदवस्थ दीखती है। वैसेही जीवमें किसी भी प्रकारके परिणामकी विवक्षाके न करनेसे अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे वह अपरिणामी कहा जाता है। परन्तु पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे वही जीव बन्ध के कारण आत्मसुखमें स्थित न होकर अत्यन्त दुखी कहा जाता है।

नांगीकर्तव्यमेवैतत्स्वरूपे स्थितोऽस्ति ना ।
बद्धो वा स्यादबद्धो वा निर्विशेषाद्यथामणिः ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (मणि) माणि (बद्धः वा अबद्धः वा स्यात्) बद्ध हो या अबद्ध हो, दोनोंही अवस्थाओंमें (निर्विशेषात्) द्रव्यदृष्टिसे सदृश होनेके कारण (स्वरूपे स्थितः अस्ति) अपने स्वरूपमेंही स्थित रहता है ('तथा') वैसेही यह (ना) आत्मा, बद्ध या अबद्ध दोनों अवस्थाओंमे अपने स्वरूपमेंही स्थित रहता है (एतत् नैव अङ्गीकर्तव्य) ऐसा नहीं स्वीकार करना चाहिये–नहीं मान लेना चाहिए।

भावार्थः— जैसे मणि, बद्ध और अबद्ध दोनों अवस्थाओंमें अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है। उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं होता है। वैसे ही यह जीव भी, अपनी बद्ध और अबद्ध दोनों अवस्थावोंमें अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है कर्भामि–पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता है ऐसा नहीं मानना चाहिए।

यतश्चैवं स्थिते जन्तोः पक्षः स्यात बाधितो बलात।
संसृतिर्वा विमुक्तिर्वा न स्याद्वा स्यादभेदसात ॥ १५७ ॥

अन्वयार्थः—क्योंकि (जन्तोः एवं स्थिते) जीव बद्ध और अबद्ध दोनों अवस्थाओंमें अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है ऐसा माननेसे (पक्षः बलात् बाधितः स्यात्) यह पक्ष अवश्य बाधित हो जाता है (यत) क्योंकि ऐसा माननेसे (संसृति. वा विमुक्तिः वा न च स्यात्) संसार तथा मोक्षका कथन नहीं बन सकता है (वा) अथवा यदि बनेगा भी तो (अभेदसात् स्यात्) उन दोनोंमें कुछ भेद नहीं हो सकता है।

भावार्थः— जीवको सदैव अपने स्वरूपमें ही स्थित माननेसे उसकी संसार और मोक्ष अवस्था नहीं हो सकेगी। यदि कदाचित् उक्त दोनों अवस्थाओंको मान भी लिया जावे तो जीवको सदैव स्वरूपमें स्थित माननेसे संसार तथा मुक्त अवस्थामें कोई अन्तर सिद्ध नहीं हो सकेगा।

स्वस्वरूपे स्थितो ना चेत्संसारः स्यात्कुतो नयात।
हटाद्वा मन्यमानेऽस्मिन्ननिष्टत्वमहेतुकम ॥ १५८ ॥

अन्वयार्थ.— (चेत्) यदि (ना) आत्मा (स्वस्वरूपे स्थित) अपने स्वरूपमे स्थित रहता है तो फिर (संसारः कुतो नयात् स्यात्) जीवकी संसार अवस्था किस न्यायसे सिद्ध की जासकगी

यदि (हटात् वा अस्मिन् मन्यमाने) हटसेही अहेतुक संसार अवस्थाको मानोगे तो (अहेतुकं अनिष्टत्वम्) वह अवस्था अयुक्तिक होनेसे इष्ट नहीं कही जासकती है—इष्ट नहीं मानी जासकती है ।

भावार्थ — यदि आत्मा सदैव अपने स्वरूपमे ही स्थित रहता है ऐसा मानोगे तो उसकी पच परावर्तनरूप ससार अवस्था किसी भी न्यायमे सिद्ध नहीं हो सकेगी । यदि कदाचित हठसे संसार अवस्था होती है ऐसा मानोगे भी तो वह मानना युक्तियुक्त न होनेसे—अहेतुक होनेसे इष्ट नहीं हो सकता है ।

जीवश्चेत्सर्वतः शुद्धो मोक्षादेशो निरर्थकः ।
नेष्टमिष्टत्वमत्रापि तदर्थं वा वृथा श्रमः ॥ ९५९ ॥

अन्वयार्थः—(चेत्) यदि (जीवः सर्वतः शुद्धः)जीव सर्व प्रकारसे सदैव शुद्ध ही है तो (मोक्षादेशः निरर्थकः) मोक्षका आदेश—निरूपण करना निरर्थक हो जावेगा परन्तु यहापर (अत्रापि इष्टत्वं इष्टं न वा) मोक्षके निरूपणकी निरर्थकताको इष्ट मानना इष्ट नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे (तदर्थं श्रम वृथा) मोक्षके लिए जो परिश्रम किया जाता है वह व्यर्थ सिद्ध होगा ।

भावार्थ — यदि जीव सर्वथा शुद्ध ही हैं तो मोक्षके आदेशकी व्यवस्था निरर्थक हो जावेगी । परन्तु किसी भी आस्तिकने मोक्षके आदेशको अनिष्ट नहीं माना है । क्योंकि यदि अनिष्ट माना हुआ होता तो उसके लिए वे श्रम ही क्यों करते ।

सर्वे विप्लवतेऽप्येवं न प्रमाणं न तत्फलम् ।
साधनं साध्यभावश्च न स्याद्वा कारकक्रिया ॥ ९६० ॥

अन्वयार्थ — (एवं) इस प्रकार मोक्षादेशको निरर्थक माननेपर (न प्रमाणं) न प्रमाण (न तत्फलम्) न उसका फल (च) और (न साधनम् साध्यभावः कारकक्रिया वा स्यात्) न किसी प्रकारका साध्य साधन भाव तथा कारकक्रिया भाव ही बन सकेगा किन्तु (सर्वे अपि विप्लवते) ये सब ही बिगड जावेंगे ।

भावार्थ — जब जीव शुद्ध ही है तो मिथ्यादर्शनादिकसे बन्ध और सम्यग्दर्शनादिकसे मोक्ष होता है इत्यादिक जो शास्त्रोक्त कथन हैं वह निरर्थक हो जायगा । तथा सम्यग्दर्शनादिकसे मोक्ष और मिथ्यादर्शनादिकसे

बन्ध होता है इसकी सिद्धि के लिए, सम्यग्दर्शनादिकके स्वरूपानिर्णयके लिए, सत्पक्ष स्थापन तथा असत्पक्ष निराकरणके लिए, जो प्रमाण की व्यवस्था मानी जाती है वह भी निरर्थक होजायगी और सम्यग्दर्शनादिक मोक्षके साधन है तथा मोक्ष साध्य है, यह जो साध्यसाधन भाव है वह भी नहीं बन सकेगा। अधिक क्या, आत्मा सम्यग्दर्शनादिक से मुक्त होता है, और मिथ्यादर्शनादिकसे बद्ध होता है, अतः मिथ्यादर्शनादिकका त्यागकर आत्मकल्याणके लिए सम्यग्दर्शनादिकका सम्पादन करना चाहिए इत्यादि जो कारक क्रियाभाव हैं वह भी नहीं बनेगा। अथवा आत्मा आत्माको आत्मा के द्वारा आत्मा के लिए आत्मा में लीन करता है इत्यादि क्रियाकारक भाव नहीं बनसकेगा।

सिद्धमेतावताप्येवं वैकृता भावसन्ततिः।
अस्ति संसारिजीवानां दुःखमूर्ति दुरुत्तरी॥ ९६१॥

अन्वयार्थः— (**एवं एतावता अपि सिद्धं**) इस प्रकार इस उक्त कथनसे यही सिद्ध होता है कि (**संसारिजीवानां**) ससारी जीवोंकी (**वैकृता**) विकारप्राप्त (**भावसन्ततिः**) जो भावसन्तति है वह (**दुरुत्तरी दुःखमूर्तिः अस्ति**) दुर्ल्लंघ्य दुःखकी मूर्ति है।

भावार्थः— इस प्रकार आत्मामें सदैव सर्वथा शुद्धपनाके सिद्ध न होनेसे यही सिद्ध होता है कि ससारी जीवोंके विकृत भावोंकी जो परम्परा है वह दुर्ल्लंघ्य दु.खकी मूर्ति है।

इस तरह जीवके वैभाविक गुण और परनिमित्तसे उत्पन्न होनेवाले नैमित्तिक वैभाविक भावोंका वर्णन करके तथा जीवको द्रव्यार्थिकनयसे शुद्ध और पर्यायार्थिकनयसे अशुद्ध सिद्ध करके अबआगे परनिमित्तसे उत्पन्न होनेवाले विकारभूत वैभाविक भाव कितने है, उनके नाम क्या है, तथा वे कैसे होते है इत्यादि रूपसे उन वैभाविक भावोंके स्वरूप को दिखाने के लिए प्रकरण का प्रारम्भ करते है।

ननु वैभाविका भावाः कियन्तः सन्ति कीदृशः।
किन्नामानः कथं ज्ञेया ब्रूहि मे वदतांवर॥ ९६२॥

अन्वयार्थ— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**वदतांवर**) हे वदतांवर[1] (**वैभाविकाः भावा. कियन्तः**) वे वैभाविक भाव कितने (**कीदृशाः**) कैसे और (**किंनामानः**) किस नाम के

---

१ हे वक्ताओंमें शिरोमणि।

(सन्ति) है तथा वे भाव (कथं ज्ञेया.) कैसे जाने जा सकते है (मे ब्रूहि) यह हमें बतलाईये ।

भावार्थ:— शकाकरका कहना है कि हे वदतावर ! वैभाविक भावोंकी संख्या कितनी है ? उनका स्वरूप कैसा है ? और उनकी संज्ञा क्या है ? यह हमें बतलाईये ।

श्रुणु साधो महाप्राज्ञ वच्म्यहं यत्तवेप्सितम् ।
प्रायो जैनागमाभ्यासात्किंचित्स्वानुभवादपि ॥ ९६३ ॥

अन्वयार्थ:— (महाप्राज्ञ) हे विद्वद्वर ! (साधो) हे सज्जन ! (यत् तव ईप्सितम्) जो तुम्हें इष्ट है उसे (अहं) मैं (प्राय) प्राय करके (जैनागमाभ्यासात्) जैनागम के अभ्याससे (अपि) और (किंचित् स्वानुभवात्) कुछ स्वानुभवसे (वच्मि) कहता हूं (श्रुणु) तुम सुनो ।

भावार्थ.— हे सज्जनोत्तम ! मैं जैनागम से तथा स्वानुभव से वैभाविक भावों के स्वरूप को कहता हूं । तुम उसे सुनो ।

लोकासंख्यातमात्राः स्युर्भावाः सूत्रार्थविस्तरात् ।
तेषा जातिविवक्षायां भावाः पंच यथोदिताः ॥ ९६४ ॥

अन्वयार्थ:— (सूत्रार्थविस्तरात्) यद्यपि सूत्रके अर्थके विस्तारसे–मूलभूत पांचों भावोंके उत्तरोत्तर भेदोंकी अपेक्षासे (लोकासंख्यातमात्राः भावाः स्युः) वे सब वैभाविकभाव लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण होते है तथापि (तेषां जातिविवक्षायां) उन सब वैभाविकभावोंकी केवल जातिकी अपेक्षासे विवक्षा करनेपर (पञ्च भावा उदिताः) वे सब भाव केवल पाच कहे जाते है (यथा) जैसे कि आगे बताते है ।

भावार्थ:— सम्पूर्ण भावोंकी जाति पाच प्रकारकी है । लेकिन प्रत्येक जाति के अवान्तर भेद करनेसे उन भावो के लोकासंख्यात प्रमाण भेद हो जाते है । असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में असंख्यात का भाग देनेसे जो लब्ध आता है उसे लोकासख्यात कहते है । असंख्यात के असंख्यात भेद होनेसे फिर भी यह संख्या असंख्यात ही रहती है । अर्थात यदि जातिकी ही अपेक्षा पर ध्यान रखकर भावोंका प्रतिपादन किया जावे तो वे सब भाव पाच ही होते है ।

अथ आगे उन पांच भावोंका निरूपण करते है।

ततौपशमिको नाम भावः स्यात्क्षायिकोऽपि च।
क्षायोपशमिकश्चेति भावोऽप्यौदयिकोऽस्ति नुः ॥ ९६५ ॥
पारिणामिकभावः स्यात्पंचेत्युद्देशिताः क्रमात्।
तेषामुत्तरभेदाश्च त्रिपंचाशदितीरिताः ॥ ९६६ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उनमेंसे (नुः) आत्माका (औपशमिकः नाम भावः) एक औपशमिक भाव है (अपि च (और दूसरा (क्षायिकः स्यात्) क्षायिक भाव है (च) तथा तीसरा (क्षायोपशमिकः) क्षायोपशमिक भाव है (अपि) और चौथा (औदयिकः इति अस्ति) औदयिक भाव है तथा पांचवा (पारिणामिकभावः स्यात्) पारिणामिक भाव है (इति क्रमात् पंच उद्देशिताः) इस प्रकार क्रमसे ये पाच भाव कहे गए है (च) और (तेषां उत्तरभेदाः) उनके उत्तर भेद (त्रिपञ्चाशत् इति ईरिताः) त्रेपन होते है ऐसा आगममें कहा है।

भावार्थः— जातिकी अपेक्षासे भावोंके मूल भेद ५ पाच है। और उत्तर भेद ५३ त्रेपन हैं।

अथ आगे मूल भावोंका लक्षण बताते है।

औपशमिक भावका लक्षण।

कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात्स्वतः।
यो भावः प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः ॥ ९६७ ॥

अन्वयार्थः— (प्रत्यनीकानां कर्मणां) प्रतिपक्षी कर्मों के (पाकस्य स्वतः उपशमात्) विपाक के–उदय के स्वयं उपशम होने से (यः भावः प्राणिनां स्यात्) जो भाव आत्मामें उत्पन्न होता है (स) वह (औपशमिकसंज्ञकः स्यात्) औपशमिक नामक भाव कहलाता है।

भावार्थः— काललब्धि आदिके निमित्तसे प्रतिपक्षी कर्मोंके स्वयं उपशम होनेसे जो भाव आत्मामें उत्पन्न होता है उसको औपशमिक भाव कहते है। और वह औपशमिक भाव केवल सम्यक्त्व व चारित्रमें ही होता है।

सम्यक्त्व के प्रतिपक्षी दर्शनमोहनीय कर्मका जब काललब्धिसे स्वयं उपशम हो जाता है तब आत्मामें जो सम्यक्त्व गुण-की निर्मल परिणति होती है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते है अर्थात् जैसे कि गंदले पानी में फिटकरी के डालनेसे उसका मल नीचे बैठ जानेके कारण जल स्वच्छ हो जाता है। वैसे ही चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शनमोहकी प्रकृतियों के उदयके स्वत. उपशम होनेसे आत्मा में जो भाव उत्पन्न होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते है तथा चारित्रमोहके उपशमसे आत्मा में जो भाव उत्पन्न होता है उसे औपशमिक चारित्र कहते है।

क्षायिक भावका लक्षण।

यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात्।
जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः॥ ९६८॥

अन्वयार्थ.— (**प्रत्यनीकानां कर्मणां**) प्रतिपक्षी कर्मों के (**यथास्वं सर्वतः क्षयात्**) यथा-योग्य सर्वथा क्षय के होनेसे (**अस्य**) आत्मामें (**यः जातः**) जो भाव उत्पन्न होता है (**सः**) वह (**शुद्ध· स्वाभाविकः क्षायिकः भावः**) शुद्ध स्वाभाविक क्षायिक भाव कहलाता है।

भावर्थ — प्रतिपक्षी कर्मों के सर्वत· क्षय होनेसे आत्मामें जो भाव उत्पन्न होता है उसको क्षायिक भाव कहते है।

क्षायोपशमिक भावका लक्षण।

यो भावः सर्वतो घातिस्पर्द्धकानुदयोद्भवः।
क्षायोपशमिकः स स्यादुदयाद्देशघातिनाम्॥ ९६९॥

अन्वयार्थः— (**य. भावः**) जो भाव (**देशघातिना उदयात्**) देशघाति स्पर्द्धकोंके उदयसे तथा (**सर्वत· घातिस्पर्द्धकानुदयोद्भवः**) सर्वघाति-स्पर्द्धकोंके अनुदयसे-उदयक्षयसे आत्मामें जो भाव उत्पन्न होता है (**स क्षायोपशमिकः स्यात्**) वह क्षायोपशमिक भाव कहलाता है।

भावार्थः— प्रतिपक्षी कर्मोंमेंसे सर्वघाति स्पर्द्धकोंके उदयाभावी क्षयसे और देशघाति स्पर्द्धकोंके उदयसे जो भाव आत्मा में उत्पन्न होता है उसको क्षायोपशमिक भाव कहते है।

औदयिक-भावका लक्षण ।

कर्मणामुदयाद्यः स्याद्भावो जीवस्य संसृतौ ।
नाम्नाऽप्यौदयिकोऽन्वर्थात्परं बन्धाधिकारवान् ॥ १७० ॥

अन्वयार्थः— (संसृतौ) ससारमें (कर्मणां उदयात्) कर्मोंके उदयसे (जीवस्य) जीवके (य भावः स्यात्) जो भाव उत्पन्न होता है वह (नाम्ना) नामसे और (अन्वर्थात् अपि) अन्वर्थसे भी (पर बन्धाधिकारवान) केवल बन्धमें निमित्त होनेवाला (औदयिकः) औदयिक-भाव है ।

भावार्थ— यहापर ' परं बन्धाधिकारवान् ' इस पदसे यह ध्वनित होता है कि औदयिक भाव से केवल बन्ध ही होता है । कारण कि संवर निर्जरा और मोक्षमें किसी भी कर्मका उदय कारण नहीं होता है । परन्तु औपशमिकादि-भाव विशुद्धिमें कारण ही होते है बन्धमें कारण नहीं होते है । क्योंकि बन्ध केवल कर्मोंके उदयांशोंसे ही होता है । उपशमादिरूप अंशोंसे नहीं होता है ।

पारिणामिक-भावका लक्षण ।

कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात् ।
आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात्पारिणामिकः ॥ १७१ ॥

अन्वयार्थ— (प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात्) उक्त अवस्था चतुष्टयरूपसे अर्थात् उदय, उपशम, क्षय, और क्षयोपशमरूप जो कर्मके निमित्तसे आत्माकी चार प्रकारकी अवस्थाएँ होती है उनमेंसे (कृत्स्नकर्मनिरपेक्ष) किसीकीभी अपेक्षा न रखनेवाला (आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः) केवल आत्मा द्रव्यरूप ही जिसका स्वरूप है ऐसा जो भाव है वह (पारिणामिकः स्यात्) पारिणामिक-भाव कहलाता है ।

भावार्थः— कर्मके उदयादिक की अपेक्षा न रखते हुए जो केवल आत्माके स्वरूप को बतानेवाला भाव है वह पारिणामिक भाव कहलाता है ।

इत्युक्तं लेशतस्तेषां भावानां लक्षणं पृथक् ।
इतः प्रत्येकमेतेषां व्यासात्तद्रूपमुच्यते ॥ १७२ ॥

अन्वयार्थ— (इति) इस प्रकार (तेषां भावानां) उन पांचों प्रकारके भावोका (लेशतः) संक्षिप्त रीतिसे–सामान्यरूपसे (पृथक् लक्षणं) भिन्न २ लक्षण कहा (इतः) अब आगे (एतेषां प्रत्येकं) इन पाचोंही भावोंमेंसे प्रत्येक भावका (व्यासात्) विस्तारसे अर्थात् विशेष दृष्टिसे (' यत् ' रूप तत् उच्यते) जो स्वरूप है वह कहा जाता है ।

भावार्थः— इस प्रकार मूल भावोंके लक्षण बताकर अब आगे उनके उत्तर भेदोंके स्वरूप को विस्तारपूर्वक कहते है ।

भेदाश्चौदयिकस्यास्य सूत्रार्थादेकविंशतिः ।
चतस्रो गतयो नाम चत्वारश्च कषायकाः ॥ १७३ ॥
त्रीणि लिंगानि मिथ्यात्वमेकं चाज्ञानमात्रकम् ।
एकं वाऽसंयतत्वं स्यादेकमेकाऽस्त्यासिद्धता ॥ १७४ ॥
लेश्या षडेव कृष्णाद्याः क्रमादुद्देशिता इति ।
तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामि नाल्पं नातीव विस्तरम् ॥ १७५ ॥

अन्वयार्थ — (अस्य च औदयिकस्य) उन पांच भावोंसे इस औदयिक भावके (सूत्रार्थात्) सूत्रके अर्थके अनुसार (एकविंशतिभेदाः) इक्कीस भेद होते है जैसे कि (चतस्र गतयः नाम) चार प्रकारकी गति (च) और (चत्वार कषायका) चार कषाय (त्रीणि लिगानि) तीन लिंग (एकं मिथ्यात्वं) एक मिथ्यात्व (च) (तथा एकं अज्ञानमात्रकं) एक अज्ञान (एकं असंयतत्वं स्यात्) एक असयंतत्व (वा) और (एका असिद्धता स्यात्) एक असिद्धत्व तथा (कृष्णाद्याः षडेव लेश्या) कृष्णादिक छह लेश्याएँ (इति क्रमात् उद्देशिताः) इस प्रकार क्रमसे कहे हुए ये इक्कीस भाव औदयिक-भाव है अब (न अल्पं न अतीव विस्तरं) जो न तो बहुत थोड़ा ही है और न बहुत अधिकही है किंतु मध्यम है ऐसे (तत् स्वरूपं प्रवक्ष्यामि) उन भावोंके पृथक् २ स्वरूपको कहता हू ।

भावार्थ — आम्नायानुसार औदयिक भावके, ४ गति, ४ कषाय, ३ लिंग, १ मिथ्यात्व, १ अज्ञान, १ असंयमत्व, १ असिद्धत्व, ६ लेश्या इस तरह २१ भेद होते है।

इस प्रकार औदयिक भावके २१ भेद बताकर अब इनके मध्यम रूपसे पृथक् २ लक्षण का निरूपण करते है

गतिनामास्ति कर्मैकं विख्यातं नामकर्मणि ।
चतस्रो गतयो यस्मात्तच्चतुर्धाऽधिगीयते ॥ १७६ ॥

अन्वयार्थः— (**नामकर्मणि**) नामकर्मके उत्तर भेदोंमें (**विख्यातं**) प्रसिद्ध (**एकं गति-नामकर्म अस्ति**) एक गति नामक कर्म है और (**यस्मात्**) जिस कारणसे (**गतयः चतस्र**) गति चार है (**तत्**) तिस कारणसे वह नामकर्म भी (**चतुर्धा अधिगीयते**) चार प्रकारका कहा जाता है।

भावार्थ — नामकर्म के उत्तर भेदोंमें एक गति नामा नामकर्म है। और वह गतिके भेदसे नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, तथा देवगति इस तरह चार प्रकारका है।

कर्मणोऽस्य विपाकाद्वा दैवादन्यतमं वपुः ।
प्राप्य तत्रोचितान् भावान् करोत्यात्मोदयात्मनः ॥ १७७ ॥

अन्वयार्थः— (**आत्मा**) आत्मा (**दैवात्**) दैवयोगसे (**अस्य कर्मणः विपाकात्**) इस गति नामकर्मके उदयके कारण (**अन्यतम वा वपुः प्राप्य**) उस गतिमें प्राप्त होनेवाले यथायोग्य शरीरोंमेंसे किसी भी एक शरीरको पाकर (**तत्र उचितान् उदयात्मन. भावान्**) सामान्यतया उस गतिके योग्य जो औदयिक भाव होते है उन्हें (**करोति**) धारण करता है।

भावार्थः— गति चार है। एक २ गतिमें नाना प्रकार के शरीरधारी जीव पाए जाते है। और यद्यपि उनमें नाना तरहका अन्तर भी रहता है। तथापि व्यापक रूपसे प्रत्येक गतिसम्बन्धी शरीरधारियों के औदयिक भावोंमें जो सदृशता पाई जाती है उसे गतिरूप औदयिक भाव कहते है। जैसे कि यद्यपि तिर्यंचगति में एकेंद्रियादिके भेदसे नाना प्रकार के जीव पाए जाते है तथापि उन सबमें जो भी औदयिक-भाव होते है वे सब तिर्यंचपनेमें गर्भित हो जाते हैं। इतरमें नहीं। भवनवासी आदि चार निकाय के देवोंके होते हुए भी सामान्यरूपसे

सब देवपने में ही गर्भित हो जाते है । अन्य मे नहीं । इसी प्रकार प्रत्येक गतिमें संभव होनेवाली औदयिक भावोंकी संतानको अपने २ गति नामक औदयिक भावोंमें गर्भित किया जाता है । इसलिए इस प्रकार के चार तरह के भाव गतिनामक औदयिक–भाव कहलाते है ।

यथा तिर्यगवस्थायां तद्वद्या भावसन्ततिः ।
तत्रावश्यं च नान्यत्र तत्पर्यायानुसारिणी ॥ १७८ ॥

अन्वयार्थः— (**यथा**) जैसे कि (**तिर्यगवस्थायां**) तिर्यंच अवस्थामें (**तद्वत्**) तिर्यंचोंकी तरह (**तत्पर्यायानुसारिणी**) तिर्यंच पर्याय के अनुरूप (**या भावसन्ततिः**) जो भाव सन्तति होती है वह (**तत्र अवश्यं**) उस तिर्यंच गतिमें अवश्य ही होती है (**अन्यत्र न च**) दूसरी गतिमें नहीं होती है ।

भावार्थ — जैसे कि तिर्यंच अवस्थामें तिर्यंचपने के अनुकूल जो औदयिक-भाव होते है वे सब तिर्यंच गतिमें ही पाए जाते है । अन्य गतिमें नहीं ।

एवं देवेऽथ मानुष्ये नारके वपुषि स्फुटम् ।
आत्मीयात्मीयभावाश्च सन्त्यसाधारणा इव ॥ १७९ ॥

अन्वयार्थ — (**एव**) इसी तरह (**स्फुट**) यह बात स्पष्ट है कि (**देवे**) देवगति सम्बन्धी (**मानुष्ये**) मनुष्यगति सम्बन्धी (**अथ च**) और (**नारके**) नरकगति सम्बन्धी (**वपुषि**) शरीरमें होनेवाले (**आत्मीयात्मीयभावाः**) अपने २ औदयिक–भाव (**असाधारणाः इव सन्ति**) स्वतः परस्परमें असाधारण के समान होते है अर्थात उनमें अपनी २ जुदी २ विशेषता पाई जाती है ।

भावार्थ— तिर्यंचगतिके ही समान देव मनुष्य और नरकगति सम्बन्धी शरीरोंमें भी जो यथायोग्य औदयिक–भाव होते है वे सब परस्परमें भिन्न २ जातिके होनेसे चारों ही गति सम्बन्धी भाव असाधारण भावोंके समान प्रतिभासित होते है ।

ननु देवादिपर्यायो नामकर्मोदयात्परम् ।
तत्कथं जीवभावस्य हेतुः स्याद्घातिकर्मवत् ॥ १८० ॥

अन्वयार्थः — (**ननु**) शङ्काकारका कहना है कि जब (**देवादिपर्यायः**) देवादिक पर्याय (पर) केवल (**नामकर्मोदयात्**) नाम कर्मके उदयसे होती है (**तत् कथम्**) तो वह नामकर्म कैसे (**घाति कर्मवत्**) घातिया कर्मकी तरह (**जीवभावस्य हेतुः स्यात्**) जीवके भावमें हेतु हो सकता है ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जीवके पाच प्रकार के भावोंमेंसे पारिमाणिक भावोंको छोडकर शेप चारों भाव घातिया कर्मोंके उदयादिकसे ही होते है अन्यथा नहीं। परन्तु जो देवादि गति है वह जब केवल नामकर्मके ही उदयसे होती है। घातिया कर्मोंके उदयसे नहीं होती है तो फिर इन चारों गतियोंको औदयिक भावोंमें क्यों परिगणित किया जाता है अर्थात् चारों ही गति नामक औदयिक—भावोंको औदयिक नहीं मानना चाहिए।

सत्यं तन्नामकर्मापि लक्षणाच्चित्रकारवत्।
नूनं तद्देहमात्रादि निर्मापयति चित्रवत् ॥ ९८१ ॥

अन्वयार्थः— (**सत्यं**) ठीक है क्योंकि (**तन्नामकर्मापि**) वह नामकर्म भी (**लक्षणात्**) अपने लक्षणकी अपेक्षासे (**चित्रकारवत्**) चित्रकारकी तरह (**नूनं**) निश्चयसे (**चित्रवत्**) चित्रके समान (**तद्देहमात्रादि निर्मापयति**) गतिके अनुसार केवल जीवके शरीरादिकको ही निर्माण करता है।

भावार्थ — शकाकारका कहना ठीक है। क्योंकि नामकर्मका लक्षण जिस तरह चित्रकार चित्रको निर्माण करता है उसी तरह शरीर, अंगोपाग और शरीरकी नाना प्रकारकी आकृतियोंको निर्माण करना है। इसलिए देवादिक पर्यायोंमें तदनुसार शरीर निर्माणादिक केवल नामकर्मका कार्य है। कहा भी है—

चित्रकार जैसे लिखे नाना चित्र अनूप।
नामकर्म तैसे करे चेतन के बहुरूप ॥

आस्ति तत्रापि मोहस्य नैरन्तर्योदयोऽञ्जसा।
तस्मादौदयिको भावः स्यात्तद्देहक्रियाकृतिः ॥ ९८२ ॥

१ यह पद्य मू. पु. में पीछेसे लिखा है।

अन्वयार्थ.— परन्तु (तत्रापि) उन देवादि गति सम्बन्धी शरीरादिक पर्यायोंमें भी (अंजसा) वास्तवमें (मोहस्य) मोहका (नैरन्तर्योदयः अस्ति) गत्यनुसार निरन्तर उदय रहता है (तस्मात्) इस लिए (तद्देहक्रियाकृतिः) विवक्षित गतिमें–जिस गतिका उदय होता है उस २ गति सम्बन्धी प्राप्त शरीरादिक की क्रिया के आकार के अनुकूल (औदयिक भाव स्यात्) मोहनीय कर्मके उदयजन्य औदयिक–भाव होते है।

भावार्थः— यद्यपि नामकर्म चित्रकार की तरह गतिके अनुसार देहकी रचना आदिकमें ही कारण है यह कथन ठीक है । परन्तु गतिको औदयिक-भावोंमें गिनाने का इतना ही प्रयोजन है कि विवक्षित गतिमें प्राप्त विवक्षित देहके अनुसार ही मोहनीय कर्मका उदय रहता है । जैसे कि हाथीमें गम्भीरता, हंसमें विवेक, कुत्तेमें सजाति–द्रोह, मर्कटमें चंचलता और बिल्लीमें विश्वासघात आदिक प्रशस्ताप्रशस्त विकार उस देहके अनुसार सामान्यतः रहते हैं । वैसे ही प्रत्येक गतिके अनुसार विवक्षित मोहोदयजन्य भाव होते है इस भावको द्योतनार्थ गतिको औदयिक भावोंमें परिगणित किया है ।

ननु मोहोदयो नूनं स्वायत्तोऽस्त्येकधारया ।
तत्तद्वपुः क्रियाकारो नियतोऽयं कुतो नयात् ॥ ९८३ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि यदि (एकधारया) अखण्ड धारासे (मोहोदय नूनं स्वायत्तः अस्ति) मोहका उदय नियमसे स्वायत्त है अर्थात् प्रतिसमय मोहका उदय निर्विच्छिन्न रूपसे मोहके आश्रवमें कारण होता रहता है तो फिर (अयं) यह मोहनीय कर्मका उदय (तत्तद्वपुः क्रियाकारः) उन २ शरीरोंके सम्बन्धसे उन २ शरीरोंकी क्रियाके अनुकूल (कुत नयात् नियतः) किस न्यायसे नियमित हो सकता है ?

भावार्थ — शंकाकारका कहना है कि मोहनीय कर्म स्वोदय–बन्ध प्रकृति है । इस लिए जब जिस जातिके मोहका उदय होता है तब उस जातिके मोह कर्मका आश्रव भी होता है । इस प्रकार जब मोहनीयके उदयकी धाराका उच्छेद कभी भी नहीं हो पाता है तो फिर ऐसी स्थिति में गतिके अनुसार प्राप्त होनेवाले शरीरादिककी क्रिया के अनुकूल मोहनीयके उदयको नियत कहना कैसे सुसंगत होसकता है ?

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि मोहस्योदयवैभवे ।
तत्रापि बुद्धिपूर्वे चाबुद्धिपूर्वे स्वलक्षणात् ॥ ९८४ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) इस प्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि तुम (तत्रापि) उन चारोंही गतियोंमें (स्वलक्षणात्) मोहोदयके लक्षणानुसार (बुद्धिपूर्वे) बुद्धिपूर्वक (च) और (अबुद्धिपूर्वे) अबुद्धिपूर्वक होनेवाले (मोहस्योदयवैभवे) मोहनीयके उदय वैभवमें (अनभिज्ञः असि) अनभिज्ञ हो ।

भावार्थ — शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि वह उन गतियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले मोहके उदयजन्य विकारसे अनभिज्ञ है ।

आगे मोहके उदयजन्य भावोंको बताते है ।

मोहनान्मोहकर्मैकं तद्द्विधा वस्तुतः पृथक् ।
दृङ्मोहश्चात्र चारित्रमोहश्चेति द्विधा स्मृतः ॥ ९८५ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) यहांपर (मोहनात्) आत्माके स्वभावोंको मूर्च्छित करनेके कारण (मोहकर्म एक) मोहकर्म एक है और (तत् वस्तुतः पृथक्) पृथक् २ गुणोंको मूर्च्छित करनेके कारण वह (द्विधा) दो प्रकारका है अर्थात् (दृङ्मोहः) दर्शनमोह (च) तथा (चारित्रमोहः) चारित्रमोह (इति च द्विधा स्मृतः) इस प्रकार से वह मोहनीय कर्म दो तरहका माना गया है ।

भावार्थः— आत्मा के गुणोंको मूर्च्छित करने की अपेक्षासे वह मोहकर्म एक प्रकार का है । तथा दर्शन और चारित्र गुणको मूर्च्छित करनेकी अपेक्षासे वह मोहकर्म, दर्शनमोह तथा चारित्रमोह इस तरह दो प्रकारका है ।

एकधा त्रिविधा वा स्यात्कर्म मिथ्यात्वसंज्ञकम् ।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कं च सप्तैते दृष्टिमोहनम् ॥ ९८६ ॥

अन्वयार्थः— (मिथ्यात्वसंज्ञकं कर्म) उन दर्शनमोह और चारित्रमोहमें से मिथ्यात्व नामक कर्म (एकधा वा -त्रिविधा स्यात) एक प्रकारका अथवा तीन प्रकारका है (च) तथा मिथ्यात्वके वे तीन भेद और (आद्य चतुष्कं क्रोधादि) प्रथम चौकडी अर्थात् अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ (एते सप्त)

ये सात (दृष्टिमोहन) दर्शन गुणको मूर्छित करनेके कारण दर्शनमोहनीय कर्मके उत्तर भेद कहलाते है।

भावार्थः— दर्शनमोहनीय कर्म सम्यक्त्व गुणके घात करनेकी अपेक्षासे एक प्रकारका है। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इस तरह भेद विवक्षासे तीन प्रकारका है। तथा उक्त मिथ्यात्वादि तीन, अनन्तानुबंधी क्रोधादि चतुष्टय इस तरह सात प्रकारका भी है।

दृङ्मोहस्योदयादस्य मिथ्याभावोऽस्ति जन्मिनः।
स स्यादौदयिको नूनं दुर्वारो दृष्टिघातकः॥ १८७॥

अन्वयार्थः— ('यः') जो (**जन्मिन**) संसारी जीवोंके (**अस्य दृङ्मोस्य उदयात्**) इस दर्शनमोहनीयके उदयसे (**मिथ्याभावः अस्ति**) मिथ्यात्व होता है (**सः दृष्टिघातक**) वही सम्यग्दर्शन गुणका घातक (**औदयिकः**) मिथ्यात्व नामक औदायिक भाव संसारी जीवोंके द्वारा (**नून दुर्वारः स्यात्**) निश्चयसे दुष्परिहार्य है।

भावार्थः— दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवके सम्यक्त्व गुणमें इस तरहका मिथ्यापना आजाता है कि जिसके कारण उसके हेयोपादेय का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता है। किन्तु पर पदार्थमेंही इष्टानिष्ट कल्पना होती है। जबतक जीवके मिथ्यात्वका उदय रहता है तबतक अपरिहार्य रूपसे सम्यक्त्वका घात होता रहता है अर्थात् सम्यक्त्व गुणका विकाश नहीं हो सकता है। अत काललब्धि आदिके निमित्तसे मिथ्यात्वके अभाव होनेपरही सम्यक्त्व गुणका आविर्भाव होता है अन्यथा नहीं।

अस्ति प्रकृतिरस्यापि दृष्टिमोहस्य कर्मणः।
शुद्धं जीवस्य सम्यक्त्व गुणं नयति विक्रियाम्॥ १८८॥

अन्वयार्थः— (**अस्य दृष्टिमोहस्य कर्मण**) इस दर्शनमोहनीय कर्मकी (**प्रकृतिः अपि अस्ति**) कुछ प्रकृति ही ऐसी है कि जिसके कारण वह (**जीवस्य शुद्ध सम्यक्त्वं गुणं**) जीवके शुद्ध सम्यक्त्व गुणमें (**विक्रियां नयति**) विकार पैदा करता है।

भावार्थः— दर्शनमोहनीय कर्मका स्वभावही कुछ ऐसा है कि जिसके कारण वह जीवके सम्यक्त्व गुणमें विकार पैदा करता है।

यथा मद्यादिपानस्य पाकाद्बुद्धिं विमुह्यति ।
श्वेतं शंखादि यद्वस्तु पीतं पश्यति विभ्रमात् ॥ ९८९ ॥

अन्वयार्थ — (यथा) जिस प्रकार (मद्यादिपानस्य पाकात्) मद्यादिपानके प्रभावसे (बुद्धिः विमुह्यति) बुद्धि मोहित हो जाती है और (विभ्रमात्) उस मद्यके प्रभावसे होनेवाले विभ्रमके कारण वह मद्यपायी (श्वेतं शंखादि यद्वस्तु) श्वेत जो शंखादिक वस्तु है उसे (पीतं पश्यति) पीले रूपमें देखता है ।

भावार्थः— जैसे किसीने यदि मद्यपान किया हो तो उसके निमित्तसे उसके चित्तमें विभ्रम पैदा हो जाता है । इसलिए वह शंखादिक स्वच्छ वस्तुओंको पीतरूपमें देखने लगता है । और विवेकके मोहित हो जानेसे उसका विवेक वस्तुके यथार्थ स्वरूपको विषय नहीं करता है ।

तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तूदयादिह ।
अपि यावदनात्मीयमात्मीयं मनुते कुदृक् ॥ ९९० ॥

अन्वयार्थः— (तथा) तथा (इह) इस जगतमें (दर्शनमोहस्य कर्मणः तु उदयात्) उस दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे (कुदृक्) मिथ्यादृष्टि (यावत् अनात्मीयं अपि) सम्पूर्ण परपदार्थोंको भी आत्मीयं मनुते) निज मानता है ।

भावार्थ — तथा मिथ्यादृष्टि जीव दर्शनमोहनीयके उदयसे ही पर वस्तुको निज मानकर उसमें राग द्वेष करता है । और फिर उन राग–द्वेषोंसे उत्पन्न होनेवाली आकुलताके कारण दुखी होता है । यहां ' तु ' शब्दसे यह ध्वनित होता है कि जब मिथ्यात्वका उदय संसारी जीवके नहीं रहता है तब वस्तुका उसे यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित होने लगता है । और उसके रागद्वेषजन्य आकुलताका भी अभाव हो जाता है । इसलिए वह सम्यक्त्वके होनेपर अचिन्त्य आनन्दका उपभोग करता है ।

चापि लुम्पति सम्यक्त्वं दृङ्मोहस्योदयो यथा ।
निरुणद्ध्यात्मनो ज्ञानं ज्ञानस्यावरणोदयः ॥ ९९१ ॥

अन्वयार्थ — (यथा) जिस प्रकार (दृङ्मोहस्य उदयः) दर्शनमोहनीय कर्मका उदय (सम्यक्त्वं

लुम्पति) सम्यक्त्वका घात करता है (' तथा ' च) उसी प्रकार (ज्ञानस्य आवरणोदयः अपि) ज्ञानावरण कर्मका उदय भी (आत्मनः ज्ञान) आत्माके ज्ञान गुणको (निरुणद्धि) आवृत करता है ।

भावार्थः— जैसे दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवके सम्यक्त्वगुणका घात होता है वैसे ही ज्ञानावरण कर्मके उदयमे उसके ज्ञानका घात होता है ।

यथा ज्ञानस्य निर्णाशो ज्ञानस्यावरणोदयात ।
तथा दर्शननिर्णाशो दर्शनावरणोदयात् ॥ ९९२ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जिस प्रकार (ज्ञानस्यावरणोदयात्) ज्ञानावरण कर्मके उदयसे (ज्ञानस्य निर्णाशः) ज्ञानका नाश होता है (तथा) उसी प्रकार (दर्शनावरणोदयात्) दर्शनावरण कर्मके उदयसे (दर्शननिर्णाशः) दर्शनका नाश होता है ।

भावार्थ — जैसे ज्ञानावरण कर्मके उदयसे जीवके ज्ञानगुणका आवरण होता है वैसे ही दर्शनावरण कर्मके उदयसे आत्मा के दर्शनगुणका आवरण होता है ।

यथा धाराधराकारै गुंण्ठितस्यांशुमालिनः ।
नाविर्भावः प्रकाशस्य द्रव्यादेशात्सतोऽपि वा ॥ ९९३ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जिस प्रकार (धाराधराकारैः) मेघ मालाओंसे (गुण्ठितस्य अंशु-मालिन) आच्छादित सूर्यमे (द्रव्यादेशात्) द्रव्य दृष्टिसे (सतः अपि वा प्रकाशस्य) यद्यपि प्रकाशका सद्भाव है तथापि पर्यायदृष्टिसे (आविर्भावः न) प्रकाशका आविर्भाव [रुक जाता है] नहीं हो पाता है ।

भावार्थ— ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके द्वारा आत्माके ज्ञान तथा दर्शनगुणका आवरण इस प्रकार समझना चाहिये कि जैसे मेघोके द्वारा सूर्यके आच्छादित हो जानेसे यद्यपि उसमें प्रकाशकी शक्तिका नाश नहीं हो जाता है तथापि आच्छादित हो जानसे प्रकाशका आविर्भाव नहीं हो पाता है । वैसे ही द्रव्यादेशसे आत्माके ज्ञानदर्शनगुणका सद्भाव रहते हुए भी उनका आविर्भाव नहीं हो पाता है । इस दृष्टान्तसे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार मोहनीय कर्मके कारण सम्यक्त्व तथा चारित्र गुणकी विकृतस्वादुरूप अवस्था होजाती है उस प्रकार ज्ञान और दर्शन गुणकी विकृतस्वादुरूप अवस्था तो नहीं होती है किन्तु अन्ध अन्धतर तथा अन्धतमरूप अवस्था हो जाती है ।

यत्पुनर्ज्ञानमज्ञानमस्ति रूढिवशादिह ।
तन्नौदयिकमस्त्यस्ति क्षायोपशमिकं किल ॥ ९९४ ॥

अन्वयार्थः— (पुन:) और (यत्) जो (इह) यहांपर (रूढिवशात्) रूढिसे (ज्ञानं अज्ञानं अस्ति) मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको अज्ञान कहते है (तत्) वह मिथ्यादृष्टि का ज्ञान (औदयिकं न अस्ति) औदयिक अज्ञान नहीं है अर्थात ज्ञानावरण कर्मके उदयसे नहीं होता है किन्तु (किल) निश्चयसे (क्षायोपशमिकं अस्ति) क्षायोपशमिक रूप होता है ।

भावार्थ — अज्ञान शब्द औदयिक भावोंमें परिग्रहीत है और क्षायोपशमिक भावोंमें भी परिग्रहीत है । दोनों जगह अभिप्राय भेदसे अज्ञान शब्दको भिन्न २ अर्थ लेना चाहिये । क्षायोपशमिक भावोंमें जो अज्ञान शब्द आया है उसका अर्थ कुमति कुश्रुत तथा कुअवधिरूप क्षायोपशमिक ज्ञान है । यह अज्ञान केवल सम्यक्त्वके न होनेसे अज्ञान कहलाता है ज्ञानावरणके उदयसे नहीं इसके तीन भेद है १ कुमति २ कुश्रुत और ३ कुअवधि ।

और औदयिक भावोंमें जो अज्ञान है उसका अभिप्राय विवक्षित ज्ञानावरणके सर्वघाति स्पर्द्धकोंके उदयसे होनेवाले विवक्षित ज्ञानके न हो सकनेका है । जैसे कि केवल-ज्ञानावरणके उदयसे केवलज्ञानका न हो सकना, मनःपर्यय ज्ञानावरणके उदयसे मन पर्यय ज्ञानका न हो सकना, अवधिज्ञानावरणके उदयसे अवधिज्ञानका न हो सकना, उसीको सामान्य रूपसे ज्ञानके अभावरूप एक अज्ञान भाव कहा है ।

अब आगे ४ चार पद्यों द्वारा औदयिक अज्ञानका स्वरूप बताते है ।

अथास्ति केवलज्ञानं यत्तदावरणावृत्तम् ।
स्वापूर्वार्थान् परिच्छेत्तुं नालं मूर्छितजन्तुवत् ॥ ९९५ ॥

अन्वयार्थ.— (अथ) अथच जब (यत् केवलज्ञानं) जो केवलज्ञान (तदावरणावृतं अस्ति) केवल-ज्ञानावरणके द्वारा आवृत होता है तब वह औदयिक अज्ञान (मूर्छितजन्तुवत्) मूर्छित-बेहोश प्राणीकी तरह (स्वापूर्वार्थान्) स्व और पर पदार्थ का (परिच्छेत्तुं) जाननेके लिए (अलं न) समर्थ नहीं होता है ।

भावार्थ.— जो केवलज्ञानावरणके उदयसे केवलज्ञानका अविर्भाव नहीं हो पाता है वह औदयिक अज्ञानभाव है ।

यद्वा स्यादवधिज्ञानं ज्ञानं वा स्वान्तपर्ययम् ।
नार्थक्रियासमर्थं स्यात्तत्तदावरणावृतम् ॥ ९९६ ॥

अन्वयार्थ — (**वा**) तथा और जब (**यत् अवधिज्ञानं**) जो अवधिज्ञान (**वा**) अथवा (**स्वान्तपर्ययं ज्ञानं**) मन पर्यय ज्ञान (**तत्तदावरणावृतं स्यात्**) अपने २ आवरणके द्वारा आवृत होते है तब वे (**अर्थक्रियासमर्थं न स्यात्**) अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होते है ।

भावार्थः— अवधि और मनःपर्यय ज्ञानावरणके उदयसे जो अवधि तथा मन.पर्यय ज्ञान नहीं होता है वह भी औदयिक अज्ञानभाव है ।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तत्तदावरणावृतम् ।
यद्यावतोदयांशेन स्थितं तावदपन्हुतम् ॥ ९९७ ॥

अन्वयार्थः— अथवा (**यत् मतिज्ञान श्रुतज्ञानं**) जो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान (**यावता उदयांशेन**) अपने देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयांशसे (**तत्तदावरणावृतं स्थितं**) अपने २ आवरणोंके द्वारा जितने आवृत रहते है (**तावत्**) उतने ही वे (**अपन्हुतं**) ढके हुए रहते है ।

भावार्थः— मति श्रुत ज्ञानावरणके अंशोंसे जो मति तथा श्रुतज्ञान आच्छादित होता है वह भी औदयिक अज्ञानभाव है ।

यत्पुनः केवलज्ञानं व्यक्तं सर्वार्थभासकम् ।
स एव क्षायिको भावः कृत्स्नस्वावरणक्षयात् ॥ ९९८ ॥

अन्वयार्थः— (**यत्पुनः**) और जो (**सर्वार्थभासकं**) सब पदार्थोंका युगपत् प्रकाशित करनेवाला (**व्यक्त केवलज्ञानं**) प्रगट हुआ केवलज्ञान है (**स एव**) वही (**कृत्स्नस्वावरणक्षयात्**) सम्पूर्ण ज्ञानावरणके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला (**क्षायिकः भावः**) क्षायिक-भाव है ।

भावार्थ — जो सम्पूर्ण ज्ञानावरणके अभावसे सम्पूर्ण चराचरका युगपत् प्रकाशक केवलज्ञान होता है वही क्षायिक ज्ञान है ।

कर्माण्यष्टौ प्रसिद्धानि मूलमात्रतया पृथक् ।
अष्टचत्वारिंशच्छतं कर्माण्युत्तरसंज्ञया ॥ ९९९ ॥

अन्वयार्थः— (**मूलमात्रतया पृथक्**) केवल मूल भेदरूपसे परस्परमें भिन्न (**अष्टौ कर्माणि प्रसिद्धानि**) केवल आठ कर्म प्रसिद्ध है तथा (**उत्तरसंज्ञया**) उत्तर भेदसे (**कर्माणि अष्टचत्वारिंशत् शतं**) कर्म एकसौ अडतालीस है ।

भावार्थः— कर्मोंके मूल भेद आठ और उत्तर भेद १४८ एकसौ अडतालीस हैं ।

उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम् ।
शक्तितोऽनन्तसंज्ञं च सर्वकर्मकदम्बकम् ॥ १००० ॥ १८६५

अन्वयार्थः— (**च**) और (**उत्तरोत्तरभेदैः**) उत्तरोत्तर भेदोंकी अपेक्षासे कर्म (**लोकासंख्यात-मात्रक**) असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं (**च**) तथा (**शक्तित**) अपने अविभाग प्रतिच्छेदोंके शक्तिकी अपेक्षासे (**सर्वकर्मकदम्बकम्**) सम्पूर्ण कर्मोंका समूह (**अनन्तसंज्ञ**) अनन्त हैं ।

भावार्थः— उत्तरोत्तर भेदोंकी अपेक्षासे कर्म असंख्यात लोकप्रमाण तथा अपने अविभाग प्रतिच्छेदोंकी शक्तिकी अपेक्षासे अनन्त है ।

तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया ।
घातकत्वाद्गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृतिः ॥ १००१ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र**) उन आठों कर्मोंमेंसे (**चत्वारि कर्माणि**) चार कर्म (**अन्वर्थसंज्ञया**) यथानाम तथा गुण रूप अन्वर्थ संज्ञासे अर्थात् अपने नामसे ही अपने अर्थको द्योतित करनेवाले होनेसे (**घातीनि**) घातिया कहलाते है (**हि**) क्योंकि (**जीवस्य गुणानां घातकत्वात् एव**) जीवके गुणोंका घात करनेसे ही वे घातिया कहलाते है (**इति वाक्स्मृतिः**) ऐसा आगम है ।

भावार्थः— उन आठों कर्मोंमेंसे आत्माके अनुजीवी ज्ञानादिकको घातनेसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया कहलाते है ।

***ततः शेषचतुष्कं स्यात्कर्माघाति विवक्षया ।**
गुणानां घातकाभावशक्तेरप्यात्मशक्तिमत् ॥ १००२ ॥

अन्वयार्थः—(**ततः शेषचतुष्कं कर्म**) घातिया कर्मोंसे बाकीके बचे हुए चार कर्म (**आत्मशक्तिमत् अपि**) अपनी २ शक्तिको रखते हुए भी (**गुणानां घातकाभावशक्तेः विवक्षया**) सम्यक्त्वादि आत्माके अनुजीवी गुणोंके घातनेकी शक्तिके अभावकी विवक्षासे (**अघाति स्यात्**) अघातिया कहलाते है ।

भावार्थ— यद्यपि वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चारों ही कर्मोंमें भिन्न २ प्रकारकी शक्तिया है जैसे कि वेदनीय कर्मके निमित्तसे अव्याबाध गुणका, नामकर्मके निमित्तसे सूक्ष्मत्वका, गोत्रकर्मके निमित्तसे अगुरुलघुगुणका तथा आयुकर्मसे अवगाह गुणका घात होता है तथापि ज्ञानादिक अनुजीवी गुणोंका घात इनके द्वारा नहीं होता है । इसलिए इन चारोंको अघातिया कहा है ।

एवमर्थवशान्नूनं सन्त्यनेके गुणाश्रितः ।
गत्यन्तरात्स्यात्कर्मत्वं चेतनावरणं किल ॥ १००३ ॥

अन्वयार्थः— (**एवम् अर्थवशात् नूनं चितः अनेके गुण सन्ति किल**) यद्यपि इस प्रकार अर्थवशसे, आत्माके और भी अनेक गुण है । तथापि उनमेंसे (**गत्यन्तरात् चेतनावरणम् कर्मत्वं स्यात्**) अगत्या चेतनावरण कर्म भी माना है ।

भावार्थ — यहांपर चेतना शद्बका ज्ञान अर्थ गृहीत किया है कारण ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके वर्णनका प्रसंग है । अतः इस पद्यका यह अर्थ है कि इस प्रकार प्रयोजनवश आत्मामें अनेक गुणोंकी कल्पना की जाती है उनमें आत्माके ज्ञानगुणका घात करनेवाला चेतनावरण–ज्ञानावरण नामक एक कर्म माना है ।

दर्शनावरणेऽप्येष क्रमो ज्ञेयोऽस्ति कर्माणि ।
आवृतेरविशेषाद्वा चिद्गुणास्यानातिक्रमात् ॥ १००४ ॥

अन्वयार्थः—(**आवृतेः अविशेषात्**) आवरण सामान्यकी दृष्टिसे (**वा**) अथवा दर्शनको (**चिद्गुणस्य अनतिक्रमात्**) चेतना गुणमें ही गर्भित होनेसे (**दर्शनावरणे कर्मणि अपि**) दर्शनावरण कर्ममें भी (**एषः क्रमः ज्ञेयः अस्ति**) यही क्रम जानना चाहिए ।

* यह पद्य मू. पु में आगे लिखा है ।

भावार्थ— जैसे कर्म, ज्ञानको आवरण करनेसे ज्ञानावरण कहलाता है वैसे ही दर्शन भी चेतनाका एक भेद है। अतः उसका आवरण करनेवाला कर्म भी दर्शनावरण कहलाता है यह समझना चाहिये।

एवं च सति सम्यक्त्वे गुणे जीवस्य सर्वतः।
तं मोहयति यत्कर्म दृङ्मोहाख्यं तदुच्यते ॥ १००५ ॥

अन्वयार्थ — (एवं च) इसी तरह (जीवस्य सम्यक्त्वे गुणे सति) जीवके सम्यक्त्व नामक गुणके होते हुए (यत् कर्म त सर्वतः मोहयति) जो कर्म उस सम्यक्त्व गुणको सर्वत मूर्च्छित कर देता है (तत् दृङ्मोहाख्य उच्यते) उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते है।

भावार्थः— जीवके सम्यक्त्व गुणको मूर्च्छित करनेवाले कर्मको दर्शनमोहनीय कर्म कहते है।

नैतत्कर्मापि तत्तुल्यमन्तर्भावीति न क्वचित्।
तद्द्वयावरणादेतदस्ति जात्यन्तरं यतः ॥ १००६ ॥

अन्वयार्थ— (एतत् कर्म) यह दर्शनमोहनीय कर्म (तत्तुल्यं न) ज्ञानावरणादिककी तरह नहीं है (इति) इस लिए उसका (क्वचित् अन्तर्भावो अपि न) ज्ञानावरणादिकमें अन्तर्भाव भी नहीं किया जा सकता है (यतः) क्योकि (एतत् तद्द्वयावरणात् जात्यन्तरं अस्ति) यह दर्शनमोहनीय कर्म ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मकी जातिसे भिन्न जातिका है।

भावार्थ — सम्यक्त्व गुणको मोहित करनेवाला यह दर्शनमोहनीय कर्म ज्ञानावरणादि कर्मोंसे भिन्न जातिवाला है। इस लिए उनमें इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। अतएव वह भिन्न कर्म ही माना गया है।

ततः सिद्धं यथाज्ञान जीवस्यैको गुणः स्वतः।
सम्यक्त्वं च तथा नाम जीवस्यैको गुणः स्वतः ॥ १००७ ॥

अन्वयार्थ — (ततः सिद्धं) इस लिए सिद्ध होता है कि (यथा) जिस प्रकार (जीवस्य) जीवका (ज्ञान स्वतः एक गुण) ज्ञान स्वयं एक गुण है (तथा) उसी प्रकार (सम्यक्त्व च) सम्यक्त्व भी (जीवस्य) जीवका (स्वतः एक गुणो नाम) स्वयंसिद्ध एक गुण है।

भावार्थः— अत भिन्न २ प्रतिपक्षी कर्मोंके सद्भावसे यह सिद्ध होता है कि जैसे ज्ञान एक जीवका पृथक् गुण है वैसे ही सम्यक्त्व भी जीवका एक पृथक् गुण है।

पृथगुद्देश एवास्य पृथग्लक्ष्यं च लक्षणम ।
पृथग्दृङ्मोहकर्म स्यादन्तर्भावः कुतो नयात् ॥ १००८ ॥

अन्वयार्थः— (अस्य उद्देश॰ पृथक् एव) मोहनीय कर्मका नामनिर्देश–संज्ञा ज्ञानावरणादिकसे पृथक्ही है (लक्ष्यं च लक्षणं पृथक्) लक्ष्य और लक्षण भी पृथक् है इसलिए (दृङ्मोहकर्म पृथक्) दर्शनमोहनीय कर्मभी पृथक है अत (कुतो नयात् अन्तर्भाव स्यात्) मोहनीय कर्मका ज्ञानावरणादिकमें किस न्यायसे अंतर्भाव होसकता है ? ।

भावार्थ — निर्देश तथा लक्ष्य लक्षण भावके पृथक् होनेसे दर्शनमोहनीय कर्मका अन्तर्भाव ज्ञानावरणादिक में भला किस न्यायसे किया जा सकता है ? ।

एवं जीवस्य चारित्रं गुणोऽस्त्येकं प्रमाणसात् ।
तन्मोहयति यत्कर्म तत्स्याच्चारित्रमोहनम् ॥ १००९ ॥

अन्वयार्थः — (एवं) इसी प्रकार (प्रमाणसात्) प्रमाण सिद्ध (जीवस्य चारित्रं एको गुणः अस्ति) जीवका चारित्र भी एक गुण है और (यत्कर्म) जो कर्म (तन्मोहयति) उस चारित्रको मूर्छित करता है (तत् चारित्रमोहन स्यात्) उसे चारित्रमोहनीय कर्म कहते है ।

भावार्थः— प्रमाणसिद्ध आत्मके चारित्र गुणको मोहित करनेवाले कर्मको चारित्र-मोहनीय कर्म कहते है ।

अस्ति जीवस्य वीर्याख्यो गुणोऽस्त्येकस्तदादिवत् ।
तदन्तरयतीहेदमन्तरायं हि कर्म तत् ॥ १०१० ॥

अन्वयार्थः— (इह) जीवके इन गुणोंमें (तदादिवत्) ज्ञानादिक गुणोंके समान (जीवस्य) जीवका (वीर्याख्यः) वीर्य नामका भी (एक गुणः अस्ति) एक गुण है और (इदं) यह अन्तराय कर्म (तत्) उस वीर्य गुणको ही (हि) निश्चयसे (अन्तरयति) अन्तरित–आच्छादित करता है इसलिए

(तत् कर्म अन्तरायं अस्ति) वह कर्म अन्तराय कहलाता है ।

भावार्थः— जीवके वीर्यादि गुणको प्रकट न होने देनेवाले कर्म को अन्तराय कर्म कहते है ।

एतावदत्र तात्पर्यं यथा ज्ञानं गुणाश्रितः ।
तथाऽनन्तागुणा ज्ञेया युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ १०११ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र एतावत् तात्पर्यं) उक्त कथनका यहां इतनाही तात्पर्य है कि (यथा ज्ञानं चितः गुणः) जिस प्रकार ज्ञान आत्माका गुण है (तथा) उसी प्रकार (युक्तिस्वानुभवागमात्) युक्ति, स्वानुभव और आगमसे (अनन्ता गुणाः ज्ञेया) आत्माके सम्यक्त्वादि अनन्त गुण जानना चाहिए ।

भावार्थः—उक्त सब कथनका तात्पर्य यही है कि जैसे आत्माका ज्ञान गुण है वैसे ही युक्ति स्वानुभव और आगमसे अनन्त गुण है ऐसा समझना चाहिए ।

न गुणः कोऽपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भवः क्वचित् ।
नाधारोऽपि च नाधेयो हेतुर्नापीह हेतुमान् ॥ १०१२ ॥

अन्वयार्थः— (इह) प्रकृतमें (क्वचित्) कहीं भी (कः अपि गुणः) कोई भी गुण (कस्यापि गुणस्य अन्तर्भवः न) किसी भी गुणका अन्तर्भावी नहीं है (आधारः न) आधार नहीं है (आधेयः अपि च न) आधेय भी नहीं है (हेतुः अपि हेतुमान् न) कारण और कार्य भी नहीं है ।

भावार्थः— किसी गुणका किसी अन्य गुणमें अन्तर्भाव नहीं है । तथा परस्पर गुणोंमें किसी प्रकारका आधार आधेयभाव और कार्यकारणभाव भी नहीं है ।

किन्तु—

किन्तु सर्वोऽपि स्वात्मीयः स्वात्मीय-शक्तियोगतः ।
नानारूपा ह्यनेकेऽपि सता सम्मिलिता मिथः ॥ १०१३ ॥

अन्वयार्थः— (किंतु) किन्तु (स्वात्मीय-शक्तियोगतः) अपनी २ शक्तिको धारण करनेकी अपेक्षासे (सर्वोऽपि) सब गुण (स्वात्मीयः) अपने २ स्वरूपमें स्थित है इस लिए यद्यपि वे (नाना

१ मू पु में ' स्वात्मीय ' पाठ है ।

रूपा अपि अनेके) नानारूप और अनेक है तथापि (हि) निश्चयपूर्वक वे सब गुण (मिथः सता सम्मिलिताः) परस्परमें एक ही सत्के साथ अन्वयरूपसे सम्बन्ध रखते हैं।

भावार्थः— यद्यपि किसी भी गुणका किसी भी गुणमें अन्तर्भाव, आधार आधेयभाव तथा कार्यकारण भाव न होनेसे द्रव्यके सम्पूर्ण गुण भिन्न और अनेक हैं । तथापि अपने द्रव्यत्व का कभी उलंघन नहीं करते है इस लिए सम्पूर्ण गुण परस्परमें अभिन्न हैं ।

गुणानां चाप्यनन्तत्वे वाग्व्यवहारगौरवात् ।
गुणाः केचित्समुद्दिष्टाः प्रसिद्धा पूर्वसूरिभिः ॥ १०१४ ॥

अन्वयार्थः— (गुणानां अनन्तत्वे च अपि) यद्यपि गुणोंमें अनन्तपना है तो भी (पूर्वसूरिभिः) प्राचीन आचार्योंने (वाग्व्यवहारगौरवात्) अति ग्रन्थ विस्तारसे गौरव दोप आता है इस लिए संक्षेपसे (प्रसिद्धाः केचित् गुणाः समुद्दिष्टाः) प्रसिद्ध २ कुछ गुणोंका नामोल्लेख किया है ।

भावार्थः— द्रव्यमें अनन्त गुणोंके होनेपर भी पूर्वाचार्योंने वचन विस्तारके भयसे सबका वर्णन न करके केवल ज्ञानादिक कुछ प्रसिद्ध गुणोंकाही उलेख किया है ।

यत्पुनः क्वचित्कस्यापि सीमाज्ञानमनेकधा ।
मनःपर्ययज्ञानं वा तद्द्वयं भावयेत्समम् ॥ १०१५ ॥
तत्तदावरणस्योच्चैः क्षायोपशमिकत्वतः ।
स्यांद्यथा लक्षिताद्भावात्स्यादत्राप्यपरागतिः ॥ १०१६ ॥

अन्वयार्थः— (पुनः यत्) और जो (क्वचित् कस्यापि अनेकधा सीमाज्ञानं) कहीं २ किसीको नाना प्रकारका अवधिज्ञान (मनःपर्ययज्ञानं) मनःपर्ययज्ञान क्रमसे (वा) अथवा (तद्द्वयं) अवधि और मनःपर्ययज्ञान (समं भावयेत्) युगपत् होते है तथा (तथा) जैसे (तत्) वह सब अर्थात् अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान (तदावरणस्य) अपने २ आवरणके (उच्चैः क्षायोपशमिकत्वतः) सर्वघाति स्पर्द्धकोंके क्षयोपशमसे (स्यात्) होता है (' तथा ') वैसे ही (लक्षितात् भावात् अपि) उक्त लक्षण युक्त भावसे भी अर्थात् क्षायोपशमिकपनेसे (अत्र) इन दोनों ज्ञानोंमें (अपरागतिः स्यात्) गत्यन्तर अर्थात् इस क्षायोपशमिकपनेका

नाश होता है । अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी जब केवलज्ञानको प्राप्त करते है तब वहां क्षायोपशमिक ज्ञानोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है । इस लिए यह भी उन क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी एकतरहकी ' अपरागति ' समझना चाहिए । तथा संक्लेशकी अधिकताके कारण ज्ञानावरणके तीव्र उदयसे अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान होकर भी छूट जाते है यह भी एक प्रकारकी उन क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी अपरागति समझना चाहिए ।

' अत्रापि यथालक्षितात् भावात् अपरागतिः स्यात् , इस पदसे यह ध्वनित होता है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी तरह ये दोनोंही ज्ञान चिरकाल स्थायी नहीं है । कालान्तरमें उनका नाश या तो केवलज्ञानरूप क्षायिकज्ञान होनेसे हो जाता है । अथवा सक्लेशके कारण तीव्र ज्ञानावरणका उदय आनेसे उनका घात हो जाता है अर्थात् इस तरह ये दोनों ज्ञान अपने क्षायोपशमिक अवस्थारूप लक्षणसे च्युत होकर अपरगतिको प्राप्त करते है ।

आगेके पद्यमें मतिश्रुतको सनातन कहा है इस लिए ' अपरागति , शब्दका ऊपर कहा हुआ अर्थ ही ठीक प्रतीत होता है ।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमेतन्मात्रं सदातनम् ।
स्याद्वा तरतमैर्भावैर्यथा हेतूपलब्धिसात ॥ १०१७ ॥

अन्वयार्थः— (यथा हेतूपलब्धिसात्) जैसी २ कारण सामग्री मिलती है तदनुसार होनेवाले अपने २ (तरतमैः भावैः) तरतम भावोंसे (मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं एतन्मात्रं) मति और श्रुत ये दोनों ही ज्ञान (सदातनं वा स्यात) सदातनकी तरह माने जाते है ।

भावार्थ— अनादि कालसे केवलज्ञान होनेतक जीवके किसी न किसी रूपमें मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानरूप क्षयोपशम कुछ न कुछ अवश्य रहता है । ऐसी अवस्था कभी भी प्राप्त नहीं होती है कि जब ये दोनों ज्ञान अपने २ तरतमभावसे न पाये जाते हो । इस लिए केवल इन दोनोंको सदातन–सदैव रहनेवाले क्षायोपशमिक-भाव समझना चाहिए ।

अवधि तथा मन.पर्यय ज्ञान होकरके छूट भी सकते है । इसलिए इन दोनों ज्ञानोंको अपरागतिवाले कहा है । किन्तु मतिश्रुत तो जबतक मुक्ति न हो जायगी तबतक थोडे वा अधिक रूपमें अवश्य रहते ही है । इसलिए इन दोनों ज्ञानोंको सदातन कहा है (अपरागतिवाले नहीं कहा है ।)

ज्ञानं यद्यावदर्थानामस्ति ग्राहकशक्तिमत् ।
क्षायोपशमिकं तावदस्ति नौदयिकं भवेत ॥१०१८॥

अन्वयार्थः— (यत् ज्ञानं) जो ज्ञान (यावत् अर्थानां ग्राहकशक्तिमत् अस्ति) अपनी योग्यतानुसार जितने पदार्थोंके ग्रहण करनेकी शक्ति रखनेवाला होता है (तत् तावत् क्षायोपशमिकं अस्ति) वह उतनाही क्षायोपशमिक ज्ञान कहलाता है (औदयिकं न भवेत्) औदयिक नहीं ।

भावार्थ— जिस २ विषयका जितना २ क्षयोपशम होता है उतना २ ही उस जीवके क्षायोपशमिक ज्ञान हो सकता है अर्थात् ज्ञानावरणादिकके क्षयोपशमके निमित्तसे ज्ञानमें जो एक प्रकारका विकाश होता है वह औदयिक भाव नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि औदयिक भाव गुण के विपक्षी कर्मके उदयसे होता है और यह क्षायोपमिक अवस्था, क्षयोपशमसे होती है । इसलिए औदयिक नहीं कह सकते है । जितने अंशमें क्षयोपशम है उतने अशमें विकाश है तथा जितने अशमें उदय है उतने अंशमें अन्धकारमय या शून्यता रूप अज्ञान पर्याय है । अतः यह क्षायोपशमिक ज्ञान कभी भी औदयिक नहीं कहा जा सकता है ।

अस्ति द्वेधाऽवधिज्ञानं हेतोः कुतश्चिदन्तरात् ।
ज्ञानं स्यात्सम्यगवधिरज्ञानं कुत्सितोऽवधिः ॥ १०२९ ॥

अन्वयार्थः— (कुतश्चिदन्तरात् हेतोः) किसी कारणांतरसे (अवधिज्ञानं द्वेधा अस्ति) अवाधिज्ञान दो प्रकारका है उनमेंसे (सम्यक् अवधिज्ञानं) सम्यक् अवाधिज्ञानको अवधिज्ञान कहते है और (कुत्सितो अवधिः अज्ञानं स्यात्) मिथ्याअवधि ज्ञानको कुअवाधिज्ञान कहते है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिके अवधिज्ञानको अवधि ज्ञान कहते है । और मिथ्यादृष्टिके अवधिज्ञानको विभंगावधि अथवा अज्ञान कहते है । कारण कि सम्यग्दृष्टिका ज्ञानही ज्ञान है । मिथ्यादृष्टिका ज्ञान आत्मानुभव—शून्य होनेके कारण अज्ञान है । तथा उक्त ज्ञानोंमें सम्यक्मिथ्यात्वपनेके लानेका कारण सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन है ।

अस्ति द्वेधा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च स्याद्द्विधा ।
सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां ज्ञानमज्ञानमित्यपि ॥१०२०॥

अन्वयार्थः— (मतिज्ञानम् द्वेधा अस्ति) मतिज्ञान दो प्रकारका है (च) और (श्रुतज्ञानं अपि द्विधा स्यात्) श्रुतज्ञान भी दो प्रकारका है कारण कि (सम्यक्-मिथ्या-विशेषाभ्यां) सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप विशेषकी अपेक्षासे ही (ज्ञानम् अज्ञानम् इति) ये दोनों, ज्ञान और अज्ञान कहे जाते है।

भावार्थः— अवधि ज्ञानकी तरह मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान भी सम्यग्दर्शनके साथ होनेसे ज्ञान किंवा सम्यग्ज्ञान कहलाते है। तथा मिथ्यादर्शनके साथ होनेसे ये दोनों मिथ्याज्ञान किंवा अज्ञान कहलाते है।

त्रिषु ज्ञानषु चैत्येषु यत्स्यादज्ञानमर्थतः।
क्षायोपशमिकं तत्स्यान्नस्यादौदायिकं क्वाचित् ॥१०२१

अन्वयार्थः— (एतेषु त्रिषु ज्ञानेषु) इन तीन ज्ञानोंमें (यत् अर्थत अज्ञानं स्यात्) जो वास्तवमें अज्ञान है अर्थात् ज्ञानमें विशेपता होते हुए भी यदि वह सम्यग्दर्शन सहित नहीं तो उसे वास्तवमें अज्ञान कहते है (तत्) वह अज्ञान (क्षायोपशमिकम् स्यात) क्षायोपशमिक भाव है (क्वचित् औदयिकम् न च स्यात्) कहीं भी औदयिक नहीं कहा जा सकता है।

भावार्थ·— वास्तवमें दर्शनमोहनीयके उपशमादिकके साथ ही स्वानुभूत्यावरणका भी क्षयोपशम होता है। इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान युगपत् होते है ऐसा माना है। सम्यग्दर्शनके विना जो ज्ञान होता है वह मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत नहीं होता है—वास्तविक नहीं होता है अत. अज्ञान ही है। उसके कुमति, कुश्रुत तथा विभंगअवधि ऐसे तीन भेद है। ये तीनों ही क्षायोपशमिक अज्ञानके भेद है। इनको औदयिक अज्ञान नहीं समझना चाहिए

अस्ति यत्पुनरज्ञानमर्थादौदायिकं स्मृतम्।
तदास्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं वपुः ॥ १०२२ ॥

अन्वयार्थ (पुनः) और (यत्) जो (अर्थात्) यथार्थमें (औदयिकम् अज्ञानं स्मृतं अस्ति) औदयिक अज्ञान है (तत्) वह (यथा निश्चेतनम् वपुः) मृत-देहकी तरह (शून्यतारूपम् अस्ति) शून्य रूप है।

भावार्थ·— केवल-ज्ञानावरण, मन·पर्ययज्ञानावरण और अवधिज्ञानावरणके पूर्ण उदयसे जो इन उक्त ज्ञानोंका अभाव है उस शून्यतारूप ज्ञानाभावको औदयिक अज्ञान कहते है अर्थात् क्षायोपशमिक अज्ञानमें ज्ञान तो है

परन्तु वह मिथ्यात्व सहित होनेके कारण अज्ञान कहलाता है । और ज्ञानके अभावरूप अवस्थाका नाम औदयिक अज्ञान भाव है । इसलिये औदयिक अज्ञानको शून्यतारूप अज्ञानभाव कहा है ।

एतावतास्ति यो भावो दृङ्मोहस्योदयादपि ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य सर्वोप्यौदयिकः स हि ॥१०२४॥

अन्वयार्थः— (एतावता) इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि (दृङ्मोहस्य उदयात्) दर्शनमोहनीयके उदयसे (अपि) तथा (चारित्रमोहस्य पाकात्) चारित्रमोहनीयके उदयसे (यः भावः अस्ति) जो भाव होते है (स हि सर्वः अपि) वे सब ही (औदयिकः) औदयिक भाव है ।

भावार्थ— औदयिक अज्ञानके कथनसे यहभी कथित होजाता है कि दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के युगपत् उदयसे तथा केवल चारित्रमोहके उदयसे जो भाव होते है वेभी औदयिक भाव कहलाते है ।

न्यायादप्येवमन्येषां मोहादिघातिकर्मणाम् ।
यावांस्तत्रोदयाज्जातो भावोस्त्यौदयिकोऽखिलः ॥ १०२४ ॥

अन्वयार्थ— (एवं न्यायात्) इसी न्यायसे (मोहादिघातिकर्मणां) मोहादिक घातिया कर्मोके उदयसे (अपि) तथा (अन्येषां उदयात्) अघातिया कर्मोके उदयसे (तत्र यावान् भावः जातः) आत्मामें जितने भी भाव होते है (' तावान् ' अखिलः औदयिकः अस्ति) उतने वे सब औदयिक भाव है ।

भावार्थः— जैसे ज्ञानावरणके उदयसे औदयिक अज्ञान होता है वैसे ही घातियामात्र कर्मके उदयसे होनेवाले जीवके सब भाव औदयिक भाव कहलाते है ।

तत्राप्यस्ति विवेकोऽयं श्रेयानत्रादितो यथा ।
वैकृतो मोहजो भावः शेषः सर्वोपि लौकिकः ॥ १०२५ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र अपि अयं विवेकः अस्ति) घातिया अघातिया कर्मोके उदयसे होनेवाले औदयिक भावोंमें भी यह भेद है (यथा) जैसे कि (अत्र) इन भावोंमें (मोहजः वैकृतः भावः) केवल मोहजन्य वैकृतिक भाव ही (श्रेयान् उदितः) सच्चा विकारयुक्त भाव है और (शेषः सर्वोऽपि लौकिकः) बाकीके सब लोक रूढिसे विकारयुक्त औदयिक-भाव है ऐसा समझना चाहिए ।

भावार्थः— सब औदयिक भावोंमें आत्माके सम्यक्त्व तथा चारित्र गुणोंके विकाशके रोकनेका काम जैसा मोहसम्बन्धी औदायिक भावोंसे होता है वैसा ज्ञानादि गुणोंके विकाश को रोकनेवाले अज्ञानादि औदयिक भावोंसे नहीं होता है। कारण कि चौदह गुणस्थान भी तो केवल मोह और योगके उदयादिकसे कहे है अर्थात् सच्चे प्रतिबन्धक मोह-जन्य औदयिक भाव ही है। इनके हट जानेसे इतर औदयिकभाव भी हट ही जाते हैं। इसलिए सच्चे औदयिक भाव मोहनीयके ही निमित्तसे होते हैं ऐसा समझना चाहिए। शेषभाव तो केवल रूढिवश औदयिक कहे जाते हैं।

स यथाऽनादिसन्तानात्कर्मणोऽच्छिन्नधारया।
चारित्रस्य दृशश्च स्यान्मोहस्यास्त्युदयाश्रितः ॥ १०२६ ॥

अन्वयार्थः– (**स यथा**) और वह औदयिक भाव (**चितः**) आत्माके (**अच्छिन्नधारया**) अविरलधाराप्रवाह द्वारा (**अनादिसन्तानात्**) अनादि सन्तान क्रमसे (**चारित्रस्य च दृशः मोहस्य कर्मणः**) चारित्रमोह और दर्शनमोह कर्मके (**उदयात् अस्ति**) उदयसे हो रहा है।

भावार्थ— और वह मोहसम्बन्धी औदयिक भाव अनादि सन्तान क्रमसे सदैव आत्मा के दर्शन तथा चारित्रमोह कर्मके उदयसे संसारी आत्माके हो रहा है।

तत्रोल्लेखो यथासूत्रं दृङ्मोहस्योदये सति।
तत्त्वस्याऽप्रतिपत्तिर्वा मिथ्यापत्तिः शरीरिणाम् ॥ १०२७ ॥

अन्वयार्थः— (**यथासूत्रम् तत्र उल्लेखः**) इस विषयमें शास्त्रानुसार उन औदयिक भावोंके स्वरूपका उल्लेख ऐसा है कि (**शरीरिणां**) जीवोंके (**दृङ्मोहस्य उदये सति**) दर्शनमोहनीय के उदय होनेपर (**तत्त्वस्य अप्रतिपत्तिः**) तत्त्वोंका अश्रद्धान (**वा**) अथवा (**मिथ्यापत्तिः**) विपरीत श्रद्धान होता है।

भावार्थः— आगमानुसार उसी दर्शनमोहके उदयसे जीवके तत्त्वोंका अश्रद्धान अथवा विपरीत श्रद्धान होता है।

अर्थादात्मप्रदेशेषु कालुष्यं दृग्विपर्ययात्।
तत्स्यात्परिणतिमात्रं मिथ्याजात्यनतिक्रमात् ॥ १०२८ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (दृग्विपर्ययात्) मिथ्यात्वके उदयसे (आत्मप्रदेशेषु) आत्माके प्रदेशोंमें (कालुष्यं 'स्यात्') एक प्रकारकी कलुषता उत्पन्न होती है और (तत्) वह कलुषता (मिथ्यांजात्यनतिक्रमात्) मिथ्या जातिको लिए हुए (परिणतिमात्रं स्यात्) केवल परिणति ही है ।

भावार्थः— मिथ्यात्वके उदयसे वास्तवमें दर्शन गुणमें जो विपर्ययपना होता है उससे आत्मामें एक इस प्रकारका कालुष्य उत्पन्न होता है जो कि आत्मा की परिणतिमात्रको मिथ्यारूप बनाये रखता है ।

तत्र सामान्यमात्रत्वादस्तिवक्तुमशक्यता ।
ततस्तल्लक्षणं वच्मि संक्षेपाद्बुद्धिपूर्वकम् ॥ १०२९ ॥

अन्वयार्थ— परन्तु (तत्र सामान्यमात्रत्वात् वक्तुं अशक्यता अस्ति) वह मिथ्यात्व सामान्यरूप होनेसे वचनगोचर नहीं किया जासकता है (ततः) इस लिए (सक्षेपात्) संक्षेपसे (बुद्धिपूर्वकं तल्लक्षण वच्मि) बुद्धिपूर्वक होनेवाले विशेप मिथ्यात्वके ही लक्षणको कहता हूं ।

भावार्थः— मिथ्यात्व भाव दो प्रकारका है । १ सामान्य और २ विशेप । उनमे सामान्य मिथ्यात्वका स्वरूप तो सामान्यात्मक होनेसे कहा नहीं जा सकता है । केवल विशेपकाही उल्लेख किया जा सकता है । इसलिए उस विशेप मिथ्यात्व के स्वरूपको कहता हूं ।

निर्विशेषात्मके तत्र न स्याद्धेतोरसिद्धता ।
स्वसंवेदनसिद्धत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमै ॥ १०३० ॥

अन्वयार्थ — (स्वसंवेदनसिद्धत्वात्) स्वसंवेदन गोचर होनेसे (युक्तिस्वानुभवागमै) युक्ति स्वानुभव और आगमके द्वारा (तत्र निर्विशेषात्मके) उस सामान्य मिथ्यात्वकी सिद्धिके विपयमें (हेतोः असिद्धता न स्यात्) दिया हुआ हेतु असिद्ध नहीं हो सकता है ।

भावार्थ— वह सामान्य मिथ्यात्व स्वानुभव गोचर है इसलिए उसकी सिद्धिमें दिए हुए हेतु युक्ति, स्वानुभव तथा आगमके द्वारा बाधित नहीं हो सकते है ।

सर्वे संसारिजीवानां मिथ्याभावो निरन्तरम् ।
स्याद्विशेषोपयोगीह केषाचित्संज्ञिनां मनः ॥ १०३१ ॥

अन्वयार्थः— यद्यपि (इह) जगतमें (**सर्वसंसारिजीवानां निरन्तरम् मिथ्याभावः ' अस्ति '**) सब ही संसारी जीवोंके निरन्तर सामान्य रूपसे मिथ्यात्वभाव रहता है तथापि (**केषाञ्चित् संज्ञिनां मनः विशेषोपयोगि स्यात्**) किन्हीं संज्ञी जीवोंका मन मिथ्यात्वके विशेषोंके विषय करनेमें उपयोगवान हो सकता है।

भावार्थः— व्यापकको सामान्य और व्याप्यको विशेष कहते है। जो अधिकमें रहे उसको व्यापक तथा जो थोडेमें रहे उसको व्याप्य कहते है जैसे कि मनुष्यत्व और वैश्यत्व। इसी प्रकार मिथ्यात्वभाव भी सामान्य तथा विशेषरूपसे कहा जा सकता है। एकेन्द्रियादिसे लेकर संज्ञी पंचेन्द्रियतकके जो मिथ्यात्वभाव पाया जाता है वह सामान्यरूपसे मिथ्यात्वभाव है। इसीका दूसरा नाम अज्ञान मिथ्यात्व है। तथा एकान्त, विपरीत विनय व संशय ये सब विशेष मिथ्यात्व कहे जाते है ये चारों ही मिथ्यात्व एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञीपंचेन्द्रियतकके बिलकुल सम्भव नहीं होते है। केवल संज्ञीपंचेन्द्रियोंमें किन्हीं २ विशेष संज्ञी प्राणियोंके ही सम्भव होते है सो भी कदाचित्। और शेषोंके तो अज्ञान मिथ्यात्व ही रहता है अर्थात् एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पशु पक्षी व सर्वथा धर्म कर्म विहीन अबोध मनुष्योंके भी अज्ञान मिथ्यात्व रहता है। इस प्रकार सामान्यमिथ्यात्व—अज्ञानमिथ्यात्व व्यापक है और निरन्तर रहता है।

* **तेषां वा संज्ञिनां नूनमस्त्यनवस्थितं मनः।**
कदाचित्सोपयोगि स्यान्मिथ्याभावार्थभूमिषु ॥ १०३२ ॥

अन्वयार्थः— (**तेषां संज्ञिनां वा मनः नूनं अनवस्थितं अस्ति**) उन संज्ञियोंका भी मन निश्चयसे किसी एक विषयमें स्थिर नहीं होता है इस लिए (**कदाचित्**) कभी २ (**मिथ्याभावार्थभूमिषु**) मिथ्या भावोंके विषयमें (**सोपयोगि स्यात्**) उपयोगवान् होता है।

भावार्थः— कभी २ किन्हीं संज्ञियों के विशेष मिथ्यात्वके कहनेका कारण यह है कि मन चंचल है इसलिए वह सदैव विपरीत भावोंके ही तरफ उपयुक्त नहीं रहता है किन्तु संशयादिकमेंभी उपयुक्त रहता है। अतः सामान्यरूपसे पाये जानेवाला वचन अगोचर अज्ञान मिथ्यात्व ही उनके सदैव रहता है। यह समझना चाहिए।

ततो न्यायगतो जन्तोर्मिथ्याभावो निसर्गतः।
दृङ्मोहस्योदयादेव वर्त्तते वा प्रवाहवत् ॥ १०३३ ॥

* विशेष परिशिष्टमें देखो.

अन्वयार्थ — (**ततः**) इस लिए (**न्यायागतः**) न्यायानुसार यह बात सिद्ध होती है कि (**जन्तोः मिथ्याभावः**) जीवोंके मिथ्यात्व (**निसर्गतः एव**) स्वभावसे ही (**दृङ्मोहस्य उदयात्**) दर्शनमोहनीयके उदयसे (**प्रवाहवत् वा वर्तते**) प्रवाहके समान सदैव पाया जाता है।

भावार्थः— अतएव यह सिद्ध होता है कि संसारी जीवके अनादिकालसे दर्शनमोहके उदयके कारण सामान्य मिथ्यात्व भावका प्रवाह सदैव पाया जाता है और विशेष मिथ्यात्वका प्रवाह कदाचित् रहता है।

कार्यं तदुदयस्योच्चैः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत्।
स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः ॥ १०३४ ॥

अन्वयार्थ — और (**तदुदयस्य**) मिथ्यात्वके उदयका (**यत्कार्यं**) जो कार्य है वह (**उच्चैः प्रत्यक्षात् सिद्ध एव**) अच्छी तरह स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध ही है क्योंकि (**अन्यथा**) यदि मिथ्यात्वका उदय न होता तो (**आत्मनः स्वरूपानुपलब्धि कथं स्यात् ?**) आत्माके स्वरूपकी उपलब्धि क्यों न पायी जाती ?

भावार्थ— और उस मिथ्यात्वके उदयका फल प्रत्यक्षसिद्धही है कारण कि यदि मिथ्यात्वका उदय न होता तो आत्माके स्वस्वरूपकी उपलब्धि होना चाहिए परन्तु संसारीजीवोंके वह कभी भी नहीं पाई जाती है इसलिए सिद्ध होता है कि उनके मिथ्यात्वका उदय सदैव रहता है।

स्वरूपानुपलब्धौ तु बन्धः स्यात्कर्मणो महान्।
अत्रैव शक्तिमात्रं तु वेदितव्यं सुदृष्टिभिः ॥ १०३५ ॥

अन्वयार्थः— (**स्वरूपानुलब्धौ तु**) स्वरूपकी अनुपलब्धिमें ही तो (**कर्मणः महान् बन्धः स्यात्**) कर्मोंका महाबन्ध होता है (**एवं शक्तिमात्रं तु अत्र**) इस प्रकार स्वरूपकी उपलब्धि न होने देनेकी शक्तिमात्र मिथ्यात्वके उदयमें है यह यहा (**सुदृष्टिभिः वेदितव्यं**) सम्यग्दृष्टियोंको समझना चाहिए।

भावार्थ—मिथ्यात्वके उदयसे स्वस्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती है और स्वस्वरूपकी उपलब्धिके न होनेसे बन्ध होता है

प्रसिद्धैरपि भास्वद्भिरलंदृष्टान्तकोटिभिः।
अत्रेत्थमेवमेवं स्यादलंघ्या वस्तुशक्तयः ॥ १०३६ ॥

अन्वयार्थ —(**अत्र**) मिथ्यात्वकी शक्तिके विषयमें (**इत्थं एवं एवं**) मिथ्यात्व ऐसा है ऐसा है इत्यादि को बतानेके लिए (**प्रसिद्धैः अपि भास्वद्भिः**) प्रसिद्ध और ज्वलन (**दृष्टांतकोटिभिः**) करोडों दृष्टांतोंसे भी (**अलं**) क्या लाभ है ? क्योंकि (**वस्तुशक्तयः अलंघ्याः स्यात्**) वस्तुकी शक्तियां-पदार्थके स्वभाव दुर्लंघ्य होते हैं।

शंका—

सर्वे जीवमया भावा दृष्टान्तो बन्धसाधकः ।
एकत्र व्यापकः कस्मादन्यत्राव्यापकः कथम् ॥ १०३७ ॥

अन्वयार्थः— (**सर्वे भावाः जीवमयाः**) जब कि सबही भाव जीवमय है तो (**एकत्र व्यापकः बन्धसाधकः दृष्टान्तः कस्मात्**) कहीपर कोई एक भाव व्यापक रूपसे बन्धका साधक दृष्टान्त क्यों होता है और (**अन्यत्र अव्यापकः कथं ?**) कहींपर कोई एक भाव व्याप्य रूपसे बन्धका साधक होता है ऐसा क्यों कहा जाता है ?

भावार्थः— शंकाकारका कथन है की जब सबही भाव जीवमय है तो फिर क्यों औदयिक भावोंमेंसे केवल मिथ्यात्वभावकाही दृष्टान्त व्यापक रूपसे बन्धका साधक कहा जाता है । और इतर भावोंके दृष्टान्त क्यों व्याप्य रूपसेही बन्धके साधक कहे जाते है ।

उत्तर ।

अथ तत्रापि केषांचित्संज्ञिनां बुद्धिपूर्वकः ।
मिथ्याभावो गृहीताख्यो मिथ्यार्थाकृति संस्थितः ॥ १०३८ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ तत्रापि**) और उसमें व्यापक रूपसे बन्धके साधक भावोंमें भी (**केषांचित् संज्ञिनां**) किन्हीं २ संज्ञी प्रणियोंके (**मिथ्यार्थाकृति संस्थितः**) वस्तुके स्वरूपको मिथ्या आकारमें गृहीत करनेवाला-- मिथ्या आकारमें अपनी स्थिति रखनेवाला (**गृहीताख्यः**) गृहीत नामक (**बुद्धिपूर्वकः मिथ्याभावः**) बुद्धिपूर्वक मिथ्याभाव (' **अस्ति** ') होता है ।

भावार्थः— उक्त शंकाका समाधान आगे ' **अथ** ' इत्यादि पद्योंसे करते है की मिथ्यात्वकोही व्याप्यरूपसे बन्धसाधक मानने मे युक्ति यह है कि कितनेही संज्ञी प्राणियोंके मिथ्याकारमें परिणत बुद्धिपूर्वक गृहीत नामक मिथ्यात्व पाया जाता है ।

अर्थादेकविधः स स्याज्जातेरनतिक्रमादिह ।
लोकासंख्यातमात्रः स्यादालापापेक्षयाऽपि च ॥ १०३९ ॥

अन्वयार्थः— (**इह**) यहांपर (**जातेरनतिक्रमात्**) अपनी जातिको उलघन न करके (**अर्था-**

त्) वास्तवमें (स. एकविधः च) वह गृहित मिथ्यात्व एक प्रकारकाही है अर्थात् सामान्यकी अपेक्षासे एक प्रकारका होकर भी (आलापापेक्षया) विशेष आलापोंकी अपेक्षासे (लोकासंख्यातमात्रः अपि स्यात्) लोकासंख्यात मात्र भी है।

भावार्थ.— वह मिथ्यात्व, मिथ्यात्व जातिकी अपेक्षासे एक होकर भी उत्तरोत्तर भेद प्रभेदोंकी अपेक्षासे लोकके असंख्यातमें भाग मात्र है।

आलापोऽप्येकजातिर्यो नानारूपोऽप्यनेकधा।
एकान्तो विपरीतश्च यथेत्यादि क्रमादिह ॥ १०४० ॥

अन्वयार्थः— और (इह) यहांपर (यः आलापः) जो आलाप (एकजातिः अपि) यद्यपि सामान्यकी अपेक्षासे एकरूप है तो भी (अनेकधा नानारूपः अपि) विशेषकी अपेक्षासे अनेक प्रकारका होनेसे वह नानारूप भी कहा जाता है (यथा) जैसे कि सामान्यरूपसे जो गृहीत मिथ्यात्व एकरूप कहा है वहीं (क्रमात् एकांतः विपरीत च इत्यादि) विशेषकी अपेक्षासे क्रमपूर्वक एकांत, विपरीत इत्यादि नाना रूप कहा जासकता है। इसी लिए एकात आदिक मिथ्यात्वके आलाप कहे जाते हैं। ऐसे आलाप मिथ्यात्वके, लोकके असंख्यात भाग हो सकते हैं।

भावार्थ — जो आलाप सामान्यकी अपेक्षा एक है वही अपने विशेषोंकी अपेक्षा नाना रूप भी है। अर्थात् मिथ्यात्व, सामान्यकी अपेक्षा यद्यपि एक है तथापि अपने विषयभेदादिककी अपेक्षासे एकान्त विपरीत आदि रूपसे नाना प्रकार भी कहलाता है। इसलिए एकान्त आदि मिथ्यात्वके लोकासंख्यात आलाप हो सकते हैं।

अथवा शक्तितोऽनन्तो मिथ्याभावो निसर्गतः।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनंताश्च शक्तयः ॥ १०४१ ॥

अन्वयार्थः— (अथवा) अथवा (मिथ्याभाव) मिथ्यात्व (निसर्गतः) स्वभावसेही (शक्तितः) अपनी शक्तिकी अपेक्षासे (अनन्तः) अनन्त है (यस्मात्) क्योंकि (एकैकं आलापं प्रति) प्रत्येक आलापके प्रति (अनन्ताः शक्तय च) अनन्त शक्ति विवक्षित होती है।

भावार्थ.— अथवा मिथ्याभाव अपने अविभाग प्रतिच्छेदरूप शक्तियोंकी अपेक्षासे अनन्त भी है। क्योंकि मिथ्यात्वके प्रत्येक आलापमें अनन्त २ अविभागोंके लिए हुए शक्तिया रहती है।

जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैर्वा परिणामिनः ।
शक्तिभेदात्क्षणं यावदुन्मज्जन्ति पुनः पृथक् ॥ १०४२ ॥
कारुं कारुं स्वकार्यत्वाद्बंधकार्यं पुनः क्षणात ।
निमज्जंति पुनश्चान्ये प्रोन्मज्जंति यथोदयात ॥ १०४३ ॥

अन्वयार्थः— (जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैः) अपने जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट भावोंके द्वारा (परिणामिनः वा) परिणामी द्रव्यकी (शक्तिभेदात्) शक्तियोंकी अपेक्षासे मिथ्यात्वादि औदयिक भाव (क्षणम् यावत्) प्रति समय (पुन पृथक् उन्मज्जन्ति) वार वार तरतम रूपको लिये हुए पृथक् रूपसे उदित होते है और (स्वकार्यत्वात्) बन्धका कार्य होनेसे (बन्धकार्यम्) बन्धके कार्यको (कारम् कारम्) पुन पुन करके (पुनः क्षणात्) फिर क्षणभरमें ही (निमज्जन्ति) वे मिथ्यात्वादि औदयिक भाव अस्त हो जाते हैं । (पुन च) तथा (यथोदयात्) अपने अपने उदयानुसार (अन्ये प्रोन्मज्जन्ति) दूसरे भाव उदयको प्राप्त होते है यह क्रम सदैव जारी रहता है ।

भावार्थ— अपने २ जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट अंशोंके द्वारा परिणमनशील आत्मामें औदयिक भाव प्रतिसमय अपने २ कर्मोंके उदयानुसार उदय तथा अस्तको प्राप्त होते रहते है । इसी प्रकार अन्य औदयिक भाव भी समझना चाहिए ।

बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्वं लक्षणाल्लक्षितं यथा ।
जीवादीनामश्रद्धानं श्रद्धानं वा विपर्ययात ॥ १०४४ ॥

अन्वयार्थः— (लक्षणात्) लक्षण रूपसे (बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वम् लक्षितम्) बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वका लक्षण यह किया गया है (यथा) जैसे कि (जीवादीनां अश्रद्धानम्) जीवादिक सप्त पदार्थोंका श्रद्धान न होना (वा) अथवा (विपर्ययात् श्रद्धानम्) विपरीत श्रद्धान होना मिथ्यात्व कहलाता है ।

भावार्थः— बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वका लक्षण यह है कि जीवादिक सात पदार्थोंके अश्रद्धान अथवा विपरीत श्रद्धानका करना ।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रागेवात्रापि दर्शिताः ।
नित्यं जिनोदिते वाक्ये ज्ञातुं शक्या न चान्यथा ॥ १०४५ ॥

अन्वयार्थ — (अत्रापि प्रागेव दर्शिता) इस ग्रन्थमें भी पहले जिनका स्वरूप बताया गया है ऐसे (सूक्ष्मांतरितदूरार्था) परमाणु आदिक सूक्ष्म पदार्थ, राम रावणादिक सुदीर्घ अतीव कालवर्ती पदार्थ, और मेरु आदि दूरवर्ती पदार्थ, (नित्य) सदैव (जिनोदितै. वाक्यैः) जिनवाणीके द्वारा ही (ज्ञातुं शक्याः) जाने जासकते है किंतु (अन्यथा न च) अन्यथा नहीं जाने जासकते है।

भावार्थः— सूक्ष्मादिक पदार्थ इन्द्रियोंके गोचर नहीं होते है। इसलिए वे केवल जिनागमके द्वारा ही जाने जाते है अन्यथा नहीं।

दर्शितेष्वपि तेषूच्चैर्जैनैः स्याद्वादिभिः स्फुटम् ।
न स्वीकरोति तानेव मिथ्याकर्मोदयादपि ॥ १०४६ ॥

अन्वयार्थः— परन्तु (स्याद्वादिभिः जैनैः) स्याद्वादी जैन आचार्योंके द्वारा (तेषु) उन सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंको (उच्चैः स्फुटं दर्शितेषु अपि) अच्छी तरह स्पष्ट रीतिसे समझाये जानेपर भी आगमके द्वारा सिद्ध किये जानेपर भी यह (अधीः) अज्ञानी जीव (मिथ्याकर्मोदयात् एव) मिथ्यात्व कर्मके उदयसे ही (तान्) उन पदार्थोंका (न स्वीकरोति) श्रद्धान नहीं करता है।

भावार्थः— परन्तु मिथ्यादृष्टियोंको जैनागमके द्वारा उन सूक्ष्मादि पदार्थोंके दर्शाए जानेपर भी उनके विषयमें यथार्थ श्रद्धान नहीं होता है।

ज्ञानानन्दौ यथा स्यातां मुक्तात्मनो यदन्वयात् ।
विनाप्यक्षशरीरेभ्यः प्रोक्तमस्त्यस्ति वा न वा ॥ १०४७ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे कि (ज्ञानानन्दौ) अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख (मुक्तात्मनः) मुक्त जीवके (अक्षशरीरेभ्यः विना अपि) इन्द्रिय तथा शरीरके विना भी (अन्वयात् स्यातां) अन्वयरूपसे रहते है ऐसा (यत्) जो आगममें (प्रोक्तं) कहा है (तत्) वह कथन (अस्ति वा न वा) न मालूम ठीक है या नहीं इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव संशय करता है।

भावार्थः— मुक्तात्माके शरीरादिकके विनाही अन्वय रूपसे— अविच्छिन्न प्रवाह रूपसे सदैव ज्ञान और सुख पाये जाते है ऐसा जो जैनागममें कहा है उसके विषयमें भी मिथ्यादृष्टी जीवोंको निरन्तर संशय बना रहता है।

स्वतः सिद्धानि द्रव्याणि जीवादीनि किलेतिषट् ।
प्रोक्तं जैनागमे यत्तत्स्याद्वा नेच्छेदनात्मवित् ॥ १०४८ ॥

अन्वयार्थः— (किल) निश्चयसे (जीवादीनि षट् द्रव्याणि) जीवादिक छहोंही द्रव्य (स्वतः सिद्धानि) स्वतः सिद्ध है (इति) इस प्रकार (यत्) जो (जैनागमे प्रोक्तं) जैनागममें कहा गया है (तत् स्यात् वा न) वह न मालूम ठीक है या नहीं इस तरहसे (अनात्मवित् इच्छेत्) मिथ्यादृष्टि जीव संशय करता है ।

भावार्थ — जैनागममें छहोंही द्रव्योंको स्वतः सिद्ध माना है । परन्तु मिथ्यादृष्टि जीवोंको उनके विषयमें भी सदैव संशय बना रहता है ।

नित्यानित्यात्मकं तत्वमेकं चैकपदे च यत् ।
स्याद्वानेति विरुद्धत्वात्संशयं कुरुते कुदृक् ॥ १०४९ ॥

अन्वयार्थः— (यत्) जो (एकं च तत्व नित्यानित्यात्मकं) एकही तत्व नित्यात्मक और अनित्यात्मक माना गया है वह (एकपदे विरुद्धत्वात् स्यात् वा न) एक पदार्थमें परस्पर विरुद्ध होनेसे न मालूम ठीक है या नहीं (इति) इस प्रकार (कुदृक्) मिथ्यादृष्टी जीव (संशयं कुरुते) संशयको करता है ।

भावार्थ — जैनागममें एक ही पदार्थको सामान्य विशेषात्मक होनेसे नित्यानित्यात्मक माना है । परन्तु मिथ्यादृष्टि जीवोंको परस्पर विरोधी दो धर्म एक जगह कैसे रह सकते हैं, इसका अनुभव न होनेसे उसके विषयमें सदैव संशय रहता है ।

अप्यनात्मीयभावेषु यावन्नोकर्म कर्मसु ।
अहमात्मेति बुद्धिर्या दृङ्मोहस्य विजृम्भितम् ॥ १०५० ॥

अन्वयार्थः— (यावत् नोकर्मकर्मसु) सम्पूर्ण नोकर्म और कर्मरूप (अनात्मीयभावेषु अपि) परपदार्थोंमें भी (अहं आत्मा) मेरी आत्मा है (इति) इस प्रकारकी (या बुद्धिः) जो बुद्धि होती है वह सब (दृङ्मोहस्य विजृम्भितं) दर्शनमोहनीयके उदयकी ही चेष्टा है-करामत है ।

भावार्थः— दर्शनमोहनीयके उदयसे ही मिथ्यादृष्टिकी शरीरादिरूप नोकर्मात्मक भावोंमें और रागादिरूप कर्मात्मक भावोंमें आत्मत्व बुद्धि होती है अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव कर्म नोकर्मको ही--रागादिकको ही आत्मा मानते हैं।

अदेवे देवबुद्धिः स्यादगुरौ गुरुधीरिह।
अधर्मे धर्मवज्ज्ञानं दृङ्मोहस्यानुशासनात् ॥ १०५१ ॥

अन्वयार्थ— (**दृङ्मोहस्य अनुशासनात्**) दर्शनमोहनीयके असरसे ही–प्रभावसे ही (**इह**) इस जगतमें मिथ्यादृष्टि जीवोंकी (**अदेवे देवबुद्धिः**) कुदेवमें देवबुद्धि (**अगुरौ गुरुधीः**) कुगुरुमें गुरु-बुद्धि और (**अधर्मे धर्मवत् ज्ञान**) अधर्ममें धर्मबुद्धि (**स्यात**) होती है।

भावार्थ— मिथ्यात्वके उदयसे ही जीवोंकी कुदेवोंमे देवबुद्धि, कुगुरुओंमे गुरु-बुद्धि तथा कुधर्मोंमें धर्म-बुद्धि होती है।

धनधान्यसुताद्यर्थं मिथ्यादेवं दुराशयः।
सेवते कुत्सितं कर्म कुर्याद्वा मोहशासनात् ॥ १०५२ ॥

अन्वयार्थः— (**मोहशासनात**) मिथ्यात्वके उदयके प्रभावसे यह जीव (**दुराशय**) खोटे २ अभिप्रायोंको हृदयमें धारण करके (**धनधान्यसुताद्यर्थं**) धन धान्य तथा पुत्रादिककी प्राप्तिके लिए (**मिथ्यादेवं सेवते**) झूठे देवोंकी-- कुदेवोंकी सेवा करता है (**वा**) और (**कुत्सितं कर्म कुर्यात्**) खोटी क्रियाओंको भी करता है।

भावार्थः— मिथ्यादृष्टी जीवही धन धान्यादिक ऐहिक सुखोंकी प्राप्तिके लिए मिथ्यादेवोंको पूजते है। तथा इसी तरह अन्य मिथ्यात्व-पोषक क्रियाएँ करते है।

सिद्धमेतन्नुते भावाः प्रोक्ता येऽपि गतिच्छलात्।
अर्थादौदयिकास्तेऽपि मोहद्वैतोदयात्परम् ॥ १०५३ ॥

अन्वयार्थः— (**नु**) विचार करनेपर (**एतत् सिद्धं**) यह सिद्ध होता है कि (**गतिच्छलात्**) गति मुखसे गतिके बहानेसे (**ये अपि भावा प्रोक्ता**) जो भाव कहे गये है (**औदयिकाः ते अपि**)

औदयिक वे चारों गतिनामक भाव भी (अर्थात्) वास्तवमें (परं मोहद्वैतोदयात्) केवल दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे होते है, केवल गति नामकर्मके उदयसे नहीं होते है।

भावार्थः— उक्त कथनसे यह सिद्ध होता है कि जो गति नामक चार औदयिक भाव माने गये है उन औदयिक भावोंमें भी दर्शनमोह और चारित्रमोहका उदय ही यथासम्भव कारण है। केवल गतिनामक नाम-कर्मका उदय नहीं है। क्योंकी मोहके उदयके विना किसी अन्यकर्मके उदयसे होनेवाले औदयिक भाव बन्धके कारण नहीं होते है। अब आगे इसी अर्थका खुलासा करते है।

यत्र कुत्रापि वान्यत्र रागांशो बुद्धिपूर्वकः।
स स्याद्द्वैविध्यमोहस्य पाकाद्वान्यतमोदयात् ॥ १०५४ ॥

अन्वयार्थः— (यत्र कुत्र अपि अन्यत्र वा) जहा कहीं अन्यत्र भी अर्थात् किसी भी दशामें जो (बुद्धिपूर्वकः रागांशः) बुद्धिपूर्वक रागांश पाया जाता है (सः) वह केवल (द्वैविध्यमोहस्य पाकात्) दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे (वा) अथवा (अन्यतमोदयात्) किसी एकके उदयसे ही (स्यात्) होता है।

भावार्थः— जहा कहा भी जो कुछ बुद्धिपूर्वक रागांश पाया जाता है वह सब किसी न किसी मोहके उदयका ही कार्य समझना चाहिये इतर कर्मका नहीं।

एवमौदयिका भावाश्चत्वारो गतिसंश्रिताः।
केवलं बन्धकर्तारो मोहकर्मोदयात्मकाः ॥ १०५५ ॥

अन्वयार्थः— (एवम्) इस प्रकार (गतिसंश्रिताः) गतिको आश्रय करके होनेवाले (चत्वारः औदयिका भावाः) चारोंही औदयिक भाव (मोहकर्मोदयात्मकाः) मोहनीय कर्मके उदय रूप है और इसलिए वे (केवलं बन्धकर्तारः) केवल बन्धके ही करनेवाले है।

भावार्थः— इस प्रकार चारों गतिरूप औदयिक भाव भी मोहोदयात्मक होनेसे मोहके समान केवल बन्ध के ही जनक है।

कषायाश्चापि चत्वारो जीवस्यौदयिकाः स्मृताः।
क्रोधो मानोऽथ माया च लोभश्चेति चतुष्टयात् ॥ १०५६ ॥

ते चाऽऽत्मोत्तरभेदैश्च नामतोप्यत्र षोडश ।
पंचविंशतिकाश्चापि लोकासंख्यातमात्रकाः ॥ १०५७ ॥
अथवा शक्तितोऽनन्ताः कषायाः कल्मषात्मकाः ।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥ १०५८ ॥

अन्वयार्थः— (क्रोधः) क्रोध (मान) मान (माया) माया (अथ च) और (लोभश्च) लोभ (इति चतुष्टयात्) इस प्रकारके चतुष्टयसे (चत्वारः कषायाः अपि च) चारों कषाय भी (जीवस्य औदयिकाः स्मृताः) जविके औदयिक भाव माने गये है (च) और (अत्र) जैनागममें (ते च) वे चारों ही कषाय (आत्मोत्तरभेदैः नामतः) अपने उत्तर भेदोंके नामसे (षोडश) सोलह (अपि) तथा (पञ्चविंशतिकाः) पचीस माने गये है (अपि च) और अपने उत्तरोत्तर भेदोंकी अपेक्षासे (लोकासंख्यातमात्रकाः) असख्यात लोक प्रमाण भी माने गये है (अथवा) अथवा (कल्मषात्मकाः कषायाः) पापरूप वे कषाय (शक्तितः अनन्ताः) शक्तिकी अपेक्षामे अनन्त भी है (यस्मात्) क्यों कि (एकैकं आलापं प्रति) प्रत्येक कषायके एक २ आलापमें (अनन्ताः च शक्तयः ' भवन्ति ') अनन्त शक्तियां होती है ।

भावार्थः— सामान्य रूपसे कषायके क्रोध, मान, माया और लोभ इस तरह चार भेद होते हैं । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ इस तरह सोलह भेद हो जाते हैं। तथा इन सोलह भेदोंमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसक वेद इन नौं नोकषायोंको मिला देनेसे पचीस भेद हो जाते हैं तथा कषायाध्यवसाय स्थानोंकी अपेक्षासे असंख्यात लोक प्रमाण भेद हो जाते हैं । और अविभाग–प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षासे कषायके प्रत्येक अलापमें अनन्त भेद हो सक्ते है । इस लिए अविभाग प्रतिच्छेदोंके तरतम भावकी अपेक्षासे कषायके अनन्त भी भेद हो जाते हैं ।

अस्ति जीवस्य चारित्रं गुणः शुद्धत्वशक्तिमान् ।
वैकृतोस्ति स चारित्रमोहकर्मोदयादिह ॥ १०५९ ॥

अन्वयार्थः— (जीवस्य) जीवका (शुद्धत्वशक्तिमान्) शुद्धपनेकी शक्तिकी योग्यता रखनेवाला (चारित्रं गुणः अस्ति) चारित्र नामका एक गुण है परन्तु (इह) इन कषायोंमें (स) वह चारित्र गुण (चारित्रमोहकर्मोदयात्) चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे (वैकृतः अस्ति) विकारको प्राप्त होरहा है।

भावार्थः— आत्माका जो चारित्र नामका गुण है वही चारित्र मोहके उदयसे विकृत होकर कषाय कहलाता है।

तस्माच्चारित्रमोहश्च तद्भेदाद्द्विविधो भवेत् ।
पुद्गलो द्रव्यरूपोस्ति भावरूपोस्ति चिन्मयः ॥ १०६० ॥

अन्वयार्थः— (तस्मात्) इस लिए (तद्भेदात्) चारित्रमोहके द्रव्य और भाव ऐसे दो भेद होनेसे (चारित्रमोहश्च) चारित्रमोह भी (द्विविधः भवेत्) दो प्रकारका होता है उनमेंसे (द्रव्यरूप) द्रव्यरूप चारित्रमोह (पुद्गलः अस्ति) पुद्गलात्मक है तथा (भावरूपः) भावरूप चारित्रमोह (चिन्मयः अस्ति) चेतनामय होता है।

भावार्थ— चारित्रमोह द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे द्रव्य–चारित्रमोह पुद्गलात्मक है तथा भाव चारित्र मोह रागादिरूप चेतनात्मक है।

अस्त्येकं मूर्तिमद्द्रव्यं नाम्ना ख्यातः स पुद्गलः ।
वैकृतः सोस्ति चारित्रमोहरूपेण संस्थितः ॥ १०६१ ॥

अन्वयार्थः— (एकं मूर्तिमत् द्रव्यं अस्ति) छह द्रव्योंमें एक मूर्तिमान द्रव्य है और (सः) वह नाम्ना पुद्गलः ख्यातः) नामसे पुद्गल कहलाता है परन्तु (सः) वह (वैकृतः) रागादिक भावोंके निमित्तसे विकृत होकर (चारित्रमोहरूपेण संस्थितः अस्ति) द्रव्य चारित्रमोहरूप अवस्थाको प्राप्त होता है।

भावार्थ— छह द्रव्योंमें एक पुद्गल नामका द्रव्य है। परन्तु वह पुद्गल द्रव्य [कार्माणवर्गणारूप] चारित्र मोहके उदयसे विकृत हो जाता है। और आत्माके चारित्र मोहके उदयसे आकर्षित होकर कषायके निमित्तसे यथायोग्य चारित्र मोहकी संज्ञाको धारण करता है। अर्थात् पुद्गलोंके तेईस भेद हैं। उनमें एक कार्माण वर्गणा भी है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे पुद्गल स्वयमेव कार्माण वर्गणा रूप परिणत होते हैं। परन्तु उनमें ज्ञानवरणादिक यह नाम

आत्माके रागादिक भावोंके द्वारा जब बन्ध्य बन्धकता होती है तब पड़ता है। इसलिये वह चारित्रमोहसे विकृत हो जाता है ऐसा कहा जाता है।

पृथ्वीपिण्डसमानः स्यान्मोहः पौद्गलिकोऽखिलः।
पुद्गलः स स्वयं नात्मा मिथो बन्धो द्वयोरपि ॥ १०६२ ॥

अन्वयार्थ.— (अखिल.) सब ही (पौद्गलिकः मोह) द्रव्य मोह (पृथ्वीपिण्डसमान स्यात्) पृथ्वीपिण्डकी तरह अचेतन है (अपि) और यद्यपि (स स्वयं पुद्गल) वह स्वयं पुद्गल ही है (आत्मा न) आत्मा नहीं है तथापि (द्वयो. मिथः बन्धः) दोनोंका परस्परमें बन्ध होता है।

भावार्थ.— यद्यपि द्रव्यमोह मिट्टी आदिकके समान अचेतन है और आत्मा चेतन है अर्थात् भिन्न-जातीय है। तथापि योग कषायके निमित्तसे लोहा तथा चुम्बकके समान, आकृष्य आकर्षण भाव होनेके कारण इन दोनोका परस्परमें बन्ध होता है।

द्विविधस्यापि मोहस्य पौद्गलिकस्य कर्मणः।
उदयादात्मनो भावो भावमोहः स उच्यते ॥ १०६३ ॥

अन्वयार्थ — (पौद्गलिकस्य द्विविधस्य अपि मोहस्य कर्मणः) पौद्गलिक=पुद्गलरूप दोनों ही प्रकारके मोहनीय कर्मके (उदयात्) उदयसे जो (आत्मनः भावः) आत्माका भाव होता है (स) वह (भावमोहः उच्यते) भावमोह कहलाता है।

भावार्थः— दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों प्रकारके मोहके उदयसे जो आत्माके मिथ्यादर्शन तथा कषायादिक विकार होते हैं उन्हें भावमोह कहते हैं।

जले जम्बालवन्नूनं स भावो मलिनो भवेत्।
बन्धहेतुः स एव स्यादद्वैतश्चाष्टकर्मणाम् ॥ १०६४ ॥

अन्वयार्थः— (जले जम्बालवत्) जलमें शैवालकी तरह—काईकी तरह (नूनम्) निश्चयसे (सः) वह (भावः) औदायिक भाव मोह ही (मलिनः भवेत्) मलिन होता है (च) और (अद्वैतः स एव) एक वह भावमोह ही (अष्टकर्मणां) आठों कर्मोंके (बन्धहेतु स्यात्) बन्धका कारण होता है।

भावार्थ— जैसे जलमें केवल शैवालही वास्तवमें मलिन है जल नहीं है वैसे ही वास्तवमें केवल वह भाव-मोहही मलिन है। और मिथ्यात्व तथा रागादि रूप उस भाव मोहके द्वाराही आठों कर्मोंका बन्ध होता है।

अपि यावदनर्थानां मूलमेकः स एव च।
यस्मादनर्थमूलानां कर्मणामादिकारणम ॥ १०६५ ॥

अन्वयार्थः— (च) और (यावत् अनर्थानां अपि) सम्पूर्ण अनर्थोंका भी (एकः स एव मूलं) एक वह भावमोह ही मूल कारण है (यस्मात्) क्योंकि वह (अनर्थमूलानां कर्मणां) अनर्थोंके मूल कारण जो आठों कर्म हैं उन सबका (आदिकारणं) आदिकारण है।

भावार्थः— मोहकेही कारण सब कर्मोंका स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध होता है। इसलिये वह मोहही सर्व कर्मोंका अथवा यावत दु खोंका मूल कारण है।

अशुचिर्घातको रौद्रो दुःखं दुःखफलं च सः।
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वासां विपदां पदम ॥ १०६६ ॥

अन्वयार्थ— (च) तथा (सः) वह भावमोह (अशुचिः) अपवित्र (घातकः) आत्माके गुणोंका घात करनेवाला (रौद्रः) उदय कालमें रौद्ररूप दिखानेवाला (दु ख) दु:खका कारण और (दुःख-फलं) दु खरूप फलको देनेवाला है (अत्र बहुना उक्तेन किं) इस भाव मोहके विषयमें अधिक कहांतक कहा जाय केवल वह भावमोहही (सर्वासां विपदां पदं) सम्पूर्ण विपत्तियोंका आस्पद है--स्थान है।

भावार्थ— केवल वह भाव मोहही अशुचि, घातक, रौद्ररूप, दु खका कारण और दुःखरूप फलको देने वाला है। इसके विषयमें अधिक कहांतक कहा जाय केवल इतना कहनाही पर्याप्त है कि वह भावमोहही सम्पूर्ण आपदाओंका स्थान है।

कार्यं कारणमप्येष मोहो भावसमाव्हय ।
सर्वबद्धानुवादेन प्रत्यग्राश्रवसंचयात ॥ १०६७ ॥

अन्वयार्थः— (एषः भावसमाव्हयः मोहः कार्यं अपि) यह भाव मोह द्रव्य मोहका कार्य होकरके भी (पूर्वबद्धानुवादेन प्रत्यग्राश्रवसंचयात् कारणं) पूर्वबद्ध द्रव्य मोहकी अपेक्षासे ही नवीन द्रव्यमोहका

आश्रव होता है इसलिए द्रव्यमोहके लिए वह कारण भी है।

भावार्थः— यद्यपि रागादि रूप भावमोह द्रव्यमोहका कार्य है तथापि नवीन द्रव्यमोहका आश्रव पूर्वबद्ध द्रव्यमोहादिकके उदयसे ही होता है। अतः द्रव्यमोहादिकके लिये वह कारण भी है।

यदोच्चैः पूर्वबद्धस्य द्रव्यमोहस्य कर्मणः।
पाकाल्लब्धात्मसर्वस्वः कार्यरूपस्ततो नयात् ॥ १०६९ ॥
निमित्तमात्रीकृत्योच्चैस्तमागच्छन्ति पुद्गलाः।
ज्ञानावृत्यादिरूपस्य तस्माद्भावोस्ति कारणम् ॥ १०७० ॥

अन्वयार्थः— (यदा) जिस समय (उच्चै. पूर्वबद्धस्य द्रव्यमोहस्य कर्मणः पाकात्) अच्छी तरहसे पूर्वमें बाधे गये द्रव्यमोहकर्मके उदयसे भावमोह (लब्धात्मसर्वस्वः) अपने सम्पूर्ण स्वरूपका लाभ करता है उस समय वह (तत नयात्) उस नयकी अपेक्षासे (कार्यरूप) कार्यरूप है और (उच्चैः) वास्तवमें (त निमित्तमात्रीकृत्य) उस कार्यरूप मोहभावके निमित्तसे ही (पुद्गलाः आगच्छन्ति) ज्ञानावरणादि रूप कर्मपुद्गल आते हैं (तस्मात्) इसलिए (ज्ञानावृत्त्यादिरूपस्य) ज्ञानावरणादिरूप द्रव्य पुद्गलके लिए (भावः कारणं अस्ति) वह भावमोह कारणरूप भी है।

भावार्थ— पूर्वबद्ध द्रव्यमोहके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण भावमोह द्रव्यमोहका कार्य है। तथा नवीन द्रव्यमोहादिकके बंधनेमें कारण होनेसे वह भावमोह द्रव्यमोहादिकका कारण भी है।

विशेषः कोऽप्ययं कार्यं केवलं मोहकर्मणः।
मोहस्यास्यापि बन्धस्य कारणं सर्व कर्मणाम् ॥ १०७० ॥

अन्वयार्थः— (अयं क अपि विशेषः) भावमोहमें यह कोई एक विशेपता है कि वह (कार्यं) कार्य तो (केवलं मोहकर्मणः) केवल द्रव्यमोह कर्मका है परन्तु (अस्य मोहस्य) इस द्रव्यमोहके (अपि) और (सर्वकर्मणां) सम्पूर्ण कर्मोंके (बन्धस्य) बन्धका (कारणं) कारण होता है।

भावार्थः— भावमोहमें यह एक खास विशेपता है कि यद्यपि वह केवल द्रव्यमोह कर्मकाही कार्य है तथापि वह द्रव्यमोह और इतर सम्पूर्ण कर्मोंके भी बन्धमें कारण होता है।

अस्ति सिद्धं ततोऽन्योन्यं जीवपुद्गलकर्मणोः ।
निमित्तनैमित्तिको भावो यथा कुम्भकुलालयोः ॥ १०७१ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इस लिये (यथा) जिस प्रकार (कुम्भकुलालयो.) कुम्भ--घट और कुलालमें-कुंभारमें (निमित्तनैमित्तिक.भावः अस्ति) निमित्त तथा नैमित्तिक भाव है (' तथा ') उसी प्रकार (जीवपुद्गलकर्मणोः) जीव और पुद्गलात्मक कर्ममें (अन्योन्यं) परस्पर (' निमित्तनैमित्तिकःभाव· अस्ति ') निमित्तनैमित्तिकभाव है यह (सिद्धं) सिद्ध होता है ।

भावार्थः— जिस प्रकार स्थूल दृष्टिसे कुंभार और घटमें निमित्त नैमित्तिक भाव है । उसी प्रकार जीव तथा पुद्गलमेंभी निमित्त नैमित्तिक भाव है ।

अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां कर्मणां च परस्परम् ।
निमित्तनैमित्तिकोभावः स्यान्नस्याज्जीवकर्मणोः ॥ १०७२ ॥

अन्वयार्थः— (अन्तर्दृष्ट्या) अन्तरंग दृष्टिसे (कषायाणां) कषायोंका (च) और (कर्मणां) कर्मोंका (परस्परं) परस्परमें निमित्तनैमित्तिकःभावः स्यात्) निमित्तनैमित्तिकभाव है किन्तु (जीवकर्मणोः न स्यात्) जीव तथा कर्मका नहीं है ।

भावार्थः— सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर कषाय और कर्ममेंही निमित्त नैमित्तिक भाव है । द्रव्यरूप जीव तथा कर्ममें नहीं ।

यतस्तत्र स्वयं जीवे निमित्ते सति कर्मणाम् ।
नित्या स्यात्कर्तृता चेति न्यायान्मोक्षो न कस्यचित् ॥ १०७३ ॥

अन्वययार्थः—(यतः) क्योंकि (तत्र) उनमेंसे (जीवे स्वयं कर्मणां निमित्ते सति) जीवको कर्मोंका निमित्त माननेपर (नित्या कर्तृता स्यात् इति) जीवमें सदैव ही कर्तृत्वका प्रसग आवेगा (च) और फिर ऐसा होनेसे (न्यायात्) न्यायानुसार (कस्यचित् मोक्षः न) किसी भी जीवको कभी भी मोक्ष नहीं होगा ।

भावार्थः— सूक्ष्मदृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो जीव द्रव्यके साथ कर्मोंका निमित्त नैमित्तिक भाव

नहीं है। किन्तु केवल कषायोंके साथही निमित्त नैमित्तिक भाव मानना युक्तियुक्त है। कारण कि यदि जीव द्रव्य कर्मोंका निमित्त होता तो सिद्धावस्थामें भी जीवके कर्मोंका ग्रहणका प्रसंग आता। और ऐसा होनेसे मुक्त अवस्थाका सिद्ध होना भी असंभव हो जाता। परन्तु ऐसा होता नहीं है इसलिए सिद्ध होता है कि जीव कर्मोंका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है।

इत्येवं ते कषायाख्याश्चत्वारोऽप्यौदयिकाः स्मृताः।
चारित्रस्य गुणस्यास्य पर्याया वैकृतात्मनः॥ १०७४॥

अन्वयार्थः— (इत्येवं) इस प्रकार (ते चत्वारः अपि कषायाख्याः औदयिकाः स्मृताः) वे चारों ही कषाय औदयिक माने गये है क्योंकि वे (अस्य चारित्रस्य गुणस्य) इस आत्माके चारित्र गुणकी (वैकृतात्मनः पर्यायाः) विकृत पर्यायें है।

भावार्थः—चारित्रमोह कर्मके उदयसे आत्माके चारित्र गुणकी जो विकृत पर्यायें होती है उन्हेंही कषाय नामक चार औदयिक भाव समझना चाहिये।

लिंगान्यौदयिकान्येव त्रीणि स्त्रीपुन्नपुंसकात्।
भेदाद्वा नोकषायाणां कर्मणामुदयात्किल॥ १०७५॥

अन्वयार्थः— (नोकषायाणां कर्मणां उदयात्) नोकषाय नामक कर्मोंके उदयसे होनेवाले (स्त्री-पुन्नपुंसकात् भेदात्) स्त्री, पुरुष और नपुंसकके भेदसे (त्रीणि लिंगानि वा) तीन प्रकारके लिंग भी (औदयिकानि एव) औदयिक ही है।

भावार्थः— स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकके भेदसे जो स्त्री वेदादि नोकषाय कर्मोंका उदय होता है उसीके निमित्तसे जीवमें स्त्री पुरुष तथा नपुंसक व्यवहार होता है। इसलिए ये तीनों लिंगभी कषायोंके समान औदयिक भावही हैं।

चारित्रमोहकर्मैतद्द्विविधं परमागमात्।
आद्यं कषायमित्युक्तं नोकषायं द्वितीयकम्॥ १०७६॥

अन्वयार्थः— (एतत् चारित्रमोहकर्म) यह चारित्रमोहनीय कर्म (परमागमात्) परमागमसे

(**द्विविधं**) दो प्रकारका है उनमेंसे (**आद्यं कषायं इति उक्तं**) प्रथम भेद कषाय कहलाता है और (**द्वितीयकं नोकषायं**) दूसरा भेद नोकषाय कहलाता है ।

भावार्थ — कषाय वेदनीय और नोकषाय वेदनीय इस तरह परमागममें चारित्र मोहनीय कर्मके दो भेद माने है । उनमेंसे क्रोधादिकको कषाय वेदनीय कहते है । तथा हास्यादिकको नोकषाय वेदनीय कहते हैं ।

तत्रापि नोकषायाख्यं नवधा स्वविधानतः ।
हास्यो रत्यरती शोको भीर्जुगुप्सा त्रिलिलिंगकम् ॥ १०७७ ॥

अन्वयार्थः — (**तत्रापि**) चारित्र मोहके उन दोनों भेदोंमें भी (**नोकषायाख्यं**) नोकषाय नामक द्वितीय भेद (**हास्यं रत्यरती शोको भी· जुगुप्सा त्रिलिंगकं**) हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद और नंपुसकवेद इस तरह (**स्वविधानतः**) अपने अवान्तर भेदोंकी अपेक्षासे (**नवधा**) नव प्रकारका है ।

भावार्थः— हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद तथा नपुसकवेद इस प्रकार नोकषाय के नव भेद है ।

ततश्चारित्रमोहस्य कर्मणो ह्युदयाद्ध्रुवम् ।
चारित्रस्य गुणस्यापि भावा वैभाविका अमी ॥ १०७८ ॥

अन्वयार्थ.— (**तत·**) इस लिए सामान्य रूपसे (**ध्रुवं**) निश्चयपूर्वक उक्त तीनों वेद (**चारित्र मोहस्य कर्मणः उदयात्**) चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे होते है अतः (**अमी**) ये तीनों लिग (**हि**) निश्चय करके (**चारित्रस्य गुणस्य अपि**) चारित्र गुणकेही (**वैभाविकाः भावाः**) वैभाविक भाव है ।

भावार्थः— तीनोंही लिंग चारित्रमोह कर्मके अवान्तर भेदके उदयसे ही होते है । इसलिए चारित्र गुणके ही वैभाविक भाव है ।

प्रत्येकं द्विविधान्येव लिंगानीह निसर्गतः ।
द्रव्यभावविभेदाभ्यां सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥ १०७९ ॥

अन्वयार्थः— (**सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात्**) सर्वज्ञकी आज्ञाके अनुसार (**इह**) यहांपर (**द्रव्यभाववि-**

भेदाभ्यां) द्रव्य और भावके भेदसे (प्रत्येकं लिंगानि) प्रत्येक लिंग (निसर्गत-) स्वभावसे (द्विविधानि एव) दो प्रकारके ही होते हैं।

भावार्थः— आगमानुसार तीनों ही वेद द्रव्य और भावके भेदसे दो २ प्रकारके हैं।

अस्ति यन्नामकर्मैकं नानारूपं च चित्रवत्।
पौद्गलिकमचिद्रूपं स्यात्पुद्गलविपाकि यत् ॥ १०८० ॥

अन्वयार्थ— (चित्रवत्) चित्रकारकी तरह (यत् एकं नानारूपं च नामकर्म अस्ति) जो एक जीवके नानारूप बनानेवाला नामकर्म है वह (अचिद्रूपं) अचेतनरूप (पौद्गलिकं) पौद्गलिक (स्यात्) है (यत्) जोंकि यह कर्म (पुद्गलविपाकि) पुद्गलविपाकी है।

भावार्थः— आठ कर्मोंमें चित्रकारके समान नानारूप बनानेवाला एक पौद्गलिक नामकर्म है।

अंगोपांगं शरीरं च तद्भेदौ स्तोप्यभेदवत्।
तद्विपाकात्त्रिलिंगानामाकाराः सम्भवन्ति च ॥ १०८१ ॥

अन्वायर्थ— (अभेदवत् अपि) यद्यपि एक दृष्टिसे अभेद है तथापि (अंगोपांगं) अंगोपांग (च) और (शरीर) शरीर इस प्रकार (तद्भेदौ स्तः) नाम कर्मके दो भेद है (च) तथा (तद्विपाकात) उन दोनोंके उदयसे (त्रिलिंगानां आकाराः सम्भवन्ति) तीनो लिंगोंके आकार बनते है।

भावार्थः— नामकर्मके शरीरनामकर्म और अंगोपांग नामकर्म ऐसे दो भेद हैं। उन दोनोंके यथायोग्य उदयसे इन तीनों वेदोंके आकार बनते है।

त्रिलिंगाकारसम्पत्तिः कार्यं तन्नामकर्मणः।
नास्ति तद्भावलिंगेषु मनागपि करिष्णुता ॥ १०८२ ॥

अन्वयार्थ— यद्यपि (या त्रिलिंगाकारसम्पत्तिः) जो तीनों लिगोंके आकारकी प्राप्ति है (तत नामकर्मणः कार्यं) वह उस नाम कर्मका कार्य है तथापि (तद्भावलिंगेषु मनाक् अपि करिष्णुता न अस्ति) उस नाम कर्ममें उन भावलिंगोंके विषयोंमें निर्माण करनेकी बिलकुल कार्यकारिता नहीं है-योग्यता नहीं है।

भावार्थ— यद्यपि लिंगोका आकार शरीर और विवक्षित लिंग नामा अंगोपाग नाम कर्मके कारण होता

है अर्थात् भावलिंगके लिये चारित्र मोहनीय के अन्तर्गत जो स्त्रीवेदादि नोकषाय है वह कारण है। और द्रव्यवेदके लिये नामकर्म कारण है।

भाववेदेषु चारित्रमोहकर्मांशकोदयः।
कारणं नूनमेकं स्यान्नेतरस्योदयः क्वचित् ॥ १०८३ ॥

अन्वयार्थः— (भाववेदेषु) भाव वेदोंमें (चारित्रमोहकर्मांशकोदयः) चारित्रमोह कर्मके अवान्तर भेदरूप वेद कर्मका उदय ही (नूनं) निश्चयसे (एकं कारणं) एक कारण (स्यात्) है (क्वचित् इतरस्य उदय न) किसी भी भाव वेदमें किसी अन्य कर्मका--नामकर्मका उदय कारण नहीं है।

भावार्थ — तीनोंही भाव वेदोंके उदयमें चारित्रमोहके अन्तर्गत स्त्री वेदादिक नोकषायका उदय ही कारण है। अन्य किसी कर्मका—केवल नामकर्मका उदय कारण नहीं है।

रिरंसा द्रव्यनारीणां पुंवेदस्योदयात्किल।
नारी वेदोदयाद्वेदः पुंसां भोगाभिलाषिता ॥ १०८४ ॥
नालं भोगाय नारीणां नापि पुंसामशक्तितः।
अन्तर्दग्धोस्ति यो भावः क्लीबवेदोदयादिति ॥ १०८५ ॥

अन्वयार्थः— (किल) निश्चय करके (पुंवेदस्य उदयात) पुंवेदके उदयसे जो (द्रव्यनारीणां रिरंसा) द्रव्य स्त्रियोंके साथ रमनेकी इच्छा होती है वह पुंवेद कहलाता है और जो (नारीवेदोदयात्) स्त्री वेदके उदयसे (पुंसां भोगाभिलाषिता) पुरुषोंके साथ रमनेकी इच्छा होती है वह (वेद.) स्त्री वेद कहलाता है तथा जो (अशक्तितः) सामर्थ्य न रहनेके कारण (न नारीणां भोगाय अलं) न तो स्त्रियोंसे भोग करनेके लिये समर्थ होता है (अपि) और (न पुंसां) न पुरुषोंसे ही भोग करनेको समर्थ होता है किन्तु सदैव (अन्तर्दग्धः) अन्तरंगमें जलता रहता है ऐसा (यः भाव अस्ति) जो भाव है वह (क्लीबवेदोदयात्) नपुसकवेदके उदयसे होता है।

भावार्थः— पुंवेदके उदयसे जो द्रव्य स्त्रियोंके साथ रमनेकी इच्छा होती है वह भाव पुंवेद कहलाता है। और स्त्रीवेदके उदयसे जो द्रव्य पुरुषोंके साथ रमनेकी इच्छा होती है वह भाव स्त्रीवेद कहलाता है। तथा नपुंसक

वेदके उदयसे जो सदैव स्त्री और पुरुष दोनोंके साथ रमनेकी इच्छा होती है वह भाव नपुंसकवेद कहलाता है। इस नपुंसक वेदके उदयसे स्त्री पुरुष दोनोंमें ही रमनेकी अत्यन्त इच्छा होती है, परन्तु सामर्थ्य न होनेसे वह नपुंसक उन दोनोंमेंसे किसीके भी साथ भोग नहीं भोग सकता है। किन्तु सदैव अन्तरंगमें ही जला करता है।

इस प्रकार द्रव्य और भाव वेदका स्वरूप बताकरके अब आगे यह बताते हैं कि बहुधा तो जो द्रव्यलिंग होता है वही भावलिंग होता है। परन्तु कहीं कहीं पर द्रव्यलिंग अन्य तथा भावलिंग अन्य भी हो सक्ता है।

द्रव्यलिंगं यथा नाम भावलिंगं तथा क्वचित्।
क्वचिदन्यतमं द्रव्यं भावश्चान्यतमो भवेत् ॥ १०८६ ॥

अन्वयार्थः— (क्वचित्) कहीं२ पर (यथा) जैसा (द्रव्यलिंगं) द्रव्यलिंग होता है (तथा) वैसा ही (भावलिंगं नाम) भावलिंग होता है परन्तु (क्वचित्) कहीं २ पर (द्रव्यं अन्यतमं) द्रव्यलिंग दूसरा होता है (च) और (भाव. अन्यतमः भवेत्) भावलिंग दूसरा होता है।

भावार्थ— कहीं २ पर द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनों ही समान होते है। तथा कहीं २ पर दोनों ही विषम होते है अर्थात् द्रव्यलिंग दूसरा होता है और भावलिंग दूसरा होता है।

अब आगे-पूर्वोक्त अर्थका ही खुलासा करते हैं

यथा दिविजनारीणां नारीवेदोस्ति नेतरः।
देवानां चापि सर्वेषां पाकः पुंवेद एव हि ॥ १०८७ ॥

अन्वयार्थ— (यथा) जैसे (हि) निश्चय करके (दिविजनारीणां) सम्पूर्ण देवांगनाओंके (नारीवेद. अस्ति इतरः न) स्त्रीवेदका उदय रहता है अन्यका नहीं ('तथा') वैसे ही (सर्वेषां देवानां अपिच) सम्पूर्ण देवोंके भी (पुंवेद एव पाक.) पुंवेदका ही उदय रहता है इतर का नहीं।

भावार्थः— जैसे देवागणाओंके द्रव्य स्त्री वेदके साथ २ सदैव भाव स्त्री वेदका ही उदय रहता है। वैसे ही देवोंके द्रव्य पुरुष वेदके साथ २ सदैव भाव पुरुष वेदका ही उदय रहता है अन्यका नहीं।

भोगभूमौ च नारीणां नारीवेदो नचेतरः।
पुंवेदः केवलः पुंसां नान्यो वाऽन्योन्यसंभवः ॥ १०८८ ॥

अन्वयार्थ.— (भोगभूमौ नारीणां नारीवेदः) भोगभूमीमें स्त्रियोंके स्त्रीवेद, होता है (इतरं न) दूसरा वेद नहीं। (पुंसां केवल पुंवेद) पुरुषोंके केवल पुंवेद ही होता है दूसरा नहीं। (अन्योन्य-संभव न) स्त्रीवेद वालेके पुंवेद अथवा पुंवेद वालेके कभी स्त्रीवेद नहीं होता है।

भावार्थ.— देव और देवीओंके समान भोगभूमियोंके भी द्रव्य और भाव वेदमें फरक नहीं पडता है।

नारकाणां च सर्वेषां वेदश्चैको नपुंसकः ।
द्रव्यतो भावतश्चापि न स्त्रीवेदो न वा पुमान् ॥ १०८९ ॥

अन्वयार्थः—(सर्वेषां नारकाणां च) सम्पूर्ण नारकियोंके भी (द्रव्यतः भावतः) द्रव्य और भाव दोनोंमेंसे (एकः नपुंसकवेदश्च) एक नपुंसक वेद ही होता है किन्तु उनके (न स्त्रीवेदः) न तो स्त्रीवेद होता है (अपि च) और (नवा पुमान्) न पुंवेद ही होता है।

भावार्थः— सम्पूर्ण नारकियोंके सदैव द्रव्य और भाव दोनोंकी अपेक्षासे केवल नपुंसक वेद ही होता है।

तिर्यग्जातौ च सर्वेषां एकाक्षाणां नपुंसकः ।
वेदो विकलत्रयाणां क्लीबः स्यात केवलः किल ॥ १०९० ॥
पञ्चाक्षासंज्ञिनां चापि तिरश्चां स्यान्नपुंसकः ।
द्रव्यतो भावतश्चापि वेदो नान्यः कदाचन ॥ १०९१ ॥

अन्वयार्थ.— (तिर्यग्जातौ च) तिर्यंच जातिमें भी (किल) निश्चय करके (द्रव्यतः अपि च भावतः) द्रव्य और भाव दोनोंकी अपेक्षासे (सर्वेषां एकाक्षाणां) सम्पूर्ण एकेंद्रियोंके (केवलं नपुंसकः वेदः) केवल एक नपुंसक वेद होता है (विकलत्रयाणां क्लीबः वेदः स्यात) विकलत्रयोंके केवल एक नपुंसकवेद होता है (च) और (पञ्चाक्षासंज्ञिनां तिरश्चां अपि द्वीद्रियादि असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके भी (नपुंसकः स्यात्) केवल एक नपुंसक वेद होता है (अन्य वेद कदाचन न) अन्य दूसरा वेद कभी भी होता नहीं है।

भावार्थः— सम्पूर्ण एकेंद्रियोंके, विकलेंद्रियोंके और असंज्ञीपंचेंद्रियोंके भी द्रव्य और भाव दोनोंकी अपेक्षासे केवल एक नपुंसक वेद होता है।

कर्मभूमौ मनुष्याणां मानुषीणां तथैव च।
तिरश्चां वा तिरश्चीनां त्रयो वेदास्तथोदयात् ॥ १०९२ ॥

अन्वयार्थः— (कर्मभूमौ) कर्मभूमिमें (मनुष्याणां) मनुष्योंके (च) और (मानुषीणां) स्त्रियोंके (तथैव) तथा (तिरश्चां) तिर्यंचोंके (वा) और (तिरश्चीनां) तिर्यंचिनीयोंके (तथोदयात् त्रयोवेद) अपने २ उदयानुसार तीनों वेद हो सकते है।

भावार्थ — कर्मभूमिया मनुष्य और तिर्यंचोंके द्रव्यवेदके अनुसार भाववेदके होनेका नियम न होनेसे द्रव्य स्त्री, पुरुष तथा नपुंसकोंके भिन्न २ कालमें अपने २ उदयानुसार तीनों ही वेद हो सकते है ।

केषांचिद्द्रव्यतः सांगः पुंवेदो भावतः पुनः ।
स्त्रीवेदः क्लीबवेदो वा पुंवेदो वा त्रिधापि च ॥ १०९३ ॥

अन्वयार्थ.— (केषांचित्) किन्ही २ के (द्रव्यत सांगः पुंवेदः) द्रव्यकी अपेक्षासे शरीरानुसार पुंवेद होता है (पुनः) और (भावतः) भावकी अपेक्षासे (स्त्रीवेदः) स्त्रीवेद (क्लीबवेदः) नपुसक वेद (वा) तथा (पुंवेदः वा) पुंवेद भी हो सकता है (च) और एक ही पर्यायमें किसी २ के भिन्न २ कालमें (त्रिधा अपि) तीनों भी हो सकते है।

भावार्थः— किन्हीं २ स्त्री पुरुषोंके द्रव्यरूपसे स्त्री लिंगादिकके रहनेपर भी भाववेदरूपसे दूसरे २ भी लिंगोंका उदय रह सकता है । और किसी २ के एक ही पर्यायमें तीनों भी भावलिंगोंका उदय रह सकता है ।

केषांचित्क्लीबवेदो वा द्रव्यतो भावतः पुनः ।
पुंवेदो क्लीबवेदो वा स्त्रीवेदो वा त्रिधोचितः ॥ १०९४ ॥

अन्वयार्थः—(केषांचित्) किन्हीं २ के (द्रव्यत.) द्रव्यसे (क्लीबवेदः) नपुसकवेद होता है (पुनः) और (भावतः) भावसे (पुंवेदः) पुंवेद (वा) अथवा (क्लीबवेदः) नपुंसकवेद (वा) अथवा (स्त्रीवेदः) स्त्रीवेद भी हो सकता है (वा) अथवा भिन्न भिन्न कालमें एक ही जीवके (उचितः त्रिधा) यथोचित तीनों भी वेद हो सकते है।

भावार्थः— किन्ही २ जीवोंके द्रव्यसे तो नपुंसकवेद होता है। परन्तु भावसे यथायोग्य पुरुष, स्त्री और नपुंसक इस प्रकार तीनो ही वेद पाए जाते हैं ।

कश्चिदापर्ययन्यात्क्रमादस्ति त्रिवेदवान् ।
कदाचित्क्लीबवेदो वा स्त्री वा भावात् क्वचित् पुमान् ॥ १०९५ ॥

अन्वयार्थः— (कश्चित्) कोई २ तो (आपर्ययन्यायात्) पर्याय न्यायतक--जबतक जीवित है
तबतक अर्थात् एक ही पर्यायमें (कदाचित्) किसी समय (भावात्) भावसे (क्लीबवेदः) नपुंसक वेद
(वा) अथवा (स्त्री) स्त्रीवेद (वा) अथवा (क्वचित् पुमान्) कभी २ पुंवेद इस प्रकार (क्रमात्)
क्रमसे (त्रिवेदवान् अस्ति) तीनों ही वेदवाला होजाता है ।

भावार्थ — किसी २ के तो एक पर्यायमें ही तीनों ही भाववेदोंका उदय हो जाता है ।

त्रयोऽपि भाववेदास्ते नैरन्तर्योदयात्किल ।
नित्यंचाबुद्धिपूर्वाःस्युः क्वचिद्वै बुद्धिपूर्वकाः ॥ १०९६ ॥

अन्वयार्थः— (किल) निश्चयकरके (ते त्रयः अपि भाववेदा) वे तीनों ही भाववेद (नैर–
न्तर्योदयात्) निरन्तर कर्मोंके उदयके कारण होते है अर्थात् भाववेदोंका उदय निरन्तर रहता है इस लिए वे
(वै) निश्चयकरके (नित्यं) नित्य (च) और (अबुद्धिपूर्वाः स्युः) अबुद्धिपूर्वक होते है तथा (क्वचित्
बुद्धिपूर्वकाः) कहींपर बुद्धिपूर्वक होते है ।

भावार्थ.— यद्यपि तीनों ही भाववेद निरन्तर उदयात्मक होनेसे प्राय सदैव अबुद्धिपूर्वक होते है अर्थात्
उनका उदय सदैव रहता हैं । इस लिए उनके कारण पुरुषादिकोंके स्त्री आदिके साथ रिरंसारूप जो उन भाववेदोंका
कार्य है वह सदैव व्यक्त नहीं होता है । परन्तु वेदकी उदीरणा होनेपर वे तीनों ही भाववेद बुद्धिपूर्वक होते है अर्थात्
उनका उदय व्यक्तरूपसे प्रतीत होता है ।

तेऽपि चारित्रमोहान्तर्भाविनो बन्धहेतवः ।
संक्लेशांगैकरूपत्वात केवलं पापकर्मणाम् ॥ १०९७ ॥

अन्वयार्थः— (संक्लेशांगैकरूपत्वात्) सक्लेशके एक अंगरूप होनेसे (चारित्रमोहान्तर्भाविनः)
चारित्रमोहमें गर्भित होनेवाले (ते अपि) वे भावभेद भी (केवलं पापकर्मणां बन्धहेतवः) केवल पापक-
र्मोंके ही बन्धके कारण है ।

भावार्थः— मोहके उदयात्मक विकार संक्लेशरूप होनेसे केवल पापकर्मोंके बन्धके कारण होते है इस नियम के अनुसार ये तीनो भाववेद भी चारित्रमोहके ही अवान्तर भेद है । तथा संक्लेशरूप होनेसे पापबन्धके ही कारण है ।

द्रव्यलिंगाणि सर्वाणि नात्रबन्धस्य हेतवः ।
देहमात्रैकवृत्तत्वे बन्धस्याऽकारणात्स्वतः ॥ १०९८ ॥

अन्वयार्थ.— (अत्र) तीनों लिंगोंमेंसे जो (सर्वाणि द्रव्यलिंगानि) द्रव्यलिंग है वे (बन्धस्य हेतव: न) बन्धके कारण नहीं है क्योंकि वे (देहमात्रैकवृत्तत्वे) केवल देहसे ही सम्बन्ध रखते है इस लिए (स्वतः) स्वयं (बन्धस्य अकारणात्) बन्धके कारण नहीं हो सकते है ।

भावार्थ — द्रव्य और भावके भेदसे लिंग [वेद] दो प्रकारके है । उनमेंसे जो भाववेद है वे तो संक्लेशात्मक होनेसे बन्धके कारण है । परन्तु जो द्रव्यवेद है वे केवल शरीरकी अवयव रचनामात्रसे ही सम्बन्ध रखते है अतः वे द्रव्यवेद बन्धके कारण नहीं हो सकते है ।

मिथ्यादर्शनमाख्यातं पाकान्मिथ्यात्वकर्मणः ।
भावो जीवस्य मिथ्यात्वं स स्यादौदयिकः किलः ॥ १०९९ ॥

अन्वयार्थः— (मिथ्यात्वकर्मण. पाकात् मिथ्यादर्शन आख्यातं) मिथ्यात्व कर्मके उदयसे होनेवाले मिथ्यात्वकर्मका वर्णन किया । यह मिथ्यात्व मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होता है इस लिए (स जीवस्य मिथ्यात्व किल औदयिकः भाव. स्यात्) मिथ्यात्व भाव भी जीवका औदयिक भाव है ।

अस्ति जीवस्य सम्यक्त्वं गुणश्चैको निसर्गजः ।
मिथ्याकर्मोदयात्सोपि वैकृतो विकृताकृतिः ॥ ११०० ॥

अन्वयार्थः— (जीवस्य) जीवका (सम्यक्त्वं च) सम्यक्त्व भी (एक निसर्गज गुण अस्ति) एक स्वाभाविक गुण है (अपि) और (स.) वह (मिथ्याकर्मोदयात्) मिथ्यात्व कर्मोंके उदयसे (वैकृत 'सन' विकृताकृतिः 'अस्ति') विकृत होकर मिथ्यादर्शन रूप विकृत आकृतिमें परिणत हो रहा है ।

भावार्थ — जीवका, सम्यक्त्व एक स्वाभाविक गुण है । परन्तु वह मिथ्यात्वकर्मके उदयसे विकृत होकर

मिथ्यादर्शन रूपमें पाया जाता है। अतः मिथ्यादर्शन औदयिक भाव कहलाता है।

उक्तमास्ति स्वरूपं प्राग्मिथ्याभावस्य जन्मिनाम्।
तस्मान्नोक्तं मनागत्र पुनरुक्तभयात्किल ॥ ११०१ ॥

अन्वयार्थः— (**जन्मिनां**) संसारी जीवोंके (**मिथ्याभावस्य**) इस मिथ्याभावका (**स्वरूपं**) स्वरूप (**प्राक् उक्तं अस्ति**) पहले कह चुके हैं (**तस्मात्**) इस लिए (**अत्र**) यहांपर (**किल**) निश्चयसे (**पुनरुक्तभयात्**) केवल पुनरुक्त दोषके भयसे (**मनाक् न उक्तं**) कुछ भी नहीं कहा है।

भावार्थः— मिथ्यादर्शनके विषयमें विशेष रूपसे पहले वर्णन किया जा चुका है। इस लिये पुनरुक्ति नामक दोषके भयसे यहांपर उसका विशेष वर्णन नहीं किया गया है।

अज्ञानं जीवभावो यः स स्यादौदयिकः स्फुटम्।
लब्धजन्मोदयाद्यस्माज्ज्ञानावरणकर्मणः ॥ ११०२ ॥

अन्वयार्थः— (**यः**) जो (**अज्ञानं जीवभावः**) अज्ञान नामक जीवका भाव है (**सः**) वह भी (**स्फुटं**) निश्चय करके (**औदयिकः स्यात्**) औदयिक है (**यस्मात्**) क्योंकि (**ज्ञानावरणकर्मणः उदयात्**) ज्ञानावरण कर्मके उदयसे वह (**लब्धजन्मा**) लाभ किया है जन्म जिसने ऐसा अर्थात् उत्पन्न होता है।

भावार्थः— ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाला जीवका अज्ञान भावभी औदयिक भाव है।

अस्त्यात्मनो गुणो ज्ञानं स्वापूर्वार्थावभासकम्।
मूर्छितं मृतकं वा स्याद्वपुः स्वावरणोदयात ॥ ११०३ ॥

अन्वयार्थः— (**स्वापूर्वार्थावभासकं**) स्व और अपूर्व अर्थका प्रकाशक (**आत्मनः ज्ञानं गुणः अस्ति**) आत्माका एक ज्ञानगुण है परन्तु वह (**स्वावरणोदयात**) अपने २ आवरणके उदयसे (**मृतकं वपुः वा**) मृतक शरीरकी तरह (**मूर्छित स्यात्**) मूर्छित रहता है।

भावार्थ—युगपत् स्व और परका प्रकाशन करनेवाला आत्माका एक ज्ञान नामा गुण है। परन्तु ज्ञानावरण कर्मके उदयसे मूर्छित होकर मृतक शरीरके समान जो वह निश्चेष्ट रहता है उसीका नाम अज्ञान भाव है।

अर्थादौदायिकत्वेऽपि भावस्यास्याऽप्यवश्यतः ।
ज्ञानावृत्यादिबन्धेऽस्मिन् कार्ये वै स्यादहेतुता ॥ ११०४ ॥

अन्वयार्थ.— यद्यपि (अर्थात्) वास्तवमें (अस्य भावस्य अपि) इस भावमें भी (अवश्यतः औदयिकत्वे अपि) नियमसे औदयिकपना है तथापि इसको (वै) निश्चयकरके (अस्मिन् ज्ञानावृत्यादि बन्धेकार्ये) ज्ञानावरणादिकके आस्रवपूर्वक होनेवाले इस बन्धरूप कार्यमें (अहेतुता स्यात्) अकारणता है ।

भावार्थ — यद्यपि यह अज्ञान भाव भी औदयिक है । और मिथ्यात्वादि औदयिक भावोंके निमित्तसे आत्माके नवीन कर्मोंका बन्ध भी होता है तथापि यह अज्ञानभाव ज्ञानावरणादिक कर्मोंके बन्धमें कारण नहीं होता है ।

नापि संक्लेशरूपोऽयं यः स्याद्बन्धस्य कारणम् ।
यः क्लेशो दुःखमूर्तिः स्यात्तद्योगादस्ति क्लेशवान् ॥ ११०५ ॥

अन्वयार्थः— (अयं संक्लेशरूपः अपि न) यह अज्ञान भाव कषायादिककी तरह संक्लेशरूप भी नहीं है (यः बन्धस्य कारणं स्यात्) जो कि बन्धका कारण माना जाता है और (यः क्लेशः दुःखमूर्तिः स्यात्) जो संक्लेशरूप होकर दुःखकी मूर्ति कहलाता है-समझा जाता है (तत् योगात्) उसके सम्बन्धसे ही आत्मा (क्लेशवान् अस्ति) क्लेशवान है ।

भावार्थः— मोह कर्मके उदयके समान ज्ञानावरण कर्मका उदय संक्लेशात्मक नहीं है । और सक्लेशात्मक न होनेसे ही यह बन्धका कारण नहीं माना गया है । क्यों कि केवल मोहकर्मके उदयको संक्लेशात्मक माना है । तथा उसके ही कारण यह आत्मा संक्लेशवान कहा जाता है ।

दुःखमूर्तिश्च भावोऽयमज्ञानात्मा निसर्गतः ।
वज्राघात इव ख्यातः कर्मणामुदयो यतः ॥ ११०६ ॥

अन्वयार्थ— तथापि (अयं अज्ञानात्मा भाव) यह अज्ञानरूप औदायिक-भाव (निसर्गतः) स्वभावसे (दुःखमूर्तिश्च) दुःखकी मूर्ति ही है (यतः) क्योंकि (कर्मणां उदयः वज्राघात इव ख्यातः) सम्पूर्ण

कर्मोंका उदय वज्रपातकी तरह दुःखदायी प्रसिद्ध है।

भावार्थः— ग्रन्थकार कहते हैं कि अज्ञान भावमें संक्लेशकी संभावना न होनेके कारण ज्ञानावरणादिकके निमित्तसे आत्माके दुःख ही नहीं होता होगा ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्यों कि प्रत्येक कर्मके उदयको दुःखदायी माना है। इस लिए अज्ञान भाव भी दुःखदायी है अर्थात् अज्ञानभाव बन्धका हेतु नहीं होता है एतावता यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वह अज्ञानभाव दुःखमयी नहीं है। किन्तु अवश्य ही दुःखमय है।

नतु कश्चिद्गुणोप्यास्ति सुखं ज्ञानगुणादिवत् ।
दुःखं तद्वैकृतं पाकात्तद्विपक्षस्य कर्मणः ॥ ११०७ ॥
तत्कथं मूर्छितं ज्ञानं दुःखमेकान्ततो मतम् ।
सूत्रं द्रव्याश्रयाः प्रोक्ता यस्माद्वै निर्गुणा गुणाः ॥ ११०८ ॥
न ज्ञानादिगुणेषूच्चैरस्ति कश्चिद्गुणः सुखम् ।
मिथ्याभावाः कषायाश्च दुःखमित्यादयः कथम् ॥ ११०९ ॥

अन्वयार्थ— (नतु) शंकाकारका कहना है कि जब (ज्ञानगुणादिवत्) ज्ञानादिक गुणोंकी तरह (सुखं आदि कश्चित् गुणः अस्ति) सुख भी आत्माका एक पृथक् गुण है और (तद्विपक्षस्य कर्मणः पाकात्) उस सुख गुणके घातक [वेदनीय] कर्मके उदयसे जो वह सुख (वैकृत) विकृत अवस्थाको प्राप्त हो जाता है (तत् दुःखं) वह दुःख कहलाता है (तत् कथं) तो फिर क्यों (एकान्ततः) एकान्तसे (मूर्छितं ज्ञानं दुःखं मतं) मूर्छित ज्ञानको ही दुःख माना है (यस्मात्) क्यों कि (वै) निश्चय करके (द्रव्याश्रयाः निर्गुणाः गुणाः प्रोक्ताः 'इति' सूत्रं) जो द्रव्यके आश्रित और स्वयं निर्गुण होते है वे गुण कहलाते है ऐसा सूत्र है-सूत्रकारने कहा है अतः जब (उच्चैः) यथार्थमें (ज्ञानादि गुणेषु) ज्ञानादिक गुणोंमें (कश्चित् सुखं गुणः न अस्ति) कोई सुख नामका गुण नहीं रह सकता है तो फिर (कथं) किस तरह (मिथ्याभावाः) मिथ्याभाव (च) और (कषायाः आदयः) कषाय आदिक (दुःखम् इति) दुःख कहे जाते है।

भावार्थ — इन तीन पद्यो द्वारा शकाकारका कहना है कि ज्ञानादिकके समान सुख भी एक आत्मीक गुण है । और वह अपने विपक्षी वेदनीय कर्मके उदयसे विकृत होकर दुःख कहलाता है । इस लिए ज्ञानादिकमें सुख नहीं रह सकता है । क्यों कि आगम प्रमाणसे गुणमें गुणका रहना निषिद्ध माना है । और जब ज्ञानादिकमें सुखका सद्भाव ही सिद्ध नहीं हो सकता है तो फिर ज्ञानादिकके उल्टे अज्ञानादिकमें तथा सम्यक्त्वादिकके उल्टे मिथ्यात्वादिकमें दुःख भी सिद्ध नहीं हो सकता है ।

सत्यं चास्ति सुखं जन्तो गुणो ज्ञानगुणादिवत् ।
भवेत्तद्वैकृतं दुःखं हेतोः कर्माष्टकोदयात् ॥ ११११० ॥

अन्वयार्थः—(सत्य) ठीक है कारण कि (ज्ञानगुणादिवत्) ज्ञानादिक गुणोंकी तरह (जन्तोः) जीवका (सुख च गुणः अस्ति) सुख भी एक गुण है परन्तु (तत्) वह (कर्माष्टकोदयात् हेतो.) आठों कर्मोंके उदय रूप हेतुसे (वैकृतं ' सत् ' दुःखं भवेत्) विकृत होकर दु ख कहलाता है ।

भावार्थ.— ज्ञानादिकके समान सुख भी आत्माका एक गुण है । परन्तु उस सुख गुणका प्रतिपक्षी कोई एक कर्म नहीं है । किन्तु आठों कर्मोंका उदय मात्र उसका प्रतिपक्षी है । इसी लिए आत्मा के मिथ्यात्व अज्ञानादिक भावोंको दु ख मूर्ति कहा है । तथा ऐसा माननेसे गुणोंमें गुणों के सद्भावके प्रसंगका भी निवारण हो जाता है ।

अस्ति शक्तिश्च सर्वेषां कर्मणामुदयात्मिका ।
सामान्याख्या विशेषाख्या द्वैविध्यात्तद्रसस्य च ॥ ११११ ॥

अन्वयार्थ — (तद्रसस्य द्वैविध्यात्) उन कर्मोंके रसमें द्वैविध्य होनेसे (सर्वेषां कर्मणां च) उन सब कर्मोंमें भी (सामान्याख्या) सामान्य नामक (च) और (विशेषाख्या) विशेष नामक इस तरह दो प्रकारकी (उदयात्मिका शक्तिः अस्ति) उदयात्मक शक्ति पाई जाती है ।

भावार्थ.— कर्मोंके रसमें सामान्य और विशेष इस तरह दो प्रकारकी शक्ति है । इस लिए सम्पूर्ण कर्मोंके उदयमें सामान्यात्मक तथा विशेषात्मक इस तरह दो प्रकारकी शक्तिया है ।

सामान्याख्याः यथा कृत्स्नकर्मणामेकलक्षणात् ।
जीवस्याकुलतायाः स्याद्धेतुः पाकागतो रसः ॥ ११११२ ॥

अन्वयार्थः—(यथा) जैसे कि (एक लक्षणात्) एक लक्षणकी दृष्टिसे जो (कृत्स्नकर्मणां पाकागतः रसः) सम्पूर्ण कर्मोंका उदयागत रस (जीवस्य आकुलतायाः हेतुः स्यात्) जीवकी आकुलताका कारण है वही (सामान्याख्या) कर्मोंकी सामान्य शक्ति है।

भावार्थ— सामान्य और विशेष रूपसे कही जानेवाली कर्मशक्तिको उदाहरण देकर दिखाते है कि जो सामान्यपनेसे सब कर्मोंका उदय जीवकी आकुलताका हेतु होता है वही कर्मोंकी सामान्यशक्ति है। और इसी दृष्टिसे सुखगुणके घातक आठो ही कर्म माने गये है। अतः मिथ्यात्वादिकभाव दुःखमय तथा सम्यक्त्वादिकभाव सुखमय कहे जाते हैं। इस प्रकार सामान्यात्मक कथनसे गुणोंमें गुणोंके सद्भावका प्रसग नहीं आसकता है।

न चैतदप्रसिद्धं स्याद् दृष्टान्ताद्विषभक्षणात्।
दुःखस्य प्राणघातस्य कार्यद्वैतस्य दर्शनात् ॥ १११३ ॥

अन्वयार्थः—(दृष्टान्तात्) दृष्टान्तसे भी (एतत् अप्रसिद्धं न च स्यात्) यह कथन असिद्ध नहीं है क्यों कि (विषभक्षणात्) विषके खानेसे (दुःखस्य प्राणघातस्य) दुःख और प्राणघातरूप (कार्यद्वैतस्य) दो प्रकारके कार्य (दर्शनात्) देखे जाते है।

भावार्थः— जिस प्रकार दुःख सामान्य है और प्राणघात यह दुःखका विशेष रूप है। किन्तु एक विषभक्षणसे ही ये दोनो कार्य देखे जाते है। उसी प्रकार सामान्य दृष्टिसे कर्ममात्रके उदयसे आत्मामें किसी न किसी प्रकार की आकुलता पाई जाती है। क्यों कि कर्मोंमें सामान्य और विशेष दोनों प्रकारकी गुणोंको घातने की शक्तियां पाई जाती हैं। सामान्य शक्तिसे आठों कर्म सुख गुणके घातक हैं। और अपनी २ ज्ञानादिकको आवरण करनेरूप विशेष २ शक्तिके द्वारा ज्ञानावरणादिक कर्म ज्ञानादिक विशेष २ गुणोंके घातक है।

अब आगे इसी अर्थका खुलासा करते है

कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च।
अस्ति किंचिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक् ॥ १११४ ॥

अन्वयार्थ.—(ततः) इस लिए (सुखस्य एक गुणस्य) आत्माके सुखनामा एक विशेष गुणके (कर्माष्टकं विपक्षि स्यात्) आठों ही कर्म विपक्षी है--घातक है किन्तु (तद्विपक्षं) उस सुख गुणका विपक्षी-घातक (पृथक्) भिन्न (किंचित् एकंकर्म न च अस्ति) कोई एक कर्म नहीं है।

भावार्थ — आठों ही कर्म सुख गुणके घातक है । कोई एक कर्म सुख गुणका घातक नहीं है ।

वेदनीयं हि कर्मैकमस्ति चेत्तद्विपक्षि च ।
न यतोऽस्यास्त्यघातित्वं प्रसिद्धं परमागमात् ॥ १११५ ॥

अन्वयार्थः— (हि) निश्चयकरके (तद्विपक्षि) उस सुख गुणका घातक (एक वेदनीय कर्म अस्ति) एक वेदनीय कर्म ही है (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो यह कहना भी (न च) ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (परमागमात्) परमागमसे (अस्य) इस वेदनीय कर्मको (अघातित्वं) अघातियापना (प्रसिद्धं अस्ति) प्रसिद्ध है अर्थात् आगममें इस कर्मको अघातिया माना है ।

भावार्थः— वेदनीय कर्म अघातिया होनेके कारण स्वतन्त्ररूपसे सुख गुणका घातक नहीं है । यदि कदाचित् कहा जाय कि सुख और दुख दोनों वेदनीय कर्मके निमित्तसे ही होते है । इस लिए सुख गुणके घातक आठों कर्म न मानकर केवल एक वेदनीय कर्मको ही सुख गुणका घातक मानना चाहिए तो यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि सुख आत्माका अनुजीवी गुण है । तथा वेदनीय कर्म अघातिया है । इस लिए वह स्वतंत्ररूपसेआत्माके अनुजीवी सुखगुणका घातक नहीं होसकता है । कारण की अनुजीवी गुणोंके घातक घातिया कर्मही होते है । केवल अघातिया नहीं ।

असंयतत्वमस्यास्ति भावोप्यौदयिको यतः ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य कर्मणो लब्धजन्मवान् ॥ १११६ ॥

अन्वयार्थः— (अस्य) जीवका (असंयतत्वं अपि औदयिकः भावः अस्ति) असंयतत्व भी औदयिक भाव है (यतः) क्योंकि उक्त असंयतत्व भाव (चारित्रमोहस्य कर्मणः पाकात् लब्धजन्मवान् भवति) चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न होता है ।

भावार्थः— चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होनेके कारण असंयतत्व भावभी औदयिक भाव है ।

संयमः क्रियया द्वेधा व्यासाद्द्वादशधाऽथवा ।
शुद्धस्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च ॥ १११७ ॥

अन्वयार्थः—(संयम) संयम (क्रियया) क्रियाकी अपेक्षासे (द्वेधा) दो प्रकारका (अथवा)

अथवा (व्यासात्) उत्तरोत्तर विस्तारकी अपेक्षासे (द्वादशधा) बारह प्रकारका है (च) और (निष्क्रियस्य आत्मनः) निष्क्रिय आत्माके (शुद्धस्वात्मोपलब्धिः संयमः स्यात्) शुद्ध स्वात्माकी उपलब्धि ही संयम कहलाता है ।

भावार्थ — व्यवहारनयसे अशुभ क्रियायोंसे निवृत्त होना-दूर होना संयम कहलाता है। वह संयम दो प्रकारका है १ इन्द्रिय संयम २ प्राण संयम । इन्द्रिय संयमके पांच इन्द्रियों और मनके विषयोंसे निवृत्तिरूप छह भेद हो जाते है । तथा पाच प्रकारके स्थावर और त्रसकायकी हिसाकी निवृत्तिके भेदसे प्राण संयमके भी छह भेद हो जाते है। इस प्रकारसे संयम दो प्रकारका अथवा बारह प्रकारका भी कहलाता है। निश्चयनयसे शुद्ध आत्माकी उपलब्धि को संयम कहते है। इसीको आगे स्पष्ट करते है ।

पंचानामिन्द्रियाणांच मनसश्च निरोधनात् ।
स्यादिन्द्रियनिरोधाख्यः संयमः प्रथमो मतः ॥ १११८ ॥

अन्वयार्थ — (पचानां इन्द्रियाणां) पाचों इन्द्रियोंके (च) और (मनसश्च) मनके भी (निरोधनात्) रोकनेसे (इन्द्रियनिरोधाख्य प्रथमो संयमः मतः स्यात्) इन्द्रिय निरोधनामक पहला संयम माना गया है ।

भावार्थ — पाचों इन्द्रियोंके और मनके व्यापारोंकी निवृत्तिको इन्द्रिय संयम कहते है ।

स्थावराणां च पंचानां त्रसस्यापि च रक्षणात् ।
असुसंरक्षणाख्यः स्याद्द्वितीयः प्राणसंयमः ॥ १११९ ॥

अन्वयार्थः—(पंचानां स्थावराणा) पांचों स्थावरोंकी (च) और (त्रसस्यापि च) त्रसकायकी भी (रक्षणात्) रक्षा करनेसे (असुसंरक्षणाख्य) प्राण रक्षणनामक (द्वितीयः प्राण सयम स्यात्) दूसरा प्राण सयम होता है ।

भावार्थ — षट्कायके जीवोंकी हिंसाके दूर करनेको प्राण संयम कहते है । इस प्रकार क्रियाके भेदसे दो प्रकारका सयम माना गया है।

शंका—

ननु किं नु निरोधित्वमक्षाणां मनसस्तथा ।
संरक्षणं च किन्नाम स्थावराणां त्रसस्य च ॥ ११२० ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**अक्षाणां**) इन्द्रियोंका (**तथा**) और (**मनस**) मनका (**निरोधत्वं**) रोकना (**किं नु**) क्या है ? (**च**) तथा (**स्थावराणां**) स्थावरोंकी (**च**) और (**त्रसस्य**) त्रसों की (**संरक्षणं किन्नाम**) रक्षा भी क्या कहलाती है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि इन्द्रिय और मनका निरोध तथा त्रस स्थावरकी रक्षासे क्या प्रयोजन है ।

समाधान—

सत्यमक्षार्थसम्बन्धाज्ज्ञानं नासंयमाय यत् ।
तत्र रागादिबुद्धिर्या संयमस्तन्निरोधनम् ॥११२१॥

अन्वयार्थः—(**सत्यं**) शंकाकारका उपर्युक्त कथन ठीक है क्यों कि (**यत्**) जो (**अक्षार्थ सम्बन्धात्**) इन्द्रियोंके द्वारा अर्थका विषय करनेसे (**ज्ञानं**) ज्ञान (' **भवति** ') होता है वह ज्ञान (**असंयमाय न**) असंयमजनक नहीं होता है किन्तु (**तत्र**) उन विषयोंमे (**या रागादिबुद्धिः**) जो रागादि बुद्धि उत्पन्न होती थी (**तन्निरोधनं**) उसे न होने देना ही (**संयमः**) इन्द्रिय संयम है ।

भावार्थ — ठीक है इन्द्रियज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है एतावता इसे असंयम नहीं कहते है । क्यो कि इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको जानना यह तो विकाश है विकार नहीं है किन्तु इन्द्रियोंके विषयोंमें रागादि बुद्धि कर ज्ञानका रागवान् तथा द्वेषवान् होना ही असंयम है ? और उन विषयोंमें रागादि बुद्धि उत्पन्न न होने देना ही संयम है ।

त्रसस्थावरजीवानां न वधायोद्यतं मनः ।
न वचो न वपुः क्वापि प्राणिसंरक्षणं स्मृतम् ॥ ११२२ ॥

अन्वयार्थः— और (**त्रसस्थावरजीवानां ' मध्ये '**) त्रस तथा स्थावर जीवोंमेसे (**क्वापि**) किसीके भी (**वधाय**) वधके लिये जो (**उद्यतं न मनः**) उद्यत न मन हो (**न वचः**) न वचन हो और (**न वपुः**) न शरीर भी हो वह (**प्राणिसंरक्षणं स्मृतं**) वह प्राणि संयम है ।

भावार्थः— त्रस स्थावर जीवोंके लिये मनवचन और कायका उद्यत न होना प्राण संयम कहलाता है ।

इत्युक्तलक्षणो यत्र संयमो नापि लेशतः ।
असंयतत्वं तन्नाम भावोऽस्त्यौदयिकः स च ॥ ११२३ ॥

अन्वयार्थ— (इति) इस प्रकार (यत्र) जिस अवस्थामें (उक्तलक्षणः) पूर्वोक्त लक्षणवाले (संयम.) संयम (लेशानः अपि न) अंशमात्र भी न हो (तत् असंयतत्वं नाम) वह असंयतत्व भाव है (च) और (सः) वह असंयतत्वभाव पांचों भावोंमेंसे (औदयिकः भाव. अस्ति) औदयिक भाव है।

भावार्थः— पहले छह श्लोकोंमे इन्द्रिय संयम और प्राणसंयम रूपसे दो प्रकारका संयम मयप्याख्याके कहा गया है। और वह संयमभाव क्षायोपशमिक औपशमिक तथा क्षायिकभाव रूप होता है। और उसके प्रतिपक्षी कषायोंके उदयसे उक्त सयमका न होना असंयतत्वभाव कहा जाता है। तथा यह भाव उदयात्मक होनेसे औदायिकभाव कहा जाता है।

शंका--

ननु वाऽसंयतत्वस्य कषायाणां परस्परम्।
को भेदः स्याच्च चारित्रमोहस्यैकस्य पर्ययात् ॥ ११२४ ॥

अन्वयार्थः—(ननु) शंकाकारका कहना है कि (एकस्य चारित्र मोहस्यपर्ययात्) दोनोंको एक चारित्र मोहनीय कर्मका ही पर्याय होनेसे (असंयतत्वस्य) असंयतत्व (वा) और (कषायाणां च) कषायोंका परस्परं को भेदः स्यात्) परस्परमें कौनसा भेद है।

भावार्थः— शंकाकारका कथन है कि जब कषाय और असंयम दोनों ही एक चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे ही होते हैं तो फिर इन दोनोंमें विशेषता क्या है?

समाधान—

सत्यं चारित्रमोहस्य कार्यं स्यादुभयात्मकम्।
असंयमः कषायाश्च पाकादेकस्य कर्मणः ॥ ११२५ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है (चारित्रमोहस्य पाकात्) चारित्रमोहके ही (उभयात्मकं कार्यं स्यात्) दोनों कार्य है क्योंकि (एकस्य कर्मणः पाकात्) एक चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे ही (असंयम.) असयम (च) और (कषायाः सन्ति) कषाय होते है।

पाकाच्चारित्रमोहस्य क्रोधाद्याः सन्ति षोडश ।
नवनोकषायनामानो न न्यूना नाधिकस्ततः ॥ ११२६ ॥

अन्वयार्थ — क्योंकि (चारित्रमोहस्य पाकात्) चारित्रमोहनीयके उदयसे (क्रोधाद्या.) क्रोधादिक (षोडश) सोलह कषाय और (नवनोकषाय नामान) नौ नोकषाय नामक नोकषाय (सन्ति) होते है (तत.) उससे (न न्यूना.) न कम (न अधिकाः) न अधिक, परन्तु—

पाकात्सम्यक्त्वहानिः स्यात्तत्रानन्तानुबन्धिनाम् ।
पाकाच्चाप्रत्याख्यानस्य संयतासंयतक्षतिः ॥ ११२७ ॥

अन्वयार्थ— (तत्र) उनमेंसे (अनन्तानुबन्धिनां पाकात) अनन्तानुबन्धि कषायके उदयसे (सम्यक्त्वहानिः स्यात) सम्यक्त्वका घात होता है (च) और (अप्रत्याख्यानस्य पाकात्) अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे (संयतासंयतक्षति) देशसंयमका घात होता है ।

प्रत्याख्यानकषायाणामुदयात्संयमक्षतिः ।
संज्वलननोकषायै र्न यथाख्यातसंयमः ॥ ११२८ ॥

अन्वयार्थः— (प्रत्याख्यानकषायाणां उदयात्) प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे (संयमक्षति) सकलसंयमका घात होता है और (संज्वलननोकषायै) संज्वलन तथा नोकषायोंके उदयसे (यथाख्यातसंयम न 'भवति,) यथाख्यात सयम नहीं होपाता है ।

इत्येवं सर्ववृत्तान्तः कारणकार्ययो र्द्वयोः ।
कषायनोकषायाणां संयतस्येतरस्य च ॥ ११२९ ॥

अन्वयार्थः — (इत्येवं) इस प्रकार (कषाय नोकषायाणां) कषाय नोकषाय (च) और (संयतस्येतरस्य) सयतके उलटे असंयत (द्वयो) इन दोनोंके (कारणकार्ययोः) कारण कार्यभावका यह (सर्व वृत्तांन्तः) सब कथन परस्परमें सिद्ध होता है।

भावार्थ— कषायके दो भेद है १ कषाय २ नोकषाय । कषायके १६ अवान्तर भेद होते है और नोकषायके नों होते है। इस तरह इन पच्चीसोंको ही सामान्यरूपसे कषाय कहते है। कषायके अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ऐसे चार विभाग भी है । उनमेंसे अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक सम्यक्त्वके, अप्रत्या-

ख्यानावरण क्रोधादिक देशसंयमके, प्रत्याख्यानावरण क्रोधादिक सकलसंयमके और संज्वलन तथा नोकषाय यथाख्यात संयमके घातक हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोधादिकके उदयमें यथासंभव शेष क्रोधादिकका तथा नोकषायका भी उदय रहता है। इसी तरह आगेके अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादिकके उदयमें भी उत्तरवर्ती क्रोधादिक तथा यथासंभव नोकषायका उदय समझना चाहिये।

इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि चौथे गुणस्थानतक पूर्ण रूपसे असंयमभाव होता है। और आगेके गुणस्थानोंमें जबतक पूर्ण रीतिसे कषायोंका अभाव न हो जाय तबतक विवक्षित २ कषायोंके उदयसे विवक्षित २ चारित्र न होने रूप एक प्रकारका आंशिक असंयतत्व रहता है। इस लिए यद्यपि कषाय और असंयम ये दोनों ही एक चारित्रमोहके उदयमें होते हैं तथापि इन दोनोंमें सामान्यरूपसे वा विशेषरूपसे भी परस्परमें कारण कार्यभाव है। कषाय कारण है तथा असंयम उसका कार्य है। यही दोनोंमें अन्तर है।

किन्तु तच्छक्तिभेदाद्वा नासिद्धं भेदसाधनम्।
एकं स्याद्वाप्यनेकं च विषं हालाहलं यथा ॥ ११३० ॥

अन्वयार्थ-- (किन्तु) तथा (तच्छक्तिभेदाद्वा) चारित्र-मोहनीयकी शक्तिके भेदसे भी (भेदसाधनं) कषाय और असंयममें भेदका सिद्ध होना (असिद्धं न) असिद्ध नहीं है (यथा) जैसे कि (हालाहलं विषं) हालाहल विष (एकं च अपि) एक होकर भी शक्तिके भेदसे (अनेकं वा स्यात्) अनेक भी कहा जाता है।

भावार्थः— तथा जैसे एकही विष शक्तिके भेदसे विष और हालाहल कहलाता है वैसे ही एक ही चारित्रमोह शक्तिके भेदसे कषाय तथा असंयमभावका जनक है।

अस्ति चारित्रमोहेऽपि शक्तिद्वैतं निसर्गतः।
एकंचाऽसंयतत्वं स्यात् कषायत्वमथापरम् ॥ ११३१ ॥

अन्वयार्थ.—(चारित्रमोहेऽपि) चारित्र-मोहमें भी (निसर्गतः) स्वभावसे (शक्तिद्वैतं अस्ति) दो प्रकारकी शक्तियां हैं उनमेंसे (एकं च असंयतत्वं) एक असंयतत्वरूप है (अथ) और (अपरं) दुसरी (कषायत्वं स्यात्) कषायत्व रूप है।

भावार्थ— जिस प्रकार अनन्तानुवन्धी कर्ममें सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण चारित्रके घातनेकी स्वभावसिद्ध दो प्रकारकी शक्तिया हैं उसी प्रकार चारित्र-मोहमें भी कषायत्व और और असंयतत्व इन दोनोंको भिन्न २ रूपसे औदयिकभाव कहा है।

शंका।

ननु चैवं सति न्यायात्तत्संख्या चाभिवर्धताम् ।
यथा चारित्रमोहस्य भेदाः षड्विंशतिः स्फुटम ॥ ११३२ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु च**) शङ्काकारका कहना है (**एव सति**) ऐसा माननेपर तो (**न्यायात्**) न्यायानुसार (**तत्संख्या च अभिवर्धतां**) चारित्रमोहनीयके उत्तर भेदोंकी भी संख्या अधिक मानना चाहिये (**तथा**) और फिर (**चारित्रमोहस्य**) चारित्रमोहके (**स्फुट**) स्पष्ट रीतिसे (**षड्विंशति–भेदाः स्युः**) छब्बीस भेद होना चाहिये ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि कार्य भेदसे कारणभेद प्रतीत होता है। इस लिए जब कि असंयतत्व और कषायत्व चारित्र मोहके जुदे २ कार्य है तो फिर उसकी संख्या भी पच्चीस न होकर छब्बीस क्यों न मानना चाहिये ?

समाधान—

सत्यं यज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणाः ।
आलापापेक्षयाऽसंख्यास्तत्रैवान्यत्र न क्वचित ॥ ११३३ ॥
नात्र तज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणाः ।
किंतु शक्तिविशेषोस्ति सोपि जात्यन्तरात्मकः ॥ ११३४ ॥

अन्वयार्थः— (**सत्यं**) ठीक है परन्तु (**यत्र**) जहापर (**यत् जातिभिन्नाः**) जिसकी भिन्न जातिवाली (**ताः कार्माणवर्गणाः सन्ति,**) कार्माण वर्गणाएँ होती है (**तत्रैव**) वहांपर ही (**आलापापेक्षया संख्या**) आलापकी अपेक्षासे संख्या मानी जाती है (**अन्यत्र क्वचित् न**) और कहीं नहीं तथा (**अत्र**) यहांपर चारित्रमोहमें (**तज्जातिभिन्ना**) उस जातिकी पृथक् (**ताः कार्माणवर्गणाः**) वे कार्माण वर्गणायें (**न सन्ति**) नहीं है (**किंतु**) किंतु (**शक्तिविशेषः अस्ति**) शक्तिविशेष है और (**सोऽपि**) वह भी (**जात्यन्तरात्मकः**) जात्यन्तररूप है।

भावार्थः— चारित्र मोहकी छब्बीस संख्या मानना ठीक नहीं है। क्यों कि जिस प्रकारसे क्रोधादिककी भिन्न भिन्न जातीवालीं कार्माण वर्गणाएं हैं उस प्रकारसे संयमको घात करनेके लिये चारित्रमोहमें भिन्न जातिवालीं कार्माण वर्गणाए नहीं है। जबतक भिन्न जातिवालीं कार्माण वर्गणाए न हो तबतक चारित्रमोहकी उत्तर प्रकृतियोंमें आलाप की अपेक्षासे संख्याकी वृद्धि नहीं मानी जा सक्ती है। किन्तु अनन्तानुबन्धीकी तरह चारित्रमोहमें कषायत्व और असंयमभावकी जनक भिन्न जातिरूपसे दो प्रकारकी शक्ति ही है। और वह जात्यन्तररूप होनेसे कषाय व असंयम कहीं जाती है।

तत्र यन्नाम कालुष्यं कषायाः स्युः स्वलक्षणम्।
व्रताभावात्मको भावो जीवस्यासंयमो मतः ॥ ११३५ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उनमेंसे (यत् कालुष्य नाम) जो कलुषितपणा है वही (कषायाः स्युः) कषाय है और (जीवस्य) जीवका (व्रताभावात्मक भावः) व्रतके अभावरूप जो भाव है वह (असंयमो मतः) असंयम माना गया है यही (स्वलक्षण) कषायके दोनों लक्षण है।

भावार्थः— आत्माके उत्तम क्षमादिक धर्मोंमें जो कलुषता होती है उसे कषाय और व्रतोंके अभावको असंयम कहते है।

एतद्द्वैतस्य हेतुः स्याच्छक्तिद्वैतैककर्मणः।
चारित्रमोहनीयस्य नेतरस्य मनागपि ॥ ११३६ ॥

अन्वयार्थः— (एतद्वैतस्य) इन अव्रत और कषायोंका (हेतुत्वं) हेतुपना (शक्तिद्वैतैक कर्मणः) दो प्रकारकी है शक्ति जिसमें ऐसे एक कर्म (चारित्रमोहनीयस्य) चारित्रमोहका ही है (इतरस्य मनाक् अपि न) दूसरे कर्मको किंचित भी हेतुत्व नहीं है।

भावार्थः— अव्रत और कषायमें कारण केवल चारित्रमोह ही है और कोई दूसरा कर्म नहीं है। उसी एक चारित्रमोहनीयमें कषाय तथा असंयमको उत्पन्न करनेकी शक्तियां हैं।

यौगपद्यं द्वयोरेव कषायासंयतत्वयोः।
समं शक्तिद्वयस्योच्चैः कर्मणोऽस्य तथोदयात् ॥ ११३७ ॥

अन्वयार्थः— और (**द्वयोरेव**) इन दोनों (**कषायासंयतत्वयो.**) कषाय तथा असयतपनेमें (**यौगपद्यं**) यौगपद्य है क्योंकि (**उच्चैः**) वास्तवमें (**समं**) युगपत् (**शक्तिद्वयस्य**) उक्त दोनों ही शक्तिवाले (**अस्य कर्मणः**) इस चारित्रमोहनीय कर्मका ही (**तथोदयात्**) उस रूपसे उदय होता है ।

भावार्थः— कषाय और असंयमका भिन्न काल नहीं है । एकही कालमें उभय शक्ति विशिष्ट चारित्रमोहका उदय रहनेसे चौथे गुणस्थानतक कषाय तथा असंयम युगपत् पाये जाते है । तथा आगे भी यथायोग्य समझना चाहिये ।

अस्ति तत्रापि दृष्टान्तः कर्मानन्तानुबन्धि यत् ।
घातिशक्तिद्वयोपेतं मोहनं दृक्चारित्रयोः ॥ ११३८ ॥

अन्वयार्थः—(**यत्**) जो (**घातिशक्ति द्वयोपेतं**) दो प्रकारकी घातकशक्तिसे युक्त (**दृक् चारित्रयोः मोहन**) दर्शन और चारित्रको मूर्छित करनेवाला (**कर्मानन्तानुबन्धि**) अनन्तानुबन्धी कर्म है वह (**तत्र**) कषाय तथा असंयमकी शक्तिवाले चारित्रमोह कर्मका (**दृष्टान्तः अपि अस्ति**) दृष्टान्त भी है ।

भावार्थः— जैसे स्वरूपाचरण और सम्यक्त्वको युगपत् घातनेकी शक्ति अनन्तानुबन्धिमें है वैसे ही कषाय व असंयमकी शक्ति चारित्रमोहमें है ऐसा समझना चाहिये ।

शंका—

ननु चाप्रत्याख्यानादिकर्मणामुदयात् क्रमात् ।
देशकृत्स्नव्रतादीनां क्षतिः स्यात्तत्कथं स्मृतौ ॥ ११३९ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु च**) शंकाकारका कहना है कि (**स्मृतौ**) आगममें ऐसा कथन है कि (**अप्रत्याख्यानादि कर्मणः**) अप्रत्याख्यानावरणादिक कर्मोंके (**क्रमात् उदयात्**) क्रमपूर्वक उदय होनेसे (**देशकृत्स्नव्रतादीनां**) देशसयम, सकलसंयम आदिका (**क्षतिः स्यात्**) घात होता है (**तत्कथं**) वह कैसे बनेगा—सिद्ध होगा ?

भावार्थः— शंकाकारका कथन है कि आगममे अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे देशसंयमका, प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे सकल संयमका और संज्वलन तथा नोकषायके उदयसे यथाख्यात संयमका घात होता है

ऐसा कथन है। इस लिए अप्रत्याख्यानावरणादिकही असंयमके कारण ठहरते है। किन्तु यहांपर सम्यक्त्व व चारित्रको घातनेरूप दोनों शक्तियोंको एक अनन्तानुवन्धीमें ही बताया है। अतः इस कथनमें आगमसे वाधा क्यों न आयगी ?

समाधान--

सत्यं तत्राविनाभावो बन्धसत्वोदयं प्रति ।
द्वयोरन्यतरस्यातो विवक्षायां न दूषणम् ॥ ११४० ॥*

अन्वयार्थः— (**सत्यं**) ठीक है परन्तु (**तत्र बन्धसत्वोदय प्रति अविनाभावः**) मिथ्यात्वके बन्ध उदय और सत्वके साथ, अनन्तानुबन्धी कषायका अविनाभाव है (**अतः**) इस लिए (**द्वयोः अन्यतरस्य विवक्षायां दूषणं न**) दोमेंसे किसी एककी विवक्षा करनेसे उक्त जो शङ्काकारने दोप बताया है वह दोप नहीं ठहरता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक है कि जब दर्शनगुण, चारित्रगुण दोनों ही गुणोंको घातनेकी शक्ति अनन्तानुबन्धीमे है तो देशव्रत सकलव्रत और यथाख्यात संयमके घातनेकी शक्ति क्रमसे आगममें अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनमें क्यों बताई है इसका उत्तर यह है कि मिथ्यात्वकर्मके साथ ही अनन्तानुबन्धी कषायके बंध उदय और सत्ताका अविनाभाव है जब मिथ्यात्वकर्मका वंध वगैरह होता है तब अनन्तानुबन्धीका भी होता है इस लिए मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके कार्यका पृथक् २ कथन न करके विवक्षावश अनन्तानुबन्धीको दोनोंका [सम्यक्त्व चारित्रका] घातक कह दिया है इस विवक्षापर ध्यान देनेसे उक्त आगमकी बाधाका परिहार होजाता है।

असिद्धत्वं भवेद्भावो नूनमौदयिको यतः ।
व्यस्ताद्वा स्यात्समस्ताद्वा जातः कर्माष्टकोदयात् ॥ ११४१ ॥

अन्वयार्थः— (**असिद्धत्वं भाव**) असिद्धत्व भाव (**नूनं**) निश्चय करके (**औदयिकः भवेत्**) औदयिक भाव होता है (**यतः**) क्यों कि (**व्यस्तात्**) असमस्त रूपसे (**वा**) अथवा (**समस्ताद्वा**) समस्त रूपसे (**कर्माष्टकोदयात् जातः स्यात्**) आठों कर्मोंके उदयसे होता है।

---

* विशेष परिशिष्टमें देखो।

भावार्थः— मिथ्यादृष्टि जीवके आठों कर्मोंका उदय रहता है इससे वह असिद्ध कहा जाता है। और आगे २ के गुणस्थानोंमें यद्यपि क्रम २ से कुछ कम कर्मोंका भी उदय रहता है तब भी यह जीव मुक्त न कहलाकर असिद्ध ही कहलाता है। यहातक कि १४ वें गुणस्थानतक भी असिद्ध-ससारी कहा जाता है। इस लिए व्यस्त किंवा समस्त रूपसे आठों कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण यह असिद्धत्व भाव भी औदयिक-भाव कहा जाता है।

सिद्धत्वं कृत्स्नकर्मभ्यः पुंसोवस्थान्तरं पृथक्।
ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकम् ॥ ११४२ ॥
नेदं सिद्धत्वमत्रेति स्यादसिद्धत्वमर्थतः।
यावत्संसारसर्वस्वं महानर्थास्पदं परम ॥ ११४३ ॥

अन्वयार्थः— (पुंसः) आत्माकी (कृत्स्नकर्मभ्यः) सम्पूर्ण कर्मोंसे (पृथक्) भिन्न-रहित (ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकं) ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, वीर्य आदि आठ गुणस्वरूप (अवस्थान्तरं) अवस्थान्तर-- शुद्ध अवस्थाका होना ही (सिद्धत्वं) सिद्धत्व कहलाता है और (अत्र) संसार अवस्थामें (इदं सिद्धत्वं न) यह उक्त सिद्धभाव नहीं होता है (इति) इस कारणसे यह (असिद्धत्व स्यात्) असिद्धत्व कहलाता है (अर्थतः) वास्तवमें (यावत्ससारसर्वस्व) जितना भी संसारसर्वस्व है वह सब (पर) केवल (महानर्थास्पदं) महा अनर्थकी जड है।

भावार्थ— इन दो पद्योंसे असिद्धत्वका निरुक्त्यर्थ बताया गया है। सिद्धत्व शब्दका अर्थ आत्माकी अष्ट कर्म रहित अष्ट गुण सहित शुद्ध अवस्था है। जबतक आत्मा इस अवस्थाको प्राप्त न करले तबतक उसके असिद्धत्व भाव ही कहा जाता है, क्योंकि मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थानके उपान्त समयतक संसार अवस्था मानी जाती है। निश्चयनयसे यह अवस्था अनुपादेय है पाप व पुण्य किसी भी प्रकृतिका उदय आत्माके लिये बन्धन का कारण है। इस लिए इस अवस्थाको महान् अनर्थकी जड कहा है।

लेश्या षडेव विख्याता भावा औदयिकाः स्मृताः।
यस्माद्योगकषायाभ्यां द्वाभ्यामेवोदयोद्भवाः ॥ ११४४ ॥ १५०४

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (अध्यक्षात्) प्रत्यक्षसे (इह) यहांपर (प्राणि
नां) प्राणियोंको (गृहवनितादौ सति) घर स्त्री आदिके रहनेपर (सुखं भवति) सुख होता है (च) और
(तत्र असति) उन घर स्त्री आदिके न रहनेपर (तदिदं न) वह यह सुख नहीं होता है (तत्) तिस कारणसे
(स एव) वह जीवही (तत्कर्ता) उन गृहवनितादिकका कर्ता और (तद्भोक्ता) उसका भोक्ता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जीव परभावोंका कर्ता तथा भोक्ता है इसको नयाभास कहना
ठीक नहीं है। क्योंकि यह वात प्रत्यक्ष है कि घरद्वार स्त्री पुत्रादिकके रहनेपरही प्राणियोंको सुख होता है। और उनके
न रहनेपर सुख वगैरह नहीं होता है। इसलिए जीवही उसका कर्ता भोक्ता है। अर्थात जीवही अपनी सुखसामग्रीका
कर्ता तथा भोक्ता है। ऐसा माननेमें क्या दोष है। समाधान।

सत्यं वैषयिकमिदं परमिह तदपि न परत्र सापेक्षम्।
सति वहिरर्थेपि यतः किल केषांचिदसुखादिहेतुत्वात् ॥ ५८३ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है कि (इह) यहांपर (इदं) यह सांसारिक सुख (परं) केवल (वै-
षयिकं) वैषयिक है (तदपि) तोभी (परत्र) परविषयमें (सापेक्षं न) सापेक्ष नहीं है (यतः) क्योंकि
(किल) निश्चयसे (वहिरर्थे सति अपि) बाह्य पदार्थोंके होते हुए भी (केषांचित्) किन्हींको वे गृहवनितादिक
(असुखादिहेतुत्वात्) असुखादिकके कारण होते हैं।

भावार्थः— ठीक है, यह सब सांसारिक सुख वैषयिक है। और इन वैषयिक सुखोंमें ऐसी व्याप्ति नहीं
रहती है कि बाह्य पदार्थरूप स्त्री पुत्रादिकोंके रहनेसे सबको सुखही प्राप्त होगा। क्योंकि जब दुष्ट स्त्री पुत्रादिकोंका
अशुभ कर्मके उदयसे संयोग हो जाता है। तब इन्हींके कारण दुःख भी होता देखा जाता है। अतः इनके साथमें सुख
की व्याप्ति नहीं कहा जा सकती है। और न, इनके रहते हुए सबको सुख होताही है ऐसा कहना भी निर्दोष कहा जा
सकता है। इसप्रकारसे सिद्ध होता है कि जीवको परपदार्थोंका कर्ता तथा भोक्ता कहना नय नहीं है। किन्तु नयाभास है।
आगे-ग्रन्थकार इस सब कथनका तात्पर्य बताते हुए अन्य नयाभासका विचार करते हैं।

तात्पर्य।

इदमत्र तु तात्पर्यं भवतु स कर्त्ताथ वा च मा भवतु।

भोक्ता स्वस्य परस्य च यथाकथंचचिदात्मको जीवः ॥ ५८४ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र इद तात्पर्यं) यहांपर यह तात्पर्य है कि (सः) वह जीव (स्वस्य) अपना (च) और (परस्य) परका (कर्त्ता) कर्त्ता (च) तथा (भोक्ता) भोक्ता (भवतु) होवे (अथवा) अथवा (मा भवतु) नहीं होवे किंतु (जीव) जीव (यथाकथंचित्) जिस किसी भी प्रकारसे (चिदात्मकः)चिदात्मकही है।

भावार्थ — साराश यह है कि जीव, व्यवहारमें परपदार्थोंका कर्ता व भोक्ता सिद्ध हो अथवा न हो इससे हमें कुछ प्रयोजन नहीं है। किन्तु प्रयोजन तो, यहांपर हमको अध्यात्मवादसे सिर्फ इतनाही है कि वह जीव जिस किसी भी प्रकारसे चिदात्मकही है। कारण, यह तो कहा जा चुका है कि प्रत्येक कार्यकी पूर्व पर्याय ही कर्तापनेकी आधकारी है। अतः जीवकी संपूर्ण पर्यायें कभी अपने चेतनत्वको नहीं छोडती हैं, अतः वास्तवमें जीवके निज भावोंका अध्यात्मवादसे आत्माही कर्ता है व कर्ताके समान निजभावोंका भोक्ता आत्माही हैं।

४ चौथा नयाभास।

अयमपि च नयाभासो भवति मिथो बोध्यबोधसम्बन्धः।
ज्ञानं ज्ञेयगतं वा ज्ञानगतं ज्ञेयमेतदेव यथा ॥ ५८५ ॥

अन्वयार्थ — (अय अपि च) यहभी (नयाभास भवति) नयाभास है कि (मिथः) ज्ञान और ज्ञेयमें परस्पर (बोध्यबोधसम्बन्धः) बोध्यबोधक सम्बन्ध है (यथा) जैसे कि (ज्ञानं) ज्ञान (ज्ञेयगतं) ज्ञेयगत है (वा) अथवा (एतत् ज्ञेय एव) यह ज्ञेयही (ज्ञानगत) ज्ञानगत है।

भावार्थः— बोध्यबोधक सम्बन्धमें ज्ञानको ज्ञेयगत कहना और ज्ञेयको ज्ञानगत कहनाभी नयाभास है।

क्योंकि।

चक्षु रूपं पश्यति रूपगतं तन्न चक्षुरेव यथा।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति च ज्ञेयगतं वा न भवति तज्ज्ञानम् ॥ ५८६ ॥

अन्वयार्थ — (यथा) जैसे (चक्षुरूप पश्यति) चक्षुरूपको देखता है परन्तु (तत् चक्षुरेव रूपग-

तं न) वह चक्षुही स्वयं रूपगत नहीं होजाता है वैसेही (ज्ञान) ज्ञान (ज्ञेयं अवैति) ज्ञेयको जानता है (च) किंतु (तज्ज्ञानं) वह ज्ञानही स्वयं (ज्ञेयगतं न वा भवति)ज्ञेयगत नहीं होजाता है।

भावार्थ.— जैसे चक्षु, रूपको देखता है एतावता वह चक्षु कुछ रूपगत नहीं हो जाता है। वैसेही ज्ञान ज्ञेयको जानता है एतावता वह ज्ञान ज्ञेयगत नहीं हो जाता है। इसलिए बोध्यबोधक सम्बन्धसे ज्ञानको ज्ञेयगत कहना नयाभास है। ज्ञेयको ज्ञानगत कहने बावत ग्रन्थकारने कुछ नहीं लिखा है।

उपसंहार।

इत्यादिकाश्च बहवः सन्ति यथालक्षणा नयाभासाः।
तेषामयमुद्देशो भवति विलक्ष्यो नयान्नयाभासः ॥ ५८७ ॥

अन्वयार्थ — (इत्यादिकाश्च) इत्यादिक (बहव) बहुतसे (यथालक्षणा) अपने २ लक्षणानुसार (नयाभासाः सन्ति) नयाभास है और (नयात्) नयसे (नयाभास) नयाभास (विलक्ष्यो भवति) विलक्षण होते हैं (अयं) यह (तेषां) उनका (उद्देशः) उद्देश है अर्थात नयसे विलक्षणको नयाभास कहते है।

भावार्थः— इत्यादिक बहुतसे अपने २ लक्षणानुसार जो और भी नयभास हैं उन्हें नय नहीं समझना चाहिये किन्तु नयोंसे विलक्षण होनेके कारण उन्हें नयाभास जानना चाहिये। जो नयके समान तो मालुम पडते हो परन्तु जिनमें 'तद्गुण संविज्ञान, इत्यादि नयका लक्षण नहीं घटता हो उन्हें नयाभास कहते है।

इसप्रकार प्रकरणवश कुछ नयाभासोंको बता करके ग्रन्थकार अब फिरसे अपने प्रकृत विषय नयके निरूपणपर आते है।

शंका।

ननु सर्वतो नयास्ते किं नामानोऽथवा कियन्तश्च।
कथमिव मिथ्यार्थास्ते कथमिव ते सन्ति सम्यगुपदेश्याः ॥ ५८८ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (सर्वतः) सब प्रकारसे (ते नयाः) वे नय (किं नामानः) कौनसे नामवाले (अथ और (कियन्तः वा) कितने है (च) तथा (कथमिव) किसतरह (ते) वे (मिथ्यार्था.) मिथ्या अर्थवाले होते है और (कथमिव) किस तरह (ते) वे (सम्यगुपदेश्याः सन्ति) सम्यक् उपदेश करनेके योग्य अर्थात सम्यक् कहे जानेवाले होते है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जब नयके साथ नयाभास भी हो सकते हैं तो कृपाकर यही भले प्रकार बताईये कि सम्पूर्ण नय कितनें हैं और उनके क्या नाम है तथा किस प्रकारसे वे मिथ्या और समीचीन नय कहलानेके योग्य होते हैं।

समाधान।

सत्यं यावदनंताः संति गुणा वस्तुतो विशेषाख्याः।
तावन्तो नयवादा वचोविलासा विकल्पाख्याः ॥ ५८९ ॥
अपि निरपेक्षा मिथ्यास्त एव सापेक्षका नयाः सम्यक्।
अविनाभावत्वे सति सामान्यविशेषयोश्च सापेक्षात् ॥ ५९० ॥

अन्वयार्थ —(सत्यं) ठीक है क्योंकि (वस्तुत) परमार्थ रीतिसे वस्तुमें (विशेषाख्या) विशेपनामवाले (यावत् अनन्ताः गुणाः सन्ति) जितने अनंत गुण हैं उनमें जितनें (विकल्पाख्याः) विकल्प-सहित (वचोविलासा) वचन विलास है (तावन्तः) उतनेही (नयवादाः) नयवाद हैं (अपि) और उनमें जो (निरपेक्षा) निरपेक्ष नय हैं (ते एव) वेही नय (मिथ्या) मिथ्या है (च) तथा (सापेक्षकाः) सापेक्ष (नयः) नय (सम्यक्) सम्यक् है क्योंकि (सामान्यविशेषयो) सामान्य और विशेपमें (अविनाभावत्वे-सति) अविनाभाव रहते हुए (सापेक्षात्) परस्पर सापेक्षपना है।

भावार्थः— ठीक है! वास्तवमें वस्तुमें अनन्त गुण हैं। इसलिए उनके जितने विकल्पसहित वचनविलास हो सकते है उतनेही नय हो सकते हैं। तथा जैनसिद्धातमें सामान्य और विशेषको परस्पर सापेक्ष माना है। क्योंकि सामान्य तथा विशेपमें अविनाभाव सम्वन्ध है। इसलिए नयकेद्वारा सामान्य कथन विशेष सापेक्ष और विशेष कथन सामान्यसापेक्ष कहा जाता है। अतएव परस्पर सापेक्षनय समीचीन नय, तथा परस्पर निरपेक्ष, नय, मिथ्यानय कहे जाते हैं।

खुलासा।

सापेक्षत्वं नियमादविनाभावस्त्वनन्यथासिद्धः।
अविनाभावोपि यथा येन विना जायते न तात्सिद्धिः ॥ ५९१ ॥

अन्वयार्थः— (नियमात्) नियमसे (सापेक्षत्व) सापेक्षपनाही (तु) तो (अनन्यथासिद्धः अवि-

भाव) अनन्यथा सिद्ध अविनाभाव है अर्थात् अविनाभावका द्योतक है और वह (**अविनाभावः अपि**) अविनाभावभी (**यथा**) जैसे (**येन विना**) जिसके विना (**तत्सिद्धः न जायते**) उसकी सिद्धि न हो उसे कहते हैं।

भावार्थ.— उन नयोंकी परस्पर सापेक्षता उन नयोंके अन्यथारूपसे न होनेवाले अविनाभावकी द्योतक है। कारण कि जिसके विना जिसकी सिद्धि न हो उसे अविनाभाव कहते हैं। अर्थात् सामान्यके विना विशेषकी तथा विशेषके विना सामान्यकी सिद्धि नहीं होती है। इसलिए सामान्यको विषय करनेवाला जो द्रव्यार्थिक नय है और विशेषको विषय करनेवाला जो पर्यायार्थिक नय है। उन दोनोंमें परस्पर सापेक्षपना है।

गुणोंके अनुसार नयोंके नाम।

अस्त्युक्तो यस्य सतो यन्नामा यो गुणो विशेषात्मा।
तत्पर्यायविशिष्टास्तन्नामानो नया यथाम्नायात् ५९२ ॥

अन्वयार्थः— (**यस्य सतः**) जिस सतका (**यन्नामा**) जिस नामवाला (**यः**) जो (**उक्तः**) कहा-गया (**विशेषात्मा**) विशेषरूप (**गुणः अस्ति**) गुण होता है (**तत्पर्यायविशिष्टा**) उस गुणकी पर्यायविशिष्ट (**तन्नामान.**) उसी नामवाले (**यथाऽम्नायात्**) आम्नायके अनुसार (**नया**) नय होते हैं।

भावार्थः— आम्नायको उलंघन न करके जिस द्रव्यके जिस नामवाले जो २ विशेपात्मक-अनुजीवी गुण होते हैं। उन २ गुणोंकी पर्यायसे-अंशकल्पनासे विशिष्ट उसी नामवाले नय होते है अर्थात् विशेष शब्द गुणवाचकही है। इस लिए यहांपर जो विशेषात्मा शब्द दिया है उसका अनुजीवीगुण यह अर्थ करना चाहिए। तथा पर्याय शब्द अंशकल्पना-वाचक है। इसलिए 'तत्पर्यायविशिष्टा' इस शब्दका यह अर्थ करना चाहिए कि उन अनुजीवी गुणोंकी अंशोंकी कल्पनासे युक्त उसही नामके नय होते हैं।

सारांश यह है कि द्रव्यमें जितने गुण है उतनेही उन गुणोंकी अपेक्षासें उन गुणोंके नामानुसार नय कहे जासकते है।

अस्तित्व नय।

अस्तित्वं नाम गुणः स्यादिति साधारणः सतस्तस्य।
तत्पर्यायश्च नयः समासतोऽस्तित्वनय इति वा ॥ ५९३ ॥

अन्वयार्थ.— (**तस्य मतः**) उस सवका (**अस्तित्वं नाम**) अस्तित्वनामका (**साधारणः इति गुणः स्यात्**) साधारण गुण है इसलिए (**तत्पर्याय नयः च**) उस गुणके द्वारा पर्याय-अंशकल्पनावाला नयभी (**समासतः**) सक्षेपरीतीसे (**अस्तित्व नयः इति वा**) अस्तित्व नय कहलाता है ।

भावार्थः— द्रव्यका आस्तित्व यह साधारण गुण है । इसलिए अस्तित्व गुणके मुखसे जो द्रव्यको अस्तित्व-वान कहा जाता है वह अस्तित्वनय कहलाता है। क्योंकि अस्तित्वगुणके द्वारा अस्तित्वरूप अंशोंकी कल्पना करके पदार्थ को अस्तित्ववान कहा गया है । इसी प्रकार जितने भी गुण हैं उन सबके द्वारा होनेवाली अंशकल्पनाको नय कहसकते है।

कर्तृत्वनय ।

कर्तृत्वं जीवगुणास्त्वथ वैभाविकोऽथवा भावः ।
तत्पर्यायविशिष्टः कर्तृत्वनया यथा नाम ॥ ५९४ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ**) अब दूसरा उदाहरण बताते है कि (**कर्तृत्व**) कर्तृत्व नामका (**जीवगुणः**) जीवका गुण (**अथवा**) अथवा (**वैभाविकः भावः**) वैभाविकभाव (**अस्तु**) है इसलिए (**तत्पर्यायविशिष्टः**) उस गुणकी पर्यायसे विशिष्ट अर्थात् उसके निमित्तसे होनेवाली अंशकल्पनावाला (**यथानाम**) अपने नामानुसार (**कर्तृत्वनयः**) कर्तृत्वनय कहलाता है ।

भावार्थः— कर्तृत्व यह जीवका गुण अथवा जीवका वैभाविक भाव है । इसलिए उसके निमित्तसे जीवमे जो अंशकल्पना की जाती है उसको कर्तृत्वनय कहते हैं । उपसंहार ।

अनया परिपाट्या किल नयचक्रं यावदस्ति बोधव्यम् ।
एकैकं धर्मं प्रति नयोपि चैकैक एव भवति यतः ॥ ५९५ ॥

अन्वयार्थ—(**किल**) निश्चयकरके (**अनया परिपाट्या**) इसी परिपाटीसे (**यावत् नय चक्रं अस्ति**) जितनाभी नयचक्र है वह सब [**बोधव्य**) जान लेना चाहिए (**यतः**) क्योंकि (**एकैकं धर्मं प्रति**) एक एक धर्मके प्रति [**नयोऽपि च**] नयभी (**एकैक एव भवति**) एक एकही होता है ।

भावार्थः—द्रव्यमें जितनें धर्म हैं उतनेही सम्पूर्ण नय हैं । इसलिए इसी परिपाटीसे उन सब गुणोंके नामा-

नुसारही सम्पूर्ण नयचक्र लगाना चाहिये। क्योंकि द्रव्यके एक २ धर्मके प्रति नय भी एक २ हो जाता है।

व्यवहारनय।

सोदाहरणो यावान्नयो विशेषणविशेष्यरूपः स्यात्।
व्यवहारापरनामा पर्यायार्थो नयो न द्रव्यार्थः ॥५९६॥

अन्वयार्थः— (सोदाहरण) उदाहरण सहित (विशेषणविशेष्यरूप) विशेषण विशेष्यरूप (यावान् नयः स्यात्) जितनाभी नय है वह सब (व्यवहारापरनामा) व्यवहार है दूसरा नाम जिसका ऐसा (पर्यायार्थः नयः) पर्यायार्थिक नय है (द्रव्यार्थ न) द्रव्यार्थिक नय नहीं है।

भावार्थः— इसप्रकार जितने भी उदाहरण सहित विशेषण विशेष्यरूप नय होते है वे सब व्यवहारनामवाले पर्यायार्थिक नयही हैं। द्रव्यार्थिक नय नहीं है। *

द्रव्यार्थिकनय किसे कहते है।

ननु चोक्तलक्षण इति यदि न द्रव्यार्थिको नयो नियमात्।
कोऽसो द्रव्यार्थिक इति पृष्टास्तच्चिन्हमाहुराचार्याः ॥ ५९७ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (इति उक्तलक्षणः) इसप्रकार कहा गया है लक्षण जिसका ऐसा नय (यदि) यदि (नियमात्) नियमसे (द्रव्यार्थिकः नयः न) द्रव्यार्थिक नय नहीं है तो (असौ द्रव्यार्थिकः कः) यह द्रव्यार्थिक नय कौन है (इति) इसप्रकारसे (पृष्टाः) पूंछे गये (आचार्याः) आचार्य (तच्चिन्हं) उसके चिन्हको- लक्षणको (आहुः) कहते है।

भावार्थः— यदि सोदाहरण विशेषणविशेष्यरूप सबही नय नियमसे पर्यायार्थिक नयही हैं द्रव्यार्थिक नय नहीं है तो बताइये द्रव्यार्थिकनय किसे कहते हैं इसप्रकार शंकाकारके द्वारा पूंछे जानेपर आचार्य द्रव्यार्थिक नयके लक्षणको कहते है।

---

* ग्रंथकारने अस्तित्वनय, कर्तृत्वनय इत्यादि रूपसे नयोंका स्वरूप दर्शाया है। नैगमादि रूपसे नयोंका निरुपण नहीं किया है। कारण अध्यात्मवादका प्रकरण है।

द्रव्यार्थिक नयका लक्षण।

व्यवहार : प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः।
व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात् ॥५९८॥

अन्वयार्थ — (**व्यवहारः**) व्यवहारनय (**प्रतिषेध्य**) प्रतिषेध्य है (**च**) और (**तस्य प्रतिषेधक**) उसका प्रतिषेधक है (**परमार्थ**) निश्चयनय है अर्थात् जो (**व्यवहारप्रतिषेध**) व्यवहारनयका निषेध है [**स एव**) वही (**निश्चयनयस्य वाच्य स्यात्**) निश्चयनयका वाच्य है।

भावार्थः— व्यवहारनय प्रतिषेध करनेके योग्य है और उसका जो प्रतिषेधक है वही द्रव्यार्थिक नय है। अर्थात् जो व्यवहारनयका प्रतिषेध है वही निश्चयनयका (द्रव्यार्थिक नयका) वाच्य होता है '

सारांश यह है कि व्यवहारनय प्रतिषेध्य और निश्चयनय प्रतिषेधक होता है। इसलिए व्यवहारनयके निषेध करनेवानेको द्रव्यार्थिक नय कहते है।

उदाहरण।

व्यवहारः स यथा स्यात्सद्द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा।
नेत्यतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपातिः ॥ ५९९ ॥

अन्वयार्थः— (**यथा**) जैसे (**सत् द्रव्यं स्यात्**) सत द्रव्य है (**वा**) अथवा (**ज्ञानवांश्च जीवः**) ज्ञानवान् जीव है इसप्रकारका जो कथन है (**स**) वह (**व्यवहारः**) व्यवहार नय है और (**एतावन्मात्रो न**) इतनाही नहीं है [**इति**] इसप्रकारका जो व्यवहारका निषेधपूर्वक कथन है (**सः**) वह [**नयाधिपतिः**] नयोंका स्वामी [**निश्चयनयः भवति**] निश्चयनय है।

भावार्थ— जैसे कि 'सत् द्रव्य' अथवा 'ज्ञानवान् जीवः' इत्यादि रूपसे जो द्रव्यको सत् तथा जीवको ज्ञानवान कहा गया है। वह उदाहरणपूर्वक विशेषण विशेष्यसम्बन्धसे कहा गया है। इसलिए यह सब व्यवहारनय अर्थात पर्यायार्थिक नय कहलाता है तथा 'न इत्येतावन्मात्रः' अर्थात् द्रव्य केवल सतरूपही नहीं है क्योंकि उसमें और भी प्रमेयत्वादि गुण मौजूद हैं। और जीव केवल ज्ञानवालाही नहीं हैं। क्योंकि और भी उसमें सुखादि अनन्तगुण मौजूद है। इसलिए व्यवहारको प्रतिषेध्यमानकर उसका प्रतिषेध करनेवाला नयोंका अधिपति निश्चयनय कहलाता है।

यही वास्तविक द्रव्यार्थिक नय है। थोडेका अभाव, बहुत रूप तथा बहुतका अभाव थोडे रूप पडता है। इसलिए व्यवहारनयने द्रव्यको अस्तित्वमुखसे सत् व जीवको ज्ञानगुणकी अपेक्षासे जो ज्ञानवान कहाथा सो द्रव्य केवल, सवही नहीं और जीव केवल ज्ञानवानही नहीं है। इसप्रकार निषेध करनेसे उस एक अंशकेविना शेषअंश द्रव्यार्थिक नयके विषय पडते हे। पर्याय, व्यवहार, विशेष ये पर्यायवाचक शब्द हैं। इसलिए सत व ज्ञानवान् आदि व्यवहाररूप विशेषका अभाव इस नयका विषय पडता हैं। द्रव्य, सामान्य ये पर्यायवाचक शब्द हैं। अत. इसे सामान्यनय और द्रव्यार्थिक अथवा अध्यात्म परिभाषासे निश्चयनय कहते हैं। अव आगे-शंकासमाधानपूर्वक निश्चयनयमें विकल्पपनेकी सिद्धि करते हैं।

ननु चोक्तं लक्षणमिह नयोस्ति सर्वोपि किल विकल्पात्मा।
तदिह विकल्पाभावात् कथमस्य नयत्वमिदमिति चेत् ॥ ६०० ॥

अन्वयार्थः— [ननु च] शकाकारका कहना है कि जब [इह] यहांपर [लक्षणं उक्तं] नयका लक्षण यह है कि [किल] निश्चयकरके [सर्वोऽनयः] सवही नय [विकल्पात्मा अस्ति] विकल्पात्मक है [तत् इह] तो फिर यहांपर (विकल्पाभावात्) विकल्पका अभाव होनेसे [अस्य] इस निश्चयनयको [इदं नयत्वं कथ) यह नयपना किसतरह होगा [इति चेत्] यदि ऐसा कहोतो।

भावार्थः— शकाकारका कहना है कि पहले नयका लक्षण विकल्प कहा जा चुका है। परन्तु निश्चयनयको प्रतिपेध्यके अभावरूप माननेसे अर्थात् केवल व्यवहारका प्रतिषेधक माननेसे उसमें विकल्पपना आ नहीं सकता है। साराश यह है, कि विकल्पका अभाव होनेसे निश्चयनयमें नयपना कैसे आसकेगा ?

समाधान।

तन्न यतोस्ति नयत्वं नेति यथा लक्षितस्य पक्षत्वात्।
पक्षग्राही च नयः पक्षस्य विकल्पमात्रत्वात् ॥ ६०१ ॥

अन्वयार्थ — (तन्न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (न इति यथालक्षितस्यच) न इस शब्दके द्वारा जिसकिसी प्रकारसे लक्षित अर्थको भी (पक्षत्वात) पक्ष होनेसे (नयत्व अस्ति) नयपना है (च) कारण (पक्षस्य विकल्पमात्रत्वात्) पक्षको केवल विकल्पात्मक होनेसे (पक्षग्राही) पक्षको-विकल्पको ग्रहण करनेवाला (नयः) नय होता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक नहीं है । क्योंकि नय, पक्षको विषय करता है और पक्ष विकल्पात्मक होता है । इसलिए निश्चयनयमें भा ' न ' इत्याकारक पक्षरूप विकल्पके रहनेके कारण विकल्पपना सिद्ध हो जाता है ।

दोनों नय विकल्पात्मक हैं ।

प्रतिषेध्यो विधिरूपो भवति विकल्पः स्वयं विकल्पत्वात् ।
प्रतिषेधको विकल्पो भवति तथा सः स्वयं निषेधात्मा ॥ ६०२ ॥

अन्वयार्थ— (यथा) जैसे (स्वयं विकल्पत्वात्) स्वय विकल्पात्मक होनेसे (प्रतिषेध्यः) प्रतिषेध्य (विधिरूपः) विधिरूप विकल्प होता है (तथा) वैसे (सः) वह (प्रतिषेधकः) प्रतिषेधकभी (स्वय निषेधात्मा) स्वयं निषेधात्मक (विकल्पः भवति) विकल्प होता है ।

भावार्थ — जैसे प्रतिषेध्य–व्यवहारनय स्वयं विकल्पात्मक होनेसे विधिरूप विकल्प कहलाता है । वैसेही प्रतिषेधक–निश्चयनयभी विकल्पात्मक होनेसे निषेधरूप विकल्प कहलाता है ।

स्पष्टीकरण ।

तल्लक्षणमपि च यथा स्यादुपयोगो विकल्प एवेति ।
अर्थानुपयोगः किल वाचक इह निर्विकल्पस्य ॥ ६०३ ॥
अर्थाकृतिपरिणमनं ज्ञानस्य स्यात् किलोपयोग इति ।
नार्थकृतिपरिणमनं तस्य स्यादनुपयोग एव यथा ॥ ६०४ ॥
नेति निषेधात्मा यो नानुपयोगः सबोधपक्षत्वात् ।
अर्थाकारेण विना नेतीनिषेधाववोधशून्यत्वात् ॥ ६०५ ॥

अन्वयार्थ —(च) और (तल्लक्षणं अपि) उसका लक्षणभी इसप्रकर है कि (यथा)जैसे (इह) यहांपर (उपयोग इति एव) उपयोग यहही (विकल्पः स्यात्) विकल्प है तथा (किल) निश्चयसे (अर्थानुपयोगः) अर्थका उपयोग न होना (निर्विकल्पस्य) निर्विकल्पका (वाचक.) वाचक है

(यथा) जैसे(किल) निश्चयसे (ज्ञानस्य) ज्ञानका (अर्थाकृतिपरिणमन) अर्थाकार रूपसे परिणमन होना (उपयोगः इति स्यात्) उपयोग यह कहलाता है ('तथा') वैसेही (तस्य) उस ज्ञानका (नार्थकृतिपरिणमनं) किसीविशेष अर्थाकार रूपसे परिणमन नहीं होना (अनुपयोग एव स्यात्) अनुपयोग कहलाता है इसलिए

(नेति) न इस शब्दके द्वारा (यः) जो (निषेधात्मा) निषेधरूप पक्ष है (सः) वह (बोधपक्षत्वात्) बोधपक्ष होनेसे अर्थात् सामान्यरूपेस ज्ञानका विषयभूत होनेसे (अनुपयोग) सर्वथा अनुपयोग (न) नहीं है किंतु सामान्यको विशेषकरनेवाला उपयोगही है क्योंकि [नेति] न इसे (अर्थाकारेणविना) अर्थाकारके विना (निषेधाववोधशून्यत्वात्) निषेधात्मक ज्ञान नहीं कह सकते है ।

भावार्थः— इन तीनों पद्योंका शब्दार्थ अन्वयार्थसे आचुका है । भावार्थ ऐसा मालुम होता है कि आत्माका ज्ञानवान् कहना जो व्यवहारनयका विषय बताया है उसमें ज्ञान शब्दका अर्थ उपयोग और उपयोगका अर्थ ज्ञानको ज्ञेयाकार परिणत होना ऐसा है । व्यवहारनय प्रतिषेध्य और निश्चयनय उसका प्रतिषेधक होता है इस सिद्धान्तानुसार निश्चयनयकेद्वारा जब उक्त विधीका निषेध विवक्षित होगा तब आत्मा 'ज्ञानवान्ही नहीं है' इसका अर्थ यह होगा कि आत्मा उपयोगरूप नहीं है । और उपयोग शब्दका अर्थ अर्थाकार परिणति है इसलिए आत्मा उपयोगरूप नहीं है इसका अर्थ होगा कि आत्माका ज्ञान अर्थाकार परिणत नहीं है । साराश यह है कि उक्त व्यवहारका प्रतिषेध करनेसे अनुपयोग निश्चयनयका विषय पडता हैं परंतु यहापर उपयोगके अभावरूप अनुपयोगका अर्थ सर्वथा उपयोगका अभाव नही है किन्तु जैनसिद्धान्तमें अभावको भी भावान्तररूप माना है इसलिए अर्थाकार उपयोगके प्रतिषेधको विषय करनेवाला अर्थ होगा । क्योंकि 'न' के द्वारा विषय करनेवाला निश्चयनयका भी विषय तुच्छाभावरूप नहीं हैं । किन्तु विवक्षित विधिरूप विशेषके अभावमुखसे सामान्यधर्म निश्चयनयका विषय पडता है इसलिए उसको भी सुबोधपक्ष होनेसे तथा सामान्य धर्माकार परिणत होनेसे विकल्पपना सिद्ध होता है । हा ! यदि निशेषका अभाव सर्वथा अभाव माना गया होता निश्चयनय विकल्पासिद्ध नहीं होता.

दृष्टांत ।

जीवो ज्ञानगुणः स्यादर्थालोकं विना नयो नासौ ।
नेति निषेधात्मत्वादर्थालोकं विना नयो नासौ ॥ ६०६ ॥

अन्वयार्थः— जैसे (जीवः) जीव (ज्ञानगुणः) ज्ञानगुणवाला है (असौ नय) यह नय (अर्थालोकं विना) पदार्थके प्रतिभासके विना (न स्यात्) नहीं होता है वैसेही (निषेधात्मत्वात्) निषेधात्मक होनेसे (नेति) 'न' इत्याकारक (असौ नय) यह नय (अर्थालोक विना) अर्थके प्रतिभासके विना (न) नहीं होता है।

भावार्थ —जैसे जीव ज्ञानगुणवाला है यह व्यवहारनय अर्थालोकके विना अर्थात् पदार्थको विषय कियेविना नय नहीं कहा जासकता है वैसेही 'नेत्येतावन्मात्र' जीव केवल ज्ञानगुणवालाही नहीं है इसप्रकारसे उस विधिरूप व्यवहारके प्रतिषेधको विषय करनेवाला निश्चयनय भी ज्ञानगुणके अभावस्वरूप शेष गुणोंके सद्भावरूप अर्थालोकके विना अर्थात् सामान्यात्मक अर्थको विषय कियेविना नय नहीं कहा जा सकता है।

खुलासा।

स यथा शक्तिविशेषं समीक्ष्य पक्षश्चिदात्मको जीवः।
न तथेत्यपि पक्षः स्यादभिन्नदेशादिकं समीक्ष्य पुनः ॥ ६०७ ॥

अन्वयार्थ — (स यथा) उसका खुलासा इसप्रकार है कि जैसे (शक्तिविशेषं) विशेष शक्तिको ज्ञानशक्तिको (समीक्ष्य) देखकरके (जीवः) जीव (चिदात्मक) चिदात्मक है यह (पक्षः) पक्ष कहलाता है (पुनः) वैसेही (अभिन्नदेशादिकं) अभिन्न देशादिकको अर्थात् जीवके अकेले ज्ञानगुणपर ध्यान न देकर सब गुणोंको (समीक्ष्य) देखकरके (न तथा) जीव अकेला ज्ञानगुणवाला नहीं है (इत्यपि) ऐसा कहना भी (पक्षः स्यात्) पक्ष कहलाता है।

भावार्थः—साराश यह है कि जीव ज्ञानगुणवाला है इस व्यवहारनयमे जैसे जीवके ज्ञानगुणके अवलम्बनसे जीवको चिदात्मक कहना पक्ष है। वैसेही निश्चयनयमें, जीव केवल ज्ञानगुणवालाही नहीं है। इसलिए जीवके ज्ञानरूप विशेष गुणके अतिरिक्त सामान्यधर्मको अवलम्बन करके जीवकी ज्ञानात्मकताका निषेध करना भी पक्ष है।

अर्थालोकविकल्पः स्यादुभयत्राविशेषतोपि यतः।
न तथेत्यस्य नयत्वं स्यादिह पक्षस्य लक्षकत्वाच्च ॥ ६०८ ॥

अन्वयार्थः— (यतः) क्योंकि (उभयत्रापि) दोनोंही नयोंमें (अविशेषतः) सामान्यरूपसे (अर्थालोकविकल्प) अर्थप्रतिभासरूप विकल्प (स्यात्) है इसलिए (इह च) इस निश्चयनयमेंभी (पक्षस्य) पक्षका (लक्षकत्वात्) विषय होनेसे (न तथा इत्यस्य) 'न तथा' इसको अर्थात् द्रव्यार्थिक नयको (नयत्वं स्यात्) नयपना है।

भावार्थः— व्यवहार और निश्चय दोनोंही नयोंमें अर्थालोक विकल्प, सदृश है। इसलिए 'न तथा' इत्याकारक निश्चयनयकोभी पक्षका ग्राही होनेसे उसमें नयपना सिद्ध हो जाता है।

एकाङ्गग्रहणादिति पक्षस्य स्यादिहांशधर्मत्वम्।
न तथेति द्रव्यार्थिकनयोस्ति मूलं यथा नयत्वस्य ॥ ६०९ ॥

अन्वयार्थः— (इति) इसप्रकारसे (इह) यहांपर (पक्षस्य) पक्षको (एकांगग्रहणात्) एक अंगका ग्रहण करनेवाला होनेसे (अंशधर्मत्वं) अंशधर्मपना (स्यात्) है इसलिए (न तथा इति) 'न तथा' यह (द्रव्यार्थिकः नयः) द्रव्यार्थिकनय (नयत्वस्य) नयपनेका (मूल यथा) मूलकी तरह (अस्ति) है।

भावार्थः— इसप्रकार निश्चयनयका विषयभूत पक्ष, द्रव्यके सामान्यरूप एक अंगका ग्राहक है। अतः उसमें अंशधर्मपनेके घट जानेसे वह (द्रव्यार्थिक) नय कहा जाता है। और वहही सब नयोंका मूल मानागया है।

एकाङ्गत्वमसिद्धं न नेति निश्चयनयस्य तस्य पुनः।
वस्तुनि शक्तिविशेषो यथा तथा तदविशेषशक्तित्वात् ॥ ६१० ॥

अन्वयार्थः— (पुनः) और (नेति तस्य निश्चयनयस्य) न इत्याकारक निषेधको विषय करनेवाले उस निश्चयनयमें (एकांगत्वं) एकांगपना (असिद्ध न) असिद्ध नहीं है क्योंकि (यथा) जैसे (वस्तुनि) वस्तुमें (शक्तिविशेष) शक्तिविशेष एक अंग है (तथा) वैसेही उसमें (तदविशेषशक्तित्वात्) उसकी सामान्य शक्तिभी उसका एक अंग है।

भावार्थः— जैसे व्यवहारनयकी विषयभूत वस्तुकी कोई एक विशेषशक्ति एक अंग कहलाता है। वैसेही उस विशेषशक्तिके अभावमुखसे कही जानेवाली वस्तुकी सामान्यात्मक शक्तिभी एक अंग है।

इसप्रकार ६०० वें पद्यसे लेकर ६१० वे पद्यतक निश्चयनयमें विकल्पपनेकी सिद्धि करके आगे उहापोह पूर्वक निश्चयनयको उदाहरण सहित सिद्ध करतें है। शंका।

ननु च व्यवहारनयः सोदाहरणो यथा तथाऽयमपि ।
भवतु तदा को दोषो ज्ञानविकल्पाविशेषतो न्यायात् ॥ ६११ ॥
स यथा व्यवहारनयः सदनेकं स्याच्चिदात्मको जीवः ।
तादितरनयः स्वपक्षं वदतु सदेकं चिदात्मवात्वितिचेत् ॥ ६१२ ॥

अन्वयार्थ — (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (ज्ञानविकल्पाविशेषतो न्यायात्) ज्ञानविकल्प रूप सामान्य न्यायमे अर्थात् दोनोंही नयोका ज्ञानका विकल्प होनेसे (यथा) जैसे (व्यवहारनयः) व्यवहारनय (सोदाहरण) उदाहरण सहित है (तथा) वैसे (अयं अपि) यदि यह निश्चयनयभी (भवतु) माना जावेतो (तदा को दोष) उससमय कौनसा दोष है ? क्योंकि (यथा) जैसे (सदनेकं) सत अनेक हैं (जीवः) जीव (चिदात्मकः स्यात्) चिदात्मक है इसप्रकारसे (स व्यवहारनय) वह व्यवहारनय उदाहरणसहित होता है वैसेही (चिदात्मवत्) चित्‌कोही आत्माके कहनेकी तरह (सदेकं) सत् एक है इसप्रकारसे (तदितरनय) व्यवहारनयसे भिन्न निश्चयनयभी (स्वपक्षं) अपने पक्षको (वदतु) कहे अर्थात् वहभी उदाहरण सहित कहलावे (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि दोनोंही नय ज्ञानविकल्पात्मक है तो जैसे व्यवहारनय उदाहरण सहित माना जाता है वैसेही निश्चयनयकोभी उदाहरणसहित मानना चाहिये अर्थात् जैसे सत्‌को अनेक कहना जीवको चिदात्मक कहना ये व्यवहारनयके उदाहरण माने जाते है वैसेही सत्‌को एक कहना चित्‌कोही आत्मा कहना ये निश्चयनयके उदाहरण मानना चाहिये ।

न यतः संकर दोषो भवति तथा सर्वशून्यदोषश्च ।
स यथा लक्षणभेदाल्लक्ष्याविभागोस्त्यनन्यथासिद्धः ॥ ६१३ ॥

अन्वयार्थ — (न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि ऐसा माननेसे (संकरदोषः)

संकर दोष (तथा) और (सर्वशून्यदोषश्च) सर्वशून्य दोषभी (भवति) होगा क्योंकि (लक्षणभेदात्) लक्षणके भेदसे (अनन्यथा सिद्धः) उसका अविनाभावी (लक्ष्यविभागः अस्ति) लक्ष्यका विभाग अवश्य होता है (स यथा) जैसा कि आगेके पद्यसे बताते है ।

भावार्थः— सतको एक कहनेवाला व चित्को आत्मा कहनेवाला निश्चयनय नहीं है । किन्तु व्यवहारही है। कारण कि भेद करना व्यवहारनयका लक्षण है । और इन दृष्टान्तोंमे लक्ष्यलक्षणभावमे भेद होता है अर्थात सत् लक्ष्य है तथा एक उसका लक्षण है । और चित् लक्ष्य है तथा आत्मत्व* उसका लक्षण है । इसप्रकार लक्षणके भेदसे लक्ष्यमें, अविनाभाव सम्बन्धके कारण भेद प्रतीत हो जाता है । अतः भेद विषय होनेसे वह व्यवहारही है अभेद-सामान्यसाधक निश्चयनय नहीं । इसलिए किसी भी तरह निश्चयनयको सोदाहरण नहीं कहसकते है । क्योंकि सोदाहरण माननेसे संकर तथा सर्वशून्य ये दो दोष आते है । इन दोनो दोषोंको आगे बताया है ।

लक्षणमेकस्य सतो यथाकथंचिद्यथा द्विधाकरणम् ।
व्यवहारस्य तथा स्यात्तदितरथा निश्चयस्य पुनः ॥६१४॥

अन्वयार्थः—(यथा) जैसे (एकस्य सतः) एकसतका (यथाकथंचित्) जिसकिसी प्रकार (द्विधाकरणं) दोरूपसे करना (व्यवहारस्य लक्षण) व्यवहारनयका लक्षणहै (तथा पुन.) वैसेही (तदितरथा) व्यवहारनयसे विपरीत अर्थात एकसतको दोरूपसे नहीं करना (निश्चयस्य स्यात्) निश्चयनयका लक्षण है ।

भावार्थ — एक अखंड सतमें जिस किसी प्रकारसे कथंचित भेद करना व्यवहारनयका लक्षण है और उस अखंड सतमें किसी प्रकारका भेद नहीं करना निश्चयनयका लक्षण है अतएव 'सदेक' तथा 'चिदेव जीव' आदि निश्चयनयके उदाहरणोंका व्यवहारमेंही अन्तर्भाव हैं । इसीको बताते है ।

अथ चेत्सदेकमिति वा चिदेव जीवोथ निश्चयो वदति ।
व्यवहारान्तर्भावो भवति सदेकस्य तद्द्विधापत्तेः ॥ ६१५ ॥

अन्वयार्थः—(अथचेत्) यदि कदाचित् यह कहा जाय कि (सदेक) सत् एकहै (इति) इसको

* व्यापकत्व

(अथवा) अथवा (चिद्वजीवः) चित् ही जीव है इसको (निश्चय) निश्चयनय (वदति) कहता है (तत्) तो (सदेकस्य) एक सत्को (द्विधापत्तेः) द्वैत भावका प्रसंग आनेसे वह निश्चयनय (व्यवहारमात्र.) व्यवहारमेंही अन्तर्भूत (भवति) हो जायगा ।

भावार्थः— यदि सत् एक है, चित्ही जीव है इसको निश्चयनयका उदाहरण माना जायगा तो सत्को एक कहनेमें व चित्कोही जीव कहनेमें लक्ष्यलक्षणभावसे द्वैधाभाव उत्पन्न हो जानेके कारण निश्चयनय भी व्यवहारमें अन्तर्भूत हो जायगा । आगे–इनमें लक्ष्यलक्षणभाव कैसे है इसको बताते है ।

एवं सदुहारणे सल्लक्ष्यं लक्षणं तदेकमिति ।
लक्षणलक्ष्यविभागो भवति व्यवहारतः स नान्यत्र ॥ ६१६ ॥
अथवा चिदेव जीवो यदुदाहियतेप्यभेदबुद्धिमता ।
उक्तवदत्रापि तथा व्यवहारनयो न परमार्थः ॥ ६१७ ॥

अन्वयार्थ — (उदाहरणे सत् एकं) उदाहरणमें सत् एक कहनेमें (सल्लक्ष्यं) सत् लक्ष्य है और (तदेक इति) वह एक है यह उसका (लक्षण) लक्षण है तथा (सः) वह (लक्षण लक्ष्यविभाग) लक्षण लक्ष्य विभाग (व्यवहारतः) व्यवहारनयमें (भवति) होता है (अन्यत्र न) निश्चयनयमें नहीं

(अथवा) अथवा (चिदेवजीवः) चित्ही जीव है (यत् अपि) जोभी यह (अभेदबुद्धिमता) अभेद बुद्धिके द्वारा (उदाहियते) निश्चयनयका उदाहरण कहा जाता है (अत्रापि) सो यहांपरभी (उक्तवत्) सदेककी तरह (तथा) लक्षणलक्ष्यभावसे (व्यवहारनयः) व्यवहारनय सिद्ध होता है (परमार्थः न) निश्चयनय सिद्धनहीं होता है ।

भावार्थः— सत् एक है व चित्ही जीव है । इसप्रकार शंकाकार के द्वारा दियेगए निश्चयनयके उदाहरणोंमें सत् और चित्, लक्ष्य, तथा एक, और जीव लक्षण हैं । अतः लक्ष्यलक्षण भावके द्वारा उनमें भेद सिद्ध होजानेके कारण निश्चयनयमें भेदको विषय करनेवाला व्यवहारनयपनाही सिद्ध होता है निश्चयनयपना नहीं । क्योंकि लक्ष्यलक्षण व्यवहारनयमेंही होता है निश्चयनयमें नहीं ।

उपसंहार ।

एवं सुसिद्धसंकरदोषे सति सर्वशून्यदोषः स्यात् ।
निरपेक्षस्य नयत्वाभावात्तल्लक्षणाद्यभावत्वात् ॥ ६१८ ॥

अन्वयार्थ — (एव) इसप्रकार (सुसिद्धसंकरदोषे सति) प्रसिद्ध संकर दोषके आनेपर (सर्वशून्यदोषः स्यात्) सर्व शून्य दोष आता है क्योंकि (तल्लक्षणाद्यभावत्वात्) निरपेक्ष नयमें नयका लक्षणादिक न घटनेसे (निरपेक्षस्य) निरपेक्ष नयमें (नयत्वाभावात्) नयपनाही नहीं आसकता है ।

भावार्थः— इसप्रकार शंकाकारके द्वारा बतायेगए 'सदेक' व 'चिदेवजीव' रूप निश्चयनयके उदाहरणोंमे लक्ष्यलक्षणभावके घट जानेसे व्यवहारनयपनाही सिद्ध होता है । अत निश्चय और व्यवहारनयका कोई नियामक न रहनेसे संकर दोष तथा इन उदाहरणोंको निश्चयनयके उदाहरण माननेसे सवहीको व्यवहारनयपना आ जानेके कारण निश्चयनयके अभावका प्रसंग आवेगा । और उसके अभावमें निश्चयनयके विषयभूत सामान्यकी अपेक्षा न करके कहा जानेवाला व्यवहार, व्यवहारनयही नहीं कहला सकेगा । क्योंकि उसमें 'निरपेक्षानयामिथ्याः' के सिद्धान्तानुसार वास्तविक व्यवहारनयपना नहीं रह सकता है । इसलिए सदेक तथा चिदेवजीवको निश्चयनयका उदाहरण माननेमे सर्व नयोंके अभावकी समावनामें सर्व शून्यत्व दोष भी आता है ।

शंका ।

ननु केवलं सदेव हि यदि वा जीवो विशेषनिरपेक्षः
भवति च तदुदाहरणं भेदाभावात्तदा हि को दोषः ॥ ६१९ ॥
अपि चैवं प्रतिनियतं व्यवहारस्यावकाश एव यथा ।
सदनेकं च सदेकं जीवश्चिद्द्रव्यमात्मवानिति चेत् ॥ ६२० ॥

अन्वयार्थ — (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (हि) निश्चयकरके (विशेषनिरपेक्षः) विशेष निरपेक्ष (केवल) केवल (सदेव) सदेव अर्थात् सतही (यदि वा) अथवा (जीव) जीवही (भेदाभावात्) अभेदरूपहोनेसे (तदुदाहरणं भवति) निश्चयनयके उदाहरण है ऐसा माना जाय तो (तदा) उससमय (को हि दोष) कौनसा दोष होगा क्योंकि (एवं च) ऐसा माननेपर (व्यवहारस्य अपि) व्यवहारनयकोभी (अव–

काशः) अवकाश (**प्रतिनियत एव**) निश्चितरूपसे रहही जाता है (**यथा**) जैसेकि (**सदनेक**) सत् अनेक है (**च**) और [**सदेकं**] सत् एक है तथा [**जीवः**) जीव [**चिद्द्रव्यं**] चिद्द्रव्य है [**आत्मवान्**] आत्मवान् है [**इति चेत्**] यदि ऐसा कहोतो।

भावार्थ— शंकाकारका कहना है कि यदि सत्को एक अथवा चेतनाकोही जीव कहना व्यवहारनयकाही विषय है। इसलिए उनको निश्चयनयका उदाहरण माननेमें दोष है तो रहो। परन्तु विशेष निरपेक्ष केवल सत् व जीवको निश्चयनयका उदाहरण माननेमे तो कोई दोष नहीं है। अतः इनको निश्चयनयका उदाहरण मानना चाहिए। क्योंकि विशेष निरपेक्ष केवल सत् अथवा जीवको निश्चयनयका उदाहरण माननेमे निश्चयनय सोदाहरण सिद्ध हो जाता है। और सत् एक है व अनेक है चेतनाही जीव है इत्यादि रूपसे व्यवहारके लिये अवकाशभी रह जाता है।

समाधान।

न यतः सादिति विकल्पो जीवः काल्पनिक इति विकल्पश्च।
तत्तद्धर्मविशिष्टस्तद्वानुपचर्यते स यथा ॥ ६२१ ॥

अन्वयार्थ— [**न**] इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (**यत**] क्योंकि (**सदिति**) 'सत् यह' [**विकल्पः**] विकल्प (**च**] तथा [**जीव इति विकल्प**] 'जीव' यह विकल्प इसप्रकार ये दोनोंही विकल्प [**काल्पनिकः**] काल्पनिक है क्योंकि [**य.**] जो [**तत्तद्धर्मविशिष्टः**] उस २ धर्मसे सहित होता है अर्थात् जिसमें जो धर्म रहते है [**सः**] वह [**तद्वान्**] उस २ धर्मवाला [**उपचर्यते**] उपचारनयसे कहा जासकता है [**यथा**] जैसेकि।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक नही हैं। कारणकि विशेषनिरपेक्ष सत्, व'जीव'को निश्चयनयके उदाहरण माननेमेंभी वही दोष आते है। क्योंकि सत् और जीव ये दोनोंही विकल्प काल्पनिक विकल्प है। कारणकि धर्म तथा धर्मीमें अभेद होनेसे जो जिस २ धर्मसे विशिष्ट होते है उनमें उपचारसे तद्वान् अर्थात उस २ धर्मवालेका उपचार किया जाता है।

स्पष्टीकरण।

जीवः प्राणादिमतः संज्ञाकरणं यदेतदेवेति।
जीवनगुणसापेक्षो जीवः प्राणादिमानिहास्त्यर्थात् ॥ ६२२ ॥

अन्वयार्थ — [प्राणादिमत) प्राणोंको धारण करनेवालेका [यत] जो [संज्ञाकरणं संज्ञा करण है (एतदेव] यही [जीव इति] 'जीव' यह है [अर्थात्] अर्थात् [इह] यहांपर [जीवनगुण सापेक्षः] जीवनगुणकी अपेक्षा रखनेवाला [प्राणादिमान्] प्राणादियुक्त आत्मद्रव्य (जीवः अस्ति] जीव कहा जाता है।

भावार्थः- - प्राणादि वालेको जीव कहते है अर्थात् जीवन गुणकी अपेक्षासे आत्मा जीव कहलाता है। इसलिए जीवका अर्थ प्राणादिमान जीवत्व युक्त हो जाता है।

यदि वा सदिति सतः स्यात्संज्ञा सत्तागुणस्य सापेक्षात्
लब्धं तदनुक्तमपि सद्भावात् सदिति वा गुणो द्रव्यम् ॥ ६२३ ॥

अन्वयार्थः— (यदि वा) अथवा (सत्तागुणस्य सापेक्षात) सत्व गुणकी अपेक्षासे सहित होनेसे (सदिति) 'सत्' यह (सतः) द्रव्यकी (संज्ञा स्यात्) संज्ञा है (तत्) इसलिए (सद्भावात्) सतपनेसे (सदिति) 'सत' यह (अनुक्त अपि) विना कहे हुएभी (गुणः) गुण (वा) अथवा (द्रव्यं) द्रव्य है ऐसा (लब्धं) लब्ध अर्थात् सिद्ध हो जाता है।

भावार्थः— और सत्तागुणकी अपेक्षासे 'सतको' सत् कहते हे। इसलिए विना कहेही सत्पनेसे 'सत्' यह गुण अथवा द्रव्य कहाजाता है अर्थात सत शब्दका अर्थ उपचारसे सत्वगुणवान् व द्रव्यवान् हो जाता है। इसलिए सतका अर्थ गुण, तथा सत्वयुक्त द्रव्य, व जीवका अर्थ जीवयुक्त, (प्राणादिमान्) हो जाता है। अतः सत् लक्ष्य तथा सत्वादिक उसका लक्षण और जीव लक्ष्य तथा जीवत्व उसका लक्षण मानकर लक्ष्यलक्षणभावभेदकी कल्पना होनेसे इनकाभी व्यवहारमेंही अन्तर्भाव होजाता है। अतः विशेषनिरपेक्ष केवल सत् और जीवको, निश्चयनयका उदाहरण माननेमेंभी उक्तदोष आते है ऐसा समझना चाहिये। अब आगे— विशेषणशून्य विशेष्यमात्रको निश्चयनयका उदाहरण माननेमें दोष बताते है।

यदि च विशेषणशून्यं विशेष्यमात्रं सुनिश्चयस्यार्थः।
द्रव्यं गुणो न पूर्वय इति वा व्यवहारलोपदोषः स्यात् ॥ ६२४ ॥

अन्वयार्थ— (यदि च) यदि (विशेषणशून्यं) विशेषणशून्य (विशेष्यमात्रं) विशेष्यमात्र

(सुनिश्चयस्य) निश्चयनयका (अर्थः) विषय है —उदाहरण है तो (द्रव्यं) द्रव्य (गुणः) गुण (वा) अथवा (पर्ययः) पर्याय कुछभी (न) नहीं बनेंगे (इति) इसलिए (व्यवहारलोपदोषः स्यात्) व्यवहारके लोप होनेका प्रसंगरूपदोष होगा ।

भावार्थः— यदि उदाहरण विशेषण शून्य विशेष्यमात्रको निश्चयनयका विषय मानोगे तो सर्वथा विशेषण मात्रका अभाव मानना पडेगा । और विशेषणमात्रके अभावमें द्रव्यगुण व पर्यायका भी व्यवहार नहीं किया जा सकेगा । इसलिए विशेषणशून्य केवल विशेषको निश्चयनयका विषय—उदाहरण माननेसे व्यवहारके लोपका प्रसंगनामा दोष आता है।

उपसंहार ।

तस्मादवसेयमिदं यावदुदाहरणपूर्वको रूपः ।
तावान् व्यवहारनयस्तस्य निषेधात्मकस्तु परमार्थः ॥ ६२५ ॥

अन्वयार्थः— (तस्मात्) इसलिए (इदं अवसेयं) ऐसा समझना चाहिये कि (यावत्) जितने (उदाहरणपूर्वकोरूप) उदाहरणपूर्वक रूप है (तावान्) उतनाही वह सब (व्यवहारनयः) व्यवहारनय है (तु) और (तस्य) उस व्यवहारनयके (निषेधात्मकः) निषेधस्वरूप (परमार्थः) निश्चयनय है ।

भावार्थः— इसलिए यह निश्चित समझना चाहिए कि जितना भी उदाहरणपूर्वक कथन है वह सब व्यवहारनय है । और उस व्यवहारका निषेध करनेवाला जो है वह निश्चयनय है ।

शंका ।

ननु च व्यवहारनयो भवति च निश्चयनयो विकल्पात्मा ।
कथमाद्यः प्रतिषेध्योऽस्त्यन्यः प्रतिषेधकश्च कथमिति चेत् ॥ ६२६ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि जब (व्यवहारनयः) व्यवहारनय (च) और (निश्चयनयः) निश्चयनय दोनोंही (विकल्पात्मा) विकल्पात्मक (भवति) होते है तो फिर (आद्यः) पहला व्यवहारनय (प्रतिषेध्य) प्रतिषेध्य (कथं अस्ति) क्यों है (च) तथा (अन्यः) दूसरा निश्चयनय (प्रतिषेधकः कथं) प्रतिषेधक क्यों है (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जब व्यवहार और निश्चय दोनोंही नय विकल्पात्मक मानेगये है। तो फिर व्यवहारनयको 'प्रतिषेध्य' तथा निश्चयनयको उसका 'प्रतिषेधक' क्यों माना है ?

समाधान।

न यतो विकल्पमात्रमर्थाकृतिपरिणतं यथा वस्तु।
प्रतिषेध्यस्य न हेतुश्चेदयथार्थस्तु हेतुरिह तस्य ॥ ६२७ ॥

अन्वयार्थः—(न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (यथावस्तु) वस्तुके अनुसार (विकल्पमात्रं) केवल विकल्परूप (अर्थाकृतिपरिणत) अर्थाकार परिणत होना (प्रतिषेध्यस्य) प्रतिषेध्यका (हेतुः न) कारण नहीं है (तु) किंतु (अयथार्थ चेत्) यदि वह वास्तविक नहीं है तो वह (इह) यहांपर (तस्य) प्रतिषेध्यका (हेतुः) कारण होता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्येक वस्तुमें जो उस वस्तुके अनुसार ज्ञानका अर्थाकार परिणमन होता है उसको विकल्प कहते हे। और उस प्रकारका वह विकल्प व्यवहारनयको प्रतिषेध्य कहलानेमें कारण नहीं है। किन्तु यहापर व्यवहारनयके द्वारा जो वस्तुका स्वरूप कहा जाता है वह यथार्थ नहीं होता है। इस-लिए यही अयथार्थपना, व्यवहारनयको प्रतिषेध्य–प्रतिषेध करने योग्य कहलानेमें कारण है अर्थात् व्यवहारनय मिथ्या है अतः वह प्रतिषेध्य है। केवल विकल्पात्मक होनेसे वह प्रतिषेध्य नहीं है। क्योंकि विकल्पात्मक तो निश्चयनयभी होता है।

खुलासा।

व्यवहारः किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यतः।
प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च ॥ ६२८ ॥

अन्वयार्थः—(यत) क्योंकि (किल) निश्चयकरके (व्यवहार) व्यवहारनय (स्वय अपि च) स्वयंही (मिथ्योपदेशकः) मिथ्या अर्थका उपदेश करनेवाला है अतः (मिथ्या) मिथ्या है (तस्मात्) इसलिए वह (इह) यहांपर (प्रतिषेध्यः) प्रतिषेध्य हैं (च) तथा (तदर्थदृष्टि) व्यवहारनयके अर्थपर दृष्टि रखनेवाले (मिथ्यादृष्टि) मिथ्यादृष्टी कहलाते है।

भावार्थ — व्यवहारनय विकल्पात्मक होनेसे मिथ्या नहीं है किन्तु मिथ्या अर्थका कथन करनेवाला होनेसे मिथ्या है। इसलिए उसको प्रतिषेध्य तथा केवल उसीमें दृष्टि रखनेवाले जीवोंको मिथ्यादृष्टी कहा है।

स्वयमपि भूतार्थत्वाद्भवति स निश्चयनयो हि सम्यक्त्वम्।
अविकल्पवदतिवागिव स्यादनुभवैकगम्यवाच्यार्थः ॥ ६२९ ॥

यदि वा सम्यग्दृष्टिस्तद्दृष्टिः कार्यकारी स्यात्।
तस्मात् स उपादेयानोपादेयस्तदन्यनयवादः ॥ ६३० ॥

अन्वयार्थः— और (स्वयं अपि) स्वयंही (भूतार्थत्वात्) यथार्थ अर्थको विषय करनेवाला होनेसे (हि) निश्चयकरके (सः) वह (निश्चयनयः) निश्चयनय (सम्यक्त्व) सम्यक्त्व (भवति) हैं और (अविकल्पत्वात्) निर्विकल्पकी तरह तथा (अतिवागिव) वचनगोचरकी तरह (अनुभवैकगम्यवाच्यार्थ) एक स्वानुभवके द्वाराही गम्य हैं वाच्यार्थ जिसका ऐसा (स्यात्) है। (यदि वा) अथवा (तद्दृष्टिः) निश्चयनय पर दृष्टि रखनेवाला ही (सम्यग्दृष्टिः) सम्यग्दृष्टी और (कार्यकारी) कार्यकारी (स्यात्) है (तस्मात्) इस-लिए (स) वह निश्चयनय (उपादेयः) ग्रहण करनेके योग्य है तथा (तदन्यनयवादः) उससे भिन्न व्यवहार नयवाद (उपादेयः न) ग्रहण करनेके योग्य नहीं है।

भावार्थः— स्वयं भूतार्थ होनेसे निश्चयनयही सम्यक्त्व है अर्थात् सम्यक्त्वका विषय है। और वह यद्यपि 'नेत्येतावन्मात्रः' इत्याकारक निषेधात्मक विकल्पमय माना गया है तथापि उसमें भेदजनक और किसी प्रकारका विकल्प न हो सकनेसे उसको निर्विकल्पके समान कहा है। तथा व्यवहारके निषेधके सिवाय अन्य वचनद्वारा प्रतिपाद्य न हो सकनेसे उसको वचनागोचरसा कहा है। निश्चयनयके विषयमें दृष्टि रखनेवालेही सम्यग्दृष्टी कहे जाते है। अत केवल निश्चयदृष्टीही कार्यकारी है उपादेय हैं। व्यवहारदृष्टि नहीं। शंका।

ननु च व्यवहारनयो भवति स सर्वोपि कथमभूतार्थः।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं यथोपदेशात्तथानुभूतेश्च ॥६३१॥

अथ किमभूतार्थत्वं द्रव्याभावोऽथवा गुणाभावः ।
उभयाभावो वा किल तद्योगस्याप्यभवसादिति चेत् ॥ ६३२ ॥

अन्वयार्थ— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (यः) जो (व्यवहारनयः) व्यवहारनय है (सः) वह (सर्वोऽपि) सबही (अभूतार्थः कथं भवति) अभूतार्थ क्यों है क्योंकि (द्रव्यं) द्रव्य (यथोपदेशात् गुणपर्ययवत्) जैसे उपदेशसे गुणपर्यायवाला है (तथा च) वैसेही वह (अनुभुतेः) अनुभवसेभी गुण पर्यायवाला प्रतीत होता है (अथ) यदि गुणपर्ययवद्द्रव्य भूतार्थ नहीं है तो (किल) निश्चयसे (किं) क्या (द्रव्याभावः) द्रव्यका अभाव (अथवा) अथवा (गुणाभावः) गुणका अभाव (वा) अथवा (उभयाभावः) उभयका अभाव अथवा (तद्योगस्यापि अभवसात्) उन दोनोंके योगका अभाव (भूतार्थत्वं) भूतार्थत्व है ?

भावार्थ— शंकाकारका कहना है कि जैसा द्रव्य, गुण पर्यायवाला सूत्रमें कहा गया है वैसाही वह गुणपर्यायवाला अनुभवमें भी प्रतीत होता है । फिर सबही व्यवहारनय, अमूतार्थ क्यों कहा जाता है ?

यदि व्यवहारनय भूतार्थ नहीं है तो क्या द्रव्यके अभावको भूतार्थतत्व कहते हो ? अथवा क्या गुणके अभावको भूतार्थत्व कहते हो ? अथवा क्या दोनोंके अभावको भूतार्थत्व कहते हो ? अथवा क्या उनदोनोंके योगके अभावको भूतार्थत्व कहते हो ?

समाधान ।

सत्यं न गुणाभावो द्रव्यभावो न नोभयाभावः ।
न हि तद्योगाभावो व्यवहारः स्यात्तथाप्यभूतार्थः ॥ ६३३ ॥

अन्वयार्थ— (सत्यं) ठीक है क्योंकि (न गुणाभावः) यद्यपि न गुणाभाव [न द्रव्याभावः) न द्रव्याभाव [न उभयाभावः) न उभयाभाव और (न हि तद्योगाभावः) न उन दोनोंके योगका अभाव भूतार्थत्व है (तथापि) तौभी (व्यवहारः) व्यवहारनय (अभुतार्थ स्यात्) अभूतार्थ है ।

भावार्थः— यद्यपि न गुणाभाव, न द्रव्याभाव, न उभयाभाव और न उनदोनोंके योगका, अभाव भूतार्थपना है तथापि व्यवहारनय अभूतार्थही है । आगे-व्यवहारनय अभूतार्थ क्यों है इसका खुलासा करते है ।

इदमत्र निदानं किल गुणवद्द्रव्यं यदुक्तमिह सूत्रे
अस्ति गुणोस्ति द्रव्यं तद्योगात्तदिह लब्धमित्यर्थात् ॥ ६३४ ॥

तदसत् गुणोस्ति यतो न द्रव्यं नोभयं न तद्योगः ।
केवलमद्वैतं सत्भवतु गुणो वा तदेव सभद्रव्यम् ॥६३५॥

अन्वयार्थः— (किल) निश्चयकरके (अत्र) व्यवहारनय, अभूतार्थ है इसमें (इद) यह (निदान) निदान है कि (इह) यहांपर (सूत्रे) सूत्रमें (यत) जो (द्रव्यं) द्रव्यको (गुणवत्) गुणवाला (उक्तं) कहा है उसका (अर्थात्) अर्थकरनेसे (इह) यहांपर (गुणः अस्ति) गुण पृथक् है (द्रव्यं अस्ति) द्रव्य पृथक् है और (तद्योगात्) गुणके योगसे (तत्) वह द्रव्य गुणवाला कहलाता है (इति लब्धं) ऐसा लब्ध सिद्ध होता है परन्तु (तदसत्) वह ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (न गुण अस्ति) न गुण है (न द्रव्य) न द्रव्य है (न उभयं) न उभय है तथा (न तद्योगः) न उन दोनोंका योग है किंतु (केवल) केवल (अद्वैतं सत्) अद्वैत सत् है और (तदेव सत्) वही सत चाहे (गुणः भवतु) गुण मान लो (वा) अथवा (द्रव्य) द्रव्य मान लो परन्तु वह भिन्न नहीं है अर्थात् निश्चयनयसे अभिन्नही है ।

भावार्थः— व्यवहारनयसे 'गुणवद्द्रव्य' अर्थात् गुणवालेको द्रव्य कहनेसे ऐसा बोध होसकता है कि गुण और द्रव्य भिन्न २ वस्तु है तथा गुणके योगसे द्रव्य, द्रव्य कहलाता है । किन्तु ऐसा अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि न गुण है, न द्रव्य है और न दोनों है तथा न उनका योगही है । किन्तु निश्चयनयसे केवल एक अद्वैत अभिन्न अखण्ड सत ही है । उसेही चाहे गुण कहो, चाहे द्रव्य कहो अथवा जो चाहे सो कहो ।

सारांश ।

तस्मान्न्यायागत इति व्यवहारः स्यान्नयोप्यभूतार्थः
केवलमनुभवितारस्तस्य च मिथ्यादृशो हतास्तेऽपि ॥ ६३६ ॥

अन्वयार्थ — (तस्मात्) इसलिए (इति न्यायागत) यह न्यायसे सिद्ध हुवा है कि (व्यवहारः) व्यवहार (नयोऽपि) नयभी (अभूतार्थः स्यात्) अभूतार्थ है (च) और (केवल) केवल (तस्य) उसका

(अनुभवितार) अनुभव करनेवाले (ये) जो (मिथ्यादृशः) मिथ्यादृष्टी है (ते ऽपि) वेभी (हताः) खण्डित होचुके ।

भावार्थः— व्यवहारनय, उक्तप्रकारके भेदको विषय करता है । क्योंकि विधिपूर्वक भेद करनाही व्यवहार शब्दका अर्थ है । अतएव सिद्ध होता है कि व्यवहारनय अभूतार्थही है–परमार्थभूत नही है । और केवल उसका अनुभव करनेवाले मिथ्या दृष्टी है । तथा वे नष्ट समझना चाहिए । शंका ।

ननु चैवं चेन्नियमादादरणीयो नयो हि परमार्थः ।
किमकिंचित्कारित्वाद्व्यवहारेण तथाविधेन यतः ॥ ६३७ ॥

अन्वयार्थः— [ननु च] शंकाकारका कहना है कि [एवं चेत्] यदि ऐसा कहोतो [नियमात्] नियमसे [हि] निश्चयकरके [परमार्थः नय] निश्चयनयही [आदरणीय] आदर करनेके योग्य मानना चाहिए [यतः] क्योंकि [अकिंचित्कारित्वात्) अकिंचित्कारी होनेसे [तथाविधेन] अपरमार्थभूत [व्यवहारेण] व्यवहारनयसे [किं] क्या प्रयोजन है [इति चेत्] यदि ऐसा कहोतो ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि व्यवहारनय, अपरमार्थभूत तथा कार्यकारी नहीं है तो फिर केवल एक निश्चयनयही मानना चाहिए । अकिंचित्कारी व अपरमार्थभूत–व्यवहारनयके माननेकी क्या जरूरत है ?

समाधान ।

नैवं यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ ।
वस्तुविचारे यदि वा प्रमाणमुभयावलम्बि तज्ज्ञानम् ॥ ६३८ ॥
तस्मादाश्रयणीयः केषांचित् स नयः प्रसंगत्वात् ।
अपि सविकल्पानामिव न श्रेयो निर्विकल्पबोधवताम् ॥ ६३९ ॥

अन्वयार्थ — (एव न] इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (इह) यहांपर (विप्रतिपत्तौ) विप्रतिपत्तिके होनेपर (च) और (संशयापत्तौ) संशयकी आपत्ती आनेपर व (वस्तुविचारे) वस्तुके विचार करनेमें [बलात्] बलपूर्वक [व्यवहार प्रवर्तते] व्यवहारनय प्रवृत्त होता है [यदि वा] अथवा

['यत् '] जो [ज्ञानं] ज्ञान [उभयावलम्बि) दोनों नयोंको अवलम्बन करनेवाला है [तत] वही [प्रमाण] प्रमाण कहलाता है [तस्मात्] इसलिए [प्रसंगत्वात्] प्रसगवश [स नय.] वह व्यवहारनय [केषांचित] किन्हींके लिये [आश्रयणीयः] आश्रय करनेके योग्य है। [अपि] किंतु [सविकल्पानां इव] सविकल्प ज्ञान-वालाकी तरह (निर्विकल्पबोधवतां) निर्विकल्प ज्ञानवालोंको वह (श्रेय न] कल्याणकारी नहीं है ।

भावार्थः— शकाकारका कहना ठीक नहीं है । क्योंकि यद्यपि व्यवहारनय, अपरमार्थभूत है तथापि जिस समय वस्तु विचारमें विवाद तथा सशय उत्पन्न होना है उससमय वह उपयोगी पडता है । अथवा दोनों नयोंका युगपत् विषय करनेवाला अर्थात उनके विषयको युगपत जाननेवाला ज्ञान, प्रमाण कहलाता है । इसलिए प्रमाण पक्षकी दृष्टिवश वह व्यवहारनय भी किन्ही २ के लिए आश्रय करनेके योग्य माना गया है । किन्तु सविकल्पक ज्ञानवालोंके समान, निर्विकल्पक बोधवालोंकेलिए, वह कल्याणकारी नहीं है । अर्थात सविकल्पक बोधके अनन्तर जो निर्विकल्पक बोधकी स्थितीको पहुंच जाते हैं उनकेलिए वह कल्याणकारी नहीं है । जहापर नय, निक्षेप और प्रमाणका भी उदय नहीं रहता है ऐसे निश्चयनयके पक्षसे आगे होनेवाले विकल्परहित बोधको निर्विकल्पकबोध कहते है ।

शका ।

ननु च समीहितसिद्धिः किल चैकस्मान्नयात्कथं न स्यात ।
विप्रतिपत्तिनिरासो वस्तुविचारश्च निश्चयादिति चेत् ॥ ६४० ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (किल) निश्चयकरके (समीहितसिद्धि) इष्टकी सिद्धि (एकस्मात् नयात्] एकही नयसे (कथं च न स्यात) क्यों नहीं होगी क्योंकि (विप्रतिपत्तिनिरासः) विप्रतिपत्तीका निरास (च) और (वस्तुविचारः) वस्तुका विचार (निश्चयात्) निश्चयनयसे हो जायगा [इति चेत्] यदि ऐसा कहोतो ।

भावार्थ — शंकाकारका कहना है कि वस्तु विचार और संशयापत्तीके उपस्थित होनेपर जो व्यवहारनयको उपयोगी बताया है सो ठीक है । परन्तु वस्तुविचार तथा संशयका निराकरण, तो केवल एक निश्चयनयसेही हो जायगा इसलिए इष्टसिद्धिकेलिए, केवल एक निश्चयनयही मानना चाहिये ।

समाधान।

नैवं यतोस्ति भेदोऽनिर्वचनीयो नयः स परमार्थः।
तस्मात्तीर्थस्थितये श्रेयान् कश्चित् स वावदूकोपि ॥ ६४१ ॥

अन्वयार्थ — (एवं न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (सःपरमार्थःनयः) वह-परमार्थनय तो (अनिर्वचनीय) अनिर्वचनीय अर्थात् वचनके द्वारा नहीं कहा जासकता है (तस्मात्) इसलिए (तीर्थस्थितये] तीर्थ स्थितिके लिये अर्थात् जैनदर्शनके विषयमें विप्रतिपत्ति तथा संशयको दूर करनेके लिये [वावदूकोऽपि) वावदूकभी [स. कश्चित्] वह कोई व्यवहारनय [श्रेय.) कार्यकारी है यह (भेदः अस्ति) भेद है।

भावार्थः— निश्चयनय वचनगोचर नहीं है। इसलिए वह तीर्थके स्थापनार्थ उपयोगी नहीं पडसकता है। परन्तु तीर्थकी स्थापना आवश्यक कार्य है और वह तीर्थस्थापन व्यवहारनयके द्वाराही होसकता है एतावता भेदको विषय करनेवाला, वावदूक भी व्यवहारनय उपयोगी माना है। अतएव केवल निश्चयनयसे काम न चलनेके कारण, व्यवहारनय भी आश्रय करनेके योग्य है—माननेके योग्य है।

इसप्रकार निश्चय और व्यवहारकी सिद्धि करके अब—आगे निश्चयनयके विषयको सम्बन्धमें शंकासमाधान पूर्वक विचार करते हैं।

ननु निश्चयस्य वाच्यं किमीति यदालम्ब्य वर्तते ज्ञानम्।
सर्वविशेषाभावेऽत्यन्ताभावस्य वै प्रतीतत्वात् ॥ ६४२ ॥

अन्वयार्थ.— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (निश्चयस्य) निश्चयनयका (वाच्य किं इति) वाच्य क्या है कि (यत्) जिसको (आलम्ब्य] आलम्बन करके (ज्ञानं) निश्चयनयात्मकज्ञान (वर्तते) पैदा होता है क्योंकि [सर्वविशेषाभावे) संपूर्ण विशेषोंके अभावमें (वै) निश्चयकरके (अत्यन्ताभावस्य) अत्यन्ताभावकीही (प्रतीतत्वात्) प्रतीति होती है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि निश्चयनय निर्विकल्प है। वह किसी प्रकारके विशेषको विषय नहीं करता है अर्थात् उसमें किसी प्रकारकी विशेषता नहीं रहती है तो विशेषके अभावमें सामान्यकाभी अभाव हो जाता है इस नियमानुसार सामान्यात्मक विषयके भी असम्भव हो जानेसे वह निश्चयनय निर्विषय हो जायगा। तथा निर्विषय होनेसे उसका भी सद्भाव नहीं रहेगा। अतः निश्चयनयकी सिद्धिकेलिए उसका विषय बताना चाहिए जिसके कि अवलम्बनसे उसकी प्रवृत्ति होती है।

समाधान।

इदमत्र समाधानं व्यवहारस्य च नयस्य यद्वाच्यम्।
सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य यद्वाच्यम्॥ ६४३॥

अन्वयार्थः— (**अत्र इदं समाधानं**) यहांपर यह समाधान है कि (**व्यवहारस्य नयस्य**) व्यवहारनयका (**यद्वाच्य**) जोभी वाच्य है (**सर्व विकल्पाभावे**) उसके सम्पूर्ण विकल्पोंके अभावमें (**यत्वाच्य स्यात्**) जो वाच्य है (**तदेव निश्चयनयस्यवांच्यं**) वही निश्चयनयका वाच्य होता है (१)

भावार्थः— व्यवहारनयके वाच्योंके सम्पूर्ण विकल्पोंको दूर करदेनेपर जो कुछ वाच्य रहता है वही निश्चय नयका वाच्य है। व्यवहारनय किसी एक २ धर्मकी प्रधानतासे पदार्थको निरूपण करता है इसलिए उस एक २ धर्मके अभाव करनेपर जो उन एक २ विकल्पके अभावमें शेष अनन्त धर्मात्मक सामान्य बचता है वही निश्चयनकाय वाच्य है। अर्थात् व्यवहारनयके व्यवहारके अभावकोही निश्चयनयका विषय समझना चाहिये। वह उन एक २ विकल्पके अभावरूप शेष सम्पूर्ण धर्मात्मक सामान्यरूप पडता है। दृष्टान्तपूर्वक समाधान।

अस्त्यत्र च संदृष्टिस्तृणाग्निरिति वा यदोष्ण एवाग्निः।
सर्वविकल्पाभावे तत्संस्पर्शादिनाप्यशांतत्वम् ॥६४४॥

अन्वयार्थ— (**अत्र च संदृष्टिः अस्ति**) निश्चयनयके वाच्यके विषयमें दृष्टांतभी है कि (**यदा**) जिससमय (**तृणाग्निः**) तृणकी अग्नि (**वा**) अथवा (**उष्ण एव अग्निः**) उष्णही अग्नि (**इति**) ऐसा सविकल्प व्यवहार होता है (**तदा**) उससमय (**सर्वविकल्पाभावेऽपि**) तृणाग्नि उष्णाग्नि आदि विशेषरूप उन सब विकल्पोंके अभावमेंभी (**संस्पर्शादिना**) संस्पर्शनादिकके द्वारा (**तत्**) वह अग्नि (**अशांतत्वं**) सामान्य उष्णतात्मक प्रतीत होती है।

भावार्थः— उष्णात्मक धर्मकी अपेक्षासे अग्निको उष्ण कहना, तृणके निमित्तसे होनेवाली अग्निको तृणाग्नि कहना व्यवहारनय है। और नय विकल्पोंके अभावका नाम निश्चयनय है। व्यवहारनय प्रतिपाद्य विषय एक धर्मरूप पडता है। किन्तु व्यवहारका अभाव, एकके अभावरूप—एक धर्म भिन्न वस्तुके शेषधर्मरूप पडता है। अर्थात् उष्णत्व तृणाग्नित्वादि विशेष धर्मोंके विना शेष जो अशीतत्वादि रह जाता है वही सब निश्चयनयका वाच्य है। तथा यह निश्चयनयका विषय व्यवहारनयके विकल्पके अभावरूप होनेसे शुद्ध और व्यापक होता है।

निश्चयनयावलम्बीको परसमय कहनेके विषयमें शंका।

ननु चैवं परसमयः कथं स निश्चयनयावलंबी स्यात्।
अविशेषादपि स यथा व्यवहारनयावलंबी यः ॥ ६४५ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु च**) शंकाकारका कहना है कि (**अविशेषात् अपि**) सामान्यरूपसेभी (**यथा**) जैसे (**यः**) जो (**व्यवहारनयावलम्बी**) व्यवहारनयका अवलम्बन करनेवाला है (**सः**) वह (' **परसमय** ') परसमय अर्थात् स्वात्मानुभूतिसे रहित है (**एवं**) वैसेही जो (**निश्चयनयावलम्बी**) निश्चयनयका अवलम्बन करनेवाला है (**सः**) वह (**कथं परसमयः स्यात्**) किस प्रकारसे स्वात्मानुभूतिसे रहित है (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहोतो।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि आपने—ग्रन्थकारने जो सामान्यपनेसे दोनोंही नयोंके जाननेवालोंको पर समय कहा है सो ठीक नहीं है।

सत्यं किंतु विशेषो भवति ससूक्ष्मो गुरूपदेशत्वात्।
अपि निश्चयनयपक्षादपरः स्वात्मानुभूतिमहिमा स्यात् ॥ ६४६

---

* व्यवहारको छोडकर निश्चय और निश्चयसेभी उपर निर्विकल्प परिणतिमें लवलीन होनेवालेको पर समय माना है इसलिए जो व्यवहार नयावलम्बी है उन्हें ही परसमयावलम्बी अर्थात् मिथ्यादृष्टि कहना चाहिये किन्तु निश्चयनयावलम्बीको पर समयावलम्बी नहीं कहना चाहिए।

अन्वयार्थः—(सत्यं) ठीक है (किंतु) किंतु (विशेषो भवति) इतना विशेष है कि (निश्चयनयपक्षादपि) निश्चयनयके पक्षसेभी (अपरः) भिन्न (स्वात्मानुभूति महिमा स्यात्) स्वात्मानुभवकी महिमा है और (सः) वह स्वात्मानुभूतिकी महिमा (गुरूपदेशत्वात्) गुरुके द्वारा उपदेश करनेके योग्य होनेसे (सूक्ष्म) सूक्ष्म है ।

भावार्थ — साधारण रूपसे व्यवहारनयावलम्बीके समान निश्चयनयावलम्बीको परसमय कहनेका प्रयोजन यह है कि व्यवहार विधिको विषय करता है । और व्यवहारनयके द्वारा प्रतिपादित विधिके अभावको निश्चयनय विषय करता है । किन्तु विधि तथा निषेधसे भी परेउपर चलकर स्वानुभूतिका माहात्म्य है । जो कि गुरुके द्वाराही उपदेश करनेके योग्य होनेसे सूक्ष्म है । और जहां विधि व निषेध कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता है । इसप्रकारकी स्वात्मानुभूतिकोही स्वसमय कहते है । इसलिए उस स्वानुभुतिको न पहचाननेके कारणही व्यवहारनयके अवलम्बन करनेवालोंके समान निश्चयनयावलम्बीको भी आचार्योंने परसमय कहा है । (उक्तच) जैसा कि कहा भी है ।

उभयं णयं विभणिमं जाणइ णवरिं तु समयपडिवद्धो ।
णदु णयपक्खं गिण्हादि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(भणिय) कहे गये (उभयं त्रि) दोनोंही (णयं) नयोंको (जाणइ) परसमय प्रतिवद्ध आत्मा जानता है (तु) किंतु (णवरिं) विशेष यह है कि (समयपडिवद्धो) स्वसमय प्रतिवद्ध आत्मा (णयपक्खपरिहीणो) नयपक्षसे रहित होकर (किंचिवि) कुछभी (णयपक्खं) नयपक्षको (णदु गिण्हदि) ग्रहण नहीं करता है ।

भावार्थः— गाथामें जो आगे ' समयपडिवद्धो ' शब्द दिया है उससे पहले, परसमय शब्दको ध्वनिसे ग्रहण करना चाहिये । इसलिए ऐसा अर्थ होता है कि दोनों नयोंके विषय करनेवालोंको परसमय कहते है । और जो नय पक्षसे हीन होकर केवल स्वात्मानुभुतिमें तत्पर है । नयके पक्षको किंचित् विषय नहीं करते है वे स्वसमय प्रतिवद्ध कहलाते हैं ।

---

१ पूर्व प्रकाशित पुस्तकमें इसका नंबर ६४८ है । और ६४५ के बाद ' उक्तंच ' कहकर गाथा दी है । परन्तु हमने प्रकरण मिलानेकेलिए नंबर आगे पछि करदिया है ।

इत्युक्तसूत्रादपि सविकल्पत्वात्तथानुभूतेश्च ।
सर्वोऽपि नयो यावान् परसमयः स च नयावलंबी च ॥ ६४७ ॥

अन्वयार्थः— (इति उक्तसूत्रात्) इसप्रकार कहे गये आगमप्रमाणसे (अपि) और (सविकल्पत्वात्) सविकल्प होनेसे (च) तथा (तथानुभूतेः) वैसा अनुभव होनेसे (यावान् सर्वोऽपि नयः) जितनाभी सब नय है वह (च) और (नयावलम्बी) उनका अवलंबन करनेवाला (यः) जो है (स च) वह (परसमयः) परसमय— स्वात्मानुभूतिसे रहित है।

भावार्थ.— इसप्रकार उक्त गाथा सूत्रसे सिद्ध होता है कि व्यवहारनयके समान निश्चयनयभी सविकल्पक है। अन्तर-सिर्फ इतना है कि व्यवहारनय विधिरूपसे एक धर्म मुखमे पदार्थको विषय करता है। और निश्चयनय व्यवहारनयके निषेधमुखमे उस धर्मके शिवाय शेष धर्मोंको विषय करता है। परन्तु विकल्पात्मक दोनोंही है। क्योंकि दोनो ही नय युक्तिसे तथा अनुभवसे विकल्पात्मक सिद्ध होतें है। अतः जितनेभी नय हे वे सब तथा उनके अवलम्बन करनेवालेभी परसमय कहलाते है। इसप्रकार निश्चयनयावलम्बीभी व्यवहारनयावलम्बीके समान, परसमय कहलानेके योग्य है।

स्पष्टीकरण।

स यथा सति सविकल्पे भवति स निश्चयनयो निषेधात्मा ।
न विकल्पो न निषेधो भवति चिदात्मानुभूतिमात्रं च ॥ ३४८ ॥

अन्वयार्थः— (स यथा) वह स्वात्मानुभूतिकी महिमा इसप्रकार है कि (सति सविकल्पे) व्यवहारनयके द्वारा सतको सविकल्प कहनेपर (सः निश्चयनय) वह निश्चयनय सब प्रकारके विकल्पोंका निषेध करनेवाला होनेसे (निषेधात्मा भवति) एक प्रकारसे निषेधात्मक विकल्प होता है और वास्तवमें देखा जाय तो स्वसमय स्थितिमें (न विकल्पः) न व्यवहारनयका विषयभूत विकल्प है (न निषेधः) न निश्चयनयका विषयभूत निषेधात्मक विकल्प है किंतु (चिदात्मानुभूतिमात्र च भवति) केवल चेतनाका स्वात्मानुभवन है।

भावार्थः— उपर्युक्त स्वानुभूतिकी महिमाकी द्योतक स्वसमयप्रतिबद्ध अवस्थाका खुलासा इसप्रकार है कि स्वानुभूतिके समय व्यवहारनय विधीरूप विकल्पको विषय करता है। और उसका निषेध करनेवाला निश्चयनय निषेधात्मक

विकल्पको विषय करता है। इसप्रकार ये दोनोंही नय विकल्पात्मक होते हैं। अन्तर सिर्फ इतना है कि व्यवहारनयमें विधिरूप विकल्प होता है और निश्चयनयमें विधिके निषेधरूप निषेधात्मक विकल्प होता है। परन्तु निश्चयनयसे भी आगे जिस अवस्थामें विधि तथा निषेधमें किसी प्रकारका विकल्प नहीं है केवल निर्विकल्प स्वानुभूति मात्र है उसको स्वसमय प्रतिबद्धअवस्था कहते हैं। उसकी प्राप्तिके विना सबको परसमय व परसमयावलम्बी (मिथ्यावादी) कहा है।

दृष्टांनपूर्वक स्वानुभूतिकी महिमाका स्वरूप।

दृष्टान्तोऽपि च महिषध्यानाविष्टो यथा हि कोपि नरः।
माहिषोयमहं तस्योपासक इति नयावलंबी स्यात् ॥ ६४९ ॥
चिरमाचिरं वा यावत् स एव दैवात् स्वयं हि महिषात्मा।
महिषस्यैकस्य यथा भवनात् महिषानुभूतिमात्रं स्यात् ॥ ६५० ॥
स्वात्मध्यानाविष्टस्तथेह कश्चिन्नरोऽपि किल यावत्।
अयमहमात्मा स्वयमिति स्यामनुभवितास्मम्यनयपक्षः॥ ६५१ ॥
चिरमाचिरं वा दैवात् स एव यदि निर्विकल्पकश्च स्यात्
स्वयमात्मेत्यनुभवनात् स्यादियमात्मानुभूतिरिह तावत् ॥ ६५२ ॥

अन्वयार्थः— (दृष्टांतोऽपि च) इस विषयमें दृष्टांतभी है कि (यथा हि) जैसे (महिषध्याना-विष्टो) महिषके-भैंसके ध्यानसे युक्त (कोपि नरः) कोई मनुष्य (अयं महिष.) यह महिष है और (अहं) मैं (तस्य) उसका (उपासक) उपासक हूं (इति) इसप्रकारके विकल्पसे जबतक युक्त रहता है तबतक वह (नयावलम्बी) नयका अवलम्बन करनेवाला कहा जाता है किंतु (चिरं वा अचिरं यावत्) अधिक व थोडे समयमें जब (स एव) वही व्यक्ति (दैवात्) दैववशसे (हि) निश्चयकरके (स्वयं) स्वयं (महि-षात्मा) महिषरूप हो जाता है तब (एकस्य महिषस्य भवनात्) एक महिषरूप हो जानेसे-अनुभव करनेसे

(यथा) जैसे (महिषानुभूतिमात्रं स्यात्) केवल महिषानुभूति कही जाती है (तथा) वैसेही (इह) यहांपर (किल) निश्चयकरके (स्वात्मध्यानाविष्टः) स्वात्मध्यानसे युक्त (कश्चिन्नरोऽपि) कोई मनुष्यभी (यावत्) जबतक (अहं अयं आत्मा) मैं यह आत्मा हूं और (अहं स्वयं) मैं हि स्वयं (अस्य अनुभविता स्यात्) इस का अनुभव करनेवाला है (इति) इस प्रकारके विकल्पसे युक्त रहताहै तबतक वह (नयपक्षः) नयपक्षवाला कहा जाता है किंतु (यदि च) यदि (दैवात्) दैववशसे (स एव) वही नयावलंबी जब (चिरं वा अचिरं) अधिक अथवा थोडे कालमें (निर्विकल्पः स्यात्) निर्विकल्पक हो जाता है तो (स्वयं आत्मा इति अनुभवनात्) मैं स्वय आत्मा हूं इसप्रकारका अनुभव करनेसे (इह) यहां पर (तावत्) उसीसमयं (इयं) यह (आत्मानुभू- ति: स्यात्) आत्मानुभूति कही जाती है।

भावार्थः— जैसे भैसके ध्यानमें मग्नहुआ मनुष्य जबतक 'मैं और मेरी भैंस' इसप्रकारकी कल्पनायें करता है तबतक वह भेदका ग्राहक होनेसे नयावलम्बी है। किन्तु भैंसका ध्यान करते २ जब वह तन्मय हो जाता है तब उसे भैंसकी अनुभूति कहते है। इसलिए उसमें किसी प्रकारकी उक्तभेदकल्पना नहीं रहती है। वैसेही स्वात्माकी अनुभूति में तत्पर व्यक्ति जबतक यह आत्मा मेरा है व मैं इसका अनुभव करनेवाला हूं इत्यादि भेद कल्पनामें रहता है तबतक वह नयावलम्बी कहा जाता है। किन्तु जिससमय वह अपने स्वात्मध्यानमें लीन होकर तन्मय हो जाता है। उसी समय यह मेरी आत्मा है और मैं इसका अनुभवन करनेवाला हूं। इत्यादि भेद कल्पनासे रहित जो उसकी अवस्था होती है वही उसकी स्वात्मानुभूति कहलाती है।

दूसरा यह भी लौकिक दृष्टान्त दिया जाता है कि पहले किसीको जिनेन्द्रकी उपासना करते समय 'दासोऽहं' अर्थात् हे भगवन्! मै तुम्हारा दास हूं ऐसी कल्पना होती है। इसके अनन्तर उपासनामें तत्पर रहनेसे 'दा' जाकर 'सोऽहं' वही मैं हूं जो परमात्मा है अर्थात परमात्मामें और मेरेमें द्रव्यदृष्टिसे कुछ भी अन्तर नहीं है अभेद है ऐसी कल्पना होने लगती है। किन्तु ऐसा करते २ जब वह पूर्ण ध्यानमग्न हो जाता है तब 'दा' और 'सो' दोनोंको भुलकरके केवल वह 'अहमात्र' का अनुभव करने लगता है। और उस अहमात्रके अनुभवकोही स्वानुभूति कहते है।

उपसंहार।

तस्मात्व्यवहार इव प्रकृता नात्मानुभूतिहेतुः स्यात् ।

अयमहमस्य स्वामी सदवश्यम्भावि विकल्पत्वात् ॥ ६५३ ॥

अन्वयार्थ.— (तस्मात) इसलिए (व्यवहार इव) व्यवहार नयकी तरह (प्रकृतः) निश्चयनयभी (आत्मानुभूतिहेतुः न स्यात्) आत्मानुभूतिका कारण नहीं है क्योंकि उस निश्चयनयमेंभी (अहं अयं अस्य स्वामी) मैं यह इसका स्वामी हूं इसप्रकारके (सदवश्यम्भावि विकल्पत्वात) सतमें अवश्य होनेवाले विकल्प होते हैं।

भावार्थः— निश्चयनयको भी विकल्पात्मक होनेसे, तथा निश्चयनयसे भी आगे स्वानुभूति होनेसे, व्यवहारनयके समान निश्चयनय भी वास्तवमें निर्विकल्प स्वात्मानुभूतिका साक्षात्कारण नहीं है। क्योंकि निश्चयनयमेंभी आत्मा व आत्मानुभूतिका भेद करनेवाला अथवा यह आत्माका स्वरूप है और मैंही इसका धनी हूं इसप्रकारका भेद संभव है

ननु निश्चयस्य वाच्यं किमितियदालम्ब्य वर्त्तते ज्ञानम् ।
सर्वविशेषाभावेऽत्यन्ताभावस्य वै प्रतीतत्वात् ॥ ६५४ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (इह) यहांपर (यदि) यदि (केवल) केवल (व्यवहारान्निरपेक्षः) व्यवहारनयसे निरपेक्ष (निश्चयनयपक्षः) निश्चयनयका पक्ष (विवक्षितो भवति) विवक्षित किया जाय (तत्) तो (सः) वह (आत्मानुभुति हेतुः भवति) आत्मनुभुतिका कारण हो जायगा (इतिचेत्) यदि ऐसा कहो तो

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि व्यवहारनय निरपेक्ष, केवल निश्चयनयका अवलम्बन किया जाय तो वह निरपेक्ष निश्चयनय स्वात्मानुभूतिका कारण हो सकता है ?

नैवमसंभवदोषाद्यतो न कश्चिन्नयो हि निरपेक्षः ।
सति च विधौ प्रतिषेधःप्रतिषेधे सति विधेःप्रसिद्धत्वात् ॥ ६५५ ॥

अन्वयार्थ.— (असंभवदोषात्) असम्भव दोष आनेसे (एव न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (हि) निश्चयकरके (कश्चिन्नयः) कोईभी नय (निरपेक्षः न) निरपेक्ष नहीं है किंतु (विधौ सति) विधिके होनेपर (प्रतिषेधः) प्रतिषेध (च) और (प्रतिषेधे सति) प्रतिषेधके होनेपरही (विधेः प्रसिद्धत्वात्) विधिकी प्रसिद्धि है।

भावार्थः— नयोंको निरपेक्ष कहना असंभव है। क्योंकि नय विधिकी मुख्यतामें गौणरूपसे निषेधका और निषेधकी मुख्यतामें गौणरूपसे विधिका ग्रहण होजाता है तभी नय, नयपदके योग्य ठहरते हैं। इसलिए सम्पूर्ण नयोंके परस्पर सापेक्ष होनेसे उक्त शंका ठीक नहीं है।

निश्चयनयके एकत्वके विषयमें शंका।

ननु च व्यवहारनयो भवति यथाऽनेक एव सांशत्वात्।
अपि निश्चयो नयः किल तद्वदनेकोऽथ चैककास्त्विति चेत् ॥ ६५६ ॥

अन्वयार्थः— (अथ च) और (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (यथा) जैसे (सांशत्वात्) अंशग्राही होनेसे (व्यवहारनयः) व्यवहारनय (अनेक एव भवति) अनेक ही है (तद्वत्) उसी तरह (किल) निश्चयकरके (निश्चयः नयः अपि तु) निश्चयनयभी तो (एकक) एक २ के मिलानेसे (अनेकः) अनेक हो सकता है (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जैसे सांशपनेसे व्यवहारनय अनेक है वैसेही भिन्न २ व्यवहारके निषेध करनेसे निश्चयनयभी अनेक होना चाहिए। अतः निश्चयनयको एक मानना ठीक नहीं है।

समाधान।

नैवं यतोऽस्त्यनेको नैकः प्रथमोऽप्यनन्तधर्मत्वात्।
न तथेति लक्षणत्वादस्त्येको निश्चयो हि नानेकः ॥ ६५७ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) शंकाकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (अनन्तधर्मत्वात्) अनन्तधर्मवाला होनेसे (प्रथमः) पहला व्यवहारनय (अनेकः अस्ति) अनेक है (एकः न) एक नहीं है और (हि) निश्चयकरके (न तथा इति लक्षणत्वात्) 'न तथा' इसप्रकारके निषेधात्मक लक्षणसे (निश्चयः) निश्चयनय (एकः अस्ति) एक है (अनेकः न) अनेक नहीं है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि पदार्थमें अनंत धर्म हैं। उनमेंसे एक एक धर्मको विषय करनेवाला व्यवहार तो अनेक हैं इसमें कोई संशयही नहीं। परंतु एक २ व्यवहारके निषेधसे

निश्चयनय एक एक होकर, अनेक हो, ऐसा नहि हो सकता है। क्योंकि 'न तथा, इस रूपसे व्यवहार मात्रका प्रतिषेधक निश्चयनय सदैव एकसा होनेसे, एक ही होता है। भिन्न २ व्यवहारके निषेधसे एक एक होकर अनेक नहि होता है। अर्थात सदैव यावत व्यवहारका प्रतिषेधक होनेसे निश्चयनय एकही है। इसलिये ही निश्चयनयका सूचक 'न तथा, यह माना हैं। और वह सदैव एकसाही रहता है अर्थात अनेक व्यवहारोंके प्रतिषेधको विषयकरनेसे सामान्यरूप विषयमें नानापन नही आता है। अतएव वह नाना नहीं हो सकता है। दृष्टांत

संदृष्टिः कनकत्वं ताम्रोपाधेर्निवृत्तितो यादृक्।
अपरं तदपरमिह वा रुक्मोपाधेर्निवृत्तितस्तादृक् ॥ ६५८ ॥

अन्वयार्थः—(सन्दृष्टि) निश्चयनयके एकत्वमें दृष्टान्त यह है कि (इह) यहांपर (ताम्रोपाधेर्निवृत्तित) ताम्ररूप उपाधिकी निवृत्तिसे (यादृक्) जिसप्रकारका (अपर) भिन्न (कनकत्वं) सुवर्णपनाहै (तादृक्) उसीप्रकारका (रुक्मोपाधेर्निवृत्तित वा) रुक्मरूप उपाधिकी निवृत्तिसेभी (अपरं) भिन्न (तत्) वह सुवर्णपना है

भावार्थः— जैसा सुवर्णपना, ताम्रोपाधिके अभावमे विवक्षित होता है वैसाही चादी आदि उपाधिके अभावमे भी विवक्षित होता है अर्थात् जैसे परोपाधिके अभावमे शुभ सुवर्णत्व सामान्यमे अनेकता नहीं आती है। वैसेही भेद कल्पनारूप उपाधिके अभावसे, द्रव्यत्व सामान्यमें भी अनेकता नहीं आसकती है। अतः निश्चयनयमें अनेकता नहीं कही जासकती है।

उपसंहार।

एतेन हतास्ते ये स्वात्मप्रज्ञापराधतः केचित्।
अप्येकनिश्चयनयमनेकमिति सेवयन्ति यथा ॥ ६५९ ॥

अन्वयार्थः—(एतेन) इस कथनके द्वारा (स्वात्मप्रज्ञापराधतः) अपनी बुद्धिके अपराधसे (ये केचित्) जो कोई (एकनिश्चयनयं अपि) एकनिश्चयनयकोभी (अनेकं इति) अनेक इसप्रकारका (सेवयन्ति) मानतेहैं (ते हताः) वे खण्डित होगये (यथा) जैसे कि

भावार्थः— इसप्रकार अपनी बुद्धिके अपराधसे जो एक निश्चयनयको भी अनेक मानते है उनका पक्ष असमर्थ होनेसे खाण्डित होगया है।

अब निश्चयनयको अनेक कैसे मानते है यह बताकर उसमे दोष बताते है ।

शुद्धद्रव्यार्थिक इति स्यादेकः शुद्धनिश्चयो नाम ।
अपरोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति तदशुद्धनिश्चयो नाम ॥६६० ॥

इत्यादिकाश्च बहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते ।
सहि मिथ्यादृष्टित्वात् सर्वज्ञाज्ञावमानितो नियमात् ॥ ६६१ ॥

अन्वयार्थ.— (शुद्धद्रव्यार्थिकः इति) शुद्धद्रव्यार्थिक इसप्रकारका (एकः) एक (**शुद्धनिश्चयो नाम स्यात्**) शुद्ध निश्चयनय नामका नय है (अपि) और ('यत्') जो (अशुद्धद्रव्यार्थिक इति) अशुद्ध द्रव्यार्थिक इसप्रकारका नामवाला है (तत्) वह (अपर) दूसरा (अशुद्ध निश्चयनयो नाम) अशुद्ध निश्चय नामका नय है (इत्यादिकाः) इत्यादिक (बहवः च) बहुतसेही (निश्चनयस्य भेदा) निश्चयनयके भेद (**यस्य मते**) जिसके मतमें है (सः) वह (हि) निश्चयकरके (मिथ्यादृष्टित्वात्) मिथ्यादृष्टी होनेसे (**नियमात्**) नियमसे (**सर्वज्ञाज्ञावमानिन**) सर्वज्ञकी आज्ञा उलंघन न करनेवाला है ।

भावार्थः— शुद्ध द्रव्यार्थिकनय, अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय इत्यादि जिसके मतमें निश्चयनयके भेद माने गये है वह भी मिथ्यादृष्टी होनेसे सर्वज्ञकी आज्ञाकी अवज्ञा करनेवाला है । क्योंकि जैनागममें निश्चयनय एकही माना है । अतः उसे अनेक कहना आगमके विरुद्ध है । तात्पर्य ।

इदमत्र तु तात्पर्यमधिगन्तव्यं चिदादि यद्वस्तु ।
व्यवहारनिश्चयाभ्यामविरुद्धं यथात्मशुद्ध्यर्थम् ॥ ६६२ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र तु इद तात्पर्यं) यहांपर यह तात्पर्य है कि (यत्) जो (चिदादिवस्तु) चेतनादिक पदार्थ है वे (व्यवहारनिश्चयाभ्यां) व्यवहार तथा निश्चयनयके द्वारा (अविरुद्धं) परस्पर सापेक्ष ('तथा,') वैसे (अधिगन्तव्य) समझना चाहिये (यथा) जैसे (आत्मशुद्ध्यर्थं) आत्माकी शुद्धिके लिए हों ।

भावार्थः— साराश यह है कि जिस प्रकारसे निश्चय और व्यवहारनयमे विरोध न आवे उसप्रकारसे परस्पर

में अविरोधपूर्वक निश्चय तथा व्यवहारनयके द्वारा जाने गये जीवादिक पदार्थही आत्माकि शुद्धिकेलिए उपयुक्त हो सकते हैं। यह समझना चाहिए।

निश्चयनयका निमित्त और प्रयोजन।

अपि निश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यामात्रमिह वस्तु।
फलमात्मसिद्धिः स्यात कर्मकलंकावमुक्तबोधात्मा ॥ ६६३ ॥

अन्वयार्थ.— (अपि) और (इह) यहांपर (सामान्यमात्रं वस्तु) केवल समान्यरूप वस्तु (नियतं) निश्चयकरके (निश्चयस्य हेतुः) निश्चयनयका कारण है तथा (कर्मकलंकावमुक्तबोधात्मा) कर्मरूपी कलंकसे रहित ज्ञानस्वरूप (आत्मसिद्धिः) आत्माकी सिद्धि (फलं स्यात) फल है।

भावार्थ.— निश्चयनयके विषयके प्रतिपादनमें केवल सामान्य वस्तुका स्वरूप निमित्त पडता है। इसलिए सामान्यमात्र वस्तु निश्चयनयका कारण है। और सर्व कर्म कलंकोंसे रहित ज्ञानमय आत्माकी सिद्धिका होना निश्चयनयका प्रयोजन-फल है।

प्रमाणके स्वरूपके प्रतिपादनकी प्रतिज्ञा

उक्तो व्यवहारनयस्तदनु नयोनिश्चयःपृथक् पृथक्।
युगपद्द्वयं च मिलितं प्रमाणमिति लक्षणं वक्ष्ये॥ ६६४ ॥

अन्वयार्थ.— इसप्रकार (व्यवहारनयः) व्यवहारनय तथा (तदनु) उसके पश्चात (निश्चयनयः) निश्चयनय (पृथक् पृथक्) भिन्न २ रूपसे (उक्तः) कहा अब आगे (युगपत) एकसाथ (द्वयं च मिलितं) दोनों नयोंके मिलनेरूप जो (प्रमाणं इति) प्रमाण है उसके (लक्षणं) लक्षणको (वक्ष्ये) कहता हूं।

भावार्थः— इसप्रकार पृथक् २ रूपसे ५२२ वें पद्यसे लेकर ५९६ वें पद्यतक व्यवहारनयका स्वरूप और ५९७ वें पद्यसे लेकर ६६४ तक निश्चयनयका स्वरूप आदिका उहापोह पूर्वक विशद रीतिसे वर्णन किया गया। अब आगे दोनों नयोके युगपत मिलनेसे होनेवाले प्रमाणके स्वरूपको-लक्षणको कहते है।

प्रमाणका लक्षण।

विधिपूर्वः प्रतिषेधः प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयोः।
मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम् ॥६६५ ॥

अन्वयार्थ — (विधिपूर्व) विधिपूर्वक (प्रतिषेधः) प्रतिषेध होता है और (प्रतिषेधपुरस्सर) प्रतिषेधपूर्वक (विधिः) विधि होतीहै (तु) किंतु (अनयोः) इन दोनों विधि निषेधात्मक नयोंकी (मैत्री) मैत्री अर्थात् दोनों नयोंका एकसाथ रहना (प्रमाणं इति) प्रमाण है (वा) अथवा (स्वपराकारावगाहि) अपने और परके आकारको विषयकरनेवाला अर्थात् स्वपरव्यवसायात्मक (यत् ज्ञानं) जो ज्ञान है (तत् प्रमाणं) वह प्रमाण है।

भावार्थ — विधि सापेक्ष निषेधात्मक ज्ञानको निश्चयनय और निषेध सापेक्ष विधिरूप ज्ञानको व्यवहार-नय कहते है। तथा इन दोनों नयोंकी मैत्रीको प्रमाण कहते है। अथवा जो स्वपर व्यवसायात्मक ज्ञान है उसको प्रमाण कहते है।

खुलासा।

अयमर्थोऽर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य।
एकविकल्पो नयसादुभयविकल्पः प्रमाणमिति बोधः ॥ ६६६ ॥

अन्वयार्थ — (अय अर्थ) सारांश यह है कि (किल) निश्चयकरके (अर्थविकल्पः) अर्थके आकार रूप होना जो (ज्ञान) ज्ञान है वह (तस्य) प्रमाणका (स्वतः) स्वयंसिद्ध (लक्षणं) लक्षण है तथा (एक-विकल्पः बोधः) एकविकल्पात्मक ज्ञान (नयसात्) नयके आधीन है अर्थात सामान्यात्मक व विशेषात्मक ज्ञान नय कहलाता है और (उभयविकल्पः) उभयविकल्पात्मकज्ञान–सामान्यविशेपात्मकज्ञान (प्रमाणं इति) प्रमाण कहलाता है अर्थात् उभयविकल्पात्मकज्ञान प्रमाणके आधीन है।

भावार्थः— अर्थ विकल्पात्मक ज्ञान प्रमाणका लक्षण है। प्रत्येक ज्ञान अर्थ विकल्पात्मक होता है। जो ज्ञान एकदेशको विषय करता है वह नयज्ञान कहलाता है। और जो ज्ञान युगपत सर्व देशको विषय करता है वह प्रमाणज्ञान कहलाता है। नय श्रुतज्ञानका भेद है। कारणकि नयज्ञान अत्यन्त परोक्ष हैं। इसलिए वह अत्यन्त परोक्ष श्रुतज्ञानमेंही गर्भित हो सकता है। अवधि मन पर्यय और केवलज्ञानमें तो गर्भित होही नहीं सकता है। रही मति–

१ अर्थ शब्दका अर्थ स्व और पर विषय तथा विकल्पका अर्थ व्यवसाय है। इसलिए अर्थ विकल्पका अर्थ–स्वपर व्यवसायात्मक भी होता है।

ज्ञानकी बात, सो वह भी साव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है। इसलिए नयज्ञान उसमें भी गर्भित नहीं होसकता है। मतिज्ञानादि चारोंही ज्ञान स्वार्थ होते है, और श्रुतज्ञान स्वार्थ तथा परार्थ दोनोंही प्रकारका होता है। ज्ञानात्मकको स्वार्थ और वचनात्मकको परार्थ कहते है। नय परार्थश्रुतज्ञानके भेदमें गर्भित होता है अर्थात यदि परार्थ श्रुतज्ञान एक देशको विषय करनेवाला हुआ तो उसे नय कहते है। तथा यदि वह परार्थ श्रुतज्ञान सर्व देशको विषय करनेवाला हुआ तो उसे प्रमाण कहते हैं।

शंका।

ननु चास्त्येकल्पोप्यविरुद्धोभयाविकल्प एवास्ति।
कथमिव तदेकसमये विरुद्धभावद्वयोर्विकल्पः स्यात् ॥ ६६७॥

अथ चेदस्ति विकल्पो क्रमेण युगपद्वा बलाद्वाच्यः।
अथ चेत् क्रमेण नय इति भवति न नियमात्प्रमाणमितिदोषः॥६६८॥

युगपच्चेदथ न मिथो विरोधिनोर्यौगपद्यं स्यात्।
दृष्टिविरुद्धत्वादपि प्रकाशतमसोर्द्वयोरिति चेत् ॥ ६६९ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि यदि (एकविकल्पः) एक विकल्प (अस्ति) है (अपि) और (अविरुद्धोभयविकल्प एव अस्ति) अविरोधी दो विकल्पभी हैं अर्थात् यदि एक विकल्पात्मकनय और उभयाविकल्पात्मक प्रमाण मानतेहो (तत्) तो (एकसमये) एकससमयमे (विरुद्धभावद्वयोर्विकल्पः) परस्पर विरोधी दोभावोंका विकल्प (कथमिव स्यात्) किसतरह होगा (अथ चेत्) यदि (क्रमेण) क्रमसे (वा) अथवा (युगपत्) युगपत् (बलात्) बलपूर्वक (विकल्पः वाच्यः अस्ति) विकल्प वाच्य होता है ऐसा कहोगे तो भी यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि (अथ चेत्) यदि वे दोनों विकल्प (क्रमेण) क्रमसे होते है ऐसा कहोगे तो (नियमात्) नियमसे (नय इति भवति) नय यह होगा (प्रमाण न) प्रमाण नहीं होगा (इति दोषः) यह दोष आवेगा (अथ युगपत् चेत्) यदि वे दोनों विकल्प युगपत् होते है ऐसा कहोगेतो (दृष्टिविरुद्धत्वात्) प्रत्यक्ष विरुद्ध होनेसे (प्रकाशतमसो· द्वयोः) प्रकाश और अन्धकार दोनोंके समान (मिथः) परस्परमें (विरो

धिनोः) विरोधी दो विकल्पोंका (यौगपद्यं अपि) यौगपद्यभी (न स्यात्) नहीं होगा (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि अविरुद्ध उभय धर्मवालाभी एक विकल्प होसकता है और वह विकल्प होनेसे नयका विषय होता है । परन्तु विरुद्ध दो भावोंका एकविकल्प नहीं हो सकेगा, कारण उन विरुद्ध उभय विकल्पोंमेंसे दोनोंका एक समयमें जो ग्रहण होगा वह क्रमसे होगा या युगपत यदि क्रमसे होगा तो केवल नय पक्षही सिद्ध हो सकेगा । प्रमाणपक्ष सिद्ध नहीं हो सकेगा । कदाचित् इस दोषके परिहारके लिए यह कहाजाय कि उन परस्पर विरोधी दोनों धर्मोंका युगपत ग्रहण हो सकता है । तो यह कहनाभी ठीक नहीं जचता कारण जैसे परस्पर विरोधी प्रकाश और अन्धकारका यौगपद्य असंभव है वैसेही अस्तिनास्ति आदिरूप उभय धर्मोंकाभी यौगपद्य असंभव है ।

समाधान ।

न यतो युक्तिविशेषाद्युगपद्वृत्तिर्विरोधिनामस्ति ।
सदसदनेकेषामिह भावाभावध्रुवाध्रुवाणां च ॥ ६७० ॥

अन्वयार्थः— (न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि [इह] यहांपर (युक्तिविशेषात्) युक्तिविशेषसे [सदसदनेकेषां] सत असतरूप अनेक [भावाभावध्रुवाध्रुवाणां] भाव अभाव नित्य और अनित्यात्मक [विरोधिनां च) विरोधियोंकीभी [युगपद्वृत्तिः अस्ति] युगपत वृत्ति होती है ।

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है । कारणकि युक्ति विशेषसे परस्पर विरोधी सत असत भाव अभाव ध्रुव अध्रुवकी भी युगपत वृत्ति पाई जाती है ।

स्पष्टीकरण ।

अयमर्थो जीवादौ प्रकृतपरामर्शपूर्वकं ज्ञानम् ।
यदि वा सदभिज्ञानं यथा हि सोयं बलाद्‌दृश्यांशि ॥ ६७१ ॥

अन्वयार्थः— (अयं अर्थः) उक्त कथनका सारांश यह है कि (जीवादौ) जीवादिकके विषयमें (प्रकृतपरामर्शपूर्वकं) प्रकृत नयोंके परामर्शपूर्वक जो (ज्ञानं) ज्ञान है उसको (यदि वा) अथवा (सोऽयं) यह वही

है इसप्रकार (बलादुद्धयामर्शि) बलपूर्वक दोनों विकल्पोंको विषय करनेवाला जो (सदभिज्ञानं) प्रत्यभिज्ञान है उसको प्रमाण कहते है (यथा हि) जैसाकि आगे खुलासा करते है ।

भावार्थः— हमारे उक्त कथनका सारांश यह है कि प्रकृत उभयनयोंके परामर्श पूर्वक ज्ञानको अथवा जैसे यह वही है इसप्रकारसे दोनों नयों के जोडरूप समीचीन प्रत्यभिज्ञानको प्रमाण कहते हैं ।

दृष्टांत ।

सोऽयं जीवविशेषो यः सामान्येन सदिति वस्तुमयः ।
संस्कारस्य वशादिह सामान्यविशेषजं भवेज्ज्ञानम् ॥ ६७२ ॥

अन्वयार्थः— (यः) जो (सामान्येन) सामान्यरूपसे [सदितिवस्तुमयः] सत् इसप्रकार वस्तु रूप था [सोऽयं] वही यह [जीवविशेषः] जीव विशेष है इसप्रकारका [इह] यहांपर [संस्कारस्य वशात्] संस्कारके वशसे [सामान्यविशेषजं] सामान्य विशेषसे होनेवाला प्रमाणात्मक (ज्ञानं भवेत्) ज्ञान होता है।

भावार्थः— पहिले जो सामान्यपनेसे सत् रूप कहा गया था वही यह जीव विशेष है इसप्रकार युक्ति पूर्वक परस्पर विरोधी सामान्य विशेषों को संस्कार वश जोड रूपसे युगपत् विषय करने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है ।

अस्त्युपयोगि ज्ञानं सामान्यविशेषयोः समं सम्यक् ।
आदर्शस्थानीयात् तस्य प्रतिबिम्बमात्रतोऽन्यस्य ॥ ६७३ ॥

अन्वयार्थः— (समं) एकसाथ (सामान्यविशेषयोः) सामान्य और विशेषको (उपयोगि) विषय करनेवाला (ज्ञानं) ज्ञान (सम्यक्) सम्यग्ज्ञान कहलाता है क्योंकि (तस्य आदर्श स्थानीयात्) ज्ञान आदर्शके समान है और (अन्यस्य प्रतिबिम्बमात्रतः) ज्ञेय प्रतिबिम्बके समान है ।

भावार्थ — जैसे दर्पण और दर्पणगत प्रतिबिम्बका युगपत् प्रतिभास होता है वैसेही युगपत् स्व और पर विषय करनेवाला ज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहलाता है अन्य नहीं । क्योंकि ज्ञानको दर्पणके समान, और तद्गत विषयको प्रतिबिम्बके समान माना है ।

शंका ।

ननु चैवं नययुग्मं व्यस्तं नय एव न प्रमाणं स्यात् ।
तादिह समस्तं योगात् प्रमाणमिति केवलं न नयः ॥ ६७४ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि [एवं) इसप्रकारसे [इह) यहांपर (व्यस्त नययुग्मं) पृथक् २ रूपसे प्रयोग किये गये दोनों नय (नय एव स्यात्) नयही कहलावेंगे (प्रमाणं न) प्रमाण नहीं और (योगात) योगसे [समस्त तत्) मिले हुए वे दोनों नय (केवलं प्रमाण इति) केवल प्रमाणही कहलावेंगे [न नयः] नय नहीं (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो ।

भावार्थः—शंकाकारका कहना है कि यदि उभयनयावलम्बीको प्रमाण कहते हो तो अस्ति और नास्ति इन दोनों व्यस्त नयोंको केवल नय तथा अस्तिनास्ति आदि समस्त नयोंको नय न कहकर केवल प्रमाण कहना चाहिए ?

समाधान ।

तन्न यतो नययोगादतिरिक्तरसान्तरं प्रमाणमिदम् ।
लक्षणविषयोदाहृतिहेतुफलाख्यादिभेदभिन्नत्वात् ॥ ६७५ ॥

अन्वयार्थः— (तन्न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकी (इदं प्रमाणं) यह प्रमाण (लक्षणविषयोदाहृतिहेतुफलाख्यादिभेदभिन्नत्वात्) लक्षण, विषय, उदाहरण, हेतु, फल और नाम आदि भेदोंसे भिन्न होनेके कारण (नययोगात्) नय योगसे- मिलेहुए नयोंसे (अतिरिक्तरसान्तरं) भिन्न जातिका है ।

भावार्थः— शंकाकारका उक्तकथन ठीक नहीं है । क्योंकि सम्मिलित योगरूप अस्तिनास्ति आदि मिश्र-विकल्पात्मक नयोंसे प्रमाणका विषय भिन्न है । कारणकि अनेक धर्मोंके सम्मिलितरूप कथनकी अपेक्षासे मिश्र भंगात्मक विषयको नय विषय करता है । और दोनों नयोंके जोडरूप तृतीय अवस्थापन्न विषयको प्रमाण विषय करता है । इसलिए सम्मिलित भंगरूप नय तथा प्रमाणमें लक्षण, विषय, उदाहरण निमित्त और फलआदिकी भिन्नता होनेसे समग्रनय-मिश्रनय तथा प्रमाणमें भेद है । दोनों एक नहीं हो सकते है । अब आगे-प्रमाणके लक्षण विषय आदिको दिखाते हे ।

तत्रोक्तं लक्षणमिह सर्वस्वग्राहकं प्रमाणमिति ।
विषयो वस्तुसमस्तं निरंशदेशादिभूरुदाहरणम् ॥ ६७६ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन प्रमाणके लक्षणादिकमेसे (इह) यहांपर [प्रमाणं सर्वस्वग्राहकं] प्रमाण सबका ग्राहक होता है (इति लक्षण) यह प्रमाणका लक्षण और (समस्तं वस्तु विषयः) समस्त वस्तु उसका विषय तथा [निरंशदेशादिभूरुदाहरण] निरंश देशादिक भू उदाहरण (उक्तं)कहागया है।

भावार्थः— प्रमाणका सर्वांशग्राहक लक्षण, समस्त वस्तु विषय और अखण्डद्रव्यादि उदाहरण कहा गया है।

प्रमाणकी प्रवृत्तिमें हेतु।

हेतुस्तत्वबुभुत्सोः संदिग्धस्याथवा च बालस्य।
सार्थमनेकं द्रव्यं हस्तामलकवदवेतुकामस्य ६७७ ॥

अन्वयार्थः– (हस्तामलकवत्) हाथमे रखे हुये आवलेकी तरह (अनेकं) अनेकरूप (द्रव्यं) द्रव्यको (सार्थं) युगपत् (अवेतु कामस्य) जाननेकी इच्छा रखनेवाले (सन्दिग्धस्य) सन्दिग्धको (अथवा) अथवा (बालस्य च) अज्ञानिको (तत्वबुभुत्सा) तत्वोंकी जिज्ञासाका होना (हेतुः) प्रमाणका कारण है।

भावार्थः—तत्वोंके स्वरूपमें सन्देह अथवा अज्ञान होनेके कारण जो युगपत् अनेक धर्मात्मक द्रव्यके स्वरूपको जाननेकी इच्छा रखते है ऐसे सन्दिग्ध अथवा अज्ञानी जीवोंकी युगपत् द्रव्यके सर्वांशोंके जाननेकी इच्छाही प्रमाणके स्वरूपके जाननेके लिए हेतु पड़ती है। आगे प्रमाणके फल, संज्ञा और भेदोंको बताते है।

फलमस्यानुभवः स्यात्समक्षमिव सर्ववस्तुजातस्य।
आख्या प्रमाणमिति किल भेदः प्रत्यक्षमथ परोक्षं च ॥ ६७८ ॥

अन्वयार्थः—(सर्ववस्तु जातस्य) सम्पूर्ण वस्तुओंके धर्मोंका (समक्षं इव) प्रत्यक्षके समान (अनुभव) अनुभव होना (अस्य फलं स्यात्) प्रमाणका फल है तथा (किल) निश्चयकरके (प्रमाणं इति आख्या) प्रमाण यह संज्ञा है (अथ) और (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष (च) तथा (परोक्षं) परोक्ष ये (भेद) भेद है।

भावार्थः— प्रत्यक्षमे देखेहुए पदार्थके समान वस्तुके सब धर्मोंका युगपत् अनुभव होना प्रमाणका फल है। तथा प्रमाण यह उसका नाम है और प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ये दो उसके भेद हैं।

उपसंहार।

ज्ञानविशेषो नय इति ज्ञानविशेषः प्रमाणमिति नियमात्।
उभयोरन्तर्भेदो विषयविशेषान्न वस्तुतो भेदः॥ ६७९॥

अन्वयार्थः— (नियमात्) नियमसे (नय इति) नय यह (ज्ञानविशेषः) ज्ञानविशेष है और (प्रमाणं इति) प्रमाण यहभी (ज्ञानविशेषः) ज्ञानविशेष है इसलिए (उभयोः) दोनोंमें (विषयविशेषात्) विषयकी विशेषतासे (अन्तर्भेदः) अन्तरंगमें भेद है किंतु (वस्तुतः भेदः न) परमार्थ रीतिसे कुछ भेद नहीं है।

भावार्थः— इसप्रकारसे यद्यपि नय और प्रमाण दोनोंही ज्ञानविशेष है। अतः वास्तवमें ज्ञानदृष्टिसे उन दोनोंमें भेद नहीं किया जासकता है तथापि विषय भेदसे उन दोनोंमें भेद है ऐसा कहा जाता है।

स यथा विषयविशेषो द्रव्यैकांशो नयस्य योऽन्यतमः।
सोप्यपरस्तदपर इह निखिलं विषयः प्रमाणजातस्य॥ ६८०॥

अन्वयार्थः— (सः विषयविशेषः यथा) वह विषय विशेष इसप्रकार है कि जैसे (इह) यहांपर (यः अन्यतमः द्रव्यैकांशः) जो कोई द्रव्यका एक अंश है (सः) वह (नयस्य) नयका विषय है और वह अंश तथा (तदपरः) उससे भिन्न (अपरः अपि) दूसरा अंशभी इसप्रकार (निखिलं) सम्पूर्ण अंश (प्रमाणजातस्य) प्रमाणोंके अर्थात् दोनों प्रमाणोंके (विषयः) विषय होते है।

भावार्थः— अति संक्षेपमे द्रव्यके सामान्य और विशेष दो अंश होते है। उनमेसे नय मुख्य गौण विवक्षासे एक अंशका ग्राहक होता है। और प्रमाण[1] दोनोंही अंशोंका युगपत् ग्रहण करनेवाला होता है। जैसा कि कहा भी है।

यदनेकनयसमूहे संग्रहकरणादनेकधर्मत्वम्।
तत्सदपि न सदिव यतस्तदनेकत्वं विरुद्धधर्ममयम्॥ ६८१॥

---

१ प्रमाणके दोनोंही [प्रत्यक्ष परोक्ष] भेद दोनोंको युगपत् ग्रहण करता है।

अन्वयार्थः— (**यत्**) जो (**अनेकनयसमूहे**) अनेक नयोंके समूहमें अर्थात् अस्ति नास्ति आदि भंगोंमें (**संग्रहकरणात्**) केवल संग्रह करनेसे (**अनेकधर्मत्व**) अनेक धर्मपना है (**तत्**) वह (**सदपि**) सत् होकरकेभी (**सदिव न**) सत्की तरह नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**तदनेकत्व**) वह अनेक धर्मपना (**विरुद्ध धर्ममयं**) विरुद्ध धर्ममय है ।

भावार्थः— अस्तिनास्ति आदि सयोगी भंगोको विषय करनेवाले नयोंमें जो अनेक धर्मत्व पायाजाता है। वह क्रमपूर्वक विरुद्ध धर्ममय होता है । उसमें एकका दूसरेके साथ 'यह वही है' इसप्रकार प्रत्यभिज्ञान रूपसे अतिरिक्त रसान्तरपना नहीं रहता है । इसलिए वह अनेक धर्मत्व प्रमाणके विषयभूत अनेक धर्मत्व समान नही होता है । किन्तु वह केवल भिन्न कालवर्ती होकर क्रमार्पितपनेकी अपेक्षासे अनेक धर्मत्वरूप होता है । वास्तविक नहीं क्योंकि वास्तवमें तो वह एक धर्मत्वरूपही होता है ।

यदनेकांशग्राहकमिह प्रमाणं न प्रत्यनीकतया ।
प्रत्युत मैत्रीभावादिति नयभेदाददः प्रभिन्नं स्यात् ॥ ६८२ ॥

अन्वयार्थः— (**यत्**) जो (**इह**) यहांपर (**प्रमाणं अनेकांशग्राहकं**) प्रमाण अनेक अंशोंका ग्रहण करनेवाला है ऐसा कहा गया है वह, (**प्रत्यनीकतया न**) प्रत्यनीकपनेसे अर्थात् परस्पर विरोधीपनेसे नहीं कहागया है (**प्रत्युत**) किंतु (**मैत्रीभावात्**) मैत्रीभावसे कहागया है (**इति**) इसलिये (**नयभेदात्**) संयोगी भंगात्मक नयोंके भेदसे (**अदः**) यह प्रमाण (**भिन्नं स्यात्**) भिन्न है ।

भावार्थः— और जो प्रमाणमें अनेकांश ग्राहकपना है वह "जो द्रव्यार्थिक नयसे एक है वही पर्यायार्थिक नयसे अनेक है" इत्याकारक परस्पर मैत्रीभावसे युगपत् अनेक अंशोंको विषय करनेवाला ग्राहकपना है परस्पर प्रत्यनी-कतासे—विरोधभावसे नयोंके अस्तिनास्तिआदि भंगोंके समान नहीं है इसलिए उन संयोगी नयोंसे यह प्रमाणकी जाति भिन्न है ।

इसप्रकार ६७४ वे पद्यकी शंकाका समाधान करके आगे— युगपत् कहा जानेवाला अस्तिनास्तिरूप भंग एक-भंग कैसे है इसविषयमें उहापोहात्मक दृष्टिसे विचार करते है ।

शंका।

ननु युगपदुच्यमानं नययुग्मं तद्यथास्ति नास्तीति।
एको भंगः कथमयमेकांशग्राहको नयो न्नान्यः॥ ६८३॥

अपि चास्ति न चास्तीति सममेकोक्त्या प्रमाणनाशः स्यात्।
अथ च क्रमेण यदि वा स्वस्य रिपुः स्वयमहो स्वनाशाय॥ ६८४॥

अथवाऽवक्तव्यमयो वक्तुमशक्यात्समं स चेद्भंगः।
पूर्वापरबाधायाःकुतः प्रमाणात्प्रमाणमिह सिद्ध्येत्॥ ६८५॥

इदमपि वक्तुमयुक्तं वक्ता नय एव न प्रमाणमिह।
मूलविनाशाय यतोऽवक्तरि किल चेदवाच्यतादोषः॥ ६८६॥

अन्वयार्थ — [ननु] शंकाकारका कहना है कि (यथा] जैसे [अस्तिनास्ति इति] अस्तिनास्ति यह (युगपत् उच्चमानं) एकसाथ कहागया जो (नययुग्म.) नययुग्म (एकोभंग.) एक भंग है (तत्] वह (अयं] यह एकभंग (एकांशग्राहक.] एक अंशको ग्रहण करनेवाला (नयः) नय है [अन्यत् न) अन्य नहीं है ('इति' कथं] यह कैसे ? (अपि च] तथा यदि कहोकि [अस्ति) अस्ति (च) और (न अस्ति इति) नास्ति ये दोनों (सम) एकसाथ (एकोक्त्या) एक शब्दके द्वारा कहे जाते है तो (प्रमाणनाश स्यात्] प्रमाणका नाश होजायगा (अथ च यदि] और यदि यह कहोकि वे दोनों भंग [क्रमेण वा) क्रमसे ही कहे जाते है तो (अहो) आश्चर्य है कि (स्वयं विनाशाय] स्वय अपने नाशके लिए (स्वस्य रिपुः] अपने शत्रु हो जावेंगे [अथवा] अथवा [समं] एकसाथ [वक्तुं अशक्यत्वात्] कहनेके लिए असमर्थ होनेसे (सः भंग] वह भग (अवक्तव्यमयः चेत्] अवक्तव्यमय है यदि ऐसा कहोगे तो (पूर्वापरबाधायाः) पूर्वापर बाधाके आनेसे (इह) यहापर (कुतः प्रमाणात्) कौनसे प्रमासे (प्रमाण सिध्येत्) प्रमाण, सिद्ध होगा तथा (इह) यहांपर (इदमपि) यहभी (वक्तुं अयुक्तं) कहनेकेलिये ठीक नहीं है कि (वक्ता नय एव) वक्ता केवलनय होता है (प्रमाण न) प्रमाण नहीं (यतः) क्योंकि (अवक्तरि चेत्) यदि प्रमाणको

अव्यक्त मानोगे तो प्रमाणके अव्यक्त होनेपर (किल) निश्चयसे (मूलविनाशाय) मूलके विनाशके लिये (अवाच्यता दोष) अव्यक्तव्यदोष आयगा अर्थात् प्रमाणको अवक्ता माननेसे अवक्तव्य दोषके कारण मूलका नाश होजायगा (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो

भावार्थः— शंकाकारकी शंका है कि अस्तिनास्ति यह भंग अनेक होताहुआ भी यदि क्रमसे युगपत् कहा जानेके कारण एक भंग कहा जाता है तो फिर जो एकांशका ग्राहक होता है वह नय कहलाता है अन्य नहीं ऐसा क्यों कहते हो ? क्योंकि 'अस्तिनास्ति' इस भगमें एक अंशपनेके न रहते हुए भी नयपना कहा जाता है।

यदि कदाचित् कहो कि अस्तिनास्तिको क्रमसे युगपत् एक उक्तिके द्वारा कहनेसे वह एक भंग कहा जाता है तो प्रमाणके अभावका प्रसंग आयगा। क्योंकि यदि अस्तिनास्ति इस दोनोंकोही वह अस्तिनास्ति रूप भग विषय करलेता है तो प्रमाणके विषयकाही अभाव हो जायगा और विषयके अभावमें प्रमाणका भी अभाव हो जायगा।

यदि कदाचित् कहो कि प्रमाण, भाव तथा अभाव दोनोंको युगपत् विषय करता है। किन्तु नय क्रमसे विषय करता है' तो आस्तिके विरोधि नास्तिको आस्तिके साथ योजित करना अपने नाशके लिए स्वतः शत्रुको उपस्थित करनेके बराबर है। तथा इसी प्रकार अवक्तव्य रूपभगमें भी यह शंका उपस्थित होती है कि यदि "युगपत् अस्ति और नास्ति कहा नहीं जाता है। इसलिए अवक्तव्य भग होजाता है" ऐसा कहोगे तो यह कहना 'यदि कहा नहीं जाता है तो अवक्तव्य शब्दके द्वारा क्यों कहते हो' इसप्रकारकी पूर्वापर बाधाके उपस्थित होनेसे कैसे प्रमाणीक माना जासकता है। तथा नयही वक्ता है। प्रमाण वक्ता नहीं है ऐसा माननेसे प्रमाणको अवक्ता सिद्ध होनेपर मूलके घातका प्रसंग आवेगा। कारणकि प्रमाणके अधीनही तो वस्तु व्यवस्था हैं। और यदि उसे अवक्ता मानोगे तो वस्तुकी व्यवस्थाको कौन प्रतिपादित करेगा।

समाधान।

नैवं यतः प्रमाणं भंगध्वंसादभगबोधवपुः।
भंगात्मको नयं इति यावानिह तदंशधर्मत्वात् ॥ ६८७ः ॥

अन्वयार्थ — (एव न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यत) क्योंकि (प्रमाणं) प्रमाण भंगध्वंसात्) भंगोंके नाशसे (अभंगबोधवपुः) अभंगज्ञानात्मक होता है और (इह) यहांपर (यावान् नयः) जितनेभी नय है वे सब (तदंशधर्मत्वात्) अंशको विषय करनेवाले हैं इसलिए (भंगात्मकः इति) भंगात्मक होते है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक नहीं है । क्योंकि प्रमाण भंगोंको मिटाकरके अभंग ज्ञानात्मक होता है और जितने भी नय हैं वे सब अंशधर्मके विषय करनेवाले होते है । अतः भंगात्मक होते हैं ।

सबही नय विकल्पात्मक हैं ।

स यथास्ति च नास्तीति च क्रमेण युगपच्च वानयोर्भंगः ।
अपि वाऽवक्तव्यमिदं नयो विकल्पानतिक्रमादेव ॥ ६८८ ॥

अन्वयार्थः— (स यथा) वह इसप्रकार है कि जैसे (विकल्पानतिक्रमात् एव) विकल्पका उलंघन नहीं करनेसेही (क्रमेण) क्रमपूर्वक (अस्ति) अस्ति (च) और (नास्ति इति च) नास्ति ये दोनो भंग (वा) अथवा (अनयोः) अस्तिनास्तिका क्रमपूर्वक (युगपत्) एकसाथ कहना यह (भंगः) भंग (अपि वा) तथा (इदं अवक्तव्यं) यह अवक्तव्य भंगभी (नयः) नय है ।

भावार्थः— अस्ति व नास्ति तथा क्रमपूर्वक युगपत दोनों अर्थात अस्ति नास्ति अथवा अवक्तव्य ये चारोंही भंग विकल्पात्मकही है । विकल्पको उलंघन नहीं करसकते हैं । इसलिए चारोंही भंग नय कहलाते है जैसा कि आगे निरूपण करते है ।

तत्रास्ति च नास्ति समं भंगस्यास्यैकधर्मता नियमात् ।
न पुनः प्रमाणमिव किल विरुद्धधर्मद्वयाधिरूढत्वम् ॥ ६८९ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन भंगोंमेंसे (किल) निश्चयकरके (समं) एकसाथ (अस्ति) अस्ति (च) और (नास्ति) नास्तिरूप (अस्य भंगस्य) इसमिलेहुये एकभंगको (नियमात्) नियमसे (एकधर्मता)

१ ' समयोऽस्ति ' मूल पुस्तकमें ऐसा पाठ है ।

एक धर्मपना है (पुनः) किंतु (प्रमाणं इव) प्रमाणकी तरह (विरुद्धधर्मद्वयादिरूढत्व न) विरुद्ध दो धर्मोंका एकसाथ विषय करनेवालापना (न) नहीं है।

भावार्थः— अस्ति और नास्तिरूप व्यक्त भगोंमें तो एकांशपना स्पष्टही है। अत ग्रन्थकार उनके विषय में कुछ न कहकर तीसरे द्विसंयोगी अस्ति–नास्तिरूप भगके विषयमें विचार करतें है कि क्रमपूर्वक युगपत कहे जानेवाले अस्ति–नास्तिरूप भगकोभी नियमसे एकही धर्मता है क्योंकि प्रमाणके समान विरुद्ध धर्मद्वयाधिरूढपना नहीं है अर्थात प्रमाणके समान वह विरुद्ध अस्तिनास्तिरूप धर्मोंको युगपत विषय नहीं करता है।

स्पष्टीकरण।

अयमर्थश्चार्थवशादथ च विवक्षावशात्तदंशत्वम्।
युगपदिदं कथ्यमानं क्रमाज्ज्ञेय तथापि तत्स यथा ॥ ६९० ॥

अन्वयार्थः— (अयं अर्थः) उपरके कथनका खुलासा यह है कि (अर्थवशात्) प्रयोजन वशसे (अथ च) तथा (विवक्षावशात् च) विवक्षा वशसेभी (क्रमात्) क्रमसे (तथा) और (युगपदपि) युगपत्भी (कथ्यमानं) कहाजानेवाला (तत् इदं) वह यह (तदंशत्व) तदंशपना अर्थात अंशधर्मपना अस्ति, नास्ति, व अस्तिनास्ति आदिमें (ज्ञेयं) समझना चाहिये (स यथा) जैसाकि आगे बताया जाता है।

भावार्थः— प्रयोजनवश व विवक्षावश व्यस्त तथा समस्त रूपसे कहेगये अस्ति, नास्ति, और अस्तिनास्ति इन तीनों भंगोको एकांशपना सिद्ध है जैसाकि आगेके पद्यसे खुलासा करतें है।

अस्ति स्वरूपसिद्धेर्नास्ति च पररूपासिद्ध्यभावाच्च।
अपरस्योभयरूपादितस्ततः कथितमस्ति नास्तीति ॥ ६९१ ॥

अन्वयार्थः—[स्वरूपसिद्धेः] स्वरूप सिद्धिसे (अस्ति] है [च] तथा [पररूपसिद्ध्यभावात्] पररूपसिद्धिके अभावसे [नास्ति च] नहींभी है और (ततः उभयरूपादितः]उन दोनोंकी युगपत् क्रम विवक्षासे (अपरस्य)तिसरे भगको (अस्तिनास्ति इति कथितं) अस्ति नास्ति इसप्रकर कहा

भावार्थ — स्वरूपसिद्धिकी अपेक्षासे अस्ति और पररूपकी सिद्धिके अभावकी अपेक्षासे नास्ति भंग कहा

जाता है। तथा पररूपकी सिद्धि और पररूपकी सिद्धिकेअभावकी क्रमपूर्वक विवक्षा होनेसे अस्तिनास्ति यह तीसरा भंग कहाजाता है।

उक्तं प्रमाणदर्शनमस्ति स योयं हि नास्तिमानर्थः।
भवतोदमुदाहरणं न कथंचिद्वै प्रमाणतोऽन्यत्र ॥ ६९२ ॥

अन्वयार्थः— (यः अर्थः अस्ति) जो अर्थ अस्तिरूप है (स हि) वही अर्थ (नास्तिमान्) नास्ति मान है [अयं] यह प्रमाणदर्शनं उक्तं) प्रमाणका दृष्टांत कहाजा चुका है और [इदं उदाहरण]यह दृष्टांत[वै] निश्चय करके [प्रमाणतः अन्यत्र] प्रमाणको छोडकरके नयपक्षमे [कथंचित् न भवति] किसीभीतरह नहीं घटसकता है।

भावार्थः— जो अर्थ अस्तिरूप है वही नास्तिरूप है यह प्रमाणका उदाहरण है। और यह उदाहरण प्रमाणको छोडकर अस्ति, नास्ति तथा अस्तिनास्ति इन तीनोंमें कथंचित्भी नहीं घटाया जासकता है।

,युगपत् दोनों धर्मोंकी विवक्षा होनेसे अवक्तव्यभंग होजाता है जिसकाकि आगे खुलासा करते है।

तदभिज्ञानं हि यथा वक्तुमशक्यात् समं नयस्य यतः।
अपि तुर्यो नयभंगस्तत्त्वावक्तव्यतां श्रितस्तस्मात् ॥ ६९३ ॥

न पुनर्वक्तुमशक्यं युगपद्धर्मद्वयं प्रमाणस्य।
क्रमवर्ती केवलमिह नयः प्रमाणं न तद्वादिह यस्मात् ॥ ६९४ ॥

यत्किल पुनः प्रमाणं वक्तुमलं वस्तुजातमिह यावत्।
सदसदनेकैकमथो नित्यानित्यादिकं च युगपदिति ॥ ६९५ ॥

अन्वयार्थ.— [तदभिज्ञानं हि यथा) उसका खुलासा इसप्रकार है जैसेकि (यतः) जिसकारणसे (समं] युगपत् विरुद्ध दो धर्मोंको [नयस्य वक्तुं अशक्यत्वात्] नय कहनेके लिये असमर्थ होता है [तस्मात्] तिस कारणसे [तत्वावक्तव्यतां श्रितः] तत्वकी अवक्तव्यताको आश्रित करनेवाला (तुर्य. अपि) चौथा

भी [नयभंगः] नयभंग है [पुनः] किंतु (प्रमाणस्य) प्रमाणको [युगपत् धर्मद्वयं] एकसाथ दो धर्मोका (वक्तुं] प्रतिपादन करना [अशक्यं न] अशक्य नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [इह] यहांपर [केवलं] केवल [नय] नय [क्रमवर्ती] क्रमवर्ती है किंतु [तद्वत्] नयकी तरह [इह] यहांपर [प्रमाणं न] प्रमाण क्रम वर्ती नहीं है [पुनः] और [इह] यहांपर [किल] निश्चयसे (यत्) जो (प्रमाणं) प्रमाण है ('तत्') वह (सदसदनेकैकं) सत्, असत् , एक अनेक (अथ च) और (नित्यादिक) नित्य अनित्य वगैरह (यावत् वस्तुजातं) संपूर्ण वस्तुके धर्मोको (युगपत्) एकसाथ (वक्तुं) कहनेके लिये (अलं) समर्थ है।

भावार्थः— अस्ति और नास्तिको क्रमपूर्वक मिलाकर एकसाथ बोलनेसे जैसे अस्तिनास्ति तीसराभंग हो जाता है वैसेही जिससमय अस्ति और नास्तिके युगपत प्रतिपादन करनेकी वक्ताकी तुल्यबल विरोधपूर्वक इच्छा होती है उससमय अस्ति व नास्ति एकसाथ एकालापसे नही कहे जा सकते हैं इसलिए अवक्तव्य नामका चौथाभंग हो जाता है। परन्तु प्रमाणका विषय सामान्य विशेषात्मक होनेसे अवक्तव्य नहीं है। किन्तु सत् असत, एक अनेक, नित्य अनित्य आदि सबही धर्म प्रमाणके द्वारा युगपत कहे जासकते है। क्योंकि, प्रमाण, नयके समान क्रमवर्ती नहीं है।

इसप्रकार ६८३ वें पद्यमे लेकर ६८६ वे पद्यतककी गई शंकाका समाधान करते हुए अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति और अवक्तव्य भंगके विषयसे प्रमाणके विषयको भिन्न बताकर आगे प्रमाणके भेदोंको बताते हे।

प्रमाणके भेद और उनके लक्षण।

अथ तद्द्विधा प्रमाणं ज्ञानं प्रत्यक्षमथ परोक्षं च।
असहायं प्रत्यक्षं भवति परोक्षं सहायसापेक्षम् ॥ ६९६ ॥

अन्वयार्थः— (अथ) अब प्रमाणके भेदोंका निरूपण करते है कि (तत् प्रमाणज्ञानं) वह प्रमाणज्ञान (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष (अथ च) और (परोक्षं) परोक्ष इसप्रकारसे (द्विधा) दो प्रकारका है उनमें (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष (असहायं) सहायता रहित तथा (परोक्षं) परोक्ष (सहाय सापेक्षं) इंद्रिय आलोक वगैरहकी अपेक्षा सहित अर्थात् उनकी अपेक्षा रखनेवाला (भवति) होता है।

भावार्थः— प्रमाणके दो भेद है एक प्रत्यक्ष प्रमाण और दूसरा परोक्ष प्रमाण। उनमेंसे इन्द्रिय आलोक

आदिकी अपेक्षा नहीं करके उत्पन्न होनेवाले असहाय ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। और इन्द्रियादिककी अपेक्षा उत्पन्न होनेवाले सहायसापेक्ष ज्ञानको परोक्ष कहते हैं।

प्रत्यक्षके भेद और उनके लक्षण।

प्रत्यक्षं द्विविधं तत्सकलप्रत्यक्षमक्षयं ज्ञानम् ।
क्षायोपशमिकमपरं देशप्रत्यक्षमक्षयं क्षयि च ॥ ६१७ ॥

अन्वयार्थ — (तत् प्रत्यक्षं द्विविधं) वह प्रत्यक्ष दो प्रकारका है उनमेंसे (अक्षयं) अविनाशी (ज्ञानं) केवलज्ञान (सकलप्रत्यक्षं) सकल प्रत्यक्ष है और जो (क्षायोपशमिकं) क्षायोपशमिक ज्ञान है वह (अपरं) दूसरा (अक्षयं) अप्रतिपाति (च) तथा (क्षयि) प्रतिपाति (देशप्रत्यक्षं) देशप्रत्यक्ष है।

भावार्थः— प्रत्यक्ष प्रमाणके दो भेद हैं एक सकल प्रत्यक्ष और दूसरा विकलप्रत्यक्ष-देशप्रत्यक्ष उनमेंसे अविनाशी केवल ज्ञानको सकलप्रत्यक्ष कहते हैं। और क्षायोपशमिक अवधि तथा मनःपर्यय ज्ञानको देशप्रत्यक्ष कहते हैं। और अवधि व मनःपर्यय ये दोनोंही ज्ञान अप्रतिपाती तथा प्रतिपाती होते हैं।

सकलप्रत्यक्षका लक्षण।

अयमर्थो यज्ज्ञानं समस्तकर्मक्षयोद्भवं साक्षात् ।
प्रत्यक्षं क्षायिकमिदमक्षातीतं सुखं तदक्षयिकम् ॥ ६१८ ॥

अन्वयार्थः—(अयं अर्थः) सारांश यह है कि (यत् ज्ञानं) जो ज्ञान (समस्तकर्मक्षयोद्भवं) संपूर्ण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला (साक्षात्प्रत्यक्षं) साक्षात प्रत्यक्षरूप (अक्षातीतं) अतीन्द्रिय तथा (क्षायिकं सुखं) क्षायिक सुखरूप है (तत् इदं) वह यह (अक्षयिकं) अविनश्वर सकल प्रत्यक्ष है।

भावार्थः— सारांश यह है कि जो ज्ञान सम्पूर्ण घातिया कर्मोंके क्षयके अनन्तर उत्पन्न होता है। सर्व चराचर पदार्थोंका साक्षात प्रत्यक्ष करनेवाला है। और क्षायिक तथा अतीन्द्रिय सुखमयी होता है। वही अविनाशी ज्ञान, सकलप्रत्यक्ष कहलाता है।

[1] मूल पुस्तकमें 'तदक्षयिक' ऐसा पाठ है।

देशप्रत्यक्षके भेद और उनमे दोको देशप्रत्यक्ष कहलानेका कारण।

देशप्रत्यक्षमिहाप्यवधिमन.पर्ययं च यज्ज्ञानम् ।
देशं नोइन्द्रिमन उत्थात् प्रत्यक्षमितरनिरेपक्षात् ॥ ६९९ ॥

अन्वयार्थः-- (अपि च) और (इह] यहांपर [अवधिमनः पर्ययः] अवधिमनःपर्ययरूप (यत् ज्ञानं] जो ज्ञान है वह (देशप्रत्यक्षं] देशप्रत्यक्ष है क्योंकि वह [नोइन्द्रियमन उत्थात्) केवल अनिंद्रियरूप मनसे उत्पन्न होनेके कारण (देश) देश तथा (इतरनिरपेक्षात्) अन्य बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा न रखनेसे (प्र-त्यक्षं] प्रत्यक्ष कहलाता है।

भावार्थ.— अवधि[1] और मनःपर्यय ये दोनों ज्ञान देशप्रत्यक्ष कहलाते है। क्योंकि मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण देश, और अन्य किसी इन्द्रियादिक बाह्य अवलम्बनकी अपेक्षा न करके केवल आत्माकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेके कारण प्रत्यक्ष कहलाते है।

मति और श्रुतज्ञानके लक्षणपूर्वक उनके परोक्ष होनेमे युक्ति।

आभिनिबोधिकबोधो विषयविषयिसन्निकर्षजस्तस्मात् ।
भवति परोक्षं नियमादपि च मतिपुरस्सरं श्रुतं ज्ञानम् ॥ ७०० ॥

अन्वयार्थः— (आभिनिबोधिकबोधः) मतिज्ञान (विषयविषयिसन्निकर्षजः) विषय और विषयीके सन्निकर्षसे उत्पन्न (भवति) होता है (च) तथा (श्रुतं ज्ञान अपि) श्रुतज्ञानभी (नियमात्) नियमसे (मतिपुरस्सरं) मतिज्ञानपूर्वक होता है (तस्मात्) इसलिए वे दोनों ज्ञान (परोक्षं) परोक्ष कह-लाते है।

भावार्थः— मतिज्ञान विषय और विषयीके सन्निकर्ष होनेके अनन्तर होता है। इसलिए परकी अपेक्षा रखनेके कारण वह परोक्ष कहलाता है। तथा श्रुतज्ञानभी मतिपूर्वकही होता है। इसलिए वह भी परकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेके कारण परोक्ष कहलाता है।

१ अवधिज्ञानको मनसे उत्पन्न कहनेकी युक्ति समझमें नहीं आई है।

वास्तवमें तो चारों ज्ञान परोक्ष है।

छद्मस्थायामावरणेन्द्रियसहायसापेक्षम् ।
यावज्ज्ञानचतुष्टयमर्थात् सर्वं परोक्षमिववाच्यम् ॥ ७०१ ॥

अन्वयार्थ— (छद्मस्थावस्थायां) छद्मस्थ अवस्थामें (आवरणेन्द्रियसहायसापेक्षं) आवरण और इंद्रियोंकी सहायताकी अपेक्षा रखनेवाला (यावत् ज्ञानचतुष्टयं) जितनेभी चारों ज्ञान है (सर्वं) वे सब (अर्थात्) परमार्थ रीतिसे (परोक्षं इव) परोक्षकी तरह (वाच्यं) कहना चाहिए ।

भावार्थः— परमार्थकी अपेक्षासे तो छद्मस्थ अवस्थामें जितनेभी ज्ञान होतें है अर्थात् मति, श्रुत, अवधि और मन.पर्यय ये चारोंही ज्ञान यथायोग्य आवरण व इंद्रियकी अपेक्षा रखतें है । इसलिये चारोंही क्षायोपशमिक ज्ञान परोक्षही है । केवल एक केवल ज्ञान वास्तवमें असहाय है । अतः वही एक प्रत्यक्ष है ' शेष चारों ज्ञान किसी न किसीकी सहायताकी अपेक्षा रखनेवाले होनेसे परोक्षही है ।

अवधि और मनःपर्यय ज्ञानको परोक्ष कहनेमें युक्ति ।

अवधिमनःपर्ययवद्द्वैतं प्रत्यक्षमेकदेशत्वात् ।
केवलमिदमुपचारादथ च विवक्षावशान्न चान्वर्थात् ॥ ७०२ ॥

अन्वयार्थः— (अवधिमन पर्ययवत् द्वैतं) अवधि और मनःपर्यय ये दोनों ज्ञान (एकदेशत्वात्) एकदेशपनेसे (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष है (इदं) यह कथन (केवल) केवल (उपचारात्) उपचारसे (अथ च) अथवा (विवक्षावशात्) विवक्षा वशसे समझना चाहिये (च) किंतु (अन्वर्थात् न) अन्वर्थसे नहीं—वास्तविक रीतिसे नहीं ।

भावार्थः— अवधि और मनःपर्यय ज्ञानको जो एक देश प्रत्यक्ष कहा है । वह केवल उपचारसे अथवा विवक्षावशसे कहा है । क्योंकि मतिश्रुतकी तरह वे दोनों इन्द्रिय सापक्ष नहीं है किन्तु अतीन्द्रिय है तथा अपने २ विषय को एक देशसे जितना जानते है उतना सकल प्रत्यक्षके समानही जानते है इस विवक्षावशसे उनको देशप्रत्यक्ष कहा है ।

१ पहलेसे लेकर १२ वे गुणस्थानवालेको छद्मस्थ कहते है ।

वास्तवमें वे क्षायोपशमिकज्ञान है। अतः प्रत्यक्षका असहाय लक्षण न घट सकनेसे वे दोनों, प्रत्यक्ष नहीं कहा जासकते है।

उपचारका कारण।

तत्रोपचारहेतुर्यथा मतिज्ञानमक्षजं नियमात्[1]।
अथ तत्पूर्वं श्रुतमपि न तथावधिचित्तपर्ययं ज्ञानम् ॥ ७०३ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) वहांपर (उपचारहेतुः) उपचारका कारण यह है कि (यथा) जैसे (नियमात्) नियमसे (मतिज्ञानं) मतिज्ञान (अक्षजं) इंद्रियोंसे उत्पन्न होता है (अथ) और (श्रुतं अपि) श्रुतज्ञानभी (तत्पूर्वं) मतिज्ञानपूर्वक होता है (तथा) वैसे (अवधिचित्तपर्ययं ज्ञानं न) अवधिमनःपर्यय ज्ञान इंद्रियादिकसे उत्पन्न नहीं होता है।

भावार्थः— अवधि और मनःपर्यय ज्ञानको उपचारसे प्रत्यक्ष कहनेमे कारण यह है कि जैसे नियमसे मति ज्ञान इन्द्रियजन्य होता है। तथा उस मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। वैसे साक्षात् व परम्परासे भी इन्द्रिय जन्यता अवधि और मनःपर्ययमें नहीं है। इसलिए अवधि तथा मनःपर्यय ये दोनों ज्ञान उपचारसे देश प्रत्यक्ष कहे जाते है।

यत्स्यादवग्रहेहावायानतिधारणापरायत्तम्।
आद्यं ज्ञानं द्वयमिह यथा तथा नैव चांतिमं द्वैतम् ॥ ७०४ ॥

दूरस्थानर्थानिह समक्षामिव वेत्ति हेलया यस्मात्।
केवलमेव मन.सादवधिमनःपर्ययद्वयं ज्ञानम् ॥ ७०५ ॥

अन्वयार्थः— (यत्) क्योंकि (यथा) जैसे (इह) यहांपर (आद्यं ज्ञानद्वयं) आदिके दोनों ज्ञान (अवग्रहेहावायनतिधारणापरायत्तं) अवग्रह, ईहा, आवाय और धारणाको उल्लंघन नहीं करनेसे अर्थात् तत्पूर्वक होनेसे पराधीन (स्यात्) है (तथा च) वैसे (अन्तिम द्वैतं) अन्तके दोनों ज्ञान (नैव) नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (इह) यहांपर (अवधिमनःपर्ययद्वयं ज्ञानं) अवधि और मनःपर्यय ये दोनों ज्ञान

---

१ मूल पुस्तकमें 'हेति' पाठ है कारण लीलासे यह उसका अर्थ है।

(केवल) केवल (मनःमात्र एव) मनसेही (दूरस्थान् अर्थान्) दूरवर्ती पदार्थोंको (हेलया) लीलामात्रमें (समक्षं इव) प्रत्यक्षकी तरह (वेत्ति) जानते हैं ।

भावार्थः— जैसे मतिज्ञान, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा पर्यन्त क्रम २ से प्रवृत्त होता है । तथा साक्षात् व परम्परा मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है । वैसे अवधि व मनःपर्ययकी प्रवृत्ति नहीं होती है किन्तु ये दोनों ज्ञान युगपत द्रव्यक्षेत्र काल और भावकी अपेक्षासे दूरवर्ती पदार्थोंको भी क्षणमात्रमें उपयोग लगातेही मनकी सहायतासे (?) जानलेते हैं । इसलिए इन्हें देश प्रत्यक्ष कहते है ।

अपि किंच भिनिवोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत् ।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत् ॥ ७०६ ॥

अन्वयार्थ —(अपि किंच) और विशेष यह है कि (स्वात्मानुभूतिसमये) स्वात्मानुभूतिके समयमें (यावत्) जितनाभी (आदिमं) पहला (तत्) वह (आभिनिबोधिकबोध द्वैतं) मतिज्ञान और श्रुतिज्ञानका द्वैत रहता है (तत्) उतना वह सब (समक्ष इव) साक्षात् प्रत्यक्षकी तरह (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष है (अन्यत् न) दूसरा नही–परोक्ष नहीं ।

भावार्थः- तथा इन मति और श्रुत ज्ञानोंमें भी इतनी विशेषता है कि जिससमय इन दोनोंमेंसे किसीएक ज्ञानके द्वारा स्वात्मानुभूति होती है उस समय ये दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्माका प्रत्यक्ष करते है । इसलिए ये दोनो ज्ञान भी स्वात्मानुभूतिके समय प्रत्यक्ष हैं, परोक्ष नहीं ।

तदिह द्वैतमिदं चित्स्पर्शादीन्द्रियविषयपरिग्रहणे ।
व्योमाद्यवगमकाले भवति परोक्षं न समक्षमिह नियमात ॥ ७०७ ॥

अन्वयार्थ.— किंतु (इह) यहांपर (स्पर्शादीन्द्रियविषयपरिग्रहणे) स्पर्शादिक इंद्रियोंके विषयोंको ग्रहण करते समय और (व्योमाद्यवगमकाले) आकाश वगैरहका विषय करते समय (तत इदं द्वैत चित्) वे दोनोंही मति तथा श्रुतज्ञान (नियमात्) नियमसे (इह) यहांपर (परोक्ष) परोक्ष (भवति) होते है (समक्षं न) प्रत्यक्ष नहीं ।

भावार्थः— किन्तु जिससमय ये दोनों ज्ञान स्पर्शादिकको विषय करते हैं। उससमय तथा जिससमय आकाशादि अमूर्त पदार्थोंको विषय करते हैं–जानते हैं उससमय ये दोनों ज्ञान नियमसे परोक्षही हैं। किन्तु स्वानुभूतिके समयके समान प्रत्यक्ष नहीं है

शंका।

ननु चाद्ये हि परोक्षे कथमिव सूत्रे कृतः समुद्देशः।
अपि तल्लक्षणयोगात परोक्षमिव सम्भवत्येतत ॥ ७०८ ॥

अन्वयार्थ.— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि यदि मतिश्रुतज्ञान स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष है तो (हि) निश्चयकरके (आद्ये परोक्षे) आदिके दो ज्ञान परोक्ष है ऐसा (सूत्रे) सूत्रमें (समुद्देशः) निर्देश–कथन (कथमिव कृतः) क्यों किया ? तथा (तल्लक्षणयोगात् अपि) परोक्षके लक्षणके योगसेभी अर्थात् परोक्षका उनमें लक्षण घटजानेसेभी (एतत्) ये दोनों ज्ञान (परोक्षं इव) परोक्ष (सम्भवति) प्रतीत होते हैं।

भावार्थ — शंकाकारका कहना है कि यदि मतिश्रुतज्ञान स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष होते हैं तो सूत्रकारने 'आद्ये परोक्ष' इस सूत्रमें उनको परोक्ष क्यों कहा अर्थात यदि मतिश्रुतज्ञान स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष होते तो सूत्रकार भी उसका उल्लेख करते। परन्तु किया नहीं है। इसलिए मतिश्रुतको स्वानुभूतिके समय भी परोक्षही कहना चाहिए प्रत्यक्ष नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष कहना सूत्रविरुद्ध होनेसे आगम बाधित है। तथा इनमें इन्द्रियादिककी अपेक्षा होनेसे 'सहाय सापेक्ष' परोक्षका लक्षण भी घट जाता है इसलिए भी इनको परोक्षही कहना चाहिए प्रत्यक्ष नहीं।

समाधान।

सत्यं वस्तुविचारः स्यादतिशयवर्जितोऽविसवादात् ।
साधारणरूपतया भवति परोक्षं तथा प्रतिज्ञायाः ॥ ७०९ ॥

अन्वयार्थ — (सत्यं) ठीक है क्योंकि (अविसंवादात्) विसंवाद रहित होनेसे (वस्तुविचारः) वस्तुका विचार (अतिशय वर्जितः स्यात्) अतिशय रहित होता है इसलिये ये दोनों ज्ञान (साधारणरूपतया) साधारणरूपपनेसे (तथा प्रतिज्ञायाः), 'आद्ये परोक्षे' इस सूत्रोक्त प्रतिज्ञाके अनुसार (परोक्षं भवति) परोक्ष है।

भावार्थः— यदि कोई विसंवाद न रहे तो वस्तुका विचार निरतिशय होता है अर्थात उसके अतिशयका वर्णन नही किया जा सकता है। स्वात्मानुभूति के समय मति श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका साक्षात्कार होनेसे उनके प्रत्यक्ष होनेमें कोई विसवाद नही रह जाता है। अतः उन्हे प्रत्यक्ष कहना योग्यही है। किन्तु सूत्रकारने जो उन दोनों ज्ञानोंको परोक्ष कहा है उसमें अपेक्षा इतनीही समझना चाहिये कि साधारण रूपसे ये दोनों ज्ञान परोक्ष है। जब किसी भव्यजीवके सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है तब मिथ्यात्वकर्मके नाश होनेसे एक अनिर्वचनीय शक्तिका प्रादुर्भाव होता है जिस शक्तिकी सामर्थ्यसेकि इनदोनो ज्ञानोंको प्रत्यक्ष कहा है।

इह सम्यग्दृष्टेः किल मिथ्यात्वोदयविनाशजा शक्तिः।
काचिदनिर्वचनीया स्वात्मप्रत्यक्षमेतदस्ति यया ॥ ७१० ॥

अन्वयार्थः— (इह] यहांपर (किल) निश्चयसे (**सम्यग्दृष्टे**] सम्यग्दृष्टी जीवके (**मिथ्यात्वोदयविनाशजा**] मिथ्यात्वकर्मके उदयके विनाशसे उत्पन्न होनेवाली (**काचित्**) कोई (**अनिर्वचनीया**) अनिर्वचनीय (**शक्तिः अस्ति**) शक्ति है (**यया**) जिसशक्तिके द्वाराकि (**एतत्**] यह (**स्वात्मप्रत्यक्ष**) स्वातम प्रत्यक्ष होता है।

भावार्थः— यहापर मिथ्यात्वके उदयका अभाव होनेमे सम्यग्दृष्टी जीवके एक ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति उत्पन्न होती है। जिसकेकि सानिध्यसे वह अनिर्वचनीय स्वात्माका प्रत्यक्ष करलेता है। अर्थात सम्यग्दर्शनके होनेपर मिथ्यात्वके अभावके साथही साथ स्वानुभुत्यावरणकर्मका क्षयोपशम होता है। उसकीही सामर्थ्यसे वह आत्मप्रत्यक्ष करता है। इसलिए स्वानुभूतिके समय मतिश्रुतको प्रत्यक्ष कहा।

तदभिज्ञानं हि यथा शुद्धस्वात्मानुभूतिसमयेऽस्मिन्।
स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोतं च नोपयोगि मतम् ॥ ७११ ॥

केवलमुपयोगि मनस्तत्र च भवतीह तन्मनो द्वेधा।
द्रव्यमना भावमनो नोइंद्रियनाम किल स्वार्थाह ७१२ ॥

अन्वयार्थ — (**तदभिज्ञानं हि यथा**] उसका खुलासा इसप्रकार है कि (**अस्मिन् शुद्धस्वात्मा-**

तुभूतिसमये] इस शुद्ध स्वात्मानुभूतिके समयमें [स्पर्शनरसनघ्राणं]स्पर्शन, रसन, घ्राण, (चक्षुः] चक्षु [च] और [श्रोत्रं] श्रोत्र इसप्रकार ये पाचों इंद्रियां [उपयोगी न मतं] उपयोगी नहीं मानी गई हैं किंतु (तत्र) वहांपर [केवलं] केवल [मनः] मनही [उपयोगि] उपयोगी मानागया है [च] और [इह] यहांपर [किल] निश्चयकरके [अर्थात्] अपने अर्थकी अपेक्षासे [नोइंद्रियनाम] नोइंद्रिय है दूसरा नाम जिसका ऐसा [तन्मन] वह मन [द्रव्यमन]द्रव्यमन तथा [भावमनः] भावमन इसप्रकार [द्वेधा] दो प्रकारका है ।

भावार्थः— पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि जिससमय सम्यग्दृष्टी स्वानुभूति करता है उस समय उसके पाचोंही इन्द्रियोंका उपयोग नहीं होता है । किन्तु केवल एक मनकाही उपयोग होता है । तथा वह मन द्रव्यमन और भावमन इसतरह दोप्रकारका माना गया है । साराश यह है कि स्वानुभूतिके समय इन्द्रियजन्यज्ञान नहीं होता है]

भावमनका स्वरूप ।

द्रव्यमनो हृत्कमले घनांगुलासंख्यभागमात्रं यत् ।
अचिदपि च भावमनसः स्वार्थग्रहणे सहायताभेति ॥ ७१३ ॥

अन्वयार्थः— (यत्) जो (हृत्कमले) हृदयरूपी कमलमें (घनांगुलासंख्यभागमात्रं) घनांगुलके असंख्यातवें भागमात्र है प्रमाण जिसका ऐसा (द्रव्यमनः) द्रव्यमन होता है ('तत्') वह (अचिदपि च) अचेतन होकरकेभी (स्वार्थग्रहणे) ज्ञानके विषयको ग्रहण करते समय (भावमनसः) भावमनकी (सहायतां एति) सहायताको प्राप्त -समर्थ होता है अर्थात् द्रव्यमन भावमनकी सहायता करता है ।

भावार्थः— द्रव्यमन हृदयकमलमें घनांगुलके असंख्यातमें भाव प्रमाण होता है । और यद्यपि वह द्रव्यमन अचेतन है तथापि क्षायोपशमिक भाव मनके लिए वह सहायक माना गया है । क्योंकि द्रव्यमनकी सहायताके विना भावमन उपयोग करनेमें समर्थ होता है ।

भावमनका स्वरूप

भावमनः परिणामो भवति तदात्मोपयोगमात्रं वा ।
लब्ध्युपयोगविशिष्टं स्वावरणस्य क्षयक्रमाच्च स्यात् ॥ ७१४ ॥

अन्वयार्थः— [स्वावरणस्य) स्वावरणका (क्रमात्) क्रमपूर्वक (क्षयाच्च) उदयाभावीक्षयसेही

(लब्ध्युपयोगविशिष्टं) लब्धि और उपयोगसे युक्त (' यत् ') जो (आत्मोपयोगमात्रं वा) केवल आत्मोपयोगरूपही (परिणामः) आत्माका परिणाम है

भावार्थः— मनोमतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होनेवाले आत्माके उपयोगको भावमन कहते है । तथा उस भावमनके भी भावइन्द्रियोंके समान लब्धि और उपयोगरूपसे दो भेद होते है । वीर्यान्तरायसहित मनोमतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जो विशुद्धि होती है उसको लब्धिरूप मन कहते है । तथा उस लब्धिपूर्वक ज्ञेयके उन्मुख होनेवाले मनको उपयोगरूप मन कहते है ।

स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पंचक यावत् ।
मूर्तग्राहकमेकं मूर्त्तामूर्त्तस्य वेदकं च मनः ॥ ७१५ ॥

अन्वयार्थः– [स्पर्शनरसनघ्राणं) स्पर्शन, रसन, घ्राण (चक्षु) चक्षु (च) और (श्रोत्रं) श्रोत्र (पंचकं यावत्) ये पांचोंही इंद्रियां (एकं) एक (मूर्तग्राहकं) मूर्तीक पदार्थको जाननेवाली है (च) तथा (मनः) मन (मूर्तामूर्तस्य) मूर्तीक तथा अमूर्तीक दोनों पदार्थको (वेदकं) जाननेवाला है ।

भावार्थः— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांचोंही इन्द्रिया केवल मूर्तीक पदार्थकोही अवग्रह ईहा, अवाय तथा धारणारूपसे विषय करनेवाली होती हैं । और मन, मूर्त व अमूर्त दोनों प्रकारके पदार्थोंको विषय करनेवाला होता है ।

तस्मादिदमनवद्यं स्वात्मग्रहणे किलोपयोगि मनः ।
किंतु विशिष्टदशायां भवतीह मनः स्वयं ज्ञानम् ॥ ७१६ ॥

अन्वयार्थः— [तस्मात] इसलिए (इह) यहांपर (इदं अनवद्य) यह कथन निर्दोष है कि (स्वात्मग्रहणे) स्वात्माके ग्रहणमें (किल) निश्चयसे (मनः) मनही (उपयोगि) उपयोगी है (किंतु) किंतु इतना विशेष है कि (विशिष्टदशायां) विशिष्ट दशामें वह (मनः) मन (स्वतः) स्वतः (ज्ञानं भवति) ज्ञानरूप होजाता है ।

भावार्थ— इसलिए पूर्वोक्त कथन निर्दोषसिद्ध होता है कि स्वानुभूतिके समय अतीन्द्रिय आत्माके प्रत्यक्ष करनेकेलिए केवल मनही उपयोगी है तथा स्वानुभूतिकी तत्परताकी विशेष अवस्थामें वह मनही ज्ञान ज्ञात व ज्ञेयके विक-

ल्पसे रहित होकर स्वयंज्ञानमय होजाता है । अतः उस ज्ञानके द्वारा सम्यग्दृष्टी जीवको अतीन्द्रिय आत्माका अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होना युक्तियुक्त है ।

नासिद्धमेतदुक्तं तदिंद्रियानिंद्रियोद्भवं सूत्रात् ।
स्यान्मीतज्ञाने यत्तत्पूर्वं किल भवेच्छ्रुतज्ञानम् ॥ ७१७ ॥

अयमर्थो भावमनो ज्ञानविशिष्टं स्वयं हि सदमूर्तम् ।
तेनात्मदर्शनमिह प्रत्यक्षमतींद्रियं कथं न स्यात ॥ ७१८ ॥

अन्वयार्थ — (किल) निश्चयकरके (सूत्रात्) सूत्रसे (यत् मतिज्ञानं) जो मतिज्ञान है (तत्) वह (इन्द्रियानिंद्रियोद्भवं) इंद्रिय और मनसे उत्पन्न (स्यात्) होता है तथा (तत्पूर्वं) मतिज्ञानपूर्वक (श्रुत–ज्ञानं) श्रुतज्ञान (भवेत्) होता है ऐसा जो (उक्त) कहा है (एतत् असिद्धं न) वह यह कथन असिद्ध नहीं है ।

(अयं अर्थः) सारांश यह है कि [हि] निश्चयकरके (भावमनः) भावमन (ज्ञानविशिष्टं सत्) ज्ञानविशिष्ट होता हुवा (स्वयं) स्वयंही (अमूर्त) अमूर्त होजाता है इसलिए (तेन) उस भावमनके द्वारा होने वाला (इह) यहांपर (आत्मदर्शनं) आत्मप्रत्यक्ष (अतींद्रियं प्रत्यक्षं) अतींद्रिय प्रत्यक्ष (कथं न स्यात्) क्यों नहीं होगा ।

भावार्थः— यदि कदाचित् यह कहा जाय कि मतिश्रुतात्मक भावमन स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष होता है तो सूत्रमें जो मतिज्ञानको इन्द्रिय और अनिंद्रियसे उत्पन्न होनेसे तथा श्रुतज्ञानको मतिज्ञानपूर्वक उत्पन्न होनेसे परोक्ष कहा है वह कथन असिद्ध होजायगा तो यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि मतिश्रुतात्मक उस भावमनको स्वानु-भूतिके समय प्रत्यक्ष कहनेका यही अर्थ है कि स्वानुभूतिके समय वह मतिश्रुतज्ञानात्मक भावमन विशेष दशापन्न होकर अमूर्त होजाता है । इसलिए उसके द्वारा होनेवाला अमूर्त आत्माका प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष क्यों नहीं होगा अर्थात् अवश्य ही होगा ।

साराश यह है कि स्वात्मरसमें मग्न होनेवाला भावमनही स्वयं अमूर्त होकर स्वानुभूतिके समय आत्मप्रत्यक्ष कर-नेवाला कहा गया जैसे श्रेणि चढते समय ज्ञानकी जो निर्विकल्प अवस्था है उस निर्विकल्प अवस्थामें ध्यानकी अवस्था–

पन्न रुतज्ञान व उस श्रुतज्ञानके पूर्वका मतिज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है। वैसेही जो सम्यग्दृष्टीजीव चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थानवर्ती हैं उनका मन भी मतिश्रुतात्मक भावमन भी स्वानुभूतिके समय विक्षेप दशापन्न होनेसे श्रेणिके समान तो नहीं किन्तु उसकी भूमिकाके योग्य निर्विकल्प होता है।

इसलिए वह मतिश्रुतात्मक भावमन स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष माना जाता है। यही कारण है कि मतिश्रुत विना केवल ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। किन्तु अवधि मन पर्ययके विना होसकती है।

अपि चात्मसंसिद्ध्यै नियतं हेतू मतिश्रुत ज्ञाने।
प्रान्त्यद्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्यादृते मतिद्वैतम् ॥ ७१९ ॥

अन्वयार्थः— (अपि च) और (आत्मसंसिद्ध्यै) आत्माकी सिद्धिके लिये (मतिश्रुतज्ञाने) मति श्रुतज्ञान (नियतं हेतू) निश्चित कारण है क्योंकि (प्रान्तद्वयं विना) अन्तके दो ज्ञानोंके विना (मोक्षः स्यात्) मोक्ष हो सकता है किंतु (मतिद्वैतं ऋते) मतिश्रुतज्ञानके विना (न स्यात्) मोक्ष नहीं होसकता है।

भावार्थः— मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष कहा सो ठीक कहा है। क्योंकि आत्म सिद्धिकेलिए मति और श्रुत ये दोनों ज्ञानही आवश्यक ज्ञान है। कारण कि अवधि तथा मन पर्ययके विना मोक्ष हो सकता है। किन्तु मतिश्रुतके विना मोक्ष कभी नही होसकता है।

ननु जैनानामेतन्मतं मतेष्वेव नापरेषां हि।
विप्रतिपत्तौ बहवः प्रमाणमिदमन्यथा वदन्ति यतः ॥ ७२० ॥

अन्वयार्थ — (ननु) शंकाकारका कहना है कि [हि) निश्चयकरके [एतत्] उपर्युक्त रीतिसे कहाहुवा प्रमाणका लक्षण [जैनानां मतं) जैनियोंके यहा मानागया है [अपरेषा मतेषु नैव) दूसरोंके मतोंमें नहीं मानागया है [यतः] क्योंकि [विप्रतिपत्तौ] विप्रतिपत्तिके होनेपर [बहवः] बहुतसे अन्यमतवादी [इदं प्रमाणं] इस प्रमाणको [अन्यथा वदन्ति) अन्यप्रकारसे कहते है।

भावार्थः— शंकाकारका प्रश्न है कि उक्त प्रमाणका लक्षण जैन संप्रदाय वालोंका है। अन्य संप्रदायवाले

उसे अंगीकार नहीं करते है। अतः प्रमाणके स्वरूपको विवादग्रस्त होनेसे बहुतसे वादी उसके स्वरूपको अन्य रूपसे प्रतिपादन करके विसवाद करते है।

वेदाः प्रमाणमिति किल वदन्ति वेदान्तिनो विदाभासाः।
यस्मादपौरुषेयाः सन्ति यथा व्योम ते स्वतः सिद्धाः॥ ७२१॥

अन्वयार्थः—(विदाभासाः) ज्ञानाभासी–मिथ्याज्ञानी [वेदांतिनः] वेदान्त मतवाले (किल) निश्चयकरके (वेदाः प्रमाणं) वेदही प्रमाण है [इति] इस प्रकार [वदंति] कहते है [यस्मात्] क्योंकि [यथाव्योम] आकाशके समान [ते] वे वेद [स्वतः सिद्धाः] स्वयं सिद्ध और [अपौरुषेयाः] अपौरुषेय है।

भावार्थः—विदाभासी वेदान्ती वेदोंकोही आकाशके समान स्वतःसिद्ध अपौरुषेय मानकर प्रमाण मानते है।

अपरे प्रमानिदानं प्रमाणमिच्छन्ति पण्डितम्मन्याः।
समयान्तिसम्यगनुभवसाधनमिह यत्प्रमाणमिति केचित्॥ ७२२॥

अन्वयार्थः—(पण्डितम्मन्याः) अपनेको पंडित माननेवाले (अपरे) दूसरे मतवाले (प्रमानिदानं) प्रमाके निदानको (प्रमाणं इच्छन्ति) प्रमाण मानते है और (केचित्) कोई (इह) यहांपर (यत्) जो (सम्यगनुभवसाधनं) सम्यक् अनुभवका साधन है वह (प्रमाणं) प्रमाण है (इति) इसप्रकार (समयंति) कहते है।

भावार्थः—वैशेषिक लोग प्रमा–प्रमिती–प्रमाणके फलके करणको प्रमाण मानते है तथा अनुभवके साधनको प्रमाण मानते है।

इत्यादि वादिवृन्दैः प्रमाणमालक्ष्यते यथारुचि तत्।
आप्ताभिमानदग्धैरलब्धमानैरतींद्रियं वस्तु॥ ७२३॥

अन्वयार्थ —(इत्यादि) इत्यादिक (आप्ताभिमानदग्धैः) आप्तके अभिमानमें जलनेवाले और (अतींद्रियं वस्तु) अतींद्रिय वस्तुको (अलब्धमानैः) प्राप्त नहीं होनेवाले (वादिवृन्दैः) वादियोंके समूहोंद्वारा

(**यथारुचि**) अपनी २ रुचिके अनुसार (**तत् प्रमाणं**) वह प्रमाण (**आलक्ष्यते**) कहाजाता है।

भावार्थ — इसप्रकार अतीन्द्रिय वस्तुके स्वरूपको नहीं समझनेवाले और आप्तके अभिमानमें जलेहुए वेदान्ती आदि वादियोंके द्वारा प्रमाणका लक्षण अपनी २ रुचिके अनुसार किया जाता है।

प्रकृतमलक्षणमेतल्लक्षणदोषैरधिष्ठितं यस्मात्।
स्यादविचारितरम्यं विचार्यमाणं खपुष्पवत्सर्वम् ॥ ७२४ ॥

अन्वयार्थ — (**यस्मात्**) जिसकारणसे कि (**एतत्सर्वं प्रकृतं**) ये सब प्रकृत लक्षण (**लक्षणदोषैरधिष्ठितं**) लक्षणके दोषसे युक्त और (**विचार्यमाणं**] विचार करनेपर (**खपुष्पवत्**) आकाशके फूलके समान है (**तस्मात्**) तिसकारणसे (**अलक्षणं**) अलक्षण तथा (**अविचारितरम्य**) अविचारित रम्य (**स्यात्**) है।

भावार्थः— किन्तु उन वादियोंके द्वारा कहेहुए उपर्युक्त सबही ये प्रमाणके लक्षण, लक्षणके अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असभव इन तीन दोषोंसे युक्त होनेके कारण अलक्षण है। तथा इनपर यदि विचार किया जाय तो ये सब लक्षण आकाशकुसुमके समान अलीक ठहरते है। इसलिए अविचारित रम्य है।

अर्थाद्यथा कथंचिज्ज्ञानादन्यत्र न प्रमाणत्वम्।
करणादि विना ज्ञानादचेतनं कः प्रमाणयति ॥ ७२५ ॥

अन्वयार्थः— (**अर्थात्**) अर्थात् (**यथा कथञ्चित्**) जिस किसी प्रकारभी (**ज्ञानादन्यत्र**) ज्ञानको छोडकर दूसरेको (**प्रमाणत्व न**) प्रमाणपना नहीं है क्योंकि (**ज्ञानात् विना**) ज्ञानके विना (**अचेतनं करणादि**) अचेतन इंद्रिय वगैरहको (**कः प्रमाणयति**) कौन प्रमाण मानेगा।

भावार्थ.— प्रमाके करण मूर्तइन्द्रियोंको जो वैशेषिक प्रमाण मानते है उनके प्रति यह कथन है कि किसी भी प्रकारसे ज्ञानको छोडकर अन्यमें प्रमाणपना नहीं रहसकता है। इसलिए ज्ञानकेविना अचेतम इन्द्रियादिकको प्रमाण कौन मानसकता है। अर्थात् कोई नहीं मानसकता है ' क्योंकि प्रमाणका फल अज्ञान निवृत्तिरूप माना गया है इसलिए उसका कारण भी अज्ञान निवृत्त्यात्मक–ज्ञानात्मक होना चाहिए। अतः इन्द्रिय व सन्निकर्षादिक ज्ञानात्मक न होनेसे प्रमाके करण नहीं होसकते हैं।

तत्रांतर्लीनत्वाज्ज्ञानसनाथं प्रमाणमिदामिति चेत् ।
ज्ञानं प्रमाणमिति यत्प्रकृतं न कथं प्रतीयेत ॥ ७२६ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन करणादिकमें (अन्तर्लीनत्वात) ज्ञानको अंतर्लीन होनेसे (ज्ञान सनाथं) ज्ञानके द्वारा सहित (इदं) ये करणादिक (प्रमाण) प्रमाण हो जावेंगे (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो (ज्ञान प्रमाण) ज्ञानही प्रमाण है (इति) यह (यत्) जो (प्रकृतं) प्रकृत कथन है ('तत्') वह (कथं न प्रतीयेत) क्यों नहीं प्रतीतिका विषयभूत होजायगा अर्थात् माना जायगा ?

भावार्थः— यदि कदाचित् कहो कि प्रमाके करणरूप इन्द्रियोंको प्रमाण कहनेसे हमारा तात्पर्य इंद्रियादिकोंमें ज्ञानको अन्तर्लीन होनेसे ज्ञान सनाथ—चेतनात्मक इन्द्रियोंको प्रमाण कहनेसे है तो फिर इस कथनसे हमाराही कथन सिद्ध होता है। अतः हमारा यह प्रकृत कथनही क्यों नहीं मानलेते हो कि स्वपर व्यवसायात्मक ज्ञानही प्रमाण होता है। सारांश यह है कि ज्ञान सनाथ इन्द्रियोंको प्रमाण माननेसे सम्यग्ज्ञानकोही प्रमाण माननाही सिद्ध होजाता है ।

ननु फलभूतं ज्ञानं तस्य करणं भवेत्प्रमाणमिति ।
ज्ञानस्य कृतार्थत्वात् फलत्वमसिद्धमिदमिति चेत् ॥ ७२७ ॥

अन्वयार्थ— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (ज्ञानं) ज्ञान (फलभूतं) फलस्वरूप (तु) और [तस्यकरणं) ज्ञानका करण (प्रमाणं इति) प्रमाण यह (भवेत्) होवे क्योंकि यदि ज्ञानकोही प्रमाण माना जायगा तो (ज्ञानस्य) ज्ञानको (कृतार्थत्वात्) कृतार्थ हो जानेसे अर्थात् ज्ञानका प्रयोजन पूर्ण हो चुकनेसे (इदं फलवत्व) प्रमाणका यह फलवानपना (असिद्धं) असिद्ध होजायगा (इति चेत) यदि ऐसा कहोतो ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि इन्द्रिय प्रमाण है और ज्ञान प्रमाणका फल है । इसलिए इन्द्रियोंको प्रमाण और ज्ञानको प्रमाणका फल मानना ठीक है । क्योंकि ज्ञानकोही प्रमाण माननेसे प्रमाणके फलके अभावका प्रसंग आता है ।

नैवं यतः प्रमाणं फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ।
दृष्टिर्यथा प्रदीपः स्वयं प्रकाश्यः प्रकाशकश्च स्यात् ॥ ७२८ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यत.) क्योंकि (तत् ज्ञानं) वह ज्ञान रूप (प्रमाणं) प्रमाणही (स्वयं) स्वय (फलं) फल (च) तथा (फलवत्) फलवान् है (च) और (दृष्टि) इस विषयका दृष्टान्तभी यह है कि (यथा) जैसे (प्रदीपः) दीपक स्वयं (प्रकाश्यः) प्रकाश्य [च] तथा [प्रकाशक] प्रकाशक [स्यात्] होता है।

भावार्थः— शंकाकारका उक्तकथन ठीक नहीं है। क्योंकि प्रमाणशब्द करणसाधन और भावसाधन दोनोही प्रकारका है इसलिए 'प्रमीयते अनेन प्रमाणं' अर्थात् जिससे जाना जाय इसप्रकार जो प्रमाणशब्द करणसाधन है उसका अर्थ प्रमाका करणरूप ज्ञान प्रमाण है यह होता है। और 'प्रमितिमात्रं प्रमाणं' अर्थात केवल जाननेको—अज्ञान निवृत्यात्मक ज्ञानकोंही प्रमाण कहते है इसप्रकार जो प्रमाणशब्द भावसाधन है उसका अर्थ अज्ञानकी निवृत्तीरूप प्रमाणका फल यह होता है। अत जैसे दीपकही स्वय प्रकाश्य हैं और प्रकाश माना जाता है। कुछ दीपकके प्रकाशके लिए अन्य दीपककी अपेक्षा नहीं करना पडती है। वैसेही ज्ञान स्वयंही प्रकाश्य तथा प्रकाशक है। उसके जाननेके लिये ज्ञानान्तरभूत प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करना पडती है। इसलिये ज्ञानकोही स्वयं फल व फलवान्रूप कहना युक्तियुक्त है। अथवा सम्यग्ज्ञानके उत्पन्न होने और अज्ञानके नाश होनेका एकही समय है। क्योंकि प्रमाणकी उत्पत्ति तथा अज्ञानकी निवृत्तिके दो समय नहीं है। इसलिए प्रामाण्यकी उत्पत्तिके सहित पनेका नाम प्रमाण और उसके हो नेसे जो तद्विषयक अज्ञानका नाश होजाता है उसका नाम प्रमाणका फल हैं।

इसप्रकार प्रमाणात्मक ज्ञानको कथंचित् स्वयंफल तथा फलवान्रूप युक्ति बाधित नहीं।

> उक्तं कदाचिदिन्द्रियमथ च तदर्थेन सन्निकर्षयुतम्।
> भवति कदाचिज्ज्ञानं त्रिविधं करणं प्रमायाश्च ॥ ७२९ ॥
> पूर्वं पूर्वं करणं तत्र फलं चोत्तरोत्तरं ज्ञेयम्।
> न्यायातिसद्धामिदं चित्फल च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम ॥ ७३० ॥

अन्वयार्थः— (कदाचित्) कदाचित (इन्द्रियं) इंद्रिय (अथ च) और कदाचित (तदर्थेन सन्निकर्षयुतं) अपने विषयके सन्निकर्षसहित इंद्रिय (च) तथा (कदाचित्) कदाचित (ज्ञानं) ज्ञान इसप्रकार (प्रमायाः) प्रमाका (करण) करण (त्रिविधं) तीनप्रकारका (उक्त) वैशेषकोंके यहां कहा है (तत्र)

उनमेंसे (पूर्व पूर्व) पहले पहलेके (कारणं) कारण (च) और (उत्तरोत्तरं) आगे २ के (फलं) फल (ज्ञेय) जानना चाहिये इसलिए (न्यायात्) इसन्यायसे (इद सिद्धं) यह सिद्ध हुवा कि (चित्) ज्ञान (स्वयं) स्वयं (फलं) फल है (च) तथा (तत् ज्ञानं च) वह ज्ञानही स्वयं (फलवत्) फलवान है अर्थात् प्रमाणका फल माना जाता है ।

भावार्थ — वैशेषिकोंके यहा प्रमाके करण तीन माने है । १ इन्द्रिय, २ सन्निकर्ष सहित इन्द्रिय और ३ ज्ञान । इनमेंसे इन्द्रियका फल, सन्निकर्ष सहित इन्द्रिय तथा सन्निकर्ष सहित इन्द्रियका फल, प्रमाण माना है । इसप्रकार जैसे वैशेषिकोंके यहा भी मध्यवर्ती करण, पूर्ववर्ती करणकी अपेक्षासे फलरूप, और अपने उत्तरवर्ती करणकी अपेक्षासे करणरूप पडजानेके कारण वह मध्यवर्ती करण, स्वयं करण व फलरूप माना जाता है वैसेही ज्ञान भी अज्ञाननिवृत्तिकी अपेक्षासे फलरूप और प्रामाण्यकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे प्रमाणरुप होजाता है । इसलिए प्रमाणात्मक ज्ञानही स्वयंफल व फलवान है ऐसा मानना युक्तियुक्त है ।

तत्रापि यदा करणं ज्ञानं फलसिद्धि रस्ति नाम तदा ।
अविनाभावेन चितो हानोपादानबुद्धिसिद्धत्वात् ॥ ७३१ ॥

अन्वयार्थः— (तत्रापि) वहांपरभी (यदा) जिससमय (ज्ञानं) ज्ञान (करण) करण होता है (तदा) उससमय (फलसिद्धि नाम अस्ति) फलसिद्धि है क्योंकि (अविनाभावेन) ज्ञानके साथ अविनाभावरूपसे (चितोहानोपादानवुद्धि सिद्धत्वात) चेतना हानोपादान ज्ञानरूप प्रसिद्ध है ।

भावार्थः— जिससमय हम ज्ञानको करणरूपसे प्रमाण मानते हैं उससमय उस ज्ञानके साथ अविनाभाव रखनेवाला हेयके त्याग, उपादेयके ग्रहण और अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमाणका फल सिद्धही हो जाता है ।

नाप्येतदप्रसिद्धं साधनसाध्यद्वयोः सदृष्टान्तात् ।
न विना ज्ञानात्यागो भुजगादेर्वा स्रगाद्युपादानम् ॥ ७३२ ॥

अन्वयार्थ — (साधनसाध्यद्वयो.) साधन और साध्य इन दोनोंमें (सदृष्टांतात) दृष्टांत मिलजानेसे (एतत् अप्रसिद्धं अपि न) यह बात असिद्धभी नहीं है क्योंकि (ज्ञानात् विना) ज्ञानके विना (भु-

जगादेः) सर्प वगैरहका (त्यागः) त्याग (वा) और (स्रगाद्युपादानं) माला वगैरहका ग्रहण (न) नहीं होता है ।

भावार्थः— प्रमाणके साथहीसाथ अज्ञानकी निवृतिरूप प्रमाणका फल, और हेयके त्याग व उपादेयके ग्रहणरूप प्रमाणका फल, असिद्ध नहीं कहा जासकता है। क्योंकि जबतक ज्ञान नहीं होता है तबतक सर्प आदि समझकर कोई छोडता नहीं है तथा माला समझकर कोई ग्रहण नहीं करता है अर्थात जैसे कि कोई व्यक्ति अंधेरी जगहमे जारहा है । रास्तेमें उसे कोई चीज दिखाई—दिखपडी । उसने उसे जाननेकी कोशिश की, कि यह क्या है । यदि उसकी समझमें आया कि यह तो सर्प है तो वह उसे जानतेही छोड देता है । और यदि उसकी समझमें आया कि यह तो पुष्पमाला है तो वह जानतेही उसे उठालेता है । इसलिए सिद्ध होता है कि ज्ञान और अज्ञाननिवृत्ति अथवा हानोपादन व उपेक्षा ये जो प्रमाणके-ज्ञानके फल (तीन फल) माने हैं वे (तीनोंही) युगपत होजाते है। उनका कालभिन्न नहीं है । अतएव प्रमाणही स्वयफल तथा फलवान है यह कहना ठीक है ।

उक्तं प्रमाणलक्षणमिह यदनार्हतं कुवादिभिः स्वैरम् ।
तल्लक्षणदोषत्वात्तत्सर्वं लक्षणाभासम् ॥ ७३३ ॥

अन्वयार्थ — (यत्] जो (इह) यहांपर (कुवादिभिः) कुवादियोंने (अनार्हतं) जैन निरूपित लक्षणके विना (स्वैरं) स्वच्छन्दता पूर्वक (प्रमाणलक्षण) प्रमाणका लक्षण (उक्त) कहा है [तत्सर्वं] वह सब [तल्लक्षणदोषत्वात्] प्रमाणके लक्षणके दोषपनेसे (लक्षणाभासं) लक्षणाभास है ।

भावार्थः— इसप्रकार अन्यलोगोंके द्वारा मानेहुए प्रमाणके लक्षण, अव्याप्ति आदि लक्षण सम्बन्धी दोषोंसे युक्त होनेके कारण यथार्थ लक्षण नहीं है किन्तु लक्षणाभास है ।

स यथा चेत्प्रमाणं लक्ष्यं तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
अव्याप्तिको हि दोषः सदेश्वरे चापि तदयोगात् ॥ ७३४ ॥

अन्वयार्थः— (स यथा) उसका खुलासा इसप्रकार है कि जैसे (चेत) यदि (प्रमाणं) प्रमाणको

१ 'मल्लक्षण' मूल पुस्तकमें ऐसा पाठ है ।

(लक्ष्यं) लक्ष्य और (प्रमाकरण) प्रमाके करणको (तल्लक्षणं) उसका लक्षण माना जाय तो (हि) निश्चय करके (अव्याप्तिक दोष) अव्याप्ति नामक दोष आता है क्योंकि (ईश्वरे सदाऽपि च) प्रमाणभूत ईश्वरके सदैव रहनेपरभी उसमें (तद्योगात्) ' प्रमाकरण प्रमाण , यह प्रमाणका लक्षण नहीं घटता है ।

भावार्थ.— पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि प्रमाके करणको प्रमाण मानना अव्याप्ति दोषसे दूषित है । कारणकि उनके प्रसिद्ध उदयनाचार्यके मतमें ईश्वरको प्रमाण तो माना है । परतु उसे प्रमाका करण न मानकर अधिकरण माना है । इसलिए प्रमाणका ' प्रमाकरण ' यह लक्षण उनकेही अभिमत ईश्वररूप प्रमाणमें नहीं जानेसे अव्याप्ति दोषसे दूषित होनेके कारण अलक्षण है ।

योगिज्ञानेपि तथा न स्यात्तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
परमाण्वादिषु नियमान्न स्यात्तत्सान्निकर्षश्च ॥ ७३५ ॥

अन्वयार्थः—(तथा) तथा (योगिज्ञानेऽपि) योगियोंके ज्ञानमेंभी (प्रमाकरणं) प्रमाका करण रूप (तल्लक्षणं) प्रमाणका लक्षण (न स्यात्) नहीं जाता है क्योंकि (नियमात्) नियमसे (परमाण्वादिषु) परमाणु वगैरह सूक्ष्म पदार्थोंमें (तत्सन्निकर्षश्च) इंद्रियोंका सन्निकर्षभी (न स्यात्) नहीं होता है ।

भावार्थः— वैशेषिकोंनें योगियोंके ज्ञानको प्रमाण माना है । और यह भी माना है कि वे योगी परमाणु आदि सूक्ष्मपदार्थोंको अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष सामर्थ्यसे जानते हैं । इन्द्रिय प्रत्यक्षसे नहीं । अत योगियोके ज्ञानमें प्रमाकरणरूप प्रमाणका लक्षण नहीं जाता है—नहीं घटता है । क्योंकि उनके यहा इन्द्रिय सन्निकर्षादिकको प्रमाका करण मानागया है । और इंद्रियोंका, परमाणु आदि सूक्ष्म इंद्रिय अगोचर पदार्थोंके साथ, सन्निकर्ष हो नही सकता है इसलिए प्रमाकरणरूप प्रमाणका लक्षण प्रमाणभूत योगि प्रत्यक्षमें न जानेसेभी अव्याप्ति दोषसे दूषित है ।

इसप्रकार प्रमाकरणरूप प्रमाणके लक्षणमें अव्याप्ति दोष बताकर आगे वेदको प्रमाण माननेके विषयमें विचार करतें है ।

वेदाः प्रमाणमत्र तु हेतुः केवलमपौरुषेयत्वम् ।
आगमगोचरताया हेतोरन्याश्रितादहेतुत्वम् ॥ ७३६ ॥

अन्वयार्थ — (वेदाः प्रमाणं) वेद प्रमाण है (अत्र) यहांपर (केवलं) केवल (अपौरुषेयत्व-हेतु) अपौरुषेयपना हेतु है (तु) किंतु (हेतोः) अपौरुषेयरूप हेतुको (आगमगोचरतायाः) आगम गोचर होनेसे (अन्याश्रितात्) अन्याश्रित है इसलिए वह (अहेतुत्वं) समीचीन हेतु नहीं है ।

भावार्थः-- वेदोंको प्रमाण माननेवाले वेदोंकी प्रमाणतामें अपौरुषेयत्व हेतु बताते है अर्थात् उनका यह कहना है कि पुरुष राग द्वेषसे दूषित होते है। अतः पुरुषोंके द्वारा निरुपित पदार्थका स्वरूप प्रमाणीक नहीं कहा जासकता है। किंतु जो पुरुषोंके द्वारा प्रतिपादित न हो वही प्रमाणीक होसकता है। वेद अपौरुषेय है इसलिए वही प्रमाण है। इसप्रकार अपौरुषेयत्व हेतुसे वे वेदमें प्रमाणता सिद्ध करते हैं । परन्तु यहापर वेदकी प्रमाणीकतामें जो अपौरुषेयत्व हेतु दिया है वह उनके आगमसेही सिद्ध है युक्तिसे नहीं । इसलिए वह अपौरुषेयत्व हेतु आगमके आश्रित होनेसे अन्याश्रित-आगमाश्रित हैं । और अन्याश्रित होनेसे समीचन हेतु नहीं कहा जासकता है । कारण कि अपने २ अनुयायी वर्गही आगम प्रमाणको प्रमाण माननेके लिए बाध्य होतें हैं इतर नहीं । क्योंकि सर्वसाधारण तो युक्तिसिद्ध कथनकोही प्रमाण माननेके लिए बाध्य किये जासकते है साराश यह है कि अपौरुषेयत्व हेतु आगमाश्रित होनेसे स्याद्वादियोंके प्रति असिद्ध हैं ।

एवमनेकविधं स्यादिह मिथ्यामतकदम्बकं यावत् ।
अनुपादेयमसारं वृद्धैः स्याद्वादवेदिभिः यावत् ॥ ७३७ ॥

अन्वयार्थः— (एव) इसीप्रकार (इह) यहांपर (यावत्) जितनेभी (अनेकविध) नानाप्रकारके (मिथ्यामतकदम्बकं) मिथ्यामतोंके समूह (स्यात्) है वे सव (समयात्) समयानुसार (स्याद्वादवेदिभिः) स्याद्वादके जाननेवाले (वृद्धै) वृद्ध पुरुषोंके द्वारा (असारं) असार और (अनुपादेयं) अनुपादेय है ।

भावार्थः— इसप्रकार यहापर जितने भी मिथ्या मत है वे सब सिद्धान्तानुसार अनुभवी वृद्ध स्याद्वादियोंके द्वारा असार व अनुपादेय बताये गए है ।

उक्तं प्रमाणलक्षणमनुभवगम्यं यथागमज्ञानात् ।
अधुना निक्षेपपदं संक्षेपाल्लक्ष्यते यथालक्ष्म ॥ ७३८ ॥

अन्वयार्थः— [अनुभवगम्यं] अनुभवके द्वारा जाननेके योग्य (यथाऽऽगमज्ञानात्) आगमज्ञानानुसार (प्रमाणलक्षण) प्रमाणका लक्षण (उक्तं) कहा (अधुना) अब इससमय (संक्षेपात्) संक्षेपसे (यथालक्ष्म) लक्षणके अनुसार (निक्षेपपदं) निक्षेप पद (लक्ष्यत) कहा जाता है।

भावार्थ.— इसप्रकार ६६४ वें पद्यसे लेकर ७३७ वें पद्यतक आगमके अनुसार अनुभवमें आने योग्य प्रमाणके लक्षणका निरूपण किया। अब आगे संक्षेपसे लक्षणके अनुसार निक्षेपके स्वरूपादिकका कथन किया जाता है अर्थात् निक्षेपका स्वरूप कहा जाता है।

ननु निक्षेपो न नयो नच प्रमाणं न चांशकं तस्य।
पृथगुद्देश्यत्वादपि पृथगिव लक्ष्यं स्वलक्षणादिति चेत ॥ ७३९ ॥

अन्वयार्थ — (ननु) शंकाकारका कहना है कि (निक्षेप.) निक्षेप (न नयः) न तो नय है (च) और (न प्रमाणं) न प्रमाण है (च) तथा (न तस्य अंशकं) न प्रमाण व नयका अंश है (अपि) किंतु (पृथगुद्देश्यत्वात्) निक्षेपका पृथक् उद्देश होनेसे (स्वलक्षणात्) अपने लक्षणसे वह (पृथक् इव लक्ष्यं) पृथक्ही लक्षित है (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो।

भावार्थः— प्रमाण, नय और निक्षेप पदार्थके स्वरूप जाननेमें आवश्यक होते है। उनमेसे नय तथा प्रमाणके लक्षणका निरूपण किया जाचुका है। किन्तु निक्षेपके लक्षणका निर्देश नहीं किया है। इसलिए शंकाकारकी शंका है कि निरपेक्ष न तो नय है और न प्रमाण है तथा न नय व प्रमाणका अंशही है। किन्तु उसका निर्देश पृथक् होनेसे वह नय प्रमाणके लक्ष्यसे भिन्न लक्ष्यवाला है। अतः उसका लक्षण कहना चाहिये।

उत्तर (निरपेक्षका लक्षण)

सत्यं गुणसाक्षेपो सविपक्षः स च नयः स्वयांक्षिपति।
य इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः ॥ ७४० ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है किंतु (गुणसापेक्ष.) गुणोंकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेवाला (च) और (सविपक्षः) विपक्षकी अपेक्षा रखनेवाला (यः) जो [नयः] नय है [सः] वह नय (स्वयं

क्षिपति) जिसका स्वयं क्षेप करता है अर्थात् इसप्रकारका (यः) जो (इह) यहांपर (केवलं उपचरितः गुणाक्षेप स्यात्) केवल उपचरित गुणका आक्षेप है (सः निक्षेपः) वह निक्षेप कहलाता है।

भावार्थः— नय और निक्षेपमें विषयविषयीभाव सम्बन्ध है। इसलिए निक्षेपका लक्षण करते समय ग्रन्थकारने श्लोकके पूर्वार्धमें, सविपक्ष और गुणसापेक्षरूप नयके स्वयक्षेपको निक्षेपका निरुक्त्यर्थ बताया है। और उत्तरार्ध में उक्त निरुक्तिका साराश बताया है कि नयोंके केवल उपचरित गुणाक्षेपको निक्षेप कहते हैं अर्थात् नाम स्थापना, द्रव्य और भावरूपसे जो नयोंके द्वारा पदार्थोंमे एकप्रकारका आरोप किया जाता है उसे निक्षेप कहते है। जैसे लोकव्यवहारके लिए जिनसम्बन्धी गुणोंकी अपेक्षा न करके किसीका जिननाम रखलेनेको नाम निक्षेप कहते है। जिनके समान आकारादिवाली मूर्तिमें जिनभगवानकी "यह वही जिन है" इसप्रकारकी बुद्धिपूर्वक स्थापना करनेको स्थापना निक्षेप कहते है। तथा साक्षात् जिनपर्यायके उन्मुख छद्मस्थवीतराग जिनके जीवको जिन कहकर पूजनेको द्रव्यनिक्षेप कहते है। और समवशरणमें विराजमान साक्षात् जिनभगवानकोही जिन कहनेको भावनिक्षेप कहते है।

निक्षेपोंके भेद।

निक्षेपः स चतुर्धा नाम ततः स्थापना ततो द्रव्यम्।
भावस्तल्लक्षणमिह भवति यथा लक्ष्यतेऽधुना चार्थात् ॥ ७४१ ॥

अन्वयार्थः-- (स निक्षेपः) वह निक्षेप [नाम] नाम (ततः) उसके बाद (स्थपना) स्थापना (द्रव्यं) द्रव्य (च) और (भावः) भाव इसतरह [चतुर्धा] चारप्रकारका है (अधुना)अब (इह) यहांपर [अर्थात्] अर्थसे [तल्लक्षणं] उन चारोंही निक्षेपोंका लक्षण [यथा भवति] जिसप्रकारसे है [तथा लक्ष्यते] उस प्रकारसे कहा जाता है।

भावार्थ — नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे वह निक्षेप चार प्रकारका है। अब आगे उन चारोंही निक्षेपोंका लक्षण कहा जाता है।

नाम और स्थापना निक्षेपका लक्षण।

वस्तुन्यतद्गुणे खलु संज्ञाकरणं जिनो यथा नाम।
सोऽयं तत्समरूपे तद्बुद्धिः स्थापना यथा प्रतिमा ॥ ७४२ ॥

अन्वयार्थ — (खलु) निश्चयकरके (अतद्गुणे वस्तुनि) अतद्गुण वस्तुमें (संज्ञाकरण) व्यवहारके लिए संज्ञा करना (नाम) नाम निक्षेप है (यथा) जैसे (जिनः) किसीका नाम जिन रखलेना और (तत्समयरूपे) उसीके समानरूपवाली वस्तुमें (सोऽयं) यह वही है इसप्रकारकी (तद्बुद्धि) उसीकी बुद्धि होना (स्थापना) स्थापना निक्षेप है (यथा) जैसेकि (प्रतिमा) जिनेंद्रकी प्रतिमा अर्थात् जिनेंद्रकी प्रतिमामें जिनेंद्रकी बुद्धिका होना स्थापना निक्षेप है।

भावार्थ:— अतद्गुण वस्तुमें व्यवहारके लिए जो संज्ञा कीजाती है उसको नामनिक्षेप कहते हैं जैसे किसी-का नाम जिन रखलेना। और समानरूपवाली वस्तुमें यह वही है इसप्रकारकी बुद्धिको स्थापना निक्षेप कहते हैं जैसे जिनेन्द्रकी प्रतिमामें 'ये वे ही जिनभगवान हैं' इसप्रकारकी बुद्धिपूर्वक जिनेंद्र भगवानकी स्थापना करना। किन्तु स्थापना निक्षेपमें पूज्यापूज्य व्यवहार होता है यही नाम और स्थापना निक्षेपमें अन्तर है।

द्रव्यनिक्षेपका लक्षण।

ऋजुनयानिरपेक्षतया, सापेक्षं भाविनैगमादिनैय. ।
छद्मस्थोजिनजीवो जिन इव मान्यो यथात्र तद्द्रव्यम् ॥ ७४३ ॥

अन्वयार्थः— (ऋजुनयनिरपेक्षतया) ऋजुसूत्रनयकी उपेक्षासे और (भाविनैगमादिनयैः सापेक्षं) भावि नैगमादिक नयोंकी अपेक्षासे जो कहा जाता है (तत् द्रव्यं) वह द्रव्यनिक्षेप है (यथा) जैसेकि (अत्र) यहांपर (छद्मस्थः जिनजीव) छद्मस्थ जिनजीव (जिन इव मान्यः) जिनकी तरह मान्य है।

भावार्थ — ऋजुसूत्रनयका विषय वर्तमान है तथा भाविनैगम नयका विषय होनेवाला है। और आदि शब्दसे यहापर भूतनगम नयका ग्रहण किया है। उसका विषय भूतकालीन विषय होता है। इन तीनों नयोंके विषयोंमे ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा न करके भूत व भावी नैगमनयकी अपेक्षासे होचुके तथा होनेवालेको वर्तमानमें कहना द्रव्यनि-क्षेप है जैसेकि छद्मस्थ अवस्थामें वर्तमान जिनके जीवको जिन कहना अथवा सिद्धोंको जिन कहना द्रव्य निक्षेप कहलाता है।

तत्पर्यायो भावो यथा जिनः समवशरणसंस्थितिकः ।
घातिचतुष्टयरहितो ज्ञानचतुष्टययुतो हि दिव्यवपुः ॥ ७४४ ॥

अन्वयार्थः— (तत्पर्यायतः भावः) तत्पर्यायवाला भाव कहलाता है अर्थात् जो पदार्थ जिससमय जिसपर्यायसे सहित उस पदार्थको उस समय उसी पर्यायवाला कहना भावनिक्षेप है (यथा हि) जैसे (समवशरणसंस्थितिकः) समोशरणमें है स्थिति जिनकी ऐसे तथा (घातिचतुष्टयरहितः) चार घातिया कर्मोंसे रहित (ज्ञानचतुष्टययुतः) अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयोंसे युक्त और (दिव्यवपुः) दिव्य परमौदारिक देहधारी (जिनः) जिनकोही 'जिन' कहना।

भावार्थ — जिससमय जिसपदार्थकी जो पर्याय हो उससमय उस पदार्थको उस पर्यायवाला कहना भावनिक्षेप कहलाता है जैसे घातिया कर्मोंके नाश करनेवाले अनन्त चतुष्टयसहित और परम दिव्य औदारिक देहधारी समवशरणमें विराजमान अरहंत भगवानकोही 'जिन' कहना।

इसप्रकार नाम, स्थापना द्रव्य और भावनिक्षेपकी अपेक्षासे चार प्रकारसे जिन, 'जिन' कहे जाते हैं। ये चारोंही निक्षेप नयके विषय होते हैं। नाम, स्थापना तथा द्रव्यनिक्षेप द्रव्यार्थिक[1] नयके विषय होते हैं। और भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नयका विषय होता है। कारण कि नाम, स्थापना और द्रव्यनिक्षेपमें नयोंके द्वारा पुरे द्रव्यका निक्षेप किया जाता है। तथा भावनिक्षेपमें ऋजुसूत्रनयके द्वारा केवल पर्यायका निक्षेप किया जाता है। अतः नामादिक तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नयके विषय माने गये हैं। और भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नयका विषय माना गया है।

णाम जिणा जिणणामा ठवण जिणा जिणिंद पडिमाए।
दव्व जिणाजिण जीवा भावजिणा समवसरणत्था॥ १॥

अन्वयार्थः— (जिणणामा) जिननामक व्यक्ति (णामजिणा) नाम जिन है (जिणिंद पडिमाए) जिनेंद्र प्रतिमामें (ठवणजिणा) स्थापना जिन है (जिणजीवा) जिन होनेवाले जीव (दव्वजिणा) द्रव्य जिन है और (समवसरणत्था) समोशरणमें स्थित साक्षात जिन (भावजिणा) भाव जिन है।

दिङ्मात्रमत्र कथितं व्यासादपि तच्चतुष्टयं यावत्।
प्रत्येकमुदाहरणं ज्ञेयं जीवादिकेषु चार्थेषु॥ ७४५॥

[1] सूत्रानुसार नैगम, संग्रह, व्यवहारको द्रव्यार्थिक और शेषको पर्यायार्थिक नय कहते हैं किंतु अध्यात्मवादसे तीनोंही नय व्यवहारनय है।

अन्वयार्थ— (अत्र) यहांपर (दिङ्मात्रं) सामान्यरूपसे (तच्चतुष्टयं यावत्) नामादिक चारों निक्षेपोंका (कथितं) कथन किया (अपि च) और (व्यासात्) विस्तारसे (जीवादिकेषु अर्थेषु) जीवादिक अर्थोंमेंभी (प्रत्येकं उदाहरण ज्ञेय) प्रत्येकके उदाहरण समझना चाहिये।

भावार्थः— इसप्रकार अतिसंक्षेपसे दृष्टान्तके द्वारा निक्षेपके स्वरूपका वर्णन किया विशेषरूपसे चारांही प्रकारके निक्षेप जीवादिक सप्तपदार्थोंमें मय उदाहरणोंके लगालेना चाहिए।

उक्तं गुरूपदेशान्नयनिक्षेपप्रमाणमिति तावत्।
द्रव्यगुणपर्ययाणामुपरि यथासंभवं दधाम्यधुना ॥ ७४६ ॥

अन्वयार्थ —(इति) इसप्रकार (नय निक्षेप प्रमाणं तावत्) नय निक्षेप और प्रमाणका स्वरूप तो (उक्तं) कहा (अधुना) अब इससमय (गुरूपदेशात्) गुरुके उपदेशानुसार (द्रव्यगुणपर्ययाणां) द्रव्य गुण और पर्यायोंके (उपरि) ऊपर (यथासंभवं) यथायोग्य (दधामि) नय प्रमाणको लगाते है अर्थात् द्रव्य गुण तथा पर्यायोंमेंसे नय और प्रमाणके कौन कैसे विषय होते है यह घटाते हैं।

भावार्थ— इसप्रकार नय, प्रमाण और नयके विषयभूत निक्षेपोंके स्वरूपका वर्णन करके अब आगे द्रव्यगुण तथा पर्यायोंमेंसे नय और प्रमाण किस २ को विषय करते है इसको बताते है।

तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य भवति मतम् ॥।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम् ॥ ७४७ ॥

अन्वयार्थः— (तत्वं अनिर्वचनीयं) तत्व अनिर्वचनीय है यह (शुद्धद्रव्यार्थिकस्य) शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका (मतं भवति) पक्ष है और (गुणपर्ययवत् द्रव्यं) गुणपर्यायवाला द्रव्य है (अयं) यह (पर्यायार्थिक नयस्य) पर्यायार्थिक नयका (पक्षः) पक्ष है।

भावार्थः— तत्व अनिर्वचनीय है यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका विषय हैं। और द्रव्य गुणपर्यायवाला है यह पर्यायार्थिक नयका विषय है अर्थात् अभेदमात्र द्रव्यार्थिक नयका तथा भेदमात्र पर्यायार्थिक नयका विषय माना है।

यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्ययवत्तदेव नास्त्यन्यत् ।
गुणपर्ययवद्यादिदं तदेव तत्वं तथा प्रमाणमिति ॥ ७४८ ॥

अन्वयार्थः— (यत् इदं अनिर्वचनीयं) जो यह अनिर्वचनीय है (तदेव) वही (गुणपर्ययवत् - गुण पर्ययवाला द्रव्य है, (अन्यत् नास्ति) दूसरा कुछ नहीं है (तथा) तथा (यत् इदं) जो यह (गुण पर्ययवत्) गुण पर्ययवाला द्रव्य है (तदेव) वही (तत्वं) तत्व है (इति) इसप्रकारसे सामान्य विशेषको विषय करनेवाला (प्रमाणं) प्रमाण है ।

भावार्थः— तथा जो तत्व अनिर्वचनिय है वही गुणपर्यायवाला है । अथवा जो तत्व, गुणपर्यायवाला है वही अनिर्वचनीय तत्त्व है इसप्रकार जोडरूप युगपत उभयको विषय करना प्रमाणका पक्ष है ।

स्पष्टीकरण ।

यद्द्रव्यं तन्न गुणो योपि गुणस्तन्न द्रव्यमिति चार्थात् ।
पर्यायोपि यथा स्यात्ऋजुनयपक्षः स्वपक्षमात्रत्वात् ॥ ७४९ ॥
यादिदं द्रव्यं स गुणो योपि गुणो द्रव्यमेतदेकार्थात् ।
तदुभयपक्षे दक्षो विवक्षितः प्रमाणपक्षोऽयम् ॥ ७५० ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (यथा) जैसे (यत् द्रव्य) जो द्रव्य है (तन्न गुणः) वह गुण नहीं है (अपि) और (यः) जो (गुण) गुण है (तत् द्रव्यं च न) वह द्रव्यभी नहीं है (' तथा ') वैसेही (पर्यायोऽपि) पर्यायभी पर्यायही है द्रव्यगुण नहीं है (इति) यह (स्वपक्षमात्रत्वात्) केवल अपने पर्यायरूप पक्षको विषय करनेसे (ऋजुसूत्रनयपक्षः स्यात्) ऋजुसूत्रनयका पक्ष है और (एकार्थत्वात्) द्रव्य गुणका एकार्थ होनेसे (यत् इदं द्रव्य) जो यह द्रव्य है (स गुणः) वही गुण है (अपि) तथा (यः गुण) जो गुण है (एतत् द्रव्यं) वही द्रव्य है यह द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है तथा (तदुभयपक्षे दक्षः)उन दोनों पक्षों-के विषय करनेमें समर्थ (विवक्षितः) विवक्षित जो पक्ष है वह (अयं) यह (प्रमाणपक्ष) प्रमाणका पक्ष है ।

भावार्थः— जैसे जो द्रव्य है वह गुण नहीं है। और जो गुण है वह द्रव्य नहीं है। किन्तु गुण, गुणही है तथा द्रव्य, द्रव्यही है। वैसेही जो पर्याय है वह पर्यायही है द्रव्य व गुण नहीं है यह पक्ष (विषय) अर्थात द्रव्य, गुण और पर्यायको पृथक् २ मानकर केवल पर्यायमात्रको विषय करना ऋजुसूत्र नयका पक्ष है—विषय है। तथा जो द्रव्य है वही गुण है और जो गुण है वही द्रव्य है। क्योंकि 'गुणसमुदायो द्रव्यं' इस सिद्धान्तमें यावत् गुणोंकोही द्रव्य कहा है। इसलिए गुणद्रव्य परस्परमें भिन्न नहीं है। किन्तु उक्तप्रकारसे एकही अर्थवाले हैं। अतएव गुण तथा द्रव्यको एक कहना द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है—विषय है। और इन दोनों नयोंके पक्षोंको युगपत् विषय करना प्रमाणका पक्ष है।

पृथगादानमशिष्टं निक्षेपो नयविशेष इव यस्मात्।
तदुदाहरणं नियमादस्ति नयानां निरूपणावसरे ॥ ७५१ ॥

अन्वयार्थ— (यस्मात्) जिस कारणसे (निक्षेप) निक्षेप (नय विशेष इव) नय विशेषके समान है ति कारणसे (पृथगादानं अशिष्टं) निक्षेपका पृथक् ग्रहण करके निरूपण करना योग्य नहीं है क्योंकि (नयानां निरूपणावसरे) नयोंके निरूपणके अवसरमें अर्थात् नयोंका निरूपण करते समय (नियमात्) नियमसे (तदुदाहरण अस्ति) निक्षेपके उदाहरण रहते है।

भावार्थः— प्रमाण और नयके समान निक्षेपोंका पृथक् वर्णन करना ठीक नहीं है। कारणकि विशेषरीतिसे नयोंके उदाहरणके निरूपण करतेसमय नयविशेषके समान निक्षेपोंकाभी निरूपण हो जाता है अर्थात नयोंके वर्णनमें गर्भित होजाता है। अत. निक्षेपोंका पृथक् वर्णन करना उपयुक्त नहीं है।

अब आगे चार पद्यों द्वारा व्यवहार नयके अन्तर्गत अनेक व एक नयका तथा द्रव्यार्थिक नयका स्वरूप बताकर दोनोंके युगपत् ग्रहण करनेसे प्रमाण होता है यह बताते है।

अस्ति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्यायस्तत्त्रयं मिथोऽनेकम्।
व्यवहारैकविशिष्टो नयः स वाऽनेकसंज्ञको न्यायात् ॥ ७५२ ॥

अन्वयार्थः— (द्रव्यं) द्रव्य (गुणः) गुण (अथवा) अथवा (पर्याय) पर्याय ये तीनों अपने २ स्वरूपसे (अस्ति) है (अत) इसलिए (त्रयं) ये तीनों (मिथो वा) परस्परमेंभी (अनेकं) अनेक है इसप्रका-

ऐसे (व्यवहारैकविशिष्टः नयः) केवल एक व्यवहार विशिष्ट जो नय है अर्थात व्यवहारके अन्तर्गत जो नय है (सः) वह (न्यायात) न्यायानुसार (अनेकसंज्ञकः) अनेकताको प्रतिपादन करनेके कारण अनेकसंज्ञक नय है।

भावार्थः— जो नय, द्रव्य है, गुण है, पर्याय है, इसप्रकारसे द्रव्य, गुण और पर्यायोंको भिन्न २ प्रतिपादन करता है वह व्यवहारनयके अन्तर्गत अनेक नय कहलाता है।

एकं सदिति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्ययोऽथवा नाम्ना।
इतरद्वयमन्यतरं लब्धमनुक्तं स एकनयपक्षः॥ ७५३॥

अन्वयार्थ— (नाम्ना) नामके द्वारा चाहे (द्रव्यं) द्रव्य हो (अथवा) अथवा (गुणः) गुण हो (अथवा) अथवा (पर्ययः) पर्याय हो किंतु सामान्यसे वह (एकं सत्) एक सतही है (इति) इसलिए तीनोंमेंसे किसी एकके कहनेपर (अनुक्त) नहीं कहे गये (अन्यतरं इतरद्वय) शेष दो (लब्धं) लब्ध होजाते है इसप्रकार जो सतको एक कहता है (सः) वह (एकनयपक्षः) एक नयका पक्ष है।

भावार्थ — द्रव्य गुण व पर्याय ये तीनोंही एक सत् है ऐसा कहनेवाला जो नय है वह व्यवहारनयके अन्तर्भूत एक नय है। क्योंकि इन तीनोंमेसे किसी एकके कहनेसे अर्थात् द्रव्यको, गुणको अथवा पर्यायको सत कहनेसे इतर-शेष दो का विना कहेही ग्रहण होजाता है। इसलिए एकपनेका कहनेवाला होनेसे यह नय व्यवहारान्तर्गत नयोंमेसे एक नय कहलाता है।

न द्रव्यं नापि गुणो नच पर्यायो निरंशदेशत्वात्।
व्यक्तं न विकल्पादपि शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतमेतत्॥ ७५४॥

अन्वयार्थः— (निरंशदेशत्वात्) वस्तुको अखंडरूप होनेसे (न द्रव्यं) न द्रव्य है [अपि] और (न गुणः) न गुण है (च) तथा (न पर्यायः) न पर्याय है और (न विकल्पात् व्यक्तं अपि) न वह वस्तु

नोटः—अध्यात्म परिमाणसे सातोंही नय व्यवहार कहलाता हैं अतः यहांपर संग्रहनयको व्यवहारान्तर्गत एक नय कहा है।

किसी विकल्पसे व्यक्तभी हो सकती है (एतत्) यह (शुद्ध द्रव्यार्थिकस्य मत) शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका मत है-पक्ष है ।

भावार्थः— न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है और न कोई विकल्पही है । इसप्रकार 'नेत्येतावन्मात्रः' जो निश्चयनयका लक्षण कहा है तदनुसार यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है ।

द्रव्यगुणपर्ययाख्यैर्यदनेकं सद्विभिद्यते हेतोः ।
तदभेद्यमनंशत्वादेकं सदिति प्रमाणमतमेतत् ॥ ७५५ ॥

अन्वयार्थः- (हेतो) युक्तिके वशसे (यत् सत्) जो सत् (द्रव्यगुणपर्ययाख्यैः) द्रव्य, गुण और पर्यायोंके नामसे (अनेकं) अनेक रूपसे (विभिद्यते) भिन्न किया जाता है (तत् सत्) वही सत् (अनंशत्वात्) अंश रहित होनेसे (अभेद्यं एकं) अभेद्य एक है (इति एतत्) इसप्रकार यह (प्रमाणमतं) प्रमाणका पक्ष है ।

भावार्थः—युक्तिपूर्वक जो सत् द्रव्य गुण तथा पर्यायोंकी अपेक्षासे अनेक कहा गया था वही सत् अंशरहित होनेसे अभेद्य व एकही है इसप्रकार युगपत् एकानेकको विषय करना प्रमाणका पक्ष है ।

अब आगे-चार पद्योंके द्वारा व्यवहारनयके अन्तर्गत अस्ति तथा नास्ति नयके स्वरूपको बतानेके साथ २ इस दोनों विकल्पोंसे रहित शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके स्वरूपको बताकरके उभय नयोंके विषयको प्रमाण कैसे विषय करता है । इसको बताते है ।

अपि चास्ति सामान्यमात्रादथवा विशेषमात्रत्वात् ।
अविवक्षितो विपक्षो यावदनन्यः स तावदस्तिनयः ॥ ७५६ ॥

अन्वयार्थः— (अपि च) तथा जो (सामान्यमात्रात्) सामान्यमात्रसे (अथवा) अथवा (विशेषमात्रत्वात्) विशेषमात्रसे (अस्ति) है उसमें (यावत्) जबतक (विपक्षः) विपक्ष (अविवक्षितः) अविवक्षित रहता है (तावत्) तबतक (सः अनन्यः) वह एक (अस्तिनयः) अस्तिनय कहलाता है ।

भावार्थः— सामान्यविशेषात्मक वस्तुमें जिससमय विशेषको गौण करके केवल सामान्यकी विवक्षा होती

यदिदं नास्तिस्वरूपाभवादास्ति स्वरूपसद्भावात् ।
तद्वाच्यात्ययरचितं वाच्यं सर्वं प्रमाणपक्षस्य ॥ ७५९ ॥

अन्वयार्थः— [यत्] जो (इदं) यह (स्वरूपाभावात्) स्वरूपके अभावसे (नास्ति) नहीं है और (स्वरूपसद्भावात्) स्वरूपके सद्भावसे (अस्ति) है (तत्) वही (वाच्यात्ययरचितं) वाच्यात्यय रचित है—निर्विकल्प है (' इति ' सर्वं) यह सब (प्रमाणपक्षस्य) प्रमाणपक्षका (वाच्यं) वाच्य है।

भावार्थः— जो वस्तुस्वरूपकी अपेक्षासे अस्तिरूप और स्वरूपके अभावकी अपेक्षासे अर्थात् परस्वरूपसे नास्तिरूप है वही वस्तु अनिर्वचनीय है इसप्रकार जोडरूपसे युगपत् दोनों पक्षोंको प्रमाणपक्ष कहता है।

उत्पद्यते विनश्यति सदिति यथास्वं प्रतिक्षणं यावत् ।
व्यवहारविशिष्टोऽयं नियतमनित्यो नयः प्रसिद्धः स्यात् ॥ ७६० ॥

अन्वयार्थः— [सत् इति] सत् यह [यथास्वं] यथायोग्य [प्रतिक्षणं यावत्] प्रत्येक समयमें (उत्पद्यते) उत्पन्न होता है तथा (विनश्यति) विनष्ट होता है (अयं) यह [नियतं] निश्चयसे [व्यवहार-विशिष्टः] व्यवहारविशिष्ट [प्रसिद्धः] प्रसिद्ध [अनित्यः नयः स्यात्] अनित्यनय है।

भावार्थ.— सत्को प्रतिसमय यथायोग्य नयविवक्षावश पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे उत्पन्न तथा नष्ट होने-वाला कहना व्यवहारान्तर्गत प्रसिद्ध अनित्यनय है।

नोत्पद्यते न नश्यति ध्रुवमिति सत्स्यादनन्यथावृत्तेः ।
व्यवहारान्तर्भूतो नयः स नित्योऽप्यनन्यशरणः स्यात् ॥ ७६१ ॥

अन्वयार्थः— (अन्यथावृत्तेः) अन्यथावृत्ति न होनेसे (सत् इति) सत् यह (न उत्पद्यते) न उत्पन्न होता है (न नश्यति) न नष्ट होता है किंतु (ध्रुवं स्यात्) ध्रुव है इसप्रकारका जो कथन है (सः अपि) वहभी (व्यवहारान्तर्भूतः) व्यवहारनयके अन्तर्भूत (अनन्यशरणः) अनन्यशरण (नित्यः नयः स्यात्) नित्य नय है।

भावार्थः— द्रव्यार्थिक नयसे सत्में उत्पादव्यय कुछभी विवक्षित नहीं होते है। किन्तु सदा अनन्यथावृत्ति

है अथवा सामान्यको गौण करके केवल विशेषकी विवक्षा होती है उससमय विपक्षकी विवक्षा न करके केवल सामान्य न विशेषकी अपेक्षासे वस्तुके अस्तित्वका जो निरुपण किया जाता है वह व्यवहारान्तर्गत नयोंमेसे अस्तिनय कहलाता है।

नास्ति च तदिह विशेषैः सामान्यस्य विवक्षितायां वा ।
सामान्यैरितरस्य च गौणत्वे सति भवति नास्तिनयः ॥ ७५७ ॥

अन्वयार्थः— (च) और (इह) यहांपर (तत्) वस्तु (**सामान्यस्य विवक्षितायां**) सामान्यकी विवक्षामें (**गौणत्वे सति**) विशेपधर्मकी गौणता होनेपर (**विशेषै**) विशेष धर्मोंके द्वारा (**नास्ति**) नहीं है (**वा**) अथवा (**इतरस्य विवक्षितायां**) इतरकी विवक्षामें–विशेषकी विवक्षामें सामन्य धर्मकी गौणता होनेपर (**सामान्यैः नास्ति**) सामान्य धर्मोंके द्वारा नहीं है इसप्रकार जो कथन है वह (**नास्तिनयः**) नास्तिनय (**भवति**) है।

भावार्थः— वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। इसलिए जिससमय सामान्यकी विवक्षा होती है। उससमय विशेष धर्मकी गौणता होनेसे वह वस्तु विशेषकी अपेक्षासे नहीं है। तथा जिससमय विशेषकी विवक्षा होती है उससमय सामान्यधर्मकी गौणता होनेसे वह वस्तु सामान्यकी अपेक्षासे नहीं है इसप्रकार जो कथन किया जाता है उसको व्यवहारान्तर्गत नयोंमेसे नास्तिनय कहते है।

द्रव्यार्थिकनयपक्षादस्ति न तत्वं स्वरूपतोऽपि ततः ।
न च नास्ति परस्वरूपात्सर्वविकल्पातिगं यतो वस्तु ॥ ७५८ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्व**) तत्व (**तत द्रव्यार्थिकनय पक्षात्**) उस प्रसिद्ध द्रव्यार्थिक नयके पक्षकी अपेक्षासे (**स्वरूपतोऽपि**) स्वरूपसेभी (**नअस्ति**) नहीं है (**च**) तथा (**परस्वरूपात्**) परस्वरूपसे (**नास्ति न**) नहीं है ऐसाभी नहीं है (**यतः**) क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे (**वस्तुः**) वस्तु (**सर्वविकल्पतिगं**) सम्पूर्ण विकल्पोंसे रहित मानी गई है।

• **भावार्थः**— शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षामे तत्व न अस्तिरूप है। और न पररूपसे नास्तिरूपभी है। क्योंकि इस नयकी अपेक्षासे वस्तु निर्विकल्पात्मक मानी गई है।

ही विवक्षित होती है। इसलिए सत्को द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे, उत्पन्न तथा विनष्ट नहीं कहकर ध्रुव कहना दूसरेकी शरण ही रखनेवाला व्यवहारान्तर्गत नयोंमेंसे नित्य नय है।

न विनश्यति वस्तु यथा वस्तु तथा नैव जायते नियमात्।
स्थितिमेति न केवलमिह भवति स निश्चयनयस्य पक्षश्च ॥ ७६२ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (इह) यहांपर (केवल) केवल (वस्तु) वस्तु (न विनश्यति) विनष्ट नहीं होती है (तथा) वैसेही (नियमात्) नियमसे (वस्तु) वस्तु (नैव जायते) उत्पन्नभी नहीं होती है (च) और (न स्थितिं एति) न ध्रौव्यको प्राप्त होती है जो यह कथन है (सः) वह (निश्चयनयस्य पक्षः) निश्चयनयका पक्ष (भवति) है।

भावार्थः— जिसप्रकार वस्तु उत्पन्न तथा विनष्ट नहीं होती है उसी प्रकार वह ध्रुव भी नहीं है। किन्तु अनिर्वचनीय है ऐसा कहना शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका– निश्चयनयका पक्ष है।

यदिदं नास्ति विशेषैः सामान्यस्यविवक्षया तदिदम्।
उन्मज्जत्सामान्यैरस्ति तदेतत्प्रमाणमविशेषात् ॥ ७६३ ॥

अन्वयार्थः— (यत् इदं) जो यह (सामान्यस्य विवक्षया) सामान्यकी विवक्षासे (सामान्यैः) सामान्यके द्वारा (उन्मज्जत्) विवक्षाको प्राप्त (इदं अस्ति) यह है और जो (विशेषैः नास्ति) विशेषोंके द्वारा नहीं है (तत्) वह, इसप्रकारसे ये (तदेतत्) यह वही है इसप्रकार दोनोंको (अविशेषात्) सामान्यरूपसे– किसीको मुख्य गौण किये विना, विषय करना (प्रमाण) प्रमाणका पक्ष है।

भावार्थः— जो वस्तुविशेषकी अपेक्षासे नास्तिरूप है वही वस्तु सामान्यकी अपेक्षासे अस्तिरूप भी है। इसप्रकार दोनोंको जोडरूपसे युगपत, मुख्य गौण व्यवस्थाको छोडकरके, विषय करना प्रमाणका पक्ष है।

अभिनवभावपरिणतेर्योऽयं वस्तुन्यपूर्वसमयो यः।
इति यो वदति स कश्चित्पर्यायार्थिक नयेष्वभावनयः ॥ ७६४ ॥

अन्वयार्थः— (**अभिनवभावपरिणतेः**) नवीन पर्यायरूपपरिणमनसे (**वस्तुनि**) वस्तुमें (**यः यः अयं अपूर्वसमयः**) जो जो यह अपूर्व पर्याय होरही है (**इति**) इसप्रकारसे (**यः**) जो (**वदति**) कहता है (**सः**) वह (**कश्चित्**) कोई (**पर्यायार्थिकनयेषु**) पर्यार्थिक नयोंमें (**अभावनयः**) अभाव नय है।

भावार्थः— जो नय प्रतिसमय होनेवाले नवीन २ उत्पादरूप परिणमनकी अपेक्षासे पूर्व २ पर्यायके नाशपूर्वक उत्तरोत्तर कालवर्ती पर्यायोंकाही प्रतिपादन करता है वह पर्यायार्थिक नयोंमेंसे एक अभावनय है।

परिणममानेऽपि तथाभूतै र्भावैर्विनश्यमानेऽपि।
नायमपूर्वो भावः पर्यायार्थिकविशिष्टभावनयः॥ ७६५॥

अन्वयार्थ — (**अपि**) और (**तथाभूतैः भावैः**) तथाभूत परिणामोंके द्वारा (**परिणममाने**) परिणमन होते हुए (**विनश्यमानेऽपि**) पूर्व २ परिणमनका विनाश होनेपरभी (**अयं अपूर्वः भावः न**) यह कोई अपूर्वभाव नहीं है इसप्रकारका जो कथन है वह (**पर्यायार्थिक विशिष्टभावनयः**) पर्यायार्थिक विशेषण विशिष्ट भावनय है।

भावार्थः— प्रतिसमय नवीन २ उत्पादरूपसे तथा भूतभावोंके द्वारा परिणमन होनेपर और नष्ट होनेपर भी द्रव्यार्थिक दृष्टिसे द्रव्यमें कोई अपूर्वता नहीं आती है इसप्रकार अपूर्व भावोंके नहीं कहनेवाले नयको अर्थात् सदैव पूर्व भावोंके प्रतिपादन करनेवाले नयको व्यवहारान्तर्गत नयोंमेंसे भावनय कहते है।

शुद्धद्रव्यादेशादभिनवभावो न सर्वतो वस्तुनि।
नाप्यनवाभिनवश्च यतः स्यादभूतपुर्वो न भूतपुर्वो वा॥ ७६६॥

अन्वयार्थः— (**शुद्धद्रव्यादेशात्**) शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे (**वस्तुनि**) वस्तुमें (**सर्वतः**) सब तरहसे (**न अभिनवभावः**) न नवीन भाव है (**अपि च**) और (**न अनभिनवः**) न अनभिनव भाव है अर्थात् न भूत भावोंका अभावही है (**यत**) क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका विपय (**अभूतपूर्वः**) अभूतपुर्व (**न स्यात्**) कुछ नहीं है।

भावार्थः— शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे नवीन भावोंका उत्पादही होता है और न पुर्वभावोंका विनशाही होता है। क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे तत्व निर्विकल्प है। इसलिए द्रव्यार्थिकनय न भूतपूर्व

विषयकोही विषय करता है। और न अभूतपूर्व विषयकोही विषय करता है। किन्तु दोनोंका निषध करता है।

अभिनवभावै र्यदिदं परिणममानं प्रतिक्षणं यावत्।
असदुत्पन्नं न हि तत्सन्नष्टं वा न प्रमाणमतमेतत् ॥ ७६७ ॥

अन्वयार्थः— (अभिनवभावै) नूतन भावोंके द्वारा (प्रतिक्षणं यावत्) प्रत्येक क्षणमें (परिणममानं) परिणममान (यत् इदं) जो यह सत् है (तत्) वह (हि) निश्चयकरके (असत् उत्पन्न न) असत्‌रूपसे उत्पन्न नहीं है (वा) अथवा (सत् नष्ट न) सत्‌रूपसे नष्ट नहीं है (एतत् प्रमाण मतं) यह प्रमाणपक्ष

भावार्थ — जो यह सत् नवीन २ भावोंके द्वारा परिणमन कर रहा है वह सत न असत रूपसे उत्पन्न होता है। और न सत् रूपसे नष्टही होता है ऐसा कहना प्रमाणका पक्ष है।

इत्यादि यथासम्भवमुक्तमिवानुक्तमपि च नयचक्रम्।
योज्यं यथागमादिह प्रत्येकमनेक भावयुतम् ॥ ७६८ ॥

अन्वयार्थ— (इत्यादि उक्तं इव) इत्यादि उक्त कथनके समान (यथासंभवं) यथा संभव (अनेकभावयुत) अनेक भाव सहित (प्रत्येकं) प्रत्येक (अनुक्त अपि च) नहीं कहे गयेभी (नयचक्रं) नय समुदायको (इह) यहांपर (यथागमात्) आगमके अनुसार (योज्यं) लगाना चाहिये।

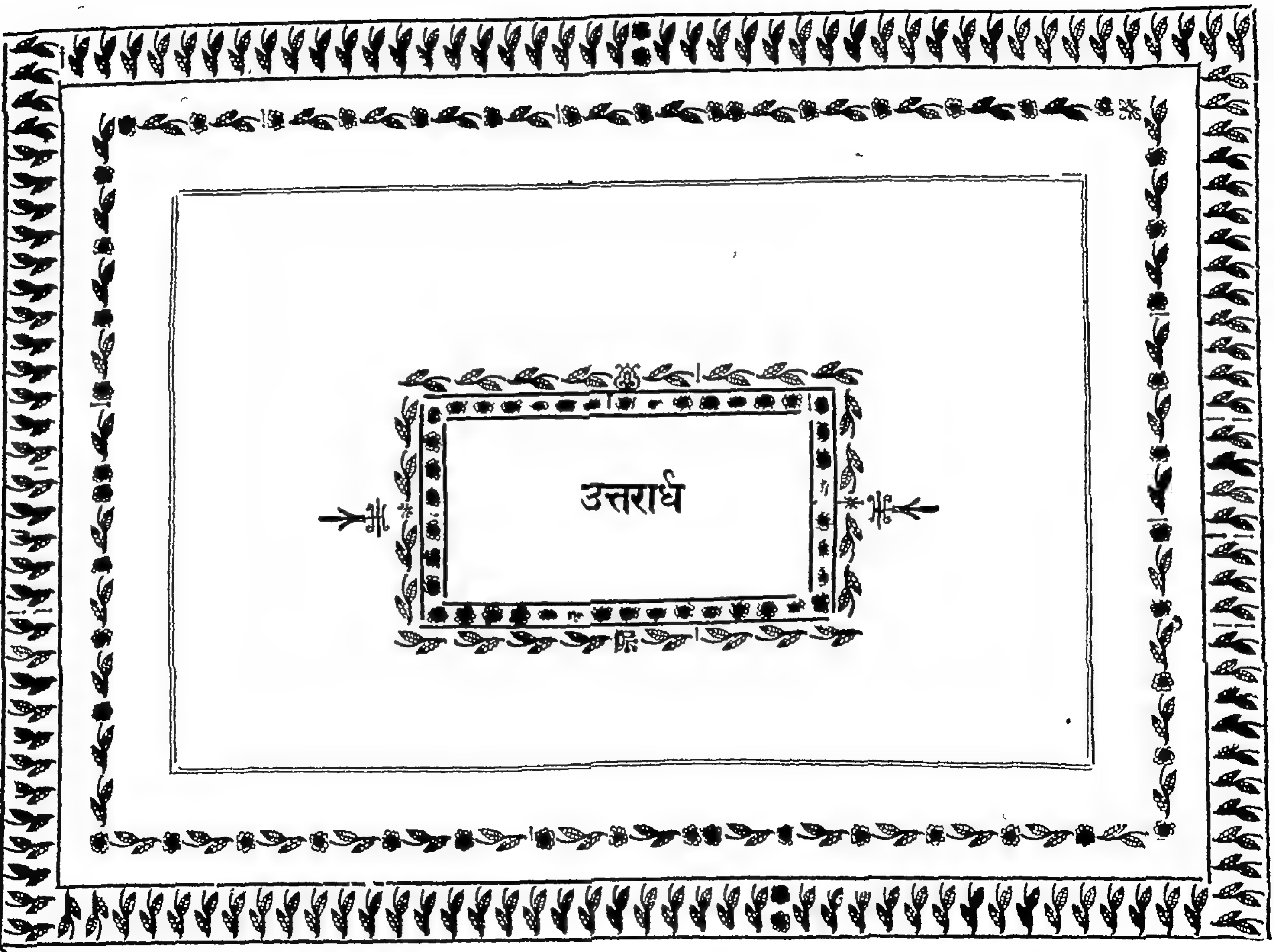
भावार्थः— जैसे अनेक भावोंसे सहित नित्यानित्य व एकानेक आदिक नयपक्षके विषयमें प्रक्रिया बताई है वैसे संपूर्ण नयोंके विषयमें भी आगमानुसार यथायोग्य रीतिसे समझलेना चाहिए।

—: पंचाध्यायीकी :—

पंडित देवकीनंदनजी कृत

सरलार्थ प्रबोधिनी नामकी हिंदी टीकामें द्रव्यसामान्यके स्वरूपादिकका वर्णन करनेवाला पहला अध्याय

समाप्त



उत्तरार्ध



सरलार्थ प्रबोधिनी हिन्दी टीका सहीत

पंचाध्यायी

उत्तरार्ध ।

सिद्धं विशेषवद्वस्तु सत्सामान्यं स्वतो यथा ।
नासिद्धो धातुसंज्ञोऽपि कश्चित्पीतः सितोऽपरः ॥ १ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (वस्तु) पदार्थ (सत्सामान्य) सव है सामान्य जिसका ऐसा अर्थात् सामान्यतासे सतरूप (स्वत सिद्ध) स्वयंसिद्ध है (' तथा ') वैसेही वह (विशेषवत्) विशेषवान्भी स्वतःसिद्ध है क्योंकि (धातुसंज्ञोऽपि कश्चित् पीत अपरः सितः) सामान्यरूपसे धातु है संज्ञा जिसकी ऐसा कोई एक पदार्थ पीत और कोई दूसरा पदार्थ श्वेत है यह (असिद्धः न) असिद्ध नहीं है ।

भावार्थः--- जिसप्रकार सोना, चांदी आदि सम्पूर्ण धातुएं सामान्यरूपसे धातु कहलाकरके भी विशेषरूपसे कोई पीली धातु और कोई सफेद धातु कहलाती है यह आसिद्ध नहीं है । उसी प्रकार जीवाजीवादिक सम्पूर्ण द्रव्य सामान्यरूपसे सत् कहलाकरके भी विशेषरूपसे कोई जीवद्रव्य तथा कोई अजीव द्रव्य कहलाता है यह भी असिद्ध नहीं है अर्थात् जैसे सुवर्णादिक द्रव्योंमें धातुरूपसे सामान्यपना तथा पीतत्वादि अपने २ विशेष गुणोंकी अपेक्षासे विशेषपना स्वतः सिद्ध है । वैसेही जीवादिक द्रव्योंमें सत् रूपसे सामान्यपना और चेतनाचेतनत्वादिक अपने २ विशेष गुणोंकी अपेक्षासे विशेषपना भी स्वत.सिद्ध है ।

साराश यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वतःसिद्ध सामान्य विशेषात्मक है । इसलिए जैसे वह सामान्यरूपसे स्वतः सिद्ध है वैसेही वह विशेषरूपसे भी स्वत सिद्ध है ।

सामान्य और विशेषका लक्षण ।

बहु व्यापकमेवैतत्सामान्यं सदृशत्वतः ।
अ त्यल्पव्यापको यस्तुविशेषः सदृशेतरः ॥२ ॥

अन्वयार्थः— (सदृशत्वत) सदृशतासे ('यत्') जो (बहुव्यापकं) बहुत देशमें व्यापक रहता है (एतत् एव सामान्य) इसीको सामान्य कहतें हैं (तु) और (यः) जो (सदृशेतर) सदृशसे भिन्न है-- सदृश नहीं है तथा (अल्पव्यापक) अल्प देशमें व्याप्त होकरके रहता है (स.) वह (विशेषः अस्ति) विशेष है ।

भावार्थः— "बहु देशवृत्तित्वं व्यापकत्वं, अल्प देशवृत्तित्वं तु व्यापकत्वं" अर्थात् जो वस्तु धर्म, सदृश पनेसे बहु देशमे व्याप्त होकरके रहता है उसको व्यापक कहते है । तथा जो वस्तुधर्म, विशेपता रखतेहुए अल्प देशमें व्याप्त होकरके रहता है उसको व्याप्य कहते है । सामान्य व्यापक धर्म है । और विशेष व्याप्यधर्म है । सामान्यधर्मसे सब वस्तुओंमें सदृशताका बोध होता है । तथा विशेष धर्मसे विसदृशताका अर्थात् प्रत्येक द्रव्यकी विशेषताका बोध होता है ।

सम्पूर्ण द्रव्योंके जीव अजीव रूपसे भेद और उनके लक्षण ।

जीवाजीवविशेषोऽस्ति द्रव्याणां शद्वतोऽर्थतः ।
चेतना लक्षणो जीवः स्यादजीवोऽप्यचेतनः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः— (द्रव्याणां) द्रव्योंके (शद्वतः अर्थतः) शद्व और अर्थकी अपेक्षासे (जीवाजीव विशेषः अस्ति) जीव और अजीव ये दो भेद होते है उनमेंसे (चेतनालक्षणो जीवः) जिसमें चेतना पाई जावे वह जीव है (अपि) और (अचेतनः अजीवः स्यात्) जिसमें चेतना नहीं पाई जावे वह अजीव है ।

भावार्थ — सम्पूर्ण द्रव्य, जीव तथा अजीव शद्वसे कहे जाते है अर्थात जीव शद्वसे जीव द्रव्य और अजीव शद्वसे शेप पाच द्रव्य कहे जाते है यह जीव तथा अजीवमें शद्वकृत भेद है । और जिसमें चेतना पाई जावे उसको जीव कहते हैं । तथा जिसमें चेतना न पाई जावे उसको अजीव कहते है । इसप्रकार अर्थ-वाच्यकी अपेक्षासे जो उनमें

लक्षणकृत भेद पायाजाता है वह अर्थकृत भेद है। इसतरह चेतनारूपी विशेष धर्मके सद्भाव और असद्भावके कारण सम्पूर्ण द्रव्योंके शब्द तथा अर्थकी अपेक्षासे जीव और अजीव रूपसे दो भेद हो जाते है। अब आगे—जीव और अजीवका यह द्वैत असिद्ध नहीं है इसीको दृष्टान्तपूर्वक बताते हैं।

जीव व अजीवमें द्वैतकी सिद्धि।

नासिद्धं सिद्धदृष्टांताच्चेतनाचेतनद्वयम्।
जीवद्वपुर्घटादिभ्यो विशिष्टं कथमन्यथा ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(सिद्धदृष्टांतात्) जीवित शरीर और घटादिकके प्रसिद्ध दृष्टांतसे (चेतनाचेतनद्वयम्) चेतन और अचेतनमें द्वैत (असिद्धं न) असिद्ध नहीं है क्योंकि (अन्यथा) यदि चेतन तथा ये द्रव्य दो नहीं होते तो (घटादिभ्य) घट आदिसे (जीवद्वपुः) जीवित शरीर (विशिष्टं कथं) विलक्षण क्यों प्रतीत होता है?

भावार्थः— जीवित शरीर और अचेतन घटादिकमें सजीव तथा अजीवपनेके भेदका, जो ज्ञाता दृष्टापनेका सद्भाव, और उसका असद्भाव कारण है वही जीव और अजीवमें भेदका द्योतक है। यदि जीव और अजीवमें चेतनाके सद्भाव तथा असद्भावके निमित्तसे भेद नहीं होता तो जीवित शरीर व अचेतन घटादिकमेंभी भेद नहीं पाया जाना चाहिये था किंतु भेद पायाजाता है। अतः जीव और अजीवमें भेद है यह कथन सिद्ध होता है।

जीवकी सिद्धिमें हेतु।

अस्ति जीवः सुखादीनां स्वसंवेदनसमक्षतः।
यो नैवं स न जीवोऽस्ति सुप्रसिद्धो यथा घटः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ — (सुखादीनां) सुख आदिके (संवेदनसमक्षत.) 'मैं सुखी हूं मैं दुखी हुं' इत्यादि अहं प्रत्ययगोचर स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे (जीवः अस्ति) जीवका अस्तित्व ज्ञात होता है क्योंकि (यः जीव न) जो जीव नहीं है (सः) वह (एवं न अस्ति) स्वसंवेदन प्रत्यक्षवालाभी नहीं है (यथा) जैसे (सुप्रसिद्ध घटः) सुप्रसिद्ध घट।

भावार्थः— जीवकी सिद्धिमें सबसे प्रबल प्रमाण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। मैं सुखी हूं मैं दुखी हू, इत्याकारक

अह प्रत्ययको स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहते है । यहापर जीवका आस्तित्व साध्य है और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष उसका साधन है । साधनकी साध्यके साथ व्याप्ति मिल जानेसे साधन अपने साध्यका अवश्य साधक होजाता है । इसलिए पद्यके उत्तरार्धसे " जो जीव नहीं है वह सुखादिकका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करनेवालाभी नहीं है जैसे घट " इस व्यतिरेक व्याप्तिके घट जानेसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप हेतु सद्धेतु है । और जीवकी सिद्धिका साधक है ।

जीवकी सिद्धिपूर्वक अजीवकी सिद्धिमें हेतु ।

इति हेतु सनाथेन प्रत्यक्षेणावधारितः ।
साध्यो जीवस्स्वसिद्ध्यर्थमजीवश्च ततोऽन्यथा ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ — (इति) इसप्रकार (**स्वसिद्ध्यर्थं**) आत्मसिद्धिके लिए (**साध्यः जीवः**) साध्यरूप जीव (**हेतुसनाथेन प्रत्यक्षेण**) इस पूर्वोक्त स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप हेतु सहित आत्मप्रत्यक्षसे (**अवधारितः**) सिद्ध होता है (च) और (**ततः अन्यथा अजीवः**) इसके विपरीत होनेसे अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप हेतुके अभावसे अजीवभी सिद्ध होता है ।

भावार्थः— सुखादिकके स्वसवेदन प्रत्यक्षरूप हेतुसे और स्वानुभवप्रत्यक्षसे जीवकी सिद्धि होती है । तथा इसके विपरीतपनेसे अजीवकी सिद्धि होती है ।

इसप्रकार ३ रे पद्यसे लेकर ६ वें पद्यतक चेतनाके सद्भाव और असद्भावके कारण जीव व अजीवकी सिद्धि करके आगे द्रव्योंके मूर्तामूर्त भेदके विषयमें विचार करते है ।

मूर्तामूर्तविशेषश्च द्रव्याणां स्यान्निसर्गतः ।
मूर्तं स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यममूर्तिमत् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ — (च) तथा प्रकारांतरसे (**द्रव्याणां**) द्रव्योंके (**निसर्गतः**) स्वभावसे (**मूर्तामूर्तविशेषः**) मूर्त और अमूर्त ये दो भेद होते है (**इन्द्रियग्राह्य मूर्त**) जिसमें इंद्रियोंके द्वारा गोचर होसकनेकी योग्यता हो उसको मूर्त और (**तदग्राह्य अमूर्तिमत् स्यात्**) जिसमें इंद्रियोंके द्वारा गोचर होसकनेकी योग्यता न हो उसको अमूर्त कहते है ।

भावार्थ.— जैसे जीव और अजीव रूपसे सम्पूर्ण द्रव्योंके दो भेद होते है। वैसेही मूर्त तथा अमूर्तरूपसे भी द्रव्योंके दो भेद होते हैं। जो इन्द्रियोंके विषय हो सकते है वे मूर्तद्रव्य कहलाते है जैसेकि पुद्गल और जिनमें इन्द्रियोंके विषयभूत होनेकी योग्यता नहीं है वे अमूर्तद्रव्य कहलाते है जैसे कि जीव, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल यद्यपि परमाणु आदि सूक्ष्म पुद्गलभी इन्द्रियोंसे गृहीत नहीं होसकते तथापि वे स्थूल स्कन्धकी पर्यायको प्राप्त होकर इंद्रियोंके विषय होसकते है। इसलिये उनमेंभी इद्रियग्राहकपनारूप, मूर्तका लक्षण घटजाता है। इसप्रकार द्रव्योंके मूर्त और अमूर्त ये दोनों भेद वास्तविक है। किंतु ऐसा नहीं है कि।

न पुनर्वास्तवं मूर्तममूर्तं स्यादवास्तवम्।
सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपातात्तथासति॥ ८॥

अन्वयार्थः- (**न पुनः**) किंतु ऐसा नहीं है कि (**मूर्तं वास्तवं**) मूर्तही यथार्थमें पदार्थ हो और (**अमूर्तं अवास्तवं स्यात्**) अमूर्त कोई वस्तुही नहीं हो क्योंकि (**तथासति**) ऐसा माननेपर (**सर्वशून्यादि दोषाणां सन्निपातात्**) सर्वशून्यादि दोषोंका प्रसग आता है।

भावार्थः— यदि मूर्तमेंही वस्तुत्व माना जायगा तो अमूर्त जीव आदि द्रव्योंमें वस्तुत्व नहीं रहेगा। और ऐसा होनेपर आत्माके भी अभावका प्रसंग आयगा तथा आत्माके अभावमें उसके ज्ञानादि गुणोंका भी अभाव हो जायगा। और ज्ञानका अभाव हो जानेपर मूर्त द्रव्योंमें ज्ञेयत्व—पदार्थत्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि ज्ञाता और ज्ञानके अभावमें ज्ञेयकी कल्पना निष्प्रयोजन ठहरती है। इसतरह सर्व शून्यदोषका प्रसंग आता है। तथा अमूर्त आत्माके अभावमें बन्ध और मोक्ष आदिकी व्यवस्था भी नहीं बनसकेगी। इसप्रकार अनेक दोषोंके आनेसे अमूर्त आदि द्रव्योंको अवास्तविक कहना ठीक नहीं है।

मूर्त और अमूर्तका लक्षण।

स्पर्शो रसश्च गन्धश्च वर्णोऽमी मूर्तिसंज्ञकाः।
तद्योगान्मूर्तिमद्द्रव्यं तदयोगादमूर्तिमत्॥ ९॥

अन्वयार्थः— (**स्पर्शः**) स्पर्श (**रसः**) रस (**च**) तथा (**गन्धः**) गन्ध (**च**) और (**वर्णः**)

वर्ण (अमी मूर्तिसंज्ञकाः) इनकी मूर्तो संज्ञा है तथा (तद्योगात्) इन्हीं स्पर्शादिकके योगसे (द्रव्यं मूर्तिमत्) पुद्गलद्रव्य मूर्तीमान्–मूर्तीक कहलाता है और (तदयोगात् अमूर्तिमत्) इन स्पर्श आदिकोंके योगके अभावसे जीव आदि शेष पांच द्रव्य अमूर्तीक कहलातें है।

भावार्थः— जिस द्रव्यमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये पाये जावें वह मूर्त द्रव्य कहलाता है। जैसे कि पुद्गल तथा जिनमें स्पर्शादिक नहीं पाये जावें वे अमूर्त द्रव्य कहलाते है जैसे कि जीवादिक।

रूपादि मूर्तिक क्यों है ?

नासंभवं भवेदेतत् प्रत्यक्षानुभावद्यथा।
सान्निकर्षोऽस्ति वर्णाद्यैरिन्द्रियाणां न चेतरै. ॥ १० ॥

अन्वयार्थ — (प्रत्यक्षानुभवात) साक्षात अनुभव होनेके कारण (एतत् असंभव न भवेत्) स्पर्श रस गंध और वर्णको मूर्तीक कहना असंभव नहीं है क्योंकि (यथा) जैसे (इन्द्रियाणां) इंद्रियोंका (वर्णाद्यै) रूप रसादिके साथ (सन्निकर्षः अस्ति) सन्निकर्ष होता है ('तथा') वैसे (इतरैः न च) रूपादि भिन्न गुणोंसे सन्निकर्ष नहीं होता की सि

भावार्थः— ५६ लेकर ६ ? कहा जा चुका है कि 'इन्द्रियग्राह्यं मूर्तं' अर्थात इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत होने योग्यको मूर्त कहते है। तथा स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारों, इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष गृहीत होते है। इसलिए इनकी मूर्तीसज्ञा साक्षात् अनुभव गोचर होनेसे युक्तियुक्त है। वह असंभव नहीं है।

अमूर्त पदार्थके सद्भावमे शंका।

नन्वमूर्तार्थसद्भावे किं प्रमाणं वदाद्य नः।
यद्विनापीन्द्रियार्थाणां सन्निकर्षात खपुष्पवत् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (अमूर्तार्थ सद्भावे) अमूर्त पदार्थोंके सद्भावमें (किं प्रमाण) क्या प्रमाण है ('इति' अद्य नः वद) यह अब हमें बताओ क्योंकि (इन्द्रियार्थाणां)

इंद्रिय और अर्थके (**सन्निकर्षात् विना**) सन्निकर्षके विना (**यत् अपि**) जो कुछ है (' **तत्** ') वह सब (**खपुष्पवत्**) आकाश पुष्पके समान असभव है।

भावार्थ:— शंकाकारका कहना है कि इंद्रियोंके गोचर होनेसेही पदार्थोंका सद्भाव जाना जाता है। क्योंकि जिनका इंद्रियोंके साथ सन्निकर्ष नहीं होता है उनका सद्भाव आकाशके फूलके समान अलीक ठहरता है । इसलिए इंद्रियगोचर न होनेसे अमूर्त जीवादि पदार्थोंका सद्भाव नहीं माना जासकता है । यदि उनका सद्भाव है तो उसमें प्रमाण क्या है ?

समाधान।

नैवं यतः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।
नासिद्धं वास्तवं तत्र किंत्वसिद्धं रसादिमत् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ:— (**एव न**) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**सुखादीनां सवेदनसमक्षत**) सुखादिकोंके संवेदनरूप प्रत्यक्षसे (**तत्र**) उन अमूर्त पदार्थोंमें (**वास्तवं असिद्धं न**) वस्तुत्व-पदार्थत्व असिद्ध नहीं है (**किंतु**) किंतु (**रसादिमत् असिद्धं**) वे रसआदिवाले है यह असिद्ध है।

भावार्थ.— केवल इन्द्रियार्थ सन्निकर्षसेही वस्तुका वस्तुत्व नहीं जाना जाता है किन्तु स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आदिसे भी वस्तुके वस्तुत्वका बोध होता है। यद्यपि अमूर्त जीवादिक द्रव्योंकी सिद्धि इन्द्रियार्थ सन्निकर्षसे नहीं हो सकती है तथापि स्वसंवेदन प्रत्यक्षादिके द्वारा उनकी सिद्धि होती है। इसलिए उनको भी मूर्त द्रव्यकी तरहही वास्तविक पदार्थ होनेसे उनमें पदार्थत्व असिद्ध नहीं है। किन्तु इन्द्रियगोचर न होनेसे उनमें केवल रसादिपना असिद्ध है। रसादिपनेका अभाव होनेके कारण उनका वस्तुत्व असिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि इन्द्रियगोचरता और अगोचरतासे पुद्गलोंमें रूपादिकका सद्भाव तथा जीवादिकमें उनका असद्भावही सिद्ध किया जासकता है। पदार्थत्वका सद्भाव और असद्भाव नहीं है। अतएव इन्द्रियोंके अगोचरपनेसे जीवादिकमें रसादिकका अभाव सिद्ध हो सकता है। पदार्थत्वका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है।

अमूर्त आत्मामें रसादिकके अभावकी सिद्धि

तद्यथा यद्रसज्ञानं स्वयं तन्न रसादिमत् ।
यस्माज्ज्ञानं सुखं दुःखं यथा स्यान्न तथा रसः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) उसका खुलासा इसप्रकार है कि (यत् रसज्ञानं) जो रसका ज्ञान होता है (तत् स्वयं रसादिमत् न) वह स्वयं रसादिमान् नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (यथा) जैसे (ज्ञानं सुखं दुखं स्यात्) ज्ञान, सुख और दुखरूप हो सकता है (तथा) वैसे वह ज्ञान (रसः न) रसरूप नहीं होसकता है।

भावार्थः— ऊपरके पद्यमें जो आत्मामें रसादिकका अभाव कहागया है उसका खुलासा इसप्रकार है कि जैसे सुख या दुखके अनुभव करनेसे ज्ञान सुखमय तथा दुखमय कहा जाता है वैसे वह ज्ञान रसको विषय करनेसे रसमय नहीं कहाजाता है। क्योंकि ज्ञान सुखादिक एकही आत्माके गुण व पर्याय है अतः एकार्थ सम्बन्धसे उन ज्ञान और सुखादिकमें अभेद होसकता है। किंतु एकार्थ सम्बन्ध न होनेसे ज्ञानका पुद्गलके रसादिक गुणके साथ अभेद नहीं होसकता है। अतः ज्ञान रसमय नहीं कहाजासकता है।

ज्ञानसे सुखादिक अभिन्न है।

नासिद्धं सुखदुःखादि ज्ञानानर्थान्तरं यतः।
चेतनत्वात् सुखं दुःखं ज्ञानादन्यत्र न क्वचित् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः— (सुखदुःखादि ज्ञानानर्थान्तरं असिद्धं न) सुख और दुख ज्ञानसे अभिन्न है यह कथन असिद्ध नहीं है (यतः) क्योंकि (सुखं दुखं) सुख तथा दुख आदि (चेतनत्वात्) चेतनात्मक होनेसे (ज्ञानात् अन्यत्र क्वचित् न) ज्ञानके सिवाय और कहीं नहीं पाये जाते हैं।

भावार्थः— आत्माके सुखादिक गुणोंको ज्ञानसे अभिन्न कहना असिद्ध नहीं है। कारण कि चेतन होनेसे सुख दुःखादिकोंका सद्भाव ज्ञानको छोडकर अन्यत्र कहीं भी नहीं पाया जाता है।

सारांश यह है कि आत्माके सुखादि गुण तथा चेतनगुण इनमें द्रव्य दृष्टिसे अभेद है। अत सुखादिक ज्ञानसे भिन्न नहीं है। किन्तु ज्ञानके साथ उनका अभेद होनेसे वे ज्ञानमयही है।

आत्मामें सुखादिक स्वैरसंचारी नहीं है।

न पुनः स्वैरसंचारि सुखं दुःखं चिदात्मनि।
अचिदात्मन्यपि व्याप्तं वर्णादौ तदसम्भवात् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ — (न पुनः) किंतु ऐसाभी नहीं है कि (सुखं दुःखं) सुख ओर दुख (चिदात्मनि अपि अचिदात्मनि) चिदात्मा तथा अचिदात्मामें (व्याप्तं) व्याप्त होकर (स्वैरसचारि) स्वतंत्रतासे रहते हों क्योंकि ये भाव जीवकेही है इसलिए (वर्णादौ) वर्णादिकमें (तदसम्भवात्) उनका पायाजाना असम्भव है ।

भावार्थः— सुखदुख ज्ञानसे अभिन्न है, इसलिये वे ज्ञानसे भिन्न होकर, चेतन अचेतन पदार्थोंमें व्याप्त होकर, स्वतंत्रतासे संचरण करनेवाले नहीं है । क्योंकि यदि वे चेतन व अचेतन दोनोंही पदार्थोंमें स्वतंत्रतासे रहते होते तो ज्ञानके समान वर्णादिकके साथभी उनका अभेद पायाजाना चाहिये था किंतु अभेद पाया नहीं जाता है । अतः वे ज्ञानसे अभिन्नही है स्वतंत्र नहीं है ।

ततः सिद्धं चिदात्मादि स्यादमूर्तं तदर्थवत ।
प्रसाधितसुखादीनामन्यथाऽनुपपत्तितः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिए यह कथन (सिद्धं) सिद्ध होता है कि (तत् अमूर्तं चिदात्मादि अर्थवत् स्यात्) वे अमूर्त जीव आदि पदार्थभी वास्तविक है क्योंकि (अन्यथा) यदि इन जीवादिक अमूर्त द्रव्योंको वास्तविक नहीं माना जायगा तो (प्रसाधितसुखादीनां अनुपपत्तितः) स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्षसे सिद्ध किये गये सुखादिकोंका सद्भाव युक्तियुक्त नहीं ठहरेगा ।

भावार्थः— इसलिए यह सिद्ध होता है कि केवल मूर्त पदार्थही वास्तविक नहीं है किन्तु अमूर्त जीवादिक पदार्थ भी वास्तविक है । क्योंकि यदि जीवादिक अमूर्त पदार्थ वास्तविक नहीं मानें जावेंगे तो ज्ञानसे अभिन्न और स्वानुभव सिद्ध, जो सुख दुःखकी प्रतीति होती है उसमें बाधा आवेगी अर्थात् अमूर्त पदार्थोंको वास्तविक न माननेसे जीवमें सुखादिककी प्रतीति बाधित हो जावेगी ।

शंका

नन्वासिद्धं सुखादीनां मूर्तिमत्त्वादमूर्तिमत् ।
तद्यथा यद्रसज्ञानं तद्रसो रसवद्यतः ॥ १७ ॥

तन्मूर्तत्वे कुतस्त्यं स्यादमूर्तं कारणाद्विना ।
यत्साधनाविनाभूतं साध्यं न्यायानतिक्रमात् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (सुखादीनां मूर्तिमत्त्वात्) सुखादिकको मूर्तीक होनेके कारण (तत् अमूर्तिमत् असिद्धं) वह अमूर्तिकपना असिद्ध है (यथा) जैसे कि (यत् रसज्ञानं) जो रसके विषयका ज्ञान होता है (तत्) वह (यतः) जिस कारणसे (रसवत्) रसवान् होता है (' ततः ') तिस कारणसे वह (रसः) रसही है अर्थात् रसज्ञान, रसके अनुभवसे मूर्तीकही है अमूर्तीक नहीं है और (तन्मूर्तत्वे) उस रसज्ञानको मूर्तीक सिद्ध होनेपर (कारणात विना) विना कारणके सुखादिकमें (अमूर्तं) अमूर्तीकपना (कुतस्त्य स्यात्) किस प्रमाणसे सिद्ध होसकता है (यत्) क्योंकि (न्यायाननतिक्रमात्) न्यायानुसार (साध्यं) साध्यका (साध्यविनाभूत) साधनके साथ अविनाभाव होता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि रसको विषय करनेके कारण रसज्ञानको मूर्तीक सिद्ध होनेसे ज्ञानसे अभिन्न सुखादिकभी मूर्तीकही सिद्ध होंगे अमूर्तीक नहीं । कारणकि रसज्ञानके मूर्तीक सिद्ध होनेपर उस रसज्ञानसे अभिन्न सुखादिकको अमूर्तीक सिद्ध करनेवाला कोई अविनाभावी साधनही नहीं मिलसकता है।

समाधान।

नैवं यतो रसाद्यर्थं ज्ञानं तन्न रसः स्वयम् ।
अर्थाज्ज्ञानममूर्तं स्यान्मूर्तं मूर्तोपचारतः ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ — (एवं न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (' यत् ') जो (रसाद्यर्थं) रसादिकके जाननेके लिये ज्ञान होता है (तत्) वह (स्वय रसः न) स्वयं रसमय नहीं होजाता है कारण (अर्थात् ज्ञानं अमूर्तं) वास्तवमें ज्ञान अमूर्तिकही है किंतु (मूर्तोपचारतः) मूर्त पदार्थको विषय करनेसे वह केवल उपचार (मूर्तं स्यात्) मूर्तीक कहलाता है।

भावार्थ — शंकाकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। क्योंकि जो रस आदिको विषय करनेवाला ज्ञान है वह केवल रसको विषय करने मात्रसे मूर्त नहीं हो जाता है। क्योंकि वास्तवमें वह ज्ञान अमूर्तीक आत्माका गुण होनेसे अमूर्तीकही है केवल उपचारसे वह मूर्तीक कहा जाता है।

न पुनः सर्वथा मूर्तं ज्ञानं वर्णादिमद्यतः ।
स्वसंवेद्याद्यभाव स्यात्तज्जडत्वानुषङ्गतः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ.— (**न पुनः**) किंतु ऐसा नहीं है कि (**ज्ञानं**) रसज्ञान (**सर्वथा वर्णादिमत मूर्तं**) सर्वथा वर्णादिमान् हो (**यतः**) क्योंकि मूर्त पदार्थोंको केवल विषय करनेके कारण ज्ञानको सर्वथा मूर्तीक माननेसे (**तज्जडत्वानुषंगत**) उसमें अचेतनका प्रसंग आवेगा और अचेतनताका प्रसंग आनेसे वह (**स्वसंवेद्याद्यभावः**) स्वसंवेदी आदि नहीं ठहरेगा।

भावार्थः— उपचारसे जो ज्ञानको मूर्तीक कहा है उसका ऐसा अर्थ नहीं समझना चाहिये कि ज्ञान रूपादिकके समान सर्वथा मूर्तीक है। क्योंकि यदि ज्ञानको रूपादिकके समान सर्वथा मूर्तीक मानलिया जाय तो ज्ञान गुणमें जडत्वका प्रसंग आवेगा। और उसके जड सिद्ध होनेपर आत्माको भी जडत्वका प्रसग आवेगा ऐसी स्थितीमें मै सुखी हूं, मैं दुखी हूं आदि रूपसे जो प्रत्यक्ष सिद्ध स्वसवेदन पाया जाता है उसका अभाव मानने पडेगा जो कि स्वानुभवसे बाधित है।

उपसहार।

तस्माद्वर्णादिशून्यात्मा जीवाद्यर्थोऽस्त्यमूर्तिमान्।
स्वीकर्तव्यः प्रमाणाद्वा स्वानुभूतेर्यथागमात् ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ— (**तस्मात्**) इसलिए (**वर्णादिशून्यात्मा**) वर्णादिक धर्मोंसे रहित स्वरूपवाले (**अमूर्तिमान**) अमूर्तीक (**जीवाद्यर्थः अस्ति**) जीव आदि पदार्थ है यह (**यथागमात्**) आगमानुसार (**प्रमाणात्**) प्रमाणसे (**वा**) और (**स्वानुभवात्**) स्वानुभवसे (**स्वीकर्तव्यः**) स्वीकार करना चाहिये।

भावार्थः— इसलिए रूपादिक धर्मोंसे रहित अमूर्तीक जीवादिक पदार्थ भी वास्तविकही है इस कथनको आगम स्वानुभव तथा प्रमाणसे स्वीकार करना चाहिए।

इसप्रकार मूर्तामूर्त भेदरूपसे द्रव्योंकी विशेषताको बताकरके आगे—लोकालोक भेदरूपसे द्रव्योंकी विशेषताको बताते हैं।

लोकालोकविशेषोऽस्ति द्रव्याणां लक्षणाद्यथा।
षड्द्रव्यात्मा स लोकोऽस्ति स्यादलोकस्ततोऽन्यथा ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः— (**लक्षणात्**) लक्षणसे (**द्रव्याणां**) द्रव्योंके (**लोकालोकविशेषः अस्ति**) लोक

और अलोक ये दो भेदभी होते है (यथा) जैसे (' यः ') जो (षड् द्रव्यात्मा) छहों द्रव्यमय है (सः लोकः अस्ति) वह लोक है (ततः अन्यथा) और जो षड्द्रव्यमय नहीं है किंतु केवल आकाशमय है वह (अलोकः स्यात्) वह अलोक है।

भावार्थः— जीव अजीव और मूर्त अमूर्तके समान द्रव्योंके, लक्षणसे लोक अलोकरूपसेभी विशेष भेद होते है। उनमेंसे छहों द्रव्योंके समुदायका नाम लोक है। तथा छहों द्रव्योंके समुदायके अभावका नाम अर्थात केवल अलोकाकाशका नाम अलोक है। अलोक केवल आकाशमय है।

सोऽप्यलोको न शून्योऽस्ति षड्भिर्द्रव्यैरशेषतः।
व्योममात्रावशेषत्वाद्व्योमात्मा केवलं भवेत् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः— (सः अलोकः अपि) वह अलोकभी (अशेषतः षड्भिः द्रव्यैः) सम्पूर्ण छहों द्रव्योंसे (शून्यः न अस्ति) शून्य नहीं है किंतु (व्योममात्रावशेषत्वात्) आकाशमात्र शेष रहनेसे वह (केवल व्योमात्मा भवेत्) अन्य पांच द्रव्योंस रहित केवल आकाशमय है।

भावार्थः— षड् द्रव्योंके समुदायात्मक लोकके अभावरूप जो अलोक है वह अलोक भी षड् द्रव्योंसे सर्वथा शून्य नहीं है। किन्तु केवल आकाशरूपसे अवशिष्ट है। अतः वह केवल आकाश द्रव्यमय है। क्योंकि लोककी मर्यादाके कारणभूत धर्म, अधर्म द्रव्य वहां नहीं है। इसलिए क्रियावान जीव और पुद्गल वहां जा नहीं सकते है। तथा कालद्रव्यकी संख्या केवल लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर होनेसे वह कालद्रव्य भी वहा नहीं पाया जाता है। अतः अवशिष्ट आकाशमयही वह अलोक माना गया है। अब—आगे क्रियावती और भाववती शक्तिके निमित्तसे द्रव्योंकी विशेषताको बताते है।

क्रिया भावविशेषोस्ति तेषामन्वर्थतो यतः।
भावक्रियाद्वयोपेताः केचिद्भावगता. परे ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ.— (अन्वर्थतः) अन्वर्थदृष्टिसे (तेषां) उन सब द्रव्योंमें (क्रियाभावविशेषः अस्ति) क्रिया और भावरूप भेद पाया जाता है (यतः) क्योंकि उनमेंसे (केचित्) कोई द्रव्य (भावक्रिया

द्वयोपेता) भाव और क्रिया दोनों विशेषोंसे युक्त है तथा (परे) कोई द्रव्य (भावगताः) केवल भावरू विशेषसे युक्त है ।

भावार्थः— पूर्वोक्त छह प्रकारके द्रव्योंमें उक्त तीन प्रकारके भेदोंके समान अन्वर्थ दृष्टिसे क्रिया और भाव रूपसे भी विशेष–भेद पाया जाता है । क्योंकि उनमेंसे कोई द्रव्यतो क्रिया व भाव इन दोनोंही भेदोंसे युक्त है । तथा कोई द्रव्य क्रियारहित होनेसे केवल भावरूप भेदसेही युक्त है । आगे इसी अर्थका खुलासा करते है ।

भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ ।
तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृताः ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः— (जीवपुद्गलौ एतौ द्वौ) जीव और पुद्गल ये दोनो द्रव्य (भाववन्तौ क्रियावन्तौ) भाववान्भी हैं तथा क्रियावान्भी है (च) और (तौ) वे दोनों (च) तथा (शेषचतुष्कं) शेष चार (एते षड्) ये छहों द्रव्य (भावसंस्कृताः) भावविशेषसे युक्त है ।

भावार्थः— भाव व्यापक, और क्रिया व्याप्य है इसलिये छहों द्रव्योंमेंसे केवल जीव तथा पुद्गल ये दो द्रव्य क्रिया और भाव दोनोंसे युक्त है । तथा शेष चार द्रव्य केवल भावयुक्त है ।

सारांश यह है कि शक्तियोंके दो प्रकार है १ क्रियावती शक्ति और २ भाववती शक्ति । इनमेंसे क्रियावती शक्तिके निमित्तसे क्रिया होती है । तथा भाववती शक्तिके निमित्तसे उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक परिणमन होता है । क्रियावती शक्ति केवल जीव और पुद्गल द्रव्योंमेंही पाई जाती है शेषमें नहीं । इसलिए भाववती शक्ति छहों द्रव्योंमें और क्रियावती शक्ति जीव तथा पुद्गलोंमेंही कही गई है ।

क्रिया और भावका लक्षण ।

तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पंदश्चलात्मकः ।
भावस्तत्परिणामोस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ॥ २६ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उनमेंसे (प्रदेशानां चलात्मकः परिस्पन्दः क्रिया) प्रदेशोंके चलात्मक–हलनचलनरूप परिस्पंदको क्रिया कहते है और (एकवस्तुनि) अखण्ड द्रव्यमें (धारावाही तत्परिणामः भावः

अस्ति) धारावाही–प्रवाहरूपसे होनेवाले द्रव्यके उत्पादादि त्रयरूप परिणमनको भाव कहते है ।

भावार्थः— द्रव्यके प्रदेशोंके चलनात्मक परिस्पन्दको क्रिया कहते है । और अगुरुलघुगुणके निमित्तसे प्रति-समय होनेवाले द्रव्यके धारावाही परिणमनको भाव कहते है ।

उक्त कथन असिद्ध नहीं है ।

नासंभवमिदं यस्मादर्थाःपरिणामिनोऽनिशं ।
तत्र केचित कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मकाः ॥ २७ ॥

अन्वयार्थः— (इदं असंभवं न) उपर्युक्त यह कथन असिद्ध नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (अर्थाः) सबही पदार्थ (अनिशं) प्रतिसमय (परिणामिनः) परिणमनशील होते है और (तत्र) उनमेंसे (केचित् कोई २ द्रव्य अर्थात् जीव, पुद्गलद्रव्य (कदाचित्) कभी २ (प्रदेशचलनात्मकाः वा) प्रदेशचलनात्मकभी होते हैं ।

भावार्थः— द्रव्योंमें क्रिया और भावका पायाजाना असंभव नहीं है । कारण कि सबही द्रव्योंके गुण सदैव परिणमनशील रहते है । कोई भी गुण कभी भी अपरिणामी नहीं होता है । अतः प्रत्येक द्रव्यमे अगुरुलघु गुणके निमित्तसे उत्पादादि त्रयरूपसे परिणमन होते रहनेके कारण, द्रव्योंमें भाववती शक्तिका पायाजाना असंभव नहीं है और केवल पुद्गल तथा जीव द्रव्यकेही प्रदेश चलनात्मक होते है । इसलिये इन दोनो द्रव्योंमें प्रदेशोंके परिस्पन्दके पाये जानेसे क्रिया पाई जाती हैं । शेष द्रव्योंमें प्रदेश परिस्पन्द नहीं होता है । अतः आकाश, धर्म, अधर्म और काल इन चार द्रव्योंमें क्रिया नहीं पाई जाती है । इसलिए जीव और पुद्गलमें क्रियावती शक्तिका पाया जाना असंभव नहीं हैं ।

---

१ सव्वमरूवीदव्वं अवट्ठिदं अचलिदा पदेसावि । रूवी जीवा चलिया तिवियप्पा होंति हु पदेसा ॥
पोग्गल दव्वह्मि अणूसंखेज्जा हवदि चालिदा हु । चरिममहाखंधम्मि य चलाचला होंति हु पदेसा ॥

अर्थात् आकाश आदि चारों द्रव्योंके प्रदेश स्थित और अचलित है । जीवके प्रदेश चलित, अचलित तथा चलिता चलित है । और सिद्धोंके प्रदेश अचलित हैं । पुद्गलकी अणुआदि महास्कन्ध पर्यन्त २३ तेइसप्रकारकी वर्गणाये मानी हैं । उनमेंसे अणुआदि २२ बाईस वर्गणाये चलित होती है । तथा महास्कन्धरूप अन्तिम वर्गणाके प्रदेश चलिताचलित होते है ।

ऐसा क्यों होता है इसका कारण वस्तुका स्वभावही वैसा है यह समझना चाहिये।

इसप्रकार द्रव्योंके सम्पूर्ण विशेषताओंका सामान्यरूपसे वर्णन करके अब आगे–ग्रन्थकार जीव द्रव्यका विशेष रूपसे वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते है।

प्रतिज्ञा।

तद्यथाचाधिचिद्द्रव्यं देशनारभ्यते मया।
युक्त्यागमानुभूतिभ्य: पूर्वाचार्यानतिक्रमात् ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ — (अथ) अब (पूर्वाचार्यानतिक्रमात्) पूर्वाचार्योंके अनुसारही (युक्त्यागमानुभूतिभ्य:) युक्ति आगम और अनुभवसे (अधिचिद्द्रव्यं) जीव द्रव्यके विषयमें (मया देशना आरभ्यते) मेरे द्वारा देशना प्रारम्भ की जाती है (तद्यथा) वह इसप्रकार है।

भावार्थ:— ग्रन्थकार, पूर्वाचार्योंकी आम्नायको उलंघन नहीं करके युक्ति आगम और स्वानुभवसे जीव द्रव्यके विषयमें विशेष वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करतें है।

प्रागुद्देश्य: स जीवोस्ति ततोऽजीवस्तत: क्रमात्।
आस्रवाद्या यतस्तेषां जीवोधिष्ठानमन्वयात् ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ:— (प्राक् स: जीव उद्देश्य: अस्ति) सात तत्वोंमेंसे सबसे प्रथम वह जीवही कथन करनेके योग्य है (तत) उसके बाद (अजीव:) अजीव और (तत:) उसके बाद (क्रमात्) क्रमसे (आस्रवाद्या) आस्रवादिक कथन करनेके योग्य है (यत) क्योंकि (अन्वयात्) शेष तत्वोंमें जीवका अन्वय पाया जानेसे (तेषां) उन सब तत्वोंका (जीव अधिष्ठान) जीवही आधार है।

भावार्थ.— सातोंही तत्व जीवकी अवस्थाविशेष है। इसलिए सब तत्वोंकाअधिष्ठान होनेसे सबसे प्रथम जीवका वर्णन किया जाता है। तदनन्तर क्रमक्रमसे अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्षका वर्णन किया जायगा।

जीवके स्वरूपका निरूपण।

अस्ति जीव: स्वतस्सिद्धोऽनाद्यनन्तोऽप्यमूर्तिमान्।
ज्ञानाद्यनन्तधर्माधिरूढत्वाद्द्रव्यमव्ययम् ॥ ३० ॥

अन्वयार्थः— (स्वतः सिद्धः) स्वयंसिद्ध (अनाद्यनन्तः) अनादि अनन्त (अपि) और (अमूर्तिमान्) अमूर्तीक (जीवः) जीव (ज्ञानाद्यनन्तधर्माधिरूढत्वात्) ज्ञान दर्शन आदि अनन्त धर्मोंसे युक्त होनेके कारण (अव्ययं द्रव्य अस्ति) अविनाशी द्रव्य है।

भावार्थः— स्वतःसिद्ध, अनाद्यनन्त और अमूर्तीक जीव ज्ञानादिक अनन्त गुणोंके द्वारा युक्त होनेसे अविनाशी द्रव्य मानागया है।

साधारणगुणोपेतोऽप्यसाधारणधर्मभाक्।
विश्वरूपे ऽप्यविश्वस्थःसर्वोपक्षोऽपि सर्ववित् ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ— आत्मा (साधारणगुणोपेतः अपि) साधारण गुणोंसे सहित होता हुवाभी (असाधारणधर्मभाक्) असाधारण धर्मोंका धारण करनेवाला है (विश्वरूपः अपि) सर्व पदार्थमय होता हुवाभी (अविश्वस्थः) सर्व पदार्थमय नहीं है और (सर्वोपेक्षः अपि) सबसे निरपेक्ष होता हुवाभी (सर्व वित्) सर्व पदार्थोंका ज्ञाता है।

भावार्थः— यहां विरोधाभास अलङ्कार है। शब्द दृष्टिसे विरोध मालूम होता है किन्तु अर्थकी अपेक्षा वह नहीं रहता है। जैसे कि जीव साधारण गुणोंसे सहित हो कर भी साधारण धर्मोंको धारण करनेवाला नहीं है इसतरह विरोध मालूम होता है। परन्तु अस्तित्वादि साधारण गुणोंसे युक्त होकरके भी, जीव सम्यक्त्वादिक असाधारण धर्मोंको धारण करनेवाला है। अतः शाब्दिक विरोधका परिहार हो जानेसे दोनों विशेषण सार्थक सिद्ध हो जाते हैं।

विश्वरूप होकर भी अविश्वस्थ होनेमें विरोध मालूम होता है। किन्तु विश्व–सब पदार्थोंको जानता है। इसलिए यद्यपि विषयमें विषयीके उपचारसे वह विश्वस्थ कहा गया है तोभी वह सर्व पदार्थमय नहीं हो जाता है। इसलिए 'अविश्वस्थ' विशेषणभी सार्थक सिद्ध हो जाता है।

सर्व निरपेक्ष होकर सर्व पदार्थोंके ज्ञाता होनेमें विरोध मालूम होता है। किन्तु जीव यद्यपि निश्चयनयसे अपने २ स्वरूपमे किसी भी द्रव्यसे किसी प्रकारकी अपेक्षा नहीं रखता है तो भी वह स्वभावसे सर्व पदार्थोंका ज्ञाता है। इसप्रकार विशेष अर्थकी दृष्टिसे उपर्युक्त तीनों विशेषणोंमें किसी प्रकारका विरोध नहीं रहता है प्रत्युत विशेष ज्ञान होता है।

असंख्यातप्रदेशोपि स्यादखण्डप्रदेशवान् ।
सर्वद्रव्यातिरिक्तोपि तन्मध्ये संस्थितोपि च ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ.— जीव (असंख्यातप्रदेशः अपि) असंख्यात प्रदेशी होकरकेभी (**अखण्डप्रदेशवान स्यात्**) अखण्ड प्रदेशी है (अपि च) और (सर्वद्रव्यातिरिक्तः अपि) सम्पूर्ण द्रव्योंसे भिन्न होकरकेभी (**तन्मध्ये संस्थितः**) सर्व द्रव्योंमें रहनेवाला है ।

भावार्थः— जीव असंख्यात प्रदेशी होकरके भी अखण्ड प्रदेशी है अर्थात् जीव लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशवान है इसलिए उसको असंख्यात प्रदेशी कहा है । परन्तु वह अपने अंशोंसे कभी छिन्नभिन्न नहीं होता है । इसलिए अखण्ड प्रदेशी कहा जाता है । तथा जीव सम्पूर्ण द्रव्योंसे भिन्न होकरके भी सर्व द्रव्यवर्ती है अर्थात् निश्चयनयसे सबही जीवादिक द्रव्य अपने २ स्वभावोंके कारण एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न होकर अपने २ में ही रहते है । किसीका किसींमें आधार आधेयभाव नहीं है । इसलिए जीव द्रव्यभी सर्व द्रव्योंसे भिन्न कहा जाता है । तथापि लोकाकाशका ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाकि छहों द्रव्य नहीं रहते हों इसलिए जीव द्रव्य सर्व द्रव्योंमें संस्थित भी कहा जाता है । इसप्रकार जीव तत्वके स्वरूपको कहकर आगे उसके प्रकारोंका वर्णन करते है ।

अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोपि यः ।
स्याद्द्विधा सोपि पर्यायान्मुक्तामुक्तप्रभेदतः ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ शुद्धनयादेशात्**) शुद्ध नयकी अपेक्षासे (यः) जो जीव (**शुद्धः**) शुद्ध (**अपि च**) और (**एकविधः**) एकप्रकारका है (**सः**) वही जीव (**पर्यायात्**) पर्यार्थिक नयकी अपेक्षासे (**मुक्तामुक्तप्रभेदतः**) मुक्त और संसारी जीवके भेदसे (**द्विविधः अपि**) दो प्रकारकाभी (**स्यात्**) है ।

भावार्थः— शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे जीवोंमें किसी प्रकारका भेद नहीं कहा जाता है । इसलिए उस नयकी अपेक्षासे जीव शुद्ध और एकप्रकारके कहे जाते है । तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे जीवोंमें भेद कहा जाता है । इसलिए उस नयकी अपेक्षासे जीव ससारी और मुक्तरूपसे दो प्रकारके कहे जाते है ।

पुद्गलको सर्वथा शुद्ध माननेमे दोष ।

अथ चेत्पुद्गलः शुद्धः सर्वतः प्रागनादितः ।
हेतोर्विना यथा ज्ञानं तथा क्रोधादिरात्मनः ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थः— (अथ चेत्) यदि कहोकि अनादिसे (सर्वत· प्राक् अनादितः) सबसे पहले सब जीवोंमें (पुद्गलः शुद्धः) पुद्गल शुद्ध है तो (यथा) जैसे (हेतो· विना) विना किसी कारणके–स्वभाव होनेके कारण (आत्मन ज्ञानं) आत्माके ज्ञान रहता है (तथा क्रोधादिः) वैसेही विना किसी कारणके आत्मामें क्रोधादिक रहते है यह मानने पडेगा ।

भावार्थः— यदि कदाचित उक्त अन्योन्याश्रय दोषके परिहारके लिए कहो कि पुद्गल अनादिसे शुद्ध है । जीवके निमित्तसे वह अशुद्ध नहीं होता है तो आत्माका स्वभाव होनेसे जैसे आत्मामें विनाकिसी कारणके सदैव ज्ञान पाया जाता है वैसेही विनाकिसी कारणके आत्मामें क्रोधादिकभी सदैव पाये जाना चाहिए ।

साराश यह है कि पुद्गलको सर्वथा शुद्ध माननेपर ज्ञानादिककी तरह क्रोधादिकका भी आत्मामें निर्निमित्त सद्भाव पाये जानेसे क्रोधादिकको भी ज्ञानादिकके समान सदैव माननेका प्रसंग आवेगा ।

एवं बन्धस्य नित्यत्वं हेतोः सद्भावतोऽथवा ।
द्रव्याभावो गुणाभावो क्रोधादीनामदर्शनात् ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ— (एवं) इसप्रकार (हेतो· सद्भावतः) हेतुके सद्भावसे अर्थात् क्रोधादिकको निर्निमित्त माननेके कारण (बन्धस्य नित्यत्वं) बन्धको नित्यपनेका प्रसंग आवेगा अर्थात् बन्ध नित्य होजावेगा (अथवा) अथवा (क्रोधादीनां अदर्शनात्) क्रोधादिकके अदर्शनसे (गुणाभावे) गुणोंके अभावमें (द्रव्याभावः) द्रव्यकाभी अभाव होजायगा ।

भावार्थः— यदि क्रोधादिक निर्निमित्त होते है । उनके लिए किसी निमित्तकी आवश्यकता नहीं है तो उन क्रोधादिककी सदैव संभावना होनेसे बन्धमें नित्यताका प्रसंग आवेगा । क्योंकि वास्तवमें क्रोधादिककोही बन्ध

कहते है। अथवा क्रोधादिकको निर्निमित्त होनेसे वे भी ज्ञानादिककी तरह आत्माके गुण हो जावेंगे और उनके अभावमें द्रव्यके भी अभावका प्रसंग आवेगा। उपसंहार।

तत्सिद्धः सिद्धसम्बन्धो जीवकर्मोभयोर्मिथः।
सादिसिद्धेरसिद्धत्वात् असत्संदृष्टितश्च तत् ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ— (तत्) इसलिए (सादिसिद्धेः असिद्धत्वात्) सादिसम्बन्धके असिद्ध होनेसे (जीवकर्मोभयोः मिथ) जीव और कर्म इन दोनोंका परस्परमें (सिद्धसम्बन्धः) प्रसिद्ध अनादिसम्बन्ध (सिद्धः) सिद्ध होता है (च) तथा (तत् ' सादिसिद्धेः असिद्धत्वं) वह सादिसम्बन्धकी सिद्धिकी असिद्धता (असत्संदृष्टितः) जीव और कर्मोंके सादिसम्बन्धको सिद्ध करनेवाले किसी दृष्टान्तके नहीं मिलनेसे सिद्ध होती है।

भावार्थः— इसलिए जीव और कर्मोंके सादि सम्बन्धके माननेमें बन्धकी नित्यता तथा द्रव्याभावके प्रसंग रूप दो दोषोंके आनेके कारण उन दोनोंका परस्परमें अनादि सम्बन्धही सिद्ध होता है। तथा जीव और कर्मोंके सम्बन्धको सादि सिद्ध करनेके लिये कोई दृष्टान्त भी नहीं मिल सकता है इसलिये भी उन दोनोंका अनादि संबंधही सिद्ध होता है। अब आगे उनके इसी अनादि संबंधको बताते हैं।

जीवस्याशुद्धरागादिभावानां कर्म कारणम्।
कर्मणस्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत् ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थः— (प्रत्युपकारिवत्) परस्पर उपकारककी तरह (जीवस्य) जीवके (अशुद्धरागादिभावानां) अशुद्ध रागादिक भावोंका (कारण) कारण (कर्म) द्रव्यकर्म है और (तस्य कर्मणः) उस द्रव्यकर्मके कारण (रागादिभावाः रागादिक भाव है।

भावार्थः— प्रत्युपकारीके समान जीवके अशुद्ध रागादिक भाव, द्रव्यकर्मके लिये और द्रव्यकर्म, अशुद्ध रागादिक भावोंके लिये कारण होते है। अर्थात् अशुद्ध रागादिक भावोंके निमित्तसे कर्मोंका बंध होता है। तथा उनके निमित्तसे आत्माके चारित्रगुणके विकाररूप अशुद्ध रागादिक भावोंकी उत्पत्ति होती है। और उन अशुद्ध राग-

दिकके निमित्तसे फिर नवीन कर्मोंका बंध होता है। तथा उन नवीन कर्मोंके निमित्तसे फिर अशुद्ध रागादिक भावोंकी उत्पत्ति होती है। इसप्रकार प्रत्युपकारीके समान द्रव्यकर्म और अशुद्ध रागादिक परस्परमें एक दूसरेके कारण होते है।

खुलासा।

पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः।
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धःपुनस्ततः ॥ ४२ ॥

एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणोः।
संसारः स च दुर्मोच्यो विना सम्यग्दृगादिना ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थः— (पूर्वकर्मोदयात् भाव) पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे रागादिक भाव होते है और (भावात् प्रत्यग्र संचयः) उन रागादिक भावोंसे नवीन कर्मोंका सचय होता है तथा (तस्य पाकात्) उन नवीन कर्मोंके उदयसे (पुनः भावः) फिर रागादिक भाव होते है और (ततः भावात्) उन रागादिक भावोंसे (पुनः बन्धः) फिर नवीन कर्मोंका बन्ध होता है (एव) इसप्रकार (संतानत) सन्तानपरम्परासे जो (जीवकर्मणोः अनादिसम्बन्धः) जीव और कर्मोंका अनादि सम्बन्ध है वही (ससारः) ससार है (च) तथा (सः) वह संसार (सम्यग्दृगादिना विना) सम्यग्दर्शनादिकके विना (दुर्मोच्यः) छुट नहीं सकता है।

भावार्थः— पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयमे भावबन्ध (रागादिक) और भावबन्धसे नवीन कर्मोंके ग्रहणरूप द्रव्यबन्ध होता है। तथा फिर उन नवीन कर्मोंके उदयसे भावबन्ध होता है। और उस भावबन्धसे फिर नवीन कर्मोंका बन्ध होता है। इसप्रकार भावबन्धके निमित्तसे द्रव्यबन्ध तथा द्रव्यबन्धके निमित्तसे भावबन्धकी परपरा ही जीव और कर्मोंके अनादि सम्बन्धको सिद्ध करती है। तथा इस जीव कर्मके अनादि सम्बन्धकोही ससार कहते है। और वह ससार सम्यग्दर्शनादिकके विना दुर्मोच्य है।

केवल प्रदेशोंके सम्बन्धको बन्ध नहीं कहते है।

न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमात्रतः।
सोऽपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तदद्वयोरिति ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थः— (**इति**) इसप्रकार (**तद्द्वयोः**) उन जीव और कर्मोंके (**अशुद्धैः भावैः**) अशुद्ध भावोंसे (**सापेक्षः**) अपेक्षा रखनेवाला (**स बन्ध अपि**) वह बन्धभी (**केवलं**) केवल (**प्रदेशानां**) प्रदेशोंके (**सम्बन्धमात्रत**) सम्बन्धमात्रसेही (**न स्यात्**) नहीं होता हैं।

भावार्थः— जीवके रागादिक भावोंसे जो कर्म बन्धको प्राप्त होतें है उनके साथ विस्रसोपचयरूप कर्मभी रहतें है। और उनकाभी आत्माके प्रदेशोंके साथ एकक्षेत्रावगाहरूप होना माना है। यदि उन दोनों आत्मा और कर्मोंके एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धमात्रको बन्ध मानाजाता तो विस्रसोपचयरूप कार्माणवर्गणायेंभी बद्ध कहलातीं। किंतु वे बद्ध नहीं कहलातीं है। इसलिये प्रदेशोंके सम्बन्धमात्रको बन्ध नहीं कहते है किंतु उन दोनोंके अशुद्ध भावोंकी अपेक्षासे होनेवाले जीव और कर्मोंके एकत्वबुद्धिजनक रागादिरूप सम्बन्ध विशेषको बंध कहतें है। तथा वह बंध केवल जीव और पुद्गलमें उनकी वैभाविक शक्तिके द्वारा होता है।

आगे इसी अर्थका खुलासा करते हैं।

अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थः— (**तद्द्वयोः**) उन दोनों जीव और कर्मोंमें (**पृथक्**) भिन्न २ (**मिथः**) परस्परमें (**बन्धाधिकारिणी**) बन्धको करानेवाली (**अयस्कांतोपलाकृष्टसूचीवत्**) चुम्बक पत्थरके द्वारा खिचनेवाली लोहेकी सुईके समान अर्थात् आकर्षक तथा आकृष्यरूप (**विभवाख्या शक्तिः अस्ति**) विभाव नामकी शक्ति है।

भावार्थ — जैसे लोहेमें आकृष्य शक्तिके तथा चुम्बकमें आकर्षक शक्तिके रहनेसे परस्पर उन दोनोंमें आकर्षण होता है वैसेही जीवमें वैभाविक नामकी आकर्षक और पुद्गलमें आकृष्यरूप—खिचे जाने योग्य बंधनेरूप जो वैभाविक शक्ति है उसके निमित्तसे जीव व पुद्गल इन दोनोंका परस्परमें वह बंध होता है। यही कारण है कि जीवका पुद्गलके साथ बंध होता है इतर द्रव्योंके साथ नहीं। यहा इतनी विशेषता और समझना चाहिये कि पुद्गलोंमें दो प्रकारकी वैभाविक शक्तियां है। एक तो वह वैभाविक शक्तिहैकि जिसके निमित्तसे वह जीवके साथ बंधको प्राप्त होसकता है। तथा दुसरी वह वैभाविक शक्तिहैकि जिसके निमित्तसे वह पुद्गल, पुद्गलके साथ सजातीय बंधको प्राप्त होसकता है। इसप्रकार

जीव और पुद्गलमें वैभाविक शक्तिके माननेके कारण, जीव तथा पुद्गलमेंही बंध क्यों होता है। इतर द्रव्योंके साथ उनका बंध क्यों नहीं होता है। और क्यों अनादि कालसे जीव, कर्मोंके साथ बंधको प्राप्त होता आ रहा है। इत्यादि प्रश्नोंका निराकरण हो जाता है।

बन्धके प्रकारोंका वर्णन।

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयो द्वन्द्वजः क्रमात् ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थतः) वास्तवमें (भावद्रव्योभयात्मकः) भाव द्रव्य और उभय इसतरह (बन्धः त्रिविध) बन्ध तीन प्रकारका है उनमेंसे (क्रमात् प्रत्येक तद्द्वयं यावत्) क्रमसे भावबन्ध तथा द्रव्य-कर्मबन्ध ये दो बंध प्रत्येकरूपसे–स्वतंत्ररूपसे होते है और (तृतीयः द्वन्द्वज) तीसरा उभय बंध दोनोंके मेलसे होता है।

भावार्थः— बंध तीन प्रकारके होते हैं १ भावबन्ध, २ द्रव्यबन्ध और ३ उभयबन्ध। उनमेंसे बन्धके मूल कारणभूत जीवके अशुद्ध रागादिक भावोंको भावबन्ध कहते हैं। तथा कर्मस्कंधोंको द्रव्यबन्ध कहते है। और दोनोंके संबंध होनेपर होनेवाले तृतीय अवस्थारूप बंधको उभय बध कहते हैं। आगे इसी अर्थका खुलासा करते हैं।

भावबन्ध और द्रव्यबन्धका स्वरूप।

रागात्मा भावबन्धः स जीवबन्ध इति स्मृतः।
द्रव्यं पौद्गलिकः पिण्डो बन्धस्तच्छक्तिरेव वा ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थः– (यः रागात्मा भावबन्ध) जो रागादिरूप भावबन्ध है (सः जीवबन्धः इति स्मृतः) वह जीवबन्ध कहलाता है और (पौद्गलिकः पिण्ड द्रव्यं) कर्मरूप पौद्गलिक पिंडको द्रव्यबंध (वा) अथवा (तच्छक्तिः एव बन्धः) कर्मकी शक्तिकाही नाम द्रव्यबन्ध है।

भावार्थः— नवीन कर्मोंके निमित्तभूत रागादिक भावोंको भावबन्ध कहते है। इस बंधका दूसरा नाम जीवबध भी है। और पुद्गल पिण्डाकार कर्मको, अथवा उनकी ज्ञानादिकको घातने वाली शक्तिको, द्रव्यबंध कहते है।

१ पद्य १०३ देखो।

उभय बन्धका स्वरूप।

इतरेतरबन्धश्च देशानां तद्द्वयोर्मिथः।
बन्ध्यबन्धकभावः स्याद्भावबन्धनिमित्तत ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थः— (च तथा तद्द्वयोः) उन जीव और कर्मोंके (देशानां) प्रदेशोंका (मिथः) परस्परमें (भावबन्धनिमित्ततः) भावबन्धके निमित्तसे जो (बन्ध्यबन्धकभावः) बन्ध्यबन्धक भाव है वह (इतरेतरबन्धः स्यात्) इतरेतर बन्ध-उभयबन्ध कहलाता है।

भावार्थः— रागादिरूप परिणत जीवके प्रदेशोंका तथा कर्मके प्रदेशोंका परस्परमें रागादिक भावबंधके निमित्तसे जो बध्यबधकभाव होता है उसको उभयबंध कहते हैं। जैसे हल्दी और चूनाके परस्परमें अत्यन्त संश्लेष होनेसे दोनोंही अपनी २ पूर्व अवस्थासे च्युत होकर तृतीय अवस्थारूप लालिमाको धारण करते हैं। वैसेही रागादि परिणत अशुद्ध आत्माके प्रदेश तथा पुद्गलके प्रदेश भावबंध-रागादिकके निमित्तसे अपनी २ पूर्व अवस्थासे च्युत होकर तीसरी अशुद्ध परिणतिरूप अवस्थाको प्राप्त हो जाते है। इसीका नाम उभयबंध है। और यही वास्तविक बंध है। क्योंकि पहलेके दो बंधतो बंधकी योग्यताके कारण बध कहलाते है जैसे चूना तथा हल्दी। अब आगे-इसबंधके कारणभूत जीव और कर्मके अस्तित्वकी सिद्धि करते है।

नाप्यसिद्धं स्वतस्सिद्धेरस्तित्वं जीवकर्मणोः।
स्वानुभवगर्भयुक्तेर्वा चित्समक्षोपलब्धितः ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थः— (स्वत सिद्धेः) स्वतः सिद्धिसे तथा (स्वानुभवगर्भयुक्तेः) स्वानुभव सहित युक्तियोंसे (वा) और (चित्समक्षोपलब्धितः) स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे (जीवकर्मणोः अपि) जीवक कर्मका (अस्तित्वं) अस्तित्व (असिद्धं न) असिद्ध नहीं है।

भावार्थः— उभयबंधकी सिद्धिके लिए सबसे पहले जीव और कर्मोंके अस्तित्वको सिद्ध करना आवश्यक है। अतः ग्रन्थकार कहते है कि जीव तथा कर्मोंका अस्तित्व असिद्ध नही है। क्योंकि स्वतःसिद्ध स्वानुभवसे गर्भित युक्तियोंसे तथा स्वानुभव प्रत्यक्षके द्वारा वह सिद्ध होता है। अब आगे इन दोनोंके अस्तित्वकी सिद्धिमें युक्तिको बताते है।

अहम्प्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात् ।
एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ— (अहंप्रत्ययवेद्यत्वात्) अहं प्रत्यय वेद्यरूप (अन्वयात्) अन्वयसे (जीवस्य) जीवका ('अस्तित्व') अस्तित्व सिद्ध होता है और (हि) निश्चयसे (एकः दरिद्रः) कोई दरिद्री (च) तथा (एकः श्रीमान्) कोई श्रीमान् होता है (इति) इसलिए इस दशाकी विचित्रतासे (कर्मणः) कर्मका (अस्तित्वं) अस्तित्व सिद्ध होता है ।

भावार्थः— प्रत्येक जीवमें जो निरंतर अहं प्रत्यय (मैं मैं ऐसा अनुभव) पाया जाता है उसीसे आत्माका बोध होता है । अतः सदैव अन्वयपूर्वक पाये जाने वाले अहं प्रत्ययसे जीवकी सिद्धि होती है । और सब जीवोंके सदृश होनेपर तथा सदृश उद्योगके करते रहनेपर भी कोई दरिद्री और कोई श्रीमान् देखा जाता है । अतः दारिद्र्य व श्रीमत पनेके कारणभूत कर्मोंके सद्भावका अनुमान किया जाता है ।

इसप्रकार स्वानुभवगर्भित युक्तिसे तथा स्वानुभवसे जीव और कर्मका अस्तित्व सिद्ध करके आगे जीव तथा कर्मोंके अनादि व स्वतःसिद्ध संयोगको सिद्ध करते है ।

जीव और कर्मका संयोग स्वतःसिद्ध है ।

यथास्तित्वं स्वतः सिद्धं संयोगोपि तथानयोः ।
कर्तृभोक्त्रादिभावानामन्यथानुपपत्तितः ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (अनयोः) जीव और कर्मका (अस्तित्वं) अस्तित्व (स्वतः सिद्धं) स्वतः सिद्ध है (तथा) वैसेही (संयोगः अपि) उन दोनोंका संयोगभी स्वतःसिद्ध है क्योंकि (अन्यथा) यदि उनका संयोग स्वत सिद्ध नहीं माना जायगा तो (कर्तृभोक्त्रादिभावानां) उनमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि भावोंकी (अनुपपत्तितः) उपपत्ती नहीं बन सकेगी ।

भावार्थः— जिसप्रकार जीव और कर्मका अस्तित्व स्वतःसिद्ध है । उसीप्रकार उन दोनोंका संयोगभी स्वतःसिद्ध है क्योंकि यदि जीव तथा कर्मोंका संयोग स्वतःसिद्ध नहीं होता तो जीवमें कर्ता और भोक्तापना नहीं

घनता अर्थात् यदि कर्म सयोग न होता तो कर्मके फलका भोगना व कर्मका करना ये दोनोंही भाव जीवमें कैसे संभव होते ? कारण कि जीव जो कर्म करता है और उनका फल भोगता है वह सब उस स्वतःसिद्ध कर्मसंयोगपूर्वकही होता है। जिससमय कर्मका सम्बन्ध छुट जाता है। और जीव मुक्त होजाता है उससमय न वह किसी प्रकारके भावकर्मही करता है। तथा न उनके शुभाशुभ फलकोही भोगता है। इसलिये कर्मकर्तृत्व और भोक्तृत्वसे, जीव तथा कर्मके स्वत सिद्ध सयोगकी सिद्धि होती है।

इसप्रकार जीव और कर्मके अनादि स्वतःसिद्ध संयोगको सिद्ध करके आगे—मूर्तकर्मोंके साथ अमूर्त जीवका वन्ध कैसे होता है इस विषयमें उहापोहपूर्वक विचार करते हैं।

शका।

ननु मूर्तिमता मूर्तो बध्यते द्व्यणुकादिवत्।
मूर्तिमत्कर्मणा बन्धो नामूर्तस्य स्फुटं चितः॥ ५२॥

अन्वयार्थ — (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**द्व्यणुकादिवत्**) जैसे द्व्यणुक आदि स्कंधोंमें मूर्तिमान् परमाणुओंका मूर्त परमाणुओंसेही वन्ध होता है वैसेही (**मूर्त्तिमता मूर्तः बध्यते**) मूर्तिमान्के साथ मूर्तका बन्ध होसकता है इसलिए उक्त दृष्टांतसे (**स्फुटं**) यह स्पष्ट है कि (**मूर्तिमत् कर्मणा**) मूर्तिमान कर्मके साथ (**अमूर्तस्य चित बन्धः न**) अमूर्त आत्माका बन्ध नहीं होसकता है।

भावार्थः— शकाकारका कथन है कि द्व्यणुकादिक स्कन्धोंमें मुर्तिमानका मूर्तिमानसेही संयोगबंध देखा जाता है। इसलिए मूर्तिक कर्मोंके साथ अमूर्तिक आत्माका वन्ध नहीं होना चाहिए।

समाधान।

नैवं यतः स्वतः सिद्धः स्वभावोऽतर्कगोचरः।
तस्मादर्हति नाक्षेपं चेत्परीक्षां च सोर्हति॥ ५३॥

अन्वयार्थः— (**एवं न**) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**स्वतः सिद्धः स्वभावः**) अनादिकालके वन्धरूप स्वतः सिद्ध स्वभाव (**अतर्कगोचरः**) तर्कका विषय नहीं होता है (**तस्मात्**) इसलिये

(सः) वह स्वतःसिद्ध स्वभाव (आक्षेपं न अर्हति) आक्षेप करनेके योग्य नहीं है (च) और (चेत्) यदि चाहोतो (परीक्षां अर्हति) उसकी परीक्षा की जासकता है ।

भावार्थः— जीव और कर्मोंमें वैभाविकी शक्ति नामा एक गुण माना है । उसके अशुद्ध परिणमनके निमित्तसे जीव व कर्मोंमें परम्परासे अनादि सम्बन्ध हो रहा है । वह वैभाविकी शक्ति जीव तथा पुद्गलकी स्वाभाविक शक्ति है । इसलिए उसके निमित्तसे स्वतःसिद्ध जीव और कर्मके सम्बन्धमें यह प्रश्न नहीं किया जासकता कि अमूर्तीक जीवसे उनका सम्बन्ध क्यों हुआ । कारण कि स्वभावमें तर्क नहीं किया जासकता । इसलिए इसविषयमें आक्षेप नहीं किया जासकता । हा यहि चाहो तो परीक्षा की जासवती है ।

उदाहरण ।

अग्नेरौष्ण्यं यथा लक्ष्म न केनाप्यार्जितं हि तत् ।
एवं विधः स्वभावाद्वा न चेत्स्पर्शेन स्पृश्यताम् ॥ ५४ ॥
तथानादिः स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणोः ।
कुतः केन कृतः कुत्र प्रश्नोऽयं व्योमपुष्पवत् ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे ('यत्') जो (अग्नेः औष्ण्यं लक्ष्म) अग्निका उष्णतारूप लक्षण है (तत्) वह (हि) निश्चयसे (केन अपि अर्जितं न) किसीनेभी बनाया नहीं हैं किंतु (स्वभावात् वा एवं विधः) स्वभावसेही वह ऐसा है (न चेत्) यदि उसे ऐसा नहीं मानते होतो (स्पर्शेन स्पृश्यतां) स्पर्शन इन्द्रियसे स्पर्श करके मालूम करलिया जाय (तथा) वैसेही (जीवपुद्गलकर्मणो) जीव और पुद्गलस्वरूप कर्मोंका (बन्धः) बन्ध (स्वतः अनादिः) स्वयं अनादि है इसलिये (कुतः) किस कारणसे हुवा (केन कृतः) किसने किया तथा (कुत्र) कहां हुआ (अयं प्रश्नः) यह प्रश्न (व्योमपुष्पवत्) आकाशके फूलकी तरह व्यर्थ है ।

भावार्थः— जीव और कर्मके स्वतःसिद्ध अनादि सम्बन्धमें यह उदाहरण दिया जासकता है कि जैसे अग्निका उष्णता लक्षण है । वह किसीने अग्निमें उत्पन्न नहीं किया है । किन्तु वह अग्नि स्वतःसिद्ध उष्ण है । इसलिए

अग्नि उष्ण क्यों हुई इसप्रकारका प्रश्न नहीं किया जासकता है। हां! यदि कोई न माने तो स्पर्शके द्वारा परीक्षा कर सकता है। वैसेही जीव और कर्मोंका वैभाविक शक्तिके निमित्तसे जो स्वतःसिद्ध अनादि सम्बन्ध है उसमें, किसनें किया? कहा किया? इसप्रकारके प्रश्न नहीं किये जासकते है। प्रत्युत ऐसे प्रश्न करना आकाश कुसुमके समान अलीक (व्यर्थ) है।

चेद् बुभुत्सास्तिचित्ते ते स्यात्तथा वान्यथेति वा।
स्वानुभूतिसनाथेन प्रत्यक्षेण विमृश्यताम् ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ — (चेत्) यदि (तथा वा स्यात् अन्यथा वा) जीव कर्मोंका सम्बन्ध अनादि है किंवा सादि है–अनादि नहीं है (इति) यह (बुभुत्सा) जाननेकी इच्छा (ते चित्ते अस्ति) तेरे हृदयमें हो तो (स्वानुभूति सनाथेन प्रत्यक्षेण) स्वानुभव प्रत्यक्षसे (विमृश्यतां) परीक्षा कर लीजावे।

भावार्थः— यदि तुम्हारे चित्तमें यह जिज्ञासा हो कि जीव और कर्मका वह बंध अनादिसे स्वतःसिद्ध है या नहीं तो स्वानुभूति प्रत्यक्षसे उसकी परीक्षा की जासकती है।

अब आगे मूर्तीक कर्मोंके साथ होनेवाले अमूर्तीक आत्माके सम्बन्धको मद्यके द्वारा मूर्छित होनेवाले मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानके दृष्टान्तसे स्पष्ट करते है।

अस्त्यमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुतः
मद्यादिना समूर्तेन स्यात्तत्पाकानुसारि तत् ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थः— (वस्तुतः) वास्तवमें (मतिज्ञानं) मतिज्ञान (च) और (श्रुतज्ञानं) श्रुतज्ञान (अमूर्तं अस्ति) अमूर्त हैं किंतु (तत्) वह दोनों प्रकारका ज्ञान (समूर्तेन मद्यादिना) मूर्तीक मद्य आदिके सम्बन्धसे (तत्पाकानुसारि स्यात्) मद्यादिकके परिपाकके अनुसार मूर्च्छित होजाता है।

भावार्थः— यद्यपि मतिश्रुतज्ञान अमूर्तिक आत्माके ज्ञानगुणकी पर्याय होनेसे, वास्तवमें अमूर्तीक हैं तथापि मादक पदार्थोंके पीनेसे जो बेहोशी आती है उसके कारण वे दोनों ज्ञान भ्रान्त हो जाते है।

उक्त कथन असिद्ध नहीं है।

नासिद्धं तद्यथायोगात् यथा दृष्टोपलब्धितः।
विना मद्यादिना यस्मात् तद्विशिष्टं न तद्द्वयम् ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थः— (यथादृष्टोपलब्धितः) यथा दृष्टोपलब्धिसे अर्थात् जैसाकि लोकमें देखा जाता है यदि उसके अनुसार वास्तवमें देखा जावे तो (तथायोगात्) मद्यादिकके सम्बन्धसे (तत्) वे दोनों मति और श्रुतज्ञान मूर्च्छित होजाते है यह कथन (असिद्धं न) असिद्ध नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (तद्द्वयं) वे दोनों मतिश्रुतज्ञान (मद्यादिनाविना) मद्यादिकके विना (तद्विशिष्टं न) मद्य पीनेवालेके समान मलिन--विकारयुक्त नहीं होते है।

भावार्थः--- मूर्त मद्यके निमित्तसे मति, श्रुत दोनों विकृत हो जाते है। यह असिद्ध नहीं है। क्योंकि मद्यके निमित्त विना वे मतिश्रुतज्ञान मद्य पीनेवालेके समान मूर्छित (वेहोश) नहीं देखेजाते है। अतः मूर्त मद्यादिकके सम्बन्धसे अमूर्त ज्ञानका सम्बन्ध होता है। यह असिद्ध नहीं है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें मूर्तता उपचारसे है।

अपि चोपचारतो मूर्तं तूक्तं ज्ञानद्वयं हि यत्।
न तत्तत्वाद्यथा ज्ञानं वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थः-- (अपि च) और (यत् ज्ञानद्वयं) जो उन दोनों ज्ञानोंको (मूर्तं उक्तं) मूर्तीक कहा है ('तत्' तु उपचारतः) वह तो केवल उपचारसे कहा है (तत्वात्) वास्तवमें (तत् ज्ञानं तथा न) वे दोनों ज्ञान मूर्तीक नहीं है (हि) क्योंकि (वस्तुसीम्नः अनतिक्रमात्) कोईभी पदार्थ परके सम्बन्धसे अपने स्वभावका उलंघन नहीकरता है।

भावार्थः— यदि कदाचित यह कहा जाय कि मतिश्रुतज्ञान तो मूर्तीक माने गये हैं इसलिये मद्यादिक के साथ उनका सम्बन्ध होनेसे मूर्तका मूर्तसेही सम्बन्ध सिद्ध होता है अमूर्तसे मूर्तका सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता तो यह कहनाभी ठीक नहीं है। क्योंकि मतिश्रुतज्ञान क्षायोपशमिकहोते हैं इसलिये अथवा संसारी आत्माकेही मतिश्रुत होता

इस लिए उन्हें उपचारसे मूर्तिक माना है । वास्तवमें वे दोनों, आत्माके ज्ञानगुणकी पर्याय होनेसे अमूर्तिकही हैं ।

उपचार असिद्ध नहीं है ।

नाऽसिद्धश्चोपचारोयं मूर्तं यत्तत्त्वतोपि च ।
वैचित्र्याद्वस्तुशक्तीनां स्वतः स्वस्यापराधतः ॥ ६० ॥

अन्वयार्थ— (अपि च) तथा (मूर्तं) मति और श्रुतज्ञान मूर्तीक है (अयं च उपचारः) यह उपचार (असिद्धः न) असिद्ध नहीं है (यतः) क्योंकि (तत्वतः) वास्तवमें (वस्तुशक्तीनां वैचित्र्यात्) वस्तुओंके गुणोंमें विलक्षणता होती है इसलिये यह स्वभाव उन वस्तुओंका (स्वतः स्वस्यापराधतः) स्वयंसिद्ध अपराध है अत वह परकृत न होनेसे दोषका नियामक नहीं कहा जासकता है ।

भावार्थ — मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मूर्तीमत्सम्बन्धसे मूर्त कहे जाते हैं । यह असिद्ध नहीं है । क्योंकि तत्वत जीव तथा पुद्गलोंमें वैभाविक शक्तिके निमित्तसे बंध होता है । और उस बंधकी अपेक्षासे मतिश्रुतको मूर्त कहते है । यदि कदाचित् कहा जाय कि ऐसा क्यों होता है तो उसका उत्तर यही है कि वस्तुओंमें शक्तियोंकी विचित्रता पाई जाती है । इसलिए वह उनके स्वभावकाही दोष मानना चाहिये ।

साराश यह है कि वैभाविक शक्तिके निमित्तसे परवस्तुके साथ बन्ध होनेके कारण, मूर्तिमत् सम्बन्धसे जो मति श्रुतको मूर्त कहते है वह जीवकी वैभाविक शक्तिका स्वतःसिद्ध अपराध है । कारणकि यदि आत्मामें वैभाविक शक्ति न होती तो उसका मूर्तिमत् पदार्थसे संबन्धभी न होता और न फिर संसारी आत्मा व आत्माके मतिज्ञानादिक, मूर्त कहे जाते । इसलिये आत्माको व मतिश्रुतको उसकी वैभाविक शक्तिके निमित्तसे जो उपचारवश मूर्त कहाजाता है वह किसीका अपराध नहीं है केवल उस वैभाविक शक्तिकाही अपराध हैं ।

क्योंकि ।

अप्यस्त्यनादिसिद्धस्य सतः स्वाभाविकी क्रिया ।
वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्तितः ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थः— (अनादिसिद्धस्यापि सतः) स्वतः अनादिसिद्धभी सतमें (पारिणामिक शक्तितः)

परिणमनशीलतासे (**स्वाभाविकी क्रिया**) स्वाभाविकी क्रिया (**च**) और (**वैभाविकी क्रिया**) वैभाविकी क्रिया (अस्ति) होती है ।

भावार्थः— अनादिसिद्ध सत्में पारिणामिक शक्तिसे अर्थात् स्वतःसिद्ध स्वाभाविक परिणमनशीलतासे स्वाभाविकी और वैभाविकी दोनोंही प्रकारकी क्रियाए परिणमन होती रहती है अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार द्रव्यनिष्क्रिय हैं । अतः उनमें किसी प्रकारकी क्रिया नहीं पाई जाती है । केवल उत्पादादिक भाव पाये जाते है । जीव और पुद्गल ये दोनों क्रियावान् तथा भाववान् है । इसलिए उनमें उत्पादादिक भाव और स्वाभाविकी तथा वैभाविकी दोनों प्रकारकी क्रिया पाई जातीं हैं । अतः जीव और पुद्गलमें वैभाविक शक्तिके निमित्तसे जो वैभाविक भाव हो रहा है उसीके कारण जीवके मतिश्रुत उपचारवश मूर्तीक कहे जाते है । उनके मूर्त कहलानेमें कारण जीवके वैभाविक भावही है इतर भाव नहीं । इसलिए मूर्त कहलानेमें किसी अन्यका अपराध नहीं है ।

न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया ।
यस्मात्सतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्यैर्न शक्यते ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थः— (सतः) द्रव्यकी (**वैभाविकी क्रिया**) वैभाविकी क्रिया (**पर**) केवल (**परायत्ता न स्यात्**) पराधीन नहीं होती है (**यस्मात्**) क्योंकि (**सतः**) द्रव्यकी (**असती शक्तिः**) अविद्यमान शक्ति (**अन्यैः कर्तुं न शक्यते**) दूसरोंके द्वारा उत्पन्न नहीं कीजासकती है ।

भावार्थः— जीव और पुद्गलोंमें वह वैभाविकी क्रिया स्वयं किसी गुणके निमित्त विना, केवल पराधीनताके कारणसेही नहीं होसकती है । क्योंकि जिस पदार्थमें जो शक्तिही नहीं है उसको केवल परनिमित्त उत्पन्नही नहीं करसकता है अर्थात् यदि जीव और पुद्गलमें वैभाविक शक्ति न होती तो केवल परनिमित्तसे बंध नहीं होसकता था । इसलिए बन्धका मूल निमित्त वैभाविकी शक्तिको मानना चाहिए । उसीके मूल निमित्तसे होनेवाले परवस्तुके संयोगसे जीव व पुद्गलोंमें वैभाविकी क्रिया होती है ।

अब आगे वैभाविकी और स्वाभाविकी दोनोंही क्रियाएँ जब पारिणामिकी हैं तो फिर उनमें अंतर क्या है इस विषयमें शंका समाधानपूर्वक विचार करते है ।

शका।

ननु वैभाविकभावाख्या क्रिया चेत्पारिणामिकी।
स्वाभाविक्याः क्रियायाश्च कः शेषो हि विशेषभाक् ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थ— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (चेत्) यदि (वैभाविकभावाख्या क्रिया पारिणामिकी) वैभाविकी क्रियाभी अनादि सत्वमें परिणमन शीलतासे, होती है तो (हि) निश्चयसे (स्वाभाविक्या क्रियायाः) उसमें, स्वभाविकी क्रियासे (विशेषभाक्) विशेषताको रखनेवाला (कश्च शेषः) कौनसा विशेष भेद रहेगा ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि वैभाविकी क्रिया भी पारिणामिकी है तो फिर स्वाभाविकी क्रिया और वैभाविकी क्रियामें क्या अंतर रहेगा ? अर्थात कुछभी नहीं।

दृष्टान्त पूर्वक शंकाका स्पष्टीकरण।

अपि चार्थपरिच्छेदि ज्ञानं स्वं लक्षणं चितः।
ज्ञेयाकाराक्रिया चास्य कुतो वैभाविकी क्रिया ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ— (अपि च) तथा (अर्थपरिच्छेदिज्ञानं) पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञान (चितः) आत्माका (स्वं लक्षणं) स्वलक्षण है इसलिये (अस्य च) इस ज्ञानकी यह (ज्ञेयाकारक्रिया) ज्ञेयके आकार होनेरूप क्रिया (कुतः वैभाविकी क्रिया) किस तरहसे वैभाविकी क्रिया हो सकती है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि पदार्थोंको जानना ज्ञानका लक्षण है। इसलिये यदि दोनोंही क्रियाएँ पारिणामिकी है तो फिर मतिश्रुत ज्ञानकी घटादिक ज्ञेयके आकार होनेरूप जो क्रिया है वह वैभाविकी क्रिया कैसे कही जावेगी ? अर्थात् किसी तरह नहीं।

तस्माद्यथा घटाकृत्या घटज्ञानं न तद्घटः।
मद्याकृत्या तथाज्ञानं ज्ञानं ज्ञानं न तन्मयम् ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थः— (तस्मात्) इसलिए (यथा) जैसे (घटाकृत्या) घटरूप ज्ञेयाकार होनेसे (तत्

घटज्ञानं) यह घटका ज्ञान (घटः न) घट नहीं होजाता है वैसेही (मद्याकृत्या) मद्यके अनुभवसे (ज्ञानं) ज्ञान (तन्मय न) मद्यमय नहीं होजाता है किंतु (ज्ञानं) ज्ञान (ज्ञानं) ज्ञानही रहता है

भावार्थः— इसलिए जैसे घटाकार होनेसे ज्ञान कुछ घट नहीं होजाता है वैसेही मद्यके आकार होनेसे भी वह ज्ञान, ज्ञानही रहता है कुछ मद्यमय नहीं हो जाता है । अत: मतिज्ञानादिरूप वैभाविक क्रियामें और केवल ज्ञान-रूप स्वाभाविक क्रियामें क्या अन्तर है । अर्थात् कुछभी अन्तर नहीं है ।

समाधान ।

नैवं यतो विशेषोस्ति बद्धाबद्धावबोधयोः ।
मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात् ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थः-- (एवं न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (बद्धाबद्धावबोधयोः) बद्ध और अबद्ध ज्ञानोंमें (विशेष. अस्ति) भेद है उनमेंसे (मोहकर्मावृत्त: बद्धः) मोहनीय कर्मसे आवृत ज्ञान-को बद्ध कहते है तथा (तदत्ययात् अबद्ध स्यात्) उस मोहनीय कर्मसे रहित ज्ञानको अबद्ध कहते है ।

भावार्थः--- शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि बद्ध द्रव्यकी वैभाविकी क्रिया और अबद्ध द्रव्यकी स्वाभाविकी क्रिया होनेसे बद्ध तथा अबद्ध ज्ञानमें अन्तर रहता है । जो ज्ञान मोह कर्मसे युक्त रहता है उसको बद्ध और जो मोहकर्मसे रहित है उसको अबद्ध कहते है । अर्थात् मोह कर्मसे युक्त ज्ञानको बद्ध तथा मोह कर्मके अभावसे ज्ञानको अबद्ध कहते है ।

मोहकर्मावृतं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
इष्टानिष्टार्थसंयोगात् स्वयं रज्यद्द्विषद्यथा ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ – (यत् ज्ञानं) जो ज्ञान (मोहकर्मावृतं) मोह कर्मसे युक्त है वह (यथा) जैसे (इष्टा-निष्टार्थ संयोगात्) इष्ट और अनिष्ट अर्थके संयोगसे (स्वय) स्वयं (रज्यत् द्विषत्) रागद्वेषमय होता है (तथा ') वैसेही वह (प्रत्यर्थं परिणामि) प्रत्येक पदार्थका विषय करनेवाला होता है अर्थात् युगपत् सब पदा-र्थोंको विषय करनेवाला नहीं होता है ।

भावार्थः— जबतक मोहनीय कर्मका उदय रहता है तबतक उसीके अनुसार राग द्वेषमय प्रवृत्ति रहनेसे ज्ञानकी, सर्व पदार्थोंको युगपत् जाननेरूप स्वाभाविक क्रिया न होकर इष्टानिष्ट अर्थके ग्रहण और त्यागनेरूप वैभाविक क्रियाही होती है।

तत्र ज्ञानमबद्धं स्यान्मोहकर्मातिगं यथा।
क्षायिकं शुद्धमेवैतल्लोकालोकावभासकम् ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (तत्र) उन बद्ध और अबद्ध ज्ञानोंमें (**मोहकर्मातिगं ज्ञानं**) मोहकर्मके नाशसे व्यक्त होनेवाला ज्ञान (**अबद्ध स्यात्**) अबद्ध कहलाता है तथा (**एतत् एव**) यही ज्ञान (**क्षायिकं**) क्षायिक (**शुद्धं**) शुद्ध और (**लोकालोकावभासकं**) लोक व अलोकका प्रकाशक है।

भावार्थः— मोह कर्मके अभावसे होनेवाला ज्ञान अबद्ध कहलाता है। और बन्ध निर्मुक्त वही ज्ञान क्षायिक, लोकालोकका युगपत् प्रकाशक तथा शुद्ध कहलाता है। यही ज्ञानकी स्वाभाविकी क्रिया है।

उक्त कथन असिद्ध नहीं हैं

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्तात् एतद्दृष्टोपलब्धितः।
शीतोष्णानुभवः स्वस्मिन् न स्यात्तज्ज्ञे परात्मनि ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थः— (**एतत्**) यह उक्त कथन (**सिद्धदृष्टांतात्**) प्रसिद्ध इस दृष्टांतसे और (**दृष्टोपलब्धितः**) प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध होनेके कारण (**असिद्धं न**) असिद्ध नहीं है क्योंकि (**स्वस्मिन्**) अपनेमें (**शीतोष्णानुभवः**) शीत तथा उष्णका अनुभव होता है किंतु (**तज्ज्ञे परात्मनि**) उस सबके जाननेवाले परमात्मामें (**न स्यात्**) नहीं होता हैं।

भावार्थः— वैभाविकी क्रिया और स्वाभाविकी क्रियामें पारिणामिकपनेके रहते हुएभी उक्त बद्ध तथा अबद्धज्ञानमें जो अन्तर बताया है वह असिद्ध नहीं है। क्योंकि रागी द्वेषी प्राणियोंके ज्ञानमें शीत और उष्णका स्वानुभव होता है। अर्थात् रागद्वेषके कारण उनको शीत तथा उष्णके विषयमें इष्ट अनिष्टपनेकी प्रतीति होती है। किंतु रागद्वेष रहित परमात्मामें सर्व पदार्थोंका युगपत् ज्ञान होनेसे शीत उष्णता आदिका ज्ञान तो होता है। परन्तु रागादिकका

भावसे उनका अनुभव अर्थात् शीतोष्णके विषयमें इष्टानिष्टकी कल्पना नहीं होती है।

ततः सिद्धः सुदृष्टान्तो मूर्तज्ञानद्वयं यथा।
अस्त्यमूर्तोऽपि जीवात्मा बद्धः स्यान्मूर्तकर्मभिः ॥ ७० ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिये यह (सुदृष्टांतः सिद्धः) सम्यक्दृष्टांत सिद्ध हुवा कि (यथा) जैसे (ज्ञानद्वय अमूर्तं सत्) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अमूर्त होकरकेभी (मूर्तं अस्ति) मूर्त कहलाते हैं ('तथा') वैसेही (अमूर्तः जीवः अपि) अमूर्त जीवात्माभी (मूर्तकर्मभिः बद्धः स्यात्) मूर्त कर्मोंसे बद्ध होता है।

भावार्थः— इसलिए सिद्ध होता है कि जैसे अमूर्त मतिश्रुतज्ञान मद्यादिकके द्वारा मूर्च्छित होकर बद्ध सिद्ध होते है। वैसेही अमूर्त आत्माभी मूर्त कर्मोंके उदयानुसार मूर्च्छित होनेके कारण बद्ध सिद्ध होता है।

अब आगे-बद्धत्व और अशुद्धत्वके विषयमें शंका समाधानपूर्वक विचार करते है।

ननु बद्धत्वं किं नाम किमशुद्धत्वमर्थतः
वावदूकोऽथ संदिग्धो बोध्यः कश्चिदिति क्रमत् ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थः— (अथ) अब (ननु) शंकाकारका कहना है कि (अर्थतः) वास्तवमें (बद्धत्वं किं नाम) बद्धत्व किसे कहते है और (अशुद्धत्वं किं नाम) अशुद्धत्व किसे कहते है (इति) इस विषयमें (संदिग्धः कश्चित् वावदूकः) संदेह रखनेवाले किसी वादीको (क्रमात्) क्रमसे (बोध्यः) समझाया जाता है।

भावार्थः— शंकाकारका प्रश्न है कि बद्धत्व और अशुद्धत्वका क्या अर्थ है ?

समाधान।

अर्थाद्वैभाविकी शक्तिर्या सा चेदुपयोगिनी।
तद्गुणाकारसंक्रांतिर्बन्धः स्यादन्यहेतुकः ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (या) जो (वैभाविकी शक्ति) वैभाविकी शक्ति है (सा)

वह (उपयोगिनी चेत्) यदि उपयोगवाली–चरितार्थ हो तो (अन्यहेतुकः तद्गुणाकारसंक्रांतिः) जो परद्रव्यके निमित्तसे जीव और पुद्गलके गुणोंमें सक्रमण होना है (बन्धः स्यात्) वह बन्ध कहलाता है।

भावार्थः— उपर्युक्त योगसहित वैभाविकी शक्तिके कारण परस्परमें एक दूसरेके निमित्तसे जो बांधनेवाले और बंधनेवाले पदार्थोंके गुणोंमें संक्रमण होता है उसको बंध कहते हैं। अर्थात् दोनों द्रव्योंके गुणोंमें अपने २ स्वरूपसे च्युत होकर तृतीय अवस्थाका प्राप्त होना बंध कहलाता है।

बन्धमें परायत्तता प्रयोजक है।

तत्र बन्धे न हेतुःस्याच्छक्ति वैभाविकी परम् ।
नोपयोगोऽपि तत्किन्तु परायत्तं प्रयोजकम् ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ— (तत्र बन्धे) उस बन्धमें (परं) केवल (वैभाविकी शक्तिः) वैभाविकी शक्ति (हेतुः न स्यात्) कारण नहीं है और (न उपयोगः अपि) न केवल उसका उपयोगभी कारण है (किंतु किंतु (तत्) वह (परायत्त) परस्परमें एक दूसरेके आधीन होकर रहना (प्रयोजकं) प्रयोजक है अर्थात् कार्यकारी है।

भावार्थः— केवल वैभाविकी शक्ति तथा उसका उपयोग बन्धका कारण नहीं है। किंतु जीव और पुद्गलका बन्ध होनेपर, जीवके गुण कर्मके अधीन होनेके कारण, स्वतंत्र परिणमन नहीं कर सकते हैं। तथा कर्मपुद्गलभी जीवसे बद्ध होनेके कारण स्वतंत्र रूपसे परिणत नहीं होसकते हैं इसप्रकारकी अनादि पराधीनताही बन्धमें कारण है। मुक्त होनेपर इसके न रहनेसे पुनः बन्ध नहीं होसकता है। यदि केवल वैभाविकी शक्ति बन्धका कारण होती तो वैभाविक शक्ति तो सिद्ध अवस्थामें रहती है। और यदि उसका उपयोग बन्धका कारण होता तो उपयोगभी सिद्ध अवस्थामें रहता है। इसलिए सिद्धोंका भी बंध होना चाहिये था। किन्तु होता नहीं है। अतएव सिद्ध होता है कि अनादि कालसे स्वतः सिद्ध परस्पराधीनताही बंधकी प्रयोजक है। यही कारण है कि एकवार परस्पराधीनताका अभाव होनेपर फिर उसके अभावमें बन्ध नहीं होता है। आगे इसी अभिप्रायका खुलासा करते हैं।

केवल वैभाविकी शक्तिको वन्धका हेतु माननेमें दोष ।

अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्द्रव्योपजीविनी ।
सा चेद्बन्धस्य हेतुःस्यादर्थान्मुक्तेरसंभवः ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थः—('या' वैभाविकी शक्ति) जो वैभाविकी शक्ति (तत्तद्द्रव्योपजीविनी अस्ति) उन जीव और पुद्गलोंमें सदैव रहनेवाली शक्ति है (सा) वह शक्ति (चेत्) यदि (वन्धस्य हेतुः) वन्धका कारण मानी जायगी तो (अर्थात्) वास्तवमें (मुक्तेरसम्भवः) मुक्ति नहीं होसकेगी ।

भावार्थः— जो वैभाविकी शक्ति पुद्गल और जीवकी अनुजीवी शक्ति है वह शक्ति यदि बंधका कारण मानी जायगी तो उसके सदैव रहनेसे मुक्ति असम्भव होजायगी अर्थात सदैव बंध होते रहनेका प्रसंग आवेगा ।

केवल वैभाविक शक्तिके उपयोगको वन्धका कारण माननेमें दोष ।

उपयोगः स्यादभिव्यक्तिः शक्तेः स्वार्थाधिकारिणी ।
सैव वन्धस्य हेतुश्चेत्सर्वो वन्धः समस्यताम् ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थः—(शक्तेः) शक्तिकी (स्वार्थाधिकारिणी) अपने विषयमें अधिकार रखनेवाली (अभिव्यक्तिः) व्यक्तता (उपयोग स्यात्) उपयोग है और (चेत्) यदि (सा एव) वह शक्तिकी अभिव्यक्तिही वन्धका कारण मानी जावगी तो (सर्वः वन्धः समस्यतां) सभी प्रकारका वन्ध उसका उसीमें समाजायगा ।

भावार्थः— शक्तिकी अभिव्यक्तिको–शक्तिके व्यक्तताको–विकाशको उपयोग कहते हैं । और यदि वह वैभा-
विक शक्तिका उपयोगही बंधका कारण माना जायगा तो सब बंधही बंध हो जायगा कारणकि शक्तिके विकासको बंध
कहना बंधकी विडम्बना करना है । कारण ऐसा बंध बंधही नहीं कहला सकता है । क्योंकि दो पदार्थोंके मिलनेसे उनमें
जो गुणोंकी संक्राति होकर तृतीय अवस्था होती है उसको वन्ध माना है और ऐसा बंध स्वभावकी अभिव्यक्तिरूप नहीं
कहा जासकता है । इसलिए वैभाविकी शक्तिकी अभिव्यक्तिको बंध कहना बंधकी विडम्बना है । कारण वैभाविकी
शक्तिकी व्यक्तता तो अशुद्ध रूपसे संसार अवस्थामें और शुद्धरूपसे मुक्त अवस्थामें पाई जाती है । इसलिए वह बंधका
कैसे कही जासकती है ।

किंतु पूर्व सामग्री सहित परस्पराधीन गुणसन्क्रान्तिही बन्धका कारण है।

तस्मात्तद्धेतुसामग्रीसान्निध्ये तद्गुणाकृतिः।
स्वाकारस्य परायत्ता तया बद्धोपराधवान् ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ — (तस्मात्) इसलिए (तद्धेतुसामग्रीसन्निध्ये) उस बन्धकी कारणभूत सम्पूर्ण सामग्रीके मिलनेपर (स्वाकारस्य) अपने २ आकारका (परायत्ता) परद्रव्यके निमित्तवश (तद्गुणाकृतिः) जिसके साथ बन्ध होना है उसके गुणके आकाररूप होना ' तद्गुणसंक्रांति ' कहलाती है और (तया) उसके द्वारा (अपराधवान्) यह अपराधी –रागद्वेषी जीव (बद्धः) बंधाहुआ है।

भावार्थ — इसप्रकार केवल वैभाविकी शक्ति व उसका उपयोग पृथक् २ रूपसे बन्धका कारण नहीं है किंतु वह वैभाविकी शक्ति और परायत्तताके कारण उस वैभाविकी शक्तिके उपयोगपूर्वक होनेवाली, जीव तथा पुद्गलके परस्परमें गुणोंकी संक्राति, ये सब बन्धके कारण है। और उसीके द्वारा रागी द्वेषी, परबुद्धि, यह जीव आसक्त होनेरूप अपराधके कारण बद्ध है।

परायत्तकी सिद्धिमें दोष।

नासिद्धं तत्परायत्तं सिद्धसंदृष्टितो यथा।
शीतउष्णमिवात्मानं कुर्वन्नात्माप्यनात्मवित् ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ — (सिद्धसंदृष्टितः) प्रसिद्ध इस दृष्टांतसे (तत्परायत्त) वह जीवका परवश होकर रहना (असिद्धं न) असिद्ध नहीं है। उदाहरणार्थ (यथा) जैसेकि (अनात्मवित् आत्मा) अज्ञानी आत्मा शीत तथा उष्णका अनुभव करते समय (आत्मानं शीतं अपि उष्णं इव कुर्वन् ' आस्ते ') अपनेको शीत और उष्णकी तरह मानलेता हैं।

भावार्थः— अज्ञानी जीव मिथ्यात्व कर्मके उदयसे शीतत्वका अनुभव करते समय अपनेको शीत और उष्णताका अनुभव करते समय अपनेको अपनेको उष्ण मानलेता है। यदि जीवकी रागादिरूप परायत्त दशा नहीं हुई होती तो यह जीव शीत तथा उष्ण आदि मूर्तिक द्रव्योंके धर्मोंको अपनेमें अनुभव नही करता किंतु अपनेको अचिन्त्य और अनन्त ज्ञानादिक गुणमय समझता

खुलासा ।

तद्यथा मूर्तद्रव्यस्य शीतश्चोष्णो गुणोऽखिलः ।
आत्मनश्चाप्यमूर्तस्य शीतोष्णानुभवः क्वचित ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थ – (तद्यथा) उक्त उदाहरणका खुलासा इसप्रकार है कि यद्यपि (शीतः) शीत (च) और (उष्णः) उष्ण ये (अखिल गुण) सब गुण (मूर्तद्रव्यस्य) मूर्त द्रव्यके हैं परन्तु (अमूर्तस्य च अपि आत्मनः) अमूर्तभी आत्माके (क्वचित्) अज्ञान अवस्थामें (शीतोष्णानुभवः) 'मैं शीत हूं , मैं उष्ण हूं इत्यादि रूपसे मूर्त गुणोंका अपनेमें अनुभव होता हैं ।

भावार्थः— उस उदाहरणका खुलासा यह है कि यद्यपि शीत और उष्ण ये पुद्गलके गुण है । तथापि रागी द्वेषी आत्माके 'मैं शीत तथा उष्ण हूं' इसप्रकारका अनुभव होता है । और वही अनुभव परायत्तताका द्योतक है ।

शंका ।

ननु वैभाविकी शक्तिस्तथा स्यादन्ययोगतः ।
परयोगाद्विना किं न स्याद्वास्ति तथान्यथा ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि यदि (वैभाविकी शक्तिः) वैभाविकी शक्ति (अन्ययोगतः) जीव और पुद्गलमें परस्परके योगसे (तथा स्यात्) बंध करानेमें समर्थ होती है तो (परयोगात् विना किं तथा न स्यात) क्या परयोगके विना वह वन्ध करानेमें समर्थ नहीं होती है ? (वा) अथवा (अन्यथा अस्ति) अन्यथा होती है ।

भावार्थः—शकाकारका कहना है कि जैसे जीवकी वैभाविकीशक्ति कर्मोंकी परवशतासे बन्धमें कारण होती है वैसेही क्या वह कर्मोंके सम्बध विनाभी वन्धमे कारण होती है अथवा नहीं होती है अर्थात् क्या कर्मोंका सम्बन्ध छूट जानेपर उसमे वन्धके कारणपनेरूप शक्तिका अभाव हो जाता है अथवा नहीं होता है ।

समाधान ।

सत्यं नित्या तथा शक्तेः शक्तित्वात्शुद्धशक्तिवत् ।
अथान्यथा सतो नाशः शक्तीनां नाशतः क्रमात् ॥ ८० ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) तुह्मारा कहना ठीकही हैं परंतु (शक्तित्वात्) शक्ति होनेके कारण (शुद्धशक्तिवत्) स्वाभाविकी शक्तिकी तरह (शक्तिः) वैभाविकी शक्तिभी (तथानित्या) वैसी ही नित्य रहती है कारण (अथ अन्यथा) यदि किसी शक्तिको अनित्य मानोगे तो (क्रमात्) क्रमरसे (शक्तिनां नाशतः) शक्तियोंके नाशसे अर्थात् गुणोंके नाशसे (सतः नाश) सत्–द्रव्यके नाशका प्रसङ्ग आवेगा ।

भावार्थः— शकाकारका कथन ठीक है । परन्तु वैभाविकी शक्ति भी नित्य है । क्योंकि जितनीभी जीवकी शक्तियां (गुण) है वे सब आत्माके शुद्ध ज्ञानादिकके समान नित्य हैं । इसलिए यदि इस वैभाविकी शक्तिको नित्य न माना जायगा तो इसके नाशके प्रसंगकी सम्भवनासे इसीके समान इतर शक्तियोंके भी नाशका प्रसंग आयगा । तथा एक एक करके शक्तियोंके नाश हो जानेसे द्रव्यके भी नाशका अनिष्ट प्रसंग दुर्निवार हो जायगा । अत. वैभाविकी शक्ति भी नित्य है अनित्य नही है ।

किंतु मुक्त जीवके वैंभाविकी शक्तिका शुद्ध परिणमन होता है ।

किन्तु तस्यास्तथाभावः शुद्धादन्यान्यहेतुकः ।
तन्निमित्ताद्विना शुद्धो भावः स्यात्केवलं स्वतः ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थः— (किन्तु) किन्तु (तस्याः)उस वैभाविकी शक्तिका (शुद्धात् अन्य तथाभावः) वह अशुद्ध परिणमनरूप विभावभाव (अन्यहेतुकः) परनिमित्तसे होता है और शुद्ध अवस्थामें (तन्निमित्तात् विना) उस निमित्तके हटजानेसे उसका (स्वतःकेवलं) स्वयं केवल (शुद्धः भावः स्यात्) शुद्ध ही परिणमन होता हैं अर्थात् संसारी अवस्थाकी तरह सिद्ध अवस्थामें अशुद्ध परिणमन नहीं होता है अतएव आत्माके शुद्ध होनेपर पुनःबन्ध नही होता है ।

भावार्थः— यद्यपि उपर्युक्त युक्तिसे वैभाविकी शक्ति भी नित्य है । अत वह सिद्ध अवस्थामें भी पाई जाती है । तथापि जिसप्रकार संसार अवस्थामें वह, परनिमित्तसे विभावरूप परिणत होकर नवीन बंधमें कारण पडती थी उसप्रकार सिद्ध अवस्थामें वह विभावरूपसे परिणत होकर नवीन बंधमें कारण नहीं पडती हैं । क्योंकि सिद्ध अवस्थामें उसके उस परनिमित्तका अत्यन्त अभाव हो जानेसे, उस शक्तिका भी परनिमित्तसे होनेवाला विभाव परिणमन

नहीं होता है। किन्तु केवल शुद्ध परिणमनही होता रहता है।

दृष्टान्त।

नासिद्धोऽसौ हि सिद्धान्तः सिद्धः संदृष्टितो यथा।
वन्हियोगाज्जलंचोष्णं शीतं तत्तादयोगतः॥ ८२॥

अन्वयार्थः— (असौ सिद्धांतः) यह उक्त सिद्धांत (असिद्ध न) असिद्ध नहीं है (हि) क्योंकि (सदृष्टित सिद्धः) इस दृष्टांतसे सिद्ध होता है (यथा) जैसेकि (वन्हियोगात्) अग्निके सम्बन्धसे (जल उष्णं) जल उष्ण होजाता है (च) और (तद्‌योगतः) उस अग्निका सम्बन्ध न रहनेसे (तत् शीत स्यात्) वह जल स्वभावसे शीत रहता है।

भावार्थः— जिसतरह वन्हिके योगसे जलके शीतगुणका उष्णरूप परिणमन होजाता है। उसी तरह आत्माकी वैभाविक शक्तिका भी पूर्वबद्ध कर्मके निमित्तसे अशुद्ध परिणमन होजाता है। जैसे अग्निका निमित्त हट जानेसे जलके शीतगुणका शीतरूपही स्वाभाविक परिणमन रहजाता है वैसेही कर्मबंधका निमित्त हट जानेसे आत्माकी वैभाविक शक्तिका भी पुनर्बन्धका कारणभूत अशुद्ध परिणमन नहीं होता है, किन्तु पुनः २ शुद्ध परिणमनही होता रहता है। क्योंकि आगममें शुद्ध आत्माके अशुद्ध परिणमनकाही निषेध है शुद्ध परिणमनका नहीं।

शंका।

ननु चैवं चैका शक्तिस्तद्भावो द्विविधो भवेत्।
एकः स्वाभाविको भावो भावो वैभाविकोपरः॥ ८३॥
चेदवश्यं हि द्वे शक्ती सतः स्तः का क्षतिः सताम्।
स्वाभाविकी स्वभावैः स्वैः स्वैर्विभावैर्विभावजा॥ ८४॥
सद्भावेथाप्यसद्भावे कर्मणां पुद्गलात्मनाम्।

अस्तु स्वाभाविकी शक्तिः शुद्धैर्भावैर्विराजिता ॥ ८५ ॥

अस्तु वैभाविकी शक्तिः संयोगात्पारिणामिकी ।
कर्मणामुदयाभावे न स्यात्सा पारिणामिकी ॥ ८६ ॥

दण्डयोगाद्यथा चक्रं बम्भ्रमत्यात्मनात्मनि ।
दण्डयोगाद्विना चक्रं चित्रं वा व्यवतिष्ठते॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ — (ननु) शंकाकारका कहना है कि (एवं च) उपर्युक्त इस वचनसे तो यह सिद्ध होता है कि (शक्ति एका) शक्ति एक है (च) और (तद्भावः द्विविध) उसका परिणमन दो तरहका होता है (एकः स्वाभाविकः भावः) एक स्वाभाविक भाव तथा (अपर) दूसरा (वैभाविकः भावः) वैभाविक भाव अर्थात् शंकाकारका कहना है कि उक्त कथनसे सिद्ध होता है कि शक्ति तो एक है किंतु उस एक शक्तिकेही स्वभाव और विभावरूपसे दो परिणमन होते है इसलिये (चत्) यदि (सतः) द्रव्यकी (द्वे शक्ती) स्वाभाविकी और वैभाविकी दोनोंही शक्तियां (अवश्य) स्वतंत्ररूपसे (स्त) मानी जावें तो (सतां) द्रव्योंकी (का क्षतिः) क्या हानि है क्योंकि (हि) निश्चयसे द्रव्यमें (स्वै भावैः स्वाभाविकी) अपने २ स्वभावोंसे स्वाभाविकी शक्ति तथा (स्वै विभावै विभावजा) अपने २ विभावोंसे वैभाविकी शक्ति वनी रहेगी अर्थात् एक शक्तिके दो परिणाम न माननेकी अपेक्षा द्रव्यमें स्वाभाविकी और वैभाविकी इस तरह दो शक्तियां माननाही ठीक है कारणकि (पुद्गलात्मनां कर्मणां) पुद्गलरूप कर्मोंके (सद्भावे) सद्भावमें (अथ) अथवा (असद्भावे अपि) असद्भावमेंभी (शुद्धैः भावैः विराजिता) अपने शुद्ध परिणमनसे युक्त (स्वाभाविकी शक्तिः अस्तु स्वाभाविकी शक्ति सदैव रहो तथा (वैभाविकी शक्तिः) वैभाविकी शक्ति (सयोगात्) परसंयोगसे तो (पारिणामिकी अस्तु) पारिणामिकी हो और (कर्मणां उदयाभावे) कर्मोंका उदय नहीं रहनेपर (सा) वही वैभाविकी शक्ति (पारिणामिकी न स्यात्) पारिणामिकी–परिणमनशील नही होगी (यथा) जैसे की (चक्रं) कुंभारका चक्रा (दण्डयोगात्) दण्डके सम्बन्धसे (आत्मना आत्मनि बम्भ्रमति) अपने द्वारा अपनेमें वार २ घूमता है तथा (दण्डयोगात् विना) दण्डका योग न मिलनेसे (चक्रं) वही चक्र (चित्र वा) चित्रकी तरह (व्यवतिष्ठते) स्थिर रहता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहता है कि वैभाविकी शक्तिको नित्य मानकरके, संसार अवस्थामें परनिमित्तसे उसका विभावरूप परिणमन माननेपे, एक शक्तिके दो प्रकारके परिणमन सिद्ध होते है। एक स्वाभाविक और दूसरा वैभाविक। किन्तु ऐसा न मानकरके द्रव्योंमे एक स्वाभाविकी शक्ति तथा दूसरी वैभाविकी शक्ति, इसतरह दो प्रकारकी स्वतंत्र शक्तियांही मानना चाहिए। क्योंकि ऐसा माननेसे एक शक्तिके दो परिणमन भी नहीं मानने पडेगे। तथा इन दोनो शक्तियोंमे से स्वभाविकी शक्ति बद्ध व अबद्ध दोनो हि अवस्थाओंमें अपने स्वभाविक परिणपणरुप भावोंसे युक्त मानना चाहिये। और जो वैभाविक शक्ति है उसको कर्मोके संयोगके अभावमें परिणमनमात्रसे रहित मानना चाहिये जैसे कि दण्डके संयोगपूर्वक कुमारका चक्र घूमता है और उसके अभावमें वह स्थिरही रहता है।

समाधान।

नैवं यतोऽस्ति परिणामि शक्तिजातं सतोऽखिलम्।
कथं वैभाविकी शक्तिर्नस्याद्वैपारिणामिकी॥ ८८॥

अन्वयार्थः— (एव न) परनिमित्तके विना वैभाविकी शक्तिको शुद्ध अवस्थामें अपरिणमनशील मानना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि जब (सतः अखिलं शक्तिजातं) पदार्थकी सर्व शक्तियां (परिणामि अस्ति) सदैव परिणमनशील होती है तो फिर (वैभाविकी शक्ति) वैभाविकी शक्ति (वै) निश्चयसे (पारिणामिकी कथं न स्यात्) शुद्ध अवस्थामें परिणमनशील क्यों नहीं होगी?

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्येक शक्तिका प्रत्येक समयमें अवश्यही परिणमन होता है। इसलिए वैभाविकी शक्तिकाभी शुद्ध अवस्थ में परिणमन नहीं मानना ठीक नहीं है।

क्योंकि।

पारिणामात्मिका काचिच्छक्तिश्चाऽपारिणामिकी।
तद्ग्राहकप्रमाणस्याऽभावात्सदृष्टच्यभावतः॥ ८९॥

अन्वयार्थ.— (काचित् शक्तिः पारिणामिका च अपारिणामिकी) कोई शक्ति परिणमनशील और कोई शक्ति अपरिणमनशील होती है इसप्रकारके (सदृष्टच्यभावत) उदाहरणका अभाव होनेसे (तद्ग्राहक प्रमाणस्य अभावात्) तुह्मारे सिद्धांतको विषय करनेवाले प्रमाणका अभाव है।

भावार्थः— वैभाविकी शक्तिको शुद्ध अवस्थामें अपारिणामिकी माननेसे पदार्थकी किसी शक्तिको परिणमनशील और किसी शक्तिको अपरिणमनशील माननेका प्रसंग आता है। किन्तु पदार्थकी यावत् सम्पूर्ण शक्तियां सदैव परिणमनशील रहती है। इसलिए शुद्ध अवस्थामें वैभाविकी शक्तिको अपारिणामिकी मानना उसके पोषक उदाहरणके न मिलसकनेसे अप्रमाणिक है।

फलितार्थ।

तस्माद्वैभाविकी शक्तिः स्वयं स्वाभाविकी भवेत् ।
परिणामात्मिका भावैरभावे कृत्स्नकर्मणाम् ॥ ९० ॥

अन्वयार्थ — (तस्मात्) इसलिये (वैभाविकी शक्तिः) वैभाविकी शक्ति (कृत्स्नकर्मणां अभावे) सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव होनेपर (भावैः) अपने भावोंसे (स्वयं स्वाभाविकी परिणामात्मिका भवेत्) स्वयं स्वाभाविक परिणमनशील रहती है।

भावार्थः— इसलिए वैभाविकी शक्तिकी अन्य शक्तियोंके समान नित्य हैं। तथा शुद्ध अवस्थामें सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव हो जानेसे अपने स्वभावरूपसे परिणमनशील रहती है।

ततः सिद्धं सतोवश्यं न्यायात् शक्तिद्वयं यतः ।
सदवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपत्तयोः ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ — (ततः सिद्धं) इसलिए यह सिद्ध होता है कि (न्यायात्) न्यायानुसार (सतः शक्तिद्वयं अवश्यं) पदार्थमें दो शक्तियां तो अवश्य है परंतु (यतः) जिसकारणसे (तयोः) उन दोनों शक्तियोंमे (सदवस्थाभेदतः द्वैतं) केवल सतकी अवस्थाके भेदसे द्वैत है (ततः) इसलिये (युगपत् द्वैतं न) एक कालमेंही स्वाभाविकी और वैभाविकी इन दोनों शक्तियोंका द्वैत नहीं है।

भावार्थः— जैन सिद्धांतमें इन शक्तियोंके द्वैतको केवल सतकी अवस्थाके भेदसे माना है। युगपत उन दोनों शक्तियोंके द्वैतको नहीं माना है। इसलिए जो पहले शंकाकारने युगपत् वैभाविकी और स्वाभाविकी शक्तिका सद्भाव मानकरके स्वाभाविकी शक्ति स्वाभाविक भावोंसे सदैव विराजमान रहती है। तथा आत्माकी सकर्म अवस्थाके सद्भावतक तो वैभाविकी शक्ति पारिणामिकी रहती है। और कर्मोंका अभाव हो जानेपर शुद्ध सिद्ध अवस्थामें उसके

परिणमनके निमित्त न मिलनेसे वह कुमकारके चक्रके समान अपरिणामिकी रहती है इसप्रकार युगपत शक्तियोंका द्वैत माना है वह ठीक नहीं है।

दोनों शक्तियोंको युगपत् माननेमें दोष।

यौगपद्ये महान् दोषःस्तद्द्वयस्य नयादपि।
कार्यकारणयोर्नाशो नाशः स्याद्बन्धमोक्षयोः॥९५॥

अन्वयार्थ.— (तद्द्वैतस्य) उस स्वाभाविकी और वैभाविकी शक्तिका (यौगपद्ये) एक कालमें सद्भाव माननेपर (नयात् अपि) न्यायशास्त्रसेभी (महान् दोषः स्यात्) बड़ाभारी दोष आवेगा क्योंकि युगपत स्वाभाविक और वैभाविक भावके माननेसे (कार्यकारणयोः नाशः) कार्यकारण भावके नाशका तथा (बन्धमोक्षयोः नाशः) बन्ध व मोक्षका नाश होनेका प्रसग आता है।

भावार्थः— वैभाविक शक्तिके विभाव और स्वभावरूप दो अवस्था माननेसे बंध और मोक्षकी व्यवस्था सिद्ध हो जाती है। तथा विभाव और स्वभाव अवस्थाएँ क्रमवर्ती है। इसलिए उनमें कार्यकारणभाव बनजाता है। किंतु दोनों शक्तियोंको युगपत् माननेसे न तो कार्यकारणभाव बनेगा और न बंध मोक्षकी व्यवस्थाही बनसकेगी।

नैकशक्तेर्द्विधाभावो यौगपद्यानुषंगतः।
सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्यादबाधितम्॥९६॥

अन्वयार्थ — (एकशक्तेः द्विधाभावः न) तथा एक कालमें एक शक्तिके दो तरहके परिणमन नहीं होसकते है क्योंकि एक शक्तिके युगपत् दो परिणमन माननेसे (यौगपद्यानुषंगतः) युगपत् दोनों प्रकारके परिणमनके सद्भावका प्रसग आता हैं तथा (तत्र सति) ऐसा होनेपर (विभावस्य) विभाव परिणमनमेंभी (अबाधित नित्यत्वं स्यात्) अबाधित नित्यत्वका प्रसंग आता है।

भावार्थ — और वे वैभाविक शक्तिके विभाव तथा स्वभावरूप परिणमनभी युगपत् नहीं होते है किंतु क्रम पूर्वकही होते है कारण दोनों प्रकारके परिणमनको युगपत माननेसे स्वाभाविक परिणमन की तरह वैभाविक परिणमनकोभी नित्य मानना पडेगा।

शंका।

ननु चानादितः सिद्धं वस्तुजातमहेतुकम्।

तथाजातं परं नाम स्वतःसिद्धमहेतुकम ॥ ९४ ॥

तदवश्यमवश्यं स्यादन्यथा सर्वसङ्करः ।
सर्वशून्यादिदोषश्च दुर्वारो निग्रहास्पदम् ॥ ९५ ॥

ततः सिद्धं यथा वस्तु यत्किंचिच्चिज्जडात्मकम् ।
तत्सर्वं स्वस्वरूपाद्यै स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥ ९६ ॥

अयमर्थ कोऽपि कस्यापि देशमात्रं हि नाश्नुते ।
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावात सीम्नोनतिक्रमात् ॥ ९७ ॥

व्याप्यव्यापकभावस्य स्यादभावेपि मूर्तिमत ।
द्रव्यं हेतुर्विभावस्य तात्कि तत्रापि नापरम् ॥ ९८ ॥

वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात्सन्निकर्षतः ।
तत्रस्थोप्यपरो हेतु र्न स्यात्किंवा वतेति चेत ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (' यथा ') जैसे (अनादितः) अनादिसे (वस्तुजातं अहेतुकं सिद्धं) सम्पूर्ण पदार्थ किसी अन्य कारणसे उत्पन्न न होनेके कारण स्वतःसिद्ध है (तथा) वैसेही उनका (परं जातं नाम) प्रतिसमय परिणमनशील होनाभी (अहेतुकं स्वतःसिद्धं) किसी अन्य कारणसे उत्पन्न न होनेके कारण स्वतःसिद्ध है अर्थात जैसे द्रव्य स्वतःसिद्ध है वैसेही उनका परिणामभी स्वतःसिद्ध है इसलिए (तत) वह परिणमनशील वस्तुसमूह (अवश्यं अवश्य स्यात) अवश्य स्वतंत्र है अर्थात अपने २ परिणमनमें कोई किसीकी आवश्यकता नहीं रखता है क्योंकि (अन्यथा) यदि ऐसा नही मानाजायगा तो (दुर्वारः) अनिवार्य तथा (निग्रहास्पद) निग्रहास्पद (सर्वसंकरः) सर्वसंकर दोष (च) और (सर्वशून्यदिदोष) सर्वशून्यता आदि दोषोंका प्रसंग आवेगा (ततःसिद्धं) इसलिये सिद्ध होता है कि (यथावस्तु) अपने २ वस्तुका

उल्लंघन नहीं करनेवाला (चिज्जडात्मक) चेतनात्मक तथा अचेतनात्मक (यत्किंचित्) जो कुछभी है (तत्सर्वे) वह सब अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ (स्वस्वरूपाद्यैः) अपने स्वरूप आदिसे (स्वतः) स्वयं (अनन्यगतःस्यात्) एक दूसरेस्वरूप नहीं होजाते है अर्थात् कोईभी पदार्थ अपने स्वभावका परित्याग नहीं करता है (अयं अर्थः) पूर्वोक्त कथनका सारांश यह है कि (कः अपि) कोईभी पदार्थ (कस्य अपि) किसीभी पदार्थका (हि) निश्चय करके (द्रव्यतः) द्रव्यके (क्षेत्रत) क्षेत्रमे (कालात्) कालसे और (भावात्) भावसे (देशमात्र) अंशमात्रभी (न अश्नुते) अपनेमें नहीं मिला सकता है क्योंकि (सीम्नः अनतिक्रमात्) पदार्थ अपने स्वभावकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता है तथा (व्याप्यव्यापक भावस्य अभावे अपि) जीव और पुद्गलमें व्याप्य व्यापक भावके अभाव होनेपर भी (तत्र) आत्माके (विभावस्य हेतुः) विभावपरिणमनमें कारण (तत् मूर्तिमत् द्रव्यं अपि) वह मूर्तीक द्रव्यही क्यों होता है (अपरं किं न) अन्य द्रव्यभी क्यों नहीं है? यदि कदाचित कहाजायकि आत्मामें (सन्निकर्षतः) मूर्तीक द्रव्यका सन्निकर्ष होनेसे अर्थात् आत्माके साथ मूर्तद्रव्यका एकक्षेत्रावगाहरूप होनेसे वह मूर्तद्रव्य जीवके (वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात्) वैभाविक भावमें कारण होजाता है तो (तत) खेद है कि (तत्रस्थ अपर अपि) वहींपर रहनेवाला विस्रसोपचयरूप अन्यमूर्तद्रव्य समुदायभी (हेतुः किं वा न स्यात्) विभाव परिणमनका कारण क्यों नहीं होता है (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो।

भावार्थः— जो किसी कारणसे उत्पन्न न होकर स्वतःसिद्ध होता है वह अनादि होता है। इस नियमके अनुसार जैसे यावत् पदार्थ अहेतुक स्वतःसिद्ध होनेसे अनादि माने जाते है। वैसेही परिणमन भी अहेतुक स्वतःसिद्ध होनेसे अनादि मानना चाहिए। अर्थात् द्रव्योंके समान परिणमनको भी अहेतुक स्वतःसिद्ध होनेसे अवश्य स्वतंत्र मानना चाहिए। यदि वह स्वतंत्र नहीं माना जावेगा तो निग्रहास्पद तथा अनिवार्य सर्व संकर दोष और सर्व शून्यादि दोषोंका प्रसंग आवेगा अर्थात् जीवकी वैभाविक शक्ति कर्मके निमित्तसे विभाव परिणमन करती है यह मानकर यदि वैभाविकी शक्तिके परिणमनमें पुद्गल निमित्त माना जायगा तो एक गुणकी पर्यायको अन्य द्रव्यके आश्रित होनेके कारण चाहे जिस द्रव्यके गुणको चाहे जिस द्रव्यके निमित्तसे परिणमनशील हो सकने की संभावनासे, सर्व संकर दोष आवेगा। तथा आश्रयके अभावमें आश्रयीके अभावसे अर्थात् परनिमित्तके अभावमें गुणका परिणमन न होनेसे परिणामके अभावमें गुणका अभाव हो जायगा। और विवक्षित गुणके अभावमें शेष गुणोंके अभावकी भी संभावनासे सर्व शून्यता दोष आयगा।

इसलिए जितनेभी चेतनात्मक तथा अचेतनात्मक पदार्थ है वे सब अपने २ वस्तुत्वको उलंघन न करके अपने २ स्वरूप आदिकके द्वारा अनन्यगति है ।

साराश यह है कि कोईभी पदार्थ, अपने २ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे अपनी २ सीमाका उलंघन न करनेके कारण किसीभी अन्य द्रव्यके अंशभागी उपभोग नहीं करता है । इसलिए, तथा जब जीवद्रव्यमें और पुद्गलमें किसी प्रकारका व्याप्यव्यापक भावभी नही माना गया है तो फिर यह क्यों कहाजाता है कि जीवके विभाव परिणमनके लिए (बद्ध) मूर्तीमान् पुद्गलद्रव्य हेतु पडता है इतर नहीं । यदि कदाचित् कहाजायकि (बद्ध) कर्मरूप पुद्गल द्रव्यका, और जीवका सन्निकर्ष होरहा है इसलिए (बद्ध) कर्मरूप मूर्तिमान् पुद्गलद्रव्य जीवके विभाव परिणमनमें हेतु पडता है तो फिर जीवके प्रदेशोंके साथ सन्निकर्षको प्राप्त विस्रसोपचयरूप कार्माण परमाणुओंको जीवके विभाव परिणमनमें कारण क्यों नहीं मानते हो ? समाधान ।

सत्यं बद्धमबद्धं स्याच्चिद्द्रव्यं चाथ मूर्तिमत् ।
स्वीयसम्बन्धिभिर्बद्धमबद्धं परबन्धिभिः ॥ १०० ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) सत्य है कि (चिद्द्रव्य) जीव द्रव्य (अथ) और (मूर्तिमत्) पुद्गलद्रव्य (बद्धं च अबद्धं स्यात्) बद्ध तथा अबद्ध दोनों प्रकारके होते है क्योंकि (स्वीयसम्बन्धिभिः बद्ध) जिनसे जिनका परस्परमें बन्ध्यबन्धक भाव है उनसे वे बद्ध है और (परबन्धिभिः अबद्धं) जिनसे जिनका बन्ध्यबन्धक भाव नहीं उनसे वे अबद्ध है ।

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि सम्पूर्ण जीव और सम्पूर्ण मूर्तिमान् पुद्गलद्रव्य परस्परमें बद्धही है ऐसा नहीं है किंतु कोई बद्ध तथा कोई अबद्ध है अर्थात जीव और पुद्गल द्रव्यमें सबही जीव सबही पुद्गलोंसे बंध है तथा सबही पुद्गल सबही जीवोंसे बंधे है ऐसा नहीं है । किंतु अपने २ योग व कषायोंसे उत्पन्न होनेवाली आकर्षक शक्तिसे, और अपने २ द्रव्य क्षेत्र कालादिककी योग्यताके द्वारा पुद्गलोंमें रहनेवाली आकृष्य शक्तिसे, जीव पुद्गल बंधते है । इसलिए सन्निकर्षके रहते हुएभी केवल कर्मपरिणत पुदलोंसे बंध होता है इतरसे नहीं ।

बद्ध और अबद्धमें पारमार्थिक विशेष है।

बद्धाबद्धत्वयोरस्ति विशेषः पारमार्थिकः ।
तयोर्जात्यन्तरत्वेपि हेतुमद्धेतुशक्तितः ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थः— (तयोः) उन जीव कर्मोंमें (जात्यन्तरत्वे अपि) जातिकी अपेक्षा अन्तर रहनेपरभी (हेतुमद्धेतुशक्तितः) कार्यकारणशक्तिसे होनेवाली (बद्धाबद्धत्वयोः) बद्धता तथा अबद्धतामें (पारमार्थिकः विशेषः अस्ति) वास्तविक भेद हैं ।

भावार्थः— जीव और कर्मोंको जातिकी अपेक्षासे भिन्न होनेपरभी कार्यकारणभावसे आपसमें बधनेवाले द्रव्योंके गुणोंमें अपने २ स्वरूपको छोडकरके तृतीय अवस्थाके होनेको बन्ध, तथा उस बन्धसे युक्तको बद्ध कहते हैं । और इससे विपरीतको अबद्ध कहते है । इसलिए बद्धता तथा अबद्धतामें यही पारमार्थिक भेद है । आगे–इसी अर्थका खुलासा करते है ।

बद्ध और अबद्धका लक्षण ।

बद्धःस्याद्बद्धयोर्भावः स्यादबद्धोप्यबद्धयोः ।
सानुकूलतया बन्धो न बन्धः प्रतिकूलयोः ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थः— (बद्धयोः भाव बद्ध स्यात्) एक दूसरेसे बंधेहुए दोनोंके भावको बद्ध कहते है (अपि) और (अबद्धयोः अबद्ध स्यात्) एकदूसरेसे नहीं बंधे हुए दोनोंके भावको–अवस्थाको अबद्ध कहते है क्योंकि (सानुकूलतया बन्धः) जीवमें बन्धक शक्ति तथा कर्ममें बंधनेकी शक्तिकी परस्पर अनुकूलताई बन्ध होता है और (प्रतिकूलयोः बन्धः न) उन दोनोंके परस्पर प्रतिकूल होनेपर बन्ध नहीं होता है ।

भावार्थः— आपसमें बंधे हुए दोनोंकी तृतीय अवस्थारूप भावको– पर्यायको बद्ध कहते है । तथा परस्परमें नहीं बंधहुए उन दोनोंके भाव अर्थात् अपनी २ पर्यायमें जो अवस्था रहती है उसको अबद्ध कहते है । क्योंकि जीवमें योग कषायके निमित्तसे बाधनेकी शक्तिके आविर्भाव होनेपरसे और पुद्गलोंमें अपने द्रव्यक्षेत्र कालभावानुसार जीवके साथ बंधने योग्य शक्तिके आविर्भाव होनेपर, बन्धहोता है। अन्यथा नहीं । इसलिए जीव तथा पुद्गलोंमें भी बद्ध व अबद्ध भाव पाया जाता हैं । अतः जीव और कर्मोंमे परस्पर बंध्य बंधक भावकी संभावना होनेसे जीवके विभाव परिणमनमें

यद्भकर्मही हेतु हो सकता है। किन्तु विस्रसोपचयरूप इतर पुद्गलोंके साथ सन्निकर्ष रहते हुएभी वन्ध्य बन्धकभावके न रहनेसे वे जीवके विभाव परिणमनमें हेतु नहीं हो सकते है। अब आगे–बद्धभावकेस्पष्टीकरणार्थ बन्धका विस्तारपूर्वक स्वरूप कहते है।

बन्धके भेद।

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो वाच्यं तल्लक्षणं त्रयम्।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयस्तूच्यतेऽधुना ॥ १०३ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थतः)अर्थकी अपेक्षासे (बन्धः त्रिविधः)बन्ध तीन प्रकारका होता है इसलिये (तत् लक्षणत्रयं) तीनोंके लक्षण (वाच्यं) कहना चाहिये उनमेंसे (तत् द्वय तु यावत् प्रत्येकं) आदिके दो दो बन्ध तो जीवबन्ध और कर्मबन्ध इसतरह प्रत्येक भंगकी अपेक्षासे है किन्तु उभयबन्ध दोनोंके संयोगसे होता है अतः (अधुना तृतीय. उच्यते) अब तीसरे उभयबन्धका स्वरूप कहा जाता है।

भावार्थः— जीवके रागादिकको भावबन्ध और कर्म व कर्मकी ज्ञानादिकके घातनेकी शक्तिको द्रव्यबन्ध कहते है। इन दोनोंमें उपचारसे बन्धका लक्षण समझना चाहिये अर्थात् रागादिक भावोंमें और कर्मरूप कार्माण वर्गणाओंमें उभयबन्धकी योग्यता है केवल इसीलिए उपचारसे रागादिभावों तथा कार्माण वर्गणाए इन दोनोंको बन्ध कहा है। वास्तवमें उभय बन्धमेंही बन्धका लक्षण घटता है। इसलिए आदिके उन दोनों बन्धोंका नाममात्र निर्देश करके ग्रन्थकार अब आगे उभय बन्धके निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा करते है।

उभय बन्धका स्वरूप।

जीवकर्मोभयोर्बन्धः स्यान्मिथः साभिलाषुकः।
जीवःकर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत् ॥ १०४ ॥

अन्वयार्थः—(यः) जो (जीवकर्मोभयोः) जीव और कर्मका (मिथः) परस्परमें (साभिलाषुकः) एकदूसरेकी अपेक्षासे बन्ध होता है ('सः' बन्धः स्यात्) वह उभय बन्ध कहलाता है (हि) क्योंकि (जीवः कर्मनिबद्धः) जीव कर्मसे बन्धाहुवा है तथा (तत् कर्म हि जीवबद्धं) वह कर्म जीवसे बंधाहुवा है।

भावार्थः— जीव अपने रागादिकके निमित्तसे जिससमय कार्माण वर्गणाओंका आकर्षण करता है उसी

समय वधने योग्य कार्मांग वर्गणाओंमें, जीवके योग कषायादिकके निमित्तसे ज्ञानावरणादिकी शक्ति प्रगट होती है। और उन्हींमें जीव वंधता है। तथा जबतक उन वंधहुए कर्मोंकी स्थिती पूरी नहीं हो तबतक वे भी जीवसे मुक्त नहीं हो सक्ते है। इसलिये कर्म जीवसे वंधा हुआ है और जीव कर्मसे वंधाहुआ है। इस (रागादि तथा ज्ञानावरणादि) रूपसे जीव और कर्म पुद्गलोंमें जो अपने २ पूर्वपर्यायवर्ती द्रव्यसम्बन्धी गुणोंसे च्युत होकर (अवस्थान्तर) तृतीय अवस्था प्राप्त होती है उसको उभयवन्ध कहते है।

अब आगे—यद्यपि बन्ध जीव और कर्म दोनोंमे है। तथापि जीवके स्वरूपका वर्णन करना है। इसलिये कर्मके बन्धका विचार न करके ग्रन्थकार जीवके वंधके मिमित्त आदिके विषयमें विचार करते है।

बन्धका निमित्त।

तद्‌गुणाकारसंक्रांति र्भावो वैभाविकश्चितः।
तन्निमित्तं च तत्कर्म तथा सामर्थ्यकारणम्॥ १०५॥

अन्वयार्थ – (चितः) आत्मके गुणोंका (तद्‌गुणाकारसंक्रान्तिः) कर्मरूप पुद्गलके गुणोंके आकाररूप कथंचित् सक्रमण होना (वैभाविकः भावः) वैभाविक भाव कहलाता है (च) और (तन्निमित्तं) उसका निमित्त (तथासामर्थ्यकारणं) जीवको वैभाविक रूप परिणमन करानेकी सामर्थ्य रखनवाला (तत्कर्म) पूर्वबद्ध वह द्रव्यकर्म होता है।

भावार्थः— आत्माके गुणोंका पुद्गल (कर्म) के गुणोंके आकार रूपमें जो संक्रमण हो रहा है वही आत्माका वैभाविक भाव है। और उस वैभाविक भावका निमित्त, जीवको ज्ञानादिक गुणोंके आवरणादि करनेकी अर्थात् उनको घात करनेकी शक्ति रखनेवाले ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म है।

सारांश।

अर्थोयं यस्य कार्यं तत् कर्मणस्तस्य कारणम्।
एको भावश्च कर्मैकं बन्धोयं द्वन्द्वजः स्मृतः॥ १०६॥

अन्वयार्थः— (अयं अर्थः) सारांश यह है कि (भावः एकः) भाव एक है (च) और (कर्म

एकं) कर्म एक है तथा (अयं बन्ध द्वन्द्वजः स्मृतः) यह बन्ध उन दोनोंसे उत्पन्न तृतीय दशारूप कहागया है इसलिए (यस्य कर्मणः) जिस द्रव्यकर्मरूप क्रोधादिकका (तत्कार्यं) वह कार्य है (तस्य कर्मण. कारणं) उस कर्मके आस्रवके लिये वह कारण होता है ।

भावार्थः— द्रव्य क्रोधादिकसे भाव क्रोधादिक और भाव क्रोधादिकसे द्रव्य क्रोधादिकका आश्रव होनेसे द्रव्यकर्मसे भावकर्म तथा भावकर्मसे द्रव्यकर्मबंध होता है । तथा इन दोनोंसे उत्पन्न होनेवाले तृतीय अवस्थारूप बन्धको उभयबंध कहते है ।

दृष्टान्त ।

तथाऽदर्शे यथा चक्षुः स्वरूपं संदधत्पुनः ।
स्वाकाराकारसंक्रातं कार्यं हेतु स्वयं च तत ॥ १०७ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसेकि (आदर्शे) दर्पणमें (स्वाकाराकारसंक्रान्तं) अपने आकारसे प्रतिबिंबित (स्वरूपं सन्दधत चक्षु) अपने स्वरूपका प्रतिबिंब स्थापित करनेवाला वह चक्षु (स्वयं कार्यं) स्वय कार्य है (पुनः) और (हेतु) स्वयं कारणभी है ।

भावार्थः— जैसे मुंह देखते समय चक्षुका प्रतिबिंब दर्पणमें पडता है । इसलिए प्रतिबिम्बरूप कार्यके लिये चक्षु कारण है । और उस प्रतिबिम्ब द्वारा चक्षुके देखे जानेके लिए वह चक्षु स्वय कार्यरूपभी है । वैसेही जीवके नवीन द्रव्यकर्मके लिए रागादिक कारण है और द्रव्यकर्म कार्य है । तथा उस द्रव्यकर्मके निमित्तसे गुणोंमें संक्रांति होकर रागादिककी उत्पत्ति होती है । इसलिये वह द्रव्यकर्म कारण है और उससे उत्पन्न होनेवाले रागादिक भाव उसके कार्य है । इसप्रकार आदर्शमें सक्रांत चक्षुके समान द्रव्य और भाव दोनोंही कर्मोंमें संतानक्रमसे कार्यकारणभाव घट जाता है । अत जो कारण है । वह कार्य कैसे होगा इसकाभी निराकरण हो जाता है ।

दार्ष्टान्त ।

अपि चाचेतनं मूर्तं पौद्गलं कर्म तद्यथा ।
* .... ॥ १०८ ॥

---

* इस पद्यका उत्तरार्द्ध उपलब्ध नहीं है ।

अन्वयार्थः— (अपि च) तथा (तत्कर्म) वह कर्म (अचेतनं) अचेतन (मूर्तं) मूर्त और (पौद्गलं) पौद्गलिक है (यथा) जैसेकि।

भावार्थः— वह कर्म अचेतन, मूर्त, और पुद्गलात्मक है।

जीवभावविकारस्य हेतुः स्याद्द्रव्यकर्म तत्।
तद्धेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः ॥ १०९ ॥

अन्वयार्थः— (तत् द्रव्यकर्म) वह द्रव्यकर्म (जीवभावविकारस्य हेतुः स्यात) जीवके ज्ञानादिक भावोंके विकारका कारण होता है (च) और (तद्विकारः) जीवके भावोंका विकार (तद्धेतुः) द्रव्यकर्मके आस्रवका कारण होता है (यथा) जैसेकि (प्रत्युपकारकः) परस्पर उपकार करनेवाले एकदूसरेको कार्यकारणरूप होते है।

भावार्थः— जीवका रागद्वेषरूप परिणमन ही उसका वैभाविक भाव है। और उसके निमित्तसे पुद्गलभी ज्ञानावरणादि कर्मरूप होजाता है। क्योंकि पुद्गलोंका कार्माणवर्गणारूपसे परिणमन तो अपने द्रव्यक्षेत्रादिकके निमित्तसे होता है। परन्तु उनमें ज्ञानावरणादिरूप कर्मकी अवस्था जीवके वैभाविक भावके कारण होती है।

चिद्विकाराकृतिस्तस्य भावो वैभाविकः स्मृतः।
तन्निमित्तात्पृथग्भूतोप्यर्थः स्यात्तन्निमित्तकः ॥ ११० ॥

अन्वयार्थः— (तस्य चिद्विकाराकृतिः) उस जीवकी भावक्रोधादिकरूप-रागद्वेषरूप परिणतिही (वैभाविकः भावः स्मृत) उसका वैभाविक भाव मानागया है और (तन्निमित्तात्) उस जीवके वैभाविक भावके निमित्तसे (पृथग्भूत अपि अर्थः) पृथक् रहनेवाला कार्माण वर्गणारूप पुद्गल (तन्निमित्तकः स्यात् वह है निमित्त जिसमें ऐसा अर्थात् जीवके वैभाविक भावके निमित्तसे ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत होजाता है।

भावार्थः— जीवके भावोंके विकारमें कारण पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म होता है। और नवीन द्रव्यकर्ममे जीवके भावोंका वह विकार कारण होता है। इसप्रकार परस्पर उपकार-प्रत्युपकारसे करनेवाले वृक्ष बीजके समान संतानक्रमसे जीव तथा कर्मोंमे कार्यकारणभाव सिद्ध होता है।

तद्धि नोभयबन्धाद्वै बहिर्बद्धाश्चिरादपि ।
न हेतवो भवन्त्येकक्षेत्रस्थाऽप्यबद्धवत् ॥ १११ ॥

अन्वयार्थः— (हि) निश्चयसे (तत्) यह द्रव्यकर्म (उभयबन्धात् बहिः न) उभय बन्धके विना जीवके विकारमें कारण नहीं होता है क्योंकि (वै) निश्चयसे (चिरात् अपि बद्धाः) चिरकालसेही कर्मपरमाणुओंके साथ सम्बन्धको प्राप्त तथा (एकक्षेत्रस्थाः अपि) एकक्षेत्रावगाही होकर रहनेवालीभी विस्रसोपचयरूप कार्माण वर्गणायें (अबद्धवत्) अबद्ध कार्माण वर्गणाओंकी तरह (हेतवः न भवन्ति) जीवके विकारमें कारण नहीं होती है ।

भावार्थ— जैसे केवल द्रव्यबन्धसे आनेवाली विस्रसोपचयरूप कार्माणवर्गणायें कर्मके साथ आत्मामें एक क्षेत्रावगाहरूप होकर रहती है । परन्तु जबतक भावबन्धके निमित्तसे उनमें बन्धकी योग्यता नहीं होती है तबतक उन का आत्माके साथ बन्ध नहीं होता है । वैसेहीं उभयबन्धके विना किसीभी कार्माण वर्गणाका बन्ध नहीं होता है ।

स्वभावसेही जिनका उपचय-संचय होता है उन्हें विस्रसोपचय कहते है यह विस्रसोपचय शब्दका निरुक्त्यर्थ है । जो कार्माण वर्गणारूप पुद्गल जीवके वैभाविक भावोंके निमित्तसे बंधनेवाले कर्मपरमाणुओंके साथ खिंचकर आत्मासे संबंधको प्राप्त तो होते है । किंतु जिनमें योगादिकके निमित्तसे ज्ञानावरणादिरूप योग्यताकी व्यक्ति नहीं हुई है अर्थात् आत्माके योग कषायोंसे जिनका सम्बन्ध नहीं हैं केवल बंधे हुए कर्मोंके साथ जिनका स्निग्ध रूक्षत्वादिकके द्वारा संबंध है उन्हें विस्रसोपचय कहते है । और वे, प्रत्येक कर्मपरमाणुके साथ अनन्तानन्त रहा करते है । तथा आत्माके साथ आसन्न वृत्ति होनेसे बंधते समय बहुधा उनमेंही बन्धकी योग्यता उत्पन्न होती है ।

बन्धकी अविनाभाविनी अशुद्धताका लक्षण

तद्बद्धत्वाविनाभूतं स्यादशुद्धत्वमक्रमात् ।
तल्लक्षणं यथा द्वैतं स्याद्द्वैतात्स्वतोऽन्यथा ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थः— (अक्रमात्) जिससमय बन्ध होता है उसीसमय (तद्बद्धत्वाविनाभूत) बद्धतासे अविनाभाव रखनेवाली (अशुद्धत्वं स्यात्) अशुद्धता उत्पन्न होती है (यथा) जैसे (स्वतः अद्वैतात्) स्वयं

अद्वैत अवस्थासे (अन्यतः) परनिमित्तके कारण (द्वैतं) द्वैतरूप होजानाही (तल्लक्षणं स्यात्) उस अशुद्धताका स्वरूप है।

भावार्थः— जीव और पुद्गलका योग होनेपर तृतीय अवस्थारूप होनेको बन्ध कहते है। बन्ध होतेही अशुद्धता होती है। शुद्धता और अशुद्धतामें कालभेद नहीं है। इसपद्यके पूर्वार्धमें, बन्धके साथ अशुद्धताका अविनाभावी सम्बन्ध तथा उत्तरार्धमें अशुद्धताका लक्षण कहागया है अर्थात् अद्वैत अवस्थासे च्युत होकर जीवकी द्वैत अवस्थाको अशुद्धता कहते है। क्योंकि जीवकी शुद्ध अवस्था अद्वैतरूप है। और अशुद्ध अवस्था द्वैतरूप मानी है।

द्वैत उपचरित है।

तत्राऽद्वैतेपि यद्द्वैतं तद्द्विधाप्यौपचारिकम्।
तत्राद्यं स्वांशसंकल्पश्चेत्सोपाधि द्वितीयकम्॥ ११३॥

अन्वयार्थ — (तत्र अद्वैते अपि) उस अद्वैतमेंभी (यत्) जो (द्विधा अपि द्वैतं) दोप्रकारका भी द्वैत कहाजाता है (तत् औपचारिकं) वह औपचारिक है अर्थात् व्यवहारनयसे है उनमेंसे (आद्यं स्वांशसंकल्पः चेत्) यदि अपने २ अंशोंकी कल्पना करना प्रथम द्वैत हैं तो (सोपाधि द्वितीयकं) उपाधिसहित होना द्वितीय द्वैत है।

भावार्थः— दोनोंकि एकत्व बुद्धि जनक परिणमन होनेपर दो तरहकी द्वैत कल्पना की जाती है। एक तो अपने २ अंशरूप कल्पना और दूसरी सोपाधिरूप कल्पना। अद्वैत–अभेद जीव तत्वमें जो द्वैत (भेद) व्यवहार होता हैं वह दोप्रकारका होता है। १ एक अखण्ड द्रव्यमें खण्ड कल्पनारूप द्वैत (भेद) कल्पना जैसे जीव असंख्यात प्रदेशी है इत्यादि। और दूसरी सोपाधि कल्पना जैसे जीवको रागी द्वेषी मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी आदि कहना। ये दोनोंही कल्पनायें परनिमित्तसे होती है। क्योंकि वास्तवमें निश्चयनयसे शुद्ध जीवद्रव्य अभिन्न हैं किंतु उसके महत्व व अमहत्व के समझानेके लिए जो प्रदेशबराबर क्षेत्रकी अपेक्षासे उसमें (जीवमें) असंख्यात प्रदेशकी कल्पनाकी जाती है वह स्वांशसंकल्पात्मक द्वैत (भेद) व्यवहार है। तथा योग कषायके निमित्तसे संचित द्रव्य क्रोधादिकके कारण जो जीवमें विकृत अवस्था होती है उस विकृत अवस्थाकी अपेक्षासे जीवको रागी द्वेषी कहना सोपाधि अशकल्पना है।

शंका ।

ननु चैकं सत्सामान्यात् द्वैतं स्यात्सद्विशेषतः ।
तद्विशेषेपि सोपाधि निरूपाधि कुतोर्थतः ॥ ११४ ॥

अपिचाभिज्ञानमत्रास्ति ज्ञानं यद्रसरूपयोः ।
न रूपं न रसो ज्ञानं ज्ञानमात्रमथार्थतः ॥ ११५ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शङ्काकारका कहना है कि (सामान्यात्) सामान्यकी अपेक्षासे (सत् एकं) सत् एक है (च) और (विशेषत) विशेषकी अपेक्षासे (सत् द्वैतं स्यात्) सत् द्वैतरूप है इसलिए (सद्विशेषेऽपि) सत्विशेषमेंभी अर्थात् सामान्यरूपसे सतको एक तथा विशेषकी अपेक्षासे सतको अनेक माननेपरभी जीवद्रव्यमें (सोपाधि) सोपाधि और (निरुपाधि) निरुपाधि कल्पना (कुतः अर्थतः) किस प्रयोजनसे की जाती है! (अत्र च) इस विषयमें (अभिज्ञान अपि अस्ति) दृष्टान्तभी है (' यथा ') जैसेकि (यत् रसरूपयोः) जो रस और रूपका (ज्ञानं) ज्ञान होता है (' तत्, ज्ञानं) वह ज्ञान (न रूपं) न रूप स्वरूपही होजाता है (अथ) और (न रसः) न रसस्वरूपभी होजाता है क्योंकि वह (अर्थतः) वास्तवमें (ज्ञानमात्रं) ज्ञान स्वरूपही होता है ।

भावार्थः— सामान्यकी अपेक्षासे सतको एक और विशेषकी अपेक्षासे सत्को अनेक मानते हुएभी जीव द्रव्यमें सोपाधि तथा निरुपाधि कल्पनाकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि जैसे परपदार्थको विषय करनेसे ज्ञान वास्तवमें पररूप नहीं होजाता है वैसेही परके साथ बन्ध होनेसे आत्माभी पररूप नहीं होजाता है । इसलिए परनिमित्तसे होने-वाली जीवमें सोपाधि कल्पना व उसके अभावमें होनेवाली निरुपाधि कल्पनाके करनेका क्या प्रयोजन है ?

समाधान ।

नैवं यतो विशेषोस्ति सद्विशेषेपि वस्तुतः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वाभ्यां वै सिद्धसाधनात् ॥ ११६ ॥

---

१ मूलपुस्तकमें ' तद्विशेषेऽपि ' ऐसा पाठ है ।

अन्वयार्थ.— (**एवं न**) ऐसा कहना ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**वस्तुतः**) वास्तवमें (**सद्विशेषे अपि**) जीव सत, अजीव सत, आस्रव सत्, इत्यादिरूपसे सत्में द्वैत रहनेपरभी (**वै**) निश्चयसे (**द्वाभ्यां अन्वयव्यतिरेकाभ्यां**) दोनों प्रकारके अन्वय और व्यतिरेक दृष्टांतसे (**सिद्धसाधनात्**) साधनके सिद्ध होनेके कारण (**विशेषः अस्ति**) विशेषता पाई जाती है।

भावार्थः— शंकाकारने जो यह पहले कहाथा कि जब सत्रूपसे सब द्रव्योंमे अद्वैत है। और जीवाजीवादिरूप विशेषोंके कारण द्वैत है तो फिर जीवमें सोपाधि तथा निरुपाधि कल्पना क्यों की जाती है? उसका उत्तर यह है कि सामान्यरूपसे अद्वैत और विशेषरूपसे द्वैतके रहनेपरभी जीवादि विशेष द्रव्योंमेंभी औरभी अनेक विशेषतायें पाई जाती हैं जोकि उनमें अपने २ अन्वय व्यतिरेकसे सिद्ध होती है। इसलिए सोपाधिरूप द्वैत मानना अयुक्त नहीं है।

आगे इसी अर्थका खुलासा करते हैं। **अन्वय दृष्टांत।**

तत्रान्वयो यथा ज्ञानमज्ञानं परहेतुतः।
अर्थाच्छीतमशीतं स्याद्वान्हियोगाद्धि वारिवत् ॥ ११७ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र**) उनमें (**अन्वयः**) अन्वय दृष्टांत इसप्रकार है (**यथा**) जैसेकि (**अर्थात्**)अर्थ दृष्टिसे (**ज्ञानं**) ज्ञान (**परहेतुत**) परके निमित्तसे (**अज्ञानं**) अज्ञान होजाता है (**हि**) क्योंकि (**शीतं**) शीतपदार्थ (**वन्हियोगात्**) अग्निके संयोगसे (**वारिवत्**) जलके समान (**अशीत स्यात्**) उष्ण होजाता है।

भावार्थ — उक्त कथनका समर्थन अन्वयसाधक दृष्टातसे इसप्रकार होता है कि जैसे ज्ञान परनिमित्तसे अज्ञान कहलाता है। जल शीत होकरकेभी वन्हिके योगसे उष्ण कहलाता है वैसेही कर्मके सम्बन्धसे आत्मा अज्ञानी, रागी, द्वेषीरूप सोपाधि कहलाता है। **उक्त दृष्टांत असिद्ध नहीं है।**

नासिद्धोसौ हि दृष्टान्तो ज्ञानस्याज्ञानतः सतः।
अस्त्यत्रस्थान्तरं तस्य यथाजातप्रमात्त्वतः ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थः— (**असौ**) यह (**दृष्टांत**) दृष्टांत (**असिद्धः न**) असिद्ध नहीं है (**हि**) क्योंकि (**सतः ज्ञानस्य**) सम्यग्ज्ञानको (**अज्ञानतः**) अज्ञानरूप होजानेसे (**तस्य**) उसकी (**यथाजातप्रमात्त्वतः**)

वास्तविक ज्ञानत्वसे (अवस्थांतरं अस्ति) भिन्नअवस्था होजाती है ।

भावार्थः— यदि परनिमित्तसे ज्ञानकी अवस्थान्तररूप दशा नहीं मानी जाती तो केवलीकी तरह सबही जीवोंमें परिपूर्ण शुद्धज्ञान पाया जाना चाहिए था किंतु पाया नहीं जाता है । इसलिए परनिमित्तसे ज्ञान अज्ञान हो जाता है यह दृष्टांत असिद्ध नहीं है ।

व्यतिरेक दृष्टांत ।

व्यतिरेकोस्त्यात्मविज्ञानं यथास्वं परहेतुतः ।
मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्याद्यन्नैवं शुद्धमेव तत् ॥ ११९ ॥

अन्वयार्थ— (व्यतिरेकः अस्ति) व्यतिरेक दृष्टांतभी इसप्रकार है (यथा) जैसेकि (स्वं आत्मविज्ञानं) अपनी आत्माका ज्ञान (परहेतुत) केवल मोहादि कर्मोंके निमित्तसेही (मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्यात्) मिथ्यात्वरूप दशासे युक्त रहता है क्योंकि (यत्) जो ज्ञान (एवं न) कर्मोंसे आवृत नहीं होता है (तत्) वह ज्ञान (शुद्धं एव) अशुद्धभी नहीं होता है अर्थात् शुद्धही रहता है ।

भावार्थः— ज्ञान परनिमित्तसेही अज्ञानरूप हो रहा है । परनिमित्तके न रहनेसे ज्ञान मिथ्यात्वरूप अवस्थासे युक्त नहीं रहता है । अतः सोपाधि होनेके कारण ज्ञान अज्ञान कहलाता है । और उसके अभावमें अज्ञानरूप नहीं कहलाता है । इसलिये यह सद्विशेषमेंभी विशेपताका साधक व्यतिरेक दृष्टान्त पाया जाता है ।

इसप्रकार सामान्यरूपसे अद्वैत तथा विशेषरूपसे द्वैतके रहते हुएभी अन्वय व्यतिरेक साधक दृष्टान्तपूर्वक सद्विशेषमें–जीवमें विशेषता सिद्ध होती है । इसलिए जीवमें सोपाधि और निरुपाधि कल्पना युक्तिविरुद्ध नहीं है ।

खुलासा ।

तद्यथा क्षायिकं ज्ञानं सार्थं सर्वार्थगोचरम् ।
शुद्धं स्वजातिमात्रत्वात् अबद्धं निरुपाधितः ॥ १२० ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) उक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (सार्थं सर्वार्थगोचर) युगपत् सर्व पदार्थोंका विषय करनेवाला (क्षायिकं ज्ञान) क्षायिकज्ञान (स्वजातिमात्रत्वात्) केवल स्वाभाविक ज्ञान होनेसे (शुद्धं) शुद्ध है और (निरुपाधितः अबद्धं) रागादिरूप उपाधिसे रहित होनेके कारण अबद्ध है ।

भावार्थः— उक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि ज्ञानावरणादि परनिमित्तके अभावसेही ज्ञान क्षायिक कहलाकर सब पदार्थोंको युगपत जानता है। तथा वह केवल ज्ञानत्वरूप अपनी जातिसे युक्त होनेके कारण शुद्ध और किसी प्रकारकी रागद्वेषादिरूप उपाधिके न रहनेके कारण अबद्ध कहलाता है।

क्षायोपशमिकं ज्ञानमक्षयात्कर्मणां सताम् ।
आत्मजातेश्च्युतेरेतद्बद्धं चाशुद्धमक्रमात् ॥ १२१ ॥

अन्वयार्थः— (क्षायोपशमिकं ज्ञानं) मतिज्ञान आदि चार क्षायोपशमिक ज्ञान (सतां कर्मणां अक्षयात्) सत्तामें रहनेवाले सर्वघाति स्पर्धकोंके क्षय न होनेसे अर्थात परनिमित्तके सद्भावसे (आत्मजातेः च्युतेः) स्वाभाविक ज्ञानरूप आत्मजातिसे च्युत होजाता है इसलिए (एतत्) ये चारोंही क्षायोपशमिक ज्ञान (अक्रमात्) युगपत् (बद्धं) बद्ध (च) और (अशुद्धं) अशुद्ध कहे जाते हैं।

भावार्थः— तथा मतिश्रुत अवधि और मनःपर्यय ये चारोंही ज्ञान ज्ञानावरणादिरूप परनिमित्तके क्षय न होनेके कारण, क्षायोपशमिक तथा अपनी शुद्ध ज्ञानत्व जातिसे च्युत होनेके कारण युगपत् बद्ध और अशुद्ध कहलाते है। क्योंकि बद्धता तथा अशुद्धतामें अविनाभाव है।

सोपाधि और निरुपाधि रूपकल्पनाके नहीं माननेमें दोष।

नस्याच्छुद्धं तथाऽशुद्धं ज्ञानं चेदिति सर्वतः ।
न बन्धो न फलं तस्य बन्धहेतोरसंभवात् ॥ १२२ ॥

अन्वयार्थः— (ज्ञानं) ज्ञान (सर्वतः) सर्वथा (शुद्धं न स्यात्) शुद्ध नहीं होता है (च) और (अशुद्धं न) अशुद्धभी नहीं होता है (इति चेत्) यदि ऐसा कहोतो (तस्य) उस ज्ञानके (बन्ध हेतोः) बन्धके कारणका (असंभवात्) अभाव होनेसे (बन्धः न) बन्ध नहीं होगा तथा (फलं न) उस बन्धका फलभी सिद्ध नहीं होता है।

भावार्थः— यदि सद्विशेषमें उपर्युक्त सोपाधि और निरुपाधि कल्पनाको न मानकरके कोई यह कहे कि ज्ञान न शुद्ध है तथा न अशुद्ध है। किन्तु वह तो केवल अद्वैत रूप है तो उसका उत्तर यह है कि ज्ञानमें सोपाधि व

निरुपाधि कल्पनाके न माननेसे बन्धके हेतुओंके अभावसे बंधके अभावका और बंधके अभावमें बंधके फलके भी अभावका प्रसंग आवेगा।

अथचेद्बन्धस्तदा बन्धो बन्धो नाऽबन्ध एव यः ।
न शेषश्चिद्विशेषाणां निर्विशेषादबन्धभाक् ॥ १२३ ॥

अन्वयार्थः— (अथ) अथवा (बन्ध चेत्) यदि बन्ध होगा(तदा) तो (यः बन्ध) जो बन्ध है ('सः' बन्धः एव) वह बन्धही रहेगा (अबन्धः न) अबन्ध नहीं होगा क्योंकि (चिद्विशेषाणां निर्विशेषात्) चेतनाकी पर्यायोंमें किसी प्रकारका अन्तर न रहनेसे (अबन्धभाक् शेषः न) अमुक अवस्थामें बन्ध नहीं होता है ऐसी कोई विशेषता न रहेगी अर्थात् सब अवस्थाओंमें बन्ध होताही रहेगा।

भावार्थः— यदि सोपाधि तथा निरुपाधि कल्पनाके विना बन्ध माना जायगा तो जो बन्ध होगा वह सदैव बन्धही रहेगा। कभीभी वह बन्ध अबन्ध अवस्थाको प्राप्त नहीं होसकेगा। कारणकि जीवमें सोपाधि और निरुपाधिरूप विशेषताके न माननेसे उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओंमें किसी प्रकारकी विशेषता न रहनेके कारण सर्वथा माननेपर अबन्ध धारक विशेषही कुछ शेष नहीं पाया जासकता है।

मामूद्वा सर्वतो बन्धः स्यादबन्धप्रसिद्धितः ।
नाबन्धः सर्वतः श्रेयान् बन्धकार्योपलब्धितः ॥ १२४ ॥

अन्वयार्थः— (अबन्धप्रसिद्धितः) सिद्ध अवस्थामें बन्ध नहीं होता है यह प्रसिद्ध है इसलिए (सर्वतः) सर्वथा सब जीवोंमें (बन्धः स्यात्) बन्धही होता है यह (माभूत्) सिद्ध नहीं होसकता है (वा) अथवा (बन्धकार्योपलब्धितः) बन्धरूप कार्यके हेतुका सद्भाव होनेसे (सर्वतः) सर्वथा (अबन्धः) बन्धका अभाव कहनाभी (श्रेयान् न) ठीक नहीं कहाजासकता है।

भावार्थः— इसलिए सिद्धोंमें अबन्धकी प्रसिद्धिसे सर्वथा बंध माननाभी ठीक नहीं है। और संसारी आत्माओंमें बंधक कार्य अज्ञानादिक पाये जाते हैं। इसलिए सर्वथा अबन्ध माननाभी ठीक नहीं है। अर्थात् दोनोंका दृष्टान्तोंके पाए जानेसे सर्वथा बंध व अबन्ध मानना ठीक नहीं है।

अबद्धका दृष्टान्त ।

अस्तिचित्सार्थसर्वार्थसाक्षात्कार्यविकारभुक् ।
अक्षयि क्षायिकं साक्षादबद्धं बन्धव्यत्ययात् ॥ १२५ ॥

अन्वयार्थः— (बन्धव्यत्ययात्) बन्धके अभाव होनेसे (चित्सार्थसर्वार्थसाक्षात्कारि) आत्मा-और सर्व पदार्थोंको युगपत् जाननेवाला (अविकारभुक्) निर्विकार (अक्षयि) अनन्त (क्षायिकं) क्षायिक और (साक्षात्) प्रत्यक्ष करनेवाला जो ज्ञान है वह ज्ञान (अबद्धं अस्ति) अबद्ध कहलाता है ।

भावार्थः—आत्माके ज्ञानावरणादि कर्मोंके अभाव होनेपर जो युगपत् चराचर पदार्थोंका प्रत्यक्ष करनेवाला निर्विकार अनन्त और क्षायिक, प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह ज्ञान अबद्ध कहलाता है ।

बद्धका दृष्टान्त ।

बद्धः सर्वोऽपि संसारकार्यत्वे वैपरीत्यतः ।
सिद्धं सोपाधि तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः ॥ १२६ ॥

अन्वयार्थः— (संसारकार्यत्वे 'सति' वैपरीत्यतः) संसाररूप कार्यके होते हुए विपरीतता पाई जाती है इसलिए (सर्व. अपि बद्ध) सबही संसारी जीव कर्मोंसे बंधे हुए है अतः उसका ज्ञान (सोपाधि सिद्धं) कर्मरूप उपाधिसहित सिद्ध होता है क्योंकि (अन्यथा) यदि उनका ज्ञान उपाधि सहित न होता तो (तद्धेतो) संसाररूप कार्यके होते हुए बन्धके कारणसे उत्पन्न होनेवाली जो जीवके स्वभावकी विपरीतता पाई जाती है वह (अनुपपत्तितः) नही पाईजाना चाहिए ।

भावार्थः— बन्धके कार्यरूप संसारके होते हुए जो जीवके स्वभावमें विपरीतता पाई जाती है उससे, सम्पूर्ण संसारी जीव कर्मोंके द्वारा बंधे हुए हैं यह सिद्ध होता है । इसलिए बद्ध ससारी जीवोंके ज्ञानको सोपाधि किंवा बद्ध कहते है । यदि संसारी जीवोंका ज्ञान बद्ध न होता तो ससाररूप कार्यके होते हुए उनके ज्ञानमें विपरीतताभी नहीं पाई जाती । किंतु संसारी अवस्थामें उनका ज्ञान स्वभावसे च्युत होता हुवा विपरीत पाया जाता है । अतः संसारी आत्माओंका ज्ञान सोपाधि अर्थात् बद्ध सिद्ध होता है ।

उपसंहार ।

सिद्धमेतावता ज्ञानं सोपाधि निरुपाधि च ।
तत्राशुद्धं हि सोपाधि शुद्धं तन्निरुपाधि यत् ॥ १२७ ॥

अन्वयार्थः— (एतावता) इसप्रकारसे (ज्ञान) ज्ञान (सोपाधि) सोपाधि (च) और (निरुपाधि) निरुपाधि सिद्ध होता है (तत्र) उनमेंसे (हि) निश्चयकरके (यत्) जो ज्ञान (अशुद्धं) अशुद्ध होता है वह (सोपाधि) सोपाधि कहलाता है तथा जो ज्ञान (शुद्ध) शुद्ध होता है (तत्) वह (निरुपाधि) निरुपाधि कहलाता है ।

भावार्थः— इसप्रकारसे जीवमें सोपाधि और निरुपाधिरूप कल्पनाके माननेसे बद्ध तथा अशुद्ध ज्ञान सोपाधि, और अबद्ध तथा शुद्ध ज्ञान निरुपाधि सिद्ध होता है ।

इसप्रकार ११५ वें पद्यमें प्रतिपादित जीवकी सोपाधि और निरुपाधिरूप विशेषताका निरूपण करके अब आगे बद्धता तथा अशुद्धताके विषयमें शंकासमाधानपूर्वक विचार करते हैं ।

शंका ।

ननु कस्को विशेषोस्ति बद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
अस्त्यनर्थान्तरं यस्मादर्थदैक्योपलब्धितः ॥ १२८ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (द्वयो बद्धाशुद्धत्वयोः) उन दोनों बद्धता और अशुद्धतामें (कः क.) क्या क्या (विशेषः अस्ति) अन्तर है (यस्मात) क्योंकि (अर्थात्) वास्तवमें (ऐक्योपलब्धितः) उन दोनोंमें एकता पाये जानेके कारण (अनर्थांतर अस्ति) कुछ अर्थांतर नहीं पाया जाता है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि बद्धता और अशुद्धताका एकही अर्थ है । इसलिए इन दोनोंमें कुछ अन्तर नहीं है ।

समाधान ।

नैवं यतो विशेषोस्ति हेतुमद्धेतुभावतः ।
तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ॥ १२९ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) उक्त कथन ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (हेतुमद्धेतुभावतः) कार्यका
रणपनेसे-कार्यकारणभावसे (वा) अथवा (कार्यकारणभेदात्) कार्यकारण भेदसे (द्वयोः विशेषः अस्ति)
दोनोंमें भेद है (यथा तल्लक्षण) जैसेकि उनका लक्षण इसप्रकार है ।

भावार्थ— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि कार्यकारणभावसे तथा कार्यकारण भेदसे
बद्धता और अशुद्धतामें अन्तर है जिसको कि आगे प्रतिपादन करते है ।

बन्ध और अशुद्धताका लक्षण ।

बन्धः परगुणाकारा क्रिया स्यात्पारिणामिकी ।
तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ॥ १३०

अन्वयार्थः— (परगुणाकारा) परगुणके आकाररूप (पारिणामिकी क्रिया) पारिणामिकी क्रिया
(बन्ध स्यात्) बन्ध कहलाती है और (तस्यां सत्यां) उसी क्रियाके होनेपरही जो (तद्द्वयो स्वगुणच्यु-
तिः)उन दोनों जीव तथा कर्मोंका अपने २ गुणोंसे च्युत होना है वह (अशुद्धत्वं) अशुद्धता कहलाती है ।

भावार्थः— जीव और कर्मोंकी परस्परमें परगुणके आकार जो पारिणामिकी क्रिया होती है उसको बंध
कहते है । तथा उस पारिणामिकी क्रियाके होनेपर जो उन दोनोंका अपने २ गुणोंसे च्युत होना है उसको अशुद्धता
कहते है । अब आगे बंध और अशुद्धतामें कारण कार्यभाव बताते है ।

बन्धहेतुरशुद्धत्वं हेतुमच्चेति निर्णयः ।
यस्माद्बन्धं विना न स्यादशुद्धत्वं कदाचन ॥ १३१ ॥

अन्वयार्थः— (बन्धहेतुः) बन्ध कारण है (च) और (अशुद्धत्वं हेतुमत्) अशुद्धता बन्धका
कार्य है (इति निर्णयः) यह निश्चित है (यस्मात्) क्योंकि (बन्धंविना) बन्धके विना (कदाचन) कभीभी
(अशुद्धत्व न स्यात्) अशुद्धता नहीं होती है ।

भावार्थः— बंध कारण, और अशुद्धता उसका कार्य है। क्योंकि पूर्व बंधके विना अशुद्धता नहीं होती है ।
अब आगे बंध तथा अशुद्धतामें कार्यकारणभाव बताते है ।

कार्यरूपः स बन्धोस्ति कर्मणां पाकसंभवात् ।
हेतुरूपमशुद्धत्वं तन्नवाकर्षणत्वतः ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थ — (स बन्धः) वह बन्ध (कार्यरूप अस्ति) कार्यरूप है क्योंकि (कर्मणां पाक सम्भवात्) कर्मोंके पाकसे–उदयसे होता है और (अशुद्धत्वं) अशुद्धता (हेतुरूपं) कारणरूप है क्योंकि (तन्नवाकर्षणत्वत) उसके द्वाराही नवीन कर्मोंका आकर्षण होकर उनका बन्ध होता है ।

भावार्थः— अशुद्धतापूर्वकही नवीन कर्मोंका आश्रव होकर बंध होता है इसलिए अशुद्धता कारण और बंध कार्यभी कहा जाता है । क्योंकि वह बंध अशुद्धताके निमित्तसे आनेवाले कर्मोंके उदयसे होता है ।

इसप्रकार बद्धता और अशुद्धतामें अन्तर बताकर आगे जीवकी शुद्धाशुद्धताके विषयमें विचार करते हैं ।

जीवः शुद्धनयादेशादस्ति शुद्धोपि तत्त्वतः ।
नासिद्धश्चाप्यशुद्धोपि बद्धाबद्धनयादिह ॥ १३३ ॥

अन्वयार्थः— (तत्वतः) वास्तवमें (इह) यहांपर (शुद्धनयादेशात्) शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे (जीवः) जीव (शुद्धः अपि) शुद्धभी (अस्ति) है (अपि च) और (बद्धाबद्धनयात्) कथंचित् बद्धाबद्ध नय अर्थात् व्यवहारनयसे जीव (अशुद्धः अपि) अशुद्ध है यहभी (असिद्ध न) असिद्ध नहीं है ।

भावार्थः— शुद्ध निश्चयनयसे जीव शुद्ध कहा जाता है । और व्यवहार नयसे जीव अशुद्ध कहा जाता है ।

शुद्ध और अशुद्ध नयका स्वरूप ।

एकः शुद्धनयः सर्वो निर्द्वंदो निर्विकल्पकः ।
व्यवहारनयोऽनेकः सद्वन्द्वः सविकल्पकः ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थः—(सर्वः शुद्धनयः) सम्पूर्ण शुद्धनय (एकः) एक (निर्द्वन्द्व) निर्द्वन्द्व और (निर्विकल्पः) निर्विकल्प है तथा (व्यवहारनयः) व्यवहारनय (अनेकः) अनेक (सद्वन्द्व) सद्वन्द्व और (सविकल्पकः) सविकल्प है ।

भावार्थः— निश्चयनय-द्रव्यार्थिकनय, एक निर्द्वन्द और निर्विकल्पक होता है। तथा व्यवहारनय-पर्यायार्थिकनय अनेक द्वन्द सहित और सविकल्पक होता है।

निश्चय और व्यवहारनयका विषय।

वाच्यः शुद्धनयस्यास्य शुद्धो जीवश्चिदात्मकः।
शुद्धादन्यत्र जीवाद्याः पदार्थास्ते नव स्मृताः॥ १३५॥

अन्वयार्थः— (अस्य शुद्धनयस्य) इस शुद्धनयका विषय (चिदात्मकः शुद्धः जीवः वाच्यः) चेतनात्मक शुद्ध जीव कहना चाहिये कारण (शुद्धात् अन्यत्र) व्यवहारन के विषयस्वरूप (ते जीवाद्याः) वे जीव आदि (नवपदार्थाः स्मृता) नौ पदार्थ कहे गये हैं।

भावार्थः— शुद्ध नयका विषय केवल चेतनात्मक शुद्ध जीव होता है। और व्यवहारनयका विषय जीवादिकनौ पदार्थ होते हैं। क्योंकि जीव अजीव आदि नवपदार्थ जीवकेही पद होनेसे विवक्षावश व्यवहारनयके विषय माने जाते है।

शंका।

ननु शुद्धनयः साक्षादस्ति सम्यक्त्वगोचरः।
एको वाच्यः किमन्येन व्यवहारनयेन चेत्॥ १३६॥

अन्वयार्थ— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (शुद्धनयः) शुद्धनयही (साक्षात् सम्यक्त्वगोचरः) साक्षात् सम्यक्त्वको--यथार्थताको विषय करनेवाला है इसलिए (एकः वाच्य) एक वह शुद्धनयही मानना चाहिये (अन्येन व्यवहारनयेन) अन्य व्यवहार नयसे (किं) क्या प्रयोजन है? ('इति' चेत्) यदि ऐसा कहोतो।

भावार्थ— शंकाकारका कहना है कि शुद्ध निश्चयनयही सम्यक्त्वको अर्थात् परमार्थभूत विषयको विषय करता है। इसलिए केवल एक शुद्ध निश्चयनयही मानना चाहिए अपरमार्थभूत व्यवहारनय नहीं।

समाधान।

सत्यं शुद्धनयः श्रेयान् न श्रेयानितरो नयः।
अपि न्यायबलादस्ति नयः श्रेयानिवेतरः ॥ १३७ ॥

अन्वयार्थः— (सत्य) ठीक है कि (शुद्धनयः श्रेयान्) शुद्धनयही उपादेय है (इतरः नयः श्रेयान् न) दूसरा व्यवहारनय उपादेय नही है (अपि) किंतु फिरभी (न्यायबलात्) न्यायबलसे अर्थात् युक्तियुक्त होनेके कारण (इतरः नयः) व्यवहारनय (श्रेयान् इव अस्ति) शुद्धनयके समान उपादेय है।

भावार्थः— ठीक है क्योंकि यद्यपि परमार्थको विषय करनेवाला केवल शुद्ध नयही उपादेय है व्यवहारनय नहीं। तथापि व्यवहारनयभी न्यायानुसार उपादेयतो नहीं किन्तु उपादेयके समान माना है अर्थात् कार्यकारी माना है अकार्यकारी नहीं।

व्यवहारनयकी उपादेयतामें युक्ति।

तद्यथानादिसन्तानबन्धपर्यायमात्रतः।
एको विवक्षितो जीवः स्मृता नव पदा अमी ॥ १३८ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (एकः जीवः) एकही जीव (अनादिसन्तानबन्धपर्यायमात्रत) केवल अनादिसन्तानके क्रमसे होनेवाले बन्धके पर्यायकी अपेक्षासे (विवक्षितः सन्) विवक्षित होकर जीवके (अमी नवपदाः स्मृता) इन जीव आदि नव पदार्थरूप कहाजाता है।

भावार्थः— उपर्युक्त कथनका खुलासा यह है कि जीवकी अनादि सन्तानक्रमसे होनेवाली केवल बंधरूप पर्यायकी अपेक्षासे जीवकी विवक्षा करनेपर उस जीवकेही स्वरूप ये नवपदार्थ पडते हैं। अर्थात् विवक्षावश जीवही नवपदार्थमय कहा जाता है। इसलिए व्यवहारनय सर्वथा अनुपादेय नहीं कहा जासकता है।

किंच पर्यायधर्माणो नवामी पदसंज्ञकाः।
उपरक्तिरुपाधिः स्यान्नात्र पर्यायमात्रता ॥ १३९ ॥

अन्वयार्थः— (किं च) तथा (अमी नवपदसंज्ञकाः) ये नव पदार्थ (पर्यायधर्माणः) पर्यायके

धर्म है और (अत्र) इनमें (पर्यायमात्रतः न) केवल पर्यायरूपता नहीं है किंतु (उपरक्ति उपाधिः स्यात्) उपरक्तिरूप उपाधि भी है।

भावार्थः— उपरक्तिका अर्थ परायत्त है । और वे जीवादिक जो पदार्थ उपरक्ति सहित पर्यायके धर्म हैं। क्योंकि 'तत्रबन्धे न हेतुः स्यात, इत्यादि ७२ वें श्लोकमें ७७ वें श्लोकतक बन्धके कारणोंको बताते हुए, स्वयं ग्रन्थकारने अनादिकालसे जीव और कर्मोंका एक दूसरेके आधीन होकर, अपने २ गुणोंसे च्युत होनेरूप परस्पर परायत्त होजानेकोही बन्धका कारण बताया है। परायत्तताके कारण कर्मोंका जीवके साथ बन्ध होता है। उसके अभावमें नहीं। इसी लिये मुक्तजीव सदा निर्बंध रहते हैं। उपाधि 'साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तिः उपाधि' अर्थात साधनके साथ व्यापकरूपसे न रहकर, साध्यके साथ व्यापक रूपसे रहे उसको उपाधि कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जो साधनके साथ तो नियमसे न रहे किंतु साध्यके साथ अवश्य रहे उसे उपाधि कहते हैं। जैसे यह पर्वत धूमवान् है क्योंकि यहांपर अग्नि है। यहा गीला ईंधन उपाधि है। क्योंकि गीला इंधन, साधनरूप अग्निके साथ नियमसे नहीं रहता है किंतु साध्यभूत धूमके साथ अवश्य रहता है। सोपरक्ति उपाधि असिद्ध नहीं है।

नात्रासिद्धमुपाधित्वं सोपरक्तेस्तथा स्वतः ।
यतो नवपदव्यासमव्यासं पर्ययेषु तत् ॥ १४० ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) जीव आदि नव पदार्थोंमें (स्वतः) अनादिकालसे (तथा) वैसी (सोपारक्तेः उपाधित्वं) सोपरक्तिकी उपाधिता (असिद्धं न) असिद्ध नहीं है (यतः) क्योंकि (तत् पर्ययेषु-अव्यास) वह उपाधिता 'व्यापक' जीवकी सम्पूर्ण पर्यायोंमें अव्याप्त और (नवपदव्यासं) नव पदोंमें व्याप्त है।

भावार्थः— उपाधिका लक्षण कहा जा चुका है। उक्त दृष्टान्तमें गीले ईंधनरूप उपाधि सहित अग्निरूप साधनके द्वारा धूमवान् पर्वत साध्य किया है यदि अग्नि निरुपाधि होती तो पर्वतमें धूमवत्व, साध्यकी सिद्धिमें नियामक नहीं होती। क्योंकि अग्निके शुद्ध होजानेपर फिर उसमें धूआ नहीं हो सकता है। 'गीले ईंधनकी अग्नि' यह विशेषण देने पर उपाधि सहित अग्नि धूमवत्व साध्यकी अवश्य नियामक होती है। इसीतरह केवल पर्यायमात्रसे जीवादिक नवें पदार्थोंकी सिद्धि नहीं होसकती है क्योंकि सिद्ध अवस्थामें पर्यायत्वके रहते हुएभी नव पदार्थरूपता नहीं पाई जाती है

इसलिए उपरक्तिरूप उपाधि सहित पर्याय मात्रताही नवपदार्थोंके साथ व्याप्त होकर रहती है ।

सारांश यह है कि जीवको नवपदार्थमय होनेमें केवल पर्यायमात्रता कारण नहीं है किन्तु उपरक्तिरूप उपाधि सहित पर्यायता कारण है । क्योंकि बंधकी उपरक्ति सहित पर्यायमात्रताके कारणही जीव नवपदार्थमय कहा जाता है । केवल पर्यायपनेसे नहीं ।

उपाधि न माननेमें दोष ।

सोपरक्तेरुपाधित्वान्नादरश्चेद्विधीयते ।
क्व पदानि नवामूनि जीवः शुद्धोनुभूयते ॥ १४१ ॥

अन्वयार्थः— (चेत्) यदि (सोपरक्तेः उपाधित्वात्) सोपरक्तिके उपाधित्वके कारण (अनादरः विधीयते) उसका अनादर किया जावे तो (अमूनि एव पदानि) ये नव पद (क्व) कहां मिलेंगे ? और उनके अभावमें (शुद्धजीवः क्व, अनुभूयते) शुद्ध जीवकाभी अनुभव कहां होगा ।

भावार्थ.— सोपरक्तिरूप उपाधिसे सहित होनेवाली पर्यायोंकेही कारण व्यवहारनयसे जीव नवपदार्थरूप सिद्ध होता है यदि उपरक्तिको-उपाधिको नहीं मानी जावे तो उसके निमित्तसे होनेवाले जीवादिक नवपदार्थ भी सिद्ध न होसकेंगे । अतः बंध मोक्षादि दशाओंके अभावमें शुद्ध जीवकी भी उपलब्धि नहीं होगी । इसलिए सोपरक्तिको यहां उपाधि मानना आवश्यक है ।

सारांश यह है कि रागादि उपाधि सहित पर्यायोंकी अपेक्षासेही व्यवहारनयके द्वारा नवपदार्थ माने जाते है केवल पर्यायत्वसे नहीं । यदि उपाधिको छोडकर केवल पर्यायत्वसे नवपदार्थोंकी सिद्धि करना चाहो तो उनकी सिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि जीव अजीव आश्रवादि परस्पर विरुद्ध पदार्थ केवल पर्याय सामान्यकी अपेक्षासे वैसे कहे जासकेंगे अर्थात् नहीं कहे जासकते है । कारण कि पर्यायमात्रत्व सामान्य धर्म है । इसलिए वह सब पदार्थोंमें सदृशतासे पाया जाता है । अत वह वैसादृश्य सहित पदार्थोंको सिद्ध नहीं करसकता है । तथा पदार्थोंके अभावमें पर्यायी जीवभी कहां अनुभव करनेको मिलेगा । क्योंकि पर्याय निरपेक्ष द्रव्यभी सिद्ध नहीं हो सकता है । इसलिए नवपदार्थोंकी सिद्धिके लिए पर्यायमात्रतामें उपरक्तिको उपाधि मानना चाहिए ।

इसप्रकार जीवादिक नवपदार्थोंमें उपाधि सहित पर्यायधर्मपना सिद्ध करके अब आगे—उपरक्तिके विषयमें अस्ति आदि चतुष्टय रूपसे शंका समाधानपूर्वक विचार करते है ।

शंका ।

ननूपरक्तिरस्तीति किंवा नास्तीति तत्वतः ।
उभयं नोभयं किंवा तत्क्रमेणाक्रमेण किम् ॥ १४२ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (उपरक्तिः अस्ति इति) उपरक्ति है (किंवा) अथवा (नास्ति इति) नहीं है (किंवा) अथवा (तत्क्रमेण उभयं) अस्तित्व नास्तित्वके क्रमसे उभयरूप है (किं) अथवा क्या (अक्रमेण उभयं न) युगपत् उभयरूप नहीं है ।

भावार्थः– शंकाकारका कहना है कि जीवादिक नव पदार्थोंमें उपरक्तिका सद्भाव है अथवा असद्भाव है। अथवा उपरक्ति और अनुपरक्तिकी क्रमपूर्वक उभय अवस्था है अथवा अक्रमपूर्वक अनुभय अवस्था है ।

अस्तीति चेत्तदा तस्यां सत्यां कथमनादरः ।
नास्तीति चेदसत्त्वेस्याः सिद्धो नानादरो नयात् ॥ १४३ ॥

अन्वयार्थः— (अस्ति इति चेत्) यदि जीवादिक पदार्थोंमें उपरक्तिका सद्भाव मानते हो (तदा) तो (तस्यां सत्यां) उसका सद्भाव होनेपर (अनादरः कथं) उसका अनादर कैसे होगा अर्थात् यदि जीवादिक नव पदार्थोंमें रहनेवाली उपरक्ति वास्तविक है तो जीव आदि नव पदार्थरूपही जीवका स्वरूप क्यों नहीं मानलिया जाता (नास्ति इति चेत्) यदि उनमें उपरक्तिका सद्भाव वास्तवमें नहीं है तो (अस्याः असत्वे) इसका असद्भाव होनेपर (नयात् अनादरः न सिद्धः) न्यायानुसार उसका अनादर सिद्ध नहीं होसकता है क्योंकि जो पदार्थ खरविषाणके समान अभावरूप होते है उसका अनादर किसप्रकार किया जासकता है । कारण कि आदर अनादर सद्भावात्मक पदार्थकाही होता है अभावात्मक पदार्थका नहीं ।

भावार्थः— यदि जीवादिक नौ पदार्थोंमें उपरक्ति वास्तविक है तो जीवादिक नौ पदार्थोंको अनुपादेय नहीं कहना चाहिये और यदि उपरक्ति अवास्तविक है तो उसका अनादर कैसे किया जासकता है । क्योंकि सद्भावात्मक पदार्थोंमेंही आदर अनादर होता है । अभावात्मक पदार्थमें नहीं ।

सत्यामुपरक्तौ तस्यां नादेयानि पदानि वै।
शुद्धादन्यत्र सर्वत्र नयस्यानाधिकारतः ॥ १४४ ॥

अन्वयार्थः— (वै) निश्चयसे (तस्यां उपरक्तौ सत्यां) उस उपरक्तिके सद्भावात्मक होनेपर शुद्धनयसे (पदानि आदेयानि न) जीवादिक नव पदार्थ उपादेय नहीं ठहरते है अर्थात् वे जीवके नवपद नही कहे जासकते है क्योंकि (शुद्धात् अन्यत्र सर्वत्र) शुद्ध द्रव्यको छोड करके अशुद्ध सम्पूर्ण द्रव्योमें ('अस्य' नयस्य अनधिकारतः) इस शुद्धनिश्चयनयका अधिकार नहीं है अर्थात् शुद्धनिश्चयनय अशुद्ध द्रव्यका ग्रहण नहीं करता है।

भावार्थ — तथा यदि जीवादिक नव पदार्थोंमें उपरक्तिका सद्भाव मानोगे तो वह उपरक्ति उनमें सदैव रहना चाहिए। और उसके सदैव रहनेसे केवल शुद्ध जीवको विषय करनेवाले शुद्ध नयके द्वारा वे नव पदार्थ उपादेय नहीं कहे जासकेंगे। क्योंकि निश्चयनय शुद्ध द्रव्यकोही विषय करता है अशुद्ध द्रव्यको नहीं। (१)

असत्यामुपरक्तौ वा नैवामूनि पदानि च।
हेतुशून्याविनाभूतकार्यमन्यस्य दर्शनात् ॥ १४५ ॥

अन्वयार्थः— (वा) अथवा (उपरक्तौ असत्यां) उपरक्तिका अभाव माननेपर (अमूनि पदानि च न एव) ये नव पदही नहीं बनसकेंगे क्योंकि (हेतुशून्याविनाभूतकार्यशून्यस्य दर्शनात्) हेतुके अभावसे अविनाभाव रखनेवाले कार्यकाभी अभाव देखा जाता है।

भावार्थः— जीवके नव पद उपरक्तिके निमित्तसे माने जाते है इसलिये उपरक्तिरूप हेतुके अभावमें नव पदरूप कार्यकी सिद्धि कैसे होसकती है अर्थात उपरक्तिके अभावमें नवपद नहीं बन सकते है

उभयं चेत्क्रमणेहे सिद्धं न्यायाद्विवक्षितम्।
शुद्धमात्रमुपादेयं हेयं शुद्धेतरं तदा ॥ १४६ ॥

अन्वयार्थः— (इह) जीवादिक नव पदोंमें (क्रमेण उभयं विवक्षितं सिद्धं चेत्) यदि क्रमपूर्वक उपरक्तिका सद्भाव और असद्भावरूप उभय विवक्षित सिद्ध हो (तदा) तो (न्यायात्) न्यायानुसार (शुद्धमात्र उपादेयं) केवल शुद्धांश उपादेय और (शुद्धेतर हेय) अशुद्धांश हेय ठहरेगा।

भावार्थः— यदि जीवादिक नव पदार्थोंमें क्रमपूर्वक उपरक्तिके सद्भाव और असद्भावके कारण उपरक्ति अनुपरक्तिकी क्रमपूर्वक उभय अवस्था मानी जायगी तो उपरक्तिके सद्भावसे जितना अशुद्धांश है उसको हेय तथा उसके असद्भावसे जितना शुद्धांश है उसको उपादेय मानने पडेगा।

यौगपद्येपि तद्द्वैतं न समीहितसिद्धये।
केवलं शुद्धमादेयं नादेयं तत्परं यतः ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थ — (यौगपद्ये) उन दोनोंके युगपत होनेपर (तद्द्वैतं अपि) उपरक्ति और अनुपरक्तिका द्वैतरूप भंगही (समीहितसिद्धये न) अभीष्ट सिद्धिके लिए समर्थ नही होसकता है (यतः) क्योंकि (केवलं शुद्ध आदेयं) केवल उपरक्ति रहित शुद्धांश उपादेय होगा और (तत्परं) उससे विपरीत उपरक्ति रहित अशुद्धांश (आदेय न) उपादेय नही होगा।

भावार्थः— युगपत उपरक्तिके सद्भाव और असद्भावको माननेपरभी नव पदार्थोंमें उपादेयता सिद्ध नही होसकती है। क्योंकि शुद्धमात्रही उपादेय मानागया है इतर नहीं।

नैकस्यैकपदे स्तो द्वे क्रिये वा कर्मणी ततः।
यौगपद्यमसिद्धं स्याद्द्वैताद्वैतस्य का कथा ॥ १४८ ॥

अन्वयार्थः— (एकस्य) एक द्रव्यके (एकपदे) एक पदमें (द्वे क्रिये वा कर्मणी नस्तः) दो क्रियायें अथवा दो कर्म नही हो सकते है (ततः) इसलिए जब (यौगपद्यं असिद्ध स्यात्) उपरक्ति और अनुपरक्तिका यौगपद्यही सिद्ध नही होसकता है तो फिर (द्वैताद्वैतस्य का कथा) द्वैताद्वैतका विचारही कैसे किये जासकता है ?

भावार्थः— द्रव्यके किसी एक पदमें युगपत दो किया अथवा दो कर्म नहीं हो सकते हैं इसलिये जब जीवादिकपदार्थोंमें उपरक्ति और अनुपरक्तिका यौगपद्यही सिद्ध नहीं होता है तो फिर यौगपद्यके कारण द्वैताद्वैतका विचारही कैसे किया जासकता है अर्थात् किसी तरह नहीं।

तत्तोऽनन्यगतेर्न्यायाच्छुद्धः सम्यक्त्वगोचरः ।
तद्वाचकश्च यः कोपि वाच्यः शुद्धनयोपि सः ॥ १४९ ॥

अन्वयार्थः— (तत) इसलिए (न्यायात्) न्यायानुसार (अनन्यगतेः) और कोई गति न रहनेसे (सम्यक्त्वगोचरः) यथार्थताका विषयभूत (शुद्धः) उपरक्ति रहित द्रव्यही शुद्ध है (च) और (तद्वाचकः यः कः अपि) उस शुद्ध द्रव्यका वाचक जो कोईभी नय है (सः शुद्धनय अपि) वह शुद्धनयही वक्तव्य है अर्थात् शुद्ध द्रव्य तथा शुद्ध द्रव्यका वाचक शुद्ध नयही कहना चाहिये । किंतु अशुद्ध द्रव्यरूप जीवादिक नव पदार्थ व उनका वाचक व्यवहारनय नहीं कहना चाहिये ।

भावार्थः— इसप्रकार उपरक्तिके सद्भाव असद्भाव तथा क्रमपूर्वक उभयरूपता और युगपत अनुभयरूपतासे भी जीवादिक नव पदार्थोंके विषयमें उपादेयता सिद्ध नहीं होती है । इसलिए अशुद्ध द्रव्य व उसके वाचक व्यवहार नयके लिए कोई गति न रहनेसे केवल शुद्ध द्रव्य और उसका वाचक एक शुद्ध निश्चयनयही कहना चाहिये ।

इसतरह शंकाकारने उपरक्ति तथा अनुपरक्तिके विषयमें होनेवाली अपनी शंकाको ८ पद्यों द्वारा पुष्ट किया है । अब आगे–ग्रंथकार उसका समाधान करते है । समाधान ।

नैवं त्वमन्यथासिद्धेः शुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
विरोधेप्यविरोधः स्यान्मिथः सापेक्षतः सतः ॥ १५० ॥

अन्वयार्थः— (एवं तु न) शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि (सतः शुद्धाशुद्धत्वयोः द्वयोः) सतकी शुद्धता और अशुद्धता इन दोनोंमें (अनन्यथा सिद्धेः) अनन्यथा सिद्धि है अर्थात् सतकी शुद्धता, अशुद्धताके विना तथा अशुद्धता, शुद्धताके विना सिद्ध नहीं होसकती हैं इसलिये (मिथः) दोनोंमें परस्परकी (सापेक्षतः) अपेक्षासे पाये जानेसे (विरोधे अपि) कथंचित् विरोधके रहते हुएभी (अविरोधः स्यात्) अविरोध है–विरोध नहीं है ।

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि सतकी शुद्धता और अशुद्धता परस्पर सापेक्ष भावसेही सिद्ध होती है एकान्तसे नहीं । इसलिए यद्यपि उपरि दृष्टिसे दोनोंके कथनमें विरोध मालूम होता है तथापि

भिन्न २ दृष्टिकी अपेक्षासे भिन्न २ कथन होनेके कारण वह विरोध, विरोधही नहीं कहला सकता है।

अनन्यथासिद्धि असिद्ध नहीं है।

नासिद्धानन्यथासिद्धिस्तद्द्वयोरेकवस्तुतः।
यद्विशेषेपि सामान्यमेकमात्रं प्रतीयते ॥ १५१ ॥

अन्वयार्थः— (तद्द्वयोः एक वस्तुतः) उन दोनों अवस्थाओंमें एकही द्रव्य होनेसे अर्थात एकही द्रव्यकी पूर्वापर अशुद्ध तथा शुद्ध दशा होनेसे (अनन्यथा सिद्धिः) अनन्यथा सिद्धि (असिद्धा न) असिद्ध नहीं है (यत्) क्योंकि (विशेषे अपि) विशेषमेंभी अर्थात् अपनी सम्पूर्ण अवस्थाओंमेंभी (एकमात्रं सामान्य) एकमात्र सामान्य (प्रतीयते) प्रतीत होताही रहता है

भावार्थः— अशुद्धता और शुद्धता ये दोनोंही जीवकी पर्यायें हैं। जीवको अशुद्धसे शुद्ध होनेपर केवल पर्यायमें भेद होता है द्रव्यमें नहीं। क्योंकि द्रव्य तो वही जीव द्रव्य रहता है। यदि ऐसा नहीं माना जावे तो सामान्य विशेषात्मक पदार्थही सिद्ध नही हो सकता है। इसलिए शुद्धता तथा अशुद्धतामें दिया हुआ अनन्यथा सिद्धि रूप हेतु असिद्ध नहीं है।

नवतत्वोंके मूलभूत जीव और पुद्गल द्रव्य है।

तद्यथा नव तत्वानि केवलं जीवपुद्गलौ।
स्वद्रव्याद्यैरनन्यत्वाद्वस्तुतः कर्तृकर्मणोः ॥ १५२ ॥

अन्वयार्थ— (तद्यथा) पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (नव तत्वानि) ये नव तत्व (केवलं जीवपुद्गलौ) केवल जीव और पुद्गलरूप हैं क्योंकि (वस्तुतः) वास्तवमें (स्वद्रव्याद्यैः) अपने द्रव्य क्षेत्रादिकके द्वारा (कर्तृकर्मणोः) कर्ता तथा कर्ममें (अनन्यत्वात्) अन्यत्व है—अनन्यत्व नहीं है

भावार्थ— कर्ता और कर्मकी भेद विवक्षासे केवल जीव तथा पुद्गलके द्वारा नव तत्वकी सिद्धि होजाती है। और उनकी अभेदविवक्षासे जीव व पुद्गल ये दोही द्रव्य- पदार्थ सिद्ध होते हैं।

केवल विशुद्ध जीव और पुद्गलकेभी नव पदार्थ सिद्ध नहीं होसकते है।

ताभ्यामन्यत्र नैतेषां किंचिद्द्रव्यान्तरं पृथक्।
न प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य पुद्गलस्य च ॥ १५३ ॥

अन्वयार्थ — (ताभ्या अन्यत्र) उन जीव आरै पुद्गलोंके सिवाय (एतेषां) इन नव तत्वोंमे (किंचित् पृथक् द्रव्यांतरं न) पृथक् २ से कुछ दूसरे द्रव्य नहीं हैं तथा (प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य च पुद्गलस्य न) पृथक २ विशुद्ध जीव और विशुद्ध पुद्गलकेभी ये नव पदार्थ नही होते है

भावार्थः— जीव और पुद्गलके सिवाय नव पदोंमें अन्य किसी द्रव्यका सम्बन्ध नहीं है। तथा न ये नव पद शुद्ध जीव और शुद्ध पुद्गलकेभी नहीं है। किंतु परस्पर संयुक्त जीव और पुद्गलके है। क्योंकि विना परनिमित्तके शुद्ध द्रव्योंमें विकार नहीं होता है।

किन्तु नव पदार्थ परस्परमें सम्बन्धको प्राप्त जीव तथा पुद्गलके हैं।

किन्तु सम्बन्धयोरेव तद्द्वयोरितरेतरम्।
नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां भावा नव पदा अमी ॥ १५४ ॥

अन्वयार्थः— (किंतु) किंतु (इतरेतर) परस्परमें (तद्द्वयोः सम्बन्धयो एव) सम्बन्धको प्राप्त उन दोनों जीव और पुद्गलोंकेही (नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां) नैमित्तिक निमित्त सम्बन्धसे होनेवाले (भावाः) मात्र (अमी नव पदाः) ये नव पदार्थ है

भावार्थः— बंध कार्य है आस्रव उसका कारण है। मोक्ष कार्य है संवर और निर्जरा उसके कारण है। मोक्ष बंधपूर्वक होता है। बंधही जीव तथा पुद्गलमें वैभाविक भाव उत्पन्न करता है। इस प्रकार निमित्त नैमित्तिक संबधसे जीव और पुद्गलमे बंध होकर उनके संयोग व वियोग स्वरूप ये नवपद होते है। अन्यथा नहीं अर्थात् पुद्गलके निमित्तसे जीवमें बंधादिक नैमित्तिक भाव होते है पुद्गलके निमित्त विना नहीं।

सारांश यह है नैमित्तिक जीव तथा निमित्त पुद्गल इन दोनोंके परस्पर संबंधसेही नवपद सिद्ध होते है।

जीवकेही नौ पद है ।

अर्थान्नवपदीभूय जीवश्चैको विराजते ।
तदात्वेपि पर शुद्धस्तद्विशिष्टदशामृते ॥ १५५ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात) अर्थात् (एक जीव) एक जीवही (नवपदीभूय) जीवाजीवादिक नव पदार्थरूप होकरके (विराजते) विराजमान है (च) और (तदात्वे अपि) उन नव पदार्थोंकी अवस्थामेंभी (तद्विशिष्टदशां ऋते) यदि विशेष दशाकी विवक्षा न की जावे तो (परं शुद्धः) केवल शुद्ध जीवही अनुभवमें आता है

भावार्थः— उक्त कथनका सारांश यह है कि पुद्गलके निमित्तसे बन्धको प्राप्त जीवही जीवादि नव पदार्थमय है अर्थात जीवादिक नव पदार्थ जीवकीहीं विशेष अवस्थायें है । इसलिए यदि विशेष अपेक्षाको गौण करके एकमात्र सामान्यकी विवक्षा की जावे तो जीव अपनी सम्पूर्ण अवस्थाओं केवल शुद्धही प्रतीत होता है ।

खुलासा ।

नासंभवं भवेदेतत तद्विधेरुपलब्धितः ।
सोपरक्तेरभूतार्थात सिद्धं न्यायाददर्शनम् ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थः— (तद्विधेः उपलब्धितः) नव पदार्थोंमें जीवको अन्वयरूपसे पाये जानेके कारण (एतत्) यह उक्त कथन (असंभवं न भवेत्) असंभव नहीं है क्योंकि (सोपरक्ते अभूतार्थात्) सोपरक्तिके वास्तविक नही होनेके कारण (न्यायात्) न्यायानुसार उस उपरक्तिकी (अदर्शन सिद्धं) उपेक्षा होजाती है ।

भावार्थ.— अपने संपूर्ण विशेषोंमें सामान्यका अन्वय पाया जाता है । इसलिए सामान्यकी अपेक्षासे जीवाजीवादि विशेष धर्मोंकी उपेक्षा होना असिद्ध नहीं है । क्योंकि जिस सोपरक्तिसे जीवमें कर्मके सयोगपूर्वक ये नवपद होते है वह उपरक्ति जीवका वास्तविक स्वरूप नहीं है । किन्तु केवल उपाधि है । अतः शुद्ध दृष्टिसे उसकी अपेक्षाका होना युक्तियुक्त है असिद्ध नहीं है ।

नवपदार्थोंमे जीवोपलब्धिके दृष्टान्त ।

सन्त्यनेकेत्र दृष्टान्ता हेमपद्मजलाऽनला: ।
आदर्शस्फाटिकाश्मानौ बोधवारिधिसैंधवा: ॥ १५७ ॥

अन्वयार्थ:— (अत्र) इस विषयमें (हेमपद्मजलानला:) सुवर्ण, कमल, जल, अग्नि (आदर्शस्फटिकाश्मनौ) दर्पण, स्फटिकपत्थर (बोधवारिधिसैन्धवा) ज्ञान, समुद्र और नमक इसप्रकार (अनेके दृष्टांता: सन्ति) अनेक दृष्टांत है जिनकेकि द्वारा नव पदार्थोंमे शुद्ध जीवका अनुभव सिद्ध किया जासकता है ।

भावार्थ:— यहांपर उक्तकथनके साधक हेम, पद्म, जल, अग्नि, दर्पण, स्फटिक, ज्ञान, समुद्र और सैन्धवादि अनेक दृष्टान्त है ।

सुवर्णका दृष्टान्त ।

एकं हेम यथानेकवर्णं स्यात्परयोगत: ।
तमसन्तमिवोपेक्ष्य पश्य तद्धेम केवलम् ॥ १५८ ॥

अन्वयार्थ:— (यत्र[1]) जैसे (एकं हेम) शुद्ध सुवर्ण (परयोगत:) अन्य धातुओंके संयोगसे (अनेकवर्णं) नाना प्रकारके रूपोंको धारण करनेवाला होता है किंतु यदि (तं असन्तं इव) उस परयोगको नहींके समान् मानकरके उसकी (उपेक्ष्य) उपेक्षा करके उस सुवर्णको (पश्य) देखो तो (तत्) वह अन्य धातुसे मिश्रित सुवर्ण (केवलं हेम) केवल शुद्ध सुवर्णही प्रतीत होता है ।

भावार्थ:— जैसे अन्य धातुओंके संयोगसे सुवर्णमें अनेक प्रकारके रूप दिखाई देते हैं । किन्तु यदि परसंयोगसे होनेवाली उस सुवर्णकी अवस्था पर ध्यान नहीं देकर उस सुवर्णको देखा जावे तो वह सुवर्ण शुद्ध सुवर्णही प्रतीत होता है । वैसेही जीवभी कर्मके निमित्तसे अजीव आश्रव आदि पदोंमे अशुद्ध रूपसे पाया जाता है—दिखाई देता है । किन्तु यदि परसंयोगरूप कर्म निमित्तकी उपेक्षा करके उसको देखा जावे तो वह जीव शुद्धही प्रतीत होता है —अनुभवमें आता है ।

---

१ मू. पु. में 'वप्र' पाठ है।

नचाशंक्यं सतस्तस्य स्यादुपेक्षा कथं जवात् ।
सिद्धं कुतः प्रमाणाद्वा तत्सत्वं न कुतोपिवा ॥ १५९ ॥

अन्वयार्थः— (तस्य सतः) उस सत्स्वरूप पर संयुक्त द्रव्यकी (जवात्) सहसा (उपेक्षा) उपेक्षा (कथं स्यात्) कैसी होजायगी (' इति न च आशंक्य) ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए क्योंकि (तत्सत्वं वाकुतः प्रमाणात्) उस परद्रव्यका सत्व (सुवर्णमेंभी) किस प्रमाणसे (सिद्धं) सिद्ध होता है अर्थात (कुतः अपि वा न) किसीभी प्रमाणसे नहीं ।

भावार्थः— यहांपर यह आशंका करना ठीक नहीं है कि संयुक्त द्रव्यमें विवक्षावश असत्व कैसे कहा जायगा । क्योंकि किसी द्रव्यमें किसी द्रव्यका सत्व मानना किसीभी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होसकता है अर्थात जब सुवर्णमें अन्य धातुका सत्वही सिद्ध नहीं है तो फिर उसमें रहनेवाले संयुक्त द्रव्यकी उपेक्षा क्यों जाती है ? यह शंका निर्मूल सिद्ध होती है । क्योंकि अन्य द्रव्यमें अन्य द्रव्यका सद्भाव केवल उपचारवश पाया जाता है वास्तवमें नहीं ।

नानादेयं हि तद्धेम सोपरक्तेरुपाधिवत् ।
तत्त्यागे सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपाततः ॥ १६० ॥

अन्वयार्थः— (सोपरक्ते. उपाधिवत्) सोपरक्तिसे उपाधि सहित (तत् हेम) वह सुवर्ण (अनादेयं न हि) त्याज्य नहीं है क्योंकि (तत्त्यागे) उसका त्याग करनेपर (सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपाततः) सर्व शून्यता आदि दोषोंका प्रसंग आता है ।

भावार्थः— अन्यधातु संयुक्त वह सुवर्ण त्याज्य नहीं है । यदि उसका त्याग करदिया जायगा तो सर्व शून्यता आदि अनेक दोषोंका प्रसंग आवेगा। अर्थात् खानसे निकली हुई सोनेकी मट्टी आदि सब अवस्थाएं सुवर्णके पर्याय धर्म है । अत उनको त्याज्य माननेमें उनका अभाव होनेसे पर्यायके अभावमें पर्यायीके भी अभावकी संभावनासे सर्वशून्यता दोषका प्रसंग आता है ।

न परीक्षाक्षमं चैतच्छुद्धं शुद्धं यदा तदा ।
शुद्धस्यानुपलब्धौ स्याल्लब्धिहेतोरदर्शनम् ॥ १६१ ॥

अन्वयार्थः— (एतत) यह कथनभी (परीक्षाक्षमं न च) परीक्षा करनेसे सिद्ध नहीं होसकता है कि (यदा) जिससमय (शुद्धं) सुवर्ण शुद्ध है (तदा शुद्धं) उस समय वह शुद्धही हैं क्योंकि (शुद्धस्य अनुपलब्धौ) शुद्ध द्रव्यकी प्राप्ति नही होनेपर (लब्धिहेतोः अदर्शनं स्यात्) उसकी प्राप्तिके हेतुकाभी अदर्शन सिद्ध होता है।

भावार्थः— यदि कदाचित् कहा जाय कि जो जिससमय शुद्ध है वह उस समय शुद्धही रहता है तो यह कहनाभी ठीक नहीं है। क्योंकि शुद्धता और अशुद्धतामें अनन्यथासिद्धि रहती है अर्थात् अशुद्ध अवस्था पूर्वकही शुद्ध अवस्था प्राप्त होसकती है। इसलिए जब अशुद्ध निरपेक्ष केवल शुद्धकी उपलब्धि न होनेसे उसका साधक हेतुभी प्राप्त नहीं होसकता है तो फिर बिना हेतुके वह केवल शुद्धही कैसे सिद्ध हो सकता है ?

यदा तद्वर्णमालायां दृश्यते हेम केवलम् ।
न दृश्यते परोपाधिः स्वेष्टं दृष्टेन हेम तत ॥ १६२ ॥

अन्वयार्थः— (यदा) जिस समय (तद्वर्णमालायां) उस अशुद्ध सुवर्णके रूपोंमें (केवलं हेम दृश्यते) केवल शुद्ध सुवर्ण दृष्टिगोचर किया जाता है ('तदा') उस समय (परोपाधिः न दृश्यते) परद्रव्यके उपाधि दृष्टिगोचर नही होती है किंतु (दृष्टेन) प्रत्यक्ष प्रमाणसे (स्वेष्टं) अपना अभीष्ट (तत् हेम) वह केवल शुद्ध सुवर्णही दृष्टिगोचर होता है।

भावार्थः— जिससमय अन्यधातु संयुक्त सुवर्णकी वर्णमालामें केवल सुवर्णकी अपेक्षासे दृष्टि रक्खी जाती है उस समय इतर वर्ण लक्ष्यगत न होकर केवल शुद्ध सुवर्णही दृष्टिगोचर होता है।

सारांश।

ततः सिद्धं यथा हेम परयोगाद्विना पृथक् ।
सिद्धं तद्वर्णमालायामन्ययोगेपि वस्तुतः ॥ १६३ ॥

अन्वयार्थ — (ततः) इसलिए (सिद्धं) सिद्ध हुआ कि (यथा) जैसे (तद्वर्णमालायां) उस अशुद्ध सुवर्णकी वर्णमालामें (अन्ययोगे अपि) अन्य धातुका संयोग होनेपरभी (वस्तुतः) वास्तवमें (परयो–

गात् विना) परसंयोगके विना (पृथक् हेम) पृथक् रूपसे शुद्ध सुवर्णका अस्तित्व (सिद्धं) सिद्ध होता है ('तथा') वैसेही जीवादिक नव पदार्थोंमें शुद्ध जीवका अस्तित्व सिद्ध है।

भावार्थः— इसलिए सिद्ध होता है कि जैसे परसंयोगके विना वास्तवमें सुवर्णकी शुद्ध रूपसे प्रतीति होती है वैसेही परसंयोगके विना वास्तवमें जीवकी भी शुद्ध रूपसे प्रतीति होती है।

प्रक्रियेयं हि संयोज्या सर्वदृष्टान्तभूमिषु।
साध्यार्थस्याविरोधेन साधनालंकरिष्णुषु ॥ १६४ ॥

अन्वयार्थः—(अविरोधेन) अविरोधपूर्वक (साध्यार्थस्य) साध्यार्थके साथ (साधनालंकरिष्णुषु) साधनको भूषित करने वाले (सर्वदृष्टान्तभूमिषु) सम्पूर्ण दृष्टान्तोंमें भी (इय हि प्रक्रिया) यही प्रक्रिया (संयोज्या) घटित करना चाहिये।

भावार्थः— जैसे सुवर्णके दृष्टान्तमें प्रक्रिया लगाई है वैसेही साध्यार्थके साथ साधनको दिखानेवाले अर्थात जिनमें साध्य व्याप्त साधनकी दृष्टान्त रूपसे सिद्धि की जाती है ऐसे वप्रादिकके दृष्टान्तमें यही प्रक्रिया लगाना चाहिये।

वप्रका दृष्टान्त।

तोयमग्नं यथा पद्मपत्रमत्र तथा न तत्।
तदस्पृश्यस्वभावत्वादर्थतो नास्ति पत्रतः ॥ १६५ ॥

अन्वयार्थः—(यथा) जैसे (पद्मपत्रं) कमलका पत्ता (तोयमग्नं) जलमें डूबा हुआ रहता है परन्तु (तत्) वह कमलका पत्ता (अत्र तथा न) जलमें जलरूपसे नहीं रहता है किन्तु अपने स्वरूपसे रहता है क्योंकि (तदस्पृश्यस्वभावत्वात्) वह जलसे अस्पृश्य स्वभाववाला है इसलिए (अर्थत) वास्तवमें (पत्रतः) पत्रमें (नास्ति) जल नहीं है

भावार्थ.— जैसे यद्यपि जलके विना कमलपत्र उपलब्ध नहीं होता है तो भी कमलपत्र जलमें लिप्त नहीं है। वैसेही नव तत्वोंके विना जीवकी उपलब्धि नहीं होती है। तथापि शुद्ध जीव नव तत्वोंमें लिप्त नहीं है। किन्तु शुद्ध दृष्टिसे कमलके समान भिन्न है।

सारांश यह है कि जैसे कमल जलसे भिन्न है वैसेही परसंयोग वियोग पूर्वक होनेवाले व्यवहारनयके विषयभूत जीवादि नव पदार्थोंसे शुद्ध दृष्टिकी अपेक्षा जीव भिन्न हैं।

जलका दृष्टान्त।

सकर्दमं यथा वारि वारि पश्य न कर्दमम् ।
दृश्यते तदवस्थायां शुद्धं वारि विपङ्कवत् ॥ १६६ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे यदि (सकर्दमं वारि) कीचड सहित जलको (वारि) जलरूपसे (पश्य) देखो तो (कर्दम न) कीचड लक्ष्यगत नहीं होता है किंतु (तदवस्थायां) उस कर्दम सहित अवस्थामेंभी (विपंकवत्) कर्दम रहित शुद्ध जलके समान (शुद्धं वारि) निर्मल जलही (दृश्यते) दृष्टिगोचर होता है।

भावार्थः— जिसप्रकार कीचड और जल दोनों मिले हुये मालूम होते है। किन्तु शुद्ध जलकी ओरही लक्ष्य करनेपर कीचडका ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि वास्तवमें जल कीचडसे भिन्न है। उसी प्रकार जीवभी नव तत्वोंमें पाया जाता है। किन्तु शुद्ध जीव उनसे वास्तवमें पृथक् है।

अग्निका दृष्टान्त।

अग्निर्यथा तृणाग्निः स्यादुपचारात्तृणं दहन् ।
नाग्निस्तृणं तृणं नाग्निरग्निरग्निस्तृणं तृणम् ॥ १६७ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे यद्यपि (तृणं दहन अग्नि) तृणको–तिनकाको जलानेवाली अग्नि (उपचारात्) उपचारसे (तृणाग्निः स्यात्) तृणकी अग्नि कही जाती है तथापि वास्तवमें (अग्निः) अग्नि (तृण न) तृणरूप नहीं होजाती है और (तृण) तृण (अग्नि. न) अग्निरूप नहीं होजाता है किंतु (अग्नि अग्निः) अग्नि, अग्निस्वरूप रहती है तथा (तृणं तृणं) तृण, तृणस्वरूप रहता है।

भावार्थः— जैसे लोकमें यह तृणाग्नि है,यह काष्ठाग्नि है,यह कारीषाग्नि है और यह पाषाणाग्नि है इत्यादि रूपसे अग्नि कही जाती है। किन्तु वास्तवमें अग्नि, तृण काष्ट, इंटया पत्थर आदिरूप नहीं होजाती हैं। क्योंकि वह उनसे वस्तुतः भिन्न है। वैसेही जीवभी नव तत्वोंमें पाया जाता है। किन्तु वह वस्तुतः नव तत्वरूप नहीं हो जाता है।

दर्पणका दृष्टान्त ।

प्रतिबिम्बं यथादर्शे सन्निकर्षात्कलापिनः ।
तदात्वे तदवस्थायामपि तत्र कुतः शिखी ॥ १६८ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (आदर्शे) दर्पणमें (कलापिनः सन्निकर्षात्) मयूरके सन्निकर्षसे मयूरका (प्रतिबिम्बं) प्रतिबिंब पडता है परन्तु (तदात्वे) उस समय (तत्र) उस दर्पणमें (तदवस्थायां अपि) उस प्रतिबिंबरूप अवस्थाके पाये जानेपरभी (शिखी कुतः) वास्तविक मयूर कहांसे आजायगा ?

भावार्थ.— जैसे दर्पणमें जो मयूरका प्रतिबिम्ब पडता है वह प्रतिबिम्ब वास्तविक मयूर नहीं कहलाता है। यदि वह भी वास्तविक हो तो भी प्रत्यक्ष मयूरके समान प्रत्यक्ष होना चाहिये। किन्तु दर्पणमें उसका प्रत्यक्ष होता नहीं है। केवल प्रतिबिम्बही उसका पाया जाता है। वैसेही जीवादिक नव तत्वोंमें जीवका प्रतिबिम्ब पडता है। वास्तविक जीव नहीं है। इसलिए जीवादिक नव तत्व परोपाधिनिमित्तक जीवकी अवस्थाएं है। शुद्ध जीवद्रव्य नहीं।

स्फटिकका दृष्टान्त ।

जपापुष्पोपयोगेन विकारः स्फटिकाश्मनि ।
अर्थात्सोपि विकारश्चाऽवास्तवस्तत्र वस्तुतः ॥ १६९ ॥

अन्वयार्थ.— (अर्थात्) यथार्थमें (जपापुष्पोपयोगेन) जपा कुसुमके—एक प्रकारके लाल फूलके संयोगसे (स्फटिकाश्मनि) स्फटिक मणिमें ('यः') जो (विकारः) विकार अर्थात् लालिमा पडने लगती है (स च विकारः अपि) वह विकारभी (तत्र) उस स्फटिकमें (वस्तुतः) वास्तवमें (अवास्तवः) अवास्तविक है।

भावार्थः— जैसे जपाकुसुमके योगसे जो स्फटिकमें लालिमाका प्रतिभास होता है। वह परनिमित्तजन्य है वास्तविक नहीं। वैसेही पर द्रव्यके संयोग वियोग पूर्वक होनेवाले जीवादि नव तत्वोंमें जो जीवका प्रतिभास होता है वह वास्तविक नहीं है किन्तु केवल व्यवहार दृष्टिमें है। शुद्ध दृष्टिमें नहीं। शुद्ध दृष्टिमें तो जीव अद्वैतरूपही है। उसमें परनिमित्तसे होनेवाली अवस्थाओंका प्रतिभास प्रतीत नहीं होता है।

ज्ञानका दृष्टान्त ।

ज्ञानं स्वयं घटज्ञानं परिच्छिन्दद्यथा घटम् ।
नार्थाज्ज्ञानं घटोयं स्याज्ज्ञानं ज्ञानं घटो घटः ॥ १७० ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (घटं परिच्छिन्दत् ज्ञानं) घटको विषय करनेवाला—जाननेवाला ज्ञान (स्वयं) स्वयं (घटज्ञानं) घटज्ञान कहलाता है परन्तु (अर्थात्) वास्तवमें (अय घटः) यह घट (ज्ञानं न) ज्ञानरूप नहीं हो जाता है किंतु (ज्ञानं ज्ञानं) ज्ञान, ज्ञानरूप और (घट घटः स्यात्) घट, घटरूपही रहता है ।

भावार्थ — जैसे घटको जाननेवाला ज्ञान घटज्ञान कहलाता है । वास्तवमें ज्ञान घटरूप नहीं हो जाता है । किन्तु ज्ञान, ज्ञान और घट, घटही रहता है । वैसेही जीव व्यवहारनयसे नव द्रव्यमय कहा जाता है । किंतु शुद्ध दृष्टिसे वह नव पदार्थमय नहीं है ।

समुद्रका दृष्टान्त ।

वारिधिः सोत्तरंगोऽपि वायुना प्रेरितो यथा ।
नार्थादैक्यं तदात्वेपि पारावारसमीरयोः ॥ १७१ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (वायुना प्रेरितः वारिधिः) वायुसे प्रेरित समुद्र यद्यपि (सोत्तरंग अपि) तरंगित होरहा है तथापि (तदात्वे अपि) उस अवस्थामेंभी (पारावारसमीरयो) समुद्र और वायुमें (अर्थात्) वास्तविक (ऐक्य न) एकता नहीं है ।

भावार्थः— जैसे यद्यपि वायुके निमित्तसे समुद्र सदा लहराता रहता है तथापि वायु और समुद्र वास्तवमें एक नहीं हो जाते है । वैसेही जीव यद्यपि पर द्रव्यके संयोग वियोग पूर्वक होनेवाले नवपदार्थमय कहलाता है । तथापि वह परद्रव्यमय नहीं हो जाता है । किंतु शुद्ध नयसे शुद्ध ही रहता है ।

नमकका दृष्टान्त ।

सर्वतः सैन्धवं खिल्यमर्थादेकरसं स्वयम् ।
चित्रोपदंशकेषूच्चैर्यथानेकरसं यतः ॥ १७२ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (सर्वतः) सब अवस्थाओंमें (अर्थात्) वास्तविक (स्वयं) स्वयं (एकरसं) एक रसवाली अर्थात् खारे रसवाली (यत् सैन्धवं खिल्यं) जो नमककी डली है ('तत्') वह (उच्चैः चित्रोपदंशकेषु) उत्तम नाना प्रकारके व्यंजनोंमें मिलकर (अनेक रस न) अनेक रसवाली नहीं होजाती है।

भावार्थः— जैसे वास्तवमें स्वयं एकरसवाला नमक नाना प्रकारके व्यंजनोंमें मिलकर भिन्न रसवाला नहीं हो जाता है। वैसेही जो जीव स्वयं अद्वैतरूप होकर सब अवस्थाओंमें चिदात्मकही है वह पर द्रव्यके संयोग वियोग पूर्वक होनेवाले जीवादि नव तत्वोंमें विमिश्रित होकर भी अशुद्ध द्वैतरूप नहीं हो जाता है।

उपसंहार।

इति दृष्टान्तसनाथेन स्वेष्टं दृष्टेन सिद्धिमत्।
यत्पदानि नवामूनि वाच्यान्यर्थादवश्यतः॥ १७३॥

अन्वयार्थः— (इति) इसप्रकार (दृष्टांतसनाथेन दृष्टेन) दृष्टांतपूर्वक प्रत्यक्ष प्रमाणसे (यत् स्वेष्टं) जो अपना इष्ट था (तत् सिद्धिमत्) वह सिद्ध होता है कि (अर्थात्) वास्तवमें (अमूनि नव पदानि) ये नव पद (अवश्यतः) अवश्य (वाच्यानि) कहना चाहिये अर्थात सम्यग्दर्शनके विषयभूत मानना चाहिये।

भावार्थः— उक्त दृष्टान्तोंसे सिद्ध होता है कि यद्यपि निश्चयनयसे शुद्ध जीव द्रव्यका स्वरूप नव पदार्थोंसे वस्तुतः भिन्न है तथापि उन नव पदार्थोंको छोडकरके अन्यत्र शुद्ध जीव द्रव्य उपलब्ध नही हो सकता है अर्थात् जैसे अग्नि, तृण काष्ट पाषाण आदि विशिष्ट द्रव्योंके आधार विना, समुद्र वायुके विना, सुवर्ण खनिज अन्य द्रव्यके संयोग के विना, ज्ञान घटादिक विना, और कमल जल विना, उपलब्ध नही हो सकता है वैसेही नव द्रव्यरूप पर्यायोंको छोड-करके अन्यत्र शुद्ध जीव द्रव्यका स्वरूप भी उपलब्ध नहीं हो सकता है। इसलिए जीवके स्वरूपको समझानेके लिए नव पदार्थ अवश्य कहना चाहिए। अर्थात् सम्यग्दर्शनके विषयभूत मानना चाहिये। अब आगे– शुद्ध जीवको नव पदोंमें सर्वथा भिन्न माननेमें दोष बताते हैं।

आशंका।

कैश्चित्तु कल्प्यते मोहाद्वक्तव्यानि पदानि न।
हेयानीति यतस्तेभ्यः शुद्धमन्यत्र सर्वतः॥ १७४॥

अन्वयार्थ— (**कश्चित् तु**) किन्हीं लोगोंके द्वारा (**मोहात्**) मोहसे (**हेयानि पदानि वक्तव्यानि न**) वक्तव्य पद हेय है इसलिए उन्हे नहीं कहना चाहिये (**इति**) ऐसा (**कल्प्यते**) कल्पित किया जाता है (**यतः**) क्योंकि (**तेभ्यः सर्वतः अन्यत्र**) उन सब पदार्थोंसे अतिरिक्त (**शुद्ध**) शुद्ध द्रव्य है ।

भावार्थः— कोई ऐसी कल्पना करते है कि शुद्ध जीव नव तत्वोंसें सर्वथा भिन्न है । इसलिए यहांपर अप्रयोजनभूत हेय नव तत्व नहीं करना चाहिये । परिहार ।

तदसत्सर्वतस्त्यागः स्यादसिद्धः प्रमाणतः ।
तथा तेभ्योऽतिरिक्तस्य, शुद्धस्यानुपलब्धितः ॥ १७५ ॥

अन्वयार्थः— (**तत् असत्**) उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि (**सर्वतः त्यागः**) उनका सर्वथा त्याग अर्थात् अभाव (**प्रमाणतः असिद्धः स्यात्**) प्रमाणसे असिद्ध है (**तथा**) तथा उन नव पदार्थोंको सर्वथा हेय माननेपर (**तेभ्यः अतिरिक्तस्य**) उनके विना (**शुद्धस्य अनुपलब्धितः**) शुद्ध आत्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती हैं

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि जीवाजीवादिक नव पदार्थ जीवके ही पर्याय धर्म है । अतः उनका सर्वथा अभाव नहीं कहा जासकता है । कारण कि पर्यायोंके सर्वथा अभावको माननेसे पर्यायीके भी अभावका प्रसंग आता है । इसलिए उनका सर्वथा अभाव मानना प्रमाणसिद्ध नहीं है । तथा विशेषमात्रके अभावमें सामान्यके भी अभावका प्रसंग आनेसे नव तत्वोंके नहीं माननेपर जीवकी भी उपलब्धि नहीं हो सकती है ।

नावश्यं वाच्यता सिद्ध्येत्सर्वतो हेयवस्तुनि ।
नान्धकारेऽप्रविष्टस्य प्रकाशानुभवो मनाक् ॥ १७६ ॥

अन्वयार्थ— किन्तु (**सर्वतः हेयवस्तुनि**) सर्वथा हेय वस्तुमें अभावात्मक वस्तुमे (**वाच्यता**) वाच्यता (**अवश्य न सिद्ध्येत्**) अवश्य सिद्ध नहीं होसकती है अर्थात् सर्वथा अभावात्मक पदार्थ अलीक होता है अतः उसके कहनेमे अवश्य कुछ प्रयोजन नहीं निकलता है क्योंकि (**अन्धकारे अप्रविष्टस्य**) अन्धकारमें प्रवेश नहीं करनेवाले मनुष्यको (**मनाक्**) कुछभी (**प्रकाशानुभव न**) प्रकाशका अनुभव नहीं होता है

भावार्थः— यदि जीवादिक नौ पदार्थ खरविषाणकी तरह सर्वथा अभावात्मक होते तो उनमें अवश्य वाच्यता सिद्ध नहीं होती। किन्तु वे सर्वथा अभावात्मक नहीं है। भावनापेक्ष अभावात्मक है। अर्थात शुद्ध विरुद्ध जीवकी अशुद्ध पर्यायरूप जीवादिक नौ पदार्थ है। इसलिए जैसे अन्धकारके विना प्रकाशका अनुभव नहीं होता है। वैसेही अशुद्धकी अपेक्षाके विना शुद्ध की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतएव जीवादिक नौ पदार्थोंमें वाच्यता अवश्य सिद्ध होती है।

सारांश यह है कि जैसे प्रकाशानुभव अन्धकारानुभवकी अपेक्षा रखता है वैसेही शुद्ध आत्माका ज्ञान नव तत्वरूप अशुद्ध जीवकी दशाके ज्ञानकी अपेक्षा रखता है। इसलिए नव तत्वोंका सर्वथा त्याग नहीं किया जासकता है।

नवतत्व प्रयोजनभूत है अतः अवाच्यता युक्तियुक्त नहीं है।

नावाच्यता पदार्थानां स्यादकिंचित्करत्वतः।
सार्थानीति यतोवश्यं वक्तव्यानि नवार्थतः ॥ १७७ ॥

अन्वयार्थः— (यतः) क्योंकि (अर्थतः) प्रयोजनवश (सार्थानि नव अवश्य वक्तव्यानि) प्रयोजनभूत नव पदार्थ अवश्य वक्तव्य हैं (इति) इसलिए (अकिंचित्करत्वतः) अकिंचित्कर हेतुसे (पदार्थानां अवाच्यता न स्यात्) पदार्थोंमें अवाच्यता सिद्ध नहीं होती है।

भावार्थः— व्यवहारके लिये जीवादिक नव पदार्थ प्रयोजनभूत है। इसलिये उन्हे अकिंचित्कर हेतुसे अवाच्य कहना युक्तियुक्त नहीं है।

नव पदार्थोंसे अतिरिक्त (द्रव्य) को शुद्ध माननेमे साधन नहीं मिल सकता है।

न स्यात्तेभ्योऽतिरिक्तस्य सिद्धिः शुद्धस्य सर्वतः।
साधनाभावतस्तस्य तद्यथानुपलब्धितः ॥ १७८ ॥

अन्वयार्थः— (तेभ्यः अतिरिक्तस्य सर्वतः शुद्धस्य) उन नव पदार्थोंसे अतिरिक्त सर्वथा शुद्ध द्रव्यकी (सिद्धिः न स्यात्) सिद्धि नहीं होसकती है क्योंकि (साधनाभावतः) साधनका अभाव होनेसे (तस्य)

उस शुद्ध द्रव्यकी (अनुपलब्धितः) उपलब्धि नहीं होसकती है (तद्यथा) जैसाकी आगे शंका समाधानसे प्रगट होता है

भावार्थः— शुद्ध द्रव्य नव पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न है । यह सिद्ध करनेके लिए कोई साधन नहीं मिल सकता है । इसलिए साधनका अभाव होनेसे साध्यरूप शुद्ध द्रव्यका सद्भाव भी सिद्ध नहीं हो सकता है ।

शंका ।

ननु चार्थान्तरं तेभ्यः शुद्धं सम्यक्त्वगोचरम् ॥
अस्ति जीवस्य स्वं रूपं नित्योद्योतं निरामयम् ॥ १७९ ॥
न पश्यति जगद्यावन्मिथ्यान्धतमसा ततम् ।
अस्तमिथ्यान्धकारं चेत् पश्यतीदं जगज्जवात् ॥ १८० ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (तेभ्यः अर्थान्तर) उन नव पदोंसे सर्वथा भिन्न (शुद्धं) शुद्ध (सम्यक्त्वगोचरं) सम्यग्दर्शनका विषयभूत (नित्योद्योतं) नित्य प्रकाशमान (निरामयं) आधिव्याधि रहित (जीवस्य) जीवका (स्वरूप अस्ति) शुद्ध स्वरूप है किंतु (जगत्) लोग (यावत्) जब तक (मिथ्यांधतमसा तत) मिथ्यात्वरूपी गाढ अन्धकारसे व्याप्त रहते है (तावत्) तबतक वे उसी जीवके शुद्ध स्वरूपको (न पश्यति) नहीं देखते है और जिससमय (जगत) लोग (अस्तमिथ्यांधकारं चेत्) मिथ्यारूपी अन्धकारसे रहित होजाते हैं उस समय (जवात्) तत्काल वे (इदं पश्यति) इस जीवके शुद्ध स्वरूपको देखने लगते है—अनुभव करने लगते है ।

भावार्थः— उक्त जीवका शुद्ध स्वरूप नव पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न है और वह सदैव जीवमें विद्यमान रहता है । किन्तु मिथ्यात्वोदयके कारण उसका लोगोंको ज्ञान नहीं होता है । और मिथ्यात्वके हट जानेपर उन्हें अपना वह अपनेमेंही विद्यमान शुद्धस्वरूप तत्कालही ज्ञात हो जाता है ।

समाधान ।

नैवं विरुद्धधर्मत्वाच्छुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
नैकस्यैकपदे द्वे स्तः शुद्धाशुद्धे क्रियेर्थतः ॥ १८१ ॥

अन्वयार्थः— (**एवं न**) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है क्योंकि (**शुद्धाशुद्धत्वयोः द्वयोः**) उन शुद्ध और अशुद्ध दोनों धर्मोंको (**विरुद्ध धर्मत्वात्**) परस्पर विरुद्ध धर्म होनेसे (अर्थतः) वास्तवमें ((**एकस्य**) एक द्रव्यके (**एकपदे**) एकपदरूप पर्यायमें (**शुद्धाशुद्धे द्वे क्रिये**) शुद्ध तथा अशुद्ध दोनो क्रियायें एक साथ (**न स्तः**) नही होसकती है

भावार्थः— जीवका शुद्ध स्वरूप सदैव विद्यमान है किन्तु मिथ्यात्व अवस्था प्राप्त जीव उस शुद्ध जीवके स्वरूपका अनुभव नहीं कर सकता है यदि ऐसा माना जावे तो एक कालमें युगपत् परस्पर विरुद्ध शुद्ध और अशुद्ध दोनों क्रियाओंके पाये जानेका प्रसंग आवेगा जो कि ठीक नहीं हो सकता है।

खुलासा।

अथ सत्यां हि शुद्धायां क्रियायामर्थतश्चितः।
स्यादशुद्धा कथं वा चेदस्ति नित्या कथं न सा ॥ १८२ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ**) अब उक्त कथनका खुलासा करते है कि (अर्थतः) वास्तवमें (**चितः**) आत्माकी (**शुद्धायां क्रियायां सत्यां**) शुद्ध क्रिया होनेपर (**अशुद्धा कथं वा स्यात्**) अशुद्ध क्रिया कैसे होगी (**अस्ति चेत्**) यदि होगी तो (**हि**) निश्चयसे (**सा नित्या कथं न स्यात्**) वह अशुद्ध क्रिया नित्य क्यों नही होगी

भावार्थः— यदि शुद्ध क्रियाके रहते हुएभी अशुद्ध क्रिया रहती है तो शुद्ध क्रियाके समान अशुद्ध क्रियाकाभी सदैव सद्भाव पाया जायगा। और उसका सदैव सद्भाव पाये जानेसे उसमेंभी नित्यताका प्रसंग आवेगा।

अथ सत्यामशुद्धायां बन्धाभवो विरुद्धभाक्।
नित्यायामथ तस्यां हि सत्यां मुक्तेरसंभवः ॥ १८६ ॥ १८३

अन्वयार्थः— (**अथ**) तथा (**अशुद्धायां सत्यां**) अशुद्ध क्रियाके रहनेपर (**बन्धाभावः विरुद्धभाक्**) बन्धका अभाव मानना बाधित होजायगा (**अथ**) और (**तस्यां नित्यायां सत्यां**) उस अशुद्ध क्रियाके नित्य सिद्ध होनेपर (**हि**) निश्चयसे (**मुक्तेः असंभवः**) मुक्तिका होना असंभव होजायगा।

भावार्थः— यदि अशुद्ध क्रियाका सद्भाव सदैव माना जायगा तो कभी भी मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होसकेगी क्योंकि जीवकी अशुद्ध अवस्थाके अभावका नामही तो मुक्ति है ।

उपसंहार ।

ततः सिद्धं यदा येन भावेनात्मा समन्वितः ।
तदाऽनन्यगतिस्तेन भावेनात्माऽस्ति तन्मयः ॥ १८४ ॥ १८४

अन्वयार्थः— (ततः सिद्ध) इसलिए सिद्ध होता है कि (आत्मा) आत्मा (यदा) जिससमय (येन भावेन समन्वितः) जिस भावसे युक्त होता है (तदा) उस समय (तेन भावेन) उसी भावसे (अनन्यगति) अन्यभावरूप न होकर (आत्मा) आत्मा (तन्मय अस्ति) उसी भावमय होता है ।

भावार्थः— इसलिए सिद्ध होता है कि आत्मा जिससमय जिस भावसे युक्त होता है उससमय वह अनन्यगति होकर उसी भावमय अर्थात् शुद्ध अवस्थामें शुद्ध और अशुद्ध अवस्थामें अशुद्ध प्रतीत होता है ।

तस्माच्छुभः शुभेनैव स्यादशुभोऽशुभेन यः ।
शुद्धः शुद्धेन भावेन तदात्वे तन्मयत्वतः ॥ १८५ ॥ १८५

अन्वयार्थः— (तस्मात्) इसलिए (तदात्वे तन्मयत्वतः) उस समय उसीभावरूप परिणत होनेके कारण (यः शुभ) जो शुभ है वह (शुभेन एव) शुभ भावसेही जो (अशुभः) अशुभ है वह (अशुभेन) अशुभ भावसे और (शुद्धः) जो शुद्ध है वह (शुद्धेन भावेन) शुद्धभावसेही कहा जाता है

भावार्थः— जीवोंकी शुभ अशुभ और शुद्ध रूपसे तीन प्रकारकी परिणति होती है । तथा उन तीनों प्रकारकी परिणतियोंमेंसे जिससमय जो परिणति होती है । उससमय वह उसी परिणति रूपसे कहा जाता है अर्थात् शुभ अवस्थामें केवल शुभ, अशुभ अवस्थामें केवल अशुभ और शुद्ध अवस्थामें केवल शुद्धही कहलाता है अन्य नहीं ।

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किंचिच्छुद्धमनीदृशम् ।
शुद्धं नव पदान्येव तद्विकारादृते परम ॥ १८६ ॥ १८६

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिए (शुद्धं) शुद्ध तत्व (किंचित्) कुछ (तेभ्यः) उन नव तत्वोंसे (अनीदृशं) विलक्षण (अर्थान्तरं न) अर्थांतर नहीं हैं किंतु (परं) केवल (तद्विकारात् ऋते) नव तत्व सम्बन्धी विकारोंको छोडकर (नवतत्वानि एव शुद्धं) नव तत्वही शुद्ध है ।

भावार्थः— इसलिए सिद्ध होता है कि केवल विकारकी उपेक्षा करनेसे नव तत्वही शुद्ध जीव है । नव-तत्वोंसे कुछ सर्वथा भिन्न शुद्धत्व नहीं है ।

अतस्तत्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सद्दर्शनं मतम् ।
तत्तत्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः क्रमादपि ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थः— (अतः) इसलिए (सूत्रे) सूत्रमें (तत्वार्थश्रद्धानं) तत्वार्थका श्रद्धान करना (सद्दर्शनं मतं) सम्यग्दर्शन माना गया है और (तत् तत्वं अपि) वे तत्वभी (जीवाद्याः नव) जीवाजीवादिरूपसे नव है अतः (यथाक्रमात) क्रमानुसार उन नव तत्वोंका (उद्देश्या.) कथन करना चाहिये ।

भावार्थः— विकारकी उपेक्षा करनेसे नवतत्वोंसे अभिन्न शुद्धत्व है । अतः सूत्रकारने इन नवतत्वोंके यथार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है । इसलिए अब यथाक्रमसे उन नव तत्वोंका निर्देश करना चाहिये ।

तत्वोंके कथनका क्रम ।

तदुद्देशो यथा जीवः स्यादजीवस्तथास्रवः ।
बन्धः स्यात्संवरश्चापि निर्जरा मोक्ष इत्यपि ॥ १८८ ॥

अन्वयार्थ.— (तदुद्देश्यो यथा) उनका निर्देश–नाममात्र कथन इसप्रकार है कि (जीव अजीवः तथा आश्रवः स्यात्) जीव अजीव और आश्रव (बन्धः च संवर अपि स्यात्) बन्ध तथा संवर (निर्जरा अपि मोक्षः) निर्जरा और मोक्ष (इति) ये सात तत्व है ।

भावार्थ.— जीव, अजीव, आश्रव बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इसप्रकारसे सात तत्वोंका निर्देश है ।

सप्तैते पुण्यपापाभ्यां पदार्थास्ते नव स्मृता ।
सन्ति सद्दर्शनस्योच्चैर्विषया भूतार्थमाश्रिताः ॥ १८९ ॥

अन्वयार्थः— (पुण्यपापाभ्यां 'सह') पुण्य और पापके साथ (एतेसप्त) ये सात तत्व ही (तेनव पदार्थाःस्मृताः) वे नव पदार्थ कहे गये है तथा (भूतार्थ आश्रिताः) येहि नवपदार्थ यथार्थताको लिये हुये (सद्दर्शनस्य उच्चैः विषयाःसन्ति) सम्यग्दर्शनके वास्तविक विषय है

भावार्थः— तथा पुण्य और पापके साथ जीवादि सात तत्वही नवपदार्थ कहलाते है । तथा ये नव पदार्थ ही यथार्थताको लिये हुए सम्यग्दर्शनके यथार्थ विषय है ।

जीव तत्वके वर्णनकी प्रतिज्ञा ।

तत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथाधुना ।
कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः ॥ १९० ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन तत्वोंमेंसे (अधुना) अब (पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः कवि) पूर्वापर सम्बन्धपूर्वक पर्यालोचन करनेवाला कवि (अधिजीवं आख्यानं) जीवका व्याख्यान (विदधाति) करता है (यथा) जैसे ।

भावार्थः— उन नव तत्वोंमेंसे अब ग्रन्थकार जीव तत्वका कथन करते है ।

जीवसिद्धिः सती साध्या सिद्धा साधीयसी पुरा ।
तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये साक्षात्तल्लब्धिसिद्धये ॥ १९१ ॥

अन्वयार्थः— (पुरा) पहले (सती सिद्धा) भले प्रकार सिद्ध की गई (जीवसिद्धिः) जीवकी सिद्धि (साधीयसी साध्या) अत्यन्त विशारदरूपसे सिद्ध करना है इसलिए (साक्षात्तल्लब्धि सिद्धये) साक्षात् जीवकी उपलब्धिके लिए (तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये) उसका प्रसिद्ध लक्षण कहता हूं ।

भावार्थः— यद्यपि साधारणरूपसे पदार्थोंके विशेष स्वरूपको बताते समय जीवकी सिद्धि की जाचुकी है। तथापि साक्षात् जीवकी उपलब्धिके लिये उसको विशदरीतिसे सिद्धि करना है। इसलिए अब जीवकी सिद्धिके लिये जीवका प्रसिद्ध लक्षण कहते है। जीवका लक्षण।

स्वरूपं चेतना जन्तोः सा सामान्यात्सदेकधा।
सद्विशेषादपि द्वेधा क्रमात्सा नाऽक्रमादिह ॥ १९२ ॥

अन्वयार्थः— [एका शुद्धाचेतना स्यात्] एक शुद्ध चेतना है और (तत परा अशुद्धा स्यात्) उस से विपरीत दूसरी अशुद्ध चेतना है उनमेंसे (शुद्धा) शुद्ध चेतना (आत्मन. तत्त्व स्यात्) आत्माका स्वरूप है तथा (अशुद्धा) अशुद्ध चेतना (आत्मकर्मजा अस्ति) आत्मा और कर्मके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला है अर्थात् आत्माके अशुद्ध स्वरूपमय है।

भावार्थ:— सामान्यकी अपेक्षासे चेतना एक प्रकारकी होती हैं। और विशेषकी अपेक्षासे क्रमपूर्वक शुद्ध तथा अशुद्ध रूपसे दो प्रकारकी होती है। युगपत् शुद्ध व अशुद्ध रूपसे दो प्रकारकी नहीं होती हैं।

चेतनाके भेद और उनका स्वरूप।

एका स्याच्चेतना शुद्धा स्यादशुद्धा परा ततः।
शुद्धा स्यादात्मनस्तत्त्वमस्त्यशुद्धाऽऽत्मकर्मजा ॥ १९३ ॥

अन्वयार्थः— (जन्तो स्वरूपं चेतना) जीवके स्वरूपको चेतना कहते है और (सा) वह चेतना (इह) यहांपर (सामान्यात्) सामान्यरूपसे–द्रव्यदृष्टिसे (सदा) सदा (एकधा) एक प्रकारकी होती है (अपि) तथा (सद्विशेषात्) विशेषरूपसे–पर्याय दृष्टिसे (सा) वह चेतना (क्रमात्) क्रमसे (द्वेधा) दो प्रकारकी होती है [अक्रमात् न] युगपत् नहीं।

भावार्थः— चेतनाके दो भेद है। १ शुद्ध चेतना और २ अशुद्ध चेतना। उनमेंसे आत्माके शुद्ध स्वरूपको शुद्ध चेतना कहते है। तथा आत्मा और कर्मके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली चेतनाको अर्थात् आत्माके अशुद्ध स्वरूपको अशुद्ध चेतना कहते है।

एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्वतः ।
शुद्धा शुद्धोपलब्धित्वाज्ज्ञानत्वाज्ज्ञानचेतना ॥ १९४॥

अन्वयार्थः— (शुद्धस्य एकविधत्वत.) शुद्ध ज्ञान एकप्रकारकाही होता है इसलिए (शुद्धचेतना एकधा) शुद्ध चेतना एक प्रकारकी होती है और वह (शुद्धोपलब्धित्वात्) शुद्ध आत्माको विषय करनेके कारण (शुद्धा) शुद्ध तथा (ज्ञानत्वात्) ज्ञानमय होनेके कारण (ज्ञानचेतना) ज्ञान चेतना कहलाती है ।

भावार्थः— शुद्धोपलब्धि रूप होनेसे उसे शुद्ध और ज्ञान मय होनेसे उसे ज्ञानचेतना कहते हैं ।

अशुद्ध चेतनाके भेद ।

अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना ।
चेतनत्वात्फलस्यास्य स्यात्कर्मफलचेतना ॥ १९५ ॥

सर्वे कर्मफलं मुख्यभावेन स्थावरास्त्रसाः । सकार्यं चेतयन्तेऽस्तप्राणित्वा ज्ञानमेव च ॥ ३५ ॥ अनगार धर्मामृत

भावार्थः— मुख्यतासे स्थावरोंके कर्मफलचेतना, त्रसोंके कर्मचेतना और जीवन त्रसोंके ज्ञानचेतना होती है, जीवन्मुक्त शुद्धसे सम्यग्दृष्टिसे लेकर १३ गुणस्थानकी ग्रहण, अपेक्षाभेदसे होता है

चेतयन्तेऽनुभवन्ति । के ? सर्वे स्थावरा एकेन्द्रिया जीवा पृथिवीकायिकादयः । किं तत् ? कर्मफलं सुखदुःखम् । केन? मुख्यभावेन । तथा चेतयन्ते । के त्रसा द्वीन्द्रियादयः । किं तत् ? कर्मफलम् । किं विशिष्टम् ? सकार्यम् । क्रियते इति कार्यं कर्म । बुद्धिपूर्वो व्यापार इत्यर्थः । तेन सहितम् । कार्यचेतना हि प्रवृत्तिनिवृत्तिकारणभूतक्रियाप्राधान्येनोत्पाद्यमानः सुखदुःखपरिणामः । तथा चेतयन्ते । के ? अस्तप्राणित्वा. प्राणित्वमतिक्रान्ता जीवाः किं ? ज्ञानमेव । ते हि व्यवहारेण जीवन्मुक्ताः परमार्थेन परममुक्ताश्च मुक्ता एव हि निर्जीर्णकर्मफलत्वादत्यन्तकृतकृत्यत्वाच्च स्वतोऽव्यतिरिक्तस्वाभाविकसुखं ज्ञानमेव चेतयन्ते । जीवन्मुक्तास्तु मुख्यभावेन ज्ञानं गौणतया त्वन्यदपि । ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं ह्यज्ञानचेतना । सा द्विविधा कर्मचेतना कर्मफलचेतना च । तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना । ज्ञानादन्यत्रेदं चेतयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना । सा चोभय्यपि जीवन्मुक्ते गौणी बुद्धिपूर्वककर्तृत्वभोक्तृत्वाभावात्तयोरुच्छेदात् ।

अन्वयार्थः— (अशुद्ध चेतना द्वेधा) अशुद्ध चेतना दो प्रकारकी होती है (तद्यथा) जैसे (कर्मचेतना) एक तो कर्म चेतना और दूसरी (अस्य फलस्य चेतनत्वात्) इस कर्मजन्य फलका अनुभव करनेके कारण (कर्मफलचेतना स्यात्) कर्मफलचेतना कहलाती है।

भावार्थ.— कर्म चेतना और कर्मफलचेतना इसतरह अशुद्ध चेतना दो प्रकारकी होती है।

शुद्ध चेतनाका निरुक्ति पूर्वक अर्थ।

अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयम्।
स चेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना ॥ १९६ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) इस ज्ञानचेतना शब्दमें (ज्ञानशब्देन) ज्ञान शब्दसे (आत्मा वाच्यः) शुद्ध आत्मा वाच्य पडता है—कहाजाता है क्योंकि वह (स्वयं तन्मात्रतः) स्वयं ज्ञानस्वरूप है और (सः शुद्ध) वह शुद्ध आत्मा (अनया चेत्यते) इस चेतनाके द्वारा अनुभूत होता है—जाना जाता है इसलिये (सा ज्ञानचेतना) वह ज्ञान चेतना (शुद्धा) शुद्ध कहलाती है।

भावार्थः— ज्ञानचेतनामें ज्ञानशब्दसे ज्ञानमय होनेके कारण शुद्ध आत्माका ग्रहण होता है। और वह शुद्ध आत्मा जिसके द्वारा अनुभूत हो उसको ज्ञानचेतना कहते हैं। यही ज्ञानचेतनाका निरुक्त्यर्थ है।

स्पष्टीकरण।

अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा।
आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञानचेतना ॥ १९७ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) उक्त कथनका खुलासा इस प्रकार है कि (यदा) जिस समय (ज्ञानं गुणः) आत्माका ज्ञानगुण (सम्यक् प्राप्तावस्थान्तर) सम्यक्त्वयुक्त प्राप्त किया है अवस्थान्तर जिसने ऐसा अर्थात् मिथ्यात्वोदयके अभावसे युक्त होकर (आत्मोपलब्धिरूप स्यात्) आत्मस्वरूपकी उपलब्धिरूप होता है (तदा) उस समय (ज्ञानचेतना उच्यते) उसे ज्ञानचेतना कहते हैं।

भावार्थः— आत्मस्वरूपकी उपलब्धिरूप सम्यग्ज्ञानको ज्ञान चेतना कहते है।

ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टीकेही होती है।

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसम्भवात् ॥ १९८ ॥

अन्वयार्थः— (नूनं) निश्चयसे (सा ज्ञानचेतना) वह ज्ञानचेतना (सम्यग्दृगात्मनः अस्ति) सम्यग्दृष्टी जीवके होती है क्योंकि (तदात्वे तदसम्भवात्) मिथ्यात्वका उदय होनेपर उस आत्मोपलब्धिका होना असम्भव है इसलिए वह ज्ञानचेतना (मिथ्यादृशः क अपि न स्यात्) मिथ्यादृष्टी जीवके किसीभी अवस्थामें नहीं होती है।

भावार्थः— वह ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टी जीवकेही होती है। मिथ्यादृष्टी जीवके किसी भी अवस्थामें नहीं होती है। क्योंकि मिथ्यात्वके उदयमें उसका होना संभव नहीं है।

क्योंकि।

अस्ति चैकादशांगानां ज्ञानं मिथ्यादृशोऽपि यत्।
नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात्परम् ॥ १९९ ॥

अन्वयार्थः— (यत्) क्योंकि (मिथ्यादृशः अपि) मिथ्यादृष्टीकेभी (एकादशांगानां ज्ञानं अस्ति) ग्यारह अंगो तकका ज्ञान होता है (पर च) किंतु (अस्य मिथ्याकर्मोदयात्) इसके मिथ्यात्व कर्मका उदय होनेके कारण (आत्मोपलब्धिः न अस्ति) आत्मोपलब्धि नही होती है।

भावार्थः— क्योंकि मिथ्यादृष्टी जीवके ग्यारह अंगोतकका ज्ञान हो जाता है। परन्तु मिथ्यात्व कर्मका उदय रहनेसे उसके स्वात्माकी यथार्थ उपलब्धि नहीं होती है। इसलिये सम्यग्दृष्टीकेही ज्ञान चेतना होती है यह कहा गया है।

शंका।

ननूपलब्धिशब्देन ज्ञानं प्रत्यक्षमर्थतः।
तत् किं ज्ञानावृतेः स्वीयकर्मणोन्यत्र तत्क्षतिः ॥ २०० ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (अर्थतः) वास्तवमें (उपलब्धिशब्देन) ज्ञान चेतनाके लक्षणभूत आत्मोपलब्धिमें उपलब्धि शब्दसे (प्रत्यक्ष ज्ञानं) 'प्रत्यक्ष ज्ञान' यह अर्थ निकलता है इसलिए ज्ञानावरण कर्मको आत्मोपलब्धिका घातक मानना चाहिये। मिथ्यात्वोदयको नहीं मानना चाहिये किंतु उसके पक्षमें जब मिथ्यात्वके उदयको उस आत्मोपलब्धिका घातक माना है (नतिंक) तो क्या (इतरोपकमेण ज्ञानावृते अन्यत्र) ज्ञान घातक ज्ञानावरण कर्मके सिवाय कोई दूसरे कर्मके द्वाराभी (तत्क्षतिः) उस आत्मोपलब्धिका घात होता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि आत्मोपलब्धिमें उपलब्धि शब्दको प्रत्यक्ष ज्ञानका वाचक होनेसे ज्ञान चेतनाका अर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। किन्तु जब ग्यारह अंगके पाठीके भी मिथ्यात्वके कारण ज्ञान चेतना नहीं मानी जाती है। तो क्या ज्ञानावरणके अतिरिक्त अन्य कर्मोदयसे ज्ञान चेतनाका घात होता है?

समाधान।

सत्यं स्वावरणस्योच्चैर्मूलं हेतुर्यथोदयः।
कर्मान्तरोदयापेक्षो नासिद्धः कार्यकृद्यथा ॥ २०१ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है (यथा) जैसे (स्वावरणस्य उदयः) अपने २ ज्ञानके घातमें अपने २ आवरणका उदय (उच्चैः) वास्तवमें (मूल हेतु) मूल कारण है (तथा) वैसेही वह ज्ञानावरण आदि (कर्मान्तरोदयापेक्ष) दूसरे कर्मोके उदयकी अपेक्षा सहित (कार्यकृत) कार्यकारी होता है यहभी (असिद्धः न) असिद्ध नहीं है (यथा) जैसाकि आगे खुलासा करते है।

भावार्थः— जैसे ज्ञानावरण कर्मका उदय वीर्यान्तराय कर्मके उदयकी अपेक्षा रखकर ज्ञानका घातक होता है वैसेही आत्मोपलब्धिके घातमेंभी मिथ्यात्वके उदयसे साथ ज्ञानावरणके उदयही कारण है। किन्तु सिर्फ ज्ञानावरणका उदयही आत्मोपलब्धिके घातमें कारण नहीं है। इसलिये ग्यारह अंगके पाठी मिथ्यादृष्टिके ज्ञानावरणका विशेष क्षयोपशम होते हुएभी मिथ्यात्वका उपशमादि नहीं होनेसे शुद्ध आत्मोपलब्धिरूप ज्ञानचेतना नहीं होती है;

स्पष्टीकरण ।

अस्ति मत्यादि यज्ज्ञानं ज्ञानावृत्युदयक्षतेः ।
तथा वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽनुदयादपि ॥

अन्वयार्थ.— ('यथा') जैसे (यत्) जो (मत्यादिज्ञानं) मत्यादिक ज्ञान (ज्ञानावृत्युदयक्षतेः) ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है (तथा) वैसेही (तत्) वह मतिज्ञानादि (वीर्यान्तरायस्य कर्मणः अनुदयात् अपि) वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसेभी (अस्ति) होता है।

भावार्थः— जैसे मतिज्ञानादिक ज्ञान ज्ञानावरण आदिके क्षयोपशम व क्षयसे होते है वैसेही वे यथायोग्य वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम वक्षयसे भी होते है। अर्थात मतिज्ञानादिककी प्राप्तिमें केवल, ज्ञानावरणादिका क्षयोपशम कारण नहीं है किन्तु उसके साथ २ यथायोग्य वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमकी भी आवश्यकता पडती है।

मत्याद्यावरणस्योच्चैः कर्मणोऽनुदयाद्यथा ।
दृङ्मोहस्योदयाभावादात्मशुद्धोपलब्धिः स्यात् ॥२०३॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (उच्चैः) वास्तविक (आत्मशुद्धोपलब्धिः) आत्माकी शुद्धोपलब्धि (मत्याद्यावरणस्य कर्मणः अनुदयात्) स्व योग्य मतिज्ञानावरणादि कर्मके अभावसे होती है वैसेही (दृङ्मोहस्य उदयाभावात् स्यात्) दर्शन मोहनीय कर्मके उदयके अभावसे होती है।

भावार्थः— केवल मतिज्ञानावरणादिके अभावसे शुद्धोपलब्धि नहीं होती है। किन्तु दर्शन मोहनीय और ज्ञानावरण कर्मके उदयके अभावसे शुद्ध आत्मोपलब्धि होती है।

प्रकारान्तरसे समाधान ।

किंचोपलब्धिशब्दोपि स्यादनेकार्थवाचकः ।
शुद्धोपलब्धिरित्युक्ता स्यादशुद्धत्वहानये ॥२०४

अन्वयार्थः— (किं च) दूसरा उत्तर यह है कि (उपलब्धिः शब्दः अपि) उपलब्धि शब्दभी (अ-

नेकार्थवाचकः स्यात्) अनेकार्थवाचक है इसलिए यहांपर प्रकरणवश (अशुद्धत्वहानये) अशुद्धताके अभावके प्रगट करनेके लिए (शुद्धाउपलब्धि. इति उक्ता स्यात्) ' शुद्ध ' उपलब्धि ऐसा कहा है।

भावार्थ.— यद्यपि उपलब्धिको प्रत्यक्ष ज्ञानवाचक मानने पूर्वक होनेवाली शंकाका उत्तर दिया जाचुका है तथापि शंका निवारणार्थ ग्रन्थकार दूसराभी उत्तर देते हैं कि उपलब्धि शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। इसलिए यहांपर आत्मोपलब्धिमें उपलब्धि शब्द अशुद्धताके अभावका वाचक मानना चाहिये। प्रत्यक्षज्ञान वाचक नहीं। अतः आत्माकी अशुद्धताके अभावको आत्मोपलब्धि कहनेसे ग्यारह अंगके पाठीके ज्ञानकी विशालता रहनेपर भी, मिथ्यात्वोदय जन्य अशुद्धताका अभाव न होनेसे, ज्ञान चेतनाका सद्भाव नहीं पाया जाता है।

अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परम।
सुदृशां गौणरूपेण स्यान्न स्याद्वा कदाचन ॥२०५॥

अन्वयार्थ — (तथा अशुद्धोपलब्धिश्च) उसप्रकारकी अशुद्धोपलब्धिभी मुख्यरूपसे (परं) केवल (मिथ्यादृशां) मिथ्यादृष्टि जीवोंके (अस्ति) होती है और (सुदृशां) सम्यग्दृष्टियोंके (गौणरूपेण कदाचन स्यात्) गौणरूपसे कभीहोती है (वा) अथवा (न स्यात्) नहींभी होती है।

भावार्थ— तथा उसप्रकारकी वह अशुद्धोपलब्धि मुख्य रूपसे केवल मिथ्यादृष्टियोंकेही होती है सम्यग्दृष्टियोंके नहीं। यदि कदाचित् सम्यग्दृष्टियोंके हो भी तो वह गौणरूपसे होती है मुख्यरूपसे नहीं।

स्पष्टीकरण।

तद्यथा सुखदुःखादिरूपेणात्माऽस्ति तन्मयः।
तदात्वेऽहं सुखी दुःखी मन्यते सर्वतो जगत् ॥२०६॥
यद्वा क्रुद्धोयमित्यादि हिनस्म्येनं हठाद्द्विषम्।
न हिनास्मि वयस्यं एवं सिद्धं चेत्तत सुखादिवत् ॥२०७॥
बुद्धिमानत्र संवेद्यो यः स्वयं स्यात्संवेदकः।

स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमुपलब्धिरियं यतः ॥ २०८ ॥

अन्वयार्थ— (तद्यथा) उक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (तदात्वे) अशुद्धोपलब्धिके समयमें (आत्मा सुखदुःखादिरूपेण तन्मयः अस्ति) आत्मा सुख और दुःख आदि रूपसे सुखदुःखमय होजाता है इसलिए (जगत्) संसारी लोग जीव (सर्वतः) मुख्य और गौण दोनोंही विवक्षाओंसे (अहं सुखीदुःखी मन्यते) मैं सुखी हू मैं दुखी हू इस तरह मानते हैं (यद्वा) अथवा (अहं शुद्धः) मैं शुद्ध हूं (इत्यादि) इत्यादि मानकर (एन द्विषं) इस शत्रुको (हठात्) अवश्य (हिनस्मि) मारुंगा और (स्वं वयस्यं न हिनस्मि) अपने मित्रको नहीं मारुंगा। (एतत् च) यहभी (सुखादिवत् सिद्ध) मैं सुखी दुखीकी तरह अशुद्धोपलब्धिमें सिद्ध होता है (यतः) क्योंकि (अत्र) शुद्धोपलब्धिमें (यः बुद्धिमान् संवेद्यः) जो चेतनावान् जीव ज्ञेय होता है (सः) वही (स्वयं वेदक स्यात्) स्वयं ज्ञानी माना जाता है अर्थात् निश्चयनयसे ज्ञान और ज्ञेयमें कोई अन्तर नहीं माना जाता है इसलिए (इय उपलब्धि) यह शुद्धोपलब्धि (स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानं) अतींद्रिय ज्ञानरूप पडती हैं।

भावार्थः— पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि संसारी जीवोंकी आत्मा अशुद्धोपलब्धिके निमित्तवश सुखदुःखादि रूपसे सुखदुखादिमय होजाती है । इसलिए उस अशुद्धोपलब्धिके समय वे अपनेमें सुखी दुखीका अनुभव करने लगते है । अथवा मैं क्रोधी हूं यह मेरा शत्रु है यह मेरा मित्र है मैं अपने शत्रुका घात करुगा मित्रका नहीं इत्यादि रूपसे सुखी दुखीकी तरह अनुभव करने लगते है क्योंकि शुद्धोपलब्धिको अभेदरूप होनेसे उसमें ज्ञान तथा ज्ञेयका भेद प्रतिभासित नहीं होता है । इसलिए वह अतींद्रिय है । और अशुद्धोपलब्धिमें भेद प्रतिभासित होता है । सुखदुखकी तथा शत्रुमित्रकी कल्पना होती है । इसलिए वह अशुद्धोपलब्धि मानसिक ज्ञानात्मक होनेसे इंद्रियजन्य है । अतः मैं क्रोधी हूं यह मेरा मित्र है यह मेरा शत्रु है इत्यादि ज्ञानमेंभी मैं सुखी दुखीकी तरह अशुद्धोपलब्धिपना असिद्ध नहीं है ।

नोपलब्धिरसिद्धास्य स्वादुसंवेदनात्स्वयम् ।
अन्यादेशस्य संस्कारमन्तरेण सुदर्शनात् ॥२०९ ॥

अन्वयार्थः— (अस्य) संसारी जीवोंके (स्वादुसंवेदनात्) मैं सुखी दुखी इत्यादि रूपसे सुखदु-

खके स्वादका अनुभव होनेके कारण (उपलब्धिः असिद्धा न) अशुद्धोपलब्धि असिद्ध नहीं है किंतु सिद्धही है क्योंकि उनके (स्वयं अन्यादेशस्य संस्कारं अन्तरेण सुदर्शनात्) स्वयंही और दूसरी अपेक्षाका संस्कार नहीं होता है इसलिए केवल यही उपलब्धि देखी जाती है।

भावार्थः— उपरके तीन पद्योंसे संसारी जीवोंके जो अशुद्धोपलब्धि बताई है वह असिद्ध नहीं है। क्योंकि उनके शुद्ध निश्चयनयके संस्कारके विना स्वयं ही मैं सुखी हुं, मैं दुखी हुं इत्यादि रूपसे सुख दुखके स्वादके संवेदनसे अशुद्धोपलब्धि पाई जाती है अर्थात संसारी जीवोंके शुद्ध निश्चयनयके संस्कारके विना जो सुखदुख रूपसे अपना अनुभव पाया जाता है उसके कारण उनके अशुद्धोपलब्धि असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्धही है।

नातिव्याप्तिरभिज्ञाने ज्ञाने वा सर्ववेदिनः।
तयोःसंवेदनाभावात केवलं ज्ञानमात्रतः ॥ २१० ॥

अन्वयार्थः— (अभिज्ञाने) स्वानुभूतिरूप मतिश्रुत ज्ञानमें (वा) अथवा (सर्व वेदिनः ज्ञाने) सर्वज्ञके ज्ञानमें (व्याप्तिः न अस्ति) अशुद्धोपलब्धिकी व्याप्ति नहीं है अर्थात उनमें अशुद्धोपलब्धिका लक्षण नहीं घटता है क्योंकि (तयोः संवेदनाभावात्) उन दोनो ज्ञानोंमें सुख दुखके स्वादका संवेदन नहीं होता है इसलिये वे दोनों (केवलज्ञानमात्रतः) केवल, ज्ञानरूप होते है सुखदुखानुभवन करनेवाले नहीं होते है।

भावार्थ — उक्त अशुद्धोपलब्धिकी व्याप्ति मिथ्या दृष्टियोंके ज्ञानकेही साथ पाई जाती है। किन्तु सम्यग्दृष्टीके स्वानुभूतिरूप सम्यग्ज्ञानमें और सर्वज्ञके केवल ज्ञानके साथ नहीं पाई जाती है। क्योंकि यद्यपि उसके वे ज्ञान ज्ञानात्मक है परन्तु सुख दुखके स्वादके संवेदन रूप नहीं है।

क्योंकि।

व्याप्यव्यापकभावः स्यादात्मनि नातदात्मनि।
व्याप्यव्यापकताभावः स्वस्तः सर्वत्र वस्तुषु ॥ २११ ॥

अन्वयार्थः— (आत्मनि) अपनेमेंही (व्याप्यव्यापक भावः स्यात्) व्याप्यव्यापक भाव होता है (अतदात्मनि न) अपनेसे भिन्नमें नहीं होता है क्योंकि वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो (सर्वत्र वस्तुषु)

सर्व पदार्थोंका (स्वतः) अपनेमेंही (व्याप्यव्यापकताभावः) व्याप्य व्यापकपनेका होना संभव है । अन्यका अन्यमें नहीं ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टी जीवका स्वानुभूतिरूप ज्ञान और केवलीका केवल ज्ञान ये दोनों ज्ञान सुख दुखके अनुभवसे रहित है । इसलिए उनमें केवल, ज्ञानमात्रता रहनेके कारण उनके साथ अशुद्धोपलब्धिकी व्याप्ति नहीं कही जा सकती है । क्योंकि जैसे निश्चयनयसे किसी पदार्थका किसी पदार्थके साथ आधार आधेयभाव नहीं है वैसेही किसी पदार्थका किसी पदार्थके साथ व्याप्यव्यापक भाव भी नहीं है । सबही पदार्थोंका अपने स्वरूपके साथही व्याप्यव्यापक भाव होता है अन्यके साथ नहीं । अतः परसंयोगके निमित्तसे होनेवाली अशुद्धोपलब्धिकी व्याप्ति शुद्धोपलब्धिरूप स्वानुभूतिके साथ तथा केवल ज्ञानके साथ नहीं होसकती है—नहीं पाई जाती है ।

उपसंहार ।

उपलब्धिरशुद्धासौ परिणामक्रियामयी ।
अर्थादौदयिकी नित्यं तस्माद्बन्धफला स्मृता ॥ २१२ ॥

अन्वयार्थः— (परिणामिकक्रियामयी) परिणमनशील क्रियारूप उपलब्धिसे अर्थात् पर्यायार्थिक दृष्टिसे रागद्वेषवश मैं सुखी हूं मैं दुखी हू इत्यादि रूपसे जो उपलब्धि होती है (असौ अशुद्धा उपलब्धिः) वह अशुद्धोपलब्धि है और वह (अर्थात) वास्तवमें (औदयिकी) कर्मोंके उदयसे होनेवाली है (तस्मात) इस लिए वह (नित्यबन्धफला स्मृता) सदैव नित्य वन्ध करानेवाली मानी गई है संवर तथा निर्जरा करानेवाली नहीं ।

भावार्थः— मिथ्यात्वके उदयसे जो जीवकी अशुद्ध परिणति हो रही है । और जिस अशुद्ध परिणतिके कारण यह आत्मा परवस्तुमें रागी द्वेषी होता हुआ कर्मोदयवश अपनेको सुखी दुखी मानकर सुखदुख रूपसे अपने स्वरूपको समझ रहा है वह अशुद्ध परिणति वास्तवमें मिथ्यात्वकर्मके उदय वश होनेसे नित्य वन्धरूप फलको देनेवाली मानी गई है ।

अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात् ।
न ज्ञानचेतना किंतु कर्म तत्फलचेतना ॥ २१३ ॥

अन्वयार्थः— (**सा अशुद्धोपलब्धिः**) वह अशुद्धोपलब्धि (**ज्ञानाभासात् चिदन्वयात्**) शुद्ध आत्माके आभासरूप चिदन्वयसे अशुद्ध आत्माके प्रतिभासमय होनेके कारण (**ज्ञानचेतना न**) ज्ञानचेतनारूप नही कही जासकती है (**किंतु**) किंतु (**कर्मतत्फलचेतना**) कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनारूप कही जाती है ।

भावार्थः— और उस अशुद्धोपलब्धिमें शुद्ध ज्ञानका प्रतिभास नहीं होता है किन्तु अशुद्ध ज्ञानरूपसे चेतनाका प्रतिभास होता है अर्थात अशुद्ध आत्माका अनुभव होता है इसलिए उसको ज्ञान चेतना नहीं कह सकते है किन्तु कर्म तथा कर्मफल चेतनाही कहते है ।

इयं संसारिजीवानां सर्वेषामविशेषतः ।
अस्ति साधारणीवृत्ति र्न स्यात् सम्यक्त्वकारणम् ॥२१४॥

अन्वयार्थ — (**इय**) यह कर्म और कर्मफलरूप अशुद्ध चेतना (**सर्वेषां संसारिजीवानां**) सपूर्ण संसारि जीवोंके (**अविशेषत**) सामान्यतासे (**साधारणी वृत्तिः अस्ति**) साधारण वृत्ति है अर्थात् सामान्य रूपसे सब संसारि जीवोंके पाई जाती है इसलिए यह (**सम्यक्त्वकारण न**) सम्यक्त्वका कारण नही है ।

भावार्थः— कर्म और कर्मफल ये दोनों चेतनायें सामान्य रूपसे भव्य व अभव्य सब जीवोंके पाई जाती है । इसलिए ये दोनों चेतनायें सम्यक्त्वका कारण नहीं मानी गई है ।

न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम् ।
शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक् ॥ २१५ ॥

अन्वयार्थ — (**वा**) तथा (**आत्मोपलब्धि सम्यग्दर्शनलक्षणं न स्यात**) केवल आत्माकी उपलब्धिभी सम्यग्दर्शनका लक्षण नही होसकता है किंतु (**शुद्धा चेत सम्यक्त्व अस्ति**) यदि वह उपलब्धि शुद्ध विशेषण युक्त हो अर्थात् शुद्ध आत्मोपलब्धि हो तो सम्यग्दर्शनका लक्षण हो सकता है (**चेत् सा शुद्धा न**) यदि वह आत्मोपलब्धि अशुद्ध हो तो वह (**सुदृक् न**) सम्यग्दर्शनका लक्षण नही होसकता है ।

भावार्थः— उपलब्धि शब्द सामान्यवाचक है । और अशुद्धोपलब्धि शुद्धोपलब्धि ये विशेष वाचक है ।

अर्थात् यद्यपि शुद्ध तथा अशुद्धके भेदसे उपलब्धिके दो भेद हो जाते हैं तथापि सामान्यरूपसे उपलब्धिपना दोनोंमेही सिद्ध हो सकता है। इसलिए शुद्धाशुद्ध विशेषण रहित सामान्य उपलब्धि भी व्यापक होनेसे अपने सब अवान्तर भेदोंमें पाये जानेके कारण अर्थात् शुद्धोपलब्धिके समान अशुद्धोपलब्धिमें पाये जानेके कारण वह सम्यग्दर्शनका लक्षण नहीं हो सकती है। किन्तु शुद्धोपलब्धिही सम्यग्दर्शनका लक्षण हो सकती है। अशुद्धोपलब्धि नहीं।

शंका।

ननु चेयमशुद्धेव स्यादशुद्धा कथंचन।
अथ बन्धफला नित्यं किमबन्धफला क्वचित् ॥ २१६ ॥

अन्वयार्थ — (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (किं इयं अशुद्धा एव स्यात् ' किं ' कथंचन अशुद्धा ' स्यात् ,) क्या यह आत्मोपलब्धि सर्वथा अशुद्ध होती है अथवा कथंचित् अशुद्ध होती है (अथ) और (' किं , नित्यं बन्धफला किं क्वचित् अबन्धफला) क्या वह नित्य बन्ध करानेवालीही है अथवा क्या कभी कभी बन्ध करानेवाली है ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि मिथ्यादृष्टीकी वह अहं सुखी अहं दुखी इत्यादि रूपसे होनेवाली अशुद्ध आत्मोपलब्धि क्या सर्वथा अशुद्धही होती है अथवा क्या कथंचन अशुद्ध होती है तथा नित्यबन्धही फल जिसका ऐसी है अर्थात् उस अशुद्धोपलब्धिसे क्या सर्वथा बन्धही होता है अथवा क्या कदाचित् बन्ध होता है

समाधान।

सत्यं शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवाशुद्धाऽस्ति तद्विना।
अस्त्यबन्धफला तत्र सैव बन्धफलाऽन्यथा ॥ २१७ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है (सम्यक्त्वे शुद्धा अस्ति) सम्यक्त्वके होनेपर वह आत्मोपलब्धि शुद्ध कहलाती है परन्तु (सा एव तद्विना अशुद्धा अस्ति) वही आत्मोपलब्धि सम्यक्त्वके विना अशुद्ध कहलाती है और (तत्र) सम्यक्त्वके होनेपर वह (अबन्धफला अस्ति) अबन्ध फलवाली होती है किंतु (अन्यथा सा एव बन्धफला ' अस्ति ') सम्यक्त्वके अभावमें वही आत्मोपलब्धि बन्ध फलवाली होती है।

भावार्थः— शंकाकारके उक्त प्रश्नोंका उत्तर यह है कि सम्यक्त्व और उपलब्धिकी शुद्धताका अविनाभाव है। इसलिए सम्यग्दर्शनके होनेपर जो आत्मोपलब्धि होती है वह शुद्ध आत्मोपलब्धि कहलाती है। तथा वह अबन्ध-फलवाली होती है। क्योंकि सम्यक्त्वके होनेपर अबद्धायुष्ककी अपेक्षामें उत्तम मनुष्यों तथा वैमानिक देवोंकी पर्याय को छोडकरके अन्य पर्यायोंमें जीव नहीं जाते है। और बद्धायुष्ककी अपेक्षासे प्रथम नरक व भोग भूमिया तिर्यंचकी गतिको छोडकरके अन्य गतियोंमें नहीं जाता है। इसलिये इनकेसिवाय शेषगति सम्बधी बन्धका अभाव होनेसे शुद्धोपलब्धिको अबन्धफला कहा है। यह कथन चतुर्थ गुणस्थानवर्ती की अपेक्षासे है। तथा कषायसे रहित सम्यग्दृष्टियों के तो बिलकुल बन्ध नहीं होता है अतः यह अबन्ध फलवाली मानी गई है। तथा मिथ्यात्वके उदयमे वही आत्मोपलब्धि अशुद्ध आत्मोपलब्धि कहलाती है। तथा बन्धफला मानी गई है क्योंकि मिथ्यात्वका उदय रहनेपर आश्रवका निरोध नहीं माना है। अतः वह अशुद्ध आत्मोपलब्धि बन्धका कारण कहलाती है।

शंका।

ननु सद्दर्शनं शुद्धं स्यादशुद्धा मृषा रुचिः।
तत्कथं विषयश्चैकः शुद्धाशुद्धविशेषभाक् ॥ २१८ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि यद्यपि (शुद्धारुचिः) शुद्धरुचि (सद्दर्शनं) सम्यग्दर्शन (च) और (अशुद्धा 'रुचि') अशुद्धरुचि (मृषा स्यात) मिथ्या दर्शन कहलाती है परतु जब (तद्विषयः एकः) उन दोनोंका विषय एकही रहता है तो फिर (शुद्धाशुद्धविशेषभाक् कथं) वह आत्मा शुद्ध तथा अशुद्ध दोप्रकारके विरुद्ध विशेषणोंका धारक कैसे हो सकता है।

भावार्थ— यद्यपि शुद्ध श्रद्धाको सम्यग्दर्शन और अशुद्ध श्रद्धाको मिथ्यादर्शन कहते है। परन्तु जब दोनोंही प्रकारकी श्रद्धाके विषय जीवादिक होते है तो फिर यथार्थ रुचि, शुद्ध तथा विपरित रुचि, अशुद्ध क्यों कही जाती है।

यद्वा नवसु तत्त्वेषु चास्ति सम्यग्दृगात्मनः।
आत्मोपलब्धिमात्रं वै साचेच्छुद्धा कुतो नव ॥ २१९ ॥

अन्वयार्थः— (यद्वा) अथवा (चेत्) यदि (नवसु तत्वेषु) नवतत्वोंमें (सम्यग्दृगात्मनः) सम्य-

गृदृष्टी के (वै) निश्चयसे (आत्मोपलब्धिमात्रं अस्ति) केवल आत्माकी उपलब्धिही होती है (च) और (सा शुद्धा) वही शुद्ध उपलब्धि है तो (नव कुतः) सम्यग्दर्शन के विषय नवपदार्थ कैसे हो सकते हैं ?

भावार्थः— तथा दूसरी शंका यह है कि यदि सम्यग्दृष्टीके नव तत्वोंमेंसे केवल शुद्ध आत्माकीही उपलब्धि होती है और वही शुद्ध कहलाती ह तो सम्यग्दर्शनके विषयभूत नव पदार्थ क्यों कहे जाते है । केवल एक शुद्ध आत्म तत्वही सम्यग्दर्शनका विषय मानना चाहिए । **समाधान ।**

नैवं यतः स्वतः शश्वत स्वादुभेदोऽस्ति वस्तुनि ।
तत्राभिव्यंजकद्वेधाभावसद्भावतः पृथक् ॥ २२० ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) उपयुक्त कथन ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (तत्र) सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीके (अभिव्यन्जकद्वेधाभावसद्भावतः) पदार्थके स्वरूपकी अभिव्यक्तिके भेदसे (वस्तुनि) वस्तुमें (शश्वत्) सदा (स्वतः) स्वयं (पृथक् स्वादुभेदः अस्ति) पृथक् २ स्वादका अनुभव पायाजाता है ।

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि वस्तुके एक होनेपरभी सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीके वस्तुके स्वरूपके प्रतिमासमें अन्तर रहता है अर्थात् मिथ्यादृष्टीके ज्ञानमें मिथ्यात्वके उदयसे विपर्यास रहता है । सम्यग्दृष्टीके ज्ञानमें नहीं । इसलिए दोनोंके पदार्थके स्वरूपमें होनेवाले आभासमें द्वैविध्य पाया जाता है । अतः वस्तुके एक होनेपरभी स्वादमें भेद रहता है जैसा कि ग्रन्थकार आगे स्वयं बताते है ।

शुद्धं सामान्यमात्रत्वादशुद्ध तद्विशेषतः ।
वस्तु सामान्यरूपेण स्वदते स्वादु सद्विदाम् ॥ २२१ ॥

अन्वयार्थः— (वस्तु) वस्तु (सद्विदां) सम्यग्ज्ञानीयोंको (सामान्यरूपेण) सामान्यरूपसे (स्वादु स्वदते) अनुभवमें आती है इसलिए (तत्) वह वस्तु (सामान्यमात्रत्वात् शुद्धं) केवल सामान्यरूपसे शुद्ध कहलाती है और (विशेषतः अशुद्धं) विशेष भेदोंकी अपेक्षासे अशुद्ध कहलाती है ।

भावार्थः— मिथ्यादृष्टी जीवके, राग द्वेषकी तीव्रता रहनेसे परवस्तुमें इष्टानिष्ट की कल्पना रहती है । और

वह इन राग द्वेषोंके कारण वस्तुके वस्तुत्वका अनुभव न करके केवल इष्ट अनिष्ट रूपसेही वस्तुका अनुभव करता है। परन्तु सम्यग्दृष्टी जीवके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीका अभावसे होने उसके निमित्तसे होनेवाले अनन्त संसारके कारणभूत राग-द्वेषका अभाव हो जाता है। इसलिए सम्यग्दृष्टी इष्टानिष्ट कल्पनासे विरहित होकर वस्तुके वस्तुत्वकाही अनुभव करता है।

स्वदते न परेषां तद्यद्विशेषेऽप्यनीदृशम् ।
तेषामलब्धबुद्धित्वाद् दृष्टेर्दृग्मोहदोषतः ॥२२२ ॥

अन्वयार्थ.— किंतु (परेषां) मिथ्यादृष्टियोंको (तत्) वह शुद्ध सामान्यरूप सत् (न स्वदते) अनुभवमें नहीं आता है (यत्) जो कि (विशेषे अपि अनीदृशं) अपनी सब विशेष अवस्थाओंमेंभी अनुपम रूपसे विद्यमान रहता है क्योंकि (दृष्टेः दृग्मोहदोषतः) दृष्टिमें दर्शनमोहके उदयसे दोष आनेके कारण (तेषां) उन मिथ्यादृष्टियोंके (अलब्ध बुद्धित्वात) ज्ञानचेतना नहीं होती है।

भावार्थः— विशेषमात्रमें जो अनुपम उस सत्का स्वरूप विद्यमान है अर्थात् अपने सम्पूर्ण विशेषोंमें जो अन्वयरूपसे सत् विद्यमान रहता है वह मिथ्यादृष्टीयोंके स्वादमें नहीं आता है। क्योंकि उनके मिथ्यात्वका उदय रहनेसे सामान्य शुद्धत्वका स्वाद लेनेवाली—अनुभव करनेवाली ज्ञानचेतना नहीं होती है।

यद्वा विशेषरूपेण स्वदते तत्कुदृष्टिनाम् ।
अर्थात् सा चेतना नूनं कर्मकार्येऽथ कर्मणि ॥ २२३ ॥

अन्वयार्थ.— (यद्वा) अथवा (कुदृष्टिनां) मिथ्यादृष्टियोंको (विशेषरूपेण) विशेषरूपसे अर्थात पर्यायरूपसे (तत्स्वदते) उस सत्का स्वाद आता है इसलिए (अर्थात्) वास्तवमें (नूनं) निश्चयसे (सा चेतना) उन मिथ्यादृष्टियोंकी वह चेतना (कर्मकार्ये) कर्मफलमें (अथ) और (कर्मणि) कर्ममेंही होती है अर्थात् इसी कारणसे मिथ्यादृष्टियोंके कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनाही होती है।

भावार्थः— अथवा यों कहना चाहिये कि मिथ्यादृष्टीयोंके वह सत् इष्टानिष्ट कल्पनावश केवल विशेषरूपसे—पर्यायरूपसेही अनुभवमें आता है। इसलिए मिथ्यादृष्टीयोंको अध्यात्मशास्त्रमें पर्यायबुद्धि कहा है। और उनकी

वह चेतना ज्ञानचेतना न कहलाकर कर्म तथा कर्मफल चेतनाही कहलाती है। आगे-इसी कथनका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन करते है।

दृष्टान्त।

दृष्टान्तः सैन्धवं खिल्यं व्यंजनेषु विमिश्रितम्।
व्यंजनं क्षारमज्ञानां स्वदते तद्विमोहिनाम्॥ २२४॥

अन्वयार्थः— (दृष्टांतः) उक्त कथनका साधक दृष्टात यह है कि यद्यपि (व्यंजनेषु विमिश्रितं सैन्धवं खिल्य क्षारं) व्यंजनोंमें मिली हुई नमककी डलीही खारी है परन्तु (विमोहिनां अज्ञानां व्यंजनं तत् स्वदते) भोजन लोलुपी अज्ञानी जीवोंको वह व्यंजनका स्वाद मालूम होता है नमकका नहीं।

भावार्थः— अज्ञानी जीवोंको व्यंजनोंमें मिला हुआ जो नमक है वह खारा प्रतीत न होकरके केवल व्यंजनही खारे प्रतीत होते है।

क्षारं खिल्यं तदेवैकं मिश्रितं व्यंजनेषु वा।
न मिश्रितं तदेवैकं स्वदते ज्ञानवेदिनाम्॥ २२५॥

अन्वयार्थः— (ज्ञानवेदिनां) तत्वज्ञानियोंको (व्यंजनेषु मिश्रितं) व्यन्जनोंमे मिली हुई (तत् एकं खिल्यं एव) केवल वह नमककी डलीही (वा) अथवा (न मिश्रितं) व्यंजनोंमें नहीं मिली हुई (तत् एव एकं क्षारं स्वदते) वही केवल नमककी डलीही खारी मालूम होती है व्यन्जन नही।

भावार्थः— तत्वज्ञानियोंको व्यंजनोंमें मिश्रित अथवा अमिश्रित दोनोंही अवस्थाओंमें केवल नमककी डलीही खारी प्रतीत होती है व्यंजन नहीं।

उपसंहार।

इति सिद्धं कुदृष्टीनामेकैवाज्ञानचेतना।
सर्वैर्भावैस्तदज्ञानजातैस्तैरनतिक्रमात्॥ २२६॥

अन्वयार्थ — (इति सिद्धं) इसप्रकार सिद्ध होता है कि (तदज्ञानजातैःतैः सर्वैः भावैः) आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले उन सब भावोंको (अनतिक्रमात्) उलंघन नहीं करसकनेके कारण (कुदृष्टीनां एका अज्ञानचेतना एव) मिथ्यादृष्टियोंके केवल अज्ञानचेतनाही होती है

भावार्थः— इसलिए सिद्ध होता है कि अज्ञानमय भावोंसे सदैव लिप्त रहनेके कारण मिथ्यादृष्टियोंके केवल अज्ञान चेतना अर्थात् कर्म तथा कर्मफल चेतनाही होती है। ज्ञान चेतना नहीं होती है।

सम्यक्त्वका और ज्ञान चेतनाका अविनाभाव सम्बन्ध है।

सिद्धमेतावता यावच्छुद्धोपलब्धिरात्मनः।
सम्यक्त्वं तावदेवास्ति तावती ज्ञानचेतना ॥ २२७ ॥

अन्वयार्थ— (एतावता सिद्धं) और उपर्युक्त कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि (**यावत् आत्मनः शुद्धोपलब्धिः**) जबतक आत्माकी शुद्धोपलब्धि होती है (**तावत् एव सम्यक्त्वं अस्ति**) तबतकही सम्यक्त्व रहता है तथा (**तावती ज्ञानचेतना**) उतनीही ज्ञानचेतना कहलाती है अर्थात् जितने अंशोंमें आत्माकी शुद्ध उपलब्धि होती है उतनेही अंशोंमें ज्ञानचेतना होती है।

भावार्थः— उपर्युक्त कथनसे यहाँ फलितार्थ निकलता है कि शुद्धोपलब्धिका नाम सम्यक्त्व है। और अपने प्रतिपक्षी कर्मके अभावसे जितनी शुद्धोपलब्धि होती है उतनीही ज्ञान चेतना कहलाती है। क्योंकि पूर्ण ज्ञान चेतना केवलीके मानी गई है। और पूर्ण परमावगाढ सम्यक्त्व भी केवलीके माना गया है।

एकः सम्यग्गात्माऽसौ केवलं ज्ञानवानिह।
ततो मिथ्यादृशः सर्वे नित्यमज्ञानिनो मताः ॥ २२८ ॥

अन्वयार्थः—(इह) यहांपर (**केवलं असौ एक सम्यग्दृगात्मा ज्ञानवान्**) केवल यह सम्यग्दृष्टी जीवही ज्ञानवान् है (**ततः**) इसलिए (**सर्वे मिथ्यादृशः**) समस्त मिथ्यादृष्टी (**नित्यं अज्ञानिनः मताः**) नित्य अज्ञानी माने गये हैं।

भावार्थ — शुद्धोपलब्धिके कारण जैनागममें केवल सक सम्यग्दृष्टीको ज्ञानी और अशुद्धोपलब्धिके के कारण अर्थात शुद्धोपलब्धिके अभावमें सम्पूर्ण मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी कहते है।

ज्ञानि और अज्ञानिके क्रियाफलमें भेद।

क्रिया साधारणी वृत्ति र्ज्ञानिनोऽज्ञानिनस्तथा।
अज्ञानिनः क्रिया, बन्धहेतुर्न ज्ञानिनः क्वचित् ॥ २२९ ॥

भावार्थः— सम्यग्दृष्टीयोंकी सम्पूर्ण क्रियाएं सदैव ज्ञानमय होती है । अर्थात मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी के उदयके न रहनेसे सम्यग्दृष्टीयोंभी परमार्थमे राग द्वेष पूर्वक आसक्तिका अभाव हो जाता है । इसलिए वे भोगोंको रुचिपूर्वक नहीं भोगते है किन्तु चारित्रमोहके उदयसे उनको वे भोग भोगने पडते है । अत. उनकी सपूर्ण क्रियाएं ज्ञानमय कही जाती है । और उनके अज्ञानमय भावोंका सद्भावही नहीं पाये जानेसे उनके केवल संवर तथा निर्जरा ही होती है ।

वैराग्यं परमोपेक्षाज्ञानं स्वानुभवः स्वयम् ।
तद्द्वय ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्तः स एव च ॥ २३२ ॥

अन्वयार्थः— (परमोपेक्षा वैराग्यं) जो सम्यग्दृष्टियोंके परम उपेक्षारूप वैराग्य और (स्वयं स्वानुभवः ज्ञानं) स्वय आत्मप्रत्यक्ष करनेरूप ज्ञान होता है अत (तद्द्वय) वे दोनोंही (ज्ञानिन. लक्ष्म) ज्ञानी के लक्षण है (च) और (स एव जीवन्मुक्त) वही ज्ञानी जीवन्मुक्त है ।

भावार्थः— परम उपेक्षारूप वराग्य और स्वानुभूति ये दोनोंही सम्यग्दृष्टीके लक्षण है । अतएव परमोपेक्षा तथा स्वानुभव हो जानेके कारण सम्यग्दृष्टीकोही जीवन्मुक्त कहते है ।

ज्ञानी ज्ञानैकपात्रत्वात पश्यत्यात्मानमात्मवित् ।
बद्धस्पृष्टादिभावानामस्वरूपादनास्पदम ॥ २३३ ॥

अन्वयार्थ — (आत्मवित ज्ञानी) आत्मप्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञानी (आत्मान) अपनेको (ज्ञानैकपात्रत्वात) एक ज्ञानकाही पात्र होनेसे तथा (बद्धस्पृष्टादि भावानां अस्वरूपात्) बद्ध और स्पृष्ट आदि भावोंको अपने स्वरूप न होनेसे (आत्मान अनास्पद पश्यति) अपनेको बद्ध स्पृष्टादि भावोंका अपात्र समझता है ।

ततः स्वादु यथाध्यक्षं स्वमासादयति स्फुटम ।
अविशिष्टमसंयुक्तं नियतं स्वमनन्यकम् ॥ २३४ ॥

अन्वयार्थः — (ततः) ज्ञानैक पात्र होनेसे तथा बद्ध स्पृष्टादिक भावोंका अपात्र होनेसे सम्यग्दृष्टी

(स्वं) अपनेको (यथाध्यक्षं) प्रत्यक्षपूर्वक (स्फुटं) स्पष्टरीतिसे (स्वादु अविशिष्टं असंयुक्तं नियतं स्वं अनन्यकं आसादयति) स्वादु, विशेष रहित, सयोग रहित, स्वस्वरूपमय और अन्यरूपसे भिन्न पाता है।

अथबद्धमथास्पृष्टं शुद्धं सिद्धपदोपमम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निःसंगं व्योमवत सदा ॥ २३५ ॥

इन्द्रियोपेक्षितानन्तज्ञानदृग्वीर्यमूर्तिकम् ।
अक्षातीतसुखानन्तस्वाभाविकगुणान्वितम् ॥ २३३ ॥

पश्यन्निति निजात्मानं ज्ञानी ज्ञानैकमूर्तिमान् ।
प्रसंगादपरं चैच्छेदर्थात्सार्थं कृतार्थवत् ॥ २३७ ॥

अन्वयार्थः— (अथ) और (अबद्धं) बन्धसे रहित (अथ) तथा (अस्पृष्ट) अस्पृष्ट (शुद्धं) शुद्ध (सिद्धपदोपमं) सिद्ध समान (शुद्धस्फटिकसकाशं) शुद्ध स्फटिकके समान (सदा व्योमवत्) सदैव आकाशके समान (निस्संगं) परिग्रह रहित (इन्द्रियोपेक्षितानन्तज्ञानदृग्वीर्यमूर्तिकं) अतींद्रिय अनन्तज्ञान दर्शन और अनन्तवीर्यमय तथा (अक्षातीतसुखानन्तस्वाभाविकगुणान्वितं) अतींद्रिय सुख आदि अनन्त स्वाभाविक गुणों सहित (निजात्मानं पश्यन्) अपनी आत्माका श्रद्धान करनेवाला होता है (इति) इसलिए (अर्थात्) यद्यपि वास्तवमें (ज्ञानी ज्ञानैकमूर्तिमान्) सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानमय मूर्तिवाला है तथापि (प्रसंगात्) प्रसंगवश अर्थात् चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे (कृतार्थवत्) कृतकृत्यके समान परम उपेक्षा भावसे (अपरं सार्थं च इच्छेत्) अन्य पदार्थकीभी इच्छा करता है।

भावार्थः— ज्ञानैक पात्र होनेसे तथा बद्ध स्पृष्टत्वादि भावोंसे लिप्त न होनेके कारण ज्ञानी जीव यद्यपि अपनेको अविशिष्ट, असंयुक्त, अनन्य अबद्ध, अस्पृष्ट, शुद्ध, सिद्धके समान शुद्धस्फटिकके समान, आकाशके समान निःसंग अतीन्द्रिय अनन्त ज्ञान दर्शन सुख और वीर्य आदि अनन्त स्वाभाविक गुणोंसे युक्त मानता है तथापि वह कृतार्थकी तरह परम उपेक्षा भावसे प्रसंगवश परपदार्थकी इच्छा भी करता है इसलिए उसे जीवन्मुक्त कहते है।

ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम् ।
न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम् ॥ २३८ ॥

अन्वयार्थः—(यत् ऐहिकं सुखं नाम) जो लौकिक सुख है ('तत्' सर्वं वैषयिकं स्मृतं) वह सब इंद्रिय विषयजन्य माना गया है इसलिए (तत् सुखं [illegible], सुखाभासं न) वह सुख केवल सुखाभास ही नहीं है (किन्तु) [illegible] (असंशयं दुःखं) निःसंदेह दुःखरूप ही है ।

भावार्थः— जो लौकिक सुख है वह अतीन्द्रिय नहीं है किन्तु विषयजन्य है । इसलिये उस सुखको सुखाभास ही नहीं कहना चाहिए किन्तु [illegible] दुःख ही कहना चाहिए । क्योंकि वास्तविक सुख आत्माका गुण है और वह अतीन्द्रिय है । इन्द्रिय जन्य नहीं ।

तस्माद्धेयं सुखाभासं दुःखं दुःखफलं यतः ।
हेयं तत्कर्म यद्धेतुस्तस्यानिष्टस्य सर्वतः ॥ २३९ ॥

अन्वयार्थः—(यतः) क्योंकि (सुखाभासं दुःखफलं) सुखके समान मालूम होनेवाला यह इंद्रिय जन्य सुख दुःखरूप फलको देनेवाला होनेसे (दुःखं) दुःखरूप है (तस्मात्) इसलिए (हेयं) वह सुखाभास [illegible] उसके योग्य [illegible] (सर्वतः) सर्वथा (अनिष्टस्य तस्य) अनिष्ट उस दुःखका (यत् कर्म हेतु तत् हेयं) जो कर्म कारण है वह भी छोडनेके योग्य है ।

भावार्थः— इन्द्रिय जन्य सुख, दुःख देनेवाला होनेसे दुःखरूप है । इसलिए सुखाभासरूप वह सुख और उस सुखका कारणभूत सातावेदनीय आदि शुभकर्म भी हेय है ।

तत्सर्वं सर्वतः कर्म पौद्गलिकं तदष्टधा ।
वैपरीत्यात्फलं तस्य सर्वं दुःखं विपच्यतः ॥ २४० ॥

अन्वयार्थ—(सर्वतः) सर्वप्रकारसे (तत्सर्वं कर्म पौद्गलिकं) वह सब कर्म पौद्गलिक है और (तत्) वह कर्म (अष्टधा) आठ प्रकारका है तथा (वैपरीत्यात् विपच्यतः) विपरीतपनेसे उदयमें आनेवाले (तस्य) उस कर्मका (सर्वं फलं) शुभ व अशुभ रूप सबही फल (दुःखं) दुःखरूप है ।

भावार्थः— असाता-दुःखका कारण कर्म पौद्गलिक है। और वह आठ प्रकारका है। तथा विपरीत रूपसे उदयमें आनेवाले उन कर्मका शुभ व अशुभरूपसे जो कुछभी फल होता है वह सब वास्तवमें दुःखरूपही होता है। सुखरूप नहीं।

चतुर्गतिभवावर्ते नित्यं कर्मैकहेतुके।
न पदस्थो जनः कश्चित् किन्तु कर्मपदास्थितः॥ २४१॥

अन्वयार्थः— (नित्यं कर्मैकहेतुके चतुर्गतिभवावर्ते) सदैव कर्मके कारण चारगति स्वरूप संसारचक्रमें (कश्चित् जनः पदस्थः न) कोईभी जीव आत्मपदमें स्थित नहीं है (किंतु) किंतु सबही (कर्मपदस्थितः) कर्मपदमेंही स्थित है।

भावार्थ — कर्मोंके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले चारो गतिरूप संसारके चक्रमें घूमनेवाले ससारी लोग अपने पदमें—स्वपदमें स्थित नहीं है। किन्तु उसी कर्मके पदमें स्थित हैं अर्थात् स्वाधीन नहीं है किन्तु पराधीन है।

स्वस्वरूपाच्युतो जीवः स्यादलब्धस्वरूपवान्।
नानादुःखमाकीर्णे संसारे पर्यटन्निति॥ २४२॥

अन्वयार्थः— (इति) इसप्रकार (स्वस्वरूपात् च्युतः जीवः) अपने स्वरूपसे च्युत यह जीव (नानादुःखसमाकीर्णे संसारे पर्यटन्) अनेक प्रकारके दुःखोंसे व्याप्त संसारमें परिभ्रमण करता हुवा (अलब्धस्वरूपवान् स्यात्) अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं कर रहा है।

भावार्थः— इसप्रकार कर्मपदमें स्थित होनेके कारण जीव अपने स्वरूपसे च्युत होकर नाना दुःखोंसे व्याप्त संसारमें परिभ्रमण करता हुआ अपने स्वरूपको नहीं पाता है।

शङ्का।

ननु किंचिच्छुभं कर्म किंचित्कर्माशुभं ततः।
क्वचित्सुखं क्वचिद्दुःखं तत्किं दुःखं परं नृणाम्॥ २४३॥

अन्वयार्थः— (ननु) शङ्काकारका कहना है कि (किंचित्कर्म शुभं) कुछ कर्म शुभ और (किंचि-

त्कर्म अशुभं) कुछ कर्म अशुभ है (ततः) इसलिए जब जीवोंको (कचित् सुखं) कभी सुख होता है तथा (कचित्दुःखं) कभी दुख होता है (तत) तो फिर (नृणां परं दुःखं) जीवोंको केवलकर्मोंके कारण दुःखही होता है ऐसा (किं) क्यों कहाजाता है ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि कर्मोंके शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद है उनमेंसे कोई कर्म शुभ तथा कोई कर्म अशुभ होते हैं । इसलिये जब जीवोंको शुभकर्मके उदयसे कभी सुख होता है और अशुभ कर्मके उदयसे कभी दुख होता है तो फिर कर्मोंके निमित्तसे सम्पूर्ण जीवोंको केवल दुखही होता है ऐसा क्यों कहा जाता है ?

समाधान ।

नैवं यतः सुखं नैतत् तत्सुखं यत्र नाऽसुखम् ।
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तच्छुभं यत्र नाऽशुभ ॥ २४४ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) इसप्रकारका कहना ठीक नहीं है (यत) क्योंकि (एतत् सुखं न) यह ऐहिक सुख वास्तविक सुख नहीं है कारण कि वास्तवमें (तत् सुखं) वही सुख है (यत्र असुखं न) जहांपर कि दुख नहीं है (सः धर्मः) वही धर्म है (यत्र अधर्मः न) जहांपर कि अधर्म नहीं है (और तत् शुभं) वही शुभ है (यत्र अशुभं न) जहांपर कि अशुभ नही है।

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि सातावेदनीय आदि कर्मोंके उदयसे जो सुख प्राप्त होता है वह सुख नहीं है । कारण कि वास्तवमें सुख वही है जहांपर दुखका लेश नहीं है । धर्म वही है जहापर अधर्मका लेश नहीं है । तथा शुभ वही है जहापर अशुभका लेश नहीं है ।

लौकिक सुखका स्वरूप ।

इदमस्ति पराधीनं सुखं बाधापुरस्सरम् ।
व्युच्छिन्नं बन्धहेतुश्च विषमं दुःखमर्थतः ॥ २४५ ॥

अन्वयार्थः— (इदं सुखं) यह लौकिक सुख (पराधीनं) पराधीन (बाधापुरस्सरं) दुःखपूर्वक

(व्युच्छिन्नं) सान्त (बन्धहेतुः) बन्धका कारण (च) और (विषमं) विषम होता है इसलिए वह (अर्थतः) वास्तवमें (दुःखं अस्ति) दुःखस्वरूप है ।

भावार्थः— यह इंद्रियजन्य सासारिक सुख कर्मोदयके आधीन होनेसे पराधीन, दुखोसे अन्तरित होनेके कारण बाधा सहित, अन्तसहित होनेसे व्युछिन्न और कर्मोंके आश्रवका कारण होनेसे बन्धका हेतु तथा तरतमभावके पाये जानेसे विषम है । इसलिए वह वास्तवमें दुखही है ।

उक्तं च ।

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदिएहिलद्धं तं सुक्खं दुक्खमेव तहा ॥ १ ॥

अन्वयार्थ— (सपरं) कर्माधीन (बाधासहियं) बाधासहित (विच्छिण्ण) विच्छेद सहित (बन्धकारणं) बन्धका कारण और (विसमं) विषमरुप अर्थात् आकुलतामय (जं सुक्खं) जो सुख (इंदिएहिलद्धं) इंद्रियोंके द्वारा प्राप्त होता है (तं तहा) उस प्रकारका वह सुख वास्तवमें (दुःखं एव) दुखरूपही है ।

भावार्थश्चात्र सर्वेषां कर्मणामुदयः क्षणात् ।
वज्राघात इवात्मानं दुर्वारो निष्पिनष्टि वै ॥ २४६ ॥

अन्वयार्थः— (भावार्थः) अभिप्राय यह है कि (अत्र च) संसारमें (सर्वेषां कर्मणां उदयः) सब कर्मोंका उदय (क्षणात्) प्रतिक्षण (वै) वास्तवमें (आत्मानं दुर्वारः वज्राघात इव निष्पिनष्टि) आत्माको दुर्वार वज्राघातकी तरह चकनाचूर करता है ।

भावार्थः— साराश यह है कि शुभ व अशुभ सबही कर्मोंका उदय दुर्वार है । और वह प्रतिक्षण वज्राघातके समान आत्माको पीसे डालता है ।

व्याकुलः सर्वदेशेषु जीवः कर्मोदयाद्ध्रुवम् ।
वन्हियोगाद्यथा वारि तप्तं स्पर्शोपलब्धितः ॥ २४७ ॥

अन्वयार्थः— (जीवः) जीव (कर्मोदयात्) कर्मोदयसे (ध्रुवं) सदैव (सर्वदेशेषु व्याकुलः) अपने सर्व प्रदेशोंमे व्याकुल रहता है (यथा) जैसे कि (वन्हियोगात्) वन्हिके योगसे (तप्त) अपने सम्पूर्ण अवयवोंमें खोलता हुआ (वारि) जल (स्पर्शोपलब्धितः) स्पर्शकरनेसे संतप्त पाया जाता है।

भावार्थः— जैसे जल वन्हिके निमित्तसे उष्ण होनेके कारण अपने सम्पूर्ण अवयवोंमें संतप्त देखा जाता है वैसेही यह जीवभी कर्मोंके निमित्तसे अपने सम्पूर्ण अवयवोंमें संतप्त होकर व्याकुल रहता है।

सातासातोदयाद्दुःखमास्तां स्थूलोपलक्षणात्।
सर्वकर्मोदताघात इवाघातश्चिदात्मनः ॥२४८॥

अन्वयार्थः— (स्थूलोपलक्षणात्) स्थूलताकी अपेक्षासे (सातासातोदयात् दुख आस्तां) साता और असाता वेदनीयके उदयसे जो दुःख होता है वह दुख तो दूर रहे अर्थात् वह तो दुख है ही किंतु (चिदात्मनः) चेतनात्माके (सर्वकर्मोदयाघातः) सब कर्मोंके उदयका आक्रमण (आघात इव 'अस्ति') भयंकर आघातके समान हो रहा है।

भावार्थः— जीवोंको केवल साता असाता जन्य दुख ही नहीं हो रहा है। किन्तु प्रतिसमय सम्पूर्ण कर्मोंके उदयसे भयकर वज्राघातके समान आघात हो रहा है, —दुख हो रहा है।

आस्तां घातः प्रदेशेषु संदृष्टेरुपलब्धितः।
वातव्याधेर्यथाध्यक्षं पीडयन्ते ननु सन्धयः ॥ २४९ ॥
नहि कर्मोदयः कश्चित् जन्तोर्यः स्यात्सुखावहः।
सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ॥ २५० ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (ननु) निश्चयकरके (वातव्याधेः) वातव्याधिके होजानेसे (सन्धयः अध्यक्ष पीडयन्ते) सन्धि २ मे प्रत्यक्ष पीडा होती हैं। इस (संदृष्टेः उपलब्धितः) दृष्टांतके मिलनेसे (प्रदेशेषु घातः आस्तां) जीवके प्रदेशोंमें होनेवाला घात तो दूर रहे किंतु (तत्र) उन कर्मोंके उदयमेंसे ऐसा ('सः'

कश्चित् कर्मोदयः न हि) वह कोईभी, कर्मका उदय नहीं है (यः) जो (जन्तोः) जीवको (सुखावहः स्यात्) सुख प्राप्त करानेवाला हो, क्योंकि (स्वरूपत) स्वभावसे (सर्वस्य कर्मण· वैलक्षण्यात्)सबही कर्म आत्माके स्वभावसे विलक्षण होते हैं।

भावार्थ·— जैसे वातत्यागिक होनेसे सन्धिमें २ पीडा होती है। वैसेही साता असाता वेदनयिकर्मके उदयसे जो जीवोंके प्रदेशोंमें दुख होता है, इतनाही नहीं है। किंतु उन सपूर्ण कर्मोके उदयोंमेंसे ऐसा कोईभी कर्मोदय नहीं हैं जो जीवको सुखावह हो। कारण कि आत्मासे सम्बन्धित होकर उसको अपने स्वभावसे च्युत करदेनाही सम्पूर्ण कर्मोंका स्वभाव है। इसलिए वह कर्मोदय सुखकारी कैसे हो सकता है ?

तस्य मन्दोदयात् केचित् जीवाःसमनस्काः क्वचित् ।
तद्वेगमसहमाना रमन्ते विषयेषु च ॥ २५१ ॥

अन्वयार्थ — (क्वचित्) कभी (तस्य मन्दोदयात्) उन कर्मोंके मन्दोदयसे (केचित् जीवा·) कोई २ जीव (समनस्काः) सैनी पंचेंद्रिय होकर (च) और (तद्वेगं असहमानाः) उन कर्मोंके वेगको सहन करनेमें असमर्थ होकर (विषयेषु रमन्ते) विषयोंमे रमण करते है।

भावार्थः— कभी कोई २ जीव, कर्मोंके मंद उदय होनेसे सैनी होकर, कर्मोदयजन्य आकुलताके निवारण करनेमें असमर्थ होते हुए, विषयोंका सेवन करते है।

केचित्तीव्रोदयाः सन्तो मन्दाक्षाः खल्वसंज्ञिनः ।
केवलं दुःखवेगार्ता रन्तुं नार्थानपि क्षमाः ॥ २५२ ॥

अन्वयार्थः— (केचित् मन्दाक्षाः असंज्ञिन· खलु)कितनेही मन्दाक्ष व असंज्ञी जीव (तीव्रोदयाः सन्त·) कर्मोंके तीव्र उदयवाले होते हुए (केवल दु खवेगार्ता·) केवल दुखके वेगसे पीडित होकर (अर्थान् अपि रन्तुं क्षमाः न) प्राप्त अर्थोंकेभी भोगनेमें समर्थ नहीं होते है।

भावार्थः— कितनेही जीव कर्मोदयवश स्थावर, विकलेंद्रिय तथा असैनी होकर केवल दु खके वेगसे पीडित होते हुए विषयोंकेभी भोगनेमें समर्थ नहीं होते है।

सांसारिक सुखभी दुःख है।

यद्दुःखं लौकिकी रूढिर्निर्णीतिस्तत्र का कथा।
यत्सुखं लौकिकी रूढिस्तद्दुखं दुःखमर्थतः ॥ २५३ ॥

अन्वयार्थः— जब (यत् सुखं लौकिकी रूढिः) जो लोकव्यवहारमें सुख कहाजाता है (अर्थत.) वास्तवमें (तत् सुखं दु खं) वह सुखाभासरूप सुख दुःखही है तब (यत् दुःखं लौकिकीरूढिः) जो लोकमें रूढिवशभी दुःख कहलाता है (तत्र निर्णीते) उसके विषयमें निर्णय होनेमे (का कथा) क्या कहना चाहिये।

भावार्थः— लोकमें रूढिवश जो सुख कहा जाता है परमार्थ दृष्टिसे उसे दुख कहते है तो लोकमें जिसे दुःख कहते है परमार्थसे उसके विषयमे भला क्या कहा जासकता है ?

कादाचित्कं न तद्दुखं प्रत्युताच्छिन्नधारया।
सन्निकर्षेषु तेषूच्चैस्तृष्णातङ्कस्य दर्शनात् ॥ २५४ ॥

अन्वयार्थः— (तत् दुःखं कादाचित्कं न) वह दु ख जबकभी नहीं होता है (प्रत्युत) किंतु (अच्छिन्नधारया) प्रवाहरुपसे निरन्तर होता रहता है क्योंकि (तेषु सन्निकर्षेषु) उन विषयोंके सन्मुख होनेपर (उच्चैः तृष्णातङ्कस्य दर्शनात्) अतिशय तृष्णारुपी रोग देखाजाता है

भावार्थः— वह दुखभी कादाचित्क नहीं है। किंतु सदैव अविच्छिन्न प्रवाहरूपसे वर्तमान रहता है। क्योंकि यदि वह दु ख न होता तो जीनोंके उत्तरोत्तर तृष्णाका सद्भाव नहीं पाया जाता। किंतु तृष्णाका सद्भाव पाया जाता है। इसलिए सदैव तृष्णा वृत्तिके सद्भावसे प्रत्येक प्राणींमें प्रतिसमय अविच्छिन्न प्रवाहरूपसे दारुण दुःखका सद्भाव सिद्ध होता है।

---

१ इन दोनों पदोंमें प्रथमा विभक्ति है अत. शद्बानुसार अर्थ नहीं लिखा है किंतु भावानुसार अर्थ लिखदिया है।

खुलासा।

इन्द्रियार्थेषु लुब्धानामन्तर्दाहः सुदारुणः ।
तमन्तरा यतस्तेषां विषयेषु रतिः कुतः ॥२५५॥

अन्वयार्थ — (इन्द्रियार्थेषु लुब्धानां) इंद्रियोंके विषयोंमे तृष्णा रखनेवालोंके (सुदारुण अन्तर्दाहः) भीषण अन्तरग दाह पाया जाता है (यतः) क्योंकि (तं अन्तरा) उस अन्तर्दाहके विना (तेषां) उन जीवोंकी (विषयेषु रति कुतः) विषयोंमें रति कैसे हो सकती है ?

भावार्थः— यदि विषयोंमें लालसा रखनेवाले जीवोंके अन्तर्दारुणदाह नहीं होता तो उनके, उसकी तृप्तिके लिए विषयोंमें लोलुपता नहीं पाई जाना चाहिए थी । किंतु विषयोंमें लोलुपता पाई जाती है इसलिए अन्तरंगमे उन जीवोंके दारुणदाह सिद्ध होता है।

दृश्यते रतिरेतेषां सुहितानामिवेक्षणात् ।
तृष्णाबीजं जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् ॥ २५६ ॥

अन्वयार्थः— (जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् इव) जैसे जलौकोंको तो खराब खूनके चूसनेसे तृष्णाकी बीजभूत रति देखी जाती है वैसेही संसारी जीवोंमेंभी (एतेषां सुहिताना ईक्षणात्) इनविषयोंके सुहित माननेसे (तृष्णाबीजं रतिः दृश्यते) तृष्णाकी बीजभूत रति देखी जाती है।

भावार्थ.— जैसे गोंचके खराब खूनके चूसनेके कारण तृष्णाकी बीजभूत रतिका सद्भाव सिद्ध होता है। वैसेही संसारी जीवोंकेभी, विषयोंमें इष्ट कल्पनाके पाये जानेसे विषयोंमें तृष्णाकी बीजभूत रतिका सद्भाव सिद्ध होता है। इसलिए विषयोंमें रतिके सद्भावसे अन्तरंगमें दारुणदाह सिद्ध होता है। और परपदार्थोंको सुहित माननेसे विषयोंमें रतिका सद्भाव सिद्ध होता है।

शक्रचक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम् ।
तृष्णाबीजं रतिस्तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी ॥२५७॥

अन्वयार्थ.— (पुण्यशालिनां) पुण्य प्रकृतिके उदयवाले (शक्रचक्रधरादीनां) इन्द्र नरेंद्र आदिके (केवल तृष्णाबीज रति) केवल तृष्णाकी बीजभूत रति पाई जाती है इसलिए (तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी) उनको सच्चे सुखकी प्राप्ति कैसे होसकती है ?

भावार्थः— पुण्यशाली इन्द्रादिकोंकेभी तृष्णाकी बीजभूत रतिके पाये जानेसे वास्तविक सुख नहीं कहा जासकता है अर्थात् उनकोभी सच्चा सुख प्राप्त नहीं होता है।

उक्तं च।

जेसिं विसये सुरदि तेसिं दुःखं च जाण साहावं।
जदि तं णत्थि साहावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः— (जेसिं विसये सुरदि) जिनकी विषयोंमें रति होती है (तेसिं साहावं दुख च जाण) उनके स्वाभाविक दुःखही समझना चाहिये क्योंकि (जदि तं सहावं णत्थि) यदि उनके वह दुःख स्वाभाविक नहीं होता तो (विसयत्थं वावारो णत्थि) उनकी विषयोंमें प्रवृत्ति नहीं होती।

भावार्थः— जिन जीवोंकी विषयोंमें रति होती है उनके स्वभावसेही दुःख समझना चाहिये। कारण कि यदि उनके स्वभावसे वह दुःख नहीं होता तो उनके विषयनिमित्तक रति नहीं पाई जाना चाहिये। किंतु पाई जाती है।

सर्वं तात्पर्यमत्रैतद् दुःखं यत्सुखसंज्ञकम्।
दुःखस्यानात्मधर्मत्वान्नाभिलाषः सुदृष्टिनाम् ॥ २५८ ॥

अन्वयार्थः— (सर्वं तात्पर्यं एतत्) सम्पूर्ण कथनका साराश यह है कि (अत्र) यहांपर जगत् (यत्सुखसंज्ञक) जिसको सुख कहता है वह सब (दुःखं) दुःख है, और (दुःखस्य अनात्मधर्मत्वात्) उस दुःखको आत्माका धर्म नहीं होनेके कारण (सुदृष्टिनां अभिलाषः न) सम्यग्दृष्टियोंको उन दुःखस्वरूप सांसारिक सुखोंकी अभिलाषा नहीं होती है।

भावार्थः— उक्त संपूर्ण कथनका सारांश यह है कि जिमको सर्व साधारण सुख समझते है वह सुख वास्तवमें दुख हैं। इसलिए इन्द्रियजन्य सुखोंको दुःखमय समझनेके कारण सम्यग्दृष्टियोंको उन सासारिक सुखोंकी अभिलापा नहीं होती है।

वैषयिकसुखे न स्याद्रागभावःसुदृष्टिनाम् ।
रागस्याज्ञानभावत्वाद स्ति मिथ्यादृश'स्फुटम् ॥ २५९ ॥

अन्वयार्थ —(सुदृष्टिनां वैषयिकसुखे रागभावः न स्यात्) सम्यग्दृष्टियोंके वैपयिक सुखमें ममता नहीं होती है क्योंकि (रागस्य अज्ञानभावत्वात्) वास्तवमें वह आसक्तिरूप रागभाव अज्ञानरूप है इसलिए (स्फुटं) यह स्पष्ट है कि वैपयिक सुखोंकी अभिलापा (मिथ्यादृश अस्ति) मिथ्यादृष्टि जीवोंकोही होती है सम्यग्दृष्टियोको नहीं।

भावार्थः— वैषयिक सुखोंमें सम्यग्दृष्टियोंको आसक्ति नहीं होती है। कारणकि वह विषयोंकी आसक्ति अज्ञानभाव रूप हैं। इसलिए वह मिथ्यादृष्टी जीवोंकेही पाई जाती है सम्यग्दृष्टी जीवोंके नहीं।

सम्यग्दृष्टेस्तु सम्यक्त्वं स्यादवस्थान्तरं चितः।
सामान्यजनवत्तस्मान्नाभिलाषोस्य कर्माणि ॥ २६० ॥

अन्वयार्थः—(तु)किंतु (सम्यग्दृष्टे चितः) सम्यग्दृष्टीकी चेतनाकी (अवस्थांतरं) अवस्थाविशेषको (सम्यक्त्वं स्यात्) सम्यक्त्व कहते है (तस्मात्) इसलिए (सामान्यजनवत्) सामान्य पुरुषोंकी तरह (अस्य) इस सम्यग्दृष्टी जीवके (कर्मणि) कर्ममात्रमें - सांसारिक क्रियाओंमें (अभिलाष. न) अभिलापा नहीं होती है।

भावार्थ — चेतनाकी अशुद्ध अवस्थासे भिन्न अवस्थाको अर्थात शुद्ध चेतनाकी परिणतिको सम्यक्त्व कहते हैं। इसलिए साधारण पुरुषोंके समान सम्यग्दृष्टीके अशुद्धचेतनामय—कर्म व कर्मफलचेतनामय जो विषयोंकी आभिलापा है वह नहीं होती है।

उपेक्षा सर्वभोगेषु सद्दृष्टेर्दृष्टरोगवत् ।
अवश्यं तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गजः ॥ २६१ ॥

अन्वयार्थः— (सद्दृष्टे) सम्यग्दृष्टीको (सर्वभोगेषु) सर्व प्रकारके भोगमें (दृष्टरोगवत्) प्रत्यक्ष रोगकी तरह (उपेक्षा) अरुचि होती है क्योंकि (तदवस्थायाः) उस सम्यक्त्वरूप अवस्थाका (अवश्यं तथाभावः) विषयोंमें अवश्य अरुचिका होना (निसर्गजः) स्वतःसिद्ध स्वभाव है ।

भावार्थः— जैसे सर्व साधारणको दृष्ट रोगोंमें अरुचि रहती है, वैसेही सम्यग्दृष्टियोंको विषयोंमें अरुचि रहती है । क्योंकि जिससमय सम्यग्दृष्टियोंकी चेतना सम्यक्त्वके होनेसे शुद्ध अवस्थाको प्राप्त होजाती है उससमय उनकी विषयोंमें अरुचि होना स्वाभाविक बात है ।

अस्तु रूढिर्यथा ज्ञानी हेयं ज्ञात्वाऽथ मुंचति ।
अत्रास्त्यावास्थिकः कश्चित्परिणामः सहेतुकः ॥ २६२ ॥

अन्वयार्थः— (रूढि. अस्तु) जो यह रूढि है वह ठीक है कि (यथा) जैसे (ज्ञानी हेय ज्ञात्वा अथ मुंचति) ज्ञानी जीव हेय पदार्थको हेय जाननेके अनन्तरही उसका त्याग करता है परन्तु (अत्र) इसमें (आवस्थिकः सहेतुकः कश्चित् परिणामः अस्ति) सम्यक्त्वरूप अवस्थासे सम्बन्ध रखनेवाला युक्तियुक्त कोई विशेष परिणाम कारण है ।

भावार्थ — जो यह रूढि है कि सम्यग्दृष्टी हेयको हेय समझकरके छोड देता है वह ठीक है । परन्तु हेय पदार्थके त्यागनेमें केवल सम्यक्त्वही कारण नहीं है किंतु सम्यक्त्वके सद्भावके साथ चारित्रमोहनीय आदिका अभाव भी कारण है अर्थात सम्यक्त्वके सद्भावमें विषयोंमें केवल अरुचि होती है, उन विषयोंका त्याग तो सम्यक्त्वके साथ होनेवाले चारित्र मोहके अभावसे होता है । जिन सम्यग्दृष्टियोंके चारित्र मोहका अभाव नहीं होता है उन सम्यग्दृष्टियों के अरुचिपूर्वक विषय सेवन भी पायाजाता है इसलिये उक्त रूढि बहुभागमें है ।

सिद्धमस्ताभिलाषत्वं कस्यचित्सर्वताश्रितः ।
देशतोऽप्यस्मदादीनां रागाभावस्य दर्शनात् ॥ २६३ ॥

अन्वयार्थः— (अस्मदादीनां अपि देशतः रागाभावस्य दर्शनात्) हम लोगोंकेभी एकदेशरूपसे रागभावोंका अभाव देखे जानेके कारण (कस्यचित् चितः) किसी आत्माके (सर्वत) सर्वथा (अस्ताभिलाषत्वं सिद्धं) रागादिभावोंका अभाव सिद्ध होता है।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टीको विषयोंमें सर्वथा अभिलाषा नहीं होती है यह असिद्ध नहीं है। कारण अस्मदादिकके तरतम रूपसे रागादि भावोंके पाये जानेसे किसी न किसी आत्माके सर्वथा रागादि भावोंका अभाव अनुमानसे सिद्ध होसकता है। इस युक्तिसे सम्यग्दृष्टियोंके अभिलाषाका अभाव असिद्ध नहीं है।

तद्यथा न मदीयं स्यादन्यदीयमिदं ततः।
परप्रकरणे कश्चित्तृप्यन्नपि न तृप्यति ॥ २६४ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) उसका खुलासा इसप्रकार है कि (इदं मदीयं न अन्यदीयं स्यात्) यह मेरा नहीं है [illegible] है (ततः) इसलिये (परप्रकरणे कश्चित् तृप्यन् अपि) पर प्रकरणमें कोई तृप्त होता हुआभी (न तृप्यति) तृप्त नहीं होता है।

भावार्थः— [illegible] कथनका खुलासा इसप्रकार है कि जब यह समझलिया जाता है कि यह मेरा नहीं है [illegible] जो कोई तृप्त होता है वह वास्तविकमें तृप्त नहीं है किंतु अतृप्तही है अर्थात् इन्द्रियोंके [illegible] चारित्रमोहनीयकी पराधीनतावश सम्यग्दृष्टी जीवके उन विषयोंमें जो तृप्ति पाई जाती [illegible] है।

अब आगे दृष्टान्तपूर्वक इसी अर्थका खुलासा करते हैं।

यथा कश्चित्परायत्तः कुर्वाणोऽनुचितां क्रियाम्।
कर्ता [illegible] क्रियायाश्च न स्यादस्ताभिलाषवान् ॥ २६५ ॥

[illegible] (अस्ताभिलाषवान् कश्चित् परायत्तः) अपनी इच्छाके विना [illegible] (अनुचितां क्रियां कुर्वाणः च) अनुचित क्रियाको करता हुआभी (तस्याः क्रियायाः) [illegible] कर्ता नहीं माना जाता है।

भावार्थः— जैसे कि पराधीन पुरुष, अपनी इच्छाके न रहते हुए परप्रयोगवश अनुचित क्रियाको करकेभी वास्तवमें अनुचित क्रियाका कर्ता नहीं कहा जाता है। वैसेही सम्यग्दृष्टिभी मोहोदयवश भोगोंको भोगकरभी वास्तवमें भोगोंका भोक्ता नहीं कहा जाता है।

इसप्रकार उपर्युक्त कथनसे सम्यग्दृष्टी जीवके अभिलाषा नही होती है यह सिद्ध होता है।

शंका।

स्वदते ननु सद्दृष्टिरिन्द्रियार्थकदम्बकम्।
तत्रेष्टं रोचते तस्मै कथमस्ताभिलाषवान्॥ २६६ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि जब (सद्दृष्टिः) सम्यग्दृष्टी जीव (इन्द्रियार्थकदम्बकं) इद्रियोंके विषयोंको (स्वदते) भोगता है और (तत्र तस्मै इष्टं रोचते) उन विषयोंमें वह इष्टकी चाहभी करता है तो फिर उसमें (अस्ताभिलाषवान् कथं) विषयोंकी अभिलाषाका अभाव कैसे कहा जायगा ?

भावार्थः— शकाकारका कहना है कि जब सम्यग्दृष्टी जीव पंचेंद्रियोंके विषयोंको भोगता है। तथा उनमे इष्ट विषयोंकी चाहभी करता है तो फिर उसको विषयोंकी अभिलाषासे रहित क्यों कहा ? अर्थात् जब सम्यग्दृष्टी जीव विषयोंका सेवन करता है तो उसे विषयोंकी अभिलाषासे रहित नहीं कहना चाहिये।

समाधान।

सत्यमेतादृशो यावज्जघन्यं पदमाश्रितः।
चारित्रावरणं कर्म जघन्यपदकारणम्॥ २६७ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है क्योंकि (यावत्) जबतक (जघन्यपदं आश्रितः) सम्यग्दृष्टी जीव जघन्यपदमें स्थित रहता है तबतक (एतादृशः) कथञ्चित् विषयसेवन करता है और (जघन्यपद कारणं) उसके उस जघन्यपदमें कारणभूत (चारित्रावरणं कर्म) चरित्रावरण कर्म है।

भावार्थः— शकाकारकी उक्त शंकाका उत्तर यह है कि जबतक सम्यग्दृष्टी जीव जघन्य पदमें स्थित रहता है तबतक उसके पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें अनासक्ति पूर्वक इच्छा रहती है। तथा उसके उस जघन्यपदका कारण अप्रत्या-

ख्यानावरणादि कर्मोंका उदय है। इसलिए जिन सम्यग्दृष्टियोंको चारित्रमोहनीय कर्मका उदय रहता है वे जघन्य पदमें स्थित है। और उनकी उन विषयोंमें अभिलाषा मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कृत राग द्वेषपूर्वक होती है। अतएव उस अभिलाषाको अनासक्तिपूर्वक होनेसे न होनेके बराबरही समझना चाहिए।

तदर्थेषु रतो जीवश्चारित्रावरणोदयात।
तद्विना सर्वतः शुद्धो वीतरागोस्त्यतींद्रियः ॥ २६८ ॥

अन्वयार्थः— (जीवः) वह सम्यग्दृष्टी जीव (चारित्रावरणोदयात्) चारित्र घातक कर्मके उदयसे (तदर्थेषु रतः) उन इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्त होता है और (तद्विना) उस कर्मके उदयका अभाव होनेपर (सर्वतः) सर्वथा (शुद्धः) शुद्ध (वीतरागः) वीतराग तथा (अतींद्रियः अस्ति) अतींद्रिय माना जाता है।

भावार्थः— केवल चारित्रावरण कर्मके उदयसेही जघन्य पदमें स्थित सम्यग्दृष्टी जीव इन्द्रियोंके विषयोंमें अनासक्तिपूर्वक इष्टानिष्ट बुद्धि करता है। किंतु जब उसके चारित्रमोहनीयका अभाव हो जाता है तब वही सम्यग्दृष्टी जीव शुद्ध, वीतराग और अतींद्रिय माना जाता है।

दृग् मोहस्य क्षतेस्तस्य नूनं भोगाननिच्छतः।
हेतुसद्भावतोऽवश्यमुपभोगक्रिया बलात् ॥ २६९ ॥

अन्वयार्थः— (दृग्मोहस्य क्षतेः) दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव होनेसे (नूनं) निश्चयकरके (भोगान् अनिच्छितः तस्य) भोगोंकी इच्छा नहीं रखनेवाले उस सम्यग्दृष्टीके (हेतुसद्भावतः) भोग क्रियाके कारणभूत चारित्रावरण कर्मके उदयसे (बलात् अवश्यं उपभोगक्रिया) बलपूर्वक अवश्य उपभोग क्रिया होता है।

भावार्थः— यद्यपि सम्यग्दृष्टीके दर्शनमोहका अभाव होजानेसे उसकी उपभोगमें इच्छा नहीं रहती है। परन्तु इष्टानिष्ट कल्पनाके कारणभूत चारित्रमोहका उदय रहनेसे उसको अनासक्तिपूर्वक भोगोंको भोगने पडता है।

नासिद्ध तद्विरागत्वं क्रियामात्रस्य दर्शनात् ।
जगतोऽनिच्छतोऽप्यस्ति दारिद्र्यं मरणादि च ॥ २७० ॥

अन्वयार्थः— (क्रियामात्रस्य दर्शनात्) केवल क्रियाके देखनेसे (तद्विरागत्व असिद्धं न) सम्यग्दृष्टीकी विषयोंमें वीतरागता असिद्ध नहीं है क्योंकि (अनिच्छतः अपि जगतः) दारिद्र्य तथा मरणादिकको नहीं चाहनेवालेभी लोगोंको (दारिद्र्यं) दारिद्र्य (च) और (मरणादि अस्ति) मरणकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थ — जैसें लोगोंके इच्छाके विनाही दारिद्र्य और मरणादिककी प्राप्ति होती है वैसेही इच्छाके विना सम्यग्दृष्टीकी विषयोंमें प्रवृत्ति पाई जाती है । इसलिए उसके, विषयोंमें वीतरागपना—निरभिलाषित्व असिद्ध नहीं है ।

व्यापीडितो जनः कश्चित्कुर्वाणो रुक्प्रतीक्रियाम् ।
तदात्वे रुक्पदं नेच्छेत् का कथा रुक्पुनर्भवे ॥ २७१ ॥
कर्मणा पीडितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियाम् ।
नेच्छेत् कर्मपदं किंचित् साभिलाषः कुतो नयात् ॥ २७२ ॥

अन्वयार्थ — (रुक्प्रतिक्रियां कुर्वाणः कश्चित् व्यापीडितः जनः) जैसे जब रोगकी प्रतिक्रिया करता हुआ कोई रोगी पुरुष (तदात्वे) रोगी अवस्थामें (रुक्पदं न इच्छेत्) रोगके पदको नहीं चाहता है अर्थात् अपनी सरोगावस्थाको नहीं चाहता है तो फिर (रुक्पुनर्भवे का कथा) दुवारा रोगके उत्पन्न होनेकी इच्छाके विषयमें तो कहनाही क्या है अर्थात फिरसे रोगकी उत्पत्तिको तो वह चाहेगाही नहीं, वैसेही जब (कर्मणा पीडित) कर्मके द्वारा पीडित होकर (कर्मजां क्रियां कुर्वाणः ज्ञानी) कर्मजन्य इष्टानिष्ट क्रियाको करनेवाला ज्ञानी (किंचित् कर्मपदं न इच्छेत्) किसीभी कर्मपदकी इच्छा नहीं करता है तो फिर वह (साभिलाषः कुतः नयात्) इन्द्रियोंके विषयोंका अभिलाषी किस न्यायसे कहा जासकता है ?

भावार्थ — जैसे जब रोगी, रोगसे पीडित होकर उस रोगका इलाज करते समय रोगका अभिलाषी सिद्ध

नहीं होता है तो फिर वह फिरसे रोगकी उत्पत्तिका अभिलाषुक है यह कैसे कहा जासकता है अर्थात किसी तरह नहीं कहा जासकता है। वैसेही जब कर्मसे पीडित होकर केवल कर्मोदयवश अनिच्छापूर्वक इष्टानिष्ट क्रियाओंको करता हुवा ज्ञानी किसी कर्मपदकीही इच्छा नहीं करता है तो फिर वह विषयोंमे अभिलाषावाला है यह कैसे कहा जासकता है अर्थात् किसीभी तरह नहीं कहा जासकता है।

नासिद्धोऽनिच्छितस्तस्य कर्म तस्याऽऽमयात्मनः।
वेदनायाः प्रतीकारो न स्याद्रोगादिहेतुकः ॥ २७३ ॥

अन्वयार्थ — और (कर्म अनिच्छित तस्य) कर्ममात्रको नहीं चाहनेवाले उस सम्यग्दृष्टिके (वेदनाया प्रतीकारः) कषायजन्य वेदनाका प्रतीकारभी (असिद्धः न) असिद्ध नहीं है क्योंकि (आमयात्मनः तस्य) कषायरूपी रोगसे युक्त उस सम्यग्दृष्टीके (वेदनायाः प्रतीकार) वेदनाका प्रतीकार (रोगादिहेतुक. न स्यात्) नवीन रोग आदिके उत्पन्न करनेमें कारण नहीं कहा जासकता है।

भावार्थ.—सम्यग्दृष्टीके किसीभी कर्मकी इच्छाके नहीं रहनेपरभी उसके जो कर्मोंके उदयजन्य आकुलता होती है उस आकुलताका जो वह भोगोंको भोगनेके द्वारा प्रतिकार करता है वह वेदनाका प्रतिकार उसके असिद्ध नहीं है अर्थात् सिद्ध है। परन्तु उन भोगोंसे उसके बन्ध नही होता है। कारण कि जैसे रोगका प्रतिकार रोगकी उत्पत्तिमें कारण नहीं होता है वैसेही केवल कर्मोदयवश उत्पन्न होनेवाली आकुलताके निवारणार्थ भोगे हुए भोग नवीन कर्मोंके आश्रवमें कारण नहीं हो सकते है।

सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोप्यसेवकः।
नीरागस्य न रागाय कर्माऽकामकृतं यतः ॥ २७४ ॥

अन्वयार्थ — (असौ सम्यग्दृष्टि) यह सम्यग्दृष्टि (भोगान् सेवमानः अपि) भोगोंका सेवन करता हुवाभी (असेवकः) वास्तवमें भोगोंका सेवन करनेवाला नहीं कहलाता है (यतः) क्योंकि (नीरागस्य अकामकृत कर्म) राग रहित जीवके विना इच्छाके किये गये कर्म (रागाय न) रागके उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होते है।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिके भोग इच्छापूर्वक नहीं होते हैं इसलिए वे रागजनक नहीं कहे जासकते है। क्योंकि उसके सदैव परम उपेक्षाभावका सद्भाव रहनेसे अनिच्छापूर्वकही क्रियाएँ होती है।

आस्ति तस्यापि सदृष्टेः कस्यचित्कर्मचेतना।
अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना ॥ २७५ ॥

अन्वयार्थः— (कस्यचित् तस्य सदृष्टेः अपि) यद्यपि किसी २ सम्यग्दृष्टि जीवके अर्थात् जघन्य पदवर्ती किसी सम्यग्दृष्टीके (कर्मचेतना) कर्मचेतना (अपि) और (कर्मफले) कर्मफलमे चेतना (अस्ति) होती है तथापि (अर्थतः) वास्तवमें (सा ज्ञानचेतना स्यात्) वह ज्ञानचेतनाही है।

भावार्थः— जब सम्यग्दृष्टी जीव जघन्यपदमें स्थित रहते हैं तब उनके कर्म और कर्मफलचेतनाभी गौण रूपमे पाई जाती है। परन्तु उनको विषयोंकी अभिलाषा रोगके प्रतीकारके समानही होती है इसलिए वास्तवमें वह ज्ञानचेतनाही कहलाती है अर्थात यद्यपि सम्यग्दृष्टियोंके मुख्य रूपसेतो ज्ञानचेतनाही होती है। और गौणरूपसे किसी २ के-कर्म तथा कर्मफलचेतनाभी होती है। परन्तु उक्त अपेक्षासे वहभी वास्तवमें ज्ञानचेतनाही है.

क्योंकि।

चेतनायाः फलं बन्धस्तत्फले वाऽथ कर्मणि।
रागाभावान्न बन्धोऽस्य तस्मात्सा ज्ञानचेतना ॥ २७६ ॥

अन्वयार्थः— (कर्मणि अथवा तत्फले) कर्ममें अथवा कर्मफलमें रहनेवाली (चेतनायाः) चेतनाका (फलं) फल (बन्धः) बन्ध होता है परन्तु (अस्य रागाभावात् बन्धः न) इस सम्यग्दृष्टीके रागका अभाव होनेसे बन्ध नहीं होता है (तस्मात्) इसलिये (सा ज्ञानचेतना) वह ज्ञानचेतनाही है।

भावार्थः— कर्म और कर्मफलचेतनाके होनेसे बन्ध होता है। परन्तु सम्यग्दृष्टिके जो कर्म व कर्मफल-चेतनाकी प्रवृत्ति पाई जाती है वह इच्छापूर्वक नहीं होती है। अत उन दोनों चेतनाओंके रहते हुएभी बन्ध, न होनेके कारण सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतनाही कही जाती है।

आस्ति ज्ञानं यथा सौख्यमैन्द्रियं चाप्यतीन्द्रियम्।

आद्यं द्वयमनादेयं समादेयं परं द्वयम् ॥ २७७ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (ज्ञानं) ज्ञान (ऐन्द्रियं) इंद्रियजन्य (च) और (अतींद्रिय) अतींद्रिय (अस्ति) होता है वैसेही (सौख्यं अपि) सुखभी ऐंद्रियक तथा अतींद्रिय होता है उनमेंसे सम्यग्दृष्टि-को (आद्यं द्वयं) पहलेके दोनों अर्थात् इंद्रियजन्य ज्ञान तथा इंद्रियजन्य सुख (अनादेयं) उपादेय नहीं होते है (परं द्वयं समादेयं) किंतु शेषके दोनों अर्थात् अतींद्रिय ज्ञान व अतींद्रिय सुख उपादेय होते है।

भावार्थ— ज्ञान और सुख ऐन्द्रियक तथा अतींद्रिय दोनों प्रकारके होते है। परन्तु सम्यग्दृष्टीके लिये केवल अतींद्रिय ज्ञान और सुखही उपादेय होते है इंद्रियजन्य नहीं इसलिये उसके ज्ञानचेतनाही कही जाती है। कारण वह इंद्रियजन्य सुख और ज्ञानमें रुचि नहीं रखता है।

अब आगे २८ पद्यों द्वारा इन्द्रिजन्य ज्ञानके दोषोंको बताते हैं।

नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थाद्दुःखमनर्थवत् ॥ २७८ ॥

अन्वयार्थ — (नूनं) निश्चयसे (यत् ज्ञान) जो ज्ञान (परतः) इंद्रिय आदिके अवलम्बनसे होता है और (यत्) जो ज्ञान (प्रत्यर्थं परिणामि) प्रत्येक अर्थके प्रति परिणमनशील रहता है अर्थात् प्रत्येक अर्थके अनुसार पारिणामी होता है वह ज्ञान (व्याकुलं) व्याकुल तथा (मोह संपृक्तं) राग द्वेष सहित होता है इस-लिये (अर्थात) वास्तवमें वह ज्ञान (दुःख अनर्थवत्) दुःखरूप तथा निष्प्रयोजनके समान है।

भावार्थ — इंद्रियज्ञान परावलम्बी और प्रत्येक ज्ञेयानुसार परिणमनशील होनेसे व्याकुल तथा मोहके सम्प-र्कसे सहित होता है। इसलिए वास्तवमें वह इंद्रियज्ञान दुःखरूप है और कार्यकारी नहीं है।

सिद्धं दुःखत्वमस्योच्चैर्व्याकुलत्वोपलब्धितः।
ज्ञातशेषार्थसद्भावे तद्बुभुत्सादिदर्शनात् ॥ २७९ ॥

अन्वयार्थ — (व्याकुलत्वोपलब्धित.) प्रत्यर्थ परिणामी होनेके कारण अथवा परनिमित्तसे होनेके कारण ज्ञानमें व्याकुलता पायी जाती है इसलिये (अस्य दुःखत्वं) ऐसे इंद्रियजन्य ज्ञानमें दुःखपना (उच्चैः सिद्धं) अ-

तरहसे सिद्ध होता है क्योंकी (ज्ञातशेषार्थसद्भावे) जाने हुये पदार्थांशके सिवाय शेषांशोके अज्ञात रहनेपर (तद्बुभुत्सादि दर्शनात्) उनके जाननेकी इच्छा देखी जाती है।

भावार्थः— परावलम्बी और प्रत्यर्थपरिणामी होनेसे इंद्रियजन्य ज्ञानमें दुःखपना असिद्ध नहीं है। क्योंकि ज्ञातसे शेष रहे हुए ज्ञेयके अंशोंको जाननेके लिये जिज्ञासा रहती है इसलिए उस ज्ञानमें व्याकुलताका सद्भाव सिद्ध होता है। और व्याकुलताके पाये जानेसे ज्ञानमें दुःखपना सिद्ध होता है । तथा दुःखपनेके सद्भावसे उसमें अनुपादेयताकी सिद्धि होती है।

आस्तां शेषार्थजिज्ञासोरज्ञानाद् व्याकुलं मनः ।
उपयोगि सदर्थेषु ज्ञानं वाप्यसुखावहम् ॥ २८० ॥

अन्वयार्थः— (शेषार्थजिज्ञासोः) शेषअर्थके जाननेकी इच्छा रखने वालेका (मनः) मन (अज्ञानात्) अज्ञानसे अर्थात् उनज्ञातांशोंसे अतिरिक्त शेष अंशोंके ज्ञान नहीं होनेसे (व्याकुलं) व्याकुल रहता है यहतो (आस्ताम्) दूर रहो किन्तु (सदर्थेषु उपयोगि अपि ज्ञान) यथार्थ पदार्थों के विषयमे उपयोगी पडनेवाला भी ज्ञान (असुखावहं वा) दुःखजनकके समान होता है

भावार्थः— ज्ञात अंशसे अतिरिक्त शेषार्थकी जिज्ञासाके रहनेसे जिज्ञासुका मन केवल व्याकुल रहता है इसकी तो कहनाही क्या है अर्थात वह तो निश्चयसे व्याकुल है ही–दुःखरूप है ही । परन्तु यथार्थ विषयोंमे उपयोगी पडनेवालाभी इद्रियज्ञान दुःखरूप कहा जाता है।

मिथ्यादृष्टियोंको इद्रियज्ञान और इद्रिय सुख उपादेय होते है । और मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानको मिथ्यात्वके उदयके कारण दुःखप्रद कहा गया है। कारण उसमें व्याकुलता पाई जाती है जिसेकि ऊपर बताया जाचुका है। तथा इस पद्यसे यह बताया है कि मिथ्यादृष्टिका ज्ञान व्याकुल होता है इतनाही नहीं है किंतु यथार्थ पदार्थोंके विषयोमें उपयुक्त होनेके योग्य होकरभी " सदसतोरविशेषात " के सिद्धातानुसार सच्चे सुखका अनुभव करनेवाला न होनेसे दुःखावह ही है।

प्रमत्तं मोहयुक्तत्वान्निकृष्टं हेतुगौरवात् ।

व्युच्छिन्नं क्रमवर्तित्वात्कृच्छ्रं चेहाद्युपक्रमात् ॥ २८१ ॥

अन्वयार्थ — वह इंद्रियजन्य ज्ञान (**मोहयुक्तत्वात्**) मोहसे युक्त होनेके कारण (**प्रमत्तं**) प्रमत्त (**हेतुगौरवात्**) अपनी उत्पत्तिमें बहुत कारणोंकी अपेक्षा रखनेसे (**निकृष्टं**) निकृष्ट (**क्रमवर्तित्वात्**) क्रमपूर्वक पदार्थोंको विषय करनेके कारण (**व्युच्छिन्नं**) व्युच्छिन्न (**च**) और (**ईहाद्युपक्रमात्**) ईहा आदि पूर्वकही होनेसे (**कृच्छ्रं**) दुःखरूप कहलाता है ।

भावार्थः— वह इंद्रियजन्य ज्ञान मोहयुक्त होनेसे प्रमत्त, हेतुगौरवसे निकृष्ट, क्रमवर्ती होनेसे व्युच्छिन्न तथा ईहादि पूर्वक होनेसे दुःखरूप कहलाता है ।

परोक्षं तत्परायत्तादाक्ष्यमक्षसमुद्भवात् ।
सदोषं संशयादीनां दोषाणां तत्र संभवात् ॥ २८२ ॥

अन्वयार्थ— (**तत्**) वह ऐन्द्रियकज्ञान (**परायत्तात् परोक्षं**) परनिमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण परोक्ष है (**अक्षसमुद्भवात्**) इन्द्रियोंसे पैदा होनेके कारण (**आक्ष्यं**) आक्ष्य है और (**तत्र**) उसमें (**संशयादीनाम् दोषाणां सम्भवात्**) संशय आदि दोषोंके आनेकी संभावनासे वह (**सदोषं**) सदोष है ।

भावार्थः— वह इंद्रियजन्य ज्ञान पराधीन होनेसे परोक्ष, इंद्रियजन्य होनेसे आक्ष्य तथा उसके द्वारा ज्ञात विषयोंमें संशयादिक दोषोंकी संभावनासे सदोष है ।

विरुद्धं बन्धहेतुत्वाद्बन्धकार्याच्च कर्मजम् ।
अश्रेयोऽनात्मधर्मत्वात् कालुष्यादशुचिः स्वतः ॥ २८३ ॥

अन्वयार्थ— (**बन्धहेतुत्वात्**) बन्धका हेतु होनेसे (**विरुद्धं**) विरुद्ध (**बन्धकार्यात्**) बन्धका कार्य होनेसे कर्मजन्य (**अनात्मधर्मत्वात्**) आत्माका धर्म न होनेसे (**अश्रेय**) अश्रेय (**च**) और (**कालुष्यात् स्वतः अशुचि**) कलुषित होनेसे स्वयं अशुचि है ।

भावार्थः— उस इंद्रिय ज्ञानके निमित्तसे बन्ध होता है इसलिये वह विरुद्ध है । पूर्वबद्ध कर्मोंके सम्बन्धको रखकरही उसकी उत्पत्ति होती है इसलिए वह कर्मजन्य है । वास्तवमें आत्माका स्वभाव नहीं है इसलिये अश्रेय है । और स्वतः ध्यामल है इसलिये वह अशुचि है ।

मूर्छितं यदपस्मारवेगवद्वर्धमानतः ।
क्षणं वा हीयमानत्वात् क्षणं यावददर्शनात् ॥ २८४ ॥

अन्वयार्थः— (क्षणं वर्धमानतः) कभी बढ जानेसे (वा) अथवा (हीयमानत्वात्) कभी घट जानेसे अथवा (क्षण यावत् अदर्शनात्) कभी दिखाई नहीं देनेसे (तत्) वह ऐंद्रियक ज्ञान (अपस्मारवेगवत्) अपस्मार-मृगी रोगके वेगके समान (मूर्च्छितं) मूर्च्छित है ।

भावार्थः— जैसे अपस्मार रोग कभी बढजाता है । कभी घट जाता है तथा कभी बिलकुल नहीं रहता है। वैसेही यह इंद्रियजन्य ज्ञान कभी कम, कभी अधिक और कभी २ अत्यन्त कम होजाता है । इसलिए यह मूर्च्छित कहलाता है ।

अत्राणं प्रत्यनीकस्य क्षणं शान्तस्य कर्मणः ।
जीवदवस्थातोऽवश्यमेष्यतः स्वरसस्थितिं ॥ २८५ ॥

अन्वयार्थः— (क्षणं शांतस्य) थोडी देरके लिये उपशांत हुआ (प्रत्यनीकस्य कर्मणः) जो घातक कर्म है उसके (जीवदवस्थातः) जीवित अवस्थामें रहनेसे वह (अवश्य स्वरसस्थितिं) कभी न कभी अवश्यही अपने रसकी स्थितिको (एष्यतः) प्राप्त होगा इसलिए वह इंद्रियजन्य ज्ञान (अत्राण) अशरण है-अशरणरूप है ।

भावार्थः— वह इंद्रियजन्य ज्ञान अपने प्रतिपक्षी कर्मोंके थोडी देरके लिये शान्त हो जानेसे उत्पन्न होता है। इसलिये जब कर्मोंका उदय आजायगा तब वह इंद्रियजन्य ज्ञान अवश्यही विलीयमान होजायगा अत वह अत्राण है अर्थात् क्षयोपशम प्राप्त कर्मोंका उदय होनेपर उसके नाशको कोई रोक नहीं सकता है । इसलिये वह अत्राण है ।

दिङ्मात्रं षट्सु द्रव्येषु मूर्तस्यैवोपलम्भकात् ।
तत्र सूक्ष्मेषु नैव स्यादस्ति स्थूलेषु केषुचित् ॥२८६ ॥

सत्सु ग्राह्येषु तत्रापि नाग्राह्येषु कदाचन ।

तत्रापि विद्यमानेषु नातीतानागतेषु च ॥२८७॥

तत्रापि सान्निधानत्वे सान्निकर्षेषु सत्सु च ।
तत्राप्यवग्रहेहादौ ज्ञानस्यास्तिक्यदर्शनात् ॥ २८८ ॥

समस्तेषु न व्यस्तेषु हेतुभूतेषु सत्स्वपि ।
कदाचिज्जायते ज्ञानमुपर्युपरि शुद्धितः ॥ २८९ ॥

अन्वयार्थः— वह इंद्रियज्ञान (षट्सु द्रव्येषु) छहों द्रव्योंमें (मूर्तस्य एव उपलम्भकात्) मूर्त द्रव्यकोही विषय करता है तथा (तत्र) उसमेंभी (सूक्ष्मेषु नैव स्यात्) सूक्ष्म पुद्गलोंमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है स्थूलोंमेंही होती है और (स्थूलेषु केषुचित् अस्ति) स्थूलोंमेंभी उसकी सब स्थूलोंमें प्रवृत्ति नहीं होती है किंतु किन्हीं स्थूल पुद्गलोंमेंही होती है तथा (तत्र अपि) उन स्थूलोंमेंभी (ग्राह्येषु सत्सु) इंद्रियोंके द्वारा ग्राह्य स्थूल पदार्थोंमेंही उसकी प्रवृत्ति होती है (अग्राह्येषु कदाचन न स्यात्) इंद्रियोंके द्वारा अग्राह्य पदार्थोंमें उसकी प्रवृत्ति कभीभी नहीं होती है और (तत्रापि) उन ग्राह्य पदार्थोंमेंभी (विद्यमानेषु) वर्तमानकालसंबंधी ग्राह्य पदार्थोंमें प्रवृत्ति होती है (अतीतानागतेषु न च भूत तथा भविष्यतकालसंबंधी पदार्थोंमें नहीं होती है और (तत्रापि) उन वर्तमानकालसंबंधी ग्राह्य पदार्थोंमेंभी (सन्निधानत्वे सन्निकर्षेषु सत्सु) सन्निधानपूर्वक पदार्थोंके साथ इंद्रियोंके सन्निकर्षके होनेपरही उस इंद्रियकी प्रवृत्ति होती है । (च) तथा (तत्रापि) सान्निकर्षके होनेपरभी (अवग्रहेहादौ) अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके होनेपरही (ज्ञानस्य) उस ऐंद्रियक ज्ञानका (अस्तित्वदर्शनात्) अस्तित्व देखा जाता है तथा (समस्तेषु हेतुभूतेषु सत्सु अपि) इन समस्त कारणोंके रहनेपरभी (उपरि उपरि शुद्धितः) ऊपर २ में शुद्धिके होनेसे (ज्ञानं) वह इंद्रियजन्य ज्ञान जीवोंको (कदाचित् जायते) कदाचित् होता है सदैव नहीं और (व्यस्तेषु न) असंपूर्ण कारणोंके रहनेपर तो वह बिलकुलही नहीं होता है अत वह इंद्रियज्ञान (दिङ्मात्रं) दिङ्मात्र है ।

भावार्थ— वह इंद्रियज्ञान छह द्रव्योंमेंसे केवल मूर्त द्रव्यकोही विषय करता है इतर द्रव्योंको नहीं । तथा मूर्त द्रव्यमेंभी वह सूक्ष्म पुद्गलोंको विषय नहीं करता है किन्तु केवल स्थूल पुद्गलोंकोही विषय करता है । और स्थूल

पुद्गलोंमेंभी सब स्थूल पुद्गलोंको विषय नहीं करता हैं किंतु किन्हीं २ स्थूल पुद्गलोंकोही विषय करता है। तथा उन स्थूल पुद्गलोंमेंभी इंद्रियोंके द्वारा ग्राह्य पुद्गलोंकोही वह विषय करता है अग्राह्योंको नहीं।

तथा उन ग्राह्य पुद्गलोंमेंभी वर्तमानकालसंबंधी पुद्गलोंकोही विषय करता है, अतीत अनागतकालसंबंधी नहीं। और उन वर्तमानकालसंबंधी पुद्गलोंमेंभी जिनका सन्निधानपूर्वक इंद्रियोंके साथ सन्निकर्ष होता है उनकोही विषय करता है अन्यको नहीं। तथा उनमेंभी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके होनेपरही उनको अवग्रहादिक रूपसे वह विषय करता हैं। और इन सब कारणोंके रहनेपरभी वह इंद्रियज्ञान कदाचित् होता है सदैव नहीं। तथा सामग्रीके पूर्ण न होनेपर तो वह बिलकूल नहीं होता है। इसलिए वह इंद्रियज्ञान दिङ्मात्र है।

तद्यथा मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य वा सतः।
आलापाः सन्त्यसंख्यातास्तत्रानन्ताश्च शक्तयः॥ २९० ॥
तेषामावरणान्युच्चैरालापाच्छाक्तितोथवा।
प्रत्येकं सान्ति तावान्ति सन्तानस्यानतिक्रमात् ॥ २९१ ।
तत्रालापस्य यस्योच्चैर्यावदंशस्य कर्मणः।
क्षायोपशमिकं नाम स्यादवस्थान्तरं स्वतः ॥२९२ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) उक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (सत) यथार्थरूप (मतिज्ञानस्य) मतिज्ञानके (वा) अथवा (श्रुतज्ञानस्य) श्रुतज्ञानके (असंख्याता. आलापाः सन्ति) असंख्यात आलाप होते हैं (च) और (तत्र) उनमें (अनन्ता शक्तयः ' भवन्ति ') अविभागप्रतिच्छेदरूप अनन्त शक्तियां होती है और (उच्चै) अधिकसे अधिक (तेषां आवरणानि) उनके आवरणभी (आलापात्) आलापकी अपेक्षासे (सन्तानस्य अनतिक्रमात्) सन्तानको उलंघन नहीं करके (प्रत्येक तावंति सन्ति) प्रत्येकके उतनेही होते हैं=मति श्रुतज्ञानके आलापोंके बराबरही मतिश्रुतज्ञानावरण कर्मके आलाप होते है (तत्र) उनमें (कर्मणः) कर्मके (यस्य आलापस्य) जिस आलापके (उच्चैः) अधिकसे अधिक (यावद्शस्य) जितने अंशोंका (स्वतः अवस्थांतरं) स्वयं अवस्थांतर होता है अर्थात् क्षयोपशम होता है (' तावद्शस्य ')

उतनेही अंशोंका विकाश (क्षायोपशमिकं नाम स्यात्) क्षायोपशमिक ज्ञान कहलाता है।

भावार्थः— मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके आलाप अथवा शक्तिकी अपेक्षासे जितने भेद होसकते है उतनेही उनके आवरण करनेवाले ज्ञानावरण कर्मकेभी आलाप व शक्तिकी अपेक्षासे भेद होसकते है। उनमें जिस ज्ञानावरण कर्मके, जिस व जितनी शक्तिका क्षयोपशम होगा उतनेही ज्ञानके अंशोंके विकाशको लिये हुए क्षायोपशमिक ज्ञान होगा।

अपि वीर्यांतरायस्य लब्धिरित्याभिधीयते।
तदैवास्ति स आलापस्तावदंश शक्तितः ॥ २९३ ॥

अन्वयार्थः—(यदा) जिस समय (यावदंशः सः) जितने अंशोंवाला मतिश्रुतज्ञानावरण सम्बन्धी आलाप हो (तदैव) उसी समय यदि (वीर्यांतरायस्य अपि) वीर्यांतराय कर्मकाभी (शक्तितः तावदंश आलाप अस्ति) शक्तिकी अपेक्षासे उतनेही अंशोंवाला आलाप हो तो (लब्धिः इत्यभिधीयते) इंद्रियज्ञानकी लब्धि कही जाती है।

भावार्थः— यदि जिस समय जितनी शक्तिकी अपेक्षासे जितने अंशोवाला मतिज्ञानावरणका आलाप हो उतनेही अंशोवाला वीर्यान्तरायकार्म हो, (दोनोंका युगपत् क्षयोपशम हो) तो उससमय इन्द्रियज्ञानकी लब्धि लब्धि इस नामसे कही जा सकती है।

यदि कदाचित् मतिज्ञानावरण तथा वीर्यान्तरायके आलापोंमें भिन्नता रहे तो उसका क्षयोपशम नहीं हो सकता है। इसालिये ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके आलापोंमें समानताका होनाभी इन्द्रियज्ञानकी लब्धिके लिये आवश्यक है।

इसप्रकार २९० वें पद्यसे लेकर २९६ वें पद्यतक इंद्रियज्ञानकी लब्धिके क्षयोपशमकी कारण सामग्रीका वर्णन करके अब आगे इंद्रियज्ञानके उपयोग की कारण सामग्री का वर्णन करते है।

उपयोगविवक्षायां हेतुरस्यास्ति तद्यथा।
अस्ति पंचेंद्रियं कर्म कर्मस्यान्मानसं तथा ॥ २९४ ॥

अन्वयार्थः— [अस्य] इंद्रिय ज्ञानके [उपयोगविवक्षायां] उपयोगकी विवक्षामें [हेतुः अस्ति] हेतु है, वे [तद्यथा] इसप्रकार है कि [यथा] जैसे [पञ्चेंद्रियं कर्म अस्ति] पंचेंद्रिय नामक नामकर्म

हेतु होता है (तथा) वैसेही (मानसं कर्म स्यात्) मनअंगोपांग नामक नामकर्मभी हेतु होता है ।

भावार्थ — उस इंद्रियज्ञानके उपयोगमे पंचेंद्रिय नामकर्म तथा मन अगोपाग नामकर्मका उदय निमित्त है क्योंकि यदि पचेंद्रिय नामकर्म और मन अंगोपाग नामकर्मका उदय न हो तो वह इंद्रियजन्यज्ञान उपयोगवान नहीं हो सकता है । इसलिये पचेंद्रिय नामकर्म तथा मनअगोमाग नामकर्म उययोगमें हेतु है ।

दैवात्तद्बन्धमायाति कथंचित्कस्यचित्क्वचित ।
आति तस्योदयस्तावन्न स्यात्संक्रमणादिचेत् ॥ २९५ ॥

अन्वयार्थः— (दैवात्) दैवसे (तत्) वह पचेंद्रिय तथा मनअंगोपांग नामक नामकर्म (कस्यचित्) किसी जीवके (कथंचित्) किसी प्रकारसे (क्वचित) कभी (बन्धं आयाति) बन्धको प्राप्त होता है और (चेत्) यदि (संक्रमणादि न स्यात्) उसका संक्रमण आदि नहीं होगया हो (तावत्) तो जीवके (तस्य उदय. अस्ति) उस पंचेंद्रिय तथा मानसअंगोपाग नामक नामकर्मका उदय होता है ।

भावार्थः— इंद्रियज्ञानके उपयोगमें कारणभूत उक्त दोनों कर्मोंका बन्धभी सदैव सब जीवोंके नहीं होता है किंतु कदाचित किन्हीं जीवोंको होता है । तथा बन्ध होकरकेभी किन्हीं जीवोंके उनका संक्रमण होजाता है । इसलिये फिर उनका अस्तित्व न रहनेसे उदय नहीं होसकता है । अतः उन दोनोंका बन्ध होनेपर यदि उनका संक्रमण नहीं होगया हो तो उन दोनों कर्मोंका उदय होता है । और उनका वह उदयही इंद्रियज्ञानमे कारण पडता है ।

अथ तस्योदये हेतुरस्ति हेत्वन्तरं यथा ।
पर्याप्तं कर्म नामेति स्यादवश्यं सहोदयात ॥ २९६ ॥

अन्वयार्थ — (अथ) तथा (तस्योदये) उस नामकर्मके उदयमें (हेत्वंतरं यथा) कारणांतरके समान (पर्याप्तनामकर्म इति हेतुः अस्ति) पर्याप्तनामकर्म यह हेतु होता है क्योंकि (अवश्यं सहोदयात् स्यात्) पर्याप्तनामकर्मके उदयके साथही उन दोनों कर्मोंका उदय होनेसे इंद्रियज्ञानका उपयोग होसकता है ।

भावार्थ — पर्याप्तनामकर्मके उदयके बिना मन देह और इंद्रियोंकी पूर्ति नहीं होती है इसलिए उनके लिये पर्याप्तनामकर्म कारण बताया है । अत अपर्याप्त अवस्था होनेसे इंद्रियज्ञानका उपयोग नहीं होसकता है इसलिए उन

दोनों नामकर्मके उदयके साथ पर्याप्ति नामकर्मका उदयभी इन्द्रियज्ञानके उपयोगमें निमित्त है।

सति तत्रोदये सिद्धाःस्वतो नोकर्मवर्गणाः।
मनो देहेन्द्रियाकारं जायते तन्निमित्ततः ॥ २९७ ॥

अन्वयार्थ — (तत्र उदये सति) उस पर्याप्ति नामकर्मके उदय होनेपर (स्वतः सिद्धा नोकर्म वर्गणाः) स्वयंसिद्ध आहारादि नोकर्म वर्गणाएँ (तन्निमित्ततः) उस पर्याप्तिनामकर्मके उदयके निमित्तसे (मनो देहेन्द्रियाकारं जायते) मन, देह और इन्द्रियोंके आकाररूप होजाती है

भावार्थ.— उस पर्याप्ति नामकर्मके उदय होनेपर जो स्वतः सिद्ध नोकर्म वर्गणाएँ है वे उस पर्याप्ति नामकर्मके उदयके अवलम्बनसे यथायोग्य मन, देह और इंद्रियरूप परिणत हो जाती है। यदि पर्याप्ति नामकर्मका उदय न हो तो उसके विना अपर्याप्ति अवस्थामे नोकर्म वर्गणाओंके रहते हुएभी मन, देह और इन्द्रियोंका आकार पूर्ण नहीं होता है तथा इनके आकारके पूर्ण न होनेमे वे अपूर्ण मन, देह और इंद्रिया उपयोगमेभी निमित्त नहीं होसकती हैं।

तेषां परिसमाप्तिश्चेज्जायते दैवयोगतः।
लब्धेः स्वार्थोपयोगेषु बाह्य हेतुर्जडेन्द्रियम् ॥२९८॥

अन्वयार्थ — (चेत्) यदि (दैवयोगतः) दैवयोगसे (तेषां) उन मन, शरीर और इंद्रियोंकी (परिसमाप्तिः जायते) परिसमाप्ति–पूर्णता हो जावे तो (जडेन्द्रियं) जडेंद्रिय (लब्धेः स्वार्थोपयोगेषु) लब्धिके स्वार्थोपयोगमें (बाह्य हेतु) बाह्य कारण होसकती है।

भावार्थ — यदि दैवयोगसे–पर्याप्ति नामकर्मके उदयसे उन शरीर मन और इंद्रियोंकी पूर्णता होजाय तो लब्धिके अनुसार उपयोग होनेमे बाह्य जडइंद्रियां कारण होसकती है अन्यथा नहीं।

अस्ति तत्रापि हेतुर्वा प्रकाशो रविदीपयोः।
अन्यदेशस्थसंस्कारः पारम्पर्यावलोकनम् ॥ २९९ ॥

अन्वयार्थः— (तत्रापि) उक्त कारण सामग्रीमेंभी (रविदीपयोः प्रकाशः) सूर्य तथा दीपकका प्रकाश (अन्यदेशस्थसंस्कारः) अन्यदेशस्थ संस्कार (वा) और (पारंपर्यावलोकनं) परम्परावलोकनभी (हेतुः अस्ति) कारण है।

भावार्थः— उपयोगमें पूर्ण जडेंद्रिय भी रवि तथा दीपकादिकके प्रकाशके सद्भावमेंही कारण होसकती है। इसलिए रविदीपकादिका प्रकाश, अन्यदेशस्थ संस्कार और परम्परावलोनभी उसमें कारण है। *

एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सद्ज्ञानसंभवात्।
रूपेणैकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थोपयोगि तत् ॥ ३०० ॥

अन्वयार्थः— (एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु) इन सब हेतुओंके रहनेपर (सद्ज्ञानसंभवात्) ठीक प्रतिभास होता है अर्थात् उपयोग होसकता है तथा (एकेन रूपेण हीनेषु) उन कारणोंमेंसे किसी एक कारणके कम रहनेपर (तत् ज्ञानं अर्थोपयोगि न) वह ज्ञान अपने विषयोंमें उपयोगवाला नहीं होसकता है।

भावार्थ— उपर्युक्त कारणभूत इस सब सामग्रीके सद्भावमेंही उपयोग होसकता है। क्योंकि किसी एक कारणके कम रहनेपर ज्ञान अर्थको विषय करनेमें समर्थ नहीं होसकता है।

अस्ति तत्र विशेषोऽयं विना बाह्येन हेतुना।
ज्ञानं नार्थोपयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात् ॥ ३०१ ॥

अन्वयार्थः— (इति) इसप्रकार (तत्र) वहांपर (अयं विशेष अस्ति) यह विशेष है कि (बाह्येन हेतुना विना) बाह्य हेतुके विना (ज्ञानं अर्थोपयोगि न) ज्ञान अपने विषयका ग्रहण नहीं करसकता है किंतु (लब्धिज्ञानस्य दर्शनात्) वह लब्धिज्ञान देखा जाता है अर्थात वह ज्ञान लब्धिरूप देखा जाता है।

भावार्थः— इसप्रकार उपर्युक्त कथनसे यह साराश निकलता है कि बाह्य हेतुके विना वह ज्ञान उपयोगयुक्त नहीं होता है किंतु केवल लब्धिरूप रहता है।

---

* अन्यदेशस्थ सस्कार और परम्परावलोकनका भाव समझमें नहीं आया।

देशतः सर्वतो घातिस्पर्धकानामिहोदयात्
क्षायोपशमिकावस्था न चेज्ज्ञानं न लब्धिमत् ॥ ३०२ ॥

अन्वयार्थ — (इह) इंद्रियज्ञानमें (चेत्) यदि (देशतः) एकदेशरूपसे (सर्वतः घातिस्पर्द्धकानां उदयात्) सर्वघाति स्पर्द्धकोंका उदय होनेसे (क्षायोपशमिकावस्था न) क्षायोपशमिक अवस्था न होवे तो (ज्ञान उपलब्धिमत् न) वह ज्ञान लब्धियुक्त नहीं होसकता है ।

भावार्थः— उपर्युक्त बाह्य कारणोंके रहते हुएभी यदि एकदेशरूपसे तत्सर्वघातिस्पर्द्धकोंके यथायोग्य उदयसे अर्थात् देशघाति स्पर्द्धकोंके उदयसे और सर्वघाति स्पर्द्धकोंके सदवस्थारूप उपशम तथा उदयाभावी क्षयसे ज्ञानकी क्षायोपशमिक अवस्था नहीं होवे तो ज्ञानको लब्धि नहीं होसकती है ।

ततः प्रकृतर्थमेवैतदिङ्मात्रं ज्ञानमैन्द्रियम् ।
तदर्थार्थस्य सर्वस्य देशमात्रस्य दर्शनात् ॥ ३०३ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिए (प्रकृतार्थमेतत् एव) प्रकृत अर्थ यही है कि (ऐंद्रिय ज्ञानं) इंद्रियजन्य ज्ञान (दिङ्मात्र) दिङ्मात्र है अर्थात् नामात्रके लिए ज्ञान है क्योंकि (सर्वस्य तदर्थार्थस्य) इसके विषयभूत सभी पदार्थका (देशमात्रस्य दर्शनात्) दिङ्मात्ररूपसेही ज्ञान होता है ।

भावार्थ — अत प्रकृत अर्थ सिद्ध हुआकि सम्पूर्ण इंद्रियज्ञान दिङ्मात्र है । क्योंकि उसके विषयका ज्ञान दिङ्मात्ररूपसेही होता है अर्थात् नाममात्रसेही होता है स्पष्ट नहीं होता है ।

खंडितंखंडशतेषामेकैकार्थस्य कर्षणात् ।
प्रत्येकं नियतार्थस्य व्यस्तमात्रे सति क्रमात् ॥ ३०४ ॥

अन्वयार्थः— (तेषां) उन सब विषयोंमेंसे (एकैकार्थस्य खण्डशः कर्षणात्) अपने २ विषयभूत एक २ ही अर्थका खण्डशः विषय करनेके कारण वह इंद्रियज्ञान (खण्डित) खण्डरूप है और (क्रमात्) क्रम २ से (व्यस्तमात्रे सति) केवल व्यस्तरूप पदार्थमें (नियतार्थस्य कर्षणात्) नियत विषयको जानता है इसलिए वह इंद्रियज्ञान (प्रत्येक) प्रत्येकरूपभी है ।

भावार्थ — पदार्थमें एक २ अर्थकोही खंडशः जाननेके कारण खंडित है और केवल व्यस्तरूप पदार्थमेंही क्रम २ से, उस ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है इसलिए वह प्रत्येकरूपभी है।

आस्तामित्यादि दोषाणां सन्निपातास्पदं पदम् ।
ऐन्द्रियं ज्ञानमप्यस्ति प्रदेशचलनात्मकम् ॥ ३०५ ॥

निष्क्रियस्यात्मनः काचिद्यावदौदयिकी क्रिया ।
अपि देशपरिस्पन्दो नोदयोपाधिना विना ॥ ३०६ ॥

अन्वयार्थः— (ऐन्द्रिय ज्ञान) इंद्रियजन्य ज्ञान (इत्यादि दोषाणां) व्याकुलता आदि अनेक दोषोंके (सन्निपातास्पदं पदं) समावेशका स्थान है यह तो (आस्तां) दूर रहो अर्थात् वह ज्ञान उपरि उक्त व्याकुलता आदि दोषोंका स्थान है यह तो निश्चितही है किंतु उसके साथ तबतक वह ज्ञान (प्रदेशचलनात्मकं अपि अस्ति) प्रदेशचलनात्मकभी होता है।

(यावत्) जबतक कि (निष्क्रियस्य आत्मनः) निष्क्रिय आत्माकी (काचित्) कोईभी (औदयिकी क्रिया अस्ति) औदयिकी क्रिया होती है तथा वह (देशपरिस्पन्दः अपि) प्रदेशोंका हलनचलनभी (उदयोपाधिना विना) कर्मोदयरूप उपाधिके विना नहीं होता है।

भावार्थः— इंद्रियक ज्ञान केवल व्याकुलता आदि उक्त दोषोंका आस्पदही नहीं है किंतु जबतक निष्क्रिय आत्माके कोई न कोई औदयिकी क्रिया रहती है तबतक वह इंद्रियज्ञान प्रदेशचलनात्मकभी रहता है। क्योंकि आत्माके प्रदेशोंका परिस्पंद कर्मोदयरूप उपाधिके विना नहीं होता है।

नासिद्धमुदयोपाधेर्दुःखत्वं कर्मणः फलात् ।
कर्मणो यत्फलं दुःखं प्रसिद्धं परमागमात् ॥ ३०७ ॥

---

१ औदयिकी क्रिया घातिकर्मोंकी कही जाती है अघातियाकी नहीं।

अन्वयार्थः— (कर्मणः फलात्) कर्मका फल होनेसे (उदयोपाधेः दुःखत्वं) उदयरूप उपाधि में दुःखरूपता (असिद्धं न) असिद्ध नहीं है क्योंकि (कर्मण यत् फलं) कर्मका जो फल है वह (परमागमात्) परमागमसे (दुःखप्रसिद्धं) दुःखरूप प्रसिद्ध ही है।

भावार्थः— तथा उन कर्मोंकी उदयरूप उपाधिमें दुःखपना असिद्ध नहीं है। क्योंकि परमागममें कर्मोंके फलको दुःखरूप कहा है।

बुद्धिपूर्वकदुःखेषु दृष्टान्ताः सन्ति केचन।
नाबुद्धिपूर्वके दुःखे ज्ञानमात्रैकगोचरे ॥ ३०८ ॥

अन्वयार्थः— (बुद्धिपूर्वकदुःखेषु) बुद्धिपूर्वक दुःखों के विषयमें (केचन दृष्टान्ताः सन्ति) कितने हि दृष्टान्त मिलते है किन्तु (ज्ञानमात्रैकगोचरे) केवल अनुभवगम्य (अबुद्धि पूर्वके दुःखे) अबुद्धि पूर्वक होनेवाले दुःखोंके विषयमें कोईभी दृष्टान्त नहीं मिलता है।

भावार्थ— दुःख दो प्रकारका होता है। १ बुद्धिपूर्वक और २ अबुद्धिपूर्वक। उनमेंसे बुद्धिपूर्वक दुःखके द्योतक तो कितने ही दृष्टान्त मिल सकते है जिनकेकि द्वारा बुद्धिपूर्वक दुःखका सद्भाव जाना जासकता है अर्थात् उसका स्वरूप समझा जासकता है। परन्तु अबुद्धिपूर्वक जो दुःख है वह अनुभवगोचर होता है। इस लिए उसके स्वरूपके-सद्भावके बोधक साक्षात् दृष्टान्त नहीं मिलसकते है।

अस्यात्मनो महादुःखं गाढं बद्धस्य कर्मभिः।
मनःपूर्वं कदाचिद्वै शश्वत्सर्वप्रदेशजम् ॥ ३०९ ॥

अन्वयार्थः— (वै) निश्चनयसे (कर्मभिः गाढं बद्धस्य आत्मनः) कर्मोंके द्वारा दृढतासे बंधे हुए आत्माके (शश्वत्) सदैव (सर्वप्रदेशजं) सब प्रदेशोंसे उत्पन्न होनेवाला (महादुःखं अस्ति) अबुद्धिपूर्वक महा दुःख है किंतु (मनःपूर्वं) बुद्धिपूर्वक दुःख (कदाचित्) कभी २ होता है अर्थात् जब पंचेंद्रिय संज्ञी अवस्थाकी प्राप्ति होती है तब वह अनुभवमें आता है इसलिए बुद्धिपूर्वक दुःख कदाचित् होता है।

भावार्थ— कर्मबन्धसे बंधे हुए आत्माके अबुद्धिपूर्वक महादुःख सदैव रहता है। और बुद्धिपूर्वक दुःख कदाचित् होता है।

अस्ति स्वस्यानुमेयत्वाद्बुद्धिजं दुःखमात्मनः ।
सिद्धत्वात्साधनेनालं वर्जनीयो वृथाश्रमः ॥ ३१० ॥

अन्वयार्थः— (स्वस्य अनुमेयत्वात्) अपने अनुमानगम्य होनेसे (आत्मनः) आत्माके (बुद्धिज दुख अस्ति) बुद्धिपूर्वक दुःख सिद्धही है इसलिए उसके (सिद्धत्वात्) सिद्ध होनेके कारण (साधनेन अलं) फिरसे उसको सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि (वृथाश्रमः वर्जनीयः) व्यर्थ श्रम करना वर्जनीय होता है ।

भावार्थ — बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक दुःखोंमेंसे बुद्धिपूर्वक दुःख तो अनुमानगम्य होनेसे आत्माके सिद्धही है । इसलिए उसके सिद्ध करनेके लिए श्रम करना व्यर्थ है किंतु ।

साध्यं तन्निहित दुःखं नाम यावदबुद्धिजम् ।
कार्यानुमानतो हेतुर्वाच्यो वा परमागमात् ॥ ३११ ॥

अन्वयार्थः— ('यत्') जो (परमागमात्) परमागमसे, (निहित यावत अबुद्धिजं दुःखं नाम) छिपाहुवा सम्पूर्ण अबुद्धिजन्य दुःख है (तत् साध्यं) वह सिद्ध करना चाहिये (वा) तथा (कार्यानुमानत) कार्यानुमानसे (हेतु वाच्य.) उसका साधक हेतु कहना चाहिये ।

भावार्थ — बुद्धिपूर्वक दुःख स्वतः अनुमानगम्य होनेसे सिद्धही है इसलिए ग्रन्थकार उसका निरूपण न करके सर्व साधारणके अगोचर और परमागमसे सिद्ध अबुद्धिपूर्वक होनेवाले महादुःखकी सिद्धि करनेके लिए कार्यानुमानसे कारण की सिद्धिदर्शक हेतुके बतानेकी प्रतिज्ञा करते है ।

अस्ति कार्यानुमानाद्वै कारणानुमितिः क्वचित् ।
दर्शनान्नदपूरस्य देवो वृष्टो यथोपरि ॥ ३१२ ॥

अन्वयार्थः—(वै) निश्चयसे (कार्यानुमानात्) कार्यके अनुमानसे (कारणानुमिति अस्ति) कारण का अनुमान होता है (यथा) जैसेकि (नदपूरस्य दर्शनात्) नदीके प्रवाह को देखनेसे (उपरि क्वचित्

देवः वृष्टः) ऊपरमें कहींपर मेघ बरसा है ऐसा अनुमान होता है।

भावार्थः— जैसे नदीका पूर ऊपरमें वृष्टिके हुए विना नहीं आसकता है इसलिये नदीमें पूरके देखनेसे ऊपर कहींपर वृष्टिका अनुमान किया जाता है। वैसेही सर्वत्र कार्यके दर्शनसे कारणका अनुमान किया जाता है।

अस्त्यात्मनो गुणः सौख्यं स्वतःसिद्धमनश्वरम् ।
घातिकर्माभिघातत्वादसद्वाऽदृश्यतां गतम् ॥ ३१३ ॥

अन्वयार्थः— (आत्मन) यद्यपि आत्माका (अनश्वर सौख्यं गुणः) अविनाशी सुखगुण (स्वतःसिद्धं अस्ति) स्वतः सिद्ध है परन्तु (घातिकर्माभिघातत्वात्) घातिया कर्मों के द्वारा घाते जानेके कारण वह (असत्‌वा) असद्रूपके समान (अदृश्यतां गतम्) प्रगट नहीं दिखाई देता है।

भावार्थ — यद्यपि आत्मामें अविनाशी और स्वतःसिद्ध सुखगुण है। परन्तु सम्पूर्ण घातिया कर्मोंके उदयसे बाधित होनेके कारण उसका दर्शन नहीं होपाता है।

सुखस्यादर्शनं कार्यलिङ्ग लिङ्गमिवात्र तत् ।
कारणं तद्विपक्षस्य दुःखस्यानुमितिः ॥ ३१४ ॥

अन्वयार्थः—(अत्र)अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धिमें (लिङ्ग इव सुखस्य अदर्शन) लीन अर्थको जतानेवालेके समान सुखका अभाव (कार्य लिङ्ग) कार्यरूप हेतु है और (तत्) वह अबुद्धिजन्य दुःख (कारणं) कारण है अतः सुखादर्शनरूप हेतुसे (तद्विपक्षस्य सत दुःखस्य अनुमितिः) सुखके विपक्षभूत दुखके सद्भावका (अनुमितिः) अनुमान किया जाता है।

भावार्थः— घातियाकर्मोंके द्वारा जो सुखका अदर्शन हो रहा है वह घातियाकर्मोंके उदयसे होनेवाले अबुद्धिजन्य दुःखका कार्य है। इसलिये सुखके अदर्शनरूप हेतुसे उस सुखके विपक्षभूत अबुद्धिजन्यके दुःखके सद्भावका अनुमान किया जाता है।

सर्वसंसारिजीवानामस्ति दुःखमबुद्धिजम् ।
हेतोर्नैसर्गिकस्यात्र सुखस्याभावदर्शनात् ॥ ३१५ ॥

अन्वयार्थ — (अत्र) यहांपर (नैसर्गिकस्य सुखस्य अभावदर्शनात्) स्वाभाविक सुखके अभावरूप (हेतोः) हेतुके सद्भावसे (सर्वसंसारीजीवानां अबुद्धिजं दुःखं अस्ति) सब संसारी जीवोंके अबुद्धिपूर्वक दुःखका अनुमान होता है।

भावार्थ — सम्पूर्ण संसारी जीवोंके जो स्वाभाविक सुखका अभाव पाया जाता है उससे अनुमान होता है कि उनके घातिया कर्मोंके उदयके निमित्तसे होनेवाले अबुद्धिपूर्वक दुःखका सद्भाव है। कारणकि यदि उनके अबुद्धिपूर्वक दुःखका सद्भाव नहीं होता तो उनके स्वाभाविक सुखका दर्शन पाया जाना चाहियेथा किन्तु पाया नहीं जाता है। इसलिए उनके अबुद्धिपूर्वक दुःखका सद्भाव सिद्ध होता है।

नासौ हेतुरसिद्धोऽस्ति सिद्धसंदृष्टिदर्शनात् ।
व्याप्तेः सद्भावतो नूनमन्यथानुपपत्तितः ॥ ३१६ ॥

अन्वयार्थ - (नूनं) निश्चयकरके (सिद्धसंदृष्टिदर्शनात्) वक्ष्यमाण प्रसिद्ध दृष्टान्त के द्वारा अबुद्धिपूर्वक दुःखके सद्भावमें और सुखादर्शनमें (अन्यथानुपपत्तितः व्याप्तेः) अविनाभावसम्बन्धरूप व्याप्तिके (सद्भावतः) सद्भावके पाये जानेसे (असौ हेतुः) यह सुखादर्शनरूप हेतु (असिद्धः न अस्ति) असिद्ध नहीं है।

भावार्थः—उक्त अभिप्रायके पोषक दृष्टांतके मिलजानेसे अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धिके लिये दिया हुआ यह सुखादर्शनरूप हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि अबुद्धिपूर्वक दुःखके सद्भावमें सुखादर्शनकी व्याप्ति है अर्थात अबुद्धिपूर्वक दुःखके रहनेपरही सच्चे सुखका अदर्शन होता है। तथा अबुद्धिपूर्वक दुःखके अभावमें सुखके अदर्शनकाभी अभाव होजाता है। इसप्रकारकी परस्परमें व्याप्ति पाई जाती है।

व्याप्तिर्यथा विचेष्टस्य मूर्छितस्यैव कस्यचित् ।
अदृश्यमापि मद्यादिपानमस्त्यत्र कारणम् ॥ ३१७ ॥

अस्ति संसारिजीवस्य नूनं दुःखमबुद्धिजम् ।
सुखस्यादर्शनं स्वस्य सर्वतः कथमन्यथा ॥ ३१८ ॥

अन्वयार्थः— (व्याप्तिः) उन दोनोंमें व्याप्ति इसप्रकार है कि (यथा) जैसे (अत्र) यहांपर (कस्यचित् विचेष्टस्य इव मूर्च्छितस्य) किसी विचेष्टितके समान मूर्च्छित पुरुषके (अदृश्यं अपि) अदृश्यभी (मद्यादिपानं) मद्यादिकका पान (कारणं अस्ति) कारण कहा जाता है वैसेही (संसारिजीवस्य) परपदार्थमें मूर्च्छित संसारी जीवोंके सुखके अदर्शनमेंभी (नून) निश्चयसे (अबुद्धिजं दुःख अस्ति) अबुद्धिपूर्वक दुःख कारण है क्योंकि (अन्यथा) यदि ऐसा न होता तो उनके (स्वस्य) आत्माके (सुखस्य) सुखका (सर्वतः अदर्शनं कथं) सर्वथा अदर्शन कैसे होता—क्यों होता ?

भावार्थ — संसारी जीवोंके अबुद्धिपूर्वक दुःखके सद्भाव और सुखके अदर्शनमें जो व्याप्ति है उसे बताते है कि जैसे किसी मदिरापान करनेवालेके मदिराके कारण होनेवाली मूर्च्छित अवस्थाके देखनेसे सहजमें यह अनुमान किया जाता है कि इसने मदिरापान किया है। यदि मदिरापान न किया होता तो सर्व साधारणके समान इसकी प्राकृतिक चेष्टामें अन्तर नहीं पाया जाता। किंतु चेष्टामें अन्तर पाया जाता है, इसलिए अनुमान होता है कि इस मूर्च्छित अवस्थका कारण मदिरापान है। वैसेही सम्पूर्ण संसारी जीवोंके स्वाभाविक सुखके अदर्शनके पाये जानेसे अबुद्धिपूर्वक दुःखके सद्भावका अनुमान किया जाता है। क्योंकि यदि उनके अबुद्धिपूर्वक दुःख न होकर केवल बुद्धिपूर्वकही होता तो शारीरिक मानसिक और इंद्रियजन्य दुःखके अभावमें स्वाभाविक सुखका अदर्शनमें नहीं पाया जाता किंतु पाया जाता है। इसलिए उनके उन सुखादर्शनरूप हेतुसे अबुद्धिपूर्वक दुःखका सद्भाव सिद्ध होता है।

ततोनुमीयते दुःखमस्ति नूनमबुद्धिजम् ।
अवश्यं कर्मबद्धस्य नैरन्तर्योदयादितः ॥ ३१९ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिये (नूनं) निश्चयकरके (कर्मबद्धस्य) कर्मबद्ध संसारी जीवके (नैरन्तर्योदयादितः) निरन्तर कर्मके उदय आदिके कारण (अवश्य अबुद्धिजं दुःखं अस्ति) अवश्यही अबुद्धि पूर्वक दुख है ऐसा (अनुमीयते) अनुमान किया जाता है।

भावार्थ — इसालिये कर्मसे बंधे हुये संसारी जिवोंके निरन्तर कर्मोंके उदय उदीरणादिके कारण अवश्यही वह अबुद्धिपूर्वक दुःख पाया जाता है यह सिद्ध होता है।

नाऽवाच्यता यथोक्तस्य दुःखजातस्यसाधने ।
अर्थादबुद्धिमात्रस्य हेतोरौदयिकत्वतः ॥ ३२० ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (अबुद्धिमात्रस्य हेतो. औदयिकत्वतः) संपूर्ण अबुद्धिपूर्वक दुःखोंका कारण जीवका औदायिक भाव ही है इसलिये (यथोक्तस्य दु.खजातस्यसाधने) उपर्युक्त संपूर्ण अबुद्धि पूर्वक दुखके सिद्ध करनेमें (अवाच्यता न) अवाच्यता नही है।

भावार्थः— औदायिकभावहाँ उन अबुद्धिपूर्वक सम्पूर्ण दुःखोंका साधक कारण है। इसलिये अबुद्धिपूर्वक दु.खोंमे अवाच्यता कहना ठीक नहीं है। क्योंकि औदायिक भावोंके द्वारा उनमें वाच्यता सिद्ध होता है।

तद्यथा काश्चिदत्राह नास्ति बद्धस्य तत्सुखम् ।
यत्सुखं स्वात्मनस्तत्त्वं मूर्छितं कर्मभिर्बलात् ॥ ३२१ ॥
अस्त्यनिष्टार्थसंयोगाच्छारीरं दुःखमात्मनः ।
ऐंद्रियं बुद्धिजं नाम प्रसिद्धं जगति स्फुटम् ॥ ३२२ ॥
मनोदेहेंद्रियादिभ्यः पृथग् दुःखं न बुद्धिजम् ।
तद्ग्राहकप्रमाणस्य शून्यत्वात् व्योमपुष्पवत् ॥ ३२३ ॥
साध्ये वाऽबुद्धिजे दुःखे साधनं तत्सुखक्षतिः ।
हेत्वाभासः स व्याप्यत्वासिद्धो व्याप्तेरसंभवात् ॥ ३२४ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र कश्चित् आह) यहांपर कोई शंकाकार पूछता है (तद्यथा) वह इसप्रकार है जैसे कि (यत् सुखं स्वात्मनः तत्त्वं) जो सुख आत्माका स्वतत्त्व है (तत्सुखं) वह सुख बद्धजीवके (कर्मभिः बलात् मूर्छितं) कर्मोंके द्वारा मूर्च्छित रहता है इसलिए वह (बद्धस्य नास्ति) बद्ध संसारी जीवके नहीं होता है किंतु (अनिष्टार्थसंयोगात्) अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे (शारीरं) शारीरिक और (ऐन्द्रियं नाम) इंद्रिय-

जन्य नामक केवल (बुद्धिजं दु खं) बुद्धिजन्य दुःख (आत्मनः अस्ति) बद्ध आत्माके होता है (इति) यह (जगति) संसारमें (स्फुटं प्रसिद्धं) स्पष्टरीतिसे प्रसिद्धही है और वह (बुद्धिज दु खं) बुद्धिजन्य दुख (मनोदेहेन्द्रियादिभ्यः पृथक् न) मन, देह, तथा इंद्रिय आदिसे उत्पन्न होनेवाले दु.खोंसे भिन्न नहीं है कारणकि (व्योमपुष्पवत्) आकाश पुष्पके समान (तद्ग्राहकप्रमाणस्य शून्यत्वात्) इन दुःखोंसे भिन्न दुखके ग्राहक प्रमाणका अभाव है अत (अबुद्धिजे दुःखे साध्ये) अबुद्धिजन्य दुखके सिद्ध करनेके लिए (तत्सुखक्षतिः साधनं न) आत्माके सुखका अभाव हेतु नहीं होसकता है किंतु (व्याप्तेरसंभवात्) उन दोनोंमें व्याप्तिके न बननेके कारण (व्याप्यत्वासिद्धौ) व्याप्तिकी असिद्धिके पाये जानेसे (सः हेत्वाभासः) वह सुखाभासरूप हेतु व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है।

भावार्थः— जो सुख, बद्धजीवोंके होता है वह सुख कर्मोंसे बलपूर्वक मूर्च्छित रहता है इसलिये वह स्वात्माका तत्वभूत वास्तविक सुख नही कहला जा सकता है इसमें तो कोई मत भेदही नहीं है। परन्तु अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले शारीरिक और मनइन्द्रियजन्य बुद्धिजन्य नामक दुःखही ससारीजीवोंके—बद्धजीवोंके होते है यह जगतमें भी प्रसिद्ध है। क्योंकि आकाश कुसुमके समान इन तीनों प्रकारके दुखोंसे भिन्न अबुद्धि पूर्वक दुःखके सिद्ध करनेके लिये ग्राहक प्रमाणही नही है। अतः शारीरिक, ऐन्द्रियक और मानसिक दु.खके अतिरिक्त कोई भिन्न (अबुद्धिजन्य) दुःख नही है।

शकाकारके कथनका सारांश यह है कि केवल मन इन्द्रिय और शरीर सम्बधी दुःखही दु ख है। किन्तु जो जैन आगममें कर्मके उदयमात्र को दुःख माना है वह कोई दुःख नही है। इसलिये ग्रंथकारनें जो दुखके अदर्शन रूप हेतुसे मन इन्द्रिय तथा शरीर सम्बधी बुद्धिजन्य दुःखके अतिरीक्तभी दुःखको सिद्ध किया है। वह ठीक नही है। क्यो कि सुखादर्शनरूप हेतु और बुद्धि तथा अबुद्धिपूर्वक दुःखरूप साध्यकी व्याप्ति न रहनेसे सुखादर्शन हेतु समीचीन हेतु नही है किन्तु व्याप्यत्वसिद्ध हेत्वाभास है। अतः अनिष्टार्थ संयोगसे केवल बुद्धिजन्य दु.खही सिद्ध होता है। इससे अतिरिक्त कोई दुःख, दुःख नही सिद्ध होता है।

साध्य और साधनमें व्याप्तिके न मिलनेको व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास कहते है। इस हेत्वाभासका दूसरा नाम व्यभिचारी हेत्वाभासभी है अर्थात हेतुके व्यभिचारिपनेसे—दुफसलापनेसे हेतु व्यभिचारी अथवा व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है जैसे यह गौ है पशुत्व होनेसे यहापर पशुत्व हेतुकी गौकेही साथ व्याप्ति नहीं है किन्तु घोडे

आदिके साथभी है। इसलिये 'पक्षत्व हेतु' हेतु नहीं है किन्तु व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है। वैसेही सुखादर्शनरूप हेतुकी बुद्धिजन्य दुःखके साथतो व्याप्ति है परन्तु कर्मोदयजन्य दुःखमात्र, बुद्धि, तथा, अबुद्धिजन्यरूप साध्यके साथ व्याप्ति नहीं है। इस लिए साध्य मात्रके साथ व्याप्ति न रखनेसे यह हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है।

नैवं यत्ताद्विपक्षस्य व्याप्तिर्दुःखस्य साधने।
कर्मणस्ताद्विपक्षत्वं सिद्धं न्यायात्कुतोऽन्यथा ॥ ३२५ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) शंकाकारका कहना ठीक नहीं है (तत्) क्योंकि (तद्विपक्षस्य दुःखस्य) उस आत्मसुखमे विपक्षरूप उन तीनों दुखोंमे भिन्न दुखकेभी–अबुद्धिपूर्वक दुखकेभी (साधने) सिद्ध करनेमें (व्याप्तिः) सुखादर्शनकी व्याप्ति है अर्थात् स्वाभाविक सुखाभावकी बुद्धि तथा अबुद्धिपूर्वक दुखके साथ व्याप्ति है केवल बुद्धिजन्यही दुखके साथ नहीं, कारण कि (अन्यथा) यदि ऐसा न होता तो (कर्मणः) कर्मोंको (तद्विपक्षत्वं) सुखका विपक्षपना (कुतः न्यायात् सिद्ध) किस न्यायसे सिद्ध है।

भावार्थ — शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि अबुद्धिपूर्वक दुःखको सुखाभावके साथ व्याप्ति है अव्याप्ति नहीं है। इसलिये बुद्धि और अबुद्धिपूर्वक दुःखके सिद्ध करनेमे सुखाभाव हेतु समीचीन हेतु है व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास नहीं है। कारण कि यदि सुखादर्शनकी दुःखमात्र के साथ व्याप्ति नहीं होती तो दुःखमात्र के कारणभूत कर्मोंको आत्माके सुखगुणका विपक्षी क्यों कहा जाता है।

विरुद्धधर्मयोरेव वैपक्ष्यं नाऽविरुद्धयोः।
शीतोष्णधर्मयोर्वैरं न तत्क्षारद्रवत्वयोः ॥ ३२६ ॥

अन्वयार्थः— (विरुद्धधर्मयोः एव वैपक्ष्यं) परस्पर विरुद्ध दो धर्मोंमेंही विपरीतता होती है (अविरुद्धयो न) अविरोधी धर्मोंमें नहीं क्योंकि (शीतोष्णधर्मयो वैरं) शीत और उष्ण धर्ममें वैर–विरोध होता है किंतु (तत्) वह वैर–विरोध (क्षारद्रवत्वयोः न) क्षारत्व व द्रवत्वमें नहीं होता है।

भावार्थ — आत्मीय सुख और दुखमात्रके कारणभूत कर्ममें जो परस्पर विपक्षता कही जाती है उससे सिद्ध होता कि कर्मोंके उदयके साथ सुखाभाव की व्याप्ति है। कारण कि परस्पर विरोधियोंमें विपक्षता कही जाती है

अविराधियोंमें नहीं, जैसाकि परस्पर विरोधी शीतत्व तथा उष्णत्वमेंही विपक्षता कही जाती है। क्योंकि ये दोनों धर्म एकत्र नहीं रहसकते हैं किन्तु क्षारत्व और द्रवत्वमें विपक्षता नहीं कही जाती है क्योंकि समुद्रमें ये दोनो धर्म एकत्र पाये जाते हैं। अतः सिद्ध होता है कि सुखाभावरूपहेतुसे शारीरिक मानसिक तथा इन्द्रियजन्य दुःखके अतिरिक्त अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धि युक्तियुक्त है अयुक्त नहीं है।

निराकुलं सुखं जीवशक्तिर्द्रव्योपजीविनी।
तद्विरुद्धाकुलत्वं वै शक्तिस्तद्घातिकर्मणः ॥ ३२७ ॥

अन्वयार्थ — (**वै**) निश्चयसे (**निराकुल सुख**) निराकुल सुख (**द्रव्योपजीविनी**) अनुजीवी (**जीवशक्तिः**) जीवका गुण है और जो (**तद्विरुद्धाकुलत्व**) उस सुखसे विरुद्ध आकुलता है (**तद् घातिकर्मण. शक्तिः**) वह उस सुख गुणके घातक घातिया कर्मोंकी शक्ति है।

भावार्थः— निराकुल–स्वाभाविक सुख जीवका एक अनुजीवी गुण है। तथा उस सुखके विपरीत जो आकुलता है वह उस सुख गुणके घातक घातिया कर्मोंकी शक्ति है अर्थात चारों घातिया कर्मोंका उदय आत्माके स्वाभाविक गुणका घातक है। अतःसुखके विपरीत जो जीवमें आकुलता रूपी बुद्धि तथा अबुद्धिपूर्वक दुःख पाया जाता है। वह सब घातिया कर्मोंके उदयका काम है।

असिद्धा न तथा शक्तिः कर्मणः फलदर्शनात्।
अन्यथाऽऽत्मतया शक्ते बाधकं कर्म तत्कथम् ॥ ३२८ ॥

अन्वयार्थः— (**कर्मणः फलदर्शनात्**) जीवोंमें कर्मोंका फल देखे जानेसे (' **कर्मणः** ' **तथा शक्तिः**) कर्मोंमें वैसी शक्ति (**असिद्धा न**) असिद्ध नहीं है क्योंकि (**शक्तेः अन्यथाऽऽत्मतया**) कर्मोंकी शक्तिके अन्यथापनेसे अर्थात् यदि उन कर्मोंमें सुख गुणके घातनेकी वैसी शक्ति नहीं होती दूसरे प्रकारकी शक्ति होती तो (**तत् कर्म**) वह कर्म (**बाधकं कथं**) आत्माका बाधक कैसे होसकता है।

भावार्थः— यदि कर्मोंके सुख गुणके घातनेरूप फलको देखनेपरभी घातिया कर्मोंमें सुखगुणको घातनेवाले

ली शक्ति न मानीजाय दूसरीही शक्ति मानीजाय तो कर्म आत्माका बाधकहीं कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात नहीं होसकता है इसलिये कर्मोंमें सुखगुण के घातनेकी शक्ति असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्धही है।

न (न्या) यात्सिद्धं ततो दुःखं सर्वदेश प्रकम्पवत् ।
आत्मनः कर्मबद्धस्य यावत्कर्मरसोदयात् ॥ ३२९ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिए (कर्मबद्धस्य आत्मनः) कर्मबद्ध आत्माके (यावत्कर्मरसोदयात्) जबतक कर्मोंका उदय रहता है ('तावत्') तबतक (सर्वदेशप्रकम्पवत्) सब प्रदेशोंमें प्रकम्प पैदा करनेवाला (दुःख) दुःख (नयात् सिद्ध) युक्तिसे सिद्ध होता है।

भावार्थः— इसलिये कर्मबन्धनबद्ध ससारी जीवोंके जबतक कर्मोंका उदय रहता है तबतक सब प्रदेशोंको कपानेवाला बुद्धि तथा अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्ध होता है।

देशतोस्त्यत्र दृष्टान्तो वारिधिर्वायुना हतः ।
व्याकुलोऽव्याकुलः स्वस्थःस्वाधिकारप्रमत्तवान् ॥ ३३० ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) इस विषयमें (वायुना हतः वारिधिः) वायुके निमित्तसे कम्पित समुद्र (देशतः दृष्टांत अस्ति) एकदेशरूपसे दृष्टांत है क्योंकि वह समुद्रस्वरूपसे (अव्याकुलः स्वस्थ) अव्याकुल और स्वस्थ होकरभी (स्वाधिकारप्रमत्तवान) वायुके निमित्तसे स्वाधिकारमें प्रमत्त होता हुवा (व्याकुलः) व्याकुल देखा जाता है।

भावार्थः— उक्त कथनका साधक एकदेशीय दृष्टांत यह है कि जैसे यद्यपि समुद्र स्वभावसे निष्कम्प है तथापि वायुसे प्रेरित होकर स्वाधिकारमें प्रमत्त होनेके कारण व्याकुल देखा जाता है वैसेही आत्माभी कर्मरूपी वायुसे बाधित होकर स्वाधिकारमें प्रमत्त होनेके कारण व्याकुल देखा जाता है।

आशंका।

न च वाच्यं सुखं शश्वद्विद्यमानमिवास्ति तत् ।
बद्धस्याथाप्यबद्धस्य हेतोस्तच्छक्तिमात्रत. ॥ ३३१ ॥

अन्वयार्थः— (**न च वाच्यं**) यहांपर ऐसी शंका नहीं करना चाहिये कि (**बद्धस्य अथ अबद्धस्य अपि**) बद्ध और अबद्धकेभी (**तच्छक्तिमात्रत. हेतो.**) केवल आत्माका गुण विशेष होनेके कारण (**तत् सुखं**) वह सुख (**शश्वत्**) निरंतर (**विद्यमानं इव अस्ति**) विद्यमानके समान है।

भावार्थः— आत्माकी बद्ध और अबद्ध दोनोंही अवस्थाओंमें वह निराकुल सुख आत्माका गुण होनेके कारण सदैव विद्यमान रहता है यह आशंका नहीं करना चाहिये।

आगे इसी आशंकामें दोषको बताते हैं।

अत्र दोषावतारस्य युक्तिः प्रागेव दर्शिता।
यथा स्वस्थस्य जीवस्य व्याकुलत्वम् कुतोर्थतः॥ ३३२॥

अन्वयार्थः— (**अत्र**) उपरि उक्त कथनमें (**दोषावतारस्य युक्ति**) दोषोंके आनेके विषयमें युक्ति (**प्राक् एव दर्शिता**) पहलेही प्रदर्शित की जाचुकी है (**यथा**) जैसे कि यदि (**अर्थतः**) वास्तवमें (**स्वस्थस्य जीवस्य**) जीव सदैव स्वस्थ रहता है तो उसके (**व्याकुलत्वं कुत**) व्याकुलता क्यों उपलब्ध होती है?

भावार्थः— यदि जीवमें सदैव सुखके रहनेसे अव्याकुलता रहती तो ऊपरके वायुके निमित्तसे व्याकुल समुद्रके दृष्टांतसे, कर्मनिमित्त वश स्वाधिकारमें प्रमत्त होनेके कारण, उसमें किसी प्रकारकी व्याकुलताकी उपलब्धि नहीं पाई जाना चाहिये थी किन्तु व्याकुलता पाई जाती है। इसलिये सिद्ध होता कि उसमें सुखगुण सदैव विद्यमान नहीं है किन्तु घातिया कर्मोंके उदयसे संसारी जीवोंके सुख गुणकी दुःखके रूपमे विभावपरिणति हो रही है।

नचैकतः सुखव्यक्तिरेकतो दुःखमस्ति तत्।
एकस्यैकपदे सिद्धमित्यनेकांतवादिनाम्॥ ३३३॥

अन्वयार्थः— (**इति न च**) यहभी कहना ठीक नहीं है कि (**एकस्य एकपदे**) एक आत्माके एकही पदमें (**अनेकांतवादिनां सिद्ध**) अनेकांत वादियोंके यहां अंगीकृत (**एकत सुखव्यक्ति**) किसी एक दृष्टिसे सुखकी व्यक्ति और (**एकत. तत् दुख अस्ति**) किसी एक दृष्टिसे वह दुःखभी रहता है।

भावार्थ— स्याद्वादियोंके यहा एक वस्तुके एकही पदमें परस्पर विरोधी दो धर्मका सद्भाव युक्तिसिद्ध माना

है । इसलिये एकहि आत्माके एकही अवस्थामें किसी दृष्टीसे सुखकी व्यक्ति और किसी दृष्टीसे दुखकी व्यक्ति अबाधित है यहभी नहीं कहना चाहिये

अनेकांतः प्रमाणं स्यादर्थादेकत्र वस्तुनि ।
गुणपर्याययोर्द्वैतात् गुणमुख्यव्यवस्थया ॥ ३३४ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (एकत्र वस्तुनि) एक वस्तुमें (गुणमुख्यव्यवस्थया) गौण और मुख्यकी व्यवस्थासे (गुणपर्याययोः द्वैतात्) गुण तथा पर्यायोंमे द्वैत होनेके कारण (अनेकांतः प्रमाणं स्यात्) अनेकांत प्रमाण होता है ।

भावार्थः— अनेकान्त इसलिये प्रमाण होता है की किसी एक की मुख्यरूपसे विवक्षा करनेपर शेषके गौण हो जानेके कारण, एकही पदार्थमें गुण और पर्यायोंका, मुख्य गोण व्यवस्थासे द्वैत रहजाता है ।

अभिव्यक्तिस्तु पर्यायरुपा स्यात्सुखदुःखयो ।
तदात्वे तन्न तद्द्वैतं द्वैतं चैतद्द्रव्यतः क्वचित् ॥ ३३५ ॥

अन्वयार्थः— (तु) परन्तु (सुखदुःखयो अभिव्यक्तिः) सुखदुःखकी अभिव्यक्ति (पर्यायरूपा अस्ति) पर्यायरूप होती है इसलिये (तदात्वे) उस सुख और दुःखकी अवस्थामें (तत् द्वैत न) वे दोनों युगपत् नहीं रहसकते हैं (तत् द्वैतं चेत्) यदि उन दोनोंका द्वैत युगपत् रहता है तो (क्वचित् द्रव्यतः) कहीं भिन्न दो द्रव्योंमें रहसकना है पर्यायोंमें नहीं ।

भावार्थः— सुख व दुःख ये दोनो सुखगुणकी पर्याय है । इसलिये इनमें मुख्य गौण विवक्षाके न रहनेसे किसी अपेक्षासे सुखकी व्यक्ति तथा किसी अपेक्षासे दुःखकी व्यक्ति नहीं कही जासकती है कारण कि सुखदुखकी पर्याय होनेसे जिस समय सुख होगा उस समय दुःख नहीं होगा और जिस समय दुःख होगा उस समय सुख नहीं होती है । इसलिये एकही जीवमें पर्यायकी अपेक्षासे अनेकान्त द्वारा दोनोंका युगपत सद्भाव अपेक्षाभेदसे सिद्ध नहीं होसकता है ।

बहु प्रलपनेनालं साध्यं सिद्धं प्रमाणतः ।
सिद्धं जैनागमाच्चापि स्वतः सिद्धो यथाक्रमः ॥ ३३६ ॥

अन्वयार्थः— (बहुप्रलपनेन अलं) बहुत कथनसे क्या प्रयोजन है क्योंकि (प्रमाणतः साध्यं सिद्धं) प्रमाणसे अबुद्धिपूर्वक दुःखरूप साध्य सिद्ध होता है (च) और (जैनागमात् अपि सिद्धं) जैनागमसे भी सिद्ध होता है तथा आगमप्रमाणको प्रमाणीक सिद्ध करनेके लिए प्रमाणांतरकी आवश्यकता नहीं है कारण कि (आगम स्वतः सिद्धः) आगम स्वतः सिद्ध है (यथा) जैसेकि आगे खुलासा करते है।

भावार्थ.— सुखादर्शन हेतुपूर्वक अनुमानसे तथा आगमप्रमाणसे जीवके जबतक कर्मोंका उदय रहता है तबतक निरंतर उसके अबुद्धिपूर्वक दुःखभी रहता है यह सिद्ध होता है। इसलिये अब इसविषयमें अधिक कहनेकी जरूरत नहीं है। उस अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धिके लिये इतनाही कथन पर्याप्त है और आगम स्वत. सिद्ध होता है।

क्योंकि।

एतत्सर्वज्ञवचनमाज्ञामात्रं तदागमः।
यावत्कर्मफलं दुःखं पच्यमानं रसोन्मुखम् ॥ ३३७ ॥

अन्वयार्थः— (पच्यमानं) उदयागत (रसोन्मुखं यावत् कर्मफलं दुःखं) रस देनेके उन्मुख सम्पूर्ण कर्मोंका फल दुःख कहलाता है (एतत्) यह जो (आज्ञामात्रं सर्वज्ञवचनं) केवल आज्ञारूप सर्वज्ञका वचन है (तत् आगमः) वही आगम है।

भावार्थ— अपने अपने फलदानके उन्मुख उदयावस्थाको प्राप्त जो किसीभी कर्म का फल है वह सब दुःख है। यह सर्वज्ञ देवकी आज्ञाही आगम प्रमाण है।

अभिज्ञानं यदत्रैतज्जीवाः कार्मणकायकाः।
आ एकाक्षादापंचाक्षा अप्यन्ये दुःखिनोमताः ॥ ३३८ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र यत् अभिज्ञानं तत् एतत्) इस विषयमें जो अभिज्ञान है—खुलासा है वह इसप्रकार है कि (आएकाक्षात् आपञ्चाक्षाः) एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्रियतक सम्पूर्ण (कार्माणकायकाः) कार्माण कायवाले (जीवाः) जीव और (अन्ये अपि) औदारिकमिश्र आदि शरीर धारक जितनेभी जीव है वे सब (दुखिनः मताः) दुखी माने गये है।

भावार्थ.— वह आगम प्रमाण यह है कि आगममें कार्माण कायवाले एकेन्द्रियादि पांचोंही प्रकारके देहधारी और सैनी ये दुःखी माने गये हैं।

तत्राभिव्यञ्जको भावो वाच्यं दुःखमनीहितम् ।
घातिकर्मोदयाघाताज्जीवदेशवधात्मकम् ॥ ३३९ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उसमें (भाव) रागादिक भाव (अभिव्यञ्जकः) वाचक तथा (घातिकर्मोदयाघातात्) घातिया कर्मोंके उदयके आघातसे (जीवदेशवधात्मकं) जीवोंके प्रदेशोंके वधस्वरूप (अनीहितं) अनिच्छित (दुःख वाच्यं) दुःख वाच्य कहाजाता है।

भावार्थः— यहांपर घातिया कर्मोंके उदयसे जो जीवके प्रत्येक प्रदेशमें आघात हो रहा है वहांपर अनिच्छित दुःख वाच्य और रागादिकभाव उसके वाचक है अर्थात् जीवके प्रत्येक प्रदेशमें घातिया कर्मोंके उदयसे होने वाले अन्तर्दाहके निवारणार्थ जो इष्ट संयोग तथा अनिष्ट वियोगके लिये बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक रागद्वेषादि भाव होते है। उससेही घातियाकर्मोंके उदयसे होनेवाला जीवके प्रत्येक प्रदेशमे व्याकुलतामय बुद्धि तथा अबुद्धिपूर्वक दुःख कहा जाता है।

अन्यथा न गतिः साध्वी दोषाणां सन्निपाततः
संज्ञिनां दुःखमेवैकं दुःखं नाऽसंज्ञिनामिति ॥ ३४० ॥

अन्वयार्थः— (अन्यथा) अन्यथा–यदि कर्मोंके उदयमात्रको दुःख नहीं माना जायगा किन्तु शारीरिक ऐंद्रियक और मानसिक दुःखही केवल दुःख माना जायगा तो (दोषाणां सन्निपाततः) नाना प्रकारके दोषोंके आनेसे (साध्वी गति न) वह कथन युक्तियुक्त नहीं ठहरेगा क्योंकि वैसा माननेसे (एकं संज्ञिनां एव दुःखं) केवल सञ्ज्ञी जीवोंकोही दुःख सिद्ध होगा (असंज्ञिनां दुःख न इति) किंतु असञ्ज्ञी जीवोंको दुःख सिद्ध नहीं होगा।

भावार्थः— जैसाकी ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि केवल शरीर मन और इन्द्रिय सम्बधी बुद्धिपूर्वक होनेवाला दुःखही दुःख नहीं है किन्तु कर्ममात्रका उदय दुःख है। यदि ऐसा न माना जाय तो वे तीनों दुःख केवल

संज्ञी जीवोंकेही पाए जाते है इसलिये केवल सज्ञियोंके ही दु.ख सिद्ध होगा असंज्ञियोंके नहीं । क्योंकि असैनियोंके मनके अभावमें उन दुःखोंका अनुभव नहीं होता है । इसलिये असैनियोंके बिलकुलही दु.ख सिद्ध नहीं होगा ।

महच्चेत्संज्ञिनां दुःखं स्वल्पं चाऽसंज्ञिनां न वा।
यतो नीचपदादुच्चैः पदं श्रेयस्तथामतम् ॥ ३४१ ॥

अन्वयार्थ.—(चेत्) यदि कदाचित यह कहा जाय कि (संज्ञिनां महत् दुख) संज्ञी जीवोंको बहुत दुख होता है (च) और (असंज्ञिनां स्वल्पं) असज्ञो जीवोंको बहुत थोडा दु:ख होता है तो यह कहनाभी (न वा) ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (नीचपदात्) नीचपदसे (तथा उच्चैः पदं) वैसा अर्थात् संज्ञी कैसा ऊंचापद (श्रेय. मतं) श्रेष्ठ माना जाता है ।

भावार्थः— यदि कदाचित यह कहाजाय कि केवल संज्ञीजवोंकेही दुःखमाननेमे क्या हानि है । क्योंकि संज्ञी जीवोंकी अपेक्षासे असज्ञीजिवोंके बहुतकम दुःख होता है तो यह कहनाभी ठीक नहीं है । कारण कि असैनीसे सैनीका पद उचा माना है इसलिये सैनीसे असैनीके कम दुःख सिद्ध नहीं हो सकता है किन्तु उल्टा असैनीकोही अधिक दु ख सिद्ध होता है ।

न च वाच्यं शरीरं च स्पर्शनादीन्द्रियाणि च ।
सन्ति सुक्ष्मेषु जीवेषु तत्फलं दुःखमङ्गिनाम् ॥ ३४२ ॥

अन्वयार्थः— ('इति' न च वाच्यं) यहभी नहीं कहना चाहिये कि (सुक्ष्मेषु जीवेषु) सूक्ष्म एकेंद्रियादि जीवोंमें (शरीरं) शरीर (च) और (स्पर्शनादीन्द्रियाणि च) स्पर्शनादिक इद्रियांभी (सन्ति) होती है इसलिए (अङ्गिनां) उन प्राणियोंकोभी (तत्फलं दुःखं) कर्मोंके फलरूप दुःख शरीर तथा इंद्रियोंके निमित्तसे मिलता है ।

१ सूक्ष्मपदभी मन रहितपनेके कारण सैनीसे शेष जीवोंका वाचक है ।

भावार्थः— उक्त दोषके निराकरण करनेकेलिये यदि एकेन्द्रियादि जीवोंकेभी, शरीर और इन्द्रियोंके होनेसे संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंकी तरह, शरीर व इन्द्रियोंके निमित्तसे दुःख कहाजायगा तो वहभी ठीक नहीं है ।

क्योंकि

अव्याप्तिः कार्मणावस्थावस्थितेषु तथा सति ।
देहेन्द्रियादिनोकर्मशून्यस्य तस्य दर्शनात् ॥ ३४३ ॥

अन्वयार्थः— क्योंकि (तथा सति) वैसा माननेपर (कार्मणावस्थावस्थितेषु) विग्रहगतिमें कार्माणकाययोग युक्त प्राणियोंमें (अव्याप्ति) अव्याप्ति दोष आता है क्योंकि (तस्य देहेन्द्रियादिनोकर्मशून्यस्य दर्शनात्) उस अवस्थामें वह जीव देह, इंद्रिय आदि नोकर्मवर्गणाओंसे रहित देखा जाता है ।

भावार्थः— यदि एकेन्द्रियादि जीवोंकेभी केवल शरीर और इन्द्रियोंके निमित्तसे दुःख माना जायगा तो इस कथनमें अव्याप्ति नामका दोष आता है । क्योंकि कार्माणकाययोगकी अवस्थामें शरीर और इन्द्रियोंका निर्माण करनेवाली आहारादि नोकर्म वर्गणायें नहीं रहती है । इसलिये वहापर औदारिक शरीर तथा इन्द्रियोंके न रहनेसे उन जीवोंमें दुःख सिद्ध नहीं होगा । अत अव्याप्ति दोषके आनेसे उक्त कथन ठीक नहीं है ।

अस्ति चेत्कार्मणो देहस्तत्र कर्मकदम्बकः ।
दुःखं तद्धेतुरित्यस्तु सिद्धं दुःखमनीहितम् ॥ ३४४ ॥
अपि सिद्धं सुखं नाम यदनाकुललक्षणम् ।
सिद्धत्वादपि नोकर्मविप्रमुक्तो चिदात्मनः ॥ ३४५ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उस कार्माणकाययोगकी अवस्थामें (कर्मकदम्बकः कार्माणदेहः अस्ति) कर्मसमूहरूप कार्माण शरीर होता है और (तद्धेतुः दुःख) उस कर्मरूपी शरीरके निमित्तसे उनके दुःख होता है (इति चेत्) यदि ऐसा कहा जायतो फिर (अनीहितं दुःखं सिद्धं अस्तु) अनिच्छित वह कर्मोदयमात्र अबुद्धिपूर्वक दुख सिद्ध होजाता है तथा वही मानलेना चाहिये ।

(अपि) तथा कर्मोदयमात्रको दुख सिद्ध होजानेसे (यत्) जो (अनाकुललक्षणं सुखं नाम) अना-

कुलता लक्षणस्वरूप सुख है ('तदपि' सिद्ध) वहभी सिद्ध होजाता है कारण कि वह सुख (चिदात्मन) चेतनात्माके (नोकर्मविप्रमुक्तौ अपि) कर्मोंके समान नोकर्मोंकेभी अभाव होनेपर (सिद्धत्वात्) सिद्ध होता है ।

भावार्थ — विग्रहगतिमें कर्माण शरीरके निमितसे दुःख माननेपर कर्मोंके उदयमात्रकोही दुःखपना सिद्ध होता है । और कर्मोंके उदय मात्रको दुःखपना सिद्ध होनेसे उसके अभावमें अनाकुलतामय जो वास्तविक आत्मीय सुख है उसकी सिद्धि होजाती है कारण कि आगममें उस स्वाभाविक सुखकी व्यक्ति (प्रगटपणा) कर्मोंके समान नोकर्मोंकेभी छूटनेपर मानी है इसलिये जबतक किसीभी कर्मका उदय रहता है तबतक दुःख तथा जब कर्म व नोकर्म मात्रका अभाव होजाता है तब आत्माको सच्चा सुख प्राप्त होता है ।

ननु देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धः परमात्मनि ।
तदभावे सुखं ज्ञानं सिद्धिमुन्नीयते कथम् ॥ ३४६ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि यदि (परमात्मनि देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धः) परमात्मामें देह और इंद्रियोंका अभाव प्रसिद्ध है तो फिर परमात्माके (तदभावे) शरीर तथा इंद्रियोंके अभावमें (सुखं ज्ञान) सुख और ज्ञान (कथं सिद्ध उन्नीयते) कैसे कहे जासकते हैं ।

भावार्थः— शंकाकार का कहना है कि यदि परमात्माके शरीर और इन्द्रियोंका अभाव है । तो परमात्माके शरीर तथा इन्द्रियोंके विना ज्ञान और सुख कैसा सिद्ध होसकेंगे ?

न यद्यतःप्रमाणं स्यात साधन ज्ञानसौख्ययोः ।
अत्यक्षस्याशरीरस्य हेतोः सिद्धस्य साधनम् ॥ ३४७ ॥

अन्वयार्थः (तत् न) उक्त कथन ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (अत्यक्षस्य अशरीरस्य) इंद्रियोंसे तथा शरीरसे विमुक्त (सिद्धस्य) सिद्ध परमात्माके (हेतोः) हेतुपूर्वक (ज्ञानसौख्ययोः साधने) ज्ञान और सुखकी सिद्धिके लिए (प्रमाणं साधनं स्यात्) प्रमाणीक साधन मौजूद हैं जैसे कि आगे ग्रन्थकार स्वयं बताते है।

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि आगेके पद्यसे ग्रन्थकारने इद्रिय और शरीरसे

रहित परमात्माके अतींद्रिय ज्ञानको और सुखको प्रमाणपूर्वक सिद्ध किया है।

आस्ति शुद्धं सुखं ज्ञानं सर्वतः कस्यचिद्यथा ।
देशतोऽप्यस्मदादीनां स्वादुमात्रं बत द्वयोः ॥ ३४८ ॥

अन्वयार्थः—(यथा) जैसे (कस्यचित्) किसी जीवके (सर्वतः) सर्वथा (शुद्धं सुखं ज्ञान) शुद्ध सुख और ज्ञान (अस्ति)होनेचाहिये क्योंकि (बत) खेद है कि (अस्मददीनां अपि) हमलोगोंकेभी (द्वयोः) उन शुद्ध सुख तथा ज्ञानका (देशतः) एकदेशरूपसे (स्वादुमात्रं) अनुभवमात्रही पायाजाता है

भावार्थः— हमलोगोंमें किसी २को अर्थात जो सम्यग्दृष्टि है उनको शुद्ध सुख और ज्ञानका केवल स्वाद पाया जाता है। इसलिये अनुमान किया जाता है कि किसी न किसीके उनकी पूर्णता होनी चाहिये। क्योंकि जिसमें तरतम भाव पाया जाता है उसकी कहीं न कहींपर पूर्णता अवश्य होती है यहांपर खेदवाचक बत शब्दका यह प्रयोजन है कि कर्मोंके उदयकी परवशता वश शुद्धसुख और ज्ञानका स्वादमात्रभी सबको नहीं हो सकता है किन्तु केवल सम्यग्दृष्टियोंको होता है।

ज्ञानानन्दौ चितोधर्मौ नित्यौ द्रव्योपजीविनौ ।
देहेन्द्रियाद्यभावेऽपि नाभावस्तद्द्वयोरिति ॥ ३४९ ॥

अन्वयार्थः— (चितः) आत्माके (ज्ञानानन्दौ) ज्ञान और सुख (नित्यौ द्रव्योपजीविनौ धर्मौ) नित्य तथा द्रव्यके अनुजीवी गुण है (इति) इसलिये (देहेन्द्रियाद्यभावे अपि) परमात्माके देह और इंद्रिय आदिका अभाव होनेपरभी (तत् द्वयोः अभावः न) उसके उन दोनोंका अभाव नहीं कहाजासकता है।

भावार्थः— ज्ञान और सुख आत्माके अनुजीवी गुण है। अतः परमात्माके देह तथा इन्द्रियोंका अभाव होनेपरभी उन दोनोंका अभाव नहीं कहा जा सकता है।

सिद्धं धर्मत्वमानन्दज्ञानयोर्गुणलक्षणात् ।
यतस्तत्राप्यवस्थायां किंचिद्देहेन्द्रियं विना ॥ ३५० ॥

अन्वयार्थ— (**यतः**) क्योंकि (**तत्र अवस्थायां अपि**) उस सिद्ध अवस्थामेंभी (**किंचित् देहेन्द्रियं विना**) किसीभी देह और इंद्रियोंके निमित्तके विना ज्ञान व सुख पाये जाते है (' **ततः** ') इसलिए (**आनन्द ज्ञानयोः**) आनन्द तथा ज्ञानमें (**गुणलक्षणात्**) गुणका लक्षण घटित होनेसे उनमें (**धर्मत्वं सिद्धं**) गुणपना सिद्ध होता है ।

भावार्थः— सिद्धअवस्थामेंभी किसी शरीर तथा इन्द्रियके सद्भावके विनाही ज्ञान और सुखमें गुणका लक्षण घटजाता है । इसलिये उन दोनोंमें गुणपना असिद्ध नहीं है किंतु सिद्धही है ।

मतिज्ञानादिवेलायामात्मोपादानकारणम् ।
देहेन्द्रियास्तदर्थाश्च बाह्यं हेतुरहेतुवत् ॥ ३५१ ॥

अन्वयार्थः— (**मतिज्ञानादिवेलायां**) मतिज्ञानादिके उत्पन्न होनेके समय (**आत्मा उपादानकारणं**) आत्मा उपादानकारण है और (**देहेन्द्रियाः**) देह इंद्रिय (**च**) तथा (**तदर्थाः**) उन इंद्रियोंके विषय भूत पदार्थ (**बाह्य हेतु**) केवल बाह्य हेतु है अत वे (**अहेतुवत्**) अहेतुके बराबर है ।

भावार्थः— तथा इन्द्रियज्ञानके होतेसमय इन्द्रिया केवल बाह्य हेतु मानी जाती है उपादान कारण नहीं । क्योंकि उपादान कारण तो आत्माही होता है । इसलिये वास्तवमें इन्द्रियज्ञानमें इन्द्रिया अहेतुके ही समान है । कारण कि मृतअवस्थामें इंद्रियोंके रहते हुयेभी इंद्रियज्ञान नही होता है ।

संसारे वा विमुक्तौ वा जीवो ज्ञानादिलक्षणः ।
स्वयमात्मा भवत्येष ज्ञानं वा सौख्यमेव वा ॥३५२॥

अन्वयार्थः— (**जीवः**) जीव (**संसारे वा विप्रमुक्तौ वा**) संसार तथा मोक्ष दोनोंही अवस्थाओंमें (**ज्ञानादिलक्षणः**) ज्ञानादिक स्वरूपवालाही होता है अत (**एष आत्मा एव**) यह आत्माही (**स्वय**) स्वयं (**ज्ञान वा सौख्य वा**) ज्ञान अथवा सुखमय (**भवति**) होता है ।

भावार्थ :— जीव ससार अथवा मोक्ष दोनोही अवस्थाओंमें अपने ज्ञान आदि लक्षणोंसे युक्त रहता है अपने लक्षणसे कभीभी च्युत नहीं होता है इसलिये आत्माही स्वयं ज्ञान और सुख रूप है ऐसा समझना चाहिये ।

स्पर्शादीन् प्राप्य जीवश्च स्वयं ज्ञानं सुखं च तत् ।
अर्थाः स्पर्शादयस्तत्र किं करिष्यन्ति ते जडाः ॥ ३५३ ॥

अन्वयार्थः— मति ज्ञानदिक के समय (जीवश्च) जीवभी (स्पर्शादीन् प्राप्य) स्पर्शादि विषयोंको विषय करके (स्वय तत् ज्ञानं च सुखं) स्वयं उस ज्ञान और सुखमय होजाता है अतः (तत्र) आत्माके उस ज्ञान तथा सुखमें (ते जडाः स्पर्शादयः अर्थाः) वे अचेतन स्पर्शादिक अर्थ विचारे (किं करिष्यन्ति) क्या कर सकते हैं ?

भावार्थः— इन्द्रिय ज्ञानके होते समय वास्तवमें आत्माही स्पर्शादि विषयोंको प्राप्त करके स्वयं ज्ञान और सुखमय होजाता है इसलिये उस विषयमें-ज्ञानोत्पत्तिमें विचारे अचेतन स्पर्शादि क्या कर सकते है ? अर्थात स्पर्शादि विषय इन्द्रियज्ञानमें केवल अवलम्बन मात्र है इसलिये वे ज्ञानके उत्पादक कारण नहीं हो सकते है।

अर्थाः स्पर्शादयः स्वैरं ज्ञानमुत्पादयन्ति चेत् ।
घटादौ ज्ञानशून्ये च तत्किं नोत्पादयन्ति ते ॥३५४ ॥

अन्वयार्थः— (चेत्) यदि (स्पर्शादयः अर्थाः) स्पर्शादिक विषय (स्वैरं) स्वतत्र, विना आत्माके (ज्ञानं) ज्ञान (उत्पादयन्ति) उत्पन्न करते होते तो (ते) वे स्पर्शादिक (ज्ञानशून्ये घटादौ च) ज्ञानशून्य घटादिकमेंभी (तत्) वह ज्ञान (किं न उत्पादयन्ति) क्यों उत्पन्न नहीं करते है ।

भावार्थः— यदि स्पर्शादिक विषय ज्ञानके उत्पादक है तो वे अचेतन घटादिकमें ज्ञानको उत्पन्न क्यो नहीं करते है ?

अथ चेच्चेतने द्रव्ये ज्ञानस्योत्पादकाः क्वचित् ।
चेतनत्वात्स्वयं तस्य किं तत्रोत्पादयन्ति वा ॥ ३५५ ॥

अन्वयार्थः— (अथचेत्) और यदि यह कहा जाय कि (चेतने द्रव्ये) चेतन द्रव्यमें (क्वचित्) कहींपर ये स्पर्शादिक (ज्ञानस्य उत्पादकाः) ज्ञानको उत्पन्न करते है तो (तस्य) उस आत्माके (स्वयं चेतनत्वात्) स्वयं चेतन होनेके कारण (तत्र) उस चेतन आत्मा में वे स्पर्शादिक (किं वा उत्पादयन्ति) क्या उत्पन्न

करते है अर्थात् कुछ नहीं ।

भावार्थ.— यदि कहा जाय कि स्पर्शादिक चेतन द्रव्यमें ज्ञानके उत्पादक होते है अचेतनमें नहीं। इसलिये घटादिकमें ज्ञान उत्पन्न नहीं करते है तो चेतन आत्मा तो स्वयं ज्ञानात्मक है इसलिए उसमें उन्होंने ज्ञानका उत्पादन क्या किया है अर्थात् कुछ नहीं ।

ततः सिद्धं शरीरस्य पंचाक्षाणां तदर्थसात् ।
अस्त्यकिंचित्करत्वं तच्चितो ज्ञानं सुखंप्रति ‼ ३५६ ॥

अन्वयार्थ –– (ततः सिद्धं) इसलिये सिद्ध होता है कि (चितः) आत्माके (तत् ज्ञानं सुखं प्रति) उस इन्द्रियजन्य ज्ञान और सुखके प्रति (शरीरस्य) शरीरको (पंचाक्षाणां) पांचोंहि इन्द्रियोंको तथा तदर्थ सात) उन इन्द्रियोंके विषयोंको (अकिन्चित्करत्वं अस्ति) अकिन्चित्कारित्व है ।

भावार्थः— उक्त कथनसे सिद्ध होता है कि आत्माके इद्रिजजन्य ज्ञानके और सुखके प्रति शरीर, इद्रिय तथा उनके विषय अनुत्पादक होनेसे अकिंचित्कारी है ।

शंका ।

ननु देहेन्द्रियार्थेषु सत्सु ज्ञानं सुखं नृणाम् ।
असत्सु न सुखं ज्ञानं तदकिंचित्करं कथम् ॥ ३५७ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (नृणां) मनुष्यों को (देहेन्द्रियार्थेषु सत्सु) देह इन्द्रिय और अर्थोंके रहने परही (ज्ञानं सुखं) ज्ञान तथा सुख होते है और (असत्सु) उन देहादिकके नहीं रहनेपर (सुखं ज्ञानं न) सुख तथा ज्ञान नहीं होते हैं इसलिये (तत्) वे देहादिक (अकिन्चित्कर कथ) ज्ञान व सुखके प्रति अकिन्चित्कर कैसे हो सकते हैं ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि ज्ञान और सुख ये देह, इंद्रिय तथा उनके अर्थोंके रहनेपरही होते है अन्यथा नहीं । इसलिए देहादिक, ज्ञान तथा सुखकेप्रति अकिंचित्कारी क्यों कहे जाते हैं ?

समाधान ।

नैवं यतोन्वयापेक्षे व्यंजके हेतुदर्शनात् ।
कार्याभिव्यंजकः कोपि साधनं न विनान्वयम् ॥ ३५८ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) उक्त कथन ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (व्यंजके अन्वयापेक्षे 'सति' हेतु दर्शनात्) व्यंजक, अन्वयकी–द्रव्यकी अपेक्षा रखनेपरही साधक हेतु हो सकता है कारण कि (कोऽपि कार्याभिव्यंजकः) कोईभी कार्यका अभिव्यंजक–द्योतक (अन्वयं विना साधनं न) अन्वयकी–द्रव्यकी अपेक्षाके विना साधक हेतु–व्यंजक हेतु नहीं हो सकता है।

भावार्थः— आत्माके ज्ञान और सुख अभिव्यञ्ज है। तथा शरीरादिक अभिव्यञ्जक है। कोईभी अभिव्यंजक अपने अभिव्यंजका अपने २ द्रव्यके अन्वयकी अपेक्षा रखकरकेही अभिव्यंजक हो सकता है अन्यथा नहीं इसलिए आत्माके अनुजीवी गुण होनेसे ज्ञान और सुखमें जो आत्माका अन्वय पाया जाता है उस अन्वयका उलंघन नही करकेही शरीरादिक आत्मामें ज्ञान सुखके द्योतक होसकते है। अन्यथा नहीं।

दृष्टान्तोऽगुरुगन्धस्य व्यञ्जकः पावको भवेत् ।
न स्याद्विनाऽगुरुद्रव्यं गन्धस्तत्पावकस्य सः ॥ ३५९ ॥
तथा देहेंद्रियं चार्थाः सन्त्यभिव्यंजकाः क्वचित् ।
ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य न स्वयं चित्सुखात्मकाः ॥ ३६० ॥

अन्वयार्थः—(दृष्टान्तः) उक्त कथनका साधक दृष्टान्त यह है कि जैसे यद्यपि (पावकः) अग्नि (अगुरुगन्धस्य व्यन्जकः भवेत्) अगुरु द्रव्यके गन्धकी व्यंजक होती है परन्तु (अगुरु द्रव्यं विना) अगुरु द्रव्यके विना (स गन्धः) वह गन्ध (तत्पावकस्य न स्यात्) वास्तवमें उस अग्निका नहीं हो सकता है (तथा) वैसेही यद्यपि (देहेन्द्रियं च अर्थाः) देह इन्द्रिय और पदार्थ (क्वचित्) कहींपर (ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य) ज्ञान तथा सुखके (अभिव्यजका सन्ति) अभिव्यंजक होते हैं परन्तु वे (स्वयं) स्वय (चित्सुखात्मकाः न) ज्ञान और सुख स्वरूप नहीं हो जाते है।

भावार्थ.— जैसे अग्नि अगुरु द्रव्यके गन्धकी व्यंजक होनेसे स्वयं गन्धस्वरूप नहीं होजाता है वैसेही देह

इन्द्रियादिक सुख और ज्ञानके अभिव्यंजक होनेसे स्वय ज्ञान तथा सुखस्वरूप नहीं होजाते है।

नाप्युपादानशून्येपि स्यादाभिव्यंजकात्सुखम् ।
ज्ञानं वा तत्र सर्वत्र हेतुशून्यानुषङ्गतः ॥ ३६१ ॥

अन्वयार्थ.— (अपि) तथा (उपादानशून्ये) उपादानके विना (अभिव्यंजकात् अपि) केवल अभिव्यंजकसेही (सुख वा ज्ञानं न स्यात्) सुख और ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि (तत्र सति) वैसा माननेपर अर्थात् उपादानके विना केवल अभिव्यंजकसे सुख या ज्ञानकी उत्पत्तिको माननेसे (सर्वत्र हेतु शून्यानुषङ्गतः) सर्वत्र उपादान कारणके विनाही कार्यकी उत्पत्तिका प्रसग आवेगा।

भावार्थः— यदि ज्ञानसुखके उपादानकारणभूत आत्मासे ज्ञान व सुखकी सिद्धि न मानकर केवल ज्ञानसुखके अभिव्यंजक शरीर तथा इन्द्रियादिकसेही ज्ञान व सुखकी सिद्धि मानी जायगी तो उपादन कारणके विनाही सर्वत्र केवल अभिव्यंजकसेही कार्यकी उत्पत्तिका प्रसंग आवेगा।

ततः सिद्धं गुणो ज्ञानं सौख्यं जीवस्य वा पुनः।
संसारे वा प्रमुक्तौ वा गुणानामनतिक्रमात् ॥ ३६२ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिये (संसारे वा विप्रमुक्तौ गुणानां अनतिक्रमात्) संसार तथा मोक्ष दोनोंही अवस्थाओंमें गुणोंको उल्लङ्घन न करनेसे (ज्ञान पुनः सौख्यं वा गुणः जीवस्य सिद्ध) ज्ञान और सुख ये दोनोंही गुण जीवके सिद्ध होते है।

भावार्थ — इसलिए ज्ञान तथा सुख ये दोनों संसार और मोक्ष दोनोंही अवस्थाओंमें गुणके लक्षणानुसार जीवके गुण सिद्ध होते है।

किंच सावरणं ज्ञानं सुखं संसारपर्यये।
तन्निरावरणं मुक्तौ ज्ञानं वा सुखमात्मनः ॥ ३६३ ॥

अन्वयार्थः— (किं च) तथा (आत्मनः) आत्माकी (संसारपर्यये) संसार अवस्थामे (साधा-

रणं ज्ञान सुखं) साधारण ज्ञान और सुख होता है तथा (मुक्तौ) मुक्त अवस्थामें (निवारणं तत् ज्ञाणं वा सुखं) शुद्ध वह ज्ञान और सुख होता है।

भावार्थः— तथा इतना विशेष है कि संसार अवस्थामें आत्माके साधारण ज्ञान और सुख होता है। तथा मुक्त अवस्थामें शुद्ध ज्ञान व सुख होता है।

कर्मणां विप्रमुक्तौ तु नूनं नात्मगुणक्षतिः।
प्रत्युतातीव नैर्मल्यं पङ्कापाये जलादिवत् ॥ ३६४ ॥

अन्वयार्थ— (कर्मणां विप्रमुक्तौ तु) कर्मोंका क्षय हो जानेपर (नूनं आत्मगुणक्षतिः न) निश्चयसे आत्माके गुणोंका नाश नहीं होता है (प्रत्युत) किन्तु उल्टी (पङ्कापाये) कीचडका अभाव हो जानेसे (जलादिवत्) जलादिककी तरह आत्मामें (अतीव नैर्मल्यं) अत्यन्त निर्मलता प्रगट हो जाती है।

भावार्थः— कर्मोंका क्षय होनेपर आत्माके गुणोंका नाश नहीं होता है किंतु जिसप्रकार पंकके अभावमें जलमें अत्यन्त निर्मलता प्रगट होती है उसी प्रकार कर्मपंकके अभावमें आत्मामें अत्यन्त निर्मलता प्रगट होती है।

अस्ति कर्ममलापाये विकारक्षतिरात्मनः।
विकारः कर्मजो भावः कादाचित्कः सपर्ययः ॥३६५ ॥

अन्वयार्थः— (कर्ममलापाये) कर्ममलका नाश होजानेपर (आत्मनः) आत्माके (विकारक्षतिः अस्ति) विकारोंका नाश हो जाता है क्यों कि (सः विकारः) वह विकार (कादाचित्कः) अनित्य (पर्ययः) पर्यायरूप और (कर्मजः भावः) कर्मजन्य भाव है।

भावार्थः— कर्मजन्य विकार कदाचित्क और पर्यायरूप है। इसलिए मुक्तअवस्थामें कर्मरूपी मलका नाश होजानेपर आत्माके विकारोंका अवश्यही नाश हो जाता है। क्योंकि वे विकार गुण व द्रव्य नहीं है किन्तु कादाचित्क पर्यायरूप है। अतः मुक्त अवस्थामें उनका अभाव मानना युक्तियुक्त है।

नष्टे चाशुद्धपर्याये मा भूद्भ्रान्तिर्गुणव्यये ।
ज्ञानानन्दत्वमस्योच्चैर्नित्यत्वात्परमात्मनि ॥ ३६६ ॥

अन्वयार्थ — (च) तथा (अशुद्धपर्याये नष्टे) अशुद्ध पर्यायके नष्ट होनेपर (गुणव्यये) ज्ञानादिक गुणोंके नाश होनेके विषयमें (भ्रान्तिः माभूत) भ्रम नहीं करना चाहिये क्यों कि (अस्य नित्यत्वात्) गुण नित्य होते हैं इसलिये (परमात्मनि) परमात्मामें (उच्चैः) भलेप्रकार (ज्ञानानन्दत्वं) ज्ञान और आनन्दपना पाया जाता है ।

भावार्थ.— अशुद्धपर्यायोंके नाश होनेसे उन ज्ञान और सुखके नाशकी आशंका नहीं करना चाहिये । क्योंकि ज्ञान तथा सुख गुण होनेसे नित्य है, अशुद्ध पर्यायोंके समान अनित्य नहीं है । इसलिए उनका कभीभी नाश नहीं होसकता है अतः परमात्माके शरीरादिकक विनाभी भलेप्रकार ज्ञान और आनन्दपना सिद्ध होता है ।

दृषदादिमलापाये यथा पावकयोगतः ।
पीत्वादिगुणाभावो न स्यात्कार्तस्वरोस्ति चेत् ॥ ३६७ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (चेत् कार्तस्वरः) यदि सुवर्ण हो तो (पावकयोगतः) अग्निके संयोगसे (दृषदादिमलापाये) पत्थर आदि मलके नाश होनेपर (पीतत्वादिगुणाभावः न स्यात्) उसके पीतत्व आदि गुणोंका अभाव--नाश नहीं हो सकता है ।

भावार्थः— जैसे सुवर्णको अग्निके द्वारा तपाये जानेपरभी मलके नाश होनेसे उसके पीतत्व, गुरुत्व आदि गुणोंका नाश नहीं होता है । वैसेही आत्माको ध्यानाग्निके द्वारा तपाये जानेपर अशुद्ध पर्यायेक नाश होनेसे उसके ज्ञानादिक गुणोंका अभाव नहीं होता है ।

एकविंशतिदुःखानां मोक्षो निर्मोक्षलक्षणः ।
इत्येके तदसज्जीवगुणानां शून्यसाधनात् ॥ ३६८ ॥

अन्वयार्थः— (एक विंशतिदुःखानां निर्मोक्षलक्षण मोक्षः) इक्कीस प्रकारके दुःखोंका निर्मोक्ष–सर्वथा अभावही मोक्ष है (इति एके) ऐसा कोई मानते है किन्तु (तत् असत्) उनका यह मानना ठीक नहीं है

क्योंकि (**जीवगुणानां शून्यसाधनात्**) जीवके गुणोंका नाश माननेसे जीवकेभी अभावका प्रसङ्ग आवेगा।

भावार्थ :— नैयायिकोंके यहां सुखके समान दुखभी एक गुण माना है। तथा उसके इक्कीस प्रकार है। उन इक्कीसोंही प्रकारके दु खोंसे छूटनेका नाम मोक्ष है। अर्थात मोक्षमें दुःखनामके गुणके सम्पूर्ण प्रकारोंका अभाव हो जाता है ऐसा नैयायिक मानते है। परन्तु दुखको गुण मानकर मुक्त अवस्थामें उसका अभाव मानना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि गुणोंके नाश होनेपर गुणी (द्रव्य) केभी नाशका प्रसंग आता है। इसलिए एकविंशतिदुःखक्षय मोक्षका लक्षण ठीक नहीं है।

न स्यान्निजगुणव्यक्तिरात्मनो दुःखसाधनम्।
सुखस्य मूलतो नाशादतिदुःखानुषंगतः॥ ३६९॥

अन्वयार्थः— (**आत्मनः**) आत्माके (**निजगुणव्यक्तिः**) निजगुणोंका विकाश (**दुःखसाधन न स्यात्**) दु खका कारण नहीं हो सकता है क्योंकि (**सुखस्य**) सुखका (**मूलतः नाशात्**) मूलसे नाश होजानेसे (**अतिदुखानुषंगतः**) आत्माके अत्यन्त दु.खका प्रसङ्ग आवेगा।

भावार्थः— मुक्त अवस्यामें आत्माके सुखगुणका पूर्ण विकाश होता है यदि उस विकाशको, शरीरादिकके अभावके कारण सुखाभाव कहोगे तो उस सुखाभावसे आत्माके अत्यन्त दु खका प्रसग आवेगा। इसलिए मुक्तअवस्थामें शरीरादिकका अभाव होनेपरभी निजगुणके विकासको सुखका अभाव कहना ठीक नहीं है अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मनका अभाव होनाही निजगुणका विकाश है। इसलिए शरीरादिकके अभावमें सुखाभाव सिद्ध नहीं होसकता है।

निश्चितं ज्ञानरूपस्य सुखरूपस्य वा पुनः।
देहेंद्रियैर्विनापि स्तो ज्ञानानन्दौ परात्मनः॥ ३७०॥

अन्वयार्थः— इसलिये (**ज्ञानरूपस्य**) ज्ञानरुपस्य (**पुनः**) औ (**सुखरूपस्य वा**) सुखस्वरुपभी (**परात्मनः**) मुक्त जीवके (**देहेन्द्रियैः विना अपि**) देह इन्द्रियादिकके विनाभी (**निश्चितं**) निश्चय रूपसे (**ज्ञानन्दौ स्तः**) ज्ञान और सुख होते हैं।

भावार्थः— इसलिये ज्ञानरूप तथा सुखरूप परमात्माके, देह इन्द्रिय और मनके विनाभी ज्ञान व आनंद निश्चित

रूपसे सिद्ध होते है।

इत्येवं ज्ञाततत्त्वोसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक्।
वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत ॥ ३७१ ॥

अन्वयार्थः— (इति एव) इसप्रकार (ज्ञाततत्वः) तत्वोंको जाननेवाला (निजात्मदृक्) स्वात्मदर्शी (असौसम्यग्दृष्टिः) यह सम्यग्दृष्टी जीव (वैषयिके सुखे) इन्द्रियजन्य सुख और (ज्ञाने) ज्ञानमें (रागद्वेषौ) राग तथा द्वेषका (परित्यजेत) परित्याग करे।

भावार्थः— इसप्रकार आत्मीक ज्ञान और सुखके रहस्यको जाननेवाला आत्मदर्शी सम्यग्दृष्टी जीव इंद्रियजन्य सुख तथा ज्ञानमें रागद्वेष नहीं करता है।

ननूल्लेखः किमेतावानास्ति किंवा परोप्यतः।
लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्षणेनांचितः पुमान् ॥ ३७२ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (कि एतावान् उल्लेख किंवा अतः परः अपि अस्ति) क्या सम्यग्दृष्टी के विषयमें इतनाही उल्लेख है अथवा इससेभी अधिक कुछ है अर्थात् सम्यग्दृष्टीका क्या इतनाही स्वरूप है अथवा औरभी कुछ है कि (येन लक्षणेन) जिस स्वरूपके द्वारा (अञ्चितः पुमान्) युक्त जीव (सद्दृष्टिः लक्ष्यते) सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

भावार्थ.— शंकाकारका कहना है कि सम्यग्दृष्टी जीव इंद्रियजन्य ज्ञान और सुखमें रागद्वेष नहीं करता है इतनाही क्या सम्यग्दृष्टिका लक्षण है अथवा औरभी कोई लक्षण है कि जिनके द्वारा लक्षित जीव सम्यग्दृष्टि कहलाता है

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैं (श्च) संलक्ष्यते सुदृक् ॥ ३७३ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यग्दृगात्मन) सम्यग्दृष्टि जीवके (अपराणि लक्ष्माणि अपि सन्ति) दूसरे लक्षणभी है कि (सम्यक्त्वेन अविनाभूतैः यैः च) सम्यक्त्वके अविनाभावी जिन लक्षणोंके द्वारा

(सुदृक्) सम्यग्दृष्टीजीव (संलक्ष्यते) लक्षित होता है।

भावार्थः— इंद्रियजन्य विषयोंमें रागद्वेष नहीं करनेके साथ २ सम्यग्दृष्टि जीवके औरभी लक्षण है। तथा वे सब सम्यग्दर्शनके अविनाभावी है अतः उनके द्वाराभी सम्यग्दृष्टी जाना जाता है।

उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः।
नादेयं कर्म सर्वं च (स्वं) तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ॥ ३७४ ॥

अन्वयार्थः— (**यथा**) जैसे (**दृगात्मनः**) सम्यग्दृष्टिको (**उक्तं आक्ष्यं सुखं ज्ञान**) उक्त इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञान (**अनादेयं**) आदेय नहीं होते हैं (**तद्वत्**) वैसेही (**दृष्टोपलब्धितः**) आत्मप्रत्यक्ष होनेके कारण (**सर्वं कर्म च**) सम्पूर्ण कर्मभी (**आदेयं न**) आदेय नहीं होते है।

भावार्थः— जैसें सम्यग्दृष्टीजीवको इंद्रियजन्य सुख, ज्ञान व भोगोपभोग आदि क्रियायें अनादेय हैं वैसेही उसको कर्ममात्रभी अनादेय है चाहे वह महाप्रशस्त तीर्थंकरनामकर्मभी क्यों न हो।

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् ।
गोचरं स्वावधिस्वान्तःपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥ ३७५ ॥

अन्वयार्थः— (**सम्यक्त्वं**) सम्यक्त्व (**वस्तुतः**) वास्तवमें (**सूक्ष्मं**) सूक्ष्म है और (**केवलज्ञानगोचरं**) केवलज्ञानके गोचर है (**वा**) तथा (**अवधिस्वान्तः पर्ययज्ञानयोः द्वयो**) अवधि और मनःपर्यय इन दोनोंके (**गोचरं**) गोचर है।

भावार्थ— सम्यग्दर्शन आत्माका अतींद्रिय गुण है। इसलिए वह वास्तवमें सूक्ष्म है। तथा केवलज्ञान और सुअवधि व मनःपर्यय ज्ञानके गोचर है।

न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञान(श्रुतविज्ञान)द्वयोर्मनाक्।
नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ॥ ३७६ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र**) उन पांचों ज्ञानोंमेंसे (**मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोः**) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन

दोनों ज्ञानोंके तो वह सम्यक्त्व (मनाक् गोचरं न) बिलकुल गोचर नहीं है तथा (अनुपलब्धितः) देशावधिके द्वारा उसकी उपलब्धि नहीं होसकती है इसलिए वह (देशावधेः अपि विषयः न) देशावधिकाभी विषय नहीं है।

भावार्थः— पांचों ज्ञानोंमेंसे मति और श्रुतज्ञान अत्यन्त परोक्ष है। इद्रियगोचर पदार्थोंकाही विषय करनेवाले हैं इसलिए उनके द्वारा सम्यक्त्व बिलकुल नहीं जाना जासकता है। तथा यद्यपि देशावधिका विषय अतींद्रिय है परन्तु सम्यक्त्वको विषय करनेके योग्य नहीं होता है इसलिए वह सम्यक्त्व उसके द्वाराभी नहीं जाना जासकता है। किंतु फलबलात् सिद्ध होता है कि परमावधि, सर्वावधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानके द्वाराही वह सम्यक्त्व जाना जाता है।

अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित् सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्।
तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादुरूपमनादितः॥ ३७७॥

अन्वयार्थः— यद्यपि (सम्यक्त्वं निर्विकल्पकं) सम्यक्त्व निर्विकल्पक है और वह (आत्मनः कश्चित् गुण अस्ति) आत्माका एक विशेष गुण है परन्तु (तत्) वह (अनादितः) अनादि कालसे (दृङ्मोहोदयात्) दर्शन मोहनीयके उदयसे (मिथ्यास्वादुरूपं) मिथ्यात्व युक्त हो रहा है।

भावार्थ :— सम्यक्त्व आत्माका एक निर्विकल्प गुण है। और वह अनादिकालसे मिथ्यात्वके उदयसे विपरीत रुपसे परिणत होरहा है।

दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते॥ ३७८॥

अन्वयार्थः— (दैवात्) दैवयोगसे (कालादिसंलब्धौ) कालादिक लब्धियोंकी प्राप्ति होनेपर (भवार्णवे प्रत्यासन्ने) संसारसागरके निकट होनेपर (वा) अथवा (भव्यभावविपाकात्) भव्यताके विपाक होनेसे (जीवः) जीव (सम्यक्त्वं अश्नुते) सम्यक्त्वको प्राप्त करता है।

भावार्थ — दैववश संसारके आसन्न होनेपर, कालादिक लब्धियोंकी प्राप्ति होनेपर अथवा भव्यत्व नामा गुणके विपाकसे जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है।

भव्यत्व आत्माका एक गुण है। संसारअवस्थामें ज्ञानादिक गुणके साथ उसका अभेद होनेसे एकार्थसम्बन्धके कारण अर्थात् आत्माकी अशुद्धतासे उसमेंभी अशुद्ध परिणमन होता है। किंतु जब ससारसागर निकट रहजाता है अथवा कालादि लब्धियोंकी प्राप्ति होजाती है तब जीवके उस भव्यत्व गुणके परिणमनमें एक प्रकारकी विशेषता आती है कि जिसके कारण जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। इतर शास्त्रोंमें पंच लब्धियोंकोही सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें कारण बताया है। परन्तु यहापर ग्रथकारने भव्यत्वके विपाककोभी कारण बताया है। तत्वार्थसूत्रमेंभी 'औपशमिकादि भव्यत्वाना च' इस सूत्रसे यही द्योतित होता है कि भव्यभाव यद्यपि पारिणामिक है परन्तु उसके अशुद्धपरिणमनका मुक्त अवस्थामें अभाव होजाता है। इसलिए भव्यभावका विपाकभी एक कारण है।

प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत्।
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात्॥ ३७९॥

अन्वयार्थः— उक्त कारण सामग्रीके मिलतेही (**प्रयत्न अन्तरेण अपि**) प्रयत्नके विनाभी (**गुणश्रेण्यनतिक्रमात्**) गुणश्रेणी निर्जराके अनुसार (**अन्तर्मुहूर्तमात्रं च**) केवल अन्तर्मुहूर्त कालमेंही (**दृङ्मोहोपशम. भवेत्**) दर्शनमोहनीयका उपशम होजाता है।

भावार्थः— उक्त काललब्धि आदि निमित्तोंके मिलतेही विना किसी प्रयत्नके गुणश्रेणी निर्जरापूर्वक अर्थात् करणलब्धिके प्राप्त होजानेसे अन्तर्मुहूर्तमेंही दर्शनमोहनीयका उपशम होजाता है।

सारांश यह है कि सबसे पहले उपशम सम्यक्त्व होता है इसके द्योतन करनेके लिए 'दृंग्मोहोपशम' पद दिया है। तथा अधःकरणादि करणलब्धिपूर्वकही सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है इसके द्योतनके लिए 'गुणश्रेण्यनतिक्रमात्' पद दिया है। और करणलब्धिके कालको सूचित करनेकेलिए 'अन्तर्मुहूर्तमात्रं' पद दिया है। ऊपरके पद्यके 'कालादि लब्धौ' इस पदवर्ती आदि शब्दसे क्षयोपशम, विशुद्धि और देशना लब्धिका ग्रहण होता है। 'प्रत्यासन्ने भवार्णवे' इस पदसे प्रायोग्य लब्धिका बोध होता है। तथा 'भव्यभावविपाकात्' इस पदसे सम्पूर्ण लब्धियोंमें आत्माके भव्यभावका विपाक कारण है और पाचोही लब्धियां कर्मोंकी अपेक्षासे कारण है ऐसा द्योतित होता है।

इसप्रकार प्रासिद्ध पांच लब्धियोंके मिलनेपर भव्यभाव विपाकसे, दर्शनमोहके उपशम होनेसे, सम्यक्त्वकी उत्पत्ति

होती है ।

अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा ।
पुंसोऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके [कैः] ॥ ३८० ॥

अन्वयार्थः— (दृङ्मोहोपशमात्) दर्शनमोहनीयके उपशमसे (पुंस) जीवकी (अवस्थान्तराकारं) अवस्थाविशेष (उपशमसम्यक्त्वं अस्ति) उपशम सम्यक्त्व कहलाता है किन्तु (चिद्विकल्पके) चिदाकार रूपमें (आकारं न) आकार सम्यक्त्व नहीं कहलाता है (यथा) जैसाकि आगे खुलासा किया जाता है ।

भावार्थः— दर्शनमोहके उपशमसे होनेवाली आत्माकी अवस्थाविशेषकोही उपशमसम्यक्त्व कहते हैं किंतु चेतनाके आकारमें होनेवाली किसी प्रकारकी विशेषताको सम्यक्त्व नहीं कहते हैं अर्थात् चेतना गुणकी अवस्था सम्यक्त्व नहीं है किन्तु सम्यक्त्व एक निर्विकल्पक गुण है उसकी औपशमिक आदि अवस्थाको सम्यक्त्व कहते हैं ।

सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
सत्तारूपं परिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥ ३८१ ॥

अन्वयार्थ.— (सामान्यात् वा विशेषात् वा) सामान्य और विशेष दोनोंही अपेक्षासे (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व (निर्विकल्पकं) निर्विकल्पक (सत्तारूपं) सत्तारूप है और (पर) केवल (चितः प्रदेशेषु परिणामि) आत्माके प्रदेशोंमें परिणमन करनेवाला है ।

भावार्थः— सम्यक्त्व आत्माका निराकार गुण होनेसे सामान्य तथा विशेष दोनोंही रूपसे निर्विकल्प सत्-रूप है । और गुण होनेके कारण अपनी आत्माके प्रदेशोंमें सदैव परिणमनशील है ।

तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोऽरेरिव रश्मिभिः ।
दिशः प्रसात्ति[प्रसाद]मासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥ ३८२ ॥

दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव सः ।
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥ ३८३ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र उल्लेखः) उसके विषयमें यह उल्लेख है कि (तमोऽरे रश्मिभिः) सूर्यकिरणोंके द्वारा (तमोनाशे इव) अन्धकारके नाश होनेपर जैसे (दिशः) दिशाएँ (सर्वतः) चारों ओरसे (विमलाशयाः) निर्मल होकर (प्रसत्तिं आसेदुः) प्रसन्नताको प्राप्त होती है वैसेही (दृङ्मोहोपशमे) दर्शनमोहनीयके उपशम होनेपर (सम्यग्दृष्टे.) सम्यग्दृष्टिकाभी (सः एव उल्लेखः) यही उल्लेख है (यत्) क्योंकि दर्शनमोहनका उपशम होनेपर (सर्वदेशेषु) आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें (त्रिधा बन्धापहारि शुद्धत्वं) तीनो प्रकारके बन्धको नाश करनेवाली शुद्धता उत्पन्न होती है ।

भावार्थ.— जैसे सूर्यके उदय होनेपर सम्पूर्ण दिशाएँ प्रसन्न होजाती है वैसेही दर्शनमोहके उपशमसे होनेवाले सम्यक्त्वके उदय होनेपर आत्मामेंभी प्रसन्नता (निर्मलता) उत्पन्न होजाती है । क्योंकि सम्यग्दर्शनके होनेपर द्रव्य, भाव और नोकर्म बन्धको नाश करनेवाली शुद्धता प्रगट होजाती है ।

यथा वा मद्यधत्तूरपाकस्यास्तंगतस्य वै ।
उल्लखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्छितः ॥ ३८४ ॥

अन्वयार्थः— (वा) अथवा सम्यग्दृष्टीके स्वरूपको जतानेके लिए (अस्तंगतस्य मद्यधत्तूरपाकस्य) उतरे हुए शराब या धतूरेके नशेका दृष्टांत (वै उल्लेखः) ठीक दृष्टांत है, क्योंकि (यथा) जैसे (मूर्च्छितः जन्तुः) मद्यादिके द्वारा मूर्च्छित प्राणी (अमूर्च्छितः 'सन्') अमूर्छित होकर (उल्लाघः स्यात्) प्रसन्न देखा जाता है ।

दृङ्मोहस्योदयान्मूर्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः ।
प्रशान्ते त्वस्य मूर्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥ ३८५ ॥

अन्वयार्थः— (तथा) वैसेही यद्यपि संसारी जीवके (दृङ्मोहस्य उदयात्) दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले (मूर्च्छावैचित्यं) मूर्च्छाजनित अज्ञान (वा) और (भ्रमः) भ्रम ये दोनों पाये जाते है (तु) परन्तु (अस्य प्रशांते) इस दर्शनमोहनीयके उपशान्त होजानेपर (मूर्च्छायाः नाशात्) उस मूर्च्छाके नाश होजानेसे (जीवः निरामयः) जीव मिथ्यात्वादि रूपी रोगसे मुक्त होकर प्रसन्न होजाता है ।

भावार्थ.— जैसे जिससमय मद्य व धतुरेका असर नष्ट होजाता है उससमय जीवमें प्रसन्नता होती है वैसेही दर्शनमोहके उदयसे उत्पन्न होनेवाली मूर्च्छाके कारण संसारी जीवोंके जो अज्ञान तथा भ्रम पाया जाता है, उस अज्ञान व भ्रमके दूर होजानेपर जीवमें परम प्रसन्नता उत्पन्न होती है। इसलिए मद्यादिकके नशेके उतारका दृष्टान्त, दर्शनमोहके उपशमसे होनेवाले उपशम सम्यक्त्वके लिए ठीक है।

श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः ।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥ ३८६ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यग्दृगात्मनः) सम्यग्दृष्टिजीवके (श्रद्धानादिगुणाः) श्रद्धान आदि गुण–लक्षण (बाह्यं लक्ष्म) बाह्यलक्षण है (इति) इसलिए (तत् एव सम्यक्त्वं न) केवल उन श्रद्धानादिककोही सम्यक्त्व नहीं कहसकते है क्योंकि वे श्रद्धानादिक वास्तवमें (ज्ञानस्य पर्ययाः सन्ति) ज्ञानके पर्याय हैं।

भावार्थ — शास्त्रान्तरोंमें जो सम्यग्दृष्टीके तत्वार्थश्रद्धान आदिक लक्षण कहे है वे सब सम्यग्दर्शनके बाह्य लक्षण है अन्तरंग लक्षण नहीं है। इसलिए तत्वार्थश्रद्धनादिककोही सम्यक्त्व नहीं कहसकते है। क्योंकि तत्वार्थश्रद्धानादिक वास्तवमें सम्यक्त्वगुणके अविनाभावी ज्ञानकी पर्याय है साक्षात् सम्यक्त्व नहीं।

अपि चात्मानुभूतिश्च (स्तु) ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात ।
अर्थात् ज्ञानं न सम्यक्त्वमास्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥ ३८७ ॥

अन्वयार्थः— (अपि) तथा (आत्मानुभूतिः च) आत्मानुभूति ज्ञानचेतनाभी (ज्ञानं) ज्ञानही है, सम्यक्त्व नहीं हैं, क्योंकि वह (ज्ञानस्य पर्ययात्) ज्ञानकी पर्याय है इसलिए (अर्थात् ज्ञान) वास्तवमें वह स्वानुभूतिरूपी ज्ञान, ज्ञानही कहलाता है (सम्यक्त्वं न) सम्यक्त्व नहीं अर्थात् स्वानुभूतिरूप ज्ञानभी सम्यक्त्वका लक्षण नहीं कहा जासकता है और (चेत्) यदि सम्यक्त्वका लक्षणभी कहा जाय तो (बाह्यलक्षणं अस्ति) बाह्य लक्षण कहलाता है अंतरंग नहीं।

भावार्थः— स्वानुभूतिभी सम्यक्त्वका अन्तरंग लक्षण नहीं होसकता है केवल बाह्यलक्षण होसकता है। क्योंकि स्वानुभूतिभी ज्ञानकी पर्याय है। इसलिए वास्तवमें ज्ञान, ज्ञानही कहलाता है सम्यक्त्व नहीं।

यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः ।
वाङ्मनःकायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥ ३८८ ॥

अन्वयार्थः— (यथा हि) जैसे (दुर्लक्ष्यः उल्लाघः) दुर्लक्ष्य स्वास्थ्यज्ञानजन्य हर्ष (वाङ्मनःकायचेष्टानां) वचन, मन, और शरीरकी क्रियाओंके (उत्साहादिगुणात्मकैः) उत्साहादिक गुणरूप (स्थूललक्षणैः) स्थूल लक्षणोंके द्वारा (लक्ष्यते) लक्षित किया जाता है वैसेही वास्तवमें सूक्ष्म, दुर्लक्ष्य तथा निर्विकल्प सम्यक्त्वभी अपने अविनाभावी श्रद्धानादि बाह्य चिन्होंके द्वारा लक्षित किया जाता है ।

भावार्थ— जैसे रोगादिकके अभावसे होनेवाली नीरोगता मनवचनकायकी क्रियाओंके उत्साह आदिरूप स्थूललक्षणोंके द्वारा जानी जाती है वैसेही दुर्लक्ष्य निर्विकल्प सम्यक्त्वभी अपने अविनाभावी श्रद्धानादि बाह्य गुणोंके द्वारा जाना जाता है ।

शंका ।

नन्वात्मानुभवः साक्षात् सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम् ।
सर्वतः सर्वकालेऽस्य मिथ्यादृष्टेरसंभवात् ॥ ३८९ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (साक्षात आत्मानुभवः) साक्षात आत्माका अनुभव (वस्तुतः) वास्तवमें (स्वयं सम्यक्त्वं) स्वयं सम्यक्त्वस्वरूप है क्योंकि वह साक्षात् स्वानुभव (सर्वतः) किसीभी क्षेत्र या (सर्वकाले) किसीभी कालमें (अस्य मिथ्यादृष्टेः असंभवात्) इस मिथ्यादृष्टिको प्राप्त नहीं होसकता है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि स्वानुभूति मिथ्यादृष्टीके कदाचितभी नहीं होती है केवल सम्यग्दृष्टिकेही होती है । इसलिए स्वानुभूतिकोही सम्यक्त्व मानना चाहिए ।

समाधान ।

नैवं यतोऽनाभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः ।
अप्यनाकारसाकारालिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥ ३९० ॥

अन्वयार्थः— (एव न) शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (**सत्सामान्य विशेषयो**) सामान्य और विशेषके लक्षणभूत (**अनाकारसाकारलिंगयोः अपि**) अनाकार तथा साकारके विषयमेंभी (**अनभिज्ञः असि**) तुम अनभिज्ञ हो इसलिए उस अनाकार और साकारका स्वरूप (**तत् यथा उच्यते**) कहा जाता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि वह सत्सामान्य और सत् विशेषके अनाकार तथा साकार भेदसेभी अनभिज्ञ है। अतः वह स्वानुभूति और सम्यक्त्व के अन्तर को नहीं समझसका। इसलिये सम्यक्त्वादि गुण तथा स्वानुभूति में अन्तर बतानेके लिये ग्रन्थकार आगे आकार व निराकार शब्दका निरुक्त्यर्थ बताते है।

आकारोर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥ ३९१ ॥

अन्वयार्थः— (**अर्थविकल्प. आकारः स्यात**) साकार शब्दमें आकार शब्दका अर्थ, अर्थविकल्प होता है और (**अर्थः स्वपरगोचर**) अर्थविकल्प शब्दमें अर्थ शब्दका अर्थ स्व तथा परविषय होता है (**वा**) और (**विकल्पः सोपयोगः**) विकल्प शब्दका अर्थ ज्ञानकी उपयोगसहित अवस्था होता है (**हि**) क्योंकि (**ज्ञानस्य एतत् लक्षणं**) ज्ञानका यह आकार लक्षण है।

भावार्थः— साकार शब्दमें आकार शब्दका अर्थ अर्थविकल्प और अर्थविकल्प शब्दमें अर्थ शब्दका अर्थ स्वपर पदार्थ तथा विकल्प शब्दका अर्थ उपयोग सहित अवस्था होती है। इसलिए इसप्रकार निरुक्ति करनेसे आकार शब्दका अर्थ, ज्ञान होता है।

नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥ ३९२

अन्वयार्थः— और (**न आकार. अनाकारः स्यात**) जो आकार न हो सो अनाकार है इसलिये (**वस्तुतः**) वास्तवमें (**ज्ञानं अन्तरा**) ज्ञानके विना (**शेषानन्तगुणानां**) शेष अनन्त गुणोंमें (**निर्विकल्पता**) निर्विकल्पता होती है अतः (**तत् लक्षणं**) ज्ञानके विना शेषसब गुणोंका लक्षण अनाकार होता है।

भावार्थः— ऊपर आकार शब्दका अर्थ, ज्ञान किया जाचुका है । और जो गुण आकारात्मक नहीं है— अर्थविकल्पात्मक नहीं है वे गुण अनाकार कहलाते है अर्थात् ज्ञान, अर्थविकल्पात्मक होनेसे साकार शब्दसे कहा जाता है और इतर शेष गुण अर्थविकल्पात्मक नहीं होनेसे अनाकार शब्दसे कहे जाते है । इसलिए ज्ञानगुणके विना शेष सब गुणों-का लक्षण केवल अनाकार और निर्विकल्पपनाही कहा है ।

शंका ।

नन्वास्ति वास्तवं सर्वं सत्सामान्यं विशेषवत् ।
तत्किं किंचिदनाकारं किंचित्साकारमेव तत् ॥ ३९३ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि यदि (**विशेषवत्**) विशेषके समान (**सर्वं सत्सामान्यं**) सब सत्‌रूप सामान्यभी (**वास्तवं अस्ति**) वास्तविक है (**तत्**) तो फिर (**किन्चित् तत् साकारं**) किंचित् सत् साकार और (**किंचित् अनाकारं एव**) किंचित् सत् अनाकारही होता है ऐसा (**किं**) क्यों कहा जाता है? अर्थात् एकही सत्‌के ज्ञानरूप अंशको साकार तथा शेष गुणरूप अंशोंको निराकार क्यों कहते हो ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि विशेषकेही समान सामान्यभी वास्तविक है तो फिर आत्माके ज्ञानरूप विशेषगुणको साकार और शेष गुणोंको सामान्यरूप होनेसे अनाकार क्यों कहते हो ?

समाधान ।

सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत् ।
यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥ ३९४ ॥

अन्वयार्थ — (**सत्यं**) ठीक है क्योंकि (**अर्थात्**) वास्तवमें जैसे (**ज्ञानं सामान्यवत्**) ज्ञान-सामान्यधर्मसे युक्त होता है वैसेही वह (**विशेषवत् च अस्ति**) विशेषधर्मसभी युक्त होता है परन्तु उनमेसे

नोट·— श्लोक नं० ३७३ से ( ) ऐसे कोष्ठके अदर दिया गया पाठ माणिकचंद दि० जै० ग्रंथमालामें प्रकाशित लाटिसंहितासे उद्धृत किया है ।

१ ला. स में, ' किंचित्स्यादनाकारम् ' ऐसाभी पाठ है ।

(यत्) जो (सामान्व) सामान्यधर्मयुक्त होता है वह (अनाकार) अनाकार और (यत्) जो (विशेषभाक्) विशेषधर्मसे युक्त होता है वह (साकारं) साकार कहलाता है।

भावार्थः— यहा ज्ञान शब्द चेतनावाचक है। और चेतनाके दो भेद (आकार) माने है १ ज्ञानाकार २ ज्ञेयाकार (ज्ञेयाकार शब्दका अर्थ, ज्ञानके विना आत्माके अनन्त गुणोंका सामान्याकार होता है) उनमेंसे चेतनाकी ज्ञानाकार परिणतिको ज्ञान कहते है। और शेष गुणोंकी परिणतिको ज्ञेयाकार शब्दसे कहते है।

ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः[1]।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः ॥ ३९५ ॥

अन्वयार्थः— (ज्ञानात् विना) ज्ञानके विना (सर्वे गुणाः) शेष सब गुण (सल्लक्षणकिताः प्रोक्ताः) केवल सतरूप लक्षणसेही लक्षित होते है इसलिए (सामान्यात् वा विशेषात् वा) सामान्य अथवा विशेष दोनोंही अपेक्षासे (सत्यं आकारमात्रकाः न) वास्तवमें वे अनाकार रूपही होते हैं अर्थात् अर्थ विकल्पात्मक नहीं होते हैं।

भावार्थ — केवल ज्ञान गुणकोही अर्थविकल्पात्मक होनेसे साकार कहते है। और ज्ञानके विना शेष सब गुणोंको अर्थ विकल्पात्मक नहीं होनेसे अनाकार कहते है। इसलिए वास्तवमें ज्ञानके विना शेष सब गुण सामान्यरूपसे अथवा विशेषरूपसे केवल अनाकाररूप है।

ततो वक्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुनः।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥ ३९६ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिये (निर्विकल्पस्य वस्तुनः) निर्विकल्पवस्तुके कथनको (वक्तुं अशक्यत्वात्) अनिर्वचनीय होनेके कारण (ज्ञानद्वारा तदुल्लेखं समालेख्य) ज्ञानके द्वारा उन सामान्यात्मक गुणोंका उल्लेख करके (निरूप्यते) उनका निरूपण किया जाता है।

---

१ ला. सं में, ' सन्त्यनाकारलक्षणा. , ऐसाभी पाठ है।

भावार्थः— ज्ञानके बिना शेप सब गुण अनाकाररूप होनेसे निर्विकल्पक हैं। और निर्विकल्पक, वस्तु कही नहीं जासकती है इसलिए उन सामान्यात्मक गुणोंके अविनाभावी ज्ञानकी पर्यायोंमें उन गुणोंका आरोप करके ज्ञानके द्वारा उनका उल्लेख किया जाता है।

स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः।
नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥ ३९७ ॥

अन्वयार्थः— (ज्ञानं) ज्ञान (एकशः) युगपत् (स्वापूर्वार्थद्वयोः एव) स्व और अपूर्व दोनोंही अर्थोंका (ग्राहकं) ग्राहक है अत. (अत्र) इस स्वपर ग्राहक ज्ञानके लक्षणमें (ज्ञानं) ज्ञान (अपूर्वार्थः न) अपूर्व अर्थ नहीं होजाता है किंतु (ज्ञान) ज्ञान (ज्ञानं) ज्ञानरूप और (पर परः) पर, पररूपही रहता है।

भावार्थः— उक्त कथनकी पुष्टिके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि ज्ञान स्व और अपूर्व दोनोंही अर्थोंका ग्राहक है ऐसा माननेसे स्व तथा अपूर्व अर्थमें अनेकताही सिद्ध होती है। इसलिए ज्ञान अपूर्वार्थ नहीं होजाता है और अपूर्वार्थ ज्ञान नहीं होजाता है किंतु ज्ञान, ज्ञान तथा अपूर्वार्थ, अपूर्वार्थही रहता है।

स्वार्थो वै ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः।
परार्थस्वार्थसंबन्धी गुणाःशेष सुखादयः ॥ ३९८ ॥

अन्वयार्थः— (वै) निश्चयसे (ज्ञानमात्रस्य चित) ज्ञानात्मक आत्माका (एकं ज्ञान गुणः) एक ज्ञान गुण (स्वार्थः) स्वार्थ है और (शेपे सुखादय) शेप सुखादिक गुण (स्वार्थसंबंधिगुणाः परार्थाः) उस ज्ञानरूप स्वार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले गुण परार्थ है।

भावार्थः— ज्ञानको स्व और ज्ञानके विषयभूत सुखादिकको परार्थ होनेसे ज्ञान स्व तथा पदार्थका युगपत् ग्राहक कहा जाता है।

तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयम्।
ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाज्ज्ञानं सुखादिमत् ॥ ३९९ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) उक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (सुखदु खादि भाव) सुखदु खादिक भाव (स्वयं जीव गुणः) स्वयं जीवके गुण हैं और (ज्ञानं नूनं तद्वेदक) ज्ञान निश्चयसे उनका विषय करनेवाला है इसलिये (अर्थात्) वास्तवमें (ज्ञान सुखादिमत् न) ज्ञान सुख आदि मय नहीं है।

भावार्थ — उक्त कथनका खुलासा यह है कि वास्तवमें ज्ञान जीवके सुखदुःखादिक भावोंकाही वेदक है। ज्ञान, परपदार्थका वेदक केवल उपचारसे कहा जाता है। अत ज्ञान सुखदु खादिरूप नहीं है। किंतु ज्ञान, ज्ञान है और अपूर्वार्थरूप सुखदुःखादिभाव, सुखदु खादिरूपही है ज्ञानरूप नहीं।

साराश यह है कि इस कथनसे ज्ञान और सुखादिक एक द्रव्यके गुण होकरकेभी साधक होनेसे ज्ञान साकार तथा ज्ञेय होनेसे शेष गुण निराकार, सिद्ध होते हैं। क्योंकि ज्ञान, ज्ञायक है और शेष गुण ज्ञेय हैं।

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम् ।
तस्माद्वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥ ४०० ॥

अन्वयार्थः— (वस्तुत.) वास्तवमें (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व (सूक्ष्मं) सूक्ष्म है और (वाचां अगोचरं) वचनोंके अत्यन्त अगोचर (अस्ति) है (तस्मात्) इसलिए (पुमान्) कोईभी जीव (विधिक्रमात) उसके विधिपूर्वक (वक्तुं च श्रोतु च) कहने तथा सुननेका (अधिकारी न) अधिकारी नहीं है।

भावार्थः— सम्यक्त्व आत्माका एक गुण है और वह सूक्ष्म तथा वचनोंके अगोचर है। इसलिये कोईभी पुरुष उसके स्वरूपके कथन करनेमें व सुननेमें अधिकारी नहीं है। क्योंकि वचनगोचर पदार्थही कहा और सुना जाता है वचनके अगोचर पदार्थके विषयमें वक्तापना तथा श्रोतापना नहीं घटसकता है।

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः ।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत्परमं पदम् ॥ ४०१ ॥

अन्वयार्थः— (चितः साधनादिविधौ) आत्माकी साधन आदि विधिमें (एकं ज्ञानं एव प्रसिद्धं) केवल ज्ञानही एक प्रसिद्ध गुण है (च) तथा ज्ञा नही (स्वानुभूत्येक हेतुः) स्वानुभवमें एक कारण है (तस्मात्) इसलिए (तत्) वह ज्ञान (परमं पदं) परमपद है।

भावार्थः— इतर गुणोंको अनिर्वचनीय होनेसे एक ज्ञान नामा गुणही आत्माकी सिद्धि आदिमें तथा स्वानुभूतिमें हेतु पडता है। अतः ज्ञानही परमपद है।

तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद्व्यतिरेकतः ॥ ४०२ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र अपि) और उन सम्यग्दर्शनके लक्षणमेंभी (या आत्मानुभूतिः) जो आत्मानुभूति है (सा आत्मनः विशिष्ट ज्ञान) वह आत्माका विशेष ज्ञान है तथा वह स्वानुभूतिरूप विशेषज्ञान (सम्यक्त्वेन) सम्यक्त्वके साथ (अन्वयात् व्यतिरेकतः) अन्वयव्यतिरेकसे (अविनाभूतं) अविनाभावी है।

भावार्थः— उन सम्यग्दर्शनके लक्षणमें जो स्वानुभूतिरूप ज्ञान है वह सम्यग्दर्शनके विना आत्मामें नहीं होता है।

ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः।
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात्साचेच्छुद्धनयात्मिका ॥ ४०३ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसालिए (तयोः) सम्यक्त्व और स्वानुभूतिमें (व्याप्तेः सद्भावतः) व्याप्ति होनेके कारण (वक्तुं योग्यता अस्ति) वचनके अगोचरभी सम्यक्त्व वचनगोचर होजाता है अत (सा स्वानुभूतिः शुद्धनयात्मिका चेत्) यदि शुद्ध नयात्मिक हो तो (सम्यक्त्व स्यात) वह स्वानुभूति सम्यक्त्व कहलासकती है।

भावार्थः— इललिये सम्यग्दर्शन और स्वानुभूतिरूप सम्यग्ज्ञानकी व्याप्ति होनेके कारण सम्यग्दर्शनके निर्विकल्प होनेपरभी वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शनकेही साथ होनेवाली स्वानुभूतिके द्वारा कहा जाता है। इसलिये स्वानुभूतिको सम्यक्त्व कह सकते है। यदि वह शुद्धनयात्मिक हो तो।

किंचास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः।
नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा ॥ ४०४ ॥

अन्वयार्थः— (किं च) इतना विशेष है कि (सम्यक्त्वानुभवद्वयोः) सम्यग्दर्शन और स्वानुभव इन दोनोंमें (विषमव्याप्तिः अस्ति) विषमव्याप्ति है क्योंकि (उपयोगे) उपयोगमें अर्थात् उपयोगरूप स्वानुभूतिके साथ (समव्याप्तिः न अस्ति) सम्यक्त्वकी समव्याप्ति नहीं है (तु) किंतु (लब्धिविधौ सा) लब्धिमें अर्थात् लब्धिरूप स्वानुभूतिके साथही सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है ।

भावार्थः— दुतरफा व्याप्तिको समव्याप्ति कहते है । और वह सहचर पदार्थोंमें होती है । जैसे जहां २ रूप रहता है वहां २ रस रहता है तथा जहां २ रस रहता है वहां २ रूप रहता है । तथा इकतरफा व्याप्तिको विषमव्याप्ति कहते है और वह जिनपदार्थोंमें कार्यकारण भाव होता है उनमें होती है जैसे अग्निके होनेपरही धूम होता है अन्यथा नहीं । अतः अग्नि और धूमकी विषमव्याप्ति है । विषमव्याप्तिके होनेपर यह तो निश्चित होजाता है कि कार्यकी उत्पत्ति कारणकेही सद्भावमें होती है । परन्तु कारणके सद्भावमें कार्यका सद्भाव अवश्यंभावी नहीं कहा जाता है । इसीसरह सम्यक्त्व तथा स्वानुभूतिमेंभी विषमव्याप्ति है । कारणकि सम्यक्त्व कारण है और सम्यग्ज्ञानरूप स्वानुभूति कार्य है इसलिए उपयोगरूप स्वानुभूतके होनेपर सम्यक्त्वका बोध होता है । परन्तु सम्यक्त्वके होनेपर उपयोगरूप स्वानुभूति होतीही है यह नहीं कहा जाता है क्योंकि छद्मस्थ सम्यग्दृष्टिके स्वानुभूतिसे भिन्न उपयोगभी पाया जासकता है किंतु सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके साथ स्वानुभूत्यावरणकाभी क्षयोपशम होता है । अतः लब्धिरूप स्वानुभूतिके साथ सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है ।

आगे इसी अर्थका दो पद्यों द्वारा खुलासा करते है ।

तद्यथा स्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि ।
अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत् ॥ ४०५ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) उक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (स्वानुभूतौ) स्वानुभवके होनेपर (वा) अथवा (तत्काले वा) स्वानुभूतिके कालमेंभी (तदात्मनि) उस आत्मामें (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व (अवश्यं हि अस्ति) अवश्यही ज्ञात होना है (यस्मात्) क्योंकि (तद्विना) उस सम्यग्दर्शनरूप कारणके विना (सा अपि न) वह स्वानुभूतिरूप कार्यभी नहीं होता है ।

भावार्थः— स्वानुभूति कार्य है और सम्यक्त्व कारण है। अतः उपयोगरूप स्वानुभूतिके साथ सम्यक्त्वकी विषमव्याप्ति सिद्ध होती है।

यदि वा सति सम्यक्त्वे स स्याद्वा नोपयोगवान् ।
शुद्धस्यानुभवस्तत्र लब्धिरूपोस्ति वस्तुतः ॥ ४०६ ॥

अन्वयार्थः— (**यदि वा**) अथवा इसप्रकारसेभी विषमव्याप्ति कही जाती है कि (**सम्यक्त्वे**
सति) सम्यग्दर्शनके होनेपर (**सः**) वह आत्मा (**उपयोगवान् स्यात् वा न**) स्वानुभूतिके उपयोगही सहित हो
ऐसा कोई नियम नहीं है परन्तु इतना अवश्य है कि (**वस्तुतः**) वास्तवमें (**तत्र लब्धिरूपः शुद्धस्य अनुभवः**
अस्ति) सम्यक्त्वके होनेपर लब्धिरूप स्वानुभूति रहती है।

भावार्थ.— यद्यपि सम्यक्त्वके होनेपर स्वानुभूतिही होती है अन्य विषयमें सम्यग्दृष्टिका उपयोग होताही
नहीं है ऐसा नियम नहीं है परन्तु सम्यक्त्वके होनेपर स्वानुभूतिरूप उपयोगके कारणभूत स्वानुभूत्यावरणकर्मके क्षयोप-
शमजन्य लब्धिरूप स्वानुभूति अवश्य रहती है ऐसा नियम है। क्योंकि दर्शनमोहका उपशम आदि और स्वानुभूत्यावरण
कर्मका क्षयोपशम युगपत् होता है। इसलिये उस स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमसे होनेवाली लब्धि (विशुद्धि) सम्य-
क्त्वके उत्पन्न होनेपर अवश्य होती है। अतः लब्धिरूप स्वानुभूति और सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है। तथा उपयोगरूप
स्वानुभूतिकी सम्यक्त्वके साथ विषम व्याप्ति है।

आगे फिरभी इसी अर्थका खुलासा करते है।

हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेस्त्यवश्यतः ।
तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वतः ॥ ४०७ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र अपि हेतुः अस्ति**) सम्यक्त्वके होनेपर नियमपूर्वक लब्धिरूप स्वानुभूतिके रहनेमें
कारण यह है कि (**सम्यक्त्वोत्पत्तिकाले**) सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके समय (**अवश्यतः**) अवश्यही (**स्वतः**)
स्वय (**तज्ज्ञानावरणस्य उच्चैः अवस्थान्तरं अस्ति**) स्वानुभूत्यावरण कर्म काभी यथायोग्य क्षयोपशम होता है

भावार्थः— सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके समय स्वानुभूत्यावरणकर्मकाभी क्षयोपशम होता है। इसलिये सम्यक्त्वके

साथ स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमजन्य लब्धिकी समव्याप्ति कही जाती है।

क्योंकि।

यस्माज्ज्ञानमनित्यं स्याच्छद्मस्थस्योपयोगवत्।
नित्यं ज्ञानमच्छद्मस्थे छद्मस्थस्य च लब्धिमत् ॥ ४०८ ॥

अन्वयार्थः— (यस्मात्) क्योंकि (छद्मस्थस्य) छद्मस्थ सम्यग्दृष्टिजीवोंका (उपयोगवत् ज्ञानं) उपयोगात्मक ज्ञान (अनित्यं स्यात्) अनित्य होता है (च) और (अछद्मस्थे ज्ञान नित्यं) केवलीका ज्ञान नित्य होता है और (छद्मस्थस्य) छद्मस्थ सम्यग्दृष्टिकाभी सम्यक्त्वके सद्भावतक (लब्धिमत्) लब्धिरूप ज्ञान नित्य रहता है।

भावार्थ— स्वानुभूतिके साथ सम्यक्त्वकी विषम व्याप्तिमें कारण यह है कि छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियोंका उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य होता है। तथा केवलीका उपयोगात्मक ज्ञान नित्य होता है। इसलिये उपयोगात्मक स्वानुभूतिके साथ सम्यक्त्वकी विषमव्याप्ति है। और जबतक छद्मस्थोंके सम्यक्त्व रहता है तबतक स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशमभी अवश्य रहता है इस अपेक्षासे छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियोंकी लब्धिरूप स्वानुभूतिभी नित्य कहलाती है। अतः लब्धिरूप स्वानुभूतिके साथ सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है।

नित्यं सामान्यमात्रत्वात् सम्यक्त्वं निर्विशेषतः।
तत्सिद्धा विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ॥ ४०९ ॥

अन्वयार्थः— तथा (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व (निर्विशेषतः सामान्यमात्रत्वात्) अपने अवान्तर-विशेषोंकी अपेक्षा न करके केवल सामान्यरूप होनेके कारण (नित्यं) नित्य है (तत्) इसलिये (सम्यक्त्वानुभवद्वयोः) सम्यक्त्व और उपयोगात्मक स्वानुभूतिमें (विषमव्याप्तिः सिद्धा) विषमव्याप्ति सिद्ध होती है।

भावार्थः— अपने अवान्तर विशेषोंकी गौण तथा सामान्यमात्रकी मुख्य विवक्षासे सम्यक्त्व नित्य है अतः छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियोंके उपयोगात्मक ज्ञानको अनित्य, तथा सामान्यपनेसे सम्यक्त्वको नित्य होनेसे, सम्यक्त्व और उपयोगात्मक स्वानुभूतिकी विषमव्याप्ति सिद्ध होती है समव्याप्ति नहीं।

अपि सन्ति गुणाः सम्यक्श्रद्धानादिविकल्पकाः ।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥ ४१० ॥

अन्वयार्थः— (अधुना) अब जो (सम्यक्श्रद्धानादिविकल्पकाः अपि) सम्यक्श्रद्धानादिक विकल्पवालेभी (गुणा सन्ति) सम्यग्दर्शनके गुण–लक्षण है (तेषां) उनका (उद्देशः) उद्देश (लक्षणं) लक्षण और (तत्परीक्षा) उनकी परीक्षा (उच्यते) कही जाती है ।

भावार्थ— अब जो सम्यक्श्रद्धानादिकभी सम्यग्दृष्टिके लक्षण कहे जाते हैं उनका उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा पूर्वक निरूपण किया जाता है ।

तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः ।
चरणं च यथाम्नाय (यात्) मर्थात्तत्वार्थगोचरम् ॥ ४११ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन तीनोंमें (नाम उद्देशः) नाममात्र कथनको उद्देश कहते है (यथा) जैसेकि जो (श्रद्धारुचिप्रतीतयः) श्रद्धा, रुचि, प्रतीति (च) और (चरण) स्वरूपाचरण (यथाम्नायं) आम्नायके अनुसार (अर्थात्) वास्तवमें (तत्वार्थगोचरं) तत्वार्थविषयक होते है, उन्हें सम्यक्त्व कहते है ।

भावार्थ— आगमानुसार तत्वार्थविषयक श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और आचरणको सम्यग्दर्शन कहना सम्यग्दर्शनका उद्देश है । यहापर ' तत्वार्थगोचर ' यह विशेषण शेष तीनोंमेंभी अन्त्य दीपकके न्यायानुसार सम्बद्ध होजाता है।

आगे प्रत्येकका स्पष्टीकरण करते हैं ।

तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा ।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥ ४१२ ॥

अन्वयार्थः— (तत्वार्थाभिमुखी) तत्वार्थोंके विषयमें उन्मुख (बुद्धिः) बुद्धि (श्रद्धा) श्रद्धा कहलाती है (तथा सात्म्यं) तत्वार्थोंके विषयमें तन्मयपना (रुचि) रुचि कहलाती है (तु) और (तथा इति स्वीकारः) तत्वार्थका स्वरूप जिसप्रकार है वह उसीप्रकार है ऐसा स्वीकार करना (प्रतीतिः स्यात्) प्रतीति कहलाती है तथा (चरणं क्रिया) उसके अनुसार आचरण करना, चरण कहलाता है ।

भावार्थः— तत्वार्थोंके विषयमें उन्मुख बुद्धिको श्रद्धा, तन्मय बुद्धिको रुचि तथा वे जीवादिक पदार्थ वैसेही हैं अन्यथा नहीं हैं इसप्रकारकी बुद्धिको प्रतीति और तदनुकूल आचरणको चरण कहते हैं।

अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवात्र [र्थं] पर्ययात्।
चरणं वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥ ४१३ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) इन चारोंमेंसे (अर्थात्) वास्तवमें (आद्यत्रिकं) आदिके श्रद्धा रुचि और प्रतीति ये तीन (ज्ञानस्य एव पर्ययात्) ज्ञानकीही पर्याय होनेसे (ज्ञानं) ज्ञानरूप है तथा (वाक्कायचेतोभिः) वचन, काय, और मनसे (शुभकर्मसु व्यापारः) शुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति करना (चरणं) चरण कहलाता है।

भावार्थः— उक्त श्रद्धादिक चारोंमें श्रद्धा रुचि और प्रतीति ये तीनों तो ज्ञानकी पर्याय होनेसे ज्ञानरूप पडते हैं। तथा मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तिरूप चरण चारित्ररूप पडता है।

व्यस्ताश्चैते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा।
सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ॥ ४१४ ॥

अन्वयार्थः— (एते व्यस्ताः) ये श्रद्धा आदि चारों पृथक् २ रूपसे (वा) अथवा (समस्ताः च) समस्तरूपसेभी (सम्यग्दृष्टेः) सम्यग्दर्शनके (लक्षणं न वा) वास्तवमें लक्षणस्वरूप नहीं हो सकते हैं (यत्) क्योंकि ये श्रद्धादिक (सपक्षे वा विपक्षे) सपक्ष अथवा विपक्ष दोनोंही अवस्थामें (सन्ति वा) होतेभी है (वा) और (न वा सन्ति) नहींभी होते है।

भावार्थः— श्रद्धादिक चारोंही ज्ञान व चारित्रके भेद होनेसे सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि दोनोंकेही पायेजा सकते है। किन्तु केवल सम्यग्दृष्टिके ही पायेजासकते है ऐसा नियम नहीं है इसलिये ये चारों ही व्यस्त रूपसे अथवा समस्तरूपसे सम्यग्दर्शनके अतरंग लक्षण नहीं हो सकते है

स्वानुभूतिसनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः।
स्वानुभूतिं विनाऽऽभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥ ४१५ ॥

अन्वयार्थ — (चेत्) यदि (श्रद्धादयः) श्रद्धा आदि (स्वानुभूतिसनाथाः) स्वानुभव सहित हों तो वे (गुणा सन्ति) सम्यग्दृष्टिके गुण--लक्षण कहलाते है और (अर्थात) वास्तवमें (स्वानुभूति विना) स्वानुभवके विना (श्रद्धादयः गुणा न ' किंतु ' आभासाः) उक्त श्रद्धादिक सम्यग्दर्शनके लक्षण नहीं कहलाते है किंतु लक्षणाभास कहलाते है ।

भावार्थ — यदि उक्त श्रद्धादिक गुण स्वानुभूति सहित हों तो सम्यग्दर्शन कहे जाते है अन्यथा नहीं ।

तत्स्माच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत् ।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत् स्वतः ॥ ४१६ ॥

अन्वयार्थ— (तस्मात् स्वानुभूतिमत् सम्यक्त्व स्यात्) इसलिए यदि वह स्वानुभूति सहित सम्यग्दर्शन है तो (सर्वे श्रद्धादयः ' स्युः ') सम्पूर्ण श्रद्धादिक, श्रद्धादिक कहे जाते है और यदि (' तत् ') सम्यक्त्व न) वह स्वानुभूतिसहित सम्यग्दर्शन नहीं है तो (स्वत) स्वयंही वे श्रद्धादिक (मिथ्याश्रद्धादिवत्) मिथ्याश्रद्धादिकके समान (तदाभासाः) श्रद्धाके समान मालूम होनेवाले श्रद्धाभासादिक कहे जाते है ।

भावार्थः— उक्त कथनका साराश यह है कि यदि सम्यक्त्वपूर्वक श्रद्धादिक रहे तो सम्यक्त्वके लक्षण--गुण कहे जाते है । और यदि सम्यक्त्वके विना श्रद्धादिक रहे तो श्रद्धाभासादिक कहे जाते है । इसलिए सम्यक्त्वके विना श्रद्धादिक उसके लक्षण नहीं कहे जाते है ।

सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः ।
सपक्षवद्विपक्षेपि वृत्तित्वाद्व्यभिचारिणः ॥ ४१७ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां विना) सम्यक् और मिथ्या विशेषणोंके विना (श्रद्धादिमात्रकाः) केवल श्रद्धा आदिकी (सपक्षवत) सपक्षके समान (विपक्षे अपि) विपक्षमेंभी (वृत्तित्वात्) वृत्ति रहनेके कारण (व्यभिचारिणः) वे व्यभिचार दोषसे युक्त है।

भावार्थः— सम्यक्त्वपूर्वक श्रद्धादिकको सम्यग्दर्शनके लक्षण तथा सम्यक्त्वके विना श्रद्धादिकको मिथ्या कहनेमें कारण यह है कि विना सम्यक् और मिथ्या विशेषणके जो सामान्य श्रद्धादिक है वे सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टिमे

भी पाये जाते है। इसलिए किसी नियामकके अभावमें उनको सम्यक्त्वका लक्षण कहना व्यभिचार दोषसे युक्त है।

खुलासा।

अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिश्रद्धादयो यतः।
मिथ्या श्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो ततः (यतः) ॥ ४१८ ॥

अन्वयार्थः— (यत) क्योंकि (सम्यग्दृष्टिश्रद्धादयः) सम्यग्दृष्टि जीवके श्रद्धादिक (अर्थात्) वास्तवमें (श्रद्धादयः) श्रद्धा आदिक है और (मिथ्याश्रद्धादयः) मिथ्यादृष्टिजीवके श्रद्धा आदिक (मिथ्या) मिथ्या है (ततः) इसलिए (अर्थात् श्रद्धादयः न) मिथ्यादृष्टिके श्रद्धादिक वास्तविक श्रद्धा आदिक नहीं है।

भावार्थः— जिसकारणसे सम्यग्दृष्टि जीवकेही श्रद्धादिक, यथार्थ श्रद्धादिक गुण कहलाते है। मिथ्यादृष्टि जीवके यथार्थ नहीं कहलाते है तिसकारणसे मिथ्यादृष्टि जीवके जो श्रद्धादिक होते है वे मिथ्या श्रद्धादिकही है। यथार्थ नहीं।

शंका।

ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात्।
सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तत्कुतोर्थतः॥ ४१९ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि जब (श्रद्धामात्रैकलक्षणात्) केवल श्रद्धा लक्षण घट जानेसे (तत्त्वरुचिः) तत्वोंमें रुचि (श्रद्धा) श्रद्धा कहलाती है (तत्) तो फिर (सा) वह श्रद्धा (अर्थतः) अर्थदृष्टिसे (सम्यङ् मिथ्याविशेषाभ्या) सम्यक् और मिथ्या इन दो विशेषणोंके द्वारा (द्विधाकुतः) सम्यक् श्रद्धा तथा मिथ्याश्रद्धा इस प्रकार दो तरहकी कैसे कही जासकती है।

भावार्थ.— शंकाकारका कहना है कि जब सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि दोनोंकेही तत्वरुचिरूप श्रद्धा एकसी होती है तो फिर सम्यक् और मिथ्या विशेषणोंसे उस श्रद्धाके दो भेद क्यों किये जाते है अर्थात् श्रद्धाको सम्यक् तथा मिथ्या नहीं कहना चाहिये।

समाधान।

नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धा स्वानुभवद्वयोः ।
नूनं नानुपलब्धेऽर्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥ ४२० ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (श्रद्धा स्वानुभवद्वयोः) श्रद्धा और स्वानुभव इन दोनोंमें (समव्याप्तिः) समव्याप्ति है कारण कि (नूनं) निश्चयसे (अनुपलब्धे अर्थे) सम्यक्ज्ञानके द्वारा अगृहीत पदार्थमें (श्रद्धा) सम्यक्श्रद्धा (खरविषाणवत् न) खरविषाणके समान होही नहीं सकती है।

भावार्थ — शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि सम्यक् श्रद्धा और स्वानुभूतिमें समव्याप्ति है। अर्थात् स्वानुभूति तथा समीचीन श्रद्धा दोनोंही एकसाथ होते है। कारणकि जिन पदार्थोंको स्वानुभूति सम्यग्ज्ञानीका ज्ञान, विषय नहीं करता है उन पदार्थोंमें समीचीन श्रद्धाभी नहीं होती है।

विना स्वात्माभूनुतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः ।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः ॥ ४२१ ॥

अन्वयार्थः— (तु) और (या) जो (स्वात्मानुभूतिं विना) स्वात्मानुभूतिके विना (श्रुतमात्रतः श्रद्धा) केवल शास्त्रोंके श्रवणसे श्रद्धा होती है वह (तत्त्वार्थानु गता अपि) तत्त्वार्थके अनुकूल होनेपरभी (अर्थात् अनुपलब्धितः) वास्तवमे शुद्धआत्माकी अनुपलब्धिसे— वास्तवमे उपलब्धि न होनेके कारण (श्रद्धा न) शुद्ध श्रद्धा नही कही जाती है।

भावार्थः— यद्यपि भद्रताके कारण केवल व्यवहार रूपसे किन्ही २को जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान हो जाता है। किन्तु सम्यक्त्वका अभाव होनेके कारण अर्थात् स्वात्मानुभूति के नहीं होनेके कारण उनकी वह श्रद्धा वास्तविक श्रद्धा नहीं कहलाती है।

लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत् ।
नोपलब्धिरिहार्थात्सा (ख्याता) तच्छेषानुपलब्धिवत् ॥४२२ ॥

अन्वार्थः— (इह सदसतो अविशेषात् वा) यद्यपि मिथ्यादृष्टिकेभी इन नव तत्वोंमें सत् और असत्के स्वरूपमें किसीभी प्रकारकी विशेषताका ज्ञान न होनेसे (उन्मत्तवत्) उन्मत्त पुरुषकी तरह (लब्धिः स्यात्) तत्त्वोंकी उपलब्धि हो जाती है तथापि (सा) वह श्रद्धा (अर्थात्) वास्तवमें (तच्छेषानुपलब्धिवत्) उस सम्यग्ज्ञानके विषयसे रहित शेप पदार्थोंकी अनुपलब्धि के समान (उपलब्धिः न) उपलब्धि नहीं कहलाती है।

भावार्थ— मिथ्यादृष्टिके सत् व असत्में विशेषतापूर्वक ज्ञान न होनेसे जो तत्वार्थश्रद्धान होता है वह वास्तविक नहीं कहा जासकता है किंतु जैसे उसके ज्ञात विषयोंसे भिन्न अज्ञात विषयोंमें उपलब्धि नहीं होती है वैसेही विना विशेषपूर्वक जाने हुए पदार्थोंमेंभी होनेवाली उसकी उपलब्धि अनुपलब्धिकेही समान है कार्यकारी नहीं है। उदाहरणार्थ जैसे उन्मत्त पुरुष, माता और पत्नीमें विना किसी विशेषताके कभी माताको माता तथा पत्नीको पत्नी कहदेनेपरभी अनुन्मत्त नहीं कहलाता है वैसेही सत् असत्की वास्तविक विशेषताको नजानकर तत्वार्थोंमें की हुई श्रद्धाभी यथार्थ श्रद्धा नहीं कहलाती है।

ततोऽस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम्।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात्सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ॥ ४२३ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) स्वात्मानुभूतिके विना श्रद्धा समीचीन श्रद्धा नहीं होती है इसलिये (यत्) जो (सम्यक्त्व लक्षणं) सम्यग्दर्शनकी लक्षणभूत (श्रद्धा) श्रद्धा (यौगिकी रूढि अस्ति) यौगिक रूढि–निरूक्तिसे सिद्ध अर्थवाली है (तदपि) वहभी (अर्थात्) वास्तवमेंभी (स्वत्मानुभूतिवत्) स्वात्मानुभूतिके समान (सूक्तं अविरुद्धं स्यात्) अविरुद्ध है।

भावार्थः— स्वानुभूति सहित श्रद्धाही वास्तविक श्रद्धा कहलाती है इसलिए योगरूढ समीचीन श्रद्धाको सम्यग्दर्शनका लक्षण कहना स्वानुभूतिके समानही अविरुद्ध कथन है।

जैसे स्वानुभूति सहित होनेसे श्रद्धाको सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते है वैसेही स्वानुभूतिसहित रुचि, प्रतीति और चरणकोभी सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते है। इतना यहा और समझना चाहिए, कारण ग्रन्थकारने केवल श्रद्धाका यह विवेचन किया है।

अब आगे—प्रशमादिक सम्यग्दर्शनके लक्षण कैसे होते हैं इस बातका विचार करते हैं।

गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेःप्रशमादयः।
बाहिर्दृष्ट्या यथास्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणाः ॥ ४२४ ॥

अन्वयार्थः— (सद्दृष्टेः) सम्यग्दृष्टिजीवके (प्रशमादयः च) प्रशमादिकभी (ये अन्ये गुणाः प्रसिद्धा) जो अन्य गुण प्रसिद्ध है (ते) वे भी (बहिर्दृष्ट्या) बाह्यदृष्टिसे (यथास्वं) यथायोग्य (सम्यक्त्व लक्षणाः) सम्यक्त्वके लक्षण (सन्ति) होते हैं।

भावार्थः— जो शास्त्रान्तरोंमें श्रद्धादिकके समान प्रशमादिक भी सम्यग्दर्शन के लक्षण बताये हैं वे भी बाह्यदृष्टिसे यथायोग्य रीतिसे सम्यग्दर्शनके लक्षण हैं।

तत्राद्यःप्रशमो नाम संवेगश्चगुणःक्रमात्।
अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ ४२५ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन प्रशमादिकोंमेंसे (आद्य) पहला (प्रशमः नाम गुणः) प्रशम गुण है (च) और इसके बाद (क्रमात्) क्रम २ से (संवेगः) संवेग (अनुकम्पा) अनुकम्पा (तथा) तथा (आस्तिक्यं) आस्तिक्य गुण है, अब (तल्लक्षणं वक्ष्ये) उनका लक्षण कहता हूं (यथा) जैसे कि।

भावार्थ— प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार सम्यग्दृष्टिके गुण–लक्षण है। अब आगे उन चारोंहीके लक्षणको क्रमपूर्वक कहता हूं।

प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥ ४२६ ॥

अन्वयार्थः— (विषयेषु) पचेंद्रियोंके विषयोंमें (च) और (लोकासंख्यातमात्रेषु उच्चैः भावक्रोधादिकेषु) लोकके असंख्यातव भाग प्रमाण तीव्र भावक्रोधादिकोंमे (स्वरूपात् शिथिलं मनः) स्वरूपसे शिथिल मनका होनाही (प्रशमः) प्रशम कहलाता है।

भावार्थ — पाँचों इंद्रियोंके विषयोंमें तथा असंख्यातलोक प्रमाण तीव्र भावक्रोधादिकोंमें स्वभावसेही मनका शिथिल होना प्रशम कहलाता है।

सद्यः कृताऽपराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित्।
तद्वधादि विकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥ ४२७ ॥

अन्वयार्थः— (यद्वा) अथवा (सद्यः कृतापराधेषु जीवेषु) उसी समय अपराध करनेवाले जीवोंपर (जातुचित्) कभीभी (तद्वधादिविकाराय) उनके वध आदिरूप विकारके लिए (बुद्धिः न) बुद्धिका नहीं होना (प्रशम. मतः) प्रशम माना गया है—कहलाता है।

भावार्थ— अथवा अपराधियोंके प्रति भी मन्दकषायपनेके कारण प्रत्यपकार करनेके लिए बुद्धिकी अप्रवृत्तिको प्रशम कहते है।

हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम्।
अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोंऽशतः ॥ ४२८ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उस प्रशमभावकी उत्पत्तिमें (नूनं) निश्चयसे (अनन्तानुबन्धिनां) अनंतानुबन्धी कषायोंका (उदयाभावः) उदयाभाव (अपि) और (शेषकषायाणां) शेष अप्रत्याख्यानादि कषायोंका (अंशतः) अंशरूपसे (मन्दोदयः) मन्द उदय (हेतुः स्यात्) कारण है।

भावार्थः— अनन्तानुबन्धी कषायोंका उदयाभाव तथा अप्रत्याख्यानावरणादि शेष कषायोंका मन्दोदयही प्रशमभावका जनक होता है।

आरम्भादि क्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः।
अन्तः शुद्धेः प्रसिद्धत्वान्न हेतुः प्रशमक्षतेः ॥ ४२९ ॥

अन्वयार्थः— (तस्य) यद्यपि प्रशमभावयुक्त सम्यग्दृष्टिके (दैवात् अकामतः) दैवयोगसे अनिच्छापूर्वक (आरम्भादिक्रिया वा स्यात्) आरम्भ आदि क्रियाभी होती है तथापि (अन्तः शुद्धेः) अनन्तानुब-

क्योंकि अभाव आदिसे अभ्यन्तर शुद्धिकी (प्रसिद्धत्वात्) प्रसिद्धि होनेके कारण वह क्रिया (प्रशमक्षतेः हेतुः न) उसके उस प्रशमगुणमें बाधा पहुंचानेके लिए कारण नहीं होसकती है।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिके चारित्रमोहके उदयवश जो आरम्भादि क्रिया होती है वह, उसके अन्तरंगमें शुद्धिके विद्यमान रहनेके कारण प्रशममें बाधक नहीं होसकती है।

सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः ।
अन्यत्र प्रशमंमन्येऽप्याभासः स्यात्तदत्ययात् ॥ ४३० ॥

अन्वयार्थ —(सम्यक्त्वेन अविनाभूतः) सम्यक्त्वके साथ अविनाभाव रखनेवाला (प्रशमः) प्रशमभाव (परमः गुणः) सम्यग्दृष्टिका परम गुण है कारण (प्रशमंमन्ये अपि अन्यत्र) अपनेमें प्रशमका झूठा अहंकार रखनेवालेभी मिथ्यादृष्टिके (तदत्ययात्) सम्यक्त्वका सद्भाव न रहनेसे (आभासः स्यात्) प्रशमाभास होता है। सच्चा प्रशमभाव नहीं होता है।

भावार्थः— प्रशमगुण सम्यग्दर्शका अविनाभावी है इसलिए सम्यग्दृष्टिके यथार्थ प्रशमगुण होता है। किंतु प्रशमगुणका झूठा अभिमान रखनेवालेभी मिथ्यादृष्टिके सम्यग्दर्शनके न होनेसे उसका अविनाभावी प्रशमनामा गुणभी नहीं होता है।

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः ।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥ ४३१ ॥

अन्वयार्थः— (धर्मे) धर्ममें और (धर्मफले) धर्मके फलमें (चितः परमोत्साहः) आत्माके परम उत्साहको (संवेगः) संवेग कहते हैं (वा) अथवा (सधर्मेषु अनुरागः) धार्मिक पुरुषोंमें अनुराग (वा) अथवा (परमेष्ठिषु प्रीतिः) पंच परमेष्ठीमें प्रीति रखनेकोभी संवेग कहते हैं।

भावार्थः— धर्म और धर्मके फलमें परमोत्साहका होना संवेग कहलाता है। अथवा साधर्मी जनोंमें और पंचपरमेष्ठीमें अनुराग रखनाभी संवेग कहलाता है।

धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽथवा ।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥ ४३२ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यक्त्वमात्रात्मा धर्म.) केवल सम्यग्दर्शन है स्वरूप जिसका, वह धर्म कहलाता है (अथवा) अथवा (शुद्धस्य अनुभवः) शुद्ध आत्माका अनुभव धर्म कहलाता है (च) तथा (अत्यक्षं) अतींद्रिय (अक्षयं) अविनाशी और (क्षायिकं) घातिया कर्मोंके क्षयसे होनेवाला (यत् सुखं) जो अनन्त सुख है वह (तत्फलं) उस धर्मका फल है ।

भावार्थ— सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान धर्म है । और अतींद्रिय अविनाशी तथा घातिया कर्मोंके क्षयसे होनेवाला अनन्त सुख उस धर्मका फल है ।

इतरत्र पुना रागस्तद्गुणेष्वनुरागतः ।
नातद्गुणोऽनुरागोपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ॥ ४३३ ॥

अन्वयार्थः— (तद्गुणेषु अनुरागतः) उनके गुणोंमें अनुरागसे (अपि) और (तत्फलस्य अलिप्सया) अनुरागकृत फलकी इच्छा न करनेसे (इतरत्र पुनः रागः) गुणोंसे गुणी कथंचित् भिन्न होता है इसलिए गुणोंसे कथंचित् भिन्न पन्च परमेष्ठियोंमें तथा धार्मिकोंमें जो अनुराग होता है. (अनुरागः अपि) वह अनुरागभी (अतद्गुणः न) अतद्गुणराग नहीं है किन्तु गुणानुरागही है ।

भावार्थ— सम्यग्दृष्टियोंका धर्मियोंमें अनुराग किसी प्रकारके स्वार्थपूर्वक नहीं होता है । इसलिये धर्मात्माओंके प्रति जो अनुराग है वहभी धर्मानुराग है अधर्मानुराग नहीं है । अतः धर्मके आधार पंच परमेष्ठी व धर्मके धारक साधर्मियोंके प्रति प्रीति तथा अनुरागका नाम संवेग कहलाता है ।

अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते ।
किंतु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥ ४३४ ॥

अन्वयार्थः— (अपि) तथा (अत्र) यहांपर (अनुरागशब्देन) अनुराग शब्दके द्वारा (अभिलाष. न निरुच्यते) अभिलाषा रूप अर्थ नहीं कहा गया है (किन्तु) किन्तु (अधर्मात् शेषं वा तत्फलात् निवृत्ति) यावत् अधर्मके विना जो कुछ रहता है उसे अनुराग कहते हैं अथवा अधर्मके फलभूत कुक्रियाओंसे होनेवाली निवृत्ति को अनुराग कहते हैं ।

भावार्थ.— यहांपर अनुराग शब्दका अर्थ किसी प्रकारकी कांक्षा नहीं है। किन्तु अधर्मके बिना जो कुछ रहता है अर्थात् धर्ममात्र तथा अधर्मके फलसे निवृत्ति अर्थात् अधर्ममात्रके फलसे विमुख रहना अनुराग शब्दका अर्थ समझना चाहिये। इसलिये सम्यग्दृष्टिके धर्म तथा धर्मियोंके प्रति अनुरागसे किसी प्रकारकी कांक्षा सिद्ध नहीं होती है।

अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्योयदार्थतः।
प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ ४२५ ॥

अन्वयार्थ— (अथ) अथवा (यदा) जिससमय (अनुरागशब्दस्य) अनुराग शब्दका (अर्थतः) अर्थकी अपेक्षासे (विधिःवाच्यः) विधिरूप अर्थ वक्तव्य होता है ('तदा') उससमय अनुराग शब्दका अर्थ (प्राप्ति वा उपलब्धिश्च स्यात्) प्राप्ति व उपलब्धि होता है क्योंकि (शब्दा. एकार्थवाचकाः) अनुराग, प्राप्ति और उपलब्धि ये तीनों शब्द एकार्थवाचक हैं।

भावार्थः— अनुराग, प्राप्ति तथा उपलब्धि ये तीनों शब्द एकार्थवाचक हैं। इसलिये अनुराग शब्दका विधिरूप अर्थ प्राप्ति तथा उपलब्धि होता है।

नचाऽशंक्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम्।
शुद्धोपलब्धिमात्रेपि हि यो भोगाभिलाषवत् ॥ ४२६ ॥

अन्वयार्थ.— (अभिलाषः) सम्यग्दृष्टिकी अभिलाषा (भोगेषु) भोगोंमेंही (अलं निषिद्धः-स्यात्) केवल निषिद्ध है यह (नच आशंक्यं) आशंका नहीं करना चाहिये (हि) क्योंकि सम्यग्दृष्टिके (भोगाभिलाषवत्) भोगोंमें अभिलाषाकी तरह (शुद्धोपलब्धिमात्रे अपि) शुद्धोपलब्धिमेंभी (यः) जो अभिलाषा होती है वहभी निषिद्ध है।

भावार्थ— यह आशंका नहीं करना चाहिये कि सम्यग्दृष्टिके केवल भोगोंके विषयमेंही अभिलाषा नहीं होती है। क्योंकि सम्यग्दृष्टिके भोगोंके समान शुद्धोपलब्धिके विषयमेंभी अभिलाषा नहीं होती है। अर्थात् सम्यग्दृष्टिके अभिलाषा मात्रका अभाव होता है। इसलिये ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि सम्यग्दृष्टिके केवल विषयभोगोंमेंही अभिलाषाका अभाव होता है।

अर्थात्सर्वोभिलाषः स्यादज्ञानं दृग्विपर्ययात् ।
न्यायादलब्धतत्त्वार्थो लब्धुं कामो न लब्धिमान् ॥ ४३७ ॥

अन्वयार्थ — (अर्थात्) वास्तवमें (सर्वः अभिलाषः) अभिलाषामात्र (दृग्विपर्ययात्) मिथ्यादर्शनके उदय होनेके कारण (अज्ञानं स्यात्) अज्ञानरूप होती है क्योंकि (न्यायात्) न्यायानुसार (अलब्धतत्त्वार्थ) जिसे तत्वार्थकी उपलब्धि अर्थात् शुद्ध आत्मानुभवकी प्राप्ति नहीं हुई है (लब्धुं कामः) शुद्ध तत्वकी प्राप्तिकी अभिलाषा करता है किन्तु (लब्धिमान् न) जिसने शुद्धोपलब्धिकी प्राप्ति करली है वह शुद्धतत्वकी प्राप्तिके लिये अभिलाषा नहीं करता है ।

भावार्थः— चाहे विषयोंकी अभिलाषा हो अथवा चाहे शुद्ध तत्वोंकी उपलब्धिकी अभिलाषा हो, दोनोंही अभिलाषाएँ दर्शनमोहके उदयसे होतीं हैं । इसलिए सम्यग्दृष्टिके शुद्ध तत्वोंकी उपलब्धिकी अभिलाषा होती है यहभी आशंका नहीं करना चाहिये (क्योंकि तत्वार्थोपलब्धिके विना सम्यग्दर्शन नहीं होता है । अतः विषयोंके समान शुद्ध तत्वकी उपलब्धिके विषयमेंभी सम्यग्दृष्टिके अभिलाषा नहीं होती है यह सिद्ध होता है ।)

मिथ्या (अर्थात्) सर्वोभिलाषः स्यान्मिथ्याकर्मोदयात्परम् ।
स्वार्थसार्थक्रियासिद्धौ नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥ ४३८ ॥

अन्वयार्थः— (सर्वः अभिलाष.) सब अभिलाषाएँ (परं) केवल (मिथ्याकर्मोदयात्) मिथ्यादर्शनके उदयसे होनेके कारण (मिथ्या स्यात्) मिथ्या होती है (यतः) और (प्रत्यक्षतः) प्रत्यक्षरीतिसे (अर्थक्रिया) कोईभी अभिलाषा (स्वार्थस्य सिद्ध्यै अलं न) अपने स्वार्थके सिद्धिके लिये समर्थ नहीं होती है (यतः) क्योंकि ।

भावार्थः— और कोईभी अभिलाषा स्वार्थ सिद्धिके लिये समर्थही हो ऐसा नियम नहीं है । अतः अभिलाषामात्र केवल मिथ्यात्वके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण मिथ्या है ।

खुलासा ।

क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः ।
अभिलाषस्याप्यसद्भावे स्वेष्टसिद्धिश्च हेतुतः ॥ ४३९ ॥

अन्वयार्थः— (क्वचित्) किसी जीवके (तस्य सद्भावे अपि) उस अभिलाषाके होनेपरभी (अहे-
तुतः इष्टसिद्धिः न) कारण सामग्रीके न मिलनेसे इष्ट पदार्थकी सिद्धि नहीं होती है (च) और किन्हीं जीवोंके
(अभिलाषस्य असद्भावे अपि) अभिलाषाके विनाभी (हेतुतः) कारण सामग्रीके मिलनेपर (स्वेष्टसिद्धिः)
अपनी इष्ट सिद्धि होजाती है ।

भावार्थः— अभिलाषाका इष्ट सिद्धिके साथ कार्यकारणसम्बन्ध नहीं है । क्योंकि कारण सामग्रीके सद्भा-
वमें विना अभिलाषाकेही इष्ट सिद्धिका सद्भाव और कारण सामग्रीके अभावमें अभिलाषाके न रहनेपरभी इष्टसिद्धिका अ-
भाव देखा जाता है । इसलिये इष्टसिद्धिके लिये केवल अभिलाषा कारण नहीं है किंतु योग्य कारण सामग्रीही इष्टसिद्धिके
लिये समर्थ कारण है ।

दृष्टांतपूर्वक उक्त कथनका समर्थन ।

यशःश्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत् ।
नास्य लाभोऽभिलाषेपि विना पुण्योदयात्सतः ॥ ४४० ॥

अन्वयार्थः— (सर्वं जगत्) सम्पूर्ण संसार (यशः श्री सुतमित्रादि) यश, सम्पत्ति, पुत्र, और
मित्रादिककी (कामयते) इच्छा करता है परन्तु (सतः पुण्योदयात् विना) पुण्यके सद्भावके विना (अस्य
अभिलाषे अपि) इस जीवके उनके विषयमें अभिलाषाके रहनेपरभी (लाभः न) इष्टकी सिद्धि नहीं
होती है ।

भावार्थ — यद्यपि कीर्ति सम्पत्ति और पुत्रादिककी प्राप्तिकी इच्छा सबकोही रहती है परन्तु पुण्योदयके
विना केवल इच्छामात्रसे किसीकोभी उनकी प्राप्ति नहीं होती है ।

१ ला. स मे ' अभिलाषस्याभावेऽपि, ऐसा पाठ है ।

जरामृत्युदरिद्रादि नहि (नापि) कामयते जगत्।
तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राऽशुभोदयात् ॥ ४४१ ॥

अन्वयार्थः— (जगत्) सम्पूर्ण संसार (जरामृत्युदरिद्रादि) बुढापा, मृत्यु और दारिद्र्यादिकको (न हि कामयते) नहीं चाहता है परन्तु (तत्र) संसारमें जीवोंको (अशुभोदयात् सतः) अशुभोदयके सद्भावसे (बलात्) अभिलाषाके न रहनेपरभी (तत्संयोगः अस्ति) उन जरा आदिका संयोग होता है ।

भावार्थः— यद्यपि जरा मृत्यु आदिको कोईभी नहीं चाहता है परन्तु अशुभोदयसे इच्छाके न रहते हुएभी जरा आदिका समागम होता है ।

संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदश्च (स्तु) निषेधनात्[1] ।
स्याद्विवक्षावशाद्द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥ ४४२ ॥

अन्वयार्थः— (संवेग विधिरूपः स्यात्) संवेग विधिरूप होता है (च) और (निर्वेद निषेधनात्) निषेधको विषय करनेसे निर्वेद निषेधात्मक होता है इसलिए (तयोः) उन संवेग तथा निर्वेदमें (विवक्षा वशात्) विवक्षावशसे द्वैत होता है (अर्थात् अर्थान्तरं न) वास्तवमें अर्थान्तर रूपसे द्वैत नहीं होता है ।

भावार्थः— संवेग विधिरूप होता है और निर्वेद निषेधरूप होता है । इसलिये अपेक्षाभेदसे दोनोंका ही एक अर्थ होनेसे दोनोंमें केवल विवक्षा वशसे द्वैत है वास्तविक द्वैत नहीं है ।

त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा ।
स संवेगोऽथवा[2] धर्मः साभिलाषो न धर्मवान् ॥ ४४३ ॥

अन्वयार्थः— (सर्वाभिलाषस्य त्यागः) सब अभिलाषोंका त्याग (निर्वेदः) निर्वेद कहलाता है (अथवा) और (लक्षणात्) धर्म तथा धर्मके फलमें अनुरागको संवेग कहते हैं इस संवेगके लक्षणसे

---

१ ला. स में ' विशेषसात् , ऐसाभी पाठ है ।
२ ला. स. में. ' संवेगोप्यथवा , ऐसाभी पाठ है ।

(सः संवेगः धर्मः तथा) वह संवेगरूप धर्मभी सर्वप्रकारकी अभिलाषाओंके त्यागरूप पडता है, क्योंकि (धर्मवान् साभिलाषः न) उक्त संवेगवाला सम्यग्दृष्टि अभिलाषावान् नहीं होता है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टि अभिलाषावान् नहीं होसकता है इसलिए जैसे सम्पूर्ण अभिलाषाओंका त्यागरूप धर्म निर्वेद कहलाता है वैसेही धर्म तथा धार्मिक पुरुषोंमें गुणानुराग करनेरूप संवेग धर्मभी सर्व प्रकारकी अभिलाषाओंके त्यागरूप पडता है । अतः दोनोंमें केवल विवक्षावश द्वैत हैं वास्तवमें द्वैत नहीं है ।

नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः ।
नित्यं रागादिसद्भावात् प्रत्युताऽधर्म एव सः ॥ ४४४ ॥

अन्वयार्थः— (इह मिथ्यादृष्टे) यहांपर मिथ्यादृष्टिके (नित्यं रागादिसद्भावात्) सदैव रागादि भावोंका सद्भाव रहनेसे (क्रियामात्रं अपि) केवल क्रियारूप धर्मका पायाजानाभी (अर्थतः) वास्तवमें (धर्मः न) धर्म नहीं हो सकता है (प्रत्युत) किंतु (सः) वह क्रियारूप धर्म (अधर्म एव) अधर्मही है ।

भावार्थ.— मिथ्यादृष्टिके जो सम्यग्दर्शनके विना बाह्यरूपसे संवेग तथा निर्वेद देखे जाते हैं वे, अन्तरंगमें अनन्तानुबन्धीजन्य रागादिक भावोंका सद्भाव रहनेसे, धर्मरूप नहीं है किंतु अधर्मरूपही है ।

नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात्कचिदरागवान् ।
अस्तरागोऽस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान् ॥ ४४५ ॥

अन्वयार्थः— (कुदृष्टिः) मिथ्यादृष्टि जीव (नित्य) सदैव (रागी स्यात) रागी होता है (कचित्) कभीभी (अरागवान्) राग रहित (न स्यात्) नहीं होता है तथा (सद्दृष्टिः) सम्यग्दृष्टि जीव (नित्य अस्तरागः वा अस्ति) सदैव वीतराग होता है (रागवान न स्यात) रागवान् नहीं होता है ।

---

१ ला० स० में० ' हि ' ऐसाभी पाठ है ।

भावार्थः— मिथ्यादृष्टि जीव सदैव रागवानही है अरागी नहीं है। और सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्वके अभावसे सदैव वीतरागके समान रागरहित है रागसहित नहीं है।

अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥४४६ ॥

अन्वयार्थः— (अनुकम्पा कृपा ज्ञेया) अनुकम्पा शब्दका अर्थ कृपा समझना चाहिये (अथ) अथवा (वैरवर्जनात्) वैरके त्यागपूर्वक (सर्वसत्त्वेषु अनुग्रहः) सब प्राणियोंपर अनुग्रह (मैत्रीभावः) मैत्रीभाव (माध्यस्थं) माध्यस्थभाव और (नैःशल्यं) शल्यरहित वृत्ति (अनुकम्पा स्यात्) अनुकम्पा कहलाती है।

भावार्थः— कृपाको वैरवृत्तिके त्यागपूर्वक प्राणीमात्रपर अनुग्रहको, मैत्रीभावको, माध्यस्थभावको और तीनों प्रकारकी शल्यसे रहित वृत्तिको अनुकम्पा कहते हैं।

दृङ्मोहा (मोहस्या) नुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम् ।
मिथ्याज्ञानं विना न स्याद्वैरभावःक्वचिद्यतः ॥४४७ ॥

अन्वयार्थः—(तत्र) उस अनुकम्पाके होनेमें (केवल) केवल (दृङ्मोहानुदयः) दर्शनमोहनीयका अनुदय (हेतुः वाच्यः अस्ति) हेतु कहना चाहिये (यतः) क्योंकि (मिथ्याज्ञान विना) दर्शनमोहके उदय-जन्य मिथ्याज्ञानके विना (क्वचित्) किसी जीवमें (वैरभावः न स्यात्) वैरभाव नहीं हो सकता है।

भावार्थ— मिथ्यादृष्टियोंके मिथ्यादर्शनके उदयसे वास्तविक अनुकम्पा नहीं होसकती है। क्योंकि मिथ्या-दर्शनके उदयसे मिथ्यादृष्टियोंके जो मिथ्या ज्ञान होता है उससे उनके सदैव वैरभाव पाया जाता है। जबतक मिथ्या-दर्शनके अभावपूर्वक उस वैरभावका अभाव नहीं होता है तबतक उन मिथ्यादृष्टियोंके प्राणिमात्रकेप्रति अनुग्रहादिरूप वास्तविक अनुकम्पा नहीं होती है।

मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजान्मिनाम् ।
इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥ ४४८ ॥

अन्वयार्थ — (**यत्**) जो (**परतः स्वस्य**) परके निमित्तसे अपने (**वा**) अथवा (**स्वस्मात् परजन्मिनां**) अपने निमित्तसे दूसरे प्राणियोंके (**मनाक्सुखदुःखादि**) कुछभी सुख दुःखादिक तथा (**मृत्युः वा जीवितं**) मरण और जीवनका (**इच्छेत**) चाहना है (**तत्**) वही (**मिथ्या**) मिथ्याज्ञान है ।

भावार्थः— मिथ्यादृष्टियोंके मिथ्यात्वके उदयसे जो ऐसी इच्छा होती है कि मेरे निमित्तसे स्त्री पुत्रादिकको और उनके निमित्तसे मेरेको सदैव सुख व जीवन प्राप्त होते रहें तथा मेरे निमित्तसे शत्रुओंको सदैव मृत्यु व दुःखादिक प्राप्त होते रहें वह सब मिथ्याज्ञान है ।

अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः सशल्यवान् ।
अज्ञानाद्धन्तुकामोऽपि क्षमो हन्तुं नचापरम् ॥ ४४९ ॥

अन्वयार्थ— (**यस्य**) जिसके (**एतत् अज्ञानं**) यह मिथ्या अज्ञान (**अस्ति**) होता है (**सः शल्यवान् मिथ्यादृष्टिः**) वह सशल्य मिथ्यादृष्टि है (**च**) तथा वह (**अज्ञानात्**) इस अज्ञानसे (**अपरं हन्तुकामः अपि**) दूसरेको मारनेकी इच्छा रखनेवाला होकरकेभी (**हन्तुं क्षमः न**) मारनेके लिये वास्तवमें समर्थ नहीं होता है ।

भावार्थ— जिसके उपर्युक्त अज्ञानभाव रहता है वह मिथ्यात्व शल्यवाला मिथ्यादृष्टि है तथा वह इस अज्ञानसे यद्यपि अन्य जीवों के मारने कि इच्छा करता है तथापि वह वास्तवमें किसीको मार नहीं सकता है। क्योंकि तीव्र अशुभोदयके विना केवल परनिमित्तसे मृत्यु नहीं होती है ।

समता सर्वभूतेषु याऽनुकम्पा परत्र सा ।
अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनात् ॥ ४५० ॥

अन्वयार्थः— (**या**) जो (**सर्वभूतेषु**) सब प्राणियोंमें (**समता**) समता–माध्यस्थभाव और (**परत्र**) दूसरे प्राणियोंके प्रति (**अनुकम्पा**) दयाभाव है (**सा**) वह सब (**अर्थतः**) वास्तवमें (**शल्यवत्**) शल्यके समान (**शल्यवर्जनात्**) शल्यके त्यागसे होनेके कारण (**स्वानुकम्पा स्यात्**) स्वानुकम्पाही है ।

भावार्थ.— जो सब जीवोंके प्रति समताभाव—माध्यस्थभाव तथा अन्य जीवोंके प्रति दयाभाव है वह वास्तवमें मिथ्यात्वादि शल्यके अभावसे होता है इसलिये स्वानुकम्पाही है।

रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि।
न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपात्मनि ॥ ४५१॥

अन्वयार्थः— (हि) निश्चयसे (रागाद्यशुद्धभावाना सद्भावे एव) रागादिक अशुद्ध भावोंका सद्भाव होनेपर ही (बन्ध) कर्मबन्ध होता है और (तदसद्भावे) उन अशुद्ध रागादिकका अभाव होनेपर (बन्ध न) कर्मबन्ध नहीं होता है (तत्) इसलिये (आत्मनि कृपा) स्वानुकम्पा (विधेया) करनी चाहिये।

भावार्थः— रागादिकके सद्भावसे नियमपूर्वक बन्ध होता है। तथा उनके असद्भावसे बन्ध नहीं होता है। इसलिये अपनी आत्मामें रागादिक भावोंको उत्पन्न न करके स्वानुकम्पा करनी चाहिये।

आस्तिक्यं तत्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चितिः।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चाऽऽस्त्यादि धर्मवित ॥ ४५२॥

अन्वयार्थ.— (स्वतःसिद्धे तत्वसद्भावे) स्वतःसिद्ध नव तत्वोंके सद्भावमे (च) तथा (धर्मे) धर्ममें (धर्मस्य हेतौ) धर्मके हेतुमे (च) और (फले) धर्मके फलमे जो (विनिश्चितिः) निश्चय रखना है वह (अस्त्यादिधर्मवित्) जीवादि पदार्थोंमें अस्तित्व बुद्धि रखनेवाला (आस्तिक्यं) अस्तिक्य कहलाता है।

भावार्थः— तत्वोंके सद्भावमें, धर्ममें, धर्मके कारणमें व धर्मके फलमें विश्वास रखनाही जीवादि पदार्थोंमें अस्तित्व बुद्धि रखनेवाला आस्तिक्य गुण कहलाता है।

अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतः सिद्धोप्यमूर्तिमान्।
चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥ ४५३ ॥

---

१ ला. सं. में 'गतिश्चितः, ऐसाभी पाठ है। तदनुसार (' स्वतःसिद्धे तत्वसद्भावे चितः गतिः आस्तिक्यं ') ऐसा अन्वय समझना।

अन्वयार्थः— (यः स्वतः सिद्धः) जो स्वतः सिद्ध है (अपि) और (अमूर्तिमान्त्वात्) अमूर्तीक है वह (चेतनः आत्मा) चेतन, आत्मा (जीवसंज्ञः अस्ति) जीव नामा पदार्थ है (तु) तथा (यावान् अपि अचेतः) सपूर्ण अचेतन द्रव्य (अजीवः अस्ति) अजीव नामा पदार्थ है।

भावार्थ— स्वतःसिद्ध, अमूर्तीक, चेतन आत्मा जीव है। और शेष सम्पूर्ण अचेतन द्रव्य अजीव है।

अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः।
कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥ ४५४ ॥

अन्वयार्थः— (हि) निश्चयसे (आत्मा) आत्मा (कार्मणात्मकैः कर्मभिः) कार्मणवर्गणारूप कर्मोंके द्वारा (अनादितः बद्धः अस्ति) अनादि कालसे बद्ध है (च) और इसलिए (तेषां) उनका (कर्ता भोक्ता) कर्ता व भोक्ता भी है तथा (तत्क्षयात्) उन कर्मोंके क्षयसे (मोक्षभाक् भवेत्) मुक्त होजाता है।

भावार्थ— जीव अनादि कालसे पौद्गलिक कर्मोंसे बंधा हुआ है। तथा इसी अपेक्षासे व बंधा कर्ता व भोक्ताभी है। इसलिये बन्ध नामा पदार्थ है। और उन बद्ध कर्मोंके क्षयसे मोक्षको प्राप्त होता है, इसलिये मोक्षनामाभी पदार्थ है।

अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै।
आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥ ४५५ ॥

अन्वयार्थः— (तस्य संसारिण अनिशं) उन संसारी जीवके (च) निश्चयसे (तद्धेतुः) बन्धके हेतुभूत व मोक्षके हेतुभूत (आस्रवाद्याः तथा सन्ति) आश्रव संवर और निर्जरा पदार्थभी जीवादिकके समान पदार्थ है (च) तथा (तत्फलं) उन आश्रव और बन्धके फलभूत, पुण्यं च पापं अस्ति) पुण्य व पापभी पदार्थ है।

भावार्थः— पहले पद्यमें जीव अजीव, बन्ध और मोक्ष के अस्तित्वको बता चुके है। और इस पद्यमें 'च' शब्दसे बन्धके हेतुभूत आश्रव तथा मोक्षके हेतुभूत संवर और निर्जरा नामके पदार्थोंका अस्तित्व बताया है। तथा

आश्रव और बन्धके फलभूत पुण्य व पापकाभी अस्तित्व है । इसप्रकार नव पदार्थोंके विषयमें अस्तित्व बुद्धिको आस्तिक्य कहते है ।

अस्त्येवं पर्ययादेशाद्बन्धो मोक्षश्च [स्तु] तत्फलम् ।
अथ(अपि)शुद्धनयादेशाच्छुद्ध सर्वोऽपि सर्वदा ॥ ४५६ ॥

अन्वयार्थः— (एवं) इसप्रकार (पर्ययादेशात्) पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे (बन्धः मोक्षः च तत्फलं अस्ति) बन्ध मोक्ष तथा बन्धके फल पुण्य पाप आदि है (अथ) और (शुद्धनयादेशात्) शुद्धद्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे (सर्वे अपि) सब ही जीव (सर्वदा शुद्धः) सदैव शुद्ध है ।

भावार्थः— इसप्रकार पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे बन्ध, मोक्ष व बन्धके फल पुण्य और पाप नामके पदार्थ है । तथा यँहापर 'च' शब्दसे आश्रवादिकका ग्रहण किया है । और शुद्ध नयकी अपेक्षासे सदैव सबही जीव शुद्ध है । इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे जीव नव पदार्थमय है । तथा शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जीव सदैव शुद्ध है ।

तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वसं(यं)वेद्याश्चिदात्मकः ।
सोऽहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पौद्गलिका अमी ॥ ४५७ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन नव तत्वोंमें (यः अयं) जो यह (स्वसंवेद्यः) स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय (चिदात्मकः) चैतन्यात्मक और (जीवसंज्ञः) जीव संज्ञावाला है (सः अहं) वह मैं उपादेय हूं (तु) तथा (अमी अन्ये पौद्गलिकाः रागादयः हेयाः) ये मुझसे भिन्न पौद्गलिक रागादिकभाव त्याज्य है ।

भावार्थः— पर्यायार्थिक नयसेही बन्धमोक्षादि पदार्थ है । द्रव्यार्थिक नयसे सबही शुद्ध जीव द्रव्य है इस कथनमें हेतु यह है कि नव तत्वोंमेंसे केवल जीवही उपादेय है । और शेष बन्धादिरूप रागादि पदार्थ हेय है ।

इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम् ।
निश्चयव्यवहाराभ्यामास्तिक्यं तत्तथामतिः ॥ ४५८ ॥

अन्वयार्थः— (यतः) जिस कारणसे (निश्चयव्यवहाराभ्यां) निश्चय और व्यवहारनयके द्वारा (इत्यादि 'यत्‌यथा') इत्यादि जो जैसे (अनादि) अनादिसे (जीवादि आखिल वस्तुजातं) जीवादिक संपूर्ण पदार्थ है (तत) तिसकारणसे उनमें निश्चय व्यवहारपूर्वक (तथ्यथामति) वे वैसेही है ऐसी बुद्धिका होना (आस्तिक्यं) आस्तिक्य है ।

भावार्थ— उक्त प्रकारसे निश्चयव्यवहार नयके गोचरभूत अनादिसे जो और जैसे जीवादिक सम्पूर्ण पदार्थ है उनको वैसेही निश्चयव्यवहारनयपूर्वक जानना, आस्तिक्य कहलाता है ।

सम्यक्त्वेनाविनाभूतंस्वानुभूत्यैकलक्षणम् ।
आस्तिक्यं नाम सम्यक् तत (त्वं) मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥ ४५९ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यक्त्वेन अविनाभूत) सम्यक्त्वसे अविनाभूत (स्वानुभूत्यैकलक्षण) स्वानुभूतिही है एक लक्षण जिसका ऐसा जो आस्तिक्य है (तत् सम्यक् आस्तिक्यं नाम) वह सम्यक् आस्तिक्य कहलाता है और (ततः अन्यथा) उससे विपरीत जो आस्तिक्य है वह (मिथ्या आस्तिक्यं) मिथ्या आस्तिक्य कहलाता है ।

भावार्थः— आस्तिक्य दो प्रकारका है एक समीचीन आस्तिक्य और दुसरा मिथ्या आस्तिक्य । उनमेंसे जो स्वानुभूतिरूप लक्षण सहित सम्यक्त्वका अविनाभावी आस्तिक्य है वह समीचीन आस्तिक्य है । तथा जो इससे विपरीत आस्तिक्य है वह मिथ्या आस्तिक्य है ।

शंका ।

ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः ।
न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम ॥ ४६० ॥
यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत् ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोर्थतः ॥ ४६१ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**वै**) निश्चयसे (**एक केवलज्ञानं**) एक केवल ज्ञानही (**अर्थतः**) वास्तवमें (**प्रत्यक्षं**) प्रत्यक्ष है इसलिए (**तच्छेषज्ञानचतुष्टयं**) उससे अतिरिक्त शेष मतिज्ञानादि चारों ज्ञान वास्तवमें (**कदाचित् प्रत्यक्षं न**) कभीभी प्रत्यक्ष नहीं होते हैं अर्थात यथार्थमें सदैव परोक्षही रहते हैं ।

(**यदि वा**) अथवा (**आक्ष्यं**) इंद्रियजन्य ज्ञान (**देशात. अध्यक्ष्यं**) देशप्रत्यक्ष होते हैं इसलिए (**अर्थतः**) वास्तवमें (**तत् आस्तिक्यं स्वात्मसुखादिवत्**) वह आस्तिक्य आत्माके सुखादिकके समान (**स्वसंवेदनप्रत्यक्षं कुतः**) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कैसे होसकता है ?

भावार्थ.— शंकाकारकी शका है कि परमागममें केवलज्ञानकोही अकेला वास्तविक प्रत्यक्ष माना है और अन्य ज्ञान परोक्ष माने है । तथा लोकसे व्यवहारमें इंद्रियजन्य मतिज्ञानकोभी प्रत्यक्ष माना है । तो आस्तिक्य नामा गुण सुखदुःखादिकके समान स्वसंवेदनगोचर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कैसे होगा ? अर्थात् न तो वह केवल ज्ञानरूपही है और न वह इंद्रियज्ञानरूपही है इसलिए प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है ।

समाधान ।

सत्यमाद्यंद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि ।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादितः ॥ ४६२ ॥

अन्वयार्थः— (**सत्यं**) ठीक है परन्तु (**आद्यं द्वयं ज्ञानं**) आदिके मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान (**परसंविदि परोक्षं**) परपदार्थके जानते समय परोक्ष हैं (**तु**) और (**दृङ्मोहोपशमादितः**) दर्शनमोहनीयके उपशम क्षय तथा क्षयोपशम होनेके कारण (**स्वानुभूतौ**) स्वानुभवकालमें (**प्रत्यक्षं**) प्रत्यक्ष है ।

भावार्थ— शंकाकारका कहना ठीक है परन्तु उक्त मतिश्रुतको परपदार्थके जानते समय परोक्ष माना है । और स्वसंवेदनके समय प्रत्यक्ष माना है । इसलिए आस्तिक्य आत्मीय सुखादिकके समान स्वसंवेदनरूप मतिश्रुतज्ञानके गोचर होनेसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप कहा जाता है ।

स्वात्मानुभूतिमात्र स्यादास्तिक्यं परमो गुणः ।
भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं (त्रे)परत्वतः ॥४६३ ॥

अन्वयार्थः— (स्वात्मानुभूतिमात्रं) केवल स्वानुभूतिरूप (आस्तिक्यं) आस्तिक्य (परमः गुणः स्यात्) परम गुण है (परद्रव्ये) परद्रव्यमें (परत्वतः ज्ञानमात्र) पररूपपनेसे ज्ञानमात्र जो स्वात्मानुभूति है (भवेत् वा मा 'भूत्') वह हो व न हो ।

भावार्थः— केवल स्वात्माकी अनुभूतिरूप आस्तिक्यही परम गुण है । किंतु परद्रव्यमें वह आस्तिक्य केवल स्वानुभूतिरूप हो ही ऐसा नहीं कहा जासकता है।

अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि ।
गाढं प्रतीतिरस्यास्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः ॥४६४ ॥
न तथास्ति प्रतीतिर्वा (चास्ति) नास्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ।
दृङ्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेसद्भावतोऽनिशम् ॥ ४६५ ॥

अन्वयार्थ — (तत्र जीवादौ परवस्तुनि) उन जीवादिक पर वस्तुओंमे (परोक्षत्वे अपि) परोक्षपनेके रहनेपरभी (अस्य सम्यग्दृगात्मनः) इस सम्यग्दृष्टिके (यथा गाढ प्रतीतिः अस्ति) जैसी दृढ श्रद्धा होती है (तथा) वैसी (प्रतीतिः) प्रतीति (अस्य मिथ्यादृशः) इस मिथ्यादृष्टिके (स्फुटं वा न च अस्ति) अवश्यही नहीं होती है क्योंकि (तत्र अनिश दृङ्मोहोदयात्) मिथ्यादृष्टिके निरन्तर दर्शनमोहके उदयसे (भ्रांते· सद्भावतः) भ्रम रहता है ।

भावार्थ — तथा जीवादिक परपदार्थोंमेभी सम्यग्दृष्टिके जैसी आस्तिक्यपूर्वक गाढ प्रतीति होती है वैसी गाढप्रतीति मिथ्यादृष्टिके नहीं होती है । क्योंकि मिथ्यात्वका उदय रहनेसे उसके सदैव भ्रम बनारहता है ।

ततः सिद्धमिदं सम्यक् युक्तिस्वानुभवागमात् ।
सम्यक्त्वेनाऽविनाभूतमस्त्या(त्रा)स्तिक्यं गुणो महान् ॥ ४६६ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिये (युक्तिस्वानुभवागमात्) युक्ति स्वानुभव और आगमसे

(इदं सम्यक् सिद्ध) यह भलीभान्ति सिद्ध होता है कि (सम्यक्त्वेन अविनाभूत) सम्यक्त्वके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला (आस्तिक्यं) आस्तिक्य (महान् गुण अस्ति) महान गुण है।

भावार्थः— इसलिए युक्ति, स्वानुभव तथा आगमसे यह भलेप्रकार सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाला आस्तिक्य महान् गुण है।

उक्तं च।

संवेओ णिव्वेओ णिंदणगरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकम्पा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः— (सम्मत्ते) सम्यक्त्वमें (संवेओ) संवेग (णिव्वेओ) निर्वेद (णिंदण गरुहा) निन्दा, गर्हा (य) और (उवसमो) उपशम (भत्ती) भक्ति (वच्छल्लं) वात्सल्य तथा (अणुकम्पा) अनुकम्पा ये (अट्ठगुणा) आठ गुण (होंति) होते हैं।

भावार्थः—सम्यक्त्वके होनेपर संवेग, निर्वेद, आत्मनिन्दा, गर्हा, प्रशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण होते हैं।

उक्तगाथार्थसूत्रेपि प्रशमादिचतुष्टयम्।
नातिरिक्तं यतोस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥ ४६७ ॥

(उक्तगाथार्थसूत्रे अपि) उक्त गाथा अर्थ सूत्रमें भी (प्रशमादिचतुष्टय) प्रशम [illegible] है (अतिरिक्तं न) उनसे भिन्न नहीं है (यतः) क्योंकि (अत्र) इनमें [illegible]) लक्षणोंका उपलक्षण है।

[illegible] लक्षण करनेसे उन प्रशमादिक चार गुणोंका ही इन आठोंमें कथन है। अतः सम्य- [illegible] आगमसे बाधा नहीं आती है।

अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् ।
तत्तथाऽस्त्यादिलक्षस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥४६८॥

अन्वयार्थः— (यत् लक्षणस्य अपि) जो लक्षणकाभी (लक्षणं) लक्षण होता है (तत् उपलक्षणं अस्ति) वह उपलक्षण कहलाता है क्योंकि (उत्तरस्य लक्षणं च) लक्षणका लक्षणही (आदिलक्षस्य तत् अस्ति) प्रथम लक्ष्यकी अपेक्षासे उपलक्षण कहलाता है (तद्यथा) वह इसप्रकार है कि।

भावार्थः— लक्षणके लक्षणको उपलक्षण कहते हैं। क्योंकि लक्षणका लक्षणही मूल लक्ष्यका उपलक्षण कहलाता है।

यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः ।
स चोऽपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाऽथवार्हताम् ॥४६९॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (सम्यक्त्वभावस्य) सम्यक्त्व भावका (संवेग गुणः) संवेग गुण (लक्षणं) लक्षण है (च) और (सः) वह संवेग गुण (अर्हतां भक्त्या वात्सल्येन) अर्हंत भगवानकी भक्ति अथवा वात्सल्यसे (उपलक्ष्यते) उपलक्षित होता है।

भावार्थ— जैसे सम्यक्त्व लक्ष्य है और संवेग उसका लक्षण है। तथा अर्हंत भगवानकी भक्ति अथवा वात्सल्य ये दोनों संवेगरूप लक्षणके लक्षण है इसलिए संवेग सम्यक्त्वका लक्षण है और अर्हंतभक्ति व वात्सल्य ये दोनों उपलक्षण है।

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् ।
वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥ ४७० ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन दोनोंमें (शमात्) दर्शनमोहनीयका उपशम होनेसे (वाग्वपुश्चेतसां) वचन, काय और मन सम्बन्धी (अनौद्धत्यं) उद्धतपनेके अभावको (भक्तिः) भक्ति कहते है तथा (तद्गुणोत्कर्षहेतवे) उनके गुणोंके उत्कर्षके लिए (सोद्यत मन) तत्पर मनको (वात्सल्यं) वात्सल्य कहते है।

भावार्थः— मिथ्यात्वके अभावसे मन, वचन, और कायके द्वारा अर्हतभगवानकी विनयको भक्ति कहते हैं तथा अपनेमें उनके गुणोत्कर्षकी प्राप्तिके लिए उद्यत मनको वात्सल्य कहते हैं।

भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं स्यात्संवेगमन्तरा ।
स संवेगो दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणम् ॥ ४७१ ॥

अन्वयार्थः— (**भक्तिः वा वात्सल्य नाम**) भक्ति अथवा वात्सल्य (**संवेगमन्तरा न स्यात**) संवेगके विना नहीं होते है अतः (**स संवेग**) वह संवेग (**दृश लक्ष्म**) सम्यग्दर्शनका लक्षण है और (**एतौ द्वौ**) भक्ति तथा वात्सल्य ये दोनों (**उपलक्षणं**) उस सम्यग्दर्शनके उपलक्षण है।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिके, संवेगके विना भक्ति और वात्सल्य नहीं होते है। इसलिये सम्यग्दृष्टिका संवेग लक्षण है। तथा भक्ति व वात्सल्य ये दोनों उपलक्षण है।

दृङ्मोहस्योदयाभावात प्रसिद्धः प्रशमो गुणः ।
तत्राभिव्यन्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥ ४७२ ॥

अन्वयार्थः— (**दृङ्मोहस्य उदयाभावात्**) दर्शनमोहनीयके उदयके अभावसे (**प्रशमः गुणः प्रसिद्धः**) प्रशम गुण उत्पन्न होता है यह प्रसिद्ध है और (**तत्र**) उस प्रशमके (**बाह्यात् अभिव्यन्जकं**) बाह्यरूपसे अभिव्यन्जक (**निन्दनं अपि च गर्हणं**) निंदा तथा गर्हा ये दोनों होते है।

भावार्थः— मिथ्यात्वके अभावसे प्रशम नामका गुण होता है। और बाह्यरूपसे आत्मनिंदा तथा आत्म-गर्हा उस प्रशम गुणके द्योतक है।

निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि ।
पश्चात्तापकरो बन्धो ना[नो]पेक्ष्यो नाप्यु[प्य]पेक्षितः ॥ ४७३ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्र**) उन दोनोंमेंसे (**निन्दनं**) निन्दन यह कहलाता है कि (**दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि**) दुर्वार रागादिरूप दुष्ट कर्मोंका (**पश्चात्तापकरः बन्धः**) पश्चात्तापकारक बन्ध (**नापेक्ष्यः अपि**) अनिष्ट होकरकेभी (**उपेक्षित. न**) उपेक्षित नहीं होता है—छूटता नहीं है।

भावार्थः— यद्यपि मेरे लिये इन दुष्ट कर्मोंका बन्ध पश्चात्ताप कारक है—अनिष्ट है तथापि छूटता नहीं है इसप्रकारके विचारको निंदन कहते है ।

गर्हणं तत्परित्यागः पंचगुर्वात्मसाक्षिकः ।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥ ४७४ ॥

अन्वयार्थः— (**नूनं**) निश्चयसे (**निष्प्रमादतया**) प्रमाद रहित होकरके (**शक्तितः**) अपनी शक्तिके अनुसार (**कर्महानये**) उन कर्मोंके क्षयके लिये जो (**पंचगुर्वात्मसाक्षिकः**) पंचपरमेष्ठीके सामने आत्मसाक्षीपूर्वक (**तत्परित्यागः**) उन रागादि भावोंका त्याग है वह (**गर्हणं**) गर्हा कहलाती है ।

भावार्थः— और उन कर्मोंके क्षयके लिये जो पंचपरमेष्ठीके सामने आत्मसाक्षीपूर्वक अपनी शक्तिके अनुसार अप्रमादी होकर उन रागादि भावोंका त्याग किया जाता है । उसको गर्हा कहते है ।

अर्थादेतद्द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम ।
प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाऽविशेषतः ॥ ४७५ ॥

अन्वयार्थः— (**अर्थात**) वास्तवमें (**कषायाणां अनुद्रेकाविशेषतः**) कषायोंकी मन्दता रूपही होनेसे (**प्रशमस्य एतत् द्वयं**) प्रशम नामा गुणके लक्षणभूत ये दोनों (**सम्यक्त्वस्य उपलक्षणं सूक्तं**) सम्यक्त्वके उपलक्षण सिद्ध होते है ।

भावार्थः— निंदा और गर्हामेंभी कषायोंकी मन्दता पाई जाती है । इसलिए सम्यक्त्वके प्रशम नामा गुणके लक्षणभूत जो निंदा तथा गर्हा है वे दोनों सम्यक्त्वके उपलक्षण है ।

शेषमुक्तं यथाम्नायाज्ज्ञातव्यं परमागमात ।
आगमाब्धेः परं पारं माद्दग्गन्तुं क्षमः कथम ॥ ४७६ ॥

अन्वयार्थः— (**शेषं उक्तं**) शेष कथन (**यथाम्नायात्**) आम्नायानुसार (**परमागमात्**) परमागमसे (**ज्ञातव्यं**) जानना चाहिये क्योंकि (**आगमाब्धेः**) आगमरूपी समुद्रके (**परं पारं**) पारको (**गन्तु**)

प्राप्त करनेके लिये (मादृक्) मेरे समान पुरुष (कथं क्षमः) कैसे समर्थ होसकता है।

भावार्थ — जिसप्रकार प्रशम और संवेगके लक्षणभूत निंदा गर्हा तथा भक्ति और वात्सल्य सम्यक्त्वके उपलक्षण होते है उसीप्रकार शेष कथनभी आम्नायके अनुसार परमागमसे जानना चाहिये । मेरे समान पुरुष कैसे उनके वर्णनमें समर्थ होसकता है।

शंका।

ननु तद्दर्शनस्यैतल्लक्ष्यस्य स्यादशेषतः ।
किमथास्त्यपरं किंचिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥ ४७७ ॥

अन्वयार्थ — (ननु) शंकाकारका कहना है कि (लक्ष्यस्य सद्दर्शनस्य) लक्ष्यभूत सम्यग्दर्शनका (अशेषतः) सम्पूर्णरीतिसे (एतत् लक्षणं स्यात्) केवल यही लक्षण है (अथ किं) अथवा क्या (अपरं किंचित् लक्षणं अस्ति) दूसरा कोई लक्षण है यदि है तो (अद्य) अब (नः) मुझे (तत् वद) वह बताओ ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि सम्यग्दर्शनका केवल पूर्वोक्तही लक्षण है अथवा क्या कोई दूसराभी लक्षण है। यदि दूसरा लक्षण है तो वह बताना चाहिये ।

समाधान।

सम्यग्दर्शनमष्टांगमस्ति सिद्धं जगत्त्रये ।
लक्षणं च गुणश्चांगं शद्वाश्चैकार्थवाचकाः ॥ ४७८ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यग्दर्शनं अष्टांग) सम्यग्दर्शन आठ अंगवाला (जगत्त्रये सिद्धं अस्ति) तीनों लोकमें प्रसिद्ध है (च) तथा (लक्षणं गुणः च अंगं च एते) लक्षण, गुण और अंग ये सब (एकार्थवाचकाः शद्वाः) एकार्थवाचक शद्ब है ।

भावार्थः— तीनों लोकोंमें सम्यग्दर्शनके आठ अंग प्रसिद्ध है । और यहांपर अंग शद्बका अर्थ लक्षण है । क्योंकि अंग, गुण तथा लक्षण ये तीनों शद्ब एकार्थवाचक है। इसलिए सम्यग्दर्शनके निःशंकितादि आठ अंगभी लक्षण है ।

निःशंकितं यथा नाम निष्कांक्षितमतः परम् ।
विचिकित्सावर्जं चापि तथा दृष्टेरमूढता ॥ ४७९ ॥
उपबृंहणनामा च(थ)सुस्थितीकरणं तथा ।
वात्सल्यं च यथाम्नायाद् गुणोऽप्यास्ति प्रभावना ॥ ४८० ॥

अन्वयार्थ — (यथा) जैसेकि (निःशङ्कितंनाम) निशंकित (अतः परं) इसके बाद (निःकांक्षितं) निःकांक्षित (अपि च) और (विचिकित्सावर्जं) निर्विचिकित्सित (तथा) तथा (दृष्टेः-अमूढता) अमूढदृष्टि (च) और (उपबृंहणनामा) उपबृंहण (तथा) और (सुस्थितीकरणं) स्थितीकरण (च) तथा (वात्सल्यं) वात्सल्य (अपि) और (यथाम्नायात्) आम्नायानुसार (प्रभावना गुणः अस्ति) प्रभावना इसप्रकार ये सम्यक्त्वके आठ गुण—अंग होते है ।

भावार्थ— सम्यग्दृष्टीके निशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ गुण, अंग है ।

निशंकित अंग

शंका भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी ।
तस्य निष्क्रांतितो जातो भावो निःशंकितोऽर्थतः ॥ ४८१ ॥

अन्वयार्थ (शंका भीः साध्वस भीतिः भयं अमी एकाभिधा) शंका, भी, साध्वस, भीति और भय ये शब्द एकार्थ वाचक है और (तस्यनिष्कान्तितः) उस भयके अभावसे (जातः भावः) उत्पन्न होनेवाला भाव (अर्थतः) अर्थकी अपेक्षासे (निःशङ्कितः) निशंकित अंग कहलाता है ।

भावार्थः— शंका, भी, साध्वस, भीति और भय इनका एकही अर्थ है । तथा इनसे रहित भाव निःशंकित अंग कहलाता है ।

अर्थवशादत्र सूत्रे(मूलार्थे)शंका न स्यान्मनीषिणाम् ।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदास्तिक्यगोचराः ॥ ४८२ ॥

अन्वयार्थः— (सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः) सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ (तदास्तिक्यगोचराः स्युः) सम्यग्दृष्टिके आस्तिक्यके गोचर है अतः (अत्र सूत्रे) उनके अस्तित्व प्रतिपादक आगममें (मनीषिणां) सम्यग्दृष्टियोंके (अर्थवशात्) किसी प्रयोजनवश कभीभी (शंका न स्यात्) शंका नहीं होती है ।

भावार्थ.— परमाणु आदि सूक्ष्म, मेरु आदि अन्तरित और रामरावणादि दूरवर्ती पदार्थोंको सम्यग्दृष्टि केवल आस्तिक्यपूर्वक जानलेता है । इसलिये सम्यग्दृष्टिको इनके विषयमेंभी शंका नहीं होती है ।

तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः ।
अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिंगस्याक्षैरदर्शनात ॥ ४८३ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन सूक्ष्मादि पदार्थोंमें (धर्मादय. सूक्ष्माः) धर्मादिक द्रव्य सूक्ष्म होते है और (कालाणवः अणवः सूक्ष्माः) कालाणु तथा शुद्ध पुद्गलपरमाणुभी सूक्ष्म होते है क्योंकि (एतेषां) इनके (लिंगस्य) साधक साधनका (अक्षैः अदर्शनात्) इंद्रियोंके द्वारा दर्शन नहीं होता है इसलिये इनमें (सूक्ष्मत्वं अस्ति) सूक्ष्मपना हैं ।

भावार्थः— किसीभी इन्द्रियके द्वारा गोचर न होसकनेसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल और शुद्ध पुद्गलपरमाणु ये सब सूक्ष्म कहलाते हैं ।

अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपाः ।
दूरार्था भाविनोतीता रामरावणचाक्रिणः ॥ ४८४ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे कि (द्वीपसरिन्नाथनगाधिपा.) द्वीप, समुद्र, और पर्वत आदि (अन्तरिताः) अन्तरित पदार्थ हैं और (भाविनः अतीताः) भूत तथा भविष्यत कालमें होनेवाले (रामरावणचक्रिणः) राम, रावण, और चक्रवर्ती (दूरार्थाः) दूरार्थ है ।

भावार्थः— धातकी खंडादि द्वीप, लवणादि समुद्र तथा सुमेरु आदि पर्वत अत्यन्त दूरक्षेत्रवर्ती पदार्थ अन्तरित कहलाते है । और भूतभविष्यत् कालवर्ती रामरावण चक्रवर्ती आदि कालकी अपेक्षासे अत्यन्त दूर होनेसे दूरार्थ कहलाते है ।

न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषां काप्यसंशयम् ।
संशयस्यादिहेतोर्वै दृङ्मोहस्योदयात्सतः ॥ ४८५ ॥

अन्वयार्थः— (मिथ्यादृशः) मिथ्यादृष्टियोंके (एतेषां ज्ञानं) इन सूक्ष्म आदि पदार्थोंका ज्ञान (क्व अपि) कभीभी (असंशयं न स्यात्) निःसंशयरूपसे नहीं होता है क्योंकि (वै) निश्चयसे उनके (संशयस्यादि हेतोः) संशयादिकका हेतुभूत (दृङ्मोहस्योदयात् सतः) दर्शनमोहनीयका उदय रहता है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टियोंको इन सूक्ष्मादि पदार्थोंका आस्तिक्य भावपूर्वक ज्ञान होता है । परन्तु मिथ्यादृष्टियोंके संशयादिकका कारणभूत मिथ्यात्वका उदय सदैव रहता है । इसलिए उनको इनके विषयमें सदैव संशय बना रहता है ।

नचाशङ्क्यं परोक्षास्ते सद्दृष्टेर्गोचराः कुतः ।
तैः सह सान्निकर्षस्य साक्ष(क्षि)कस्याप्यसंभवात् ॥ ४८६ ॥

अन्वयार्थ— (तैः सह साक्षकस्य सन्निकर्षस्य अपि असंभवात्) उन सूक्ष्म आदि पदार्थोंके साथ इंद्रिय सहित सन्निकर्षकेभी असंभव होनेसे (ते परोक्षाः) वे परोक्ष सूक्ष्मादि पदार्थ (सद्दृष्टेः गोचराः कुतः) सम्यग्दृष्टिके ज्ञानके विषयभूत कैसे होते है ऐसी (न च आशंक्यं) आशंका नहीं करना चाहिये ।

भावार्थः— ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि सूक्ष्मादि पदार्थोंके साथ इंद्रियसन्निकर्ष नहीं होता है अतः वे परोक्ष है । इसलिये सम्यग्दृष्टियोंकोभी उन परोक्षसूक्ष्मादिकके विषयमें ज्ञान कैसे होगा ।

अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं महतां महत् ।
यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥ ४८७ ॥

अन्वयार्थः— (तत्रापि) सूक्ष्म आदि पदार्थोंके परोक्ष होनेपरभी (महतां महत् सम्यक्त्व माहात्म्यं अस्ति) सम्यग्दृष्टियोंके सम्यक्त्वका ऐसा कुछ माहात्म्य है कि (यत्) जिससे उनके (अस्य जगतः) इस जगतका (आस्तिक्यपुरस्सरं ज्ञानं अस्ति) आस्तिक्यपूर्वक ज्ञान पाया जाता है ।

भावार्थ — सूक्ष्मादि पदार्थोंके अत्यन्त परोक्ष होनेपरभी सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वके महात्यसे उन सबकाभी ज्ञान होता है।

नासंभवमिदं यस्मात स्वभावोऽतर्कगोचरः ।
अतिवागतिशयः सर्वो योगिनां योग(गि)शक्तिवत ॥ ४८८ ॥

अन्वयार्थः— (इदं असभवं न) सम्यक्त्वके इसप्रकारके महात्म्यका होना असंमव नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (स्वभावः अतर्कगोचरः) स्वभाव तर्कका विपय नहीं होता है इसलिये (योगिनां योगशक्तिवत्) योगियोंकी योगशक्तिके समान (सर्वः अतिशयः) सम्यग्दष्टियोंका वह सब माहात्म्य (अतिवाक्) वचनके द्वारा कहा नहीं जासकता है।

भावार्थः— जैसे योगियोंकी योगशक्तिका अचिन्त्य माहात्म्य रहता है वैसेही सम्यग्दष्टियोंके सम्यक्त्वकाभी अचिन्त्य माहात्म्य है। और वह संभव है, असंमव नहीं है।

क्योंकि।

अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदो(दो)पमम् ॥ ४८९ ॥

अन्वयार्थः— क्योंकि (सम्यग्दृगात्मनः) सम्यग्दष्टिजीवका (आत्मपरिच्छेदि) अपनी आत्माको जाननेवाला (स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं) स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप ज्ञान (शुद्धं) शुद्ध (च) और (सिद्धास्पदोपमं) सिद्धोंके समान (अस्ति) होता है।

भावार्थः— सम्यग्दष्टियोंका, अपनी आत्माको जाननेवाला स्वसंवेदन ज्ञान सिद्धोंके समान शुद्ध होता है इसलिए उनके ज्ञानका उक्त माहात्म्य असभव नहीं है।

यत्रानुभूयमाने[नो]पि सर्वैराबालमात्मनि ।
मिथ्याकर्मविपाकाद्धि नानुभूतिः शरीरिणाम ॥ ४९० ॥

अन्वयार्थ— यद्यपि (आबालम्) बालकसे लेकर वृद्धतक (सर्वै.) सबके द्वारा (यत्र आत्मनि अनुभूयमाने अपि) जो आत्मा अनुभव करनेके योग्य है तथापि उसके विषयमें (वै) निश्चयसे (मिथ्याकर्म विपाकात्) केवल मिथ्यात्व कर्मके उदयसे (शरीरिणां अनुभूतिः न) मनुष्योंको स्वानुभव नहीं होता है।

भावार्थः— यद्यपि आत्मा सबके द्वारा अनुभव करनेके योग्य है परन्तु मिथ्यात्व कर्मका जबतक उदय रहता तबतक उसका किसीकोभी अनुभव नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टेःकुदृष्टेश्च स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि।
न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोनातिक्रमात् ॥ ४११ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यग्दृष्टेः च कुदृष्टेः) सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके (वस्तुनि) पदार्थके विषय करनेमें केवल (स्वादुभेदः अस्ति) स्वादभेद होता है किंतु (तत्र) उनके विषयभूत पदार्थोंमें (वास्तव भेद. न) वास्तविक भेद नहीं होता है क्योंकि (वस्तुसीम्न अनतिक्रमात्) कोईभी पदार्थ अपनी मर्यादाका उलंघन नहीं करता है।

भावार्थ.— सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके वस्तुके केवल स्वादमें भेद होता है किंतु वस्तु अपने वस्तुत्वका कभी उलंघन नहीं करता है इसलिये उनके विषयभूत पदार्थोंमें कुछ भेद नहीं होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टिके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ भिन्न हों और मिथ्यादृष्टिके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ भिन्न हो ऐसा नहीं हैं। क्योंकि पदार्थ तो जैसे है। वैसेही है। परन्तु सम्यग्दृष्टिके रागके अभावसे अहंकार भाव ममकार भाव नहीं होते हैं मिथ्यादृष्टिके होते हैं। इसलिय प्रत्येक वस्तुके अनुभवमें भेद होजाता है।

अत्र तात्पर्यमेवैतत्तत्त्वैकत्वेपि यो भ्रमः।
शंकायाः सोऽपराधोऽस्ति सातु मिथ्योपजीविनी ॥ ४१२ ॥

अन्वयार्थ— (अत्र एतत् एव तात्पर्यं) यहांपर यही अभिप्राय है कि (तत्वैकत्वे अपि यः भ्रमः) दोनोंके विषयभूत तत्त्वोंमें एकत्वके होनेपरभी जो भ्रम होता है (सः शंकायाः अपराधः अस्ति)

वह शंकाका अपराध है (तु) और (सा) वह शंका (मिथ्योपजीविनी) मिथ्यात्वके उदयके साथ होनेवाली होती है।

भावार्थः— उक्त कथनका सारांश यह है कि दोनोंके विषयभूत पदार्थोंमें पदार्थकी दृष्टिसे यद्यपि किसी प्रकारका भेद नहीं है तथापि दोनोंके उनका अनुभव भिन्न होता है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि रागद्वेष विहीन होनेके कारण परमें निजत्वकी कल्पना नहीं करता है। किंतु मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वके उदयसे ग्रस्त होकर उन्हें इष्टानिष्ट मानकर तत्कृत रागद्वेष करता है इतनाही भेद है। और इस भेदका कारण मिथ्यात्वके उदयके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाली शंका है।

शंका।

ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम्।
सा शङ्कापि कुतो न्यायादास्ति मिथ्योपजीविनी ॥ ४९३ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि यदि (नृणां यः मिथ्यानुभवः) मनुष्योंका जो पदार्थोंमें मिथ्या अनुभव होता है वह (शंकाकृतः दोषः) शंकाकृत दोष है तो (सा शंका अपि) वह शंकाभी (मिथ्योपजीविनी कुतः न्यायात् अस्ति) मिथ्यात्व कर्मका उदय होनेसेही होती है यह किस न्यायसे सिद्ध होता है ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यदि मिथ्या अनुभव होना शंकाकृत अपराध है तो यह बताईये कि वह शंकाभी मिथ्यात्वकर्मकेही उदयसे होती है यह किस न्यायसे सिद्ध होता है ?

समाधान।

अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युतः।
नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक् ॥ ४९४ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र उत्तरं) यहांपर उत्तर यह है कि (यः कुदृष्टिः) जो मिथ्यादृष्टि होता है (सः सप्तभिः भयैः युतः) वह सात प्रकारके भयोंसे सहित होता है और (यः सुदृष्टिः) जो

सम्यग्दृष्टि होता है (स सप्तभि. भयैः मनाक् अपि स्पृष्ट. न) वह सात भयोंसे किसीभी प्रकार युक्त नहीं होता है।

भावार्थः— शंकाकारकी उक्त शंकाका उत्तर यह है कि मिथ्यादृष्टि सदैव सात प्रकारके भयोंसे युक्त रहता किन्तु सम्यग्दृष्टि कभीभी सात भयोंसे युक्त नहीं होता है। इसलिये वह शंका मिथ्यात्वकी उपजीविनी कही जाती है।

परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी।
भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥ ४९५ ॥

अन्वयार्थः— (वै) निश्चय करके (परत्र) पर पदार्थोंमें (आत्मानुभूतेः विना) आत्मीय-बुद्धिके विना (भीतिः कुतस्तनी) भय कैसे होसकता है अतः (पर्यायमूढानां भीतिः) पर्यायोंमें मोह करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंकोही भय होता है (आत्मतत्वैकचेतसां न) केवल शुद्ध आत्माका अनुभव करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंको भय नहीं होता है।

भावार्थः— परपदार्थोंमें निजत्वकी कल्पना किये विना तत्सम्बन्धी इष्टानिष्ट कल्पना नहीं होती है और इष्टानिष्ट कल्पनाका अभाव होनेसे उन पदार्थोंके संयोगवियोगजन्य भय नहीं होता है। इसलिये सम्यग्दृष्टियोंके परपदार्थोंमें निजत्व न होनेसे भय नहीं होता है। केवल मिथ्यादृष्टियोंकेही परपदार्थमें निजत्वकी कल्पनासे होनेवाली इष्टानिष्ट कल्पना होती है। और उस इष्टानिष्ट कल्पनापूर्वक इष्टवियोग अनिष्टसंयोगजन्य भय होता है।

ततो भीत्यानुमेयोस्ति मिथ्याभावो जिनागमात्।
साच भीतिरवश्यं स्याद्धेतुः स्वानुभवक्षतेः ॥ ४९६ ॥

अन्वयार्थः— (जिनागमात) जिनागमसे—आगम प्रमाणसे तथा (ततः) परपदार्थमें ममताके विना भय नहीं होता है इसलिए (भीत्या) भयरूप साधनसे (मिथ्याभाव.) मिथ्यात्व भाव (अनुमेयः अस्ति) अनुमित होता है और (सा च भीतिः) वह भयही (स्वानुभवक्षतेः) आत्मानुभवके क्षयके लिये (अवश्यं हेतु· स्यात्) अवश्य कारण होता है।

भावार्थः— आगमप्रमाणसे तथा परपदार्थोंमें ममताके विना भय उत्पन्न नहीं होता है। और मिथ्यात्वके

विना परपदार्थोंमें ममता नहीं होती है इसलिए भयके पाये जानेसे मिथ्यात्वभावका अनुमान किया जाता है तथा उस मिथ्याभावसे स्वानुभूतिका नाश होता है इसी अपेक्षासे भयको स्वानुभूतिके क्षयका कारण बताया है।

आस्ते सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः।
स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेरसंभवात् ॥ ४९७ ॥

अन्वयार्थः— (परायत्त. स्वानुभवच्युतः भीतः इह सिद्धं अस्ति) पराधीन जीव आत्मानुभवसे पतित होता हुवा भयवान सिद्धही है क्योंकि (स्वस्थस्य स्वाधिकारत्वात्) स्वस्थ- आत्मस्थ जीवको स्वाधिकारी-स्वसंवेदन प्रत्यक्ष सहित होनेके कारण (नूनं भीतेः असंभवात्) निश्चयसे भय नहीं होसकता है।

भावार्थः— पराधीन व्यक्ति स्वानुभवसे च्युत होकरही भयवान होता है यह असिद्ध नहीं है। क्योंकि स्वस्थ व्यक्ति अपनेमें स्वतः अधिकारी होता है। इसलिये उसके भयकी संभावनाही नहीं है।

शंका।

ननु सन्ति चतस्रोपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित्।
अर्वाक् च तत् परि(स्थिति)च्छेदस्थानादास्तित्वसंभवात् ॥ ४९८ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (कस्यचित् तस्य अस्य च) किसी २ सम्यग्दृष्टिकेभी (चतस्रः अपि संज्ञाः सन्ति) आहार आदि चारोंही संज्ञायें होती है क्योंकि (तत्परिच्छेदस्थानात् अर्वाक् अस्तित्वसंभवात्) जिस गुणस्थानतक जिस २ संज्ञाकी व्युच्छिति नहीं होती है उस गुणस्थान तक व उससे पहलेके गुणस्थानोंमें वे २ संज्ञायें पाई जाती है।

भावार्थ— शंकाकारका कहना है कि आहारादिक संज्ञायें चौथे गुणस्थानसे लेकर जहांतक उनकी व्युच्छित्ति नहीं होती है वहातक पाई जाती है। इसलिये सम्यग्दृष्टियोंकेभी ५ वें गुणस्थानतक सब संज्ञायें व छट्टे गुणस्थातमें आहारसंज्ञा कार्यरूपसे पाई जाती है। तथा संज्ञाके कारणभूत वेद आदि कर्मोंके सद्भावकी अपेक्षासे जहांतक वेद, भय, लोभ और असाता कर्मका सद्भाव पाया जाता है वहातक उपचारसे यथायोग्य संज्ञायें पाई जाती है। इस नियमानुसार भयसंज्ञाकी व्युच्छित्ति आठवें गुणस्थातमें होती है, क्योंकि भय कर्मका अस्तित्व आठवें गुणस्थानतक पाया जाता है।

तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि ।
अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रयत्नवान् ॥ ४९९ ॥

अन्वयार्थः— (तत्) इसलिए (दृष्टिवान्) सम्यग्दृष्टि (सर्वतः अपि) सर्वथा (निर्भीकः नाम कथं) निर्भीक कैसे होसकता है (अपि) और वह (अध्यक्षं) प्रत्यक्षमभी (अनिष्टार्थसंयोगात्) अनिष्ट पदार्थके संयोगके होनेसे (प्रयत्नवान् अस्ति) उसके निवारण करनेके लिए प्रयत्नवानभी देखा जाता है।

भावार्थः— जब सम्यग्दृष्टिके संज्ञाएं पाई जाती है तथा प्रत्यक्षमें वह अनिष्टार्थ संयोगके निवारणार्थ प्रयत्नवान देखा जाता है तो फिर सम्यग्दृष्टि सर्वथा भयोंसे निर्मुक्त रहता है ऐसा क्यों कहाजाता है ?

समाधान।

सत्यं भीकोपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः ।
रूपि द्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ॥ ५०० ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है किंतु (तत्स्वामित्वाद्यभावतः) सम्यग्दृष्टिके परपदार्थोंमें स्वामित्व नहीं होता है अतः वह (भीकः अपि) भयवान होकरकेभी (निर्भीकः) निर्भीक है (यथा) जैसे कि (चक्षुः अपि द्रव्यं पश्यत् अपि) चक्षुइंद्रिय रूपीद्रव्यको देखनेपरभी (न पश्यति) इष्टानिष्ट कल्पनापूर्वक निजत्वके अभावसे इष्टानिष्ट नहीं कहलाता है।

भावार्थ — ठीक है कि सम्यग्दृष्टि के संज्ञाएं पाई जाती है। और अनिष्ट पदार्थ के संयोगके निवारण करने के लिये वह प्रयत्नभी करता है। परन्तु ऐसा होनेपरभी उसके परपदार्थों मे स्वामित्व की कल्पना न होनेसे अर्थात् अहंकार ममकार भावके नहीं होनेसे भयवान हो करभी वह वास्तवमें निर्भय ही है। उदाहरणार्थ जैसे कि उपयोग विहीन चक्षु रूपी द्रव्य को देखता हुआभी द्रष्टानहीं कहलाता है।

सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः ।
मुह्यन् रज्यन् द्विषंस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ॥ ५०१ ॥

अन्वयार्थः— (संसारिजीवानां) संसारीजीवोंके (कर्मांशाः) जो २ कर्मांश (उदयागताः

सन्ति) उदय अवस्थाको प्राप्त होते हैं (तत्र च) उसमेंही वे संसारी जीव (मुह्यन् रज्यन् द्विषन्) मोह राग और द्वेष करते हुए (तत्फलेन उपयुज्यते) उन कर्मोंके फलोंसे उपयुक्त होते है।

भावार्थः— कर्मोंके उदय होनेपर संसारी जीव उन कर्मोंके उदयानुसार मोही रागी और द्वेषी होकर उन कर्मोंके फलसे तन्मय होजाते है अर्थात् अपनेको मोही रागी तथा द्वेषी मानकर इष्टानिष्ट पदार्थोंसे सुखी दुखी होते है व तन्निमित्तक भयसे युक्त रहते है। किंतु सम्यग्दृष्टि जीव कर्मोंके उदयसे परवश होकरभी वास्तवमें उनके फलसे उपयुक्त नहीं होता है। इसलिये वह बाह्यमें भय सहित होकरभी वास्तवमें निर्भयही है।

एतेन हेतुना ज्ञानी निःशंको न्यायदर्शनात्।
देशतोप्यत्र मूर्च्छायाः शंकाहेतोरसंभवात् ॥ ५०२ ॥

अन्वयार्थः— (एतेनहेतुना) इस कारणसे (न्यायदर्शनात्) उक्त न्यायानुसार (ज्ञानी) ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि जीव (निश्शंकः) निश्शंक होता है क्योंकि (अत्र) इस सम्यग्दृष्टि जीवमें (देशत अपि) एकदेशसेभी (शंकाहेतोः) शंका-भयका कारणभूत (मूर्च्छायाः असंभवात्) मिथ्यात्वोदयजन्य आसक्तिका होना संभव नहीं है।

भावार्थः— इसलिये ज्ञानी निःशंक कहाजाता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्वका अभाव होनेसे शंकाकी एकदेशसेभी संभावना नहीं होती है कारणकि शंकाकी उत्पत्ति मिथ्यात्वजन्य परपदार्थोंमें ममतापूर्वक होती है मिथ्यादृष्टि अपनेको रागादि भावोंका स्वामी समझता है किंतु सम्यग्दृष्टियोंके उक्त प्रकारकी ममता व रागद्वेषादिक विकारोंका स्वामीपना नहीं होता है इसलिये वह निर्भयही है।

स्वात्मसंचेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते।
येन कर्मापि कुर्वाणः कर्मणा नोपयुज्यते ॥ ५०३ ॥

अन्वयार्थः— अत्र (तस्य) उस सम्यग्दृष्टिका (स्वात्मसंचेतनं) शुद्ध आत्मानुभव (कीदृक् अस्ति) कैसा होता है (इति चिन्त्यते) यह विचार किया जाता है (येन) जिस शुद्धात्मानुभवके साथ वह (कर्म कुर्वाणः अपि) कर्म करता हुआभी (कर्मणा न उपयुज्यते) कर्मसे उपयुक्त नहीं होता है।

भावार्थः— अब आगे सम्यग्दृष्टीके स्वात्माका अनुभव कैसा होता है इसका खुलासा करते हैं जिससे कि सम्यग्दृष्टि कर्मोको करके भी उनके उपयोगसे युक्त नहीं होता है अर्थात् कर्मोंके करके भी उसकी ज्ञानचेतनामें बाधा नहीं पहुंचती है।

तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै(वा)वेदनाभयम् ।
चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पंचमी ॥ ५०४ ॥
भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकं(की) ततः ।
क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥ ५०५ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन सातों भयोंमेंसे (वै) निश्चयसे (इहलोके भीतिः) इहलोकभय (अमुत्र भीतिः) परलोकभय (वेदनाभयं) वेदनाभय (चतुर्थी भीतिरत्राणं) चौथा अत्राणभय (तु) और (पंचमी भीतिः अगुप्तिः स्यात्) पांचवां अगुप्तिभय होता है (तथा वा) तथा (मृत्युः भीतिः स्यात्) छट्ठा मृत्युभय होता है (च) और (ततः) इसके बाद सातवां (आकस्मिकं) आकस्मिक भय होता है (इति) इसप्रकार (क्रमात उद्देशिताः) क्रमसे उद्देशित (एताः सप्त भीतयः स्मृताः) ये सात भय मानेगये हैं।

भावार्थः— १ इहलोकभय २ परलोकभय ३ वेदनाभय ४ अत्राणभय ५ अगुप्तिभय ६ मरणभय ७ अक-स्मिकभय ये सात भय हैं। अब आगे उनका यथाक्रम वर्णन किया जाता है।

तत्रेह लोकतो भीतिः क्रान्दितं चात्र जन्मनि ।
इष्टार्थस्य व्ययो माभून्माभून्मेऽनिष्टसंगमः ॥ ५०६ ॥
स्थास्यतीदं धनं नोवा दैवान्माभूद्दरिद्रता ।
इत्याद्याधिश्चिता दग्धु ज्वलितेवाऽदृगात्मनः ॥ ५०७ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उनमेंसे (मे इष्टार्थस्य व्ययः माभूत) मेरे इष्ट पदार्थका वियोग न

होजाय (च) और (अनिष्टसंगम माभूत्) अनिष्ट पदार्थका संयोग न होजाय इसप्रकार (अत्र जन्मनि) इस जन्ममें (क्रन्दितं) क्रन्दन करनेको (इह लोकतः भीति) इहलोकभय कहते है तथा (इदं धन स्थास्यति वा नो) न जाने यह धन स्थिर रहेगा कि नहीं (दैवात् दरिद्रता माभूत्) दैवयोगसे कहीं दारिद्रता प्राप्त न हो जावे (इत्याद्याधिः चिंता) इत्यादिक मानसिक व्यथारूपी चिंता (अद्दगात्मनः दग्धुं ज्वलिता इव) मिथ्यादृष्टिको जलानेके लिये मानो सदैव जलतीही रहती है ।

भावार्थः— कहीं मेरे इष्ट पदार्थोंका वियोग और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग न होजाय, न जाने यह धन ठहरेगा कि नहीं, कहीं धन नष्ट न हो जाय, दरिद्रता न आजाय इसप्रकारकी जो मानसिक व्याधि सदैव चिताके समान मिथ्यादृष्टीयोंके जलानेके लिये जलती रहती है इसको इहलोकभय कहते है ।

अर्थादज्ञानिनो भीतिभीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित ।
यतोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषाश्चानयोर्महान् ॥ ५०८ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (अज्ञानिनः भीति) इसप्रकारका भय अज्ञानी जीवोंकोही होता है (ज्ञानिनः क्वचित भीति न) ज्ञानीको इसप्रकारका भय कभी नहीं होता है (यतः) क्योंकि (शेषात् हेतुतः च) शेष हेतुपूर्वकभी (अनयोः) इन ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंमें (महान् विशेषः अस्ति) महान् अन्तर है ।

भावार्थः— भय मिथ्यादृष्टिको होता है सम्यग्दृष्टिको नहीं । अतः भयके न होने और होनेके कारणही सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियोंमें विशेषता है तथा औरभी जिन कारणोंसे इन दोनोंमें अन्तर होता है उन्हें बताते है।

अज्ञानी कर्मनोकर्मभावकर्मात्मकं च यत ।
मनुते सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत ॥ ५०९ ॥

अन्वयार्थः— (अज्ञानी) अज्ञानी (यत् कर्मनोकर्मभावकर्मात्मकं च) जो कर्म नोकर्म और भावकर्ममय है (तदेव एतत् सर्व एव) वही यह सब है ऐसा (मोहात्) मोहसे इन सबको (अद्वैतवादवत) अद्वैत वादके समान (मनुते) मानता है ।

भावार्थः— जैसे अद्वैतवादी सबको अद्वैतरूपसे मानते हैं वैसेही मिथ्यादृष्टिजीवभी कर्म नोकर्म और भावकर्म सबकोही आत्मासे अभिन्न मानता है अर्थात् आत्माकोही कर्म नोकर्मात्मक मानता है।

विश्वाद्भिन्नोपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा।
भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥ ५१० ॥

अन्वयार्थः— (आत्महा) मिथ्यादृष्टि (विश्वात् भिन्न अपि) संसारसे भिन्न होकरभी (स्व आत्मानं विश्वं कुर्वन्) अपनी आत्माको विश्वरूप करता हुवा (विश्वमयः भूत्वा) विश्वमय होकर (लोके) लोकमें (जातुचित्) कभी (भयं न उन्मजति) भय नहीं त्यागता है।

भावार्थ— आत्मघ्न मिथ्यादृष्टि लोकमें विश्वसे भिन्न होकरभी अपनेको विश्वमय कल्पित करके कभीभी भयसे रहित नहीं होता है।

तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणः पाकसंभवात्।
नित्यबुद्धचा(नित्यं बुध्वा)शरीरादौ भ्रांतो भीतिमुपैति सः ॥ ५११ ॥

अन्वयार्थः— (तात्पर्यं) तात्पर्य यह है कि (सः) वह मिथ्यादृष्टि (कर्मणः पाकसंभवात्) मिथ्यात्व कर्मके उदयसे (सर्वतः अनित्ये शरीरादौ) सर्वथा अनित्य शरीर आदिमें (नित्यबुद्धया) नित्यताकी बुद्धिसे (भ्रान्तः) भ्रान्त होकर (भीतिं उपैति) भयको प्राप्त होता है।

भावार्थः— शरीरादिक, कर्मोंके उदयसे निष्पन्न होते हैं इसलिये शरीरादिक अनित्य हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि उन्हें नित्य मानकर सदैव मृत्यु आदिके भयसे ग्रस्त रहता है।

सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव।
यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमत्येति चिन्मयम् ॥ ५१२ ॥

अन्वयार्थः— और (सम्यग्दृष्टि) सम्यग्दृष्टी जीव (यावत्कर्मातिरिक्तत्वात्) सम्पूर्ण कर्मोंसे भिन्न होनेके कारण (स्वं) अपनेमें (सदेकत्वं) सत्स्वरूप एकता को (समासादयन् इव) प्राप्त करता हुआ ही मानो क्या (शुद्धं चिन्मयं) शुद्ध चिन्मय रूपसे (अन्वेति) अनुभव करता है।

भावार्थः— और सम्यग्दृष्टि जीव, अपना स्वरूप कर्मसे भिन्न है अर्थात् वह कर्मोपाधिजन्य अवस्थाओंसे भिन्न होनेके कारण अपनेमें सत्स्वरूपको पाकर अपनेको शुद्ध चेतनमय रूपसे अनुभव करता है।

शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा ।
अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः ॥ ५१३ ॥

अन्वयार्थः— (यः) जो सम्यग्दृष्टि है वह (कर्मकार्यत्वात्) कर्मोंके फलस्वरूप होनेसे (शरीरं) शरीर (सुखदुःखादि) सुख दुःख आदि (तथा) और (पुत्रपौत्रादिकं) पुत्र पौत्र आदिको (अनित्यं) अनित्य तथा (अस्वरूपं) आत्मस्वरूपसे भिन्न (अवैति) समझता है।

भावार्थः— जो सम्यग्दृष्टि है वह कर्मके फलरूप होनेसे शरीर, सुखदुःख तथा पुत्रपौत्रादिकको अनित्य और अपने स्वरूपसे भिन्न समझता है।

लोकोऽयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोर्थतः।
नाऽपरोऽलौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोऽस्ति मे ॥ ५१४ ॥

अन्वयार्थः— (अयं हि चिल्लोक) यह चेतनामयी लोकही (मे लोक) मेरा लोक है और (सः) वही लोक (अर्थतः) वास्तवमें (नूनं नित्यं अस्ति) निश्चयसे नित्य है तथा (अपरः लोक अलौकिकः न) आत्मासे भिन्न लोक अलौकिक नहीं है किंतु लौकिक है (तत) इसलिये (मे भीतिः कुतः अस्ति) मुझे इहलोकसंबंधी भय कैसे उत्पन्न होसकता है अर्थात् नहीं होसकता है।

भावार्थः— मेरा लोक चेतनामय है । और निश्चयसे नित्य है। तथा यह लौकिक लोक मेरा नहीं है इस लिए ऐसे बाह्य लोकसे मुझे भय कैसे होसकता है ?

स्वात्मसंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः ।
इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबंधनात ॥५१५ ॥

अन्वयार्थ— (एवं) इसप्रकार (ज्ञानी) सम्यग्दृष्टि जीव (स्वात्मसचेतनात) शुद्ध आत्माक

अनुभव करनेसे (ज्ञानैकतानतः) ज्ञानमें तलीन होनेके कारण (इहलोकभयात् मुक्तः) इहलोकभयसे मुक्त होकर (तत्कर्मबंधनात्) इहलोकभयसे होनेवाले कर्मबन्धनसे (मुक्त.) मुक्त होजाता है।

भावार्थः— इसप्रकारसे सम्यग्दृष्टि जीव शुद्वात्माका अनुभव करनेसे ज्ञानमय होकर इहलोकभयसे मुक्त होता हुआ तज्जन्य बन्धसे मुक्त रहता है।

परलोकःपरत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक्।
ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोऽस्ति सा ॥ ५१६ ॥

अन्वयार्थः— (परत्र) परभवमें (भाविजन्मांतरांशभाक्) भावि पर्यायरूप अंशको धारण करनेवाला (आत्मा) आत्मा (परलोकः) परलोक है और (ततः यः कम्पइव त्रासः) उस परलोकसे जो कँपनेके समान भय होता है (सा परलोकतः भीतिः अस्ति) उसको परलोकभय कहते हैं।

भावार्थ.— आगेके भवमें आत्माकी स्थितिको परलोकभय कहते हैं। और न जाने परभवमें कैसी स्थिति प्राप्त होगी इसप्रकारके भयको परलोकभय कहते हैं।

भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ।
इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम् ॥५१७॥

अन्वयार्थः— (स्वर्लोके जन्म चेत् भद्रं) यदि स्वर्गमें जन्म हो तो अच्छा है (मे जन्म दुर्गतौ माभूत्) मेरा जन्म दुर्गतिमें न हो (इत्याद्याकुलितं चेतः) इत्यादि प्रकारसे हृदयका आकुलित होना (पारलौकिकं साध्वसं) पारलौकिकभय कहलाता है।

भावार्थः— मुझे स्वर्लोकमें उत्तम जन्म प्राप्त हो। दुर्गतिमें कभीभी निकृष्ट जन्म प्राप्त न हो इसप्रकारकी मनकी आकुलताको परलोकभय कहते हैं।

मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात्।
तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति तत्तत्र व्यत्ययात् ॥ ५१८ ॥

अन्वयार्थः— (मिथ्याभावैककारणात्) केवल मिथ्यादर्शनके कारण (तत् मिथ्यादृशः एव अस्ति) वह पारलौकिकभय मिथ्यादृष्टिकोही होता है (तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेः) मिथ्यादृष्टिके विपक्षभूत सम्यग्दृष्टिके (तत् नास्ति) वह परलोकभय नहीं होता है क्योंकि (तत्र व्यत्ययात्) उस सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व भावका अभाव होजाता है।

भावार्थः— मिथ्यात्वके उदयसे केवल मिथ्यादृष्टियोंकोही परलोकभय होता है। किंतु सम्यग्दृष्टियोंके मिथ्यात्वके उदयका अभाव रहता है इसलिये उनको परलोकभय नहीं होता है।

बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः।
स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम् ॥५१९

अन्वयार्थः— (अनात्मज्ञः बहिर्दृष्टिः अज्ञः) अपने आत्माको नहीं जाननेवाला मिथ्यादृष्टी अज्ञानी (मिथ्यामात्रैकभूमिकः) केवल मिथ्यात्वभूमिमें रहनेवाला होता है इसलिये वह (स्वं) अपनेको सदैव (कर्म कर्मफलात्मकं) कर्म और कर्मफलरूपसेही (समासादयति) प्राप्त करता है।

भावार्थः— आत्मज्ञानशून्य बहिर्दृष्टि केवल मिथ्याभावोंकाही मूल होता है इसलिये वह अज्ञानी अपनेको सदैव कर्मचेतना और कर्मफलचेतनामय समझता रहता है।

ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव।
मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः कुधीः ॥ ५२० ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिये वह मिथ्यादृष्टि उस परलोकभयसे (नित्यं) सदा (भ्रांतिमान् इव) भ्रांतिमानकी तरह (भयाक्रांतः वर्तते) भयभीत रहता है सो ठीकही है क्योंकि (कुधीःजनः) अज्ञानी जीव (मृगतृष्णाया) मृगतृष्णामें (अम्भोभारं मनुते) जलका अस्तित्व मानता है।

भावार्थ— मिथ्यादृष्टि जीव नित्य परलोकभयसे भयाक्रान्त रहता है सो ठीकही है क्योंकि अज्ञानी जीव मृगतृष्णामेंही जलकी कल्पना किया करता है।

अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः ।
भीतिहेतोरिहावश्यं भ्रान्तेरत्राप्यसंभवात् ॥ ५२१ ॥

अन्वयार्थः— (तु) किन्तु (इह) यहांपर (अन्तरात्मा) सम्यग्ज्ञानीजीव (निर्भीकः सन्) निर्भीक होताहुआ (निर्भय पदं आश्रितः) निर्भयपदके आश्रित होता है क्यों कि (अत्र अपि) सम्यग्दृष्टीके इहलोकके समान परलोकमेंभी (भीतिहेतोः भ्रांतेः) भयका कारणभूत भ्रांति (अवश्यं असंभवात्) अवश्यही संभव नहीं है ।

भावार्थः— परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव सदैव परलोकके विषयमें निर्भीक होकर निर्भयपदमेंही स्थित रहता है। क्योंकि परलोकके विषयमें भयका कारण जो भ्राति है वह सम्यग्दृष्टिके नहीं होती है ।

मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः ।
यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासाद्रवत्यधीः ॥ ५२२ ॥

अन्वयार्थः— (यत् अन्यत्र) जो दूसरे पदार्थोंमें (अन्य वस्तुनः दर्शनं वा) अन्य पदार्थका दर्शन करना है वही (मिथ्याभ्रांति) मिथ्या भ्रांति है (यथा) जैसे कि (अधीः) अज्ञानी मनुष्य (तमो हेतोः) अन्धकारके कारण (रज्जौ) रस्सीमें (सर्पाध्यासात्) सर्पकी कल्पना करनेसे (द्रवति) डरता है ।

भावार्थः— जैसे अज्ञानी जीव अज्ञानके कारण रज्जुमें सर्पका भ्रम करनेसे डरता है ठीक वैसही मिथ्यादृष्टियोंके सदैव मिथ्यात्वके उदयसे अन्य वस्तुका अन्य वस्तुमें अवलोकन करनेसे सदैव मिथ्या भ्राति होती है ।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात्
स विभेति कुतो न्यायादन्यथाऽभवनादिह ॥ ५२३ ॥

अन्वयार्थः— (यः) जो (अनन्यसात्) पर निमित्तके विना होनेवाले (स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिः) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप ज्योतिका-ज्ञानका (वेत्ति) अनुभव करता है (सः) वह सम्यग्दृष्टि (इह)

(इह) इस लोकमें (अन्यथा अभवनात् न्यायात्) अन्यथा हो नहीं सकता इस सिद्धांतके कारण (कुतः) कैसे (बिभेति) डरसकता है ?

भावार्थ.— जो अपनेको स्वयं सदैव स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ज्ञानज्योतिमयही मानता है वह सम्यग्दृष्टि भवान्तर सम्बन्धी अन्यथा भवनरूप भावसे कैसे डरसकता है ?

वेदनाऽगन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ ।
भीतिः प्रागेव कम्पः स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम् ॥ ५२४ ॥

अन्वयार्थ.— (तनौ) शरीरमें (मलानां कोपत.) दूषित वात पित्त आदिके प्रकोप होनेसे (आगन्तुका बाधा) आनेवाली बाधा (वेदना) वेदना कहलाती है और (मोहात्) मोहके कारण (प्राक् एव कम्प.) विपत्तिके आनेके पहलेही उससे भय करना (वा) अथवा (परिदेवनं) जिससे अपने ऊपर दूसरोंको करुणा उत्पन्न हो इसप्रकारसे रोना पीटना (भीतिः स्यात्) वेदनाभय कहलाता है ।

भावार्थः— शरीरमें दोषोंके कारण आनेवाली बाधा वेदना कहलाती है । और उस वेदनाके भयसे जो शरीरमें कपनेके समान मनका कपना है अथवा दीनतापूर्वक दुखी होना है जिससे कि दूसरोंको अपने ऊपर करुणा उत्पन्न हो उसको वेदनाभय कहते है ।

उल्लाघोऽहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित् ।
मूर्च्छैव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः ॥ ५२५ ॥

अन्वयार्थः— (अह उल्लाघः भविष्यामि) मैं नीरोग हो जाऊं (मे क्वचित् वेदना माभूत्) मुझे कभीभी वेदना नहीं होवे इसप्रकारकी (मूर्च्छा एव) मूर्च्छाही -ममत्व बुद्धिही (वा) अथवा (मुहुः मुहुः) वार २ (चिन्तनं) चिन्तवन करना (वेदनाभीतिः) वेदनाभय कहलाता है ।

भावार्थः— मैं नरोग हो जाऊं, मुझे आगे कभीभी वेदना उत्पन्न न हो इसप्रकारकी ममता अथवा पुनः पुनः जो रोगसे डरनेवाली मनकी गति है उसे वेदनाभय कहते है ।

अस्ति नूनं कुदृष्टे सा दृष्टिदोषैकहेतुतः ।
नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनः क्वचित ॥ ५२६ ॥

अन्वयार्थः— (सा) वह वेदना (नूनं) निश्चयसे (दृष्टिदोषैकहेतुतः) केवल मिथ्याद-र्शनके कारण (कुदृष्टेः) मिथ्यादृष्टिके (नीरोगस्य आत्मनः अज्ञानात्) नीरोग आत्माका ज्ञान नहीं होनेसे (अस्ति) होती है; किन्तु (सा) वह भीति (ज्ञानिनः क्वचित् न स्यात्) सम्यग्ज्ञानीको कभीभी नहीं होती है।

भावार्थ.— वह वेदनाभय मिथ्यादृष्टिकोही मिथ्यात्वके उदयसे, (अपनी आत्मा तो सदैव नीरोग है ' इस प्रकारका ज्ञान न होनेसे) होता है। किंतु ज्ञानियोंके मिथ्यात्वका अभाव होनेसे कभीभी वह वेदनाभय नहीं होता है।

पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् ।
व्याधिः सर्वो शरीरस्य नाऽमूर्तस्येति चिन्तनम् ॥ ५२७ ॥

अन्वयार्थः— (पुद्गलात्) पुद्गलसे (भिन्नचिद्धाम्नः मे) सर्वथा भिन्न चेतनस्वरूप मुझको (व्याधिः न) व्याधि नहीं होसकती है इसलिये (भयं कुतः) भय कैसे होसकता है क्योंकि (सर्वो व्याधिः शरीरस्य) सम्पूर्ण व्याधिया शरीरमें होती है (अमूर्तस्य न) अमूर्त आत्मामे नहीं (इति चिन्तनात्) इसप्रकार सम्यग्दृष्टि विचार करता है।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिके सदैव ऐसे विचार रहते है कि सम्पूर्ण व्याधियां शरीरमेंही होती है आत्मामें नहीं। क्योंकि चेतनामय मैं तो शरीरसे सर्वथा भिन्न हूं। इसलिये मुझे किसीसेभी भय नहीं होसकता है।

यथा प्रज्वलितो वन्हिः कुटीरं दहति स्फुटम् ।
न दहति तदाकारमाकाशमिति दर्शनात् ॥ ५२८ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (प्रज्वलितः वन्हिः) प्रदीप्त अग्नि (कुटीरं दहति) झोपडीको जलाती है किंतु (तदाकार आकाशं न दहति) झोपडीमें आये हुये आकाशको नहीं जलाती है (इति स्फुटं दर्शनात्) यह स्पष्ट देखा जाता है।

भावार्थः— जैसे अग्नि केवल झोपडीकोही जलाती है किंतु तद्गत आकाशको नहीं जला सकती है वैसेही व्याधि केवल शरीरकोही कष्ट देसकती है अमूर्तिक आत्माको नहीं।

स्पर्शनादींद्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु ।
नादरो यस्य सोस्त्यर्थान्निर्भीको वेदना भयात्॥ ५२९ ॥

अन्वयार्थः— क्योंकि (प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु) वर्तमान और भविष्यत्कालमें होनेवाले (स्पर्शनादींद्रियार्थेषु) स्पर्शनादिक इंद्रियोंके विषयोंमें (यस्य आदरः न) जिसका आदर नहीं है (सः) वह (अर्थात्) वास्तवमें (वेदनाभयात्) वेदनाभयसे (निर्भीकः अस्ति) निर्भीक रहता है ।

भावार्थः— शरीरमें ममताकेही कारण व्याधिसे भय होता है । परन्तु जब सम्यग्दृष्टिके वर्तमान और अनागत इंद्रियोंके विषयोंमें आदरही नहीं होता है तो फिर उसके तज्जन्य भय कैसे होसकता है ?

व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैर्नाऽसिद्धोऽनादरो मनाक् ।
बाधाहेतोः स्वतस्तेषामाभयस्याविशेषतः ॥ ५३० ॥

अन्वयार्थः— (मनाक्) सम्यग्दृष्टिके कभीभी (तेषु व्याधिस्थानेषु) उन व्याधिके स्थानभूत इंद्रियविषयमें (उच्चैः अनादरः) अत्यन्त अनादरभाव (असिद्धः न) असिद्ध नहीं है क्योंकि (तेषां स्वतः बाधाहेतोः अभअविशेषयस्य तः) सामान्यरूपसे वे इंद्रियविषय स्वयं बाधाके कारण स्वरूप रागरूप होते है अर्थात् सामान्यपनेसे बाधाके हेतुभूत रोगमें और भोगोंमें कोई विशेष नहीं है ।

भावार्थः— बाधाके हेतुभूत रोग तथा इद्रियोंके विषयमें कुछभी अन्तर नहीं है । इसलिये व्याधिके स्थानभूत विषयोंमें सम्यग्दृष्टिके सदैव अनादरही रहता है । यह असिद्ध नहीं है ।

अत्राणं क्षणिकैकांते पक्षे चित्तक्षणादिवत् ।
नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमताऽत्मनः ॥ ५३१ ॥

अन्वयार्थः— जैसेकि (क्षणिकैकांते पक्षे) बौद्धोंके क्षणिक एकान्त पक्षमें (चित्तक्षणादिवत्) चित्तक्षण प्रतिसमय नश्वर होता है वैसेही (नाशात् प्राक्) पर्यायके नाशसे पहले (आत्मन अंशि-

नाशस्य) अंशिरूप आत्माके नाशकी (त्रातुं अक्षमता) रक्षाके लिए अक्षमता (अत्राण) अत्राणभय कहलाता है ।

भावार्थः— जैसे बौद्ध आत्म द्रव्यको न मानकर केवल चित्त क्षण की सन्तानको प्रति समय नश्वर मानते है वैसेही अंश नाशसे पहिलेही अंशी के नाश को भय मानना अत्राण भय कहलाता है ।

साराश यह है कि मनुष्यादि पर्यायके नाशसे पहलेही आत्माके नाशके भयको अत्राण भय कहते है ।

भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोन्वयात् ।
मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोऽस्ति सा ॥ ५३२ ॥

अन्वयार्थः— (अंशनाशात् प्राक्) अंशके–पर्यायके नाशसे पहलें (अन्वयात् अंशिनाश भ्रमः) अन्वयसे अशवानके–द्रव्यके नाशका भ्रम (भीतिः स्यात्) अत्राणभय है और (सा) वह भीति (नूनं) निश्चयसे (मिथ्यामात्रैकहेतुत्वात्) केवल मिथ्या हेतुक होनेसे (मिथ्यादृशः अस्ति) मिथ्यादृष्टिकेही होती है ।

भावार्थः— उक्त अत्राणभय मिथ्यात्वके उदयसे होनेवाली भ्रमताके कारण होता है । इसलिये वह भय मिथ्यादृष्टिकोही होता है । सम्यग्दृष्टिको नहीं ।

शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयात् ।
तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोस्त्यत्राणसाध्वसात् ॥ ५३३ ॥

अन्वयार्थः— (अस्तंगतस्य अपि पर्ययस्य) नष्ट हुई पर्यायकेभी (अन्वयात्) अन्वयसे (सत्) सत (शरण) शरणभूत है किंतु (सः अज्ञः) वह अज्ञानी (तं अनिच्छन् इव) उस शरणभूत सतको स्वीकार नहीं करता हुआही मानो क्या (अत्राणसाध्वसात्) अत्राणभयसे (त्रस्त अस्ति) त्रस्त होता है ।

भावार्थ.— पर्यायों के नाश होने परभी द्रव्यके नाशको नहीं होने देने के लिये द्रव्य स्वयं शरण है अर्थात यद्यपि द्रव्यपनेके कारण किसी द्रव्यका नाश नहीं होसकता है तथापि मिथ्यादृष्टी जीव पर्याय के नाशसे ममता के

कारण पहलेही अपने नाशके भयसे आतुर रहता है । किंतु उक्त भयवश अपने द्रव्यत्वको शरण नहीं मानता है ।

सदृष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणं(णे) नष्टे चिदात्मनि ।
पश्यनष्टमिमात्मानं निर्भयोत्राणऽभीतितः ॥ ५३४ ॥

अन्वयार्थः— (तु) किंतु (सदृष्टि.) सम्यग्दृष्टि जीव (स्वै चिदंशैः) अपने चेतनात्मक अंशोंसे (क्षणं चिदात्मनि नष्टे) प्रतिसमय चिदात्माके नाश होनेपरभी (आत्मानं न नष्टं) अपनेको द्रव्यदृष्टिसे अनष्ट (पश्यन्) अनुभव करता हुआ (अत्राणभीतितः निर्भयः 'अस्ति') अत्राणभयसे निर्भय होता है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टि जीव पर्यायरूप अपने अंशोंके द्वारा नष्ट होनेपरभी द्रव्यत्वका कभी नाश नहीं होता है । ऐसा समझता है । इसलिये वह कभीभी अपनी आत्माके नाशको नहीं मानता है । अतः वह उक्त अत्राण भयसे सदैव निर्भय रहता है ।

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः ।
नात्राणमंशतोप्यत्र कुतस्तद्धि[द्धिर्] महात्मनः ॥ ५३५ ॥

अन्वयार्थः— (हि) जिस कारणसे वास्तवमें किसी द्रव्यका (द्रव्यतः अपि च क्षेत्रतः कालात् अपि च भावतः) द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावकी अपेक्षासे (अत्र) इस लोकमें (अंशतः अपि अत्राणं न) अंशरूपसेभी कभी अत्राण नहीं होता है (तत्) इसलिये वह भय (महात्मनः कुतः) सम्यग्दृष्टिके कैसे होसकता है ?

भावार्थः— द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे प्रत्येक द्रव्यका रक्षणही रहता है । इसलिये सम्यग्दृष्टिके अत्राणभय कैसे होसकता है ?

---

१ प. 'पश्यन्नष्टमिवात्मानं, ऐसा पाठ है और यह पाठ कुछ अशुद्ध प्रतीत होता है इसलिये लाटीसंहिताका पाठ ग्रहण किया है ।

दृङ्मोहस्योदयाद्बुद्धिः यस्यैचैकान्तवादिनी ।
तस्यैवागुप्ति भीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित ॥ ५३६ ॥

अन्वयार्थः— (दृङ्मोहस्य [1]उदयात्) दर्शनमोहनीयके उदयके कारण (यस्य बुद्धिः) जिसकी बुद्धि (एकांतवादिनी) एकान्त मिथ्यात्व आदिकी वादिनी होती है (तस्य एव) उसकोही (नूनं) निश्चयसे (अगुप्तिभीतिः स्यात) अगुप्तिभय होता है (च) किंतु (अन्यस्य जातुचित् न) अनेकांतवादी सम्यग्दृष्टि आत्माको वह अगुप्तिभय कदापि नहीं होता है ।

भावार्थः— मिथ्यात्वके उदयसे क्षणिकैकातादि वादको अगिकार करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंकोही अगुप्तिभय होता है । अनेकातवादी सम्यग्दृष्टियोंको कभीभी नहीं होता है ।

असज्जन्म सतोनाशं मन्यमानस्य देहिनः ।
कोऽवकाशस्ततोमुक्तिमिच्छतोऽगुप्तिसाध्वसात् ॥ ५३७ ॥

अन्वयार्थः— (असत् जन्म) असत् पदार्थके जन्मको और (सतः नाश) सत् पदार्थके नाशको (मन्यमान्यस्य) माननेवाले तथा (मुक्ति इच्छतः देहिनः) मुक्तिको चाहनेवाले शरीर धारियोंको (तत. अगुप्तिसाध्वसात्) उस अगुप्तिभयसे (अवकाशः कः) अवकाश कहां मिलसकता है ।

भावार्थः— यद्यपि असतकी उत्पत्ति नहीं होती है और सत्का कभी नाश नहीं होता है । इसलिये प्रत्येक द्रव्यका स्वरूप स्वयं गुप्त है अरक्षित नहीं है । तथापि असत्की उत्पत्ति तथा सत्का विनाश माननेवाले मिथ्यादृष्टि मुमुक्षुओंको सदैव अगुप्तिभय रहता है । सम्यग्दृष्टियोंको नहीं क्योंकि ।

सम्यग्दृष्टिस्तु स्वरूपं गुप्तं वै वस्तुनो विदन् ।
निर्भयोऽगुप्तितो भीतेर्भीतिहेतोरसंभवात ॥ ५३८ ॥

---

१ ला. स में ' यस्यैकान्तादिवादेन· ' ऐसाभी पाठ है ।

अन्वयार्थः— (तु) किन्तु (सम्यग्दृष्टिः)सम्यग्दृष्टि (वै) निश्चयकरके (वस्तुन स्वरूपं) वस्तुके स्वरूपको (गुप्तं विदन्) सदैव गुप्त मानता हुआ (भीतिहेतो असंभवात्) भयके कारणके असंभव हानेसे (अगुप्तितः भीतेः निर्भय.) अगुप्तिभयसे निर्भीक होता है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टि जीव ' असत्का उत्पाद और सत्का विनाश कभी नहीं होता है ' ऐसा अनुभव करता है । इसलिये अगुप्तिभयके कारणभूत असत्के उत्पाद तथा सत्के विनाशका असंभव होजानेसे उसके इस अगुप्ति भयकी संभावनाही नहीं रहती है ।

मृत्युः प्राणात्यः प्राणः कायवागिन्द्रियं मनः ।
निःश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥ ५३९ ॥

अन्वयार्थः— (प्राणात्ययः) प्राणोंके नाश होनेको (मृत्यु) मृत्यु कहते है और (वाक्य विस्तरात्) प्राण शब्दका विस्तारपूर्वक अर्थ करनेसे (कायवागिंद्रिय) काय, वचन इंद्रिय (मनः) मन (निःश्वासोच्छवासं) श्वासोच्छ्वास (च)और (आयुः) आयु (एते दश प्राणा.) ये दश प्राण होते है ।

भावार्थः— प्राणवियोगको मृत्यु कहते है । पाच इद्रियां मनबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छवास और आयु ये दश प्राण हैं ।

तद्भीतिर्जीवितं भूयान्मा भून्मे मरणं कचित् ।
कदा लेभे न वा दैवात् इत्याधिः स्वे तनुव्यये ॥ ५४० ॥

अन्वयार्थः— (मे जीवितं भूयात्) मैं जीवित रहूं (कचित् मरणं माभूत्) कभी मेरा मरण न हो (वा) अथवा (दैवात् कदा न लेभे) दैवयोगसे मृत्यु कभी न मिले (इति) इसप्रकारकी (स्वे तनुव्यये) अपने शरीरके नाशके विषयमें जो (आधिः) मानसिक चिन्ता होती हैं वह (तद्भीतिः) मृत्युभय कहलाता है ।

भावार्थः— मैं सदैव जीवित रहूं कभीभी न मरूं अथवा कभीभी मुझे मृत्यु प्राप्त न हो इसप्रकार शरीरके नाशके विषयमें मानसिक व्यथाका होना मृत्युभय कहलाता है ।

नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम् ।
अन्तस्तत्त्वैकवृत्ती(त्ता)नां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥ ५४१ ॥

अन्वयार्थः— (नित्यं तत्व अनिच्छतां) नित्य तत्वका विचार न करनेवाले (कुदृष्टीनां) मिथ्यादृष्टियोंकोही (नूनं तद्भीः) निश्चयसे मृत्युभय होता है किंतु (अन्तस्तत्त्वैकवृत्तीनां ज्ञानिनां) अन्तरंगमें-अन्तस्तत्वमें वृत्ति रखनेवाले ज्ञानियोंको (तद्भीतिः कुतः) उक्त मरणभय कैसे होसकता है ?

भावार्थः— जो मिथ्यात्वके उदयसे जीव तत्वको नित्य नहीं मानते है उनकेही मृत्युभय होता है । किंतु अन्तस्तत्वमें वृत्ति रखनेवालोंके वह भय नहीं होता है ।

जीवस्य चेतना प्राणाः नूनं सा(स्वा)त्मोपजीविनी
नार्थान्मृत्युरतस्तद्भीः कुतः स्यादिति पश्यतः ॥ ५४२ ॥

अन्वयार्थः— (चेतना जीवस्य प्राणाः) केवल चेतनाही जीवके प्राण है और (सा) वह चेतनाही (नूनं) निश्चयसे (आत्मोपजीविनी) आत्माका उपजीवी गुण है (अतः) इस लिये (अर्थात् मृत्युः न) वास्तवमें जीवका कभीभी मरण नहीं होता है (इति पश्यतः तद्भीः कुतः स्यात्) ऐसा विचार करनेवालेको वह मृत्युभय कैसे होसकता है ।

भावार्थः— वास्तवमें एक चेतनाही जीवका प्राण है इतर नहीं । और वह चेतनता आत्माका अनुजीवि गुण होनेसे आत्मासे कभी छूट नहीं सकता है । इसलिये प्राणोंका नाश-मृत्यु आत्माके कभीभी प्राप्त नहीं होसकती है इस-प्रकार सदैव विचार करनेवाले तत्वज्ञानिको मृत्युभय नहीं होता है ।

अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम् ।
तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥ ५४३ ॥

अन्वयार्थः— (अकस्मात् जातं) अकस्मात् उत्पन्न होनेवाला (उच्चैः) महानि दुःख (आक-

स्मिकभयं स्मृतं इति) आकस्मिकभय माना गया है (तद्यथा) जैसे कि (विद्युदादीनां पातात्) बिजली आदिके गिरनेसे (असुधारिणां पातः) प्राणियोंका मरण होजाता है।

भावार्थः— विद्युत्पातादि आकस्मिक घटनाओंसे होनेवाले भयको आकस्मिक भय कहते हैं।

भीतिर्भूयाद्यथा सौख्यं माभूदौस्थ्यं कदापि मे ।
इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा ॥ ५४४ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (मे सौस्थ्यं भूयात्) मैं सदैव नीरोग रहूं (कदापि दौस्थ्यं माभूत्) कभीभी रोगी नहीं होऊं (इत्येव) इसप्रकारसे (पर्याकुलितचेतसा) व्याकुलचित्तपूर्वक होनेवाली (मानसी चिंता) मानसिक चिंता (भीतिः) आकस्मिक भीति कहलाती है।

भावार्थः— मुझे कभीभी आकस्मिक दुर्घटनाजन्य कष्ट न हो। सदैवही स्वास्थ्य युक्त अवस्था बनी रहे इसप्रकार मनमें आकुलताका रहना आकस्मिकभय है।

अर्थादाकास्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः ।
कुतो मोक्षऽस्य(स्ति) तद्भीतेर्निर्भीकैकपदच्युतेः ॥ ५४५ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (मिथ्यात्वशालिन) मिथ्यादृष्टिको (आकस्मिकभ्रांतिः अस्ति) आकस्मिक भय होता है और (तद्भीतेः निर्भीकैकपदच्युतेः) उस आकस्मिक भयसे वह अपने निर्भीक अनुपमपदसे च्युत होजाता है इसलिए (अस्य मोक्षः कुतः) इस मिथ्यादृष्टिको मोक्ष कैसे होसकता है ?

भावार्थः— मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यादृष्टियोंकोही आकस्मिक भय होता है और वे उस भयसे आत्मतत्वसे च्युत होजाते है इसलिये उन मिथ्यादृष्टियोंको मोक्षभी नहीं होसकता है।

निर्भीकैकपदो जीवः स्यादन्तोऽप्यनादिसात्(मान्) ।
नास्ति चाकास्मिक तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः ॥ ५४६ ॥

अन्वयार्थः— (जीवः) जीव सदैव (निर्भीकैकपदः) अनुपम निर्भीक पदमें स्थित है (अनंतः) अनंत

(अपि) और (अनादिसात् स्यात्) अनादि है इसलिये (तत्र) उस अनादि अनन्त निर्भीक पदमें स्थित जीवको (आकस्मिक न च अस्ति) आकस्मिक भय नहीं होता है अतः (त इच्छतः) उस निर्भीक पदके चाहनेवाले सम्यग्दृष्टिको (तद्धी कुतः) वह आकस्मिक भय कैसे होसकता है ?

भावार्थः— जीव अनादि अनन्त और सदेव निर्भय पदमें विराजमान है । अत उसके आकस्मिक भयकी संभावनाही नहीं है । इसकारणसे निर्भयपदकी इच्छा करनेवाले सम्यग्दृष्टिको वह आकस्मिक भय नहीं होता है ।

निःकांक्षित अंग ।

कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृतेऽमुष्य(ष्य) क्रियासु वा ।
कर्मणि तत्फले सात्म्यमन्यदृष्टि प्रशंसनम् ॥ ५४७ ॥

अन्वयार्थः— (अमुष्यकृते) परभवके लिये (क्रियासु) व्रतादिक क्रियाओंमें (भोगाभिलाषः) भोगकी अभिलाषा (कर्मणि तत्फले सात्म्यं) कर्म और कर्मफलमें तन्मयता (वा) अथवा (अन्यदृष्टिप्रशंसनं) अन्य लिंग धारियोंकी प्रशंसा (कांक्षा स्यात्) कांक्षा कहलाती है ।

भावार्थ — परभवमें भोगाभिलाषासे व्रतादिकका पालना, कर्म, और कर्मफल चेतनामय प्रवृत्ति रखना अथवा कर्म, कर्मफलचेतना और भोगाभिलाषापूर्वक व्रतसेवन करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा करना कांक्षा कहलाती है ।

हृषीकारुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः ।
स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिंगं स्वेष्टार्थरंजनात ॥ ५४८ ॥

अन्वयार्थः— (हृषीकारुचितेषु) इंद्रियोंके लिये अप्रिय (विषयेषु) विषयोंमें (यः उच्चैः उद्वेगः) जो अत्यन्त उद्वेग होता है (सः) वह (स्वेष्टार्थरज्जनात) स्वेष्ट पदार्थमें अनुरागपूर्वकही होता है अतः वह (भोगाभिलाषस्य लिंग स्यात) भोगाभिलाषका साधक लिंग है ।

भावार्थः— अनरुचते इंद्रिय विषयोंमें जो एकप्रकारका उद्वेग होता है वह स्वेष्ट पदार्थकी आसक्तिपूर्वकही होता है । इसलिए अनिष्ट विषयोंमें होनेवाले उद्वेगसे इष्ट विषयोंमें आसक्तिका अनुमान किया जाता है । अतः अनिष्ट विषयोंमें उद्वेग, इष्ट विषयोंमें आसक्तिका साधक है ।

तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षेप्यरतिं विना ।
नारतिर्वा स्वपक्षेपि तद्विपक्षे रतिं विना ॥ ५४९ ॥

अन्वयार्थ.— (तद्यथा) पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है जैसे (पक्षे रति अपि) पक्षमें अनुरागभी (विपक्षे अरतिं विना न) विपक्षमें अरतिके विना नहीं होता है वैसेही (स्वपक्षे) स्वपक्षमे (अरति अपि) अरतिभी (तद्विपक्षे रतिं विना न वा) उसके विपक्षमें रतिके विना नहीं होती है ।

भावार्थः— जैसे इष्ट पदार्थमें रति, अनिष्ट पदार्थमें अरतिके विना नहीं होती है वैसेही इष्ट पदार्थमें अरतिभी अनिष्ट पदार्थमें रतिके विना नहीं होती है ।

साराश यह है कि रागद्वेष परस्पर सापेक्ष हैं । इसलिए पक्षमे राग विपक्षमें द्वेषपूर्वक होता है । और विपक्षमें राग पक्षमें द्वेषपूर्वकही होता है ऐसा समझना चाहिये ।

शीतद्वेषी यथा कश्चित उष्णस्पर्शं समीहते ।
नेच्छेदनुष्णसंस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ॥ ५५० ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (कश्चित् शीतद्वेषी) कोई शीतस्पर्श से द्वेष करनेवालाही (उष्ण स्पर्शं समीहते) उष्ण स्पर्शकी इच्छा करता है क्योंकि (उष्णस्पर्शाभिलाषुकः) उष्ण स्पर्शको चाहनेवाला (अनुष्णस्पर्शं न इच्छेत्) शीतस्पर्शको नहीं चाहता है ।

भावार्थ — जैसे कोई शीतद्वेषी है वही उष्ण स्पर्शानुरागी सिद्ध होता है क्योंकि उष्ण स्पर्शानुरागी उष्णसे भिन्न शीतस्पर्शको कैसे चाह सकता है ।

यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः ।
यस्य नास्ति स सद्दृष्टिर्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ५५१ ॥

अन्वयार्थः— (यस्य कांक्षित भावः अस्ति) जिसके आकांक्षाका भाव होता है (सः नूनं मिथ्यादृक् अस्ति) वह निश्चयसे मिथ्यादृष्टि होता है और (यस्य सः नास्ति) जिसके वह कांक्षित भाव नहीं

होता है वह (युक्तिस्वानुभवागमात्) युक्ति अनुभव तथा आगममें (सद्दृष्टिः) सम्यग्दृष्टि होता है ।

भावार्थः— जिसके परपदार्थमें कांक्षा होती है वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है । और जिसके वह कांक्षा नहीं होती है वह युक्ति स्वानुभव तथा आगम प्रमाणसे सम्यग्दृष्टि कहलाता है ।

आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्रभोगाभिलाषतः ।
स्वार्थसार्थैकसंसिद्धिर्न स्यान्नामैहिकात्परम् ॥ ५५२ ॥

अन्वयार्थः— (भोगाभिलाषतः) भोगोंकी अभिलाषासे (अमुत्र इष्टार्थ संयोगः आस्तां) परभवमें इष्ट पदार्थोंका संयोग होना तो दुर रहो किन्तु (ऐहिका सा स्वार्थसार्थैकसंसिद्धिः अपि नाम न स्यात्) इह लोक सम्बन्धी वह स्वार्थोंकी सिद्धिभी नही होती हैं ।

भावार्थः— भोगाभिलाषासे परभवमें इष्टार्थकी प्राप्ति होसकेगी कि नहीं यह कथा तो दूर रहो परन्तु भोगाभिलाषासे इहलोकसम्बन्धीभी स्वार्थोंकी सिद्धि नहीं देखी जाती है अर्थात् अभिलाषाके साथ इहलोकसम्बन्धी इष्ट सिद्धिकाभी कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है ।

निःसारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः ।
जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्धेर्वातोत्तरङ्गवत् ॥ ५५३ ॥

अन्वयार्थः— (उन्मत्तवत्) उन्मत्त पुरुषकी तरह (अपि च) और (वार्धे वातोत्तरंगवत्) वायुसे तरंगित समुद्रकी तरंगोंके समान (एषः) यह भोगाभिलाषा (जन्तोः) जीवके (मिथ्याकर्मैकपाकतः) केवल मिथ्यात्वके उदयसे (निःसारं प्रस्फुरति) व्यर्थही उदित होती रहती है ।

भावार्थः— जैसे उन्मत्त पुरुषको चाहे जिस पदार्थके विषयमें लहरें उठा करती है अथवा जैसे समुद्रमें वायुके निमित्तसे तरंग उठा करती है वैसेही मिथ्यात्वके उदयसे जीवको परविषयमें निष्प्रयोजनभूत अभिलाषायें उत्पन्नहुआ करती है ।

ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।
भोगाकांक्षा विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ॥ ५५४ ॥

नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्धयम ।
शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चा शुभावहम् ॥ ५५५ ॥

नचाऽऽशंक्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला काचित ।
दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेपि विरागवत् ॥ ५५६ ॥

यतः सिद्धं प्रमाणद्वै नूनं बन्धफला क्रिया ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्योऽवश्यं तद्धेतुसंभवात ॥ ५५७ ॥

सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया ।
अस्ति बन्धफलाऽवश्यं मोहस्यान्यतमोदयात ॥ ५५८ ॥

न च वाच्यं स्यात्सदृष्टिः कश्चित प्रज्ञापराधतः ।
अपि बंधफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन ॥ ५५९ ॥

यतः प्रज्ञाविनाभूतमास्ति सम्याग्विशेषणम ।
तस्याश्चाऽभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ॥ ५६० ॥

अन्वयार्थ — (ननु) शंकाकारका कहना है कि जब (मन्दः अपि) अज्ञानी पुरुषभी (कार्यं अनुद्दिश्य) किसी कार्यके उद्देशके विना (न प्रवर्तते) प्रवृत्ति नहीं करता है (तत्) तो फिर (ज्ञानी) ज्ञानी सम्यग्दृष्टि (भोगाकांक्षां विना) भोगोंकी आकांक्षाके विना (व्रतं कथं आचरेत्) व्रतोंका क्यों आचरण करेगा और (क्रियायाः) क्रियाका (बन्धमात्रत्वं अद्वयं फलं असिद्धं न) केवल बन्धरूप एक फल असिद्ध नहीं है तथा (शुभायाशुभमात्रं) शुभक्रियाका केवल शुभरूप (च) और (अशुभायाः-

अशुभावहं स्यात्) अशुभक्रियाका केवल अशुभरूप फल होता है यह असिद्ध नहीं है तथा (**न च आशंक्यं**) ऐसीभी आशंका नहीं करना चाहिये कि (**दर्शनातिशयात् हेतोः**) सम्यग्दर्शनके माहात्म्यरूप हेतुसे (**विरागवत्**) वीतरागकी तरह (**क्वचित् सरागे अपि**) रागसहित किसी सम्यग्दृष्टिकेभी (**एषा क्रिया**) यह व्रताचरणादिरूप क्रिया (**अबन्धफला अपि स्यात्**) बन्धरूप फलको देनेवालीभी नहीं होती है (**यतः**) क्योंकि (**वै**) निश्चयसे यह (**प्रमाणात् सिद्धं**) आगम प्रमाणसे सिद्ध है कि (**क्षीणकषायेभ्यः अर्वाक्**) बारहवें गुणस्थानसे पहले (**अवश्यं तद्धेतुसंभवात्**) बन्धके हेतुरूप मोहादिकके अवश्य होनेके कारण (**नूनं**) निश्चयसे (**क्रिया बन्धफला**) व्रताचरणादि क्रिया बन्धरूप फलको देनेवाली होती है (**नूनं**) निश्चयपूर्वक (**मोहस्यान्यतमोदयात्**) मोहनीय कर्मके भेदोंमेंसे किसी एकके उदयसे (**सरागे वा वीतरागे**) सराग अथवा वीतराग दोनोंकेही (**औदयिकी क्रिया**) जो औदयिकी क्रिया होती है वह (**अवश्यं बन्धफला अस्ति**) अवश्यही बन्धरूप फलको देनेवाली होती है और (**न च वाच्यं स्यात्**) यहभी नहीं कहना चाहिये कि (**कश्चित् सद्दृष्टिः**) कोई सम्यग्दृष्टि (**प्रज्ञापराधतः**) ज्ञानकी मन्दतासे (**तां बन्धफलां अपि**) उस बन्धरूप फलको देनेवालीभी क्रियाको (**अबन्धफलां विदन्**) अबन्धफलवाली समझ करके (**कुर्यात्**) करता है (**यतः**) क्योंकि (**प्रज्ञां विना भूतं**) प्रज्ञाके साथ अविनाभाव संबंध रखनेवाला (**सम्यग्विशेषणं अस्ति**) सम्यक् विशेषण है यदि सम्यग्दृष्टिके (**तस्याः च अभावतः**) उस प्रज्ञाकाभी अभाव माना जायगा तो (**नून दृशः दिव्यता कुतस्त्या**) निश्चयसे सम्यग्दर्शनमें दिव्यताही कैसे रहेगी।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जब विना प्रयोजनके मन्दव्यक्तिकी भी प्रवृत्ति नही होती है तो फिर सम्यग्दृष्टी जीव भोगोंकी अभिलाषाके विना व्रतादिक क्रियाओंको कैसे करता है? और क्रियामात्रका फल केवल बन्धही होता है यह असिद्ध नहीं है। तथा क्रिया दो प्रकारकी होती है एक शुभक्रिया व दुसरी अशुभक्रिया। उनमेंसे व्रतादिक शुभक्रिया का फल शुभही होता है। और हिंसादिक अशुभक्रियाका फल अशुभही होता है। यदि कदाचित कोई यह कहे कि वीतराग के समान सरागसम्यग्दृष्टीकी क्रियाएभी सम्यग्दर्शन के महात्म्यसे बन्धजनक नहीं होती है तो यह कहनाभी ठीक नहीं है। क्योंकी बारहवें गुणस्थानसे पहले रागादिक का सद्भाव रहनेसे यथायोग्य बन्ध आगममें अवश्य माना है। कारणकि जबतक मोहनीय कर्मके अवान्तर भेदोंमेंसे किसीकाभी उदय रहता है तबतक जीवके औदयिक भाव रहता है और उसके निमित्तसे यथायोग्य बन्धभी होता रहता है। यदि कदाचित यह कहा

जाय कि यद्यपि सम्यग्दृष्टी के बन्ध तो होता है परन्तु वह अपने ज्ञानकी मंदतासे कभी २ अपनी बन्धजनक क्रियाओंकोभी अबन्धजनक मान लेता है तो यहभी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिकेही साथ ज्ञान सम्यग्ज्ञान होजाता है। इसलिए सम्यग्दृष्टीके बन्धादिकके विषयमें ज्ञानकी भूल नहीं होती है। वह इतर विषयोंमें मन्दज्ञानी होकरकेभी बन्ध मोक्षके विषयमें तो यथार्थ ज्ञाताही है।

समाधान।

नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया।
शुभायाश्चाऽशुभायाश्च कोऽवशेषो विशेषभाक् ॥ ५६१ ॥

अन्वयार्थः— (**एवं न**) शंकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है (**यतः**) क्यों कि (**प्राक् सुसिद्धं अस्ति**) पहले यह सिद्धही किया जाचुका है कि (**अनिच्छत च क्रिया**) विना इच्छाकेही सम्यग्दृष्टिके सब क्रियांए होती है इसलिये उस सम्यग्दृष्टीके (**शुभायाः च अशुभाय. च**) शुभ और अशुभ क्रियामें (**विशेष भाक्**) विशेषता को बतानेवाला (**कः अवशेष**) क्या शेष रहजाता है ? अर्थात कुछ नहीं।

भावार्थः— शंकाकारकी शंका ठीक नहीं है। क्योंकि पहले स्पष्ट रीतिसे सिद्ध कर आये है कि सम्यग्दृष्टिके सवही क्रियायें विना इच्छाके होती है अर्थात् चाहे वे शुभ हों या अशुभ परन्तु उनमें कोई अन्तर नहीं है।

इच्छापूर्वक शुभ और अशुभ दोनोंही क्रियायें बन्धका कारण होसकता है किंतु विना इच्छापूर्वक होनेवाली क्रियोंय बन्धका कारण नहीं होसकती है। इसलिये सम्यग्दृष्टिके व्रतादिक क्रियाओंके इच्छापूर्वक न होनेसे बन्ध नहीं होता है ऐसा समझना चाहिये।

शंका।

नन्वानिष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः क्रिया।
विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा ऽसा निच्छतःकथम ॥ ५६२ ॥

अअन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**या**) जो (**अनिष्टार्थसंयोरूपा**) अनिष्ट प्रयोजनके सयोगरूप क्रिया होती है (**सा क्रिया अनिच्छतः**) वह क्रिया विना इच्छावालेकेभी होसकती है परन्तु (**विशिष्टेष्टार्थ संयोगरूपा सा**) विशिष्ट इष्ट योजनके संयोगरूप वह व्रताचरणादि क्रिया (**अनि-**

च्छतः कथं)-विना इच्छावालेके कैसे होसकती है ?

भावार्थः— शंकाकारकी शंका है कि दारिद्र्य मरणादि अनिष्ट क्रियायें तो अनिच्छापूर्वक होसकती है। परन्तु स्वर्गादिक अभ्युदयको देनेवाली क्रियायें इच्छापूर्वकही होती है। इसलिये वे अनिच्छापूर्वक कैसे होसकती है ?

सत्क्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम् ।
तस्याः स्वतन्त्रसिद्धत्वात्सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात ॥ ५६३ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) अर्थात् (व्रतरूपा सत्क्रिया) व्रतरूप शुभक्रिया (अनिच्छतः स्फुट न स्यात्) नहीं चाहनेवालके कभीभी नहीं होसकती है किंतु (अर्थसात्) प्रयोजनवश (तस्याः स्वतन्त्र कर्तृत्वं सिद्धं) उन व्रतादिरूप शुभ क्रियाओंको स्वतंत्र सिद्ध होनेसे उनका कर्ता सम्यग्दृष्टि सिद्ध होता है।

भावार्थः— व्रतादिरूप क्रियायें विना इच्छापूर्वक नहीं होती है। किंतु प्रयोजन देखे जानेसे सम्यग्दृष्टिही उन क्रियाओंका कर्ता सिद्ध होता है ऐसा समझना चाहिये ।

समाधान ।

नैवं यतोस्त्यानिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः ।
तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत् कर्म च तत्फलम् ॥ ५६४ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) शंकाकारका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (कर्मोदयात्मकः सर्वः) कर्मोदयसे प्राप्त होनेवाला जो कुछभी है वह सब सम्यग्दृष्टिके लिये (अनिष्टार्थः अस्ति) अनिष्ट अर्थ है (तस्मात्) इसलिये सिद्ध होता है कि (ज्ञानी) ज्ञानी–सम्यग्ज्ञानी (यावत्कर्म च तत्फल) सम्पूर्ण कर्म और कर्मफलकी (न आकांक्षते) आकांक्षा नहीं करता है ।

भावार्थः— जो भी कर्मोदयसे प्राप्त होसकता है उस सबको सम्यग्दृष्टि इष्ट नहीं मानता है चाहे वह इंद्रादिक पदभी क्यों न हो। इसलिये सिद्ध होता है कि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि कर्म व कर्मफलचेतनात्मक शुभ क्रियाओंकी कभीभी इच्छा नहीं करता है ।

यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात् ।
तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात् पीतशंखावलोकनात् ॥ ५६५ ॥

अन्वयार्थः— (पुनः) और (यत्) जो (अर्थसात्) अर्थोंमें (कश्चित् इष्टार्थः कश्चित् अनिष्टार्थः) कोई इष्ट पदार्थ है तथा कोई अनिष्ट पदार्थ है ऐसी कल्पना होती है (तत्सर्वं) वह सब (पीतशंखावलोकनात्) शंखको पीत आदि रूपवान देखनेकी तरह) दृष्टिदोषत्वात्) दृष्टिका दोष है ।

भावार्थ — जो मिथ्यादृष्टियोंके पदार्थोंमे ऐसी कल्पना होती है कि अमुक पदार्थ इष्ट है और अमुक पदार्थ अनिष्ट है वह सब मिथ्यादर्शनका प्रभाव है कारण कि पदार्थोंका तो जैसा स्वरूप है वैसाही है परन्तु जैसे काचकामलादिक दृष्टिदोषसे लोग शुक्लशंखको पीतत्वादिरूपसे देखते है वैसेही जीव मिथ्यात्वके उदयसे पदार्थको इष्टानिष्टरूपसे देखता है ।

दृङ्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षात् सूक्ष्मार्थ(भूतार्थ)दर्शिनी ।
तस्यानिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिःकर्मफलात्मके ॥ ५६६ ॥

अन्वयार्थः— परन्तु (तस्य) सम्यग्दृष्टिके (दृङ्मोहस्य अत्यये) दर्शन मोहनियका नाश होनेपर (साक्षात् सूक्ष्मार्थदर्शिनी दृष्टिः) सूक्ष्म पदार्थोंकोभी साक्षात् देखनेवाली दृष्टि होजाती है और (अनिष्टे कर्म फलात्मके) अप्रयोजनभूत कर्म तथा कर्मफलरूप चेतनामें (अनिष्टार्थ बुद्धिः अस्ति) अनिष्टार्थ बुद्धि होजाती है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिकी दृष्टिमें मिथ्यात्वके उदयका अभाव होनेपर ऐसी विशदता प्रगट होजाती है कि जिसके प्रभावसे वह प्रयोजनभूत अतींद्रिय विषयोंकाभी बोध प्राप्त करलेता है । और अप्रयोजनभूत यावत् कर्म तथा कर्म चेतनामय भावोंमें अनिष्ट बुद्धि रखता है । इसलिये सिद्ध होता है कि स्वर्गादिक अभ्युदय कर्मोंके फलरूप होनेसे सम्यग्दृष्टिको व्रतादि धारण करनेके द्वारा अनिष्टही प्रतिभासित होते है । अतः उनकी प्राप्तिके लिएसी उसके कभीभी इच्छा नहीं होती है ।

नचाऽसिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च ।
सर्वतो दुःखहेतुत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ५६७ ॥

अन्वयार्थः— (युक्ति स्वानुभवागमात्) युक्ति स्वानुभव और आगमसे कर्म तथा कर्मफलचेतना (सर्वतः दुःखहेतुत्वात्) सर्वथा दु खका कारण है अतः सम्यग्दृष्टिकेलिए (कर्मण च तत्फलस्य) कर्म और कर्मफलमें (अनिष्टत्वं) अनिष्टता (असिद्ध नच) असिद्ध नहीं है ।

भावार्थः— मिथ्यात्वके उदयपूर्वकही होनेके कारण कर्म और कर्मफलचेतना युक्तिसे, आगमसे तथा स्वानुभवसे दुःखोंकाही कारण है अतएव सम्यग्दृष्टिके लिये वे दोनों चेतनायें अनिष्ट होती है यह असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्धही है ।

अनिष्टफलवत्वाऽस्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया ।
दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥ ५६८ ॥

अन्वयार्थः— (दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोः) जैसे दुष्ट कार्योंके उत्पादक हेतुको (दुष्टोपदेशवत्) दुष्ट कहते है वैसेही (अनिष्ट फलवत्वात्) अनिष्ट फलप्रद होनेके कारण (व्रतक्रिया अनिष्टार्था स्यात्) सम्यग्दृष्टिके लिये व्रतक्रियाभी इष्टार्थ नहीं किन्तु अनिष्टार्थही है ।

भावार्थः— साता वेदनीयादि कर्म तथा इष्ट संयोगादि उसके फल इन दोनोंमें सम्यग्दृष्टिके रुचिका अभाव रहता है क्योंकि वह सम्यग्दृष्टि उन्हें बन्धजनक होनेसे अनुपादेय मानता है ।

क्रियायें शुभ और अशुभरूपसे दो तरहकी होती है । अशुभक्रियारूप हिंसादिकसे दुराश्रव-पापाश्रव होता है । तथा शुभक्रियारूप व्रतादि परिणतिसे शुभाश्रव-पुण्याश्रव होता है । ये दोनोंही आश्रव शुभ और अशुभ बन्धके कारण है अर्थात शुभ व अशुभ दोनोंही परिणतिया बन्धरूप कार्यको उत्पन्न करनेवाली है । और बन्ध जीवात्माकी दूषित अवस्था है । अत. उस दूषित अवस्थाका कारणभी दूषितही होना चाहिये इस न्यायसे शुद्ध परिणतिकी अपेक्षा व्रतक्रियाकोभी बन्धजनकही बताया है । इसलिए बन्धरूप दुष्ट कार्यको उत्पन्न करनेवाली व्रत क्रियाभी सम्यग्दृष्टिके लिये इष्टार्थ नहीं होती है ।

सारांश यह है कि तत्वज्ञान होनेके बाद परिणामोंमें ऐसी विशुद्धता होती है कि सम्यग्दष्टि अचिंत्य अनन्त आनन्दमय उपयोगके विना सम्पूर्ण क्रियाओंको हेय समझता है । परन्तु वह पूर्व संस्कारोंकी तीव्रतावश उनका सहसा उच्छेद कर नहीं सकता है । किंतु अशुभ क्रियाओंके त्यागपूर्वक शुद्धपरिणतिके कारणभूत शुभ प्रवृत्तिरूप व्रत धारणादिकमें परवश तत्पर होता है । और अनन्तर परम उपादेयभूत शुद्ध परिणतिको क्रम २ से प्राप्त करलेता है । इसलिये सम्यग्दष्टिके क्रियामात्र उपादेय नहीं होती है, किंतु बन्धरूप दुष्टकार्यको उत्पन्न करनेके कारण क्रियामात्र अनुपादेयही प्रतीत होती है ।

अथाऽसिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियाय : कर्मणःफलात ।
कृते कमादयाद्धेतोस्तस्याश्चाऽसंभवो यतः ॥ ५६९ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ**) तथा सम्यग्दष्टिमें (**कर्मणःफलात्**) कर्मका फल होनेसे (**क्रियायाः**) क्रियाकी (**स्वतंत्रत्व असिद्धं**) स्वतंत्रता असिद्ध है (**यतः**) क्योंकि (**कर्मोदयात हेतो ऋते**) कर्मोदय रूप हेतुके विना (**तस्या.च असभवः**) उस क्रियाका होना असभव है

भावार्थ — तथा सम्यग्दष्टी व्रताचरणादि क्रियाओंका वास्तवमें कर्ता नहीं कहा जासकता है । क्योंकि क्रियामात्र कर्मोंके उदयसे होती है । इसलिये किन्हीं कर्मोंके क्षयोपशमके साथ २ देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयसे होनेवाली व्रतादि क्रियाओंका वह स्वतत्र कर्ता नहीं होता है । यदि वह विना कर्मोदयके व्रतधारणादि करता तो उन क्रियाओंका कर्ता कहलासकता था । परन्तु कोईभी सम्यग्दष्टि विना कर्मोदयके शुभ क्रियाओंमेंभी प्रवृत्त नहीं होता है । इसलिये वह वास्तवमें किसीभी क्रियाका कर्ता नहीं कहलासकता है ।

यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चाऽत्मनः ।
यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥ ५७० ॥

अन्वयार्थः— (**यावत् अक्षीण मोहस्य**) सब सराग (**च**) और (**क्षीण मोहस्य**) वीतराग (**आत्मनः**) आत्माओंके (**यावती क्रियानाम अस्ति**) जितनीभी क्रियायें होती है (**तावती**) वे सब (**औदयिकी स्मृता**) औदयिक मानी गई है ।

भावार्थ:— सम्पूर्ण मोहसहित तथा मोहरहित जीवोंके संसारमें जितनीभी क्रियायें होती है वे सब किसी न किसी कर्मके उदयसे होनेके कारण औदयिकीही होती है।

क्योंकि।

पौरुषो न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति।
न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥ ५७१ ॥

अन्वयार्थ — (उदित कर्मप्रति) उदयमें आनेवाले कर्मके प्रति (पुंस) जीवका (यथाकाम) इच्छानुकूल (पौरुषः) पुरुषार्थ (न) कारण नहीं है (हि) क्योंकि (पौरुषः) पुरुषार्थ (परं) केवल (पौरुषापेक्ष. न) पौरुषकी अपेक्षा नहीं रखता है किंतु (दैवापेक्ष) दैवकी अपेक्षा रखता है।

भावार्थः— इच्छानुकूल पुरुषका पुरुषार्थही कर्मोंके उदयमें कारण नहीं होता है अर्थात् पुरुषका पुरुषार्थभी स्वतंत्र नहीं है किंतु दैवकी अपेक्षापूर्वक होनेसे परतंत्र है। इसलिये सम्यग्दृष्टिका पुरुषार्थभी इच्छानुसार नहीं होता है किंतु दैव सापेक्षही होता है। अत उसके जोभी कर्मोंके उदयसे क्रियायें होती है वे उसकी इच्छानुसार न होनेसे वह सम्यग्दृष्टि उनका इच्छापूर्वक कर्ता नहीं कहा जासकता है। तथा अनिच्छापूर्वक होनेवाले कर्मोंका उदय आश्रव व बन्धमें कारण नहीं होसकता है इसलिये ज्ञानी कर्मोंके उदयसे होनेवाली क्रियाओंके करते हुएभी निःकांक्षित अंगधारी सिद्ध होता है।

सिद्धो निष्कांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोप्युदितां क्रियां।
निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥ ५७२ ॥

अन्वयार्थः— (ज्ञानी) सम्यग्दृष्टि (उदितां क्रियां) औदयिक क्रियाको (कुर्वाणः अपि) करता हुआभी (निःकांक्षितः सिद्धः) निःकांक्षित सिद्ध होता है क्योंकि (विरागिणां निष्कामतः कृतं कर्म रागाय न) वीतरागोंके विना इच्छापूर्वक होनेवाली क्रियायें राग उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होती है।

भावार्थः— इसलिये पुरुषके पुरुषार्थकोभी दैवसापेक्ष सिद्ध होनेसे सम्यग्दृष्टियोंके क्रियाओंके देखे जानेपरभी निःकांक्षितपना असिद्ध नहीं होता है। किंतु सिद्धही होता है। कारण कि राग रहित व्यक्तिके रागके विना

नाशंक्य चास्ति निःष्कांक्ष सामान्योपि जनः क्वचित।
हेतोः कुताश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥ ५७३ ॥

अन्वयार्थः— (न च आशंक्यं) यहांपर ऐसी आशका नहीं करना चाहिये कि (दर्शनातिशयात् अन्यत्र) सम्यग्दर्शनके माहात्म्यके विना (कुतश्चिदपि हेतोः) अन्य किसी कारणसेभी (क्वचित्) कहीं (सामान्यः जनः अपि) साधारण पुरुषभी (निकांक्ष. अस्ति) नि कांक्षित वृत्तिवाला होसकता है।

भावार्थः— ऐसी आशका नहीं करना चाहिये कि कोई जीव सम्यग्दर्शनके प्राप्त किये विनाभी अन्य किसी कारणसे निःकाक्षित वृत्तिवाला होसकता है।

यतो निष्कांक्षता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं विना।
नानिच्छास्त्यक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥ ५७४ ॥

अन्वयार्थः— (यतः) क्योंकि (न्यायात्) न्यायानुसार (सद्दर्शनं विना) सम्यग्दर्शनके विना (निःकांक्षिता) निःकांक्षितपना (नास्ति) नहीं होसकता है कारण कि (तत अत्यक्षं) उस अतीन्द्रिय सुखको (अनिच्छत.) नहीं चाहनेवाले मिथ्यादृष्टिके (अक्षजे सौख्ये) इन्द्रियजन्य सुखमें (अनिच्छा न) अनिच्छा वृत्ति नहीं होसकती है।

भावार्थः— क्योंकि मिथ्यादृष्टिके सम्यग्दर्शनके विना निःकांक्षितपनेके अभावमेंभी कारण यह है कि सम्यग्दर्शन और निःकांक्षित वृत्तिका अविनाभाव सम्बन्ध है। इसलिये मिथ्यादृष्टिके सम्यग्दर्शनके अभावमें निःकांक्षित वृत्तिकाभी अभाव रहता है। कारणकि जो व्यक्ति अतींद्रिय सौख्यमें तत्पर रहता है उसकेही विषयसुखोंमें विरक्ति हो सकती है अन्यके नहीं और अतींद्रिय सुखमें अभिलाषा सम्यग्दर्शनके होनेपरही होती है सम्यग्दर्शनके अभावमें नहीं होती है इसलिये सम्यग्दर्शनके बिना अन्य किसी कारणसे निःकाक्षित वृत्ति नहीं होसकती है।

तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेच्छति।
दृङ्मोहस्य तथा पाकःशक्तेः सद्भावतोऽनिशम ॥ ५७५ ॥

अन्वयार्थः— (**दृङ्मोहस्य**) दर्शनमोहनीय कर्मकी (**तथा पाकशक्तेः**) उसप्रकारकी विपरीत श्रद्धा। करानेवाली उदय शक्तिके (**अनिशं सद्भावतः**) सदैव पाए जानेसे (**सः मिथ्यादृष्टिः**) वह मिथ्यादृष्टि जीव (**मोहात्**) मोहके कारण (**तदत्यक्ष सुखं**) उस अतीन्द्रिय सुखकी (**न इच्छति**) कभीभी इच्छा नहीं करता है किन्तु सदैव वैषयिक सुखोंकोही चाहता है।

भावार्थः— मिथ्यादृष्टि जीवके दर्शनमोहके उदयवश सदैव परपदार्थमें मोह रहता है। और उस मोहके रहनेसे वह सदैव विषयोंमेंही आतुर रहता है। कभी अतींद्रिय सुखको नहीं चाहता है। इसलिये उसके कभीभी उस प्रकारके निःकांक्षित वृत्ति नहीं होती है प्रत्युत सदैव कांक्षावृत्तिही रहती है।

> उक्तो निःकांक्षितो भावो गुणः सद्दर्शनस्य वै।
> अस्तु का नः क्षतिः प्राक्चेत्परीक्षा क्षमता मता ॥ ५७६ ॥

अन्वयार्थः— (**यः, निःकांक्षितः भावः उक्तः**) जो निःकांक्षित भाव कहागया है (**सः,**) वह (**वै**) निश्चय करके (**सद्दर्शनस्य गुणः अस्तु**) सम्यग्दर्शनका लक्षण मानाजावे इसमें (**नः का क्षतिः**) हमारी कुछभी क्षति नहीं है (**चेत्**) यदि उस निःकांक्षित भावमें (**प्राक् परीक्षा क्षमता मता**) पहलेही परीक्षा क्षमता मानी जाचुकी हो अर्थात यदि वह निःकांक्षितभाव परीक्षित होचुका हो तोही सम्यक्त्वका लक्षण होसकता है अन्यथा नहीं।

भावार्थ — सम्यग्दर्शनके सद्भावमें होनेवालीही निःकांक्षित वृत्ति सम्यग्दर्शनका लक्षण होसकता है किंतु साधारण निःकांक्षितपना सम्यग्दर्शनका लक्षण नहीं होसकता है। अतः वास्तविक जो निःकांक्षित भाव है उसको सम्यग्दर्शनका लक्षण माननेमें कोई बाधा नहीं है।

> अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः।
> सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥ ५७७ ॥

अन्वयार्थ— (**अथ**) अब आगे (**सः**) वह (**निर्विचिकित्साख्य गुणः**) निर्विचिकित्सा नामक गुण (**संलक्ष्यते**) लक्षित किया जाता है कि (**यः**) जो (**युक्तिवशात् अपि**) आगम और युक्तिसेभी (**सद्दर्शन**

गुणस्य) सम्यग्दर्शनका (उच्चै गुणः) उत्कृष्ट गुण सिद्ध होता है ।

भावार्थ.— निःशंकित और निःकांक्षित गुणोंका वर्णन करके अब आगे उस निर्विचिकित्सा नामक गुण-का वर्णन किया जाता है कि जो आगम प्रमाणसेही नहीं किंतु युक्तिसेभी सम्यग्दर्शनका गुण—लक्षण कहलाता है ।

आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्धयां स्वत्मप्रशंसनात् ।
परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सता स्मृता ॥५७८ ॥

अन्वयार्थ.—(आत्मनि) अपनेमें (स्वात्म प्रशंसनात्) अपनी प्रशसासे (आत्मगुणोत्कर्ष बुद्धया) अपने गुणोंके उत्कर्षको दिखानेकी बुद्धिके साथ २ जो (परत्र अपकर्षेषु अपि बुद्धिः) दुसरेके गुणोंक अपकर्षमेंभी बुद्धि होती है उसको (विचिकित्सता) निर्विकित्सा (स्मृता) कहते है ।

भावार्थ — स्वात्मप्रशंसासे जो अपने गुणोंके उत्कर्षको बताते हुए दूसरोंके गुणोमें अपकर्ष बुद्धि कीजाती है उसको विचिकित्सा कहते है ।

निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः ।
गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ ५७९ ॥

अन्वयार्थः—(विचिकित्सायाः) उस विचिकित्सासे जो (निष्क्रान्तः) रहित है वह (निर्विचि-कित्सक) निर्विचिकित्सक नामक (सद्दर्शनस्य) सम्यदर्शनका (उच्चैः गुणः) उत्कृष्ट गुण (प्रोक्तः) कहा गया है अब आगे (तल्लक्षणं) उसके लक्षणको (वक्ष्ये) कहता हूं (यथा) जैसेकि—

भावार्थः— उक्त प्रकारकी विचिकित्सासे जो रहित है उसे निर्विचिकित्सित अंग कहते है तथा यह निर्मि चिकित्सक भावभी उक्त गुणोंके समान सम्यग्दर्शनका उत्कृष्ट गुण है अब आगे उसीका लक्षण बताया जाता है ।

दुदवादुःखिते पुंसि तीव्राऽसाताघृणास्पदे ।
यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥ ५८० ॥

अन्वयार्थः—(दुर्दैवात्) दुर्दैवसे (तीव्रासाताघृणास्पदे) तीव्र असाता वेदनीयके उदयके कारण तिरस्कार करनेके योग्य (दुःखिते पुंसि) दुःखित पुरुषमें (यत्) जो (असूया परं चेतः न) घृणातत्पर

चित्तका नहीं होना है वही (निर्विचिकित्सक: स्मृत:) निर्विचिकित्सक गुण माना गया है।

भावार्थः— दुर्दैवसे दुखित और तीव्र असाताके उदयसे घृणास्पद जो व्यक्ति है उनके प्रति चित्तकी ग्लानिका नहीं होनाही निर्विचिकित्सक गुण कहलाता है।

नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम् ।
नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम् ॥ ५८१ ॥

अन्वयार्थः— (**तन्मनसि**) उस निर्विचिकित्सक अंगवाले सम्यग्दृष्टिके मनमें (**एतत्**) यह (**अज्ञानं न**) अज्ञान नहीं होता है कि (**अहं**) मै (**सम्पदां**) सम्पत्तियोंका (**पदं अस्मि**) आस्पद हू और (**असौ**) यह (**दीनः वराकः**) दीन गरीब (**विपदां पदं**) विपत्तियोंकाही आस्पद है इसलिये (**अस्मत् समः न**) हमारे समान नहीं है।

भावार्थ — उक्त निर्विचिकित्सक गुणसे युक्त सम्यग्दृष्टिके ऐसे कुविचार नहीं होते है कि मै तो सम्पत्तियोंका आस्पद हू। और यह दीन गरीब विपत्तियोंका आस्पद है। इसलिए यह मेरे समान नहीं है।

प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः ।
प्राणिनःसदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥ ५८२ ॥

अन्वयार्थः— (**प्रत्युत**) किंतु (**तत्र**) उस निर्विचिकित्सक गुणवाले सम्यग्दृष्टिमें (**एतत् एव ज्ञानं**) ऐसाही ज्ञान होता है कि (**कर्मविपाकजाः**) कर्मोंके उदयसे उत्पन्न (**त्रसस्थावरयोनयः**) त्रस और स्थावर योनिवाले (**सर्वे प्राणिन**) सब जीव (**सदृशाः**) सदृश है।

भावार्थः— केवल कर्मोदयवशही त्रस स्थावर जीवोंमें भेद है आत्मदृष्टिसे नहीं। इसप्रकार सम्यग्दृष्टियोंके सब जीवोंमें सदृशताका द्योतक सम्यग्ज्ञानही होता है उक्त प्रकारका अभाव नहीं होता है।

यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात् ।
शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतो भेदो भ्रमात्मना ॥ ५८३ ॥

अन्वयार्थः— (**यथा शूद्रकायाः उदरात् द्वौ अर्भकौ जातौ**) जैसे शूद्र पत्नीके पेटसे दो बच्चे पैदा हुए (**तौ द्वौ**) वे दोनोंही बच्चे (**अभ्रांतितः शूद्रौ**) निश्चयसे यद्यपि शूद्र है (**तथा**) वैसेही गरीब अमीर, ज्ञानी, अज्ञानी सबही कर्मोपाधिसे युक्त होनेसे सदृशही बध अवस्थाको प्राप्त है परन्तु (**भ्रमात्मनः भेद कृतः**) भ्रमिष्ट लोगोंके द्वारा उनमें भेद माना जाता है अर्थात् मिथ्यादृष्टिके द्वारा उनमें भेद कल्पित किया जाता है

भावार्थः— जैसे किसी शूद्र पत्नीके दो बच्चे थे उनकी मा मरगई थी। अत. एक बच्चेका पालनपोषण ब्राह्मणके यहां हुआ। और दूसरेका पालन किसी शूद्रके यहां हुआ। अतः बडे होनेपर क्रमसे अज्ञात पुरुषों द्वारा एक ब्राह्मण और दूसरा शूद्र शब्दसे पुकारा जाता हैं। वास्तवमें दोनोंही शूद्र है। ठीक वैसेही कर्मोपाधिसे नाना जीवोंमें जो भेद पाया जाता है। वह सब परवस्तुमें निजत्वके भ्रमके कारण होता है। वास्तवमें सबही संसारी कर्ममलीमस होनेसे सदृश है

इस भावको आगे दूसरे दृष्टांतसे स्पष्ट बताते है।

जले जम्वालवज्जीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम्।
अहंते चाऽविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसाः॥ ५८४॥

अन्वयार्थः— (**जले जम्वालवत्**) जैसे जलमें काई रहती है (**स्फुटं**) ठीक वैसेही (**जीवे यावत् अशुचिकर्म**) जीवमें जबतक अशुचि कर्म मौजूद है तबतक (**अहं च ते**) मैं और वे सब संसारी जीव (**अविशेषात् वा**) सामान्यरूपसे (**नूनं**) निश्चयपूर्वक (**कर्ममलीमसाः**) कर्मोंसे मलिनीकृत है।

भावार्थ— सम्यग्दृष्टिके निर्विचिकित्सित गुणके प्रभावसे विचार होते है कि जबतक जीवके कर्म लगे हुए है तब मैं व अन्य जीव सबही कर्ममलसे मलिन है अपनेमें ममताकी आसक्तिसे अन्य असाताके उदयप्राप्त पुरुषोंमें ग्लानि करना भ्रमयुक्त चेतनाका काम है। इसीके पुष्टिके लिये ऊपरका उदाहरण दिया है।

अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः।
यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित्॥ ५८५॥

अन्वयार्थ— (**असौ**) यह (**निर्विचिकित्सकः**) निर्विचिकित्सा नामक (**गुणः**) गुण (**सद्दर्शनस्य अस्ति**) सम्यग्दर्शनका है (**यतः**) क्योंकि (**सः**) वह (**तत्र**) सम्यग्दर्शनके होनेपर (**अवश्यं अस्ति**) अवश्य होता है और (**तस्मात् अन्यत्र**) उसके विना (**क्वचित् न**) कहींपरभी नहीं होता है।

भावार्थ— यह निर्विचिकित्सित गुणभी सम्यग्दर्शनका एक अंग है । कारणकि सम्यग्दर्शनके होनेपरही वह होता है और उस सम्यग्दर्शनके विना नहीं होता है । अतः सम्यग्दर्शनका अविनाभावी होनेसे यहभी एक अंग कहा जाता है ।

कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः ।
सद्विशेषेऽपि सम्मोहाद्द्वयोरैक्योपलब्धितः ॥ ५८६ ॥

अन्वयार्थः— (समोहात्) मिथ्योदयजन्य व्यामोहके कारण (सद्विशेषे अपि) सत्में भेदके होनेपरभी (द्वयोःऐक्योपलब्धितः) दोनोंमें एकताका श्रद्धान करनेवाले ऐसे (कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः) कर्मके उदयसे होनेवाली पर्यायोंमें राग रखनेवाले अर्थात् पर्यायबुद्धि मिथ्यादृष्टिके (सः गुणः कुत) वह निर्विचिकित्सित गुण कैसे प्रगट होसकता है ।

भावार्थ — सम्यग्दृष्टिकेही निर्विचिकित्सित अंग क्यों होता है । इसीको ग्रन्थकार यहा दर्शावते है कि मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यादृष्टि जीव पर्यायबुद्धि होता है । आत्मा और कर्म ये दोनों यद्यपि भिन्न है तथापि आत्मामें कर्मके निमित्तसे जो देह, वाग् और बुद्धि पाई जाती है । वह आत्माका स्वरूप है इस प्रकारकी मिथ्या बुद्धि मिथ्यादृष्टिके होती है कारण यह है कि कर्म और आत्मामें यद्यपि भेद है तो भी मिथ्यात्वके उदयके कारण मिथ्यादृष्टियोंके मनमें एकत्वका व्यामोह होता है इसलिये उनके इस प्रकार भ्रम रहता है और इसीकारणसे वे विचिकित्सा भावसे ग्रस्त रहते है अतः उनके निर्विचिकित्सित अंग नहीं होता है ।

इत्युक्तो युक्तिपूर्वोसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
नाविवक्षो हि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये ॥ ५८७ ॥

अन्वयार्थ — (इति युक्तिपूर्वः उक्तः सद्दर्शनस्य यः गुणः) इस प्रकार युक्तिपूर्वक कहा गया यह जो निर्विचिकित्सित नामक सम्यग्दर्शनका गुण–अंग है (असौ) यह यदि (अविवक्षः) नहीं कहा जाय तो (दोषाय न) किसी प्रकारके दोषके लिए नहीं होता है (अपि) और (विवक्षः गुणाप्तये न) कहा जाय तो सम्यग्दर्शनमें किसी प्रकारके विशेष गुणके लानेके लिएभी कारण नहीं होता है ।

भावार्थः— यहांपर " अविवक्ष " और " विवक्षः " ये दो शब्द अविवक्षित और विवाक्षितः अर्थमें आए है परन्तु मुझे ये दोनों कुछ अशुद्ध मालुम पडते है विद्वान् लोग विचार करे। जिस प्रकारसे इतर अंगोंके विषयमें ग्रंथ कारने जगह २ बताया है उसी प्रकार इस अंगके विषयमेंभी बताते है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर आत्मामें निर्विचिकित्सा बुद्धि होती है। इसलिए यहभी अंग है परन्तु उसके प्रतिपादनसे कुछ विशेषता, और न प्रतिपादनसे कुछ न कुछ सम्यग्दर्शनमें हीनता होती है यह नहीं कहा जासकता है। यहां ग्रन्थकारका ऐसा अभिप्राय मालूम पडता हैकि यह बाह्य लक्षण है और बाह्य लक्षण सर्वथा ज्ञापकही होता है ऐसा नहीं कहा जासकता है। अन्तरंग लक्षण सम्यग्दर्शनका एक ज्ञानचेतना है।

अस्ति चामूढदृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी।
यया[1]लंकृतवपुष्येतद्भाति सद्दर्शनं नरि ॥ ५८८ ॥

अन्वयार्थः— (यया अलंकृतवपुषिनरि एतद् सम्यग्दर्शन भाति) जिससे अलकृत पुरुषमें सम्यग्दर्शन सुशोभित होता है (सा सम्यग्दर्शनशालिनी अमूढदृष्टिः अस्ति) वह सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाली अमूढ दृष्टि कहलाती है।

भावार्थः— तत्वज्ञानियोंकी दृष्टि मूढ नहीं होती है किंतु अमूढ होती है इसलिए जिस दृष्टिके द्वारा अलंकृत आत्मामें सम्यग्दर्शन शोभाको प्राप्त होता है वह सम्यग्दर्शनके अविनाभावसे होनेवाली अमूढदृष्टि है।

अमूढ दृष्टिका लक्षण।

अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात्।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोऽस्त्यमूढदृक् ॥ ५८९ ॥

अन्वयार्थः — (स्वलक्षणात्) मूढदृष्टिके लक्षणकी अपेक्षासे (अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः) अतत्वोंमें तत्वकी श्रद्धाको मूढदृष्टि कहते है (सा) वह मूढदृष्टि (यस्य जीवस्य नास्ति) जिस जीवकी नहीं है (सः अमूढदृक् अस्ति) वह अमूढदृष्टिवाला सम्यग्दृष्टि है।

---

१ ला. सं. में ' यथाऽलंकृतमात्रंसत् ' ऐसाभी पाठ है।

भावार्थ — अतत्त्वोंमें तत्त्वोंके श्रद्धानको करनेवाली जो दृष्टि है उसे मूढदृष्टि कहते हैं। जिसके इस प्रकारकी विपरीत दृष्टि नहीं होती है किंतु तत्त्वोंमें तत्वोंके श्रद्धान करनेवाली दृष्टि होती है उसे अमूढदृष्टि कहते हैं। उसीको आगें बताते हैं

अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैः मिथ्याऽर्थः साधितोऽपरैः।
नाप्यलं तत्र मोहाय दृङ्मोहस्योदयक्षतेः॥ ५९० ॥

अन्वयार्थ — (य) जो (अपरैः) अन्य मतवालोंके द्वारा (असद्धेतुदृष्टांतैः मिथ्यार्थः साधितः अस्ति) मिथ्या हेतु और दृष्टांतोंके द्वारा वस्तुका स्वरूप विपरीत रीतिसे सिद्ध कर रक्खा है (" सः " अपि) वहभी (तत्र दृङ्मोहस्य उदयक्षते) सम्यग्दृष्टियोंके मिथ्यात्वका सद्भाव नहीं है इसलिए (मोहाय अलं न) मोह पैदा करनेके लिए समर्थ नहीं होता है।

भावार्थः— मिथ्या मतवालोंके द्वारा मिथ्या हेतु दृष्टांतोंके द्वारा सिद्ध किया हुआभी अर्थ (पदार्थ) मिथ्यात्वके अभावमें सम्यग्दृष्टियोंके मोहको उत्पन्न नहीं कर सकता है। अर्थात् जिनके मिथ्यात्वका सद्भाव होता है उनकेही मिथ्यामतवालोंके द्वारा प्रतिपादित अर्थ मोहजनक होते हैं सम्यग्दृष्टिके नहीं हैं।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः।
नाल्पश्रुतः स मुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः॥ ५९१ ॥

अन्वयार्थ — (कुदृष्टिभिः सूक्ष्मांतरितदूरार्थे दर्शिते अपि) मिथ्यादृष्टियों द्वारा परमाणु आदि सूक्ष्म, सुमेरु आदि अन्तरित, और भूतकालीन रामरावणादि दूरार्थोंके प्रत्यक्ष दिखानेपरभी (अल्पश्रुतः सः) अल्पज्ञानी सम्यग्दृष्टि (न मुह्येत) मोहित नहीं होता है (बहुश्रुतः चेत् पुन किं) यदि बहु-श्रुत हुआ तो फिर भला क्योंकर मोहित होगा ?

भावार्थ— सम्यग्दृष्टिको सूक्ष्मादि पदार्थोंका मिथ्यादृष्टि द्वारा युक्ति प्रयुक्तिसे प्रत्यक्ष कराया जाय तोभी वह मोहित नहीं होता है उसकी उस विषयमें श्रद्धा नहीं होती है कारण सम्यग्दर्शनके विना न तो समीचीन रूपसे

वस्तुके स्वरूपका बोधही होता है और समीचीन प्रतिपादनही होता है। अत. मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा यथार्थ स्वरूप कहा नहीं जाता है इसलिए अल्पज्ञानी अमूढदृष्टिकोभी, उसका श्रद्धान नहीं होता तो बहुश्रुतको तो क्योंकर होवेगा ?

अर्थाभासेऽपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढता।
स्थूलानन्तरितोपात्तमिथ्यार्थस्य कुतो भ्रमः ॥ ५९२ ॥

अन्वयार्थः — (तत्र अर्थाभासे अपि) उन सूक्ष्मादि अर्थाभासोंमेंमी जब (उच्चैः) यथार्थमें (सम्यग्दृष्टेः) सम्यग्दृष्टिको (मूढता न) मूढता नहीं होती है तो फिर (स्थूलानन्तरितोपात्तमिथ्यार्थ अस्य भ्रमः कुतः) स्थूल और पार्श्ववर्ती तथा वर्तमान मिथ्या अर्थोंमें इसको भ्रम कैसे होसकता है ?

भावार्थ — सम्यग्दृष्टिके जब मिथ्यादृष्टियों द्वारा बताए हुए सूक्ष्मादि मिथ्या अर्थोंमें भ्रम नहीं होसकता है तो फिर स्थूल तथा पार्श्ववर्ती तथा वर्तमान मिथ्या अर्थोंमें भ्रम कैसे होसकता है ?

तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नानाविकल्पसात् ।
निःसारैराश्रिता पुम्भिरथाऽनिष्टफलप्रदा ॥ ५९३ ॥

अफलाऽनिष्टफला हेतुशून्या योगापहारिणी।
दुस्त्याज्या लौकिकी रूढिः कैश्चिदुष्कर्मपाकतः ॥ ५९४ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) उसका खुलासा इस प्रकार है कि (नानाविकल्पसात्) अनेक विकल्पवाली (लौकिकी रूढिः अस्ति) लौकिक रूढि हैं और वह (निःसारैः पुम्भिः) निस्सार पुरुषों द्वारा (आश्रिता) आश्रित है (अथ) तथा (अनिष्टफलप्रदा) अनिष्ट फलको देनेवाली है ।

(अफला) निष्फल (अनिष्टफला) दुष्फल अर्थात अनिष्ट फलरूप (हेतुशून्या) युक्तिरहित (योगापहारिणी) अन्वर्थ अर्थसे रहित अथवा असम्बद्ध (लौकिकी रूढिः) लौकिक रूढि (दुष्कर्मपाकतः) मिथ्यात्व कर्मके उदयसे (कैश्चित्) किन्हीं २ के द्वारा (दुस्त्याज्या) छोडी नहीं जाती है।

भावार्थः— उक्त मूढताका खुलासा इसप्रकार है कि यद्यपि देवमूढता गुरुमूढता आदि बिकल्पोंसहित नानाप्रकारकी लौकिक रूढियां है जो कि निस्सार पुरुषोंके द्वारा आश्रित, अनिष्ट फलको देनेवाली, अफल, अनिष्टफलरूप, युक्तिशून्य और असम्बद्ध होती है तथापि वे मिथ्यात्वोदयवश मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा छोडी नहीं जाती है।

अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढता ॥ ५९५ ॥

अन्वयार्थः— (इह) इस लोकमें (या) जो (अदेवे देवबुद्धिः) कुदेवमें देवबुद्धि (अधर्मे धर्मधीः) अधर्ममें धर्मबुद्धि और (अगुरौ गुरुबुद्धिः) कुगुरुमें गुरुबुद्धि (स्यात्) होती है (सा) वह (देवादिमूढता) देवादिमूढता (ख्याता) कही जाती है।

भावार्थ.— कुदेवमें देवबुद्धि, अधर्ममें धर्मबुद्धि और कुगुरुमें गुरुबुद्धि को देवादिमूढता कहते हैं अर्थात् देवमूढता, धर्ममूढता और गुरुमूढता कहते है।

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता ॥ ५९६ ॥

अन्वयार्थ— (ऐहिकश्रेयसे) इहलोक सम्बन्धी कल्याणके लिये जो (कुधीः) मिथ्यादृष्टि जीव (कुदेवाराधनं) मिथ्या देवोंकी आराधनाको (कुर्यात्) करता है वह केवल (मृषालोकोपचारत्वात्) मिथ्या लोकोपचारवश की जानेके कारण (अश्रेया) अकल्याणकारी (लोकमूढता) लोकमूढता है।

भावार्थ.— ऐहिक स्वार्थ सिद्धिके लिये जो कुदेवोंकी आराधना की जाती है उसको लोकमूढता कहते हैं और वह मिथ्यालोकोपचारवश होनेके कारण अकल्याणकारी है।

अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकमूढवशादिह।
धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताऽम्बिका ॥५९७ ॥

अन्वयार्थ— (इह) इसलोकमें (लोकमूढवशात्) उक्त लोकमूढताके कारण (एकेषां)

किन्हीं २ का (श्रद्धानं अस्ति) ऐसा श्रद्धान है कि (सम्यगाराधिताम्बिका) अच्छी तरहसे आराधित की गई आम्बिकादेवी (नून) निश्चयसे (धनधान्यप्रदा) धन धान्य आदिको देनेवाली है।

भावार्थ — लोकरूढिवश किन्हीं २ का ऐसा विश्वास है कि यदि देवीकी भले प्रकार उपासना की जावे तो यथेच्छ धन धान्यादिककी प्राप्ति होती है।

अपरेऽपि यथाकामं देवानिच्छन्ति दुर्धियः।
सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञाऽपराधतः॥ ५९८॥

अन्वयार्थः— (अपरे अपि दुर्धियः) अन्य मिथ्यादृष्टि जीवभी (प्रज्ञापराधतः) अज्ञानके कारण (सदोषान् अपि देवान्) दोषयुक्तभी देवोंको (निर्दोषानिव) निर्दोष देवोंकी तरह (यथाकामं इच्छन्ति) अपनी २ इच्छानुसार मानते हैं।

भावार्थः— इसी प्रकार अन्य मिथ्यादृष्टि जीवभी मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले अज्ञानके कारण लोकरूढिवश सदोषभी देवोंको निर्दोष देवोंके समान अपनी २ रूचि के अनुसार मानते है।

नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसङ्गादपि सङ्गतः।
लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निःसारं ग्रन्थविस्तरम्॥ ५९९॥

अन्वयार्थः— (प्रसङ्गात् सगतः अपि) प्रसङ्गानुसार सुसङ्गत होते हुयेभी (तेषां समुद्देशः) उन कुदेवोंका कथन (न उक्तः) यहांपर नहीं किया है क्यों कि (वै) निश्चयसे (लब्धवर्णः) विद्वान पुरुष (निस्सार) निष्फल (ग्रन्थविस्तर) ग्रन्थके विस्तारको (न कुर्यात्) नहीं करता है।

भावार्थः— यद्यपि कुदेवोंका विशेष कथन करना प्रसंगवश युक्तियुक्त है तथापि निरर्थक ग्रन्थविस्तारके भयसे यहांपर उनका विशेष कथन नहीं किया गया है। क्योंकि कोईभी विद्वान पुरुष निरर्थक ग्रन्थविस्तारको नहीं करता है।

अधर्मस्तु कुदेवानां यावनाराधनोद्यमः।
तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाकायचेतसाम्॥ ६००॥

अन्वयार्थ— (तु) और (कुदेवानां यावान् आराधनोद्यमः) जितनाभी कुदेवोंके आराधनाके सम्बन्धमें उद्यम है वह, तथा (तैः प्रणीतेषु धर्मेषु वाक्कायचेतसां चेष्टा) उनके द्वारा बताये हुये धर्मके विषयमें मन वचन और कायकी जो २ चेष्टा है वह सबभी (अधर्मः) अधर्म है।

भावार्थः— पुरुष प्रमाणसे वचनमें प्रामाणता होती है इस लिये सर्वज्ञ देवकी श्रद्धाके होनेपर उनकी आराधनाके उद्यमको ,तथा उनके द्वारा बताये हुए धर्ममें, मन वचन और कायकी प्रवृत्ति करनेको धर्म कहते है, तथा इसके विपरीत जो कुदेवोंकी आराधना है तथा कुदेव प्रणीत धर्ममें मन वचन और कायकी जो प्रवृत्ति है उसे अधर्म कहते है।

कुगुरु और सुगुरुका लक्षण ।

कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः ।
सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥ ६०१ ॥

अन्वयार्थ— (कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः कुगुरुः) जिसका चारित्र मिथ्या हो, जो शल्यसहित हो. परिग्रह सहित हो, वह कुगुरु है (यतः) क्योंकि (सम्यक्त्वेन अपि व्रतेन युक्तः सद्गुरुः स्यात्) सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे युक्त गुरुको सद्गुरु कहते है ।

भावार्थः— सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे युक्त गुरुको सद्गुरु कहते है । इसलिये परिग्रह, तीन प्रकारकी शल्य, और मिथ्या चारित्रको धारण करनेवालेको कुगुरु समझना चाहिये ।

अत्रोद्देशोऽपि न श्रेयान् सर्वतोतीव विस्तरात् ।
आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोऽनुक्त एव सः ॥ ६०२ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र अपि) कुगुरु और कुधर्मके विषयमेंभी (अतीव विस्तरात) अत्यन्त विस्तारसे (उद्देशः) कथन करना (सर्वतः श्रेयान् न) सर्वथा श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि (अत्र)

इस विषयमें आगममें (उक्तः विधिः एव) जो विधि कही गई है वहही (आदेयः) ग्रहण करना चाहिये तथा (अनुक्तः सः) जो विधि नहीं कही गई है वह (आदेयः न) ग्रहण नहीं करना चाहिये ।

भावार्थ — कुगुरु और कुधर्मके विषयमें विस्तारके भयसे यहांपर ज्यादह कुछ भी कथन नहीं किया गया है । अत उनके विषयमें आगममें जो विधि प्रतिपादित की गई उसे ग्रहण करना चाहिये । तथा जो विधि प्रतिपादित नहीं की गई है उसे ग्रहण नहीं करना चाहिये ।

दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणं च कर्मतत् ।
तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥ ६०३ ॥

अन्वयार्थ — (रागादिसद्भावः दोषः) रागादिकका सद्भावरूप दोष और (आवरणं च तत् कर्म स्यात्) प्रसिद्ध ज्ञानावरणादिक कर्म कहलाते है तथा (यत्र) जिसमें (तयोः) उन दोनोंका रागादिक और ज्ञानावरणादिक कर्मोंका (निःशेष अभावः अस्ति) सर्वथा अभाव पाया जाता है (असौ) वह (देवः उच्यते) देव कहलाता है ।

भावार्थः— जिसमें रागादिक वैभाविक भावोंका और ज्ञानावरणादिक कर्मोंका सद्भाव नहीं पाया जाता है उसको सच्चा देव कहते है ।

अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् ।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥ ६०४ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) सच्चे देवमें (केवलं ज्ञानं) केवलज्ञान (क्षायिकं दर्शनं) क्षायिक दर्शन (सुखं) क्षायिक सुख (च) और (वीर्यं) क्षायिक वीर्य (इति) इस प्रकार जो (सुविख्यातं) सुप्रसिद्ध (अनन्तचतुष्टय स्यात्) अनन्त चतुष्टय है वह (अस्ति) पाया जाता है ।

भावार्थः— रागादिक भावोंका तथा ज्ञानावरणादिक घातिया कर्मोंका अभाव होजानेसे उस देवमें केवल ज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इस प्रकार अनन्त चतुष्टय प्रगट होजाता है ।

एको देवः स सामान्याद्द्विधाऽवस्थाविशेषतः ।
संख्येयो नामसन्दर्भाद्गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥ ६०५ ॥

अन्वयार्थः— (सः देवः) वह देव (सामान्यात्) देवत्व सामान्यपनेसे (एकः) एक प्रकारका है (अवस्थाविशेषतः) अवस्था विशेषसे—पर्यायोंकी अपेक्षासे (द्विधा) दो प्रकारका है (नाम सन्दर्भात्) संज्ञावाचक शब्दोंकी अपेक्षासे (सख्येयः) संख्यात प्रकारका है और (गुणेभ्यः) गुणोंकी अपेक्षासे (अनन्तधा स्यात्) अनन्त प्रकारका है।

भावार्थ— वह देव देवत्व सामान्यकी अपेक्षासे एक प्रकारका है। अरहंत तथा सिद्धरूप पर्यायकी अपेक्षासे दो प्रकारका है। संज्ञावाचक शब्दोंकी अपेक्षासे संख्यात प्रकारका है। और प्रत्येक गुणकी अपेक्षासे अनन्त प्रकारका है।

एको देवो स द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धोपलब्धितः।
अर्हन्निति सिद्धश्च पर्यायार्थाद्द्विधा मतः ॥ ६०६ ॥

अन्वयार्थः— (सः देवः) वह देव (शुद्धोपलब्धित द्रव्यार्थात्) शुद्धोपलब्धिरूप द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे (एकः सिद्धः) एक प्रकारका प्रसिद्ध है-एक प्रकारका माना गया है (च) और (पर्यायार्थात्) पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे (अर्हन्) अर्हंत (च) तथा (सिद्धः) सिद्ध (इति च) इस तरह (द्विधा मतः) दो प्रकारका माना गया है।

भावार्थ— वह देव द्रव्यार्थिक नयके विषयभूत सामान्य कथनकी अपेक्षासे एक प्रकारका है। और पर्यायार्थिक नयके विषयभूत विशेष कथनकी अपेक्षासे अरहन्त तथा सिद्ध इस तरह दो प्रकारका है।

दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥ ६०७ ॥

अन्वयार्थ— (यः) जो (दिव्यौदारिक देहस्थः) परम दिव्य औदारिक शरीरको धारण करनेवाला है (धौतघातिचतुष्टयः) चारों घातिया कर्मोंसे रहित है (ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः) अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य इन चार अनन्त चतुष्टयोंसे सहित है और (धर्मोपदेशकः) धर्म तीर्थका प्रवर्तक है (सः) वह (अर्हन्) अर्हन्त देव है।

भावार्थ:— जो परम दिव्य औदारिक शरीरमें स्थित है–विराजमान है, चार घातिया कर्मोंका नाश करनेवाला है, अनन्त चतुष्टयसे परिपूर्ण है और समवशरणादि बाह्य विभूतिसे सहित होकर त्रिजगतके कल्याणके लिये मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाला है उसको अरहन्त कहते है ।

मूर्तिमद्देहनिर्मुक्तो लोको लोकाग्रसंस्थितः ।
ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसञ्ज्ञकः ॥ ६०८ ॥

अन्वयार्थः— ('यः') जो (मूर्तिमद्देहनिर्मुक्त) मूर्तीक शरीरसे रहित है (लोकः) सम्पूर्ण चर अचर पदार्थोंका युगपत् जानने तथा देखनेवाला है (लोकाग्रसंस्थितः) लोकाकाशके अग्रभागमें विराजमान है (ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतः) ज्ञानादिक अष्ट गुणोंसे युक्त है और (निष्कर्मा) सपूर्ण कर्ममलसे रहित है ('सः,) वह (सिद्धसंज्ञकः) सिद्ध नामक देव है अर्थात् उसे सिद्ध कहते है ।

भावार्थः— जो मूर्तीकशरीर रहित है, सम्पूर्ण पदार्थोंका युगपत् ज्ञाता द्रष्टा है, लोकके अग्रभागमें विराजमान है, आठों कर्मोंके अभावसे उत्पन्न होनेवाले अनन्त ज्ञानादिक आठ गुणोंसे युक्त है और कर्म मलसे रहित है उसको सिद्धपरमात्मा कहते है ।

अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात् ।
महादेवोऽधिदेवत्वाच्छङ्करोऽपि सुखावहात् ॥ ६०९ ॥
विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृत्वात्कथंचन ।
ब्रह्मा ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरिर्दुःखापनोदनात ॥ ६१० ॥
इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात् ।
यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥ ६११ ॥
चतुर्विंशतिरित्यादि यावदन्तमनन्तता ।
तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैकाविधत्वतः ॥ ६१२ ॥

अन्वयार्थ.— (जगत्पूज्यः इति) वह देव जगत्पूज्य होनेसे (अर्हन्) अरहन्त कहलाता है (कर्मारिघातनात्) कर्मरूपी शत्रुओंका नाश करनेसे (जिनः) जिन कहलाता है (अधिदेवत्वात्) देवाधिदेव होनेसे (महादेवः) महादेव कहलाता है (अभिसुखावहात्) जगतके प्राणियोंको सुखका देनेवाला होनेसे (शंकर) शंकर कहलाता हैं (ज्ञानेन) ज्ञानके द्वारा (कथञ्चन) कथञ्चित् (सर्वार्थे विस्तृतत्वात्) सम्पूर्ण पदार्थोमें व्यापक होनेसे (विष्णुः) विष्णु कहलाता है (ब्रह्मज्ञरूपत्वात्) ब्रह्मज्ञ रूप होनेसे आत्माके स्वरूपको जाननेवाला होनेसे (ब्रह्मा) ब्रह्मा कहलाता है और (दुःखापनोदनात्) जगतके दुःखोंका नाश करनेवाला होनेसे (हरिः) हरि कहलाता हैं (इत्यादि अनेकनामा अपि) इस प्रकार वह अर्हन्त देव अर्हन् इत्यादिक अनेक नामवाला होकरकेभी (स्वलक्षणात्) अपने लक्षणकी अपेक्षासे (अनेक न अस्ति) अनेक नहीं है (यतः) क्योंकि (सिद्धसाधनात्) प्रसिद्ध साधनोंके द्वारा (अनन्तगुणात्मकद्रव्य स्यात) अनन्त गुण स्वरूप एकही द्रव्य है तथा इसी तरह (चतुर्विंशति. इत्यादि) चौवीस तीर्थंकर आदिसे लेकर (अन्त यावत्) अन्त पर्यंत (अनन्तता) देवमें अनन्तपना पाया जात है परन्तु (देवत्वैकविधत्वतः) देवत्वको एक प्रकारकाही होनेसे (तद्बहुत्व) देवका बहुपना (दोषाय न) दोषके लिए नहीं होसकता है ।

भावार्थः— वह देव जगत्पूज्य है इसलिये अर्हत कहलाता है, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाला है इसलिए जिन कहलाता है, देवोंको देव है इसलिए महादेव कहलाता है, सम्पूर्ण जीवोंको सुख देनेवाला है इसलिए शंकर कहलाता है, ज्ञानकी अपेक्षासे कथंचित् संपूर्ण पदार्थ गत है इसलिए विष्णु कहलाता है, शुद्ध आत्माके स्वरूपको जाननेवाला है इसलिए ब्रह्मा कहलाता है और जगतके दुःखोंका नाश करनेवाला है इसलिए हरि कहलाता है ।

इस प्रकार भिन्न २ गुणोंकी अपेक्षासे कहा जानेवाला वह देव यद्यपि संज्ञावाचक शब्दोंकी दृष्टिसे संख्यात भेद वाला कहा जाता है तथापि देवके लक्षणकी अपेक्षासे वह एकही प्रकारका है । कारणकि अनन्त गुणोंके पिंडको द्रव्य कहते हैं इसलिये किसीभी द्रव्यके गुणोंकी अपेक्षासे जो विवक्षित भेद है वे वास्तविक भेद नहीं कहलाते हैं तथा इसी प्रकार यद्यपि चौवीस तीर्थंकर आदिसे लेकर अनन्त संख्यापर्यंत देवके विषयमें भेद विवक्षा की जासकती है तथापि देवत्व सामान्यकी अपेक्षासे वह देव एकही प्रकारका है । अतः जो देवके विषयमें भेद विवक्षासे कहा हुआ बहुत्व है वह दोषावायक नहीं माना जासकता है ।

प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये ।
यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्न स्यान्नानाप्रकारता ॥ ६१३ ॥

अन्वयार्थ— (प्रदीपानां) प्रदीपोंकी (अनेकत्वं) अनेकता (प्रदीपत्वहानये न) प्रदीपत्व की हानिके लिये समर्थ नहीं है (यतः) क्योंकि (अत्र) इन दीपकोंमें (एकविधत्व स्यात्) प्रकारता एकही है (नानाप्रकारता न स्यात्) व्यक्तियोंके अनेक होनेपरभी अनेक प्रकारता नहीं है ।

भावार्थ — जैसे एकजातिके नाना दीपोंमें एक प्रदीपत्व जाति ही रहती है नाना नहीं । वैसेही कर्म मलसे रहित देवोंमें एक देवत्व जाति है नाना नहीं । इस लिये प्रदीपोंके समान देवोंकी अनेकताभी सामान्यपनेसे कहे जानेवाले देवत्वके प्रतिपादनके लिये बाधक नहीं होसकती है ।

न चाशंक्यं यथासंख्यं नामतोऽप्यस्त्वनंतधा ।
न्यायादेकं गुणं चेकं प्रत्येकं नाम चैककम् ॥ ६१४ ॥
न यतः सर्वतो मुख्यं संख्यातस्यैव संभवात् ।
अधिकस्य ततो वाचाऽव्यवहारस्य दर्शनात् ॥ ६१५ ॥

अन्वयार्थ— (न्यायात्) न्यायानुसार (एक गुणं प्रति एकैक च नाम " भवति इति ") एक २ गुणके मुख्यतासे देवके एक २ नाम अलहदा २ होजायगा इसलिये (यथासंख्यं नामत अपि तु) यथासंख्य रीतिसे नामोंकी अपेक्षासेभी तो (अनन्तधा अस्तु) देव अनन्त प्रकार होना चाहिये ऐसीभी (आशंक्यं नच) आशंका नहीं करना चाहिये ।

---

१ अलौकिक गणितके मुख्य दो भेद है, एक संख्या मान और दूसरा उपमामान । संख्यामानके मूल ३ भेद है (१) संख्यात (२) असंख्यात और (३) अनन्त । असंख्यातके ३ भेद है (१) परीतासंख्यात (२) युक्तासंख्यात और (३) असंख्यातासंख्यात । अनन्तके भी ३ भेद है (१) परीतानन्त (२) युक्तानन्त और (३) अनन्तानन्त । संख्यातका एक भेद ही है इसप्रकार संख्यातका १ भेद, असंख्यात और अनन्तके तीन तीन भेद, सब मिलकर संख्यामानके सात भेद हुये । इन सातोंमेंसे

(नरत्न.) क्योंकि शब्दकी अपेक्षाको विषय करनेवाले नयकी अपेक्षासे (सर्वतोमुख्यसंख्यातस्यैव सम्भवात्) अधिकसे अधिक उत्कृष्ट संख्यात तकही नाम होसकते है (ततो अधिकस्य अवाच्यव्यवहारस्य दर्शनात्) उत्कृष्ट संख्यातसे अधिक शब्दकी अपेक्षामें कभीभी प्रतिपादित नही होते है।

भावार्थः— यहांपर कोई ऐसीभी शंका न करे कि एक गुणके अनुसार एक २ नाम मानलेनेसे शब्ददृष्टि-नामदृष्टिसेभी देवके अनन्त भेद मानलेना चाहिये, कारण बोलने योग्य शब्द उत्कृष्ट सख्यातसे अधिक नहीं होसकते है इसलिये अरहन्त आदि शब्दो द्वारा नामकी अपेक्षासे संख्यातही भेद होसकते हैं। असख्यात और अनन्त भेदभी होसकते है परन्तु वे भेद व्यक्ति भेद व गुणभेदके कारण आगममें माने है नाम भेदसे नहीं।

प्रत्येक [हरएक] के जघन्य [सबसे छोटे] मध्यम [बीचके] और उत्कृष्ट [सबसे बडे] की अपेक्षासे तीन तीन भेद है। इसतरह संख्यामानके २१ भेद हुए।

एकमें एकका भाग देनेसे अथवा एकको एकसे गुणाकार करनेसे कुछभी हानि वृद्धि नही होती। इसलिये संख्याका प्रारम्भ दोके अकसे ग्रहण किया है। और एकको गणना [गिनति] शब्दका वाच्य [कहनेवाला] माना है, इसलिये जघन्य संख्यातका प्रमाण दो [२] है। तीन चार पाच इत्यादि एक कम उत्कृष्ट संख्याततक मध्यम संख्यातके भेद है। एक कम जघन्यपरीतासंख्यातकोही उत्कृष्ट संख्यात कहते है। अब आगे जघन्यपरीतासंख्यातका प्रमाण कितना है सो लिखते है।

जघन्यपरीतासंख्यातका स्वरूप समझानेके लिये जो उपाय लिखा जाता है, वह किसीने किया नही था और न किया जासकता है किन्तु बडे गणितका परिमाण समझानेके लिये एक कल्पित उपायमात्र है।

कल्पना कीजिये कि अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका नामके चार गोल कुण्ड है। जिनमेंसे प्रत्येक का व्यास (गोल पदार्थके एकतटसे दूसरे तटतककी चौडाई) एक लक्ष योजन (योजनका प्रमाण यहा दो हजार कोसका समझना) और गहराई (चौडाई) का प्रमाण एक हजार योजन है। इनमेसे अनवस्था कुण्डको गोल सरसोंसे शिखाऊ (पृथ्वीपर अन्नकी राशिकी तरह) भरना। गणित शास्त्रके अनुसार इस अनवस्था कुडमें १९७११२९३८४५१६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६ $\frac{4}{11}$ छियालीस अक प्रमाण सरसों समाई। किंतु यहा अपूर्णांकका ग्रहण नहीं करना।

इस अनवस्था कुडके भरनेपर दूसरी एक सरसों, अनवस्था कुडोंकी गिनती करनेके लिए शलाका कुंडमें डालनी चाहिये मध्यलोकमें असख्यात द्वीपसमुद्र है, जिनमें सबके बीचमें जम्बूद्वीप है। इसका व्यास एकलक्ष योजन है, उसके चारों तरफ लवण

वृद्धैः प्रोक्तमतःसूत्रे तत्वं वागति शायि यत् ।
द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम ॥ ६१६ ॥

अन्वयार्थ— (अतः) इस लिये (वृद्धैः) पूर्वाचार्योंने (सूत्रे) सूत्रमें (प्रोक्त) कहा है कि (यत्) जो (तत्वं) तत्व है वह (वागतिशायि) वचनातीत है (च) और (द्वादशांगांगबाह्य) द्वादशांग तथा अङ्गबाह्यरूप (श्रुतं) शास्त्र–श्रुतज्ञान (स्थूलार्थगोचरं) स्थूल पदार्थ को विषय करनेवाला है ।

भावार्थः— तत्व जो द्वादशाग गोचर कहाजाता है वह सब स्थूल दृष्टिकी अपेक्षासे कहा जाता है । क्यो कि वास्तवमें तत्व वचनके अगोचरही है ।

समुद्र है । उसको चारों तरफसे घेरकर धातकी खंड द्वीप है । इस प्रकार द्वीपके आगे समुद्र और समुद्रके आगे द्वीप इस क्रमसे असख्यात द्वीपसमुद्र है । चौडाई दूनी २ होती गई है । और उनकी (किसी द्वीप वा समुद्रकी) एकतटसे दूसरे तटतककी चौडाईको सूची कहते है । जैसे लवणसमुद्रकी सूची ५ लाख योजन है ।

अब अनवस्था कुंडमेंसे समस्त सरसोंको निकालकर देव या विद्याधरकी सहायतासे एक द्वीपमें एक समुद्रमें इस अनुक्रमसे डालते चलिये । जिस द्वीप वा समुद्रमें सब सरसों पूर्णकर अन्तकी सरसों डाले, उसी द्वीप वा समुद्रकी सूचीके समान सूचीवाला और १००० योजन गहराईवाला दूसरा अनवस्था कुंड बनाईये । और उसकोभी सरसोंसे शिखाऊ भर एक दूसरी सरसोंको, शलाका कुंडमें डालिये । इस दूसरे अनवस्था कुडकी सरसोंकोभी निकालकर जिस द्वीप वा समुद्रमें पहले समाप्ति हुई थी, उसके आगे एक सरसों, द्वीपमें और एक समुद्रमें डालते चलिये । जहां ये सरसों भी समाप्त हो जाँय वहां उसी द्वीप वा समुद्रकी सूचीप्रमाण चौडा और १००० योजन गहरा कुण्ड बनाकर उसे सरसोंसे शिखाऊ भरिये और शलाका कुण्डमें तीसरी सरसों डालिये । इस तीसरे कुण्डकी भी सरसों निकालकर आगेके द्वीप समुद्रोंमें एक एक डालते डालते जब सब सरसों समाप्त होजाय तब पूर्वोक्तानुसार चौथा अनवस्था कुण्ड भरकर चौथी सरसों शलाका कुण्डमें डालिये । इसीप्रकार एक एक अनवस्था कुण्डकी एक एक सरसों शलाका कुण्डमें डालते डालते जब शलाका कुण्डभी शिखाऊ भरजाय, तब एक सरसों प्रतिशलाका कुण्डमें डालिये । इसीतरह एक एक अनवस्था कुण्डकी एक एक सरसों शलाका कुण्डमें डालते डालते जब दूसरी बार भी शलाका कुण्ड भर जाय तो दूसरी सरसों प्रतिशलाका कुण्डमें डालिये । एक एक अनवस्था कुण्डकी एक एक सरसों शलाका कुण्डमें और एक २ शलाका कुण्डकी एक २ सरसों प्रतिश-

कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः ।
अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यं चेति चतुष्टयम ॥ ६१७ ॥
सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः ।
अप्यगुरुलघुत्वंच सिद्धे चाष्ट गुणाः स्मृताः ॥ ६१८ ॥

अन्वयार्थः— (कृत्स्नकर्मक्षयात्) सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला (क्षायिकं ज्ञानं) क्षायिक ज्ञान (पुनः) और (दर्शन) क्षायिक दर्शन (अत्यक्षं सुखं) अतींद्रिय अनन्त सुख (च) तथा (आत्मोत्थं वीर्यं) आत्मासे उत्पन्न होनेवाला अनन्त बल (इति चतुष्टयं) इस प्रकार अनन्त चतुष्टय (च) और (सम्यक्त्वं) क्षायिक सम्यक्त्व (सूक्ष्मत्वं) सूक्ष्मत्व (च) तथा (स्वतः एव अव्याबाधगुणः) स्वतः सिद्ध अव्याबाधत्व (अपि च) और (अगुरुलघुत्वं) अगुरुलघुत्व ('इति' च) इस प्रकार सामान्य रूपसे (सिद्धे) सिद्ध भगवानमें (अष्टगुणाः स्मृताः) अष्ट गुण माने गये है।

भावार्थः— अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाधत्व और अगुरुलघुत्व ये सिद्धोंके आठ गुण है।

इत्याद्यनन्तधर्माढ्यो कर्माष्टकविवर्जितः ।
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो नचेतरः ॥ ६१९ ॥

अन्वयार्थ — (इत्यादि अनन्तधर्माढ्यः) इस प्रकार ज्ञानादिक अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण (कर्माष्टकविवर्जितः) ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंसे रहित और (अष्टादशभिः दोषैः) क्षुधादिक अठारह दोषोंसे (मुक्तः) निर्मुक्त - रहित (देवः सेव्यः) देवही सेवन करनेके योग्य है—पूज्य है किंतु (इतर न च) अन्य देव पूज्य नहीं है।

भावार्थः— जो देव ज्ञानादिक अनन्त गुणोंसे युक्त है, आठ कर्मोंसे मुक्त है तथा क्षुधादिक अठारह दोंषोंसे रहित है वही पूज्य है। किंतु जो इससे विपरीत है वह पूज्य नहीं है।

लाकाकुडमे डालते २ जब प्रतिशलाका कुंडभी भरजाय, तब एक सरसों महाशलाका। कुडमें डालिये जिसक्रमसे एक बार प्रतिशलाका कुड भरा है उसी क्रमसे दूसरी बार भरनेपर दूसरी सरसों महाशलाका कुंडमें डालिए इसी तरह एक २ प्रतिशलाका कुडकी सरसो महाशलाकाकुडमें डालते २ जब महाशलाकाकुडभी भरजाय उस समय सबसे बडे अन्तके अनवस्था कुंडमें जितनी सरसो समाई उतनाही जघन्य परीतासंख्यातका प्रमाण है। मध्यम परीतासंख्यतादि भेदोंके स्वरूपको त्रिलोकसारमें देखना चाहिये।

अर्थाद्गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः ।
भगवांस्तु यतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥ ६२० ॥

अन्वयार्थ — (अर्थात्) वास्तवमें (स एव गुरुः अस्ति) वही देव सद्गुरु है (श्रेयोमार्गोपदेशकः) कल्याणमार्गका उपदेश देनेवाला (तु) तथा (भगवान्) सर्वज्ञ है (यतः) क्योंकि वह (साक्षात् मोक्षस्य वर्त्मनः नेता) साक्षात् मोक्षमार्गका नेता है ।

भावार्थः— वही देव वास्तवमें गुरु है, श्रेयमार्गका उपदेशक है तथा भगवान है । क्योंकि वह साक्षात् मोक्षमार्गका नेता है ।

तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः ।
गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्थाविशेषभाक् ॥ ६२१ ॥

अन्वयार्थ — (तेभ्यः अर्वाक्) उन सिद्ध और अर्हन्तोंकी अवस्थासे पहलेकी अवस्थावाले (तद्रूपधारिणः) उसी देवके रूपधारी (छद्मस्थरूपा अपि) छट्टे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थानतक रहनेवाले मुनिभी (गुरवः स्युः) गुरु कहलाते हैं क्योंकि वेभी (न्यायात्) भावी नैगमनयकी अपेक्षासे (गुरो अवस्था विशेषभाक्) उक्त गुरुकी अवस्था विशेषको धारण करनेवाले हैं (अतः अन्यः न) अगुरु नहीं है ।

भावार्थः— छट्टे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थानतकमें रहनेवाले छद्मस्थ मुनियोंकोभी भाविनैगमनयकी अपेक्षासे देव कहसकते हैं । क्योंकि मुनि अवस्था देवकी ही पूर्व अवस्था है । देवकी अवस्थाओंसे सर्वथा भिन्न अन्य अवस्था नहीं है । अतः मुनिभी सद्गुरु है असद्गुरु नहीं है ।

अवस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्वानुभवागमात् ।
शेषसंसारिजीवेभ्यस्तेषामेवाति शायनात् ॥ ६२२ ॥

अन्वयार्थ — (युक्तिस्वानुभवागमात्) युक्ति स्वानुभव और आगमसे (अत्र) आचार्यादि मुनियोंमें (अवस्थाविशेष. अस्ति) देवकी पूर्ववर्ति विशेष अवस्थाही है अतः वेभी गुरु शब्दसे कहे जाते हैं

क्योंकि (**शेषसंसारिजीवेभ्यः**) देवके विना शेष संसारी जीवोंकी अपेक्षासे (**तेषां एव**) उन आचार्यादिकमेंही (**अतिशायनात्**) अतिशय पाया जाता है ।

भावार्थः— छट्टे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थानतकमें रहनेवाले आचार्यादिक छद्मस्थ मुनियोंमें उक्त देवकी अवस्थाविशेषपना युक्ति, स्वानुभव तथा आगमसेभी सिद्ध है। क्योंकि शेष सम्पूर्ण जीवोंसे उन छद्मस्थ मुनियोंमें देवत्वकी ओर झुकनेवाली अतिशय युक्त विशेषता पाई जाती है ।

भविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते ।
अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात्सिद्धसाधनात् ॥ ६२३ ॥

अन्वयार्थः— (**भाविनैगमनयायत्त**) भाविनैगमनयकी अपेक्षासे (**भूष्णुः**) होनेवाला (**तद्वान् इव इष्यते**) होचुके हुयेके समान माना जाता है क्योंकि ऐसा कहना (**अवश्यंभावत**) अवश्यंभावी (**व्याप्तेः सद्भावात्**) व्याप्तिके पाये जानेसे (**सिद्धसाधनात्**) युक्तियुक्त है ।

भावार्थ— जिस अवस्थाके अनन्तर आगामी जिस अवस्थाका होना निश्चित होता है उस अवस्थाका वर्तमानमेंभी कहना भावि नैगमनयसे युक्तियुक्त सिद्ध होता है इस न्यायसे छद्मस्थ मुनियोंकोभी आगामी कालमें निश्चयसे सुदेवत्वकी प्राप्ति होगी इसलिए उनमे उस आगामी देवत्वकी भाविनैगमनयसे विवक्षा करके उनको सद्गुरु कहना असगत नहीं है किंतु युक्तियुक्तही है ।

अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तितः
चारित्रं देशतः सम्यक् चारित्रावरणक्षतेः ॥ ६२४ ॥

अन्वयार्थः— (**तेषु**) उन छद्मस्थ गुरुओंमें (**मिथ्याकर्मोपशान्तितः**) मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय कर्मके क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशमसे (**सद्दर्शन अस्ति**) क्षायिकादि सम्यग्दर्शन पाये जाते हैं और (**देशत चारित्रावरणक्षतेः**) एकदेश चरित्रमोहनीयके अभावसे (**सम्यक्चारित्र 'अस्ति'**) सम्यक्चारित्र पाया जाता है ।

भावार्थ:— छद्मस्थ मुनियोंको सद्गुरु कहनेमें कारण यह है कि उनके मिथ्यादर्शनके अनुदयसे सम्यक्त्व और यथायोग्य चारित्रमोहके अनुदयसे आंशिक सम्यक्चारित्र पाया जाता है।

ततः सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्वं हेतुदर्शनात्।
मोहकर्मोदयाभावात् तत्कार्यस्याप्यसम्भवात् ॥ ६२५ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिए उन गुरुओंमें (वै) निश्चयकरके (निसर्गात्) स्वभावसे और (हेतुदर्शनात्) हेतुदर्शनसे (शुद्धत्वं) शुद्धपना (सिद्धं) सिद्ध है क्योंकि (मोहकर्मोदयाभावात्) मोहनीय कर्मके उदयका अभाव होनेसे (तत्कार्यस्य अपि) मोहोदयजन्य रागादिकरूप कार्यका होनाभी (असम्भवात्) असंभव है।

भावार्थः— इसलिए उन छद्मस्थ मुनियोंमें स्वभावसे तथा युक्तिसेभी शुद्धता सिद्ध होती है। कारण कि उनके दोनों प्रकारके मोहका अनुदय रहता है। इसलिये उस मोहके अभावसे उत्पन्न होनेवाला जो शुद्धतारूप कार्य है वह उनके देखा जाता है।

तच्छुद्धत्वं सुविख्यातं निर्जराहेतुरञ्जसा।
निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि ॥ ६२६ ॥

अन्वयार्थः— (सुविख्यातं) सुप्रसिद्ध (तच्छुद्धत्वं) उनकी वह शुद्धताही (अंजसा) वास्तवमें (निर्जराहेतु) निर्जराका कारण है (अपि) और (संवरस्य निदानं) संवरका मूल कारण है तथा (क्रमात्) क्रम २ से (निर्वाणभाक् अपि) मोक्षकोभी प्राप्त करानेवाली है।

भावार्थ.—और उन छद्मस्थ गुरुओंकी वह शुद्धता उनके बद्ध कर्मोंकी निर्जरा तथा आनेवाले कर्मोंके संवरका कारण होती है। और क्रम २ से मोक्षकाभी कारण होती है।

यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः।
शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत्त्रयम् ॥ ६२७ ॥

अन्वयार्थः— (यद्वा) अथवा (अर्थात्) वास्तवमें (स्वयं) स्वत (तत् एव) वह शुद्धताही (निर्जरादित्रयं) निर्जरा सवर और मोक्ष है (यत) क्योंकि (शुद्धभावाविनाभावि) शुद्ध भावोंसे अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाला (तत् त्रय अपि) वह निर्जरात्रिकही (द्रव्यनाम) शुद्ध द्रव्य है।

भावार्थः— शुद्धता और संवर निर्जरा तथा मोक्ष इन तीनोंका अविनाभाव सम्बन्ध है इसलिये शुद्धताकोही संवरात्रिक तथा संवरत्रिकको ही शुद्धता कहनेमें कोई बाधा नहीं आती है। कारण कि इसी अभिप्रायहीसे आगममें संवर निर्जरा और मोक्षको शुद्ध द्रव्य कहा है।

निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मनः।
परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः॥ ६२८ ॥

अन्वयार्थः— (य) जो (चिदात्मन) आत्माका (शुद्ध भावः) शुद्धभाव (निर्जरादि- निदानं) निर्जरादिकका कारण है (सएव) वह ही (परमार्ह अस्ति) परमपूज्य है और (तद्वान् आत्मा) उस शुद्धभावसे युक्त आत्मा ही (पर गुरु) केवल गुरु कहलाता है।

भावार्थः— वास्तवमें कर्मोंके सवर निर्जरा और मोक्षका मूल कारण जो शुद्ध भाव है वह भावही परमपूज्य है तथा उस शुद्ध भावको धारण करनेवाला आत्मा ही परम गुरु कहलाता है।

न्यायाद्गुरुत्वहेतुः स्यात केवलं दोषसंक्षयः।
निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतरः॥ ६२९ ॥

अन्वयार्थ — (न्यायात्) न्यायानुसार (गुरुत्वहेतुः) गुरुपनेके कारण (केवलं दोषसंक्षयः स्यात) केवल दोषोंका क्षय होजाना है क्योंकि जो (निर्दोषः) दोष रहित है वही (जगत साक्षी) सर्वदर्शी-सर्वज्ञ और (मार्गस्य नेता) मोक्षमार्गका नेता होसकता है किंतु (इतर न , जो दोषयुक्त है वह नहीं होसकता है।

भावार्थ— युक्तिपूर्वक विचार करनेसे सद्गुरुपनेका कारण केवल रागादिक दोषोंका अभाव ही कहा जा- सकता है। क्योंकि रागादि दोषोंसे रहित आत्मा ही सर्वज्ञ और मोक्षमार्गका नेता सिद्ध होसकता है अन्य नहीं।

नालं छद्मस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुनेः ।
रागाद्यशुद्धभावानां हेतुर्मोहैककर्म तत् ॥ ६३० ॥

अन्वयार्थः— (मुनेः) मुनिकी (एषा) यह (छद्मस्थता अपि) अल्पज्ञता भी (गुरुत्वक्षतये) गुरुपनेकी हानिके लिये (अलं न) समर्थ नहीं होसकती है क्योंकि (रागादिअशुद्धभावानां) रागादिक अशुद्ध भावोंका (हेतुः) कारण (तत्) वह (मोहकर्म) एक मोहनीय कर्मही है ।

भावार्थ— छटवें गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तकके मुनियोंको, सम्पूर्ण घातिया कर्मोंका नाश न होनेसे छद्मस्थ कहते है । परन्तु उनकी इस छद्मस्थ अवस्थामेंभी दोनोंही प्रकारके मोहका यथासंभव अनुदय रहता है । इस लिये उनके अशरूपसे शुद्धता और शुद्धताके निमित्तसे यथासंभव संवर तथा निर्जराभी होती है । और सवर तथा निर्जराके होते रहनेसे कालान्तरमें मोक्षभी उनको प्राप्त होजाता है । अतः छद्मस्थ अवस्था गुरुपनेकी बाधक नहीं कही जासकती है । कारण कि गुरुत्वका बाधक केवल एक मोहकर्मका उदय ही माना है । और वह मोहका उदय छद्मस्थ मुनियोंके रहता नहीं है । किंतु उसका यथासंभव क्षयोपशमादिक रहता है ।

शंका ।

नन्वावृतिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म च ।
अस्ति तत्राप्यवश्यं वै कुतः शुद्धत्वमत्र चेत् ॥ ६३१ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (चेत्) यदि (तत्रापि) उन छद्मस्थ गुरुओंमें भी (आवृत्तिद्वयं कर्म) ज्ञानावरणकर्म, दर्शनावरणकर्म (च) और (वीर्यविध्वंसिकर्म) अन्तरायकर्म (अवश्यं अस्ति) अवश्य है तो फिर (वै) निश्चयकरके (अत्र) इन छद्मस्थ गुरुओंमें (शुद्धत्वं) शुद्धता (कुतः) कहासे आसकती है ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि यद्यपि छद्मस्थ गुरुओंके यथायोग्य मोहकर्मका अनुदय रहता है । परन्तु ज्ञानावरण और दर्शनावरण अन्तराय कर्मका तो सद्भाव पायाही जाता है इसलिए उनके शुद्धता कैसे सिद्ध होसकती है ?

उत्तर ।

सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च ।
मोहकर्माविनाभूतं बंधसत्वोदयक्षयम् ॥ ६३२ ॥

अन्वयार्थः— (सत्य) शकाकारका कहना ठीक है (किंतु) परन्तु (विशेषः अस्ति) इतनी विशेषता है कि (प्रोक्तकर्मत्रयस्य च) उक्त तीनों कर्मोंका (बन्धसत्वोदयक्षयं) बन्ध, सत्व, उदय और क्षय (मोहकर्माविनाभूत) मोह कर्मके साथ अविनाभूत है—अविनाभावी है अर्थात् मोहकर्मके साथ २ ही उक्त ज्ञानावरणादिक तीनोंही कर्मोंका बन्ध, उदय, सत्व तथा क्षय होता है ।

भावार्थ — शकाकारका कहना ठीक है कि छद्मस्थोंको ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंका सद्भाव पाया जाता है परन्तु इतनी विशेषता है कि घातिया कर्मोंमेंसे केवल एक मोह कर्महीं आत्मामें विपरीत स्वादुरूप परिणति करनेकी सामर्थ्य है । और उसका उदय रहनेपरही इतर तीन ज्ञानावरणादिक कर्मोंके उदयमें अत्यधिक तीव्रतादि रहती है । किंतु उस मोहके अनुदयके होतेही उन तीनों कर्मोंमें जो आत्माके ज्ञानादिक गुणोंके घातनेकी शक्ति है वह हीन पड जाती है कारणकि मोहका अभाव होतेही ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंकाभी यथासंभव अभाव होजाता है । इसलिए मोहके उदयादिकके साथही इतर तीन घातिया कर्मोंके उदयादिकका अविनाभाव माना है अर्थात् जितने अंशोंमें मोहके अनुदयसे आत्मामें शुद्धता प्रगट होती है उतनेही अंशोंमें इतर तीनों घातिया कर्मोंकाभी अभाव होता है । और तदनुसार आत्माके ज्ञानादिक गुणोंमेंभी यथायोग्य विशेषता प्रगट होती है अतएव ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंका सद्भाव पाया जानेसे छद्मस्थ मुनियोंके शुद्धता कैसे होसकती है यह शंका करना ठीक नहीं है ।

अथ आगे इसी अर्थका खुलासा करते हैं ।

तद्यथा बध्यमानेऽस्मिंस्तद्बंधो मोहबंधसात् ।
तत्सत्वे सत्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः ॥६३३ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथा) पूर्वोक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि (अस्मिन् बध्यमाने) उसी मोहनीय कर्मका बन्ध होनेपर (मोहबंधसात) उसी मोहकर्मके बन्धके आधीन–साथ २ (तद्बन्ध) ज्ञानावरणादिकका बन्ध होता है (तत्सत्वे)मोहनीय कर्मका सत्व होनेपर (एतस्य) ज्ञानावरणादिकका (सत्वं) सत्व रहता है (पाके) उदय होनेपर (पाकः)उदय होता है और (क्षये) क्षय होनेपर (क्षयः) क्षय होता है ।

भावार्थः— उक्त कथनका खुलासा इसप्रकार है कि मोहके बन्ध, उदय, सत्व और क्षयके अनुसारही ज्ञानावरणादि तीनों कर्मोंका यथायोग्य बन्ध, उदय, सत्व तथा क्षय होता है।

नोह्यं छद्मस्थावस्थायामर्वागेवास्तु तत्क्षयः ।
अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥ ६३४ ॥

अन्वयार्थः— (**छद्मस्थावस्थायां**) छद्मस्थ अवस्थामें (**अर्वाक एव**) ज्ञानावरणादिक क्षय होनेके पहलेही (**तत् क्षयः अस्ति**) मोहनीय कर्मका क्षय होता है ऐसी (**नोह्य**) आशंका नहीं करना चाहिये क्योंकि (**मोहक्षयस्य अंशात**) मोहनीय कर्मका अंशरूपसे क्षय होनेपर (**अंशात् क्षयः**) ज्ञानावरणादिककाभी अंशरूपसे क्षय होता है और (**सर्वतः**) मोहनीय कर्मका सम्पूर्ण क्षय होनेपर (**सर्वतः क्षयः**) ज्ञानावरणादिककाभी सम्पूर्णरूपसेही क्षय होजाता है।

भावार्थः— यहां ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि " छद्मस्थ अवस्थामें ज्ञानावरणादि कर्मोंके पहलेही मोहका क्षय होजाता है। इसलिए पूर्व श्लोकमें कहा हुआ मोहके उदयादिकके साथ इतर कर्मत्रिकके उदयादिकका अविनाभाव सिद्ध नहीं होगा "। क्योंकि सर्वत्रही मोहके अंशरूपसे क्षय होनेपर नियमसे इन तीनों कर्मोंका आंशिक क्षय और सम्पूर्ण क्षय होनेपर पूर्ण क्षय होता है।

नासिद्धं निर्जरातत्वं तदृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम् ।
आदृङ्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणं क्रमात् ॥ ६३५ ॥

अन्वयार्थ— (**सदृष्टेः**) सम्यग्दृष्टीके (**कृत्स्नकर्मणां**) ज्ञानावरणादिके सम्पूर्ण कर्मोंकी (**निर्जरा-तत्वं**) निर्जरा (**असिद्धं न**) असिद्ध नहीं है क्योंकि (**आदृङ्मोहोदयात**) दर्शन मोहनीय कर्म उदयका अभाव होनेतक (**तत् च**) वह निर्जरा तत्वभी (**क्रमात्**) क्रमसे उत्तरोत्तर (**असंख्यगुणं**) असंख्यात गुणा माना गया है।

भावार्थ— सम्यक्त्वकी उत्पत्तिसे लेकर मोहनीयके पूर्ण क्षय होनेतक आठोंही कर्मोंकी प्रत्येक गुणस्थानमें उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा बताई है इसलिए यदि मोहके आंशिक क्षयके साथ इतर तीन घातिया कर्मोंके आंशिक

होना असिद्ध होता तो गुणश्रेणि निर्जरामें सब कर्मोंकी यथायोग्य निर्जराका युगपत् कथन नहीं पाया जाता । किंतु चारोंही घातिया कर्मोंकी निर्जरा मोहकी क्षयोपशमादिक अवस्थाके अनुपातसेही गुणश्रेणि निर्जरामें पाई जाती है इसलिए मोहके उदयादिकके साथ इतर ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मोंके उदयादिकका अविनाभाव सम्बन्ध युक्तियुक्तही है

ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि सांप्रतम् ।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥ ६३६ ॥

अन्वयार्थः— (**ततः**) इसलिए (**यद्यपि**) यद्यपि (**सांप्रतं**) छद्मस्थ वीतराग गुरुओंके (**प्रोक्तं कर्मत्रयं अस्ति**) उक्त ज्ञानावरणादिक तीनोंही कर्मोंका सद्भाव पाया जाता है तथापि (**रागद्वेषविमोहानां अभावात्**) राग, द्वेष और मोहका अभाव होनेसे (**गुरुता मता**) गुरुपना मानाही जाता है ।

भावार्थः— इसलिए यह सिद्ध होता है कि यद्यपि छद्मस्थ अवस्थाओंमें ज्ञानावरणादिक तीनों कर्म विद्यमान है तथापि मोहके यथायोग्य क्षयोपशमादिकके होजानेसे उन तीनों कर्मोंकाभी क्षयोपशम होजाता है । अतः केवल राग, द्वेष और मोहके अभावसे गुरुपनेके सिद्ध करनेसेही शेष तीनों घातिया कर्मोंकाभी यथायोग्य अनुदयादिपना गर्भित होजाता है । दूसरे गुरुपनेके लिये केवल मोहकर्मका अभावही—अनुदयही मुख्य हेतु है । कारणकि मोहका अभाव होनेपर शेष तीनों घातिया कर्मोंकाभी यथायोग्य अनुदय होजाता है इसलिए रागद्वेष और मोहके अभावसे गुरुपना कहा जाता है

अथास्त्येकः स सामान्यात्सद्विशेषात्त्रिधा मतः ।
एकोप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पार्ण्यो दार्व्यस्त्रिधोच्यते ॥ ६३७ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ**) अब गुरुका विशेष वर्णन करनेके लिये प्रकरण प्रारम्भ करते है कि (**सः**) वह गुरु (**सामान्यात्**) सामान्यरूपसे (**एकः अस्ति**) एक प्रकारका माना गया है और (**सद्विशेषात्**) सत्की विशेष अपेक्षासे (**त्रिधा मतः**) तीन प्रकारका माना गया है (**यथा**) जैसे कि (**एक अग्निः**) अग्नित्व सामान्यसे अग्नि एक प्रकारकी होकरभी (**तार्ण्यः पार्ण्यः दार्व्यः**) तृणकी, पत्रकी तथा लकडीकी अग्नि इसप्रकार वह (**त्रिधा उच्यते**) तीन तरहकी कही जाती है ।

भावार्थः— जैसे अग्नित्व सामान्यसे अग्नि एक प्रकारकी है और अपनी तृणादिकजन्य अवस्था विशेषकी अपेक्षासे तृणाग्नि, पर्णाग्नि तथा काष्ठाग्नि इसतरह तीन प्रकारकी कही जाती है । वैसेही वह गुरुभी गुरुत्वसामा-

न्यसे एक प्रकारका और गुरुविशेषक कथनकी अपेक्षासे अर्थात् आचार्य, उपाध्याय तथा साधुरूप गुरुकी पदवी विशेषकी अपेक्षासे तीन प्रकारका कहा जाता है।

आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा गतिः।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोपि मुनिकुंजराः ॥ ६३८ ॥

अन्वयार्थ — (आचार्यः) आचार्य (उपाध्यायः) उपाध्याय (च) और (साधु) साधु (इति) इसप्रकार उस गुरुकी (त्रिधा गतिः स्यात्) तीन अवस्थाएँ होती है अर्थात् वह गुरु तीन प्रकारका माना गया है कारण (त्रयः अपि) ये तीनोंही (मुनिकुन्जरा.) मुनिकुन्जर–मुनिवर (विशिष्टपदारूढा स्युः) आचार्यादि विशेष २ पदमें आरूढ माने जाते है–कहे जाते है।

भावार्थ — एक गुरुकीही आचार्य, उपाध्याय साधु और ये तीन अवस्थाएँ है।

साराश यह है कि आचार्यादिक तीनोंही गुरुके पद–विशेष अवस्थाए है। कोईभी सामान्य धर्म, विशेष अवस्थाके विना नहीं रह सकता है इस न्यायानुसार गुरुत्व धर्मभी आचार्य, उपाध्याय तथा साधुरूप पदके विना उपलब्ध नहीं होता है। इसलिए एकही गुरु, अवस्थाभेदसे तीन प्रकारका माना जाता है।

एको हेतुः क्रियाप्येका वेषश्चैको बहिः समः।
तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पंचधा ॥ ६३९ ॥
त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समतैकधा ।
मूलोत्तरगुणाश्चैके संयमाप्येकधा मतः ॥ ६४० ॥
परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् ।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्या स्थानासनादयः ॥ ६४१ ॥
मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टि ज्ञानं चारित्रमात्मनः।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिस्थितम् ॥ ६४२ ॥

ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात्।
चतुर्धाऽऽराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥ ६४३ ॥
किंवाऽत्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते ।
विशेषाच्छेषानिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥ ६४४ ॥

अन्वयार्थः— (एक हेतु) उन आचार्यादिक तीनोंका एकही प्रयोजन है (क्रिया अपि एका) क्रियाभी एक है (च) और (बहिः वेषः) बाह्य वेष (एकः समः) एकसा है (च) तथा (द्वादशधा तप एकं) बारह प्रकारका तप एकसा है (च) और (पञ्चधा व्रतं च एकं) पांच प्रकारका महाव्रत भी एकसा है ।

(त्रयोदशविधं चारित्रं) तेरह प्रकारका चारित्र (एकं) एकसा है (च) तथा (समता एकधा) समता एक प्रकारकी है–एकसी है (च) और (मूलोत्तरगुणाः) मूल तथा उत्तर गुण (एके) एकसे है (अपि) और (संयमः एकधा मतः) संयम एक प्रकारका माना गया है ।

(च) तथा (परीषहोपसर्गाणां सहनं) परीषह और उपसर्गोंका सहन (समं स्मृत) एकसा माना है (च) तथा (आहारादिविधिः) आहारादिककी विधि (एकः) एक है (चर्यास्थानासनादयः) चर्या, शय्या, आसन इत्यादिक एकसे है और (तेषां) उन तीनोंके (मोक्षस्य मार्गः) मोक्षके मार्गरूप (आत्मन) आत्माके (सद्दृष्टिः ज्ञानं चारित्र) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तथा सम्यक्चारित्र इसप्रकार (अन्तः) अन्तरङ्ग (च) और (बहिः) बहिरंग (रत्नत्रय अपि) रत्नत्रयभी (समं स्थित) समान होता है (ध्याता) ध्याता (ध्यानं) ध्यान (च) तथा (ज्ञेयसात् ज्ञानं) ज्ञेयाधीन ज्ञान (चतुर्धा आराधना) चार प्रकारकी आराधना (अपि च) और (क्रोधादिजिष्णुता) क्रोधादिककी जयनशीलता (तुल्या) समान है इसलिये (अत्र) इस विषयमें (बहुना उक्तेन किं वा) अधिक कहांतक कहा जाय उन आचार्यादिक तीनोंकी सबही विषयोंमें समानता है केवल (तद्विशेषः) उनका वही विशेष (अवशिष्यते) अवशिष्ट रह जाता है जिसका कि आगे उल्लेख किया जायगा क्योंकि (न्यायात् (न्यायानुसार (विशेषात् शेष निःशेषः) विशेष कथनसे बाकी बचा हुवा सबही कथन (अविशेषभाक् अस्ति) सामान्य कहलाता है ।

भावार्थ — आचार्य, उपाध्याय और साधुओंमें प्रयोजन, क्रिया, बाह्यवेष, बारह प्रकारका तप, पांच प्रकारका व्रत, तेरह प्रकारका चारित्र, समताभाव, मूलगुण, उत्तरगुण, संयम, परीषह तथा उपसर्गोंका सहन, आहारादिक विधि, चर्या, आसन, शयन, मोक्षका मार्गभूत निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय, ध्याता, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, चार प्रकारकी आराधना और उत्तम क्षमादिक दशधर्म आदि सब सदृश होते है। परन्तु केवल वह इतनाही अन्तर रह जाता है कि जिसके कारण वे परस्परमें भिन्न होकर आचार्य, उपाध्याय तथा साधु कहलाते है।

उसेही बताते है।

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते।
पंचाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥ ६४५ ॥

अन्वयार्थः— (अनादितः रूढेः) अनादि रूढिसे और (योगात् अपि) योगसेभी-निरुक्त्यर्थसेभी (आचार्यः) आचार्य शब्दकी (निरुच्यते) व्युत्पत्ति की जाती है कि जो (संयमी) संयमी (परेभ्यः) अन्य संयमियोंसे (पंचाचारं आचारयति) पांच प्रकारके आचारोंका आचरण कराता है (सः) वह आचार्य कहलाता है।

भावार्थः— आचार्य शब्दका अर्थ रूढि तथा निरुक्तिसे आचरण करानेवाला होता है। इसलिये जो स्वयं दर्शनाचार आदि पांचो आचारोंका पालन करता हुआ अन्य मुनियोंसे उनका (पंचाचारोंका) पालन करवाता है उसको आचार्य कहते है।

अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥ ६४६ ॥

अन्वयार्थः— (अपि) अथवा जो (व्रते छिन्ने) व्रतके खंडित होनेपर (पुनः) फिरसे (सन्धानं इच्छतः) प्रायश्चित्त लेकर उस व्रतमें स्थिर होनेकी इच्छा करनेवाले (साधोः) साधुको (तत्समादेशदानेन) अखंडित व्रतके समान व्रतोंके आदेश दानके द्वारा (प्रायश्चित्तं प्रयच्छति) प्रायश्चित्तको देता है वह आचार्य कहलाता है।

भावार्थः— प्रमादवश व्रतोंके छिन्न होनेपर व्रतोंका पुनः निर्दोष करनेकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको जो प्रायश्चित्त देता है। तथा अखण्डित रूपसे व्रतोंके पालन करनेका आदेश करता है उसको आचार्य कहते हैं।

आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक् ।
आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥ ६४७ ॥

अन्वयार्थः— (आदेशस्य) आदेशमें (उपदेशेभ्यः) उपदेशोंसे (सः भेदभाक् विशेषः स्यात्) वह भेद रखनेवाला विशेष होता है कि मैं (गुरुणा दत्तं आददे) गुरुके दिये हुये व्रतको ग्रहण करता हू परन्तु (अयं विधिः) यह विधि (उपदेशेषु न) उपदेशोंमें नहीं होती है।

भावार्थ.— आदेश और उपदेशमें यह अन्तर है कि आदेश पालनाही पडता है, भंग नहीं किया जाता है और उपदेशका पालना, न पालना अपनी इच्छापर निर्भर रहता है अर्थात् उपदेशानुसार न चलनेसे भंगकृत पाप नहीं लगता है। इसलिये " गुरुके द्वारा दिये हुये आदेशको मैं ग्रहण करता हूं " इसप्रकारकी विधि जैसे आदेशमें होती है वैसे उपदेशमें नहीं होती है।

न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥ ६४८ ॥

अन्वयार्थ.— (व्रतधारिणां गृहिणां) व्रती गृहस्थोंकोभी (तदादेश) आचार्योंके समान आदेश करना (निषिद्धः न) निषिद्ध नहीं है क्योंकि (दीक्षाचार्येण दीयमाना) दीक्षाचार्यके द्वारा दी हुई (दीक्षा इव) दीक्षाके समान ही (तत्क्रिया अस्ति) गृहस्थाचार्योंकी क्रिया होती है।

भावार्थः— यत्याचार्योंके समान गृहस्थाचार्यभी होते है और उनके (यत्याचार्योंके) समानही गृहस्थाचार्यभी गृहस्थोंको दीक्षा तथा प्रायश्चित्त देते है। इसलिये व्रती गृहस्थाचार्योंके लिये प्रायश्चित्तादिकके विषयमें आदेश करना निषिद्ध नही है। क्योंकि गृहस्थाचार्यों के द्वारा दी हुई क्रियाएंभी यत्याचार्यके द्वारा दी हुई दीक्षा के समान ही पालनीय होती है।

स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिनां मनागपि ।
हिंसकश्चोपदेशोपि नोपयुज्येत कारणात ॥ ६४९ ॥

अन्वयार्थः—(अत्र) आदेश और उपदेशके विषयमे (अव्रतिनां) अव्रती गृहस्थोंको दूसरेके लिये (यथाम्नायात्) आम्नाय के अनुसार (मनाक् अपि सः) थोडासा भी आदेश करना (निषिद्ध) निषिद्ध है (च) तथा (कारणात्) किसी भी कारणसे (हिंसकः उपदेशः अपि) दूसरे के लिये हिंसाका उपदेश देना भी (उपयुज्य न) उचित नहीं है । (१)

भावार्थः— अव्रती पुरुष आम्नायानुसारभी आदेश नहीं कर सकता है । तथा किसीभी कारणवश वह हिंसाका उपदेशभी नहीं कर सकता है ।

मुनिव्रतधराणां वा गृहस्थव्रतधारिणाम ।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रितः ॥ ६५० ॥

अन्वयार्थ— (मुनिव्रतधराणां) मुनिव्रत धारियोंको (वा) और (गृहस्थव्रतधारिणां) गृहस्थके व्रत धारण करनेवालों को (वधाश्रितः) हिंसाका अवलंबन करनेवाला (आदेश.) आदेश (च) तथा (उपदेश.) उपदेश (न वा कर्तव्य.) नहीं करना चाहिये ।

भावार्थः— अव्रती पुरुषके समान व्रती गृहस्थ तथा मुनिभी हिंसादिकका आदेश और उपदेश नहीं कर सकते है ।

नचाशङ्क्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः ।
मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शितम ॥ ६५१ ॥

अन्वयार्थः — (यत) जो यह (प्रसिद्धं) प्रसिद्ध है कि (व्रतधारिभिः मुनिभिः) व्रती मुनियों के द्वारा (मुर्तिमत् शक्तिसर्वस्व) मूर्तिमान पदार्थोंकी सम्पूर्ण शक्तिया (हस्तरेखा इव दर्शित) हाथकी रेखाओं के समान देखली जाती है (' इति ' नच आशंक्य) ऐसी आशका नहीं करना चाहिये ।

भावार्थः— ऐसीभी आशंका ठीक नहीं है कि व्रती, मुनि संपूर्ण मूर्तिक पदार्थके पूर्ण ज्ञाता होते है अत वे चाहे जसा उपदेश परणाम देखकर देसकते है क्योंकि सबही मुनि पूर्ण रीतिसे मूर्त पदार्थ ज्ञाता नहीं होते है कारण पूर्ण ज्ञातापनेके साथ तो हिंसक उपदेशपनेके विरोधके उपदेशकी व्याप्ति है हिंसक उपदेशके साथ नहीं है । (१)

नूनं प्रोक्तोपदेशोपि न रागाय विरागिणाम् ।
रागिणामेव रागाय ततोवश्यं निषेधितः ॥ ६५२ ॥

अन्वयार्थः— (**नूनं**) निश्चय करके (**विरागिणां**) वीतरागियोंका (**प्रोक्तोपदेशोऽपि**) पूर्वोक्त उपदेश देना भी (**रागाय न**) रागके लिये नहीं होता है किंतु (**रागिणां एव रागाय**) सरागियोंकाही पूर्वोक्त उपदेश देना रागके लिये होता है (**ततः**) इसलिये रागियोंको (**अवश्यं निषेधितः**) उपदेश देने के लिये अवश्य निषेध किया है ।

भावार्थ — यहा रागी शद्बका अर्थ अव्रती समझना चाहिये । पहले जो अव्रतियोंको आदेश तथा उपदेश देनेका निषेध किया है उसका खुलासा ही इस पद्यके द्वारा किया गया है । वीतराग अर्थात् व्रती पुरुषोंको उपदेश देनेसे रागकी पुष्टि नहीं होती है । और रागी पुरुषोंको उपदेश देनेसे रागकी पुष्टि होती है अतएव रागी अव्रती पुरुषोंको उपदेश देना निषिद्ध बताया है ।

न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः ।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥ ६५३ ॥

अन्वयार्थ — (**नून**) निश्चय करके (**सत्पात्रदानेषु**) सत्पात्रों के लिये दान देनेके विषयमें (**अपि**) और (**अर्हतां पूजायां**) अर्हतों की पूजाके विषयमें (**न सः आदेशः निषिद्धः**) न तो वह आदेश निषिद्ध है तथा (**न उपदेशः निषेधितः**) न उपदेश ही निषिद्ध है ।

भावार्थः—अव्रतियोंको जो उपदेश देनेका निषेध बताया है वह व्रतादिकके विषयमेंही बताया है । सत्पात्र दान और अर्हतोंकी पूजाके विषयमें अव्रती पुरुषोंके लिएभी आदेश तथा उपदेशका देना निषिद्ध नहीं है ।

यद्वादेशोपदेशौ स्तो तौ द्वौ निरवद्यकर्मणि ।
यत्र सावद्यलेशोस्ति तत्रादेशो न जातुचित् ॥ ६५४

अन्वयार्थ— (**यद्वा**) अथवा (**तौ आदेशोपदेशौ द्वौ**) वे आदेश और उपदेश दोनोही (**निरवद्य कर्मणि स्तः**) निर्दोष क्रियाओं में ही होते है किन्तु (**यत्र**) जहांपर (**सावद्यलेश अपि**) पापकी

थोडीसी भी संभावना है (अत्र) वहापर (जातुचित्) कभी भी (आदेशः न) आदेशकी प्रवृत्ति नहीं होसकती है ।

भावार्थः— आचार्य वगैरह प्रशस्त मोक्षमार्गके विषयमेंही आदेश तथा उपदेश करते है । किंतु जिस विषयमें थोडेसेभी पापकी सभावना है उस विषयका कभीभी आदेश नहीं करते है क्योंकि सावद्य कार्य करनेका आदेश देनेसे उनको अनुमोदनाजन्य पाप लगता है ।

सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम् ।
कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हतः ॥ ६५५ ॥

अन्वयार्थः— (आचार्य) आचार्य (असंयमिभिः लोकैः सह) असंयमी पुरुषोंके साथ (संसर्गं) सम्बन्ध (भाषण) भाषण-बातचीत और (रतिं) प्रेमव्यवहार (कुर्यात्) करे (इति एके) ऐसा कोई कहते परन्तु जैनाम्नायसे असयमी पुरुषोंके साथ संसर्गादिकको करनेवाला (असौ) वह आचार्य (न सूरिः) न तो आचार्यही होसकता है (च) तथा (न आर्हतः) न अर्हत भगवानका अनुयायीही होसकता है ।

भावार्थ — किन्हीं २ लोगोंका ऐसा कहना है कि " आचार्य असंयमी पुरुषोंके साथ ससर्ग, भाषण व प्रेम व्यवहार करते है । " परन्तु उनका ऐसा कहना शास्त्र विरुद्ध है क्योंकि असंयमी पुरुषोंके साथ जो आचार्य संसर्गादिक रखता है वह न आचार्यही है और न अर्हत भगवानका अनुयायीही है ।

संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह ।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥ ६५६ ॥

अन्वयार्थः— (इह) इस लोकमें (कैश्चित् मतेः) किन्हीं २ लोगोंने अपनी बुद्धिसे ऐसा (प्रोक्तः) कहा है कि (सूरिः) आचार्य (संघसम्पोषक) संघका पोषक-पालन करनेवाला होता है परन्तु उनका ऐसा कहनाभी ठीक नहीं है क्योंकि (अतः धर्मादेशोपदेशाभ्यां) इस धर्मके आदेश और उपदेशसे बढकर (अपरः उपकार न अस्ति) दूसरा कोई उपकारही नहीं है ।

भावार्थः— कोई २ अपनी बुद्धिके अनुसार आचार्यको संघका पालक बताते है। परन्तु उनका यह कहनाभी ठीक नहीं है क्योंकि धर्मके आदेश व उपदेशसे बढकर अन्य कोई उपकार नहीं है इसलिये आचार्यका जो महत्व धर्मादेश तथा धर्मोपदेशसे सिद्ध होता है वह पालक कहनेसे सिद्ध नहीं होता है। दूसरे पालकको आरम्भ और परिग्रहकी अपेक्षा रहती है। आचार्य आरम्भ परिग्रहसे सर्वथा विरक्त होते है। इसलिये वे सघके पालक नहीं होते है किंतु धर्मके आदेशक तथा उपदेशकही होते है।

यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम् ।
तावत्कालं स नाऽचार्योप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः ॥ ६५७ ॥

अन्वयार्थ — (यद्वा) अथवा (य) जो (मोहात्) मोहसे (वा) अथवा (प्रमादात्) प्रमादसे ('यावत्कालं') जितने कालतक (लौकिकीं क्रियां कुर्यात्) लौकिक क्रियाको करता है (तावत्कालं) उतने कालतक (सः) वह (आचार्यः न) आचार्य नहीं है (च) और (अन्तर्व्रतात् च्युतः अपि अस्ति) अन्तरगमें व्रतोंसे च्युतभी है।

भावार्थः— अथवा जबतक आचार्य मोह या प्रमादके वशमें होकर किसी लौकिक क्रियामें तत्पर रहता है तबतक वह यथार्थमें आचार्य नहीं कहलाता है। और अपने अन्तरंग व्रतोंसे च्युतभी समझा जाता है।

इत्युक्तव्रततपःशीलसंयमादिधरो गणी ।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥ ६५८ ॥

अन्वयार्थः— (इति) इसप्रकार जो (गणी) आचार्य (उक्तव्रततप शीलसंयमादिधरः) पूर्वोक्त व्रत, तप, शील तथा सयमादिकको धारण करनेवाला है (सः) वही (साक्षात्गुरुः) साक्षात् गुरु है और (नमस्य) नमस्कार करनेके योग्य है किंतु (नऽन्यः) उससे भिन्न (गणी) आचार्य (गुरुः न) गुरु नहीं होसकता है।

भावार्थ — इसप्रकार निर्दोष रीतिसे उक्त व्रत, तप, शील सयमादिकको धारण करनेवाला जो गणका अधिपति आचार्य है वही साक्षात् गुरु है और वही नमस्कार करनेके योग्य है। किन्तु जिसमें उक्त व्रतादिक गुण नहीं है वह न आचार्य ही है तथा न गुरु ही है।

उपाध्यायः समाधीयान वादी स्याद्वादकोविदः ।
वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥ ६५९ ॥

कविर्व्रत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात् ।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥ ६६० ॥

उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासो अस्ति कारणम् ।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥ ६६१ ॥
शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः ।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नाऽऽदेशंसूरिवत्क्वचित् ॥ ६२ ॥
तेषामवाश्रमं लिंगं सूरिणां संयमं तपः ।
आश्रयेच्छुद्धचारित्रं पंचाचारं स शुद्धधीः ॥ ६६३ ॥

मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम् ।
परिषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्ध्रुवम् ॥ ६६४ ॥

अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः ।
शुद्धवेषधरो धीमान् निर्ग्रन्थः स गणाग्रणी ॥ ६६५ ॥

अन्वयार्थः— (उपाध्यायः) उपाध्याय (समाधीयान्) शंका समाधान करनेवाला (वाग्मी) सुवक्ता (वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः) भाषा– सर्वज्ञ (सिद्धांतागमपारगः) सिद्धांत शास्त्र और यावत् आगमोंका पारगामी (व्रत्यग्रसूत्राणां) वार्तिक तथा सूत्रोंको (शब्दार्थैः सिद्धसाधनात्) शब्द और अर्थके द्वारा सिद्ध करनेवाला होनेसे (कवि.) कवि (अर्थस्य माधुर्ये गमकः) अर्थमें मधुरताका द्योतक तथा (वक्तृत्ववर्त्मनां धुर्य.) वक्तृत्वके मार्गका अग्रणी होता है (उपाध्यायत्वं इत्यत्र) उपाध्यायपनेमें (श्रुताभ्यास)

शास्त्रका विशेष अभ्यासही (कारणं अस्ति) कारण है (यत्) क्योंकि जो (स्वयं अध्येति) स्वयं अध्ययन करता है (च) और (शिष्यान् अपि अध्यापयेत्) शिष्योंकोभी अध्ययन कराता है वही (गुरुः) गुरु उपाध्याय है (तत्र) उपाध्यायमें (व्रतादीनां शेषः विधिः) व्रतादिकके पालन करनेकी शेष सब विधि (सर्वसाधारणः) सब मुनियोंके समान है तथा (सः वह उपाध्याय (धर्मोपदेशं कुर्यात्) धर्मका उपदेश तो करे किंतु (सूरिवत्) आचार्यकी तरह (क्वचित आदेशं न 'कुर्यात') किसीभी विषयमें आदेश न करे (सः शुद्धधी.) वह शुद्ध बुद्धिवाला उपाध्याय (तेषां सूरिणां एव) उन आचार्योंकेही (आश्रमं) आश्रम (लिंग) लिंग (संयम) संयम (तप·) तप (शुद्धचारित्र) शुद्ध चारित्र तथा (पंचाचार) पंचाचारको (आश्रयेत्) धारण करे (यथोक्तान् मूलोत्तरगुणान् एव) शास्त्रोक्त मूल और उत्तर गुणोंकाही (चिर) चिरकालतक (आचरेत) पालन करे तथा (ध्रुव) निश्चयसे (सः) वह (परीषहोपसर्गाणां) परीषह और उपसर्गोंका (विजयी भवेत) जीतनेवाले होवे (अत्र) उपाध्यायके विषयमें (अति विस्तरेण अल) अधिक विस्तार करना व्यर्थ है किंतु इतना कहनाही पर्याप्त है कि (सः) वह उपाध्याय (नूनं). निश्चयसे (मुने.)मुनिका (अन्तर्बहि) अन्तरंग तथा बाहरंग (शुद्धवेषधरः) शुद्ध वेष धारण करनेवाला (धीरः) धीरवीर (निर्ग्रंथः) निर्ग्रंथ और (गणाग्रणी) गणमें अग्रणी–श्रेष्ठ होता है ।

भावार्थः— जो मुनि शका समाधान करनेवाला हो, वादपटुहो अनेकातका यथार्थ वेत्ता हो, वाग्मी हो, शद्बब्रह्म तथा सिद्धात शास्त्रोंका पारगामी हो, वृत्ति है आगे जिनके ऐसे सूत्रोंका अर्थात सवृत्ति सूत्रोंका शद्बार्थ द्वारा सिद्ध करनेवाला हो स्वाभाविक प्रतिभासम्पन्न होनेसे कवि हो, शद्बोंका माधुर्य पूर्वक अर्थ प्रगट करनेवाला हो और वक्ताओंमे अग्रणी हो वह उपाध्याय कहलाता है ।

उपाध्यायको उपध्याय कहनेमें केवल विशेषरीतिसे श्रुताभ्यासही कारण है । क्योंकि उपाध्याय शद्बका निरुक्त्यर्थ भी यही है कि " जो स्वयं अध्ययन करता है और शिष्योंकोभी अध्ययन करता है उसे उपाध्याय कहते है " । इसलिये स्वयं अध्ययन करनेवाले तथा शिष्योंकोभी अध्यथन करानेवाले गुरुको उपाध्याय गुरु कहते है । इस प्रकार-अध्ययन अध्यापनकी विशेषता रहते हुएभी उपाध्याय गुरुमें शेष सब विधि सर्व साधारण मुनियोंके समान होती है । अतः यद्यपि उपाध्याय गुरु आचार्यके समान आदेश नहीं करते है तथापि मुनियोंके समान आचार्यके आश्रमका आश्रय करते रहते है । आचार्यकेही लिंग (नग्नलिंग) संयम, तप, शुद्ध चारित्र और पांच प्रकारके आचारको पालते

है। अपने मूलगुण तथा उत्तर-गुणोंकाभी सदैव निर्दोष रीतिसे पालन करते है। परीषह और उपसर्गोंको जीतते हैं सहन करते है। इस विषयमें अधिक कहांतक कहा जावे इतनाही कहना पर्याप्त है कि उपाध्याय गुरु अन्तरंग तथा बहिरंग रूपसे शुद्ध मुनिवेषधारी होकर धीरवीर गणाग्रणी तथा निर्ग्रंथ होते हैं।

उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणैः ।
अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात ॥ ६६६ ॥

अन्वयार्थ— (स्वलक्षणैः विख्यातः) अपने लक्षणोंसे प्रसिद्ध (उपाध्याय) उपाध्यायका (समाख्यातः अस्ति) सम्यक्प्रकारसे वर्णन हो चुका है इसलिए (अधुना) अब आगे (आगमात् सिद्धं) आगमसे सिद्ध (साधो लक्षणं) साधुके लक्षण को (साध्यते) सिद्ध करते है—कहते है।

भावार्थ — इस प्रकार अपने लक्षणोंसे प्रसिद्ध उपाध्यायके स्वरूपका निरूपण करके अब आगमसे सिद्ध साधुके लक्षणका निरूपण करते है।

मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सद्दृग्ज्ञप्तिपुरःसरम् ।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥ ६६७ ॥
नोच्याच्चायं यमी किञ्चिद्धस्तपादादिसंज्ञया ।
न किंचिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥ ६६८ ॥
आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवांश्च परम् ।
स्तिमितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनिः ॥ ६६९ ॥
नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत स मनागपि ।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥ ६७० ॥
वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभ. ।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥ ६७१ ॥

निर्ग्रन्थोन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी ।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपोंशुभिः ॥ ६७२ ॥
परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः ।
एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥ ६७३ ॥
इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः ।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥ ६७४ ॥

अन्वयार्थः— ('य') जो (मोक्षस्य मार्गं) मोक्षके मार्गभूत (सद्दग्ज्ञप्तिपुरस्सरं) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक (चारित्र) सम्यक्चारित्रको (आत्मसिद्ध्यर्थं) आत्मसिद्धिके लिये (साधयति) साधता है ('सः') वह (अन्वर्थसंज्ञकः) अन्वर्थ नामधारी (साधुः) साधु कहलाता है।

(अयं यमी) यह साधु (किंचित् न च उच्चरेत्) कुछ नहीं बोले (हस्तपादादिसंज्ञया) हाथ, पैर आदिके संकेतसे (किंचित न दर्शयेत) कुछ नहीं दरशावे–किसी बातका इशारा नहीं करे और (स्वस्थः) आत्मस्थ होकर (मनसा अपि) मनसेभी (न चिन्तयेत्) कुछ चिंतवन नहीं करे।

(च) और (सः मुनिः) वह साधु (परं) केवल ([1]शुद्धं आत्मानं) शुद्ध आत्मामें (आस्तिघ्नुवानः) लीन होता हुआ अथवा शुद्ध आत्माको प्राप्त होता हुआ (स्तिमितांतर्बहिर्जल्पः) अन्तरंग तथा बहिरंग वाग्व्यापारसे रहित होकर (निस्तरंगाब्धिवत्) तरंग रहित समुद्रकी तरह शान्त (अस्ति) रहता है तथा जब (सः) वह मुनि (स्वर्गापवर्गमार्गस्य) स्वर्ग और मोक्षमार्गका (मनाक् अपि) किंचित्भी (न आदेशं) न तो आदेश (च) तथा (न उपदेशं वा) न उपदेशही (आदिशेत्) करता है तो (पुनः) फिर (तद्विपक्षस्य किं) स्वर्ग व मोक्षमार्गके विपरीत मार्गके आदेशादिक करही कैसे सकता है ?

(सः यमी) वह साधु (वैराग्यस्य) वैराग्यकी (परां काष्ठां) पराकाष्ठाको–चरम सीमाको (अधिरूढः प्राप्त होकर (अधिकप्रभः) अधिक प्रभावशाली (दिगम्बर) दिगम्बर (जातरूपधारी)

१ "नोच्चाद्वाचं यमी" यहभी पाठ है।

यथाजात रूपको—जन्मके समय जैसा रूप था वैसे रूपको धारण करनेवाला (दयापरः) दयाशील (अन्तर्बहिर्मोहग्रन्थे) अन्तरंग तथा बहिरंग मोहकी ग्रंथिको -गाठको (उद्ग्रन्थकः) खोलनेवाला (निर्ग्रंथः) निर्ग्रंथ (श्रेण्याः) गुणश्रेणिरूपसे (कर्मनिर्जरकः) कर्मोंकी निर्जरा करनेवाला (यमी) यमी (तपोंऽशुभिः] तपरूपी किरणोंसे युक्त होनेसे (तपस्वी) तपस्वी (परीषहोपसर्गाद्यैः) परीषह तथा उपसर्गोंके द्वारा (अजय्यः) पराजित नहीं होनेवाला (जितमन्मथः) कामरूपी शत्रुको जीतनेवाला (एषणाशुद्धिसशुद्ध) शास्त्रोक्त विधिपूर्वक आहार लेनेवाला और (प्रत्याख्यानपरायणः) प्रत्याख्यानमें—त्यागमें परायण होता है—तत्पर रहता है (इत्यादि अनेकधा) इत्यादि अनेक प्रकारके (अनेकैः साधुगुणैः) अनेक साधुसबंधी गुणोंसे (श्रित) युक्त वह (महान) पूज्य (साधुः) साधुही (श्रेयसे) मोक्षकी प्राप्तिके लिये (विदुषां अवश्य नमस्यः) तत्वज्ञानियोंके द्वारा अवश्य नमस्कार करनेके योग्य है किंतु (इतरः न) इतर गुणोंसे रहित जो साधु है वह नमस्कार करनेके योग्य नहीं है।

भावार्थ.— जो आत्मकल्याणकी कामनासे मोक्षके मार्गभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और चारित्र को साधते है उन्हें साधु कहते है। और वे आचार्योंके समान आदेशको तथा उपाध्यायके समान वचन व हाथके निर्देशादिकके द्वारा उपदेशकोभी नहीं देते है। और आत्मध्यानमेंही सदैव निमग्न रहनेसे मनके द्वाराभी उपदेश देनेकी इच्छा नहीं करते है। केवल शुद्ध आत्मामें तत्पर होते हुए अन्तरंग बहिरंग व्यापारसेभी रहित होकर सदैव हंसमुख तथा वातान्दोलित तरंगोंसे रहित समुद्रकेसमान शान्त रहते है। और न वे स्वर्ग व मोक्ष मार्गका आदेश-उपदेश देते है। तथा न इससे विपरीत मार्गका आदेश उपदेश देते है। किंतु वैराग्यकी पराकाष्ठा को प्राप्त होते हुए अत्यन्त उत्कट तपरूपी ज्योतिसे प्रकाशमान, यथाजातरूपधारी होनेसे दिगंबर, परमदयालु, अन्तरंग बहिरंग मोहकी गाठको खोलनेवाले होनेसे निर्ग्रंथ श्रेणिमें आरूढ होकर कर्मोंकी निर्जरा करनेवाले होनेसे यमी, तपरूपी किरणोंसे युक्त होनेसे तपस्वी, परीषह और उपसर्गोंको सहनेवाले, कामको जीतनेवाले, एषणा शुद्धिसे परम शुद्ध तथा चारित्रमें तत्पर होते हैं—रहते है। इस प्रकार साधुके अनेक गुणोंसे विभूषित जो साधु है वेही तत्वज्ञानियोंके द्वारा वन्दनीय होते है। किंतु जो उपरि उक्त गुणोंसे युक्त नहीं है वे न तो साधु है और न तत्वज्ञानियोंके द्वारा वदनीय भी है।

एवं मुनित्रयीख्याता महती महतामपि।
तथापि तद्विशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः॥ ७७५॥

अन्वयार्थः— (एवं) इसप्रकार (महतां अपि महती) श्रेष्ठोंमेंभी श्रेष्ठ (मुनित्रयी) उक्त

आचार्यादिक तीनोंका सामान्य रूपसेही (ख्याता) कथन किया गया है तथापि (क्रमात्) क्रमपूर्वक (तरतमात्मकः) तरतम रूपसें होनेवाली (तद्विशुद्धि विशेषः अस्ति) उनकी विशुद्धिके द्वारा उन तीनोंमें परस्पर विशेषता पाई जाती है।

भावार्थ — इसप्रकार यद्यपि सामान्य रूपसेही आचार्य, उपाध्याय और साधुका वर्णन किया गया है तथापि तरतमरूपसे होनेवाली विशुद्धिकेद्वारा उन तीनोमे विशेषता पाई जाती है जिसका कि आगे उल्लेख किया जाता है।

तत्राचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्गणाग्रणीः।
न्यायाद्वाऽऽदेशतोऽध्यक्षात्सिद्धः स्वात्मनि तत्परः॥ ६७६ ॥
अर्थान्नातत्परोप्येष दृङ्मोहानुदयात्सतः।
अस्ति तेनाविनाभूतशुद्धात्मानुभवः स्फुटम्॥ ६७७ ॥

अन्वयार्थ — (तत्र) उन तीनोमेसे जो (दीक्षादेशात्) दीक्षा तथा आदेश देता है वह (गणाग्रणी) गणाधीश (आचार्यः प्रसिद्धः अस्ति) आचार्य प्रसिद्धही है और वह (न्ययात्) युक्तिवादसे (आदेशतः वा अध्यक्षात्) आगम और स्वानुभव प्रत्यक्षसे (स्वात्मनि तत्परः) अपनी आत्मामे तत्पर (सिद्धः) सिद्ध होता है (अर्थात्) अर्थात (दृङ्मोहानुदयात सत) दर्शनमोहनीयका अनुदय होनेसे (एषः अपि) यह आचार्यभी (अतत्परः न अस्ति) अपनी आत्मामें अतत्पर नहीं है क्योंकि उसके (तेनाविनाभूतशुद्धात्मानुभवः स्फुट ' अस्ति ') दर्शनमोहके अनुदयका अविर्भावी शुद्धात्मानुभव स्पष्ट रीतिसे पाया जाता है।

भावार्थः— जो दीक्षा तथा आदेश देता है उसे आचार्य कहते है। और वह अनुमान, आगम तथा स्वानुभव प्रत्यक्ष से आत्मामें तत्पर ही सिद्ध होता है अतत्पर नहीं। कारण कि उसके दर्शनमोहका अनुदय रहता है। इसलिये आत्मामें लीनतारूप स्वरूपाचरण चारित्र सदैव पाया ही जाता है।

अब आगे इसी अर्थका खुलासा करते है।

अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः।
बाह्यार्थात्केवलं न स्यात् क्षतिर्वा च तदक्षतिः॥ ६७८ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) आचार्यके शुद्धात्मानुभवरूप आत्मतत्परतामें (देशतः) एकदेशरूपसे (चारित्रावरणक्षति अपि अस्ति) चारित्रावरणका क्षय भी कारण है इसलिये आचार्य दीक्षा व आदेश देनेके समय अपनी आत्मामे अतत्पर नहीं कहा जाता है क्योंकि (केवलं) केवल (बाह्यार्थात्) दीक्षादिके देने व न देने रूप बाह्य कारणसे (क्षति) चारित्रकी क्षति (वा) अथवा (तदक्षतिः) चारित्रकी अक्षति (न च स्यात्) नहीं होती है।

भावार्थः— आचार्यके दर्शनमोहके अभावके साथ २ आंशिकरूपसे चारित्रमोहका अभावभी रहता है। इसलिये दक्षिा तथा आदेश देनेके कारण आचार्यको स्वानुभव और चारित्रसे च्युत नहीं कह सकते है। तथा जो सज्वलन कषायके निमित्तसे आचार्यके चारित्रकी क्षति व अक्षति बतलाई जाती है वह केवल संज्वलनके तीव्र और मन्दोदयसेही सम्बन्ध रखती है अर्थात् सज्वलनके तीव्र तथा मन्दोदयसे ही चारित्रकी क्षति अथवा अक्षति होती है। दीक्षा व आदेशके देने अथवा नहीं देनेसे नहीं होती है।

अब आगे इसी अर्थका खुलासा करते है।

अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः ॥
तदापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुतः ॥ ६७९ ॥

अन्वयार्थः— (उपादानहेतोश्च) केवल अपने उपादान हेतुसे ही (तत्क्षतिः) चारित्रकी क्षति (वा) अथवा (तदक्षतिः) चारित्रकी अक्षति (अस्ति) होती है इसलिए (तदापि) जिससमय अपने उपादान हेतुसे चारित्रकी क्षति व अक्षति होती है उससमयभी (अहेतुतः) कारण न होनेसे (बहिः वस्तु तद्धेतुः न स्यात्) दीक्षादेशादि देने तथा न देनेरूप बाह्य वस्तु चारित्रकी क्षति अथवा अक्षतिमें कारण नहीं होती है।

भावार्थः— यहाँपर क्षति शब्दका अर्थ आत्मामें संज्वलन कषायके तीव्रोदयसे होनेवाला संक्लेश है। और अक्षति शब्दका अर्थ उसके (सज्वलनके) मन्दोदयसे होनेवाली विशुद्धि है। ये दोनोंही अपने २ उपादान कारणोंसे मुनि अवस्थामें होती रहती है। इनका होना न होना केवल बाह्य कारणोंपर अवलम्बित नहीं है इसलिए दीक्षा आदेशादि देनेरूप बाह्य कारणसे आचार्यके सक्लेश होता होगा। और आदेश न देनेसे [साधुपदमें रहनेसे] संक्लेश नहीं होता होगा ऐसा नहीं समझना चाहिये। कारण कि संक्लेश व विशुद्धिरूप परिणाम सज्वलन कषायके तीव्र मन्द उदयरूप अपने २ उपादान कारणपरही निर्भर है बाह्य कारणपर नहीं।

संति संज्वलनस्योच्चैः स्पर्धका देशघातिनः ।
तद्विपाकोऽस्त्यमन्दो वा मन्दोहेतुः क्रमाद्द्वयोः । ६८० ।
संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः ।
सोऽपि तरतमस्वांशैः सोप्यनेकैरनेकधा ॥ ६८१ ॥
अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह ।
तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥ ६८२ ॥
तत्राऽवश्यं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिति ।
संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥ ६८३ ॥
किंतु दैवाद्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोऽथवा क्वचित् ।
तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोदयः पुनः ॥ ६८४ ॥
तेषां तीव्रोदयस्तावदेतावानत्र बाधकः ।
सर्वतश्चेत्प्रकोपाय नापराधोपरोस्त्यतः ॥ ६८५ ॥
तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः ।
कर्तुं न शक्यते यस्माद्त्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥ ६८६ ॥

अन्वयार्थः — (उच्चैः) वास्तवमें जो (संज्वलनस्य देशघातिनः स्पर्द्धकाः सन्ति) संज्वलन कषायके देशघाति स्पर्द्धक हैं (तद्विपाकः अमंदः व मंदः, क्रमात् द्वयोः हेतु अस्ति) उनका तीव्र व मंद जो विपाक होता है वही यथाक्रमसे आचार्यके चारित्रकी क्षति व अक्षतिमें हेतु होता है।

कारण (नूनं) निश्चयसे (संक्लेशः तत्क्षतिः विशुद्धिः तदक्षतिः) संज्वलन कषायके तीव्र-उदयसे होनेवाला जो संक्लेश है वह चारित्रकी क्षति (हानि) और संज्वलन कषायके मंदोदयसे होनेवाली जो विशुद्धि है व चारित्रकी अक्षति अर्थात् आचार्य परमेष्ठीके चारित्रकी पूर्णता कहलाती है और (सः अपि तर-

तमस्त्वांशैः) वह सक्लेशभी अपने तरतमभावको धारण करनेवाले अशोंसे अनेक प्रकार है तथा (**सः अपि अनेकै अनेकधा**) वह तरतमभावभी अपने अनेक कारणोंसे अनेक प्रकार है।

अत संज्वलन कपायके तीव्र तथा मन्दोदयजन्य संक्लेश और विशुद्धिके योगसे (**तत इह आदेशवशात्**) आचार्य परमेष्ठिके (**यत् शैथिल्यं अस्ति ' तत अस्तु वा न ' अस्तु '**) शिथिलता होवे अथवा न होवे उमसे आचार्यको आचार्य कहनेकी विवक्षामे कुछ प्रयोजन नहीं है अर्थात् वह तो दैवयोगसे यथासभव हुआही करती है। प्रयोजन यहांपर यह हैकि आदेश आदिके कारण आचार्यके आचार्यपनेमें बाधा नही आती है इसके दिखानेसे उसके विपयमे ग्रंथकार कहते है कि (**तथापि एतावना**) आचार्यके दैवानुसार सज्वलनके तीव्रोदय व मन्दोदय होता रहता है केवल इतनेसे (**आचार्यः**) आचार्य (**आत्मनि अतत्पर. सिद्धः न भवति**) आत्मामें अतत्पर सिद्ध नहीं होता है।

(**तत्र**) आचार्यकी आत्मामें (**तेषां मंदोदयात् विशुद्धयंशः अथवा तीव्रोदयात् संक्लेशांशः इति अयं विधि. न स्मृतः**) जो प्रतिसमय यथायोग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार उन सज्वलन कपायके मद उदयसे होनेवाली विशुद्धता और तीव्र उदयके कारण होनेवाला सक्लेश है वह सत्र आचार्य पदके लिए कुछ साधक बाधक विधि रूप नहीं है (**किंतु**) किन्तु (**दैवात् विशुद्धयंश क्वचित् संक्लेशांशः**) कर्मोंके यथायोग्य मंद व तीव्र उदयानुसार विशुद्धि व सक्लेशका अंश आचार्य महाराजके पाया जाता है अर्थात् (**तद्विशुद्धेः विशुद्धयंश· पुनः संक्लेशादयः भवति**) संज्वलन कपायकी मंदतासे होनेवाली विशुद्धिके निमित्तसे चारित्रकी विशुद्धिका अंश और मंदताके हटनेसे सन्ज्वलन कपायकी तीव्रताके होतेही संक्लेशका अंश होता रहता है।

(**अत्र**) आचार्य पदमें (**तेषां तीव्रोदय एतावान् बाधकः " अस्ति "**) उन संज्वलन कपायका तीव्रोदय इतनाही बाधक है अर्थात मंद उदयसे जो विशुद्धि रहती है उसका बाधक है आचार्य पदका बाधक नहीं है (**सर्वतः प्रकोपाय चेत्**) यदि वह सब प्रकारसे प्रकोपके लिये है अर्थात आचार्यपनेका बाधक होता है यह कहा जाय तो (**अतः अपर अपराधः न अस्ति**) इससे बडा कोई अपराध नहीं होता है।

सारांश यह है कि (**अत्र एतावना तेन**) उस संज्वलनके तीव्रोदय द्वारा आचार्यकी आत्मामें (**नूनं**) निश्चयसे (**शुद्धत्वानुभवच्युतिः कर्तुं न शक्यते**) शुद्धात्माके अनुभवकी च्युति नहीं की जासकती है

(यस्मात्) क्योंकि (अत्र) शुद्धात्माके अनुभवसे च्युत करनेमें (अन्यः प्रयोजकः अस्ति) अन्य किसी कर्म का उदय कारणीभूत होता है अर्थात शुद्धात्माके अनुभवसे च्युत करना सज्वलन कषायके तीव्रोदयका काम नहीं है किन्तु मिथ्यात्वकर्मके उदयका काम है।

भावार्थः— आचार्य परमेष्ठीके मिथ्यात्व अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणका अनुदय होता है तथा संज्वलन कषायका यथासभव उदय होता है। और वह उदयभी उनमें दो प्रकारका संभव है एक तीव्रोदय दूसरा मदोदय तथा ये दोनों प्रकारके उदयका संबंध आदेशके देने व न देनेसे नहीं है। किंतु स्वतः पूर्ववद्ध कर्मोंके उदयके अनुसार होता रहता है। उसमेंभी यथायोग्य तरतमभाव पाया जाता है। जब संज्वलन कषायका तीव्रोदय रहता है। तब चारित्रमें (प्रमादकृत) थोडीसी शिथिलता आजाती है जिसे यहा सक्लेश व क्षति शब्दसे कहा है। और जब सज्वलन कषायका मदोदय होजाता है तब अप्रमत्तता होजाती है जिसे यहापर विशुद्ध अथवा अक्षति शब्दसे कहा है संक्लेश और विशुद्धि कितनेही वार हुआ करती है। इसका कारण सिर्फ दैवानुसार होनेवाला सज्वलन कषायका तीव्र व मदोदय है आदेशादिक नहीं। कारण सज्वलन कषायके तीव्रोदयसे न तो संयतपनेकाही नाश होता है और न सम्यक्त्वका नाश होता है। इसलिए इतनी शिथिलतासे आचार्य आत्मामें अतत्पर (मिथ्यादृष्टि) सिद्ध नहीं होते हैं।

संयमके नाशमें और सम्यक्त्वके नाशमें अन्य कषाय व मिथ्यात्वका उदय कारण है। संज्वलन कषाय नहीं है जिसे कि आगे स्वय ग्रथकार खुलासेवार वतायेंगे। अतएव सज्वलन कषायके तीव्रोदयसे आचार्यके संयम व सम्यक्त्वमें बाधाका मानना शास्त्र विरुद्ध होनेसे एक प्रकारका सबसे वडा अपराध है।

हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः।
प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तस्य व्यत्ययात् ॥ ६८७ ॥

अन्वयार्थः— (शुद्धात्मनः ज्ञाने) शुद्धात्माके अनुभवमें (मिथ्यात्वकर्मणः शमः हेतुः) मिथ्यात्वकर्मका अनुदय कारण है (तु) और (अशमः) मिथ्यात्वकर्मका उदय (तत्र) शुद्धात्माके अनुभवमें (उच्चैः प्रत्यनीकः) वास्तविक वाधक है क्यों कि (तत्र तस्य व्यत्ययात्) उस मिथ्यात्वका उदय होतेहि आत्माका वह शुद्धात्मानुभव नहीं होता है।

भावार्थ — शुद्धात्माके ज्ञानमें मिथ्यात्वका अभावही एक साधक कारण है। क्योंकि मिथ्यात्वके अभावमेंही शुद्धात्मानुभवके होनेका तथा मिथ्यात्वके सद्भावमें शुद्धात्मानुभव नष्ट होनेका नियम है।

दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत् ।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥ ६८८ ॥

अन्वयार्थः— (पुंसः) आत्माके (दृङ्मोहे अस्तंगते) दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव होनेपर (**शुद्धस्यानुभवः भवेत्**) शुद्धात्माका अनुभव होता है उस शुद्धात्मानुभवमें (**कश्चित् चारित्रावरणोदयः**) किसीभी चारित्रावरण कर्मका उदय (**विघ्नकरः न भवेत्**) बाधक नहीं होता है।

भावार्थ — दर्शनमोहके अस्त होतेही शुद्धात्माका अनुभव होने लगता है। इसलिए शुद्धानुभवके लिए केवल मिथ्यात्वका उदयही बाधक है। किंतु किसीभी चारित्रावरणका उदय बाधक नहीं है।

न चाकिंचित्करश्चैवं चारित्रावरणोदय ।
दृङ्मोहस्य कृते नालं अलं स्वस्य कृते च तत् ॥ ६८९ ॥

अन्वयार्थः— (**एव च**) इसप्रकारसे अर्थात् शुद्धात्मानुभवमें बाधक नहीं है एतावता वह (**चारित्रावरणोदयः**) चारित्रावरणका उदय (**अकिञ्चित्करः**) सर्वथा अकिञ्चित्कर (**नच**) नहीं है, क्योंकि यद्यपि (**तत्**) वह चारित्रावरण कर्मका उदय (**दृङ्मोहस्य कृते**) दर्शनमें, मोह उत्पन्न करनेके लिए (**अलं न**) समर्थ नहीं है तथापि (**स्वस्य कृते**) चारित्रमें, मोह उत्पन्न करनेके लिये तो (**अलं च**) समर्थही है।

भावार्थः— चारित्रमोहका उदय सम्यक्त्व अर्थात् शुद्धात्मानुभवके लिये बाधक नहीं है एतावता वह किसी कामी बाधक नहीं है ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि वह चारित्रमोहभी आत्माको चारित्र गुणसे च्युत करनेवाला है अर्थात् आत्माके चारित्र गुणका बाधक है। इसलिये चारित्रमोहका उदय आत्माके चारित्र गुणमें विघ्न करनेवाला है ऐसा समझना चाहिये।

कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः ।
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥ ६९० ॥

अन्वयार्थ— (न्यायात्) न्यायके अनुसार (आत्मनः) आत्माको (चारित्रात् च्युतिः) चारित्रसे च्युत करनाही (चारित्रमोहस्य कार्यं) चारित्र मोहका कार्य है (तु) किंतु (इतरदृष्टिवत्) इतरकी दृष्टिके समान (दृष्टित्वात्) दृष्टि होनेसे (आत्मदृष्टेः न) शुद्धात्मानुभवसे च्युत करना चारित्र मोहका कार्य नहीं है ।

भावार्थ— जैसे किसी एककी दृष्टिमें--चक्षुमें पीडा होनेसे किसी दूसरेकी दृष्टिकी प्रसन्नताका घात नहीं होता है । वैसेही सज्वलनरूप चारित्रमोहके द्वारा आत्माके चारित्र गुणमें थोडासा विकार होनेसे आत्माके सम्यग्दर्शन-गुणमें विकार नहीं होता है अर्थात् उसका घात नहीं है ।

अब आगे इसी अर्थका दृष्टांतपूर्वक खुलासा करते हैं ।

यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः ।
इतरत्राक्षतापेऽपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥ ६९१ ॥

अन्वयार्थ— (यथा) जैसे (दृष्टाध्यक्षात्) प्रत्यक्षमें (दैवयोगतः) दैवयोगसे (इतरत्र अक्षतापेऽपि) किसीकी आंखमें पीडाके होनेपरभी (कस्यचित्) किसी दूसरेकी (चक्षु वै प्रसन्नं) आंख प्रसन्नभी रह सकती है ('तथा') वैसेही चारित्रमोहके उदयसे चारित्र गुणमें विकारके होनेपरभी उससे (तत्क्षति न) आत्माके सम्यक्त्व गुणकी--शुद्धात्मानुभवकी किसी प्रकारसे क्षति नहीं होती है ।

भावार्थः— जैसे एकके आखकी पीडा दूसरेकी आख सम्बन्धी प्रसन्नताकी बाधक नहीं होती है । वैसेही चारित्र-गुणमें विकार उत्पन्न करनेवाला सज्वलनरूप चारित्रमोह शुद्धात्मानुभवका बाधक नहीं होसकता है ।

कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि ।
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥ ६९२ ॥

अन्वयार्थ — (हि) निश्चयसे जितना (**कषायाणां अनुद्रेकः**) कषायोंका अभाव है (**तावत् एव चारित्रं**)उतनाही चारित्र है और जो (**कषायाणां अनुद्रेकः न**) कषायोंका उदय है वही (**आत्मनः**) आत्माका (**चारित्रात् च्युतिः**) चारित्रसे च्युत होना है।

भावार्थः— जितने २ अंशोंमें आत्मा कषायोंके उदयसे रहित होता जाता है उतने २ ही अंशोंमें उसके चारित्रकी वृद्धि होती जाती है। और जितने २ अंशोंमें वह आत्मा कषायोंके उदयसे युक्त होजाता है उतने २ ही अंशोंमें वह चारित्रसे च्युत होता जाता है अर्थात् कषायोंके उदयकाही नाम आत्माका चारित्र गुणसे च्युत होना है। तथा कषायोंके उदयके अभावका ही नाम आत्माका चारित्र गुणसे युक्त होना है।

ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः।
नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृङ्मोहस्योदयादृते ॥ ६९३ ॥

अन्वयार्थ— (**दृङ्मोहस्य उदयात् ऋते**) दर्शनमोहके उदयके विना (**स्वतः**) स्वयं (**तेषां**) संज्वलन कषायोंका (**अनुद्रेकः**) अनुदय (**अथवा**) अथवा (**उद्रेक**) उदय (**स्यात्**) हो, परन्तु (**नूनं**) निश्चय करके (**ततः**) उससे (**आत्मदृष्टेः क्षतिः न**) शुद्धात्मानुभवकी क्षति नहीं होती है।

भावार्थ— जब शुद्धात्मानुभव और चारित्रके प्रगट होनेके लिए भिन्न २ मोहोदय कारण है तब दर्शन-मोहके विना केवल चारित्रमोहसे आत्माके शुद्धानुभवमें बाधा कैसे पहुंच सकती है। इसलिए आचार्यके संज्वलन कषायके तीव्र अथवा मन्द उदयसे जो चारित्रकी क्षति व अक्षति होती है। वह रहो अथवा नहीं रहो। परन्तु उससे आचार्यके शुद्धात्मानुभवमें बाधा नहीं आती है।

इस प्रकार दीक्षा वा आदेशरूप बाह्य निमित्तसे आचार्यके शुद्धात्मानुभवमें किसीभी प्रकारकी बाधा नहीं आती है इस बातको सिद्ध करके अब आगे आचार्य और उपाध्याय दीक्षादि तथा पठनपाठनके करानेपरभी साधुओंकी अपेक्षा हीनाधिकपनेको प्राप्त नहीं होते है। किंतु भिन्न २ रूपसे धर्मादेशोपदेशादि बाह्य कार्योंको करते हुएभी वास्तवमें तीनों गुरु सदृश है। और तीनोंही श्रेणी चढकर मोक्षको प्राप्त करसकते है इसका क्रमपूर्वक विस्तृत रीतिसे वर्णन करते है।

अथ सूरिरुपाध्यायो द्वावेतौ हेतुतः समौ ।
साधू साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥ ६९४ ॥

नापि कश्चिद्विशेषोस्ति तयोस्तरतमो मिथः ।
नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यातिशायनात् ॥ ६९५ ॥

लेशतोऽस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिःकृतः ।
का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धेः समत्त्वतः ॥ ६९६ ॥

नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमात् ।
मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥ ६९७ ॥

अन्वयार्थ— (सूरिः) आचार्य (अथ) और (उपाध्यायः) उपाध्याय (एतौ द्वौ) ये दोनोंही (साधुः इव) साधुकी तरह (हेतुतः) अन्तरग कारणसे (समौ) समान है (साधू) साधु है (आत्मज्ञौ) आत्मज्ञ हैं (शुद्धौ) शुद्ध हैं (शुद्धोपयोगिनौ) शुद्धोपयोगी हैं ।

इसलिए (तयोः) उन दोनोंमें (मिथः) परस्पर (कश्चित् अपि तरतमः विशेषः न अस्ति) कोईभी तरतम रूप विशेष-अन्तर नहीं है तथा (एताभ्यां अतिशायनात् साधोः अपि अन्तः उत्कर्षः न) आचार्य और उपाध्यायसे आतिशय पूर्वक दृष्टि गोचर होनेवाली, साधुमेंभी कोई अन्तरङ्ग उत्कृष्टता नहीं पाई जाती है ।

(चेत्) यदि (तेषां) उन तीनोंमें (मिथः) परस्पर कुछ (लेशतः विशेषः अस्ति) आंशिक विशेषता पाई जाती है तो वह केवल (बहिः कृतः) बहिरंग दृष्टिसेही पाई जाती है क्योंकि (मूलहेतो अन्तःशुद्धेः समत्त्वत) मूल कारणभूत जो अन्तरंग शुद्धि है वह उन सबकी समान है इसलिए उनमें जो साधारणरूपसे बाह्य अपेक्षाकृत विशेषता पाई जाती है उससे (का क्षतिः स्यात्) क्या हानि होसकती है अर्थात् कुछ नहीं ।

तथा (अत्र) इन (सूर्युपाध्यायसाधुषु) आचार्य, उपाध्याय और साधुओंमें (युक्तिस्वानुभवागमात्) युक्ति, स्वानुभव तथा आगमसे (तेषां) सज्वलन कषायके स्पर्द्धकोंका (कश्चित् मन्दादि उदयः) कोई मन्द उदय आदिभी (नियतः न अस्ति) नियत नहीं है ।

भावार्थः— साधुके समान आचार्य और उपाध्याय गुरुकेभी चारित्रमोहका क्षयोपशमादिक सदृश होता है । इसलिए ये दोनों भी हेतुकी अपेक्षासे समान हैं । दोनोंही साधुके समान मोक्षमार्गके साधनेवाले होनेसे अन्वर्थ साधु है । साधुकेही समान आत्मज्ञ, शुद्ध और शुद्धोपयोगी हैं । अत दोनोंमें परस्पर तरतमता बतानेवाला कोई अन्तर नहीं पाया जाता है । तथा न आचार्य व उपाध्यायसे अधिकता द्योतित करनेवाला साधुमें ही कोई उत्कर्ष पाया जाता है यदि तीनोंमे कोई विशेषता है तो वह केवल दीक्षा, आदेश और उपदेशादि देनेरूप बाह्य क्रियाओंकी अपेक्षासेही है। इसलिए उस विशेषतासे जो भेद द्योतित होता है वह न कुछके बराबर है अर्थात् उसके निमित्तसे किसीमें न्यूनाधिक्यपना द्योतित नहीं होता है । तथा इसी प्रकार संज्वलन कषायके स्पर्द्धकोंका मन्द उदयादिकभी उन तीनोंकी विशेषताके लिए नियत नहीं है ।

इस प्रकार अन्तरग दृष्टिसे तीनोंको समान बताकर अब आगे प्रत्येक अवान्तर सभव भेदोंको बताते हैं—

प्रत्येकं बहव सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्चैकैकशः पृथक् ॥ ६९८ ॥

अन्वयार्थः— (प्रत्येक) प्रत्येकमें अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनोंमें (पृथक्) पृथक् २ (ऐकैकशः) प्रत्येकके (जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्च) जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्टपनेके निमित्तसे (सूर्युपाध्यायसाधवः बहव सन्ति) आचार्य, उपाध्याय और साधुरूप बहुतसे विकल्प होजाते है ।

भावार्थ— आचार्यादिक तीनोंमें परस्पर तो कुछ अन्तर नहीं है । परन्तु जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टपनेकी अपेक्षासे प्रत्येकके नाना भेद होसकते है अर्थात् जघन्य आचार्य, मध्यम आचार्य तथा उत्कृष्ट आचार्य इत्यादि रूपसे आचार्यके नाना भेद होजाते है इसी प्रकार आचार्यके समान उपाध्याय और साधुकेभी अवान्तर नाना भेद लगा लेना चाहिये ।

कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः।
मध्यमां वा जघन्यां वा विशुद्धिं पुनराश्रयेत ॥ ६९९ ॥

अन्वयार्थः— (कश्चित् सूरिः) कोई आचार्य (वै) निश्चयसे (कदाचित्) किसी समय (परमां विशुद्धिं गतः) परम विशुद्धिको प्राप्त होता हुआ (पुनः) फिर (मध्यमां) मध्यम (वा) अथवा (जघन्यां) जघन्य (विशुद्धिं वा) विशुद्धिकोभी (आश्रयेत) प्राप्त होजाते हैं।

भावार्थः— एकही आचार्य उत्तम विशुद्धिको धारण करनेकी अपेक्षासे उत्तम और कालान्तरमें यथायोग्य संक्लेशके निमित्तसे मध्यम व जघन्य विशुद्धिको धारण करनेसे मध्यम अथवा जघन्य आचार्यपदको प्राप्त होजाते हैं। इसलिये एकही आचार्यके जघन्य मध्यम और उत्कृष्टपनेकी अपेक्षासे तीन भेद कहे जाते हैं।

हेतुस्तत्रोदिता नानाभावांशैः स्पर्धकाः क्षणम्।
धर्मादेशोपदेशादि हेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥ ७०० ॥

अन्वयार्थ—(तत्र) विशुद्धिके तरतमत्वमें (क्षणं) प्रतिक्षण (नानाभावांशै उदिताः स्पर्धकाः) नाना अविभाग प्रतिच्छेदोंको लिए हुए उदयमें आनेवाले संज्वलन और नोकषायके स्पर्धक ही (हेतुः) कारण है किन्तु (अत्र क्वचित्) इनतीनोंही भेदोंमें कहींपरभी (बहिः) बाह्य (धर्मादेशोपदेशादि) धर्मका आदेश तथा उपदेश (हेतुः न) कारण नहीं है।

भावार्थ— आचार्यकी इस उत्तम, मध्यम और जघन्य विशुद्धिमें बाह्य धर्मका आदेश अथवा उपदेश कारण नहीं है। किंतु सञ्ज्वलन तथा नोकषायका यथासंभव उदयही कारण है।

परिपाट्यानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये।
न विशेषो यतस्तेषां न्यायाच्छेषोऽविशेषभाक् ॥ ७०१ ॥

अन्वयार्थः— (अनया परिपाट्या) इसी परिपाटीसे (ये पाठकाः) जो उपाध्याय (च) और (साधवः) साधु हैं उनकी भी (योज्या) योजना करलेना चाहिये (यतः) क्यों कि (तेषां विशेषभाक्—नियतः विशेषः शेषः न) उन उपाध्याय तथा साधुओं में विशेषता को धारण करनेवाला कोई निश्चित विशेष शेष नहीं रहता है।

भावार्थः— जैसे आचार्यके उत्तम, मध्यम और जघन्य विशुद्धिकी अपेक्षासे भेद बताए हैं वैसेही उपाध्याय और साधुओंकेभी समझना चाहिये। क्योंकि इन तीनोंमें परस्पर विशेषताका नियामक कोई भेद नहीं है। इसलिए उपाध्याय तथा साधुओंमेंभी आचार्य के समान उत्तम, मध्यम और जघन्य विशुद्धिकी अपेक्षासे अवान्तर भेद लगाना चाहिये।

शंका।

ननु धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं बहिः।
हेतो रभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्बहिः क्वचित् ॥ ७०२ ॥

अन्वयार्थ — (**ननु**) शङ्काकारका कहना है कि (**धर्मोपदेशादि बहिः कर्म**) धर्मोपदेश देना आदि बाह्य क्रियायें (**तत्कारणं**) आचार्यकी विशेषतामें कारण है क्योंकि (**अभ्यन्तरस्य हेतो अपि**) अभ्यन्तर हेतुकाभी (**क्वचित्**) कहींपर (**बाह्यं**) बाह्य वस्तु (**बहिः हेतुः**) बाह्य हेतु होता है।

भावार्थः— शङ्काकारका कहना है कि अभ्यन्तर हेतुके लिएभी बाह्य कारणकी अपेक्षा होती है। इसलिए आचार्यके आचार्यपनेमेंभी धर्मके आदेश तथा उपदेशको बाह्य कारण मानना चाहिये।

नैवमर्थाद्यतः सर्वं वस्त्वकिंचित्करं बहिः।
तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽप्यान्तरं परम् ॥ ७०३ ॥
किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोनिच्छतो बहिः।
धर्मादेशोपदेशादिस्वपदं तत्फलं च यत् ॥ ७०४ ॥

अन्वयार्थ — (**एवं न**) उक्त कथन ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**अर्थात्**) वास्तवमें (**सर्वं बहिः वस्तु**) सम्पूर्ण बाह्य पदार्थ (**अकिंचित्करं**) अकिंचित्कर हैं कारण कि यदि आचार्यादिकके भेदमें बाह्य वस्तु कारण मानी जायगी तो (**मोहात्**) मोहके कारण (**परं अपि आंतरं इच्छतः**) पर वस्तुकोभी निज माननेवालेकेही (**तत् पदं फलवत्**) वह पद—आचार्यादिकका पद फलवान—प्रयोजनभूत

ठहरेगा और ऐसे माननेसे (सर्वतः बहिः अनिच्छतः तस्य गणिनः) सर्वथा बाह्य वस्तुकी इच्छा न रखनेवाले आचार्यके (यत) जो (स्वपद) आचार्यपद (च) तथा (तत्फलं धर्मादेशोपदेशादि) उस पदका फल जो धर्मका आदेश व उपदेश करना है वह (पुनः किं ?) फिर कैसे सिद्ध होगा ?

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि यदि आचार्यके आचार्यपनेमें धर्मोपदेशादि बाह्य क्रियाओंको, कारण माना जायगा तो अर्थात् यदि आचार्य, आचार्यपनेकी इच्छासे धर्मोपदेशादिक करते है तो आचार्यके परवस्तुको निज माननेका प्रसंग आवेगा। और ऐसा होनेसे सर्वथा परको निज न माननेवाले यथार्थ आचार्यके जो वास्तविक आचार्यत्व और उस आचार्यपनेका जो निरीह वृत्तिसे धर्मका आदेश व उपदेश देनेरूप फल बताया है वह सिद्ध न होगा।

नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादि कर्मणि।
न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥ ७०५॥

अन्वयार्थः— (अस्य) आचार्यके (धर्मादेशादिकर्मणि) धर्मादेश आदि क्रियाओंमें (निरीहत्वं) निरपेक्षता (असिद्ध न) असिद्ध नहीं है क्यों कि (न्यायात्) न्यायानुसार (अक्षार्थकांक्षायाः अन्यत्र) इंद्रियोंके विषयोंको अभिलाषाके सिवाय (जातुचित्) कभीभी (ईहा न) अभिलाषा नहीं कहलाती है।

भावार्थ — यदि कदाचित यह कहा जाय कि आचार्यके धर्मविषयक आदेशादिकमें निरीहपना असिद्ध है तो यह कहनाभी ठीक नहीं है। कारण कि इंद्रियोंके विषयोंकी चाहको ईहा--कांक्षा--अभिलाषा कहते है। और वह आचार्यके पाई नहीं जाती है। क्योंकि आचार्य इंद्रियोंके विषयोंसे निवृत्त रहते हुए ही धर्मका आदेश व उपदेश करते है। इसलिए धर्मविषयक आदेश और उपदेशोंमें उनकी निरीह वृत्ति असिद्ध नहीं है किंतु सिद्धही है।

ननु नेहा विना कर्म कर्म नेहां विना क्वचित्।
तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ॥ ७०६ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि (क्वचित्) कहींभी (कर्म विना ईहा न) क्रियाके विना इच्छा नहीं होती है और (ईहां विना कर्म न) इच्छाके विना क्रिया नहीं होती है (तस्मात्) इस

लिए उस क्रियामें (अक्षार्थ स्यात वा न वा) इन्द्रियजन्य स्वार्थ रहो या न रहो (तु)किन्तु कोई भी (कर्म) क्रिया (अनिहित न) विना इच्छा के नहीं हो सकती है।

भावार्थ — शकाकारका कहना है कि आचार्यकी इद्रियार्थ विषयोंमें प्रवृत्ति हो अथवा न हो परन्तु क्रियाके विना इच्छा और इच्छाके विना क्रिया नहीं होती है। इसलिए आचार्यकी जो धर्मदेशादिक क्रिया है वह विना इच्छाके सिद्ध नहीं होसकती है।

नैवं हेतोरतिव्याप्तेराराद्क्षीणमोहिषु।
वन्धस्य नित्यतापत्ते र्भवेन्मुक्तेरसंभवः ॥ ७०७ ॥

अन्वयार्थ — (एवं न) उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि (हेतोः) इच्छाके विना क्रियाके न माननेसे (आरात् आक्षीणमोहिषु) क्षीण कषाय और उसके समीपके गुणस्थानोंमें अर्थात् दशवें, ग्यारहवें बारहवें तथा तेरहवें गुणस्थानमें अनिच्छापूर्वक क्रियाके पाये जानेके कारण (अतिव्याप्तेः) उक्त लक्षणमें अतिव्याप्ति नामका दोष आता है और यदि उक्त गुणस्थानोंमेंभी क्रियाके सद्भावसे इच्छाका सद्भाव माना जायगा तो (बन्धस्य नित्यतापत्तेः) वन्धके नित्यत्वका प्रसंग आनेसे (मुक्तेः असम्भवः भवेत्) मुक्तिका होनाभी असंभव होजायगा।

भावार्थ — शकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है। कारण कि इच्छापूर्वकही क्रियाके माननेसे दशवें गुणस्थानसे लेकर तेरहवे गुणस्थानतक जो विना इच्छाके क्रिया होती है उस भी इच्छापूर्वक माननेका प्रसंग आवेगा। तथा यदि उक्त गुणस्थानोंमें भी इच्छापूर्वक क्रियाको मानोगे तो इच्छा रागकी पर्याय है। इसलिये रागका सदैव सद्भाव पाए जानेसे बन्धमें नित्यता सिद्ध हो जावेगी। और वन्धमें नित्यता सिद्ध होनेपर मोक्षका होनाभी असंभव हो जायगा। इसलिये आचार्यादिकके इंद्रियजन्य विषयोंमें राग न होनेसे उनकी जो धर्मोपदेशादिकमें क्रिया पाई जाती है वह विना इच्छाकेही सिद्ध होती है।

ततोस्त्यन्तःकृतो भेदः शुद्धेर्नानांशतास्त्रिषु।
निर्विशेषात्समस्त्वेषः पक्षो माभूद्वहिः कृतः॥ ७०८ ॥

अन्वयार्थ— (ततः) इसलिए यद्यपि (त्रिषु) तीनोंमें (शुद्धैः नानांशतः) अपनी २ विशुद्धिकृत नाना अंशोंके द्वारा (अन्तःकृतः भेद अस्ति) अंतरंगकृत भेद पाया जाता है (तु) परन्तु (निर्विशेषात) सामान्यरूपसे तीनोंही (समः) समान है अतः (बहिः कृतः एषः पक्षः माभूत) उन तीनोंमें बाह्य क्रियाओंकी अपेक्षासे भेद है यह पक्ष ठीक नहीं है।

भावार्थः— इसलिए सिद्ध होता है कि आचार्यादिक तीनोंमें विशुद्धिकृत अंशोंसेही भेद है बाह्य क्रियाओंकी अपेक्षासे नहीं क्योंकि सामान्यरूपसे तीनोंही समान है अतएव बाह्य क्रियाओंकी अपेक्षासे उन तीनोंमें भेद बतलाना यह पक्ष ठीक नहीं है।

किंचास्ति यौगिकीरूढिः प्रसिद्धा परमागमे।
विना साधुपदं न स्यात्केवलोत्पत्तिरंजसा ॥ ७०९ ॥
तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा।
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ ७१० ॥
यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि।
कृत्स्नचिंतानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत ॥ ७११ ॥

अन्वयार्थ — (किंच) तथा दूसरी बात यह है कि (परमागमे) परमागममें (यौगिकी रूढिः प्रसिद्धा अस्ति) यह अन्वर्थ रूढि प्रसिद्ध है कि (अंजसा) वास्तवमें (साधुपदं विना) साधु पदके ग्रहण किये विना किसीकोभी (केवलोत्पत्तिः न स्यात्) केवल ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है।

(च) तथा (तत्र) उस परमागममें (साक्षात् सर्वार्थसाक्षिणा) प्रत्यक्ष रूपसे सम्पूर्ण पदार्थोंको जानने देखनेवाले सर्वज्ञ देवने (इदं सम्यक् उक्तं) यह अच्छीतरह कहा है कि (श्रेण्यां अधिरूढस्य) उपशम या क्षपक श्रेणी चढनेवाले आचार्यादिकको (क्षण) क्षणभरमें (तत्पदं) वह साधुपद (स्वतः अस्ति) स्वयं प्राप्त होजाता है।

(यत) क्योंकि (सः सूरिः) वह आचार्य (वा) और (पाठकः) उपाध्याय (श्रेण्यनेहसि) श्रेणी चढनेके कालमें (कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानं) सम्पूर्ण चिंताओंके निरोधरूप ध्यानको (अवश्यं) अवश्यही (आश्रयेत्) धारण करता है।

भावार्थ.— जिसप्रकार आगममें सर्वज्ञ देवने यह कहा है कि साधुपदके ग्रहण किये विना किसीभी जीवको केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है। उसी प्रकार परमागममें सर्वज्ञ देवने यहभी कहा है कि श्रेणीमें आविरूढ आचार्यादिकको वह साधुपद क्षणभरमेंही प्राप्त होजाता है। क्योंकि श्रेणीके आरोहण कालमें आचार्य और उपाध्याय ये दोनोंह, सम्पूर्ण चिंताओंका निषेध है, लक्षण जिसका, ऐसे ध्यानको धारण करते है। और उसीके कारण वे यथार्थ मोक्षमार्गके साधनेसे साधु कहलाते है। तथा थोडेही कालमें केवलज्ञानको प्राप्त करते है।

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह ।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोस्ति यत्र तत ॥ ७१२ ॥

अन्वयार्थः— (ततः सिद्ध) इसलिए सिद्ध होता है कि (इह) श्रेणीके कालमें (तयो) उन आचार्य और उपाध्यायको (अनायासात्) विना किसी प्रयत्नकेही—स्वयंही (तत्पदत्व) वह साधुपद प्राप्त होता है (यत्र) क्योंकि (तत्र) वहांपर (नूनं) निश्चयसे (बाह्योपयोगस्य अवकाशः न अस्ति) बाह्य उपयोगके लिए बिलकुल अवकाशही नहीं मिलता है।

भावार्थः— इसलिए सिद्ध होता है कि श्रेणीके आरोहण कालमे विशुद्धिकी वृद्धिसे आचार्य और उपाध्यायको स्वयमेव साधुपद प्राप्त होता है। कारण कि वहापर शुक्लध्यानमें लवलीन होनेसे बाह्योपयोगके लिए बिलकुल अवकाशही नहीं मिलता है।

न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनं वरम् ।
प्रागादायक्षणं पश्चात्सूरिः साधुपदं श्रयेत ॥ ७१३ ॥

अन्वयार्थ— (न पुन.) किन्तु ऐसा नहीं है कि (सूरिः) आचार्य (तत्र) श्रेणीके आरोहण कालमें (प्राक्क्षणं) पहले (छेदोपस्थापनं वरं चारित्रं) छेदोपस्थापनारूप उत्तम चारित्रको (आदाय) ग्रहण करके (पश्चात) पीछे (साधुपदं श्रयेत) साधुपदको ग्रहण करते है।

भावार्थ— किंतु ऐसा नहीं है कि श्रेणीके चढते समय आचार्य पहले अपने पदकी भले प्रकार छेदोपस्थापना करके पीछे साधुपदका धारण करते है।

---

१ मूल पुस्तकमें ' वत् ' पाठ है लाटी संहितासे यह पाठ लिया है।

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसंगाद्गुरुलक्षणम् ॥
शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥ ७१४ ॥

अन्वयार्थ'— (प्रसंगात्) प्रकरण वश (अत्र) यहांपर (दिङ्मात्रं) केवल साधारण रूपसे (गुरुलक्षणं अपि) गुरुका लक्षणभी (उक्त) कहा और (शेषं तत्स्वरूपं) गुरुके शेष स्वरूपको (विशेषत) विशेष रूपसे (जिनागमात्) जिनागमके अनुसार (वक्ष्ये) मौका मिलनेपर आगे कहेंगे।

भावार्थः— इस प्रकार प्रसंगवश यहांपर साधारण रूपसे गुरुका लक्षण कहा। विशेषरूपसे गुरुके लक्षणको–स्वरूपको यथावकाश आगे कहेंगे।

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः॥ ७१५ ॥

अन्वयार्थः— ('य') जो (धार्मिक) धर्मात्मा पुरुषोंको (नीचैः पदात्) नीचपदसे (उच्चैः पदे) उच्च पदमें (धरति) धारण करता है ('सः') वह (धर्म.) धर्म कहलाता है तथा (तत्र) उन नीच और उच्च पदोंमें (आजवञ्जव) संसार (नीचैः पद) नीचपद तथा (तदत्यय') संसारका नाश–मोक्ष (उच्चै पदं) उच्च पद कहलाता है।

भावार्थः— नीचपदसे उच्च पदमें धारण करनेवाले आत्माके स्वभावको धर्म कहते हैं। संसारी जीवका नीच पद है और मोक्ष उच्च पद हैं।

स धर्मः सम्यग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः॥ ७१६ ॥

अन्वयार्थ— (स. धर्म) वह धर्म (सम्यग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंरूप है तथा (तत्र) उन तीनोंमें (सद्दर्शन) सम्यग्दर्शन (एतयोः) सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन दोनोंका (अद्वैतं मूलं हेतुः) एक मूल कारण हैं।

भावार्थः— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके समुदायको धर्म कहते हैं। तथा उन

तीनोंमें सम्यग्दर्शनही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका प्रधान कारण है। क्योंकि सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान व चारित्र में सम्यक्पना नहीं आता है।

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा।
सद्दक्पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥ ७१८ ॥

अन्वयार्थ — (ततः) इसलिए (सागाररूपः वा अनगारः वा धर्मः) सागाररूप अथवा अनगाररूप जो भी धर्म है वह सब (सद्दक्पुरस्सर एव धर्मः) सम्यग्दर्शनपूर्वक होनेसेही धर्म कहलाता है और (तद्विना) उस सम्यग्दर्शनके विना (क्वचित) कहींभी वह (धर्मः न) धर्म नहीं कहलाता है।

भावार्थ — सम्यग्दर्शनके सद्भावमें ही गृहस्थ अथवा मुनिधर्मको धर्म कहते हैं। और उसके विना उन दोनोंकोभी धर्म नहीं कहते हैं। किंतु वे दोनोंही अधर्म शब्दसे कहे जाते हैं।

रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥ ७१८ ॥

अन्वयार्थ — (रूढितः) रूढिसे (अधिवपुः) शरीरमें (वाचां) वचनोंकी (शुभावहा) शुभरूप-शुभ फलको देनेवाली (क्रिया) क्रिया (धर्मः) धर्म कहलाती है (वा) अथवा (तत्र) शरीरमें (अनया सह) उस वचनकी शुभरूप क्रियाके साथ २ (अनुकूलरूपा मनोवृत्तिः) अनुकूलरूप मनकी प्रवृति धर्म कहलाती है।

भावार्थः— रूढिसे मन, वचन और कायकी शुभ प्रवृत्तिको धर्म कहते हैं।

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः ॥ ७१९ ॥

अन्वयार्थः— (विशेषतः) विशेष कथनकी अपेक्षासे (सर्वसागारानगाराणां सा द्विधा) सम्पूर्ण गृहस्थ और मुनियोंकी वह मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तिरूप क्रिया दो प्रकारकी है (यतः) क्योंकि

(नूनं) निश्चयसे (क्रियाविशेषात) क्रियाकी विशेषतासेही (धर्मविशेषता) धर्ममें विशेषता होती है।

भावार्थ— क्रियाके भेदसेही धर्ममें भेद विवक्षित होता है। इसलिए विशेष कथनकी अपेक्षासे मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तिरूप वह धर्म दो प्रकारका है। एक सागार धर्म और दूसरा अनगार धर्म।

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात्।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ ७२० ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन सागार और अनगाररूप दोनों प्रकारके धर्मोंमें (हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात) हिंसा, झूट, चोरी, कुशील और सम्पूर्ण परिग्रहसे (देशतः विरतिः) एकदेश विरक्त होना (गृहस्थानां अणुव्रतं प्रोक्तं) गृहस्थोंका अणुव्रत कहा गया है।

भावार्थ — हिंसादिक पाचों पापोंके एकदेश त्यागको अणुव्रत–गृहस्थधर्म कहते है। और यह अणुव्रत केवल गृहस्थोंके द्वाराही धारण किया जाता है।

सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत्।
नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिंगमर्हताम् ॥ ७२१ ॥

अन्वयार्थ — (तेषां हिंसादीनां) उन्हीं हिंसादिक पच पापोंका (सर्वत विरति) सर्व देशसे त्याग करना (महत् व्रत) महाव्रत कहलाता है और (एतत्) यह (अर्हतां लिंगं) जिनरूप मुनिलिंग (सागारिभिः) गृहस्थोंके द्वारा (कर्तुं न शक्यते) नहीं पाला जासकता है किंतु मुनियोंके द्वाराही पाला जाता है।

भावार्थः— हिंसादिक पाचों पापोंके सर्वथा त्यागको महाव्रत–मुनिधर्म कहते है। और यह धर्म-व्रत मुनियोंके द्वाराही पाला जाता है कारणकि गृहस्थाश्रममें रहकर गृहस्थोंके द्वारा यह व्रत पालन नहीं किया जासकता है।

मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्त्तिनाम्।
तथाऽनगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽथ ते ॥ ७२२ ॥

अन्वयार्थः— ('यथा') जैसे (वेश्मवर्तिनां) गृहस्थोंके (देशतः) एकदेशरूपसे (मूलोत्तरगुणाः सन्ति) मूल और उत्तर गुण होते है (तथा) वैसे (अनगारिणां न स्यु) मुनियोंके एक देश रूपसे नहीं होते है किन्तु उनके (ते अथ परे) वे मूल गुण तथा उत्तर गुण (सर्वतः स्यु) सर्व देश रूपसेही होते हैं।

भावार्थ — गृहस्थोंके समान एक देशरूपसे मुनियोंके मूलोत्तर गुण नहीं होते है। किन्तु उनके [मुनियोंके] मूलगुण और उत्तरगुण सर्वदेशरूपमेही होते है।

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधारणा इमे ॥ ७२३ ॥

अन्वयार्थः— तत्र (उनमें (यस्मात्) जिस कारणसे (व्रतधारिणां गृहिणां) व्रती गृहस्थोंके (अष्टौ मूलगुणाः) जो आठमूलगुण हैं वे (क्वचित्) कहीं (अव्रतिनां च 'सन्ति') अव्रती गृहस्थोंकेभी पाए जाते हैं इसलिए (इमे सर्वसाधारणा.) ये आठों ही मूलगुण सर्वसाधारण हैं।

भावार्थः— व्रती गृहस्थोंके समान अव्रती गृहस्थोंके भी पाए जानेसे गृहस्थोंके जो आठ मूलगुण हैं वे सर्वसाधारणके हैं।

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम्।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ॥ ७२४ ॥

अन्वयार्थः— (ते गुणा) वे आठें मूलगुण (निसर्गात्) स्वभावसे (वा) अथवा (कुलाम्नायात्) कुलपरंपरासेभी (आयाताः) आते हैं अर्थात् गृहस्थोंको प्राप्त होते हैं (तथा) और (स्फुटम्) यह स्पष्ट है कि (तद्विना) इन मूलगुणोंके विना (अङ्गिनां) जीवोंके (यावत् व्रतं) सब प्रकारका व्रत (च) और (सम्यक्त्व) सम्यक्त्व (न) नहीं होसकता है।

भावार्थः— किन्हीं २ गृहस्थोंकी मद्यादिकमें स्वभावसेही प्रवृत्ति नहीं होती है। और किन्हीं २ के कुल परम्पराकी आम्नायसे मद्यादिकके सेवन करनेकी प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है। इसलिये ये आठों मूलगुण साधारण कहे

गये हैं और इनके विना जीवोंको सम्यक्त्व तथा किसी प्रकारके व्रतकी प्राप्ति नहीं होती है।

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा ॥ ७२५॥

अन्वयार्थः— (**एतावता विना**) इन मूल गुणोंके विना जब (**एषः**) यह जीव (**नामत अपि**) नामसेभी (**श्रावकः नास्ति**) श्रावक नहीं होसकता है तो (**पुनः**) फिर (**पाक्षिकः गूढः नैष्ठिकः अथवा साधक किं**) पाक्षिक, गूढ, नैष्ठिक अथवा साधक श्रावक तो कैसे होसकता है ?

भावार्थः— जब मूल गुणोंके विना कोई जीव नाम निक्षेपसेभी श्रावक नहीं होसकता है तो फिर पाक्षिक, गूढ, नैष्ठिक और साधक श्रावक कैसे होसकेगा ?

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपंचकः।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथाऽपि तथा गृही ॥ ७२६ ॥

अन्वयार्थः— (**मद्यमांसमधुत्यागी**) मद्य, मास तथा मधुका त्याग करनेवाला और (**त्यक्तोदुम्बरपञ्चक**) पांचों उदुम्बर फलोंको छोडनेवाला (**गृही**) गृहस्थ (**नामतः**) नामसे (**श्रावकः**) श्रावक (**ख्यात**) कहलाता है (**अपि**) किन्तु (**अन्यथा तथा न**) मद्यादिकका सेवन करनेवाला गृहस्थ नामसेभी श्रावक नहीं कहलाता है।

भावार्थः— तीन मकार और पांच उदुम्बर फलोंके त्याग करनेवाले गृहस्थको ही नामसे श्रावक कहते है। किन्तु जो इसमे विपरीत कार्य करनेवाला है अर्थात् मद्यादिकका सेवन करनेवाला है उसको नामसेभी श्रावक नहीं कहते है।

यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम्।
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम ॥ ७२७॥

अन्वयार्थ— (**गृहस्थैः**) गृहस्थोंको (**यथाशक्ति**) अपनी अपनी शक्तिके अनुसार (**व्यसनोज्झनं विधातव्यं**) व्यसनोंका त्याग करना चाहिये और (**श्रेयसीं क्रियां इच्छद्भिः**) कल्याणप्रद क्रियाओंके करनेकी इच्छा करनेवाले (**व्रतस्थैः तैः**) व्रती गृहस्थोंको तो (**अवश्य**) अवश्यही (**नतु ' व्यसनोज्झनं**

१ गूढ श्रावककी कल्पना अन्यश्रावकाचारोंमे नही देखी है।

विघातव्य ?) उन व्यसनोंका त्याग करना चाहिये ।

भावार्थः— गृहस्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार व्यसनोंका त्याग करना चाहिये । और व्रती श्रावकोंको तो नियमसेही उनका त्याग करना चाहिये ।

त्यजेद्दोषाँस्तु तत्रोक्तान् सूत्रेतीचारसंज्ञकान् ।
अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥ ७२८ ॥

अन्वयार्थ— (तु) और (तत्र) मूलगुणोंमें लगनेवाले (सूत्रे उक्तान्) शास्त्रमें कहे गये (अतीचारसंज्ञकान्) अतीचार नामक (दोषान्) दोषोंकोभी (त्यजेत्) अवश्य छोडना चाहिये (अन्यथा) अन्यथा (मद्यमांसादीन्) साक्षात्‌रूपसे मद्यमांसादिकको (कः श्रावकः) कौनसा श्रावक (समाचरेत्) खाता है ?

भावार्थः— गृहस्थोंको आचार शास्त्रमें प्रसिद्ध उक्त आठ मूलगुणोंके अतीचारोंकाभी त्याग करना चाहिये क्योंकि अतीचारोंके त्यागपूर्वक अष्ट मूलगुणोंका पालन करनाही वास्तवमें श्रावकोंके अष्ट मूलगुणोंका पालन करना कहलाता है । अतीचारोंके दूर किये विना जो मूलगुणोंका पालन किया जाता है वह वास्तवमें मूलगुणोंका पालन करना नहीं है कारण कि साक्षात् रूपसे तो मद्यमांसादिकको कोई श्रावक खाताही नहीं है ।

दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याऽथ श्रद्धया ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥ ७२९ ॥

अन्वयार्थ— (श्रावकोत्तमैः) उत्तम श्रावकोंको (पात्रबुद्ध्या) पात्र बुद्धिसे (अथ) और (श्रद्धया) श्रद्धा बुद्धिसे (जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः) जघन्य मध्यम तथा उत्कृष्ट पात्रोंके लिये (चतुर्विधं दान देय) चार प्रकारका दान देना चाहिये ।

भावार्थः—श्रावकोंको तीनोंही प्रकारके पात्रोंकेलिए श्रद्धापूर्वक पात्रबुद्धिसे चार प्रकारका दान देना चाहिये

कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम् ।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥ ७३० ॥

अन्वयार्थः— (**कुपात्राय**) कुपात्रके लिये और (**अपात्राय अपि**) अपात्रके लियेभी (**यथोचितं**) यथायोग्य (**दानं देयं**) दान देना चाहिये क्योंकि कुपात्र तथा अपात्र के लिये (**पात्रबुद्धया**) केवल पात्रबुद्धिसे दान देना (**निषिद्ध स्यात्**) निषिद्ध है (**कृपाधिया**) करुणा बुद्धिसे दान देना (**निषिद्धं न**) निषिद्ध नहीं है।

भावार्थः— सम्यक्त्वके विना व्रतपालन करनेवाले कुपात्र के लिये और सम्यक्त्व तथा व्रतसे रहित मिथ्या चारित्र पालन करनेवाले अपात्रके लियेभी कृपाबुद्धिसे दान देना चाहिये। कारण कि इन दोनोंके लिये पात्रबुद्धिसे दान देनेका निषेध किया गया है। करुणा बुद्धिसे दान देनेका निषेध नहीं है।

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात्।
दीनेभ्योऽभयदानादि दातव्यं करुणार्णवैः॥ ७३१ ॥

अन्वयार्थः— (**करुणार्णवैः**) दयालु श्रावकोंको (**अशुभोदयात्**) अशुभ कर्मके उदयसे (**क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्य शेषेभ्यः दीनेभ्य**) क्षुधा, तृषा आदिसे दुखी शेष दीन प्राणियोंके लियेभी (**अभयदानादि**) अभयदानादिक (**दातव्य**) देना चाहिये।

भावार्थः— गृहस्थोंको उक्त पात्र, कुपात्र और अपात्रोंसे बाकी बचे हुए, अशुभकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाली क्षुदादिककी पीडासे दुखी प्राणियोंके लिएभी अभयदानादिक देना चाहिये।

पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यद्वा प्रतिमासु तद्धिया।
स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः॥ ७३२ ॥

अन्वयार्थः— (**सुधीः**) उत्तम बुद्धिवाला श्रावक (**प्रतिमासु**) प्रतिमाओंमें (**तद्धिया**) अर्हत की बुद्धिसे (**अर्हतां पूजां अपि कुर्यात्**) अर्हत भगवानकी पूजाभी करे (**यद्वा**) और (**स्वरव्यंजनानि संस्थाप्य**) सिद्ध यंत्रमें स्वर व्यंजनादिक रूपसे सिद्धोंकी स्थापना करके (**सिद्धान् अपि अर्चयेत**) सिद्ध भगवानकीभी पूजा करे।

भावार्थः— श्रावकोंको प्रतिमाओंमें अर्हतकी स्थापना करके अर्हत भगवानकी तथा स्वर व्यंजनादिक

रूपसे सिद्धयन्त्रमें सिद्धकी स्थापना करके सिद्धभगवानकी भी पूजा करना चाहिये।

सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तत्पादयोः स्तुतिम् ।
प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात्स त्रिशुद्धितः ॥ ७३३ ॥

अन्वयार्थः— (सः) वह श्रावक (सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरः) आचार्य, उपाध्याय और साधुओंके सामने जाकर (प्राक्) पहले (तत्पादयोः स्तुतिं विधाय) उनके चरण कमलोंकी स्तुति करके (त्रिशुद्धितः) मन, वचन और कायकी शुद्धिपूर्वक उनकी भी (अष्टधा पूजां विदध्यात्) अष्ट द्रव्यसे पूजा करे।

भावार्थ.— श्रावकको आचार्य, उपाध्याय और साधुओंके सामने स्वयं उपस्थित होकर पहले उनके चरणोंकी स्तुति करना चाहिये तथा फिर अष्ट द्रव्यसे पूजा करना चाहिये।

सम्मानादि यथाशक्ति कर्त्तव्यं च सधर्मिणां ।
व्रतिनां चेतरेषां वा विशेषाद्ब्रह्मचारिणाम् ॥ ७३४ ॥

अन्वयार्थः— (यथाशक्ति) अपनी शक्तिके अनुसार (व्रतिनां वा इतरेषां च सधर्मिणां) व्रती अथवा अव्रती साधर्मी जनोंका (सम्मानादि कर्तव्यं) सन्मान आदि करना चाहिये (च) तथा (ब्रह्मचारिणां) त्यागी ब्रह्मचारिओंका तो (विशेषात्) विशेष रूपसे सन्मान आदि करना चाहिये।

भावार्थ.— श्रावकोंको अपनी शक्तिके अनुसार व्रती और अव्रती दोनोंही प्रकारके साधर्मी जनोंका यथायोग्य सन्मानादिक करना चाहिये। तथा ब्रह्मचारी साधर्मी जनोंका तो विशेष रूपसे सन्मान आदि करना चाहिये।

नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे ।
देयं सम्मानदानाद्यं लोकानामविरुद्धतः ॥ ७३५ ॥

अन्वयार्थः— (जिनागमे) जिनागममें (व्रताढ्याभ्यः नारीभ्यः अपि) व्रतोंसे परिपूर्ण स्त्रियोंका भी सन्मानादिक करना (निषिद्धं न) निषिद्ध नहीं है इस लिए व्रती स्त्रियोंकाभी (लोकानां अविरुद्धतः) लोक व्यवहारके अनुकूल (सम्मानदानादि देयं) सन्मानदानादिक करना चाहिये।

भावार्थ.— जैनागममें व्रती स्त्रियोंका आदर सत्कार करना, उनको सन्मान देना आदि निषिद्ध नहीं है। इस लिये लोकव्यवहारके अनुकूल उनका भी आदर सत्कार, सन्मान आदि करना चाहिये।

जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता।
यथा सम्पद्विधेयाऽस्ति दूष्या नावद्यलेशतः॥ ७३६ ॥

अन्वयार्थ — (**यथासम्पत्**) अपनी सम्पत्तिके अनुसार (**जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे**) जिन मंदिर आदिके बनवानेमेंभी (**सावधानता विधेया**) सावधानता करना चाहिये क्योंकि (**अवद्यलेशतः**) थोडासा पाप होनेके कारण जिनमन्दिर आदिका बनवाना (**दूष्या न अस्ति**) निंद्य नहीं है।

भावार्थ— यद्यपि जिनमंदिरादिक बनवानेमें जीव हिंसा होनेके कारण थोडासा पाप लगता है। परन्तु पुण्यकी अधिकता होनेके कारण वह थोडासा पाप निंद्यनीय नहीं समझा जाता है अर्थात् पाप नहीं माना जाता है। इसलिए गृहस्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार जिनमंदिर आदिभी बनवाना चाहिये।

सिद्धानामर्हतां चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः।
चैत्यालयेषु संस्थाप्य द्राक् प्रतिष्ठापयेत्सुधीः॥ ७३७ ॥

अन्वयार्थ— (**सुधीः**) ज्ञानी श्रावक (**सिद्धानां यन्त्राणि**) सिद्धोंके यंत्रोंको (**अपि च**) और (**अर्हतां शुभाः प्रतिमाः**) अर्हन्त भगवानकी मनोज्ञ प्रतिमाओंको (**चैत्यालयेषु संस्थाप्य**) जिनालयोंमें स्थापित करके (**द्राक् प्रतिष्ठापयेत्**) शीघ्र ही उनकी प्रतिष्ठा करे।

भावार्थ — गृहस्थोंको जिनमंदिरोंमें सिद्ध यंत्र तथा अर्हंत भगवानकी प्रतिमाओंको स्थापित करके उनकी शीघ्रही विधिपूर्वक प्रतिष्ठा कराना चाहिये।

अथ तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः।
श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत्॥ ७३८ ॥

अन्वयार्थ — (**अथ**) और (**सः श्रावकः**) वह श्रावक (**तीर्थादियात्रासु**) तीर्थादिककी यात्रामेंभी (**मनः**) मनको (**सोद्यतं विदध्यात्**) तत्पर करे (**च**) तथा (**तत्रापि**) उस तीर्थयात्रा-

दिकमेंभी वह (संयम न विराधयेत्) अपने संयमकी विराधना नहीं करे अर्थात् संयममें बाधा नहीं आने देव ।

भावार्थः— गृहस्थोंको अपने संयमकी रक्षा करते हुए तीर्थयात्रा आदि पुण्यको बढानेवाले कार्यभी करना चाहिये ।

नित्ये नैमित्तिके चैवं जिनबिम्बमहोत्सवे ।
शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञैस्ताद्विशेषतः ॥ ७३९ ॥

अन्वयार्थः— (एवं च) इसी प्रकार (नित्ये च नैमित्तिके) नित्य और नैमित्तिक रूपसे होनेवाले (जिनबिम्बमहोत्सवे) जिन बिम्ब महोत्सवमेंभी (शैथिल्यं नैव कर्तव्य) शिथिलता नहीं करना चाहिये तथा (तत्त्वज्ञैः) तत्त्वज्ञानियोंको तो (तत विशेषत ' न कर्तव्य ') वह शिथिलता कभीभी किसीभी प्रकारसे नहीं करना चाहिये ।

भावार्थः— श्रावकोंको नित्य तथा नैमित्तिक रूपसे होनेवाले जो जिनबिम्ब आदि महोत्सव है उनमेंभी शिथिलता नहीं करना चाहिये । किन्तु उत्साह पूर्वक उनमें सम्मिलित होनाचाहिये । और तत्त्वज्ञानियोंको तो विशेष रूपसे उनमें सम्मिलित होना चाहिये ।

संयमो द्विविधश्चैवं विधेयो गृहमेधिभिः ।
विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ॥ ७४० ॥

अन्वयार्थः— (गृहमेधिभिः) गृहस्थोंको (स्वशक्तितः) अपनी शक्तिके अनुसार (प्रतिमारूपं व्रतं) प्रतिमारूपसे व्रत (यद्वा) अथवा (' प्रतिमारूप , विना अपि) विना प्रतिमारूपसे व्रत (एवं) इस प्रकार (द्विविधः संयमश्च) दोनों प्रकारका संयमभी (विधेयः) पालना चाहिये ।

भावार्थः— गृहस्थोंको प्रतिमारूपसे अथवा विना प्रतिमारूपसेभी संयमका पालन करना चाहिये । जो प्रतिमारूपसे व्रतोंका पालन करते है उन्हे नैष्टिक श्रावक कहते है और जो विना प्रतिमारूपसे व्रतोंका पालन करते है उन्हे पाक्षिक श्रावक कहते है ।

कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यं चानतिवीर्यसात् ॥७४१॥

अन्वयार्थः— (बाह्याभ्यन्तरभेदनः) बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे (द्वेधा तपः) दो प्रकारका तप अपने २ अवान्तर छह भेदोंकी अपेक्षासे (द्वादशधा) बारह प्रकारका है उनमेंसे श्रावकोंको (अनतिवीर्यसात्) अपनी शक्तिके अनुसार (कृत्स्नं) सम्पूर्ण (वा) अथवा (अन्यतमं च तत् कार्यं) किसी एक प्रकारकेही तपको करना चाहिए।

भावार्थ— तपके दो भेद हैं एक बाह्य तप और दूसरा अभ्यन्तर तप। बाह्य तपके अनशन आदि छह भेद हैं। अभ्यन्तर तपके प्रायश्चित्त, विनय आदि छह भेद हैं। इस प्रकार बाह्य तथा अभ्यन्तरके भेद से जो दो प्रकारका तप है उसके बारह भेद हो जाते हैं। उनमेंसे श्रावकोंको अपनी २ शक्तिके अनुसार सम्पूर्ण अथवा किसी एक प्रकारके तपको करना चाहिए।

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशं सविस्तरम् ॥ ७४२ ॥

अन्वयार्थः— (अत्रापि) यहापरभी (प्रसङ्गात् वा) प्रसंगानुसार (दिङ्मात्रत) सक्षेपसे (गृहिव्रतं उक्तं , गृहस्थोक्त व्रतका निरूपण किया (च) और (सविस्तरं) विस्तार पूर्वक गृहस्थ धर्मका निरूपण तो (सावकाश) मौका मिलनेपर (उपासकाध्यायात) उपासकाध्ययनसे (वक्ष्ये) आगे कहेंगे।

भावार्थः— इसप्रकार प्रसंगवश गृहस्थधर्मका संक्षेपसे निरूपण किया विस्तारपूर्वक उस गृहस्थ धर्मका निरूपण मौका मिलनेपर उपासकाध्ययनके अनुसार आगे करेंगे।

यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन ॥ ७४३ ॥

अन्वयार्थः— (तरोः मूलवत) वृक्षकी जडके समान (यतेः) मुनिके (अष्टाविंशति. मूलगुणाः 'सन्ति') अट्ठाइस मूल गुण होते है (अपिच) और (अत्र) इन अट्ठाईस मूल गुणोंमेंसे मुनियोंके वे मूल गुण (कदाचन) किसी भी समय (न अन्यतमेन ऊना.) न तो किसी एकसे कम तथा (न अतिरिक्ताः) न अधिक होते हैं।

भावार्थः— वृक्षके लिये जडके समान मुनिव्रतके लिए मूलभूत मुनियोंके अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। इनमेंसे मुनियोंके न तो कोई गुण कम होता है और न कोई गुण अधिकही होता है । किंतु अट्ठाईसही होते है ।

सर्वैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम् ।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ॥ ७४४ ॥

अन्वयार्थः— (यावत् मुनिव्रत) सम्पूर्ण मुनिव्रत (एभिः सर्वै च समस्तैः) इन सब और समस्त मूलगुणोंसेही (सिद्ध) सिद्ध होता है (तु) किंतु (यावत् अंशनयात् अपि) केवल अंशकोही विषय करनेवाले किसी एक नयकी अपेक्षासे (व्यस्तैः) असमस्त मूलगुणोंके द्वारा (व्यस्तमात्रं न) एकदेशरूप मुनिव्रत सिद्ध नहीं होता है ।

भावार्थः— अट्ठाईस मूलगुणोंसे युक्त होनेपरही मुनिव्रत, मुनिव्रत कहलाता है । किन्तु कुछ मूलगुणोंके पालनेसे वह मुनिव्रत व्यस्तमात्र–एकदेशमुनिव्रत नहीं कहलाता है अर्थात् सम्पूर्ण मूलगुणोंके पालनेसेही मुनिव्रत सिद्ध होता है । कमसे नहीं ।

वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवस्सयमचेलमन्हाणं ।
खिदिसयणमदंतमणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ ७४५ ॥

अन्वयार्थ— (वदसमिदिंदियरोधो) पांच महाव्रत और पांच समितियोंका धारण करना, पांचों इन्द्रियोंका निग्रह करना (लोचः) केश लोंच करना (आवस्सयं) छह आवश्यक पालना (अचेलं) नग्न दिगम्बर रहना (अन्हाणं) स्नान न करना (खिदिसयण) भूमिपर शयन करना (अदन्तमणं) दतोंन नहीं करना (ठिदिभोयणं) खडे होकर भोजन करना (च) और (एयभत्तं) एकबार अल्प भोजन करना ये मुनियोंके अट्ठाईस मूल गुण है ।

भावार्थ — ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियोंका निरोध, ६ आवश्यक, केशलोंच, अदन्तधावन, अस्नान, भूमिशयन, खडे होकर भोजन लेना, और एक बार भोजन करना ये मुनिओंके २८ मूलगुण कहलाते है ।

एते मूलगुणाः प्रोक्ता यतीनां जैनशासने ।
लक्षाणां चतुरशीति गुणाश्चोत्तर संज्ञकाः
संस्कृ. ॥ ७४६ ॥

अन्वयार्थ — (जैनशासने) जिनागममें (यतीनां एते मूलगुणाः प्रोक्ताः) मुनियोंके ये २८ ईस मूलगुण कहे है (च) और (लक्षाणां चतुरशीतिः) चौरासी लाख (उत्तरसंज्ञकाः गुणाः) उत्तरगुण कहे है ।

भावार्थः— मुनियोंके उपरि उक्त २८ मूलगुण होते है । और चौरासी लाख उत्तरगुण होते है ।

ततः सागारधर्मोवाऽनगारो वा यथोदितः ।
प्राणिसंरक्षणंमूलमुभयत्राविशेषतः ॥ ७४७ ॥

अन्वयार्थः— (तत) इसलिए (यथोदितः) यथोक्त जो (सागारधर्मः) सागार धर्म (वा) अथवा (अनगार. वा) अनगार धर्म है (उभयत्र) उन दोनोंमेंही (अविशेषत.) सामान्यरूपसे (प्राणिसंरक्षण) अहिंसारूप धर्म (मूलं) मूलरूपसे हैं ।

भावार्थ — उपरि उक्त इन सागार और अनगाररूप दोनोंही धर्मोंमें अहिंसा मूलरूपसे पाई जाती है तथा शेष सत्यादिक धर्म इसके परिकररूपसे पाए जाते है ।

उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद्व्रतकदम्बकम् ।
सर्वसावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये ॥ ७४८ ॥

अन्वयार्थ — (यत्) जो (व्यासात्) विस्तारसे (क्रियारूपं) शुभ प्रवृत्तिरूप (व्रतकदम्बकं) व्रत समुदाय (उक्तं अस्ति) कहागया है (तत्) वह सब (एकस्य सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तये) एक सर्व सावद्य योगकी निवृत्तिके लिए है ।

भावार्थः— प्रवृत्तिरूप पांचोंही व्रत केवल एक सर्वसावद्यरूप पापोंकी निवृत्तिके लिएही कहे गए है ।

अर्थाज्जैनोपदेशोऽयमस्त्यादेशः स एव च ।
सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥ ७४९ ॥

अन्वयार्थ — (अर्थात्) वास्तवमें (अयं) यही (जैनोपदेशः) जैनाचार्योंका उपदेश है (च) और (सः एव) वही (आदेशः अस्ति) आदेश भी है कि केवल (सर्व सावद्य, योगस्य) सम्पूर्ण

सावद्य योगकी (निवृत्ति) निवृत्तिही (व्रत उच्यते) व्रत कहलाता है।

भावार्थ:— जिनेन्द्र भगवानका यही आदेश और उपदेश है कि सम्पूर्ण पापों के त्यागकोही व्रत कहते हैं।

अब आगे 'सर्वसावद्ययोगनिवृत्ति' शब्दका अन्वय अर्थ बताते हैं।

सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वृत्तिर्यदर्थतः।
प्राणच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥ ७५० ॥
योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते।
सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥ ७५१ ॥
तस्याभावान्निवृत्तिः स्याद्व्रतं वार्थादिति स्मृतिः।
अंशात्साऽप्यंशतस्तत्सा सर्वतः सर्वतोऽपि तत् ॥ ७५२ ॥

अन्वयार्थ— (यत्) क्योंकि (तत्र) उस सर्व सावद्य योग शब्दमें (अर्थत) अर्थकी अपेक्षासे (सर्व शब्देन) सर्व शब्दसे (अन्तर्बहिर्वृत्तिः) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रवृत्ति है तथा (हि) निश्चयसे (सावद्य प्राणच्छेदः) सावद्य शब्दका अर्थ प्राणच्छेद हैं और (सा एव) वही (हिंसा प्रकीर्तिता) हिन्सा कही जाती है तथा (तत्र) उस हिन्सामें (यः) जो (बुद्धिपूर्वः उपयोगः) बुद्धिपूर्वक उपयोग होता है (सः) वह (योग उच्यते) योगशब्दका अर्थ है (वा) और (यः) जो (अबुद्धिपूर्व) अबुद्धिपूर्वक (च) तथा (सूक्ष्मः) सूक्ष्म उपयोग होता है (सः अपि) वहभी (योगः इति स्मृत) योगशब्दका अर्थ है और (अर्थात्) वास्तवमें (तस्य अभावात्) उस सर्व सावद्य योगके अभावसे जो (निवृत्तिः स्यात्) निवृत्ति होती है उसीको (व्रत वा इति स्मृतिः) व्रत कहते है तथा यदि (सा) वह निवृत्ति (अंशात्) अंश रूपसे हो तो (तत् अपि) वह व्रतभी (अंशतः) अणुव्रत कहलाता है और यदि (सा) वह (सर्वतः) सम्पूर्ण रूपसे हो तो [तत् अपि] वह व्रतभी [सर्वतः] महाव्रत कहलाता है।

भावार्थ:— 'सर्व सावद्य योग निवृत्ति' इस वाक्यका प्रत्येक शब्दके अर्थके अनुसार यह अर्थ होता है कि सव इस शब्दसे सब प्रकारकी अन्तरंग और बहिरंग प्रवृत्तिका बोध होता है। सावद्य इस शब्दसे हिन्साका बोध

होता है। योग इस शब्दसे हिन्सामें जो बुद्धिपुर्वक स्थूल उपयोग तथा अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म उपयोग होता है उन दोनों-का बोध होता है। और निवृत्ति इस शब्दसे सब प्रकारकी अन्तरंग तथा बहिरंग प्रवृत्तिमें जो हिंसाकेलिये, बुद्धिपूर्वक, तथा अबुद्धिपूर्वक जीवका उपयोग होता है उसके त्यागका बोध होता है। इस प्रकार सर्व सावद्य योग निवृत्ति शब्दका सर्व प्रकारकी हिन्सामे आत्माके सब प्रकारके उपयोगका त्याग यह अर्थ होता है। और इसीको व्रत कहते है। यदि वह सर्व सावद्य योगकी निवृत्ति अंशरूपसे हो तो व्रतभी एकदेश व्रत कहलाता है। तथा यदि वह निवृत्ति पूर्ण रूपसे हो तो व्रतभी महाव्रत-सर्वदेशव्रत कहलाता है।

सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रतं बाह्यं दयांगिषु।
व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैषात्मनि कृपा॥ ७५३॥

अन्वयार्थः— (एतत्) यह (सर्वतः सिद्धं एव) सब तरहसे सिद्ध होता है कि जो (अंगिषु-दया) सब प्राणियोपर दया करना है वह [बाह्यं व्रत] बहिरंग व्रत है और जो [कषायाणां त्यागः] कषायोंका त्याग करना है वह [अन्त व्रत] अन्तरंग व्रत है [तथा सा एव आत्मनि कृपा] वही अन्तर्व्रत स्वदया कहलाती है।

भावार्थः— सर्व सावद्ययोगकी निवृत्तिको व्रत कहते है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि जीवोंपर दया करना बहिरंग व्रत तथा अपनी कषायोंका त्याग करना अन्तरंग व्रत कहलाता है। और यही अन्तरंग व्रत स्वदय है

लोकासंख्यातमात्रास्ते यावद्रागादयः स्फुटम्।
हिंसास्यात्संविदादीनां धर्माणां हिंसनाच्चितः॥ ७५४॥

अन्वयार्थः— (स्फुट) यह बात स्पष्ट है कि (यावत) जबतक (ते लोकासंख्यातमात्रा. रागादय सन्ति) वे असंख्यात लोकप्रमाण रागद्वेषादिक भाव रहते है (' तावत ') तबतक प्रत्येकके द्वारा (चितः) आत्माके (संविदादीनां धर्माणां) स्वसंवेदन आदि धर्मोंकी (हिंसनात्) हिंसा होनेसे) हिंसा स्यात्) स्व हिंसा होती रहती है।

भावार्थः— रागादिक भावोंके द्वारा आत्माके स्वसंवेदनादि गुणोंका घात होता है। इसलिए वे रागादिक भाव हिंसारूप है।

अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः ।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥ ७५५ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात) अर्थात् (रागादयः) रागादिकका नामही (हिंसा अधर्मः च व्रतच्युतिः अस्ति) हिंसा, अधर्म और अव्रत है तथा (किल) निश्चयसे (तत्परित्यागः) उनके त्यागकाही नाम (अहिंसा व्रत अथवा धर्मः) अहिंसा, व्रत अथवा धर्म है ।

भावार्थः— वास्तवमें रागादिकको ही हिंसा, अधर्म और व्रतच्युति तथा रागादिक के अभावकोही अहिंसा, धर्म और व्रत समझना चाहिये ।

आत्मेतराङ्गिणामंगारक्षण यन्मतं स्मृतौ ।
तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृतेनातः परत्र तत् ॥ ७५६ ॥

अन्वयार्थः— (अतः) इसलिये (यत) जो (स्मृतौ) आगममें (आत्मेतरांगिणां) स्व और अन्य प्राणियोंकी (अंगरक्षणं मतं) अहिंसाका सिद्धान्त माना गया है (तत) वह (परं) केवल (स्वात्मरक्षायाः कृते) स्वात्मरक्षाके लिएही है, (परत्र कृते तत् न) परके लिए नहीं है ।

भावार्थः— दूसरे जीवोंकी रक्षा करनेसे प्रमादका परिहार होता है । इसलिए पररक्षाभी स्वात्मरक्षा कहलाती है ।

सत्सु रागादि भावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात् ।
तत्पाकादात्मनो दुःखं तात्सिद्धः स्वात्मनो वधः ॥ ७५७ ॥

अन्वयार्थः— (रागादि भावेषु सत्सु) रागादिक भावोंके होनेपर (बलात्) जबरन (कर्मणां बन्धः स्यात) कर्मोंका बन्ध होता है और (तत्पाकात्) उन कर्मोंके उदयसे (आत्मनः दुःखं) आत्माको दुःख होता है (तत्) इसलिये रागादिक भावोंके द्वारा (स्वात्मनः वधः सिद्धः) स्वात्माका वध सिद्ध होता है ।

भावार्थ.— रागादिक भावोंसे कर्मोंका बन्ध होता है। और उनके उदयसे आत्मामें दुःख होता है। तथा इस दुःखका होनाही आत्माका वध है। इस लिए सिद्ध होता है कि रागादिक के द्वारा आत्माका वध होता है।

ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते।
चारित्रापर नामैतद्व्रतं निश्चयतः परम् ॥ ७५८ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इस लिए (यः) जो (मोहकर्मोदयात् ऋते) मोहनीय कर्मके उदयके अभावमें (शुद्धोपयोगः) शुद्धोपयोग होता है (एतत्) यही (निश्चयतः) निश्चयनयसे (चारित्रापरनाम) चारित्र है दूसरा नाम जिसका ऐसा (परं व्रतं) उत्कृष्ट व्रत हैं।

भावार्थः— इस प्रकार पूर्वोक्त कथनसे सिद्ध होता है कि चारित्रमोहके अभावसे जो आत्मामें शुद्धोपयोग होता है उसकोही निश्चयसे व्रत अथवा चारित्र कहते हैं।

चारित्रं निर्जरा हेतु न्र्यायादप्यस्त्यबाधितम्।
सर्वस्वार्थक्रियामर्हन् सार्थनामास्ति दीपवत् ॥ ७५९ ॥

अन्वयार्थ — (चारित्रं निर्जरा हेतुः) वह चारित्र निर्जराका कारण है यह बात (न्यायात् अपि अबाधितं अस्ति) न्यायसेभी अबाधित है कि वह चारित्र (सर्वस्वार्थ क्रियां अर्हन्) अन्वर्थ क्रियामें समर्थ होता हुआ (दीपवत् सार्थनामा अस्ति) दीपककी तरह अन्वर्थ नामधारी है।

भावार्थ.— 'आत्मा येन स्वात्मनि चर्यते तत् चारित्रं' अर्थात् जिस गुणके द्वारा आत्मा आत्मामें लीन होता है उसे चारित्र कहते हैं। और इसकाही यह निरुक्तिकृत अर्थ है कि आत्मा रागद्वेषादिरूप हिंसासे रहित होकर जो आत्मामें लीन होता है उसीको शुद्धोपयोग कहते है। जहापर चारित्रका यह यथार्थ अर्थ प्रगट नहीं होता है अर्थात आत्मामें लीनता सिद्ध नहीं होती ह। वहापर वास्तविक चारित्रभी सिद्ध नहीं होता है। और यह चारित्र अवश्यही निर्जराका हेतु है।

रूढेः शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसंज्ञया।
स्वार्थ-क्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥ ७६० ॥

किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत् ।
नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत् ॥ ७६१ ॥

अन्वयार्थ — (**रूढेः**) यद्यपि लोकरूढिमे (**शुभोपयोगः अपि**) शुभोपयोगभी (**चारित्रसंज्ञया ख्यात**) चारित्र नामसे कहाजाता है परन्तु (**निश्चयात्**) निश्चयनयसे वह चारित्र (**स्वार्थक्रियां अकुर्वाण**) स्वार्थ क्रियाको नहीं करनेसे अर्थात् आत्मामें लीनतारूप अर्थका धारी न होनेसे (**सार्थ नामा न**) अन्वर्थ नामधारी नहीं है (**किन्तु**) परन्तु (**अर्थात्**) वास्तवमें (**प्रत्यनीकवत्**) अशुभोपयोगकी तरह (**तत्**) वह (**बन्धस्य हेतुः स्यात**) बन्धकाही कारण होता है इस लिए (**असौ वरम् न**) यह उत्तम नहीं है क्योंकि (**य**) जो (**अपकारोपकारकृत् न**) अपकार और उपकारका करनेवाला नहीं है (**सः वरं**) वही उत्तम है।

भावार्थः— यद्यपि रूढिसे -व्यवहारनयसे शुभ प्रवृत्तिकोभी चारित्र कहते है । परन्तु वह चारित्र, शुभ प्रवृत्तिमय होनेसे शुभाश्रवकाही कारण है संवर व निर्जराका नहीं । इसलिए वह शुभोपयोगरूप चारित्र निश्चयनयमे चारित्र नहीं कहाजाता है । किंतु अशुभोपयोगकी तरह बन्धकाही कारण माना जाता है । अतः वह उपादेय नहीं है । क्योंकि निश्चयनयसे जो अपकार उपकार व किसीकोभी नहीं करता है वह शुद्धोपयोगही उपादेय माना गया है।

विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात् ।
बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्र संभवात् ॥ ७६२ ॥

अन्वयार्थ — (**एकान्ततः**) नियमसें (**शुद्धात् अन्यत्र बन्धस्य सम्भवात्**) शुद्ध क्रियाको छोडकर शेष क्रियायें बन्धकी ही जनक होती है (**हेतोः**) इस हेतुसे (**विचारसात्**) विचार करनेपर (**अस्य**) इस शुभोपयोगको (**विरुद्धकार्यकरित्वं**) विरूद्ध कार्यकारित्व (**असिद्धं न**) असिद्ध नहीं है।

भावार्थः— विचारकर देखा जाय तो शुभोपयोगमे विरुद्ध कार्यकारित्व--ससारकार्यकारित्व असिद्ध नहीं है क्योंकि शुद्धोपयोगको छोडकर सब क्रियाएँ केवल बन्धकी जनक मानी गई हैं।

नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जराहेतुरंशतः ।
अस्ति नाबन्ध हेतुर्वा शुभोनाप्यशुभावहात् ॥ ७६३ ॥

अन्वयार्थ — (**प्रज्ञापराधत्वात्**) बुद्धिकी मन्दतासे (**न उत्प्रेक्ष्य**) यहभी आशंका नहीं करना चाहिये कि (**अंशतः निर्जराहेतुः**) शुभोपयोग एक देशसे निर्जराका कारण होसकता है कारण (**अशुभा-** दहा) निश्चयनयसे शुभोपयोगभी संसारका कारण होनेसे (बन्धहेतुः न अस्ति) वह निर्जरादिकका हेतु नहीं होसकता है और (**न शुभा अपि**) न वह शुभही कहा जा सकता है।

भावार्थः— शुभोपयोगको निर्जराका कारण नहीं मानना चाहिये कारण शुभोपयोगभी तो बन्धका कारण है, अत. वह केवल व्यवहारसे शुभ माना जाता है क्योंकि वास्तवमें जिसके द्वारा संवर व निर्जरा हो उसकोही शुभ कहते है अतः शुभोपयोगसे जो शुभ बन्ध होता है वहभी बन्ध है इस लिये शुभोपयोगभी अशुभ है शुभ नहीं।

कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत्।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्सैषचारित्रसंज्ञकः ॥ ७६४ ॥

अन्वयार्थ — (**यत्**) जो (**कर्मादानक्रियारोध**) कर्मोंकी आश्रवरूप क्रियाका रुक जाना है वही (**स्वरूपाचरणं**) स्वरूपाचरण है, (**च**) और (**सैष चारित्रसंज्ञक शुद्धोपयोगः धर्मः स्यात्**) वही चारित्र नामधारी है, शुद्धोपयोग है, तथा धर्म है।

भावार्थ.— वास्तवमें कर्मोंके आश्रवके निरोधकोही स्वरूपाचरण, शुद्ध चारित्र, शुद्धोपयोग और धर्म कहते है।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समेत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्कोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥

अन्वयार्थः— (**खलु**) निश्चय करके (**चारित्र धम्मो**) चारित्रकोही धर्म कहते है, और (**जो धम्मो**) जो धर्म है (**सो समोत्ति णिद्दिट्ठो**) उसीको सम कहते है क्योंकि (**मोहक्कोहविहीणो**) मोह और क्रोधसे रहित (**अप्पणो परिणामो धम्मो**) आत्माका परिणामही धर्म है।

भावार्थ— चारित्रकोही धर्म कहते है। कारण कि, धर्म समरूप अवस्थाको कहते है। इसलिए आत्माके जिस परिणाममें मोहके निमित्तसे मूर्च्छा और क्रोधके निमित्तसे चचलता नहीं है उस समरूप परिणामको धर्म कहते हैं।

नमु सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः ।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥ ७६५ ॥

अन्वयार्थ— (ननु) शंकाकारका कहना है कि जब (समस्तैः सद्दर्शनज्ञानचारित्रैः एव) समुदायरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसेही (मोक्षपद्धतिः) मोक्षमार्ग सिद्ध होता है (व्यस्तैः न) भिन्न २ सम्यग्दर्शनादिकके द्वारा मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता है (तत्) तो फिर (चारित्रमात्रया किं) केवल चारित्रमात्रसेही मोक्षमार्गकी सिद्धि कैसे होसकती है ?

भावार्थ — शंकाकारका कहना है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता से ही मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है। इसलिए केवल शुद्ध चारित्रसे वह मोक्षमार्गकी सिद्धि कैसे होसकती है ?

सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रांतर्गतं मिथः ।
त्रयाणामविनाभावादिदं त्रयमखंडितं ॥ ७६६ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है किंतु (सद्दर्शन ज्ञानं) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान (चारित्रांतर्गतं) उस शुद्धोपयोगरूप चारित्रमेंही अन्तर्भूत होजाते है। क्योंकि (मिथः त्रयाणां अविनाभावात्) परस्परमें तीनोंका अविनाभाव सम्बन्ध होनेसे (इद् त्रय) ये तीनों (अखण्डित) अखण्डित रूपसे एकही है।

भावार्थः— शुद्ध चारित्रमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दोनोंका अन्तर्भाव होजाता है। कारण कि तीनोंका परस्पर में अविनाभाव सम्बन्ध है। इसलिए अखण्डरूपसे विवक्षा करनेपर ये तीनों एकही है अर्थात् शुद्ध चारित्ररूपही पडते है।

किंच सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः ।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ ७६७ ॥

अन्वयार्थः— (किञ्च) और दूसरी बात यह है कि (सविचारित्रयोः द्वयोः) ज्ञान तथा चारित्र इन दोनोंका (सद्दर्शनं हेतुः) सम्यग्दर्शन कारण है (यद्वा) अथवा (प्रत्यग्रजन्मनः) आगे होनेवाले ज्ञान और चारित्रमें जो (सम्यग्विशेषणस्य) सम्यक् विशेषण है उसका वह (उच्चैः 'हेतुः') सम्यग्दर्शनही कारण है।

भावार्थ— ज्ञान और चारित्रमें जो सम्यकपना आता है उसका मूल कारण सम्यग्दर्शनही है। क्योंकि सम्यग्दर्शनके विना ज्ञानको मिथ्याज्ञान तथा चारित्रको मिथ्याचारित्र कहते हैं।

अर्थोऽयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानं चारित्रमत्र यत्।
भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वाऽभूतपूर्वकम् ॥ ७६८ ॥

अन्वयार्थः— (अयं अर्थः) उक्त कथनका यह अभिप्राय है कि (अत्र) इस लोकमें (सम्यक्त्वे-सति) सम्यग्दर्शनके होतेही (यत्) जो (भूतपूर्वं ज्ञानं चारित्रं) भूतपूर्व ज्ञान व चारित्र था वह (सम्यक् भवेत्) सम्यक् विशेषण सहित होजाता है अत सम्यग्दर्शन (अभूतपूर्वकं वा सूते) अभूतपूर्व के समानही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको उत्पन्न करता है ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ— उक्त कथनका साराश यह है कि सम्यग्दर्शन, भूतपूर्व ज्ञान और चारित्रके सम्यक् विशेषणका कारण होनेसे अभूतपूर्व (पहले कभी न होनेवाले) सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रका जनक कहलाता है।

शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिर्ज्ञानातिशायिनी।
साभवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धोभावोऽथवाऽपिच ॥ ७६९ ॥

अन्वयार्थः— (या) जो (ज्ञानातिशायिनी) ज्ञानमें अतिशय लानेवाली (शुद्धोपलब्धिशक्तिः-लब्धिः) शुद्धोपलब्धिकी शक्तिरूप लब्धि है (सा) वह (सम्यक्त्वे सति) सम्यक्त्वके होनेपरही (भवेत) होती है (अथवा) अथवा (शुद्धःभावःअपि च) सम्पूर्ण शुद्धभावरूप जो चारित्र है वहभी सम्यक्त्वके होनेपरही होता है

भावार्थः— जिस ज्ञानविशेषके द्वारा शुद्ध आत्माका उपयोग होता है अर्थात् जो शुद्धोपलब्धिरूप सम्यग्ज्ञान है वह और जिस पवित्र चारित्रको शुद्धभाव शब्दसे कहते है वह सम्यक्चारित्र केवल सम्यग्दर्शनके होनेपरही होता है। इसलिए सम्यग्दर्शनको अभूतपूर्व के समान सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका जनक कहा है।

यत्पुनर्द्रव्यचारित्र श्रुतज्ञानं विनापिदृक्।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्तिचेत्कर्मबन्धकृत् ॥ ७७० ॥

अन्वयार्थः— (पुनः) और (यत्) जो (दृक् विना) सम्यग्दर्शनके विना (द्रव्यचारित्रं) द्रव्य

चारित्र (अपि) तथा (श्रुतज्ञानं) श्रुतज्ञान होता है (तत्) वह (न ज्ञानं) न सम्यग्ज्ञान है और (न चारित्रं) न सम्यक्चारित्र है (अस्ति चेत्) यदि है तो वह ज्ञान तथा चारित्र केवल (कर्मबन्धकृत्) कर्मबन्धको ही करनेवाला है।

भावार्थः— सम्यग्दर्शनके विना द्रव्यलिंगी मुनि तथा श्रावकोंका जो ज्ञान व चारित्र है वह शुद्धोपलब्धि को विषय न करनेके कारण वास्तवमें न ज्ञान है न चारित्र है किन्तु पर वस्तुमें इष्टानिष्ट कल्पना का जनक होनेसे केवल बन्धकाही कारण है।

तेषामन्यतमोद्देशो नालं दोषाय जातुचित्।
मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ ७७१ ॥

अन्वयार्थः— (अपि) तथा (मोक्षमार्गैकसाध्यस्य) मोक्षमार्ग रूप एक साध्यकेही (साधकानां स्मृते) साधक होनेसे (तेषां अन्यतमोद्देश.) उन तीनोंमेंसे अपेक्षा पूर्वक किसी एकका भी कथन (जातुचित्) कभीभी (दोषाय अलं न) दोषके लिए समर्थ नहीं है।

भावार्थः— यद्यपि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनोंही मोक्षके साधक है तथापि उन तीनोंमेंसे अपेक्षापूर्वक किसी एककोभी–सम्यग्दर्शनकोभी मोक्षका साधक कहना दोषाधायक नहीं होता है।

बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः।
रागांशैर्बन्धएव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥ ७७२ ॥

अन्वयार्थ— इस प्रकार (प्रश्नकोविदैः) प्रश्न करनेमें चतुर जिज्ञासुओंको (समासात्) सक्षेपसे (बन्धः च मोक्षः) बन्ध और मोक्ष (ज्ञातव्यः) समझ लेना चाहिये कि (रागांशैः) जितने रागके अंश है उनसे (बन्ध एव स्यात्) बन्धही होता है तथा (अरागांशैः कदाचन न) जितने अरागके अश है उनसे कभीभी बन्ध नहीं होता है।

भावार्थः— संक्षपसे बन्ध और मोक्षका इतनाही स्वरूप है कि जितने अंशोंमें राग है उतने अंशोंसे बन्ध होता है। तथा जितने अंशोंमें रागका अभाव होता हैं उतने अंशोंमें बन्धकाभी अभाव होता है। और बन्धके अभावकोही मोक्ष कहते है।

२९२-२९४

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ ७७३ ॥ पुरुषार्थ.

अन्वयार्थ — (**येन अंशेन**) जिस अंशसे (**सुदृष्टिः**) सम्यग्दर्शन है (**तेन अंशेन**) उस अंशसे (**अस्य बन्धनं न अस्ति**) इस सम्यग्दृष्टिके बन्ध नहीं होता है (**तु**) और (**येन अंशेन**) जिस अंशसे (**राग**) राग है (**तेन अंशेन**) उस अंशसे (**अस्य बन्धनं भवति**) इस सम्यग्दृष्टिके बन्ध होता है।

भावार्थः— जितने अंशमें राग होता है उतने अंशमें बन्ध और जितने अंशमें सम्यक्त्व होता है उतने अंशमें बन्धका अभाव होता है।

उक्तो धर्मस्वरूपोऽपि प्रसंगात्संगतोंऽशतः ।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥ ७७४ ॥

अन्वयार्थः— (**प्रसंगात्**) प्रसङ्गानुसार (**अंशतः**) संक्षेपसे (**संगतः**) युक्तियुक्त (**धर्मस्वरूप अपि**) धर्मका स्वरूपभी (**उक्त**) कहा (**वा**) और (**विस्तरात**) विस्तारपूर्वक (**त**) उस धर्मके स्वरूपका वर्णन (**कविः**) कवि (**लब्धावकाश.**) मौका पाकर के आगे (**करिष्यति**) करेंगे।

भावार्थः— यहापर प्रकरणवश धर्मके स्वरूपकाभी संक्षेपमें वर्णन करादिया है । और यदि मौका मिला तो आगे भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा।

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्वार्थ दर्शिनी ।
ख्याताऽप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥ ७७५ ॥

अन्वयार्थः— (**देवे**) देवमें (**गुरौ**) गुरुमें (**तथा**) और (**धर्मे**) धर्ममें (**तत्त्वार्थदर्शिनी दृष्टि**) समीचीन श्रद्धान करनेवाली जो दृष्टि है वह (**अमूढदृष्टिः ख्याता**) अमूढदृष्टि कहलाती है (**अपि**) और जो (**अन्यथा**) असमीचीन श्रद्धान करनेवाली दृष्टि है वह (**मूढदृष्टिता स्यात्**) मूढदृष्टि कहलाती है।

भावार्थः— देव, गुरु तथा धर्मके विषयमें यथार्थ श्रद्धान करनेवाली दृष्टिको अमूढ दृष्टिकहते है। और इससे विपरीत दृष्टिको मूढदृष्टि कहते है।

सम्यक्त्वस्य गुणोऽप्येष नालं दोषाय लक्षितः ।
सम्यग्दृष्टिर्यतोऽवश्यं तथा स्यान्न तथेतरः ॥ ७७६ ॥

अन्वयार्थः— (**सम्यक्त्वस्य**) सम्यक्त्वका (**एषः**) यह (**लक्षितः गुण. अपि**) लक्षित किया हुआ अमूढदृष्टि गुणभी (**दोषाय अलं न**) दोषके लिये समर्थ नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**सम्यग्दृष्टिः**) सम्यग्दृष्टि जीव (**अवश्यं तथा स्यात्**) अवश्यही अमूढदृष्टि रखनेवाला होता है और (**इतरः**) मिथ्या दृष्टि जीव (**तथा न**) सम्यग्दृष्टिकी तरह अमूढदृष्टि रखनेवाला नहीं होता है ।

भावार्थः— जैसी, सम्यग्दृष्टि जीवकी देवादिकके विषयमें मूढता रहित दृष्टि रहती है वैसी मिथ्यादृष्टि जीवोंकी नहीं रहती है । इसलिए इसको भी (अमूढदृष्टिको भी) सम्यग्दर्शनका गुण माननेमें कोई दोष नहीं है ।

उपबृंहणनामाऽस्ति गुणः सम्यक्दृगात्मनः ।
लक्षणादात्मशक्तिनामवश्यं बृंहणादिह ॥ ७७७ ॥

अन्वयार्थः— (**इह**) इस लोकमें (**आत्मशक्तीनां अवश्य बृंहणात्**) आत्माकी शक्तियोंके अवश्य बढानेरूप (**लक्षणात्**) लक्षणसे (**सम्यग्दृगात्मनः**) सम्यग्दृष्टि जीवका (**उपबृंहणनामा गुणः अस्ति**) उपबृंहण नामकाभी एक गुण है ।

भावार्थः— जिस गुणके द्वारा आत्माकी शक्तियोंकी वृद्धि होती है उसको सम्यग्दृष्टिका उपबृंहण नामक गुण कहते है ।

आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम् ।
अर्थादृग्ज्ञप्तिचारित्रभावादस्खलितं हि तत ॥ ७७८ ॥

अन्वयार्थ.—(**आत्मशुद्धेः अदौर्बल्यकरण च**) आत्माकी शुद्धिमें कमी दुर्बलता नहीं आने देनाही (**उपबृंहणं**) उपबृंहण अंग कहलाता है (**अर्थात 'यत्' दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावात् अस्खलितं हि**

१ मु. पं. में असंवलित पाठभी छपा है ।

तत् भवति) अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप अपने भावोंसे जो च्युत नहीं होता है वही उपबृंहण अंग कहलाता है।

भावार्थः— अपने शुद्धिको संभालना अर्थात् अपने रत्नत्रयसे च्युत नहीं होनेको उपबृंहण अग कहते है।

जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं प्रेरयन्निव।
तथापि यत्नवान्नात्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥ ७७९ ॥ ×

नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोपि प्रमादवान्।
निष्प्रमादतयाऽऽत्मानमाददानः समादरात् ॥ ७८० ॥

अन्वयार्थः— (निष्प्रमादतया समादरात् आत्मानं आददानः) प्रमाद रहितपनेसे आदर पूर्वक आत्माका ग्रहण करनेवाला (अयं) उपबृंहण अंगका धारी (शुद्धोपलब्धौ लेशतः अपि) अपने शुद्ध स्वरूपकी उपलब्धिमें लेशमात्रसे (प्रमादवान् न स्यात्) प्रमादी नहीं होता है।

भावार्थ.— उपबृंहण अंगके धारक सम्यग्दृष्टिको शुद्ध स्वरूपकी उपलब्धि होती है। इसलिए वह शुद्धोपलब्धिके विषयमें प्रमादी नहीं होता है।

यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यस्येदपि तद्बहिः।
सत्क्रियां कांचिदप्यर्थात्तत्तत्साध्योपयोगिनीम् ॥ ७८१ ॥

अन्वयार्थः— (यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थं) अथवा उपबृंहण अंगधारक शुद्धोपलब्धिके लिये (तत् बहिः अपि अभ्यस्येत) उन बाह्य शुभ क्रियाओंकाभी अभ्यास करता है (अर्थात) अर्थात (तत्तत्साध्योपयोगिनीं कांचित सत्क्रियां अपि ' अभ्यस्येत ') सम्यग्दृष्टिके लिये शुद्धोपयोगको साध्य करनेके लिये उपयोगमें आनेवाली किन्हीं शुभक्रियाओंका भी वह अभ्यास करे।

भावार्थः— अथवा शुद्धोपयोगकी प्राप्तिके लिये, शुद्धोपयोगकी सहायक, बाह्य शुभ क्रियाओंकाभी वह

× इस श्लोकका अन्वय और अर्थ परिशिष्टमें देखिये।

अभ्यास करे । सारांश यह है कि अशुभका त्याग करके सम्यग्दृष्टि शुभ क्रियाओंमें तत्पर होता है और शुभ क्रियाओंकोभी उपादेय मानकर शुद्ध परिणतिमें प्रवेश करता है । अतः शुद्धोपयोगकी बाधक शुभपरिणतिमें भी प्रकृतिका उपदेश ग्रन्थकारने किया है ।

रसेन्द्र सेवमानोऽपि कोऽपि पथ्यं नवाचरेत् ।
आत्मनोऽनुल्लाघतामुज्झन्नुज्झन्नुलाघतामपि ॥ ७८२ ॥

अन्वयार्थः— (रसेन्द्रं सेवमानः अपि कः अपि) पारेके भस्मको सेवन करनेवाला जो कोई एखादा व्यक्ति है वह यदि (पथ्यं न वा आचरेत्) पथ्य सेवन नहीं करे तो (आत्मनः अनुल्लाघतां उज्झन्) पारेके सेवनसे रोगके नाशको करता हुआ वह (आत्मन उल्लाघतां अपि उज्झन् 'स्यात') अपने स्वात्माकाभी नाश करनेवाला होजावेगा ।

भावार्थ·— जैसे पारेके सेवन करनेवालोंको पथ्याचरण आवश्यक है क्योंकि पारेको सेवन करके यदि पथ्यका पालन नहीं किया जावेगा तो बीमारीके साथ २ स्वास्थ्यका भी नाश अवश्यंभावी है वैसेही शुभ परिणतिकी साधक शुभ क्रियाओंका पालनाभी शुद्धोपलब्धिमें सहायक होनेसे आवश्यक है ।

यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपबृंहणम ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसंभवात् ॥ ७८३ ॥

अन्वयार्थः— (यद्वा) अथवा (ऊर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसंभवात्) ऊपर २ होनेवाली गुणश्रेणि निर्जरामें असंख्यात गुणी निर्जरा प्रति समय होती रहती है अत. (तत्र) सम्यग्दृष्टिके (आयासात् विना) विना किसी प्रयत्नकेही (उपबृंहणं सिद्ध) उपबृंहण अग सिद्ध होजाता है ।

भावार्थः— अथवा सम्यग्दृष्टिके गुणश्रेणि निर्जराके समय निर्जरा होती रहती है । इसलिये अवश्यही उक्त उपबृंहणका लक्षण घट जाता है ।

अवश्यं भाविनी चात्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणां ।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥ ७८४ ॥

न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षतिः ।
वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धेर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥ ७८५ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) सम्यग्दृष्टिके गुणश्रेणी निर्जरा सम्बन्धी स्थानोंमें (कृत्स्नकर्मणां निर्जरा च) सम्पूर्ण कर्मोंकी निर्जराभी (प्रति सूक्ष्मक्षणं यावत) प्रति समय (असंख्येयगुणक्रमात्) असंख्यात गुणी क्रमसे (अवश्यं भाविनी) अवश्यही होती है इसलिए (वै) निश्चयसे (न्यायात् एतत् आयात) न्यायसे यह बात सिद्ध हुई कि (यावतांशेन) जितने अंशसे (तत्क्षतिः) कर्मोंका क्षय होता है उतने अंशसे (शुद्धोपयोगस्य वृद्धिः) शुद्धोपयोगकी वृद्धि होती है और (वृद्धेः) शुद्धोपयोगकी वृद्धि होनेपर (पुनः पुनः) उत्तरोत्तर (वृद्धिः) विशुद्धिकी वृद्धि होती जाती है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिके उन गुणश्रेणी निर्जराके स्थानोंमें प्रतिसमय सम्पूर्ण कर्मोंकी उत्तरोत्तर असख्यात गुणी निर्जरा नियमसे होती है । इसलिए जितने २ अंशोंमें कर्मोंकी निर्जरा होती जाती है उतने २ अंशोंमें उत्तरोत्तर विशुद्धिके वढनेसे उसके उपबृंहण गुणकी भी वृद्धि होती जाती है ।

यथा यथा विशुद्धेः स्याद्वृद्धिरन्तःप्रकाशिनी ।
तथा तथा हृषीकानामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥ ७८६ ॥

अन्वयार्थः— (यथा यथा) जैसे २ (विशुद्धेः) विशुद्धिकी (अन्तःप्रकाशिनी) अन्तरङ्गमें प्रकाशमान (वृद्धिः स्यात्) वृद्धि होती जाती है (तथा तथा) वैसें २ ही (हृषीकाणां) इन्द्रियोंके (विषयेषु अपि) विषयोंमेंभी (उपेक्षा) उपेक्षा बुद्धि होती जाती है ।

भावार्थः— उक्त क्रमके अनुसार जैसे २ स्वात्मामें लीनतारूप विशुद्धि चढती जाती है । वैसे २ ही इंद्रियोंके विषयोंमेंभी परम उपेक्षा होती जाती है ।

ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् ।
किन्तु संवर्धयेन्नूनं प्रयत्नादपि दृष्टिमान् ॥ ७८७ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इस लिए (सः) वह (दृष्टिमान्) सम्यग्दृष्टि जीव (भूम्नि क्रियाकाण्डे)

बडे भारी क्रियाकाण्डमें भी (आत्मशक्ति) अपनी शक्तिको (न लोपयेत्) नहीं छिपावे (किन्तु) किंतु (नून) निश्चयसे (प्रयत्नात् अपि) पुरुषार्थसे भी अपनी शक्तिको (संवर्धयेत) बढावे।

भावार्थः— इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवको सत्क्रियाओके करनेमें अपनी शक्तिको नहीं छिपाना चाहिये। किंतु प्रयत्नसे बढानाही चाहिये।

उपबृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः।
गणितो गणानामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥ ७८८ ॥

अन्वयार्थः— इस प्रकार (सद्दर्शनस्य) सम्यग्दर्शनका (यः) जो (उपबृंहणनामा अपि गुणः) उपबृंहण नामकाभी गुण है वहभी (गुणानां) गुणोंकी (गणनामध्ये गणितः) गणनामें गिना जाकर (अगुणाय न च) किसी प्रकारसे दोषाधायक नहीं कहाजासकता है।

भावार्थः— आत्माकी विशुद्धिको बढानेके कारण सम्यग्दृष्टिका उपबृंहण नामका गुणभी यदि सम्यक्त्वके गुणोंकी गणनामे गिना जाय तो वहभी किसी प्रकारसे दोषाधायक सिद्ध नहीं होसकता है।

सुस्थितीकरणं नाम गुणः सम्यग्दृगात्मनः।
धर्माच्युतस्य धर्मे तत् नाऽधर्मेऽधर्मणः क्षतेः ॥ ७८९ ॥

अन्वयार्थः— (धर्मात च्युतस्य) धर्मसे च्युत व्यक्तिको (धर्मे सुस्थितीकरणं नाम सम्यग्दृगात्मनः गुणः) धर्ममें स्थिर करदेनाही सम्यग्दृष्टिका स्थितीकरण अंग-गुण कहलाता है किंतु (अधर्मणः क्षते. अधर्मे तत न) अधर्मके नाश होनेसे जो किसीको फिरसे उसी अधर्ममे स्थिर करना है वह स्थितीकरण नहीं कहलाता है।

भावार्थ.— सुधर्म से च्युत व्यक्ति को समझाकर--उपदेश देकर फिर से जो सुधर्म में स्थिर करना है उसेही स्थितीकरण अग कहते है। किन्तु कुधर्म से च्युत व्यक्तिको फिरसे उसी कुधर्ममें स्थिर करनेको स्थितीकरण नहीं कहते है।

न प्रमाणीकृतं वृद्धैर्धर्मायाधर्मसेवनम् ।
भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ॥ ७९० ॥

अन्वयार्थ — यद्यपि (**केचित्**) कोई २ (**मन्दाः**) अल्पज्ञानी (**भाविधर्माशया**) भविष्यमें धर्मकी आशासे (**सावद्यवादिनः**) अधर्म सेवनको धर्म मानते परन्तु (**वृद्धैः**) वृद्ध पुरुषोंने (**धर्माय**) धर्म के लिये (**अधर्मसेवनम्**) अधर्मका सेवन करना (**न प्रमाणीकृतं**) प्रमाणिक नहीं माना है ।

भावार्थः— यद्यपि कोई २ अल्पज्ञानी पुरुष आगामी कालमें धर्मकी आशासे सावद्य क्रियायोंको भी धर्म कहते है । परन्तु अनुभवी तत्वज्ञानियोंने अधर्मसेवनसे धर्म होता है इसको प्रमाणिक नहीं माना है ।

परम्परेति पक्षस्य नावकाशोऽत्र लेशतः ।
मूर्खादन्यत्र नो मोहाच्छीतार्थं वन्हिमाविशेत् ॥ ७९१ ॥

अन्वयार्थ— (**परम्परा इति पक्षस्य**) अधर्म सेवनके परम्परासे धर्मका कारण होता है इस पक्षको भी (**अत्र**) इस धर्मके विषयमें (**लेशतः अवकाशः न**) लेशमात्र अवकाश नहीं है अर्थात् यह पक्षभी किसी तरह न्यायसङ्गत नहीं है क्योंकि (**मूर्खात् अन्यत्र**) अज्ञानीको छोडकर कोईभी प्राणी (**मोहात्**) मोहके कारण (**शीतार्थं**) शीतके लिये (**वन्हि न आविशेत्**) अग्निमें प्रवेश नहीं करेगा ?

भावार्थः— यदि कदाचित कोई यह कहे कि परम्परासे अधर्मके सेवनसे धर्मका सेवन होसकता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है । कारण कि जैसे शांतिके लिए अग्निमें प्रवेश नहीं किया जाता है। वैसेही धर्मके लिए अधर्मका सेवनभी नहीं किया जाता है ।

नैतद्धर्मस्य प्राग्रूपं प्रागधर्मस्य सेवनम् ।
व्याप्तेरपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥ ७९२ ॥

अन्वयार्थ— (**प्राक् अधर्मस्य सेवन**) पहले अधर्मका सेवन करना (**एतत्**) यह (**धर्मस्य प्राक् रूपं न**) धर्मका पूर्वरूप नहीं होसकता है क्योंकि ऐसा माननेपर (**व्याप्तेः अपक्षधर्मत्वात्**)

पक्षधर्मता न रहनेसे व्याप्ति नहीं बन सकती है (वा) तथा (हेतोः व्यभिचारतः) उसकी सिद्धिके लिए जो हेतु दिया जाता है वह व्यभिचारी है।

प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः ।
धर्मो वा स्यादधर्मो वाऽप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥ ७९३ ॥

अन्वयार्थः— (प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावत्) प्रत्येक क्षणमें (कर्मोदयात् हेतोः) कर्मोदयके कारण (स्वत) स्वयं (धर्मः अपि वा अधर्मः वा) धर्म और अधर्म ये दोनोंही होते रहते है (एषः सर्वत्र निश्चयः) यह सर्वत्र निश्चित है ।

भावार्थः— धर्म और अधर्मके विषयमें यह सिद्धान्त निश्चित है कि जबतक इस जीवके ससार अवस्था हैं तबतक स्वयमेवही प्रतिसमय शुभाशुभ कर्मोंके उदयानुसार धर्म तथा अधर्म होते रहते है। इसलिये अधर्मसेवन धर्म-प्राप्तिका पूर्वरूप होसकता है यह नहीं कहना चाहिये। यहापर कषायोंके तीव्रोदयसे–संक्लेशसे होनेवाली अशुभ क्रियाको अधर्म कहा है। और कषायोंके मन्द उदयसे–विशुद्धिसे होनेवाली शुभ क्रियाको धर्म कहा है।

तत्स्थितीकरणं द्वेधाऽध्यक्षात्स्वापरभेदतः ।
स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात्परत्वे तु परस्य तत् ॥ ७९४ ॥

अन्वयार्थः— (अध्यक्षात्) प्रत्यक्षसे (स्वापरभेदतः) स्व और परके भेदसे (तत्) वह (स्थितीकरणं) स्थितीकरण गुण (द्वेधा) दोप्रकार है (अर्थात्) अर्थात् (स्वात्मतत्त्वे स्वात्मनः) अपनी आत्मामें आत्माको स्थित करना स्वस्थितीकरण है (तु) तथा जो (परस्य परत्वे) दूसरेकी आत्मामें उसकी आत्माको स्थित करना है (तत्) वह परस्थितीकरण है।

भावार्थः— वह स्थितीकरण स्व और परके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे जो अपनी भूलको अपने आप परिणामोंकी विशुद्धिसे सुधारता है उसको स्वस्थितीकरण कहते है। तथा अपनेसे भिन्न व्यक्तिको सम्यग्दर्शन व चारित्रसे च्युत देखकर जो उसे उपदेश देकरके शंका समाधान पूर्वक फिरसे उसे सम्यग्दर्शन व चारित्रमें स्थिर करदेना है उसको परस्थितीकरण कहते है।

स्वस्थितीकरणका स्वरूप ।

तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः ।
भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥ ७९५ ॥
अयं भावः क्वचिद्दैवाद्दर्शनात्स पतत्यधः ।
व्रजत्यूर्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥ ७९६ ॥
अथ क्वचिद्यथा हेतुदर्शनादपतन्नपि ।
भावशुद्धिमधोऽधोंशैरूर्ध्वमूर्ध्वं प्ररोहति ॥ ७९७ ॥
क्वचिद्बाहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुंचति ।
न मुंचति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराश्रयेत् ॥ ७९८ ॥
[illegible]द्वा बाहिः क्रियाचारे यथावस्थं स्थितेपि च ।
कदाचिद्दीप्यमानोन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्तते ॥ ७९९ ॥
नासंभवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः ।
अस्ति तरतमस्वांशैर्गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥ ८०० ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) स्थितीकरणके उन दोनों भेदोमेंसे जो (मोहोदयोद्रेकात्) मोहके उदयकी उग्रतासे (आत्मस्थिते.) अपनी स्थितिसे (च्युतस्य स्वस्य चितः , च्युत हुए अपनी आत्माको (भूयः) फिरसे (आत्मनि) अपनी आत्मामें (संस्थापनं) स्थापित करना है वह (स्थितीकरणं) स्थितीकरण है ।

(अयं भावः) सारांश यह है कि (क्वचित्) कहीं २ पर (दैवात्) कर्मोदयसे (सः) वह सम्यग्दृष्टि जीव (दर्शनात् अधः पतति) सम्यग्दर्शनसे नीचे गिर जाता है (पुनः) और कभी (दैवात्) मोहके उपशमादिकसे (दर्शनं सम्यक् आरुह्य) सम्यग्दर्शनको पाकर (ऊर्ध्वं व्रजति) ऊपर चढ जाता है ।

(अथ) अथवा (क्वचित) कहीं २ पर (यथा हेतुदर्शनात्) जैसी कारण सामग्री मिलती जाती है उसके अनुसार दर्शनसे (अधोऽधोंऽशैः) नीचे २ के अंशोंके द्वारा (भावशुद्धि) भावशुद्धिसे (अपतन् अपि) च्युत न होकरकेभी (ऊर्ध्वं ऊर्ध्वं प्ररोहति) केवल ऊपर २ही चढता जाता है ।

(च) और (क्वचित) कहीं २ पर (बहिः) बहिरंग (स्वीकृतं शुभाचारं अपि) स्वीकृत शुभाचारोंकोभी (मुञ्चति) छोड देता है तथा (वै) निश्चयसे (मुक्त्वा) शुभाचारोंको छोडकरके (पुनः आश्रयेत्) फिरसे उनको ग्रहण करलेता है ।

(यद्वा) अथवा (बहि क्रियाचारे) बाह्य क्रियाचारके (यथावस्थं स्थिते च अपि) तदवस्थ स्थित रहनेपरभी (कदाचित्) कभी २ (अन्तर्भावैः दीप्यमानः भूत्वा च) अन्तरंग भावोंसे देदीप्यमान होकरके (वर्तते) रहता है ।

(इदं असंभवं न) यह कथन असंभव नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (इह) इन सम्यग्दृष्टिकी अवस्थाओंमें जो (चारित्रावरणोदयः) चारित्रमोहनीय कर्मका उदय है उसके (तरतमस्वांशैः) तरतमरूप अंशोंसे वह (निम्नोन्नतां गच्छन् अस्ति) हीनाधिक अवस्थाको प्राप्त होता रहता है ।

भावार्थः— उक्त कथनका खुलासा इस प्रकार है कि मोहके उदयसे जो विकार होते है उनको अपनी आत्मासे हटाकर फिरसे अपनी आत्माके गुणोंमें अपनी आत्माके स्थित करनेको स्वास्थतीकरण कहते है ।

साराश यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव स्वयंही दैवयोगसे मिथ्यात्वका उदय आनेसे अपने सम्यक्त्वसे च्युत हो जाता है । और फिर स्वयं दैवयोगसे सम्यक्त्वको प्राप्त करके उन्नत अवस्थाको प्राप्त होजाता है ।

इस प्रकार जो पतनपूर्वक फिरसे स्वयं सम्यक्त्वमे स्थित होता है उसेभी स्वस्थितीकरण कहते हैं ।

अथवा सम्यक्त्व तथा चारित्रसे च्युत न होनेके साथ २ जो उन दोनोंके विषयमें उच्चैस्त्वको प्राप्त करना है उसकोभी स्वास्थितीकरण कहते है ।

अथवा वारंवार जो विशुद्धि और संक्लेशकी वृद्धिसे शुभाचारोंका ग्रहण और त्याग होता रहता है उनमेंसे प्रमादवश जिनका त्याग करदिया था ऐसे शुभाचारोंके फिरसे ग्रहण करनेको स्वास्थितीकरण कहते है ।

इसतरह जो सम्यग्दृष्टिका, चारित्रसे च्युत होकर फिरसे स्वयं उसी चारित्रमें स्थिर होना बताया है वह असंभव नहीं है। कारण कि चारित्रमोहके उदयके तारतम्यसे उसके चारित्रगुणमेंभी सदैव हिनाधिकपना होता रहता है।

अत्राभिप्रेतमेवैतत्स्वास्थितीकरणं स्वतः।
न्यायात्कुतश्चिदत्रापि हेतुस्तत्रानवस्थितिः ॥ ८०१ ॥

अन्वयार्थः—(अत्र) इस स्वस्थितीकरणके विषयमें (एतत् एव अभिप्रेतं) इतनाही अभिप्राय है कि (स्वस्थितीकरण स्वतः) स्वस्थितीकरण स्वयंमेवही होता है, (अत्रापि कुतश्चित् न्यायात् हेतुः) यदि स्वस्थितीकरणके विषयमें भी न्यायानुसार कोई न कोई कारण होता है ऐसा मानेंगे तो (तत्र अनवस्थितिः) उस कारणके लिए कारण और उस कारणके लिएभी कारणकी कल्पना करते जानेसे अनवस्था नामके दोषका प्रसङ्ग आवेगा। इसलिए स्वस्थितीकरण स्वतःही होता है यही मानना ठीक है।

परस्थितीकरणका स्वरूप।

सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात्।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥ ८०२ ॥

अन्वयार्थ.— (तत्र) उन दोनों स्थितीकरणोंमें (स्वपदात्) अपने पदसे (भ्रष्टानां परेषा) भ्रष्ट हुए अन्य जीवोंको जो (सदनुग्रहात्) उत्तम दया भावसे (तत्पदे) उनके पदमें (पुनः) फिरसे (स्थापनं) स्थापित करना है वह (सुस्थितीकरण नाम) परस्थितीकरण कहलाता है।

भावार्थ.— अपने पदसे भ्रष्ट हुए अन्य मुनि अथवा श्रावकोंको जो धार्मिक भावसे उनके पदमें फिरसे स्थिर करना है उसको परस्थितीकरण कहते हैं।

धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे।
नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ॥ ८०४ ॥

अन्वयार्थ — (धर्मादेशोपदेशाभ्यां) धर्मके आदेश और उपदेशके द्वाराही (परे) दूसरे जीवोंपर (अनुग्रहः कर्तव्यः)अनुग्रह करना चाहिये किंतु (आत्मव्रतं विहाय) अपने व्रतको छोडकरके

(पररक्षणे तत्परः न अस्तु) दूसरे जीवोंकी रक्षा करनेमें तत्पर नहीं होना चाहिये ।

भावार्थ — आत्मव्रतको नहीं छोडकरही धर्मके आदेश और उपदेशके द्वारा परस्थितीकरण करना चाहिये । किंतु आत्मव्रतको छोडकर परस्थितीकरण नहीं करना चाहिये ।

उक्तं च ।

आदाहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठुकादव्वं ॥

अन्वयार्थः— (आदहिदं कादव्वं) पहले आत्महित करना चाहिये और (जइ सक्कइ) यदि शक्य हो तो (परहिदं च कादव्वं) परहितभी करना चाहिये किंतु (आदहिदपरहिदादो) आत्महित तथा परहित इन दोनोंमेंसे (आदहिद सुट्ठुकादव्वं) आत्महितही भलेप्रकार करना चाहिये ।

भावार्थः— आगममें कहा है कि सदैव आत्मकल्याणही करना चाहिये । और आत्मकल्याण करनेके साथ २ यदि शक्य हो तो परहितभी करना चाहिये । तथा यदि ऐसा समय उपस्थित हो कि दोनों हितोंमेंसे केवल कोई एक हितही बनसकता है तो ऐसी परिस्थितिमें आत्महितही करना चाहिये कारण कि परहितभी अपने हित के लिये किया जाता है । इसलिये जिस परहितके द्वारा अपने सम्यक्त्व तथा चारित्रमें बाधा आती हो ऐसे परहितको भी नहीं करना चाहिये ।

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः ।
निर्जराया गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः ॥ ८०५ ॥ १५८०

अन्वयार्थः— (गुणश्रेणौ निर्जरायां प्रसिद्धः) गुणश्रेणी निर्जरामें प्रसिद्ध (सुदृगात्मनः) सम्यग्दृष्टिका (सुस्थितीकरणं अपि गुणः) स्थितीकरण नामका भी गुण (अत्र) इस प्रकरणमें (दिङ्-मात्रतः उक्तः) संक्षेपसे कहा ।

भावार्थः— गुणश्रेणी निर्जराके लिए कारणभूत जो सम्यग्दृष्टिका स्थितीकरण नामका गुण है उसका भी यहांपर प्रकरणानुसार सक्षेपसे वर्णन किया ।

अब आगे वात्सल्य नाम के गुण का लक्षणपूर्वक वर्णन करते हैं।

वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु।
संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥ ८०६ ॥

अन्वयार्थः— (स्वामिकार्ये सुभृत्यवत्) स्वामिके कार्यमें उत्तम सेवककी तरह (सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु) सिद्ध प्रतिमा, जिनबिंब, जिनमंदिर (चतुर्विधे संघे) चार प्रकारके संघमें और (शास्त्रे) शास्त्रमें जो (दासत्व) दासत्वभाव रखना है वही (वात्सल्य नाम) सम्यग्दृष्टिका वात्सल्य नामका अंग- गुण है।

भावार्थः— जैसे कोई योग्य सेवक अपने स्वामीकी सेवा करता है। वैसेही अर्हंत व सिद्धकी प्रतिमाओंकी, मंदिरकी, चार प्रकारके संघकी, और शास्त्रकी भक्तिपूर्वक सेवा करनेको वात्सल्य अंग कहते हैं।

अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान्।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥ ८०७ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात) अर्थात् (सः दृष्टिमान) वह वात्सल्य गुणका धारी सम्यग्दृष्टि जीव (उद्दिष्टेषु) उक्त सिद्ध प्रतिमा आदिमेंसे (अन्यतमस्य) किसी एकके ऊपर (घोरोपसर्गेषु सत्सु) घोर उपसर्ग के आनेपर (उच्चैः) अच्छी तरह से (तदत्यये) उसके दूर करनेके लिये (तत्परः स्यात्) तत्पर रहता है।

भावार्थः— उक्त कथनका यह अभिप्राय है कि जिनबिंब, जिनमंदिर, चतुर्विध संघ व शास्त्रके ऊपर उपसर्गादिकके उपस्थित होनेपर वह वात्सल्य अंगका पालन करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव उसके दूर करनेके लिये पूरा प्रयत्न करता है।

यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकं।
तावद्द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥ ८०८ ॥

---

१ 'तद्वान्' ऐसा पाठ हो तो बहुत ठीक अर्थ होसकता है—जैसे कि 'तद्वान्' अर्थात जो वात्सल्य गुणवाला है वह अपने सामर्थ्यके अनुसार व अपने पास मंत्र तलवार तथा धन है तबतक जिनबिंबादिकके उपसर्गको नहीं सह सकता है।

अन्वयार्थः— (**यद्वा**) अथवा (**आत्मसामर्थ्यं नहि**) अपनेमें सामर्थ्य तो नहीं है किन्तु (**यावत् मन्त्रासिकोशकं**) जबतक मन्त्र, तलवार और धन है (**तावत्**) तबतक (**सः**) वह सम्यग्दृष्टि (**तद्बाधां**) जिनबिम्बादिकके उपसर्गको (**द्रष्टुं च श्रोतु न च सहते**) देख तथा सुन नहीं सकता है।

भावार्थ— अपनी सामर्थ्य और मन्त्रादिक शक्तिके सद्भावमें वात्सल्य गुणवाला सम्यग्दृष्टि जिनबिम्बादिकके उपसर्ग को देख व सुन नहीं सकता है।

तद् द्विधाऽथच वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात् ।
प्रधानं स्वात्मसम्बन्धि गुणो यावत्परात्मनि ॥ ८०९ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ**) तथा (**तत् वात्सल्य च**) वह वात्सल्य अंगभी (**स्वपर गोचरात् भेदात्**) स्व और परके विषयके भेदसे (**द्विधा**) दो प्रकारका है उनमेंसे जो (**स्वात्मसम्बन्धि**) अपनी आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाला वात्सल्य है वह (**प्रधानं**) प्रधान है तथा (**यावत् परात्मनि**) सम्पूर्ण परआतमाओंसे सम्बन्ध रखनेवाला जो वात्सल्य है वह (**गुणः**) गौण है।

भावार्थ— स्थितीकरण अंग के समान वात्सल्य अंग भी स्व और परके विषयके भेदसे दो प्रकारका है। उन दोनोंमेंसे स्वात्मसम्बन्धि वात्सल्य प्रधान है। तथा परात्मसम्बन्धी वात्सल्य गौण है।

परीषहोपसर्गाद्यैः पीडितस्यापि कुत्रचित् ।
न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिमम् ॥ ८१० ॥

अन्वयार्थः— (**परीषहोपसर्गाद्यैः**) परीषह और उपसर्गोंके द्वारा (**पीडितस्य अपि**) पीडित होते हुए भी जो (**कुत्रचित् शुभाचारे ज्ञाने ध्याने**) किसी शुभाचार, ज्ञान तथा ध्यानमें (**शैथिल्यं न**) शिथिलता नहीं आने देना है (**तत् आदिमं**) वही पहला स्वात्मसम्बन्धी वात्सल्य है।

भावार्थः— अपने ऊपर घोर उपसर्ग और परीषहोंके आनेपरभी जो अपने किसीभी शुभाचार, ज्ञान तथा ध्यानमें किसी प्रकारकी शिथिलताको नहीं आने देना है वही स्ववात्सल्य कहलाता है अर्थात् वास्तविक शुभाचार,

ज्ञान और ध्यानमें जो प्रेम है वही स्ववात्सल्य है।

इतरत्प्रागिह ख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम्।
शुद्धज्ञानबलादेव यतो बाधापकर्षणम् ॥ ८११ ॥

अन्वयार्थ.— (इतरत्) दूसरा परवात्सल्य जो (इह) इस ग्रंथमें (प्राक् ख्यातं) पहले कहागया है वहभी (दृष्टिमतः स्फुटं गुणः) सम्यग्दृष्टिका प्रकट गुण है (यतः) क्योंकि (शुद्धज्ञानबलादेव) शुद्ध ज्ञानके बलसेही (बाधापकर्षणं) बाधा दूर की जाती है।

भावार्थः— दूसरे सधर्मियोंके ऊपर घोर उपसर्ग तथा परीषहोंके उपस्थित होनेपर जो उनकी बाधाका दूर करना है उसे परवात्सल्य कहते हैं।

इस प्रकार वात्सल्य अंगका साधारण रीतिसे वर्णन किया। इसका विशेष कथन पूर्वापर सम्बन्ध जोडकर पूर्व कथनसे समझलेना चाहिये। अर्थात् अपने सम्यक्त्व और व्रत को छोडकर परवात्सल्य नहीं करना चाहिये। कारण कि केवल शुद्ध ज्ञानसेही स्व तथा परकी बाधा दूर होती है।

प्रभावनांगसंज्ञोऽस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै।
उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम् ॥ ८१२ ॥

अन्वयार्थ.— (उत्कर्षकरणं नाम) धर्मका उत्कर्ष करना जो प्रभावना अंगका लक्षण है उस (लक्षणात् अपि लक्षितं) अपने लक्षणसे सिद्ध (प्रभावना अंगसंज्ञः) प्रभावना नामक अंगभी (वै) निश्चयसे (सद्दर्शनस्य गुणः अस्ति) सम्यग्दर्शनका एक गुण है।

भावार्थः— धर्मके उत्कर्ष करनेका नाम प्रभावना है। और यह प्रभावना अंगभी वात्सल्य अंग के समान सम्यग्दर्शनका एक गुण है।

अथातद्धर्मणः पक्षे नावद्यस्यामनागपि।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्षपोषणात् ॥ ८१३ ॥

अन्वयार्थः— (अथ अतद्धर्मणः पक्षे) जो आत्माका धर्म नहीं है उसके पक्षमें (अवद्यस्य)

अवद्य मार्गका–पाप मार्गका (मनाक् अपि न) किंचितभी उत्कर्ष नहीं करना चाहिये (यस्मात्) क्योंकि (अधर्मोत्कर्षपोषणात्) अधर्मकी उत्कर्षतामें पुष्टि करनेसे (धर्मपक्षक्षतिः) धर्मपक्षकी क्षति होती है।

भावार्थः— जितने अंशमें अधर्मकी पुष्टि होती है उतने अंशमें धर्मकी क्षति होती है। इसलिए अधर्मके पक्षमें सावद्य कार्योंकी किंचित्‌भी पुष्टि नहीं करना चाहिये।

पूर्ववत्सोऽपि द्विविधः स्वान्यात्मभेदतः पुनः।
तत्राद्योवरमादेयः समादेयः परोऽप्यतः॥ ८१४॥

अन्वयार्थः— (सः अपि पुनः) वह प्रभावना अंगभी (पूर्ववत्) वात्सल्यकी तरह (स्वान्यात्मभेदतः) स्व और परकी भेदसे (द्विविधः) दो प्रकारका है (तत्र) उनमेंसे (आद्यः) पहला (वर आदेय.) प्रधान रीतिसे आदेय है (अपि) तथा (अतः पर.) इससे भिन्न जो परप्रभावना है वह (समादेयः) गौणरूपसे उपादेय है।

भावार्थः— वात्सल्य अंगके समान प्रभावना अंगभी स्व और परके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेसे स्वप्रभावना प्रधानरूपसे उपादेय है। तथा परप्रभावना गौणरूपसे उपादेय है।

उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादाधिकीकरणं वृषे।
असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषाय तत्क्वचित्॥ ८१५॥

अन्वयार्थः— (असत्सु प्रत्यनीकेषु) प्रतिबधक कारणोंके रहनेपर (यत) जो (वृषे) धर्ममें (बलाधिकात् अधिकीकरणं) बलपूर्वक अधिकता की जाती है वह (उत्कर्षः) धर्मका उत्कर्ष कहलाता है और (तत् क्वचित् दोषाय अलं न) वह प्रतिबन्धकाभावमें बलपूर्वक धर्मकी अधिकताका करना किसीभी विषयमें दोषाधायक नहीं है।

भावार्थः— प्रतिबन्धक कारणकी उपस्थितिमें बलपूर्वक किया हुआ प्रयोग असफल होता है। इसलिए प्रतिबन्धक कारण सामग्रीके अभावमें जो बलपूर्वक धर्मकी अधिकता की जाती है उसे उत्कर्ष कहते है।

इस प्रकार अपने और परके सम्यग्दर्शनरूप धर्मके उत्कर्षकी जो मिथ्यात्वके अभावमें वृद्धि करना है उसे

स्वपरप्रभावना कहते है।

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः।
जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥ ८१६ ॥

अन्वयार्थः— (कश्चित् जीवः) कोई जीव (मोहारातिक्षतेः) मोहरूपी शत्रुके नाश होनेसे (शुद्धः) शुद्ध और कोई जीव (शुद्धात्) शुद्धसे (शुद्धतरः) शुद्धतर तथा कोई जीव (ततः) उस शुद्धतरसेभी (शुद्धतमः) शुद्धतम होजाता है (इति) इस तरह उत्तरोत्तर शुद्धताका प्रकर्षही (आत्मप्रभावना अस्ति) आत्मप्रभावना कहलाती है।

भावार्थः— मोहरूपी शत्रुके अभावमें जो उत्तरोत्तर तरतमरूपसे शुद्धता की वृद्धि होती है उसको आत्मप्रभावना कहते है।

नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किंतु नूनं स्वभावतः।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ यतः सिद्धिर्यथोत्तरम् ॥ ८१७ ॥

अन्वयार्थः— (नूनं) निश्चयसे (इदं पौरुषायत्त न स्यात्) तरतमरूपसे होनेवाली शुद्धता का यह उत्कर्षपना पौरुषाधीन नहीं होता है (किंतु) किंतु (स्वभावतः) स्वभावसेही सम्पन्न होता है (यतः) कारण कि (यथोत्तरं ऊर्ध्वं ऊर्ध्वं गुणश्रेणौ सिद्धिः) उत्तरोत्तर जो गुणश्रेणि निर्जरा होती है उसमें स्वयमेव उस शुद्धताकी तरतमरूपसे वृद्धि होती जाती है।

भावार्थः— यह आत्मप्रभावना पुरुषार्थ के आधीन नहीं है। किंतु स्वभावसेही है। क्योंकि जब प्रतिपक्षी कर्मोंका अभाव होजाता है तब जो गुणश्रेणी निर्जरा होती है उसमे स्वयमेव उत्तरोत्तर शुद्धताकी तरतमरूपसे वृद्धि होती जाती है अर्थात इस जीवकी शुद्धताका उत्कर्ष होता जाता है।

वाह्यः प्रभावनांगोऽस्ति विद्यामंत्रादिभिर्बलैः।
तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥ ८१८ ॥

अन्वयार्थः— (विद्यामंत्रादिभिः) विद्या और मंत्रोंके द्वारा (बलैः) बलके द्वारा तथा (तपोदानादिभिः) तप और दानके द्वारा जो (जैनधर्मोत्कर्षः) जैनधर्मका उत्कर्ष किया जाता है वह

(बाह्यः प्रभावनांगः अस्ति) बाह्य प्रभावना अंग कहलाता है तथा यहभी तत्वज्ञानियोंको (विधीयतां) अवश्य करना चाहिये।

भावार्थ — जो विद्या और मंत्रादिकोंके बलसे तथा तप और दानके द्वारा धर्मका उद्योत किया जाता है उसे बाह्य प्रभावना अंग कहते है। तथा बाह्य प्रभावना अंगकोभी करना चाहिये।

परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोकर्षशालिनाम् ।
चमत्कारकरं किंचित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥ ८१९ ॥

अन्वयार्थः— (मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनां परेषां) मिथ्यात्वके उत्कर्षको बढानेवाले मिथ्यादृष्टियोंका (अपकर्षाय) अपकर्ष करनेके लिए ('यत' किंचित् चमत्कारं 'अस्ति') जो कुछ चमत्कार दिखानेवाली क्रियाएँ है (तत् महात्मभिः विधेय) वे भी महात्माओंको करना चाहिये।

भावार्थ — मिथ्यात्वके उत्कर्ष को बढानेवाले पाखडी मिथ्यादृष्टियोंके महत्वको गिरानेके लिए महात्माओंको कुछ न कुछ चमत्कारिक कार्यभी करना चाहिये।

उक्त प्रभावनांगोऽपि गुणः सद्दर्शनान्वितः ।
येन सपूर्णता याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥ ८२० ॥

अन्वयार्थः— (सद्दर्शनान्वितः) सम्यक्दर्शन सहित (उक्तः प्रभावनांगोऽपि) कहा हुवा प्रभावनांगभी (गुणः) सम्यग्दर्शनका वह गुण है (येन) कि जिस सच्चे प्रभावनांगसे (दर्शनस्य गुणाष्टकं) सम्यग्दर्शनके निःशंकितादि आठ गुण-अंग (संपूर्णतां याति) पूर्णताको प्राप्त होते हैं।

भावार्थः— उक्त यह प्रभावना अंग तबही सम्यक्दर्शनका अंग होसकता है जब कि वह सम्यग्दर्शन सहित हो तथा जिस सम्यग्दृष्टीके यह प्रभावना अंग पाया जाता है उसके इसी प्रभावनाके अविनाभावी शेष अंगभी पूर्ण रीतिसे पाये जाते है। अत. यहा प्रभावना अगसेही आठो अंग पूर्णताको प्राप्त होते है ऐसा कहा है।

इत्यादयो गुणाश्चान्ये विद्यन्ते सद्दगात्मनः ।
अलं चिंततया तेषामुच्यते यद्विवक्षितम् ॥ ८२१ ॥

अन्वयार्थः— (सद्दृगात्मनः) सम्यग्दृष्टिके (इत्यादयः अन्ये च गुणाः विद्यन्ते) इन निःशं-
कितादिक गुणोंकी तरह और भी अनेक गुण होते है परन्तु (तेषां चिन्तनया अलं) उनके विषयमें विचार
करनेसे कुछ अधिक फायदा नहीं है (अतः) अब (यद्विवक्षितम्) जो विवक्षित है 'तद्' (उच्यते)
नहीं कहा जाता है ।

भावार्थः— केवल ज्ञानचेतनाही सम्यग्दर्शनका लक्षण है । प्रशमादि तथा निःशंकितादिक तो उसज्ञान-
चेतनाके अविनाभाव सम्बन्धसे सम्यग्दर्शनके लक्षण होते है अन्यथा नहीं । तथा जैसे ज्ञानचेतना के अविनाभावसे
प्रशमादिक सम्यग्दर्शनके लक्षण होसकते है । वैसेही ज्ञानचेतनाके साथ होनेवाले अन्यभी गुण सम्यग्दर्शनके लक्षण होस-
कते है । इस लिये यहा अब उन इतर गुणोंके विषयमें ऊहापोह करना व्यर्थ है । अतः मूलभूत उस ज्ञानचेतना के
विषयमेंही ऊहापोह करते है ।

प्रकृतं तद्यथास्ति स्वं स्वरूपं चेतनाऽऽत्मनः ।
सा त्रिधाऽप्युपादेया सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ८२२ ॥

अन्वयार्थः— (प्रकृतं तद्यथा) प्रकृत यह है कि (चेतना) चेतना (आत्मन) आत्माका
(स्वं स्वरूपं अस्ति) निज स्वरूप है (सा त्रिधा अपि) और वह तीन प्रकारकी है तोभी (अत्र)
सम्यग्दर्शनके लक्षण करते समय (सद्दृष्टेः) सम्यग्दृष्टिको (ज्ञानचेतना उपादेया) एक ज्ञानचेतनाही
उपादेय होती है ।

भावार्थः— कर्म, कर्मफल तथा ज्ञानचेतना इस तरह चेतनाके तीन प्रकार है । इसका निरूपण प्रथम
किया जाचुका है । उन तीनों चेतनाओंमेंसे सम्यग्दृष्टिके उपादेय केवल ज्ञानचेतनाही है अन्य दो नहीं है । सारांश यह
है कि यद्यपि कदाचित् कर्म तथा कर्मफल चेतनारूपभी सम्यग्दृष्टिके ज्ञानकी परिणति पायी जाती है तोभी उसके
वे दो चेतनायें उपादेय नहीं होती है, केवल एक ज्ञानचेतनाही उपादेय होती है ।

श्रद्धानादि गुणाश्चैते बाह्योलेखच्छलादिह ।
अर्थात्सद्दर्शनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना ॥ ८२३ ॥

अन्वयार्थः— यद्यपि (**इह**) यहापर (**बाह्योल्लेखच्छलात्**) केवल बाह्य स्वरूपके उलेख करनेके व्याजसे (**एते श्रद्धानादि गुणाः च**) यह श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, निःशंकितादि तथा प्रशम संवेगादिक गुणभी सम्यग्दृष्टिके गुण बताए हैं तथापि (**अर्थात्**) वास्तवमें (**सद्दर्शनस्य**) सम्यग्दर्शनका (**ज्ञानचेतना**) ज्ञानचेतनाही (**एकं लक्षणं**) एक लक्षण है ।

भावार्थः— वास्तवमें ज्ञानचेतनाही सम्यग्दर्शनका अंतरग लक्षण है । और जिन वाह्य चिन्होंमें सम्यग्दृष्टिकी पहिचान की जाती है वे बाह्य चिन्ह सम्यग्दर्शनके बाह्य लक्षण हैं । बहुधा वे बाह्य चिन्ह अंतरंग लक्षणके अविनाभावी होते हैं इसलिए वे सम्यग्दर्शनके बाह्य लक्षण कहे जाते हैं । किंतु किसी २ भद्र मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी श्रावक, वा द्रव्यलिंगी मुनिकेभी सम्यक्त्वके न होते हुए भी ये बाह्य लक्षण संभव होसकते हैं । इसलिये इन्हे सम्यक् दर्शनका बाह्य लक्षण कहा है । अतः अन्तरंग लक्षण नहीं कहा है । यहा आत्मभूत लक्षणकोही अन्तरंग लक्षण समझना चाहिये क्योंकि ज्ञानचेतना सम्यक्दर्शनके होनेपरही होती हैं विना सम्यक्त्वके नहीं होती है अतः यह सम्यक्दर्शनका अन्तरंग लक्षण है ।

ननु रूढिरिहाप्यस्ति योगाद्वा लोकतोऽथवा ।
तत्सम्यक्त्वं द्विधाप्यर्थं निश्चयाद्व्यवहारतः ॥ ८२४ ॥

अन्वयार्थ— (**ननु**) शङ्काकारका कहना है कि (**इह**) यहापर (**योगात् वा लोकत रूढिः अपि अस्ति**) योगसे व लोकके व्यवहारवशभी ऐसी रूढि है कि (**तत्सम्यक्त्वं अपि**) वह सम्यग्दर्शनभी (**अर्थनिश्चयात् व्यवहारतः द्विधा**) अर्थनिश्चय-निश्चय और व्यवहार के भेदसे दोप्रकारका है ।

व्यावहारिकं सम्यक्त्वं सरागं सविकल्पकम् ।
निश्चयं वीतरागंतु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम ॥ ८२५ ॥

अन्वयार्थः— उनमेंसे (**सविकल्पक**) विकल्पसहित तथा (**सरागं**) राग सहित सम्यक्त्व (**व्यावहारिकं**) व्यवहारसम्यक्त्व है (**तु**) और (**निर्विकल्पकं**) विकल्परहित तथा (**वीतरागं**) राग रहित सम्यक्त्व (**निश्चय सम्यक्त्वं**) निश्चय सम्यक्त्व है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि लोकरूढिसे तथा अन्वर्थसे भी इस लोकमें वह सम्यग्दर्शन, निश्चय और व्यवहार इस भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे जो सम्यक्त्व, सराग और सविकल्पक होता है वह व्यवहार-सम्यक्त्व है। और जो वीतराग तथा निर्विकल्पक होता है वह सम्यक्त्व, निश्चय-सम्यक्त्व है।

इत्यस्ति वासनोन्मेषः केषांचिन्मोहशालिनाम् ।
तन्मते वीतरागस्य सद्दृष्टे ज्ञानचेतना ॥ ८२६ ॥

अन्वयार्थः— (केषांचित्) किन्हीं (मोहशालिनां) मोहशाली पुरुषोंको (इति) इस प्रकारका (वासनोन्मेषः) यह मोहकी वासनाके संस्कारका फल है कि जिसके कारण (तन्मते) उनकी समझमें (वीतरागस्य सद्दृष्टे) वीतराग सम्यग्दृष्टिकेही (ज्ञानचेतना) ज्ञान-चेतना होती है—सराग सम्यग्दृष्टिके नहीं।

तैः सम्यक्त्वं द्विधा कृत्वा स्वामिभेदो द्विधाकृतः ।
एकः कश्चित्सरागोऽस्ति वीतरागश्च कश्चन ॥ ८२७ ॥

अन्वयार्थ.— (तैः) उन्होंने (सम्यक्त्व) सम्यक्त्वके (द्विधा कृत्वा) दो भेद करके (स्वामि-भेद) सम्यग्दर्शन के अधिकारी भी (द्विधा कृतः) दो प्रकारसे बतलाये है अर्थात् (कश्चित् एकः) कोई एक (सरागः) सराग सम्यग्दृष्टि (च) और (कश्चन) दूसरा (वीतराग अस्ति) वीतराग सम्यग्दृष्टि होता है।

तत्रास्ति वीतरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना ।
सद्दृष्टे निर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन ॥ ८२८ ॥

अन्वयार्थ.— (तत्र) उन दोनोंमेंसे (कस्यचित्) एक (वीतरागस्य) वीतराग (निर्विकल्पस्य) निर्विकल्प (सद्दृष्टेः) सम्यग्दृष्टिकेही (ज्ञानचेतना अस्ति) ज्ञान चेतना होती है। और (इतरस्य) सविकल्पक सम्यग्दृष्टिके तो (कदाचन न) वह ज्ञान-चेतना कभीभी नहीं होती है क्यों कि

व्यावहारिकसद्दृष्टेः सविकल्पस्य रागिणः ।
प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः स्यात् ज्ञानचेतना ॥ ८२९ ॥

अन्वयार्थः— किन्तु (सविकल्पस्य) सविकल्प (रागिणः) और सरागी (व्यावहारिकसद्दृष्टे.)

सम्यग्दृष्टिके तो (प्रतीतिमात्रं) केवल प्रतीति-श्रद्धाही होती है इस लिये उसके (ज्ञानचेतना कुतः स्यात्) व्यवहारसे ज्ञानचेतना कैसे होसकती है ? अर्थात् नहीं होसकती है ।

भावार्थः— इस प्रकार किन्ही २ मोहशाली पुरुषोंके पक्षपातवश सदैव एक प्रकारकी वासना रहती है और जिसके वशीभूत होकर वे मोही लोग सदैव ऐसा निरूपण करते है कि केवल वीतराग सम्यग्दृष्टिकेही ज्ञानचेतना होती है तथा उन्होनेही सम्यग्दर्शनके सविकल्प और निर्विकल्परूपसे दो भेद करके, उसके स्वामीभी क्रमसे सरागी और वीतरागी बताए है । और उनमेंसे केवल वीतराग-सम्यग्दृष्टिकेही ज्ञानचेतना बताई है ।

इति प्रज्ञापराधेन ये वदन्ति दुराशयाः ।
तेषां यावत् श्रुताभ्यासः कायक्लेशाय केवलम् ॥ ८३० ॥

अन्वयार्थः— किन्तु (प्रज्ञापराधेन) बुद्धि के दोषसे (ये दुराशयाः) जो दुराशय-खोटे आशयवाले (इति वदन्ति) ऐसा कहते है (तेषां) उनका (यावत्श्रुताभ्यासः) जितनाभी शास्त्राध्ययन है वह सब (केवलं) केवल (कायक्लेशाय) शरीर-क्लेशके लियेही समझना चाहिये ।

भावार्थः— इस प्रकार बुद्धिमन्दतासे कारण जो पक्षपाती लोक सम्यक्त्व के सविकल्प और निर्विकल्परूपसे भेद करके उस के सराग तथा वीतराग भेद बताते है उनका सब शास्त्राध्ययन केवल कायक्लेशके लियेही है ऐसा समझना चाहिये ।

पूर्वोक्त शंकाका समाधान व उत्तर ।

अत्रोच्यते समाधानं सामवादेन सूरिभिः ।
उच्चैरुत्फणिते दुग्धे योज्यं जलमनाविलम् ॥ ८३१ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) अब यहांपर (सूरिभिः) आचार्य (सामवादेन) शांतिके साथ (उच्यते) कहते सो ठीकही है क्योंकि (दुग्धे उच्चैः उत्फणिते) जिस समय दूधमें उफान आरहा हो, उस समय दूधमें (अनाविलं जल) निर्मल जलही (योज्यम्) डालना योग्य है ।

भावार्थ— यहापर स्वय ग्रंथकारही उक्त शंकाका ठीक उत्तर समझाकर देते है । सो ठीकही है क्योंकि जैसे जिस समय दूधमें उफान आरहा हो, उस समयमें शीतल जलके छीटे डालकरही दूधका उफान बंद करना ठीक है । वैसेही पक्षपात वश की हुई शंकाओंका उत्तरभी शांतिपूर्वकही देना ठीक है । कारण कि ऐसा करनेसे कषायका वेग मंद पड जाता है तथा तत्त्वका ठीक स्वरूप समझमें आता है ।

सतृणाभ्यवहारित्वं करीव कुरुते कुदृक् ।
तज्जहीहि जहीहित्वं कुरु प्राज्ञ विवेकिताम् ॥ ८३२ ॥

अन्वयार्थः— (कुदृक्) मिथ्यादृष्टि जीव (करी इव) हाथीके समान (सतृणाभ्यवहारित्वं कुरुते) मय घास फूमके अपने भोजनको ग्रहण करता है किंतु (प्राज्ञ) हे प्राज्ञ (त्वं) तू (तद् जहीहि जहीहि) उसे छोड छोड और (विवेकितां कुरु) योग्य विवेकपनेको संपादन कर ।

भावार्थः— जैसे हाथी अपने भोजनको विना सोधे तृणसहित भक्षण करता है वैसेही मिथ्यादृष्टि जीवभी अपने ग्राह्य विषयोंका, विना विवेकके रागादिसहित विषय करता है। इसलिये भो प्राज्ञ तू मिथ्यादृष्टिकी तरह आत्माको सराग सविकल्प विषय करना छोडकर विवेकी वन। अर्थात् सम्यक्त्वको सराग सविकल्प मानना हाथीके सतृण भोजनकी तरह मिथ्यादृष्टित्वका विषय है। सम्यग्दृष्टित्वका नहीं है क्यों कि सम्यग्दृष्टि तो प्रत्येक विषयमें सविवेक प्रवृत्ति करता है। क्यों कि रागांश और विकल्पांश सम्यक्त्वका धर्म नहीं। किन्तु मोहीका धर्म है।

वन्हेरौष्ण्यमिवात्मज्ञ पृथक्कर्तुं त्वमर्हसि ।
मा विभ्रमस्वदृष्ट्वापि चक्षुसाऽचाक्षुषाशया: ॥ ८३३ ॥

अन्वयार्थः— (आत्मज्ञ) भो आत्मज्ञ (वन्हेः औष्ण्यं इव) अग्निके उष्णताके समान (त्वं) तुझे भी तुम्हारे स्वरूपको (पृथक्कर्तुं) पृथक् करना (अर्हसि) योग्य है। (चक्षुषा दृष्ट्वा अपि) प्रत्यक्ष देखकरभी (अचाक्षुषाशया अदृष्टकी आशासे (मा विभ्रमस्व) भ्रममें मत पडो।

भावार्थ — जिस तरह अग्निका अग्नित्व पृथक् जाना जाता है उसी तरह तुमभी अपनेमें अपने आत्मतत्त्वको [निर्विकल्प और वीतरागस्वरूपको] प्रत्यक्ष देखकर प्रत्यक्ष सिद्ध न होनेवाले सराग और सविकल्पकी आशा के भ्रममें मत पडो।

विकल्पो योगसंक्रान्तिरर्थाज्ज्ञानस्य पर्ययः ।
ज्ञेयाकारः स ज्ञेयार्थात ज्ञेयार्थान्तरसंगतः ॥ ८३४ ॥

अन्वयार्थ— (योगसंक्रान्तिः) मन, वचन कायकी प्रवृत्तिके परिवर्तनको (विकल्पः) विकल्प

कहते है (अर्थात्) अर्थात् (ज्ञेयार्थात्) एक ज्ञानके विषयभूत अर्थसे (ज्ञेयार्थान्तरसंगतः) दूसरे विषयान्तरत्वको प्राप्त होनेवाला (सः) जो (ज्ञेयाकार.) ज्ञेयाकार रूप (ज्ञानस्य पर्यय) ज्ञानकी पर्याय है (सः विकल्प) वह विकल्प कहलाता है।

भावार्थः— मन वचन काय के अवलम्बन के विषयसे विषयान्तररूप जो ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है उसे विकल्प कहते है।

क्षायोपशमिकं तस्यादर्थादक्षार्थसंभवात।
क्षायिकात्यक्ष ज्ञानस्य संक्रांतेरप्यसंभवात् ॥ ८३५ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात) वास्तवमें (अक्षार्थसम्भवात्) इंद्रियोंके विषयोंको अवलबन करके उत्पन्न होनेवाली (तद्) वह सविकल्पक–ज्ञानरूप ज्ञानकी पर्याय (क्षायोपशमिक स्यात्) क्षायोपशमिक है क्योंकि (क्षायिकात्यक्षज्ञानस्य) अतींद्रिय-क्षायिक–केवलज्ञानमें (सन्क्रान्तेः अपि असम्भवात) संक्रांति नहीं होती है अतः उसमें योगावलबनसे किसी प्रकारका परिवर्तनरूप विकल्पभी सभव नहीं है।

भावार्थः— योगसक्रान्तिरूप विकल्प केवल क्षयोपशमजन्य ऐंद्रियक ज्ञानोंमें ही संभव है। क्योंकि स्वाभाविक अतींद्रिय क्षायिकज्ञानमें, सन्क्रातिके न होनेसे, वह योगसंक्रांतिरूप विकल्प नहीं होता है इससे यही अभिप्राय समझना चाहिये कि ज्ञानका इस प्रकार सविकल्प होना नैमित्तिक स्वरूप है वास्तविक नहीं है अतः वह वास्तवमें सम्यक्त्वका स्वरूप नहीं होसकता है।

अस्ति क्षायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात्।
नार्थादर्थांतराकारयोगसंक्रांतिलक्षणात् ॥ ८३६ ॥

अन्वयार्थः— (स्वलक्षणात्) स्वलक्षणकी अपेक्षासे (क्षायिकज्ञानस्य) क्षायिक–ज्ञानमें (विकल्पत्वं) जो विकल्पपना (अस्ति) है वह (अर्थात) एक अर्थसे (अर्थांतराकारयोगसन्क्रांति लक्षणात्) दूसरे अर्थके विषयमें मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिके अवलंबनसे होनेवाले सक्रातिरूप विकल्प शद्बके अर्थकी अपेक्षासे (न) नहीं है।

भावार्थः— ज्ञान गुण साकार है, शेष गुण निराकार है। ज्ञान गुणके साकार होनेसेही उसके द्वारा वस्तुका वस्तुत्व और निज स्वरूपभी जाना जाता है। तथा जितनेभी गुणोंका उल्लेख किया जाता है वह सब उन सब गुणोंके विकास होनेसे इस ज्ञान गुणमें होनेवाली उन विकासोंकी अविनाभावी पर्यायोंके उल्लेखसेही उन शेष गुणोंका निरूपण किया जाता है। इस प्रकारका ज्ञानका स्वलक्षणभूत सविकल्पत्व तो क्षायिक ज्ञानमें है। किंतु अर्थसे अर्थान्तराकार योगसंक्रातिरूप सविकल्पत्व नहीं है। ज्ञानके लक्षणभूत विकल्पत्वमें और क्षायोपशमिक ज्ञानके परनिमित्तसे होनवाले विकल्पत्वमें वडा भारी अन्तर है। इसी विषयका खुलासा करते है।

तल्लक्षणं स्वापूर्वार्थविशेषग्रहणात्मकम्।
एकोऽर्थो ग्रहणं तस्य आकारः सविकल्पता ॥ ८३७ ॥

अन्वयार्थः— (**स्वापूर्वार्थविशेषग्रहणात्मकम्**) स्व और अपूर्व अर्थका विशेष ग्रहण करना (**तत् लक्षणम्**) ज्ञानका लक्षण है (**अर्थः एकः**) अर्थ एक है और (**तस्य ग्रहणं**) आत्माका जो ग्रहण करना है वह (**आकार.**) वह आकार कहलाता है (**सविकल्पता स्यात्**) वही सविकल्पता क्षायिकज्ञानमें होती है।

भावार्थः— केवलज्ञानमें ज्ञान गुण तो स्वशब्दसे गृहीत होता है और ज्ञानविना शेष अनन्त गुण अपूर्वार्थ शब्दसे गृहीत होते हैं, तथा ग्रहण शब्दसे आकारका बोध होता है, इस प्रकार ज्ञान के द्वारा अपने शेष अनन्तोंही गुणोंके ग्रहणको स्वापूर्वार्थ ग्रहणात्मक आकार अथवा सविकल्पता कहते है।

विकल्पः सोऽधिकारेऽस्मिन्नाधिकारी मनागपि।
योगसंक्रान्ति रूपो यो विकल्पोऽधिकृतोऽधुना ॥ ८३८ ॥

अन्वयार्थः— (**सः विकल्पः**) ज्ञानका स्वलक्षणभूत वह विकल्प (**अस्मिन् अधिकारे**) सम्यक्त्व के निर्विकल्पक और सविकल्पके कथनमें (**मनागपि अधिकारी न**) कुछभी अधिकार नहीं है रखता अर्थात् उपयोगी नहीं है किन्तु (**योगसंक्रान्तिरूपः यः विकल्पः**) योगसंक्रान्तिरूप जो विकल्प 'सः' वही (**अधुना**) इस समय सम्यक्त्व के सविकल्प और निर्विकल्प के विचार करते समय (**अधिकृतः**) अधिकार रखता है- उपयुक्त है।

० 'तस्यादाकारः' प्राचीन पाठ है।

ऐन्द्रियं तु पुनर्ज्ञानं न संक्रातिमृते क्वचित् ।
गतोऽप्यस्य क्षणं यावदर्थादर्थान्तरे गतिः ॥ ८३९ ॥

अन्वयार्थः— (ऐन्द्रियं ज्ञान तु पुन) इन्द्रियजन्यज्ञान तो (क्वचित्) कहींभी (संक्रान्तिम् ऋते) योगसंक्रान्तिके विना (न) नहीं होता है । (यत) क्योंकि (अस्य) इन्द्रियजन्य ज्ञानकी (क्षणं अपि यावत्) प्रत्येक क्षणमेंभी (अर्थात् अर्थान्तरे गतिः) अर्थसे अर्थान्तररूप संक्रान्ति होती रहती है ।

भावार्थः— इन्द्रियज्ञानमें प्रतिसमय अर्थसे अर्थान्तररूप परिवर्तन होता रहता है । इसलिए इन्द्रिजन्य ज्ञान संक्रातिसाहित होता है कभीभी वह संक्रान्तिके विना नहीं होता है ।

इदं तु क्रमवर्त्यस्ति न स्यादक्रमवार्ति यद् ।
एकां व्यक्तिं परित्यज्य पुनर्व्यक्तिं समाश्रयेत् ॥ ८४० ॥

अन्वयार्थ — (इदं तु) और यह इन्द्रियजन्य ज्ञान (क्रमवर्ति अस्ति) क्रमवर्ति है (अक्रमवर्ति न स्यात्) अक्रमवर्ति नहीं है । (यद्) क्यों कि वह (एकां व्यक्ति परित्यज्य) एक व्यक्तिको–विवक्षित अर्थको छोडकर (पुनर्व्यक्तिं समाश्रयेत्) अर्थान्तरको विषय करने लगता है ।

भावार्थ — इन्द्रियजन्यज्ञान एक समयमें एक विषयको विषयकरके दूसरे समयमें दूसरे ही विषयको विषय करता है । युगपद् भिन्न समयवर्ति विषयोंको विषय नहीं करता है इस लिए वह क्रमवर्तिही है । अक्रमवर्ति नहीं है ।

इदं त्वावश्यकी वृत्तिः समव्याप्तेरिवाद्वया ।
इयं तत्रैव नान्यत्र तत्रैवेयं न चेतरा ॥ ८४१ ॥

अन्वयार्थः— (समव्याप्तेः) समव्याप्ति होनेके कारण (अद्वया इव आवश्यकी वृत्तिः ' अस्ति ') अभिन्नकी तरह उन दोनोंकी–अर्थसे अर्थान्तर गति और योगसंक्रातिकी यह वृत्ति अवश्य होती है कि (इयम्) यह योगसंक्रान्ति (तत्रैव) उस इन्द्रियज्ञान के होनेपरही होती है, (अन्यत्र न) ज्ञान के अतीन्द्रिय होनेपर नहीं होती, (' तथा ' तत्रैव च) योगसंक्रान्ति होनेपरही (इय) अर्थसे अर्थान्तर गति होती है । (इतरा न च) अनर्थान्तर गति नहीं होती ' अर्थात् योगसंक्रान्तिके होते हुए अर्थान्तर गति नहीं यह नहीं होसकता ।

और अर्थान्तरगति होनेपर योगसंक्रान्ति न हो यहभी नहीं होसकता । इसलिए योगसक्रान्ति और अर्थसे अर्था-
न्तरगतिमें समव्याप्ति होने के कारण एकप्रकारसे अद्वैत है ।

भावार्थः— दुतर्फा व्याप्तिको समव्याप्ति कहते हैं, जैसे रूप और रसमें समव्याप्ति है, कारण कि रूपके
होनेपर जैसे रस होता है और रसके होनेपर रूप होता है । वैसेही उन दोनोंमेंसे किसी एकके अभावमें दूसरेकाभी
अभाव पाया जाता है । अग्नि और धूममें विषम व्याप्ति है, कारण कि अग्निके होनेपरही धूम होता है और अग्निके
अभावमें धूम नहीं होता है । अर्थात् जहा २ धूम वहा २ अग्नि होती है, ऐसा तो कहसकते है, किंतु जहा २ अग्नि
होती है वहा २ धूम होताही है यह नहीं कह सकते । क्योंकि शुद्ध अंगाररूप अग्निमें धूम नहीं रहता है । इसलिए इसे
विषमव्याप्ति कहते है । योगसंक्रांति और इंद्रियज्ञान-अर्थसे अर्थांतरगति इन दोनोंमें परस्पर समव्याप्ति है । जहां २ योग-
संक्रांति होती है वहा २ ज्ञानसंबंधि अर्थांतरगति भी होती है अथवा जहां २ ऐंद्रियज्ञान की अर्थांतरगति होती है
वहा २ योसंक्रातिभी अवश्य होती है कारण कि ये दोनों परस्परमें एक दूसरेके अभावमें नहीं रहते हैं । इसलिए
इन दोनोंकी व्याप्तिको समव्याप्ति बताया है ।

यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित् ।
अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थतः ॥ ८४२ ॥

अन्वयार्थः— (**यत् पुनः**) किन्तु जो (**कुत्रचित् एकत्र**) किसी एक विषयमें (**नैरन्तर्येण ज्ञान**)
निरन्तररूपसे ज्ञान रहता है (**तद्ध्यानं अस्ति**) उसे ध्यान कहते है । और (**अत्रापि**) इस ध्यानमेंभी
(**अर्थत.**) वास्तवमें (**क्रमः**) क्रमही है (**अपि**) किन्तु (**अक्रमः न**) अक्रम नहीं है ।

भावार्थः— अन्य सब विषयोंसे चित्तको हटाकर किसी एक विषयमें चित्तके लगानेको ध्यान कहते है ।
यह ध्यान श्रुतज्ञानकी पर्याय है । और उसमें जो चित्तकी एकाग्रता होता है, उसेभी सर्वथा चित्तकी अचंचल वृत्ति
नहीं कह सकते है किन्तु अन्य सब विषयोंसे हटाकर किसी एकही विषयमें चित्तकी पुनः २ वृत्ति लगानेको भी
ध्यान कहते है । इसलिए ध्यानमेंभी पुनः २ वृत्तिकी संभवनाके कारण क्रमवर्तित्व सिद्ध हो जाता है ।

एकरूपमिवाभाति ज्ञानं ध्यानैकतानतः ।
तत्स्यात्पुनः पुनर्वृत्तिरूपं स्यात्क्रमवर्ति च ॥ ८४३ ॥

अन्वयार्थ.— (ध्यानैकतानतः) ध्यानकी एकाग्रता के कारण (ज्ञानं) ध्यानरूप ज्ञान (एकरूपमिव) अक्रमवर्त्तीकी तरह (आभाति) प्रतीत होता है परन्तु (तत्) वह ध्यानरूप ज्ञान (पुनः पुनर्वृत्तिरूप स्यात्) पुन. पुनः उसी २ विषयमें होता रहता है इसलिए (क्रमवर्त्ति च स्यात्) क्रमवर्ति ही है।

भावार्थः— यदि कदाचित् यह कहा जाय कि ध्यानरूप ज्ञानमें क्रमवर्तित्व तो नहीं है इसलिए योगसंक्रान्ति और क्रमवर्तित्वकी व्याप्ति नहीं होसकती है। तो यह कहना भी ठीक नहीं है कारण कि ज्ञान के किसी एक विषयमें बार २ परिणत होनेका नाम ध्यान है इसलिए उसमेंभी अर्थसक्रान्तिरूप क्रमवर्तित्व सिद्ध हो जाता है।

नात्र हेतुः परं साध्ये क्रमत्वेऽर्थान्तराकृतिः ।
किन्तु तत्रैव चैकार्थे पुनर्वृत्तिरपि क्रमात् ॥ ८४४ ॥

अन्वयार्थः—(अत्र क्रमत्वे साध्ये) ऐन्द्रियज्ञानमें क्रमत्वकी सिद्धि करते समय (अर्थान्तराकृतिः) अर्थान्तराकार होना (पर) केवल (हेतुः न) हेतु नहीं है। (किन्तु) किन्तु (तत्रैव एकार्थे च) उसी एकार्थमें ही (क्रमात्) क्रमपूर्वक अर्थात् समय समयमें (पुनः वृत्तिः अपि) फिर फिरसे अपने उसही विषयमें रहनाभी क्रमत्वकी सिद्धिमें हेतु होता है।

भावार्थः— जैसे अर्थान्तराकृतिसे ऐन्द्रियज्ञानोंमें—मतिश्रुतादि ज्ञानोंमें क्रमवर्तित्व सिद्ध होता है वैसे ही किसी एक विषयमें पुन २ वृत्तके द्वाराभी क्रमवर्तित्व सिद्ध होता है। इसलिए ध्यानमे अक्रमवर्तित्वका निराकरण होजाता है अर्थात् क्रमवर्ति ध्यानकी सन्तानकोभी ध्यान शब्दसे कहते है । उक्तं च—ध्यानसन्तानमपि ध्यानमित्युपचर्यते।

नोह्यं तत्राप्यतिव्याप्तिः क्षायिकात्यक्षसंविदि ।
स्यातपरीणामवत्त्वेऽपि पुनर्वृत्तेरसम्भवात् ॥ ८४५ ॥

अन्वयार्थ— (**तत्र**) उस (**क्षायिकात्यक्षसंविदि**) क्षायिक–अतीन्द्रिय केवलज्ञानमें (**अपि**) भी (**अतिव्याप्तिः**) अति व्याप्तिका प्रसङ्ग आवेगा (**' इति ' न उद्यम्**) ऐसा तर्क नहीं करना चाहिये क्यों कि (**परीणामवत्त्वे अपि**) उस केवलज्ञानमें स्वाभाविकरूपसे परिणमन होते हुएभी (**पुनर्वृतेः असम्भवात्**) पुनर्वृत्ति सम्भव नहीं है।

भावार्थः— अलक्ष्यमेंभी लक्षणके जानेको अतिव्याप्ति कहते है। शंकाकारका कहना है कि यदि कदाचित् यह कहो कि ध्यानमे क्रमवर्तित्व माननेसे केवलीके ध्यानमेंभी क्रमवर्तित्वका प्रसंग आवेगा तो यह कहनाभी ठीक नहीं है क्योंकि केवलीके अतींद्रिय क्षायिक–ज्ञानमें पुनर्वृत्ति नहीं होती है इसलिए वह क्रमवर्ति न कहलाकर अक्रमवात, तथा युगपद् अनन्त पदार्थोंका ज्ञायक कहलाता है तथा उसमें जो ध्यान शद्बकी वृत्ति है वह उपचारित है क्योंकि ध्यान श्रुतज्ञानकी पर्याय है इसलिए वास्तवमें ध्यान बारहवें गुणस्थानके उपान्त्य समयतकही होता है–। परन्तु आगेके गुणस्थानोंमे कर्मकी निर्जरारूप ध्यानका कार्य पाये जानेके कारण ध्यानका उपचार किया जाता है।

क्योंकि ।

यावच्छ्मस्थजीवानामास्तिज्ञानचतुष्टयम् ।
नियतक्रमवर्तित्वात्सर्वं संक्रमणात्मकम् ॥ ८४६ ॥

अन्वयार्थः— (**छद्मस्थजीवानां**) छद्मस्थ–अल्पज्ञ जीवोंमें (**यावद् ज्ञानचतुष्टयं अस्ति**) जो चारों ज्ञान पाये जाते है (**सर्वं**) वे सब (**नियतक्रमवर्तित्वात्**) नियमसे क्रमवर्ति होनेके कारण (**संक्रमणात्मकम्**) संक्रमणरूप होते है।

भावार्थः— छद्मस्थ जीवके चारोंही क्षायोपशामिक ज्ञान संक्रमणात्मक होते है और केवलीका क्षायिक-ज्ञान असंक्रमणात्मक होता है।

नालं दोषाय तच्छक्तिः सूक्तं संक्रांतिलक्षणा ।
हेतोर्वैभाविकत्वेऽपि शक्तित्वाज्ज्ञानशक्तिवत् ॥ ८४७ ॥

अन्वयार्थः— (**वैभाविकत्त्वे अपि शक्तित्वात् हेतोः**) यद्यपि उन चारोही क्षायोपशमिक

ज्ञानोंमें वैभाविकपना है तथापि शक्तिपनेरूप हेतुसे (ज्ञानशक्तिवत्) ज्ञान शक्तिकी तरह (सूक्तं सन्क्रांतिलक्षणा तच्छक्ति.) उत्तम प्रकारसे जिसका सन्क्रातिरूप लक्षण कहा गया है। ऐसी उन चारोंही क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी विकल्पात्मक वह शक्ति सम्यक्त्वके लिए (दोषाय अलं न) दोषाध्यापक नहीं है ।

भावार्थ — यद्यपि चारोंही क्षायोपशमिक ज्ञान वैभाविक भाव होनेके कारण संक्रमणात्मक है तथापि अपनी शक्तिपनेसे सम्यग्दर्शनके लिए बाधक नहीं है। इसलिए इनमें वैभाविकपनेके कारण जो विकल्पात्मकपना है उससे सम्यक्त्वमें किसी प्रकारका दोष उत्पन्न नहीं होसकता है। (अत सरागोके सम्यक्त्वको सविकल्प कहना युक्तियुक्त नहीं है।)

ज्ञानसंचेतनायास्तु न स्यात्तद्विघ्नकारणम् ।
तत्पर्यायस्तदेवेति तद्विकल्पो न तद्रिपुः ॥ ८४८ ॥

अन्वयार्थः— (तद्) वह क्षायोपशमिक ज्ञानका विकल्पपना (ज्ञानस्यचेतनायाः) ज्ञानचेतनाका (विघ्नकारणम्) बाधक (न तु स्यात्) नहीं हो सकता है क्योंकि (तद् पर्यायः तदेव) जिस गुणकी जो पर्याय होती है वह कथंचित् तद्रूपही होती है इसलिए (तद्विकल्प.) क्षायोपशमिक ज्ञानका पर्यायार्थिक नयसे विकल्पात्मक होनेरूप एक प्रकारका स्वभाव (तद्रिपुः न) ज्ञानचेतनारूप शुद्ध ज्ञानका बाधक नहीं होसकता है ।

भावार्थः— सम्यक्त्वके साथ उत्पन्न होनेवाली ज्ञानचेतनाके लिए चारोंही ज्ञानोंका संक्रमण बाधक नहीं है क्योंकि ज्ञानचेतना का बाधक विवक्षित ज्ञानावरणका उदयही होसकता है। क्षयोपशम नहीं। जिस प्रकार प्रतिपक्षी कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेवाली ज्ञानकी क्षायिकरूप शुद्ध पर्याय ज्ञानचेतनाकी बाधक नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली क्षायोपशमिकरूप ज्ञानकी पर्यायभी यद्यपि वैभाविक है तथापि वह ज्ञानचेतनाकी बाधक नहीं होसकती है। कारण कि क्षायोपशमिकरूप ज्ञानकी पर्यायें कथंचित् ज्ञानगुणरूपही पडती है। इसलिए क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल्प उस ज्ञानचेतनाके बाधक नहीं होसकते है ।

ननु चेति प्रतिज्ञा स्यादर्थादर्थान्तरे गतिः ।
आत्मनोऽन्यत्र तत्रास्ति ज्ञानसंचेतनान्तरम् ॥ ८४९ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि यदि ज्ञानका संक्रमणात्मकपना ज्ञानचेतनाका किसीभी प्रकारसे बाधक नहीं है तो (अर्थात् अर्थांतरे गतिः इति प्रतिज्ञा स्यात्) ज्ञानचेतनामेंभी मतिज्ञानपनेके कारण अर्थसे अर्थांतररूप संक्रमण होता है यह पक्ष मानना पडेगा और (तत्र) वैसा मानेपर (आत्मनः अन्यत्र) आत्माके विना इतर विषयोंमेंभी ज्ञानचेतनाका उपयोग होता है यह मानना पडेगा।

भावार्थ— ज्ञानचेतनाका निरुक्त्यर्थ पहले ऐसा किया है कि 'ज्ञानं चेत्यते अनया' अर्थात् ज्ञान-शुद्धात्मा जिस चेतनाके द्वारा जाना जाता है उसे ज्ञानचेतना कहते है। परन्तु इस प्रकरणमें जैसे सम्यग्दृष्टि के अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें अर्थसे अर्थान्तररूप संक्रान्ति होती है वैसेही क्षायोपशमिकपने के कारण ज्ञानचेतनामेंभी संक्रमण मानना पडेगा और संक्रमणके माननेसे ज्ञानचेतनाका विषय केवल शुद्ध आत्मा न होकर इतर विषयभी होते है यह मानना पडेगा।

सत्यं हेतोर्विपक्षत्वे वृत्तित्वाद्व्यभिचारिता।
यतोऽत्रान्यात्मनोऽन्यत्र स्वात्मनि ज्ञानचेतना ॥ ८५० ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है कि (हेतोः विपक्षत्वे वृत्तित्वात्) हेतु कि विपक्षमें वृत्ति होनेसे उसमें (व्यभिचारिता) व्यभिचारीपना आता है। (यतः) क्यों कि (अन्यात्मनो अन्यत्र) परस्वरूप परपदार्थसे भिन्न (अत्र स्वात्मनि) अपने इस स्वात्मामें (ज्ञानचेतना) ज्ञानचेतना होती है।

भावार्थः— ठीक है कि हेतुकी विपक्षवृत्तिकी सम्भावनामें व्यभिचारीपनेकी सम्भावना होसकती है परन्तु ज्ञानचेतनामें जो आत्माकी प्रवृत्ति होती है वह परपदार्थोंसे आत्माको खींचकर पुनः पुनः स्वात्मामें स्थापित करती है इसप्रकार के क्रमवर्तिपनेसे विपक्षिवृत्ति सम्भवही न होनेके कारण व्यभिचारीपना नहीं कहा जासकता है।

किंच सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना।
अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखण्डैकधारया ॥ ८५१ ॥

अन्वयार्थ:— (**किञ्च**) तथा (**सर्वस्य सद्दृष्टेः**) सम्पूर्ण सम्यग्दृष्टियोंके (**अव्युच्छिन्न प्रवाहेण**) धारा प्रवाहमें (**यद्वा**) अथवा (**अखण्डैकधारया**) अखण्ड एक धारासे (**नित्यं ज्ञानचेतना स्यात्**) सदैव ज्ञानचेतना होती है।

भावार्थः— सब सम्यग्दृष्टियोंको जबतक सम्यक्त्व रहता है तबतक अवश्यही प्रवाहरूपसे अथवा अखण्डधारा रूपसे ज्ञानचेतना रहती है। यहापर अव्युच्छिन्न प्रवाह अथवा अखण्डधारारूपसे उसे नित्य कहनेका यह प्रयोजन है कि ज्ञानचेतना जातिकी अपेक्षा लब्धिरूपसे सदैव रहती है, नोट.— यद्यपि तीन प्रकारके सम्यक्त्वोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि अथवा उपशम सम्यग्दृष्टिकी ज्ञानचेतनामें तरतम भावकी सम्भावना नहीं है किन्तु क्षयोपशम सम्यग्दृष्टिके देशघाति सम्यक्प्रकृतिके उदयसे चल मल आदि दोष उत्पन्न होनेसे ज्ञानचेतनामें तरतमभाव होसकता है। तथापि ज्ञानचेतना की धारा और प्रवाहमें बाधा नहीं आसकती। क्योंकि जबतक सम्यक्त्व रहता है तबतक लब्धिरूप ज्ञानचेतना अवश्य रहती है।

हेतुस्तत्रास्ति सध्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह।
ज्ञानसंचेतनालब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात्॥ ८५२॥

अन्वयार्थः— (**तत्र हेतुः अस्ति**) सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना की सदैव उपलब्धिमें कारण यह है कि (**इह**) इसमें (**सम्यक्त्वेन अन्वयात्**) सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके साथ अविनाभावरूपसे होनेवाली (**स्वावरण व्ययात्**) स्वानुभूति मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे (**सध्रीची**) समीचीन (**ज्ञानचेतना लब्धिः**) ज्ञानचेतना की लब्धि अर्थात् लब्धिरूप ज्ञानचेतना (**नित्या**) सदैव पाई जाती है।

भावार्थः— यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दोनोंकी उत्पत्तिका एकही काल है परन्तु फिरभी इन दोनोंमें कार्यकारण भाव है। क्योंकि सम्यग्दर्शनके होनेपरही ज्ञानमें सम्यक्पना आता है कारण कि जिस समय मिथ्यात्व कर्मका उपशम, क्षयोपशम किंवा क्षय होता है उसी समय मिथ्यात्वके अभावके साथही स्वानुभूत्यावरण नामक मतिज्ञानावरणकाभी क्षयोपशम अवश्य हो जाता है। सम्यक्त्व तथा सम्यग्ज्ञानके बाधक, मिथ्यात्व कर्म और स्वानुभूत्यावरण कर्मका व्यय युगपत् होनेसे उक्त दोनोंकी उपलब्धिभी युगपत् ही होती है जबतक सम्यक्त्वका सद्भाव रहता है तबतक लब्धिरूप ज्ञानचेतनाभी अखण्ड धारासे वा अव्युछिन्न प्रवाहसे अवश्य रहती है। इसलिए सम्यक्त्वके साथ ज्ञानचेतनाका नित्य संबंध बताया है। और इसीलिए सम्यग्दृष्टिके ज्ञान चेतनाको नित्य कहा है।

कदाचित्काऽस्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी ।
नालं लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसम्भवात् ॥ ८५३ ॥

अन्वयार्थः— (समव्याप्तेः असम्भवात्) लब्धि और उपयोगमें समव्याप्ति नहीं होनेसे (कदाचित्का स्वोपयोगिनी ज्ञानस्य चेतना) यदा कदाचित् आत्मोपयोगमें तत्पर रहनेवाली उपयोगात्मक ज्ञानचेतना (लब्धेः) लब्धिरूप ज्ञानचेतना के (विनाशाय) नाश करनेके लिए (अलं न) समर्थ नहीं है ।

भावार्थः— जैसे भावेन्द्रिय और भावमन ये दोनों लब्धि तथा उपयोगरूप होते है। वैसेही स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली ज्ञानचेतना भी लब्धि और उपयोगरूप होती हैं। यद्यपि युगपद् नाना ज्ञानोंकी लब्धि रह सकती है किन्तु उपयोग एक समय एकही जातिके ज्ञानका होता है अर्थात् जिस समय सम्यग्दृष्टि के कोई इन्द्रियोपयोग किंवा अन्य कोई श्रुतज्ञानोपयोग होता है उससमय यद्यपि उस के उपयोगात्मक ज्ञानचेतना नहीं होती है। तथापि लब्धिरूप ज्ञानचेतना अवश्य होती है इसलिए जिससमय उसके उपयोगात्मक ज्ञान नहीं होती है उससमय उस के उपयोगात्मक ज्ञानचेतना के अभावमें लब्धिरूप ज्ञानचेतना नहीं होती है ऐसा नहीं कहा जा सकता है कारण कि लब्धि और उपयोग इन दोनोंमें समव्याप्ति नहीं है। अतः उपयोगात्मक ज्ञानचेतनाका अभाव लब्धिरूप ज्ञानचेतना के नाशमें कारण नहीं हो सकता है।

अस्त्यत्र विषमव्याप्तिर्यावल्लब्ध्युपयोगयोः ।
लब्धिक्षतेरवश्यं स्यादुपयोगक्षतिर्यतः ॥ ८५४ ॥
अभावात्तूपयोगस्य क्षतिर्लब्धेश्चवा न वा ।
यत्तदावरणस्यामा दृशा व्याप्तिर्नचामुना ॥ ८५५ ॥
अवश्यं सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षतिः।
न तत्क्षतिरसत्यत्र सिद्धमेतज्जिनागमात् ॥ ८५६ ॥

१ आवरण शब्दसे आवरणका क्षयोपशम ग्रहण किया है अन्यथा पद्यका अर्थ ठीक नहीं होसकता है ।

अन्वयार्थः— (अत्र) यहां (यावद्-लब्धिउपयोगयोः) सम्पूर्ण लब्धि और उपयोगोंमें (विषमव्याप्तिः अस्ति) विषम व्याप्तिही होती है (यतः) क्योंकि (लब्धिक्षतेः) लब्धिके नाशसे (अवश्य उपयोगक्षतिः स्यात्) अवश्यही उपयोग का नाश होजाता है (तु) किन्तु (उपयोगस्य अभावात्) उपयोगके अभावसे (लब्धेः क्षतिः) लब्धिका नाश हो (वा) अथवा नहीं भी हो । (यद्) कारण (दृशा अमा) जैसे दर्शनमोहके क्षयोपशमादिकके साथ (तदावरणस्य) स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमकी (लब्धिरूप ज्ञानचेतनाकी)(व्याप्तिः) समव्याप्ति है; (अमुना च न) वैसी ज्ञानचेतनाके उपयोगके साथ सम्यक्त्वकी व्याप्ति नहीं है किन्तु विषम-व्याप्ति है (सम्यक्त्वे सति) सम्यक्त्व होतेही (तद् लब्ध्यावरणक्षतिः) ज्ञानचेतनावरण=स्वानुभूत्यावरण कर्मका नाश (अवश्यं ' भवति ') अवश्य होता है तथा (अत्र असति) इस सम्यक्त्वके न होनेपर (तत्क्षतिः न) उस ज्ञानचेतनावरण कर्मका क्षयोपशमभी नहीं होता अर्थात् उदयही रहता है (एतद् जिनागमात् सिद्धं) यह आगममें प्रसिद्ध है ।

भावार्थः— स्वानुभूतिके लब्धिके अभावमें उपयोगकाभी अभाव होजाता है, किन्तु उपयोगके अभावमें लब्धिके अभाव होनेका नियम नहीं है इसलिये स्वानुभूतिकी लब्धि और उपयोगमें विषमव्याप्ति है जैसे सम्यक्त्वके उत्पत्तिके साथही स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमरूपजन्य ज्ञानचेतना-लब्धिकी उत्पत्तिका सहभावी नियम है। वैसे सम्यक्त्वके उत्पत्तिके साथ सदैव सम्यग्दृष्टिके शुद्ध आत्माके प्रति ही उपयोग रहता है यह नियम नहीं है । इसलिए सम्यक्त्वके साथ स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली ज्ञानचेतनाकी लब्धिका सहभावी अविनाभाव है । और उस सहभावी अविनाभावके कारण ज्ञानचेतनाकी लब्धि और सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है । किन्तु सम्यक्त्वके होनेपर ज्ञानचेतनाका उपयोग होगाही यह नियम नहीं किन्तु ज्ञानचेतनाका उपयोग यदि होगा तो सम्यक्त्वके होनेपरही होगा अन्यथा नहीं । ऐसा नियम है इसलिए अग्नि और धूमके समान, सम्यक्त्व और ज्ञानचेतनाके उपयोगमें विषमव्याप्तिही है ।

नूनं कर्मफले सद्यश्चेतना वाऽथ कर्मणि ।
स्यात सर्वतः प्रमाणाद्वै प्रत्यक्षं बलवद्यतः ॥ ८५७ ॥

१ प्रकरणवश ' दृशा ' और ' तदावरणस्य ' इन दोनों शब्दोंका अर्थ दर्शनमोह और ज्ञानावरणका यथायोग्य क्षयोपशमादि किया है । दूसरा अर्थ " दर्शनमोहके उदयके साथ स्वानुभूत्यावरणके उदयकी व्याप्ति " किया जासकता है ।

अन्वयार्थः— (**सद्यः**) चतुर्थ आदि गुणस्थानोंमें (**सर्वतः प्रमाणात्**) सब प्रमाणोंसे (**कर्मफले**) कर्मफलमें (**अथवा**) अथवा (**कर्मणि**) कर्ममें (**चेतना नूनं स्यात्**) चेतना अवश्य पाई जाती है (**यतः**) क्यों कि (**वै**) निश्चयसे (**प्रत्यक्षं**) प्रत्यक्ष प्रमाण सब प्रमाणोंसे (**बलवत्**) बलवान् है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिके कर्म और कर्मफलचेतना के होनेका कारण ग्रन्थकारने जघन्यपद बताया है। और उस जघन्य पदका कारण चारित्र मोहका उदय बताया है अर्थात् जबतक सम्यग्दृष्टि जघन्य पदमें स्थित रहता है तबतक उस के कर्म और कर्मफल चेतनाके सद्भावकीभी सम्भावना रहती है । अर्थात् सम्यग्दृष्टि के कभी कभी कर्म तथा कर्मफलचेतनाभी होती है । कारण उस के सदैव उपयोगात्मक ज्ञानचेतना नहीं रहती है। तथा जैसें अविरत सम्यग्दृष्टि के, नाना उपयोगोंकी सम्भावना के रहनेसे, ज्ञानचेतनाकी लब्धि और उपयोगमें समव्याप्ति नहीं है। वैसेही सम्यक्त्व और ज्ञानचेतनाके साथभी समव्याप्ति नहीं है । किन्तु दोनोंही जगह विषमव्याप्तिही है। अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के, सम्यग्दर्शन और लब्ध्यात्मक ज्ञानचेतनाके साथही समव्याप्ति है ।

इसप्रकार सम्यक्त्व के साथ लब्ध्यात्मक ज्ञानचेतनाकी समव्याप्ति तथा उपयोगात्मक ज्ञानचेतनाकी विषम-व्याप्तिका विचार करके आगे योगसंक्रान्तिरूप विकल्पकी अपेक्षासें जैसा छद्मस्थोंके ज्ञानमें सविकल्पपना रहता है। वैसा लब्धि तथा उपयोगरूप ज्ञानचेतनामें सविकल्पकपना रहता है, या नहीं रहता है इस विषयका विचार करते है।

सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धि र्या प्रोक्तलक्षणा ।
निरुपयोगरूपत्त्वान्निर्विकल्पा स्वतोऽस्ति सा ॥ ८५८ ॥

अन्वयार्थः— (**एतावता उक्तेन**) इतना कहनेसे (**सिद्धं**) यह सिद्ध होता है (**प्रोक्तलक्षणा या लब्धि**) कि जिसका लक्षण कहा जा चुका है ऐसी जो लब्धि है (**सा**) वह (**स्वतः निरूपयोगरूपत्वात्**) स्वतः उपयोगरूप न होनेसे (**निर्विकल्पा**) निर्विकल्प (**अस्ति**) है।

भावार्थः— छद्मस्थोंके उपयोगात्मक ज्ञानमेंही योगसंक्रान्तिके निमित्तसे होनेवाला विकल्प होता है, लब्ध्यात्मकमें नहीं, इसलिए स्वानुभूतिकी (ज्ञानचेतनाकी) लब्धि उपयोगात्मक न होनेसे निर्विकल्प है ।

शुद्धः स्वात्मोपयोगो यः स्वयं स्यात ज्ञानचेतना ।
निर्विकल्पः स एवार्थादसंक्रांतसंगतेः ॥ ८५९ ॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (स्वयं ज्ञानचेतना) स्वय ज्ञानचेतनारूप (यः शुद्धः स्वात्मोपयोग स्यात्) जो शुद्ध स्वकीय आत्माका उपयोग है (सः) वह (असंक्रांतसंगतेः) संक्रात्यात्मक न होनेसे (निर्विकल्पः एव) निर्विकल्पक रूपही है ।

भावार्थः— जिस समय ज्ञानचेतनारूप शुद्ध आत्मोपयोग होता है उस समय उस उपयोगमें अर्थसे अथार्तर गति नहीं होती है । इसलिए उतने समयतक वह उपयोगभी निर्विकल्पक ही है ।

प्रश्न

अस्ति प्रश्नावकाशस्य लेशमात्रोऽत्र केवलम् ।
यत्काश्चित् बहिरर्थे स्यादुपयोगोऽन्यत्रात्मनः ॥ ८६० ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) अतः अब यहापर (केवलम्) केवल (प्रश्नावकाशस्य लेशमात्रः) इतनेही प्रश्नको अवकाश (अस्ति) मिलता है कि (आत्मनः अन्यत्र) आत्माके सिवाय (बहिः अर्थे) बाह्यअर्थमें भी सम्यग्दृष्टिका (यद् कश्चित् उपयोगः स्यात्) क्या कोई अन्य उपयोग होता है ?

भावार्थः— भिन्न २ अपेक्षाओंसे, अविरत सम्यग्दृष्टिकी, लब्धिरूप ज्ञानचेतना और उपयोगरूप ज्ञानचेतनाको निर्विकल्प सिद्ध करनेसे, प्रश्नके लिए केवल इतनीही जगह रह जाती है कि जब वह जघन्यपदमें [अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानमें] स्थित है तब उसके आत्माके सिवाय बहिरर्थमें भी उपयोग होता है क्या ? अथवा नहीं ?

उत्तर ।

अस्ति ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः ।
आत्मपरोभयाकारभावकश्च प्रदीपवत् ॥ ८६१ ॥

अन्वयार्थः— (ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः) ज्ञानोपयोग के स्वभावकी महिमाही ऐसी कुछ है कि वह ज्ञानोपयोग (प्रदीपवत्) प्रदीपकी तरह (आत्मपरोभयाकारभावकश्च अस्ति) स्व और परके तथा उभय के आकारका युगपत् आभासक—प्रकाशक होता है ।

---

१ अन्तिम चरणमें एक अक्षर कम पडता है ।

भावार्थः—ज्ञानोपयोगका स्वरूपही ऐसा कुछ है कि वह केवल स्वावभासक वा परावभासक न होकर स्वपरावभासक होता है इसलिए काचित् सम्यग्दृष्टिका बाह्य पदार्थोंमें भी उपयोग जाता है परन्तु उस समयभी उसको स्वका-अपने आत्माकाभी आभास होता है इसलिए उसको तज्जन्य आसक्ति नहीं रहती। सारांश यह है कि सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वके महात्म्यसे उसके ज्ञानमें सम्यक्पना उत्पन्न होता है और यद्यपि वह जबतक जघन्यपदमें स्थित है तबतक चारित्रमोहवश बाह्य पदार्थोंमें रागद्वेष करता है तथापि अनंतानुबंधी और मिथ्यात्वका अभाव होनेसे, जो इन मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायके निमित्तसे संसार अवस्थामें विपरीतता थी उसका नाश होजाता है। इसलिए ज्ञानमें एक प्रकारकी विशुद्धता आजाती है। उसके कारण यह जीव स्वपरपदार्थोंमें विपरीतता नहीं करता। अतः यह सम्यग्दृष्टि जीव जघन्यपदमें रहकरभी स्वकीय बोधसे च्युत नहीं होता है।

स्पष्टीकरण।

निर्विशेषाद्यथाऽऽत्मानमिव ज्ञेयमवैति च।
तथा मूर्तानमूर्तांश्च धर्मादीनवगच्छति ॥ ८६२ ॥

अन्वयार्थः— (**यथा**) जैसे वह ज्ञान (**निर्विशेषाद्**) सामान्य रीतिसे अर्थात् किसीप्रकारसे किसी प्रकारका भेद न करके (**आत्मानं इव**) अपनी तरह (**ज्ञेयं च अवैति**) अपने विषयभूत ज्ञेयको भी जानता है (**तथा**) वैसेही (**मूर्तान्**) मूर्त पदार्थोंको (**च**) और (**अमूर्तान् धर्मादीन्**) अमूर्त जो धर्म, अधर्म वगैरह द्रव्य है उनकोभी (**अवगच्छति**) जानता है।

भावार्थ— जिसप्रकार जिससमय आत्मा अपने विषयमें उपयोग करता है उससमय आत्माका आत्मज्ञान ज्ञान कहलाता है और उसका विषयभूत जो निज आत्मा है वह ज्ञेय हो जाता है। इसही प्रकार जब वह मूर्तामूर्तादि विषयको जानता है तब भी स्व और परको युगपत् जानता है।

अथवा इस पद्यका यहभी अर्थ होता है कि निश्चयनयसे आत्मा आत्मज्ञ है इसलिये जिससमय परम शुद्ध आत्मा अपने शुद्ध केवलज्ञानके द्वारा अपने आत्माको सम्पूर्ण रीतिसे जानता है उससमय जैसे उसके स्व [ज्ञान] और पर [ज्ञानका विषयभूत शुद्ध आत्म-द्रव्यका] पूर्ण ज्ञान होता है वैसेही उस ज्ञानकी अत्यन्त निर्मल प्रतिभासक

शक्तिसे शेष सम्पूर्ण द्रव्य भी स्वयं उसमें प्रतिभासित होने लगते है। कारण, शुद्ध ज्ञानोपयोगका ऐसाही कोई अचिन्त्य माहात्म्य है कि जिस के कारण वह स्व-विषय में उपयुक्त होता हुआ भी स्व तथा अन्य सब पदार्थोंका भी यथार्थ ज्ञाता होता है।

स्वस्मिन्नेवोपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि।
परस्मिन्नुपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि ॥ ८६३ ॥

अन्वयार्थः— (यः) जो (स्वस्मिन् एव उपयुक्तः) निजात्मोपयोगी ही है (स. एव हि) वही ही निश्चयसे (उपयुक्तः) उपयुक्त है (न वा) ऐसा नहीं है तथा (यः) जो (परस्मिन् उपयुक्तः) परपदार्थोपयोगी है (स एव हि) वही ही निश्चयसे (उपयुक्तः) उपयुक्त है (न वा) ऐसा भी नहीं है, किन्तु उभय विषयको विषय करनेवालाही उपयुक्त अर्थात् यथार्थ उपयोग करनेवाला होता है। ऐसा नियम है इस प्रकार क्रियाका अध्याहार करना चाहिये।

नोटः— अज्ञान बन्धका कारण नहीं और ज्ञान मोक्षका कारण नहीं है किन्तु मिथ्यात्व और कषायका उदय बन्धका निमित्त है और उनका ही अनुदय मोक्षका निमित्त है। अत. स्वात्मोपयोगीही या परमार्था-पयोगीही कृतार्थ है इस कथनमें कुछ महत्व नहीं है, किन्तु सम्यग्दृष्टिके जो मिथ्यात्व वा अनन्तानुबन्धीका वा औरभी कषायोंका जब यथासम्भव उपशम, क्षय, वा क्षयोपशम हो जाता है तदनुसारही उसके संवर वा निर्जरा होती है और जितने अंशोंमें कषायोंका उदय रहता है उतने अंशमें आस्रव भी होता रहता है। उसका उपयोग चाहे स्वात्मोपयोगमें हो या परपदार्थोपयोगमे हो उसपरसे उसमें कृतार्थका कुछ सम्बन्ध नहीं रहता है किन्तु वास्तवमें मिथ्यात्वादिकका अभाव होनेसे वह कृतार्थ कहलाता है।

भावार्थ— केवल स्व विषयका वा केवल पर विषयकाही उपयोग करनेवाला कोई सच्चा उपयोगवाला होता है ऐसा नहीं किन्तु स्व पर विषयको उपयोग करनेवालाही आत्मा उपयोगवाला कहलाता है।

स्वस्मिन्नेवोपयुक्तोऽपि नोत्कर्षाय स वस्तुतः।
उपयुक्तः परत्रापि नापकर्षाय तत्त्वतः ॥ ८६४ ॥

अन्वयार्थ— (**सः**) वह सम्यग्दृष्टि (**स्वस्मिन् एव**) अपनेमें (**उपयुक्तः अपि**) उपयुक्त होकरभी (**वस्तुत**) वास्तवमें (**उत्कर्षाय न**) किसी प्रकारके उत्कर्षके लिए समर्थ नहीं होता है अर्थात् इससे उसका कुछ संवर व निर्जरामें किसी प्रकारका उत्कर्ष नहीं हो जाता है। और यदि (**परत्र उपयुक्तः अपि**) पर पदार्थमेंभी वह उपयुक्त होगया हो तोभी (**तत्त्वतः**) वास्तवमें (**अपकर्षाय न**) किसी प्रकारके अपकर्षके लिये समर्थ होता है ऐसाभी नहीं है, अर्थात् उससे उसके संवर वा निर्जरामें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं आती है, कारण कि स्व और परमें उपयुक्त व अनुपयुक्त रहना मोक्ष व बन्धके लिये कारण नहीं माना है । किन्तु मिथ्यात्वका अनुदय व उदयको ही मोक्ष व बन्धमें कारण माना है ।

तस्मात् स्वस्थितयेऽन्यस्मादेकाकारचिकीर्षया ।
मासीदसि महाप्राज्ञ सार्थमर्थमवैहि भो ॥ ८६५ ॥

अन्वयार्थ — (**तस्मात्**) इसलिए (**स्वस्थितये**) अपनेमें अपनी स्थितीके लिये–निराकुलताके लिए (**अन्यस्मात्**) पर वस्तुके साथ (**एकाकारचिकीर्षया**) अभिन्नता करनेकी इच्छासे (**मा सीदसि**) तुम दुःखी मत होवो किन्तु (**भो महाप्राज्ञ**) भो महाप्राज्ञ (**सार्थम् अर्थम् अवैहि**) प्रयोजनभूत अर्थको समझो ।

भावार्थः— हे आत्मन्, परवस्तुमें निजत्व कल्पनाके कारणही तूं अनादि कालसे दुःखी होता है अर्थात् निराकुलताके लिए परवस्तुओंमेंही एकत्व मानकर उनके संग्रहमें सदैव तत्पर रहनेसे तूं दुःखी हो रहा है । इसलिए अब परमप्रयोजनभूत नव पदार्थोंको किंवा सप्त तत्वोंको तूं समझ । कारण इसके समझनेसेही तूं सांसारिक दुःखोंसे मुक्त हो सकता है । प्रयोजनभूत पदार्थोंके श्रद्धानका नामही सम्यक्दर्शन है और इससे विपरीत श्रद्धानका नाम मिथ्यादर्शन है ।

सार्थ शब्दके दो अर्थ होते हैं । एक प्रयोजनभूत और दूसरा युगपत् । जैसे सम्यक्त्वके प्रकरणमें सार्थ शब्दका अर्थ प्रयोजनभूत उपयुक्त मालूम होता है वैसे सम्यग्ज्ञानके प्रकरणमें युगपत् स्वपर अर्थको जानना यह अर्थ भी उपयुक्त प्रतीत होता है । यहांपर सम्यग्ज्ञानके स्वपरोपयोगका विषय चल रहा है । इसलिए हे आत्मन्, परवस्तुमें निजत्व मानकर एकाकार करनेकी इच्छासे तूं दुखी मत हो । किंतु युगपत् स्व और परको स्व तथा पररूपसे जान ।

चर्यया पर्यटन्नेव ज्ञानमर्थेषु लीलया ।
न दोषाय गुणायाथ नित्यं प्रत्यर्थमर्थसात् ॥ ८६६ ॥

अन्वयार्थः— (ज्ञानं) ज्ञान (अर्थेषु) अपने विषयोंमें (चर्यया एव पर्यटन्) इष्टानिष्ट कल्पनाके अनुसार प्रति समय अर्थसे अर्थांतरमें होनेवाली वृत्तिसेही वर्त रहा है (लीलया न) लीलासे नहीं इसलिए उसका (नित्यं) सदैव (प्रत्यर्थम्) अर्थ अर्थके प्रति (अर्थसात्) उसका तदाकार होकर विषय करना (दोषाय अथ गुणाय न) सम्यक्त्वके लिए दोषदायक वा गुणाधायक नहीं है ।

भावार्थ — साकार अर्थात् अर्थाकार होकर अर्थको जानना क्षायोपशमिक ज्ञानका स्वभाव है और वह क्षायोपशमिक-ज्ञान इष्टानिष्ट कल्पनाके अनुसार प्रत्यर्थ परिणामी होता रहता है । अतः उसके निमित्तसे सम्यक्त्वमें न कुछ दोष पैदा होते है तथा न गुणही पैदा होते है । क्योंकि चारित्रमोहके उदयसे उत्पन्न होनेवाली इष्टानिष्ट कल्पनासे सम्यक्त्वमें कुछ हानि लाभ नहीं होता है ।

आगे ग्रन्थकार सम्यक्त्वके गुण और दोषोंका निरूपण करते हैं ।

दोषः सम्यक्दृशो हानिः सर्वतोऽशाशतोऽथवा ।
संवराग्रेसरायाश्च निर्जरायाः क्षतिर्मनाक् ॥ ८६७ ॥
व्यस्तेनाथ समस्तेन तद्वयस्योपमूलनम् ।
हानिर्वा पुण्यबंधस्य हेयस्याप्यपकर्षणम ॥ ८६८ ॥
उत्पत्तिः पापबन्धस्य स्यादुत्कर्षोऽथवास्य च ।
तद्वयस्याथवा किंचिद्यावदुद्वेलनादिकम ॥ ८६९ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यक्दृशः) सम्यग्दर्शनकी (सर्वतः) सर्वांशसे (अथवा) अथवा (अशांशतः) एक देशसे (हानिः) हानि होनाही (दोषः) दोष है (च) तथा (संवराग्रेसरायाः निर्जरायाः) सम्यक्त्वकी निमित्तसे संवरपूर्वक निर्जरा होती है उसकी (मनाक् क्षतिः) कुछ क्षति होनाही दोष है । साराश, देशरूपसे सम्यक्त्वकी हानि होना अथवा संवर निर्जरा न होनाही, सम्यक्त्व के दोष कहलाते है ।

(व्यस्तेन) एक देशसे (अथ) अथवा (समस्तेन) सर्वांशसे (तद्द्वयस्य उपमूलनम्) उन संवर और निर्जराका विघात होना (वा) अथवा (हेयस्य अपि पुण्यबन्धस्य) सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा हेयभी पुण्यबन्धका (अपकर्षणम्) अपकर्षण होने लगना (हानिः) हानि अर्थात् सम्यक्त्वके लिए दोष कहलाते है ।

(अथवा) अथवा (पापबन्धस्य) पापबन्धकी (उत्पत्तिः) उत्पत्ति होने लगना (च) तथा (अस्य उत्कर्षः) इसी पापबन्धका उत्कर्ष होने लगना (हानिः 'स्यात्') दोष कहा जाता है (अथवा) अथवा (यावद्) जबतक (किंचित् उद्वेलनादिकम्) कुछ थोडाभी सम्यक्त्वप्रकृति आदिका उद्वेलनादि हो तबतक (तद् द्वयस्य) पापबन्धकी उत्पत्ति या उत्कर्ष होने लगना भी (हानिः) दोष कहा जाता है ।

भावार्थः— अंशत. अथवा पूर्ण रीतिसे सम्यग्दर्शनकी हानी होना, सम्यग्दृष्टिको होनेवाली संवर और निर्जरामें कुछ अन्तर पडना, अथवा उनका आशिक वा सर्व रीतिसे नाश होना, और यद्यपि सम्यग्दृष्टि पुण्यबन्धको हेयही समझता है तथापि उस के जो पापबन्ध कम होकर पुण्यबन्धही अधिक होता है उस पुण्यबन्धमें कुछ कमी होना, अथवा पुण्यबन्धका अपकर्षण होना वा पापबन्धकी उत्पत्ति अथवा उसका उत्कर्ष होने लगना अथवा सम्यक्प्रकृतिके उद्वेलनादि होने लगना पापबन्धकी उत्पत्ति या उत्कर्ष होना सम्यक्त्वमें दोषाध्यायक होते है ।

गुणः सम्यक्त्वसम्भूतिरुत्कर्षो वा सतोऽशकैः ।
निर्जराऽभिनवा यद्वा संवरोऽभिनवो मनाक् ॥ ८७० ॥

अन्वयार्थः— (सम्यक्त्वसम्भूतिः) सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होना (वा सतः) या प्राप्त सम्यग्दर्शनमें (अंशकैः) किन्ही अंशोंमें (उत्कर्षः) उत्कर्ष होना (यद्वा) या (मनाक् अभिनवा निर्जरा) कुछ नवीन निर्जराका होने लगना (वा) या (अभिनवः संवरः) कुछ नवीन संवर होने लगना सम्यक्त्वके लिए (गुणः) गुण है ।

भावार्थः— सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होना, क्षायोपशमिक सम्यक्त्वसे क्षायिक सम्यक्त्व हो जाना, अथवा क्षयोपशम के जो कतकृत्य-वेदक आदि अनेक भेद है उनमेंसे क्षायोपशमका कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाना और

विशुद्धि के वृद्धिसे सवर निर्जरामें वृद्धि हो जाना सम्यक्त्व के लिए गुणाधायक बताये है।

उत्कर्षोऽवानयोरंशै द्वयोरन्यतरस्य वा ।
श्रेयोबन्धोथवोत्कर्षो यद्वा स्यादपकर्षणम् ॥ ८७१ ॥

अन्वयार्थः— (**वा**) अथवा (**अंशैः**) कुछ अशोंद्वारा (**अनयोः द्वयो वा अन्यतरस्य**) निर्जरा और सवर इन दोनोंमें अथवा किसी एकमें (**उत्कर्षः**) अधिकता होना (**अथवा श्रेयोबन्धः**) अथवा विशेप पुण्यबन्ध होना (**यद् उत्कर्षः वा अपकर्षणम् स्याद्**) अथवा पुण्यप्रकृतियोंमें उत्कर्प और पाप प्रकृतियोंमें अपकर्पण होने लगना (**गुणः स्यात्**) सम्यक्त्व के लिए गुण समझना चाहिए।

भावार्थः— सम्यक्त्वका उत्पन्न होना, प्राप्त सम्यक्त्वमें आंशिक विशुद्धि होना, अर्थात् वेदक-सम्यक्त्वसे कृतकृत्य-वेदक व क्षायिक-सम्यक्त्व होना, कुछ नवीन संवर और निर्जरा होना, संवर और निर्जरा इन दोनोंकी अथवा कोई एककी अधिकता होना, पुण्यबन्धमें उत्कर्प होना, पुण्य प्रकृतियोंमें उत्कर्ष होना, पाप प्रकृतियोंमें अपकर्ष होना ये सब सम्यक्त्वके लिए गुणाधायक है।

गुणदोषद्वयोरेव नोपयोगोस्ति कारणम् ।
हेतुर्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम् ॥ ८७२ ॥

अन्वयार्थः— (**एवं**) इस तरहसे सिद्ध होता है कि (**उपयोग**) ज्ञानोपयोग (**गुणदोषद्वयोः कारणं न अस्ति**) सम्यक्त्वके लिए गुण व दोपमेंसे किसीके लिएभी कारण नहीं (**अन्यतरस्य अपि हेतुः न**) तथा किसी एककाभी कारण नहीं है (**च**) और (**अयम् योगवाही अपि न**) यह ज्ञानोपयोग सम्यक्त्वके गुण और दोषमें किसी प्रकारका योगभी नहीं रखता है अर्थात् सहकारी कारण भी नहीं है।

भावार्थः— सम्यक्त्वके लिए गुणाधायक और दोषाधायक जो बाते बताई हैं उनमेंसे यह शुद्ध आत्मोपयोग ज्ञान-चेतनाका सविकल्पत्व, किसीभी प्रकार उन दोनोंका अथवा किसी एकका साक्षात्‌रूपसे साधक वा बाधक नहीं है। और न योगवाही होकर परंपरासे साधक बाधक है क्योंकि ज्ञान और सम्यक्त्व गुण पृथक् २ है और इनके बाधक कर्म भी पृथक् २ है। यद्यपि सम्यक्त्वके बाधक मिथ्यात्वके कारण ज्ञान अज्ञान कहलाता है तथापि

ज्ञानावरणके उदयादिके द्वारा सम्यक्त्वमें कोई वाधा नहीं आती है क्योंकि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी व्याप्ति दर्शनमोह-
मोहनीयके अभावके साथ है, अन्य कर्मके अभावके साथ नहीं है।

इसी अर्थका खुलासा करते है।

सम्यक्त्वं जीवभावः स्यादस्ताद्दङ्मोहकर्मणः।
अस्ति तेनाविनाभूत व्याप्तेःसद्भावतस्तयोः ॥ ८७२ ॥

अन्वयार्थ.— (दृङ्मोहकर्मणः अस्तात्) दर्शनमोहनीयके अस्त होनेसे (जीवभावः) होने-
वाला जो जीवका भाव है (सम्यक्त्वं स्यात्) वह सम्यक्त्व कहलाता है क्योंकि (तयोः व्याप्तेः सद्भावतः)
दर्शनमोहनीयका अभाव और सम्यक्त्वमें व्याप्ति है इसलिए (तद्) वह सम्यग्दर्शन (तेन अविनाभूतं अस्ति)
दर्शनमोहनीयके अभावके साथ अविनाभाव रखनेवाला है

दैवादस्तंगते तत्र सम्यक्त्वं स्यादनंतरम्।
दैवान्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम् ॥ ८७४ ॥

अन्वयार्थः— (दैवात्) दैवसे-काललब्धिसे (तत्र अस्तंगते) उस दर्शनमोहनीयके उपशमादिक
होतेही (अनन्तरम्) उसी समय (सम्यक्त्वं स्यात्) सम्यग्दर्शन होता है (दैवात् न) और दैवसे यदि उस
दर्शनमोहनीयका अभाव न हो, तो नहीं होता है अर्थात् जब काललब्धिसे दर्शनमोहका अभाव होता है तभी सम्य-
क्त्वकी उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं, इसलिए (अयम्) यह उपयोग (अन्यतरस्य अपि योगवाही न)
न तो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमेंही कारण है और न दर्शनमोहनीयके अभावमेंही निमित्त है।

भावार्थ.— दर्शनमोहका अभाव और सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें व्याप्ति है इसलिए दर्शनमोहके अभावके होतेही
जीवके सम्यक्त्व नामक गुणका अविर्भाव होता है और उस दर्शनमोहका अभाव काललब्धिसे होता है अर्थात् जब
दैवयोगसे दर्शनमोहका अभाव होता है तब जीवमें सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है। इस सम्यक्त्वकी उत्पत्ति व दर्शन-
मोहके अभावमें साक्षात् व परम्परा, दोनोंही प्रकारसे उपयोग निमित्त नहीं पडता है।

सार्धं तेनोपयोगेन न स्याद्व्याप्तिर्द्वयोरपि।

विना तेनापि सम्यक्त्वं तदास्ते सति स्याद्यतः ॥ ८७५ ॥

अन्वयार्थः— (तेन उपयोगेन सार्धम्) उस आत्माके उपयोगके साथ (द्वयोः अपि व्याप्तिः न स्यात्) दर्शनमोहनीयके अभाव और सम्यक्त्वकी व्याप्ति (इन दोनोंकीही व्याप्ति) नहीं है (यतः) क्योंकि (तेन अपि विना) आत्माके उपयोगके न रहते हुए भी (तद् सम्यक्त्व आस्ते) वह सम्यक्त्व रहता है और (सति स्याद्) उपयोगके रहते हुएभी रहता है ।

भावार्थ— आत्मोपयोगके साथ सम्यक्त्वका होना नियमित नहीं है अर्थात् सम्यक्त्व जैसे आत्माके उपयोगकी अवस्थामें रहता है । वैसेही भिन्न विषयके उपयोगकी अवस्थामें रहता है । इसलिए आत्मोपयोगके साथ सम्यक्त्वकी व्याप्ति नहीं है, क्योंकि भिन्न वस्तुके उपयोगमेंभी सम्यग्दर्शन रहता है ।

सम्यक्त्वेनाविनाभूता येऽपि ते निर्जरादयः ।
समं तेनोपयोगेन न व्याप्तास्ते मनागपि ॥ ८७६ ॥

अन्वयार्थः— (सम्यक्त्वेन अविनाभूताः) सम्यक्त्वके साथही अवश्य होनेवाले (ये अपि ते निर्जरादयः) जो वह संवर निर्जरादिक है (ते) सब भी (तेन उपयोगेन समम्) उस उपयोगके साथ (मनाक् अपि) किसी प्रकारसेभी (व्याप्ताः न) व्याप्ति नहीं रखते है ।

भावार्थ— तथा सम्यक्त्वके साथ होनेवाले जो संवर निर्जरा आदि कहे है उन सबकाभी सम्बन्ध सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीके अभावसे है । आत्माके उपयोगसे नहीं है ।

सत्यत्र निर्जरादीनां अवश्यंभावलक्षणम् ।
सद्भावोऽस्ति नासद्भावो यत्स्याद्वा नोपयोगि तद् ॥ ८७७ ॥

अन्वयार्थः— (यद्) क्यों कि (तद् उपयोगी स्याद् वा न) चाहे वह सम्यक्त्व, आत्माके उपयोगसहित हो अथवा न हो (अत्र सति) सम्यग्दर्शनके होनेपर (निर्जरादीनां) निर्जरादिकोंका (अवश्यंभावलक्षणम्) अवश्य होनेवाला (सद्भावः अस्ति) सद्भाव पाया जाता है, (असद्भावः न) असद्भाव नहीं ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिका उपयोग चाहे आत्माम हो वा अन्य किसी विषयमें हो, उसका कुछ प्रयोजन नहीं है। सम्यक्त्व के सद्भावके कारण सम्यक्त्वादिकके संवर और निर्जरा अवश्य होती है।

आत्मन्येवोपयोग्यस्तु ज्ञानं स्यात् परात्मनि।
सत्सु सम्यक्त्वभावेषु सन्ति ते निर्जरादयः ॥ ८७८ ॥

अन्वयार्थः— (**ज्ञानं**) ज्ञान (**आत्मनि उपयोगि अस्तु**) चाहे आत्मामें उपयोग कर रहा हो (**स्याद्**) अथवा कदाचित् (**परात्मनि अस्तु**) पर पदार्थोंमें उपयोग कर रहा हो, किन्तु (**सम्यक्त्वभावेषु सत्सु**) सम्यक्त्व भावोंके होनेपर (**ते निर्जरादयः सन्ति**) वे निर्जरादिक अवश्य होते है।

भावार्थः— आत्मामें उपयोग हो अथवा अन्य किसी पदार्थोंमें उपयोग हो परन्तु जब सम्यग्दर्शनरूप आत्माकी अवस्था होती है तब निर्जरादिक अवश्य होते है। अन्यथा नहीं। अतः उपयोगसे उनका कुछ संबंध नहीं है। " मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाययोगा बंधहेतव " इस सूत्रमेंभी अज्ञानको बन्धका कारण नहीं बताया है। किंतु मिथ्यात्त्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगकोही बन्धका कारण बताया है। इसलिए चाहे आत्मा अपनेमें उपयुक्त रहो अथवा अन्यमें उपयुक्त रहो परन्तु जितने अंशोंमें उसके मिथ्यात्त्व अथवा रागादिकका उदय रहता है उतने अंशोंमें उसका बन्ध होता है। और जितने अंशमें रागादि वा मिथ्यात्त्वका अभाव रहता है उतने अंशोंमें बन्धके कारणोंके अभावसे संवर और उस समय होनेवाली विशुद्धि से निर्जरा होती है उनका आत्माके उपयोग से कुछ भी संबंध नहीं है।

यत् पुनः श्रेयसोबन्धो बन्धश्चाश्रेयसोऽपि वा।
रागाद्वा द्वेषतो मोहात् स स्यात्स्यान्नोपयोगसात् ॥ ८७९ ॥

अन्वयार्थः— (**यद् पुनः**) और जो (**श्रेयसः बन्धः**) पुण्यबन्ध (**वा**) अथवा (**अश्रेयसः अपि च**) पापबन्ध होता है (**स**) वह सब (**रागात् द्वेषतः मोहात् वा**) राग, द्वेष और मोहसेही (**स्याद्**) होता है (**उपयोगसात् न स्यात्**) उपयोग के निमित्तसे नहीं।

व्याप्तिर्बन्धस्य रागाद्यैः नाव्याप्तिर्विकल्पैरिव ।
विकल्पैरस्यचाव्याप्ति न व्याप्तिः किलतैरिव ॥ ८८० ॥

अन्वयार्थः— (रागाद्यैः) रागादिक भावोंके साथ (बन्धस्य) बन्धकी (व्याप्ति) व्याप्ति है किन्तु (विकल्पैः इव व्याप्ति न) जैसे ज्ञानके विकल्पोंके साथ बन्धकी अव्याप्ति है । वैसेही रागादिकोंके साथ बन्धकी अव्याप्ति नहीं है, अर्थात् (विकल्पैः) विकल्पोंके साथ (अस्य च) इस बन्धकी (अव्याप्तिः) अव्याप्तिही है, किन्तु (तैः व्याप्ति इव किल न) रागादिकोंके साथ जैसी बन्धकी व्याप्ति है, वैसी विकल्पोंके साथ व्याप्ति नहीं है ।

भावार्थ — जैसे रागादिकोंके साथ बन्धके होनेका अविनाभाव सम्बन्ध है, वैसा ज्ञानके विकल्पोंके साथ नहीं है, अर्थात् जब जितने अंशोंमे रागादिक होते है, तब उतनेही अंशोंमें बन्धभी होता है, किन्तु ज्ञानके विकल्पोंके साथ बन्धके होनेका या न होनेका कुछ नियम नहीं है। जिस समय रागादिककी उदयरूप वा अनुदयरूप अवस्था होती है उससमय बन्ध और अबन्ध रहता है अत बन्ध के होनेका अथवा न होनेका रागादिकके उदय और अनुदयसे सम्बन्ध है । आत्मीक उपयोग व अनुपयोगसे नहीं । तथा ज्ञानके विकल्पोंके साथ जैसी बन्धकी अव्याप्ति है वैसी रागादिकके साथ अव्याप्ति नहीं है अर्थात् जैसे जैसे ज्ञानके विकल्प होते है तदनुसार बन्ध भी होता है यह नियम नहीं । इसतरह इस पद्यसे, रागादिकके साथही बन्धकी व्याप्तिको, तथा ज्ञानके विकल्पके साथ अव्याप्तिकोही निश्चय रूपसे कहनेके लिए, उभयथा व्याप्ति, अव्याप्ति बतलाई है ।

नानेकत्वमसिद्धंस्यान्नस्याद्व्याप्तिर्मिथोऽनया ।
रागादेश्चोपयोगस्य किन्तूपेक्षाऽस्ति तद्द्वयोः ॥ ८८१ ॥

अन्वयार्थः— (अनयोः) रागादिक और उपयोगमें (अनेकत्व असिद्धं नस्यात) भिन्नता असिद्ध नहीं है तथा (रागादेः उपयोगस्य च) रागादिक और उपयोगमें (मिथः व्याप्तिः न स्यात्) परस्पर व्याप्ति भी नहीं है (किंतु) किन्तु (तद्द्वयोः) उपयोग और रागादिक इन दोनोंमें (उपेक्षा अस्ति) परस्परमें उपेक्षा है अर्थात् किसी प्रकारकी अपेक्षा नहीं है ।

भावार्थः— रागादिक और उपयोग ये दोनों परस्परम एक नहीं किन्तु अनेक है। कदाचित् कहा जाय कि अनेक होते हुए भी उनमें किसी तरहका अविनाभाव संबंध है सो भी नहीं है। कारण रागादिक और उपयोग इन दोनोंमें किसी प्रकारकी परस्पर अपेक्षा नहीं है किन्तु उपेक्षा है।

आगे इसी अर्थका खुलासा करते हैं।

कालुष्यं तत्र रागादिर्भावश्चौदयिको यतः।
पाकाच्चारित्रमोहस्य दृङ्मोहस्याथनान्यथा ॥ ८८३ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उनमेंसे (कालुष्यं च रागादिभावः) मिथ्यात्व और रागादिक भाव (औदयिकः) औदयिक है। (यतः) क्योंकि (दृङ्मोहस्य अथ चारित्रमोहस्य पाकात्) दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीयके उदयसे रागादिकभाव होते हैं। (अन्यथा न) और किसीके उदयसे नहीं।

भावार्थः— मिथ्यात्व और रागादिक भाव दर्शनमोह तथा चारित्रमोहके उदयसे होते है। इसलिए वे दोनों औदयिक कहलाते हैं।

क्षायोपशमिकं ज्ञानमुपयोगः स उच्यते।
एतदावरणस्योच्चैः क्षयाद्वोपशमाद्यतः ॥ ८८४ ॥

अन्वयार्थः— (यद्) जो (क्षायोपशमिकं ज्ञानं) क्षायोपशमिक ज्ञान है (सः उपयोगः उच्यते) वह उपयोग कहलाता है (यतः) क्योंकि वह (एतदावरणस्य) ज्ञानावरणके (उच्चैः क्षयात् वा उपशमात् 'भवति') सर्वघाति स्पर्द्धकोंके क्षयोपशमसे होता है।

भावार्थः— उपयोगरूप ज्ञान क्षायोपशमिक भाव है क्योंकि वह ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है। इसलिए यह ज्ञानगुण आंशिक विकास है और मिथ्यात्व तथा रागादि, सम्यक्त्व व चारित्र गुणकी बिलकुल विपरीत अवस्था है।

अस्ति स्वहेतुको रागो ज्ञानं चास्तिस्वहेतुकम्।
दूरे स्वरूपभेदत्वादेकार्थत्वं कुतोऽन्नयोः ॥ ८८५ ॥

अन्वयार्थः— (रागः स्वहेतुकः अस्ति) रागादिकका सद्भाव अपने कारणोंसे होता है, (च) और (ज्ञानं स्वहेतुकं अस्ति) ज्ञानका सद्भाव अपने कारणोंसे होता है इसलिए (अनयो स्वरूपभेद–त्वात् दूर 'सति') रागादिक और ज्ञान स्वरूप-भेदसे अत्यंत भिन्न होनेपर इनमें (एकार्थत्वम् कुतोनयो) एकत्व कैसे होसकता है ?

भावार्थ — रागादि औदयिक भाव है और वे अपनी कारण सामग्री–चारित्रमोहनीय कर्मके उदयके होनेपर होते हैं । तथा उपयोग क्षायोपशमिक भाव है । वह अपनी कारण सामुग्री-ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है । इन दोनोंके कारण भिन्न २ है तथा एक औदयिक भाव है और दूसरा क्षायोपशमिक भाव है । इस तरह स्वरूपभेद होनेसे दोनोमे एकत्व कैसे होसकता है ? ।

किंच ज्ञानं भवदेव भवतीदं न चापरम् ।
रागादयो भवन्तश्च भवन्त्येते न चिद्यथा ॥ ८८६ ॥

अन्वयार्थः— (किंच) दूसरी बात यह है कि (यथा) जैसे (ज्ञानं भवत्) ज्ञान होते हुए (ज्ञानं एव भवति) ज्ञानही होता है ('तथा') वैसेही (रागादयो भवन्तः) रागादिक भावोंके होते हुए (एते भवंति) रागादिक भावही होते हैं (चित् न) ज्ञान नहीं.

भावार्थः— रागादि भावोंका होना और ज्ञानका उपयोगरूप अवस्थामें परिणत होना ये दोनोही भिन्न स्वरूपोंके कार्य होनेसे एक समयमें ये दोनो एकात्मामें नहीं रह सकते, रागादिकके समय रागादिकही होंगे व ज्ञानोपयोगके समयमें ज्ञानही होगा रागादिक भाव नहीं होंगे ।

अभिज्ञानं च तत्रास्ति वर्धमाने चिति स्फुटम् ।
रागादीनामवृद्धिर्न स्याद्व्याप्तेरसम्भवात् ॥ ८८७ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उस विषयमें (अभिज्ञानं च अस्ति) दृष्टांत–रूपदर्शन इस तरह है कि (स्फुटम्) यह स्पष्ट है कि (चिति वर्धमाने) ज्ञानकी वृद्धि होनेपर (रागादीनां वृद्धिः न स्यात्) रागादिकोंकी वृद्धि नहीं होती है कारण कि (व्याप्तेः असम्भवात्) ज्ञानकी वृद्धिका रागादिककी वृद्धिके साथ अविनाभाव संबंध नहीं है अर्थात् ज्ञानके बढनेपर रागादिक बढेही ऐसा कुछ नियम नहीं है ।

वर्धमानेषु चैतेषु वृद्धिर्ज्ञानस्य न क्वचित् ।
अस्ति यद्वा स्वसामग्र्या सत्यां वृद्धिः समाद्वयोः ॥ ८८७ ॥

अन्वयार्थ—(च) और (एतेषु वर्धमानेषु) रागादिकोंकी वृद्धि होनेपर (क्वचित्) कहीं २ (ज्ञानस्य वृद्धिः न अस्ति) ज्ञानकी वृद्धि नहीं पाई जाती है (यद्वा द्वयोः समा वृद्धिः) यदि कदाचित् ज्ञानकी वा रागादिककी एकके साथ युगपत् दूसरेकी वृद्धि पाई भी जाये तो वह (स्वसामग्र्यां सत्यां) अपने २ कारणोंके उपस्थित होनेपर होती है ।

भावार्थ—ज्ञानके कारण रागादिककी और रागादिकके कारण ज्ञानकी, वृद्धिका कोई संबंध नहीं है। कदाचित् ज्ञान और रागादिक ये दोनोंही किसी एक व्यक्तिमें युगपत् वृद्धिशील पाए जावें तो वहा उन दोनोंके कारण अलग २ होंगे ऐसा निश्चय है किसी एककी वृद्धिमें किसी दूसरेको कारणता नहीं है ।

ज्ञानेऽथ वर्धमानेऽपि हेतोः प्रतिपक्षक्षयात् ।
रागादीनां न हानिः स्याद्धेतोः मोहोदयात्सतः ॥ ८८८ ॥

अन्वयार्थः—(अथ) और (प्रतिपक्षक्षयात् हेतो) ज्ञानके प्रतिपक्षी ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके कारण (ज्ञाने वर्धमाने अपि) ज्ञानकी वृद्धि होनेपरभी (मोहोदयात् हेतोः सत.) मोहोदयरूप हेतुके सद्भाव होनेसे (रागादीना हानि॰ न स्यात्) रागादिकोंकी हानि नहीं होती है किन्तु वृद्धि होती है ।

भावार्थः— अपने प्रतिपक्षी कर्मके अभावमें ज्ञानके बढनेपरभी यदि चारित्र-मोहका उदय है तो रागादिककी हानि न होकर उलटी वृद्धि होती है इससे सिद्ध होता है की ज्ञानकी विशेषतासे रागद्वेषकी मंदता नहीं होती किन्तु चारित्र-मोहके अभावसे रागद्वेषका अभाव होता है ।

दैवयोगसे अपनी २ कारण सामग्रीके मिलनेपर ज्ञान और रागादिककी एक साथ हानि होती है । परन्तु यदि हानि हो तो वह अपने अपनेही कारणसे होती है अन्यथा नहीं ।

यद्वा दैवात्तत्सामग्र्यां सत्यां हानिः समं द्वयोः ।
आत्मीयाऽऽत्मीयहेतोर्या ज्ञेया नान्योन्यहेतुतः ॥ ८८९ ॥

अन्वयार्थः— (यद्वा) अथवा (दैवात्) किसी समय दैवयोगसे (तत् सामग्र्यां सत्यां) अपने २ कारणोके सन्निधान होनेपर (द्वयोः सम या हानिः स्यात्) जो ज्ञान और रागादिककी हानि एकसाथ पायी जा सकती है " सा " वह (आत्मीयहेतोः श्रया) अपने अपने कारणोंसे होती है यह समझना चाहिए (अन्योन्यहेतुतः न) परस्परमें एक दूसरेके निमित्तसे नहीं समझना चाहिये ।

भावार्थः— किसी समय किसी व्यक्तिके चारित्रमोहका मन्द उदय हुआ और उसी समय ज्ञानावरणके देशघाती स्पर्धकोंका तीव्र उदय हुआ तो रागादिके साथ २ उपयोगमेंभी मन्दता आसकती है, एतावता दोनोंके कारण अलाहिदा २ होनेसे वे परस्परमें एक दूसरेके कारण नहीं कहे जा सकते है ।

व्याप्ति र्वा नोपयोगस्य द्रव्यमोहेन कर्मणा ।
रागादीनां तु व्याप्तिः स्यात्संविदारणैः सह ॥ ८९० ॥

अन्वयार्थः— (उपयोगस्य) उपयोगकी (द्रव्यमोहेन कर्मणा वा) द्रव्यमोहनीय कर्मके साथभी (व्याप्तिः न) व्याप्ति नहीं है (तु) किन्तु (संविदावरणैः सह) ज्ञानावरण कर्मके साथ (रागादीनां व्याप्तिः) रागादिकोंकी व्याप्ति (स्यात्) है ।

भावार्थ.—जहातक उपयोग होता है वहातक द्रव्यमोहनीय कर्मका सद्भाव रहता हो ऐसा नियम नहीं है किन्तु जहातक रागादिक होते है वहातक संविदावरण कर्मका सद्भाव रहता है ऐसा नियम है । इसलिए उपयोगकी द्रव्यमोहके साथ व्याप्ति नहीं है किन्तु रागादिककी ज्ञानावरणके साथ व्याप्ति है । कारण कि मोहनीय कर्मका क्षय, पहिले होता है और ज्ञानावरण कर्मका [अन्तर्मुहूर्त] पीछे नाश होता है ।

व्याप्तिर्वा नोपयोगस्य द्रव्यमोहेन कर्मणा ।
रागादीनान्तु व्याप्तिः स्यात् संविदावरणैः सह ॥ ८९१ ॥
अन्वयव्यातिरेकाभ्यामेषा स्याद्विषमैव तु ।
न स्यात् समा तथाऽव्याप्तिर्हेतोरन्यतरादपि ॥ ८९२ ॥

अन्वयार्थः— (उपयोगस्य द्रव्यमोहेणकर्मणा न वा ' अस्ति ') शुद्ध ज्ञानोपयोगकी द्रव्यमोह कर्मके साथ व्याप्ति नहीं है (तु) किन्तु (रागीदीनां संविदावरणैः सह व्याप्तिः स्यात्) रागादिकोंकी संविदावरणादिकके साथ व्याप्ति है ।

(तु) और (एषा) यह व्याप्ति (अन्वय व्यतिरेकाभ्यां विषमा एव) अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही मे विषम ही समझना चाहिये (तथा) तथा (अन्यतराद् अपि हेतोः) किसी दूसरे हेतुसे भी (समा न स्यात्) समव्याप्ति नहीं है।

भावार्थः— ऊपर जो खुलासा किया गया है कि ज्ञानके कारण रागादिकमें, अथवा विवक्षित रागादिकके कारण ज्ञानमे भी किसी भी प्रकारकी हानि वृद्धिका सम्बन्ध नहीं है उसीकाही विशेषदृष्टिसे यहां खुलासा किया जाता है कि शुद्ध आत्माका उपयोग तो १३ वें १४ वें गुणस्थान तथा सिद्ध अवस्थामें भी पाया जाता है परन्तु द्रव्यमोहका क्षय " मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्चकेवलं " के सिद्धान्तानुसार दशवेंके अन्तमें ही होता है अर्थात द्रव्यमोह पहलेही नष्ट हो जाता है इस लिए उपयोगकी द्रव्यमोहके साथ व्याप्ति नहीं है कारण अनन्तानुबन्धी रागादिकके सद्भावमें स्वानुभूत्यावरणका उदय रहता है इस लिए एतावता सामान्य रूपसे द्रव्यमोह मात्रके साथ उपयोगकी व्याप्ति नहीं कही जाती किन्तु केवल रागादिकके साथ स्वानुभूत्यावरणकीही व्याप्ति कही जाती है और अवान्तरभेदके साथ जो व्याप्ति होती है वह समव्याप्ति नहीं हो सकती. किन्तु विषम व्याप्तिही है।

विशेष भावार्थ.— यहां जो प्रकरण इस बातका चल रहा है कि आत्माके उपयोग तथा इतर पदार्थोके उपयोगसे सम्यग्दृष्टीके होनेवाले संवर वा निर्जरामें अन्तर नहीं होता. इस लिए आत्मोपयोग रहो अथवा संभव रागादिके अनुसार इतर विषयोंमें उपयोग रहो केवल सम्यग्दृष्टीके इतनेमे कुछ हानि वा लाभ नहीं होता है इसी बातको खुलासा करते २ ग्रन्थकारने, जो द्रव्यमोहके साथ उपयोगकीव्याप्ति नहीं है केवल रागादिककी स्वानुभूत्यावरणके साथ व्याप्ति है और वह अन्वय व्यतिरेकसे विषम व्याप्ति किसी दूसरे कारणोंसे भी समव्याप्ति नहीं है! यह कहा है इसका भाव ऐसा मालूम पडता है कि द्रव्यमोहकी सत्ता तो बारहवें गुणस्थानकी आदितक ही रहती है और आत्माका उपयोग आगेके गुणस्थानोंमें तथा सिद्धअवस्थामें भी पाया जाता है इस लिए द्रव्यमोहकी आत्मोपयोगके साथ व्याप्ति नहीं है। तथा ग्रन्थकारने जो रागादिककी और स्वानुभूत्यावरणकी व्याप्ति बताई है वह भी स्पष्ट है कारण, जबतक अनन्तानुबन्धीका उदय रहता है, तबतक स्वानुभूत्यावरणका भी उदय रहता है. 'रागादिक' यह साधारण शब्द डाला है, इस लिए यह नियम नहीं रह जाता कि रागादिके होनेपर स्वानुभूत्यावरणका उदय नियमसे होताही हो कारण अप्रत्याख्यानावरण आदि सम्बन्धी रागादिकके होनेपर ज्ञानचेतनाका अभाव नहीं पाया जाता है किन्तु स्वानुभूत्यावरणके उदयमें अनन्तानुबन्धी रागादिक अवश्य ही पाये जाते है। इस तरह एकतरफा व्याप्तिके पाए जानेसे इन दोनोंमें विषम व्याप्ति है।

समव्याप्तिकी असिद्धिको युक्तिपूर्वक बताते हैं।

व्याप्तेरसिद्धिः साध्यात्र साधनं व्यभिचारिता।
सैकस्मिन्नापि सत्यन्यो न स्यात्स्याद्वा स्वहेतुतः॥ ८९३॥

अन्वयार्थः— (अत्र) समव्याप्तिकी असिद्धिमें द्रव्यमोह और उपयोगमें व्याप्तिके अभावको सिद्ध करनेमें (व्याप्तेः असिद्धिः साध्या व्यभिचारिता साधनं 'अस्ति') व्याप्तिकी असिद्धि तो साध्य है और व्यभिचारीपणा साधन है और (सा) वह व्यभिचारीपणा इस लिए सिद्ध होता है कि (एकस्मिन् सति अपि अन्यः न स्यात् वा स्यात् "तर्हि" स्वहेतुतः स्यात्) एकके होनेपर दूसरा नहीं होता है अथवा यदि होता भी है तो अपनी २ कारण सामग्रीसे होता है।

भावार्थ— ज्ञान और रागादिकके निरूपण करते समय खुलासा किया जा चुका है कि रागादिके होनेपर अविनाभाव न रहनेसे, स्वानुभूत्यावरणके सद्भावका नियम नहीं है अतएव नियमके न रहनेमे व्यभिचारीपना पाया जाता है और उसके कारणसे दोनोंमें समव्याप्तिके अभावकी सिद्धी की जाती है।

व्याप्तिका स्वरूप।

व्याप्तित्वं साहचर्यस्य नियमः स यथा मिथः।
सति यत्र यः स्यादेव न स्यादेवासतीह यः॥ ८९४॥

अन्वयार्थः— (मिथः) परस्परमें (साहचर्यस्य नियमः व्याप्तित्व) सहचर नियमको व्याप्ति कहते है (स यथा) वह इस प्रकार है कि (इह) यहांपर (यत्र सति य स्यात् एव इह असति य न स्यात एव) जिसके होनेपर जो होवें और जिसके न होनेपर जो नहींही होवे।

भावार्थ— जिसके होनेपर जो हो और जिसके न होनेपर जो नहीं हो इस प्रकार सहचरित नियमको अर्थात् अविनाभाव सम्बन्धको व्याप्ति कहते हैं।

मा समा रागसद्भावे नूनं बन्धस्य सम्भवात्।
रागादीनामसद्भावे बन्धस्याऽसम्भवादपि॥ ८९५॥

व्याप्तिः सा विषमा सत्सु संविदावरणादिषु ।
अभावाद्रागभावस्य भावाद्वाऽस्य स्वहेतुतः ॥ ८९६ ॥

अन्वयार्थः— (मा समा) समव्याप्ति इस लिए नहीं है कि (रागसद्भावे नूनं बन्धस्य सम्भवात्) रागके सद्भावमें तो नियमसे यथासंभव कर्मोंका बन्ध होता है (अपि) तथा (रागादीनां असद्भावे) रागादिके अभावमें (बन्धस्य असम्भवात्) बन्ध नहीं होता है ।

तथा (संविदावरणादिषु सत्सु रागभावस्य अभावात् वा अस्य स्वहेतुतः सद्भावात्) ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायके रहनेपर रागभाव नहीं पाया जासकता है और यदि पाया भी जाता है तो अपने २ यथासंभव रागके कारण पाया जाता है ज्ञानावरणादिकके उदयसे बंधके सद्भावका कोई सम्बन्ध नहीं है इस लिए (सा व्याप्तिः विषमा) वह रागादिक और ज्ञानावरणादिकी व्याप्ति विषम कही जाती है ।

भावार्थः—पहले मोहका क्षय होता है अनन्तर ज्ञानावरणादिकका क्षय होता है इस सिद्धान्तके ऊपर लक्ष रखकर राग और ज्ञानावरणादिककी विषम व्याप्ति बताई है कारण कि रागके उदयमें ही कर्मोंकी स्थितिका और अनुभागका बंध होता है और ये दोनों बंध ही वास्तवमें बंध कहलाते है इस लिए रागके सद्भावमें बंध और इसके अभावमें बंधका अभाव कहा जाता है ऐसा होता है तो भी रागके सद्भावमें सब कर्मोंका उदय तथा ११ वें आदि गुणस्थानोंमें ज्ञानावरणादिकके होनेपर भी राग नहीं है इस लिए उभयता व्याप्तिके न घटनेसे समव्याप्ति नहीं. किन्तु विषमव्याप्ति ही है ८९५ वें पद्यका 'मासमा' और ८९६ वें पद्यका "व्याप्ति. सा विषमाः' इस पद्यको जोडकर अर्थ करनेसे यही अर्थ ध्वनित होता है अन्यथा ८९५ वें का पद्य अनमेलसा प्रतीत होता है ।(?)

अव्याप्तिश्चोपयोगेपि विद्यमानेष्टकर्मणाम् ।
बन्धो नान्यतमस्यापि नाबन्धस्तत्राप्यसति ॥ ८९७ ॥

अन्वयार्थ — (च) और (अव्याप्ति.) द्रव्यमोहकर्मके साथ उपयोगकी जो अव्याप्ति बताई है उसका खुलासा यह है कि (उपयोगे विद्यमाने अपि अष्ट कर्मणां बन्धः न) उपयोगके होनेपर आठों ही कर्मोंमेंसे किसी कर्मका बन्ध आगममें नहीं बताया तथा (तत्र असति अपि अन्यतमस्य अबन्ध अपि न) उपयोगके न होनेपर किसीका बन्ध रुकता भी नहीं है ।

भावार्थः— उपयोगके साथ किसी कर्मके बन्ध और अबन्धका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है क्यों कि सम्यग्दृष्टिके ज्ञानोपयोगके रहते हुए भी बंध होता है. और आत्माके प्रति उपयोगके न रहनेपर भी किसीका बंध नहीं रुकता है.

सर्वतश्चोपसंहारः सिद्धश्चैतावतात्र वै ।
हेतुः स्यान्नोपयोगोऽयं दृशो वा बन्धमोक्षयोः ॥ ८९८ ॥

अन्वयार्थः— (एतावता च अत्र) उक्त इस कथनपरसे भी यहांपर (सर्वतः च उपसंहारः सिद्धः) पूर्णतया यही सारांश सिद्ध होता है कि (अयं उपयोग.) यह उपयोग (दृशः वा बन्धमोक्षयोः) सम्यक्त्व तथा बन्ध मोक्षके लिए (हेतु न स्यात्) किसी भी प्रकारसे कारण नहीं है ।

भावार्थः— उक्त ऊहापोह से यही सारांश निकलता है कि उपयोग न तो सम्यक्त्वके लिए ही कारण है और न कर्मोंके बन्ध तथा मोक्षके लिए ही कारण है ।

ननु चैवं स एवार्थो यः पूर्वं प्रकृतो यथा ।
कस्यचिद्वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ८९९ ॥
आत्मनोऽन्यत्र कुत्रापि स्थिते ज्ञाने परात्मसु ।
ज्ञानसंचेतनायाः स्यात्क्षतिः साधीयसी तदा ॥ ९०० ॥

अन्वयार्थ.— (ननु च) शंकाकारका कहना है कि (एवं) इस तरहसे तो यही बात सिद्ध होती है कि (पूर्वं यः प्रकृतः स एव अर्थः) जो पहले प्रकृत अर्थ था वही अर्थ इस कथनका भी होता है (यथा) जैसे कि (कस्यचित् वीतरागस्य सद्दृष्टेः ज्ञानचेतना) केवल किसी वीतराग सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना होती है क्योंकि जब (आत्मन. अन्यत्र) शुद्ध स्वात्माके सिवाय (कुत्रापि परात्मसु) किन्हीं अन्य पदार्थोंमें (ज्ञाने स्थिते) ज्ञानका उपयोग होता है (तदा) तब (ज्ञानसंचेतनायाः क्षतिः) ज्ञानचेतनाकी हानि (साधीयसी स्यात्) अवश्य सिद्ध होती है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि इस उक्त सब कथनसे तो हमारा पूर्वोक्त कथनही सिद्ध होता है कि केवल वीतराग सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना होती है । क्योंकि जब सरागीकी चेतना शुद्ध आत्माको छोडकर अन्य पदार्थोंमें उपयुक्त होती है तब अवश्य ही ज्ञानचेतनाकी क्षति होजाती है ।

समाधान।

सत्यं चापि क्षतेरस्याः क्षतिः साध्यस्य न कचित्।
इयानात्मोपयोगस्य तस्यास्तत्राप्यहेतुतः ॥ ९०१ ॥
साध्यं यद्दर्शनाद्धेतो र्निर्जरा चाष्टकर्मणाम।
स्वतो हेतुवशाच्छक्तेर्न तद्धेतुः स्वचेतना ॥ ९०२ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) शङ्काकारका कहना ठीक है परन्तु (अस्याः क्षतेः अपि) ज्ञानचेतनाके क्षतिसे भी अर्थात् ज्ञानचेतनाके अन्य पदार्थोंके विषय होनेपर भी (साध्यस्य कचित् क्षतिः न च) साध्य जो ज्ञानचेतनाके निमित्तसे होनेवाले संवर और निर्जरा है उनकी कभी भी हानि नहीं होती है क्यों कि (तस्याः तत्रापि अहेतुतः) ज्ञानचेतनाको सम्यक्त्वके साध्यभूत संवर तथा निर्जरामें निमित्त न होनेसे (उपयोगस्य इयान् आत्मा) शुद्ध स्वात्माको विषय करनाही उपयोगात्मक ज्ञानचेतनाका स्वरूप है कारण कि (दर्शनात् हेतोः) सम्यग्दर्शनके निमित्तसे (अष्ट कर्मणां निर्जरा) आठों कर्मोंकी निर्जराका होना (यत्) जो (साध्यं) साध्य है (' तत् ') वह (स्वतः शक्तेः हेतुवशात्) स्वयं सम्यक्त्वकी शक्तिके कारण होता है अर्थात् मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके अभावसे होनेवाली विशुद्धिके निमित्तसे होता है अतः (स्वचेतना तद्धेतुः न च) ज्ञानचेतना उसमें कारण नहीं है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक है। परन्तु ज्ञानचेतनाका काम केवल शुद्ध आत्माको जानना है। अतः उस ज्ञानचेतनाकी क्षतिसे—सम्यग्दृष्टिका इतर पदार्थोंमें उपयोग होनेसे ज्ञानचेतनाके साध्यभूत जो संवर और निर्जरा हैं उनकी क्षति नहीं होती है। क्योंकि संवर तथा निर्जराका कारण मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी का अभाव है ज्ञानचेतनाका सद्भाव नहीं है। अर्थात् मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी आदिके निमित्तसे बन्ध होता है। और उनके अभावसे संवर तथा निर्जरा होती है। उपयोग व अनुपयोगसे उसका कुछभी सम्बन्ध नहीं है।

ननु चेदाश्रयासिद्धो विकल्पो व्योमपुष्पवत्।
तर्कि हेतुः प्रसिद्धोऽस्ति सिद्धः सर्वविदागमात् ॥ ९०३ ॥

अन्वयार्थः— (ननु चेत्) शंकाकारका कहना है कि यदि (विकल्प) ज्ञानमें विकल्प मानोगे तो (व्योमपुष्पवत् आश्रयासिद्धः) आकाश–पुष्पकी तरह आश्रयासिद्ध दोष आता है परन्तु जब आपने ज्ञानको सविकल्प माना है (तत) तो फिर उसके सिद्धिके लिए (सर्वविदागमात् सिद्धः प्रसिद्धः हेतुः किं अस्ति) जिनागमसे अबाधित प्रसिद्ध हेतु क्या है ?

भावार्थ— जैनसिद्धातमें ज्ञानको सविकल्प और सम्यक्त्वादिकको निर्विकल्प माना है । उनमेंसे सम्यक्त्व के प्रकरणमें सम्यग्दर्शनको भले प्रकार निर्विकल्प सिद्धकर आये है अर्थात् योग-संक्रातिपूर्वक होनेवाली चेतनाकी अर्थसे अर्थान्तररूप सक्रातिके द्वारा सम्यक्त्वमें किसी प्रकारका विकल्प सिद्ध नही होता है ऐसा सिद्धकर आये है । अब ज्ञानके स्वलक्षणभूत विकल्पत्वके विषयमें प्रश्नोत्तर रूपसे उहापोहपूर्वक विचार करते है कि ज्ञानमें सविकल्पत्व सिद्ध करनके लिए आगममें साधक हेतु क्या बताया है उसे बतलाईयेगा । अन्यथा जैसे आकाशमें पुष्पका कहना आश्रयासिद्ध है वैसेही ज्ञानमें विकल्पका बताना भी आश्रयासिद्ध दोषसे युक्त माना जायगा ।

सत्यं विकल्पसर्वस्वसारं ज्ञानं स्वलक्षणात ।
सम्यक्त्वे यद्विकल्पत्वं नतत्सिद्धं परीक्षणात् ॥ ९०४ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) शकाकारका कहना ठीक है क्योंकि (ज्ञानं) ज्ञान गुण (स्वलक्षणात्) अपने लक्षणसे (विकल्पसर्वस्वसारं) विकल्पात्मक है । किन्तु (सम्यक्त्वे यद्विकल्पत्वं) सम्यक्त्वके होनेपर जो ज्ञानमें अर्थ–सक्रांतिरूप विकल्पपना कहा जाता है (तत्परीक्षणात् न सिद्धं) वह परीक्षा करनेसे सिद्ध नहीं होता है ।

भावार्थः— विकल्प शब्दके दो अर्थ होते है एक आकार, व्यवसाय, निश्चय, स्वपरप्रकाशक और दूसरा अर्थसे अर्थांतररूप होनेवाली संक्राति । उनमेंसे आकार–व्यवसायरूप विकल्प का अर्थ ज्ञानका स्वलक्षण है । इसलिए उसका यहांपर खंडन नहीं किया है । किन्तु योगसंक्राति के अनुसार छद्मस्थ ज्ञानियोंके ज्ञानमें जो अर्थ से अर्थांतराकाररूप परिणमन होता है वह परीक्षा करनेपर सम्यग्दर्शनके समान सम्यग्ज्ञानमें भी सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि वह ज्ञानका स्वरूप नहीं है । किन्तु ज्ञानके साथ होनेवाली राग क्रियाका स्वरूप है ।

अब आगे इसी अर्थका खुलासा करते है ।

यत्पुनः कैश्चिदुक्तं स्यात्स्थूललक्ष्योन्मुखैरिह ।
अत्रोपचारहेतुर्यस्तं ब्रुवे किल साम्प्रतम् ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थ.—(यत्पुन) और जो (इह) इस विषयमें (कैश्चित्) किन्हीं (स्थूललक्ष्योन्मुखै.) स्थूलदृष्टि पुरुषोंने (उक्तं स्यात्) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें सविकल्पपना कहा है वह उपचारसेही कहा है अत (अत्र) यहांपर (यः उपचारहेतुः) जो उपचारका कारण है (तं) उसकोही (किल) निश्चय करके (साम्प्रतं ब्रुव) इस समय कहते है ।

भावार्थ—किन्हीं २ आचार्योंने जो स्थूलदृष्टिसे सराग सम्यग्दृष्टियोंके सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञानमें अर्थ संक्रातिरूप सविकल्पपना कहा है वह उपचारसेही कहा है । अतः अब उस उपचारके प्रयोजनकोही यहापर कहते है ।

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियाऽस्ति वै ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थः—(यत् क्षायोपशमिकं ज्ञानं) जो क्षायोपशमिक ज्ञान (प्रत्यर्थं परिणामि) प्रति-समय अर्थसे अर्थान्तरको विषय करनेके कारण सविकल्प माना जाता है (तत्) वह वास्तवमें (ज्ञानस्य स्वरूपं न) ज्ञानका स्वरूप नहीं है (किन्तु) किन्तु (वै) निश्चय करके (रागक्रिया अस्ति) उस ज्ञानके साथमें होनेवाली रागकी क्रिया है ।

भावार्थः—छद्मस्थोंकी प्रतिसमय रुचि बदलती रहनेसे उनका क्षायोपशमिक ज्ञान जो प्रतिसमय प्रत्यर्थ परिणामी होता रहता है । वह प्रत्यर्थ परिणामी होना ज्ञानका स्वरूप नहीं है । किन्तु उस ज्ञानके साथमें होनेवाली रागकी परिणतिका स्वरूप है ।

आगे इसीका खुलासा करते है ।

प्रत्यर्थं परिणामित्वमर्थानामेतदस्ति यत् ।
अर्थं अर्थं परिज्ञानं मुह्यद्रज्यद्द्विषद्यथा ॥ १०७ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे कि (यत्) जो (ज्ञानं) ज्ञान (अर्थं अर्थं प्रति) प्रत्येक अर्थके प्रति (मुह्यत् रज्यत् द्विषत्) मोहयुक्त, रागयुक्त अथवा द्वेषयुक्त होता रहता है (एतत्) यही (अर्थानां विषये ज्ञानस्य प्रत्यर्थं परिणामित्वं अस्ति) ज्ञानका प्रत्येक अर्थसम्बन्धी प्रत्यर्थपरिणामित्व है ।

भावार्थः— संसारी जीवोंके ज्ञानका जो रागद्वेषादिकके अनुसार प्रवृत्ति हो रही है । यही ज्ञानका प्रत्यर्थ परिणामीपना है । और इस प्रत्यर्थपरिणामित्वको ज्ञानका स्वलक्षणभूत विकल्प नहीं कह सकते हैं । किन्तु यह तो रागकी क्रिया है । क्षायोपशमिक ज्ञानका तथा बुद्धिपूर्वक रागादिकका छटवे गुणस्थान तक केवल सहभाव पाया जाता है । इसलिए इस उपचारसे उस अर्थ—संक्रांतिरूप विकल्पसहित कह देना दूसरी बात है । परन्तु वास्तवमें अर्थ संक्रांतिरूप विकल्पत्व ज्ञानका धर्म नहीं कहा जासकता है ।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षादस्ति सिद्धमिदं यतः ।
रागाक्तं ज्ञानमक्षांतं रागिणो न तथा मुनेः ॥१०८ ॥

अन्वयार्थः— (स्वसंवेदनप्रत्यक्षात्) स्वसंवेदन—प्रत्यक्षसे (इदं सिद्धं अस्ति) यह पूर्वोक्त कथन सिद्ध होता है (यतः) क्योंकि (' यथा ') जैसे (रागिणः) रागी पुरुषका (रागाक्तं ज्ञानं) रागयुक्त ज्ञान (अक्षांतं) आकुलित होता है (तथा मुनेः न) वैसे वीतराग मुनिका नहीं होता है ।

भावार्थ — उपर्युक्त यह कथन स्वानुभवसेभी सिद्ध होता है । क्योंकि जैसा रागीका ज्ञान चंचल रहता है वैसा वीतरागी मुनिका नहीं रहता है ।

अस्ति ज्ञानाविनाभूतो रागो बुद्धिपुरस्सरः ।
अज्ञातेऽर्थे यतो न स्याद्रागभावः खपुष्पवत् ॥ १०९ ॥

अन्वयार्थः— (बुद्धिपुरस्सरः रागः) बुद्धिपूर्वक राग (ज्ञानाविनाभूतः अस्ति) क्षायोपशमिक ज्ञानके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखता है (यतः) क्यों कि (अज्ञाते अर्थे) अज्ञात अर्थमें (खपुष्पवत्) आकाशके पुष्पकी तरह (रागभावः न स्यात्) रागभाव नहीं होता है ।

भावार्थः— क्षायोपशमिक ज्ञान और बुद्धिपूर्वक रागका अवश्यंभावी सहयोग है । कारण कि ज्ञानके

विना वस्तुमें रागभाव नहीं होता है । इसलिए क्षायोपशमिकज्ञानके अनुसारही छद्मस्थोंके रागादिककी प्रवृत्ति पाई जाती हैं अन्यथा नहीं ।

इस प्रकार जो परपदार्थोंके रागद्वेष और मोहके कारण ज्ञानमें परिवर्तन होता रहता है वह ज्ञानका असली स्वरूप नहीं है । किन्तु राग क्रिया है ।

अस्त्युक्तलक्षणोरागश्चारित्रावरणोदयात् ।
अप्रमत्तगुणस्थानादर्वाक् स्यान्नोर्ध्वमस्त्यसौ ॥ ११० ॥

अन्वयार्थः— (**उक्तलक्षणः रागः**) यह पूर्वोक्त रागभाव (**चारित्रावरणोदयात् अस्ति**) चारित्रावरण नामक कर्मके उदयसे होता है तथा (**असौ**) यह राग (**अप्रमत्तगुणस्थानात् अर्वाक् स्यात्**) अप्रमत्त गुणस्थानके पहले पाया जाता है (**ऊर्ध्वं न अस्ति**) अप्रमत्त गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थानोंमें इसका सद्भाव नहीं पाया जाता है ।

भावार्थ — मिथ्यादृष्टिके अनन्तानुबन्धी आदि चारों क्रोधादिकके उदयजन्य, अविरत सम्यग्दृष्टिके अप्रत्याख्यानावरणादि क्रोधादिकके उदयजन्य, देशव्रतीके प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनके उदयजन्य तथा प्रमत्तविरतके संज्वलनके तीव्र उदयजन्य जो रागद्वेषादिक होते है उनको बुद्धिपूर्वक रागादि कहते है । और जो रागादिक सज्वलन तथा नोकषायके मन्दउदयादिकसें होते हैं उनको अबुद्धि-पूर्वक रागादिक कहते है । इन बुद्धि और अबुद्धिपूर्वक होनेवाले रागादिकोंमेंसे बुद्धिपूर्वक रागादि चारित्रमोहके उदयसे सातवें गुणस्थानके पहले पद तक ही होते है । आगे नहीं ।

अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वजः ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः स्याद्विवक्षावशान्नवा ॥ १११ ॥

अन्वयार्थः— (**च**) और (**ऊर्ध्वं**) ऊपरके गुणस्थानोंमें (**अबुद्धिपूर्वजः सूक्ष्मः रागः अस्ति**) जो अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म राग होता है (**असौ च**) यह अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म राग भी (**क्षीणकषायेभ्यः अर्वाक् स्यात्**) क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानके पहले होता है अर्थात् ७ वें गुणस्थानसे १० वें गुणस्थान तक

होता है (वा) अथवा (**विवक्षावशात् न**) ७ वें गुणस्थानसे १० वें गुणस्थानतक होनेवाला यह रागभाव सूक्ष्म होनेसे बुद्धिगम्य नहीं होता है इसलिए विवक्षावश नहीं भी होता है।

भावार्थः— ७ वें गुणस्थानसे १० वें गुणस्थानतक होनेवाला जो रागभाव है वह अबुद्धिपूर्वक कहा जाता है। अथवा उक्त गुणस्थानोंमें होनेवाला यह रागभाव अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अव्यक्त है इस अपेक्षासे नहीं भी है ऐसा कहा जाता है।

विमृश्यैतत्परं कैश्चिदसद्भूतोपचारतः।
रागवज्ज्ञानमत्रास्ति सम्यक्त्वं तद्वदीरितम् ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थ— (**परं एतत विमृश्य**) केवल यही विचार करके (**कैश्चित्**) किन्हीं आचार्योंने (**असद्भूतोपचारतः**) असद्भूत उपचार नयसे (**अत्र ज्ञानं रागवत् अस्ति**) जिस प्रकार छट्टे गुणस्थान तक के ज्ञानको रागयुक्त कहा है (**तद्वत् सम्यक्त्वं ईरितम्**) उसी प्रकार सम्यक्त्वको भी रागयुक्त कहा है।

भावार्थ — ७ वें गुणस्थान के पहले बुद्धिपूर्वक होनेवाली रागक्रिया और क्षायोपशमिक ज्ञान ये दोनों साथ २ रहते हैं। इसलिए किन्हीं २ आचार्योंने असद्भूत-उपचार-नय की अपेक्षासे उक्त गुणस्थानोंके ज्ञान तथा सम्यक्त्व को सराग और सविकल्प कहा है।

हेतोः परं प्रसिद्धैर्यैः स्थूललक्ष्यैरिति स्मृतम्।
आप्रमत्तं च सम्यक्त्वं ज्ञानं वा सविकल्पकम् ॥ ११३ ॥
ततस्तूर्ध्वं तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पकम्।
शुक्लध्यानं तदेवास्ति तत्रास्ति ज्ञानचेतना ॥ ११४ ॥
प्रमत्तानां विकल्पत्वान्न स्यात्सा शुद्धचेतना।
अस्तीति वासनोन्मेषः केषांचित्स न सन्निह ॥ ११५ ॥

यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत्परम् ।
परो वा नाश्रयेद्दोष गुणं चापि पराश्रितम् ॥ ९१६ ॥

अन्वयार्थः— (परं) केवल (हेतोः) रागरूप हेतुमेही (प्रसिद्धैः यैः स्थूललक्षैः) प्रसिद्ध जिन स्थूल–दृष्टि आचार्योंने (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्वं (च) और (ज्ञानं वा) ज्ञानको (आप्रमत्तं) छट्टे गुणस्थानतक (सविकल्पं इति स्मृतं) सविकल्प कहा है उन्ही आचार्योंने (ततः ऊर्ध्वं) छट्टे गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थानोंमें (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व (तु) तथा (ज्ञान वा) ज्ञानकोभी (निर्विकल्पकं) निर्विकल्पक कहा है (तु) और (तदेव शुक्लध्यानं अस्ति) उसीको शुक्लध्यान कहा है तथा (तत्र ज्ञानचेतना अस्ति) वहांपरही ज्ञानचेतना मानी है किन्तु (प्रमत्तानां विकल्पत्वात्) प्रमत्त गुणस्थानतक विकल्पका सद्भाव होनेसे उन गुणस्थानोंमें जो चेतना होती है (सा) वह (शुद्धचेतना न स्यात्) शुद्ध चेतना नहीं होती है (इति) इस प्रकारसे (इह) इस प्रकरणमें यहांपर जो (केषांचित्) किन्ही २ के (वासनोन्मेष अस्ति) वासनाका उदय है अर्थात् पक्ष है (सः सन् न) वह ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि जैसे (पराश्रितः दोषः) पराश्रित दोष–दूसरेसे सम्बन्ध रखनेवाले दोष (वा) अथवा (गुण) गुण (पर न आश्रयेत्) परके दोष अथवा गुण नहीं कहलाते है अर्थात् परको आश्रित नहीं करते है वैसेही (परो वा) अन्य कोई दूसरा गुण अथवा दोष भी (पराश्रितं दोषं च गुणं अपि न आश्रयेत्) परके दोष और गुणको आश्रित नहीं करते है किन्तु अपने २ गुण व दोष अपना २ आश्रय किया करते हैं अर्थात् जो गुण व दोष जिसके होंगे वे उसीकेही गुण व दोष कहावेंगे अन्यके नहीं ।

भावार्थ.— इस प्रकार रागरूप हेतु देकर कितनेही विद्वानोंने छट्टे गुणस्थानतकके ज्ञान व सम्यक्त्वको सविकल्प माना है । और ७ वे आदि गुणस्थानोंमें उसी सम्यक्त्व व ज्ञानको निर्विकल्प माना है । तथा निर्विकल्प सम्यक्त्ववालोंकेही शुद्धचेतनाका सद्भाव माना है और उसमें यह हेतु दिया है कि प्रमत्तगुणस्थानतक जीवोंके सम्यक्त्व व ज्ञानमें विकल्प रहता है । इसलिए उनकी चेतना सविकल्प होनेसे शुद्ध चेतना नहीं होसकती है । इस सब कथनका उत्तर ग्रंथकार देते है कि यह सब उनकी वासनाओंकी लहर है । और वासनोन्मेषसे तत्वके स्वरूपका निर्णय नहीं होता है । इसलिए उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि अन्य गुणोंके आश्रित विकार व विकाश अन्य गुणोंके लिए लागू

नहीं होते है। अत चारित्र-मोहोदजन्य रागभावभी, क्षयोपशमिकादि भावरूप सम्यक्त्वादिकमें कैसे लागू किये जा सकते है अर्थात् नही किए जा सकते है।

पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोऽस्त्यौदयिकः स्फुटम्।
सम्यक्त्वे स कुतो न्यायाज्ज्ञाने वाऽनुदयात्मके ॥ ९१७ ॥

अन्वयार्थ — (स्फुटं) इस लिए यह बात स्पष्ट है कि (चारित्रमोहस्य पाकात्) चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाला जो (औदयिकः रागः अस्ति) औदयिक राग है (सः) वह (अनुदयात्मके सम्यक्त्वे वा ज्ञाने) अनुदयरूप-क्षायिक व क्षायोपशमिक भावरूप सम्यक्त्व तथा ज्ञान में (कुतः न्यायात्) कौनसे न्यायसे कहा जासकता है।

भावार्थ.— सम्ययक्त्व तो क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावरूप होता है। तथा ज्ञान क्षायो-पशमिक भावरूप होता है। किसी कर्मके उदयरूप नहीं होता है। इस लिए चारित्रमोह के उदय से होनेवाला जो औदयिक रागभाव है वह सम्यक्त्व व ज्ञानमें दोषाधायक नहीं हो सकता है अर्थात् वह केवल चारित्रमेंही दोष पैदा करनेवाला होसकता है इतर में नहीं।

अनिघ्नन्निह सम्यक्त्वं रागोऽयं बुद्धिपूर्वकः।
नूनं हन्तुं क्षमो न स्याज्ज्ञानसंचेतनामिमाम ॥ ९१८ ॥

अन्वयार्थः— (इह) यहापर (अयं बुद्धिपूर्वकः रागः) यह बुद्धिपूर्वक औदयिक भावरूप राग (सम्यक्त्वं अनिघ्नन्) सम्यक्त्वका घात नहीं करता है इसलिए वह (इमां ज्ञानसञ्चेतनां) इस ज्ञान चेतनाको भी (नूनं) निश्चयसे (हन्तु क्षम न स्यात्) घात करनेके लिए समर्थ नहीं हो सकता है।

भावार्थः— इस प्रकार सिद्ध होता है कि यह बुद्धिपूर्वक राग न तो सम्यक्त्वकाही घात कर सकता है। और न उस सम्यक्त्वके साथ होनेवाली ज्ञानचेतनाकाही घात कर सकता है।

नाप्यूह्यमिति शक्तिः स्याद्रागस्यैतावतो[ता]पि या।
बन्धोत्कर्षोदयाशानां हेतुर्दृग्मोहकर्मणः ॥ ९१९ ॥

अन्वयार्थः— (**एतावतः अपि**) इस उक्त कथनपरसे (**इति अपि न अर्ह्यं**) यह आशंकाभी नहीं करना चाहिए कि (**या**) जो (**शक्तिः**) शक्ति (**दृङ्मोहकर्मणः**) दर्शन-मोहनीय कर्मके (**बन्धोत्कर्षोदयांशानां**) बन्ध, बन्धके उत्कर्ष और उसके उदयांशोंमें (**हेतुः**) कारण होती है ('**सा**') वह (**रागस्य स्यात्**) बुद्धिपूर्वक रागकी है ।

भावार्थ— दर्शन-मोहनीयके बन्धादिकमें रागादिकका उदय कारण नहीं होसकता है । क्योंकि दर्शन-मोहनीयका बन्ध बन्धोत्कर्ष किंवा उदय दर्शनमोहनीयके उदयमेंही होता है चारित्रमोहनीयके उदयमें नहीं । और सम्यक्त्वका घात भी दर्शन-मोहनीयके बन्धोत्कर्षादिकसे होता है चारित्रमोहके बन्धादिकसे नहीं । इसलिए जब दर्शन मोहके बन्धोत्कर्षादिक, दर्शनमोहके अभावमें केवल चारित्र मोहके उदयसे नहीं होते है तो फिर उनसे सम्यक्त्वका घात कैसे हो सकता है ।

साराश यह है कि सम्यग्दृष्टीके मिथ्यात्वका बन्ध व उदय न होनेसे उसके अप्रत्याख्यानावरणादिजन्य रागद्वेष ज्ञानचेतनाके बाधक नहीं हो सकते है ।

एवं चेत्सम्यगुत्पत्तिर्न स्यात्स्याद् दृगसंभवः ।
सत्यां प्रध्वंससामग्र्यां कार्यध्वंसस्य संभवात् ॥ ९२० ॥

अन्वयार्थः— (**एवं चेत्**) यदि केवल रागादिकके द्वारा ज्ञानचेतनामें बाधा होती है ऐसा मानोगे तो फिर (**सम्यगुत्पत्तिः न स्यात्**) सम्यक्त्वकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी और उसके न होनेसे (**दृगसंभवः स्यात्**) सम्यग्दर्शनका होना असंभव होजायगा कारण कि (**प्रध्वंससामग्र्यां सत्यां**) घातके कारण उपस्थित होनेपर (**कार्यध्वंसस्य संभवात्**) कार्यका भी नाश अवश्य होता है ।

भावार्थः— अबुद्धिपूर्वक रागादिक का सद्भाव छट्टे गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थानों में पाया जाता है । और बुद्धिपूर्वक रागादिकका सद्भाव चौथे, पाचवें तथा छट्टे गुणस्थानोंमें पाया जाता है । यदि रागको सम्यक्त्वका घातक मानोगे तो सर्वत्र सम्यक्त्वके घातकी सामग्री रहनेसे सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका होनाही असभव हो जायगा ।

न स्यात्सम्यक्त्वप्रध्वंसश्चारित्रावरणोदयात् ।

रागेणैतावता तत्र दृङ्मोहेऽनधिकारिणा ॥ ९२१ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र दृङ्मोहे) उस दर्शनके मूर्छित करनेमें (नाधिकारिणा) अधिकार न रखनेवाले (चारित्रावरणोदयात्) मिथ्यात्व रहित केवल चारित्रवरणोदयसे होनेवाले (एतावता रागेण) इतने रागसे उस सम्यग्दृष्टिके (सम्यक्त्वप्रध्वसः न स्यात) सम्यक्त्वका घात नहीं होता है ।

भावार्थः— इसलिए दर्शनको विकृत करनेमें असमर्थ चारित्रमोहके उदय से उत्पन्न होनेवाला जो रागभाव है वह सम्यक्त्व-ज्ञानचेतनाका घातक नहीं होसकता है ।

यतश्चास्त्यागमात्सिद्धमेतत्र दृङ्मोहकर्मणः ।
नियतं स्वोदयाद्बन्धप्रभृति नं परोदयात् ॥ ९२२ ॥

अन्वयार्थः— (यतः) क्योंकि (एतत् आगमात् सिद्धं च अस्ति) यह बात आगमसे भी सिद्ध है कि (दृङमोहकर्मणः) दर्शनमोहनीय कर्मका (बन्धप्रभृति) बन्ध वगैरह (स्वोदयात् नियत) अपनेही उदयसे नियत है (परोदयात् न) परोदयसे नियत नहीं है ।

भावार्थ — किन्हीं प्रकृतियोंका वन्ध अन्य प्रकृतियोंके उदय होते हुए होता है । किन्हीं प्रकृतियोंका वन्ध अपनेही उदयमें होता है । और किन्हीं प्रकृतियोंका वन्ध स्वोदय तथा परोदयके होते हुए होता है । इनमेंसे मिथ्यात्वप्रकृति स्वोदयवन्धप्रकृति है ।

इसलिए सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्वका उदय न होनेसे उसके मिथ्यात्वप्रकृतिका वन्धही जब नहीं होता है तो फिर मिथ्यात्वके विना केवल चारित्रमोहके उदयजन्य रागादिकसे सम्यक्त्वका (ज्ञानचेतनाका) घात कैसे हो सकता है ?

ननु चैवमनित्यत्वं सम्यक्त्वाद्यद्वयस्य यत् ।
स्वतः स्वस्योदयाभावे तत्कथं स्यादहेतुतः ॥ ९२३ ॥
न प्रतीमो वयं चैतद् दृङ्मोहोपशमः स्वयम् ।
हेतुः स्यात्स्वोदयस्योच्चैरुत्कर्षस्याऽथवा मनाक् ॥ ९२४ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च एवं) शंकाकारका कहना है कि मिथ्यात्व प्रकृतिको स्वोदय बन्ध प्रकृति होनेसे (सम्यक्त्वाद्यद्वयस्य) सम्यक्त्वोंमेंसे आदिके उपशम और क्षयोपशम इन दोनों सम्यक्त्वोंमे (यत् अनित्यत्वं) जो अनित्यपना है (तत्) वह (स्वतः स्वस्य उदयाभावे) स्वयं मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयकी सम्भावनाके न होनेपर (अहेतुनः कथं स्यात्) विना कारणके कैसे होगा और (वयं च एतत् न प्रतीमः) हम यह विश्वास नहीं करते हैं कि (स्वयं दृङ्मोहोपशमः) स्वयं दर्शनमोहनीयका उपशम (स्वोदयस्य) अपने उदय (अथवा) अथवा (उच्चैः उत्कर्षस्य) उदयोत्कर्षमें (मनाक् हेतुः स्यात्) कभी कारण होता है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि मिथ्यात्वप्रकृति स्वोदय बन्धप्रकृति है अतः आदिके दो सम्य-क्त्वों में जो अनित्यता है वह सिद्ध नहीं हो सकती है क्योंकि सम्यक्त्वके घातके लिए जिस मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय की आवश्यकता है उसका उदय उन दोनों सम्यक्त्वोंके समयमें सम्भव ही नहीं है । अतः निष्कारण इन दोनो सम्य-क्त्वोंमे अनित्यता कैसे सिद्ध होगी ?

यदि कदाचित् कहा जाय कि दर्शनमोहका उपशम ही स्वयं मिथ्यात्वके उदय व उत्कर्ष में कारण होता है तो यह प्रतीति सिद्ध प्रतीत नहीं होता है ।

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु ।
प्रतिकर्म प्रकृत्याद्यै र्नानारूपासु वस्तुतः ॥ १२५ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) इस प्रकारका कथन ठीक नहीं है (यतः) क्यों कि (वस्तुतः) वास्त-वमें (प्रतिकर्म) प्रत्येक कर्मकी (प्रकृत्याद्यैः नानारूपासु) प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागके द्वारा अनेक रूप (पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु) पुद्गलोंकी अचिन्त्य शक्तियोंके विषयमें (अनभिज्ञः असि) तुम अनभिज्ञ हो ।

भावार्थः— शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है । कारण कि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके द्वारा नानारूपवाले जो प्रत्येक कर्म[पुद्गल] हैं उनकी अचिन्त्य शक्तिके विषयमें वह अनभिज्ञ है—अपरिचित है । अथात् योगादिकोंके निमित्तसे होनेवाले कार्माणवर्गणासम्बन्धी ज्ञानावरणादित्वके लिए, प्रदेशोंकी संख्याके लिए, स्थितिसम्बन्धी न्यूनाधिकताके लिए और अनुभागकी हीनाधिकताके लिए जो कर्म पुद्गलोंमें अचिन्त्य शक्तियां हैं उनके विषयमें शंका-कार अपरिचित है । अन्यथा वह उक्त दोनों सम्यक्त्वोंके अनित्यत्वके विषयमें शंकाही नहीं करता ।

अस्त्युदयो यथाऽनादेः स्वतश्चोपशमस्तथा ।
उदयः प्रशमो भूयः स्यादर्वागपुनर्भवात् ॥ ९२६ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जिस तरह (अनादेः) अनादि कालसे (स्वत उदयः अस्ति) स्वय मोहनीयका उदय होता है (तथा) उसी तरह (उपशमश्च) उपशम भी काललब्धिके निमित्तसे स्वयं होता है इस तरह (अपुनर्भवात् अर्वाक्) मुक्ति होनेके पहिले (उदय प्रशमः) उदय और उपशम (भूयः स्यात्) बार २ होते रहते है ।

भावार्थः— यहा प्रशम शब्दसे उपशम सम्यक्त्वमे जो युगपत् सातों प्रकृतियोंका उपशम बताया है वह उपशम अनादि कालसे नहीं होता है यह ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि एकवार उपशम सम्यक्त्वके होनेपर यह जीव ज्यादहसे ज्यादह अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन कालतक ससार में रहता है । इसलिए उपशम सम्यक्त्वके लिए अनादि विशेषण नहीं लगाना चाहिये । यदि लगायाही जाय तो उपशम शब्दका अर्थ तीव्रोदयाभाव कहना चाहिये । कारण कि अनादि कालसे इस जीवके तीव्र उदय और उसका उपशम अर्थात् मन्दोदय तथा फिर तीव्र उदय ऐसा क्रम चला आरहा है । यद्यपि उपशम सम्यक्त्वमें अनादि विशेषण नहीं लगता है । तथापि एकवार प्रथमोपशम सम्यक्त्व के होनेके अनन्तर असंख्यातवार उसकी उत्पत्ति और नाश होसकता है इस दृष्टिसे जबतक मोक्ष न होगा तबतक दर्शनमोहका उदय और उपशम, फिर उदय, फिर उपशम इत्यादिक क्रम बारबार पाया जाता है ऐसा कहा है ।

साराश यह है कि सातों प्रकृतियोंका उपशम क्षयोपशम तथा उदय ये तीनोंही जब काललब्धि आती है तब स्वयं हो जाते है । अर्थात् सम्यक्त्वकी उत्पत्ति व घातमें दर्शनमोह का उपशम व उदयादिक ही स्वयं प्रधान कारण है । चारित्रमोहनीयका उपशम तथा उदय नहीं । यहा कारण शब्दसे जनक-कारण ग्रहणका करना चाहिए । इस-लिए जिस तरह अनादि कालसे दर्शनमोह का उपशम स्वतः होता है उसी तरह उस का उदय भी स्वतः होता है ।

इस प्रकार मिथ्यात्व के उदयसे उपशम व क्षयोपशम इन दोनों सम्यक्त्वोंका घात हो जाता है । और इस घातकी समावना से ही वे दोनों सम्यक्त्व अनित्य कहलाते हैं ।

अथ गत्यन्तराद्दोषः स्यादसिद्धत्वसंज्ञकः ।
दोषः स्यादनवस्थात्मा दुर्वारोऽन्योन्यसंश्रयः ॥ १२७ ॥

अन्वयार्थ— (अथ गत्यन्तरात्) यदि ऐसा न मानकर रागके द्वारा सम्यक्त्वका घात मानोगे तो (असिद्धत्वसंज्ञकः दोषः स्यात्) असिद्धत्व नामका दोष आवेगा तथा (दुर्वारः) जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता है ऐसा (अनवस्थात्मा) अनवस्थारूप दोष और (अन्योन्यसंश्रयः) अन्योन्याश्रय नामका भी (दोष स्यात्) दोष आवेगा ।

भावार्थः— यदि दर्शनमोहनीयका उपशम और उदय स्वत ही होता है ऐसा नहीं माना जायगा । किन्तु रागके द्वारा सम्यक्त्वका घात होता है ऐसा माना जायगा तो असिद्धत्व, अनवस्था और अन्योन्याश्रय ये तीन दोष आवेंगे ।

अब आगे ग्रंथकार स्वयं इसी अर्थका खुलासा करते है ।

दृङ्मोहस्योदयो नाम रागायत्तोऽस्ति चेन्मतम् ।
सोऽपि रागोऽस्ति स्वायत्तः किं स्यादपररागसात् ॥ १२८ ॥
स्वायत्तश्चेच्च चारित्रस्य मोहस्योदयात्स्वतः ।
यथारागस्तथा चायं स्वयत्तः स्वोदयात्स्वतः ॥ १२९ ॥

अन्वयार्थः— (चेत्) यदि (दृङ्मोहस्य उदयः नाम) उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्वका घातक जो जो दर्शनमोहका उदय है वह (रागायत्तः अस्ति) राग के आधीन है—रागके द्वारा होता है ऐसा (मतं) मानते हो तो हम पूछते है कि (सः रागः अपि) वह राग भी (किं स्वायत्त. अस्ति) क्या अपने आप होता है अथवा (अपररागसात् स्यात्) अथवा दूसरे रागसे उत्पन्न होता है (चेत्) यदि (स्वतः ,चारित्रस्य मोहस्य उदयात्) स्वयं चारित्र–मोहनीयके उदयसे होनेके कारण वह राग (स्वायत्तश्च) अपने आप ही होता है ऐसा मानते हो तो (यथा) जैसे (अयं रागः) यह राग स्वयं चारित्र-मोहनीयके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण अपने आप होता है (तथा च अयं) वैसेही यह दर्शनमोहका उदय

भी—मिथ्यात्वका उदय भी (स्वतः स्वोदयात् स्वायत्त) स्वयं दर्शनमोहनीयके उदय से उत्पन्न होनेके कारण अपने आप होता है ऐसा क्यों नहीं मान लेते हो।

भावार्थ.— मिथ्यात्वके उदयको यदि रागके अधीन मानते हो तो वह रागोदय किसके अधीन है ? स्वाधीन है अथवा अन्य किसी दूसरे कर्मके उदयके अधीन है ? यदि वह रागका उदय स्वाधीन नहीं तो फिर जिस तरह अपने उदयके लिए इस रागके उदयको स्वाधीन मानते हो उसी तरह मिथ्यात्वके उदयके लिए मिथ्यात्वके उदयको भी स्वाधीन मानना चाहिए।

अथ चेत्तद्द्वयोरेव सिद्धिश्चान्योन्यहेतुतः।
न्यायादसिद्धदोषः स्याद्दोषादन्योन्यसंश्रयात् ॥ १३० ॥

अन्वयार्थः— (अथ चेत तद्द्वयोः एव सिद्धिः) यदि कदाचित् कहो कि उन दोनोंकी ही सिद्धि (अन्योन्यहेतुतश्च) एक दूसरेके कारण से— निमित्तसे होती है तो (न्यायात्) न्यायानुसार (अन्योन्यसंश्रयात दोषात्) अन्योन्याश्रय दोषके कारण किसी एक भी सिद्धि न हो सकनेसे (असिद्धः दोषः स्यात्) असिद्धत्व नामका दोष आवेगा।

भावार्थः— यदि कदाचित कहा जाय कि दर्शनमोहके उदयसे चारित्र-मोहजन्य रागभाव होता है। और इस रागभावसे दर्शनमोहका उदय होता है तो अन्योन्याश्रय दोषके कारण किसी एककी भी सिद्धि नहीं होसकती है। इसलिए असिद्धत्व नामका दोष उपस्थित होता है।

नागमः कश्चिदस्तीदृग्घेतुर्दृङ्मोहकर्मणः।
रागस्तस्याथरागस्य तस्य हेतु र्दृगावृतिः ॥ १३१ ॥

अन्वयार्थः— (ईदृक् कश्चित् आगमः न अस्ति) तथा ऐसा कोई आगम प्रमाण भी नहीं है कि (तस्य दृङ्मोहकर्मणः राग हेतुः) उस दर्शन-मोहनीय कर्मके उदयमें राग कारण होता है (अथ) और (तस्य रागस्य हेतुः दृगावृत्तिः) उस रागके लिए दर्शन-मोहनीयका उदय कारण होता है।

भावार्थः— आगम में भी इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता है कि दर्शनमोह के उदय के लिए रागभाव कारण होता है। और रागभावके लिए दर्शनमोह का उदय कारण होता है।

तस्मात्सिद्धोऽस्ति सिद्धान्तो दृङ्मोहस्येतरस्य वा ।
उदयोनुदयोऽ वाऽथ स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थः— (तस्मात् सिद्धान्तः सिद्ध अस्ति) इसलिए यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि (दृङ्मोहस्य वा इतरस्य) दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय इन दोनोंके (उदयः अथवा अनुदयः) उदय अथवा अनुदय ये दोनोंही (स्वत. अनन्यगति स्यात्) स्वयं अनन्य गति—अपने आप होते है अर्थात् परस्परमें एक दूसरेके निमित्तसे नहीं होते है ।

भावार्थः— इस लिए यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि दर्शनमोह व चारित्र-मोहके उदय उपशममें स्वयं दर्शनमोह व चारित्र-मोहका उदय व अनुदयही कारण है । किन्तु दोनोंमेंसे किसी एकके लिए भी अन्य किसी दूसरे कर्मका उदय, अथवा अनुदय कारण नहीं है ।

तस्मात्सम्यक्त्वमेकं स्यादर्थात्तल्लक्षणादपि ।
तद्यथाऽऽवश्यकी तत्र विद्यते ज्ञानचेतना ॥ १३३ ॥

अन्वयार्थः— (तस्मात्) इसलिए (अर्थात्) अर्थकी अपेक्षासे और (तल्लक्षणात् अपि) उस सम्यक्त्वके लक्षणकी अपेक्षासे भी (सम्यक्त्व एकं स्यात्) सम्यक्त्व एकही है अर्थात् सम्यक्त्व के सराग-सम्यक्त्व तथा वीतराग सम्यक्त्व ये दो भेद नहीं है और (तत्र) उस सम्यक्त्वके होनेपर (आवश्यकी ज्ञानचेतना विद्यते) नियमसे ज्ञानचेतना होती है (तद्यथा) जैसे कि ग्रन्थकार आगे स्वयं सिद्ध करते है ।

भावार्थः— दर्शनमोहनीयके उपशम, क्षयोपशम और क्षय के होनेपर जो सम्यक्त्वरूप परिणाम होता है उसमें अर्थ तथा लक्षण इन दोनों की अपेक्षा से कोई अन्तर नहीं है । इसलिए सम्यक्त्व के सराग व वीतराग ऐसे दो भेद नहीं हो सकते है । तथा उस सम्यक्त्व के होनेपर ज्ञानचेतना भी अवश्य ही होती है । और ऐसा क्यों होता है इस विषयका ग्रन्थकार आगे स्वय निरूपण करते है ।

मिश्रौपशमिक नाम क्षायिकं चेति तत्त्रिधा ।
स्थितिबन्धकृतो भेदो न भेदो रसबन्धसात् ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थः— (**तत्**) वह सम्यक्त्व (**मिश्रौपशमिकं**) क्षायोपशमिक, औपशमिक (**च**) और (**क्षायिकं नाम**) क्षायिक (**इति त्रिधा**) इस तरह तीन प्रकारका है तथा इन तीनोंमें जो कुछ (**भेदः**) भेद है वह (**स्थितिबन्धकृत**) केवल स्थिति-बन्धकृत है (**रसबन्धसात् भेद न**) अनुभाग-बन्धकृत भेद नहीं है ।

भावार्थः— औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक इन तीनोंही सम्यक्त्वोंमें मिथ्यात्वका उदय नहीं रहता है । इसलिए उनमें रसबन्धकृत किसी प्रकारका अन्तर नहीं है । किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टिको छोडकर शेष दोनों प्रकारके सम्यग्दृष्टियोंके प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता रहती है । अतः उन दोनोंमें स्थितिबन्धकृत भेद पाया जाता है ऐसा कहा है । इसका विशेष खुलासा ग्रन्थकारने आगे स्वयं किया है ।

तद्यथाऽथ चतुर्भेदो बन्धोऽनादि प्रभेदतः ।
प्रकृतिश्च प्रदेशाख्यो बन्धौ स्थित्यनुभागकौ ॥ ९३५ ॥
प्रकृतिस्तत्स्वभावात्मा प्रदेशो देशसंश्रयः ।
अनुभागो रसो ज्ञेयो स्थितिः कालावधारणम् ॥ ९३६ ॥

अन्वयार्थः— (**तद्यथा अथ**) पूर्वोक्त कथनका खुलासा इस प्रकार है कि (**अनादिप्रभेदतः**) अनादि कालसे चले आए हुए भेदकी अपेक्षासे (**प्रकृति**) प्रकृतिबन्ध (**प्रदेशाख्यः** (प्रदेश-बन्ध (**च**) और (**स्थित्यनुभागकौ बन्धौ**) स्थितिबन्ध तथा अनुभाग इस तरह (**बन्धः चतुर्विधः**) बन्ध चार प्रकारका है उनमेंसे (**तत्स्वभावात्मा प्रकृतिः**) बन्ध होनेवाले कर्मोंके स्वभावको प्रकृतिरूप बन्ध कहते है (**देशसंश्रयः प्रदेशः**) कर्मोंके प्रदेशोंकी इयत्ताको-सख्याको प्रदेशरूप बन्ध कहते है (**कालावधारणम् स्थितिः**) कर्मोंकी स्थितिकी मर्यादाको स्थिति बन्ध कहते है और (**रसः अनुभागः ज्ञेयः**) कर्मोंमें जो साक्षात् फल देनेकी शक्ति है उसको अनुभाग-बन्ध कहते है ।

भावार्थ— बन्धने योग्य कर्मोंके स्वभावका नाम प्रकृतिबन्ध, कर्मोंके प्रदेशोंकी संख्याका नाम प्रदेशबन्ध, आत्मामें कर्मोंके ठहरनेके कालकी मर्यादाका नाम अर्थात् आत्मामें कर्म कितने कालतक ठहरकर फल देते है इस कालकी मर्यादाका नाम स्थितिबन्ध और साक्षात् फल देनेका नाम अनुभाग बन्ध है ।

स्वार्थक्रियासमर्थोऽत्र बंधः स्याद्रससंज्ञकः ।
शेषबंधात्रिकोऽप्येष न कार्यकरणक्षमः ॥ १३७ ॥

अन्वयार्थ — (अत्र) इन चारों प्रकारके बन्धोंमें (रससंज्ञकः बन्धः) केवल अनुभाग नामक बन्धही (स्वार्थक्रियासमर्थः स्यात्) बान्धने रूप अपनी क्रियामें समर्थ है (अपि) तथा (एषः शेष-बन्धत्रिकः) शेषके तीनों बन्ध (कार्यकरणक्षम न) आत्माको बान्धने रूप कार्य करनेमें समर्थ नहीं है ।

भावार्थः— कर्म और आत्माके आकृष्य तथा आकर्षणरूप भावसे जीव और पुद्गलोंका सम्बन्ध होनेके अनन्तर जो तृतीय अवस्था होती है उसे भावबन्ध कहते है जिसे कि पहले उभय बन्धभी कह आये है। यह तृतीय अवस्था अनुभागबन्धमेंही पायी जाती है। इसी कारणसे जीव कर्म-निबद्ध होता है। और कर्म, जीव-निबद्ध होता है। अनुभागबन्धके सिवाय इतर तीनों बन्धोंमें यह तृतीय अवस्था नहीं पाई जाती है।

ततः स्थितिवशादेव सन्मात्रेऽप्यत्र संस्थिते ।
ज्ञानसंचेतनायास्तु क्षति र्नस्यान्मनागपि ॥ १३८ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इसलिए (अत्र अपि) औपशमिक और क्षायोपशमिक इन दोनों प्रकारके सम्यग्दृष्टियोंके (सन्मात्रे संस्थिते) केवल सत्तारूपसे दर्शनमोहनीयके रहनेपर (स्थितिवशादेव) स्थिति बन्धमात्रसे (ज्ञानसञ्चेतनायाः) ज्ञानसचेतनाकी (मनाक् अपि क्षतिः न तु स्यात्) कुछभी हानि नहीं हो सकती है ।

भावार्थः— क्षायिक सम्यग्दृष्टिको छोडकर शेष सम्यग्दृष्टियोंके प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता मौजूद रहती है। अत जबतक उनके मिथ्यात्वका उदय नहीं आता है तबतक उन दोनों प्रकारके सम्यग्दृष्टियोंकी ज्ञानचेतनामें भी किसी प्रकारकी क्षति नहीं होती है। इसीलिए ग्रन्थकारने तीनों सम्यक्त्वोंमें स्थितिबन्धकृत अन्तर कहा है। रसबन्धकृत अन्तर नहीं कहा है। कारण कि तीनोंही सम्यक्त्वोंकी अवस्थाओंमें मिथ्यात्वका उदय नहीं रहता है। अत. रसब-न्धकी दृष्टिसे तीनोंही सम्यक्त्व एकसे हैं। और तीनोंही सम्यक्त्वोंमें मिथ्यात्वका अभाव होनेसे मिथ्यात्व कर्मके साथही नष्ट होनेवाली स्वानुभूत्यावरण प्रकृतिका भी अभाव हो जाता है। इसलिए तीनोंकेही सम्यक्त्वकी अविनाभावी ज्ञानचे-तना अवश्य रहती है। अत. अर्थ और लक्षण दोनोंकी अपेक्षासे तीनों [illegible]क्त्वोंमें समानता है।

एवमित्यादयश्चान्ये सन्ति ये सद्गुणोपमाः ।
सम्यक्त्वमात्रमारभ्य ततोऽप्यूर्ध्वं च तद्वतः ॥ १३९ ॥

अन्वयार्थः— (**एवं**) इस प्रकार (**इत्यादयः अन्ये च**) निःशंकितादिक तथा वक्ष्यमाण वैराग्यादिक और भी (**ये**) जो गुण (**सन्ति**) है, जिन्हें कि (**सद्गुणोपमा**) सद्गुणोंकी उपमा दी जा सकती है वे सब (**तद्वत**) सम्यग्दृष्टि के (**सम्यक्त्वमात्रमारभ्य ततश्च ऊर्ध्वं अपि ' भवन्ति '**) केवल सम्यक्त्वको प्रारम्भ करके आगे भी पाए जाते है अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर उसके आगे के गुणस्थानोंमें भी होते है ।

भावार्थः— जो निःशंकतादिक तथा वक्ष्यमाण वैराग्यादिक सम्यग्दर्शनके गुण हैं वे सब अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर ऊपरके सब गुणस्थानोंमें पाए जाते है ।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाव्हयम् ।
वैराग्यं भेदविज्ञानमित्याद्यस्तीह किं बहु ॥ १४० ॥

अन्वयार्थः — (**इह**) सम्यग्दर्शनके होनेपरही आत्मामें (**स्वसंवेदनप्रत्यक्ष**) स्वसंवेदन–प्रत्यक्ष (**स्वानुभवाव्हय ज्ञानं**) स्वानुभव नामका ज्ञान, (**वैराग्यं**) वैराग्य और (**भेदविज्ञानं**) भेदविज्ञान (**इत्यादि अस्ति**) इत्यादि गुण प्रगट हो जाते है अत. (**किं बहु ?**) उनका अधिक कहातक वर्णन करे ।

भावार्थ.— जिस तरह निःशंकितादिक अंग और प्रशमादिक सम्यग्दर्शनके गुण है–लक्षण है । उसी तरह सम्यग्दर्शनके अविनाभावी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, स्वानुभूति, परमोपेक्षारूप वैराग्य और भेद–विज्ञान ये सब भी सम्यक्त्व के गुण है ।

अद्वैतेऽपि त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात् ।
ययोपलक्षितो जीवः सार्थनामाऽस्ति नान्यथा ॥ १४१ ॥

अन्वयार्थः— (**यया उपलक्षितः जीवः**) जिस चेतना के द्वारा युक्त जीव (**सार्थनामा अस्ति**) अन्वर्थ नामधारी कहलाता है और (**अन्यथा न**) जिस चेतनाके विना जीव, जीव शब्दका वाच्यही

नहीं कहलाता है वह (**चेतना**) चेतना (**अद्वैते अपि**) यद्यपि सामान्य दृष्टिसे अखण्ड-एक है तथापि वह (**आगमात्**) आगमानुसार (**एवं च त्रिधा प्रोक्ता**) उक्त प्रकार से तीन तरहकी कही गई है ।

भावार्थः— जो चेतना का-जीवका लक्षण है वह चेतना सामान्यरूपसे एक प्रकारकी है । और विशेष-रूपसे ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना इस तरह तीन प्रकारकी है । जिससे लक्षित होकरही यह जीव चेतन कहलाता है । इन तीनों चेतनाओंका वर्णन पहले हो चुका है । अतः यहापर पुनरुक्ति दोषके भयसे नहीं किया है ।

शंका ।

ननु चिन्मात्र एवास्ति जीवः सर्वोऽपि सर्वथा ।
किं तदाद्या गुणाश्चान्ये सति तत्रापि केचन ॥ १४२ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि जब (**सर्वः अपि जीवः**) सबही जीव (**सर्वथा चिन्मात्र एव अस्ति**) सर्वथा केवल चैतन्यमय ही है तो फिर (**तत्रापि**) उस जीवद्रव्यमें भी (**तदाद्याः अन्ये च केचन गुणाः सन्ति इति किं ?**) चैतन्यको आदि लकर औरभी अनेक गुण है ऐसा क्यों कहा जाता है ?

भावार्थः—शंकाकारका कहना है कि जब केवल चैतन्यमात्रही जीवका स्वरूप है तो फिर उस जीव द्रव्यमें और भी अनेक गुण पाए जाते है ऐसा क्यों कहा जाता है ।

समाधान ।

उच्यतेऽनन्तधर्माधिरूढोऽप्येकः सचेतनः ।
अर्थजातं यतो यावत्स्यादनन्तगुणात्मकम् ॥ १४३ ॥

अन्वयार्थः— शङ्काकारकी शंकाका उत्तर यह है कि (**एकः अपि सचेतनः**) एकही जीव (**अनन्तधर्माधिरूढ उच्यते**) अनन्त धर्मयुक्त कहा जाता है (**यतः**) क्योंकि (**यावत् अर्थजातम्**) जितना भी पदार्थोंका समुदाय है वह सब (**अनन्तगुणात्मकम् स्यात्**) अनन्त गुणात्मक होता है ।

भावार्थ — यद्यपि सामान्यदृष्टिसे जीव केवल चेतनात्मक है । तथापि विशेष दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणात्मक है, इसलिए जीव भी अनन्तगुणात्मक है, अतः यहापर उसके विशेष गुणोंका वर्णन करना युक्तियुक्त है ।

अभिज्ञानं च तत्रापि ज्ञातव्यं तत्परीक्षकैः ।
वक्ष्यमाणमपि साध्यं युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ १४४ ॥

अन्वयार्थ.— (वक्ष्यमाणं अपि) जिसका हम प्रकरणानुसार विस्तृत वर्णन करनेवाले है और जो (युक्तिस्वानुभवागमात) युक्ति, स्वानुभव तथा आगमसे (साध्यं) सिद्ध किया जासकता है ऐसे (तत्रापि) उस जीवके अनन्त धर्मात्मक होनेमें भी (अभिज्ञानं च तत्परीक्षकैः ज्ञातव्य) विशेष परिज्ञान भी उस विषयके जानकार परीक्षकोंको करना चाहिए ।

भावार्थः— ' वक्ष्यमाणमपि ' इस पदसे यह सिद्ध होता है कि ग्रन्थकारकी इच्छा स्वय इस विषयमें आगे विस्तारसे लिखनेका है । और ' युक्ति स्वानुभवागमात् साध्यं ' इस पदसे यह सिद्ध होता है कि विशेष–दृष्टिसे प्रत्येक वस्तुका अनन्त गुणात्मक होना युक्तियुक्त, स्वानुभवगम्य तथा आगम प्रमाणसे सिद्ध है ।

तद्यथायथं जीवस्य चारित्रं दर्शनं सुखम् ।
ज्ञानं सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेषगुणाः स्फुटम ॥ १४५ ॥

अन्वयार्थः— (तद्यथायथ) पूर्वोक्त कथनका खुलासा इस प्रकार है जैसे कि (चारित्रं) चारित्र (दर्शनं) दर्शन (सुख) सुख (ज्ञानं) ज्ञान और (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व (इति एते) ये पांच (स्फुटं) स्पष्ट रीतिसे (जीवस्य विशेषगुणाः स्यु) जीवके विशेष गुण है ।

भावार्थः— जो गुण दूसरे द्रव्यमें न पाये जाकर केवल जीव द्रव्यमेंही पाये जावे वे जीवके विशेष गुण कहलाते है जैसे कि– चारित्र, दर्शन, सुख, ज्ञान और सम्यक्त्व ।

वीर्यं सूक्ष्मोऽवगाहः स्यादव्याबाधश्चिदात्मकः ।
स्यादगुरुलघुसंज्ञं च स्युः सामान्यगुणा इमे ॥ १४६ ॥

अन्वयार्थः— (चिदात्मकः) चेतनात्मक (वीर्यं) वीर्य (सूक्ष्मः) सूक्ष्म (अवगाहः) अवगाह (अव्याबाधः स्यात्) अव्याबाध (च) और (अगुरुलघु संज्ञं स्यात्) अगुरुलघु (इमे सामान्य गुणाः स्युः) ये पांच जीवके सामान्य गुण है ।

भावार्थः— यहा चिदात्मक विशेषण इसलिए दिया है कि वीर्य, सूक्ष्म, अवगाह, अव्याबाध और अगुरुलघु ये गुण जीव तथा अजीव दोनोंमें ही पाये जाते है । किन्तु यहां जीवका प्रकरण है । इसलिए सम्पूर्ण जीवोंमें पाये जानेके कारण सामान्य अपेक्षासे ये चिदात्मक पाचोंही गुण जीवके सामान्य गुण कहे जाते है ।

सामान्या वा विशेषा वा गुणाः सिद्धाः निसर्गतः ।
टंकोत्कीर्णा इवाजस्रं तिष्ठन्तः प्राकृताः स्वतः ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थ— (**सामान्या वा विशेषा वा गुणा**) सामान्य अथवा विशेष दोनोंही प्रकारके गुण (**निसर्गतः सिद्धाः**) स्वभावसे सिद्ध है और वे सब गुण (**स्वतः प्राकृताः**) स्वयं भावरूपही होते है इसलिए (**टंकोत्कीर्णा इव**) टांकीसे उकेरे हुए की तरह द्रव्यमे अजस्रं) सदैव (**तिष्ठंतः**) रहते है ।

भावर्थ — जैसे टांकीसे उकेरे हुए पत्थरमें पत्थरके संस्कार उससे कभी पृथक् नहीं होते है । वैसेही उक्त दोनों प्रकारके गुण भी सहभावी होनेसे द्रव्यमें सदैव रहते है । कभी भी द्रव्यसे पृथक् नहीं होते है ।

तथापि प्रोच्यते किंचित श्रूयतामवधानतः ।
न्यायबलात्समायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥ १४८ ॥

अन्वयार्थः— (तथापि) तथापि (**किंचित् प्रोच्यते**) उन गुणोंके विषयमें कुछ कहते है इसलिए (**अवधानतः श्रूयतां**) सावधानीसे सुनो क्यों कि (**न्यायबलात् समायातः प्रवाहः**) न्यायके बलसे आया हुआ—प्रकरणप्राप्त कथनका प्रवाह (**केन वार्यते**) किसके द्वारा रोका जा सकता है ?।

भावार्थः— यद्यपि गुणोंके सामान्य और विशेष भेद के कथन से गुणोका कथन पूरा हो जाता है। तथापि उनके विषय में कुछ कथन करना अनुपयुक्त न होगा । अत उसे ध्यानपूर्वक सावधानतासे सुनना चाहिए । कारण कि न्यायानुसार आया हुआ गुणोंके कथन का प्रवाह किसीके द्वारा रोका नहीं जासकता है ।

अस्ति वैभाविकी शक्तिः स्वतस्तेषु गुणेषु च ।
जन्तोः संसृत्यवस्थायां वैकृताऽस्ति स्वहेतुतः ॥ १४९ ॥

अन्वयार्थः— (**तेषु गुणेषु च**) उन स्वयं सिद्ध जीवके गुणोंमें (**स्वतः**) स्वय सिद्ध (**वैभा-**

विकीशक्ति. अस्ति) एक वैभाविकी शक्ति है और वह (जन्तोः संसृत्यवस्थायां) जीवकी ससारावस्थामें (स्वहेतुतः वैकृता अस्ति) स्वय अनादि कालसे विकृत होरही है।

भावार्थः— जीवके गुणोंमें से एक वैभाविकशक्ति नामका गुण है। और वह अनादि कालसे स्वयं विकृत हो रहा है।

यथा वा स्वच्छताऽऽदर्शे प्राकृताऽस्ति निसर्गतः।
तथाऽप्यस्यास्यसंयोगाद्वैकृताऽस्त्यर्थतोऽपि सा ॥ ९५० ॥

अन्वयार्थः— (यथा वा) जैसे (निसर्गत) स्वभावसेही (आदर्शे स्वच्छता प्राकृता अस्ति) दर्पणमें स्वच्छता प्राकृतिक होती है परन्तु (आस्यसंयोगात्) उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाले मुखके संयोगसे वह (वैकृता अपि) विकृत भी होजाती है (तथा) वैसेही (अर्थतः सा अपि ' वैकृता भवति ') जीवकी वह स्वाभाविक वैभाविकशक्ति भी कर्मके निमित्तसे वास्तवमें विकृत हो रही है।

भावार्थः— जैसे दर्पणकी स्वाभाविक स्वच्छता उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाले मुखके संयोगसे विकृत होजाती है। वैसेही जीवका वैभाविक नामका स्वाभाविक-गुण भी अनादि कालसे कर्मोके संयोगके कारण विकृत हो रहा है। और उसीके निमित्तसे जीव तथा कर्मका रागद्वेष पूर्वक आकृष्य आकर्षक भावसे वन्ध हो रहा है।

वैकृतत्वेऽपि भावस्य न स्यादर्थान्तरं क्वचित्।
प्रकृतौ यद्विकारत्वं वैकृतं हि तदुच्यते ॥ ९५१ ॥

अन्वयार्थ.— (भावस्य वैकृतत्वे अपि) भावमें विकृतपनेके होनेपर भी (क्वचित् अर्थान्तरं न स्यात्) कुछ भिन्न अर्थपना नहीं होजाता है (हि) क्यों कि (प्रकृतौ यद्विकारत्व) किसी अर्थके किसी स्वभावमें पर निमित्तसे जो परिवर्तन होता है (तत् वैकृतं उच्यते) उसेही विकृतिपना कहते हैं।

भावार्थः— किसी पदार्थके किसी स्वभावमें जो पर निमित्तसे नैमित्तिक परिवर्तन होता है– संयोगज तृतीय अवस्था होती है उसे विकार कहते है। इसलिए अनादि कालसे जो उस वैभाविक शक्तिमें पर निमित्तवश परि-वर्तनरूप जो विकार हो रहा है उस नैमित्तिक परिवर्तनरूप विकारसे उस वैभाविक शक्तिके मूल स्वभावमें कोई अन्तर नहीं पडता है अर्थात् उससे मूल स्वभावका घात नहीं होता है।

यथाहि वारुणीपानाद्बुद्धि र्नाबुद्धिरेव नुः ।
तत्प्रकारान्तरं बुद्धौ वैकृतत्वं तदर्थसात् ॥ १५२ ॥

अन्वयार्थ.— (यथाहि) उक्त कथनको दृष्टान्त पूर्वक दिखाते है जैसे कि विकृत होनेपरभी (नु.) पुरुषकी (बुद्धिः) बुद्धि (वारुणीपानात्) मद्यके पीनेसे (अबुद्धिः एव न) पूर्ण अबुद्धिही नहीं हो जाती है किन्तु (बुद्धौ) उस बुद्धिमें (तदर्थसात्) उस मद्यके निमित्तसे जो (तत्प्रकारान्तरं) कुछ न कुछ जात्यन्तरता आती है (' तत् ' वैकृतत्वं) वही उसकी बुद्धिका विकृतपना कहलाता है ।

भावार्थ.— परवस्तुके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले भावको विकार कहते है अर्थात् परवस्तुके निमित्तसे गुणकी जातिमें एक प्रकारकी जात्यन्तरताके आ जानेको विकार कहते है । कुछ स्वभावके मूलत उच्छेदका नाम विकार नहीं है । जैसे कि मद्यपानसे पुरुषके बुद्धिका मूलतः नाश नहीं होता है । किन्तु मद्यपानके निमित्तसे उसकी बुद्धिमें जो एक तरहकी भ्रमयुक्त बुद्धिकी जाति, परिवार्तित हो जाती है उसकाही नाम विकार है ।

प्राकृतं वैकृतं वाऽपि ज्ञानमात्रं तदेव यत् ।
यावदत्रेन्द्रियायत्तं तत्सर्वं वैकृतं विदुः ॥ १५३ ॥

अन्वयार्थ — (प्राकृतं अपि वैकृतं वा यत्) प्राकृत अथवा वैकृत भी जो ज्ञान है वह सब सामान्यरूपसे (ज्ञानमात्रं) ज्ञानही कहलाता है परन्तु (तदेव यावत् अत्र) वही ज्ञान सामान्य जबतक यहां (इन्द्रियायत्त) इन्द्रियाधीन रहता है तबतक (तत्सर्वं वैकृत विदुः) वह सब ज्ञान, विकृत कहलाता है ।

भावार्थः— ज्ञानको प्राकृतज्ञान अथवा वैकृतज्ञान कहना यह ज्ञानका विशेष रूपसे कथन कहलाता है । क्योंकि सामान्य रूपसे ज्ञानमें किसी प्रकारका अन्तर विवक्षित नहीं है । अतः ज्ञानकी सम्पूर्ण अवस्थाओंमें ज्ञानको ज्ञानही कहना यह ज्ञानका सामान्यरूपसे कथन कहलाता है । तथा उन दोनो प्रकारके ज्ञानोंमेंसे जो ज्ञान इन्द्रियादि—कको सहायतासे उत्पन्न होता है वह विकृतज्ञान कहलाता है ।

अस्ति तत्र क्षतिर्नूनं नाक्षतिर्वास्तवादपि ।
जीवस्यातीव दुःखित्वात्सुखस्योन्मूलनादपि ॥ १५४ ॥

अन्वयार्थः— ज्ञानमें विकार के होनेसे (**जीवस्य अतीव दुःखित्वात्**) जीव अत्यन्त दुखी होता है (**अपि**) और (**सुखस्य उन्मूलनात्**) उस के आत्मीक सुखका घात–उच्छेद होजाता है इसलिए (**तत्र**) जीवके ज्ञानमें विकार के होनेपर (**वास्तवात् अपि क्षतिः नून अस्ति**) जीवकी वास्तविकरूपसे हानि ही होती है (**अक्षति न**) कुछ लाभ नहीं होता है।

भावार्थ— यदि कदाचित् कोई यहांपर ऐसा कहे कि " ज्ञानमें विकार के होनेसे वास्तव में कुछ हानि नहीं होती है। कारण कि पर वस्तु के योग से होनेवाला विकार केवल नैमित्तिक भाव है। अत उस से वस्तुकी यथार्थताका घात नहीं होता है " तो उसका यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञान के विकृत होनेसे जीव अत्यन्त दुखी होता है। और उसके आत्मीक सुखका उन्मूलन होजाता है। इसलिए ज्ञानमें विकार के होनेसे वास्तवमें जीव की क्षति ही होती है अक्षति नहीं।

अपि द्रव्यनयादेशाट्टंकोत्कीर्णोऽस्ति प्राणभृत्।
नात्मसुखे स्थितः कश्चित्प्रत्युतातीव दुःखवान् ॥ १५५ ॥

अन्वयार्थः— (**अपि**) यद्यपि (**द्रव्यनयादेशात्**) द्रव्यार्थिक-नयकी अपेक्षासे यह (**प्राणभृत्**) जीव (**टंकोत्कीर्णः अस्ति**) टांकीसे उकेरे हुए पत्थरकी तरह अपरिणामी विवक्षित होता है अर्थात् वह पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा के गौण होजानेसे अपरिवर्तनीय कहा जाता है तथापि पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे (**कश्चित् आत्मसुखे स्थितः न**) कोई भी ससारी जीव विकृत अवस्थाके होनेपर आत्मसुखमें स्थिर नहीं रहता है (**प्रत्युत अतीव दुःखवान**) किंतु अतीव दुखी रहता है।

भावार्थः— जैसे टाकीसे टकी हुई पत्थरकी चीज सदैव तदवस्थ दीखती है। वैसेही जीवमें किसी भी प्रकारके परिणामकी विवक्षाके न करनेसे अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे वह अपरिणामी कहा जाता है। परन्तु पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे वही जीव वन्ध के कारण आत्मसुखमें स्थित न होकर अत्यन्त दुखी कहा जाता है।

नांगीकर्तव्यमेवैतत्स्वरूपे स्थितोऽस्ति ना।
बद्धो वा स्यादबद्धो वा निर्विशेषाद्यथामणिः ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे (मणि) माणि (बद्धः वा अबद्धः वा स्यात्) बद्ध हो या अबद्ध हो, दोनोंही अवस्थाओंमें (निर्विशेषात्) द्रव्यदृष्टिसे सदृश होनेके कारण (स्वरूपे स्थितः अस्ति) अपने स्वरूपमेंही स्थित रहता है ('तथा') वैसेही यह (ना) आत्मा, बद्ध या अबद्ध दोनों अवस्थाओंमे अपने स्वरूपमेंही स्थित रहता है (एतत् नैव अङ्गीकर्तव्य) ऐसा नहीं स्वीकार करना चाहिये–नहीं मान लेना चाहिए।

भावार्थः— जैसे मणि, बद्ध और अबद्ध दोनों अवस्थाओंमें अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है। उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं होता है। वैसे ही यह जीव भी, अपनी बद्ध और अबद्ध दोनों अवस्थावोंमें अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है कर्भामी–पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता है ऐसा नहीं मानना चाहिए।

यतश्चैवं स्थिते जन्तोः पक्षः स्यात बाधितो बलात।
संसृतिर्वा विमुक्तिर्वा न स्याद्वा स्यादभेदसात ॥ १५७ ॥

अन्वयार्थः—क्योंकि (जन्तोः एवं स्थिते) जीव बद्ध और अबद्ध दोनों अवस्थाओंमें अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है ऐसा माननेसे (पक्षः बलात् बाधितः स्यात्) यह पक्ष अवश्य बाधित हो जाता है (यत) क्योंकि ऐसा माननेसे (संसृतिः वा विमुक्तिः वा न च स्यात्) संसार तथा मोक्षका कथन नहीं बन सकता है (वा) अथवा यदि बनेगा भी तो (अभेदसात् स्यात्) उन दोनोंमें कुछ भेद नहीं हो सकता है।

भावार्थः— जीवको सदैव अपने स्वरूपमें ही स्थित माननेसे उसकी संसार और मोक्ष अवस्था नहीं हो सकेगी। यदि कदाचित् उक्त दोनों अवस्थाओंको मान भी लिया जावे तो जीवको सदैव स्वरूपमें स्थित माननेसे संसार तथा मुक्त अवस्थामें कोई अन्तर सिद्ध नहीं हो सकेगा।

स्वस्वरूपे स्थितो ना चेत्संसारः स्यात्कुतो नयात।
हटाद्वा मन्यमानेऽस्मिन्ननिष्टत्वमहेतुकम ॥ १५८ ॥

अन्वयार्थः— (चेत्) यदि (ना) आत्मा (स्वस्वरूपे स्थितः) अपने स्वरूपमे स्थित रहता है तो फिर (संसारः कुतो नयात् स्यात्) जीवकी संसार अवस्था किस न्यायसे सिद्ध की जासकगी

यदि (हठात् वा अस्मिन् मन्यमाने) हठसेही अहेतुक संसार अवस्थाको मानोगे तो (अहेतुकं अनिष्टत्वम्) वह अवस्था अयुक्तिक होनेसे इष्ट नहीं कही जासकती है—इष्ट नहीं मानी जासकती है।

भावार्थ— यदि आत्मा सदैव अपने स्वरूपमे ही स्थित रहता है ऐसा मानोगे तो उसकी पच परावर्तनरूप ससार अवस्था किसी भी न्यायमे सिद्ध नहीं हो सकेगी। यदि कदाचित हठसे संसार अवस्था होती है ऐसा मानोगे भी तो वह मानना युक्तियुक्त न होनेसे—अहेतुक होनेसे इष्ट नहीं हो सकता है।

जीवश्चेत्सर्वतः शुद्धो मोक्षादेशो निरर्थकः।
नेष्टमिष्टत्वमत्रापि तदर्थं वा वृथा श्रमः॥ ९५९॥

अन्वयार्थः—(चेत्) यदि (जीवः सर्वतः शुद्ध.) जीव सर्व प्रकारसे सदैव शुद्ध ही है तो (मोक्षादेशः निरर्थकः) मोक्षका आदेश—निरूपण करना निरर्थक हो जावेगा परन्तु यहापर (अत्रापि इष्टत्वं इष्टं न वा) मोक्षके निरूपणकी निरर्थकताको इष्ट मानना इष्ट नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे (तदर्थं श्रम वृथा) मोक्षके लिए जो परिश्रम किया जाता है वह व्यर्थ सिद्ध होगा।

भावार्थ — यदि जीव सर्वथा शुद्ध ही हैं तो मोक्षके आदेशकी व्यवस्था निरर्थक हो जावेगी। परन्तु किसी भी आस्तिकने मोक्षके आदेशको अनिष्ट नहीं माना है। क्योंकि यदि अनिष्ट माना हुआ होता तो उसके लिए वे श्रम ही क्यों करते।

सर्वे विप्लवतेऽप्येवं न प्रमाणं न तत्फलम्।
साधनं साध्यभावश्च न स्याद्वा कारकक्रिया॥ ९६०॥

अन्वयार्थ — (एवं) इस प्रकार मोक्षादेशको निरर्थक माननेपर (न प्रमाणं) न प्रमाण (न तत्फलम्) न उसका फल (च) और (न साधनम् साध्यभावः कारकक्रिया वा स्यात्) न किसी प्रकारका साध्य साधन भाव तथा कारकक्रिया भाव ही बन सकेगा किन्तु (सर्वे अपि विप्लवते) ये सब ही विगड जावेंगे।

भावार्थ.— जब जीव शुद्ध ही है तो मिथ्यादर्शनादिकसे बन्ध और सम्यग्दर्शनादिकसे मोक्ष होता है इत्यादिक जो शास्त्रोक्त कथन हैं वह निरर्थक हो जायगा। तथा सम्यग्दर्शनादिकसे मोक्ष और मिथ्यादर्शनादिकसे

बन्ध होता है इसकी सिद्धि के लिए, सम्यग्दर्शनादिकके स्वरूपनिर्णयके लिए, सत्पक्ष स्थापन तथा असत्पक्ष निराकरणके लिए, जो प्रमाण की व्यवस्था मानी जाती है वह भी निरर्थक होजायगी और सम्यग्दर्शनादिक मोक्षके साधन है तथा मोक्ष साध्य है, यह जो साध्यसाधन भाव है वह भी नहीं बन सकेगा। अधिक क्या, आत्मा सम्यग्दर्शनादिक से मुक्त होता है, और मिथ्यादर्शनादिकसे बद्ध होता है, अतः मिथ्यादर्शनादिकका त्यागकर आत्मकल्याणके लिए सम्यग्दर्शनादिकका सम्पादन करना चाहिए इत्यादि जो कारक क्रियाभाव हैं वह भी नहीं बनेगा। अथवा आत्मा आत्माको आत्मा के द्वारा आत्मा के लिए आत्मा में लीन करता है इत्यादि क्रियाकारक भाव नहीं बनसकेगा।

सिद्धमेतावताप्येवं वैकृता भावसन्ततिः।
अस्ति संसारिजीवानां दुःखमूर्ति र्दुरुत्तरी ॥ ९६१ ॥

अन्वयार्थः— (**एवं एतावता अपि सिद्धं**) इस प्रकार इस उक्त कथनसे यही सिद्ध होता है कि (**संसारिजीवानां**) ससारी जीवोंकी (**वैकृता**) विकारप्राप्त (**भावसन्ततिः**) जो भावसन्तति है वह (**दुरुत्तरी दुःखमूर्तिः अस्ति**) दुर्लंघ्य दुःखकी मूर्ति है।

भावार्थः— इस प्रकार आत्मामें सदैव सर्वथा शुद्धपनाके सिद्ध न होनेसे यही सिद्ध होता है कि ससारी जीवोंके विकृत भावोंकी जो परम्परा है वह दुर्लंघ्य दुःखकी मूर्ति है।

इस तरह जीवके वैभाविक गुण और परनिमित्तसे उत्पन्न होनेवाले नैमित्तिक वैभाविक भावोंका वर्णन करके तथा जीवको द्रव्यार्थिकनयसे शुद्ध और पर्यायार्थिकनयसे अशुद्ध सिद्ध करके अबआगे परनिमित्तसे उत्पन्न होनेवाले विकारभूत वैभाविक भाव कितने है, उनके नाम क्या है, तथा वे कैसे होते है इत्यादि रूपसे उन वैभाविक भावोंके स्वरूप को दिखाने के लिए प्रकरण का प्रारम्भ करते है।

ननु वैभाविका भावाः कियन्तः सन्ति कीदृशाः।
किन्नामानः कथं ज्ञेया ब्रूहि मे वदतांवर ॥ ९६२ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**वदतांवर**) हे वदतांवर[1] (**वैभाविकाः भावाः कियन्तः**) वे वैभाविक भाव कितने (**कीदृशाः**) कैसे और (**किंनामानः**) किस नाम के

---

१ हे वक्ताओंमें शिरोमणि।

(सन्ति) है तथा वे भाव (कथं ज्ञेया.) कैसे जाने जा सकते है (मे ब्रूहि) यह हमें बतलाईये।

भावार्थः— शङ्काकरका कहना है कि हे वदतावर ! वैभाविक भावोंकी संख्या कितनी है ? उनका स्वरूप कैसा है ? और उनकी संज्ञा क्या है ? यह हमें बतलाईये।

श्रृणु साधो महाप्राज्ञ वच्म्यहं यत्तवेप्सितम् ।
प्रायो जैनागमाभ्यासात्किंचित्स्वानुभवादपि ॥ ९६३ ॥

अन्वयार्थः— (महाप्राज्ञ) हे विद्वद्वर ! (साधो) हे सज्जन ! (यत् तव ईप्सितम्) जो तुम्हें इष्ट है उसे (अहं) मैं (प्राय) प्राय करके (जैनागमाभ्यासात्) जैनागम के अभ्याससे (अपि) और (किंचित् स्वानुभवात्) कुछ स्वानुभवसे (वच्मि) कहता हूं (श्रृणु) तुम सुनो।

भावार्थ.— हे सज्जनोत्तम ! मैं जैनागम से तथा स्वानुभव से वैभाविक भावों के स्वरूप को कहता हूं। तुम उसे सुनो।

लोकासंख्यातमात्राः स्युर्भावाः सूत्रार्थविस्तरात् ।
तेषां जातिविवक्षायां भावाः पंच यथोदिताः ॥ ९६४ ॥

अन्वयार्थः— (सूत्रार्थविस्तरात्) यद्यपि सूत्रके अर्थके विस्तारसे–मूलभूत पांचों भावोंके उत्तरोत्तर भेदोंकी अपेक्षासे (लोकासंख्यातमात्राः भावाः स्युः) वे सब वैभाविकभाव लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण होते है तथापि (तेषां जातिविवक्षायां) उन सब वैभाविकभावोंकी केवल जातिकी अपेक्षासे विवक्षा करनेपर (पञ्च भावा उदिताः) वे सब भाव केवल पाच कहे जाते है (यथा) जैसे कि आगे बताते है।

भावार्थः— सम्पूर्ण भावोंकी जाति पाच प्रकारकी है। लेकिन प्रत्येक जाति के अवान्तर भेद करनेसे उन भावो के लोकासंख्यात प्रमाण भेद हो जाते है। असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में असंख्यात का भाग देनेसे जो लब्ध आता है उसे लोकासख्यात कहते है। असंख्यात के असंख्यात भेद होनेसे फिर भी यह संख्या असंख्यात ही रहती है। अर्थात यदि जातिकी ही अपेक्षा पर ध्यान रखकर भावोंका प्रतिपादन किया जावे तो वे सब भाव पाच ही होते है।

अथ आगे उन पांच भावोंका निरूपण करते है।

ततौपशमिको नाम भावः स्यात्क्षायिकोऽपि च।
क्षायोपशमिकश्चेति भावोऽप्यौदयिकोऽस्ति नुः ॥ ९६५ ॥
पारिणामिकभावः स्यात्पंचेत्युद्देशिताः क्रमात्।
तेषामुत्तरभेदाश्च त्रिपंचाशदितीरिताः ॥ ९६६ ॥

अन्वयार्थ.— (तत्र) उनमेंसे (नु) आत्माका (औपशमिक. नाम भावः) एक औपशमिक भाव है (अपि च (और दूसरा (क्षायिकः स्यात्) क्षायिक भाव है (च) तथा तीसरा (क्षायोपशमिकः) क्षायोपशमिक भाव है (अपि) और चौथा (औदयिकः इति अस्ति) औदयिक भाव है तथा पांचवा (पारिणामिकभावः स्यात) पारिणामिक भाव है (इति क्रमात् पंच उद्देशिताः) इस प्रकार क्रमसे ये पाच भाव कहे गए है (च) और (तेषां उत्तरभेदाः) उनके उत्तर भेद (त्रिपश्चाशत् इति ईरिताः) त्रेपन होते है ऐसा आगममें कहा है।

भावार्थः— जातिकी अपेक्षासे भावोंके मूल भेद ५ पाच है। और उत्तर भेद ५३ त्रेपन हैं।

अथ आगे मूल भावोंका लक्षण यताते है।

औपशमिक भावका लक्षण।

कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात्स्वतः।
यो भावः प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः ॥ ९६७ ॥

अन्वयार्थः— (प्रत्यनीकानां कर्मणां) प्रतिपक्षी कर्मों के (पाकस्य स्वतः उपशमात्) विपाक के–उदय के स्वयं उपशम होने से (यः भावः प्राणिनां स्यात्) जो भाव आत्मामें उत्पन्न होता है (स) वह (औपशमिकसंज्ञकः स्यात्) औपशमिक नामक भाव कहलाता है।

भावार्थः— काललब्धि आदिके निमित्तसे प्रतिपक्षी कर्मोंके स्वयं उपशम होनेसे जो भाव आत्मामें उत्पन्न होता है उसको औपशमिक भाव कहते है। और वह औपशमिक भाव केवल सम्यक्त्व व चारित्रमें ही होता है।

सम्यक्त्व के प्रतिपक्षी दर्शनमोहनीय कर्मका जब काललब्धिसे स्वयं उपशम हो जाता है तब आत्मामें जो सम्यक्त्व गुणकी निर्मल परिणति होती है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते है अर्थात् जैसे कि गंदले पानी में फिटकरी के डालनेसे उसका मल नीचे बैठ जानेके कारण जल स्वच्छ हो जाता है। वैसे ही चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शनमोहकी प्रकृतियों के उदयके स्वत. उपशम होनेसे आत्मा में जो भाव उत्पन्न होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते है तथा चारित्रमोहके उपशमसे आत्मा में जो भाव उत्पन्न होता है उसे औपशमिक चारित्र कहते है।

क्षायिक भावका लक्षण।

यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात्।
जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः॥ ९६८॥

अन्वयार्थ.— (**प्रत्यनीकानां कर्मणां**) प्रतिपक्षी कर्मों के (**यथास्वं सर्वतः क्षयात्**) यथा-योग्य सर्वथा क्षय के होनेसे (**अस्य**) आत्मामें (**यः जातः**) जो भाव उत्पन्न होता है (**सः**) वह (**शुद्धः स्वाभाविकः क्षायिकः भावः**) शुद्ध स्वाभाविक क्षायिक भाव कहलाता है।

भावर्थ— प्रतिपक्षी कर्मों के सर्वतः क्षय होनेसे आत्मामें जो भाव उत्पन्न होता है उसको क्षायिक भाव कहते है।

क्षायोपशमिक भावका लक्षण।

यो भावः सर्वतो घातिस्पर्द्धकानुदयोद्भवः।
क्षायोपशमिकः स स्यादुदयाद्देशघातिनाम्॥ ९६९॥

अन्वयार्थः— (**यः भावः**) जो भाव (**देशघातिना उदयात्**) देशघाति स्पर्द्धकोंके उदयसे तथा (**सर्वतः घातिस्पर्द्धकानुदयोद्भवः**) सर्वघाति-स्पर्द्धकोंके अनुदयसे-उदयक्षयसे आत्मामें जो भाव उत्पन्न होता है (**स क्षायोपशमिकः स्यात्**) वह क्षायोपशमिक भाव कहलाता है।

भावार्थः— प्रतिपक्षी कर्मोंमेंसे सर्वघाति स्पर्द्धकोंके उदयाभावी क्षयसे और देशघाति स्पर्द्धकोंके उदयसे जो भाव आत्मा में उत्पन्न होता है उसको क्षायोपशमिक भाव कहते है।

औदयिक-भावका लक्षण ।

कर्मणामुदयाद्यः स्याद्भावो जीवस्य संसृतौ ।
नाम्नाऽप्यौदयिकोऽन्वर्थात्परं बन्धाधिकारवान् ॥ १७० ॥

अन्वयार्थः— (संसृतौ) ससारमें (कर्मणां उदयात्) कर्मोंके उदयसे (जीवस्य) जीवके (य भावः स्यात्) जो भाव उत्पन्न होता है वह (नाम्ना) नामसे और (अन्वर्थात् अपि) अन्वर्थसे भी (पर बन्धाधिकारवान) केवल बन्धमें निमित्त होनेवाला (औदयिकः) औदयिक-भाव है ।

भावार्थ.— यहापर ' परं बन्धाधिकारवान् ' इस पदसे यह ध्वनित होता है कि औदयिक भाव से केवल बन्ध ही होता है । कारण कि संवर निर्जरा और मोक्षमें किसी भी कर्मका उदय कारण नहीं होता है । परन्तु औपशमिकादि-भाव विशुद्धिमें कारण ही होते है बन्धमें कारण नहीं होते है । क्योंकि बन्ध केवल कर्मोंके उदयांशोंसे ही होता है । उपशमादिरूप अंशोंसे नहीं होता है ।

पारिणामिक-भावका लक्षण ।

कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात ।
आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात्पारिणामिकः ॥ १७१ ॥

अन्वयार्थ·— (प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात्) उक्त अवस्था चतुष्टयरूपसे अर्थात् उदय, उपशम, क्षय, और क्षयोपशमरूप जो कर्मके निमित्तसे आत्माकी चार प्रकारकी अवस्थाएँ होती है उनमेंसे (कृत्स्नकर्मनिरपेक्ष) किसीकीभी अपेक्षा न रखनेवाला (आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः) केवल आत्मा द्रव्यरूप ही जिसका स्वरूप है ऐसा जो भाव है वह (पारिणामिकः स्यात्) पारिणामिक-भाव कहलाता है ।

भावार्थः— कर्मके उदयादिक की अपेक्षा न रखते हुए जो केवल आत्माके स्वरूप को बतानेवाला भाव है वह पारिणामिक भाव कहलाता है ।

इत्युक्तं लेशतस्तेषां भावानां लक्षणं पृथक् ।
इतः प्रत्येकमेतेषां व्यासात्तद्रूपमुच्यते ॥ १७२ ॥

अन्वयार्थ— (इति) इस प्रकार (तेषां भावानां) उन पांचों प्रकारके भावोका (लेशतः) संक्षिप्त रीतिसे–सामान्यरूपसे (पृथक् लक्षणं) भिन्न २ लक्षण कहा (इतः) अब आगे (एतेषां प्रत्येकं) इन पाचोंही भावोंमेंसे प्रत्येक भावका (व्यासात्) विस्तारसे अर्थात् विशेष दृष्टिसे (' यत् ' रूप तत् उच्यते) जो स्वरूप है वह कहा जाता है ।

भावार्थः— इस प्रकार मूल भावोंके लक्षण बताकर अब आगे उनके उत्तर भेदोंके स्वरूप को विस्तारपूर्वक कहते है ।

> भेदाश्चौदयिकस्यास्य सूत्रार्थादेकविंशतिः ।
> चतस्रो गतयो नाम चत्वारश्च कषायकाः ॥ १७३ ॥
> त्रीणि लिंगानि मिथ्यात्वमेकं चाज्ञानमात्रकम् ।
> एकं वाऽसंयतत्वं स्यादेकमेकाऽस्त्यासिद्धता ॥ १७४ ॥
> लेश्या षडेव कृष्णाद्याः क्रमादुद्देशिता इति ।
> तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामि नाल्पं नातीव विस्तरम् ॥ १७५ ॥

अन्वयार्थ — (अस्य च औदयिकस्य) उन पांच भावोंसे इस औदयिक भावके (सूत्रार्थात्) सूत्रके अर्थके अनुसार (एकविंशतिभेदाः) इक्कीस भेद होते है जैसे कि (चतस्र गतयः नाम) चार प्रकारकी गति (च) और (चत्वार कषायका) चार कषाय (त्रीणि लिगानि) तीन लिंग (एकं मिथ्यात्वं) एक मिथ्यात्व (च) (तथा एकं अज्ञानमात्रकं) एक अज्ञान (एकं असंयतत्वं स्यात्) एक असयंतत्व (वा) और (एका असिद्धता स्यात्) एक असिद्धत्व तथा (कृष्णाद्याः षडेव लेश्या) कृष्णादिक छह लेश्याएँ (इति क्रमात् उद्देशिताः) इस प्रकार क्रमसे कहे हुए ये इक्कीस मात्र औदयिक-भाव है अब (न अल्पं न अतीव विस्तरं) जो न तो बहुत थोडा ही है और न बहुत अधिकही है किंतु मध्यम है ऐसे (तत् स्वरूपं प्रवक्ष्यामि) उन भावोंके पृथक् २ स्वरूपको कहता हू ।

१ असंयमत्व, १ असिद्धत्व, ६ लेश्या इस तरह २१ भेद होते है।

भावार्थ — आम्नायानुसार औदयिक भावके, ४ गति, ४ कषाय, ३ लिंग, १ मिथ्यात्व, १ अज्ञान,

इस प्रकार औदयिक भावके २१ भेद बताकर अब इनके मध्यम रूपसे पृथक् २ लक्षण का निरूपण करते है

गतिनामास्ति कर्मैकं विख्यातं नामकर्मणि।
चतस्रो गतयो यस्मात्तच्चतुर्धाऽधिगीयते ॥ १७६ ॥

अन्वयार्थः— (**नामकर्मणि**) नामकर्मके उत्तर भेदोंमें (**विख्यातं**) प्रसिद्ध (**एकं गति-नामकर्म अस्ति**) एक गति नामक कर्म है और (**यस्मात्**) जिस कारणसे (**गतयः चतस्र**) गति चार है (**तत्**) तिस कारणसे वह नामकर्म भी (**चतुर्धा अधिगीयते**) चार प्रकारका कहा जाता है।

भावार्थ — नामकर्म के उत्तर भेदोंमें एक गति नामा नामकर्म है। और वह गतिके भेदसे नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, तथा देवगति इस तरह चार प्रकारका है।

कर्मणोऽस्य विपाकाद्वा दैवादन्यतमं वपुः।
प्राप्य तत्रोचितान् भावान् करोत्यात्मोदयात्मनः ॥ १७७ ॥

अन्वयार्थः— (**आत्मा**) आत्मा (**दैवात्**) दैवयोगसे (**अस्य कर्मणः विपाकात्**) इस गति नामकर्मके उदयके कारण (**अन्यतम वा वपुः प्राप्य**) उस गतिमें प्राप्त होनेवाले यथायोग्य शरीरोंमेंसे किसी भी एक शरीरको पाकर (**तत्र उचितान् उदयात्मनः भावान्**) सामान्यतया उस गतिके योग्य जो औदयिक भाव होते है उन्हें (**करोति**) धारण करता है।

भावार्थः— गति चार है। एक २ गतिमें नाना प्रकार के शरीरधारी जीव पाए जाते है। और यद्यपि उनमें नाना तरहका अन्तर भी रहता है। तथापि व्यापक रूपसे प्रत्येक गतिसम्बन्धी शरीरधारियों के औदयिक भावोंमें जो सदृशता पाई जाती है उसे गतिरूप औदायिक भाव कहते है। जैसे कि यद्यपि तिर्यंचगति में एकेंद्रियादिके भेदसे नाना प्रकार के जीव पाए जाते है तथापि उन सबमें जो भी औदयिक-भाव होते है वे सब तिर्यंचपनेमें गर्भित हो जाते हैं। इतरमें नहीं। भवनवासी आदि चार निकाय के देवोंके होते हुए भी सामान्यरूपसे

सब देवपने में ही गर्भित हो जाते है । अन्य मे नहीं । इसी प्रकार प्रत्येक गतिमें संभव होनेवाली औदयिक भावोंकी संतानको अपने २ गति नामक औदयिक भावोंमें गर्भित किया जाता है । इसलिए इस प्रकार के चार तरह के भाव गतिनामक औदयिक–भाव कहलाते है ।

यथा तिर्यगवस्थायां तद्वद्या भावसन्ततिः ।
तत्रावश्यं च नान्यत्र तत्पर्यायानुसारिणी ॥ १७८ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे कि (तिर्यगवस्थायां) तिर्यंच अवस्थामें (तद्वत्) तिर्यंचोंकी तरह (तत्पर्यायानुसारिणी) तिर्यंच पर्याय के अनुरूप (या भावसन्ततिः) जो भाव सन्तति होती है वह (तत्र अवश्यं) उस तिर्यंच गतिमें अवश्य ही होती है (अन्यत्र न च) दूसरी गतिमें नहीं होती है ।

भावार्थ — जैसे कि तिर्यंच अवस्थामें तिर्यंचपने के अनुकूल जो औदयिक-भाव होते है वे सब तिर्यंच गतिमें ही पाए जाते है । अन्य गतिमें नहीं ।

एवं देवेऽथ मानुष्ये नारके वपुषि स्फुटम् ।
आत्मीयात्मयिभावाश्च सन्त्यसाधारणा इव ॥ १७९ ॥

अन्वयार्थ — (एव) इसी तरह (स्फुट) यह बात स्पष्ट है कि (देवे) देवगति सम्बन्धी (मानुष्ये) मनुष्यगति सम्बन्धी (अथ च) और (नारके) नरकगति सम्बन्धी (वपुषि) शरीरमें होनेवाले (आत्मीयात्मीयभावाः) अपने २ औदयिक–भाव (असाधारणाः इव सन्ति) स्वतः परस्परमें असाधारण के समान होते है अर्थात उनमें अपनी २ जुदी २ विशेषता पाई जाती है ।

भावार्थ — तिर्यंचगतिके ही समान देव मनुष्य और नरकगति सम्बन्धी शरीरोंमें भी जो यथायोग्य औदयिक–भाव होते है वे सब परस्परमें भिन्न २ जातिके होनेसे चारों ही गति सम्बन्धी भाव असाधारण भावोंके समान प्रतिभासित होते है ।

ननु देवादिपर्यायो नामकर्मोदयात्परम् ।
तत्कथं जीवभावस्य हेतुः स्याद्घातिकर्मवत् ॥ १८० ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शङ्काकारका कहना है कि जब (**देवादिपर्यायः**) देवादिक पर्याय (पर) केवल (**नामकर्मोदयात्**) नाम कर्मके उदयसे होती है (**तत् कथम्**) तो वह नामकर्म कैसे (**घाति कर्मवत्**) घातिया कर्मकी तरह (**जीवभावस्य हेतुः स्यात्**) जीवके भावमें हेतु हो सकता है ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि जीवके पाच प्रकार के भावोंमेंसे पारिमाणिक भावोंको छोडकर शेप चारों भाव घातिया कर्मोंके उदयादिकसे ही होते है अन्यथा नहीं। परन्तु जो देवादि गति है वह जब केवल नामकर्मके ही उदयसे होती है। घातिया कर्मोंके उदयसे नहीं होती है तो फिर इन चारों गतियोंको औदयिक भावोंमें क्यों परिगणित किया जाता है अर्थात् चारों ही गति नामक औदयिक—भावोंको औदयिक नहीं मानना चाहिए।

सत्यं[1] तन्नामकर्मापि लक्षणाच्चित्रकारवत् ।
नूनं तद्देहमात्रादि निर्मापयति चित्रवत् ॥ ९८१ ॥

अन्वयार्थः— (**सत्यं**) ठीक है क्योंकि (**तन्नामकर्मापि**) वह नामकर्म भी (**लक्षणात्**) अपने लक्षणकी अपेक्षासे (**चित्रकारवत्**) चित्रकारकी तरह (**नूनं**) निश्चयसे (**चित्रवत्**) चित्रके समान (**तद्देहमात्रादि निर्मापयति**) गतिके अनुसार केवल जीवके शरीरादिकको ही निर्माण करता है।

भावार्थ— शकाकारका कहना ठीक है। क्योंकि नामकर्मका लक्षण जिस तरह चित्रकार चित्रको निर्माण करता है उसी तरह शरीर, अंगोपाग और शरीरकी नाना प्रकारकी आकृतियोंको निर्माण करना है। इसलिए देवादिक पर्यायोंमें तदनुसार शरीर निर्माणादिक केवल नामकर्मका कार्य है। कहा भी है—

चित्रकार जैसे लिखे नाना चित्र अनूप ।
नामकर्म तैसे करे चेतन के बहुरूप ॥

आस्ति तत्रापि मोहस्य नैरन्तर्योदयोऽञ्जसा ।
तस्मादौदयिकोभावः स्यात्तद्देहक्रियाकृतिः ॥ ९८२ ॥

---

[1] यह पद्य मू. पु. में पीछेसे लिखा है।

अन्वयार्थ— परन्तु (तत्रापि) उन देवादि गति सम्बन्धी शरीरादिक पर्यायोंमें भी (अंजसा) वास्तवमें (मोहस्य) मोहका (नैरन्तर्योदयः अस्ति) गत्यनुसार निरन्तर उदय रहता है (तस्मात्) इस लिए (तद्देहक्रियाकृतिः) विवक्षित गतिमें–जिस गतिका उदय होता है उस २ गति सम्बन्धी प्राप्त शरीरादिक की क्रिया के आकार के अनुकूल (औदयिक भाव स्यात्) मोहनीय कर्मके उदयजन्य औदयिक–भाव होते हैं।

भावार्थः— यद्यपि नामकर्म चित्रकार की तरह गतिके अनुसार देहकी रचना आदिकमें ही कारण है यह कथन ठीक है । परन्तु गतिको औदयिक-भावोंमें गिनाने का इतना ही प्रयोजन है कि विवक्षित गतिमें प्राप्त विवक्षित देहके अनुसार ही मोहनीय कर्मका उदय रहता है । जैसे कि हाथीमें गम्भीरता, हंसमें विवेक, कुत्तेमें सजाति–द्रोह, मर्कटमें चंचलता और बिल्लीमें विश्वासघात आदिक प्रशस्ताप्रशस्त विकार उस देहके अनुसार सामान्यतः रहते हैं । वैसे ही प्रत्येक गतिके अनुसार विवक्षित मोहोदयजन्य भाव होते है इस भावको द्योतनार्थ गतिको औदयिक भावोंमें परिगणित किया है ।

ननु मोहोदयो नूनं स्वायत्तोऽस्त्येकधारया ।
तत्तद्वपुः क्रियाकारो नियतोऽयं कुतो नयात् ॥ ९८३ ॥

अन्वयार्थः— (ननु) शंकाकारका कहना है कि यदि (एकधारया) अखण्ड धारासे (मोहोदयः नूनं स्वायत्तः अस्ति) मोहका उदय नियमसे स्वायत्त है अर्थात् प्रतिसमय मोहका उदय निर्विच्छिन्न रूपसे मोहके आश्रवमें कारण होता रहता है तो फिर (अयं) यह मोहनीय कर्मका उदय (तत्तद्वपुः क्रियाकारः) उन २ शरीरोंके सम्बन्धसे उन २ शरीरोंकी क्रियाके अनुकूल (कुत नयात् नियतः) किस न्यायसे नियमित हो सकता है ?

भावार्थ— शंकाकारका कहना है कि मोहनीय कर्म स्वोदय–बन्ध प्रकृति है । इस लिए जब जिस जातिके मोहका उदय होता है तब उस जातिके मोह कर्मका आश्रव भी होता है । इस प्रकार जब मोहनीयके उदयकी धाराका उच्छेद कभी भी नहीं हो पाता है तो फिर ऐसी स्थिति में गतिके अनुसार प्राप्त होनेवाले शरीरादिककी क्रिया के अनुकूल मोहनीयके उदयको नियत कहना कैसे सुसंगत होसकता है ?

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि मोहस्योदयवैभवे ।
तत्रापि बुद्धिपूर्वे चाबुद्धिपूर्वे स्वलक्षणात् ॥ ९८४ ॥

अन्वयार्थः— (एवं न) इस प्रकारका कहना ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि तुम (तत्रापि) उन चारोंही गतियोंमें (स्वलक्षणात्) मोहोदयके लक्षणानुसार (बुद्धिपूर्वे) बुद्धिपूर्वक (च) और (अबुद्धिपूर्वे) अबुद्धिपूर्वक होनेवाले (मोहस्योदयवैभवे) मोहनीयके उदय वैभवमें (अनभिज्ञः असि) अनभिज्ञ हो ।

भावार्थ — शंकाकारका उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि वह उन गतियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले मोहके उदयजन्य विकारसे अनभिज्ञ है ।

आगे मोहके उदयजन्य भावोंको बताते है ।

मोहनान्मोहकर्मैकं तद्द्विधा वस्तुतः पृथक् ।
दङ्मोहश्चात्र चारित्रमोहश्चेति द्विधा स्मृतः ॥ ९८५ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) यहांपर (मोहनात्) आत्माके स्वभावोंको मूर्च्छित करनेके कारण (मोहकर्म एक) मोहकर्म एक है और (तत् वस्तुतः पृथक्) पृथक् २ गुणोंको मूर्च्छित करनेके कारण वह (द्विधा) दो प्रकारका है अर्थात् (दङ्मोहः) दर्शनमोह (च) तथा (चारित्रमोहः) चारित्रमोह (इति च द्विधा स्मृतः) इस प्रकार से वह मोहनीय कर्म दो तरहका माना गया है ।

भावार्थः— आत्मा के गुणोंको मूर्च्छित करने की अपेक्षासे वह मोहकर्म एक प्रकार का है । तथा दर्शन और चारित्र गुणको मूर्च्छित करनेकी अपेक्षासे वह मोहकर्म, दर्शनमोह तथा चारित्रमोह इस तरह दो प्रकारका है ।

एकधा त्रिविधा वा स्यात्कर्म मिथ्यात्वसंज्ञकम् ।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कं च सप्तैते दृष्टिमोहनम् ॥ ९८६ ॥

अन्वयार्थः— (मिथ्यात्वसंज्ञकं कर्म) उन दर्शनमोह और चारित्रमोहमें से मिथ्यात्व नामक कर्म (एकधा वा -त्रिविधा स्यात) एक प्रकारका अथवा तीन प्रकारका है (च) तथा मिथ्यात्वके वे तीन भेद और (आद्य चतुष्कं क्रोधादि) प्रथम चौकडी अर्थात् अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ (एते सप्त)

ये सात (दृष्टिमोहन) दर्शन गुणको मूर्छित करनेके कारण दर्शनमोहनीय कर्मके उत्तर भेद कहलाते है ।

भावार्थः— दर्शनमोहनीय कर्म सम्यक्त्व गुणके घात करनेकी अपेक्षासे एक प्रकारका है । मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इस तरह भेद विवक्षासे तीन प्रकारका है । तथा उक्त मिथ्यात्वादि तीन, अनन्तानुबंधी क्रोधादि चतुष्टय इस तरह सात प्रकारका भी है ।

दृङ्मोहस्योदयादस्य मिथ्याभावोऽस्ति जन्मिनः ।
स स्यादौदयिको नूनं दुर्वारो दृष्टिघातकः ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थः— ('यः') जो (**जन्मिन**) संसारी जीवोंके (**अस्य दृङ्मोस्य उदयात्**) इस दर्शनमोहनीयके उदयसे (**मिथ्याभावः अस्ति**) मिथ्यात्व होता है (**सः दृष्टिघातक**) वही सम्यग्दर्शन गुणका घातक (**औदयिकः**) मिथ्यात्व नामक औदयिक भाव संसारी जीवोंके द्वारा (**नून दुर्वारः स्यात्**) निश्चयसे दुष्परिहार्य है ।

भावार्थः— दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवके सम्यक्त्व गुणमें इस तरहका मिथ्यापना आजाता है कि जिसके कारण उसके हेयोपादेय का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता है । किन्तु पर पदार्थोंमेंही इष्टानिष्ट कल्पना होती है । जबतक जीवके मिथ्यात्वका उदय रहता है तबतक अपरिहार्य रूपसे सम्यक्त्वका घात होता रहता है अर्थात् सम्यक्त्व गुणका विकाश नहीं हो सकता है । अत काललब्धि आदिके निमित्तसे मिथ्यात्वके अभाव होनेपरही सम्यक्त्व गुणका आविर्भाव होता है अन्यथा नहीं ।

अस्ति प्रकृतिरस्यापि दृष्टिमोहस्य कर्मणः ।
शुद्धं जीवस्य सम्यक्त्व गुणं नयति विक्रियाम् ॥ १८८ ॥

अन्वयार्थः— (**अस्य दृष्टिमोहस्य कर्मण**) इस दर्शनमोहनीय कर्मकी (**प्रकृति अपि अस्ति**) कुछ प्रकृति ही ऐसी है कि जिसके कारण वह (**जीवस्य शुद्ध सम्यक्त्वं गुणं**) जीवके शुद्ध सम्यक्त्व गुणमें (**विक्रियां नयति**) विकार पैदा करता है ।

भावार्थः— दर्शनमोहनीय कर्मका स्वभावही कुछ ऐसा है कि जिसके कारण वह जीवके सम्यक्त्व गुणमें विकार पैदा करता है ।

यथा मद्यादिपानस्य पाकाद्बुद्धिर्विमुह्यति ।
श्वेतं शंखादि यद्वस्तु पीतं पश्यति विभ्रमात् ॥ ९८९ ॥

अन्वयार्थ — (यथा) जिस प्रकार (मद्यादिपानस्य पाकात्) मद्यादिपानके प्रभावसे (बुद्धिः विमुह्यति) बुद्धि मोहित हो जाती है और (विभ्रमात्) उस मद्यके प्रभावसे होनेवाले विभ्रमके कारण वह मद्यपायी (श्वेतं शंखादि यद्वस्तु) श्वेत जो शंखादिक वस्तु है उसे (पीतं पश्यति) पीले रूपमें देखता है ।

भावार्थः— जैसे किसीने यदि मद्यपान किया हो तो उसके निमित्तसे उसके चित्तमें विभ्रम पैदा हो जाता है । इसलिए वह शंखादिक स्वच्छ वस्तुओंको पीतरूपमें देखने लगता है । और विवेकके मोहित हो जानेसे उसका विवेक वस्तुके यथार्थ स्वरूपको विषय नहीं करता है ।

तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तूदयादिह ।
अपि यावदनात्मीयमात्मीयं मनुते कुदृक् ॥ ९९० ॥

अन्वयार्थः— (तथा) तथा (इह) इस जगतमें (दर्शनमोहस्य कर्मणः तु उदयात्) उस दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे (कुदृक्) मिथ्यादृष्टि (यावत् अनात्मीयं अपि) सम्पूर्ण परपदार्थोंको भी **आत्मीयं मनुते**) निज मानता है ।

भावार्थ — तथा मिथ्यादृष्टि जीव दर्शनमोहनीयके उदयसे ही पर वस्तुको निज मानकर उसमें राग द्वेष करता है । और फिर उन राग–द्वेषोंसे उत्पन्न होनेवाली आकुलताके कारण दुखी होता है । यहां ' तु ' शब्दसे यह ध्वनित होता है कि जब मिथ्यात्वका उदय संसारी जीवके नहीं रहता है तब वस्तुका उसे यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित होने लगता है । और उसके रागद्वेषजन्य आकुलताका भी अभाव हो जाता है । इसलिए वह सम्यक्त्वके होनेपर अचिन्त्य आनन्दका उपभोग करता है ।

चापि लुम्पति सम्यक्त्वं दृङ्मोहस्योदयो यथा ।
निरुणद्ध्यात्मनो ज्ञानं ज्ञानस्यावरणोदयः ॥ ९९१ ॥

अन्वयार्थ — (यथा) जिस प्रकार (दृङ्मोहस्य उदयः) दर्शनमोहनीय कर्मका उदय (सम्यक्त्वं

लुम्पति) सम्यक्त्वका घात करता है (' तथा ' च) उसी प्रकार (ज्ञानस्य आवरणोदयः अपि) ज्ञानावरण कर्मका उदय भी (आत्मनः ज्ञान) आत्माके ज्ञान गुणको (निरुणद्धि) आवृत करता है ।

भावार्थः— जैसे दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवके सम्यक्त्वगुणका घात होता है वैसे ही ज्ञानावरण कर्मके उदयमें उसके ज्ञानका घात होता है ।

यथा ज्ञानस्य निर्णाशो ज्ञानस्यावरणोदयात ।
तथा दर्शननिर्णाशो दर्शनावरणोदयात् ॥ ९९२ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जिस प्रकार (ज्ञानस्यावरणोदयात्) ज्ञानावरण कर्मके उदयसे (ज्ञानस्य निर्णाशः) ज्ञानका नाश होता है (तथा) उसी प्रकार (दर्शनावरणोदयात्) दर्शनावरण कर्मके उदयसे (दर्शननिर्णाशः) दर्शनका नाश होता है ।

भावार्थ— जैसे ज्ञानावरण कर्मके उदयसे जीवके ज्ञानगुणका आवरण होता है वैसे ही दर्शनावरण कर्मके उदयसे आत्मा के दर्शनगुणका आवरण होता है ।

यथा धाराधराकारै गुंण्ठितस्यांशुमालिनः ।
नाविर्भावः प्रकाशस्य द्रव्यादेशात्सतोऽपि वा ॥ ९९३ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जिस प्रकार (धाराधराकारैः) मेघ मालाओंसे (गुण्ठितस्य अंशुमालिन) आच्छादित सूर्यमें (द्रव्यादेशात्) द्रव्य दृष्टिसे (सतः अपि वा प्रकाशस्य) यद्यपि प्रकाशका सद्भाव है तथापि पर्यायदृष्टिसे (आविर्भावः न) प्रकाशका आविर्भाव [रुक जाता है] नहीं हो पाता है ।

भावार्थ— ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके द्वारा आत्माके ज्ञान तथा दर्शनगुणका आवरण इस प्रकार समझना चाहिये कि जैसे मेघोंके द्वारा सूर्यके आच्छादित हो जानेसे यद्यपि उसमें प्रकाशकी शक्तिका नाश नहीं हो जाता है तथापि आच्छादित हो जानसे प्रकाशका आविर्भाव नहीं हो पाता है । वैसे ही द्रव्यादेशसे आत्माके ज्ञानदर्शनगुणका सद्भाव रहते हुए भी उनका आविर्भाव नहीं हो पाता है । इस दृष्टान्तसे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार मोहनीय कर्मके कारण सम्यक्त्व तथा चारित्र गुणकी विकृतस्वादुरूप अवस्था होजाती है उस प्रकार ज्ञान और दर्शन गुणकी विकृतस्वादुरूप अवस्था तो नहीं होती है किन्तु अन्ध अन्धतर तथा अन्धतमरूप अवस्था हो जाती है ।

यत्पुनर्ज्ञानमज्ञानमस्ति रूढिवशादिह ।
तन्नौदयिकमस्त्यस्ति क्षायोपशमिकं किल ॥ ११४ ॥

अन्वयार्थः— (पुन:) और (यत्) जो (इह) यहांपर (रूढिवशात्) रूढिसे (ज्ञानं अज्ञानं अस्ति) मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको अज्ञान कहते है (तत्) वह मिथ्यादृष्टि का ज्ञान (औदयिकं न अस्ति) औदयिक अज्ञान नहीं है अर्थात ज्ञानावरण कर्मके उदयसे नहीं होता है किन्तु (किल) निश्चयसे (क्षायोपशमिकं अस्ति) क्षायोपशमिक रूप होता है ।

भावार्थ — अज्ञान शब्द औदयिक भावोंमें परिग्रहीत है और क्षायोपशमिक भावोंमें भी परिग्रहीत है । दोनों जगह अभिप्राय भेदसे अज्ञान शब्दको भिन्न २ अर्थ लेना चाहिये । क्षायोपशमिक भावोंमें जो अज्ञान शब्द आया है उसका अर्थ कुमति कुश्रुत तथा कुअवधिरूप क्षायोपशमिक ज्ञान है । यह अज्ञान केवल सम्यक्त्वके न होनेसे अज्ञान कहलाता है ज्ञानावरणके उदयसे नहीं इसके तीन भेद है १ कुमति २ कुश्रुत और ३ कुअवधि ।

और औदयिक भावोंमें जो अज्ञान है उसका अभिप्राय विवक्षित ज्ञानावरणके सर्वघाति स्पर्द्धकोंके उदयसे होनेवाले विवक्षित ज्ञानके न हो सकनेका है । जैसे कि केवल-ज्ञानावरणके उदयसे केवलज्ञानका न हो सकना, मनःपर्यय ज्ञानावरणके उदयसे मन पर्यय ज्ञानका न हो सकना, अवधिज्ञानावरणके उदयसे अवधिज्ञानका न हो सकना, उसीको सामान्य रूपसे ज्ञानके अभावरूप एक अज्ञान भाव कहा है ।

अब आगे ४ चार पद्यों द्वारा औदयिक अज्ञानका स्वरूप बताते है ।

अथास्ति केवलज्ञानं यत्तदावरणावृत्तम् ।
स्वापूर्वार्थान् परिच्छेत्तुं नालं मूर्छितजन्तुवत ॥ ११५ ॥

अन्वयार्थ.— (अथ) अथच जब (यत् केवलज्ञानं) जो केवलज्ञान (तदावरणावृतं अस्ति) केवल-ज्ञानावरणके द्वारा आवृत होता है तब वह औदयिक अज्ञान (मूर्छितजन्तुवत्) मूर्छित-बेहोश प्राणीकी तरह (स्वापूर्वार्थान्) स्व और पर पदार्थ का (परिच्छेतुं) जाननेके लिए (अलं न) समर्थ नहीं होता है ।

भावार्थ.— जो केवलज्ञानावरणके उदयसे केवलज्ञानका अविर्भाव नहीं हो पाता है वह औदयिक अज्ञानभाव है ।

यद्वा स्यादवधिज्ञानं ज्ञानं वा स्वान्तपर्ययम् ।
नार्थक्रियासमर्थं स्यात्तत्तदावरणावृतम् ॥ ९९६ ॥

अन्वयार्थ — (**वा**) तथा और जब (**यत् अवधिज्ञानं**) जो अवधिज्ञान (**वा**) अथवा (**स्वान्तपर्ययं ज्ञानं**) मन पर्यय ज्ञान (**तत्तदावरणावृतं स्यात्**) अपने २ आवरणके द्वारा आवृत होते है तब वे (**अर्थक्रियासमर्थं न स्यात्**) अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होते है ।

भावार्थः— अवधि और मन:पर्यय ज्ञानावरणके उदयसे जो अवधि तथा मन.पर्यय ज्ञान नहीं होता है वह भी औदयिक अज्ञानभाव है ।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तत्तदावरणावृतम् ।
यद्यावतोदयांशेन स्थितं तावदपन्हुतम् ॥ ९९७ ॥

अन्वयार्थः— अथवा (**यत् मतिज्ञान श्रुतज्ञानं**) जो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान (**यावता उदयांशेन**) अपने देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयांशसे (**तत्तदावरणावृतं स्थितं**) अपने २ आवरणोंके द्वारा जितने आवृत रहते है (**तावत्**) उतने ही वे (**अपन्हुतं**) ढके हुए रहते है ।

भावार्थः— मति श्रुत ज्ञानावरणके अंशोंसे जो मति तथा श्रुतज्ञान आच्छादित होता है वह भी औदयिक अज्ञानभाव है ।

यत्पुनः केवलज्ञानं व्यक्तं सर्वार्थभासकम् ।
स एव क्षायिको भावः कृत्स्नस्वावरणक्षयात् ॥ ९९८ ॥

अन्वयार्थः— (**यत्पुनः**) और जो (**सर्वार्थभासकं**) सब पदार्थोंका युगपत् प्रकाशित करनेवाला (**व्यक्त केवलज्ञानं**) प्रगट हुआ केवलज्ञान है (**स एव**) वही (**कृत्स्नस्वावरणक्षयात्**) सम्पूर्ण ज्ञानावरणके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला (**क्षायिकः भावः**) क्षायिक–भाव है ।

भावार्थ — जो सम्पूर्ण ज्ञानावरणके अभावसे सम्पूर्ण चराचरका युगपत् प्रकाशक केवलज्ञान होता है वही क्षायिक ज्ञान है ।

कर्माण्यष्टौ प्रसिद्धानि मूलमात्रतया पृथक् ।
अष्टचत्वारिंशच्छतं कर्माण्युत्तरसंज्ञया ॥ ९९९ ॥

अन्वयार्थः— (मूलमात्रतया पृथक्) केवल मूल भेदरूपसे परस्परमें भिन्न (अष्टौ कर्माणि प्रसिद्धानि) केवल आठ कर्म प्रसिद्ध है तथा (उत्तरसंज्ञया) उत्तर भेदसे (कर्माणि अष्टचत्वारिंशत् शतं) कर्म एकसौ अडतालीस है।

भावार्थः— कर्मोंके मूल भेद आठ और उत्तर भेद १४८ एकसौ अडतालीस हैं।

उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम् ।
शक्तितोऽनन्तसंज्ञं च सर्वकर्मकदम्बकम् ॥ १००० ॥ १७६५

अन्वयार्थः— (च) और (उत्तरोत्तरभेदैः) उत्तरोत्तर भेदोंकी अपेक्षासे कर्म (लोकासंख्यात-मात्रक) असख्यात लोकप्रमाण होते हैं (च) तथा (शक्तित) अपने अविभाग प्रतिच्छेदोंके शक्तिकी अपेक्षासे (सर्वकर्मकदम्बकम्) सम्पूर्ण कर्मोंका समूह (अनन्तसंज्ञ) अनन्त हैं।

भावार्थः— उत्तरोत्तर भेदोंकी अपेक्षासे कर्म असंख्यात लोकप्रमाण तथा अपने अविभाग प्रतिच्छेदोंकी शक्तिकी अपेक्षासे अनन्त है।

तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया ।
घातकत्वाद्गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृतिः ॥ १००१ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उन आठों कर्मोंमेंसे (चत्वारि कर्माणि) चार कर्म (अन्वर्थसंज्ञया) यथानाम तथा गुण रूप अन्वर्थ संज्ञासे अर्थात् अपने नामसे ही अपने अर्थको द्योतित करनेवाले होनेसे (घातीनि) घातिया कहलाते है (हि) क्योंकि (जीवस्य गुणानां घातकत्वात् एव) जीवके गुणोंका घात करनेसे ही वे घातिया कहलाते है (इति वाक्स्मृतिः) ऐसा आगम है।

भावार्थः— उन आठों कर्मोंमेंसे आत्माके अनुजीवी ज्ञानादिकको घातनेसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया कहलाते है।

*ततः शेषचतुष्कं स्यात्कर्माघाति विवक्षया ।
गुणानां घातकाभावशक्तेरप्यात्मशक्तिमत् ॥ १००२ ॥

अन्वयार्थः—(ततः शेषचतुष्कं कर्म) घातिया कर्मोंसे बाकीके बचे हुए चार कर्म (आत्मशक्तिमत् अपि) अपनी २ शक्तिको रखते हुए भी (गुणानां घातकाभावशक्तेः विवक्षया) सम्यक्त्वादि आत्माके अनुजीवी गुणोंके घातनेकी शक्तिके अभावकी विवक्षासे (अघाति स्यात्) अघातिया कहलाते है ।

भावार्थ— यद्यपि वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चारों ही कर्मोंमें भिन्न २ प्रकारकी शक्तिया है जैसे कि वेदनीय कर्मके निमित्तसे अव्याबाध गुणका, नामकर्मके निमित्तसे सूक्ष्मत्वका, गोत्रकर्मके निमित्तसे अगुरुलघुगुणका तथा आयुकर्मसे अवगाह गुणका घात होता है तथापि ज्ञानादिक अनुजीवी गुणोंका घात इनके द्वारा नहीं होता है । इसलिए इन चारोंको अघातिया कहा है ।

एवमर्थवशान्नूनं सन्त्यनेके गुणाश्रितः ।
गत्यन्तरात्स्यात्कर्मत्वं चेतनावरणं किल ॥ १००३ ॥

अन्वयार्थः— (एवम् अर्थवशात् नूनं चितः अनेके गुण सन्ति किल) यद्यपि इस प्रकार अर्थवशसे, आत्माके और भी अनेक गुण है । तथापि उनमेंसे (गत्यन्तरात् चेतनावरणम् कर्मत्वं स्यात्) अगत्या चेतनावरण कर्म भी माना है ।

भावार्थ — यहापर चेतना शब्दका ज्ञान अर्थ गृहीत किया है कारण ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके वर्णनका प्रसंग है । अतः इस पद्यका यह अर्थ है कि इस प्रकार प्रयोजनवश आत्मामें अनेक गुणोंकी कल्पना की जाती है उनमें आत्माके ज्ञानगुणका घात करनेवाला चेतनावरण—ज्ञानावरण नामक एक कर्म माना है ।

दर्शनावरणेऽप्येष क्रमो ज्ञेयोऽस्ति कर्मणि ।
आवृतेरविशेषाद्वा चिद्गुणास्यानतिक्रमात् ॥ १००४ ॥

अन्वयार्थः—(आवृतेः अविशेषात्) आवरण सामान्यकी दृष्टिसे (वा) अथवा दर्शनको (चिद्गुणस्य अनतिक्रमात्) चेतना गुणमें ही गर्भित होनेसे (दर्शनावरणे कर्मणि अपि) दर्शनावरण कर्ममें भी (एषः क्रमः ज्ञेयः अस्ति) यही क्रम जानना चाहिए ।

* यह पद्य मू. पु में आगे लिखा है ।

भावार्थ— जैसे कर्म, ज्ञानको आवरण करनेसे ज्ञानावरण कहलाता है वैसे ही दर्शन भी चेतनाका एक भेद है। अतः उसका आवरण करनेवाला कर्म भी दर्शनावरण कहलाता है यह समझना चाहिये।

एवं च सति सम्यक्त्वे गुणे जीवस्य सर्वतः।
तं मोहयति यत्कर्म दृङ्मोहाख्यं तदुच्यते ॥ १००५ ॥

अन्वयार्थ— (एवं च) इसी तरह (जीवस्य सम्यक्त्वे गुणे सति) जीवके सम्यक्त्व नामक गुणके होते हुए (यत् कर्म त सर्वतः मोहयति) जो कर्म उस सम्यक्त्व गुणको सर्वत मूर्च्छित कर देता है (तत् दृङ्मोहाख्य उच्यते) उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते है।

भावार्थः— जीवके सम्यक्त्व गुणको मूर्च्छित करनेवाले कर्मको दर्शनमोहनीय कर्म कहते है।

नैतत्कर्मापि तत्तुल्यमन्तर्भावीति न क्वचित्।
तद्द्वयावरणादेतदस्ति जात्यन्तरं यतः ॥ १००६ ॥

अन्वयार्थ— (एतत् कर्म) यह दर्शनमोहनीय कर्म (तत्तुल्यं न) ज्ञानावरणादिककी तरह नहीं है (इति) इस लिए उसका (क्वचित् अन्तर्भावो अपि न) ज्ञानावरणादिकमें अन्तर्भाव भी नहीं किया जा सकता है (यतः) क्योकि (एतत् तद्द्वयावरणात् जात्यन्तरं अस्ति) यह दर्शनमोहनीय कर्म ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मकी जातिसे भिन्न जातिका है।

भावार्थ— सम्यक्त्व गुणको मोहित करनेवाला यह दर्शनमोहनीय कर्म ज्ञानावरणादि कर्मोंसे भिन्न जातिवाला है। इस लिए उनमें इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। अतएव वह भिन्न कर्म ही माना गया है।

ततः सिद्धं यथाज्ञान जीवस्यैको गुणः स्वतः।
सम्यक्त्वं च तथा नाम जीवस्यैको गुणः स्वतः ॥ १००७ ॥

अन्वयार्थ— (ततः सिद्धं) इस लिए सिद्ध होता है कि (यथा) जिस प्रकार (जीवस्य) जीवका (ज्ञान स्वतः एक गुण) ज्ञान स्वयं एक गुण है (तथा) उसी प्रकार (सम्यक्त्व च) सम्यक्त्व भी (जीवस्य) जीवका (स्वतः एक गुणो नाम) स्वयंसिद्ध एक गुण है।

भावार्थः— अत भिन्न २ प्रतिपक्षी कर्मोंके सद्भावसे यह सिद्ध होता है कि जैसे ज्ञान एक जीवका पृथक् गुण है वैसे ही सम्यक्त्व भी जीवका एक पृथक् गुण है।

पृथगुद्देश एवास्य पृथग्लक्ष्यं च लक्षणम ।
पृथग्दृङ्मोहकर्म स्यादन्तर्भावः कुतो नयात् ॥ १००८ ॥

अन्वयार्थः— (अस्य उद्देश. पृथक् एव) मोहनीय कर्मका नामनिर्देश–सज्ञा ज्ञानावरणादिकसे पृथक्ही है (लक्ष्यं च लक्षणं पृथक्) लक्ष्य और लक्षण भी पृथक् है इसलिए (दृङ्मोहकर्म पृथक्) दर्शनमोहनीय कर्मभी पृथक है अत (कुतो नयात् अन्तर्भाव स्यात्) मोहनीय कर्मका ज्ञानावरणादिकमें किस न्यायसे अंतर्भाव होसकता है ? ।

भावार्थ — निर्देश तथा लक्ष्य लक्षण भावके पृथक् होनेसे दर्शनमोहनीय कर्मका अन्तर्भाव ज्ञानावरणादिक में भला किस न्यायसे किया जा सकता है ? ।

एवं जीवस्य चारित्रं गुणोऽस्त्येकं प्रमाणसात् ।
तन्मोहयति यत्कर्म तत्स्याच्चारित्रमोहनम ॥ १००९ ॥

अन्वयार्थः — (एवं) इसी प्रकार (प्रमाणसात्) प्रमाण सिद्ध (जीवस्य चारित्रं एको गुणः अस्ति) जीवका चारित्र भी एक गुण है और (यत्कर्म) जो कर्म (तन्मोहयति) उस चारित्रको मूर्छित करता है (तत् चारित्रमोहन स्यात्) उसे चारित्रमोहनीय कर्म कहते है ।

भावार्थः— प्रमाणसिद्ध आत्माके चारित्र गुणको मोहित करनेवाले कर्मको चारित्र-मोहनीय कर्म कहते है ।

अस्ति जीवस्य वीर्याख्यो गुणोऽस्त्येकस्तदादिवत् ।
तदन्तरयतीहेदमन्तरायं हि कर्म तत् ॥ १०१० ॥

अन्वयार्थः— (इह) जीवके इन गुणोंमें (तदादिवत्) ज्ञानादिक गुणोंके समान (जीवस्य) जीवका (वीर्याख्यः) वीर्य नामका भी (एक गुणः अस्ति) एक गुण है और (इदं) यह अन्तराय कर्म (तत्) उस वीर्य गुणको ही (हि) निश्चयसे (अन्तरयति) अन्तरित–आच्छादित करता है इसलिए

(तत् कर्म अन्तरायं अस्ति) वह कर्म अन्तराय कहलाता है ।

भावार्थः— जीवके वीर्यादि गुणको प्रकट न होने देनेवाले कर्म को अन्तराय कर्म कहते है ।

एतावदत्र तात्पर्यं यथा ज्ञानं गुणाश्रितः ।
तथाऽनन्तागुणा ज्ञेया युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ १०११ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र एतावत् तात्पर्यं) उक्त कथनका यहां इतनाही तात्पर्य है कि (यथा ज्ञानं चितः गुणः) जिस प्रकार ज्ञान आत्माका गुण है (तथा) उसी प्रकार (युक्तिस्वानुभवागमात्) युक्ति, स्वानुभव और आगमसे (अनन्ता गुणाः ज्ञेया) आत्माके सम्यक्त्वादि अनन्त गुण जानना चाहिए ।

भावार्थः—उक्त सब कथनका तात्पर्य यही है कि जैसे आत्माका ज्ञान गुण है वैसे ही युक्ति स्वानुभव ओर आगमसे अनन्त गुण है ऐसा समझना चाहिए ।

न गुणः कोऽपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भवः क्वचित् ।
नाधारोऽपि च नाधेयो हेतुर्नापीह हेतुमान् ॥ १०१२ ॥

अन्वयार्थः— (इह) प्रकृतमें (क्वचित्) कहीं भी (कः अपि गुणः) कोई भी गुण (कस्यापि गुणस्य अन्तर्भवः न) किसी भी गुणका अन्तर्भावी नहीं है (आधारः न) आधार नहीं है (आधेयः अपि च न) आधेय भी नहीं है (हेतुः अपि हेतुमान् न) कारण और कार्य भी नहीं है ।

भावार्थः— किसी गुणका किसी अन्य गुणमें अन्तर्भाव नहीं है । तथा परस्पर गुणोंमें किसी प्रकारका आधार आधेयभाव और कार्यकारणभाव भी नहीं है ।

किन्तु—

किन्तु सर्वोऽपि स्वात्मीयः स्वात्मीय–शक्तियोगतः ।
नानारूपा ह्यनेकेऽपि सता सम्मिलिता मिथः ॥ १०१३ ॥

अन्वयार्थः— (किंतु) किन्तु (स्वात्मीय–शक्तियोगतः) अपनी २ शक्तिको धारण करनेकी अपेक्षासे (सर्वोऽपि) सब गुण (स्वात्मीयः) अपने २ स्वरूपमें स्थित है इस लिए यद्यपि वे (नाना

1 म पु में ' स्वात्मीय ' पाठ है ।

रूपा अपि अनेके) नानारूप और अनेक है तथापि (हि) निश्चयपूर्वक वे सब गुण (मिथ: सता सम्मिलिताः) परस्परमें एक ही सत्के साथ अन्वयरूपसे सम्बन्ध रखते हैं।

भावार्थ:— यद्यपि किसी भी गुणका किसी भी गुणमें अन्तर्भाव, आधार आधेयभाव तथा कार्यकारण भाव न होनेसे द्रव्यके सम्पूर्ण गुण भिन्न और अनेक हैं । तथापि अपने द्रव्यत्व का कभी उलंघन नहीं करते है इस लिए सम्पूर्ण गुण परस्परमें अभिन्न हैं ।

गुणानां चाप्यनन्तत्वे वाग्व्यवहारगौरवात् ।
गुणाः केचित्समुद्दिष्टाः प्रसिद्धा पूर्वसूरिभिः ॥ १०१४ ॥

अन्वयार्थः— (गुणानां अनन्तत्वे च अपि) यद्यपि गुणोंमें अनन्तपना है तो भी (पूर्वसूरिभिः) प्राचीन आचार्योंने (वाग्व्यवहारगौरवात्) अति ग्रन्थ विस्तारसे गौरव दोष आता है इस लिए संक्षेपसे (प्रसिद्धाः केचित् गुणाः समुद्दिष्टाः) प्रसिद्ध २ कुछ गुणोंका नामोल्लेख किया है ।

भावार्थः— द्रव्यमें अनन्त गुणोंके होनेपर भी पूर्वाचार्योंने वचन विस्तारके भयसे सबका वर्णन न करके केवल ज्ञानादिक कुछ प्रसिद्ध गुणोंकाही उल्लेख किया है ।

यत्पुनः क्वचित्कस्यापि सीमाज्ञानमनेकधा ।
मनःपर्ययज्ञानं वा तद्द्वयं भावयेत्समम् ॥ १०१५ ॥
तत्तदावरणस्योच्चैः क्षायोपशमिकत्वतः ।
स्याद्यथा लक्षिताद्भावात्स्यादत्राप्यपरागतिः ॥ १०१६ ॥

अन्वयार्थः— (पुनः यत्) और जो (क्वचित् कस्यापि अनेकधा सीमाज्ञानं) कहीं २ किसीको नाना प्रकारका अवधिज्ञान (मनःपर्ययज्ञानं) मनःपर्ययज्ञान क्रमसे (वा) अथवा (तद्द्वयं) अवधि और मनःपर्ययज्ञान (समं भावयेत्) युगपत् होते है तथा (तथा) जैसे (तत) वह सब अर्थात् अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान (तदावरणस्य) अपने २ आवरणके (उच्चैः क्षायोपशमिकत्वतः) सर्वघाति स्पर्द्धकोंके क्षयोपशमसे (स्यात्) होता है ('तथा') वैसे ही (लक्षितात् भावात् अपि) उक्त लक्षण युक्त भावसे भी अर्थात् क्षायोपशमिकपनेसे (अत्र) इन दोनों ज्ञानोंमें (अपरागतिः स्यात्) गत्यन्तर अर्थात् इस क्षायोपशमिकपनेका

नाश होता है । अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी जब केवलज्ञानको प्राप्त करते है तब वहां क्षायोपशमिक ज्ञानोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। इस लिए यह भी उन क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी एकतरहकी 'अपरागति' समझना चाहिए । तथा संक्लेशकी अधिकताके कारण ज्ञानावरणके तीव्र उदयसे अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान होकर भी छूट जाते है यह भी एक प्रकारकी उन क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी अपरागति समझना चाहिए।

'अत्रापि यथालक्षितात् भावात् अपरागतिः स्यात्', इस पदसे यह ध्वनित होता है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी तरह ये दोनोंही ज्ञान चिरकाल स्थायी नहीं है । कालान्तरमे उनका नाश या तो केवलज्ञानरूप क्षायिकज्ञान होनेसे हो जाता है। अथवा संक्लेशके कारण तीव्र ज्ञानावरणका उदय आनेसे उनका घात हो जाता है अर्थात् इस तरह ये दोनों ज्ञान अपने क्षायोपशमिक अवस्थारूप लक्षणसे च्युत होकर अपरगतिको प्राप्त करते है ।

आगेके पद्यमें मतिश्रुतको सनातन कहा है इस लिए 'अपरागति, शब्दका ऊपर कहा हुआ अर्थ ही ठीक प्रतीत होता है ।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमेतन्मात्रं सदातनम् ।
स्याद्वा तरतमैर्भावैर्यथा हेतूपलब्धिसात ॥ १०१७ ॥

अन्वयार्थः— (यथा हेतूपलब्धिसात्) जैसी २ कारण सामग्री मिलती है तदनुसार होनेवाले अपने २ (तरतमैः भावैः) तरतम भावोंसे (मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं एतन्मात्रं) मति और श्रुत ये दोनों ही ज्ञान (सदातनं वा स्यात) सदातनकी तरह माने जाते है ।

भावार्थ— अनादि कालसे केवलज्ञान होनेतक जीवके किसी न किसी रूपमें मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानरूप क्षयोपशम कुछ न कुछ अवश्य रहता है। ऐसी अवस्था कभी भी प्राप्त नहीं होती है कि जब ये दोनों ज्ञान अपने २ तरतमभावसे न पाये जाते हो। इस लिए केवल इन दोनोंको सदातन–सदैव रहनेवाले क्षायोपशमिक-भाव समझना चाहिए ।

अवधि तथा मन.पर्यय ज्ञान होकरके छूट भी सकते है। इसलिए इन दोनों ज्ञानोंको अपरागतिवाले कहा है। किन्तु मतिश्रुत तो जबतक मुक्ति न हो जायगी तबतक थोडे वा अधिक रूपमें अवश्य रहते ही है। इसलिए इन दोनों ज्ञानोंको सदातन कहा है (अपरागतिवाले नहीं कहा है।)

ज्ञानं यद्यावदर्थानामस्ति ग्राहकशक्तिमत् ।
क्षायोपशमिकं तावदस्ति नौदयिकं भवेत् ॥१०१८॥

अन्वयार्थः— (यत् ज्ञानं) जो ज्ञान (यावत् अर्थानां ग्राहकशक्तिमत् अस्ति) अपनी योग्यतानुसार जितने पदार्थोंके ग्रहण करनेकी शक्ति रखनेवाला होता है (तत् तावत् क्षायोपशमिकं अस्ति) वह उतनाही क्षायोपशमिक ज्ञान कहलाता है (औदयिकं न भवेत्) औदायिक नहीं ।

भावार्थ — जिस २ विषयका जितना २ क्षयोपशम होता है उतना २ ही उस जीवके क्षायोपशमिक ज्ञान हो सकता है अर्थात् ज्ञानावरणादिकके क्षयोपशमके निमित्तसे ज्ञानमें जो एक प्रकारका विकाश होता है वह औदयिक भाव नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि औदयिक भाव गुण के विपक्षी कर्मके उदयसे होता है और यह क्षायोपमिक अवस्था, क्षयोपशमसे होती है। इसलिए औदयिक नहीं कह सकते है । जितने अंशमें क्षयोपशम है उतने अशमें विकाश है तथा जितने अशमें उदय है उतने अंशमें अन्धकारमय या शून्यता रूप अज्ञान पर्याय है । अतः यह क्षायोपशमिक ज्ञान कभी भी औदयिक नहीं कहा जा सकता है ।

अस्ति द्वेधाऽवधिज्ञानं हेतोः कुतश्चिदन्तरात् ।
ज्ञानं स्यात्सम्यगवधिरज्ञानं कुत्सितोऽवधिः ॥ १०२९ ॥

अन्वयार्थः— (कुतश्चिदन्तरात् हेतोः) किसी कारणांतरसे (अवधिज्ञानं द्वेधा अस्ति) अवाधिज्ञान दो प्रकारका है उनमेंसे (सम्यक् अवधिज्ञानं) सम्यक् अवाधिज्ञानको अवधिज्ञान कहते है और (कुत्सितो अवधिः अज्ञानं स्यात्) मिथ्याअवधि ज्ञानको कुअवाधिज्ञान कहते है ।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टिके अवधिज्ञानको अवधि ज्ञान कहते है । और मिथ्यादृष्टिके अवधिज्ञानको विभंगावधि अथवा अज्ञान कहते है । कारण कि सम्यग्दृष्टिका ज्ञानही ज्ञान है । मिथ्यादृष्टिका ज्ञान आत्मानुभव—शून्य होनेके कारण अज्ञान है । तथा उक्त ज्ञानोंमें सम्यक्मिथ्यात्वपनेके लानेका कारण सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन है ।

अस्ति द्वेधा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च स्याद्द्विधा ।
सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां ज्ञानमज्ञानमित्यपि ॥१०२०॥

अन्वयार्थः— (मतिज्ञानम् द्वेधा अस्ति) मतिज्ञान दो प्रकारका है (च) और (श्रुतज्ञानं अपि द्विधा स्यात्) श्रुतज्ञान भी दो प्रकारका है कारण कि (सम्यक्-मिथ्या-विशेषाभ्यां) सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप विशेषकी अपेक्षासे ही (ज्ञानम् अज्ञानम् इति) ये दोनों, ज्ञान और अज्ञान कहे जाते है ।

भावार्थः— अवधि ज्ञानकी तरह मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान भी सम्यग्दर्शनके साथ होनेसे ज्ञान किंवा सम्यग्ज्ञान कहलाते है । तथा मिथ्यादर्शनके साथ होनेसे ये दोनों मिथ्याज्ञान किंवा अज्ञान कहलाते है ।

त्रिषु ज्ञानेषु चैतेषु यत्स्यादज्ञानमर्थतः ।
क्षायोपशमिकं तत्स्यान्नस्यादौदयिकं क्वचित् ॥१०२१

अन्वयार्थः— (एतेषु त्रिषु ज्ञानेषु) इन तीन ज्ञानोंमें (यत् अर्थत अज्ञानं स्यात्) जो वास्तवमें अज्ञान है अर्थात् ज्ञानमें विशेषता होते हुए भी यदि वह सम्यग्दर्शन सहित नहीं तो उसे वास्तवमें अज्ञान कहते है (तत्) वह अज्ञान (क्षायोपशमिकम् स्यात) क्षायोपशमिक भाव है (क्वचित् औदयिकम् न च स्यात्) कहीं भी औदयिक नहीं कहा जा सकता है ।

भावार्थ— वास्तवमें दर्शनमोहनीयके उपशमादिकके साथ ही स्वानुभूत्यावरणका भी क्षयोपशम होता है । इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान युगपत् होते है ऐसा माना है । सम्यग्दर्शनके बिना जो ज्ञान होता है वह मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत नहीं होता है—वास्तविक नहीं होता है अत. अज्ञान ही है । उसके कुमति, कुश्रुत तथा विभंगअवधि ऐसे तीन भेद है । ये तीनों ही क्षायोपशमिक अज्ञानके भेद है । इनको औदयिक अज्ञान नहीं समझना चाहिए

अस्ति यत्पुनरज्ञानमर्थादौदयिकं स्मृतम् ।
तदस्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं वपुः ॥ १०२२ ॥

अन्वयार्थ (पुनः) और (यत्) जो (अर्थात्) यथार्थमें (औदयिकम् अज्ञानं स्मृतं अस्ति) औदयिक अज्ञान है (तत्) वह (यथा निश्चेतनम् वपुः) मृत-देहकी तरह (शून्यतारूपम् अस्ति) शून्य रूप है ।

भावार्थ— केवल-ज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और अवधिज्ञानावरणके पूर्ण उदयसे जो इन उक्त ज्ञानोंका अभाव है उस शून्यतारूप ज्ञानाभावको औदयिक अज्ञान कहते है अर्थात् क्षायोपशमिक अज्ञानमें ज्ञान तो है

परन्तु वह मिथ्यात्व सहित होनेके कारण अज्ञान कहलाता है। और ज्ञानके अभावरूप अवस्थाका नाम औदयिक अज्ञान भाव है। इसलिये औदयिक अज्ञानको शून्यतारूप अज्ञानभाव कहा है।

एतावतास्ति यो भावो दृङ्मोहस्योदयादपि ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य सर्वोप्यौदयिकः स हि ॥१०२४॥

अन्वयार्थः— (एतावता) इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि (दृङ्मोहस्य उदयात्) दर्शनमोहनीयके उदयसे (अपि) तथा (चारित्रमोहस्य पाकात्) चारित्रमोहनीयके उदयसे (यः भावः अस्ति) जो भाव होते है (स हि सर्वः अपि) वे सब ही (औदयिकः) औदयिक भाव है।

भावार्थ— औदयिक अज्ञानके कथनसे यहभी कथित होजाता है कि दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के युगपत् उदयसे तथा केवल चारित्रमोहके उदयसे जो भाव होते है वेभी औदयिक भाव कहलाते है।

न्यायादप्येवमन्येषां मोहादिघातिकर्मणाम् ।
यावांस्तत्रोदयाज्जातो भावोस्त्यौदयिकोऽखिलः ॥ १०२४ ॥

अन्वयार्थ— (एवं न्यायात्) इसी न्यायसे (मोहादिघातिकर्मणां) मोहादिक घातिया कर्मोंके उदयसे (अपि) तथा (अन्येषां उदयात्) अघातिया कर्मोंके उदयसे (तत्र यावान् भावः जातः) आत्मामें जितने भी भाव होते है (' तावान् ' अखिलः औदयिकः अस्ति) उतने वे सब औदयिक भाव है।

भावार्थः— जैसे ज्ञानावरणके उदयसे औदयिक अज्ञान होता है वैसे ही घातियामात्र कर्मके उदयसे होनेवाले जीवके सब भाव औदयिक भाव कहलाते है।

तत्राप्यस्ति विवेकोऽयं श्रेयानत्रादितो यथा ।
वैकृतो मोहजो भावः शेषः सर्वोपि लौकिकः ॥ १०२५ ॥

अन्वययार्थः— (तत्र अपि अयं विवेकः अस्ति) घातिया अघातिया कर्मोंके उदयसे होनेवाले औदायिक भावोंमें भी यह भेद है (यथा) जैसे कि (अत्र) इन भावोंमें (मोहजः वैकृतः भावः) केवल मोहजन्य वैकृतिक भाव ही (श्रेयान् उदितः) सच्चा विकारयुक्त भाव है और (शेषः सर्वोऽपि लौकिकः) बाकीके सब लोक रूढिसे विकारयुक्त औदयिक-भाव है ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थः— सब औदयिक भावोंमें आत्माके सम्यक्त्व तथा चारित्र गुणोंके विकाशके रोकनेका काम जैसा मोहसम्बन्धी औदायिक भावोंसे होता है वैसा ज्ञानादि गुणोंके विकाश को रोकनेवाले अज्ञानादि औदयिक भावोंसे नही होता है। कारण कि चौदह गुणस्थान भी तो केवल मोह और योगके उदयादिकसे कहे है अर्थात् सच्चे प्रतिबन्धक मोह-जन्य औदयिक भाव ही है। इनके हट जानेसे इतर औदायिकभाव भी हट ही जाते हैं। इसलिए सच्चे औदयिक भाव मोहनीयके ही निमित्तसे होते हैं ऐसा समझना चाहिए। शेषभाव तो केवल रूढिवश औदायिक कहे जाते हैं।

स यथाऽनादिसन्तानात्कर्मणोऽच्छिन्नधारया।
चारित्रस्य दृशश्च स्यान्मोहस्यास्त्युदयाश्रितः॥ १०२६॥

अन्वयार्थः— (**स यथा**) और वह औदायिक भाव (**चितः**) आत्माके (**अच्छिन्नधारया**) अविरलधाराप्रवाह द्वारा (**अनादिसन्तानात्**) अनादि सन्तान क्रमसे (**चारित्रस्य च दृशः मोहस्य कर्मणः**) चारित्रमोह और दर्शनमोह कर्मके (**उदयात् अस्ति**) उदयसे हो रहा है।

भावार्थ— और वह मोहसम्बन्धी औदयिक भाव अनादि सन्तान क्रमसे सदैव आत्मा के दर्शन तथा चारित्रमोह कर्मके उदयसे ससारी आत्माके हो रहा है।

तत्रोल्लेखो यथासूत्रं दृङ्मोहस्योदये सति।
तत्त्वस्याऽप्रतिपत्तिर्वा मिथ्यापत्तिः शरीरिणाम्॥ १०२७॥

अन्वयार्थः— (**यथासूत्रम् तत्र उल्लेखः**) इस विषयमें शास्त्रानुसार उन औदयिक भावोंके स्वरूपका उल्लेख ऐसा है कि (**शरीरिणां**) जीवोंके (**दृङ्मोहस्य उदये सति**) दर्शनमोहनीय के उदय होनेपर (**तत्त्वस्य अप्रतिपत्तिः**) तत्त्वोंका अश्रद्धान (**वा**) अथवा (**मिथ्यापत्तिः**) विपरीत श्रद्धान होता है।

भावार्थः— आगमानुसार उसी दर्शनमोहके उदयसे जीवके तत्त्वोंका अश्रद्धान अथवा विपरीत श्रद्धान होता है।

अर्थादात्मप्रदेशेषु कालुष्यं दृग्विपर्ययात्।
तत्स्यात्परिणतिमात्रं मिथ्याजात्यनतिक्रमात्॥ १०२८॥

अन्वयार्थः— (अर्थात्) वास्तवमें (दृग्विपर्ययात्) मिथ्यात्वके उदयसे (आत्मप्रदेशेषु) आत्माके प्रदेशोंमें (कालुष्यं 'स्यात्') एक प्रकारकी कलुपता उत्पन्न होती है और (तत्) वह कलुपता (मिथ्यांजात्यनतिक्रमात्) मिथ्या जातिको लिए हुए (परिणतिमात्रं स्यात्) केवल परिणति ही है।

भावार्थः— मिथ्यात्वके उदयसे वास्तवमें दर्शन गुणमें जो विपर्ययपना होता है उससे आत्मामें एक इस प्रकारका कालुष्य उत्पन्न होता है जो कि आत्मा की परिणतिमात्रको मिथ्यारूप बनाये रखता है।

तत्र सामान्यमात्रत्वादस्तिवक्तुमशक्यता।
ततस्तल्लक्षणं वच्मि संक्षेपाद्बुद्धिपूर्वकम् ॥ १०२९ ॥

अन्वयार्थ— परन्तु (तत्र सामान्यमात्रत्वात् वक्तुं अशक्यता अस्ति) वह मिथ्यात्व सामान्यरूप होनेसे वचनगोचर नहीं किया जासकता है (ततः) इस लिए (सक्षेपात्) संक्षेपसे (बुद्धिपूर्वकं तल्लक्षण वच्मि) बुद्धिपूर्वक होनेवाले विशेप मिथ्यात्वके ही लक्षणको कहता हूं।

भावार्थः— मिथ्यात्व भाव दो प्रकारका है। १ सामान्य और २ विशेप। उनमे सामान्य मिथ्यात्वका स्वरूप तो सामान्यात्मक होनेसे कहा नहीं जा सकता है। केवल विशेपकाही उल्लेख किया जा सकता है। इसलिए उस विशेप मिथ्यात्व के स्वरूपको कहता हूं।

निर्विशेषात्मके तत्र न स्याद्धेतोरसिद्धता।
स्वसंवेदनसिद्धत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमैः ॥ १०३० ॥

अन्वयार्थ— (स्वसंवेदनसिद्धत्वात्) स्वसंवेदन गोचर होनेसे (युक्तिस्वानुभवागमैः) युक्ति स्वानुभव और आगमके द्वारा (तत्र निर्विशेषात्मके) उस सामान्य मिथ्यात्वकी सिद्धिके विपयमें (हेतोः असिद्धता न स्यात्) दिया हुआ हेतु असिद्ध नहीं हो सकता है।

भावार्थ— वह सामान्य मिथ्यात्व स्वानुभव गोचर है इसलिए उसकी सिद्धिमें दिए हुए हेतु युक्ति, स्वानुभव तथा आगमके द्वारा बाधित नहीं हो सकते है।

सर्वं संसारिजीवानां मिथ्याभावो निरन्तरम्।
स्याद्विशेषोपयोगीह केषाचिंत्संज्ञिनां मनः ॥ १०३१ ॥

अन्वयार्थः— यद्यपि (इह) जगतमें (सर्वसंसारिजीवानां निरन्तरम् मिथ्याभावः ' अस्ति ') सब ही संसारी जीवोंके निरन्तर सामान्य रूपसे मिथ्यात्वभाव रहता है तथापि (केषाञ्चित् संज्ञिनां मनः विशेषोपयोगि स्यात्) किन्हीं संज्ञी जीवोंका मन मिथ्यात्वके विशेषोंके विषय करनेमें उपयोगवान हो सकता है।

भावार्थः— व्यापकको सामान्य और व्याप्यको विशेष कहते है। जो अधिकमें रहे उसको व्यापक तथा जो थोडेमें रहे उसको व्याप्य कहते है जैसे कि मनुष्यत्व और वैश्यत्व। इसी प्रकार मिथ्यात्वभाव भी सामान्य तथा विशेषरूपसे कहा जा सकता है। एकेन्द्रियादिसे लेकर संज्ञी पंचेन्द्रियतकके जो मिथ्यात्वभाव पाया जाता है वह सामान्यरूपसे मिथ्यात्वभाव है। इसीका दूसरा नाम अज्ञान मिथ्यात्व है। तथा एकान्त, विपरीत विनय व संशय ये सब विशेष मिथ्यात्व कहे जाते है ये चारों ही मिथ्यात्व एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञीपंचेन्द्रियतकके बिलकुल सम्भव नहीं होते है। केवल संज्ञीपंचेन्द्रियोंमें किन्ही २ विशेष संज्ञी प्राणियोंके ही सम्भव होते है सो भी कदाचित्। और शेषोंके तो अज्ञान मिथ्यात्व ही रहता है अर्थात् एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पशु पक्षी व सर्वथा धर्म कर्म विहीन अबोध मनुष्योंके भी अज्ञान मिथ्यात्व रहता है। इस प्रकार सामान्यमिथ्यात्व—अज्ञानमिथ्यात्व व्यापक है और निरन्तर रहता है।

* तेषां वा संज्ञिनां नूनमस्त्यनवस्थितं मनः।
कदाचित्सोपयोगि स्यान्मिथ्याभावार्थभूमिषु ॥ १०३२ ॥

अन्वयार्थः— (तेषां संज्ञिनां वा मनः नूनं अनवस्थितं अस्ति) उन संज्ञियोंका भी मन निश्चयसे किसी एक विषयमें स्थिर नहीं होता है इस लिए (कदाचित्) कभी २ (मिथ्याभावार्थभूमिषु) मिथ्या भावोंके विषयमें (सोपयोगि स्यात्) उपयोगवान् होता है।

भावार्थः— कभी २ किन्हीं संज्ञियों के विशेष मिथ्यात्वके कहनेका कारण यह है कि मन चंचल है इसलिए वह सदैव विपरीत भावोंके ही तरफ उपयुक्त नहीं रहता है किन्तु संशयादिकमेंभी उपयुक्त रहता है। अतः सामान्यरूपसे पाये जानेवाला वचन अगोचर अज्ञान मिथ्यात्व ही उनके सदैव रहता है। यह समझना चाहिए।

ततो न्यायगतो जन्तोर्मिथ्याभावो निसर्गतः।
दृङ्मोहस्योदयादेव वर्त्तते वा प्रवाहवत् ॥ १०३३ ॥

* विशेष परिशिष्टमें देखो.

अन्वयार्थ — (**ततः**) इस लिए (**न्यायागत.**) न्यायानुसार यह बात सिद्ध होती है कि (**जन्तोः मिथ्याभावः**) जीवोंके मिथ्यात्व (**निसर्गतः एव**) स्वभावसे ही (**दृङ्मोहस्य उदयात्**) दर्शनमोहनीयके उदयसे (**प्रवाहवत् वा वर्तते**) प्रवाहके समान सदैव पाया जाता है।

भावार्थः— अतएव यह सिद्ध होता है कि ससारी जीवके अनादिकालसे दर्शनमोहके उदयके कारण सामान्य मिथ्यात्व भावका प्रवाह सदैव पाया जाता है और विशेष मिथ्यात्वका प्रवाह कदाचित् रहता है।

कार्यं तदुदयस्योच्चैः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत ।
स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः ॥ १०३४ ॥

अन्वयार्थ — और (**तदुदयस्य**) मिथ्यात्वके उदयका (**यत्कार्यं**) जो कार्य है वह (**उच्चैः प्रत्यक्षात् सिद्ध एव**) अच्छी तरह स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध ही है क्योंकि (**अन्यथा**) यदि मिथ्यात्वका उदय न होता तो (**आत्मनः स्वरूपानुपलब्धि कथं स्यात ?**) आत्माके स्वरूपकी उपलब्धि क्यों न पायी जाती ?

भावार्थ— और उस मिथ्यात्वके उदयका फल प्रत्यक्षसिद्धही है कारण कि यदि मिथ्यात्वका उदय न होता तो आत्माके स्वस्वरूपकी उपलब्धि होना चाहिए परन्तु संसारीजीवोंके वह कभी भी नहीं पाई जाती है इसलिए सिद्ध होता है कि उनके मिथ्यात्वका उदय सदैव रहता है।

स्वरूपानुपलब्धौ तु बन्धः स्यात्कर्मणो महान् ।
अत्रैव शक्तिमात्रं तु वेदितव्यं सुदृष्टिभिः ॥ १०३५ ॥

अन्वयार्थः— (**स्वरूपानुलब्धौ तु**) स्वरूपकी अनुपलब्धिमें ही तो (**कर्मणः महान् बन्धः स्यात्**) कर्मोंका महाबन्ध होता है (**एवं शक्तिमात्रं तु अत्र**) इस प्रकार स्वरूपकी उपलब्धि न होने देनेकी शक्तिमात्र मिथ्यात्वके उदयमें है यह यहा (**सुदृष्टिभिः वेदितव्यं**) सम्यग्दृष्टियोंको समझना चाहिए।

भावार्थ—मिथ्यात्वके उदयसे स्वस्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती है और स्वस्वरूपकी उपलब्धिके न होनेसे बन्ध होता है

प्रसिद्धैरपि भास्वद्भिरलंदृष्टान्तकोटिभिः ।
अत्रेत्थमेवमेवं स्यादलंघ्या वस्तुशक्तयः ॥ १०३६ ॥

अन्वयार्थ —(**अत्र**) मिथ्यात्वकी शक्तिके विषयमें (**इत्थ एवं एवं**) मिथ्यात्व ऐसा है ऐसा है इत्यादि को बतानेके लिए (**प्रसिद्धैः अपि भास्वद्भिः**) प्रसिद्ध और ज्वलन (**दृष्टांतकोटिभि**) करोडों दृष्टांतोंसे भी (अल) क्या लाभ है ? क्योंकि (**वस्तुशक्तय अलंघ्याः स्यात्**) वस्तुकी शक्तियां-पदार्थके स्वभाव दुर्लंघ्य होते है।

शंका–

सर्वे जीवमया भावा दृष्टान्तो बन्धसाधकः ।
एकत्र व्यापकः कस्मादन्यत्राव्यापकः कथम् ॥ १०३७ ॥

अन्वयार्थः— (**सर्वे भावाः जीवमयाः**) जब कि सबही भाव जीवमय है तो (**एकत्र व्यापकः बन्धसाधकः दृष्टान्तः कस्मात्**) कहींपर कोई एक भाव व्यापक रूपसे बन्धका साधक दृष्टान्त क्यों होता है और (**अन्यत्र अव्यापकः कथं ?**) कहींपर कोई एक भाव व्याप्य रूपसे बन्धका साधक होता है ऐसा क्यों कहा जाता है ?

भावार्थः— शंकाकारका कथन है की जब सबही भाव जीवमय है तो फिर क्यों औदयिक भावोंमेंसे केवल मिथ्यात्वभावकाही दृष्टान्त व्यापक रूपसे बन्धका साधक कहा जाता है । और इतर भावोंके दृष्टान्त क्यों व्याप्य रूपसेही बन्धके साधक कहे जाते है ।

उत्तर ।

अथ तत्रापि केषांचित्संज्ञिनां बुद्धिपूर्वकः ।
मिथ्याभावो गृहीताख्यो मिथ्यार्थाकृति संस्थितः ॥ १०३८ ॥

अन्वयार्थः— (**अथ तत्रापि**) और उसमें व्यापक रूपसे बन्धके साधक भावोंमें भी (**केषांचित् संज्ञिनां**) किन्हीं २ संज्ञी प्रणियोंके (**मिथ्यार्थाकृति संस्थितः**) वस्तुके स्वरूपको मिथ्या आकारमें गृहीत करनेवाला-- मिथ्या आकारमें अपनी स्थिति रखनेवाला (**गृहीताख्यः**) गृहीत नामक (**बुद्धिपूर्वकः मिथ्याभावः**) बुद्धिपूर्वक मिथ्याभाव (' **अस्ति** ') होता है ।

भावार्थः— उक्त शंकाका समाधान आगे ' **अथ** ' इत्यादि पद्योंसे करते है की मिथ्यात्वकोही व्याप्यरूपसे बन्धसाधक मानने मे युक्ति यह है कि कितनेही संज्ञी प्राणियोंके मिथ्याकारमें परिणत बुद्धिपूर्वक गृहीत नामक मिथ्यात्व पाया जाता है ।

अर्थादेकविधः स स्याज्जातेरनतिक्रमादिह ।
लोकासंख्यातमात्रः स्यादालापापेक्षयाऽपि च ॥ १०३९ ॥

अन्वयार्थः— (**इह**) यहांपर (**जातेरनतिक्रमात्**) अपनी जातिको उलघन न करके (**अर्था–**

त्) वास्तवमें (स. एकविधः च) वह गृहित मिथ्यात्व एक प्रकारकाही है अर्थात् सामान्यकी अपेक्षासे एक प्रकारका होकर भी (आलापापेक्षया) विशेष आलापोंकी अपेक्षासे (लोकासंख्यातमात्रः अपि स्यात्) लोकासंख्यात मात्र भी है।

भावार्थ.— वह मिथ्यात्व, मिथ्यात्व जातिकी अपेक्षासे एक होकर भी उत्तरोत्तर भेद प्रभेदोंकी अपेक्षासे लोकके असंख्यातमें भाग मात्र है।

आलापोऽप्येकजातिर्यो नानारूपोऽप्यनेकधा।
एकान्तो विपरीतश्च यथेत्यादि क्रमादिह ॥ १०४० ॥

अन्वयार्थः— और (इह) यहांपर (यः आलापः) जो आलाप (एकजातिः अपि) यद्यपि सामान्यकी अपेक्षासे एकरूप है तो भी (अनेकधा नानारूप अपि) विशेषकी अपेक्षासे अनेक प्रकारका होनेसे वह नानारूप भी कहा जाता है (यथा) जैसे कि सामान्यरूपसे जो गृहीत मिथ्यात्व एकरूप कहा है वहीं (क्रमात् एकांत विपरीत च इत्यादि) विशेषकी अपेक्षासे क्रमपूर्वक एकात, विपरीत इत्यादि नाना रूप कहा जासकता है। इसी लिए एकात आदिक मिथ्यात्वके आलाप कहे जाते हैं। ऐसे आलाप मिथ्यात्वके, लोकके असंख्यात भाग हो सकते हैं।

भावार्थ — जो आलाप सामान्यकी अपेक्षा एक है वही अपने विशेषोंकी अपेक्षा नाना रूप भी है। अर्थात् मिथ्यात्व, सामान्यकी अपेक्षा यद्यपि एक है तथापि अपने विषयभेदादिककी अपेक्षासे एकान्त विपरीत आदि रूपसे नाना प्रकार भी कहलाता है। इसलिए एकान्त आदि मिथ्यात्वके लोकासंख्यात आलाप हो सकते हैं।

अथवा शक्तितोऽनन्तो मिथ्याभावो निसर्गतः।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनंताश्च शक्तयः ॥ १०४१ ॥

अन्वयार्थः— (अथवा) अथवा (मिथ्याभाव) मिथ्यात्व (निसर्गतः) स्वभावसेही (शक्तितः) अपनी शक्तिकी अपेक्षासे (अनन्तः) अनन्त है (यस्मात्) क्योंकि (एकैकं आलापं प्रति) प्रत्येक आलापके प्रति (अनन्ताः शक्तय च) अनन्त शक्ति विवक्षित होती है।

भावार्थ.— अथवा मिथ्याभाव अपने अविभाग प्रतिच्छेदरूप शक्तियोंकी अपेक्षासे अनन्त भी है। क्योंकि मिथ्यात्वके प्रत्येक आलापमें अनन्त २ अविभागोंके लिए हुए शक्तिया रहती है।

जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैर्वा परिणामिनः ।
शक्तिभेदात्क्षणं यावदुन्मज्जन्ति पुनः पृथक् ॥ १०४२ ॥
कारुं कारुं स्वकार्यत्वाद्बंधकार्यं पुनः क्षणात ।
निमज्जंति पुनश्चान्ये प्रोन्मज्जंति यथोदयात ॥ १०४३ ॥

अन्वयार्थः— (जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैः) अपने जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट भावोंके द्वारा (परिणामिन वा) परिणामी द्रव्यकी (शक्तिभेदात्) शक्तियोंकी अपेक्षासे मिथ्यात्वादि औदयिक भाव (क्षणम् यावत्) प्रति समय (पुन पृथक् उन्मज्जन्ति) बार बार तरतम रूपको लिये हुए पृथक् रूपसे उदित होते है और (स्वकार्यत्वात्) बन्धका कार्य होनेसे (बन्धकार्यम्) बन्धके कार्यको (कारुम् कारुम्) पुन पुन करके (पुनः क्षणात्) फिर क्षणभरमें ही (निमज्जन्ति) वे मिथ्यात्वादि औदयिक भाव अस्त हो जाते है । (पुन च) तथा (यथोदयात्) अपने अपने उदयानुसार (अन्ये प्रोन्मज्जन्ति) दूसरे भाव उदयको प्राप्त होते है यह क्रम सदैव जारी रहता है ।

भावार्थ— अपने २ जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट अंशोंके द्वारा परिणमनशील आत्मामें औदयिक भाव प्रतिसमय अपने २ कर्मोंके उदयानुसार उदय तथा अस्तको प्राप्त होते रहते है । इसी प्रकार अन्य औदयिक भाव भी समझना चाहिए ।

बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्वं लक्षणाल्लक्षितं यथा ।
जीवादीनामश्रद्धानं श्रद्धानं वा विपर्ययात ॥ १०४४ ॥

अन्वयार्थः— (लक्षणात्) लक्षण रूपसे (बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वम् लक्षितम्) बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वका लक्षण यह किया गया है (यथा) जैसे कि (जीवादीनां अश्रद्धानम्) जीवादिक सप्त पदार्थोंका श्रद्धान न होना (वा) अथवा (विपर्ययात् श्रद्धानम्) विपरीत श्रद्धान होना मिथ्यात्व कहलाता है ।

भावार्थः— बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वका लक्षण यह है कि जीवादिक सात पदार्थोंके अश्रद्धान अथवा विपरीत श्रद्धानका करना ।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रागेवात्रापि दर्शिताः ।
नित्यं जिनोदिते वाक्ये ज्ञातुं शक्या न चान्यथा ॥ १०४५ ॥

अन्वयार्थ — (अत्रापि प्रागेव दर्शिता) इस ग्रन्थमें भी पहले जिनका स्वरूप बताया गया है ऐसे (सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः) परमाणु आदिक सूक्ष्म पदार्थ, राम रावणादिक सुदीर्घ अतीव कालवर्ती पदार्थ, और मेरु आदि दूरवर्ती पदार्थ, (नित्य) सदैव (जिनोदितैः वाक्यैः) जिनवाणीके द्वारा ही (ज्ञातुं शक्याः) जाने जासकते है किंतु (अन्यथा न च) अन्यथा नहीं जाने जासकते है ।

भावार्थः— सूक्ष्मादिक पदार्थ इन्द्रियोंके गोचर नहीं होते है । इसलिए वे केवल जिनागमके द्वारा ही जाने जाते है अन्यथा नही ।

दर्शितेष्वपि तेपूच्चैर्जैनैः स्याद्वादिभिः स्फुटम् ।
न स्वीकरोति तानेव मिथ्याकर्मोदयादपि ॥ १०४६ ॥

अन्वयार्थः— परन्तु (स्याद्वादिभिः जैनैः) स्याद्वादी जैन आचार्योके द्वारा (तेषु) उन सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंको (उच्चैः स्फुटं दर्शितेषु अपि) अच्छी तरह स्पष्ट रीतिसे समझाये जानेपर भी आगमके द्वारा सिद्ध किये जानेपर भी यह (अधीः) अज्ञानी जीव (मिथ्याकर्मोदयात् एव) मिथ्यात्व कर्मके उदयसे ही (तान्) उन पदार्थोंका (न स्वीकरोति) श्रद्धान नहीं करता है ।

भावार्थः— परन्तु मिथ्यादृष्टियोंको जैनागमके द्वारा उन सूक्ष्मादि पदार्थोंके दर्शाए जानेपर भी उनके विषयमें यथार्थ श्रद्धान नहीं होता है ।

ज्ञानानन्दौ यथा स्यातां मुक्तात्मनो यदन्वयात् ।
विनाप्यक्षशरीरेभ्यः प्रोक्तमस्त्यस्ति वा न वा ॥ १०४७ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे कि (ज्ञानानन्दौ) अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख (मुक्तात्मनः) मुक्त जीवके (अक्षशरीरेभ्यः विना अपि) इंद्रिय तथा शरीरके विना भी (अन्वयात् स्यातां) अन्वयरूपसे रहते है ऐसा (यत्) जो आगममें (प्रोक्तं) कहा है (तत्) वह कथन (अस्ति वा न वा) न मालूम ठीक है या नहीं इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव संशय करता है ।

भावार्थः— मुक्तात्माके शरीरादिकके विनाही अन्वय रूपसे– अविछिन्न प्रवाह रूपसे सदैव ज्ञान और सुख पाये जाते है ऐसा जो जैनागममें कहा है उसके विषयमें भी मिथ्यादृष्टी जीवोंको निरन्तर संशय बना रहता है ।

स्वतः सिद्धानि द्रव्याणि जीवादीनि किलेतिषट् ।
प्रोक्तं जैनागमे यत्तत्स्याद्वा नेच्छेदनात्मवित् ॥ १०४८ ॥

अन्वयार्थः— (किल) निश्चयसे (जीवादीनि षट् द्रव्याणि) जीवादिक छहोंही द्रव्य (स्वतः सिद्धानि) स्वत. सिद्ध है (इति) इस प्रकार (यत्) जो (जैनागमे प्रोक्तं) जैनागममें कहा गया है (तत् स्यात् वा न) वह न मालूम ठीक है या नहीं इस तरहसे (अनात्मवित् इच्छेत्) मिथ्या-दृष्टि जीव संशय करता है ।

भावार्थ — जैनागममें छहोंही द्रव्योंको स्वत. सिद्ध माना है । परन्तु मिथ्यादृष्टि जीवोंको उनके विषयमें भी सदैव संशय बना रहता है ।

नित्यानित्यात्मकं तत्वमेकं चैकपदे च यत् ।
स्याद्वानेति विरुद्धत्वात्संशयं कुरुते कुदृक् ॥ १०४९ ॥

अन्वयार्थः— (यत्) जो (एकं च तत्व नित्यानित्यात्मकं) एकही तत्व नित्यात्मक और अनित्यात्मक माना गया है वह (एकपदे विरुद्धत्वात् स्यात् वा न) एक पदार्थमें परस्पर विरुद्ध होनेसे न मालूम ठीक है या नहीं (इति) इस प्रकार (कुदृक्) मिथ्यादृष्टी जीव (संशयं कुरुते) संशयको करता है ।

भावार्थ — जैनागममें एक ही पदार्थको सामान्य विशेषात्मक होनेसे नित्यानित्यात्मक माना है । परन्तु मिथ्यादृष्टि जीवोंको परस्पर विरोधी दो धर्म एक जगह कैसे रह सकते हैं, इसका अनुभव न होनेसे उसके विषयमें सदैव संशय रहता है ।

अप्यनात्मीयभावेषु यावन्नोकर्म कर्मसु ।
अहमात्मेति बुद्धिर्या दृङ्मोहस्य विजृम्भितम् ॥ १०५० ॥

अन्वयार्थ.— (यावत् नोकर्मकर्मसु) सम्पूर्ण नोकर्म और कर्मरूप (अनात्मीयभावेषु अपि) परपदार्थोंमें भी (अहं आत्मा) मेरा आत्मा है (इति) इस प्रकारकी (या बुद्धिः) जो बुद्धि होती है वह सब (दृङ्मोहस्य विजम्भितं) दर्शनमोहनीयके उदयकी ही चेष्टा है-करामत है ।

भावार्थः— दर्शनमोहनीयके उदयसे ही मिथ्यादृष्टिकी शरीरादिरूप नोकर्मात्मक भावोंमें और रागादिरूप कर्मात्मक भावोंमें आत्मत्व बुद्धि होती है अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव कर्म नोकर्मको ही--रागादिकको ही आत्मा मानते हैं।

अदेवे देवबुद्धिः स्यादगुरौ गुरुधीरिह।
अधर्मे धर्मवज्ज्ञानं दृङ्मोहस्यानुशासनात् ॥ १०५१ ॥

अन्वयार्थ— (दृङ्मोहस्य अनुशासनात्) दर्शनमोहनीयके असरसे ही—प्रभावसे ही (इह) इस जगतमें मिथ्यादृष्टि जीवोंकी (अदेवे देवबुद्धिः) कुदेवमें देवबुद्धि (अगुरौ गुरुधीः) कुगुरुमें गुरु-बुद्धि और (अधर्मे धर्मवत् ज्ञान) अधर्ममें धर्मबुद्धि (स्यात) होती है।

भावार्थ— मिथ्यात्वके उदयसे ही जीवोंकी कुदेवोंमे देवबुद्धि, कुगुरुओंमे गुरु-बुद्धि तथा कुधर्मोंमें धर्म-बुद्धि होती है।

धनधान्यसुताद्यर्थं मिथ्यादेव दुराशयः।
सेवते कुत्सितं कर्म कुर्याद्वा मोहशासनात् ॥ १०५२ ॥

अन्वयार्थः— (मोहशासनात) मिथ्यात्वके उदयके प्रभावसे यह जीव (दुराशय) खोटे २ अभिप्रायोंको हृदयमें धारण करके (धनधान्यसुताद्यर्थं) धन धान्य तथा पुत्रादिककी प्राप्तिके लिए (मिथ्यादेवं सेवते) झूठे देवोंकी-- कुदेवोंकी सेवा करता है (वा) और (कुत्सितं कर्म कुर्यात्) खोटी क्रियाओंको भी करता है।

भावार्थः— मिथ्यादृष्टी जीवही धन धान्यादिक ऐहिक सुखोंकी प्राप्तिके लिए मिथ्यादेवोंको पूजते है। तथा इसी तरह अन्य मिथ्यात्व-पोषक क्रियाएँ करते है।

सिद्धमेतन्नुते भावाः प्रोक्ता येऽपि गतिच्छलात्।
अर्थादौदयिकास्तेऽपि मोहद्वैतोदयात्परम् ॥ १०५३ ॥

अन्वयार्थः— (नु) विचार करनेपर (एतत् सिद्धं) यह सिद्ध होता है कि (गतिच्छलात्) गति मुखमे गतिके बहानेसे (ये अपि भावा प्रोक्ता.) जो भाव कहे गये है (औदयिकाः ते अपि)

औदयिक वे चारों गतिनामक भाव भी (अर्थात्) वास्तवमें (परं मोहद्वैतोदयात्) केवल दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे होते है, केवल गति नामकर्मके उदयसे नहीं होते है।

भावार्थः— उक्त कथनसे यह सिद्ध होता है कि जो गति नामक चार औदयिक भाव माने गये है उन औदयिक भावोंमें भी दर्शनमोह और चारित्रमोहका उदय ही यथासम्भव कारण है। केवल गतिनामक नाम-कर्मका उदय नहीं है। क्योंकी मोहके उदयके विना किसी अन्यकर्मके उदयसे होनेवाले औदयिक भाव बन्धके कारण नहीं होते है। अब आगे इसी अर्थका खुलासा करते है।

> यत्र कुत्रापि वान्यत्र रागांशो बुद्धिपूर्वकः।
> स स्याद्द्वैविध्यमोहस्य पाकाद्वान्यतमोदयात् ॥ १०५४ ॥

अन्वयार्थः— (यत्र कुत्र अपि अन्यत्र वा) जहा कहीं अन्यत्र भी अर्थात् किसी भी दशामें जो (बुद्धिपूर्वकः रागांशः) बुद्धिपूर्वक रागांश पाया जाता है (सः) वह केवल (द्वैविध्यमोहस्य पाकात्) दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे (वा) अथवा (अन्यतमोदयात्) किसी एकके उदयसे ही (स्यात्) होता है।

भावार्थः— जहा कहा भी जो कुछ बुद्धिपूर्वक रागांश पाया जाता है वह सब किसी न किसी मोहके उदयका ही कार्य समझना चाहिये इतर कर्मका नहीं।

> एवमौदायिका भावाश्चत्वारो गतिसंश्रिताः।
> केवलं बन्धकर्तारो मोहकर्मोदयात्मकाः ॥ १०५५ ॥

अन्वयार्थः— (एवम्) इस प्रकार (गतिसंश्रिताः) गतिको आश्रय करके होनेवाले (चत्वारः औदयिका भावा) चारोंही औदयिक भाव (मोहकर्मोदयात्मकाः) मोहनीय कर्मके उदय रूप है और इसलिए वे (केवलं बन्धकर्तारः) केवल बन्धके ही करनेवाले है।

भावार्थः— इस प्रकार चारों गतिरूप औदयिक भाव भी मोहोदयात्मक होनेसे मोहके समान केवल बन्ध के ही जनक है।

> कषायाश्चापि चत्वारो जीवस्यौदायिकाः स्मृताः।
> क्रोधो मानोऽथ माया च लोभश्चेति चतुष्टयात् ॥ १०५६ ॥

त चाऽऽत्मोत्तरभेदैश्च नामतोप्यत्र षोडश ।
पंचविंशतिकाश्चापि लोकासंख्यातमात्रकाः ॥ १०५७ ॥
अथवा शक्तितोऽनन्ताः कषायाः कल्मषात्मकाः ।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥ १०५८ ॥

अन्वयार्थः— (क्रोधः) क्रोध (मान) मान (माया) माया (अथ च) और (लोभश्च) लोभ (इति चतुष्टयात्) इस प्रकारके चतुष्टयसे (चत्वारः कषायाः अपि च) चारों कषाय भी (जीवस्य औदयिकाः स्मृताः) जविके औदयिक भाव माने गये है (च) और (अत्र) जैनागममें (ते च) वे चारों ही कषाय (आत्मोत्तरभेदैः नामतः) अपने उत्तर भेदोंके नामसे (षोडश) सोलह (अपि) तथा (पञ्चविंशतिकाः) पचीस माने गये है (अपि च) और अपने उत्तरोत्तर भेदोंकी अपेक्षासे (लोकासंख्यातमात्रकाः) असख्यात लोक प्रमाण भी माने गये हैं (अथवा) अथवा (कल्मषात्मकाः कषायाः) पापरूप वे कषाय (शक्तितः अनन्ताः) शक्तिकी अपेक्षासे अनन्त भी है (यस्मात्) क्यों कि (एकैकं आलापं प्रति) प्रत्येक कषायके एक २ आलापमें (अनन्ताः च शक्तयः ' भवन्ति ') अनन्त शक्तियां होती है ।

भावार्थः— सामान्य रूपसे कषायके क्रोध, मान, माया और लोभ इस तरह चार भेद होते हैं । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ इस तरह सोलह भेद हो जाते हैं। तथा इन सोलह भेदोंमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसक वेद इन नौं नोकषायोंको मिला देनेसे पच्चीस भेद हो जाते हैं तथा कषायाध्यवसाय स्थानोंकी अपेक्षासे असंख्यात लोक प्रमाण भेद हो जाते हैं । और अविभाग–प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षासे कषायके प्रत्येक अलापमें अनन्त भेद हो सक्ते है । इस लिए अविभाग प्रतिच्छेदोंके तरतम भावकी अपेक्षासे कषायके अनन्त भी भेद हो जाते हैं ।

अस्ति जीवस्य चारित्रं गुणः शुद्धत्वशक्तिमान् ।
वैकृतोस्ति स चारित्रमोहकर्मोदयादिह ॥ १०५९ ॥

अन्वयार्थः— (जीवस्य) जीवका (शुद्धत्वशक्तिमान्) शुद्धपनेकी शक्तिकी योग्यता रखनेवाला (चारित्रं गुणः अस्ति) चारित्र नामका एक गुण है परन्तु (इह) इन कषायोंमें (स) वह चारित्र गुण (चारित्रमोहकर्मोदयात्) चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे (वैकृतः अस्ति) विकारको प्राप्त होरहा है।

भावार्थः— आत्माका जो चारित्र नामका गुण है वही चारित्र मोहके उदयसे विकृत होकर कषाय कहलाता है।

तस्माच्चारित्रमोहश्च तद्भेदाद्द्विविधो भवेत् ।
पुद्गलो द्रव्यरूपोस्ति भावरूपोस्ति चिन्मयः ॥ १०६० ॥

अन्वयार्थः— (तस्मात्) इस लिए (तद्भेदात्) चारित्रमोहके द्रव्य और भाव ऐसे दो भेद होनेसे (चारित्रमोहश्च) चारित्रमोह भी (द्विविधः भवेत्) दो प्रकारका होता है उनमेंसे (द्रव्यरूप) द्रव्यरूप चारित्रमोह (पुद्गल. अस्ति) पुद्गलात्मक है तथा (भावरूपः) भावरूप चारित्रमोह (चिन्मयः अस्ति) चेतनामय होता है।

भावार्थ— चारित्रमोह द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे द्रव्य–चारित्रमोह पुद्गलात्मक है तथा भाव चारित्र मोह रागादिरूप चेतनात्मक है।

अस्त्येकं मूर्तिमद्द्रव्यं नाम्ना ख्यातः स पुद्गलः ।
वैकृतः सोस्ति चारित्रमोहरूपेण संस्थितः ॥ १०६१ ॥

अन्वयार्थः — (एक मूर्तिमत् द्रव्यं अस्ति) छह द्रव्योंमें एक मूर्तिमान द्रव्य है और (सः) वह (नाम्ना पुद्गलः ख्यात.) नामसे पुद्गल कहलाता है परन्तु (स.) वह (वैकृतः) रागादिक भावोंके निमित्तसे विकृत होकर (चारित्रमोहरूपेण संस्थित. अस्ति) द्रव्य चारित्रमोहरूप अवस्थाको प्राप्त होता है।

भावार्थ — छह द्रव्योंमें एक पुद्गल नामका द्रव्य है। परन्तु वह पुद्गल द्रव्य [कार्माणवर्गणारूप] चारित्र मोहके उदयसे विकृत हो जाता है। और आत्माके चारित्र मोहके उदयसे आकर्षित होकर कषायके निमित्तसे यथायोग्य चारित्र मोहकी संज्ञाको धारण करता है। अर्थात् पुद्गलोंके तेईस भेद हैं। उनमे एक कार्माण वर्गणा भी है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे पुद्गल स्वयमेव कार्माण वर्गणा रूप परिणत होते है। परन्तु उनमें ज्ञानवरणादिक यह नाम

आत्माके रागादिक भावोंके द्वारा जब बन्ध्य बन्धकता होती है तब पड़ता है। इसलिये वह चारित्रमोहसे विकृत हो जाता है ऐसा कहा जाता है।

पृथ्वीपिण्डसमानः स्यान्मोहः पौद्गलिकोऽखिलः।
पुद्गलः स स्वयं नात्मा मिथो बन्धो द्वयोरपि ॥ १०६२ ॥

अन्वयार्थ.— (अखिल.) सब ही (पौद्गलिकः मोह) द्रव्य मोह (पृथ्वीपिण्डसमान स्यात्) पृथ्वीपिण्डकी तरह अचेतन है (अपि) और यद्यपि (स स्वयं पुद्गल) वह स्वयं पुद्गल ही है (आत्मा न) आत्मा नहीं है तथापि (द्वयो. मिथः बन्धः) दोनोंका परस्परमें बन्ध होता है।

भावार्थ.— यद्यपि द्रव्यमोह मिट्टी आदिकके समान अचेतन है और आत्मा चेतन है अर्थात् भिन्न-जातीय है। तथापि योग कषायके निमित्तसे लोहा तथा चुम्बकके समान, आकर्ष्य आकर्षण भाव होनेके कारण इन दोनोका परस्परमें बन्ध होता है।

द्विविधस्यापि मोहस्य पौद्गलिकस्य कर्मणः।
उदयादात्मनो भावो भावमोहः स उच्यते ॥ १०६३ ॥

अन्वयार्थ— (पौद्गलिकस्य द्विविधस्य अपि मोहस्य कर्मणः) पौद्गलिक=पुद्गलरूप दोनों ही प्रकारके मोहनीय कर्मके (उदयात्) उदयसे जो (आत्मनः भावः) आत्माका भाव होता है (स) वह (भावमोहः उच्यते) भावमोह कहलाता है।

भावार्थः— दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनो प्रकारके मोहके उदयसे जो आत्माके मिथ्यादर्शन तथा कषायादिक विकार होते हैं उन्हें भावमोह कहते हैं।

जले जम्बालवन्नूनं स भावो मलिनो भवेत्।
बन्धहेतुः स एव स्यादद्वैतश्चाष्टकर्मणाम् ॥ १०६४ ॥

अन्वयार्थः— (जले जम्बालवत्) जलमें शैवालकी तरह—काईकी तरह (नूनम्) निश्चयसे (सः) वह (भावः) औदायिक भाव मोह ही (मलिनः भवेत्) मलिन होता है (च) और (अद्वैतः स एव) एक वह भावमोह ही (अष्टकर्मणां) आठों कर्मोंके (बन्धहेतु स्यात्) बन्धका कारण होता है।

भावार्थ— जैसे जलमें केवल शैवालही वास्तवमें मलिन है जल नहीं है वैसे ही वास्तवमें केवल वह भाव-मोहही मलिन है। और मिथ्यात्व तथा रागादि रूप उस भाव मोहके द्वाराही आठों कर्मोंका वन्ध होता है।

अपि यावदनर्थानां मूलमेकः स एव च।
यस्मादनर्थमूलानां कर्मणामादिकारणम ॥ १०६५ ॥

अन्वयार्थः— (**च**) और (**यावत् अनर्थानां अपि**) सम्पूर्ण अनर्थोंका भी (**एकः स एव मूलं**) एक वह भावमोह ही मूल कारण है (**यस्मात्**) क्योंकि वह (**अनर्थमूलानां कर्मणां**) अनर्थोंके मूल कारण जो आठों कर्म हैं उन सबका (**आदिकारणं**) आदिकारण है।

भावार्थः— मोहकेही कारण सव कर्मोंका स्थिति वन्ध और अनुभाग वन्ध होता है। इसलिये वह मोहही सर्व कर्मोंका अथवा यावत दु खोंका मूल कारण है।

अशुचिर्घातको रौद्रो दुःखं दुःखफलं च सः।
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वासां विपदां पदम ॥ १०६६ ॥

अन्वयार्थ— (**च**) तथा (**सः**) वह भावमोह (**अशुचिः**) अपवित्र (**घातकः**) आत्माके गुणोंका घात करनेवाला (**रौद्रः**) उदय कालमें रौद्ररूप दिखानेवाला (**दु ख**) दु·खका कारण और (**दुःख-फलं**) दु खरूप फलको देनेवाला है (**अत्र बहुना उक्तेन किं**) इस भाव मोहके विपयमें अधिक कहांतक कहा जाय केवल वह भावमोहही (**सर्वासां विपदां पदं**) सम्पूर्ण विपत्तियोंका आस्पद है--स्थान है।

भावार्थ— केवल वह भाव मोहही अशुचि, घातक, रौद्ररूप, दु खका कारण और दुःखरूप फलको देनेवाला है। इसके विषयमें अधिक कहांतक कहा जाय केवल इतना कहनाही पर्याप्त है कि वह भावमोहही सम्पूर्ण आपदाओंका स्थान है।

कार्यं कारणमप्येष मोहो भावसमाव्हय।
सर्वबद्धानुवादेन प्रत्यग्राश्रवसंचयात ॥ १०६७ ॥

अन्वयार्थः— (**एषः भावसमाव्हयः मोहः कार्यं अपि**) यह भाव मोह द्रव्य मोहका कार्य होकरके भी (**पूर्वबद्धानुवादेन प्रत्यग्राश्रवसंचयात् कारणं**) पूर्वबद्ध द्रव्य मोहकी अपेक्षासे ही नवीन द्रव्यमोहका

आश्रव होता है इसलिए द्रव्यमोहके लिए वह कारण भी है।

भावार्थः— यद्यपि रागादि रूप भावमोह द्रव्यमोहका कार्य है तथापि नवीन द्रव्यमोहका आश्रव पूर्वबद्ध द्रव्यमोहादिकके उदयसे ही होता है। अतः द्रव्यमोहादिकके लिये वह कारण भी है।

यदोच्चैः पूर्वबद्धस्य द्रव्यमोहस्य कर्मणः।
पाकाल्लब्धात्मसर्वस्वः कार्यरूपस्ततो नयात् ॥ १०६९ ॥
निमित्तमात्रीकृत्योच्चैस्तमागच्छन्ति पुद्गलाः।
ज्ञानावृत्यादिरूपस्य तस्माद्भावोस्ति कारणम् ॥ १०७० ॥

अन्वयार्थः— (**यदा**) जिस समय (**उच्चैः पूर्वबद्धस्य द्रव्यमोहस्य कर्मणः पाकात्**) अच्छी तरहसे पूर्वमें बाधे गये द्रव्यमोहकर्मके उदयसे भावमोह (**लब्धात्मसर्वस्वः**) अपने सम्पूर्ण स्वरूपका लाभ करता है उस समय वह (**तत नयात्**) उस नयकी अपेक्षासे (**कार्यरूप**) कार्यरूप है और (**उच्चैः**) वास्तवमें (**त निमित्तमात्रीकृत्य**) उस कार्यरूप मोहभावके निमित्तसे ही (**पुद्गलाः आगच्छन्ति**) ज्ञानावरणादि रूप कर्मपुद्गल आते हैं (**तस्मात्**) इसलिए (**ज्ञानावृत्त्यादिरूपस्य**) ज्ञानावरणादिरूप द्रव्य पुद्गलके लिए (**भावः कारणं अस्ति**) वह भावमोह कारणरूप भी है।

भावार्थ— पूर्वबद्ध द्रव्यमोहके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण भावमोह द्रव्यमोहका कार्य है। तथा नवीन द्रव्यमोहादिकके बंधनेमें कारण होनेसे वह भावमोह द्रव्यमोहादिकका कारण भी है।

विशेषः कोऽप्ययं कार्यं केवलं मोहकर्मणः।
मोहस्यास्यापि बन्धस्य कारणं सर्व कर्मणाम् ॥ १०७० ॥

अन्वयार्थः— (**अयं क अपि विशेषः**) भावमोहमें यह कोई एक विशेपता है कि वह (**कार्यं**) कार्य तो (**केवलं मोहकर्मणः**) केवल द्रव्यमोह कर्मका है परन्तु (**अस्य मोहस्य**) इस द्रव्यमोहके (**अपि**) और (**सर्वकर्मणां**) सम्पूर्ण कर्मोंके (**बन्धस्य**) बन्धका (**कारणं**) कारण होता है।

भावार्थः— भावमोहमें यह एक खास विशेपता है कि यद्यपि वह केवल द्रव्यमोह कर्मकाही कार्य है तथापि वह द्रव्यमोह और इतर सम्पूर्ण कर्मोंके भी बन्धमें कारण होता है।

अस्ति सिद्धं ततोऽन्योन्यं जीवपुद्गलकर्मणोः ।
निमित्तनैमित्तिको भावो यथा कुम्भकुलालयोः ॥ १०७१ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इस लिये (यथा) जिस प्रकार (कुम्भकुलालयोः) कुम्भ--घट और कुलालमें-कुंभारमें (निमित्तनैमित्तिकःभावः अस्ति) निमित्त तथा नैमित्तिक भाव है ('तथा') उसी प्रकार (जीवपुद्गलकर्मणोः) जीव और पुद्गलात्मक कर्ममें (अन्योन्यं) परस्पर ('निमित्तनैमित्तिकःभावः अस्ति') निमित्तनैमित्तिकभाव है यह (सिद्धं) सिद्ध होता है ।

भावार्थः— जिस प्रकार स्थूल दृष्टिसे कुंभार और घटमें निमित्त नैमित्तिक भाव है । उसी प्रकार जीव तथा पुद्गलमेंभी निमित्त नैमित्तिक भाव है ।

अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां कर्मणां च परस्परम् ।
निमित्तनैमित्तिकोभावः स्यान्नस्याज्जीवकर्मणोः ॥ १०७२ ॥

अन्वयार्थः— (अन्तर्दृष्ट्या) अन्तरंग दृष्टिसे (कषायाणां) कषायोंका (च) और (कर्मणां) कर्मोंका (परस्परं) परस्परमें निमित्तनैमित्तिकःभावः स्यात्) निमित्तनैमित्तिकभाव है किन्तु (जीवकर्मणोः न स्यात्) जीव तथा कर्मका नहीं है ।

भावार्थः— सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर कषाय और कर्ममेंही निमित्त नैमित्तिक भाव है । द्रव्यरूप जीव तथा कर्ममें नहीं ।

यतस्तत्र स्वयं जीवे निमित्ते सति कर्मणाम् ।
नित्या स्यात्कर्तृता चेति न्यायान्मोक्षो न कस्यचित् ॥ १०७३ ॥

अन्वयार्थः—(यतः) क्योंकि (तत्र) उनमेंसे (जीवे स्वयं कर्मणां निमित्ते सति) जीवको कर्मोंका निमित्त माननेपर (नित्या कर्तृता स्यात् इति) जीवमें सदैव ही कर्तृत्वका प्रसग आवेगा (च) और फिर ऐसा होनेसे (न्यायात्) न्यायानुसार (कस्यचित् मोक्षः न) किसी भी जीवको कभी भी मोक्ष नहीं होगा ।

भावार्थः— सूक्ष्मदृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो जीव द्रव्यके साथ कर्मोंका निमित्त नैमित्तिक भाव

नहीं है। किन्तु केवल कषायोंके साथही निमित्त नैमित्तिक भाव मानना युक्तियुक्त है। कारण कि यदि जीव द्रव्य कर्मोंका निमित्त होता तो सिद्धावस्थामें भी जीवके कर्मोंका ग्रहणका प्रसंग आता। और ऐसा होनेने मुक्त अवस्थाका सिद्ध होना भी असंभव हो जाता। परन्तु ऐसा होता नहीं है इसलिए सिद्ध होता है कि जीव कर्मोंका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है।

इत्येवं ते कषायाख्याश्चत्वारोऽप्यौदयिकाः स्मृताः।
चारित्रस्य गुणस्यास्य पर्याया वैकृतात्मनः ॥ १०७४ ॥

अन्वयार्थः— (इत्येवं) इस प्रकार (ते चत्वारः अपि कषायाख्याः औदयिकाः स्मृताः) वे चारों ही कषाय औदयिक माने गये है क्योंकि वे (अस्य चारित्रस्य गुणस्य) इस आत्माके चारित्र गुणकी (वैकृतात्मनः पर्यायाः) विकृत पर्यायें है।

भावार्थः—चारित्रमोह कर्मके उदयसे आत्माके चारित्र गुणकी जो विकृत पर्यायें होती है उन्हेंही कषाय नामक चार औदयिक भाव समझना चाहिये।

लिंगान्यौदयिकान्येव त्रीणि स्त्रीपुन्नपुंसकात्।
भेदाद्वा नोकषायाणां कर्मणामुदयात्किल ॥ १०७५ ॥

अन्वयार्थः— (नोकषायाणां कर्मणां उदयात्) नोकषाय नामक कर्मोंके उदयसे होनेवाले (स्त्री-पुन्नपुंसकात् भेदात्) स्त्री, पुरुष और नपुंसकके भेदसे (त्रीणि लिंगानि वा) तीन प्रकारके लिंग भी (औदयिकानि एव) औदयिक ही है।

भावार्थः— स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकके भेदसे जो स्त्री वेदादि नोकषाय कर्मोंका उदय होता है उसीके निमित्तसे जीवमें स्त्री पुरुष तथा नपुंसक व्यवहार होता है। इसलिए ये तीनों लिंगभी कषायोंके समान औदयिक भावही हैं।

चारित्रमोहकर्मैतद्द्विविधं परमागमात्।
आद्यं कषायमित्युक्तं नोकषायं द्वितीयकम् ॥ १०७६ ॥

अन्वयार्थः— (एतत् चारित्रमोहकर्म) यह चारित्रमोहनीय कर्म (परमागमात्) परमागमसे

(द्विविधं) दो प्रकारका है उनमेंसे (आद्यं कषायं इति उक्तं) प्रथम भेद कषाय कहलाता है और (द्वितीयकं नोकषायं) दूसरा भेद नोकषाय कहलाता है ।

भावार्थ — कषाय वेदनीय और नोकषाय वेदनीय इस तरह परमागममें चारित्र मोहनीय कर्मके दो भेद माने है । उनमेंसे क्रोधादिकको कषाय वेदनीय कहते है । तथा हास्यादिकको नोकषाय वेदनीय कहते हैं ।

तत्रापि नोकषायाख्यं नवधा स्वविधानतः ।
हास्यो रत्यरती शोको भीर्जुगुप्सा त्रिलिंगकम् ॥ १०७७ ॥

अन्वयार्थः — (तत्रापि) चारित्र मोहके उन दोनों भेदोंमें भी (नोकषायाख्यं) नोकषाय नामक द्वितीय भेद (हास्यं रत्यरती शोको भी. जुगुप्सा त्रिलिंगकं) हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद और नंपुसकवेद इस तरह (स्वविधानतः) अपने अवान्तर भेदोंकी अपेक्षासे (नवधा) नव प्रकारका है ।

भावार्थः— हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद तथा नपुसकवेद इस प्रकार नोकषाय के नव भेद है ।

ततश्चारित्रमोहस्य कर्मणो ह्युदयाद्ध्रुवम् ।
चारित्रस्य गुणस्यापि भावा वैभाविका अमी ॥ १०७८ ॥

अन्वयार्थ.— (ततः) इस लिए सामान्य रूपसे (ध्रुवं) निश्चयपूर्वक उक्त तीनों वेद (चारित्र मोहस्य कर्मणः उदयात्) चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे होते है अतः (अमी) ये तीनों लिग (हि) निश्चय करके (चारित्रस्य गुणस्य अपि) चारित्र गुणकेही (वैभाविकाः भावाः) वैभाविक भाव है ।

भावार्थः— तीनोंही लिंग चारित्रमोह कर्मके अवान्तर भेदके उदयसे ही होते है । इसलिए चारित्र गुणके ही वैभाविक भाव है ।

प्रत्येकं द्विविधान्येव लिंगानीह निसर्गतः ।
द्रव्यभावविभेदाभ्यां सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥ १०७९ ॥

अन्वयार्थः— (सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात्) सर्वज्ञकी आज्ञाके अनुसार (इह) यहांपर (द्रव्यभाववि-

भेदाभ्यां) द्रव्य और भावके भेदसे (प्रत्येकं लिंगानि) प्रत्येक लिंग (निसर्गत-) स्वभावसे (द्विविधानि एव) दो प्रकारके ही होते है ।

भावार्थः— आगमानुसार तीनों ही वेद द्रव्य और भावके भेदसे दो २ प्रकारके है ।

अस्ति यन्नामकर्मैकं नानारूपं च चित्रवत् ।
पौद्गलिकमचिद्रूपं स्यात्पुद्गलविपाकि यत् ॥ १०८० ॥

अन्वयार्थ— (चित्रवत्) चित्रकारकी तरह (यत् एकं नानारूपं च नामकर्म अस्ति) जो एक जीवके नानारूप बनानेवाला नामकर्म है वह (अचिद्रूपं) अचेतनरूप (पौद्गलिकं) पौद्गलिक (स्यात्) है (यत्) जोंकि यह कर्म (पुद्गलविपाकि) पुद्गलविपाकी है ।

भावार्थः— आठ कर्मोंमें चित्रकारके समान नानारूप बनानेवाला एक पौद्गलिक नामकर्म है ।

अंगोपांगं शरीरं च तद्भेदौ स्तोप्यभेदवत् ।
तद्विपाकात्त्रिलिंगानामाकाराः सम्भवन्ति च ॥ १०८१ ॥

अन्वायर्थ— (अभेदवत् अपि) यद्यपि एक दृष्टिसे अभेद है तथापि (अंगोपागं) अंगोपांग (च) और (शरीर) शरीर इस प्रकार (तद्भेदौ स्तः) नाम कर्मके दो भेद है (च) तथा (तद्विपाकात) उन दोनोंके उदयसे (त्रिलिंगानां आकाराः सम्भवन्ति) तीनो लिंगोंके आकार बनते है ।

भावार्थः— नामकर्मके शरीरनामकर्म और अंगोपाग नामकर्म ऐसे दो भेद हैं । उन दोनोंके यथायोग्य उदयसे इन तीनों वेदोंके आकार बनते है ।

त्रिलिंगाकारसम्पत्तिः कार्यं तन्नामकर्मणः ।
नास्ति तद्भावलिंगेषु मनागपि करिष्णुता ॥ १०८२ ॥

अन्वयार्थ— यद्यपि (या त्रिलिंगाकारसम्पत्तिः) जो तीनों लिगोंके आकारकी प्राप्ति है (तत नामकर्मणः कार्यं) वह उस नाम कर्मका कार्य है तथापि (तद्भावलिंगेषु मनाक् अपि करिष्णुता न अस्ति) उस नाम कर्ममें उन भावलिंगोंके विषयोंमें निर्माण करनेकी बिलकुल कार्यकारिता नहीं है-योग्यता नहीं है ।

भावार्थ— यद्यपि लिंगोका आकार शरीर और विवक्षित लिंग नामा अंगोपाग नाम कर्मके कारण होता

है अर्थात् भावलिंगके लिये चारित्र मोहनीय के अन्तर्गत जो स्त्रीवेदादि नोकषाय है वह कारण है। और द्रव्यवेदके लिये नामकर्म कारण है।

भाववेदेषु चारित्रमोहकर्मांशकोदयः।
कारणं नूनमेकं स्यान्नेतरस्योदयः क्वचित् ॥ १०८३ ॥

अन्वयार्थः— (भाववेदेषु) भाव वेदोंमें (चारित्रमोहकर्मांशकोदयः) चारित्रमोह कर्मके अवान्तर भेदरूप वेद कर्मका उदय ही (नूनं) निश्चयसे (एकं कारणं) एक कारण (स्यात्) है (क्वचित् इतरस्य उदय न) किसी भी भाव वेदमें किसी अन्य कर्मका--नामकर्मका उदय कारण नहीं है।

भावार्थ — तीनोंही भाव वेदोंके उदयमें चारित्रमोहके अन्तर्गत स्त्री वेदादिक नोकषायका उदय ही कारण है। अन्य किसी कर्मका—केवल नामकर्मका उदय कारण नहीं है।

रिरंसा द्रव्यनारीणां पुंवेदस्योदयात्किल।
नारी वेदोदयाद्वेदः पुंसां भोगाभिलाषिता ॥ १०८४ ॥
नालं भोगाय नारीणां नापि पुंसामशक्तितः।
अन्तर्दग्धोस्ति यो भावः क्लीबवेदोदयादिति ॥ १०८५ ॥

अन्वयार्थः— (किल) निश्चय करके (पुंवेदस्य उदयात) पुंवेदके उदयसे जो (द्रव्यनारीणां रिरंसा) द्रव्य स्त्रियोंके साथ रमनेकी इच्छा होती है वह पुंवेद कहलाता है और जो (नारीवेदोदयात्) स्त्री वेदके उदयसे (पुंसां भोगाभिलाषिता) पुरुषोंके साथ रमनेकी इच्छा होती है वह (वेदः) स्त्री वेद कहलाता है तथा जो (अशक्तितः) सामर्थ्य न रहनेके कारण (न नारीणां भोगाय अलं) न तो स्त्रियोंसे भोग करनेके लिये समर्थ होता है (अपि) और (न पुंसां) न पुरुषोंसे ही भोग करनेको समर्थ होता है किन्तु सदैव (अन्तर्दग्धः) अन्तरंगमें जलता रहता है ऐसा (यः भाव अस्ति) जो भाव है वह (क्लीबवेदोदयात्) नपुसकवेदके उदयसे होता है।

भावार्थः— पुंवेदके उदयसे जो द्रव्य स्त्रियोंके साथ रमनेकी इच्छा होती है वह भाव पुंवेद कहलाता है। और स्त्रीवेदके उदयसे जो द्रव्य पुरुषोंके साथ रमनेकी इच्छा होती है वह भाव स्त्रीवेद कहलाता है। तथा नपुंसक

वेदके उदयसे जो सदैव स्त्री और पुरुष दोनोंके साथ रमनेकी इच्छा होती है वह भाव नपुंसकवेद कहलाता है। इस नपुंसक वेदके उदयसे स्त्री पुरुष दोनोंमें ही रमनेकी अत्यन्त इच्छा होती है, परन्तु सामर्थ्य न होनेसे वह नपुंसक उन दोनोंमेंसे किसीके भी साथ भोग नहीं भोग सकता है। किन्तु सदैव अन्तरंगमें ही जला करता है।

इस प्रकार द्रव्य और भाव वेदका स्वरूप बताकरके अब आगे यह बताते हैं कि बहुधा तो जो द्रव्यलिंग होता हैं वही भावलिंग होता है। परन्तु कहीं कहीं पर द्रव्यलिंग अन्य तथा भावलिंग अन्य भी हो सक्ता है।

द्रव्यलिंगं यथा नाम भावलिंगं तथा क्वचित्।
क्वचिदन्यतमं द्रव्यं भावश्चान्यतमो भवेत् ॥ १०८६ ॥

अन्वयार्थः— (क्वचित्) कहीं२ पर (यथा) जैसा (द्रव्यलिंगं) द्रव्यलिंग होता है (तथा) वैसा ही (भावलिंगं नाम) भावलिंग होता है परन्तु (क्वचित्) कहीं २ पर (द्रव्यं अन्यतमं) द्रव्य-लिंग दूसरा होता है (च) और (भाव. अन्यतमः भवेत्) भावलिंग दूसरा होता है।

भावार्थ— कहीं २ पर द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनों ही समान होते है। तथा कहीं २ पर दोनों ही विषम होते है अर्थात् द्रव्यलिंग दूसरा होता है और भावलिंग दूसरा होता है।

अब आगे-पूर्वोक्त अर्थका ही खुलासा करते है

यथा दिविजनारीणां नारीवेदोस्ति नेतरः।
देवानां चापि सर्वेषां पाकः पुंवेद एव हि ॥ १०८७ ॥

अन्वयार्थ— (यथा) जैसे (हि) निश्चय करके (दिविजनारीणां) सम्पूर्ण देवांगनाओंके (नारीवेद. अस्ति इतरः न) स्त्रीवेदका उदय रहता है अन्यका नहीं ('तथा') वैसे ही (सर्वेषां देवानां अपिच) सम्पूर्ण देवोंके भी (पुंवेद एव पाक.) पुंवेदका ही उदय रहता है इतर का नहीं।

भावार्थः— जैसे देवागणाओंके द्रव्य स्त्री वेदके साथ २ सदैव भाव स्त्री वेदका ही उदय रहता है। वैसे ही देवोंके द्रव्य पुरुष वेदके साथ २ सदैव भाव पुरुष वेदका ही उदय रहता है अन्यका नहीं।

भोगभूमौ च नारीणां नारीवेदो नचेतरः।
पुंवेदः केवलः पुंसां नान्यो वाऽन्योन्यसंभवः ॥ १०८८ ॥

अन्वयार्थ.— (भोगभूमौ नारीणां नारीवेदः) भोगभूमीमें स्त्रियोंके स्त्रीवेद, होता है (इतरं न) दूसरा वेद नहीं। (पुंसां केवल पुंवेदः) पुरुषोंके केवल पुंवेद ही होता है दूसरा नहीं। (अन्योन्य-संभव न) स्त्रीवेद वालेके पुंवेद अथवा पुंवेद वालेके कभी स्त्रीवेद नहीं होता है।

भावार्थ.— देव और देवीओंके समान भोगभूमियोंके भी द्रव्य और भाव वेदमें फरक नहीं पडता है।

नारकाणां च सर्वेषां वेदश्चैको नपुंसकः ।
द्रव्यतो भावतश्चापि न स्त्रीवेदो न वा पुमान् ॥ १०८९ ॥

अन्वयार्थः— (सर्वेषां नारकाणां च) सम्पूर्ण नारकियोंके भी (द्रव्यतः भावतः) द्रव्य और भाव दोनोंमेंसे (एकः नपुंसकवेदश्च) एक नपुंसक वेद ही होता है किन्तु उनके (न स्त्रीवेदः) न तो स्त्रीवेद होता है (अपि च) और (नवा पुमान्) न पुंवेद ही होता है।

भावार्थः— सम्पूर्ण नारकियोंके सदैव द्रव्य और भाव दोनोंकी अपेक्षासे केवल नपुंसक वेद ही होता है।

तिर्यग्जातौ च सर्वेषां एकाक्षाणां नपुंसकः ।
वेदो विकलत्रयाणां क्लीवः स्यात केवलः किल ॥ १०९० ॥
पञ्चाक्षासंज्ञिनां चापि तिरश्चां स्यान्नपुंसकः ।
द्रव्यतो भावतश्चापि वेदो नान्यः कदाचन ॥ १०९१ ॥

अन्वयार्थ.— (तिर्यग्जातौ च) तिर्यंच जातिमें भी (किल) निश्चय करके (द्रव्यतः अपि च भावतः) द्रव्य और भाव दोनोंकी अपेक्षासे (सर्वेषां एकाक्षाणां) सम्पूर्ण एकेंद्रियोंके (केवलं नपुंसकः वेदः) केवल एक नपुंसक वेद होता है (विकलत्रयाणां क्लीवः वेदः स्यात) विकलत्रयोंके केवल एक नपुंसकवेद होता है (च) और (पञ्चाक्षासंज्ञिनां तिरश्चां अपि द्वीन्द्रियादि असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके भी (नपुंसकः स्यात्) केवल एक नपुंसक वेद होता है (अन्य वेद कदाचन न) अन्य दूसरा वेद कभी भी होता नहीं है।

भावार्थः— सम्पूर्ण एकेंद्रियोंके, विकलेंद्रियोंके और असंज्ञीपंचेंद्रियोंके भी द्रव्य और भाव दोनोंकी अपेक्षासे केवल एक नपुंसक वेद होता है।

कर्मभूमौ मनुष्याणां मानुषीणां तथैव च।
तिरश्चां वा तिरश्चीनां त्रयो वेदास्तथोदयात् ॥ १०९२ ॥

अन्वयार्थः— (**कर्मभूमौ**) कर्मभूमिमें (**मनुष्याणां**) मनुष्योंके (**च**) और (**मानुषीणां**) स्त्रियोंके (**तथैव**) तथा (**तिरश्चां**) तिर्यंचोंके (**वा**) और (**तिरश्चीनां**) तिर्यंचिनीयोंके (**तथोदयात् त्रयोवेद**) अपने २ उदयानुसार तीनों वेद हो सकते हैं।

भावार्थ — कर्मभूमिया मनुष्य और तिर्यंचोंके द्रव्यवेदके अनुसार भाववेदके होनेका नियम न होनेसे द्रव्य स्त्री, पुरुष तथा नपुंसकोंके भिन्न २ कालमें अपने २ उदयानुसार तीनों ही वेद हो सकते हैं।

केषांचिद्द्रव्यतः सांगः पुंवेदो भावतः पुनः।
स्त्रीवेदः क्लीबवेदो वा पुंवेदो वा त्रिधापि च ॥ १०९३ ॥

अन्वयार्थ— (**केषांचित्**) किन्ही २ के (**द्रव्यत सांगः पुंवेदः**) द्रव्यकी अपेक्षासे शरीरानुसार पुंवेद होता है (**पुनः**) और (**भावतः**) भावकी अपेक्षासे (**स्त्रीवेदः**) स्त्रीवेद (**क्लीबवेदः**) नपुसक वेद (**वा**) तथा (**पुंवेदः वा**) पुंवेद भी हो सकता है (**च**) और एक ही पर्यायमें किसी २ के भिन्न २ कालमें (**त्रिधा अपि**) तीनों भी हो सकते है।

भावार्थः— किन्हीं २ स्त्री पुरुषोंके द्रव्यरूपसे स्त्री लिंगादिकके रहनेपर भी भाववेदरूपसे दूसरे २ भी लिंगोंका उदय रह सकता है। और किसी २ के एक ही पर्यायमें तीनों भी भावलिंगोंका उदय रह सकता है।

केषांचित्क्लीबवेदो वा द्रव्यतो भावतः पुनः।
पुंवेदो क्लीबवेदो वा स्त्रीवेदो वा त्रिधोचितः ॥ १०९४ ॥

अन्वयार्थः—(**केषांचित्**) किन्हीं २ के (**द्रव्यत**) द्रव्यसे (**क्लीबवेदः**) नपुसकवेद होता है (**पुनः**) और (**भावतः**) भावसे (**पुंवेदः**) पुंवेद (**वा**) अथवा (**क्लीबवेदः**) नपुंसकवेद (**वा**) अथवा (**स्त्रीवेदः**) स्त्रीवेद भी हो सकता है (**वा**) अथवा भिन्न भिन्न कालमें एक ही जीवके (**उचितः त्रिधा**) यथोचित तीनों भी वेद हो सकते है।

भावार्थः— किन्ही २ जीवोंके द्रव्यसे तो नपुंसकवेद होता है। परन्तु भावसे यथायोग्य पुरुष, स्त्री और नपुंसक इस प्रकार तीनो ही वेद पाए जाते हैं।

कश्चिदापर्ययन्यात्क्रमादस्ति त्रिवेदवान् ।
कदाचित्क्लीबवेदो वा स्त्री वा भावात् क्वचित् पुमान् ॥ १०९५ ॥

अन्वयार्थः— (कश्चित्) कोई २ तो (आपर्ययन्यायात्) पर्याय न्यायतक--जबतक जीवित है तनतक अर्थात एक ही पर्यायमें (कदाचित) किसी समय (भावात्) भावसे (क्लीबवेदः) नपुंसक वेद (वा) अथवा (स्त्री) स्त्रीवेद (वा) अथवा (क्वचित् पुमान्) कभी २ पुंवेद इस प्रकार (क्रमात्) क्रमसे (त्रिवेदवान् अस्ति) तीनों ही वेदवाला होजाता है ।

भावार्थ — किसी २ के तो एक पर्यायमें ही तीनों ही भाववेदोंका उदय हो जाता है ।

त्रयोऽपि भाववेदास्ते नैरन्तर्योदयात्किल ।
नित्यंचाबुद्धिपूर्वाःस्युः क्वचिद्वै बुद्धिपूर्वकाः ॥ १०९६ ॥

अन्वयार्थः— (किल) निश्चयकरके (ते त्रयः अपि भाववेदा) वे तीनों ही भाववेद (नैर–न्तर्योदयात्) निरन्तर कर्मोंके उदयके कारण होते है अर्थात् भाववेदोंका उदय निरन्तर रहता है इस लिए वे (वै) निश्चयकरके (नित्यं) नित्य (च) और (अबुद्धिपूर्वा. स्यु) अबुद्धिपूर्वक होते है तथा (क्वचित् बुद्धिपूर्वकाः) कहींपर बुद्धिपूर्वक होते है ।

भावार्थ.— यद्यपि तीनों ही भाववेद निरन्तर उदयात्मक होनेसे प्राय सदैव अबुद्धिपूर्वक होते है अर्थात् उनका उदय सदैव रहता हैं । इस लिए उनके कारण पुरुषादिकोंके स्त्री आदिके साथ रिरंसारूप जो उन भाववेदोंका कार्य है वह सदैव व्यक्त नहीं होता है । परन्तु वेदकी उदीरणा होनेपर वे तीनों ही भाववेद बुद्धिपूर्वक होते है अर्थात् उनका उदय व्यक्तरूपसे प्रतीत होता है ।

तेऽपि चारित्रमोहान्तर्भाविनो बन्धहेतवः ।
संक्लेशांगैकरूपत्वात केवलं पापकर्मणाम् ॥ १०९७ ॥

अन्वयार्थः— (संक्लेशांगैकरूपत्वात) सक्लेशके एक अंगरूप होनेसे (चारित्रमोहान्तर्भाविनः) चारित्रमोहमें गर्भित होनेवाले (ते अपि) वे भावभेद भी (केवलं पापकर्मणां बन्धहेतवः) केवल पापक-र्मोंके ही बन्धके कारण है ।

भावार्थः— मोहके उदयात्मक विकार संक्लेशरूप होनेसे केवल पापकर्मोंके बन्धके कारण होते है इस नियम के अनुसार ये तीनो भाववेद भी चारित्रमोहके ही अवान्तर भेद है । तथा संक्लेशरूप होनेसे पापबन्धके ही कारण है ।

द्रव्यलिंगाणि सर्वाणि नात्रबन्धस्य हेतवः ।
देहमात्रैकवृत्तत्वे बन्धस्याऽकारणात्स्वतः ॥ १०९८ ॥

अन्वयार्थः— (अत्र) तीनों लिंगोंमेंसे जो (सर्वाणि द्रव्यलिंगानि) द्रव्यलिंग है वे (बन्धस्य हेतवः न) बन्धके कारण नहीं है क्योंकि वे (देहमात्रैकवृत्तत्वे) केवल देहसे ही सम्बन्ध रखते है इस लिए (स्वतः) स्वयं (बन्धस्य अकारणात्) बन्धके कारण नहीं हो सकते है ।

भावार्थ — द्रव्य और भावके भेदसे लिंग [वेद] दो प्रकारके है । उनमेंसे जो भाववेद है वे तो संक्लेशात्मक होनेसे बन्धके कारण है । परन्तु जो द्रव्यवेद है वे केवल शरीरकी अवयव रचनामात्रसे ही सम्बन्ध रखते है अतः वे द्रव्यवेद बन्धके कारण नहीं हो सकते है ।

मिथ्यादर्शनमाख्यातं पाकान्मिथ्यात्वकर्मणः ।
भावो जीवस्य मिथ्यात्वं स स्यादौदयिकः किलः ॥ १०९९ ॥

अन्वयार्थः— (मिथ्यात्वकर्मणः पाकात् मिथ्यादर्शन आख्यातं) मिथ्यात्व कर्मके उदयसे होनेवाले मिथ्यात्वकर्मका वर्णन किया । यह मिथ्यात्व मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होता है इस लिए (स जीवस्य मिथ्यात्व किल औदयिकः भाव. स्यात्) मिथ्यात्व भाव भी जीवका औदयिक भाव है ।

अस्ति जीवस्य सम्यक्त्वं गुणश्चैको निसर्गजः ।
मिथ्याकर्मोदयात्सोपि वैकृतो विकृताकृतिः ॥ ११०० ॥

अन्वयार्थः— (जीवस्य) जीवका (सम्यक्त्वं च) सम्यक्त्व भी (एक निसर्गज गुण अस्ति) एक स्वाभाविक गुण है (अपि) और (स.) वह (मिथ्याकर्मोदयात्) मिथ्यात्व कर्मोंके उदयसे (वैकृत 'सन्' विकृताकृतिः 'अस्ति') विकृत होकर मिथ्यादर्शन रूप विकृत आकृतिमें परिणत हो रहा है ।

भावार्थ — जीवका, सम्यक्त्व एक स्वाभाविक गुण है । परन्तु वह मिथ्यात्वकर्मके उदयसे विकृत होकर

मिथ्यादर्शन रूपमें पाया जाता है। अतः मिथ्यादर्शन औदयिक भाव कहलाता है।

उक्तमस्ति स्वरूपं प्राग्मिथ्याभावस्य जन्मिनाम् ।
तस्मान्नोक्तं मनागत्र पुनरुक्तभयात्किल ॥ ११०१ ॥

अन्वयार्थः— (जन्मिनां) संसारी जीवोंके (मिथ्याभावस्य) इस मिथ्याभावका (स्वरूपं) स्वरूप (प्राक् उक्तं अस्ति) पहले कह चुके हैं (तस्मात्) इस लिए (अत्र) यहांपर (किल) निश्चयसे (पुनरुक्तभयात्) केवल पुनरुक्त दोषके भयसे (मनाक् न उक्तं) कुछ भी नहीं कहा है ।

भावार्थः— मिथ्यादर्शनके विषयमें विशेष रूपसे पहले वर्णन किया जा चुका है। इस लिये पुनरुक्ति नामक दोषके भयसे यहांपर उसका विशेष वर्णन नहीं किया गया है।

अज्ञानं जीवभावो यः स स्यादौदयिकः स्फुटम् ।
लब्धजन्मोदयाद्यस्माज्ज्ञानावरणकर्मणः ॥ ११०२ ॥

अन्वयार्थः— (यः) जो (अज्ञानं जीवभावः) अज्ञान नामक जीवका भाव है (सः) वह भी (स्फुटं) निश्चय करके (औदयिकः स्यात्) औदयिक है (यस्मात्) क्योंकि (ज्ञानावरणकर्मणः उदयात्) ज्ञानावरण कर्मके उदयसे वह (लब्धजन्मा) लाभ किया है जन्म जिसने ऐसा अर्थात् उत्पन्न होता है।

भावार्थः— ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाला जीवका अज्ञान भावभी औदयिक भाव है।

अस्त्यात्मनो गुणो ज्ञानं स्वापूर्वार्थावभासकम् ।
मूर्छितं मृतकं वा स्याद्वपुः स्वावरणोदयात ॥ ११०३ ॥

अन्वयार्थः— (स्वापूर्वार्थावभासकं) स्व और अपूर्व अर्थका प्रकाशक (आत्मनःज्ञानं गुणः अस्ति) आत्माका एक ज्ञानगुण है परन्तु वह (स्वावरणोदयात) अपने २ आवरणके उदयसे (मृतकं वपु वा) मृतक शरीरकी तरह (मूर्छित स्यात्) मूर्छित रहता है ।

भावार्थ—युगपत् स्व और परका प्रकाशन करनेवाला आत्माका एक ज्ञान नामा गुण है। परन्तु ज्ञानावरण कर्मके उदयसे मूर्छित होकर मृतक शरीरके समान जो वह निश्चेष्ट रहता है उसीका नाम अज्ञान भाव है।

अर्थादौदयिकत्वेऽपि भावस्यास्याऽप्यवश्यतः ।
ज्ञानावृत्यादिबन्धेऽस्मिन् कार्ये वै स्यादहेतुता ॥ ११०४ ॥

अन्वयार्थ.— यद्यपि (अर्थात्) वास्तवमें (अस्य भावस्य अपि) इस भावमें भी (अवश्यतः औदयिकत्वे अपि) नियमसे औदयिकपना है तथापि इसको (वै) निश्चयकरके (अस्मिन् ज्ञानावृत्यादि बन्धेकार्ये) ज्ञानावरणादिकके आस्रवपूर्वक होनेवाले इस बन्धरूप कार्यमें (अहेतुता स्यात्) अकारणता है ।

भावार्थ — यद्यपि यह अज्ञान भाव भी औदयिक है । और मिथ्यात्वादि औदयिक भावोंके निमित्तसे आत्माके नवीन कर्मोंका बन्ध भी होता है तथापि यह अज्ञानभाव ज्ञानावरणादिक कर्मोंके बन्धमें कारण नहीं होता है ।

नापि संक्लेशरूपोऽयं यः स्याद्बन्धस्य कारणम् ।
यः क्लेशो दुःखमूर्तिः स्यात्तद्योगादस्ति क्लेशवान् ॥ ११०५ ॥

अन्वयार्थः— (अयं संक्लेशरूप अपि न) यह अज्ञान भाव कषायादिककी तरह संक्लेशरूप भी नहीं है (यः बन्धस्य कारणं स्यात्) जो कि बन्धका कारण माना जाता है और (यः क्लेशः दुःखमूर्तिः स्यात्) जो संक्लेशरूप होकर दुःखकी मूर्ति कहलाता है-समझा जाता है (तत् योगात्) उसके सम्बन्धसे ही आत्मा (क्लेशवान् अस्ति) क्लेशवान है ।

भावार्थः— मोह कर्मके उदयके समान ज्ञानावरण कर्मका उदय संक्लेशात्मक नही है । और सक्लेशात्मक न होनेसे ही यह बन्धका कारण नहीं माना गया है । क्यों कि केवल मोहकर्मके उदयको संक्लेशात्मक माना है । तथा उसके ही कारण यह आत्मा संक्लेशवान कहा जाता है ।

दुःखमूर्तिश्च भावोऽयमज्ञानात्मा निसर्गतः ।
वज्राघात इव ख्यातः कर्मणामुदयो यतः ॥ ११०६ ॥

अन्वयार्थ— तथापि (अयं अज्ञानात्मा भाव) यह अज्ञानरूप औदायिक-भाव (निसर्गतः) स्वभावसे (दुःखमूर्तिश्च) दुःखकी मूर्ति ही है (यतः) क्योंकि (कर्मणां उदयः वज्राघात इव ख्यातः) सम्पूर्ण

कर्मोंका उदय वज्राघातकी तरह दुःखदायी प्रसिद्ध है।

भावार्थः— ग्रन्थकार कहते हैं कि अज्ञान भावमें संक्लेशकी संभावना न होनेके कारण ज्ञानावरणादिकके निमित्तसे आत्माके दुःख ही नहीं होता होगा ऐसा नहीं मानना चाहिये। क्यों कि प्रत्येक कर्मके उदयको दुःखदायी माना है। इस लिए अज्ञान भाव भी दुःखदायी है अर्थात् अज्ञानभाव बन्धका हेतु नहीं होता है एतावता यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वह अज्ञानभाव दुःखमयी नहीं है। किन्तु अवश्य ही दुःखमय है।

नन्ु कश्चिद्गुणोप्यस्ति सुखं ज्ञानगुणादिवत्।
दुःखं तद्वैकृतं पाकात्तद्विपक्षस्य कर्मणः ॥ ११०७ ॥
तत्कथं मूर्छितं ज्ञानं दुःखमेकान्ततो मतम्।
सूत्रं द्रव्याश्रयाः प्रोक्ता यस्माद्वै निर्गुणा गुणाः ॥ ११०८ ॥
न ज्ञानादिगुणेषूच्चैरस्ति कश्चिद्गुणः सुखम्।
मिथ्याभावाः कषायाश्च दुःखमित्यादयः कथम् ॥ ११०९ ॥

अन्वयार्थ— (ननु) शंकाकारका कहना है कि जब (ज्ञानगुणादिवत्) ज्ञानादिक गुणोंकी तरह (सुखं आदि कश्चित् गुणः अस्ति) सुख भी आत्माका एक पृथक् गुण है और (तद्विपक्षस्य कर्मणः पाकात्) उस सुख गुणके घातक [वेदनीय] कर्मके उदयसे जो वह सुख (वैकृत) विकृत अवस्थाको प्राप्त हो जाता है (तत् दुःखं) वह दुःख कहलाता है (तत् कथं) तो फिर क्यों (एकान्ततः) एकान्तसे (मूर्छितं ज्ञानं दुःखं मतं) मूर्छित ज्ञानको ही दुःख माना है (यस्मात्) क्यों कि (वै) निश्चय करके (द्रव्याश्रयाः निर्गुणाः गुणाः प्रोक्ताः ' इति ' सूत्रं) जो द्रव्यके आश्रित और स्वयं निर्गुण होते हैं वे गुण कहलाते हैं ऐसा सूत्र है—सूत्रकारने कहा है अतः जब (उच्चैः) यथार्थमें (ज्ञानादि गुणेषु) ज्ञानादिक गुणोंमें (कश्चित् सुखं गुणः न अस्ति) कोई सुख नामका गुण नहीं रह सकता है तो फिर (कथं) किस तरह (मिथ्याभावाः) मिथ्याभाव (च) और (कषायाः आदयः) कषाय आदिक (दुःखं इति) दुःख कहे जाते हैं।

भावार्थ — इन तीन पद्यो द्वारा शंकाकारका कहना है कि ज्ञानादिकके समान सुख भी एक आत्मीक गुण है। और वह अपने विपक्षी वेदनीय कर्मके उदयसे विकृत होकर दुःख कहलाता है। इस लिए ज्ञानादिकमें सुख नहीं रह सकता है। क्यों कि आगम प्रमाणसे गुणमें गुणका रहना निषिद्ध माना है। और जब ज्ञानादिकमें सुखका सद्भाव ही सिद्ध नहीं हो सकता है तो फिर ज्ञानादिकके उल्टे अज्ञानादिकमें तथा सम्यक्त्वादिकके उल्टे मिथ्यात्वादिकमें दुःख भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

सत्यं चास्ति सुखं जन्तो गुंणो ज्ञानगुणादिवत्।
भवेत्तद्वैकृतं दुःखं हेतोः कर्माष्टकोदयात् ॥ ११११० ॥

अन्वयार्थः—(सत्य) ठीक है कारण कि (ज्ञानगुणादिवत्) ज्ञानादिक गुणोंकी तरह (जन्तोः) जीवका (सुख च गुणः अस्ति) सुख भी एक गुण है परन्तु (तत्) वह (कर्माष्टकोदयात् हेतो.) आठों कर्मोंके उदय रूप हेतुसे (वैकृतं ' सत् ' दुःखं भवेत्) विकृत होकर दुःख कहलाता है।

भावार्थ.— ज्ञानादिकके समान सुख भी आत्माका एक गुण है। परन्तु उस सुख गुणका प्रतिपक्षी कोई एक कर्म नहीं है। किन्तु आठों कर्मोंका उदय मात्र उसका प्रतिपक्षी है। इसी लिए आत्मा के मिथ्यात्व अज्ञानादिक भावोंको दुःख मूर्ति कहा है। तथा ऐसा माननेसे गुणोंमें गुणों के सद्भावके प्रसंगका भी निवारण हो जाता है।

अस्ति शक्तिश्च सर्वेषां कर्मणामुदयात्मिका।
सामान्याख्या विशेषाख्या द्वैविध्यात्तद्रसस्य च ॥ ११११ ॥

अन्वयार्थ — (तद्रसस्य द्वैविध्यात्) उन कर्मोंके रसमें द्वैविध्य होनेसे (सर्वेषां कर्मणां च) उन सब कर्मोंमें भी (सामान्याख्या) सामान्य नामक (च) और (विशेषाख्या) विशेष नामक इस तरह दो प्रकारकी (उदयात्मिका शक्तिः अस्ति) उदयात्मक शक्ति पाई जाती है।

भावार्थ.— कर्मोंके रसमें सामान्य और विशेष इस तरह दो प्रकारकी शक्ति है। इस लिए सम्पूर्ण कर्मोंके उदयमें सामान्यात्मक तथा विशेषात्मक इस तरह दो प्रकारकी शक्तिया है।

सामान्याख्याः यथा कृत्स्नकर्मणामेकलक्षणात्।
जीवस्याकुलतायाः स्याद्धेतुः पाकागतो रसः ॥ १११२ ॥

अन्वयार्थः— (यथा) जैसे कि (एक लक्षणात्) एक लक्षणकी दृष्टिसे जो (कृत्स्नकर्मणां पाकागतः रसः) सम्पूर्ण कर्मोंका उदयागत रस (जीवस्य आकुलतायाः हेतुः स्यात्) जीवकी आकुलताका कारण है वही (सामान्याख्या) कर्मोंकी सामान्य शक्ति है।

भावार्थ— सामान्य और विशेष रूपसे कही जानेवाली कर्मशक्तिको उदाहरण देकर दिखाते हैं कि जो सामान्यपनेसे सब कर्मोंका उदय जीवकी आकुलताका हेतु होता है वही कर्मोंकी सामान्यशक्ति है। और इसी दृष्टिसे सुखगुणके घातक आठों ही कर्म माने गये हैं। अतः मिथ्यात्वादिकभाव दुःखमय तथा सम्यक्त्वादिकभाव सुखमय कहे जाते हैं। इस प्रकार सामान्यात्मक कथनसे गुणोंमें गुणोंके सद्भावका प्रसंग नहीं आसकता है।

न चैतदप्रसिद्धं स्याद् दृष्टान्ताद्विषभक्षणात्।
दुःखस्य प्राणघातस्य कार्यद्वैतस्य दर्शनात् ॥ १११३ ॥

अन्वयार्थः— (दृष्टान्तात्) दृष्टान्तसे भी (एतत् अप्रसिद्धं न च स्यात्) यह कथन असिद्ध नहीं है क्यों कि (विषभक्षणात्) विषके खानेसे (दुःखस्य प्राणघातस्य) दुःख और प्राणघातरूप (कार्यद्वैतस्य) दो प्रकारके कार्य (दर्शनात्) देखे जाते हैं।

भावार्थः— जिस प्रकार दुःख सामान्य है और प्राणघात यह दुःखका विशेष रूप है। किन्तु एक विषभक्षणसे ही ये दोनों कार्य देखे जाते हैं। उसी प्रकार सामान्य दृष्टिसे कर्ममात्रके उदयसे आत्मामें किसी न किसी प्रकार की आकुलता पाई जाती है। क्यों कि कर्मोंमें सामान्य और विशेष दोनों प्रकारकी गुणोंको घातने की शक्तियां पाई जाती हैं। सामान्य शक्तिसे आठों कर्म सुख गुणके घातक हैं। और अपनी २ ज्ञानादिकको आवरण करनेरूप विशेष २ शक्तिके द्वारा ज्ञानावरणादिक कर्म ज्ञानादिक विशेष २ गुणोंके घातक हैं।

अब आगे इसी अर्थका खुलासा करते हैं

कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च।
अस्ति किंचिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक् ॥ १११४ ॥

अन्वयार्थः— (ततः) इस लिए (सुखस्य एक गुणस्य) आत्माके सुखनामा एक विशेष गुणके (कर्माष्टकं विपक्षि स्यात्) आठों ही कर्म विपक्षी हैं--घातक हैं किन्तु (तद्विपक्षं) उस सुख गुणका विपक्षी-घातक (पृथक्) भिन्न (किंचित् एकंकर्म न च अस्ति) कोई एक कर्म नहीं है।

भावार्थ — आठों ही कर्म सुख गुणके घातक है । कोई एक कर्म सुख गुणका घातक नहीं है ।

वेदनीयं हि कर्मैकमस्ति चेत्तद्विपक्षि च ।
न यतोऽस्यास्त्यघातित्वं प्रसिद्धं परमागमात् ॥ १११५ ॥

अन्वयार्थः— (हि) निश्चयकरके (तद्विपक्षि) उस सुख गुणका घातक (एक वेदनीय कर्म अस्ति) एक वेदनीय कर्म ही है (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो यह कहना भी (न च) ठीक नहीं है (यतः) क्योंकि (परमागमात्) परमागमसे (अस्य) इस वेदनीय कर्मको (अघातित्वं) अघातियापना (प्रसिद्धं अस्ति) प्रसिद्ध है अर्थात् आगममें इस कर्मको अघातिया माना है ।

भावार्थः— वेदनीय कर्म अघातिया होनेके कारण स्वतन्त्ररूपसे सुख गुणका घातक नहीं है । यदि कदाचित् कहा जाय कि सुख और दुख दोनों वेदनीय कर्मके निमित्तसे ही होते है ' इस लिए सुख गुणके घातक आठों कर्म न मानकर केवल एक वेदनीय कर्मको ही सुख गुणका घातक मानना चाहिए तो यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि सुख आत्माका अनुजीवी गुण है । तथा वेदनीय कर्म अघातिया है । इस लिए वह स्वतंत्ररूपसेआत्माके अनुजीवी सुखगुणका घातक नहीं होसकता है । कारण की अनुजीवी गुणोंके घातक घातिया कर्मही होते है । केवल अघातिया नहीं ।

असंयतत्वमस्यास्ति भावोप्यौदयिको यतः ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य कर्मणो लब्धजन्मवान् ॥ १११६ ॥

अन्वयार्थः— (अस्य) जीवका (असंयतत्वं अपि औदयिकः भावः अस्ति) असंयतत्व भी औदयिक भाव है (यतः) क्योंकि उक्त असंयतत्व भाव (चारित्रमोहस्य कर्मणः पाकात् लब्धजन्मवान् भवति) चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न होता है ।

भावार्थः— चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होनेके कारण असंयतत्व भावभी औदयिक भाव है ।

संयमः क्रियया द्वेधा व्यासाद्द्वादशधाऽथवा ।
शुद्धस्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च ॥ १११७ ॥

अन्वयार्थः—(संयम) संयम (क्रियया) क्रियाकी अपेक्षासे (द्वेधा) दो प्रकारका (अथवा)

अथवा (व्यासात्) उत्तरोत्तर विस्तारकी अपेक्षासे (द्वादशधा) बारह प्रकारका है (च) और (निष्क्रियस्य आत्मनः) निष्क्रिय आत्माके (शुद्धस्वात्मोपलब्धिः संयमः स्यात्) शुद्ध स्वात्माकी उपलब्धि ही संयम कहलाता है ।

भावार्थ — व्यवहारनयसे अशुभ क्रियाओंसे निवृत्त होना-दूर होना संयम कहलाता है । वह संयम दो प्रकारका है १ इन्द्रिय संयम २ प्राण संयम । इन्द्रिय संयमके पांच इन्द्रियों और मनके विषयोंसे निवृत्तिरूप छह भेद हो जाते है । तथा पाच प्रकारके स्थावर और त्रसकायकी हिंसाकी निवृत्तिके भेदसे प्राण संयमके भी छह भेद हो जाते है । इस प्रकारसे संयम दो प्रकारका अथवा बारह प्रकारका भी कहलाता है । निश्चयनयसे शुद्ध आत्माकी उपलब्धि को संयम कहते है । इसीको आगे स्पष्ट करते है ।

पंचानामिन्द्रियाणांच मनसश्च निरोधनात् ।
स्यादिन्द्रियनिरोधाख्यः संयमः प्रथमो मतः ॥ १११८ ॥

अन्वयार्थ — (पचानां इन्द्रियाणां) पाचों इन्द्रियोंके (च) और (मनसश्च) मनके भी (निरोधनात्) रोकनेसे (इन्द्रियनिरोधाख्य प्रथमो संयमः मतः स्यात्) इन्द्रिय निरोधनामक पहला संयम माना गया है ।

भावार्थ — पाचों इन्द्रियोंके और मनके व्यापारोंकी निवृत्तिको इन्द्रिय संयम कहते है ।

स्थावराणां च पंचानां त्रसस्यापि च रक्षणात् ।
असुसंरक्षणाख्यः स्याद्द्वितीयः प्राणसंयमः ॥ १११९ ॥

अन्वयार्थः—(पंचानां स्थावराणा) पांचों स्थावरोंकी (च) और (त्रसस्यापि च) त्रसकायकी भी (रक्षणात्) रक्षा करनेसे (असुसंरक्षणाख्य) प्राण रक्षणनामक (द्वितीयः प्राण सयम. स्यात्) दूसरा प्राण सयम होता है ।

भावार्थ — षट्कायके जीवोंकी हिंसाके दूर करनेको प्राण संयम कहते है । इस प्रकार क्रियाके भेदसे दो प्रकारका सयम माना गया है ।

शंका—

ननु किं नु निरोधित्वमक्षाणां मनसस्तथा ।
संरक्षणं च किन्नाम स्थावराणां त्रसस्य च ॥ ११२० ॥

अन्वयार्थः— (**ननु**) शंकाकारका कहना है कि (**अक्षाणां**) इन्द्रियोंका (**तथा**) और (**मनस**) मनका (**निरोधत्वं**) रोकना (**किं नु**) क्या है ? (**च**) तथा (**स्थावराणां**) स्थावरोंकी (**च**) और (**त्रसस्य**) त्रसों की (**संरक्षणं किन्नाम**) रक्षा भी क्या कहलाती है ।

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि इन्द्रिय और मनका निरोध तथा त्रस स्थावरकी रक्षासे क्या प्रयोजन है ।

समाधान—

सत्यमक्षार्थसम्बन्धाज्ज्ञानं नासंयमाय यत् ।
तत्र रागादिबुद्धिर्या संयमस्तन्निरोधनम् ॥११२१॥

अन्वयार्थः—(**सत्यं**) शंकाकारका उपर्युक्त कथन ठीक है क्यों कि (**यत्**) जो (**अक्षार्थ सम्बन्धात्**) इन्द्रियोंके द्वारा अर्थका विषय करनेसे (**ज्ञानं**) ज्ञान (' **भवति** ') होता है वह ज्ञान (**असंयमाय न**) असंयमजनक नहीं होता है किन्तु (**तत्र**) उन विषयोंमें (**या रागादिबुद्धिः**) जो रागादि बुद्धि उत्पन्न होती थी (**तन्निरोधनं**) उसे न होने देना ही (**संयमः**) इन्द्रिय संयम है ।

भावार्थ —– ठीक है इन्द्रियज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है एतावता इसे असंयम नहीं कहते है । क्यो कि इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको जानना यह तो विकाश है विकार नहीं है किन्तु इन्द्रियोंके विषयोंमें रागादि बुद्धि कर ज्ञानका रागवान् तथा द्वेषवान् होना ही असंयम है ? और उन विषयोंमें रागादि बुद्धि उत्पन्न न होने देना ही सयम है ।

त्रसस्थावरजीवानां न वधायोद्यतं मनः ।
न वचो न वपुः क्वापि प्राणिसंरक्षणं स्मृतम् ॥ ११२२ ॥

अन्वयार्थः— और (**त्रसस्थावरजीवानां** ' **मध्ये** ') त्रस तथा स्थावर जीवोंमेसे (**क्वापि**) किसीके भी (**वधाय**) वधके लिये जो (**उद्यतं न मनः**) उद्यत न मन हो (**न वचः**) न वचन हो और (**न वपुः**) न शरीर भी हो वह (**प्राणिसंरक्षणं स्मृतं**) वह प्राणि सयम है ।

भावार्थः— त्रस स्थावर जीवोंके लिये मनवचन और कायका उद्यत न होना प्राण संयम कहलाता है ।

इत्युक्तलक्षणो यत्र संयमो नापि लेशतः ।
असयतत्वं तन्नाम भावोऽस्त्यौदयिकः स च ॥ ११२३ ॥

अन्वयार्थ— (इति) इस प्रकार (यत्र) जिस अवस्थामें (उक्तलक्षणः) पूर्वोक्त लक्षणवाल (संयम.) संयम (लेशानः अपि न) अंशमात्र भी न हो (तत् असंयतत्वं नाम) यह असंयतत्व भाव है (च) और (सः) वह असंयतत्वभाव पांचों भावोंमेंसे (औदयिकः भाव. अस्ति) औदयिक भाव है।

भावार्थः— पहले छह श्लोकोंमे इन्द्रिय संयम और प्राणसंयम रूपसे दो प्रकारका संयम मयव्याख्याके कहा गया है। और वह संयमभाव क्षायोपशमिक औपशमिक तथा क्षायिकभाव रूप होता है। और उसके प्रतिपक्षी कषायोंके उदयसे उक्त सयमका न होना असंयतत्वभाव कहा जाता है। तथा यह भाव उदयात्मक होनेसे औदायिकभाव कहा जाता है।

शंका--

ननु वाऽसंयतत्त्वस्य कषायाणां परस्परम् ।
को भेदः स्याच्च चारित्रमोहस्यैकस्य पर्ययात ॥ ११२४ ॥

अन्वयार्थः—(ननु) शंकाकारका कहना है कि (एकस्य चारित्र मोहस्यपर्ययात्) दोनोंको एक चारित्र मोहनीय कर्मका ही पर्याय होनेसे (असंयतत्वस्य) असंयतत्व (वा) और (कषायाणां च) कषायोंका परस्परं को भेदः स्यात) परस्परमें कौनसा भेद है।

भावार्थः— शंकाकारका कथन है कि जब कषाय और असंयम दोनों ही एक चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे ही होते हैं तो फिर इन दोनोंमें विशेपता क्या है?

समाधान—

सत्यं चारित्रमोहस्य कार्यं स्यादुभयात्मकम् ।
असंयमः कषायाश्च पाकादेकस्य कर्मणः ॥ ११२५ ॥

अन्वयार्थः— (सत्यं) ठीक है (चारित्रमोहस्य पाकात्) चारित्रमोहके ही (उभयात्मकं कार्यं स्यात्) दोनों कार्य है क्योंकि (एकस्य कर्मणः पाकात) एक चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे ही (असंयम.) असयम (च) और (कषायाः सन्ति) कषाय होते है।

पाकाच्चारित्रमोहस्य क्रोधाद्याः सन्ति षोडश ।
नवनोकषायनामानो न न्यूना नाधिकास्ततः ॥ ११२६ ॥

अन्वयार्थ — क्योंकि (चारित्रमोहस्य पाकात्) चारित्रमोहनीयके उदयसे (क्रोधाद्या.) क्रोधादिक (षोडश) सोलह कषाय और (नवनोकषाय नामान) नौ नोकषाय नामक नोकषाय (सन्ति) होते है (तत.) उससे (न न्यूना.) न कम (न अधिकाः) न अधिक, परन्तु—

पाकात्सम्यक्त्वहानिः स्यात्तत्रानन्तानुबन्धिनाम् ।
पाकाच्चाप्रत्याख्यानस्य संयतासंयतक्षतिः ॥ ११२७ ॥

अन्वयार्थ— (तत्र) उनमेंसे (अनन्तानुबन्धिनां पाकात्) अनन्तानुबन्धि कषायके उदयसे (सम्यक्त्वहानिः स्यात) सम्यक्त्वका घात होता है (च) और (अप्रत्याख्यानस्य पाकात्) अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे (संयतासंयतक्षति) देशसंयमका घात होता है ।

प्रत्याख्यानकषायाणामुदयात्संयमक्षतिः ।
संज्वलननोकषायै र्न यथाख्यातसंयमः ॥ ११२८ ॥

अन्वयार्थः— (प्रत्याख्यानकषायाणां उदयात्) प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे (संयमक्षति) सकलसंयमका घात होता है और (संज्वलननोकषायै) संज्वलन तथा नोकषायोंके उदयसे (यथाख्यातसंयम न 'भवति,) यथाख्यात सयम नहीं होपाता है ।

इत्येवं सर्ववृत्तान्तः कारणकार्ययो र्द्वयोः ।
कषायनोकषायाणां संयतस्येतरस्य च ॥ ११२९ ॥

अन्वयार्थः — (इत्येवं) इस प्रकार (कषाय नोकषायाणां) कषाय नोकषाय (च) और (संयतस्येतरस्य) सयतके उलटे असंयत (द्वयो) इन दोनोंके (कारणकार्ययोः) कारण कार्यभावका यह (सर्व वृत्तान्तः) सब कथन परस्परमें सिद्ध होता है।

भावार्थ— कषायके दो भेद है १ कषाय २ नोकषाय । कषायके १६ अवान्तर भेद होते है और नोकषायके नौं होते है। इस तरह इन पच्चीसोंको ही सामान्यरूपसे कषाय कहते है। कषायके अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ऐसे चार विभाग भी है । उनमेंसे अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक सम्यक्त्वके, अप्रत्या-

ख्यानावरण क्रोधादिक देशसंयमके, प्रत्याख्यानावरण क्रोधादिक सकलसंयमके और संज्वलन तथा नोकषाय यथाख्यात संयमके घातक हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोधादिकके उदयमें यथासंभव शेष क्रोधादिकका तथा नोकषायका भी उदय रहता है। इसी तरह आगेके अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादिकके उदयमें भी उत्तरवर्ती क्रोधादिक तथा यथासंभव नोकषायका उदय समझना चाहिये।

इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि चौथे गुणस्थानतक पूर्ण रूपसे असंयमभाव होता है। और आगेके गुणस्थानोंमें जबतक पूर्ण रीतिसे कषायोंका अभाव न हो जाय तबतक विवक्षित २ कषायोंके उदयसे विवक्षित २ चारित्र न होने रूप एक प्रकारका आंशिक असंयतत्व रहता है। इस लिए यद्यपि कषाय और असंयम ये दोनों ही एक चारित्रमोहके उदयमें होते हैं तथापि इन दोनोंमें सामान्यरूपसे वा विशेषरूपसे भी परस्परमें कारण कार्यभाव है। कषाय कारण है तथा असंयम उसका कार्य है। यही दोनोंमें अन्तर है।

किन्तु तच्छक्तिभेदाद्वा नासिद्धं भेदसाधनम्।
एकं स्याद्वाप्यनेकं च विषं हालाहलं यथा ॥ ११३० ॥

अन्वयार्थ-- (किन्तु) तथा (तच्छक्तिभेदाद्वा) चारित्र-मोहनीयकी शक्तिके भेदसे भी (भेदसाधनं) कषाय और असंयममें भेदका सिद्ध होना (असिद्धं न) असिद्ध नहीं है (यथा) जैसे कि (हालाहलं विषं) हालाहल विष (एकं च अपि) एक होकर भी शक्तिके भेदसे (अनेकं वा स्यात्) अनेक भी कहा जाता है।

भावार्थः— तथा जैसे एकही विष शक्तिके भेदसे विष और हालाहल कहलाता है वैसे ही एक ही चारित्रमोह शक्तिके भेदसे कषाय तथा असंयमभावका जनक है।

अस्ति चारित्रमोहेऽपि शक्तिद्वैतं निसर्गतः।
एकंचाऽसंयतत्वं स्यात् कषायत्वमथापरम् ॥ ११३१ ॥

अन्वयार्थ.—(चारित्रमोहेऽपि) चारित्र-मोहमें भी (निसर्गत.) स्वभावसे (शक्तिद्वैतं अस्ति) दो प्रकारकी शक्तियां है उनमेंसे (एकं च असंयतत्वं) एक असंयतत्वरूप है (अथ) और (अपरं) दुसरी (कषायत्वं स्यात्) कषायत्व रूप है।

भावार्थ— जिस प्रकार अनन्तानुवन्धी कर्ममें सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण चारित्रके घातनेकी स्वभावसिद्ध दो प्रकारकी शक्तिया हैं उसी प्रकार चारित्र-मोहमें भी कषायत्व और और असंयतत्व इन दोनोंको भिन्न २ रूपसे औदयिकभाव कहा है।

शंका।

ननु चैवं सति न्यायात्तत्संख्या चाभिवर्धताम् ।
यथा चारित्रमोहस्य भेदाः षड्विंशतिः स्फुटम ॥ ११३२ ॥

अन्वयार्थः— (ननु च) शङ्काकारका कहना है (एव सति) ऐसा माननेपर तो (न्यायात्) न्यायानुसार (तत्संख्या च अभिवर्धतां) चारित्रमोहनीयके उत्तर भेदोंकी भी संख्या अधिक मानना चाहिये (तथा) और फिर (चारित्रमोहस्य) चारित्रमोहके (स्फुट) स्पष्ट रीतिसे (षड्विंशति–भेदाः स्युः) छब्बीस भेद होना चाहिये ?

भावार्थः— शंकाकारका कहना है कि कार्य भेदसे कारणभेद प्रतीत होता है। इस लिए जब कि असंयतत्व और कषायत्व चारित्र मोहके जुदे २ कार्य है तो फिर उसकी सख्या भी पच्चीस न होकर छब्बीस क्यों न मानना चाहिये ?

समाधान—

सत्यं यज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणाः ।
आलापापेक्षयाऽसंख्यास्तत्रैवान्यत्र न क्वचित ॥ ११३३ ॥
नात्र तज्जातिभिन्नास्ता यत्रा कार्माणवर्गणाः ।
किंतु शक्तिविशेषोस्ति सोपि जात्यन्तरात्मकः ॥ ११३४ ॥

अन्वयार्थ— (सत्यं) ठीक है परन्तु (यत्र) जहापर (यत् जातिभिन्नाः) जिसकी भिन्न जातिवाली (ताः कार्माणवर्गणाः ' सन्ति ,) कार्माण वर्गणाएँ होती है (तत्रैव) वहांपर ही (आलापापेक्षया सख्या) आलापकी अपेक्षासे संख्या मानी जाती है (अन्यत्र क्वचित् न) और कहीं नहीं तथा (अत्र) यहांपर चारित्रमोहमें (तज्जातिभिन्ना) उस जातिकी पृथक् (ताः कार्माणवर्गणाः) वे कार्माण वर्गणायें (न सन्ति) नहीं है (किंतु) किंतु (शक्तिविशेषः अस्ति) शक्तिविशेष है और (सोऽपि) वह भी (जात्यन्तरात्मकः) जात्यन्तररूप है।

भावार्थः— चारित्र मोहकी छब्बीस संख्या मानना ठीक नहीं है। क्यों कि जिस प्रकारसे क्रोधादिककी भिन्न भिन्न जातीवालीं कार्माण वर्गणाएं हैं उस प्रकारसे संयमको घात करनेके लिये चारित्रमोहमें भिन्न जातिवाली कार्माण वर्गणाए नहीं है। जबतक भिन्न जातिवालीं कार्माण वर्गणाए न हो तबतक चारित्रमोहकी उत्तर प्रकृतियोंमें आलाप की अपेक्षासे संख्याकी वृद्धि नहीं मानी जा सक्ती है। किन्तु अनन्तानुबन्धीकी तरह चारित्रमोहमें कषायत्व और असंयमभावकी जनक भिन्न जातिरूपसे दो प्रकारकी शक्ति ही है। और वह जात्यन्तररूप होनेसे कषाय व असंयम कहीं जाती है।

तत्र यन्नाम कालुष्यं कषायाः स्युः स्वलक्षणम्।
व्रताभावात्मको भावो जीवस्यासंयमो मतः ॥ ११३५ ॥

अन्वयार्थः— (तत्र) उनमेंसे (यत् कालुष्य नाम) जो कलुषितपणा है वही (कषायाः स्युः) कषाय है और (जीवस्य) जीवका (व्रताभावात्मक भावः) व्रतके अभावरूप जो भाव है वह (असंयमो मतः) असंयम माना गया है यही (स्वलक्षण) कषायके दोनों लक्षण है।

भावार्थः— आत्माके उत्तम क्षमादिक धर्मोंमें जो कलुपता होती है उसे कषाय और व्रतोंके अभावको असंयम कहते है।

एतद्द्वैतस्य हेतुः स्याच्छक्तिद्वैतैककर्मणः।
चारित्रमोहनीयस्य नेतरस्य मनागपि ॥ ११३६ ॥

अन्वयार्थः— (एतद्वैतस्य) इन अव्रत और कषायोंका (हेतुत्वं) हेतुपना (शक्तिद्वैतैक कर्मणः) दो प्रकारकी है शक्ति जिसमें ऐसे एक कर्म (चारित्रमोहनीयस्य) चारित्रमोहका ही है (इतरस्य मनाक् अपि न) दूसरे कर्मको किंचित भी हेतुत्व नहीं है।

भावार्थः— अव्रत और कषायमें कारण केवल चारित्रमोह ही है और कोई दूसरा कर्म नहीं है। उसी एक चारित्रमोहनीयमें कषाय तथा असंयमको उत्पन्न करनेकी शक्तिया है।

यौगपद्यं द्वयोरेव कषायासंयतत्वयोः।
समं शक्तिद्वयस्योच्चैः कर्मणोऽस्य तथोदयात् ॥ ११३७ ॥

अन्वयार्थः— और (**द्वयोरेव**) इन दोनों (**कषायासंयतत्वयो.**) कषाय तथा असयतपनेमें (**यौगपद्यं**) यौगपद्य है क्योकि (**उच्चैः**) वास्तवमें (**समं**) युगपत् (**शक्तिद्वयस्य**) उक्त दोनों ही शक्तिवाले (**अस्य कर्मणः**) इस चारित्रमोहनीय कर्मका ही (**तथोदयात्**) उस रूपसे उदय होता है ।

भावार्थः— कषाय और असंयमका भिन्न काल नहीं है । एकही कालमें उभय शक्ति विशिष्ट चारित्रमोहका उदय रहनेसे चौथे गुणस्थानतक कषाय तथा असंयम युगपत् पाये जाते है । तथा आगे भी यथायोग्य समझना चाहिये ।

अस्ति तत्रापि दृष्टान्तः कर्मानन्तानुबन्धि यत् ।
घातिशक्तिद्वयोपेतं मोहनं दृक्चारित्रयोः ॥ ११३८ ॥

अन्वयार्थः—(**यत्**) जो (**घातिशक्ति द्वयोपेतं**) दो प्रकारकी घातकशक्तिसे युक्त (**दृक् चारित्रयोः मोहन**) दर्शन और चारित्रको मूर्छित करनेवाला (**कर्मानन्तानुबन्धि**) अनन्तानुबन्धी कर्म है वह (**तत्र**) कषाय तथा असंयमकी शक्तिवाले चारित्रमोह कर्मका (**दृष्टान्तः अपि अस्ति**) दृष्टान्त भी है ।

भावार्थः— जैसे स्वरूपाचरण और सम्यक्त्वको युगपत् घातनेकी शक्ति अनन्तानुबन्धिमें है वैसे ही कषाय व असंयमकी शक्ति चारित्रमोहमें है ऐसा समझना चाहिये ।

शंका—

ननु चाप्रत्याख्यानादिकर्मणामुदयात् क्रमात् ।
देशकृत्स्नव्रतादीनां क्षतिः स्यात्तत्कथं स्मृतौ ॥ ११३९ ॥

अन्वयार्थः— (**ननु च**) शंकाकारका कहना है कि (**स्मृतौ**) आगममें ऐसा कथन है कि (**अप्रत्याख्यानादि कर्मणः**) अप्रत्याख्यानावरणादिक कर्मोंके (**क्रमात् उदयात्**) क्रमपूर्वक उदय होनेसे (**देशकृत्स्नव्रतादीनां**) देशसयम, सकलसंयम आदिका (**क्षतिः स्यात्**) घात होता है (**तत्कथं**) वह कैसे बनेगा—सिद्ध होगा ?

भावार्थः— शंकाकारका कथन है कि आगममे अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे देशसंयमका, प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे सकल संयमका और संज्वलन तथा नोकषायके उदयसे यथाख्यात संयमका घात होता है

ऐसा कथन है। इस लिए अप्रत्याख्यानावरणादिकही असंयमके कारण ठहरते है। किन्तु यहांपर सम्यक्त्व व चारित्रको घातनेरूप दोनों शक्तियोंको एक अनन्तानुबन्धीमें ही बताया है। अतः इस कथनमें आगमसे बाधा क्यों न आयगी ?

समाधान—

सत्यं तत्राविनाभावो बन्धसत्वोदयं प्रति।
द्वयोरन्यतरस्यातो विवक्षायां न दूषणम् ॥ ११४० ॥*

अन्वयार्थः— (**सत्यं**) ठीक है परन्तु (**तत्र बन्धसत्वोदय प्रति अविनाभावः**) मिथ्यात्वके बन्ध उदय और सत्वके साथ, अनन्तानुबन्धी कपायका अविनाभाव है (**अतः**) इस लिए (**द्वयोः अन्यतरस्य विवक्षायां दूषणं न**) दोमेंसे किसी एककी विवक्षा करनेसे उक्त जो शङ्काकारने दोप बताया है वह दोप नहीं ठहरता है।

भावार्थः— शंकाकारका कहना ठीक है कि जब दर्शनगुण, चारित्रगुण दोनों ही गुणोंको घातनेकी शक्ति अनन्तानुबन्धीमे है तो देशव्रत सकलव्रत और यथाख्यात संयमके घातनेकी शक्ति क्रमसे आगममें अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनमें क्यों बताई है इसका उत्तर यह है कि मिथ्यात्वकर्मके साथ ही अनन्तानुबन्धी कषायके बंध उदय और सत्ताका अविनाभाव है जब मिथ्यात्वकर्मका बंध वगैरह होता है तब अनन्तानुबन्धीका भी होता है इस लिए मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कपायके कार्यका पृथक् २ कथन न करके विवक्षावश अनन्तानुबन्धीको दोनोंका [सम्यक्त्व चारित्रका] घातक कह दिया है इस विवक्षापर ध्यान देनेसे उक्त आगमकी बाधाका परिहार होजाता है।

असिद्धत्वं भवेद्भावो नूनमौदयिको यतः।
व्यस्ताद्वा स्यात्समस्ताद्वा जातः कर्माष्टकोदयात् ॥ ११४१ ॥

अन्वयार्थः— (**असिद्धत्वं भाव**) असिद्धत्व भाव (**नूनं**) निश्चय करके (**औदयिकः भवेत्**) औदयिक भाव होता है (**यतः**) क्यों कि (**व्यस्तात्**) असमस्त रूपसे (**वा**) अथवा (**समस्ताद्वा**) समस्त रूपसे (**कर्माष्टकोदयात् जातः स्यात्**) आठों कर्मोंके उदयसे होता है।

---

* विशेप परिशिष्टमें देखो।

भावार्थः— मिथ्यादृष्टि जीवके आठों कर्मोंका उदय रहता है इससे वह असिद्ध कहा जाता है। और आगे २ के गुणस्थानोंमें यद्यपि क्रम २ से कुछ कम कर्मोंका भी उदय रहता है तब भी यह जीव मुक्त न कहलाकर असिद्ध ही कहलाता है। यहातक कि १४ वें गुणस्थानतक भी असिद्ध–ससारी कहा जाता है। इस लिए व्यस्त किंवा समस्त रूपसे आठों कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण यह असिद्धत्व भाव भी औदयिक भाव कहा जाता है।

सिद्धत्वं कृत्स्नकर्मभ्यः पुंसोवस्थान्तरं पृथक्।
ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकम् ॥ ११४२ ॥
नेदं सिद्धत्वमत्रेति स्यादसिद्धत्वमर्थतः।
यावत्संसारसर्वस्वं महानर्थास्पदं परम ॥ ११४३ ॥

अन्वयार्थः— (पुंसः) आत्माकी (कृत्स्नकर्मभ्यः) सम्पूर्ण कर्मोंसे (पृथक्) भिन्न–रहित (ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकं) ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, वीर्य आदि आठ गुणस्वरूप (अवस्थान्तरं) अवस्थान्तर– शुद्ध अवस्थाका होना ही (सिद्धत्वं) सिद्धत्व कहलाता है और (अत्र) संसार अवस्थामें (इदं सिद्धत्वं न) यह उक्त सिद्धभाव नहीं होता है (इति) इस कारणसे यह (असिद्धत्व स्यात्) असिद्धत्व कहलाता है (अर्थतः) वास्तवमें (यावत्ससारसर्वस्व) जितना भी संसारसर्वस्व है वह सब (पर) केवल (महानर्थास्पदं) महा अनर्थकी जड है।

भावार्थ— इन दो पद्योंसे असिद्धत्वका निरुक्त्यर्थ बताया गया है। सिद्धत्व शब्दका अर्थ आत्माकी अष्ट कर्म रहित अष्ट गुण सहित शुद्ध अवस्था है। जबतक आत्मा इस अवस्थाको प्राप्त न करले तबतक उसके असिद्धत्व भाव ही कहा जाता है, क्योंकि मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थानके उपान्त समयतक संसार अवस्था मानी जाती है। निश्चयनयसे यह अवस्था अनुपादेय है पाप व पुण्य किसी भी प्रकृतिका उदय आत्माके लिये बन्धन का कारण है। इस लिए इस अवस्थाको महान् अनर्थकी जड कहा है।

लेश्या षडेव विख्याता भावा औदयिकाः स्मृताः।
यस्माद्योगकषायाभ्यां द्वाभ्यामेवोदयोद्भवाः ॥ ११४४ ॥ १५०४

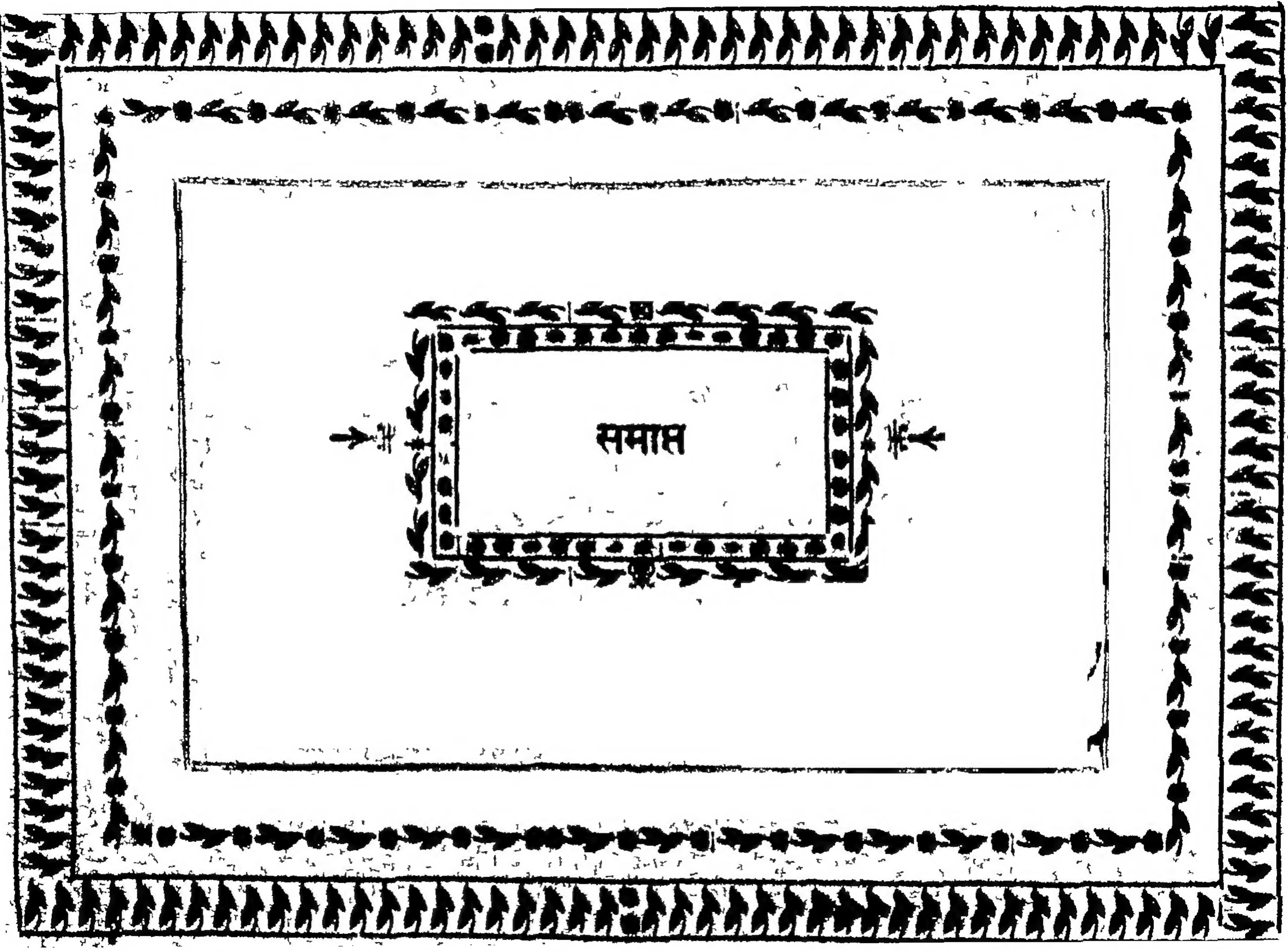
अन्वयार्थः— (विख्याताः) प्रसिद्ध (षडेव) छहोंही (लेश्याः) लेश्याएँ (औदयिका. भावाः) औदयिक भावरूपसे (स्मृता.) मानी गई है (यस्मात्) क्योंकि ये लेश्याएँ (योगकषायाभ्यां) योग और कषाय (द्वाभ्यां एव) दोनोंके ही (उदयोद्भावाः) उदयसे उत्पन्न होती है ।

भावार्थः— कषायोंके उदय सहित मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको भावलेश्या कहते है । और वर्णनामा नामकर्मके उदयसे होनेवाले शरीरके कृष्णादिक रंगको द्रव्यलेश्या कहते है । भावलेश्या जीवके औदयिक भावोंमें है द्रव्यलेश्या नहीं । और वह भावलेश्या कषायोंके उदयसे अनुरंजित मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिरूप पडती है । इस लिए उसे औदायिक कहते है ।



इस प्रकार पंचाध्यायी ग्रंथराजकी पण्डित देवकीनन्दन शास्त्रीकृत
सरलार्थ-प्रबोधिनी नामकी हिन्दी टीकामें द्रव्य-
विशेषके स्वरूपादिकका वर्णन
करनेवाला दूसरा अध्याय
समाप्त हुआ ।




समाप्त